स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें
स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य-ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।



ग्रन्थमाला सम्पादक प्रथम संस्करण
डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.
डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.



प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : १८, इन्सटीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११०००३



मुद्रक : विकास ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि. २४७०, विक्रम सं. २०००, १८ फरवरी १९४४

Murtidevi Jain Granthamala : Sanskrit Grantha No. 8

ĀDIPURĀṆA

of

ACHARYA JINASENA

[PART-1]

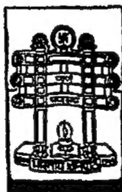
with

Hindi Translation, Introduction & Appendices

Edited and Translated

by

PT. (DR.) PANNALAL JAIN, SAHITYACHARYA



Bharatiya Jnanpith

Fourth Edition : 1993 ☐ Price Rs. 150/-

BHĀRATĪYA JÑĀNPĪTH

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

LATE SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

N THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRṂŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC, ARE BEING PUBLISHED IN THE RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES
ALSO
BEING PUBLISHED ARE
CATALOGUES OF JAINA-BHANDĀRAS, INSCRIPTIONS, STUDIES ON ART AND ARCHITECTURE BY COMPETENT SCHOLARS AND ALSO POPULAR JAINA LITERATURE.

●

General Editors : First Edition

Dr. Hiralal Jain, M A, D Litt

Dr. A N Upadhye, M. A, D Litt

●

Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office : 18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110003

●

Printed at Vikas Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110032

unded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam.2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

"पुरानी बात को पुराण कहते हैं। जब वह बात महापुरुषो के विषय मे कही जाती है, या महान् आचार्यों द्वारा उपदेश के रूप मे बतलायी जाती है, अथवा महाकल्याण का अनुशासन करती है, तब वह महापुराण कहलाती है। अन्य विद्वान् ऐसी भी निरुक्ति करते है कि पुराने कवि के आश्रय से प्रचलित हुई बात मे ही पुराणपन आता है, और उस बात के अपने महत्त्व से वह महापुराण बन जाती है। अतः महर्षियो ने परम्परा से उसे ही महापुराण माना है जो महापुरुषो से सम्बन्धित हो, व महान् अभ्युदय का उपदेश करता हो। यही महापुराण ऋषि-प्रणीत होने से 'आर्ष' कहलाता है। सुन्दर भाषा मे वर्णित होने से 'सूक्त' तथा धर्म का उपदेश देने से 'धर्मशास्त्र' भी माना गया है। 'इति ह आस (आसीत्)' अर्थात् 'ऐसी बात हुई थी' इस प्रकार श्रुति का वचन होने से उसे 'इतिहास' कहना भी इष्ट है। दूसरे शब्दो मे उसे इतिवृत्त, ऐतिह्य व आम्नाय कहने की भी प्रथा है। अत. जो इतिहास भी कहलाता है, उस पुराण को जैसा गौतम गणधर ने कहा था उसे ही परम्परानुसार मैं भक्तिवश यहाँ वर्णन करता हूँ।"

यह है पुराण व महापुराण की व्याख्या जो जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण की उत्थानिका (१,२१-२६) मे की है। उससे जैन पुराणकारो का उद्देश्य व दृष्टिकोण सुस्पष्ट हो जाता है कि पुराण के नायक वे ही महापुरुष हो सकते हैं ,जिनके चरित्र पूर्वपरम्परानुसार लोक-प्रसिद्ध हैं तथा जिनके द्वारा लोक-जीवन का उत्कर्ष व अभ्युदय होना संभव है। यही मत पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि का है जब वे कहते हैं कि "मैं आचार्य-परम्परा से आये हुए राम के चरित्र को कहता हूँ" (१।८)। यही बात रविषेण ने पद्मपुराण मे कही है कि "मैं राम के चरित का वही वर्णन करता हूँ जो विद्वानो की पंक्ति मे चला आया है, क्योकि ऐसे ही महापुरुष के कीर्तन से विज्ञान की वृद्धि होती है, निर्मल यश फैलता है तथा पाप दूर हट जाता है" (१।२१-२४)। और यही बात हमे जिनसेनकृत हरिवंशपुराण मे इस प्रकार मिलती है कि "देश और काल की गतिविधि के ज्ञाता आचार्यो को जहाँ-तहाँ से वही पुराण-वृत्त संग्रह कर वर्णन करना चाहिए जो पुरुषार्थ-साधन मे उत्साहवर्धक हो" (१।७०)। ऐसा पुराण ही इस देश का प्राचीन इतिहास है, क्योकि उसके भीतर पूर्वकालीन महापुरुषो के चरित्रो तथा लोक-जीवन के आदर्श व मापदण्डो का समावेश हो जाता है। जिनसे कोई श्रेयस्कर शिक्षा न मिले उन चुटपुट पापपरायण वृत्तान्तो का संग्रह करना जन-कल्याण व साहित्य की दृष्टि से निष्फल है।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि ने नारद से यही जानने की इच्छा प्रकट की थी कि "जो कोई इस लोक मे बलवान्, धर्मज्ञ, सत्यवाक्, दृढव्रत तथा समस्त जीवो का हितकारी, क्रोध को जीतने वाला और ईर्ष्या से रहित हो, उसी का चरित्र मैं सुनना चाहता हूँ।" और इसी जिज्ञासा के उत्तर मे नारद ने उन्हे राम का चरित्र सुनाया, क्योकि वे धर्मज्ञ थे, सत्यवादी थे, प्रजा के हितैषी, यशस्वी, ज्ञानसम्पन्न, शुद्धाशय, इन्द्रियो को वश मे रखने वाले और एकाग्रमन आदि गुणो से सम्पन्न थे (रामा० १।२-१२)।

रामायण की उत्थानिका से एक और बात सुस्पष्ट हो जाती है। वह यह कि जब तक कवि का हृदय दया, करुणा व अहिंसा की भावना से ओतप्रोत न हो, तब तक वह सच्चे कल्याणकारी काव्य की रचना में प्रवृत्त नही हो सकता। नारद से राम का वृत्त सुनकर भी वाल्मीकि मुनि के अन्तरंग से काव्य की धारा तो तभी प्रवाहित हो सकी, जब उन्होंने एक निषाद को एक क्रौंच पक्षी को मारते देखा और उनका हृदय करुणा से रो उठा।

ऐसे महापुरुषो का संस्मरण जैनधर्म मे मूलत ही प्रचलित रहा है। तीर्थंकर महावीर के उपदेशो का

जो संग्रह द्वादशांग आगम मे किया गया था उसके बारहवें अग दृष्टिवाद के अवान्तर भेद अनुयोग या प्रथमानुयोग का विषय तीर्थंकर आदि महापुरुषो के चरित्र व अन्य आख्यान थे। षट्खण्डागम की धवलाटीका के अनुसार यहाँ 'बारह' प्रकार का 'पुराण' वर्णन किया गया था, जिसमे अरहतो, चक्रवर्तियो, विद्याधरो, वासुदेवो, चारणो, प्रज्ञाश्रमणो, कौरवो, इक्ष्वाकुओ, काशिको और वादियो के वशो का एव हरिवश व नाथवश का वर्णन सम्मिलित था। यद्यपि यह मूल अनुयोग रचना अब अप्राप्य है, तथापि पाँचवी शती मे जो वल्लभी-वाचना के समय देवर्द्धिगणी के नायकत्व मे अगो का सकलन किया गया उनमे बहुत कुछ इस अनुयोग के खण्ड समाविष्ट पाये जाते है। विशेषत चतुर्थ आगम समवायाग के २७५ सूत्रो मे से अन्तिम ३० सूत्रो मे कुलकरो, तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो तथा बलदेवो, वासुदेवो और प्रतिवासुदेवो का उनके माता-पिता, जन्मस्थान, दीक्षास्थान आदि का क्रम से परिचय कराया गया है। इन्ही त्रेसठ शलाकापुरुषो की और भी सुविस्तृत नामावलियाँ यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति' के चतुर्थ अधिकार मे पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ ११ रुद्र, ९ नारद और २४ कामदेवो का भी विवरण दिया गया है।

उपर्युक्त समवायाग तथा तिलोयपण्णत्ति मे प्राप्य नामावलियो के आधार से विशेष कथानक गुरु-शिष्य-परम्परा से चलते रहे होगे और उन्ही पर से पश्चात्कालीन जैनपुराण रचे गये, जैसा कि पउमचरिय के कर्ता विमलसूरि ने स्पष्ट कहा है कि "जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध था और आचार्य-परम्परा से चलता आया, उस सबको ही मै यहाँ अनुक्रम से कहता हूँ" (१।८)।

प्रश्न उठता है कि जो वृत्तान्त पुराणो मे पाया जाता है उसका आदिमकाल क्या है? पुराणो मे जो पल्यो और सागरो, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी एव सुखमा-दुखमा कालचक्रो तथा सख्यात व असंख्यात वर्षों का उल्लेख मिलता है उससे आधुनिक वैज्ञानिक व ऐतिहासिक तथ्यो का समाधान नही होता। यह बात जैन पुराणो के सम्बन्ध मे ही हो सो बात नही, वैदिक परम्परा के सतयुग-कलयुग मे भी वही बात पायी जाती है। तथापि आधुनिक विद्वानो ने भाषा, विषय आदि के आधार पर भारतीय साहित्य का जो कालक्रम निश्चित किया है उसमे सबसे प्राचीन ऋग्वेद ठहरता है। उससे पूर्व की कोई साहित्यिक रचना प्राप्त नही है। जैनपुराण की दृष्टि से ऋग्वेद का वह सूक्त (१०।१३६) बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसमे वातरशना मुनियो की स्तुति की गयी है। जान पडता है ये मुनि नग्न रहते थे, जटा भी धारण करते थे, स्नान न करने से मलिनशरीर व मौनवृत्ति से रहते थे, और इन गुणो से वैदिक ऋषियो से सर्वथा भिन्न थे। इन मुनियो मे केशी प्रधान थे। एक अन्य ऋचा (१०।१०२।६) मे केशी और वृषभ विशेषण-विशेष्य रूप मे प्रयुक्त हुए हैं जिससे सन्देह नही रहता कि वातरशना मुनियो के नायक केशी वृषभ थे। यदि इस बात मे कुछ सन्देह रहता है तो उसका परिहार भागवतपुराण (५।३।२०) से भली-भाँति हो जाता है, जहाँ नाभि और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ के चरित्र व तप का विस्तार से वर्णन किया है, और यह भी कह दिया गया है कि वे विष्णु के अवतार थे तथा वातरशना श्रमणो की परम्परा मे उत्पन्न हुए थे। इसका अधिक विस्तार से वर्णन डॉ० हीरालाल जैन कृत पुस्तक 'भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान' पृ० ११ आदि मे देखा जा सकता है। इससे वैदिक परम्परानुसार ही यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण मुनि उस समय विद्यमान थे जब वेदो की रचना हुई, एव उन मुनियो के नायक केशी वृषभ अर्थात् तीर्थंकर ऋषभनाथ की उस समय भी वन्दना की जाती थी। वेदो के रचनाकाल के सम्बन्ध मे विद्वानो का मतभेद है। तथापि ईसवी पूर्व डेढ हजार वर्ष से भी पूर्व उनकी रचना हुई होगी, इसमे किसी को कोई सन्देह नही। अत जैन पुराण के आदिनायक इससे अर्वाचीन तो हो ही नही सकते।

और इसके भी पूर्व क्या किसी परम्परा का पता चलता है? हाँ, सिंधघाटी के हडप्पा व मुहेजोदडो आदि स्थानो की खुदाई से जो भग्नावशेष मिले है वे वैदिक आर्यों से पृथक् तथा सम्भवत उनसे अधिक प्राचीन सभ्यता की सूचना देते हैं। इन अवशेषो मे बहुत से मुद्रालेख भी हैं, किन्तु उन्हे निश्चित रूप से पढने व समझने की कोई कुजी अभी तक हाथ नही लगी। तथापि अन्य अवशिष्टो से उस प्राचीन सभ्यता की भौतिक व सामाजिक रीति-नीति का कुछ अनुमान लगाया गया है। प्रकृत विषय के लिए विशेष उपयोगी एक दो मूर्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक नग्न मस्तकहीन मूर्ति जो लोहानीपुर (बिहार) से प्राप्त प्राचीनतम जैन मूर्ति

से मेल खाती है, और दूसरी एक मुहर पर की ध्यानस्थ आसीन मूर्ति जिसके मस्तक पर शैव त्रिशूल व जैन त्रिरत्न के समान त्रिशृंगात्मक मुकुट है व आस-पास कुछ पशुओ की आकृतियाँ हैं। जब हम एक ओर आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के नग्नत्व, जटा, कैलास पर तप, वृषभ चिह्न, जीवरक्षा आदि लक्षणो पर, और दूसरी ओर महादेव या पशुपतिनाथ की इन्ही विशेषताओ पर दृष्टि डालते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनो देवताओ का विकास उक्त सिन्धु घाटी के प्रतीको पर से हुआ हो तो आश्चर्य नही। इसकी ऋग्वेद के अनेक वाक्यो से भी पुष्टि होती है। 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश' (४।५८।३), 'अर्हन् इद दयसे विश्वमम्व न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति' (२।३८।१०) आदि ऋग्वचनो में वृषभ और महादेव, अर्हन् और रुद्र तथा विश्वभूत दयालुता का एक ही देवता के सम्बोधन मे प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार जहाँ तक पूर्वकाल मे इतिहास की दृष्टि जाती है वहाँ तक बराबर श्रमण और वैदिक परम्परा के स्रोत दृष्टिगोचर होते हैं।

उस प्राक्तन काल से लेकर ईसवी पूर्व ५२७ मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण तक जो तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो, बलदेवो, नारायणो व प्रतिनारायणो का विवरण जैन पुराणो मे पाया जाता है उसका भी वैदिक पुराण-परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीर्थंकरो मे ऋषभ के अतिरिक्त नमि व नेमि, चक्रवर्तियो मे भरत और सगर, बलदेवो मे राम और बलदेव, नारायणो मे लक्ष्मण और कृष्ण तथा प्रतिनारायणो मे रावण व कस एव जरासन्ध का वर्णन दोनो परम्पराओ की तुलनात्मक रीति से अध्ययन करने योग्य है। इसमे जो साम्य है वह भारतीय एकत्व की धारा का बोधक है, और जो वैषम्य है वह उक्त दोनो उपधाराओं के अपने-अपने वैशिष्टय का द्योतक होते हुए भारतीय सस्कृति की समृद्धि का बोध कराता है। जो इस मर्म को न समझकर या जान-बूझकर दोनो मे विरोध की भावना से संघर्ष उत्पन्न करते है, वे यथार्थत. राष्ट्र के शत्रु हैं।

इस दृष्टि से प्रस्तुत महापुराण एक बड़ी महत्त्वपूर्ण रचना है। यद्यपि इसका निर्माण आठवी-नवी शती मे हुआ है, तथापि इसमे प्राचीनतम समस्त पौराणिक परम्पराओ का समावेश मिलता है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के जीवन-चरित्र के साथ-साथ उनके समकालीन वैशाली के राजा चेटक, मगधनरेश श्रेणिक (बिम्बिसार) आदि पुरुषो के उल्लेख (पर्व ७५) ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं। महावीर निर्वाण से एक हजार वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि का यहाँ जो परिचय दिया गया है उस पर से का० बा० पाठक ने उसे हूण नरेश मिहिरकुल से अभिन्न ठहराने का प्रयत्न किया है (भंडारकर कमेमोरेटिव एसेज, पूना, १९१७)।

पुराणो की यह भी एक विशेषता है कि वे अपने काल के ज्ञान-कोश हुआ करते है और उनमे इतिहास के अतिरिक्त सामाजिक व धार्मिक बातो का विशेष रूप से समावेश पाया जाता है। प्रस्तुत महापुराण इस दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा के पुराणो तथा धर्मशास्त्रो मे मनुष्य समाज का वर्णों मे वर्गीकरण और उनके पृथक्-पृथक् विशेष आचारो का वर्णन एव प्रत्येक व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त धार्मिक सस्कारो एव ब्रह्मचर्यादि आश्रमो मे जीवन के उत्थान व विकास का क्रम दिखलाया गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत महापुराण मे भी पाया जाता है। कुछ लोगो का मत है कि पुराण का यह अश पूर्वोक्त परम्परा से प्रभावित है। यदि ऐसा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि इतिहासातीत काल से वैदिक व श्रमण परम्पराएँ क्षेत्र और काल की दृष्टि से साथ-साथ विकसित होती चली आयी हैं, और दोनो परम्पराओ मे लोक-जीवन व सामाजिक व्यवस्था की एक-सी समस्याएँ रही हैं। दोनो परम्पराओ के अपने-अपने वैशिष्ट्य का प्रभाव परस्पर हुआ है, यह स्पष्ट दिखाई देता है। कहाँ है अब वह वैदिक परम्परा का यज्ञात्मक क्रियाकाण्ड व वर्णाश्रम की कठोर व्यवस्थाएँ? क्या श्रमण परम्परा का अहिंसा सिद्धान्त व जीवमात्र मे समान रूप से परमात्मत्व की दृष्टि से एकरूपता की मान्यता उक्त परिवर्तनमें कारणीभूत नही हुई? धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष मे जैन धर्म ने कभी कोई ढिलाई व समझौते की नीति को नहीं अपनाया। किन्तु सामाजिक आचरण पर जैन धर्म ने कभी कोई कठोर नियत्रण नही लगाया, सिवाय इसक

कि उस आचरण से हमारी मूल धार्मिक आस्था एव सच्चरित्र की नीव को कोई क्षति न पहुँचे। इस बात को एक जैनाचार्य ने बहुत स्पष्टता से कह दिया है कि "सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥" अर्थात् लोक प्रचलित वे सभी व्यवहार जैनियो को प्रमाण रूप से मान्य हैं जिनसे उनके सम्यक्त्व अर्थात् जड और चेतन के मौलिक भेद की मान्यता को हानि नही पहुँचती, तथा अहिंसादि व्रतो मे दूषण उत्पन्न नही होता। जिन लोकाचारो मे अपनी धार्मिक दृष्टि से कोई दोष दिखाई दे, उन्हे सुधार कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए। इस प्रकार जैनाचार्यों ने जैन धर्म के अनुयायियो के लिए एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया है कि अपने मूल सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे कभी मत झुको, तथा सामान्य लौकिक व्यवहारो मे कोई अलगाव मत रखो। रहो समाज के साथ, किन्तु अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता को मत खोओ। बस, अन्य परम्पराओ से मेल व बेमेल की बातो को हमे इसी कसौटी पर कसकर देखना और समझना चाहिए। एक बात और है। वर्णो, आश्रमो व सस्कारो के स्वरूप पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उनका मौलिक ढाँचा वैयक्तिक, कौटुम्बिक तथा सामाजिक रीतियो और प्रथाओ पर आधारित है। क्रमशः उनमे धार्मिक क्रियाओ का समावेश कर उन्हे स्थिरता और पवित्रता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ, जन्म या विवाह सभी कुटुम्बो मे सार्वत्रिक और सार्वकालिक है, और उन अवसरो पर कुछ सामाजिक उत्सव, आमोद-प्रमोद मनाना स्वाभाविक है। धर्म ने इन सुप्रचलित उत्सवो को अपनी गोद मे लेकर उन पर एक विशेष रंग चढा दिया। यह कार्य उनके मनाने वालो ने अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार किया और उन्हे अपने धर्म का अग बना लिया।

प्राचीन प्रतियो के पाठभेद सावधानीपूर्वक अकित करना आधुनिक सम्पादन-प्रणाली का एक महत्त्व-पूर्ण अंग है। इस दृष्टि से महापुराण का प्रस्तुत संस्करण बहुत उपयोगी है। इसके लिए विद्वान् सम्पादक ने १२ प्रतियो का उपयोग किया है व उनके पाठभेद लिये है। कुछ पाठभेद बडे बहुमूल्य पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, पाँचवें पर्व मे ४१वें पद्य के आगे दिल्ली वाली प्रति मे चार अधिक पद्य हैं, जिनमे बौद्ध सिद्धान्त सम्मत पचस्कन्धो, द्वादश आयतनो, समुदाय, क्षणिकत्व व मोक्ष का उल्लेख पाया जाता है। इन्हे प० लालाराम जी शास्त्री ने अपने मुद्रित व अनुवादित सस्करण मे प्रथम अर्ध पद्याश छोडकर समाविष्ट किया है। किन्तु ये पद्य न तो मूडबिद्री सरस्वती भण्डार की उपलब्ध प्राचीनतम ताडपत्रीय कन्नड लिपिवाली प्रति मे पाये जाते हैं और न अन्य किसी प्रति मे। इससे सिद्ध होता है कि उक्त पद्य किसी पाठक व टिप्पणकार द्वारा सम्भवत हासिये मे लिखे गये होंगे और फिर मूल पाठ मे प्रविष्ट हो गये।

अन्त मे हम प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के बहुत कृतज्ञ हैं जिन्होंने महापुराण का यह बहुमूल्य सस्करण व उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। भारतीय ज्ञानपीठ का अधिकारी वर्ग भी अभिनन्दनीय है जो उन्होंने साहित्य की इस महानिधि का यह प्रकाशन बडी तत्परता से करके साहित्यको व स्वाध्याय-प्रेमियो का उपकार किया है।

—हीरालाल जैन

वि. सवत् २००७

—आ. ने उपाध्ये

(ग्रन्थमाला सम्पादक)

प्रास्ताविक

[प्रथम सस्करण से]

भारतीय ज्ञानपीठ का उद्देश्य दो भागो मे विभाजित है १ ज्ञान की विलुप्त अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन, २ लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए क्रमश ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला और ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला प्रकाशित हो रही हैं। ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला भद्रदृष्टि साहू शान्तिप्रसादजी की स्व० माता मूर्तिदेवी के स्मरणार्थ उनकी अन्तिम अभिलाषा की पूर्तिनिमित्त स्थापित की गयी है और इसके सस्कृत, प्राकृत, पाली आदि विभागो द्वारा अब तक नौ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक ग्रन्थो का सम्पादन हो रहा है, अनेको मुद्रणाधीन हैं।[1]

प्रस्तुत सस्करण की विशेषता

यद्यपि आदिपुराण का एक सस्करण इत पूर्व प० लालारामजी शास्त्री के अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है पर इस सस्करण की कई विशेषताओ मे प्रमुख विशेषता है बारह प्राचीन प्रतियो के आधार से पाठ-शोधन की। पुराने ग्रन्थो मे अनेक श्लोक टिप्पणी के तौर पर लिखे हुए भी कुछ प्रतियो मे मूल मे शामिल हो जाते हैं और इसमे ग्रन्थकारो के समय-निर्णय आदि मे अनेक भ्रान्तियाँ आ जाती है। उदाहरणार्थ—

"दु ख ससारिण स्कन्धा ते च पञ्च प्रकीर्तिता'। विज्ञान वेदना सज्ञा सस्कारो रूपमेव च ॥४२॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पञ्च मानसम्। धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥४३॥
समुदेति यतो लोके रागादीना गणोऽखिल। स चात्मात्मीयभावाख्य समुदायसमाहितः ॥४४॥
क्षणिका. सर्वसंस्कारा इत्येव वासना मता। सन्मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्षउच्यते ॥४५॥"

ये श्लोक पाँचवें पर्व के है। ये दिल्ली की प्रति मे पाये जाते है। मुद्रित प्रति मे 'दु ख ससारिण स्कन्धा ते च पञ्च प्रकीर्तिता.' इस आधे श्लोक को छोडकर शेष ३॥ श्लोक ४२ से ४५ नम्बर पर मुद्रित हैं। बाकी त०, ब०, प०, म०, स०, अ०, ट० आदि सभी ताडपत्रीय और कागज की प्रतियो मे ये श्लोक नही पाये जाते।

मैंने न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग की प्रस्तावना (पृष्ठ ३८) मे हरिभद्रसूरि और प्रभाचन्द्र की तुलना करते हुए यह लिखा था कि—"ये चार श्लोक षड्दर्शनसमुच्चय के बौद्धदर्शन मे मौजूद है। इसी आनुपूर्वी से ये ही श्लोक किंचित् शब्दभेद के साथ जिनसेन के आदिपुराण (पर्व ५ श्लो० ४२-४५) मे भी विद्यमान है। रचना से तो ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी बौद्धाचार्य ने बनाये होगे और उसी बौद्ध ग्रन्थ से षड्दर्शनसमुच्चय और आदिपुराण मे पहुँचे होगे। हरिभद्र और जिनसेन प्राय. समकालीन हैं, अत यदि ये श्लोक हरिभद्र के होकर आदिपुराण मे आये हैं तो इसे उस समय के असाम्प्रदायिक भाव की महत्त्वपूर्ण घटना समझनी चाहिए" परन्तु इस सुसपादित सस्करण से तो वह आधार ही समाप्त हो जाता है और स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये श्लोक किसी प्रतिलेखक ने टिप्पणी के तौर पर हाशिया मे लिखे होगे और वे कालक्रम से मूल प्रति मे शामिल हो गये। इस दृष्टि से प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियो से प्रत्येक ग्रन्थ का मिलान करना नितान्त आवश्यक सिद्ध हो जाता है। इसी तरह पर्व १६ श्लोक १८६ से आगे निम्नलिखित श्लोक द० प्रति मे और लिखे मिलते है—

सालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलन्तुदः। नापितश्चेति पञ्चामी भवन्ति स्पृश्यकारुका: ॥
रक्षकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारक.। स्वर्णकारश्च पञ्चैते भवन्त्यस्पृश्यकारुका: ॥"

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे सस्करण के प्रकाशन के समय तक इस ग्रन्थमाला मे लगभग सवा सौ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है—प्रकाशक

ये श्लोक स्पष्टत किसी अन्य ग्रन्थ से टिप्पणी आदि मे लिये गये होंगे, क्योकि जैन परम्परा से इनका कोई मेल नही है। मराठी टीका सहित मुद्रित महापुराण मे यह दोनो श्लोक मराठी अनुवाद के साथ लिखे हुए हैं।

इसी तरह सम्भव है कि इसके पहले का शूद्रो के स्पृश्य और अस्पृश्य भेद वताने वाला यह श्लोक भी किसी समय प्रतियो मे शामिल हो गया हो—

"कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पत ।
तत्रास्पृश्या. प्रजावाह्या स्पृश्या स्यु कर्त्तकादय ॥१८६॥"

क्योकि इस प्रकार के विचारो का जैनसस्कृति से कोई सम्बन्ध नही है।

प्रस्तावना

ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक ने प्रस्तावना मे ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध मे उपलब्ध सामग्री के अनुसार पर्याप्त ऊहापोह किया है। ग्रन्थ के आन्तर रहस्य का आलोकन करके उन्होंने जो वर्णव्यवस्था और सज्जातित्व आदि के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किये है वे सर्वथा मौलिक और उनके अध्ययन के सहज परिणाम हैं। स्मृतियो आदि की तुलना करके उन्होने यह सिद्ध किया है कि जैन सस्कृति वर्णव्यवस्था 'जन्मना' नही मानती, किन्तु गुण कर्म के अनुसार मानती है। प्रसगत उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषा की भी चर्चा की है। उस सम्बन्ध मे ये विचार भी ज्ञातव्य है·

सस्कृत-प्राकृत

प्राकृत भाषा जनता की बोलचाल की भाषा थी और सस्कृत भाषा व्याकरण के नियमो से वँधी हुई, सस्कारित, सम्हाली हुई, वर्ग विशेष की भाषा। जैन तीर्थंकरो के उपदेश जिस 'अर्धमागधी' भाषा मे होते थे वह मगध देश की ही जनबोली थी। उसमे[1] आधे शब्द मगधदेश की बोली के थे और आधे शब्द सर्व देशो की बोलियो के। तीर्थंकरो को जन-जन तक अपने धर्म-सन्देश पहुँचाने थे अतः उन्होंने जनबोली को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाया था।

जब सस्कृत व्याकरण की तरह 'प्राकृत व्याकरण' भी बनने की आवश्यकता हुई, तब स्वभावत. सस्कृत व्याकरण के प्रकृति प्रत्यय के अनुसार ही उसकी रचना होनी थी। इसीलिए प्राय प्राकृत व्याकरणो मे 'प्रकृति सस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतम्' अर्थात् सस्कृत शब्द प्रकृति है और उससे निष्पन्न हुआ शब्द प्राकृत यह उल्लेख मिलता है। सस्कृत के 'घट' शब्द को ही प्रकृति मानकर प्राकृत व्याकरण के सूत्रो के अनुसार प्राकृत 'घड' शब्द बनाया जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नही है कि पहले सस्कृत थी फिर वही अपभ्रष्ट होकर प्राकृत बनी। वस्तुत जनबोली प्राकृत-मागधी ही रही है और सस्कृत व्याकरण के नियमो के अनुसार अनुशासनबद्ध होकर 'सस्कृत' रूप को प्राप्त हुई है, जैसा कि आजड और नमिसाधु के व्याख्यानो से स्पष्ट है।

नमिसाधु ने रुद्रटकृत काव्यालकार की व्याख्या मे बहुत स्पष्ट और सयुक्तिक लिखा है कि—"प्राकृत सकल प्राणियो की सहज वचन प्रणाली है। वह प्रकृति है और उससे होने वाली या वही भाषा प्राकृत है। इसमे व्याकरण आदि का अनुशासन और सस्कार नही रहता। आर्ष वचनो मे अर्धमागधी वाणी होती है। जो प्राक् पहले की गयी वह प्राक्कृत प्राकृत है। बालक, स्त्रियाँ आदि भी जिसे सहज ही समझ सकें और जिससे अन्य समस्त भाषाएँ निकली हैं वह है प्राकृत भाषा। यह मेघ से बरसे हुए जल की तरह एक रूप होकर भी विभिन्न देशो मे और भिन्न सस्कारो के कारण संस्कृत आदि उत्तर भेदो को प्राप्त होती है। इसीलिए शास्त्रकार ने पहले प्राकृत और बाद मे सस्कृत आदि का वर्णन किया है। पाणिनि व्याकरण आदि व्याकरणो से

---

१. "अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकम्, अर्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्"—क्रियाकलापटीका।

सस्कार को प्राप्त होकर वह सस्कृत कही जाती है[1]।"

सरस्वतीकठाभरण की आजडकृत व्याख्या मे[2] आजड ने भी ये ही भाव व्यक्त किये हैं।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आ० शान्तरक्षित ने अपनी वादन्याय टीका (पृ० १०३) मे लोकभाषा के अर्थ-वाचकत्व का सयुक्तिक समर्थन किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ मे बहुत विस्तार से यह सिद्ध किया है कि प्राकृत स्वाभाविक जनबोली है। उसी का व्याकरण से सस्कार होकर 'सस्कृत' रूप बना है। उन्होंने 'प्रकृतेर्भवं प्राकृतम्' पक्ष का खडन बड़ी प्रखरता से किया है। वे लिखते है कि "वह 'प्रकृति' क्या है जिससे उत्पन्न को प्राकृत कहा जाता है। स्वभाव, धातुगण या सस्कृत शब्द? स्वभाव पक्ष मे तो प्राकृत ही स्वाभाविक ठहरती है। धातुगण से सस्कृत शब्दो की तरह प्राकृत शब्द भी बनते है। सस्कृत शब्दो को प्रकृति कहना नितान्त अनुचित है, क्योंकि वह सस्कार है, विकार है। मौजूदा वस्तु मे किसी विशेषता का लाना सस्कार कहलाता है, वह तो विकाररूप है, अत उसे प्रकृति कहना अनुचित है। सस्कृत आदिमान् है और प्राकृत अनादि है।"[3]

अत 'प्राकृत भाषा सस्कृत से निकली है' यह कल्पना ही निर्मूल है। 'सस्कृत' नाम स्वयं अपनी सस्कारिता और पीछेपन को सूचित करता है। प्राकृतव्याकरण अवश्य सस्कृत व्याकरण के बाद बना है। क्योंकि पहले प्राकृत बोली को व्याकरण के नियमो की आवश्यकता ही नही थी। सस्कृतयुग के बाद उसके व्याकरण की आवश्यकता पडी। इसीलिए प्राकृत व्याकरण के रचयिताओ ने 'प्रकृति संस्कृतम्' लिखा, क्योंकि उन्होंने संस्कृत शब्दो को प्रकृति मानकर फिर प्रत्यय लगाकर प्राकृत शब्द बनाये हैं।

पुराणों का उद्गम

तीर्थंकर आदि के जीवनो के कुछ मुख्य तथ्यो का सग्रह स्थानागसूत्र मे मिलता है, जिसके आधार से आ० हेमचन्द्र आदि ने त्रिषष्टिमहापुराण आदि की रचनाएँ की। दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकर आदि के चरित्र के तथ्यो का प्राचीन सकलन हमे प्राकृत भाषा के तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे मिलता है। इसके चौथे महाधिकार मे, तीर्थंकर किस स्वर्ग से चल कर आये, नगरी और माता-पिता का नाम, जन्मतिथि, नक्षत्र, वश, तीर्थंकरो का अन्तराल, आयु, कुमारकाल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्यकाल, वैराग्य का निमित्त, चिह्न, दीक्षातिथि, नक्षत्र, दीक्षा वन, दीक्षा वृक्ष, षष्ठ आदि प्राथमिक तप, दीक्षा परिवार, पारणा, कुमारकाल मे दीक्षा ली या राज्यकाल मे, दान मे पचाश्चर्य होना, छद्मस्थ काल, केवलज्ञान की तिथि, नक्षत्र स्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का अन्तरकाल, केवलज्ञान होने पर अन्तरीक्ष हो जाना, केवलज्ञान के समय इन्द्रादि के कार्य, समवसरण का सागोपाग वर्णन, किस तीर्थंकर का समवसरण कितना बड़ा था, समवसरण मे कौन नही जाते,

---

१. "प्राकृतेति-सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादेरनाहितसंस्कार सहजो वचनव्यापारः प्रकृति, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमग्गहा वाणी' इत्यादिवचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृत बाल-महिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैक-स्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदा-नाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु संस्कृतादीनि पाणिन्यादिव्याकरणोदित-शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।"

—काव्यालंकार टी० २।१२

२ "तत्र सकलबालगोपालाङ्गनाहृदयसंवादी निखिलजगज्जन्तूनां शब्दशास्त्राकृतविशेषसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः समस्तेतरभाषाविशेषाणां मूलकारणत्वात् प्रकृतिरिव प्रकृतिः। तत्र भवा सैव वा प्राकृता। सा पुनर्मेघनिर्मुक्तजलपरम्परेव एकरूपापि तत्तद्देशादिविशेषात् संस्कारकरणाच्च भेदान्तराननाप्नोति। अत इयमेव शूरसेनवास्तव्यजनता किंचिदापितविशेषलक्षणा भाषा शौरसेनी भण्यते।"

(भारतीय विद्या निबन्धसग्रह, पृ० २३२)

३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७६४

अतिशय, केवलज्ञान के वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, यक्ष, यक्षिणी, केवलकाल, गणधरसंख्या, ऋषिसंख्या, पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी, विक्रियाऋद्धिधारी, वादी आदि की संख्या, आर्यिकाओ की सख्या, प्रमुख आर्यिकाओ के नाम, श्रावकसख्या, श्राविकासख्या, निर्वाण की तिथि, नक्षत्र, स्थान का नाम, अकेले निर्वाण गये या मुनियो के साथ, कितने दिन पहले योग निरोध किया, किस आसन से मोक्ष पाया, अनुवद्धकेवली, उन शिष्यो की सख्या जो अनुत्तर विमान गये, मोक्षगामी मुनियो की सख्या, स्वर्गगामी शिष्यो की सख्या, तीर्थंकरो के मोक्ष का अन्तर, तीर्थप्रवर्तन कार्य आदि प्रमुख तथ्यो का विधिवत् सग्रह है। इसी तरह चक्रवर्तियो के माता-पिता, नगर, शरीर का रग आदि के साथ-ही-साथ दिग्विजय यात्रा के मार्ग, नगर, नदियो आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है। ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ वलभद्र तथा ११ रुद्रो के जीवन के प्रमुख तथ्य भी इसी मे सगृहीत हैं। इन्ही के आधार से विभिन्न पुराणकारो ने अपनी लेखनी के वलपर छोटे-बड़े अनेक पुराणो की रचना की है।

महापुराण

प्रस्तुत ग्रन्थ महापुराण जैन पुराणशास्त्रो मे मुकुटमणिरूप है। इसका दूसरा नाम 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसग्रह' भी है। इसमे २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ वलभद्र इन तिरसठ शलाकापुरुषो का जीवन सगृहीत है।

इसकी काव्यछटा, अलकारगुम्फन, प्रसाद, ओज और माधुर्य का अपूर्व सुमेल, शब्दचातुरी और वन्ध अपने ढग के अनोखे हैं। भारतीय साहित्य के कोषागार मे जो इने-गिने महान् ग्रन्थरत्न हैं उनमे स्वामी जिनसेन की यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। काव्य की दृष्टि से इसका जो अद्वितीय स्थान है वह तो है ही, साथ ही इसका सास्कृतिक उत्थान-पतन और आदान-प्रदान के इतिहास मे विशिष्ट उपयोग है।

ग्रन्थ की प्रकृति

स्वामी जिनसेन के युग मे दक्षिण देश मे ब्राह्मणधर्म और जैन धर्म का जो भीषण सघर्ष रहा है वह इतिहास सिद्ध है। आ० जिनसेन ने भ० महावीर की उदारतम सस्कृति को न भूलते हुए ब्राह्मण-क्रियाकाण्ड के जैनीकरण का सामयिक प्रयास किया था।

यह तो मानी हुई वात है कि कोई भी ग्रन्थकार अपने युग के वातावरण से अप्रभावित नही रह सकता। उसे जो विचारधारा परम्परा से मिली है उसका प्रतिविम्व उसके रचित साहित्य मे आये बिना नही रह सकता। साहित्य युग का प्रतिविम्ब है। प्रस्तुत महापुराण भी इसका अपवाद नही है। मनुस्मृति मे गर्भ से लेकर मरणपर्यन्त की जिन गर्भाधानादि क्रियाओ का वर्णन मिलता है, आदिपुराण मे करीव-करीव उन्ही क्रियाओ का जैनसम्करण हुआ है। विशेषता यह है कि मनुस्मृति मे जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए जुदे-जुदे रग के कपडे, छोटे-वडे दण्ड, भिक्षा के समय भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि, देहि भिक्षा भवति, आदि विषम प्रकार बताये हैं वहाँ आदिपुराण मे यह विषमता नही है। हाँ, एक जगह राजपुत्रो के द्वारा सर्वसामान्य स्थानो से भिक्षा न मँगवाकर अपने अन्त पुर से ही भिक्षा माँगने की वात कही गयी है। आदिपुराणकार ने ब्राह्मणवर्ण का जैनीकरण किया है। उन्होने ब्राह्मणत्व का आधार 'व्रतसस्कार' माना है। जिस व्यक्ति ने भी अहिंसा आदि व्रतो को धारण कर लिया वह ब्राह्मण हुआ। उसे श्रावक की प्रतिमाओ के अनुसार 'व्रतचिह्न' के रूप में उतने यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है। ब्राह्मण वर्ण की रचना की जो अकुरवाली घटना इसने आयी है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार केवल 'व्रतसस्कार' था। महाराजा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो मे जो व्रतधारी थे और जिनने जीवरक्षा की भावना से हरे अकुरो को कुचलते हुए जाना अनुचित समझा उन्हे भरत चक्रवर्ती ने 'ब्राह्मण' वर्ण का बनाया तथा उन्हे दान आदि देकर सम्मानित किया। इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, सयम और तप इन छह बातो को उनका कुलधर्म बताया। जिनपूजा को इज्या कहते हैं। विशुद्ध वृत्ति से खेती आदि करना वार्ता है। दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और

अन्वयदत्ति ये चार प्रकार की दत्ति अर्थात् दान हैं। स्वाध्याय, उपवास आदि तप और व्रतधारण रूप संयम ये ब्राह्मणो के कुलधर्म हैं।

भरत चक्रवर्ती ने तप और श्रुत को ही ब्राह्मणजाति का मुख्य सस्कार बताया। आगे गर्भ से उत्पन्न होने वाली उनकी सन्तान नाम से ब्राह्मण भले ही हो जाये पर जब तक उसमे तप और श्रुत नहीं होगा तब तक वह सच्चा ब्राह्मण नही कही जा सकती। इसके बाद चक्रवर्ती ने उन्हें गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया और कर्त्रन्वयक्रियाओ का विस्तार से उपदेश दिया और बताया कि इन द्विजन्मा अर्थात् ब्राह्मणो को इन गर्भाधान आदि निर्वाणपर्यन्त गर्भान्वयक्रियाओ का अनुष्ठान करना चाहिए। इसके बाद अवतार आदि निर्वाणपर्यन्त ४८ दीक्षान्वय क्रियाएँ बतायी। व्रतधारण करना दीक्षा कहलाती है और इस दीक्षा के लिए होने वाली क्रियाएँ दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं। दीक्षा लेने के लिए अर्थात् व्रतधारण करने के लिए जो जीव की तैयारी होती है वह दीक्षावतार[1] क्रिया है। कोई भी मिथ्यात्व से दूषित भव्य जब सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता है अर्थात् कोई भी अजैन जब जैन बनना चाहता है तब वह किसी योगीन्द्र या गृहस्थाचार्य के पास जाकर प्रार्थना करता है कि 'हे महाप्राज्ञ, मुझे निर्दोष धर्म का उपदेश दीजिए। मैंने सब अन्य मतो को नि सार समझ लिया है। वेदवाक्य भी सदाचारपोषक नही है।' तब गृहस्थाचार्य उस अजैन भव्य को आप्त श्रुत आदि का स्वरूप समझाता है और बताता है कि वेद-पुराण, स्मृति-चरित्र, क्रिया-मन्त्र-देवता, लिंग और आहारादि शुद्धियाँ जहाँ वास्तविक और सात्त्विक दृष्टि से बतायी हैं वही सच्चा धर्म है। द्वादशागश्रुत ही सच्चा वेद है, यज्ञादि हिंसा का पोषण करनेवाले वाक्य वेद नही हो सकते। इसी तरह अहिंसा का विधान करनेवाले ही पुराण और धर्मशास्त्र कहे जा सकते हैं, जिनमे वध, हिंसा का उपदेश है वे सब धूर्तों के वचन हैं। अहिंसापूर्वक षट्कर्म ही आर्यवृत्त है और अन्य मतावलम्बियो के द्वारा बताया गया चातुराश्रमधर्म असन्मार्ग है। गर्भाधानादि निर्वाणान्त क्रियाएँ ही सच्ची क्रियाएँ हैं, गर्भादि श्मशानान्त क्रियाएँ सच्ची नही हैं। जो गर्भाधानादि निर्वाणान्त सम्यक् क्रियाओ मे उपयुक्त होते हैं वे ही सच्चे मन्त्र हैं, हिंसादि पापकर्मों के लिए बोले जाने वाले मन्त्र दुर्मन्त्र हैं। विश्वेश्वर आदि देवता ही शान्ति के कारण हैं, अन्य मासवृत्ति वाले क्रूर देवता हेय हैं। दिगम्बर लिंग ही मोक्ष का साधन हो सकता है, मृगचर्म आदि धारण करना कुलिंग है। मासरहित भोजन ही आहारशुद्धि है। अहिंसा ही एक मात्र शुद्धि का आधार हो सकता है, जहाँ हिंसा है वहाँ शुद्धि कैसी? इस तरह गुरु से सन्मार्ग को सुनकर वह भव्य जब सन्मार्ग को धारण करने के लिए तत्पर होता है तब दीक्षावतार क्रिया होती है।

इसके बाद अहिंसादि व्रतो का धारण करना वृत्तलाभ क्रिया है। तदनन्तर उपवासादिपूर्वक जिन-पूजा विधि से उसे जिनालय मे पचनमस्कार मन्त्र का उपदेश देना स्थानलाभ कहलाता है। स्थानलाभ करने के बाद वह घर जाकर अपने घर में स्थापित मिथ्या देवताओ का विसर्जन करता है और शान्त देवताओ की पूजा करने का संकल्प करता है। यह गणग्रह क्रिया है। इसके बाद पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढव्रत, उपयोगिता आदि क्रियाओं के बाद उपनीति क्रिया होती है जिसमे देवगुरु की साक्षीपूर्वक चारित्र और समय के परिपालन की प्रतिज्ञा की जाती है और व्रतचिह्न के रूप मे उपवीत धारण किया जाता है। इसकी आजीविका के साधन वही 'आर्यषट्कर्म' रहते हैं। इसके बाद वह अपनी पूर्वपत्नी को भी जैनसंस्कार से दीक्षित करके उसके साथ पुन: विवाह संस्कार करता है। इसके बाद वर्णलाभ क्रिया होती है। इस क्रिया मे समान आजीविका वाले अन्य श्रावको से वह निवेदन करता है कि मैंने सद्धर्म धारण किया, व्रत पाले, पत्नी को जैनविधि से संस्कृत कर उससे पुन: विवाह किया। मैंने गुरु की कृपा से 'अयोनिसम्भव जन्म' अर्थात् माता-पिता के सयोग के बिना ही यह चारित्रमूलक जन्म प्राप्त किया है। अब आप सब हमारे ऊपर अनुग्रह करें। तब वे श्रावक उसे अपने वर्ग मे मिला लेते हैं और सकल्प करते हैं कि तुम-जैसा द्विज—ब्राह्मण हमे कहाँ मिलेगा? तुम-जैसे शुद्ध द्विज के न मिलने से हम सब

१. "तत्रावतारसंज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया। मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे॥" ३९।७।

समान आजीविका वाले मिथ्यादृष्टियो से भी सम्बन्ध करते आये है। अब तुम्हारे साथ हमारा सम्बन्ध होगा। यह कहकर उसे अपने समकक्ष बना लेते हैं। यह वर्णलाभ क्रिया है।

इसके बाद आर्यषट्कर्म से जीविका करना उसकी कुलचर्या क्रिया है। धीरे-धीरे व्रत, अध्ययन आदि से पुष्ट होकर वह प्रायश्चित्त-विधान आदि का विशिष्ट जानकार होकर गृहस्थाचार्य के पद को प्राप्त करता है, यह गृहीशिता क्रिया है। फिर प्रशान्तता, गृहत्याग, दीक्षाद्य और जिनदीक्षा ये क्रियाएँ होती हैं। इस तरह ये दीक्षान्वय क्रियाएँ हैं।

इन दीक्षान्वय क्रियाओ मे किसी भी मिथ्यात्वी भव्य को अहिंसादि व्रतो के सस्कार से द्विज-ब्राह्मण बनाया है और उसे उसी शरीर से मुनिदीक्षा तक का विधान किया है। इसमे कही भी यह नही लिखा कि उसका जन्म या शरीर कैसा होना चाहिए? यह अजैनो को जैन बनाना और उसे व्रत-सस्कार से ब्राह्मण बनाने की विधि सिद्ध करती है कि जैन परम्परा मे वर्णलाभ-क्रिया गुण और कर्म के अनुसार है, जन्म के अनुसार नही। इसकी एक ही शर्त है कि उसे भव्य होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति सन्मार्ग के ग्रहण की होनी चाहिए। इतना ही जैन दीक्षा के लिए पर्याप्त है। वह हिंसादि पाप, वेद आदि हिंसा विधायक श्रुत और क्रूर मासवृत्तिक देवताओ की उपासना छोडकर जैन बन सकता है, जैन ही नही ब्राह्मण तक बन जाता है और उसी जन्म से जैन परम्परा की सर्वोत्कृष्ट मुनिदीक्षा तक ले लेता है। यह गुण कर्म के अनुसार होने वाली वर्णलाभ क्रिया मनुष्य मात्र को समस्त समान धर्माधिकार देती है।

अब जरा कर्त्रन्वय क्रियाओ को देखिए—कर्त्रन्वय क्रियाएँ पुण्यकार्य करने वाले जीवो को सन्मार्ग आराधना के फलस्वरूप से प्राप्त होती है। वे है—सज्जातित्व, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, परमार्हन्त्य और परिनिर्वाण। ये सात परमस्थान जैन धर्म के धारण करने वाले आसन्न भव्य को प्राप्त होते हैं।

सज्जातित्व की प्राप्ति आसन्नभव्य को मनुष्य-जन्म के लाभ से होती है। वह ऐसे कुल मे जन्म लेता है जिसमे दीक्षा की परम्परा चलती आयी है। पिता और माता का कुल और जाति शुद्ध होती है अर्थात् उसमे व्यभिचार आदि दोष नही होते, दोनो मे सदाचार का वर्तन रहता है। इसके कारण सहज ही उसके विकास के साधन जुट जाते हैं। यह सज्जन्म आर्यावर्त मे विशेष रूप से सुलभ है। अर्थात् यहाँ के कुटुम्बो मे सदाचार की परम्परा रहती है। दूसरी सज्जाति सस्कार के द्वारा प्राप्त होती है। वह धर्मसस्कार व्रतसस्कार को प्राप्त होकर मन्त्रपूर्वक व्रतचिह्न को धारण करता है। इस तरह बिना योनिज म के सद्गुणो के धारण करने से वह सज्जातिभाक् होता है। सज्जातित्व को प्राप्त करके वह आर्यषट्कर्मो का पालन करता हुआ सद्गृही होता है। वह गृहस्थचर्या का आचरण करता हुआ ब्रह्मचर्यत्व को धारण करता है। वह पृथ्वी पर रहकर भी पृथ्वी के दोषो से परे होता है। और अपने मे दिव्य ब्राह्मणत्व का अनुभव करता है। जब कोई अजैन ब्राह्मण उनसे यह कहे कि तू तो अमुक का लडका है, अमुक वश मे उत्पन्न हुआ है, अब कौन ऐसी विशेषता आ गयी है जिससे तू ऊँची नाक करके अपने को देव-ब्राह्मण कहता है? तब वह उनसे कहे कि मैं जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञानगर्भ से सस्कारजन्म लेकर उत्पन्न हुआ हूँ। हम जिनोक्त अहिंसामार्ग के अनुयायी हैं। आप लोग पापसूत्र का अनुगमन करने वाले हो और पृथ्वी पर कण्टकरूप हो। शरीरजन्म और सस्कारजन्म ये दो प्रकार के जन्म होते हैं। इसी तरह मरण भी शरीरमरण और सस्कारमरण के भेद से दो प्रकार का है। हमने मिथ्यात्व को छोडकर संस्कारजन्म पाया है अत हम देवद्विज हैं। इस तरह अपने मे गुरुत्व का अनुभव करता हुआ, सद्गृहित्व को प्राप्त करता है। जैन-द्विज विशुद्ध वृत्तिवाले हैं, वे वर्णोत्तम हैं। 'जब जैन द्विज षट्कर्मोपजीवी है तब उनके भी हिंसा दोष तो लगेगा ही' यह शका उचित नही है; क्योकि उनके अल्प हिंसा होती है तथा उस दोष की शुद्धि भी शास्त्र मे बतायी है। इनकी विशुद्धि पक्ष, चर्या और साधन के भेद से तीन प्रकार की है, मैत्री आदि भावनाओ से चित्त को भावित कर सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करना जैनियो का पक्ष है। देवता के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए या अल्प आहार के लिए भी हिंसा न करने का सकल्प चर्या है। जीवन के अन्त मे देह आहार आदि का त्याग कर ध्यानशुद्धि से आत्मशोधन करना साधन है।

जैन ब्राह्मण को असि, मसि, कृषि और वाणिज्य से उपजीविका करनी चाहिए। (४०।१६७)

उक्त वर्णन का सार यह है :

१. वर्णव्यवस्था राजा ऋषभदेव ने अपनी राज्य-अवस्था मे की थी। उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण गुणकर्म के अनुसार आजीविका के आधार से स्थापित किये थे। यह उस समय की समाज-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था थी, धर्म व्यवस्था नही।
   जब उन्हे केवलज्ञान हो गया और वे भगवान् आदिनाथ हो गये तब उन्होने इस समाज या राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई उपदेश नही दिया।

२. भरत चक्रवर्ती ने राज्य अवस्था मे ही इस व्यवस्था मे सशोधन किया। उन्होंने इन्ही तीन वर्णो मे से अणुव्रतधारियो का सम्मान करने के विचार से चतुर्थ 'ब्राह्मण' वर्ण की स्थापना की। इसमे 'व्रतसस्कार' से किसी को भी ब्राह्मण बनने का मार्ग खुला हुआ है।

३ दीक्षान्वय क्रियाओ मे आयी हुई दीक्षा क्रिया मिथ्यात्वदूषित भव्य को सन्मार्ग ग्रहण करने के लिए है। इससे किसी भी अजैन को जैनधर्म की दीक्षा दी जाती है। उसकी शर्त एक ही है कि वह भव्य हो और सन्मार्ग ग्रहण करना चाहता हो।

४ दीक्षान्वय क्रियाओ मे आयी हुई वर्णलाभ क्रिया अजैन को जैन बनाने के बाद समान आजीविका-वाले वर्ण मे मिला देने के लिए है, इससे उसे नया वर्ण दिया जाता है। और उस वर्ण के समस्त अधिकार उसे प्राप्त हो जाते हैं।

५ इन गर्भान्वय आदि क्रियाओ का उपदेश भी भरत चक्रवर्ती ने ही राज्य-अवस्था मे दिया है जो एक प्रकार की समाज-व्यवस्था को दृढ बनाने के लिए था।

अत आदिपुराण मे क्वचित् स्मृतियो से और ब्राह्मण-व्यवस्था से प्रभावित होने पर भी वह सास्कृतिक तत्त्व मौजूद है, जो जैन सस्कृति का आधार है। वह है अहिंसा आदि व्रतो अर्थात् सदाचार की मुख्यता का। इसके कारण ही कोई भी व्यक्ति उच्च और श्रेष्ठ कहा जा सकता है। वे उस सैद्धान्तिक बात को कितने स्पष्ट शब्दो मे लिखते हैं—

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद् भेदात् चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥" (३८।४५)

जाति नामकर्म के उदय से एक ही मनुष्यजाति है। आजीविका के भेद से ही वह ब्राह्मण आदि चार भेदो को प्राप्त हो जाती है।

आदिपुराण और स्मृतियाँ

आदिपुराण मे ब्राह्मणो को दस विशेषाधिकार दिये गये हैं—

१. अतिबालविद्या, २. कुलावधि, ३. वर्णोत्तमत्व, ४. पात्रता, ५ सृष्ट्यधिकारिता, ६. व्यवहारेशिता, ७. अवध्यत्व, ८. अदण्ड्यत्व, ९ मानार्हता और १०. प्रजासम्बन्धान्तर। (४०।१७५-७६)

इसमे ब्राह्मण की अवध्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

"ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो वधमर्हति।" (४०।१९४)
"सर्व. प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषत.।" (४०।१९५)

अर्थात् गुणो का उत्कर्ष होने से ब्राह्मण का वध नही होना चाहिए। सभी प्राणी नही मारने चाहिए, खासकर ब्राह्मण तो मारा ही नही जाना चाहिए।

उसकी अदण्ड्यता का कारण देते हुए लिखा है—

"परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः।
ब्रह्मस्वं च तथाभूत न दण्डार्हस्ततो द्विज. ॥" (४०।२०१)

अर्थात् जैसे हितार्थियो को देवगुरुद्रव्य ग्रहण नहीं करना चाहिए उसी तरह ब्राह्मण का धन भी। अत: द्विज का दण्ड-जुर्माना नही होना चाहिए। इन विशेषाधिकारो पर स्पष्टतया ब्राह्मणयुगीन स्मृतियो की छाप है। शासन-व्यवस्था मे अमुक वर्ण के अमुक अधिकार या किसी वर्ण विशेष के विशेषाधिकारो की बात मनुस्मृति आदि मे पद-पद पर मिलती है। मनुस्मृति मे लिखा है—

"न जातु ब्राह्मण हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेन बहि कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥" (८।३८०-८१)
"न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थिति. ॥" (९।१८९)

अर्थात् समस्त पाप करने पर भी ब्राह्मण अवध्य है। उसका द्रव्य राजा को ग्रहण नही करना चाहिए।

आदिपुराण मे विवाह की व्यवस्था बताते हुए लिखा है—

"शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वा च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्य स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता ॥" (१६।२४७)

अर्थात् शूद्र को शूद्रकन्या से ही विवाह करना चाहिए, अन्य ब्राह्मण आदि की कन्याओ से नही। वैश्य वैश्यकन्या और शूद्रकन्या से, क्षत्रिय क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्या से तथा ब्राह्मण ब्राह्मण-कन्या से और कही क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है। इसकी तुलना मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक से कीजिए—

"शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥" (३।१३)

याज्ञवल्क्य स्मृति (३।५७) मे भी यही क्रम बताया गया है।

महाभारत अनुशासनपर्व मे निम्नलिखित श्लोक आता है—

"तप श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम्। त्रिभिर्गुणै समुदितः ततो भवति वै द्विज।" (१२१।७)

पातञ्जल महाभाष्य (२।२।६) मे इस श्लोक का उत्तरार्ध इस पाठभेद के साथ है—

"तप.श्रुताभ्या यो हीन जातिब्राह्मण एव स।"

आदिपुराण (पर्व ३८ श्लोक ४३) मे यह जातिमूलक ब्राह्मणत्व इन्ही ग्रन्थो से और उन्ही शब्दो में ज्यो का त्यों आ गया है—

"तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्।
तप.श्रुताभ्यां यो हीन. जातिब्राह्मण एव सः।"

इसी तरह अन्य भी अनेक स्थल उपस्थित किये जा सकते है जिनसे आदिपुराण पर स्मृति आदि के प्रभाव का असन्दिग्ध रूप से ज्ञान हो सकता है।

पुत्री को समान धन-विभाग

आदिपुराण मे गृहत्याग क्रिया के प्रसंग में धन संविभाग का निर्देश करते हुए लिखा है—

"एकोंऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीय. स्वगृहव्यये।
तृतीयः सविभागाय भवेत् त्वत्सहजन्मनाम् ॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हा. सम पुत्रैः समाशकै.।"

अर्थात् मेरे धनमें-से एक भाग धर्म-कार्यके लिए, दूसरा भाग घर-खर्चके लिए तथा तीसरा भाग सहोदरोंमें बाँटनेके लिए है। पुत्रियों और पुत्रोंमें वह भाग समानरूपसे बाँटना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि धनमें पुत्रीका भी पुत्रोंके समान ही समान अधिकार है।

इस तरह मूलपाठशुद्धि, अनुवाद, टिप्पण और अध्ययनपूर्ण प्रस्तावनासे समृद्ध यह संस्करण विद्वान् सम्पादककी वर्षोंकी श्रमसाधनाका सुफल है। पं० पन्नालालजी साहित्यके आचार्य तो है ही, उनने धर्मशास्त्र, पुराण और दर्शन आदिका भी अच्छा अभ्यास किया है। अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ की है और सम्पादन किया है। वे अध्ययनरत अध्यापक और श्रद्धालु विचारक हैं। हम उनकी इस श्रमसाधित सत्कृतिका अभिनन्दन करते है और आशा करते हैं कि उनके द्वारा इसी तरह अनेक ग्रन्थरत्नोंका उद्धार और सम्पादन आदि होगा।

भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक श्रद्धेता साहू शान्तिप्रसादजी तथा अध्यक्षा उनकी समशीला पत्नी सौ० रमाजी इस संस्थाके सांस्कृतिक प्राण हैं। उनकी सदा यह अभिलाषा रहती है कि प्राचीन ग्रन्थोंका उद्धार तो हो ही साथ ही उन्हें नवीन रूप भी मिले, जिससे जनसाधारण भी जैन संस्कृतिसे सुपरिचित हो सकें। वे यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक आचार्यके ऊपर एक-एक अध्ययन ग्रन्थ लिखा जाये जिसमें उनके जीवन वृत्तके साथ ही उनके ग्रन्थोंका दोहनामृत हो। ज्ञानपीठ इसके लिए यथासम्भव प्रयत्नशील है। इस ग्रन्थका दूसरा भाग भी शीघ्र ही पाठकोंकी सेवामें पहुँचेगा।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी
वसन्त पंचमी २००७

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
सम्पादक—मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

प्रस्तावना

[द्वितीय सस्करण से]

सम्पादन-सामग्री

श्री जिनसेनाचार्य-रचित महापुराण का आदि अग—आदिपुराण अथवा पूर्वपुराण का सम्पादन निम्न-लिखित १२ प्रतियो के आधार से किया गया है

१ 'त' प्रति—यह प्रति प० के० भुजवली शास्त्री 'विद्याभूषण' के सत्प्रयत्न द्वारा मूडबिद्री के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है। कर्णाटक लिपि मे ताडपत्र पर लिखी हुई है। इसके ताडपत्र की लम्बाई २५ इच और चौडाई २ इच है। प्रत्येक पत्र पर प्राय. आठ-आठ पक्तियाँ हैं और प्रति पक्ति मे १०६ से लेकर ११२ तक अक्षर हैं। अक्षर छोटे और सघन हैं। मार्जनो मे तथा नीचे उपयोगी टिप्पण भी दिये गये है। प्रति के कुल पत्रो की सख्या १७७ है। मूल के साथ टिप्पण इतने मिलकर लिखे गये है कि साधारण व्यक्ति को पढने मे कठिनाई हो सकती है। श्लोको का अन्वय प्रकट करने के लिए उन पर अक दिये गये हैं। लेखक महाशय ने बडी प्रामाणिकता और परिश्रम के साथ लिपि की, मालूम होता है। यही कारण है कि यह प्रति अन्य समस्त प्रतियो की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। इस ग्रन्थ का मूल पाठ इसी के आधार पर लिया गया है। इसके अन्त मे निम्न श्लोक पाये जाते है जिससे इसके लेखक और लेखन-काल का स्पष्ट पता चलता है।

"ओन्नमो वृषभनाथाय, श्री श्री श्री भरतादिशेषकेवलिभ्यो नम । वृषभसेनादिगणधरमुनिभ्यो नम, वर्द्धताम् जैन शासनम्, भद्रमस्तु।

वरकर्णाटदेशगायां निवसन्पुरि नामभृति महाप्रतिष्ठातिलकवान्नेमिचन्द्रसूरिर्यः।
तद्दीर्घवंशजातो (त) पुत्र प्राज्ञस्य देवचन्द्रस्य।
यन्नेमिचन्द्रसूनोर्वरभारद्वाजगोत्रजातोऽहम् ॥
श्रीमत्सुरासुरनरेश्वरपन्नगेन्द्रमौल्यच्युताङ्घ्रियुगलोवरदिव्यगात्रः।
रागादिदोषरहितो विधुताष्टकर्मा पायात्सदा बुधवरान् वरदोर्बलीश. ॥
शाल्यब्दे व्योमवह्निव्यसनशशियुते [१७३०] वर्तमाने द्वितीये
चाब्दे फाल्गुण्यमासे विधुतिथियुतसत्काव्यवारोत्तराभे।
पूर्वं पुण्य पुराणं पुरुजिनचरितं नेमिचन्द्रेण चाभू-
द्देवश्रीचारुकीर्तिप्रतिपतिवरशिष्येण चात्यादरेण ॥
धर्मस्थलपुराधीशः कुमाराख्यो नराधिपः
तस्मै दत्तं पुराणं श्रीगुरुणा चारुकीर्तिना ॥"

इस पुस्तक का साकेतिक नाम 'त' है।

२. 'ब' प्रति—यह प्रति भी श्रीयुत प० के भुजवली शास्त्री के सत्प्रयत्न से मूडबिद्री के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है। यह प्रति भी कर्णाटक लिपि मे ताडपत्रो पर उत्कीर्ण है। इसके कुल पत्रो की सख्या २३७ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई २५ इंच और चौड़ाई डेढ इच है। प्रति पत्र पर ६ से लेकर ७ तक पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति मे ११८ से लेकर १२२ तक अक्षर हैं। बीच मे कही-कही टिप्पण भी दिये गये हैं। अक्षर सुवाच्य और सुन्दर हैं। दीमको के आक्रमण से कितने ही पत्रो के अश नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं। इसके लेखन और लेखन-काल का कुछ भी पता नही चलता है। इसका साकेतिक नाम 'ब' है।

३. 'प' प्रति—यह प्रति प० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य के सत्प्रयत्न जैन सरस्वती भवन, आरा

से प्राप्त हुई है। देवनागरी लिपि में काली और लाल स्याही द्वारा कागज पर लिखी गयी है। इसकी कुल पत्र-सख्या ३०५ है। प्रत्येक पत्र पर १३ पक्तियाँ है और प्रत्येक पक्ति मे ४२ से लेकर ४६ तक अक्षर है। पत्रो की लम्बाई साढे चौदह इच और चौडाई ६ इच है। प्रारम्भ के कितने ही पत्रो के बीच-बीच के अश नष्ट हो गये हैं। मालूम होता है कि स्याही मे कोशीस का प्रयोग अधिक किया गया है जिसकी तेजी से कागज गलकर नष्ट हो गया है। यह प्रति सुवाच्य तो है परन्तु कुछ अशुद्ध भी है। श, ष, स, व, ब, न और ण मे प्रायः कोई भेद नही किया गया है। प्रत्येक पत्र पर ऊपर-नीचे और बगल मे आवश्यक टिप्पण दिये गये हैं। कितने ही टिप्पण 'त' प्रति के टिप्पणो से अक्षरश मिलते हैं। इसकी लिपि १७३५ सवत् मे हुई है। सम्भवत यह संवत् विक्रम सवत् होगा, क्योकि उत्तर भारत मे यही सवत् अधिकतर लिखा जाता रहा है। पुस्तक की अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है .

"संवत् १७३५ वर्षे अगहणमासे कृष्णपक्षे द्वादशीगुरुवासरे अपराह्णिकवेला।

"श्री हरिकृष्ण अविनाशी ब्रह्मश्रीनिपुण श्रीब्रह्मचक्रवर्तिराज्यप्रवर्तमाने गैब दलवलवाहनविद्योघ दुष्ट-घनघटाविदारणसाहसीक म्लेच्छनिवहविध्वंसन महाबली ब्रह्मा की वो शी गैबीछत्रत्रयमंडित सिंहासन अमर-मंडलीसेव्यमानसहस्रकिरणवत् महातेजभासुर नृपमणि[1] मस्तिकमुकुटसिद्धशारदपरमेश्वर-परमप्रीति उर ज्ञानध्यानमंडितसुनरेश्वरा । श्रीहरिकृष्णसरोजराजराजित पदपकजसेवितमधुकर सुभटवचनक्षकृत तनु अंकज। यह पूरण लिखो पुराणतिन शुभशुभकीरति के पठन को। जगसगतु जगम निज सुअटल शिष्य-गिरधर परसराम के कथन को। शुभ भवतु मङ्गलं। श्रीरस्तु। कल्याण मस्तु।"

इसी पुस्तक के प्रारम्भ मे एक कोरे पत्र के बायी ओर लिखा है कि :

"पुराणमिदं मुनीश्वरदासेन आरानामनगरे श्रीपार्श्वजिनमन्दिरे दत्त स्थापित च भव्यजीवपठनाय। भद्र भूयात्।"

इस पुस्तक का सांकेतिक नाम 'प' है।

४ 'अ' प्रति—यह प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। इसमे कुल पत्र २५८ हैं। प्रत्येक पत्र का विस्तार साढे बारह × साढे छह इच है। प्रत्येक पत्र पर १५ से १८ तक पक्तियाँ है और प्रत्येक पक्ति मे ३८ से ४१ तक अक्षर हैं। लिपि सुवाच्य है। देवनागरी लिपि मे काली और लाल स्याही से लिखी हुई है। अशुद्ध बहुत है। श्लोको के नम्बर भी प्राय गडबड हैं। श, ष, स, न, ण और व, ब मे कोई विवेक नही रखा गया है। यह कब लिखी गयी ? किसने लिखी ? इसका कुछ पता नही चलता। कही-कही कुछ खास शब्दो के टिप्पण भी हैं। इसके लेखक संस्कृतज्ञ नही मालूम होते। पुस्तक के अन्तिम पत्र के नीचे पतली कलम से निम्नलिखित शब्द लिखे हैं :

"पुस्तक आदिपुराणजी का, भट्टारकराजेन्द्रकीर्तिजी को दिया, लखनऊ मे ठाकुरदास की पतोह ललितप्रसाद की बेटी ने। मिती माघबदी ''' सं० १९०५ के साल में"

---

१ यहाँ निम्नांकित पट्पदवृत्त है जो लिपिकर्त्ता की कृपा से गद्यरूप हो गया है ·

"नृपमणिमस्तकमुकुटसिद्धशारदपरमेश्वर।
परम प्रीति उर ज्ञानध्यानमण्डित सुनरेश्वर।
श्री हरिकृष्णसरोजराजराजितपदपकज
सेवितमधुकर सुभटवचनक्षकृत तनु अंकज॥
यह पूरण लिखो पुराण तिन शुभ कीरति के पठन को।
जगमगतु जगम निज-सुअटल शिष्य गिरिधर परशराम के कथन को।"

इस लेख से लेखनकाल स्पष्ट नही होता। इसका साकेतिक नाम 'अ' है।

५ 'इ' प्रति—यह प्रति मारवाडी मन्दिर शक्कर बाजार इन्दौर के प० खेमचन्द्र शास्त्री के सौजन्य मे प्राप्त हुई है। कही-कही पार्श्व मे चारो ओर उपयोगी टिप्पण दिये गये हैं। पत्र-सख्या ५००, पक्ति-सख्या प्रतिपत्र ११ और अक्षर-सख्या प्रति पक्ति ३५ से ३८ तक है। अक्षर सुवाच्य हैं, दशा अच्छी है, लिखने का संवत् नही है, आदि अन्त मे कुछ लेख नही है। प्रथम पत्र जीर्ण होने के कारण दूसरा लिखकर लगाया गया है। प्रायः शुद्ध है। इन्दौर से प्राप्त होने के कारण इसका साकेतिक नाम 'इ' है।

६ 'स' प्रति—यह प्रति पूज्य बाबा श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसादजी वर्णी की सत्कृपा से उन्हीं के सरस्वती भवन से प्राप्त हुई है। लिखावट अत्यन्त प्राचीन है, पडी मात्राएँ हैं जिससे आधुनिक वाचको को अभ्यास किये विना वाँचने मे कठिनाई आती है। जगह-जगह प्राकरणिक चित्रो से सजी हुई है। उत्तरार्ध मे चित्र नही बनाये जा सके हैं अतः चित्रो के लिए खाली स्थान छोड़े गये है। कितने ही चित्र बड़े सुन्दर हैं। पत्र-सख्या ३६४ है, दशा अच्छी है, आदि-अन्त मे कुछ लेख नही है। पूज्य वर्णीजी को यह प्रति बनारस मे किसी सज्जन द्वारा भेट की गयी थी ऐसा उनके कहने से मालूम हुआ। सागर से प्राप्त होने के कारण इसका साकेतिक नाम 'स' है।

७. 'द' प्रति—यह प्रति पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली की कृपा से प्राप्त हुई। इसमे मूल श्लोको के साथ ही ललितकीर्ति भट्टारककृत सस्कृत टीका दी हुई है। पत्र-सख्या ८६८ है, प्रति पत्र पक्तियां १२ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ५० मे ५२ तक है। लेखनकाल अज्ञात है। अन्त मे टीकाकार की प्रशस्ति दी हुई है जिससे टीका-निर्माण का काल विदित होता है। प्रशस्ति इस प्रकार है ·

"वर्षे सागरनागभोगिकुमिते मार्गे च मासेऽसिते
पक्षे पक्षतिसत्तिथौ रविदिने टीका कृतेयं वरा।
काष्ठासघवरे च माथुरवरे गच्छे गणे पुष्करे
जेव श्रीजगदादिकीर्तिरभवत् स्यातो जितात्मा महान्।
तच्छिष्येण च मन्दतान्वितधिया भट्टारकत्वं यता
शुम्भद्वं ललितादिकीर्त्यभिधया स्यातेन लोके ध्रुवम्।
राजश्रीजिनसेनभाषितमहाकाव्यस्य भक्त्या मया
सशोध्यंच सुपठ्यतां बुधजनैः क्षान्ति विधायादरात्।"

दिल्ली से प्राप्त होने के कारण इसका साकेतिक नाम 'द' है।

८. 'ट' प्रति—यह प्रति श्री प० भुजबली शास्त्री के सौजन्य से मूडबिद्री से प्राप्त हुई थी। इसमे ताडपत्र पर मूल श्लोको के नम्बर देकर संस्कृत मे टिप्पण दिये गये हैं। प्रकृत ग्रन्थ मे श्लोको के नीचे जो टिप्पण दिये गये हैं वे इसी प्रति से लिये गये हैं। इस टिप्पण मे "श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे। धर्म-चक्रभृते भर्त्रे नम ससारभीमुषे" इस आद्य श्लोक के विविध अर्थ किये हैं जिनमे से कुछ का उल्लेख हिन्दी अनुवाद मे किया गया है। इसकी लिपि कर्णाटक लिपि है। इस प्रति का साकेतिक नाम 'ट' है। टिप्पणकर्त्ता के नाम का पता नही चलता है।

९ 'क' प्रति—यह प्रति भी टिप्पण की प्रति है। इसकी प्राप्ति जैन सिद्धान्त भवन आरा से हुई है। ताडपत्र पर कर्णाटक लिपि मे टिप्पण दिये गये हैं। इसमे प्रथम श्लोक का 'ट' प्रति के समान विस्तृत टिप्पण नही है। यह 'ट' प्रति की अपेक्षा अधिक सुवाच्य है। बहुत-से टिप्पण 'ट' प्रति के समान हैं, कुछ असमान भी हैं। टिप्पणकार का पता नही चलता है। इसका साकेतिक नाम 'क' है।

१०. 'ख' प्रति—यह टिप्पण की नागरी लिपि की पुस्तक मारवाडी मन्दिर शक्कर बाजार इन्दौर से प० खेमचन्द्रजी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसमे पत्र-सख्या १७४ है। प्रति पत्र मे १० से १२ तक

पंक्तियाँ हैं और प्रति पक्ति मे ३५ से ४० तक अक्षर हैं। लिपि सुवाच्य और प्राय. शुद्ध है। यह लिपि किसी कर्णाटक प्रति से की हुई मालूम होती हैं। अन्तिम पत्रो का नीचे का हिस्सा जीर्ण हो गया है। यह पुस्तक वहुत प्राचीन मालूम होती है। इसके अन्त मे निम्नाकित लेख है—

"श्रीवीतरागाय नम । स० १२२४ वैं० कु०७ लिपिरियं विश्वसेनऋषिणा उदयपुरनगरे श्रीमद्-भगवज्जिनालये। शुभ भूयात् श्रीः श्री।"

इसका सांकेतिक नाम 'ख' है।

११. 'ल' प्रति—यह प्रति श्रीमान् पण्डित लालारामजी शास्त्री के हिन्दी अनुवाद सहित है। इसका प्रकाशन उन्ही की ओर से हुआ है। ऊपर श्लोक देकर नीचे उनका अनुवाद दिया गया है। इसमे कितने ही मूल श्लोको का पाठ परम्परा से अशुद्ध हो गया है। यह सस्करण अव अप्राप्य हो गया है। इस पुस्तक का साकेतिक नाम 'ल' है।

१२ 'म' प्रति—यह पुस्तक वहुत पहले मराठी अनुवाद सहित जैनेन्द्र प्रेस कोल्हापुर से प्रकाशित हुई थी। स्व० प० कल्लप्पा भरमप्पा 'निटवे' उसके मराठी वनुवादक हैं। ग्रन्थाकार मे छपने के पहले सम्भवत. यह अनुवाद सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी के जैन वोधक मे प्रकाशित होता रहा था। इसमे श्लोक देकर उनके नीचे मराठी भाषा मे अनुवाद दिया गया है। मूलपाठ कई जगह अशुद्ध है। प० लालारामजी ने प्राय' इसि पुस्तक के पाठ अपने अनुवाद मे लिये हैं। यह संस्करण भी अव अप्राप्य हो चुका है। इसका साकेतिक नाम 'म' है।

इस प्रकार १२ प्रतियो के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन हुआ है। जहाँ तक हो सका है 'त' प्रति के पाठ ही मैंने मूल मे रखे हैं। अन्य प्रतियो के पाठभेद उनके साकेतिक नामो के अनुसार नीचे टिप्पण मे दिये हैं। 'अ' और 'प' प्रति मे कितने ही पाठ अत्यन्त अशुद्ध हैं जिन्हें अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। 'ल' और 'म' प्रति के भी कितने ही अशुद्ध पाठो की उपेक्षा की गयी है। जहाँ 'त' प्रति के पाठ की अर्थ सगति नही वैठायी जा सकी है वहाँ 'ब' प्रति के पाठ मूल मे दिये है और 'त' प्रति के पाठ का उल्लेख टिप्पण मे किया गया है, परन्तु ऐसे स्थल समग्र ग्रन्थ मे दो-चार ही होंगे। 'त' प्रति वहुत शुद्ध है। पं० आशाधरजी ने सागार-धर्मामृत मे मूलगुणो का वर्णन करते समय जिनसेनाचार्य का निम्न श्लोक उद्धृत किया है·

"हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाश्च वादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥"

परन्तु हमारे द्वारा उपलब्ध प्रतियो मे यह श्लोक देखने मे नही आया। पं० कैलाशचन्द्रजी आदि कुछ विद्वानो ने इस श्लोक के विषय मे मुझसे पूछ-ताछ भी की। सम्भव है किसी अन्य प्रति मे यह श्लोक हो। कर्णाटक लिपि के सुनने तथा नागरी लिपि मे उसे परिवर्तित करने मे श्री प० देवकुमारजी न्यायतीर्थ ने वहुत परिश्रम किया है। श्री गणेश विद्यालय मे उस समय अध्ययन करने वाले श्री नमिराज, पद्मराज और रघुराज विद्यार्थियो से भी मुझे कर्णाटक लिपि से नागरी लिपि करने मे वहुत सहयोग प्राप्त हुआ है। समग्र ग्रन्थ के पाठभेद लेने मे मुझे दो वर्ष का ग्रीष्मावकाश लगाना पडा है और दोनो ही वर्ष उक्त महाशयो ने मुझे पर्याप्त सहयोग दिया है इसलिए इस साहित्य-सेवा के अनुष्ठान मे मैं उनका आभारी हूँ।

संस्कृत

संस्कृत शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु को 'क्त' प्रत्यय जोड़ने से वनता है। 'सम्' और 'परि' उपसर्ग से सहित 'कृ' धातु का अर्थ जव भूषण अथवा सघात रहता है तभी उस धातु को सुडागम होता है। इसलिए

संस्कृत भाषा से सुसंहत और परिष्कृत भाषा का ही बोध होता है। इस भाषा की संस्कृत संज्ञा अन्वर्थ सज्ञा है। यह भाषा, भाषा-प्रवर्तको के द्वारा प्रचारित नियम रेखाओ का उल्लघन न करती हुई हजारो वर्षो से भारत-भू-खण्ड पर प्रचलित है। वैदिक काल से लेकर अब तक इस भाषा मे जो परिवर्तन हुए है वे यद्यपि अल्पतर हैं, फिर भी तात्कालिक ग्रन्थो के पर्यवेक्षण से यह तो मानना ही पडता है कि इसका विकास कालक्रम से हुआ है। भाषा के मर्मदर्शी विद्वानो ने सस्कृत भाषा के इतिहास को तीन कालखण्डो मे विभक्त किया है। चिन्तामणि विनायक वैद्य ने १ श्रुतिकाल, २ स्मृतिकाल और ३ भाष्यकाल ये तीन कालखण्ड माने हैं। सर भाण्डारकर महाशय ने भाषा-सरणि को प्रधानता देकर १. सहिताकाल, २ मध्य सस्कृतकाल और ३ लौकिक सस्कृतकाल ये तीन कालखण्ड माने हैं। साथ ही इस लौकिक संस्कृत की भी तीन अवस्थाएँ मानी हैं। सस्कृत भाषा के क्रमिक विकास का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके निम्नाकित भागो पर दृष्टि देना आवश्यक है

१. **सहिताकाल**—इस भाग मे वेदो की सहिताओ का समावेश है, जिनमे मन्त्रात्मक अनेक स्तुतियो का सग्रह है। इस भाग की सस्कृत से आज की सस्कृत मे बहुत अन्तर पड गया है। इस भाषा के शब्दो के उच्चारण मे उदात्तादि स्वरो का खासकर ध्यान रखना पडता है। इसके शब्दो की सिद्धि करने वाला केवल पाणिनिव्याकरण है।

२ **ब्राह्मणकाल**—सहिताकाल के बाद ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदादि ग्रन्थो की भाषा का काल आता है जो कि 'ब्राह्मणकाल' नाम से प्रसिद्ध है। इस काल की भाषा सहिताकाल से बहुत पीछे की है और पाणिनिव्याकरण के नियम प्राय इसके अनुकूल हैं। इस काल की रचना सरल, सक्षिप्त और क्रिया-बाहुल्य से युक्त हुआ करती थी। सहिताकाल और ब्राह्मणकाल का अन्तर्भाव श्रुतिकाल मे हो सकता है।

३. **स्मृतिकाल**—श्रुतिकाल के बाद मे महाभाष्यकार पतजलि के समय तक का काल स्मृतिकाल कहलाता है। इस काल का प्रारम्भ यास्क और पाणिनि के समय से माना गया है। अनेक सूत्र ग्रन्थ, रामायण तथा महाभारतादि की भाषा इस काल की भाषा है। इस काल की रचना भी श्रुतिकाल की रचना के समान सरल और दीर्घसमासरहित थी। श्रुतिकाल मे ऐसे कितने ही क्रियाओ के प्रयोग होते थे जो कि व्याकरण से सिद्ध नही हो सकते थे और आर्ष प्रयोग के नाम पर जिनका प्रयोग क्षन्तव्य माना जाता था वे इस काल मे धीरे-धीरे कम हो गये थे।

४ **भाष्यकाल**—इस काल मे अनेक दर्शनो के सूत्र-ग्रन्थो पर भाष्य लिखे गये हैं। सूत्रो की सरल सक्षिप्त रचना को भाष्यकारो द्वारा विस्तृत करने की मानो होड-सी लग गयी थी। न्याय, व्याकरण, धर्म आदि विविध विषयो के सूत्र-ग्रन्थो पर इस काल मे भाष्य लिखे गये है। इस काल की भाषा भी सरल, दीर्घ समासरहित तथा जनसाधारणगम्य रही है।

५ **पुराणकाल**—पुराणो का उल्लेख यद्यपि सहिताओ, उपनिषदो और स्मृति आदि मे आता है इसलिए पुराणो का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध है परन्तु सहिता या उपनिषद्कालीन पुराण आज उपलब्ध नही, अत उपलब्ध पुराणो की अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि भाष्यकाल के आस-पास ही पुराणो की रचना शुरू हुई है, जिसमे रामायण तथा महाभारत की शैली का अनुगमन कर विविध पुराणो और उपपुराणो का निर्माण हुआ है। इनकी भाषा भी दीर्घ-समासरहित तथा अनुष्टुप् छन्द प्रधान रही है। धीरे-धीरे पुराणो की रचना काव्यरचना की ओर अग्रसर होती गयी, जिससे पुराणो मे भी केवल कथानक न रहकर कविजनोचित कल्पनाएँ दृष्टिगत होने लगी और अलकार तथा प्रकरणो के आदि अन्त मे विविध छन्दो का प्रवेश होने लगा। इस काल मे कुछ नाटको की भी रचना हुई है।

६ **काव्यकाल**—समय के परिवर्तन से भाषा मे परिवर्तन हुआ। पुराणकाल के बाद काव्यकाल आया। इस काल मे गद्यपद्यात्मक विविध ग्रन्थ नाटक, आख्यान, आख्यायिका आदि की रचना हुई। कवियो की

कल्पना-शक्ति मे अधिक विकास हुआ जिसमे अलकारो का आविर्भाव हुआ और वह धीरे-धीरे बढता ही गया। प्रारम्भ मे अलकारो की सख्या चार थी पर अब वह बढते-बढते शतोपरि हो गयी। इस समय की भाषा क्लिष्ट और कल्पना से अनुस्यूत थी। इस काल मे सस्कृत भाषा का भाण्डार जितना अधिक भरा गया उतना अन्य कालो मे नही। सस्कृत भाषामय उपलब्ध जैनग्रन्थो की अधिकाश रचना भाष्यकाल, पुराणकाल और काव्यकाल मे हुई है।

प्राकृत

यह ठीक है कि सस्कृत भाषानिबद्ध जैनग्रन्थ भाष्यकाल से पहले के उपलब्ध नही हो रहे हैं परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि उसके पहले जैनो मे ग्रन्थनिर्माण की पद्धति नही थी और उनकी निज की कोई भाषा नही थी। सदा ही जैनाचार्यों का भाषा के प्रति व्यामोह नही रहा है। उन्होने भाषा को सिर्फ साधन समझा है, साध्य नही। यही कारण है कि उन्होंने सदा जनता को जनता की भाषा मे ही तत्त्वदेशना दी है। ईसवी सवत् से कई शताब्दियो पूर्व भारतवासियो की जनभाषा प्राकृत भाषा रही है। उस समय जैनाचार्यों की तत्त्वदेशना प्राकृत मे ही हुआ करती थी। बौद्धो ने प्राकृत की एक शाखा मागधी को अपनाया था जो बाद मे पालि नाम से प्रसिद्ध हुई। बौद्धो के त्रिपिटक ग्रन्थ ईसवी पूर्व की रचना माने जाते हैं। जैनियो के अगग्रन्थो की भाषा ईसवी पूर्व की है, भले ही उनका वर्तमान सकलन पीछे का हो।

कुछ लोगो की ऐसी धारणा रही कि प्राकृत की उत्पत्ति सस्कृत से हुई और उस धारणा मे बल देने वाला हुआ प्राकृत व्याकरण का आद्यसूत्र 'प्रकृतिः सस्कृतम्'। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नही है। प्राकृत, भारत की प्राचीनतर साधारण बोलचाल की भाषा है। ई० पू० तृतीय शताब्दी के मौर्य सम्राट अशोकवर्द्धन के निर्मित जो शिलालेख भारतवर्ष के अनेक प्रान्तो मे हैं उनकी भाषा उस समय की प्राकृत भाषा मानी जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि महाभाष्यकार के कई शतक पूर्व से ही जनसाधारण की भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत थी। प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक है। जैनियो के आगम ग्रन्थ इसी प्राकृत भाषा मे लिखे गये हैं।

चूँकि अशोकवर्द्धन के शिलालेखो की भाषा विभिन्न प्रकार की प्राकृत है और महाकवियो के नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत भाषाओ मे भी विविधता है इसलिए कहा जा सकता है कि ईसा के पूर्व ही प्रान्तभेदसे प्राकृत के अनेक भेद हो गये थे। वररुचिने अपने 'प्राकृतप्रकाश' मे प्राकृत सामान्य के अतिरिक्त उसके तीन भेद १ शौरसेनी, २ मागधी और ३ पैशाची बताये हैं। हेमचन्द्र ने अपने 'हैम व्याकरण' मे १ शौरसेनी, २ मागधी, ३ पैशाची, ४ चूलिका पैशाची और ५ अपभ्र श ये पाँच भेद माने है। त्रिविक्रम ने अपनी 'प्राकृतसूत्रवृत्ति' मे और लक्ष्मीधरने 'षट्भाषाचन्द्रिका' मे इन्ही भेदो का निरूपण किया है। मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' मे १ भाषा, २ विभाषा, ३ अपभ्रंश और ४ पैशाची ये चार भेद मानकर उनके निम्नाकित १६ अवान्तर भेद माने हैं, १ महाराष्ट्री, २ शौरसेनी, ३ प्राची, ४ आवन्ती, ५ मागधी, ६ शाकारी, ७ चाण्डाली, ८ शावरी, ९ आभीरिका, १० टाक्की, ११ नागर, १२ व्राचड, १३ उपनागर, १४ कैकय, १५ शौरसेन और १६ पाचाल। इनमे प्रारम्भ के पाँच 'भाषा' प्राकृत के, छह से दस तक 'विभाषा' प्राकृत के, ग्यारह से तेरह तक 'अपभ्र श' के और चौदह से सोलह तक 'पैशाची' के भाषा भेद माने हैं। रुद्रट ने नाटक मे निम्नलिखित ७ भेद स्वीकृत किये हैं: १ मागधी, २ आवन्ती, ३ प्राच्या, ४ शूरसेनी, ५ अर्धमागधी, ६ वाह्लीका और ७ दाक्षिणात्या।

इस प्रकार प्राकृत भाषा-साहित्य का भी अनुपम भाण्डार है जिसमे एक-से-एक बढकर ग्रन्थरत्न प्रकाशमान हैं। सस्कृत और प्राकृत के बाद अपभ्र श भाषा का प्रचार अधिक बढा। अत उस भाषा मे भी जैन ग्रन्थकारो ने विविध साहित्य की रचना की है। महाकवि स्वयम्भू, महाकवि पुष्पदन्त, महाकवि रइधू आदि की अपभ्रंश भाषामय विविध रचनाओं को देखकर हृदय आनन्द से भर जाता है, और ऐसा लगने लगता है कि इस भाषा की श्रीवृद्धि मे जैन लेखक ने बहुत अधिक कार्य किया है। यह सब लिखने का तात्पर्य यह है कि

जैनाचार्यों के द्वारा भारतीय साहित्य-प्रगति को सदा बल मिला है। प्राचीन भाषाओ की बात जाने दीजिए, हिन्दी भाषा का आद्य उपक्रम भी जैनाचार्यो द्वारा ही किया गया है। जैन समाज को बुद्धि उत्पन्न हो और वह पूरी शक्ति के साथ अपना समग्र साहित्य आधुनिक ढग से प्रकाश मे ला दे तो सारा संसार उनकी गुणगरिमा से नतमस्तक हो जायेगा ऐसा मेरा निज का विश्वास है

पुराण

भारतीय धर्मग्रन्थो मे पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास के साथ आता है। कितने ही लोगो ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इतिहास की गणना अथर्ववेद मे की है और इतिहास मे इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनो ही विभिन्न हैं, इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनो अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। कोषकारो ने पुराण का लक्षण निम्न प्रकार माना है

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरित चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥"

जिसमे सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वशपरपराओ का वर्णन हो वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं।

इतिवृत्त केवल घटित घटनाओ का उल्लेख करता है परन्तु पुराण महापुरुषो की घटित घटनाओ का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल, पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच मे नैतिक और धार्मिक भावनाओ का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त मे केवल वर्तमानकालिक घटनाओ का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण मे नायक के अतीत अनागत भवो का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है? अवनत से उन्नत बनने के लिए क्या-क्या त्याग और तपस्याएँ करनी पडती हैं। मनुष्य के जीवन-निर्माण मे पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमे जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैनेतर समाज का पुराण-साहित्य बहुत विस्तृत है। वहाँ १८ पुराण माने गये हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं १ मत्स्यपुराण, २ मार्कण्डेयपुराण, ३ भागवतपुराण, ४ भविष्यपुराण, ५ ब्रह्माण्डपुराण, ६ ब्रह्मवैवर्त-पुराण, ७ ब्रह्मपुराण, ८ वामनपुराण, ९ वराहपुराण, १० विष्णुपुराण, ११ वायु वा शिवपुराण, १२ अग्नि-पुराण, १३ नारदपुराण, १४ पद्मपुराण, १५ लिंगपुराण, १६ गरुड़पुराण, १७ कूर्मपुराण और १८ स्कन्दपुराण।

ये अठारह महापुराण कहलाते हैं। इनके सिवाय गरुड़पुराण मे १८ उपपुराणो का भी उल्लेख आया है जो कि निम्नप्रकार है—

१ सनत्कुमार, २ नारसिंह, ३ स्कान्द, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर १६ पराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव।

देवी भागवत मे उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान मे क्रमश- शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वाशिष्ठ नामो का उल्लेख आया है।

इन महापुराणो और उपपुराणो के सिवाय अन्य भी गणेश, मौदगल, देवी, कल्की आदि अनेक पुराण उपलब्ध हैं। इन सबके वर्णनीय विषयो की तालिका देने का अभिप्राय था परन्तु विस्तारवृद्धि के भय से उसे

छोड रहा हूँ। कितने ही इतिहासज्ञ लोगो का अभिमत है कि इन आधुनिक पुराणो की रचना प्राय ई० ३०० से ८०० के बीच मे हुई है।

जैसा कि जैनेतर धर्म मे पुराणो और उपपुराणो का विभाग मिलता है वैसा जैन समाज मे नहीं पाया जाता है। परन्तु जैन धर्म मे जो भी पुराण-साहित्य विद्यमान है वह अपने ढग का निराला है। जहाँ अन्य पुराण-कार इतिवृत्त की यथार्थता सुरक्षित नही रख सके हैं वहाँ जैन-पुराणकारो ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है, इसलिए आज के निष्पक्ष विद्वानो का यह स्पष्ट मत हो गया है कि 'हमे प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिए जैन-पुराणो से, उनके कथा-ग्रन्थो से जो साहाय्य प्राप्त होता है वह अन्य पुराणो से नही। कतिपय दि० जैन-पुराणो के नाम इस प्रकार हैं :

पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत्
१. पद्मपुराण (पद्मचरित)	रविषेण	७०५
२ महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	नवी शती
३. उत्तरपुराण	गुणभद्र	१०वी शती
४ अजितपुराण	अरुणमणि	१७१६
५. आदिपुराण (कन्नड)	कवि पंप	९४१ ई०
६. आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	१७वी शती
७ आदिपुराण	,, सकलकीर्ति	१५वी शती
८. उत्तरपुराण	,, सकलकीर्ति	,,
९ कर्णामृतपुराण	केशवसेन	१६८८
१० जयकुमारपुराण	ब्र० कामराज	१५५५
११. चन्द्रप्रभपुराण	कवि अगास देव	
१२. चामुण्डपुराण (क)	चामुण्डराय	शक स० ९८०
१३ धर्मनाथपुराण (क)	कवि बाहुबलि	१५६० ई०
१४. नेमिनाथपुराण	ब्र० नेमिदत्त	१५७५ के लगभग
१५ पद्मनाभपुराण	भ० शुभचन्द्र	१७वी शती
१६. पउमचरिय (अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	अनुपलब्ध
१७. ,, ,,	स्वयभूदेव	७८३ ई०
१८. पद्मपुराण	भ० सोमसेन	वि. १७वी शती
१९. पद्मपुराण	भ० धर्मकीर्ति	१६५६
२०. ,, (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५-१६वी शती
२१. ,,	भ० चन्द्रकीर्ति	१७वी शती
२२ ,,	ब्रह्मजिनदास	१५-१६वी शती
२३. पाण्डवपुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४. ,, (अपभ्रंश)	भ० यश कीर्ति	१४९७
२५. ,,	भ० श्रीभूषण	१६५७
२६. ,,	भ० वादिचन्द्र	१६५८
२७. पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९९९
२८. ,, (,,)	कवि रइधू	१५-१६वी शती
२९. ,,	चन्द्रकीर्ति	१६५४

३०. पार्श्वपुराण	वादिचन्द्र	१६५८
३१ महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२ महापुराण (आदिपुराण-उत्तरपुराण)अपभ्रंश	महाकवि पुष्पदन्त	ई. १०वी शती
३३. मल्लिनाथपुराण (कन्नड)	कवि नागचन्द्र	ई ११वी शती
३४. पुराणसार	श्रीचन्द	ई. ११वी शती
३५. महावीरपुराण	कवि असग	९१०
३६. महावीरपुराण	भ० सकलकीर्ति	१५वी शती
३७. मल्लिनाथपुराण	"	"
३८. मुनिसुव्रतपुराण	ब्रह्म कृष्णदास	वि. १७वी शती
३९. "	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	वि. १८वी शती
४०. वागर्थसग्रहपुराण	कवि परमेष्ठी	आ० जिनसेन के महा-पुराण से प्राग्वर्ती
४१. शान्तिनाथपुराण	कवि असग	१०वी शती
४२. "	भ० श्रीभूषण	१६५९
४३ श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	वि. १५-१६वी शती
४४. हरिवशपुराण	पुन्नाटसघीय जिनसेन	शक सवत् ७०५
४५ हरिवशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयभूदेव	८वी शती ई०
४६. ', (")	चतुर्मुखदेव	ई ८वी या पूर्ववर्ती
४७ "	ब्र० जिनदास	१५-१६वी शती
४८ " (अपभ्रंश)	भ० यश कीर्ति	१५०७
४९. " (")	भ० श्रुतकीर्ति	१५५२
५०. " (")	कवि रइधू	१५-१६वी शती
५१. "	भ० धर्मकीर्ति	१६७१
५२. "	कवि रामचन्द्र	१५६० से पूर्व का रचित

इनके अतिरिक्त सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश भाषा के चरित्र-ग्रन्थ हैं जिनकी सख्या पुराणो की सख्या से अधिक है और जिनमे 'वरागचरित', 'जिनदत्तचरित', 'जसहरचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित हैं।

पुराण-ग्रन्थो की यह सूचिका हमारे सहपाठी मित्र पं० परमानन्दजी शास्त्री, सरसावा ने भेजकर हमे अनुगृहीत किया है। इसके लिए हम उनके आभारी है।[1]

महापुराण

महापुराण के दो खण्ड हैं - प्रथम आदिपुराण या पूर्वपुराण और द्वितीय उत्तरपुराण। आदिपुराण ४७ पर्वो मे पूर्ण हुआ है जिसके ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३वें पर्व के ३ श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्य के द्वारा निर्मित हैं और अवशिष्ट ५ पर्व तथा उत्तरपुराण श्री जिनसेनाचार्य के प्रमुख शिष्य श्री गुणभद्राचार्य के द्वारा विरचित हैं।

---

१. 'संस्कत', 'प्राकृत' और 'पुराण' इन स्तम्भो में प० सीताराम जयराम जोशी एम० ए० तथा प० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज एम० ए० के 'सस्कृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' से सहायता ली गयी है।

आदिपुराण पुराणकाल के सन्धिकाल की रचना है अतः यह न केवल पुराणग्रन्थ है अपितु काव्यग्रन्थ भी है, काव्य ही नही महाकाव्य है। महाकाव्य के जो लक्षण हैं वह सब इसमें प्रस्फुटित हैं। श्री जिनसेनाचार्य ने प्रथम पर्व में काव्य और महाकाव्य की चर्चा करते हुए निम्नांकित भाव प्रकट किया है:

"काव्यस्वरूप के जानने वाले विद्वान् कवि के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं। कवि का वह काव्य सर्वसम्मत अर्थ से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, अलंकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणों से सुशोभित होता है।"

"कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलंकार कहते है और कितने ही पदों की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनो की सुन्दरता ही वाणी का अलंकार है।"

"सज्जन पुरुषों का जो काव्य अलंकार सहित, शृंगारादि रसों से युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान आचरण करता है।"

"जिस काव्य में न तो रीति की रमणीयता है, न पदों का लालित्य है और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानों को दुःख देने वाली ग्रामीण भाषा ही है।"

"जो अनेक अर्थों को सूचित करने वाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियों से युक्त एवं स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रबन्धों-महाकाव्यों की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं।"

"जो प्राचीन काल से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।"

"किसी एक प्रकरण को लेकर कुछ श्लोकों की रचना तो सभी कर सकते हैं परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्ध की रचना कठिन कार्य है।"

"जब कि इस संसार मे शब्दो का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के अधीन है, रस स्पष्ट है और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करने में दरिद्रता क्या है?"

"विशाल शब्द-मार्ग में भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनों में घूमने से खेदखिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिए महाकाव्यरूप वृक्षों की छाया का आश्रय लेना चाहिए।"

"प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकाव्यरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है।"

"अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे हैं, प्रसाद आदि गुण ही जिसकी लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नों से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दों से युक्त है तथा जिसमें गुरु-शिष्यपरम्परारूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।"

"हे विद्वान् पुरुषो, तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्तकाल तक स्थिर रह सके[1]।"

उक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता की केवल पुराणरचना में उतनी आस्था नहीं है जितनी कि काव्य की रीति से लिखे हुए पुराण में—धर्मकथा में। केवल काव्य में भी ग्रन्थकर्ता की आस्था नही मालूम होती उसे वे सिर्फ कौतुकावह रचना मानते हैं। उस रचना से लाभ ही क्या जिससे प्राणी का अन्तस्तल विशुद्ध न हो सके। उन्होंने पीठिका मे आदिपुराण को 'धर्मानुबन्धिनी कथा' कहा है और बड़ी दृढ़ता के साथ प्रकट किया है कि 'जो पुरुष यशरूपी धन का संचय और पुण्यरूपी पण्य का व्यवहार—लेन-देन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथा का निरूपण करने वाला यह काव्य मूलधन के समान माना गया है।'

वास्तव में आदिपुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका इसमें प्रतिपादन न हो। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचारशास्त्र है, और युग की आद्यव्यवस्था को बतलाने वाला महान् इतिहास है।

---

१. पर्व १ श्लोक ९४-१०५।

युग के आदिपुरुष श्री भगवान् ऋषभदेव और उनके प्रथम पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती आदिपुराण के प्रधान नायक हैं। इन्ही से सम्पर्क रखने वाले अन्य कितने ही महापुरुषो की कथाओ की भी इसमे समावेश हुआ है। प्रत्येक कथानायक का चरित्र-चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि वह यथार्थता की परिधि को न लाँघता हुआ भी हृदयग्राही मालूम होता है। हरे-भरे वन, वायु के मन्द-मन्द झकोरे से थिरकती हुई पुष्पित-पल्लवित लताएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, प्रफुल्ल कमलोद्भासित सरोवर, उत्तुग मालगिरिएँ, पहाडी निर्झर, बिजली से शोभित श्यामल घनघटाएँ, चहकते हुए पक्षी, प्राची मे सिन्दूररस की अरुणिमा को बिखेरने वाला सूर्योदय और लोक-लोचनाह्लादकारी चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक पथार्थो का चित्रण कवि ने जिस चातुर्य से किया है वह हृदय मे भारी आह्लाद की उद्भूति कराता है।

तृतीय पर्व मे चौदहवें कुलकर श्री नाभिराज के समय गगनागण मे सर्वप्रथम घनघटा छायी हुई दिखाता है, उसमे बिजली चमकती है, मन्द-मन्द गर्जना होती है, सूर्य की सुनहली रश्मियो के सम्पर्क से उसमे रग-बिरगे इन्द्रधनुष दिखायी देते हैं, कभी मध्यम और कभी तीव्र वर्षा होती है, पृथ्वी जलमय हो जाती है, मयूर नृत्य करने लगते हैं, चिरमन्तप्त चातक सन्तोष की साँस लेते हैं, और प्रकृष्ट वारिधारा वसुधातल मे व्याकीर्ण हो जाती है इस प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कवि ने जिस सरसता और सरलता के साथ किया है कि एक अध्ययन की वस्तु है। अन्य कवियो के काव्य मे आप यही बात क्लिष्ट-बुद्धिगम्य शब्दो से परिवेष्टित पाते हैं और इसी कारण स्थूलपरिधान से आवृत कामिनी के सौन्दर्य की भाँति वहाँ प्रकृति का सौन्दर्य अपने रूप मे प्रस्फुटित नही हो पाता है परन्तु यहाँ कवि के सरल शब्द-विन्यास से प्रकृति की प्राकृतिक सुषमा परिधानावृत नही हो सकी है बल्कि सूक्ष्म—महीन वस्त्रावलि से सुशोभित किसी सुन्दरी के गात्र की अवदात आभा की भाँति अत्यन्त प्रस्फुटित हुई है।

श्रीमती और वज्रजघ के भोगोपभोगो का वर्णन, भोगभूमि की भव्यता का व्याख्यान, मरुदेवी के गात्र की गरिमा, श्रीभगवान् वृषभदेव का जन्मकल्याणक का दृश्य, अभिषेककालीन जल का विस्तार, क्षीरसमुद्र का सौन्दर्य, भगवान् की बाल्य-क्रीडा, पिता नाभिराज की प्रेरणा से यशोदा और सुनन्दा के साथ विवाह करना, राज्यपालन, नीलाजना के विलय का निमित्त पाकर चार हजार राजाओ के साथ दीक्षा धारण करना, छह माह का योग समाप्त होने पर आहार के लिए लगातार छह माह तक भ्रमण करना, हस्तिनापुर मे राजा सोमप्रभ और श्रेयास के द्वारा इक्षुरस का आहार दिया जाना, तपोलीनता, नमि-विनमि की राज्य-प्रार्थना, समूचे सर्ग मे व्याप्त नानावृत्तमय विजयार्धगिरि की सुन्दरता, भरत और बाहुबली का महायुद्ध, सुलोचना का स्वयवर, जयकुमार और अर्ककीर्ति का अद्भुत युद्ध, आदि-आदि विषयो के सरस सालकार-प्रवाहान्वित वर्णन मे कवि ने जो कमाल किया है उससे पाठक का हृदय-मयूर सहसा नाच उठता है। बरबस मुख से निकलने लगता है—धन्य महाकवि धन्य! गर्भकालिक वर्णन के समय षट् कुमारिकाओ और मरुदेवी के बीच प्रश्नोत्तर रूप मे कवि ने जो प्रहेलिका तथा चित्रालंकार की छटा दिखलायी है वह आश्चर्य मे डालने वाली वस्तु है।

यदि आचार्य जिनसेन स्वामी भगवान् का स्तवन करने बैठते हैं तो इतने तन्मय हुए दिखने हैं कि उन्हे समय की अवधि का भी भान नहीं रहता और एक-दो नही अष्टोत्तर हजार नामो से भगवान् का विशद सुयश गाते हैं। उनके ऐसे स्तोत्र आज सहस्रनाम स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। वे समवसरण का वर्णन करते हैं तो पाठक और श्रोता दोनो को ऐसा विदित होने लगता है मानो हम साक्षात् समवसरण का ही दर्शन कर रहे हैं। चतुर्भेदात्मक ध्यान के वर्णन से पूरा सर्ग भरा हुआ है। उसके अध्ययन से ऐसा लगने लगता है कि मानो अब मुझे शुक्लध्यान होने वाला ही है और मेरे समस्त कर्मो की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त हुआ ही चाहता है। भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन पढते समय ऐसा लगने लगता है कि जैसे मैं गगा, सिन्धु, विजयार्ध, वृषभाचल हिमाचल आदि का प्रत्यक्ष अवलोकन कर रहा हूँ।

भगवान् आदिनाथ जब ब्राह्मी सुन्दरी-पुत्रियो और भरत बाहुबली आदि को लोककल्याणकारी विविध विद्याओ की शिक्षा देते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है मानो एक सुन्दर विद्यामन्दिर है और उसमे शिक्षक के स्थान-

पर नियुक्त भगवान् वृषभदेव शिष्य-मण्डली के लिए शिक्षा दे रहे हो। कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने से त्रस्त मानव-समाज के लिए जब भगवान् सान्त्वना देते हुए षट्कर्म की व्यवस्था भारत-भूमि पर प्रचारित करते हैं, देश-प्रदेश, नगर, स्व और स्वामी आदि का विभाग करते हैं तब-तब ऐसा जान पडता है कि भगवान् संत्रस्त मानव-समाज का कल्याण करने के लिए स्वर्ग से अवतीर्ण हुए दिव्यावतार ही हैं। गर्भान्वय, दीक्षान्वय, कर्त्रन्वय आदि क्रियाओ का उपदेश देते हुए भगवान् जहाँ जनकल्याणकारी व्यवहार-धर्म का प्रतिपादन करते हैं वहाँ ससार की ममता-माया से विरक्त कर इस मानव को परम निर्वृति की ओर जाने का भी उन्होंने उपदेश दिया है। सम्राट् भरत दिग्विजय के बाद आश्रित राजाओ को जिस राजनीति का उपदेश करते हैं वह क्या कम गौरव की बात है ? यदि आज के जननायक उस नीति को अपनाकर प्रजा का पालन करें तो यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि सर्वत्र शान्ति छा जाये और अशान्ति के काले बादल कभी के क्षत-विक्षत हो जायें। अन्तिम पर्वों में गुणभद्राचार्य ने जो श्रीपाल आदि का वर्णन किया है उसमे यद्यपि कवित्व की मात्रा कम है तथापि प्रवाहबद्ध वर्णन-शैली पाठक के मन को विस्मय मे डाल देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीजिनसेन स्वामी और उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने इस महापुराण के निर्माण मे जो कौशल दिखाया है वह अन्य कवियो के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। यह महापुराण समस्त जैनपुराण-साहित्य का शिरोमणि है। इसमे सभी अनुयोगो का विस्तृत वर्णन है। आचार्य जिनसेन से उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने इसे बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा है जो आगे चलकर आर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ और जगह-जगह 'तदुक्त आर्षे' इन शब्दो के साथ इसके श्लोक उद्धृत मिलते हैं। इसके प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह दृढता से कहा जा सकता है कि जो अन्यत्र ग्रन्थो मे प्रतिपादित हैं वह इसमे प्रतिपादित है और जो इसमें प्रतिपादित नही है, वह अन्यत्र कही भी प्रतिपादित नही है।

कथानायक

महापुराण के कथानायक त्रिषष्टिशलाकापुरुष हैं। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण—ये त्रेसठ 'शलाकापुरुष' कहलाते हैं। इनमे से आदिपुराण मे प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभनाथ और उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का ही वर्णन हो पाया है। अन्य पुरुषो का वर्णन गुणभद्राचार्य-प्रणीत उत्तरपुराण मे हुआ है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जिस रीति से प्रथम तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती का वर्णन किया है, यदि वह जीवित रहते और उसी रीति से अन्य कथानायको का वर्णन करते तो यह महापुराण ससार के समस्त पुराणो तथा काव्यो से महान् होता। श्री जिनसेनाचार्य के देहावसान के बाद गुणभद्राचार्य ने अवशिष्ट भाग को अत्यन्त संक्षिप्त रीति से पूर्ण किया है परन्तु सक्षिप्त रीति से लिखने पर भी उन्होंने सारपूर्ण समस्त बातो का समुल्लेख कर दिया है। वह एक श्लाघनीय समय था कि जब शिष्य अपने गुरुदेव के द्वारा प्रारब्ध कार्य को पूर्ण करने की शक्ति रखते थे।

भगवान् वृषभदेव इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों मे आद्य तीर्थंकर थे। तृतीय काल के अन्त मे जब भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी, तब उस सन्धि-काल में अयोध्या के अन्तिम मनु-कुलकर श्रीनाभिराज के घर उनकी पत्नी मरुदेवी से इनका जन्म हुआ था। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धारक थे। कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने के बाद बिना बोये धान से लोगो की आजीविका होती थी; परन्तु कालक्रम से जब वह धान भी नष्ट हो गया तब लोग भूख-प्यास से अत्यन्त क्षुभित हो उठे और सब नाभिराज के पास पहुँचकर 'त्राहि-त्राहि' करने लगे। नाभिराज शरणागत प्रजा को भगवान् वृषभनाथ के पास ले गये। लोगों ने अपनी करुण-कथा उनके समक्ष प्रकट की। प्रजाजनो की विह्वल दशा देखकर भगवान् की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो उठी। उन्होंने उसी समय अवधिज्ञान से विदेहक्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर इस भरतक्षेत्र मे वही व्यवस्था चालू करने का निश्चय किया। उन्होंने असि (सैनिक कार्य), मषी (लेखन कार्य), कृषि (खेती), विद्या (सगीत-नृत्यगान आदि), शिल्प (विविध वस्तुओ का निर्माण) और

वाणिज्य (व्यापार)—इन छह कार्यों का उपदेश दिया तथा इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, ग्राम आदि की रचना करवायी। भगवान् के द्वारा प्रदर्शित छह कार्यों से लोगो की आजीविका चलने लगी। कर्मभूमि प्रारम्भ हो गयी। उस समय की सारी व्यवस्था भगवान् वृषभदेव ने अपने बुद्धिबल से की थी, इसलिए वही आदि-पुरुष, ब्रह्मा, विधाता आदि संज्ञाओ से व्यवहृत हुए।

नाभिराज की प्रेरणा से उन्होने कच्छ, महाकच्छ राजाओ की बहनो यशस्वती और सुनन्दा के साथ विवाह किया। नाभिराज के महान् आग्रह से राज्य का भार स्वीकृत किया। आपके राज्य से प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। कालक्रम से यशस्वती की कूख से भरत आदि १०० पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनन्दा की कूख से बाहुबली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को अनेक जनकल्याणकारी विद्याएँ पढायी थी जिनके द्वारा समस्त प्रजा मे पठन-पाठन की व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था।

नीलांजना का नृत्य-काल मे अचानक विलीन हो जाना भगवान् के वैराग्य का कारण बन गया। उन्होंने बड़े पुत्र भरत को राज्य तथा अन्य पुत्रो को यथायोग्य स्वामित्व देकर प्रव्रज्या धारण कर ली। चार हजार अन्य राजा भी उनके साथ प्रव्रजित हुए थे परन्तु वे क्षुधा, तृषा आदि की बाधा न सह सकने के कारण कुछ ही दिनो मे भ्रष्ट हो गये। भगवान् ने प्रथमयोग छह माह का लिया था। छह माह समाप्त होने के बाद वे आहार के लिए निकले, परन्तु उस समय लोग, मुनियो को आहार किस प्रकार दिया जाता है, यह नहीं जानते थे। अत विधि न मिलने के कारण आपको छह माह तक भ्रमण करना पडा। आपका यह विहार अयोध्या से उत्तर की ओर हुआ और आप चलते-चलते हस्तिनागपुर जा पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे। उनके छोटे भाई का नाम श्रेयांस था। इस श्रेयांस का भगवान् वृषभदेव के साथ पूर्वभव का सम्बन्ध था। वज्रजंघ की पर्याय मे यह उनकी श्रीमती नाम की स्त्री था। उस समय इन दोनो ने एक मुनिराज के लिए आहार दिया था। श्रेयांस को जाति-स्मरण होने से वह सब घटना स्मृत हो गयी। इसलिए उसने भगवान् को देखते ही पडगाह लिया और इक्षुरस का आहार दिया। वह आहार वैशाख सुदी तृतीया को दिया गया था तभी से इसका नाम 'अक्षयतृतीया' प्रसिद्ध हुआ। राजा सोमप्रभ, श्रेयास तथा उनकी रानियो का लोगो ने बडा सम्मान किया। आहार लेने के बाद भगवान् वन मे चले जाते थे और वहाँ के स्वच्छ वायु-मण्डल मे आत्मसाधना करते थे। एक हजार वर्ष के तपश्चरण के बाद उन्हें दिव्यज्ञान—केवलज्ञान—प्राप्त हुआ। अब वह सर्वज्ञ हो गये, संसार के प्रत्येक पदार्थ को स्पष्ट जानने लगे।

उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उन्होंने चक्ररत्न के द्वारा षट्खण्ड भरतक्षेत्र को अपने अधीन किया और राजनीति का विस्तार करके आश्रित राजाओ को राज्य-शासन की पद्धति सिखलायी। उन्होंने ही ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण इस भारत मे प्रचलित हुए। इनमे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण आजीविका के भेद से निर्धारित किये गये थे और ब्राह्मण व्रती के रूप मे स्थापित हुए थे। सब अपनी-अपनी वृत्ति का निर्वाह करते थे, इसलिए कोई दु खी नही था।

भगवान् वृषभदेव ने सर्वज्ञ दशा मे दिव्य ध्वनि के द्वारा संसार के भूले-भटके प्राणियो को हित का उपदेश दिया। उनका समस्त आर्यखण्ड मे विहार हुआ था। आयु के अन्तिम समय वे कैलास पर्वत पर पहुँचे और वहीं से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। भरत चक्रवर्ती यद्यपि षट्खण्ड पृथिवी के अधिपति थे, फिर भी उसमे आसक्त नही रहते थे। यही कारण था कि जब उन्होंने गृहवास से विरक्त होकर प्रव्रज्या-दीक्षा धारण की तब अन्तर्मुहूर्त मे ही उन्हे केवलज्ञान हो गया था। केवलज्ञानी भरत ने भी आर्य देशो मे विहार कर समस्त जीवो को हित का उपदेश दिया और आयु के अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् वृषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् वृषभदेव और सम्राट् भरत ही आदिपुराण के प्रमुख कथानायक हैं। उनका वर्तमान पर्याय-सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण ऊपर लिखे अनुसार है। भगवान् वृषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य पुरुष हुए हैं कि उनका जैनग्रन्थों मे तो उल्लेख आता ही है, उसके सिवाय वेद के मन्त्रो, जैनेतर पुराणो, उपनिषदो आदि मे उल्लेख मिलता है। भागवत में भी मरुदेव, नाभिराय, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण दिया है। यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशो मे भिन्न प्रकार से दिया गया है। इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है।

निम्नांकित[1] उद्धरणो से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है—

"अग्निध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः। ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥३९॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः। तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ॥४०॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ। तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥"

—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ४०

"हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मन.। तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्या महाद्युतिः ॥३७॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः। सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्र भरत पृथिवीपतिः ॥३८॥"

—कूर्मपुराण, अध्याय ४१

"जरामृत्युभय नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्। नाधमं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः ॥१०॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्। ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः ॥११॥
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।"

—अग्निपुराण, अध्याय १०

"नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिः। ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रज.। सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥४१॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्। तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥४२॥"

—वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३

"नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥५९॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्। ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥६०॥
सोऽभिषिच्यर्षभ. पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित·। हिमाह्वं दक्षिण वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा· ॥६१॥"

—ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अध्याय १४

"नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरत. पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभ. हेमाद्रेर्दक्षिण वर्षं महद् भारत नाम शशास।"

—वाराहपुराण, अध्याय ७४

---

१. यह उद्धरण स्वामी कर्मानन्द की 'धर्म का आदि प्रवर्तक' नामक पुस्तक से साभार ग्रहण किये गये हैं।

"नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत । नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥१९॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् । ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥२०॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः । ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् । नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः ॥२२॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम् । हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।"

—लिङ्गपुराण, अध्याय ४७

"न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा । हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥२७॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः । ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥२८॥"

—विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अध्याय १

"नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् । तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥"

—स्कन्धपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमारखण्ड, अध्याय ३७

भगवान् वृषभदेव और ब्रह्मा

लोक मे ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है वह जैन-परम्परानुसार, भगवान् वृषभदेव को छोडकर दूसरा नही है । ब्रह्मा के अन्य अनेक नामो मे निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयम्भू ।

इनकी यथार्थ सगति भगवान् वृषभदेव के साथ ही बैठती है । जैसे :

हिरण्यगर्भ—जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ मे आये थे, उसके छह माह पहले से अयोध्या नगर मे हिरण्य-सुवर्ण तथा रत्नो की वर्षा होने लगी थी, इसलिए आपका हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है ।

प्रजापति—कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, इसलिए आप प्रजापति कहलाते थे ।

लोकेश—समस्त लोक के स्वामी थे, इसलिए लोकेश कहलाते थे ।

नाभिज—नाभिराज नामक चौदहवें मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाते थे ।

चतुरानन—समवसरण मे चारो ओर से आपका दर्शन होता था, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे ।

स्रष्टा—भोगभूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार, विवाह-प्रथा आदि के आप आद्य प्रवर्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे जाते थे ।

स्वयभू—दर्शन-विशुद्धि आदि भावनाओ से अपने आत्मा के गुणो का विकास कर स्वय ही आद्य तीर्थंकर हुए थे, इसलिए स्वयभू कहलाते थे ।

आचार्य जिनसेन और गुणभद्र[1]

ये दोनो ही आचार्य मूलसघ के उस 'पचस्तूप' नामक अन्वय मे हुए हैं जो कि आगे चलकर सेनान्वय

---

१ यह प्रकरण श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' तथा 'विद्वद्रत्नमाला' से लिया गया है ।

या सेनसंघ नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेन ने तो अपना वंश[1] 'पंचस्तूपान्वय' ही लिखा है परन्तु गुणभद्राचार्य ने सेनान्वय लिखा है। इन्द्रनन्दी ने अपने[2] श्रुतावतार मे लिखा है कि जो मुनि पंचस्तूप-निवास से आये, उनमे किन्ही को सेन और किन्ही को भद्र नाम दिया गया। तथा कोई आचार्य[3] ऐसा भी कहते हैं कि जो गुहाओ से आये उन्हे नन्दी, जो अशोक वन से आये उन्हे देव और जो पंचस्तूप से आये उन्हे सेन नाम दिया गया। श्रुतावतार के उक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सेनान्त और भद्रान्त नाम वाले मुनियो का समूह ही आगे चलकर सेनान्वय या सेनसघ कहलाने लगा है।

वंश-परम्परा

वंश दो प्रकार का होता है—एक लौकिक वंश और दूसरा पारमार्थिक वंश। लौकिक वंश का सम्बन्ध योनि से है और पारमार्थिक वंश का सम्बन्ध विद्या से। आचार्य जिनसेन और गुणभद्र के लौकिक वंश का कुछ पता नहीं चलता। आप कहाँ के रहने वाले थे? किसके पुत्र थे? आपकी क्या जाति थी? इसका उल्लेख न इनकी ग्रन्थप्रशस्तियो मे मिलता है और न इनके परवर्ती आचार्यों की ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे। गृहवास से विरत साधु अपने लौकिक वंश का परिचय देना उचित नही समझते और न उस परिचय से उनके व्यक्तित्व मे कुछ महत्व ही आता है। यही कारण रहा कि कुछ को छोड़कर अधिकांश आचार्यों के इस लौकिक वंश का कुछ भी इतिहास सुरक्षित नहीं है।

अभी तक के अनुसन्धान से इनके परमार्थ वंश—'गुरुवंश'—की परम्परा आर्य चन्द्रसेन तक पहुँच सकी है। अर्थात् चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दी, उनके वीरसेन, वीरसेन के जिनसेन, जिनसेन के गुणभद्र और गुणभद्र के शिष्य लोकसेन थे। यद्यपि आत्मानुशासन के संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र ने उपोद्घात[4] मे लिखा है कि बड़े धर्मभाई विषयव्यामुग्धबुद्धि लोकसेन को सम्बोध देने के व्याज से समस्त प्राणियो के उपकारक समीचीन मार्ग को दिखलाने की इच्छा से श्री गुणभद्रदेव ने यह ग्रन्थ लिखा, परन्तु उत्तरपुराण की प्रशस्ति[5] को देखते हुए टीकाकार का उक्त उल्लेख ठीक नही मालूम होता क्योकि उसमे उन्होने लोकसेन को अपना मुख्य शिष्य बतलाया है। वीरसेन स्वामी के जिनसेन के सिवाय दशरथगुरु नाम के एक शिष्य और थे। श्री गुणभद्र-स्वामी ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे अपने आपको उक्त दोनो गुरुओं का शिष्य बतलाया है। इनके सिवाय

---

१. अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चंदसेणस्स। सहणत्तुवेण पंचत्थूहण्णभाणुणा मुणिणा ॥४॥

—धवला

यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्। व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयाम्बरे ॥५॥

—जयधवला

२. पंचस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु। कांश्चित्सेनाभिख्यान् कांश्चिद्भद्राभिधान-करोत् ॥६३॥

३. अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता नन्दिनो महात्मानः। देवाश्चाशोकवनात् पञ्चस्तूप्यात्तत. सेनः ॥६७॥

—इ० श्रुतावतार

४. "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकसन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—'लक्ष्मीनिवासनिलयमिति'।"

५. श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः श्रीमानभूद् विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥"

विनयसेन मुनि भी वीरसेन के शिष्य थे जिनकी प्रबल प्रेरणा पाकर जिनसेन आचार्य ने 'पार्श्वाभ्युदय'[1] काव्य की रचना की थी। इन्ही विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आगे चलकर काष्ठासंघ की स्थापना की थी ऐसा देवसेनाचार्य ने अपने 'दर्शनसार'[2] मे लिखा है। जयधवला टीका मे श्रीपाल, पद्मसेन और देवसेन इन तीन[3] विद्वानो का उल्लेख और भी आता है जो कि सम्भवतः जिनसेन के सधर्मा या गुरुभाई थे।[4] श्रीपाल को तो जिनसेन ने जयधवला टीका का सपालक कहा है और आदिपुराण के पीठिकाबन्ध मे उनके गुणो की काफी प्रशसा की है।

आदिपुराण की पीठिका मे श्री जिनसेन स्वामी ने श्री वीरसेन स्वामी की स्तुति के बाद ही श्री जयसेन स्वामी की स्तुति की है[5] और उनसे प्रार्थना की है कि जो तपोलक्ष्मी की जन्मभूमि हैं, शास्त्र और शान्ति के भण्डार हैं तथा विद्वत्समूह के अग्रणी हैं वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें। इससे यह सिद्ध होता है कि जयसेन श्री वीरसेन स्वामी के गुरुभाई होगे और इसीलिए जिनसेन ने उनका गुरु-रूप से स्मरण किया है। इस प्रकार श्री जिनसेन की गुरु-परम्परा आगे के पृष्ठ पर दिये गये चार्ट से प्रस्फुट की जा सकती है .

---

१. "सिरिवीरसेणसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी ।
सिरिपउमणविपच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥३१॥
तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो ।
पक्खोववासमंडियमहातवो भावलिंगो य ॥३२॥
तेण पुणोवि य मिच्चुंणाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स ।
सिद्धंतं घोसिता सय गय सग्गलोयस्स ॥३३॥
आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ ।
सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिक्खओ जाओ ॥३४॥
सो सवणसंघवज्झो कुमारसेणो हु समय मिच्छत्तो ।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघ परूवेदि ॥३५॥"

—दर्शनसार

२. "सर्वज्ञप्रतिपादितार्थगणभृत्सूत्रानुटीकामिमां,
येऽभ्यस्यन्ति बहुश्रुताः श्रुतगुरुं संपूज्य वीरप्रभुम् ।
ते नित्योज्ज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिता,
भासन्ते रविचन्द्रभासिसुतपः श्रीपालसत्कीर्तयः ॥४४॥"

—जयधवला

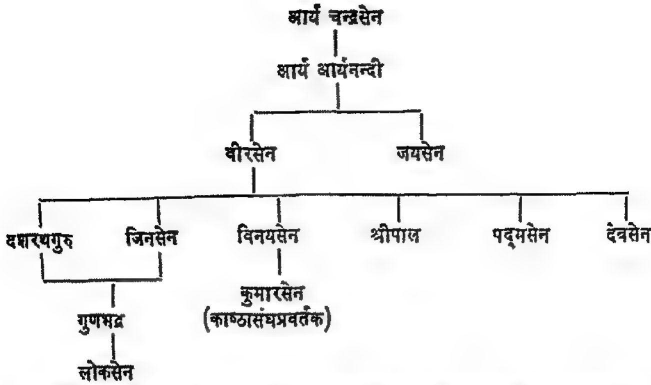
३ "टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसंद्योतिनी
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतपः श्रीपालसंपालिता ॥४३॥"

—जयधवला

४. "भट्टाकलंकश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः । विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः" ॥५३॥

—आ० पु०

५. देखो, आ० पु० १। ५५-५६ ।



इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार[1] मे लिखा है कि कितना ही समय बीत जाने पर चित्रकूटपुर मे रहने वाले श्रीमान् एलाचार्य हुए जो सिद्धान्त-ग्रन्थो के रहस्य को जानते थे। श्रीवीरसेन स्वामी ने उनके पास समस्त सिद्धान्त का अध्ययन कर उपरितन, निबन्धन आदि आठ अधिकारो को लिखा था। गुरु महाराज की आज्ञा से वीरसेन स्वामी चित्रकूट छोडकर माटग्राम आये। वहाँ आनतेन्द्र के बनवाये हुए जिन-मन्दिर मे बैठकर उन्होंने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' को पाकर उसके जो पहले छह् खण्ड हैं, उनमे बन्धादि अठारह् अधिकारो मे सत्कर्म नामक छठे खण्ड को सक्षिप्त किया और सबको सस्कृत-प्राकृत भाषा-मिश्रित धवला नाम की टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण रची और फिर दूसरे 'कषायप्राभृत' के पहले स्कन्ध की चारो विभक्तियों पर जय-धवला नाम की २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। इसके बाद आयु पूर्ण हो जाने से स्वर्गवासी हुए। उनके अनन्तर श्रीजयसेन[2] गुरु ने ४० हजार श्लोक और बनाकर जयधवला टीका पूर्ण की। इस प्रकार जयधवला टीका ६० हजार श्लोक-प्रमाण निर्मित हुई।

यही बात श्रीधर विबुध ने भी अपने गद्यात्मक श्रुतावतार मे कही है, अतः इन दोनो श्रुतावतारो के आधार से यह सिद्ध होता है कि वीरसेनाचार्य के गुरु एलाचार्य थे। परन्तु यह एलाचार्य कौन थे, इसका

---

१. देखो श्लोक १७६-१८३।

२. श्लोक १८२ में "यातस्त्वत. पुनस्तच्छिष्यो जयसेन गुरुनामा" यहाँ जयसेन के स्थान में जिनसेन का उल्लेख होना चाहिए क्योंकि श्रीधरकृत 'गद्यश्रुतावतार' में जयसेन के स्थान पर जिनसेन का ही पाठ है। यथा :

"···वीरसेन मुनिः स्वर्गं यास्यति। तस्य शिष्यो जिनसेनो भविष्यति। सोऽपि चत्वारिंशत्सहस्रैः कर्मप्राभृतं समाप्तिं नेष्यति। अमुना प्रकारेण षष्टिसहस्रप्रमिता जयधवलानामांकिता टीका भविष्यति।"

इसके सिवाय गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में भी जिनसेन स्वामी को सिद्धान्तशास्त्र का टीकाकार कहा है।

इतना ही नहीं, जिनसेन स्वामी ने पीठिकाबन्ध मे अपने गुरु वीरसेनाचार्य का जो स्मरण किया है, उसमें उन्होंने उन्हें 'सिद्धान्तोपनिबन्धना' सिद्धान्त-ग्रन्थ के उपनिबन्धों-टीकाओं का कर्ता कहा है।

पता नही चलता । वीरसेन के समयवर्ती एलाचार्य का अस्तित्व किन्ही अन्य ग्रन्थो से समर्थित नही होता । हो सकता है कि धवला मे स्वयं वीरसेन ने "अज्जज्जनदिसिस्सेण······" आदि गाथा-द्वारा जिन आर्यनन्दी गुरु का उल्लेख किया है, वही एलाचार्य कहलाते हो । अस्तु ।

स्थान-विचार

दिगम्बर मुनियो को पक्षियों की तरह अनियतवास बतलाया है अर्थात् जिस प्रकार पक्षियो का कोई निश्चित निवास-स्थान नही होता, उसी प्रकार मुनियो का भी कोई निश्चित निवास नही होता । प्रावृड्योग के सिवाय उन्हे किसी बडे नगर मे ५ दिन-रात और छोटे ग्राम मे १ दिन-रात से अधिक ठहरने की आज्ञा नही है । इसलिए किसी भी दिगम्बर मुनि के मुनिकालीन निवास का उल्लेख प्राय नही ही मिलता है । परन्तु वे कहाँ उत्पन्न हुए एव कहाँ उनका गृहस्थ जीवन बीता—आदि का विचार करना किसी भी लेखक की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक वस्तु है ।

निश्चित रूप से तो यह नही कहा जा सकता कि जिनसेन और गुणभद्र अमुक देश के अमुक नगर मे उत्पन्न हुए थे और अमुक स्थान पर अधिकतर रहते थे, क्योकि इसका उल्लेख उनकी किन्ही भी प्रशस्तियो मे नही मिलता । परन्तु इनसे सम्बन्ध रखने वाले तथा इनके निज के ग्रन्थो मे वकापुर, वाटग्राम और चित्रकूट का उल्लेख आता है[1] । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कर्णाटक प्रान्त के रहने वाले होंगे ।

वकापुर उस समय वनवास देश की राजधानी था और इस समय कर्नाटक प्रान्त के धारवाड जिले मे है । इसे राष्ट्रकूट अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य के पिता बंकेयरस ने अपने नाम से राजधानी बनाया था । जैसा कि उत्तरपुराण की प्रशस्ति के निम्न श्लोको से सिद्ध है

"श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसतमसे ॥३२॥
वनवासदेशमखिल भुञ्जति निष्कण्टक सुख सुचिरम् ।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते वकापुरे पुरेष्वधिके ॥३४॥"—उ० पु० प्र०

वाटग्राम कौन था और अब कहाँ पर है, इसका भी पता नही चलता, परन्तु वह गुर्जरार्यानुपालित था अर्थात् अमोघवर्ष के राज्य मे था और अमोघवर्ष का राज्य उत्तर मे मालवा से लेकर दक्षिण मे काचीपुर तक फैला हुआ था । अतएव इतने विस्तृत राज्य मे वह कहाँ पर रहा होगा, इसका निर्णय कैसे किया जाये ? अमोघवर्ष के राज्य-काल शक सवत् ७८८ की एक प्रशस्ति 'एपिग्राफिआ इण्डिका', भाग ६, पृष्ठ १०२ पर मुद्रित है । उसमे लिखा है कि गोविन्दराज ने, जिनके कि उत्तराधिकारी अमोघवर्ष थे, केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूट को जीता था और सब देशो के राजा अमोघवर्ष की सेवा मे रहते थे । हो सकता है कि इनमे का चित्रकूट वही चित्रकूट हो जहाँ कि श्रुतावतार के उल्लेखानुसार एलाचार्य रहते थे और जिनके पास जाकर वीरसेन स्वामी ने सिद्धान्तग्रन्थो का अध्ययन किया था ।

मैसूर राज्य के उत्तर मे एक चित्तलदुर्ग नाम का नगर है । यह पहले 'होयसल' राजवश की राजधानी

---

१ "आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७६॥"
—श्रुतावतार

"इति श्री वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥"—ज० ध०

रहा है। यहाँ बहुत-सी पुरानी गुफाएँ हैं और पाँच-सौ वर्ष पुराने मन्दिर हैं। श्वेताम्बर मुनि शीलविजय ने इसका चित्रगढ[1] नाम से उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि एलाचार्य का निवासस्थान यही चित्रकूट हो। शीलविजयजी ने अपनी तीर्थयात्रा मे चित्रगढ, बनौसी और वंकापुर का एक साथ उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन स्थानों के बीच अधिक अन्तर नहीं होगा। वंकापुर वही है जहाँ लोकसेन के द्वारा उत्तरपुराण का पूजामहोत्सव हुआ था और बनौसी (वनवासी) वही है जहाँ वंकापुर से पहले राजधानी थी। इस तरह सम्भव है कि वाटग्राम वनवासी और चित्तलदुर्ग के आस-पास होगा।[2] अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट थी जो कि उस समय कर्नाटक और महाराष्ट्र इन दो देशो की राजधानी थी और इस समय मलखेड़ नाम से प्रसिद्ध है तथा हैदराबाद रेलवे लाइन पर मलखेडगेट नामक छोटे-से स्टेशन से ४-५ मील दूरी पर है। अमोघवर्ष श्रीजिनसेन स्वामी के अनन्य भक्तो मे से था, अतः उनका उसकी राजधानी मे आना-जाना सम्भव है। परन्तु वहाँ उनके खास निवास के कोई उल्लेख नही मिलते।

समय-विचार

हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवंशपुराण में जिनसेन के गुरु वीरसेन और जिनसेन का निम्नाकित शब्दों में उल्लेख किया है :

"जिन्होंने परलोक को जीत लिया है और जो कवियो के चक्रवर्ती हैं, उन वीरसेन गुरु की कलंकरहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेन स्वामीने श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के गुणो की जो अपरिमित स्तुति बनायी है अर्थात् पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की है वह उनकी कीर्ति का अच्छी तरह कीर्तन कर रही है। और उनके वर्धमानपुराणरूपी उदित होते हुए सूर्य की उक्तिरूपी किरणें विद्वत्पुरुषो के अन्तःकरण-रूपी स्फटिक-भूमि मे प्रकाशमान हो रही हैं।"[3]

'अवभासते', 'संकीर्तयति', 'प्रस्फुरन्ति' इन वर्तमानकालिक क्रियाओ के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण की रचना होने के समय आदिपुराण के कर्ता श्रीजिनसेन स्वामी विद्यमान थे और तब तक वे

---

१. "चित्रगढ़ बनोसी गाम बंकापुर दीठुं शुभधाम।
तीरथ मनोहर विस्मयवंत......"

२ यह प्रेमीजी की पूर्व विचारधारा थी परन्तु अब उन्होंने इस विषय में अपना निम्न मन्तव्य एक पत्र में मुझे लिखा है :

"चित्तलदुर्ग को मैंने जो पहले चित्रकूट अनुमान किया था वह अब ठीक नहीं मालूम होता। चित्रकूट आजकल का राजस्थान का चित्तौड़ ही होगा। हरिषेण आदि ने चित्तौड़ को ही चित्रकूट लिखा है। इसके सिवाय डॉ आलतेकर के अनुमान के अनुसार वाटग्राम या वटग्राम वटपद या बड़ौदा होगा जहाँ के आनतेन्द्र के मन्दिर में धवला लिखी गयी। चित्तौड़ से बड़ौदा दूर भी नहीं है। चित्रकूट प्राचीनकाल में विद्या का केन्द्र रहा है। बड़ौदा अमोघवर्ष के ही शासन में था। गुर्जरेश्वर वह कहलाता भी था। आनतेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त होगा, जिसके बनवाये हुए मन्दिर में वे रहे थे। इन्द्रनाम के कई राष्ट्रकूट राजा हुए हैं।"

३. "जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः। वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥३९॥
यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः। स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥
वर्द्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः। प्रस्फुरन्ति गिरीशाना. स्फुटस्फटिकभित्तिषु ॥४१॥"

—हरिवंशपुराण, सर्ग १

पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति तथा वर्धमानपुराण नामक दो ग्रन्थों की रचना कर चुके थे तथा इन रचनाओ के कारण उनकी विशद कीर्ति विद्वानो के हृदय मे अपना घर कर चुकी थी। जिनसेन स्वामी की जयधवला टीका का अन्तिम भाग तथा महापुराण-जैसी सुविस्तृत श्रेष्ठतम रचनाओ का हरिवशपुराण के कर्ता जिनसेन ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इससे पता चलता है कि उस समय इन टीकाओं तथा महापुराण की रचना नही हुई होगी। यह श्रीजिनसेन की रचनाओ का प्रारम्भिक काल मालूम होता है। और इस समय इनकी आयु कम-से-कम होगी तो २५-३० वर्ष की होगी क्योंकि इतनी आयु के बिना उन-जैसा अगाध पाण्डित्य और गौरव प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

हरिवंशपुराण के अन्त मे जो उसकी प्रशस्ति[1] दी गयी है उससे उसकी रचना शकसंवत् ७०५ मे पूर्ण हुई है यह निश्चित है। हरिवंशपुराण की श्लोकसंख्या दस-बारह हजार है। इतने विशाल ग्रन्थ की रचना मे कम-से-कम ५ वर्ष अवश्य लग गये होंगे। यदि रचना-काल मे से यह ५ वर्ष कम कर दिये जायें तो हरिवश-पुराण का प्रारम्भ काल ७०० शकसवत् सिद्ध होता है। हरिवंश की रचना प्रारम्भ करते समय आदिपुराण के कर्ता जिनसेन की आयु कम से-कम २५ वर्ष अवश्य होगी। इस प्रकार शकसवत् ७०० मे से यह २५ वर्ष कम कर देने पर जिनसेन का जन्म ६७५ शकसंवत् के लगभग सिद्ध होता है। यह आनुमानिक उल्लेख है अत इसमे अन्तर भी हो सकता है परन्तु अधिक अन्तर की सम्भावना नही है।

जयधवला टीका की प्रशस्ति से यह विदित होता है कि जिनसेन ने अपने गुरुदेव श्रीवीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारब्ध वीरसेनीया टीका[2] शकसंवत् ७५९ फागुन सुदी १० के पूर्वाह्न मे जब कि आष्टाह्निक महोत्सव की पूजा हो रही थी, पूर्ण की थी[3]। इससे यह मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता कि जिनसेन स्वामी ७५९ शकसंवत् तक विद्यमान थे। अब देखना यह है कि वे इसके बाद कब तक इस भारत-भूमण्डल पर अपनी ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलाते रहे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि जिनसेन स्वामी ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे पार्श्वाभ्युदय तथा वर्धमानपुराण लिखकर विद्वत्समाज मे भारी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वर्धमानपुराण तो उपलब्ध नहीं है परन्तु पार्श्वाभ्युदय प्रकाशित हो चुकने के कारण कितने ही पाठको की दृष्टि मे आ चुका होगा। उन्होंने देखा होगा कि उसकी हृदयहारिणी रचना पाठक के हृदय को किस प्रकार बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वर्धमानपुराण की रचना भी ऐसी ही रही होगी। उनकी दिव्य लेखनी से प्रसूत इन दो काव्य-ग्रन्थो को देखकर उनके सम्पर्क मे रहने वाले विद्वान् साधुओ ने अवश्य ही उनसे प्रेरणा की होगी कि यदि आपकी दिव्य लेखनी

---

१ "शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपरां सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति॥"
—ह० पु०

२. "कषायप्राभृत की २० हजार श्लोक प्रमाण वीरसेनस्वामी की और ४० हजार श्लोक प्रमाण जिनसेनस्वामी की जो टीका है वह वीरसेनीया टीका कहलाती है। और वीरसेनीया टीकासहित जो कषायप्राभृत के मूलसूत्र तथा चूर्णिसूत्र वार्तिक वगैरह अन्य आचार्यों की टीका है, उन सबके संग्रह को जयधवला टीका कहते हैं। यह संग्रह किसी श्रीपाल नामक आचार्य ने किया है, इसलिए जयधवला को 'श्रीपाल-संपालिता' कहा है।

३ "इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्धमानपूजायां नन्दीश्वरमहोत्सवे॥
···एकोन्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥"

से एक-दो ही नहीं, चौबीसों तीर्थंकरो तथा उनके काल मे होने वाले शलाकापुरुषो का चरित्र लिखा जाये तो जनसमूह का भारी कल्याण हो और उन्होंने इस कार्य को पूरा करने का निश्चय अपने हृदय मे कर लिया हो। परन्तु इनके गुरु श्री वीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारब्ध सिद्धान्त-ग्रन्थों की टीका का कार्य उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् अपूर्ण रह गया। योग्यता रखने वाला गुरुभक्त शिष्य गुरुप्रारब्ध कार्य की पूर्ति मे जुट पड़ा और उसने ६० हजार श्लोक-प्रमाण टीका आद्य भाग के बिना शेष भाग की रचना कर उस कार्य को पूर्ण किया। इस कार्य मे आपका बहुत समय निकल चुका। सिद्धान्तग्रन्थो की टीका पूर्ण होने के बाद जब आपको विश्राम मिला तब अपने चिराभिलषित कार्य को हाथ मे लिया और उस पुराण की रचना प्रारम्भ की जिसमे त्रेसठ शलाका-पुरुषों के चरित्रचित्रण की प्रतिज्ञा की गयी थी। आपके ज्ञानकोष मे न शब्दो की कमी थी और न अर्थों की। अतः आप विस्तार के साथ किसी भी वस्तु का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। आदिपुराण का स्वाध्याय करने वाले पाठक श्रीजिनसेन स्वामीकी इस विशेषता का पद-पद पर अनुभव करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

हाँ, तो आदिपुराण आपकी पिछली रचना है। प्रारम्भ स लेकर ४२ पर्व पूर्ण तथा तैंतालीसवें पर्व के ३ श्लोक आपकी सुवर्ण लेखनी से लिखे जा सके कि असमय मे ही आपकी आयु समाप्त हो गयी और आपका चिराभिलषित कार्य अपूर्ण रह गया। आपने आदिपुराण कब प्रारम्भ किया और कब समाप्त किया, यह जानने के कोई साधन नहीं हैं इसलिए दृढ़ता के साथ यह नही कहा जा सकता कि आपका ऐहिक जीवन अमुक शक सवत् मे समाप्त हुआ होगा। परन्तु यह मान लिया जाये कि वीरसेनीया टीका के समाप्त होते ही यदि महा-पुराण की रचना शुरू हो गयी हो और चूंकि उस समय श्री जिनसेन स्वामी की अवस्था ८० वर्ष स ऊपर हो चुकी होगी अतः रचना बहुत थोड़ी-थोड़ी होती रही हो और उसके लगभग १० हजार श्लोको की रचना में कम-से-कम १० वर्ष अवश्य लग गये होगे। इस हिसाब से शक सवत् ७७० तक अथवा बहुत जल्दी हुआ हो तो ७६५ तक जिनसेन स्वामी का अस्तित्व मानने मे आपत्ति नही दिखती। इस प्रकार जिनसेन स्वामी ९०-९५ वर्ष तक ससार के सम्भ्रान्त पुरुषो का कल्याण करते रहे, यह अनुमान किया जा सकता है।

गुणभद्राचार्य की आयु यदि गुरु जिनसेन के स्वर्गवास के समय २५ वर्ष की मान ली जाये तो वे शक संवत् ७४० के लगभग उत्पन्न हुए होगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है परन्तु उत्तरपुराण कब समाप्त हुआ तथा गुणभद्राचार्य कब तक धराधाम पर जीवित रहे यह निर्णय करना कठिन कार्य है। यद्यपि उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे यह लिखा है कि उसकी समाप्ति शकसंवत् ८२० मे हुई। परन्तु प्रशस्ति के सूक्ष्मतर अध्ययन के बाद यह मालूम होता है कि उत्तरपुराण की प्रशस्ति स्वय एकरूप न होकर दो रूपो मे विभाजित है। एक से लेकर सत्ताईसवें पद्य तक एक रूप है और अट्ठाईस से लेकर बयालीसवें तक दूसरा रूप है। पहला रूप गुण-भद्र स्वामी का है और दूसरा उनके शिष्य लोकसेन का। लिपिकर्ताओ की कृपा स दोनो रूप मिलकर एक हो गये हैं। गुणभद्र स्वामी ने अपनी प्रशस्ति के प्रारम्भिक १९ श्लोको मे सघ की और गुरुओ की महिमा प्रदर्शित करने के बाद बीसवें पद्य मे लिखा है कि अति विस्तार के भय से और अतिशय हीन काल के अनुरोध से अवशिष्ट महापुराण को मैंने सक्षेप मे सगृहीत किया। इसके बाद ५-६ श्लोको मे ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन कर अन्त के २७वें पद्य मे कहा है कि भव्यजनो को इसे सुनाना चाहिए, व्याख्यान करना चाहिए, चिन्तवन करना चाहिए, पूजना चाहिए और भक्तजनो को इसकी प्रतिलिपियां लिखानी चाहिए। गुणभद्रस्वामी का वक्तव्य यही समाप्त हो जाता है।

इसके बाद २८वें पद्य से लोकसेन की लिखी हुई प्रशस्ति शुरू होती है जिसमें कहा है कि उन गुणभद्र-स्वामी के शिष्यो मे 'मुख्य लोकसेन' हुआ जिसने इस पुराण में निरन्तर गुरुविनय रूप सहायता देकर सज्जनो

---

१. 'शब्दराशिरपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थः स्फुटा रसाः। सुलभाश्च प्रतिच्छन्दा: कवित्वे का दरिद्रता ॥१०१॥"
—आ०पु०, प०१

द्वारा बहुत मान्यता प्राप्त की थी। २९,३०,३१वें पद्यो मे राष्ट्रकूट अकालवर्ष की प्रशंसा की है। इसके पश्चात् ३२,३३,३४,३५,३६वें पद्यो मे कहा है कि जब अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य वकापुर राजधानी मे रहकर सारे वनवास देश का शासन करते थे, तव शकसवत् ८२० के अमुक-अमुक मुहूर्त मे इस पवित्र और सर्वसाररूप श्रेष्ठ पुराण की भव्यजनो द्वारा पूजा की गयी। ऐसा यह पुण्य पुराण जयवन्त रहे। इसके बाद ३७वें पद्य मे लोकसेन ने यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त किया है कि यह महापुराण चिरकाल तक सज्जनो की वाणी और चित्त मे स्थिर रहे। इसके आगे दो पद्य और हैं जिनमे महापुराण की प्रशंसा वर्णित है। लोकसेन मुनि के द्वारा लिखी हुई दूसरी प्रशस्ति उस समय लिखी गयी मालूम होती है जब कि उत्तरपुराण ग्रन्थ की विधिपूर्वक पूजा की गयी थी। इस प्रकार उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे उसकी पूर्ति का जो ८२० शकसवत् दिया गया है, वह उसके पूजा-महोत्सव का है। गुणभद्राचार्य ने ग्रन्थ की पूर्ति का शकसवत् उत्तरपुराण मे दिया ही नही है उन्होने अपने अन्य ग्रन्थो 'आत्मानुशासन' तथा 'जिनदत्तचरित' मे भी नही दिया है। इस दशा मे उनका ठीक-ठीक समय बतलाना कठिन कार्य है। हाँ, जिनसेनाचार्य के स्वर्गारोहण के ५० वर्ष बाद तक उनका सद्भाव रहा होगा, यह अनुमान से कहा जा सकता है।

जिनसेन स्वामी और उनके ग्रन्थ

जिनसेन स्वामी वीरसेन स्वामी के शिष्य थे। उनके विषय में गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे ठीक ही लिखा है कि जिस प्रकार हिमालय से गंगा का प्रवाह, सर्वज्ञ के मुख से सर्वशास्त्ररूप दिव्यध्वनि का और उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार वीरसेन स्वामी से जिनसेन का उदय हुआ। जयधवला की प्रशस्ति मे आचार्य जिनसेन ने अपना परिचय बडी ही आलंकारिक भाषा मे दिया है। देखिए :

"उन वीरसेन स्वामी का शिष्य जिनसेन हुआ जो श्रीमान् था और उज्ज्वल बुद्धि का धारक भी। उसके कान यद्यपि अविद्ध थे तो भी ज्ञानरूपी शलाका से बेधे गये थे।"[1]

"निकट भव्य होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर मानो स्वयं ही वरण करने की इच्छा से जिनके लिए श्रुतमाला की योजना की थी।"[2]

"जिसने बाल्यकाल से ही अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया था, फिर भी आश्चर्य है कि उसने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उद्वहन किया था।"[3]

"जो न बहुत सुन्दर थे और न अत्यन्त चतुर ही, फिर भी सरस्वती ने अनन्यशरणा होकर उनकी सेवा की थी।"[4]

"बुद्धि, शान्ति और विनय यही जिनके स्वाभाविक गुण थे, इन्ही गुणो से जो गुरुओ की आराधना करते थे। सो ठीक ही है, गुणो के द्वारा किसकी आराधना नही होती?"[5]

---

१. "तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः। अविद्धावापि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया॥"

२ "यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका। स्वयंवरीतुकामेव श्रौतीं मालामयूयुजत्॥२८॥"

३. "येनानुचरितं बाल्याद् ब्रह्मव्रतमखण्डितम्। स्वयंवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती॥२९॥"

४. "यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनिः। तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत्॥३०॥"

५. "धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणाः। सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः॥३१॥"

योगिराट् पण्डिताचार्य नाम के किसी विद्वान् ने इसकी संस्कृत टीका की है जो विक्रम की पन्द्रहवी शती के बाद की है। उसके उपोद्घात मे उन्होंने लिखा है कि एक बार कवि कालिदास वकापुर के राजा अमोघवर्ष की सभा मे आये और उन्होने बडे गर्व के साथ अपना मेघदूत सुनाया। उसी सभा मे जिनसेन स्वामी भी अपने सधर्मा विनयसेन मुनि के साथ विद्यमान थे। विनयसेन ने जिनसेन से प्रेरणा की कि इस कालिदास का गर्व नष्ट करना चाहिए। विनयसेन की प्रेरणा पाकर जिनसेन ने कहा कि यह रचना प्राचीन है, इनकी स्वतन्त्र रचना नही है किन्तु चोरी की हुई है। जिनसेन के वचन सुनकर कालिदास तिलमिला उठे। उन्होंने कहा कि यदि रचना प्राचीन है तो सुनायी जानी चाहिए। जिनसेन स्वामी एक बार जिस श्लोक को सुन लेते थे उन्हे याद हो जाता था इसलिए उन्हे कालिदास का मेघदूत उसी सभा मे याद हो गया था। उन्होने कहा कि यह प्राचीन ग्रन्थ किसी दूरवर्ती ग्राम मे विद्यमान है अतः आठ दिन के बाद लाया जा सकता है। अमोघवर्ष राजा ने आदेश दिया कि अच्छा, आज से आठवें दिन वह ग्रन्थ यहाँ उपस्थित किया जाये। जिनसेन ने अपने स्थान पर आकर ७ दिन मे पार्श्वाभ्युदय की रचना की और आठवें दिन राजसभा मे उसे उपस्थित कर दिया। इस सुन्दर काव्यग्रन्थ, को सुनकर सब प्रसन्न हुए और कालिदास का सारा अहकार नष्ट हो गया। बाद मे जिनसेन स्वामी ने सारी बात स्पष्ट कर दी।

परन्तु विचार करने पर यह कथा सर्वथा कल्पित मालूम होती है, क्योकि मेघदूत के कर्ता कालिदास और जिनसेन स्वामी क समय मे भारी अन्तर है। साथ ही, इसम जो अमोघवर्ष की राजधानी वंकापुर बतलायी है वह भी गलत है क्योकि अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट थी और वकापुर अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य की। यह पीछे लिख आये हैं कि लोकादित्य के पिता वकेयरस ने अपने नाम से इस राजधानी का नाम वकापुर रखा था। अमोघवर्ष के समय तो सम्भवत. वकापुर नाम का अस्तित्व ही नही होगा, यह कथा तो ऐसी ही रही जैसी कि अमरसिंह और धनजय के विषय मे छोटी-छोटी पाठशालाओं के विद्वान् अपने छात्रो का सुनाया करते हैं.

"राजा भोज ने अपनी सभा मे प्रकट किया कि जो विद्वान् सबसे अच्छा कोष बनाकर उपस्थित करेगा उसे भारी पारितोषिक प्राप्त होगा। धनजय कवि ने अमरकोष की रचना की। उपस्थित करने के एक दिन पहले अमरसिंह धनजय के यहाँ आये। ये उनके बहनोई होते थे। धनंजय ने उन्हे अपना अमरकोष पढ़कर सुनाया। सुनते ही अमरसिंह उस पर लुभा गये और उन्होने अपनी स्त्री के द्वारा उसे अपहृत करा लिया। जब धनञ्जय को पता चला कि हमारा कोष अपहृत हो गया है तब उन्होने एक ही रात मे नाममाला की रचना कर डाली और दूसरे दिन सभा मे उपस्थित कर दी। नाममाला की रचना से राजा भोज बहुत ही प्रभावित हुए और कोषरचना के ऊपर मिलने वाला भारी पुरस्कार उन्हे ही मिला।"

इस कथा के गढ़ने वाले हमारे विद्वान् यह नही सोचते कि अमरसिंह जो कि विक्रम के नवरत्नो मे से एक थे, कब हुए, धनजय कब हुए और भोज कब हुए। व्यर्थ ही भावुकतावश मिथ्या कल्पनाएँ करते रहते हैं। फिर योगिराट् पण्डिताचार्य ने पार्श्वाभ्युदय के विषय मे जो कथा गढ़ी है उससे तो जिनसेन की असूया तथा परकीर्त्यसहिष्णुता ही सिद्ध होती है जा एक दिगम्बराचार्य के लिए लाछन की बात है।

पार्श्वाभ्युदय का प्रशसा के विषय मे श्रीयोगिराट् पण्डिताचार्य ने जो लिखा है कि श्रीपार्श्वनाथ से बढ़कर कोई साधु, कमठ से बढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदय से बढ़कर कोई काव्य नहीं दिखलायी देता है, वह ठीक ही लिखा है। प्रो० के० बी० पाठक ने रायल एशियाटिक सोसायटी मे कुमारिलभट्ट और भर्तृहरि के विषय मे जो निबन्ध पढ़ा था, उसमे उन्होंने जिनसेन और उनके काव्य पार्श्वाभ्युदय के विषय मे क्या ही अच्छा कहा था :

---

१. "श्रीपार्श्वात् साधुतः साधुः कमठात् खलतः खलः। पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न च क्वचिदपीष्यते ॥१७॥"

"जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल मे हुए हैं, जैसा कि उन्होंने पार्श्वाभ्युदय मे कहा है। पार्श्वाभ्युदय संस्कृत-साहित्य मे एक कौतुकजन्य उत्कृष्ट रचना है। यह उस समय के साहित्य-स्वाद का उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियो मे कालिदास को पहला स्थान दिया गया है तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जाने के अधिकारी हैं।"

चूंकि पार्श्वाभ्युदय प्रकाशित हो चुका है अत उसके श्लोको के उद्धरण देकर उसकी कविता का माहात्म्य प्रकट करना इस प्रस्तावनालेख का पल्लवन ही होगा। इसकी रचना अमोघवर्ष के राज्यकाल मे हुई है यह उसकी अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है :

"इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुणमपदोषं कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशांकं भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः॥"

वर्धमानपुराण[1]—आपकी द्वितीय रचना वर्धमानपुराण है जिसका कि उल्लेख जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवंशपुराण मे किया है, परन्तु वह कहाँ है, आज तक इसका पता नही चला। बिना देखे उस पर क्या कहा जा सकता है? नाम से यही स्पष्ट होता है कि उसमे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी का कथानक होगा।

जयधवला टीका—कषायप्राभृत के पहले स्कन्ध की चारो विभक्तियो पर जयधवला नाम की २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर जब श्री गुरु वीरसेनाचार्य स्वर्ग को सिधार चुके, तब उनके शिष्य श्री जिनसेन स्वामी ने उसके अवशिष्ट भाग पर ४० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखकर उसे पूरा किया। यह टीका जयधवला अथवा वीरसेनीया नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका मे आपने श्री वीरसेन स्वामी की ही शैली को अपनाया है और कही संस्कृत कही प्राकृत के द्वारा पदार्थ का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया है। इन टीकाओं की भाषा का ऐसा विचित्र प्रवाह है कि उसने पाठक का चित्त कभी घबराता नही है। स्वयं ही अनेक विकल्प उठाकर पदार्थ का बारीकी से निरूपण करना इन टीकाओ की खास विशेषता है।

आदिपुराण

महापुराण के विषय मे पहले विस्तार के साथ लिख चुके हैं। आदिपुराण उसी का आद्य भाग है। उत्तर भाग का नाम उत्तरपुराण है। आदिपुराण मे ४७ पर्व हैं जिनमे प्रारम्भ के ४२ और तैंतालीसवें पर्व के ३ श्लोक जिनसेनाचार्य-द्वारा रचित हैं, शेष पर्वों के १६२० श्लोक उनके शिष्य भदन्त गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के पीठिकाबन्ध मे जयसेन गुरु की स्तुति के बाद परमेश्वर कवि का उल्लेख किया है और उनके विषय मे कहा है :

"वे कवि परमेश्वर लोक मे कवियो के द्वारा पूजने योग्य हैं जिन्होंने कि शब्द और अर्थ के संग्रह-स्वरूप समस्त पुराण का संग्रह किया था।[2]" इन परमेश्वर कवि ने गद्य मे समस्त पुराणो की रचना की थी, उसी का आधार लेकर जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण की रचना की है। आदिपुराण की महत्ता बतलाते हुए गुणभद्राचार्य ने कहा है :

---

१ इस वर्धमानपुराण का न तो गुणभद्राचार्य ने अपनी प्रशस्ति में उल्लेख किया है और न जिनसेन के अपरवर्ती किसी आचार्य ने अपनी रचनाओं में उसकी चर्चा की है, इसलिए किन्हीं विद्वानो का खयाल है कि वर्धमानपुराण नामक कोई पुराण जिनसेन का बनाया हुआ है ही नहीं। जिनसेन द्वितीय ने अपने हरिवंशपुराण में अज्ञातनाम कवि के किसी अन्य वर्धमानपुराण का उल्लेख किया है। प्रेमीजी ने भी अपने हाल के एक पत्र मे ऐसा ही भाव प्रकट किया है।

२. देखें आदि पु० १/६०।

"यह आदिनाथ का चरित कवि परमेश्वर के द्वारा कही हुई गद्य-कथा के आधार से बनाया गया है, इसमे समस्त छन्द तथा अलंकारों के लक्षण हैं, इसमे सूक्ष्म अर्थ और गूढ पदो की रचना है, वर्णन की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है, समस्त शास्त्रो के उत्कृष्ट पदार्थों का साक्षात् कराने वाला है, अन्य काव्यो को तिरस्कृत करता है, श्रवण करने योग्य है, व्युत्पन्न बुद्धि वाले पुरुषो के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या कवियो के गर्व को नष्ट करने वाला है और अत्यन्त सुन्दर है। इसे सिद्धान्त-ग्रन्थो की टीका करने वाले तथा चिरकाल तक शिष्यो का शासन करने वाले भगवान् जिनसेन ने कहा है। इसका अवशिष्ट भाग निर्मल बुद्धि वाले गुणभद्र सूरि ने अति विस्तार भय से और हीन काल के अनुरोध मे संक्षेप मे संगृहीत किया है।"[1]

आदिपुराण सुभाषितो का भण्डार है : इस विषय को स्पष्ट करने के लिए उत्तरपुराण मे दो श्लोक बहुत ही सुन्दर मिलते हैं जिनका भाव इस प्रकार है :

"जिस प्रकार समुद्र से महामूल्य रत्नो की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इस पुराण से सुभाषितरूपी रत्नों की उत्पत्ति होती है।"[2]

"अन्य ग्रन्थो मे जो बहुत समय तक कठिनाई से भी नही मिल सकते वे सुभाषित पद्य इस पुराण मे पद-पद पर सुलभ हैं और इच्छानुसार सगृहीत किये जा सकते हैं।"[3]

आदिपुराण का माहात्म्य एक कवि के शब्दों मे देखिए, कितना सुन्दर निरूपण है—

"हे मित्र ! यदि तुम सारे कवियो की सूक्तियो को सुनकर सहृदय बनना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्य के मुखकमल से कहे हुए आदिपुराण को सुनने के लिए अपने कानो को समीप लाओ।"[4]

समग्र महापुराण की प्रशसा मे एक विद्वान् ने और कहा है :

"इस महापुराण मे धर्म है, मुक्ति का पद है, कविता है। और तीर्थंकरो का चरित्र है, अथवा कवीन्द्र जिनसेनाचार्य के मुखारविन्द से निकले हुए वचन किन का मन नही हरते ?"[5]

इस पुराण को महापुराण क्यो कहते हैं ? इसका उत्तर स्वय जिनसेनाचार्य देते हैं :

"यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है, इसमें महापुरुषो का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।"

"प्राचीन कवियो के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है, इसलिए इसकी पुराणता-प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।"

"यह पुराण महापुरुषो से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय का—स्वर्ग, मोक्षादि का कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण कहते हैं।"

"यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने से धर्मशास्त्र माना जाता है।"

---

१. उ०पु०प्र०, श्लो० १७-२०।

२ "यथा महार्घ्यरत्नाना प्रसूतिर्मकरालयात्। तथैव सूक्तरत्नाना प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥१६॥"

३ "सुदुर्लभ यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम्। सुलभ स्वैरसग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥२२॥"—उ०पु०

४ "यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचारश्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेवं सखे ! स्याः।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्दप्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः ॥"

५ "धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम् ॥"

"इति-इह-आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ, ऐसी अनेक कथाओं का इसमे निरूपण होने से ऋषिगण-इसे इतिहास, इतिवृत्त और ऐतिहासिक भी मानते हैं।"[1]

पीठिकाबन्ध मे जिनसेन ने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करने के पहले एक श्लोक कहा है जिसका भाव इस प्रकार है :

"मैं उन पुराण के रचने वाले कवियों को नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमल मे सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियों की कविता मे सूत्रपात का काम करते हैं।"[2]

इससे यह सिद्ध होता है कि इनके पहले अन्य पुराणकार वर्तमान थे जिनमे इनकी परम आस्था थी। परन्तु वे कौन थे इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख नही किया। हाँ, कवि परमेश्वर का अवश्य ही अपने निकटवर्ती अतीत में स्मरण किया है। एतावता विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति के सातवें[3] श्लोक मे 'प्रथमम्' पद देखकर कितने ही महाशयों ने जो यह धारणा बना ली है कि आदिपुराण दिगम्बर जैन पुराणग्रन्थो में प्रथम पुराण है वह उचित नही मालूम होती। वहाँ 'प्रथमम्' का अर्थ श्रेष्ठ अथवा आद्य भी हो सकता है।

गुणभद्राचार्य और उनके ग्रन्थ

जिनसेन और दशरथगुरु के शिष्य गुणभद्राचार्य भी[4] अपने समय के बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। आप उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भावलिंगी मुनिराज थे। इन्होने आदिपुराण के अन्त के १६२० श्लोक रचकर उसे पूरा किया और उसके बाद उत्तरपुराण की रचना की जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक प्रमाण है। ये अत्यन्त गुरुभक्त शिष्य थे। आदिपुराण के ४३वें पर्व के प्रारम्भ मे जहाँ से अपनी रचना शुरू करते हैं वहाँ इन्होंने जो पद्य लिखे हैं उनसे इनके गुरुभक्त हृदय का अच्छा साक्षात्कार हो जाता है। वे लिखते हैं कि

"इक्षु[5] की तरह इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही रसावह है उत्तरार्ध में तो जिस किसी तरह ही रस की उत्पत्ति होगी।"

"यदि मेरे वचन सुस्वादु हो तो यह गुरुओ का ही माहात्म्य समझना चाहिए। यह वृक्षो का ही स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं।"[6]

"मेरे हृदय से वचन निकलते हैं और हृदय में गुरुदेव विराजमान हैं अतः वे वहीं उनका सस्कार कर देंगे अत: मुझे इस कार्य मे कुछ भी परिश्रम नहीं होगा।"[7]

"भगवान् जिनसेन के अनुगामी तो पुराण (पुराने) मार्ग के आलम्बन से संसार-समुद्र से पार होना चाहते हैं फिर मेरे लिए पुराण-सागर के पार पहुँचना क्या कठिन बात है?"[8]

---

१ देखो, आ०पु०, प० १। २१-२५।

२ आ०पु० १।४१।

३ "यद्वाङ्मय पुरोरासीत्पुराण प्रथमं भुवि। तदीयप्रियशिष्योऽभूद् गुणभद्रमुनीश्वर ॥७॥"
—विक्रान्त० प्र०

४. "तस्य य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो। पक्खोववासमडी महातवो भावलिंगो य॥"
—दर्शनसार

५ "इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावहम्। यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥१४॥

६. "गुरूणामेव माहात्म्य यदपि स्वादु मद्वच। तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥१५॥"

७. "निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरव स्थिता। ते तत्र सस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रम ॥१६॥"

८. "पुराणमार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्। भवाब्धे पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥१६॥"

इनके बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं :

उत्तरपुराण—यह महापुराण का उत्तर भाग है। इसमे अजितनाथ को आदि लेकर २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषो के कथानक दिये हुए हैं। इसकी रचना भी कवि परमेश्वर के गद्यात्मक पुराण के आधार पर हुई होगी। आठवें, सोलहवें, बाइसवें, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर को छोडकर अन्य तीर्थंकरो के चरित्र बहुत ही सक्षेप से लिखे गये हैं। इस भाग मे कथा की बहुलता ने कवि की कवित्वशक्ति पर आघात किया। जहाँ-तहाँ ऐसा मालूम होता है कि कवि येन-केन प्रकारेण कथा भाग को पूरा कर आगे बढ जाना चाहते है। पर फिर भी बीच-बीच मे कितने ही ऐसे सुभाषित आ जाते हैं जिससे पाठक का चित्त प्रसन्न हो जाता है। गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण की रचना के विषय मे एक दन्तकथा प्रसिद्ध है

जब जिनसेन स्वामी को इस बात का विश्वास हो गया कि अब उनका जीवन समाप्त होने वाला है और वह महापुराण को पूरा नही कर सकेंगे तब उन्होंने अपने सबसे योग्य दो शिष्य बुलाये। बुलाकर उनसे कहा कि यह जो सामने सूखा वृक्ष खडा है इसका काव्यवाणी मे वर्णन करो। गुरुवाक्य सुनकर उनमे से पहले ने कहा—"शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे।" फिर दूसरे शिष्य ने कहा, "नीरसतरुरिह विलसति पुरत ।" गुरु को द्वितीय शिष्य की वाणी मे रस दिखा, अत उन्होने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुरु-आज्ञा को स्वीकार कर द्वितीय शिष्य ने महापुराण को पूर्ण किया। वह द्वितीय शिष्य गुणभद्र ही थे।

आत्मानुशासन—यह भर्तृहरि के वैराग्यशतक की शैली से लिखा हुआ २७२ पद्यो का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। इसकी सरस और सरल रचना हृदय पर तत्काल असर करती है। इसकी सस्कृत टीका प्रभाचन्द्राचार्य ने की है। हिन्दी टीकाएँ भी श्री स्व० पण्डित टोडरमलजी तथा पं० वंशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने की हैं। जैन-समाज मे इसका प्रचार भी खूब है। यदि इसके श्लोक कण्ठ कर लिये जायें तो अवसर पर आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए बहुत बल देने वाले हैं। इसके अन्त मे प्रशस्तिस्वरूप निम्न श्लोक ही पाया जाता है

"जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥"

अर्थात् जिनका चित्त श्रीजिनसेनाचार्य के चरणस्मरण के अधीन है उन गुणभद्रभदन्त की कृति यह आत्मानुशासन है।

जिनदत्तचरित्र—यह नवसर्गात्मक छोटा-सा काव्य है, अनुष्टुप् श्लोको मे रचा गया है। इसकी कथा बडी ही कौतुकावह है। शब्दविन्यास अल्प होने पर भी कही-कही भाव बहुत गम्भीर है। श्रीलालजी काव्यतीर्थ द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

समकालीन राजा

जिनसेन स्वामी और भदन्त गुणभद्र के सम्पर्क मे रहने वाले राजाओ मे अमोघवर्ष (प्रथम) का नाम सर्वोपरि है। ये जगत्तुंगदेव (गोविन्द तृतीय) के पुत्र थे। इनका घरू नाम बोद्दणराय था। नृपतुग, शर्व, शण्ड, अतिशयधवल, वीरनारायण, पृथिवीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि इनकी उपाधियाँ थी। यह भी बड़े पराक्रमी थे। इन्होंने बहुत बडी उम्र पायी और लगभग ६३ वर्ष राज्य किया। इतिहासज्ञो ने इनका राज्य काल शकसंवत् ७३६ से ७९९ तक निश्चित किया है। जिनसेन स्वामी का स्वर्गवास शकसवत् ७६५ के लगभग निश्चित किया जा चुका है, अतः जिनसेन के शरीरत्याग के समय अमोघवर्ष ही राज्य करते थे। राज्य का त्याग इन्होने शकसवत् ८०० मे किया है जब कि आचार्य पद पर गुणभद्राचार्य विराजमान थे। अपनी दानशीलता और न्यायपरायणता से अमोघवर्ष ने अपने अमोघवर्ष[1] नाम

---

१ "अर्थिषु यथार्थता य समभीष्टफलाप्तिलब्धतोषेषु। वृद्धि निनाय परमाममोघवर्षाभिधानस्य ॥"
—(ध्रुवराज का दानपत्र, इण्डियन एण्टिक्वेरी १२-१८१)

को इतना प्रसिद्ध किया कि पीछे से वह एक प्रकार की पदवी समझी जाने लगा और उसे राठौर वंश के तीन-चार राजाओं ने तथा परमारवंशीय महाराज मुंज ने भी अपनी प्रतिष्ठा का कारण समझकर धारण किया। इन पिछले तीन-चार अमोघवर्षों के कारण इतिहास में ये 'प्रथम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिनसेन स्वामी के ये परमभक्त थे। जैसा गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में उल्लेख किया है और उसका भाव यह है कि महाराज अमोघवर्ष जिनसेन स्वामी के चरणकमलों में मस्तक रखकर अपने आपको पवित्र मानते थे और उनका सदा स्मरण किया करते थे[1]।

ये राजा ही नहीं विद्वान् थे और विद्वानों के आश्रयदाता भी। आपने 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका'[2] की रचना की थी और वह तब जब कि अपनी भुजाओं से राज्य का भार विवेकपूर्वक दूर कर दिया था। 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के सिवाय 'कविराजमार्ग' नाम का अलंकार-ग्रन्थ भी इनका बनाया हुआ है जो कर्णाटक भाषा में है और विद्वानों में जिसकी अच्छी ख्याति है। इनकी राजधानी मान्यखेट में थी जो कि अपने वैभव से इन्द्रपुरी पर भी हँसती थी[3]। ये जैन-मन्दिरों तथा जैन-वसतिकाओं को भी अच्छा दान देते थे। शक सं० ७८२ के ताम्रपत्र से विदित होता है कि इन्होंने स्वयं मान्यखेट में जैनाचार्य देवेन्द्र को दान दिया था। यह दानपत्र इनके राज्य के ५२वें वर्ष का है। शक सं० ७९७ का एक लेख कृष्ण (द्वितीय) के महासामन्त पृथ्वीराय का मिला है जिसमें इनके द्वारा सौन्दत्ति के एक जैन-मन्दिर के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख है।

शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन की टीका अमोघवृत्ति इन्हीं अमोघवर्ष के नाम से बनायी। धवला और जयधवला टीकाएँ भी इन्हीं के धवल या अतिशयधवल नाम के उपलक्ष्य में बनी तथा महावीराचार्य ने अपने गणितसारसंग्रह में इन्हीं की महामहिमा का विस्तार किया है। इससे सिद्ध होता है कि ये विद्वानों तथा खासकर जैनाचार्यों के बड़े भारी आश्रयदाता थे।

'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के मंगलाचरण में उन्होंने "प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये। नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम्।" श्लोक-द्वारा श्री महावीर स्वामी का स्तवन किया है और साथ ही उसमें कितने ही जैनधर्मानुमोदित प्रश्नोत्तरों का निम्न प्रकार समावेश किया है :

"त्वरितं किं कर्तव्यं विदुषा संसारसन्ततिच्छेदः। किं मोक्षतरोर्बीजं सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम् ॥४॥
को नरकः परवशता किं सौख्यं सर्वसंगविरतिर्या। किं रत्नं भूतहितं प्रेयः प्राणिनामसवः ॥१३॥"

इससे सिद्ध होता है कि अमोघवर्ष जैन थे और समग्र जीवन में उन्हें जैन न माना जाये तब भी रत्नमाला की रचना के समय में तो वह जैन ही थे यह दृढ़ता से कहा जा सकता है। हमारे इस कथन की पुष्टि महावीराचार्यकृत गणितसारसंग्रह की उत्थानिका के—"विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवेदिनः। देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥" श्लोक से भी होती है।

अकालवर्ष—अमोघवर्ष के पश्चात् उनका पुत्र अकालवर्ष, जिसको इतिहास में 'कृष्ण-द्वितीय' भी कहा है, सार्वभौम सम्राट् हुआ था। जैसा कि द्वितीय कर्कराज के दानपत्र में अमोघवर्ष का वर्णन करने के पश्चात् लिखा है :

---

१. उ० पु० प्र० श्लो० ८।

२. "विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका। रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलङ्कृतिः ॥"

३. "यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहासि, गीर्वाणगर्वमिव खर्वयितुं व्यधत्त।"

—ए० इ० जि०, पृ० १९२-१९६

"उस अमोघवर्ष के बाद वह अकालवर्ष सार्वभौम राजा हुआ जिसके कि प्रताप से भयभीत हुआ सूर्य आकाश में चन्द्रमा के समान आचरण करने लगता था।"[1]

यह भी अकालवर्ष के समान बड़ा भारी वीर और पराक्रमी था। कृष्णराज तृतीय के दानपत्र मे, जो कि वर्धा नगर के समीप एक कुएँ मे प्राप्त हुआ है, इसकी वीरता की बहुत प्रशंसा की गयी है। तत्रागत श्लोक का भाव यह है :

"उस अमोघवर्ष का पुत्र श्रीकृष्णराज हुआ जिसने गुर्जर, गौड, द्वारसमुद्र, अग, कलिंग, गाग, मगध आदि देशो के राजाओ को अपने वशवर्ती कर लिया था।"[2]

उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे गुणभद्राचार्य ने भी इसकी प्रशंसा मे बहुत कुछ लिखा है कि इसके उत्तुग हाथियो ने अपने ही मदजल के संगम से कलंकित गगानदी का पानी पिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि इसका राज्य उत्तर मे गगातट तक पहुँच चुका था[3] और दक्षिण मे कन्याकुमारी तक।

यह शकसवत् ७९७ के लगभग सिंहासन पर बैठा और शक स० ८३३ के लगभग इसका देहान्त हुआ।

लोकादित्य—लोकादित्य का उल्लेख उत्तरपुराण की द्वितीय प्रशस्ति मे श्रीगुणभद्र स्वामी के शिष्य लोकसेन मुनि ने किया है और कहा है कि जब अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य वकापुर राजधानी से सारे वनवास देश का शासन करते थे तब शक स० ८२० के अमुक मुहूर्त मे इस पवित्र सर्वश्रेष्ठ पुराण की भव्य-जनो के द्वारा पूजा की गयी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकादित्य अकालवर्ष या कृष्ण (तृतीय) का सामन्त और वनवास का राजा था। इसके पिता का नाम वकेयरस था। यह चेल्लध्वज था अर्थात् इसकी ध्वजा पर चिल्ल या चील का चिह्न था। इसकी राजधानी वंकापुर मे थी। शक स० ८२० मे वंकापुर मे जब महापुराण की पूजा की गयी थी उस समय इसी का राज्य था। यह राज्यसिंहासन पर कब से कब तक आरूढ़ रहा इसका निश्चय नहीं है।

"आचार्य जिनसेन और गुणभद्र प्रकरण' मे जहाँ-तहाँ जिस उत्तरपुराण की प्रशस्ति का बहुत उपयोग हुआ है वह उक्त ग्रन्थ के अन्तिम अर्थात् सत्रहवें पर्व में पायी जाती है।

आदिपुराण में उल्लिखित पूर्ववर्ती विद्वान्

आचार्य जिनसेन ने अपने से पूर्ववर्ती इन विद्वानो का अपने आदिपुराण में उल्लेख किया है—१ सिद्धसेन, २ समन्तभद्र, ३ श्रीदत्त, ४ यशोभद्र, ५ प्रभाचन्द्र, ६ शिवकोटि, ७ जटाचार्य (सिंहनन्दी), ८ काणभिक्षु, ९ देव (देवनन्दी), १० भट्टाकलक, ११ श्रीपाल, १२ पात्रकेसरी, १३ वादिसिंह, १४ वीरसेन, १५ जयसेन और १६ कविपरमेश्वर।

उक्त आचार्यों का कुछ परिचय दे देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है।

सिद्धसेन—इस नाम के अनेक विद्वान् हो गए हैं पर यह सिद्धसेन वही ज्ञात होते हैं जो सन्मति-प्रकरण नामक प्राकृत ग्रन्थ के कर्ता है। ये न्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् थे। इनका समय विक्रम की ६-७वी शताब्दी होना चाहिए।

---

१. "तस्मादकालवर्षोऽभूत् सार्वभौमक्षितीश्वरः। यत्प्रतापपरित्रस्तो व्योम्नि चन्द्रायते रविः॥"

२ "तस्योर्जितगूर्जरो हतहटल्लासोद्भटश्रीमदो गौडानां विनयव्रतार्पणगुरुः सामुद्रनिद्राहरः। द्वारस्थाङ्गकलिङ्गगाङ्गमगधैरभ्यर्चिताज्ञश्चिरं सूनुः सूनृतवाग्भुवः परिवृढः श्रीकृष्णराजोऽभवत्।"

३ उ० पु०, प्र० श्लो० २६।

समन्तभद्र—समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बाद मे आप 'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुए। इनके गुरु का क्या नाम था और इनकी क्या गुरु-परम्परा थी यह ज्ञात नही हो सका। वादी, वाग्मी और कवि होने के साथ आद्य स्तुतिकार होने का श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्र के तल-द्रष्टा और और विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न थे। एक परिचय-पद्य मे तो आप को दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होने के साथ आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिंह-गर्जना से सभी वादिजन कॉपते थे। आपने अनेक देशो मे विहार किया और वादियो को पराजित कर उन्हे सन्मार्ग का प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ की उद्भाविका हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं १ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन, ३ आप्तमीमासा, ४ रत्नकरण्डश्रावकाचार और ५ स्तुतिविद्या। इनके जीवसिद्धि और तत्त्वानुशासन ये दो ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इनका समय विक्रम की २-३ शताब्दी माना जाता है।

श्रीदत्त—यह अपने समय के बहुत बड़े वादी और दार्शनिक विद्वान् थे। आचार्य विद्यानन्द ने आपके 'जल्पनिर्णय' ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए आपको ६३ वादियो को जीतने वाला बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि श्रीदत्त बड़े तपस्वी और वादिविजता विद्वान् थे। विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध के विद्वान् देवनन्दी (पूज्यपाद) ने जैनेन्द्र व्याकरण मे 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् १।४।३४' सूत्र मे एक श्रीदत्त का उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि आचार्य जिनसेन और देवनन्दी द्वारा उल्लिखित श्रीदत्त एक ही हो। और यह भी हो सकता है कि दोनो भिन्न-भिन्न हो। आदिपुराणकार ने चूँकि श्रीदत्त को तप.श्रीदीप्तमूर्ति और वादिरूपी गजो का प्रभेदक सिंह बतलाया है, इससे श्रीदत्त दार्शनिक विद्वान् जान पड़ते है। जैनेन्द्र व्याकरण मे जिन छह विद्वानो का उल्लेख किया है वे प्राय. सब दार्शनिक विद्वान् हैं। उनमे केवल भूतबली सिद्धान्तशास्त्र के मर्मज्ञ थे। व्याकरण मे विविध आचार्यो के मत का उल्लेख करना महावैयाकरण पाणिनि का उपक्रम है। श्रीदत्त नाम के जो आरातीय आचार्य हुए हैं वे इनसे भिन्न जान पड़ते हैं।

यशोभद्र—यशोभद्र प्रखर तार्किक विद्वान् थे। उनके सभा मे पहुँचते ही वादियो का गर्व खर्व हो जाता था। देवनन्दी ने भी जैनेन्द्र व्याकरण मे 'क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य २।१।९९' सूत्र मे यशोभद्र का उल्लेख किया है। इनकी किसी भी कृति का समुल्लेख हमारे देखने मे नही आया। देवनन्दी द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण मे उल्लिखित यशोभद्र यदि यही है तो आप छठी शती के पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं।

प्रभाचन्द्र—प्रस्तुत प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न हैं और बहुत पहले हुए हैं। यह कुमारसेन के शिष्य थे। वीरसेन स्वामी ने जयधवला टीका मे नय के लक्षण का निर्देश करते हुए प्रभाचन्द्र का उल्लेख किया है। सम्भवत. ये वही हैं। हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने भी इनका स्मरण किया है।[1] यह न्यायशास्त्र के पारगत विद्वान् थे और चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ की रचना से इनका यश चन्द्र-किरण के समान उज्ज्वल और जगत् को आह्लादित करने वाला हुआ था। इनका चन्द्रोदय ग्रन्थ उपलब्ध नही अतः उसके वर्णनीय विषय के सम्बन्ध मे कुछ नही लिखा जा सकता। आपका समय निश्चित नहीं है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि आप जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं।

शिवकोटि—यह वही जान पड़ते हैं जो 'भगवती आराधना' के कर्ता हैं। यद्यपि भगवती आराधना ग्रन्थ के कर्ता 'आर्य' विशेषण से युक्त 'शिवार्य' कहे जाते हैं पर यह नाम अधूरा प्रतीत होता है। आदिपुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने इन्हे सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप आराधनाओ की आराधना से ससार को शीतीभूत-प्रशान्त-सुखी करने वाला बतलाया है। शिवकोटि को समन्तभद्र का शिष्य भी बतलाया जाता है परन्तु भगवती-आराधना मे जो गुरु-परम्परा दी है उसमे समन्तभद्र का नाम नही है। यह भी

१ "आकूपार यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्। गुरो. कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥३८॥"

सम्भव है कि समन्तभद्र का दीक्षानाम कुछ दूसरा ही रहा हो। और वह दूसरा नाम जिननन्दी हो अथवा इसी से मिलता-जुलता अन्य कोई। यदि उक्त अनुमान ठीक है तो शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य हो सकते हैं और तब इनका समय भी समन्तभद्र का समकालीन सिद्ध हो सकता है। आराधना की गाथाओं में समन्तभद्र के बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र के एक पद्य का अनुसरण भी पाया जाता है। अस्तु, यह विषय विशेष अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

जटाचार्य सिंहनन्दी—यह जटाचार्य 'सिंहनन्दी' नाम से भी प्रसिद्ध थे। यह बड़े भारी तपस्वी थे। इनका समाधिमरण 'कोप्पण' में हुआ था। कोप्पण के समीप की 'पल्लवकीगुण्डु' नाम की पहाडी पर इनके चरणचिह्न भी अंकित हैं और उनके नीचे दो पंक्ति का पुरानी कनडी का एक लेख भी उत्कीर्ण है जिसे 'चापय्य' नाम के व्यक्ति ने तैयार कराया था। इनकी एकमात्र कृति 'वरांगचरित' डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई' से प्रकाशित हो चुकी है। राजा वरांग बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय हुआ है। वरांगचरित धर्मशास्त्र की हितावह देशना से ओत-प्रोत सुन्दर काव्य है। कन्नड साहित्य में वरांग का खूब स्मरण किया गया है। कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि और उभय जिनसेनों ने इनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। अपभ्रंश भाषा के कतिपय कवियों ने भी वरांग चरित के कर्ता का स्मरण किया है। इनका समय उपाध्येजी ने ईसा की ७वीं शताब्दी निश्चित किया है।

काणभिक्षु—यह कथालंकारात्मक ग्रन्थ के कर्ता हैं। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। आचार्य जिनसेन ने इनके ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि धर्मसूत्र का अनुसरण करने वाली जिनकी वाणीरूपी निर्दोष एवं मनोहर मणियों ने पुराणसंघ को सुशोभित किया वे काणभिक्षु जयवन्त रहें। इस उल्लेख से यह स्पष्ट जाना जाता है कि काणभिक्षु ने किसी कथा-ग्रन्थ अथवा पुराण की रचना अवश्य की थी। खेद है कि वह अपूर्व ग्रन्थ अनुपलब्ध है। काणभिक्षु की गुरुपरम्परा का भी कोई उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। यह भी नवीं शती से पूर्व के विद्वान् हैं। कितने पूर्व के? यह अभी अनिश्चित है।

देव—देव, यह देवनन्दी का संक्षिप्त नाम है। वादिराज सूरि ने भी अपने पार्श्वचरित में इसी संक्षिप्त नाम का उल्लेख किया है। श्रवणबेलगोल के शिलालेख क्र. ४० (६४) के उल्लेखानुसार इनके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं। यह आचार्य अपने समय के बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यही कारण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने बड़े सम्मान के साथ इनका संस्मरण किया है। दर्शनसार[1] के इस उल्लेख से कि वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरा या मदुरा में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने द्राविडसंघ की स्थापना की थी, आप ५२६ वि० सं० से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। श्रीजिनसेनाचार्य ने इनका संस्मरण वैयाकरण के रूप में किया है। वास्तव में आप अद्वितीय वैयाकरण थे। आपके 'जैनेन्द्र व्याकरण' को नाममालाकार धनंजय कवि ने अपश्चिम रत्न कहा है। अब तक आपके निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं:

१. जैनेन्द्रव्याकरण—अनुपम, व्याकरण ग्रन्थ।
२. सर्वार्थसिद्धि—आचार्य गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्र पर सुन्दर सरस विवेचन।
३. समाधितन्त्र—आध्यात्मिक भाषा में समाधि का अनुपम ग्रन्थ।
४. इष्टोपदेश—उपदेशपूर्ण ५१ पद्यों का हृदयहारी प्रकरण।
५. दशभक्ति—पाण्डित्यपूर्ण भाषा में भक्तिरस का पावन प्रवाह।

---

१. "सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारणो दुट्ठो। नामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो॥"

इनके सिवाय आपके 'शब्दावतारन्यास' और 'जैनेन्द्रन्यास' आदि कुछ ग्रन्थो के उल्लेख और भी मिलते हैं परन्तु वे अभी तक प्राप्त नही हो सके है।

अकलंकभट्ट—यह 'लघुहव्व' नामक राजा के पुत्र थे और भट्ट इनकी उपाधि थी। यह विक्रम की ८वी शताब्दी के प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। अकलकदेव जैनन्याय के व्यवस्थापक और दर्शनशास्त्र के असाधारण पण्डित थे। आपकी दार्शनिक कृतियो का अभ्यास करने से आपके तलस्पर्शी पाण्डित्य का पद-पद पर अनुभव होता है। उनमे स्वमत-सस्थापन के साथ परमत का अकाट्य युक्तियो द्वारा निरसन किया गया है। ग्रन्थो की शैली अत्यन्त गूढ, संक्षिप्त, अर्थबहुल एव सूत्रात्मक है इसी से उत्तरवर्ती हरिभद्रादि आचार्यों द्वारा अकलंकन्याय का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया गया है। इतना ही नही, जिनदासगणी महत्तर जैसे विद्वानों ने उनके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ के अवलोकन करने की प्रेरणा भी की है। इससे अकलकदेव की महत्ता का स्पष्ट आभास मिल जाता है। वर्तमान मे उनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध है—लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, अष्टशती (देवागम टीका), प्रमाणसग्रह—सोपज्ञ भाष्यसहित, तत्त्वार्थराजवार्तिक, स्वरूपसम्बोधन और अकलंकस्तोत्र।

अकलंकदेव का समय विक्रम की सातवी-आठवी शताब्दी माना जाता है क्योकि विक्रम संवत् ७०० मे उनका बौद्धो के साथ महान् वाद हुआ था, जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है :

"विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥"

नन्दिसूत्र की चूर्णि मे प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् श्री जिनदासगणी महत्तर ने 'सिद्धिविनिश्चय' नाम के ग्रन्थ का बडे गौरव के साथ उल्लेख किया है जिसका रचनाकाल शक सवत् ५९८ अर्थात् वि० सं० ७३३ है, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है **"शकराज: पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्ययनचूर्णिः समाप्ता।"** चूर्णि का यह समय मुनि जिनविजयजी ने अनेक ताडपत्रीय प्रतियो के आधार से ठीक बतलाया है। अतः अकलकदेव का समय विक्रम की सातवी शताब्दी सुनिश्चित है।

श्रीपाल—यह वीरस्वामी के शिष्य और जिनसेन के सधर्मा गुरुभाई अथवा समकालीन विद्वान् थे। जिनसेनाचार्य ने जयधवला को इनके द्वारा सम्पादित बतलाया है। इससे यह बहुत बड़े विद्वान् आचार्य जान पडते हैं। यद्यपि सामग्री के अभाव से इनके विषय मे विशेष जानकारी नही है फिर भी यह विक्रम की ९वीं शताब्दी के विद्वान् अवश्य हैं।

पात्रकेसरी—आपका जन्म ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। आप बडे ही कुशाग्र-बुद्धि विद्वान् थे। आचार्य समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र को सुनकर आपकी श्रद्धा जैन धर्म पर हुई थी। पात्रकेसरी न्यायशास्त्र के पारगत और 'त्रिलक्षणकदर्शन' जैसे तर्कग्रन्थ के रचयिता थे। यद्यपि यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है तथापि तत्त्व-सग्रह के टीकाकार बौद्धाचार्य कमलशील ने पात्रकेसरी के इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उसकी कितनी ही कारिकाएँ 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' मे पायी जाती है। इस ग्रन्थ का विषय बौद्धसम्मत हेतु के त्रिरूपात्मक लक्षण का विस्तार के साथ खण्डन करना है। इनकी दूसरी कृति 'जिनेन्द्रगुणस्तुति' है, जो 'पात्रकेसरी स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र भी दार्शनिक चर्चा से ओतप्रोत है। इसमे स्तुति के द्वारा अपनी तर्क एवं गवेषणा पूर्ण युक्तियो द्वारा वस्तुतत्त्व का परिचय कराया गया है। स्तोत्र के पद्यो की संख्या कुल ५० है। उसमे अर्हन्त भगवान् के सयोगकेवली अवस्था के असाधारण गुणो का सयुक्तिक विवेचन किया गया है और केवली के वस्त्र-अलंकार, आभरण तथा शस्त्रादि से रहित प्रशान्त एवं वीतराग शरीर का वर्णन करते हुए कषायजय, सर्वज्ञता और युक्ति तथा शास्त्र-अविरोधी वचनो का सयुक्तिक विवेचन किया गया है। प्रसगानुसार साख्यादि दर्शनान्तरीय मान्यताओ की आलोचना भी की है। इस तरह ग्रन्थकार ने स्वयं इस स्तोत्र को मोक्ष का साधक बतलाया है। पात्रकेसरी देवनन्दी से उत्तरवर्ती और अकलंकदेव से पूर्ववर्ती हैं।

वादीसिंह—यह उच्चकोटि के कवि और वादिरूपी गजो के लिए सिंह थे। इनकी गर्जना वादिजनों के मुख बन्द करने वाली थी। एक वादीभसिंह मुनि पुष्पसेन के शिष्य थ। उनकी तीन कृतियाँ इस समय उपलब्ध हैं जिनमे दो गद्य और पद्यमय काव्यग्रन्थ हैं तथा 'स्याद्वादसिद्धि' न्याय का सुन्दर ग्रन्थ है। पर खेद है कि वह अपूर्ण ही प्राप्त हुआ है। यदि नामसाम्य के कारण ये दोनो ही विद्वान् एक हो तो इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी हो सकता है।[1]

वीरसेन—ये उस मूलसंघ पचस्तूपान्वय के आचार्य थे, जो सेनसघ के नाम से लोक मे विश्रुत हुआ है। ये आचार्य चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य तथा जिनसेनाचार्य के गुरु थे। वीरसेनाचार्य ने चित्रकूट मे एलाचार्य के समीप षटखण्डागम और कषायप्राभृत-जैसे सिद्धान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया था और षट्खण्डागम पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण 'धवला टीका' तथा कषायप्राभृत पर २० हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला टीका' लिखकर दिवंगत हुए थे। जयधवला की अवशिष्ट ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने बनाकर पूर्ण की। इनके सिवाय 'सिद्धभूपद्धति' नामक ग्रन्थ की टीका भी आचार्य वीरसेन ने बनायी थी जिसका उल्लेख गुणभद्राचार्य ने किया है। यह टीका अनुपलब्ध है। वीरसेनाचार्य का समय विक्रम की ९वी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

जयसेन—यह बडे तपस्वी, प्रशान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ और पण्डितजनो मे अग्रणी थे। हरिवशपुराण के कर्ता पुन्नाटसघी जिनसेन ने शतवर्षजीवी अमितसेन के गुरु जयसेन का उल्लेख किया है और उन्हे सद्गुरु इन्द्रियव्यापार-विजयी, कर्मप्रकृतिरूप आगम के धारक, प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और सम्पूर्ण शास्त्र-समुद्र के पारगामी बतलाया है जिससे वे महान् योगी-तपस्वी और प्रभावशाली सैद्धान्तिक आचार्य मालूम होते हैं। साथ ही कर्मप्रकृति रूप आगम के धारक होने के कारण सम्भवत वे किसी कर्मग्रन्थ के प्रणेता भी रहे हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। परन्तु उनके द्वारा किसी ग्रन्थ के रचे जाने का कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखने मे नही आया। इन उभय जिनसेनो द्वारा स्मृत प्रस्तुत जयसेन एक ही व्यक्ति जान पडते हैं। हरिवशपुराण के कर्ता ने जो अपनी गुरुपरम्परा दी है उससे स्पष्ट है कि शतवर्षजीवी अमितसेन और शिष्य कीर्तिषेण का यदि २५-२५ वर्ष का समय मान लिया जाये जो बहुत ही कम है और उसे हरिवशपुराण के रचनाकाल (शकसवत् ७०५ वि० ८४०) मे से कम किया जाये तो शक सवत् ६५५ वि० स० ७९० के लगभग जयसेन का समय हो सकता है। अर्थात् जयसेन विक्रम की आठवी शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

कविपरमेश्वर—आचार्य जिनसेन, कवियो के द्वारा पूज्य तथा कविपरमेश्वर प्रकट करते हुए उन्हे 'वागर्थसग्रह' नामक पुराण के कर्ता बतलाते हैं और आचार्य गुणभद्र ने इनके पुराण को गद्यकथारूप, सभी छन्द और अलकार का लक्ष्य, सूक्ष्म अर्थ तथा गूढ पदरचना वाला बतलाया है, जैसा कि उनके निम्न पद्य से स्पष्ट है—

"कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामात्रकं (मातृकं) पुरोश्चरितम्।
सकलच्छन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम् ॥१८॥"

आदिपुराण के प्रस्तुत सस्करण मे जो सस्कृत टिप्पण दिया है उसके प्रारम्भ मे भी टिप्पणकर्ता ने यही लिखा है "तदनु कविपरमेश्वरेण प्रहृद्यगद्यकथारूपेण सकथिता त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताश्रया परमार्थ-बृहत्कथा सगृह्य "।

चामुण्डराय ने अपने पुराण मे कविपरमेश्वर के नाम से अनेक पद्य उद्धृत किये हैं जिससे डॉ० ए०

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ६ किरण ८ मे प्रकाशित दरबारीलालजी कोठिया का 'वादीभसिंह सूरि की एक अधूरी अपूर्व कृति' शीर्षक लेख।

एन० उपाध्ये ने इनके पुराण को गद्यपद्यमय चम्पूग्रन्थ होने का अनुमान किया है। यह अनुमान प्राय. ठीक जान पडता है और तभी गुणभद्र द्वारा प्रदत्त 'सकलच्छन्दोऽलङ्कृतिलक्ष्यम्' विशेषण की यथार्थता जान पड़ती है। कविपरमेश्वर का आदिपंप, अभिनवपंप, नयसेन, अग्गलदेव और कमलभव आदि अनेक कवियो ने आदर के साथ स्मरण किया है जिससे वे अपने समय के महान् विद्वान् जान पडते हैं। इनका समय अभी निश्चित नही है फिर भी जिनसेन के पूर्ववर्ती तो हैं ही।

आदिपुराण[1] में वर्णित देशविभाग में आये हुए कुछ देशों का परिचय

सुकोसल—मध्यप्रदेश को सुकोसल कहते हैं। इसका दूसरा नाम महाकोसल भी है।

अवन्ती—उज्जैन के पार्श्ववर्ती प्रदेश को अवन्ती कहते थे। अवन्ती नगरी (उज्जैन) उसकी राजधानी थी।

पुण्ड्र—आजकल के बगाल का उत्तर भाग पुण्ड्र कहलाता था। इसका दूसरा नाम गौड देश भी था।

कुरु—यह सरस्वती के बायी ओर अनेक कोसो का मैदान है। इसको कुरुजागल भी कहते हैं। हस्तिनागपुर इसकी राजधानी रही है।

काशी—बनारस के चारो ओर का प्रान्त इस देश के अन्तर्गत था। इस देश की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी।

कलिङ्ग—मद्रास प्रान्त का उत्तर भाग और उत्कल (उडीसा) का दक्षिण भाग पहले कलिङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजधानी कलिङ्ग नगर (राजमहेन्द्री) थी। इसमे महेन्द्रमाली नामक गिरि है।

अङ्ग—मगध देश का पूर्व भाग अङ्ग कहलाता था। इसकी प्रधान नगरी चम्पा थी जो भागलपुर के पास है।

बङ्ग—बङ्गाल का पुराना नाम बङ्ग है। यह सुह्म देश के पूर्व मे है। इसकी प्राचीन राजधानी कर्णस्वर्ण (वनसोना) थी। इस समय कालीघट्टपुरी (कलकत्ता) राजधानी है।

सुह्म—यह वह देश है जिसमे कपिशा (कोसिया) नदी बहती है। ताम्रलिप्ती (तामलूक) इसकी राजधानी थी।

काश्मीर—यह प्रान्त भारत की उत्तर सीमा पर है। इसका अब भी काश्मीर ही नाम है। इसकी राजधानी श्रीनगर है।

आनर्त—प्राचीन काल मे गुर्जर (गुजरात) के तीन भाग थे १ आनर्त, २ सुराष्ट्र (काठियावाट) और ३ लाट। आनर्त गुर्जर का उत्तर भाग है। द्वारावती (द्वारिका) इसकी प्रधान नगरी है।

वत्स—प्रयाग के उत्तर भाग का मैदान वत्स देश कहलाता था। इसकी राजधानी कौशाम्बी (कोसम) थी।

पचनद—इसका पुराना नाम पचनद और आधुनिक नाम पंजाब है। इसमे वितस्ता आदि पाँच नदियाँ हैं इसलिए इसका नाम पञ्चनद पडा। इसकी पाँच नदियो के मध्य मे कुलूत, मद्र, आरट्ट, यौधेय आदि अनेक प्रदेश थे। लवपुर (लाहौर), कुशपुर (कुशावर), तक्षशिला (टेक्सिला) और मूल-स्थान (मुल्तान) आदि इसके वर्तमानकालीन प्रधान नगर हैं।

---

१ इस प्रकरण में प० सीताराम जयराम जोशी एम० ए० और प० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज एम० ए० के 'सस्कृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' से सहायता ली गयी है।

मालव—यह मालवा का नाम है। पहले अवन्ती इसी के अन्तर्गत दूसरे नाम से प्रसिद्ध था पर अब वह मालव मे सम्मिलित है। उज्जैन, दशपुर (मन्दसौर), धारानगरी (धार), इन्द्रपुर (इन्दौर) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं।

पंचाल—यह कुरुक्षेत्र के पूर्व मे है। यह दक्षिण पञ्चाल और उत्तरपञ्चाल इन दो विभागो में था। इसका विस्तार चर्मण्वती नदी तक था। कान्यकुब्ज (कन्नौज) इसी मे है। उत्तरपञ्चाल की अहिच्छत्रा और दक्षिण पञ्चाल की काम्पिल्य राजधानियाँ थी।

दशार्ण—यह प्रदेश मालवा का पूर्व भाग है। इस प्रदेश मे वेत्रवती (बेतवा) नदी बहती है। कुछ स्थानो मे दशार्ण (धसान) नदी भी बही है और अन्त मे चलकर वेत्रवती मे जा मिली है। विदिशा (भेलसा) इसकी राजधानी थी।

कच्छ—पश्चिमी समुद्र तट का प्रदेश कच्छ कहलाता था। यह कच्छ काठियावाड के नाम से अब भी प्रसिद्ध है।

मगध—विहार प्रान्त का गङ्गा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। इसकी राजधानी पाटली-पुत्र (पटना) थी। गया और उरुविल्व (बुद्धगया) इसी प्रान्त मे थे।

विदर्भ—इसका आधुनिक नाम बरार है। इसकी प्राचीन राजधानी विदर्भपुर (बीदर) अथवा कुडिनपुर थी।

महाराष्ट्र—कृष्णा नदी से नर्मदा तक का विस्तृत मैदान महाराष्ट्र कहलाता था।

सुराष्ट्र—मालवा का पश्चिमी प्रदेश सौराष्ट्र या सुराष्ट्र कहलाता था। आजकल इसको सौराष्ट्र (काठियावाड) कहते हैं। रैवतक (गिरनार) क्षेत्र इसी मे है। सौराष्ट्र के जिस भाग मे द्वारिका है उसे आनर्त कहते थे।

कोङ्कण—पश्चिमी समुद्रतट पर यह प्रदेश सूर्यपतन (सूरत) से रत्नागिरि तक विस्तृत है। महाम्बा पुर (बम्बई) तथा कल्याण इसी कोकण देश मे हैं।

वनवास—कर्नाटक प्रान्त का एक भाग वनवास कहलाता था। आजकल यह वनौसी कहलाता है। गुणभद्राचार्य के समय इसकी राजधानी वकापुर थी जो धारवाड जिले मे है।

आन्ध्र—यह गोदावरी तथा कृष्णा नदी के बीच मे था। इसकी राजधानी अन्ध्रनगर (वेंगी) थी। इसका अधिकाश भाग भाग्यपुर (हैदराबाद) राज्य मे अन्तर्भूत है। इसी को त्रैलिङ्ग (तेलंग) देश भी कहते हैं।

कर्णाट—यह आन्ध्रदेश के दक्षिण वा पश्चिम का भाग था। वनवास तथा महिषग अथवा महीशूर (मैसूर) इसी के अन्तर्गत हैं। इसकी राजधानियाँ महिषपुर और श्रीरगपत्तन थी।

कोसल—यह उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल इस प्रकार दो भागो मे विभक्त था। योध्या, शरावती (श्रावस्ती), लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं। यहाँ गोमती, तमसा और सरयू नदियाँ बहती हैं। कुशावती का समीपवर्ती प्रदेश दक्षिण कोसल कहलाता था। तथा अयोध्या, लखनऊ आदि के समीपवर्ती प्रदेश का नाम उत्तर कोसल था।

चोल—कर्णाटक का दक्षिण पूर्वभाग अर्थात् मद्रास शहर, उसके उत्तर के कुछ प्रदेश और मैसूर रियासत का बहुत कुछ भाग पहले चोल नाम से प्रसिद्ध था।

केरल—कृष्णा और तुङ्गभद्रा के दक्षिण मे विद्यमान भूभाग, जो आजकल मद्रास के अन्तर्गत है, पाण्ड्य केरल और सतीपुत्र नाम से प्रसिद्ध था।

शूरसेन—मथुरा का समीपवर्ती प्रदेश शूरसेन देश कहलाता था। गोकुल, वृन्दावन और अग्रवण (आगरा) इसी प्रदेश मे है।

विदेह—द्वारवंग (दरभगा) के समीपवर्ती प्रदेश को विदेह कहते थे। मिथिला या जनकपुरी इसी देश मे है।

सिन्धु—यह देश अब भी सिन्ध नाम से प्रसिद्ध है, और कराची उसकी राजधानी है।

गान्धार (कन्दहार)—इसका आधुनिक नाम अफगानिस्तान है। यह सिन्धु नदी और काश्मीर के पश्चिम मे है। यहाँ की प्राचीन राजधानियाँ पुरुषपुर (पेशावर) और पुष्करावर्त (हस्तनगर) थी।

यवन—यह यूनान (ग्रीक) का पुराना नाम है।

चेदी—मालवा की आधुनिक 'चन्देरी' नगरी का समीपवर्ती प्रदेश चेदी देश कहलाता था। अब यह ग्वालियर राज्य मे है।

पल्लव—दक्षिण मे काची के समीपवर्ती प्रदेश को पल्लव देश कहते थे। यहाँ इतिहास प्रसिद्ध पल्लव-वंशी राजाओ का राज्य रहा है।



काम्बोज—इसका आधुनिक नाम बलोचिस्तान है।

आरट्ट—पंजाब के एक प्रदेश का नाम आरट्ट था।

तुरुष्क—इसका आधुनिक नाम तुर्किस्तान है।

शक (शकस्थान)—इसका आधुनिक नाम बेक्ट्रिया है।

सौवीर—सिन्ध देश का एक भाग सौवीर देश कहलाता था।

केकय—पंजाब प्रान्त की वितस्ता (झेलम) और चन्द्रभागा (चनाव) नदियो का अन्तरालवर्ती प्रदेश पहले केकय नाम से प्रसिद्ध था। गिरिव्रज, जिसका कि आजकल जलालपुर नाम है, इसकी राजधानी थी।

आदिपुराण पर टिप्पण और टीकाएँ

आदिपुराण जैनागम के प्रथमानुयोग ग्रन्थो मे सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह समुद्र के समान गम्भीर है। अतः इसके ऊपर जिनसेन के परवर्ती आचार्यों द्वारा टिप्पण और टीकाओ का लिखा जाना स्वाभाविक है। सम्पादन करते समय मुझे आदिपुराण के टिप्पण की ३ तथा संस्कृत टीका की १ प्रति प्राप्त हुई। सम्पादनसामग्री में 'ट', 'क' और 'ख' नामवाली जिन प्रतियो का परिचय दिया गया है वे टिप्पणवाली प्रतियाँ हैं और 'द' सांकेतिक नामवाली प्रति संस्कृत टीका की प्रति है। 'ट' और 'क' प्रतियो की लिपि कर्णाटक लिपि है। 'ट' प्रति मे "श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे। धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः ससारभीमुषे।" इस आद्यश्लोक पर विस्तृत टिप्पणी दी हुई है जिसमे उक्त श्लोक के अनेक अर्थ किये गये है। 'क' प्रति मे आद्यश्लोक का 'ट' प्रति-जैसा विस्तार नही है। 'ख' प्रति नागरी लिपि मे लिखी हुई है। इस प्रति के अन्त मे लिपि का जो सं० १२२४ वै० शु० ७ दिया हुआ है उससे यह बहुत प्राचीन जान पड़ती है। मंगल श्लोक के विस्तृत व्याख्यान को छोड़कर बाकी टिप्पण 'ट' प्रति के टिप्पण से प्रायः मिलते-जुलते हैं। आदिपुराण के इस संस्करण मे जो टिप्पण दिया गया है उसमे आद्यश्लोक का टिप्पण 'ट' प्रति से लिया गया है और बाकी टिप्पण 'क' प्रति से। 'क' 'ख' प्रति के टिप्पण 'ट' प्रति के टिप्पण से प्राचीन हैं। आद्यश्लोक के टिप्पण मे (पृष्ठ ५) "पंचसुवर्त्यै स्वयं ये, आचारानाचरन्त, परसमकरणमाचारयन्ते मुमुक्षून्। लोकाग्रगण्यशरण्यान् गणधरवृषभान् इत्याशाधरैर्निरूपणात्"—इन वाक्यो द्वारा प० आशाधरजी के प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ का श्लोकांश उद्धृत किया गया है। इससे यह सिद्ध है कि उक्त टिप्पण प० आशाधरजी के बाद की रचना है। इन तीनो प्रतियो के आदि-अन्त मे कही भी टिप्पणकर्ता के नाम का उल्लेख नही मिला, अतः यह कहने मे असमर्थ हूँ कि यह टिप्पण किसके हैं और कितने प्राचीन हैं।

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्रो॰ वेल्हणकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोश' नामक जो पुस्तक अंगरेज़ी मे प्रकाशित हुई है उसमे आदिपुराण की चार टीकाओ का उल्लेख है। (१) ललितकीर्ति की टीका, जिसका सम्पादन-सामग्री शीर्षक प्रकरण के अन्तर्गत 'द' प्रति के रूप मे परिचय दिया गया है। इसके विषय मे आगे कुछ और भी स्पष्ट लिखा जायेगा। (२) दूसरा टिप्पण प्रभाचन्द्र का है। (३) तीसरा अनन्त ब्रह्मचारी का और (४) चौथा हरिषेण का है। इनके अतिरिक्त एक मंगला टीका का भी उल्लेख है।

ये टीका और टिप्पण कहाँ हैं तथा 'ट', 'क' और 'ख' प्रतियो के टिप्पण इनमे-से कौन-कौन हैं इसका स्पष्ट उल्लेख तब तक नही किया जा सकता जब तक कि उक्त सब प्रतियो का निरीक्षण-परीक्षण नहीं कर लिया जाये। प्राचीन शास्त्रभाण्डारों के अध्यक्षो से उक्त प्रतियों के परिचय भेजने की मैं प्रबल प्रेरणा करता हूँ।

टिप्पण की उक्त स्वतन्त्र प्रतियो के सिवाय अन्य मूल प्रतियो के आजू-बाजू मे भी कितने ही पदो के टिप्पण लिखे मिले हैं जिनका कि उल्लेख मैंने 'प', 'अ' और 'इ' प्रति के परिचय मे किया है। इन टिप्पणो मे कही समानता है और कही असमानता भी।

'द' नामवाली जो सस्कृत टीका की प्रति है उसके अन्त मे अवश्य ही टीकाकार ने अपनी प्रशस्ति दी है जिससे विदित होता है कि उसके कर्ता श्री ललितकीर्ति भट्टारक हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

"भट्टारक ललितकीर्ति काष्ठासघ स्थित माथुरगच्छ और पुष्करगण के विद्वान् तथा भट्टारक जगत्कीर्ति के शिष्य थे। इन्होने आदिपुराण और उत्तरपुराण—पूरे महापुराण पर टिप्पण लिखा है। पहला टिप्पण महापुराण के ४२ पर्वो का है जिसे उन्होंने स. १८७४ के मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा रविवार के दिन समाप्त किया था और दूसरा टिप्पण ४३ वें पर्व तक का है जिसे उन्होंने १८८६ मे समाप्त किया है। इसके सिवाय उत्तरपुराण का टिप्पण स॰ १८८८ मे पूर्ण किया है।"

आदिपुराण की प्राचीन हिन्दी टीका पं॰ दौलतरामजी कृत है जो मुद्रित हो चुकी है। यह टीका श्लोको के क्रमाक देकर लिखी गयी है। इसमे मूल श्लोक न देकर उनके अक ही दिये हैं। स्वर्गीय पं॰ कलप्पा भरमप्पा 'निटवे' द्वारा इसकी एक मराठी टीका भी हुई थी जो जैनेन्द्र प्रेस कोल्हापुर से प्रकाशित हुई थी। इसमे सस्कृत श्लोक देकर उनके नीचे मराठी अनुवाद छापा गया था। इनके सिवाय एक हिन्दी टीका श्री प॰ लालारामजी शास्त्री द्वारा लिखी गयी है जो कि ऊपर सामूहिक मूल श्लोक देकर नीचे श्लोक क्रमाकानुसार हिन्दी अनुवादसहित मुद्रित हुई थी। यह सस्करण मूलसहित होने के कारण जनता को अधिक पसन्द आया था। अब दुष्प्राप्य है।

आदिपुराण और वर्णव्यवस्था

वर्णोत्पत्ति

जैनधर्म की मान्यता है कि सृष्टि अपने रूप मे अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इसमे अवान्तर विशेषताएँ होती रहती हैं, जो बहुत सारी प्राकृतिक होती हैं और बहुत कुछ पुरुषप्रयत्नजन्य भी। जैन शास्त्रो मे उल्लेख है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र मे अवसर्पिणी के रूप में काल का परिवर्तन होता रहता है। इनके प्रत्येक के सुषमा आदि छह-छह भेद होते हैं। यह अवसर्पिणी काल है। जब इसका पहला भाग यहाँ बीत रहा था तब उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था थी, जब दूसरा काल आया तब मध्यम भोगभूमि आयी और जब तीसरा काल आया तब जघन्य भोगभूमि हुई। तीसरे काल का जब पल्य के आठवे भाग प्रमाण काल बाकी रह गया तब क्रम से १४ मनुओ-कुलकरो की उत्पत्ति हुई। उन्होंने उस समय अपने विशिष्ट वैदुष्य से जनता को कितनी ही बातें सिखलायी। चौदहवें कुलकर नाभिराज थे। [illegible] समय तक कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, औ-

लोग बिना बोये अपने-आप उत्पन्न अनाज से आजीविका करते थे। उन्ही नाभिराज के भगवान् ऋषभदेव उत्पन्न हुए। आप प्रथम तीर्थंकर थे। आपके समय मे वह बिना बोये उत्पन्न होनेवाला धान्य भी नष्ट हो गया। लोग क्षुधा से आतुर होकर इतस्तत. भ्रमण करने लगे। कुछ लोग अपनी दु खगाथा सुनाने के लिए नाभिराज के पास पहुँचे। वे सब लोगो को भगवान् ऋषभदेव के पास ले गये। भगवान् ऋषभदेव ने उस समय विदेहक्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर यहाँ के लोगो को भी वही व्यवस्था बतलायी और यह कहते हुए लोगो को समझाया कि देखो अब तक तो यहाँ भोगभूमि थी, कल्पवृक्षो से आप लोगो को भोगोपभोग की सामग्री मिलती रही पर अब कर्मभूमि प्रारम्भ हो रही है—यह कर्म करने का युग है, कर्म—कार्य किये बिना इस समय कोई जीवित नही रह सकता। असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म हैं। इन कर्मों के करने से आप लोग अपनी आजीविका चलाये। ये तरह-तरह के धान्य-अनाज अब तक बिना बोये उत्पन्न होते रहे परन्तु अब आगे से बिना बोये उत्पन्न न होंगे। आप लोगो को कृषि—खेतीकर्म से धान्य पैदा करने होंगे। इन गाय, भैंस आदि पशुओ से दूध निकालकर उसका सेवन जीवनोपयोगी होगा। अब तक सबका जीवन व्यक्तिगत जीवन था पर अब सामाजिक जीवन के बिना कार्य नही चल सकेगा। सामाजिक संघटन से ही आप लोग कर्मभूमि में सुख और शान्ति से जीवित रह सकेंगे। आप लोगो मे जो बलवान् हैं वे शस्त्र धारण कर निर्बलो की रक्षा का कार्य करें, कुछ लोग उपयोगी वस्तुओ का सग्रह कर यथा समय लोगो को प्रदान करें अर्थात् व्यापार करें, कुछ लोग लिपि-विद्या के द्वारा अपना काम चलायें, कुछ लोग लोगो की आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली हल, शकट आदि वस्तुओ का निर्माण करें, और कुछ लोग नृत्य-गीतादि आह्लादकारी विद्याओं के द्वारा अपनी आजीविका करें। लोगो को भगवान् के द्वारा बतलाये हुए षट्कर्म पसन्द आये। वे उनके अनुसार अपनी-अपनी आजीविका करने लगे। भोगभूमि के समय लोग एक सदृश योग्यता के धारक होते थे अतः किसी को किसी अन्य के सहयोग की आवश्यकता नही होती थी परन्तु अब विसदृश शक्ति के धारक लोग उत्पन्न होने लगे। कोई निर्बल, कोई सबल, कोई अधिक परिश्रमी, कोई कम परिश्रमी, कोई अधिक बुद्धिमान् और कोई कम बुद्धिमान्। उद्दण्ड सबलो से निर्बलो की रक्षा करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। शिल्पवृत्ति से तैयार हुए माल को लोगो तक पहुँचाने की आवश्यकता जान पड़ने लगी। खेती तथा शिल्प आदि कार्यों के लिए पारस्परिक जनसहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई तब भगवान् ऋषभदेव ने, जो कि वास्तविक ब्रह्म थे, अपनी भुजाओ मे शस्त्र धारण कर लोगो को शिक्षा दी कि आततायियो से निर्बल मानवो की रक्षा करना बलवान् मनुष्य का कर्तव्य है। कितने ही लोगो ने यह कार्य स्वीकार किया। ऋषभदेव भगवान् ने ऐसे लोगो का नाम क्षत्रिय रखा। अपनी जंघाओ से चलकर लोगो को शिक्षा दी कि सुविधा के लिए सृष्टि को ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता है जो तैयार हुई वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर वहाँ के लोगो को सुख-सुविधा पहुँचायें। बहुत-से लोगो ने यह कार्य करना स्वीकृत किया। भगवान् ने ऐसे लोगो को वैश्य संज्ञा दी। इसके बाद उन्होने बतलाया कि यह कर्मयुग है और कर्म बिना सहयोग के हो नही सकता अत. पारस्परिक सहयोग करने वालो की आवश्यकता है। बहुत-से लोगों ने इस सेवावृत्ति को अपनाया। आदि ब्रह्मा ने उन्हे शूद्र सज्ञा दी। इस तरह कर्मभूमि रूप सृष्टि के प्रारम्भ मे आदिब्रह्मा ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित किये। आगे चलकर भरत चक्रवर्ती के मन मे यह बात आयी कि मैंने दिग्विजय के द्वारा बहुत-सा धन इकट्ठा किया है। अन्य लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार यथाशक्य धन एकत्रित करते हैं। आखिर उसका त्याग कहाँ किया जाये? उसका पात्र किसे बनाया जाय? इसी के साथ उन्हे ऐसे लोगो की भी आवश्यकता अनुभव मे आयी कि यदि कुछ लोग बुद्धिजीवी हो तो उनके द्वारा अन्य त्रिवर्गों को सदा बौद्धिक सामग्री मिलती रहेगी। इसी विचार के अनुसार उन्होने समस्त लोगों को अपने घर आमन्त्रित किया और मार्ग मे हरी घास उगवा दी। 'हरी घास मे भी जीव होते है, हमारे चलन पर उन जीवो को बाधा पहुँचेगी' इस बात का विचार किये बिना ही बहुत-से लोग भरत महाराज के महल के भीतर चले गये परन्तु कुछ लोग ऐसे भी रहे जो हरित घास वाले मार्ग से भीतर नही गये, बाहर ही खडे रहे। भरत महाराज ने जब भीतर,

न आने का कारण पूछा तब उन्होंने बतलाया कि हमारे आने से हरित घास के जीवों को बाधा पहुँचती है इसलिए हम लोग नही आये। महाराज भरत ने उन सबकी दयावृत्ति की मान्यता देकर उन्हे दूसरे प्रासुक मार्ग से अन्दर बुलाया और उन सबकी प्रशंसा तथा सम्मान कर उन्हे ब्राह्मण संज्ञा दी तथा उनका अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि कार्य निश्चित किया। इस घटना का वर्णन जिनसेनाचार्य ने अपने इसी आदिपुराण के पर्व १६, पद्य २४३-२४६ मे किया है।

जन्मना कर्मणा वा

यह वर्णव्यवस्था जन्म से है या कर्म से, इस विषय मे आजकल दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। कुछ लोगो का ऐसा ध्यान है कि वर्णव्यवस्था जन्म से ही है अर्थात् जो जिस वर्ण मे उत्पन्न हो गया वह चाहे जो अनुकूल प्रतिकूल कर्म करे उस भव मे उसी वर्ण मे रहेगा, मरणोत्तर काल मे ही उसका वर्ण-परिवर्तन हो सकेगा। और कुछ लोग ऐसा ध्यान रखते हैं कि वर्णव्यवस्था गुण और कर्म के अधीन है। षट् कर्मों को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही चतुर्वर्ण की स्थापना हुई थी, अतः जिसके जैसे अनुकूल प्रतिकूल कर्म होंगे उसका वैसा ही वर्ण होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से जब इन दोनो धाराओ पर विचार करते हैं तो कर्मणा वर्णव्यवस्था की बात अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। क्योकि ब्राह्मणो तथा महाभारत आदि मे जहाँ भी इसकी चर्चा की गयी है वहाँ कर्म की अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था मानी गयी है। उदाहरण के लिए कुछ उल्लेख देखिए :

महाभारत मे भारद्वाज भृगु महर्षि से प्रश्न करते हैं कि यदि सित अर्थात् सत्त्वगुण, लोहित अर्थात् रजोगुण, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्र और कृष्ण अर्थात् तमोगुण इन चार वर्णों के वर्ण से वर्ण-भेद माना जाता है तो सभी वर्णो मे वर्णसंकर दिखाई देता है। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, श्रम आदि हम सभी के होते हैं फिर वर्णभेद क्यो होता है ? हम सभी का शरीर पसीना, मूत्र, पुरीष, कफ और रुधिर को झराता है फिर वर्णभेद कैसा ? जंगम और स्थावर जीवो की असख्यात जातियाँ हैं उन विविध वर्ण वाली जातियो के वर्ण का निश्चय कैसे किया जाये ?

उत्तर मे भृगु महर्षि कहते हैं :

वस्तुतः वर्णों मे कोई विशेषता नही है। सबसे पहले ब्रह्मा ने इस संसार को ब्राह्मण वर्ण ही सृजा था परन्तु अपने-अपने कर्मों से वह विविध वर्णभेद को प्राप्त हो गया। जिन्हे कामभोग प्रिय है, स्वभाव से तीक्ष्ण, क्रोधी तथा प्रियसाहस हैं, स्वधर्म-सत्त्वगुण प्रधान धर्म का त्याग करने वाले हैं और रक्ताग अर्थात् रजोगुण-प्रधान हैं वे क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए। जो गो आदि से आजीविका करते हैं, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्रगुण के धारक हैं, खेती आदि करते हैं और स्वधर्मका पालन नही करते हैं वे द्विज वैश्यपने को प्राप्त हो गये। इनके सिवाय जिन्हें हिंसा, झूठ आदि प्रिय है, लुब्ध हैं, समस्त कार्य कर अपनी आजीविका करते हैं, कृष्ण अर्थात् तमोगुणप्रधान हैं, और शौच—पवित्रता से परिभ्रष्ट हैं वे शूद्रपने को प्राप्त हो गये। इस प्रकार इन कार्यों से पृथक्-पृथक्पने को प्राप्त हुए द्विज वर्णान्तर को प्राप्त हो गये। धर्म तथा यज्ञक्रिया का इन सभी के लिए निषेध नही है।[1]

---

१. भारद्वाज उवाच

"चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते। सर्वेषा खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥६॥
कामः क्रोधः भयं लोभ- शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः। सर्वेषा नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥७॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्त सशोणितम्। तनु. क्षरति सर्वेषा कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥८॥
जङ्गमानाममसंख्येयाः स्थावराणा च जातयः। तेषा विविधवर्णाना कुतो वर्णविनिश्चय. ॥९॥" →

इसी महाभारत का एक उदाहरण और देखिए :

भारद्वाज भृगु महर्षि से पूछते हैं कि हे वक्तृश्रेष्ठ, हे ब्राह्मण ऋषे, कहिए कि यह पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किस कारण से होता है ?

उत्तर मे भृगु महर्षि कहते हैं :

"जो जातकर्म आदि संस्कारो से संस्कृत है, पवित्र है, वेदाध्ययन से सम्पन्न है, इज्या आदि षट्कर्मों मे अवस्थित है, शौचाचार मे स्थित है, यज्ञावशिष्ट वस्तु को खाने वाला है, गुरुओ को प्रिय है, निरन्तर व्रत धारण करता है, और सत्य मे तत्पर रहता है वह ब्राह्मण कहलाता है। सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, लज्जा, दया और तप जिसमे दिखाई दे वह ब्राह्मण है। जो क्षत्रिय कर्म का सेवन करता है, वेदाध्ययन से संगत है, दानआदान मे जिसकी प्रीति है वह क्षत्रिय कहलाता है। व्यापार तथा पशुरक्षा जिसके कार्य हैं, जो खेती आदि मे प्रेम रखता है, पवित्र रहता है और वेदाध्ययन से सम्पन्न है वह वैश्य कहलाता है। खाद्य-अखाद्य सभी मे जिसकी प्रीति है, जो सबका काम करता है, अपवित्र रहता है, वेदाध्ययन से रहित है और आचारवर्जित है वह शूद्र माना जाता है। इन श्लोकों की संस्कृत टीका मे स्पष्ट किया गया है कि त्रिवर्ण मे धर्म ही वर्णविभाग का कारण है, जाति नहीं।[1]

इसी प्रकार वह्निपुराण का एक प्रकरण देखिए, जिसमे स्पष्ट लिखा है :

"हे राजन्, द्विजत्व का कारण न जाति है, न कुल है, न स्वाध्याय है, न शास्त्रज्ञान है, किन्तु वृत्त—सदाचार ही उसका कारण है। वृत्तहीन दुरात्मा मानव का कुछ क्या कर देगा ? क्या सुगन्धित फूलो मे कीड़े

→भृगुरुवाच

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥१०॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः। त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥११॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥१३॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः। धर्मो यज्ञक्रियास्तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥१४॥"

—म० भा०, शा० प०, अ० १८८

1. "भारद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम। वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद्ब्रूहि वदतां वर ॥१॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः। वेदाध्ययनसंपन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥२॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः। नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥३॥
सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥४॥
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः। दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥५॥
वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः। वेदाध्ययनसंपन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥६॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः। त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥७॥
(द्विजे—त्रैवर्णिके धर्म एव वर्णविभागे कारणम् न जातिरित्यर्थः) सं० टी०"

—म० भा०, शा० प०, अ० १८९

पैदा नही होते ? राजन्, एकान्त से यही एक बात ग्राह्य नही है कि यह पढता है इसलिए द्विज है, चारित्र की खोज की जाये। क्या राक्षस नही पढते ? नट की तरह दुरात्मा मनुष्य के बहुत पढने से क्या ? उसी ने पढा और उसी ने सुना जो कि क्रिया का पालन करता है। जिस प्रकार कपाल मे रखा हुआ पानी और कुत्ते की मशक मे रखा हुआ दूध दूषित होता है उसी प्रकार वृत्तहीन मनुष्य का श्रुत भी स्थान के दोष से दूषित होता है। दुराचारी मनुष्य भले ही चतुर्वेदो का जानकार हो, यदि दुराचारी है तो वह शूद्र से भी कही अधिक नीच है। इसलिए हे राजन्, वृत्त को ही ब्राह्मण का लक्षण जानो।"[1]

वृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र मे भी उल्लेख है :

"हे राजन्! जाति नही पूजी जाती, गुण ही कल्याण के करने वाले हैं, वृत्त—सदाचार मे स्थित चाण्डाल को भी देवो ने ब्राह्मण कहा है।"[2]

शुक्रनीतिसार का भी उल्लेख द्रष्टव्य है :

"न केवल जाति को देखना चाहिए और न केवल कुल को। कर्म, शील और दया, दाक्षिण्य आदि गुण ही पूज्य होते हैं, जाति और कुल नही। जाति और कुल के ही द्वारा श्रेष्ठता नही प्राप्त की जा सकती[3]।"

ब्राह्मण कौन हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए वैशम्पायन महर्षि महाभारत मे युधिष्ठिर के प्रति कहते हैं—

"सत्यशौच, दयाशौच, इन्द्रियनिग्रह शौच, सर्वप्राणिदया शौच और तप शौच ये पांच प्रकार के शौच हैं। जो द्विज इस पञ्चलक्षण शौच से सम्पन्न होता है हम उसे ब्राह्मण कहते है। हे युधिष्ठिर, शेष द्विज शूद्र हैं। मनुष्य न कुल से ब्राह्मण होता है और न जाति मे किन्तु क्रियाओ से ब्राह्मण होता है। हे युधिष्ठिर, वृत्त मे स्थिर रहने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण है। पहले यह सारा ससार एक वर्णात्मक था परन्तु कर्म और क्रियाओ की विशेषता से चतुर्वर्ण हो गया। शीलसम्पन्न गुणवान् शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है और क्रियाहीन ब्राह्मण शूद्र से भी नीच हो सकता है। जिसने पञ्चेन्द्रिय रूप भयानक सागर पार कर लिया है—अर्थात् पञ्चेन्द्रियो को वश मे कर लिया है, भले ही शूद्र हो उसके लिए अपरिमित दान देना चाहिए। हे राजन्,

---

१ "न जाति र्न कुल राजन् न स्वाध्याय. श्रुत न च। कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम्॥
किं कुल वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः। कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु॥
नैकमेकान्ततो ग्राह्य पठन हि विशाम्पते। वृत्तमन्विष्यता तात रक्षोभिः किं न पठ्यते॥
बहुना किमधीतेन नटस्येव दुरात्मनः। तेनाधीतं श्रुत चापि यः क्रियामनुतिष्ठति॥
कपालस्थ यथा तोय श्वदृतौ च यथा पयः। दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीन तथा श्रुतम्॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्त शूद्रादल्पतर. स्मृत·। तस्माद् विद्धि महाराज वृत्त ब्राह्मणलक्षणम्॥"

—वह्निपुराण

२. "न जातिः पूज्यते राजन् गुणा· कल्याणकारकाः। चण्डालमपि वृत्तस्थ तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥"

—वृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र

३. "नैव जातिर्न च कुलं केवल लक्षयेदपि। कर्मशीलगुणाः पूज्याः तथा जातिकुले न हि॥
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्व प्रतिपद्यते।"

—शु० नी०, सा० अ० ३

जाति नहीं देखी जाती। गुण ही कल्याण करने वाले हैं इसलिए शूद्र से उत्पन्न हुआ मनुष्य भी यदि गुणवान् है तो ब्राह्मण है[1]।"

शुक्रनीति में भी इस आशय का एक श्लोक और आया है :

"मनुष्य, जाति से न ब्राह्मण हो सकता है न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र और न म्लेच्छ। किन्तु गुण और कर्म से ही ये भेद होते हैं[2]।"

भगवद्गीता में भी यही उल्लेख है कि "मैंने गुण और कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसमें वर्णव्यवस्था को अत्यन्त महत्व मिला उस वैदिक संस्कृति में वेद, ब्राह्मण और महाभारत-युग तक गुण और कर्म की अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था अंगीकृत की गयी है। परन्तु ज्यों ही स्मृति-युग आया और काल के प्रभाव से लोगों के आत्मिक गुणों में न्यूनता, सद्वृत्त-सदाचार का ह्रास तथा अहंकार आदि दुर्गुणों की प्रवृत्ति होती गयी त्यों-त्यों गुणकर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था पर पर्दा पड़ता गया। अब वर्णव्यवस्था का आधार गुणकर्म न रहकर जाति हो गया। अब नारा लगाया जाने लगा कि "ब्राह्मण जन्म से ही देवताओं का देवता है।"[4] इस गुणकर्मवाद और जातिवाद का एक सन्धिकाल भी रहा है जिसमें गुण और कर्म के साथ योनि अथवा जाति का भी प्रवेश हो गया। जैसा कि कहा गया है :

"जो मनुष्य जाति, कुल, वृत्त-स्वाध्याय और श्रुत से युक्त होता है वही द्विज कहलाता है।"[5]

"विद्या, योनि और कर्म ये तीनों ब्राह्मणत्व के करने वाले हैं।"[6]

"जन्म, शारीरिक वैशिष्ट्य, विद्या, आचार, श्रुत और यथोक्त धर्म से ब्राह्मणत्व किया जाता है।"[7]

---

१. "सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूते दयाशौचं तप शौचं च पंचमम् ॥
पंचलक्षणसंपन्न ईदृशो यो भवेत् द्विजः। तमहं ब्राह्मणं ब्रूयां शेषा शूद्रा युधिष्ठिर ॥
न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्। चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ॥
एकवर्णमिदं विश्वं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर। कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥
शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्। ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रादप्यवरो भवेत् ॥
पंचेन्द्रियार्णवं घोरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान्। तस्मै दानं प्रदातव्यमप्रमेयं युधिष्ठिर ॥
न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः। तस्माच्छूद्रप्रसूतोऽपि ब्राह्मणो गुणवान्नरः"

—महाभारत

२ "न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा। न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥"

—शुक्रनीति

३ "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"—भ० गी० ४।१३।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥"—भ० गी० १८।४१।

४ "ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम्।"—मनु० ११।८४।

५. "जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च। धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥"

—अग्नि पु०

६. "विद्या योनिः कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारकम्।" पिंगलसूत्रव्याख्यायां स्मृतिवाक्यम्।

७. "जन्मशारीरविद्याभिराचारेण श्रुतेन च। धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥"

—पराशरमाधवीय ६,१६

"तप, श्रुत और जाति ये तीन ब्राह्मणपन के कारण हैं।"[1]

परन्तु धीरे-धीरे गुण और कर्म दूर होकर एक योनि अर्थात् जाति ही वर्णव्यवस्था का कारण रह गया। आज का ब्राह्मण मांस मछली खाये, मदिरापान करे, द्यूतक्रीडा, वेश्यासेवन आदि कितने ही दुराचार क्यो न करे परन्तु वह ब्राह्मण ही बना रहता है, वह अन्यवर्णीय लोगो से अपने चरण पुजाता हुआ गर्व का अनुभव करता है। क्षत्रिय चोरी, डकैती, नरहत्या आदि कितने ही कुकर्म क्यो न करे परन्तु 'ठाकुर साहब' के सिवाय यदि किसीने कुछ बोल दिया तो उसकी भौंह टेढी हो जाती है। यही हाल वैश्य का है। आज का शूद्र कितने ही सदाचार से क्यो न रहे परन्तु वह जब देखो तब घृणा का पात्र ही समझा जाता है, उसके स्पर्श से लोग डरते हैं, उसकी छाया से दूर भागते हैं। आज केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्णव्यवस्था ने मनुष्यो के हृदय घृणा, ईर्ष्या और अहकार आदि दुर्गुणो से भर दिये हैं। धर्म के नाम पर अहकार, ईर्ष्या और घृणा आदि दुर्गुणो की अभिवृद्धि की जाती है।

जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था

जैन सिद्धान्त के अनुसार विदेहक्षेत्र मे शाश्वती कर्मभूमि रहती है, वहां क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये तीन वर्ण रहते हैं और आजीविका के लिए उक्त तीन वर्ण आवश्यक भी हैं। जैनधर्म ब्राह्मणवर्ण को आजीविका का साधन नही मानता। विदेहक्षेत्र मे तो ब्राह्मणवर्ण है ही नही। भरतक्षेत्र मे अवश्य ही भरत चक्रवर्ती ने उसकी स्थापना की थी परन्तु उस प्रकरण को आद्योपान्त देखने से यह निश्चय होता है कि भरत महाराज ने व्रती जीवो को ही ब्राह्मण कहा है। उन्होंने अपने महल पर आमन्त्रित मानवो मे से ही दयालु मानवो को ब्राह्मण नाम दिया था तथा व्रतादिक का विशिष्ट उपदेश दिया था। और व्रती होने के चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत दिया था। कहने का सारांश यह है कि जिस प्रकार बौद्धधर्म मे वर्ण-व्यवस्था का सर्वथा प्रतिषेध है, ऐसा जैनधर्म मे नही है। परन्तु इतना निश्चित है कि जैनधर्म स्मृतियुग मे प्रचारित केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार नही करता।

आदिपुराण मे जो उल्लेख है वह केवल वृत्ति-आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही किया गया है। जिनसेनाचार्य ने उसमे स्पष्ट लिखा है :

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्याच्छूद्रान्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६॥"

—आ० पु०, पर्व ३८

अर्थात् जातिनामक कर्म अथवा पचेन्द्रिय जाति का अवान्तर भेद मनुष्य जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति एक ही है। सिर्फ आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो जाती है। व्रत-संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीचवृत्ति-सेवावृत्ति से शूद्र कहलाते हैं।

यही श्लोक जिनसेनाचार्य के साक्षात् शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे निम्न प्रकार परिवर्तित तथा परिवर्धित किये हैं :

"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्। आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥"

---

१. "तपः श्रुत च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्।"—आदिपुराण

इनमें से प्रथम श्लोक का भाव पहले लिखा जा चुका है। द्वितीय श्लोक का भाव यह है कि गाय, घोड़ा आदि में जैसा जातिकृत भेद पाया जाता है वैसा मनुष्यों में नहीं पाया जाता, क्योंकि उन सबकी आकृति एक है।

आदिपुराण के यही श्लोक धर्मसंग्रह—श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में यहीं ज्यों-के-त्यों और कहीं कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किये गये हैं।

इनके सिवाय अमितगत्याचार्य का भी अभिप्राय देखिए जो उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षा में व्यक्त किया है :

"जो सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान, संयम से रहित हैं ऐसे प्राणियों को किसी उच्च जाति में जन्म लेने मात्र से धर्म नहीं प्राप्त हो जाता।"

"जातियों में जो यह ब्राह्मणादि की भेदकल्पना है वह आचार मात्र से है। वस्तुत कोई ब्राह्मणादि जाति नियत नहीं है।"

"संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया जिसमें विद्यमान हैं उसकी श्रेष्ठ जाति है।"

"नीच जातियों में उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्ग गये और शील तथा संयम को नष्ट करने वाले कुलीन मनुष्य भी नरक गये।"

"चूँकि गुणों से उत्तम जाति बनती है और गुणों के नाश से नष्ट हो जाती है अतः विद्वानों को गुणों में ही आदर करना चाहिए।"[1]

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के दर्शनपाहुड की यह एक गाथा देखिए उसमें वे क्या लिखते हैं :

"ण वि देहो वंदिज्जइ ण विय कुलो ण विय जाईसंजुत्तो।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावयो होइ ॥२७॥"

"न तो देह की वन्दना की जाती है, न कुल की और न जातिसम्पन्न मनुष्य की। गुणहीन कोई भी वन्दना करने योग्य नहीं है चाहे श्रमण हो चाहे श्रावक।"

भगवान् वृषभदेव ने ब्राह्मण वर्ण क्यों नहीं सृजा ?

यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान् वृषभदेव ने क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थापना की, परन्तु ब्राह्मणवर्ण की स्थापना क्यों नहीं की। उसका उत्तर ऐसा मालूम होता है कि भोगभूमिज मनुष्य प्रकृति से भद्र और शान्त रहते हैं। ब्राह्मण वर्ण की जो प्रकृति है वह उस समय के मनुष्यों में स्वभाव से ही थी। अतः उस प्रकृति वाले मनुष्यों का वर्ग स्थापित करने की उन्हें आवश्यकता महसूस नहीं हुई। हाँ, कुछ लोग उन भद्र प्रकृतिक मानवों को त्रास आदि पहुँचाने लगे थे इसलिए क्षत्रिय वर्ण की स्थापना की, अर्थार्जन के बिना किसी का काम नहीं चलता इसलिए वैश्य स्थापित किये और सबके सहयोग के लिए शूद्रों का संघटन किया।

---

१. "न जातिमात्रो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः। सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥
आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्। न जातिर्ब्राह्मणाद्यास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया। विद्यन्ते तात्त्विकी यस्यां सा जातिर्महती सताम् ॥
शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि। कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥
गुणैः संपद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते। यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥"

—धर्मपरीक्षा, परि० १७

महाभारतादि[1] जैनेतर ग्रन्थो मे जो यह उल्लेख मिलता है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया उसका भी यही अभिप्राय मालूम होता है। मूलतः मनुष्य ब्राह्मण प्रकृति के थे, परन्तु कालक्रम से उनमे विकार उत्पन्न होने के कारण क्षत्रियादि विभाग हुए। अन्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के युगो मे मनुष्य अपनी भद्र प्रकृति की अवहेलना नही करते, इसलिए यहाँ अन्य कालो मे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नही होती। विदेह क्षेत्र मे भी ब्राह्मण वर्ण की स्थापना न होने का यही कारण है। यह हुण्डावसर्पिणी काल है जो कि अनेको उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी युगो के बीत जाने के बाद आया है। इसमे खासकर ऐसे मनुष्यो का उत्पाद होता है जो प्रकृत्या अभद्रतर होते जाते हैं। समय बीता, भरत चक्रवर्ती हुए। उन्होने राज्य-शासन सँभाला, लोगो मे उत्तरोत्तर अभद्रता बढती गयी। मनुओ के समय मे राजनैतिक दण्डविधान की सिर्फ तीन धाराएँ थीं, 'हा,' 'मा' और 'धिक्'। किसी ने अपराध किया उसके दण्ड मे शासक ने 'हा' खेद है यह कह दिया, बस, इतने से ही अपराधी सचेत हो जाता था। समय बीता, लोग कुछ अभद्र हुए तब 'हा' के बाद 'मा' अर्थात् खेद है अब ऐसा न करना, यही दण्ड निश्चित किया गया। फिर समय बीता, लोग और अभद्र हुए, तब 'हा' 'मा' 'धिक्'—खेद है अब ऐसा न करना, और मना करने पर भी नही मानते इसलिए तुम्हें धिक्कार हो, ये तीन दण्ड प्रचलित हुए। 'धिक्' उस समय की मानो फाँसी की सजा थी। कितने भद्र परिणाम वाले लोग उस समय होते थे और आज? अतीत और वर्तमान की तुलना करने पर अवनि-अन्तरिक्ष का अन्तर मालूम होता है।

वर्ण और जाति

वर्ण के विषय मे ऊपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यहाँ जाति के विषय मे भी कुछ चर्चा कर लेनी आवश्यक है। जैनागम मे जाति के जो एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि पाँच भेद वर्णित हैं वे सामान्य की अपेक्षा हैं। उनके सिवाय एकेन्द्रियादि प्रत्येक जाति के असख्यात अवान्तर विशेष होते हैं। यहाँ हम उन सबका वर्णन अनावश्यक समझ कर केवल मनुष्यजातियो पर ही विचार करते हैं।

मनुष्यजातियाँ निम्न भेदो मे विभाजित हैं :

१. वृत्तिरूप जाति—यह वृत्ति अर्थात् व्यवसाय या पेशे से सम्बन्ध रखती है। जैसे बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, तेली आदि।

२. वश—गोत्र आदिरूप जाति—यह अपने किसी प्रभावशाली विशिष्ट पुरुष से सन्तानक्रम की अपेक्षा रखती है। जैसे गर्ग, श्रोत्रिय, राठौर, चौहान, खण्डेलवाल, अग्रवाल, रघुवंश, सूर्यवंश आदि।

३. राष्ट्रीयरूप जाति—यह राष्ट्र की अपेक्षा से उत्पन्न है। जैसे भारतीय, यूरोपियन, अमेरिकन, चँदेरिया, नरसिंहपुरिया, देवगढिया आदि।

४ साम्प्रदायिक जाति—यह अपने धर्म या सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखती है। जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख, हिन्दू, मुसलमान आदि।

जैन ग्रन्थो तथा यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मणो मे जिन जातियों का उल्लेख है वे सभी इन्ही जातियों मे अन्तर्हित हो जाती हैं। इन विविध जातियो का आविर्भाव तत्तत्कारणो से हुआ अवश्य है, परन्तु आज के

---

१. "असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्। आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान् ॥
ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्। आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥"

—महाभारत, अध्याय १८८

"प्रजापतिर्यज्ञमसृजत, यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम् ....."—ऐ० ब्रा०, अ० ३४ ख० १
"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् एकमेव......"—श० ब्रा० १४-४-२

युग मे पुरुषार्थसाधिनी सामाजिक व्यवस्था मे इन सबका उपयोग नहीं हो रहा है और न ही हो सकता है। पुरुषार्थसाधिनी सामाजिक व्यवस्था के साथ यदि साक्षात् सम्बन्ध है तो वृत्ति रूप जाति का ही है। व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार वृत्तिरूप जाति को स्वीकृत करता है। यह प्रकृति कदाचित् पिता-पुत्र की एक सदृश होती है, और कदाचित् विसदृश भी। पिता सात्त्विक प्रकृति वाला है, पर उसका पुत्र राजस प्रकृति का धारक हो सकता है। पिता ब्राह्मण है, पर उसका पुत्र कुलक्रमागत अध्ययन-अध्यापन को पसन्द न कर सैनिक बन जाना पसन्द करता है। पिता वैश्य है, पर उसका पुत्र अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति पसन्द कर सकता है। पिता क्षत्रिय है, पर उसका पुत्र दूसरे की नौकरी कर सकता है। मनुष्य विभिन्न प्रकृतियों के होते हैं और उन विभिन्न प्रकृतियो के अनुसार स्वीकृत की हुई वृत्तियाँ विविध प्रकार की होती हैं। इन सबका जो सामान्य चतुर्वर्गीकरण है वही चतुर्वर्ण है। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि एक-एक वर्ण अनेक जाति-उपजातियो का सामान्य सकलन है। वर्ण सामान्य संकलन है और जाति उसका विशेष सकलन। विशेष मे परिवर्तन जल्दी-जल्दी हो सकता है पर सामान्य के परिवर्तन मे कुछ समय लगता है। मातृवश को जाति कहते हैं। यह जो जाति की एक परिभाषा है उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है।

वर्ण और कुल

परिवार के किसी प्रतिष्ठित पुरुष को आधार मानकर कुल या वश का व्यवहार चल पड़ता है। जैसे कि रघु का आधार मानकर रघुवश, यदु का आधार मानकर यदुवंश, अर्ककीर्ति को आधार मानकर अर्क—सूर्य वंश, कुरु को आधार मानकर कुरुवश, हरि को आधार मानकर हरिवश आदि का व्यवहार चल पड़ा है। उसी वशपरम्परा मे आगे चलकर यदि कोई अन्य प्रभावशाली व्यक्ति हो जाता है तो उसका वश चल पड़ता है, पुराना वंश अन्तर्हित हो जाता है। एक वंश मे अनेक उपवश उत्पन्न होते जाते हैं, यह वंश का व्यवहार प्रत्येक वर्ण में होता है, सिर्फ क्षत्रिय वर्ण मे ही होता हो सो बात नही। यह दूसरी बात है कि पुराणादि कथाग्रन्थो मे उन्ही की कथाएँ मिलती हैं, परन्तु यह भी तो ध्यान रखना चाहिए कि पुराणादि मे विशिष्ट पुरुषों की ही कथाएँ संदृब्ध की जाती हैं, सबकी नहीं। यह योनवंश का उल्लेख हुआ। इसके सिवाय विद्यावश का भी उल्लेख मिलता है जो गुरुशिष्य-परम्परा पर अवलम्बित है। इसके भी बहुत भेदोपभेद हैं। इस प्रकार वर्ण और वश सामान्य और विशेषरूप हैं। लौकिक गोत्र वश या कुल का ही भेद है।

वर्ण और गोत्र

जैनधर्म मे एक गोत्र नाम का कर्म माना गया है जिसके उदय से यह जीव उच्च-नीच कुल मे उत्पन्न होता है। उच्च गोत्र के उदय से उच्च कुल मे और नीच गोत्र के उदय से नीच कुल मे उत्पन्न होता है। देवों के हमेशा उच्च गोत्र का तथा नारकियो और तिर्यञ्चो के नीच गोत्र का ही उदय रहता है। मनुष्यो मे भी भोगभूमिज मनुष्य के सदा उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, परन्तु कर्मभूमिज मनुष्यो के दोनों गोत्रो का उदय पाया जाता है, किन्ही के उच्च गोत्र का और किन्ही के नीच गोत्र का। अपनी प्रशसा, दूसरे के विद्यमान गुणो का अपलाप तथा अहकार वृत्ति से नीच गोत्र का और इससे विपरीत परिणति के द्वारा उच्च गोत्र का बन्ध होता है। गोत्र की परिभाषा गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इस प्रकार लिखी है :

"संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥"

अर्थात् सन्तानक्रम से चले आये जीव के आचरण की गोत्र संज्ञा है। इस जीव का जो उच्च-नीच आचरण है वही उच्च-नीच गोत्र है। विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि यह लक्षण सिर्फ कर्मभूमिज मनुष्यों को लक्ष्य कर ही लिखा गया है, क्योंकि गोत्र का उदय जिस प्रकार मनुष्यों के है उसी प्रकार नारकियो;

तिर्यञ्चो और देवो के भी है, तथापि इन सबके सन्तति का क्रम नहीं चलता। यदि सन्तान का अर्थ सन्तति न लेकर परम्परा या आम्नाय लिया जाये और ऐसा अर्थ किया जाये कि परम्परा या अम्नाय से प्राप्त जीव का जो आचरण अर्थात् प्रवृत्ति है वह गोत्र कहलाता है, तो गोत्रकर्म की उक्त परिभाषा व्यापक हो सकती है, क्योकि देवो और नारकियो के भी पुरातन देव और नारकियों की परम्परा सिद्ध है।

गोत्र सर्वत्र है, परन्तु वर्ण का व्यवहार केवल कर्मभूमि मे है। इसलिए दोनो का परस्पर सदा सम्बन्ध रहता है यह मानना उचित नही प्रतीत होता। निर्ग्रन्थ साधु होने पर कर्मभूमि मे भी वर्ण का व्यवहार छूट जाता है, पर गोत्र का उदय विद्यमान रहा आता है। कितने ही लोग सहसा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उच्च गोत्री और शूद्र को नीच गोत्री कह देते हैं। परन्तु इस युग मे जब कि सभी वर्णों मे वृत्ति-सम्मिश्रण हो रहा है तब क्या कोई विद्वान् दृढता के साथ यह कहने को तैयार है कि अमुक वर्ग अमुक वर्ण है। कहीं-कही ब्राह्मणो मे एक-दो नही, पचासो पीढियो से मास-मछली खाने की प्रवृत्ति चल रही है उन्हे ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने के कारण उच्च गोत्री माना जाये और बुन्देलखण्ड की जिन बढई, लुहार, सुनार, नाई आदि जातियो में पचासो पीढियो से मास-मन्दिर का सेवन न किया गया हो उन्हे शूद्र वर्ण मे उत्पन्न होने से नीच-गोत्री कहा जाये, यह बात बुद्धिग्राह्य नही दिखती। जिन लोगो मे स्त्री का करा-धरा होता हो वे शूद्र हैं, नीच हैं और जिनमे यह बात न हो वे त्रिवर्ण द्विज हैं, उच्च हैं यह बात भी आज जमती नही है क्योकि स्पष्ट नही तो गुप्तरूप से यह करे-धरे की प्रवृत्ति त्रिवर्णों, द्विजो मे भी हजारो वर्ष पहले से चली आ रही है।

वर्णव्यवस्था अनादि या सादि ?

वर्णव्यवस्था विदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनादि है, परन्तु भरतक्षेत्र की अपेक्षा सादि है। जब यहाँ भोगभूमि की रचना थी तब वर्णव्यवस्था नही थी। सब एक सदृश आयु तथा बुद्धि-विभववाले होते थे। जैनेतर कूर्म-पुराण मे भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कृतयुग मे वर्णविभाग नही था। वहाँ के लोगो मे ऊँच-नीच का व्यवहार नही था, सब समान थे, सबको तुल्य आयु थी, सुख-सन्तोष आदि सब मे समान था, सभी प्रजा आनन्द से रहती थी, भोगयुक्त थी। तदनन्तर क्रम से प्रजा मे राग और क्षोभ प्रकट होने लगे, सदाचार नष्ट होने लगा तथा कोई बलवान् और कोई निर्बल होने लगे, इससे मर्यादा नष्ट होने लगी तब उसकी रक्षा के लिए भगवान् अज अर्थात् ब्रह्मा ने ब्राह्मणो के हित के लिए क्षत्रियो को सृजा, वर्णाश्रम की व्यवस्था की और पशुहिंसा से विवर्जित यज्ञ की प्रवृत्ति की। उन्होने यह सब काम त्रेता युग के प्रारम्भ मे किया[1]।

जैनधर्म की भी यही मान्यता है कि पहले, दूसरे और कुछ कम तीसरे काल के अन्त तक लोग एक सदृश बुद्धि, बल आदि के धारक होते थे अत. उस समय वर्णाश्रम-व्यवस्था की आवश्यकता नही थी परन्तु तीसरे काल के अन्तिम भाग से लोगो मे विषमता होने लगी, अत. भगवान् आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने क्षत्रियादि वर्णों की व्यवस्था की।

---

१. "कृतं त्वमिथुनोत्पत्तिर्वृत्तिः साक्षादलोलुपा। प्रजास्तृप्ताः सदा सर्वाः सर्वानन्दाश्च भोगिनः ॥
अधमोत्तमत्वं नास्त्यासां निर्विशेषाः पुरंजय। तुल्यमायुः सुखं रूपं तासु तस्मिन् कृते युगे ॥
ततः प्रादुरभूत्तासां रागो लोभश्च सर्वशः। अवश्यं भावितार्थेन त्रेतायुगवशेन वै ॥
सदाचारे विनष्टे तु बलात्कालबलेन च। मर्यादायाः प्रतिष्ठार्थं ज्ञात्वैतद्भगवानजः ॥
ससर्ज क्षत्रियान् ब्रह्मा ब्राह्मणानां हिताय वै। वर्णाश्रमव्यवस्थां च त्रेतायां कृतवान् प्रभुः ॥
यज्ञप्रवर्तनं चैव पशुहिंसाविवर्जितम्।" —कू० पु०, वि० अ० २६

सादि-अनादि की इस स्पष्ट व्यवस्था को न लेकर कितने ही विद्वान् भरतक्षेत्र में भी वर्णव्यवस्था को अनादि सिद्ध करते हैं और उसमे युक्ति देते हैं कि भोगभूमि के समय लोगो के अन्तस्तल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण दबे हुए रहते हैं। किन्तु उनका यह युक्तिवाद गले नही उतरता। भोगभूमिज मनुष्यो के जब उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, तब उनके शूद्र वर्ण को अन्तर्हित करने वाला नीच गोत्र का भी उदय क्या शास्त्रसम्मत है ? फिर ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि तो इसी हुण्डावसर्पिणी काल मे बतायी गयी है, उसके पहले कभी भी यहाँ ब्राह्मण वर्ण नही था। विदेहक्षेत्र मे भी नही है। फिर उसकी अव्यक्त सत्ता भोगभूमिज मनुष्यो के शरीर मे कहाँ से आ गयी ?

वर्ण और अस्पृश्यता

प्राचीन वैदिक साहित्य मे जहाँ चतुर्वर्ण की चर्चा आयी है वहाँ अन्त्यजनो का अर्थात् अस्पृश्य शूद्रो का नाम तक नही लिया गया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में स्पृश्यास्पृश्य का विकल्प नहीं था। स्मृतियो तथा पुराणो मे इनके उल्लेख मिलते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि यह विकल्प स्मृतिकाल मे उठा है और पुराणकाल मे उसे पोषण प्राप्त हुआ है। शूद्र दो प्रकार के होते हैं, ग्राह्यान्न और अग्राह्यान्न अथवा स्पृश्य और अस्पृश्य। ये भेद सर्वप्रथम मनुस्मृति मे देखने को मिलते हैं। उस समय लोक मे इनका विभाग हो गया होगा।

आदिपुराण (१६।१८६) मे जिनसेन स्वामी ने भी यह लिखा है कि शूद्र दो प्रकार के होते हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य। कारू, रजक आदि स्पृश्य तथा चाण्डाल आदि अस्पृश्य शूद्र हैं। आदिपुराण के उल्लेखानुसार यदि इस चीज को साक्षात् भगवान् ऋषभदेव के जीवन के साथ सम्बद्ध करते है तो इसका प्राचीन भारतीय साहित्य मे किसी-न-किसी रूप मे उल्लेख अवश्य मिलना चाहिए। पर कही इन भेदो की चर्चा भी नही है। तथा भगवान् ऋषभदेव ने स्वय किसी से कहा हो कि तुम क्षत्रिय हो, तुम वैश्य हो, तुम स्पृश्य हो, और तुम अस्पृश्य शूद्र। अब तक तुम हमारे दर्शन कर सकते थे—हमारे सामने आ सकते थे, पर आज से अस्पृश्य हो जाने के नाते यह कुछ नही कर सकते—यह कहने का साहस नहीं होता। भगवान् ऋषभदेव के समय जितनी वृत्तिरूप जातियाँ होगी उनसे सहस्रगुणी आज हैं। अपनी-अपनी योग्यता और परिस्थिति से वशीभूत होकर लोग विभिन्न प्रकार की आजीविकाएँ करने लगते है और आगे चलकर उस कार्य के करने वालो का एक समुदाय बन जाता है जो जाति कहलाने लगता है। अब तक इस प्रकार की अनेको जातियाँ बन चुकी हैं और आगे चलकर बनती रहेंगी। योग्यता और साधनो के अभाव मे कितने ही मनुष्यो ने निम्न कार्य स्वीकार कर लिया। परिस्थिति से विवश हुआ प्राणी क्या नही करता ? धीरे-धीरे योग्यता और साधनो के मद में फूले हुए मानव उन्हें अपने से हीन समझने लगे। उनके प्रति घृणा का भाव उनके हृदयो में उत्पन्न होने लगा और वे अस्पृश्य तथा स्पृश्य भेदो मे बाँट दिये गये। जिनसे मनुष्य का कुछ अधिक स्वार्थ या सम्पर्क रहा वे स्पृश्य बने रहे और जिनसे मनुष्य का अधिक स्वार्थ या सम्पर्क न रहा वे अस्पृश्य हो गये।

मनुष्य का जातिकृत अपमान हो इसे जैनधर्म की आत्मा स्वीकृत नही करती। जैन शास्त्रो मे स्पष्ट लिखा है कि चारो गतियो मे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है। फलस्वरूप आज जिसे अस्पृश्य कहा जा रहा है वह भी सम्यग्दर्शन का अधिकारी है। यदि अनन्त ससार को शान्त करने वाला सम्यग्दर्शन हाथ लग जाने पर भी उसकी अस्पृश्यता न गयी तो आश्चर्य ही समझना चाहिए।

अनुवाद और आभारप्रदर्शन

हमारे स्नेही मित्र मूलचन्द किसनदास जी कापड़िया सूरत ने कई बार प्रेरणा की कि इस समय आदिपुराण मिल नही रहा है, लोगो की माँग अधिक आती है इसलिए यदि आप इसका संक्षिप्त अनुवाद कर दें तो मैं उसे अपने कार्यालय से प्रकाशित कर दूँ।

मैं आदिपुराण और उत्तरपुराण की सक्षिप्त कथा 'चौबीसी पुराण' के नाम से लिख चुका था और जिनवाणी-प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता से उसका प्रकाशन भी हो चुका था, अत. सक्षिप्त अनुवाद करने की मेरी रुचि नही हुई। फलतः मैंने उत्तर दिया कि मैं सक्षिप्त अनुवाद नही करना चाहता। हाँ, श्लोक का नम्बर देते हुए मूलानुगामी अनुवाद यदि आप चाहते हैं तो मैं कर दे सकता हूँ।

कापड़ियाजी की दृष्टि मे समग्र ग्रन्थ का परिमाण नही आया इसलिए उन्होंने प्रकाशित करने का दृढ़ विचार किये बिना ही मुझे अनुवाद शुरू करने का अन्तिम पत्र दे दिया। ग्रीष्मावकाश का समय था, अतः मैंने अनुवाद करना शुरू कर दिया। तीन वर्ष के ग्रीष्मावकाशो—छह माहो मे जब अनुवाद का कार्य पूरा हो चुका तब मैंने उन्हें सूचना दी और पूछा कि इसे आप प्रेस मे कब देना चाहते हैं। आदिपुराण का परिमाण बारह हजार अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण है सो इतना मूल और इतने श्लोको का हिन्दी अनुवाद दोनो ही मिलकर बृहदाकार हो गये अत कापडियाजी उसके प्रकाशन से कुछ पीछे हटने लगे। महँगाई का समय और नियन्त्रण होने से इच्छानुसार कागज प्राप्त करने मे कठिनाई ये दोनो कारण कापडियाजी के पीछे हटने मे मुख्य थे।

इसी समय सागर मे मध्य प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था जिसकी 'दर्शनपरिषद्' की व्यवस्था का भार मुझ पर अवलम्बित था। जैन दर्शन पर भाषण देने के लिए मैं जैन विद्वानो को आमन्त्रित करना सोच ही रहा था कि उसी समय नवउद्घाटित 'जैन ऐज्युकेशन बोर्ड' की बैठक बुलाने का भी विचार लोगोंका स्थिर हो गया। बोर्ड की समिति मे अनेक विद्वान् सदस्य हैं। मैंने सदस्यो को सप्रेम आमन्त्रित किया जिसमे प० वशीधरजी इन्दौर, प० राजकुमारजी मथुरा, प० महेन्द्रकुमारजी बनारस आदि अनेक विद्वान् पधार गये। साहित्य सम्मेलन और जैन एज्युकेशन बोर्ड दोनों के कार्य सानन्द सम्पन्न हुए। उसके कुछ ही माह पहले बनारस में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई थी। प० महेन्द्रकुमारजी मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला के सम्पादक और नियामक हैं अत मैने सागर मे ज्ञानपीठ की ओर से आदिपुराण प्रकाशित करने की चर्चा पं० महेन्द्रकुमारजी से की और उन्होंने बडी प्रसन्नता के साथ ज्ञानपीठ से उसे प्रकाशित करना स्वीकृत कर लिया। साथ ही ताडपत्रीय तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्रित कर उनसे पाठान्तर लेने की सुविधा कर दी। इतना ही नहीं, ताडपत्रीय कर्नाटक लिपि को नागरी लिपि मे वाँचना तथा नागरी लिपि मे उसका रूपान्तर करने आदि की व्यवस्था भी कर दी। एक बार पाठान्तर लेने के लिए मैं ग्रीष्मावकाश मे २५ दिन के लगभग बनारस रहा तब आपने ज्ञानपीठ की ओर से सुविधा दी थी। दूसरे वर्ष मैं बनारस नही पहुँच सका अत आपने पं० देवकुमारजी न्यायतीर्थ को बनारस से सागर भेज दिया जिससे हमे कर्नाटक लिपि के पाठ सुनने मे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। पं० गुलाबचन्द्र 'दण्डी' व्याकरणाचार्य, एम० ए० से बनारस मे पाठभेद लेने मे पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ था। इस प्रकार ५-६ वर्षों के परिश्रम के बाद आदिपुराण का वर्तमान रूप सम्पन्न हो सका है। ललितकीर्ति कृत सस्कृत टीका तथा प० दौलतरामजी और प० लालाराम जी की हिन्दी टीकाओ से मुझे सहायता प्राप्त हुई। इसलिए इन सब महानुभावो का मैं आभार मानता हूँ। प्रस्तावना लेखन मे मैंने जिन महानुभावो का साहाय्य प्राप्त किया है यद्यपि मैं तत्तत्प्रकरणो मे उनका उल्लेख करता आया हूँ तथापि यहाँ पुन उनका अनुग्रह प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आदरणीय वयोवृद्ध विद्वान् श्री नाथूरामजी प्रेमी का तो मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने कि अस्वस्थ अवस्था मे भी मेरी इस सम्पूर्ण प्रस्तावना को देखकर योग्य सुझाव दिये। जिनसेन और गुणभद्रविषयक जिस ऐतिहासिक सामग्री का सकलन इसमे किया गया है यह सब उन्हीं की कृपा का फल है। अपने सहपाठी मित्र प० परमानन्दजी को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता जिन्होने कि दि० जैन पुराणो की सूची तथा आदिपुराण मे जिनसेनाचार्य-द्वारा स्मृत आचार्यों का परिचय भेजकर मुझे सहायता पहुँचायी। मैं प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री बनारस का भी अत्यन्त आभारी हूँ कि जिन्होंने भूमिका अवलोकन कर उचित सुझाव दिये हैं।

इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ बनारस की ओर से हो रहा है अत उसके संरक्षक और सचालक

महानुभावों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। उनकी उदारता के बिना यह महान् ग्रन्थ जनता के समक्ष आना कठिन कार्य था। दूरवर्ती होने से प्रूफ देखने का कार्य मैं स्वय नही कर सका हूँ। इसके समग्र प्रूफ पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्य ने देखे हैं। मेरे विचार से उन्होंने अपना दायित्व पूरी तरह निभाया है। कुछ अशुद्धियाँ अवश्य रह गयी हैं पर पाठकगण अध्ययन करते समय मूल और अनुवाद का मिलान कर उन्हे ठीक कर लेंगे, ऐसी आशा है।

महापुराण का दूसरा संस्करण हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। महापुराण पहले संस्करण मे भी सस्कृत मूल, हिन्दी अनुवाद, महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और परिशिष्ट आदि के साथ अलकृत होकर सर्वप्रथम प्रकाश मे आया था, इस द्वितीय सस्करण ने कुछ अतिरिक्त सुधार-संशोधन और परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं। पहले सस्करण के मूल और अनुवाद मे जो त्रुटियाँ रह गयी थी वे इस सस्करण मे सुधार दी गयी हैं। प्रथम सस्करण प्रकाशित होने पर भूमिका के 'आदिपुराण और वर्ण-व्यवस्था' शीर्षक प्रकरण पर कुछ अनुकूल-प्रतिकूल चर्चाएँ उठी थी उन्हे दृष्टिगत रखते हुए उस प्रकरण मे भी आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

प्रस्तुत सस्करण मे कुछ अतिरिक्त सामग्री भी जोड़ी गयी है। प्रस्तावना के उपरान्त आदिपुराण की सूक्तियाँ दी गयी है। और ग्रन्थ के अन्त मे एक नया परिशिष्ट शब्दानुक्रमणिका के नाम से जोडा गया है। इसके अन्तर्गत आदिपुराण मे आये भौगोलिक, पारिभाषिक तथा व्यक्तिवाचक शब्दो की सूचियाँ दी गयी हैं। इस प्रकार के परिशिष्टो की कितनी महती उपयोगिता है, वह अध्येताओ से छिपी नही है।

इस सम्पूर्ण रूप मे प्रस्तुत सस्करण को स्वाध्याय प्रेमिओ, श्रद्धालु जनता तथा शोधार्थी विद्यार्थी एवं विद्वानो सभी के लिए उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

हमारे मित्र श्री रतनलाल जी कटारिया केकडी एक अध्ययनशील विद्वान् हैं। वारीकी से किसी चीज़ का अध्ययन करना उनकी प्रकृति है। पत्र लिखने पर उन्होने पूर्वभाग मे रही कमियो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

अन्त मे इस नम्र प्रार्थना के साथ प्रस्तावना समाप्त करता हूँ कि महापुराण समुद्र के समान गभीर है। इसके अनुवाद, सशोधन और सम्पादन मे त्रुटियो का रह जाना सहज सभव है। अतः विद्वज्जन मुझे अल्पज्ञ जानकर क्षमा करेंगे।

"महत्यस्मिन् पुराणाब्धौ शाखाशततरंगके।
स्खलित यत्प्रमादान्मे तद्बुधा. क्षन्तुमर्हथ॥"

वर्णीभवन,
सागर

—पन्नालाल जैन

सूक्तिसंचयः

महापुराण अनेक सूक्तियों का रत्नाकर है जैसा कि उसके निम्न श्लोकों से प्रकट है :

यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात् ।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणत. ॥२।११६॥

इस स्तम्भ में विद्वज्जनो के उपयोग के लिए कुछ सूक्तिरत्न समुद्धृत किये जाते हैं । भाषा अत्यन्त सरल है अत' हिन्दी अनुवाद पृथक् से नहीं दिया जा रहा है ।

पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जनः ।१।३१।

गुणगृह्यो हि सज्जनः ।१।३७।

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः ।
येषां धर्मकथाङ्गत्व भारती प्रतिपद्यते ॥१।६२॥

धर्मानुबन्धिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते ।
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥१।६३॥

परेषां दूषणाज्जातु न बिभेति कवीश्वर. ।
किमुलूकभयाद् धुन्वन् ध्वान्तं नोदेति भानुमान् ॥१।७५॥

परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम ।
न पराराधनाच्छ्रेय श्रेयः सन्मार्गदर्शनात् ॥१।७६॥

श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न लोकपरिपक्तये ।१।१४४।

कस्य वा न कृतार्थत्वं सन्निधौ महतो निधेः ।१।१६०।

धूतान्धतमसो भास्वान् भास्यं किमवशेषयेत् ।१।१६३।

महत्यादर्शिते वर्त्मन्यनन्ध' क. परिस्खलेत् ।१।१६४।

धर्मो हि मूलं सर्वासां धनर्द्धिसुखसंपदाम् ।२।३३।

धर्मः कामदुधा धेनुर्धर्मश्चिन्तामणिर्महान् ।
धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षय ॥२।३४॥

हितमवगणयेद्वा कः सुधीराप्तवाक्यम् ।२।१६१।

दुरन्ता मोहसंततिः ।४।२५।

स्पर्द्धा ह्येकत्र भूष्णूनां क्रियासाम्याद्विवर्धते ।४।१३५।

धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदय' ।
स च संप्रीतये पुंसां धर्मात्सैषा परम्परा ॥५।१५॥

नांकुरः स्याद्विना बीजाद्विना वृष्टिर्न वारिदात् ।
छत्राद्विनापि नच्छाया विना धर्मान्न संपद. ॥५।१८॥

दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।
दयायाः परिरक्षार्थं गणा दोषाः प्रकीर्तिता. ॥५।२१॥

जन्ममृत्युजरातंकभयानां को न गोचरः ।६।१०।

विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किन्न फलिष्यति ।६।११०।

पुण्यैः किं नु न लभ्यते ।६।१६५।

भक्तिः श्रेयोऽनुबन्धिनी ।७।२७६।

सुखं दुःखानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम् ।
संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च संपदः ।।८।७७॥

धुनोति दवथुं स्वान्तात्तनोत्यानन्दथुं परम् ।
धिनोति च मनोवृत्तिमहो साधुसमागमः ॥६।१६०॥

मुष्णाति दुरितं दूरात्परं पुष्णाति योग्यताम् ।
भूय. श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः ॥६।१६१॥

स्वदु.खे निर्घृणारम्भा. परदुःखेषु दुःखिता ।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥६।१६४॥

रसोपविद्ध. सन् धातुर्यथा याति सुवर्णताम् ।
तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥६।१७४॥

न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥६।१७५॥

बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीयते नृणाम् ।
बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥६।१७७॥

पुण्यैः किन्नु दुरासदम् ।६।१८७।

ऋते धर्मात्कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखम् ।
तस्मात्सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरम् ॥६।१८८॥

धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः ।
धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया ॥१०।१४॥

धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता ।
ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१०।१५॥

तनोति विषयासंगः सुखसंतर्षमङ्गिनः ।
स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥१०।१६॥

धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययम् ।
धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवम् ॥१०।१०७॥

धर्मादेव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गजेन्द्रता ।
धर्मात्तीर्थकरत्वं च परमानन्त्यमेव च ॥१०।१०८॥

धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरङ्गिनाम् ।
तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥१०।१०९॥

नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चैः स्थितिं भजेत् ।
तस्मादुच्चैः पदं वाञ्छन्नरो धर्मपरो भवेत् ॥१०।११९॥

प्रायेणात्मवता चित्तमात्मश्रेयसि जायते ।१०।१२४।

प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः ।११।५।

धिगेनां संसृतिस्थितिम् ।११।७।

समाधये हि सर्वेषां परिस्पन्दो हितार्थिनाम् ।११।७१।

निर्द्वन्द्ववृत्तितामाप्ताः शमुशन्तीह देहिनाम् ।
तत्कुतस्त्यं सरागाणां द्वन्द्वोपहतचेतसाम् ॥११।१६४॥

स्त्रीभोगो न सुखं चेतः समोहाद् गात्रसादनात् ।
तृष्णानुबन्धात्संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥११।१६५॥

मनोज्ञविषया सेवा तृष्णायै न वितृप्तये ।
तृष्णार्चिषा च संतप्तः कथं नाम सुखी जनः ॥११।१६७॥

रुजां यन्नोपघाताय तदौषधमनौषधम् ।
यन्नोदन्या विनाशाय नाञ्जसा तज्जलं जलम् ॥११।१६८॥

मनोनिर्वृतिमेवेह सुखं वाञ्छन्ति कोविदाः ।
तत्कुतो विषयान्धानां नित्यमायस्तचेतसाम् ॥११।१७२॥

विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमङ्गिनाम् ।
साबाधं सान्तरं बन्धकारणं दुःखमेव तत् ॥११।१७३॥

आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः ।
तदुद्भवं सुखं नृणां कण्डूकण्डूयतोपमम् ॥११।१७४॥

दग्धव्रणे यथा सान्द्रचन्दनद्रवचर्चनम् ।
किंचिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखम् ॥११।१७५॥

विषयाननुभुञ्जानः स्त्रीप्रधानान् सवेपथुः ।
श्वसन् प्रस्विन्नसर्वाङ्गः सुखी चेदसुखीह कः ॥११।१८४॥

आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते ।
विषयाशाविमूढात्मा श्वेतास्थिदशनैर्दशन् ॥११।१८५॥

क्षारमम्बु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः ।
तथा विषयसंभोगैः परं संतर्षमृच्छति ॥११।१९६॥

भोग्या हि बलिना स्त्रियः ।१३।५६।

सोपाया हि जिगीषवः ।१५।५७।

विद्यावान् पुरुषो लोके संमतिं याति कोविदैः ।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥१६।९८॥

विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता ।
सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥१६।९९॥

विद्या कामदुधा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणाम् ।
त्रिवर्गफलितां सूते विद्या संपत्परम्पराम् ॥१६।१००॥

विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम् ।
सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधिनी ॥१६।१०१॥

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः ।
पुण्यं च दानदमसयमसत्यशौच-
त्यागक्षमादिशुभचेष्टितमूलमिष्टम् ॥१६।२७१॥

दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुङ्गवेभ्यः
पूजां कुरुध्वमुपनम्य च तीर्थकृद्भ्यः ।
शीलानि पालयत पर्वदिनोपवासान्
विस्मार्ष्ट मा स्म सुधियः सुखमीप्सवश्चेत् ॥१६।२७४॥

संध्यारागनिभारूपशोभातारुण्यमुज्ज्वलम् ।
पल्लवच्छविवत्सद्यः परिम्लानिमुपाश्नुते ॥१७।१४॥

यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि ।
विषवल्लीनिभा भोगसपदो भङ्गि जीवितम् ॥१७।१५॥

घटिकाजलधारेव गलत्यायुः स्थितिर्द्रुतम् ।
शरीरमिदमत्यन्तपूतिगन्धि जुगुप्सितम् ॥१७।१६॥

निःसारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः ।
दुःखमेव महत्यस्मिन् सुखं काम्यति मन्दधीः ॥१७।१७॥

विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।
सवस्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेऽधुना ॥१७।१५१॥

तपः शक्तिरहो परा ॥१८।९४॥

वर्षीयांसो यवीयांस इति भेदो वयस्कृतः ।
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये न यून्यपचयो धियः ॥१८।११८॥

वयसः परिणामेन धियः प्राणेय मन्दिमा ।
कृतात्मनां वयस्याद्ये ननु मेधा विवर्धते ॥१८।११६॥

नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशान्तरम् ।
नवोऽप्यिन्दुर्जनाह्लादी दहत्यग्निर्जरन्नपि ॥१८।१२०॥

अपृष्टः कार्यमाचष्टे यः स धृष्टतरो मतः ॥१८।१२१॥

नामृष्टभाषिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्टकारिणी ।
नान्योपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेऽपि धीमताम् ॥१८।१२३॥

आमपात्रे यथा क्षिप्तं मङ्क्षु क्षीरादि नश्यति ।
अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्वं तच्च नाशयेत् ॥२०।१४३॥

नहि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत्परम् ।
तथा कर्मभराक्रान्तो दोषवान्नैव तारकः ॥२०।१४५॥

संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत् ।
रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते ॥२१।२४॥

न तत्सुखं परद्रव्यसंबन्धादुपजायते ।
नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम् ॥२१।२०६॥

सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदम् ।
ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासान्निध्ये मुक्तिकारणम् ॥२४।१२१॥

चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम् ।
प्रपातायैव तद्धि स्यादन्धस्येव विवल्गितम् ॥२४॥१२२॥

विषयानुक्रमाणिका

दशम पर्व

एकादश पर्व

द्वादश पर्व

श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

आदिपुराणम्

प्रथमं पर्व

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे । धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥ १ ॥

जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित हैं जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानरूपी साम्राज्यका पद प्राप्त कर लिया है, जो धर्मचक्रके धारक हैं, लोकत्रयके अधिपति हैं और पंच परावर्तनरूप संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं, ऐसे श्री अर्हन्तदेवको हमारा नमस्कार है।

विशेष—इस श्लोकमें सब विशेषण ही विशेषण हैं विशेष्य नहीं है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उक्त विशेषण जिसमें पाये जायें वही वन्दनीय है। उक्त विशेषण अर्हन्त देवमें पाये जाते हैं अतः यहाँ उन्हींको नमस्कार किया गया है। अथवा 'श्रीमते' पद विशेष्य-वाचक है। श्री ऋषभदेवके एक हजार आठ नामोंमें एक श्रीमत् नाम भी है जैसा कि आगे इसी ग्रन्थमें कहा जावेगा—'श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः' आदि। अतः यहाँ कथानायक श्री भगवान् ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है। टिप्पणकारने इस श्लोकका व्याख्यान विविध प्रकारसे

१. श्रीमदादितीर्थकृते नमः। ॐ नमो वक्रग्रीवाचार्याय श्रीकुन्दकुन्दस्वामिने। [१]अथागण्यवरेण्यसकल-पुण्यचक्रवर्तितीर्थकरपुण्यमहिमावष्टम्भसम्भूतपञ्चकल्याणाञ्चितसर्वभाषास्वभावदिव्यभाषाप्रवर्तकपरमाप्तश्रीमदा-दिब्रह्मादिश्रीवर्धमानान्ततीर्थकरपरमदेवैरर्थतो निरूपितस्य चतुरमलबोधसप्तर्धिनिधिश्रीवृषभसेनाद्यगौतमान्त-गणधरवृन्दारकैर्वृषभैः कविभिर्ग्रन्थतो ग्रथितस्य भरतसगरसकलचक्रवर्तिप्रभृतिश्रेणिकमहामण्डलेश्वरपर्यन्तमहा-क्षोणीश्वरैस्समुरासुराधीश्वरैरमन्दानन्दसन्दोहपुलकितकर्णकपोलभित्तिभिराकर्णितस्य महानुभावचरित्राश्रयस्य श्रुतस्कन्धप्रथममहाधिकारस्य प्रथमानुयोगमहासमुद्रस्य वेलामिव बृहद्ध्वाना प्रसृतार्थजला ज्ञानविज्ञानसम्पन्नवर्ज्य-भीरुभिः पूर्वसूरिभिः कालानुरोधेन नानाप्रबन्धेन विरचितां तदनुकविपरमेश्वरेण प्रहृद्यगद्यकथारूपेण संकथितां त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरिताश्रया परमार्थबृहत्कथा संगृह्य महापुराणाख्यमद्भुतार्थं ग्रन्थं चिकीर्षुर्जिनेन्द्रैदलालितः श्रीमदमोघवर्षमहाराजमणिमुकुटवलभिविटङ्कमचारितचारुचरणनखचन्द्रचन्द्रिको जिनसेनमुनीन्द्रो महाकवीन्द्रस्त-न्महापुराणप्रथमावयवभूतादिपुराणस्यादौ तत्कथामहानायकस्य विश्वविद्यापरमेश्वरस्यादिब्रह्मण इतरदेवासम्भवि-निरतिशयमाहात्म्यप्रतिपादनपरा पञ्चभिः पदैः पञ्चपरमेष्ठिप्रकाशिका तत्तन्नमस्काररूपपरममङ्गलमयीं च प्रेक्षावतामानन्दकन्दलीमिमां नान्दीमुन्मुद्रयति श्रीमत इत्यादिना। अहं श्रीमते नमस्करोमीति क्रियाकारकसंबन्धः, असंबद्धयोस्तयोर्वाक्यार्थस्य प्रतिपादकत्वायोगात्। अत्र कर्तृक्रिययोस्त्वनभिहितयोः कथं संबन्ध इति चेत्?

१ श्रीमत्सालुविम्मणिदेवेन्द्रभव्यपुण्डरीकम्।

किया है जिसमें उन्होंने अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, वृषभसेन गणधर तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर आदिको भी नमस्कार किया गया प्रकट किया है। अतः उनके अभिप्रायके अनुसार कुछ विशेष व्याख्यान यहाँ भी किया जाता है। भगवान् वृषभदेवके पक्षका व्याख्यान ऊपर किया जा चुका है। अरहन्त परमेष्ठीके पक्षमें 'श्रीमते' शब्दका अर्थ अरहन्त परमेष्ठी लिया जाता है; क्योंकि वह अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित होते हैं। सिद्ध परमेष्ठीके पक्षमें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे' पदका अर्थ सिद्ध परमेष्ठी किया जाता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण ज्ञानियोंके साम्राज्यके पदको–लोकाग्रनिवासको प्राप्त हो चुके हैं। आचार्य परमेष्ठीके पक्षमें 'धर्मचक्रभृते' पदका अर्थ आचार्य लिया जाता है; क्योंकि

तयोरुपस्कृतत्वेनाभिधानात्। अन्यथा वाक्यार्थस्यापरिसमाप्तेः। तत्र अहमिति कर्तुस्साक्षादनभिधानेन प्रणतजगत्त्रितयगणधरसकलश्रुतधरदशपूर्वधरैकादशाङ्गधराहमिन्द्रेन्द्रादिषु वन्दारुवृन्दारकेषु सत्सु अहं कियानिति सूरेरौद्धत्यपरिहारलक्षण वस्तु व्यज्यते। क्रियायास्तथानभिधानेन नमस्कुर्वन्त्वित्यादीनामन्ययुष्मदस्मदर्थाना ग्रहणेन सर्वेऽपि भव्यसिंहास्तन्नमस्काररूप परममङ्गलमङ्गीकुर्वन्तु येनाभिमतसिद्धिस्स्यादिति सर्वभव्यलोकोत्साहनेनाचार्यस्य परानुग्रहनिरतत्वमुद्योतितम्। अस्तु नाम कर्तृक्रिययो साक्षादनभिधानस्य प्रयोजनम्। किं कर्म ? करोते. सकर्मकत्वात् ? तत्राह–'नम' इति। अत्र नमश्शब्दो निर्भरभूतलशयालुमौलिभावलक्षणपूजावचन। 'नमश्शब्द पूजावचन' इति न्यासकारेण निरूपणात्। तत्करोमीत्यन्वयेन तस्य कर्मत्वसिद्धे स्फुटत्वात्। अत्र नम इति दिव्यनमस्कारेणान्तर्जल्पात्मको भावनमस्कारोऽपि विद्यते, तत्रभवति निस्सीमभक्तियुक्तस्य सूरेरुभयत्रापर्यायित्वात्। अस्तु नमश्शब्द पूजावचन., कस्मै पूज्याय नम ? यद्योगाच्चतुर्थी स्यादित्याकाङ्क्षाया विशेष्यं निर्दिशति–श्रीमत इति। पुण्यवतः पुरुषान् श्रयतीति श्रीर्लक्ष्मी सा च बहिरङ्गान्तरङ्गभेदाद् द्विविधा। तत्र बहिरङ्गलक्ष्मीः समवसरणादिरभ्यन्तरलक्ष्मीः केवलज्ञानादिस्तयोरुभयोरपि श्रीरिति ग्रहणम्, जात्यपेक्षया तथा ग्रहीतुं सुशकत्वात्। यद्यप्यभ्युदयलक्ष्मी राजाधिराजार्द्धमण्डलीकमण्डलीकार्द्धचक्रधरहलधरसकलचक्रधरकुलिशधरतीर्थंकरसत्कर्मधरादिसंबन्धभेदेनानेकधा तथापि निरतिशययो. प्रकृतोभयलक्ष्म्योरेवात्र ग्रहणम्। निरतिशया उक्तलक्षणा श्रीर्लक्ष्मीरस्यास्ति 'श्रीमान्' इति, निरतिशयातिशयार्थे मतोर्विधानात्। ताभ्यामतिशयिताया लक्ष्म्या असम्भवात् न केवलमेतस्मिन्नेवार्थे बहिरङ्गलक्ष्म्या ससर्गेऽन्तरङ्गलक्ष्म्या नित्ययोगेऽपि मतोर्विधानमुन्नेतव्यम् 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। ससर्गेऽस्ती' त्यादिवचनात्। यद्यपि सप्ततिशतकर्मभूमिषु तीर्थंकरेषु सर्वेष्वप्येतत् प्रवृत्तिनिमित्तमाश्रित्य श्रीमद्व्यवहारो जाघटीति तथाप्येतत् क्षेत्रकालेन्द्रादिवृद्धव्यवहारतत्पुराणादिनामश्रीमाश्रित्य तत्रैव तद्व्यवहारस्य प्रसिद्धि। तस्य महाभागधेयस्याष्टोत्तरसहस्रनामधेयेषु "श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभ" इत्यादिषु सकलसज्ञाजीवातुत्वेन तस्यैव पुरस्कृतत्वात्। तथाप्यभिधानमाश्रित्य श्रीमच्छब्दस्य प्रजापतिश्रीपतिवाक्पतिश्रीधनादिषु आप्ताभासेष्वपि व्यवहारसभवात्, तेभ्यो नम इति स्यात्, तद्व्युदासाय विशेषणमाह–सकलेति। सकलं सर्वद्रव्यपर्यायगत च तज्ज्ञान च सकलज्ञानं केवलज्ञानमिति यावत्, 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रणात्। तदेवाभेदेन चक्रवर्तित्वपदव्या रूप्यते सकलज्ञानमेव साम्राज्यपदं सकलज्ञानसाम्राज्यपद तथा तेनाभेदेन सकलज्ञानस्य निरूपणेन लोकोत्तरत्वातिदुर्लभत्वजगत्सारत्वादितन्माहात्म्यस्य लोकेऽपि प्रकटनप्रयोजनस्य सुघटत्वात्। तदीयुषे जग्मुषे, प्राप्तवते किल। अनेन तद्व्युदास. कथमिति चेत् ? अन्तर्बहिर्वस्तुन कथंचित् द्रव्यपर्यायात्मकस्य सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणेन अस्तित्वसाधनात्। सर्वथा द्रव्यमात्रस्य पर्यायमात्रस्य वा सर्वथा विभिन्नतद्द्वयस्य अभिन्नतद्द्वयस्य वा सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणेन खपुष्पवन्नास्तित्वसिद्धेः।

"अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्व तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम्" इति समन्तभद्रस्वामिवचनात्। तथा चार्थाभासग्राहिणा आप्ताभासाना सर्वज्ञाभासत्वेन तेषा सकलज्ञानेत्यादिना व्युदासात्। न च तैरुपचरितसर्वज्ञै परमार्थसर्वज्ञस्य व्यभिचार, अतिप्रसगात्। येनाभिधानसिद्धश्रीमद्व्यवहारेण तेभ्योऽपि नम. स्यात्। तथापि सिद्धपरमेष्ठिनानैकान्तः तस्यापि केवलाख्यामकेवला श्रियमनुभवत श्रीमत्सकलज्ञान इत्यादिविशेषणसद्भावात्।

वह उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके चक्र अर्थात् समूहको धारण करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठीके पक्षमे 'भर्त्रे' पदका अर्थ उपाध्याय किया जाता है; क्योंकि वह अज्ञानान्धकारसे दूर हटाकर सम्यग्ज्ञानरूपी सुधाके द्वारा सब जीवोंका भरण-पोषण करते हैं और साधु परमेष्ठीके पक्षमें 'संसारभीमुषे' शब्दका अर्थ साधु लिया जाता है क्योंकि वह अपनी सिंहवृत्तिसे संसार-सम्बन्धी भयको नष्ट करनेवाले हैं।

इस श्लोकमें जो 'श्रीमते' आदि पद है उनमें जातिवाचक होनेसे एकवचनका प्रत्यय लगाया गया है अतः भूत भविष्यत् वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरोंको भी इसी श्लोक-से नमस्कार सिद्ध हो जाता है। भरत चक्रवर्तीके पक्षमें इस प्रकार व्याख्यान है–जो नवनिधि और चौदह रत्नरूप लक्ष्मीका अधिपति है, जो सकलज्ञानवान् जीवोंके संरक्षणरूप साम्राज्य-पदको प्राप्त है, (सकलाश्च ये ज्ञाश्च सकलज्ञाः, सकलज्ञानाम् अनं जीवनं यस्मिंस्तत् तथाभूतं यत्साम्राज्यपदं तत् ईयुषे) जो पूर्व जन्ममें किये हुए धर्मके फलस्वरूप चक्ररत्नको धारण करता

"सिद्धो लोकोत्तराभिख्या केवलाख्यामकेवलाम्। अनूपमामनन्ता तामनुवोभूयते श्रियम् ॥" इति वादीभसिंहेनोक्तत्वात्।

तथा च प्रतिज्ञाहानि जीवन्मुक्तस्यात्राधिकृतत्वात् इत्यत्राह–धर्मचक्रेति। द्वितीयदिवसकराप्रतिबिम्ब-बिम्बशङ्काकरजाज्वलद्धर्मचक्रायुध बिभर्ति धर्मचक्रभृत् "स्फुरदरसहस्रसुरुचिर" इत्यादि प्रवचनात् "धर्मचक्रा-युधो देव" इति वचनाच्च, तस्मै। जीवन्मुक्तस्यैव धर्मचक्रायुधेन योग इति प्रकृतार्थस्यैव स्वीकरणात्। अनेन तदविनाभूतं समवसरणादिकमप्युपलक्षितम्। अथवा विशेष्यस्य उभयलक्ष्मीरमणत्वस्य व्यावर्णनया एतद्द्वयं संभवद्विशेषण "सम्भवव्यभिचाराभ्या स्याद्विशेषणमर्थवत्" इति न्यायात्।

किं च सकलज्ञानसाम्राज्यपदप्राप्ति कस्यायुधस्य धारणयेत्यत्र धर्मेति। धर्मः चरित्रम् "चारित्तं खलु धम्मो" इति कुन्दकुन्दस्वामिभिर्निरूपितत्वात्। तदत्र प्रकरणबलात् यथाख्यातचारित्र तदेव चक्रमिव चक्रं दुर्जयघातिकर्मारिनिर्जयेन सकलसाम्राज्यपदप्राप्तिहेतुत्वात्। तत्सदा बिभर्ति इति धर्मचक्रभृत् तस्मै, अनेन यथाख्यातचारित्रस्य घातिकर्मारिनिर्जयेन सकलज्ञानसाम्राज्यपदप्राप्ते साध्यसाधनभाव कथंचिन्निरतिशय सानुग्राहकत्व चोपढौकितम्।

ननु निरतिशयं परानुग्राहकेणापि भवितव्यम्। यतः तन्नमस्कारः पम्फुलीतीत्यत्राह–भर्त्रे इति। विश्व जगत् बिभर्ति पुष्णातीत्येवंशीलो भर्ता तस्मै भर्त्रे विश्वस्य जगत. स्वामिने पोषणनिरताय, अनेन अपारानुग्रह-शीलत्वमुक्तम्। कुतोऽय निरतिशय परानुगृह्णातीति निश्चय ? इत्यत्रोत्तरयति "संसारेति"। अत्र "गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः" इत्यादिवत् संसारिणा संसारभीमुट्त्वादिहेतुगर्भविशेषणेन उत्तरमिति निर्णय। स्वभर्तृत्वस्य स्वसंसारभीमुट्त्वस्य च प्रागुक्तविशेषणद्वयेनैव व्यज्यमानत्वात्। क्षुधातृषाजननमरणादिनानाघोर-दुःखानामाकर संसार भव इति यावत्। "क्षुत्तृष्णाश्वासकासज्वरमरणजरारिष्टयोगप्रमोहव्यापत्त्याद्युग्रदुःख-प्रभवभवहते"रिति पूज्यपादैर्निगदितत्वात्। तस्माद्भीः ता मुष्णाति लुण्टयतीति संसारभीमुट् तस्मै। अत्र संसारिणा संसारभयलुण्टाकत्वव्यावर्णनया निरायासेन संसारभयापहरणदक्षचातुर्यातिशय प्रकाशितः तीर्थंकर-सत्कर्मण. तस्य तादृग्विधातिशयस्य दुर्वारसंसारविच्छेदोपायनियुक्तदिव्यध्वनिप्रवर्तनामात्रेणैव संसिद्धे। तदेवं विश्वविद्यापरमेश्वरस्य विश्वस्य जगतः सम्यक् समुद्धरणपाण्डित्यपराकाष्ठामधिष्ठितस्य परमाप्तस्यादिब्रह्मणः पारमैश्वर्यं चतुरलौकिकजनेऽपि प्रथयितु श्रीमत्साम्राज्यपदचक्रभृत् भर्तृभीमुट्पदप्रयोगसामर्थ्याद्भरतचक्रधर-वदितीव श्रुतेरभावाच्च व्यङ्ग्यतया भरतचक्रधरेणोपमालङ्कार प्रथते। तथा हि–यथाभूतसंरक्षणादिक्षात्रधर्मस्य रक्षितयक्षसहस्रचक्ररत्नस्य च धारणया धर्मचक्रभृत् भरतचक्रवर्ती।

है, (धर्मेण–पुराकृतसुकृतेन प्राप्तं यच्चक्रं तद् बिभर्तीति तस्मै) जो, षट्खण्ड भरतक्षेत्रकी रक्षा करनेवाला है और जिसने संसारके जीवोंका भय नष्ट किया है अथवा षट्खण्ड भरतक्षेत्रमें सब ओर भ्रमण करनेमें जिसे किसी प्रकारका भय नहीं हुआ है (समन्तात् सरणं भ्रमणं संसारस्तस्मिन् भियं मुष्णातीति तस्मै) अथवा जो समीचीन चक्रके द्वारा सबका भय नष्ट करनेवाला है (अरैः सहितं सारं चक्ररत्नमित्यर्थः, सम्यक् च तत् सारञ्च संसारं तेन भियं मुष्णातीति तस्मै) ऐसे तद्भवमोक्षगामी चक्रधर भरतको नमस्कार है।

बाहुबलीके पक्षमें निम्न प्रकार व्याख्यान है–जो भरत चक्रधरको त्रिविध युद्धमें परास्त कर अद्भुत शौर्यलक्ष्मीसे युक्त हुए हैं जो धर्मके द्वारा अथवा धर्मके लिए चक्ररत्नको

अथवा कैवल्याद्युदयत्रये निवेदिते धर्ममेव बहु मन्वाना कैवल्यपूजा विधाय 'संचितधर्मा तदनुचक्रं पूजयामासेति' स्मृतेर्धर्मादनन्तरं चक्ररत्नं बिभर्ति–पुष्णाति–पूजयति–चरतीति वा धर्मचक्रभृदिति भरत एव प्रोच्यते। स च सम्यग्दर्शनादिरूपधर्मसम्पत्त्या नवनिध्यादिजनितार्थसम्पत्त्या सुभद्रमहादेव्यादिवस्तु कृतकामसम्पत्त्या "श्रीमान्" आदिब्रह्मोपदिष्टकलासहितज्ञानपदप्राप्त्या साम्राज्यपदप्राप्त्या च सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान् षट्खण्डभूमण्डलस्वामित्वेन भर्ता सक्षोभेण सारयन्ति इतस्ततो गमयन्ति जनान् इति णिजन्तात्कर्तरि यचि, संसाराश्चोरचरटमन्त्र्यादयो (?) राष्ट्रकण्टकाः तेभ्यो जनताना भियं स्वप्रतापेन मुष्णातीति संसारभीमुद् जनताया नमस्याश्रयो भवति। तथा भद्रमचक्रवर्तित्वेन चक्रभृदय आदितीर्थेश्वर, बहिरङ्गलक्ष्म्या सयुक्तत्वेन अन्तरङ्गलक्ष्मीभिर्नित्ययुक्तत्वेन श्रीमान् गणधराहमिन्द्रदेवेन्द्रचक्रवर्त्यादिप्रार्थनीयं सकलज्ञानसाम्राज्यपदमधितिष्ठन् त्रिजगतो भर्ता जनताया आजवजवदस्युभयलुण्टाकत्वेन ससारभीमुट्–अनन्तानन्तसुखदायकस्य महापुरुषस्य नमस्याश्रयो न स्यात् इति।

अथवा षट्खण्डभर्तृचक्रधरात्त्रिजगत्स्वामिन श्रीमत इत्यादिषु सर्वत्राधिक्यात् व्यतिरेकालङ्कारो वा व्यज्यते, सादृश्यमात्रापेक्षया प्रागुपमालङ्कारस्य प्रकाशितत्वात्। नन्वेवंविधप्रथमानुयोगमहाशास्त्रस्यादौ पञ्चपरमेष्ठिना नमस्कारं भगवानाचार्यः कुतो नाङ्गीचकार भूतबलिभट्टारकैर्महाकर्मप्रकृतिप्राभृतद्रव्यानुयोगमहाशास्त्रस्यादावनादिसिद्धपञ्चमहाशब्दै पञ्चपरमेष्ठिना नमस्कारकरणादित्याकाङ्क्षाया श्रीमदित्यादि पञ्चपदरत्नप्रदीपा पञ्चपरमेष्ठिनां प्रकाशकत्वेन नमः शिखया प्रज्वलन्तीत्याह श्रीमत इत्यादि "श्रीमते नम"। एवं सर्वं सबद्धव्यम्। श्रीरार्हन्त्यमहिमाघातिकर्मारिनिर्जयप्रादुर्भूतनवकेवललब्ध्याद्यात्मा 'श्रीरार्हन्त्यमहिमेति' न्यासकारवचनात्। साऽस्यास्तीति श्रीमान् तस्मै श्रीमते नम, अर्हते नम, 'णमो अरहंताणं' इति यावत्—

"केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासिअण्णाणो। णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो।"

इत्यर्हल्लक्षणप्रतिपादकप्रवचनसद्भावात्। अनन्तानन्तस्वविभागं सपूर्णत्वात् सकलं तच्च तज्ज्ञानं च सकलज्ञानम् उपलक्षणात् सम्यग्दर्शनादिसप्तगुणाना ग्रहणं ततस्तत्सहितं तदेव साम्राज्यपदं गुणाष्टकसाम्राज्यपदमिति यावत्। अथवा सकलैरशेषैरशेषैरेकार्थसमवायिभि क्षायिकसम्यग्दर्शनादिसप्तगुणै. सहित च तज्ज्ञान च. सकलज्ञान तदेव साम्राज्यपदम्। अथवा सकलज्ञानामनन्तानन्ताना सर्वज्ञानाम् आन प्राणनं विशुद्धचैतन्यमयभावप्राणैर्जीवनमत्रेति सकलज्ञानः तनुवातस्त्वेवमुच्यते तदेव साम्राज्यपद सकलज्ञानसाम्राज्यपद तदीयविषये प्राप्तवते नम सिद्धपरमेष्ठिने नमः 'णमो सिद्धाणमिति' यावत्। "अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा" इति प्रवचनात्। स्वयमाचरन्, धर्मैः सम्यग्दर्शनाचारादिपञ्चाचारैर्यथायथ चक्रं द्वादशगण बिभर्तीति धर्मचक्रभृत् गणधर आचार्यवृषभ तस्मै धर्मचक्रभृते नम आचार्यपरमेष्ठिने नमः 'णमो आइरियाणमिति' यावत्। "पञ्चमुक्त्यै स्वयं ये आचारानाचरन्तः परमकरुणयाचारयन्ते मुमुक्षून् लोकाग्रगण्यशरण्यान् गणधरवृषभान्" इत्याद्याचार्यैर्निरूपणात्। षड्द्रव्यसप्ततत्त्ववादीना सदोपदेशेनैव मुमुक्षून् बिभर्ति

धारण करनेवाले भरतके स्तवन आदिसे केवलज्ञानरूप साम्राज्यके पदको प्राप्त हुए हैं। एक वर्षके कठिन कायोत्सर्गके बाद भरत-द्वारा स्तवन आदि किये जानेपर ही बाहुबली स्वामीने निःशल्य हो शुक्लध्यान धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया था। जो इभर्त्रे-(इश्चासौ भर्ता च तस्मै) कामदेव और राजा दोनों हैं अथवा ईभर्त्रे (या भर्ता तस्मै)-लक्ष्मीके अधिपति हैं और कर्मबन्धनको नष्ट कर संसारका भय अपहरण करनेवाले हैं ऐसे श्री बाहुबली स्वामीको नमस्कार हो।

इस पक्षमें श्लोकका अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—श्रीमते, धर्मचक्रभृता, सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे, संसारभीमुषे, इभर्त्रे, नमः।

वृषभसेन गणधरके पक्षमें व्याख्यान इस प्रकार है। श्रीमते यह पद चतुर्थ्यन्त न होकर सप्तम्यन्त है—(श्रिया—स्याद्वादलक्ष्म्या उपलक्षितं मतं जिनशासनं तस्मिन्) अतएव जो स्याद्वादलक्ष्मीसे उपलक्षित जिनशासन-अर्थात् श्रुतज्ञानके विषयमें परोक्ष रूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके साम्राज्यको प्राप्त हैं, जो धर्मचक्र अर्थात् धर्मोंके समूहको धारण करनेवाले हैं—पदार्थोंके अनन्त स्वभावोंको जाननेवाले हैं, मुनिसंघके अधिपति हैं

पुष्णातीत्येवंशीलो भर्ता तस्मै भर्त्रे नमः उपाध्यायपरमेष्ठिने नमः 'णमो उवज्झायाणमिति' यावत्। "जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो। सो उवझाओ अप्पा जदिवरउसहो णमो तस्स" इत्यागमात्। सद्ध्याननिलीनः सन् दर्शनज्ञानसमग्रभावमोक्षस्य साधकतमं विशुद्धचारित्रं नित्य साधयन् यतीन्द्रो भावसंसारभियं मुष्णातीति ससारभीमुट् तस्मै संसारभीमुषे नमः साधुपरमेष्ठिने नमः 'णमो लोए सव्वसाहूणमिति' यावत्। "दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जोहु चारित्तं। साहयदि सुद्धणिच्चं साहू स मुणी णमो तस्स॥" इति प्रवचनात्। अत्र—इतरपदवत् चतुर्थीविभक्त्यन्तत्वेन पदत्वं हित्वा सकलज्ञानसाम्राज्यपदमिति व्यासवचनं तु मतमहातिशयज्ञापनार्थं प्रतिज्ञावचनमाचार्यस्येति ब्रूमः। तथाहि सकलतत्त्वव्यवस्थाजीवातुस्याद्वादामोघलाञ्छनलाञ्छितत्वेन, सर्वबाधाविधुरसाधनसाधितत्वेन सर्वोदयवत्त्वेन च श्रीमदर्हन्मत तीर्थं श्रीमत "सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव" इति युक्त्यनुशासनात्। अस्मिन् श्रीमत एव सकलज्ञानसाम्राज्यपद श्रीमत्स्वाम्यथानुपपत्तेरिति। तदीयुषे इति संबन्धः। अत्र पुराणे न केवलमादितीर्थंकरः भरतधर्मचक्रभृच्छलाकापुरुषस्य प्रतिपाद्यत इति प्रकाशितः। अपरः दानश्रेयोनृपतिप्रमुतिधार्मिकोत्तमो जनोऽपीति प्रतिपाद्यार्थं प्रकाशयति-श्रीमत इति। श्रीमतिपर्यायोऽस्यास्तीति श्रीमतः "अभ्रादिभ्यः" इत्यविधानात् दानश्रेयो नृपतिरित्यर्थः तस्य श्रीमतिचरत्वात् तस्मिन् सति सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे इति सबन्ध" इत्यनेन नानाकथासबन्धो दानतीर्थंकरश्च प्रतिपाद्य इति प्रकाशितः।

"जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनु श्रेयान् नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः।
याभ्यां बभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे॥"

इति दानतीर्थंकरत्वप्रसिद्धेः। किं च सर्वपादाद्यक्षराणां पठनेन श्रीसावनमिति प्रयोजनप्रतिपादनातिशयः सद्धर्मलक्ष्म्या प्रेक्षावद्भिरवगन्तव्य इत्युपरम्यते। अत्रैव पुनः प्रेक्षावतामानन्दकन्दल्या नान्द्या श्रीमद्वेणुपुरभव्यजनं सबोधयन्नाचार्यः प्रश्नोत्तरेण सद्धर्मसर्वस्वरहस्यमत्रैवेत्यन्तर्लापित्वेन दृढयन्नाशिषमाह—श्रीमत इति। लक्ष्म्या वा मतिर्यस्य असौ श्रीमतिः तस्य संबुद्धिः श्रीमते! भो भो भरतसौधर्माधिपतिदुर्लभकलियुगजैनमार्गप्रभावभासतोषितसौधर्मेन्द्रलौकान्तिकेन्द्रविदेहचक्रीन्द्रसालुविम्मणिदेवेन्द्र! अभ्युदयनिश्रेयसलक्ष्मीस्वसात्करणलोलुपबुद्धे! सकलज्ञानसाम्राज्यपदं क्वेति जिज्ञासायां श्रीमत एव अर्हच्छासन एव तस्मिन् सति सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे धर्मचक्रभृते भर्त्रे संसारभीमुषे श्रीमते आदीश्वराय अथवा पार्श्वतीर्थकृत्सम्मुखीनत्वादि प्रकरणबलात् भुवं धरतीति धर्मो धरणीन्द्रस्तं चक्राकारेण वलयाकारेण समीपे बिभर्तीति धर्मचक्रभृत् पार्श्वतीर्थंकरः तस्मै शेषविशेषणविशिष्टाय श्रीमत्पार्श्वतीर्थकृते नमस्कुर्वे यतस्ते सुरासुरेन्द्रमुकुटतटगतदिव्यमणिकिरणजालबालातपकवचितचारुचरणारविन्दतीर्थंकरपरमदेवनिरतिशयकल्याणपरम्परा स्यादिति सर्वं समन्ततो भद्रम्।

नमस्तमःपटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे । जिनेन्द्रांशुमते [1] तन्वत्प्र[2]माभारभासिने ॥२॥
जयत्यजय्यमाहात्म्य[3] विशा[4]सितकुशासनम् । शासनं जैनमुद्भासि [5]मुक्तिलक्ष्म्येकशासनम् ॥३॥
रत्नत्रयमयं जैनं[6] जैत्रमस्त्रं जयत्यदः । येनाव्याजं [7]व्यजेष्टार्हन् दुरितारातिवाहिनीम् ॥४॥
यः साम्राज्यमधःस्थायि गीर्वाणाधिपवैभवम् । [8]तृणाय मन्यमानः सन् प्राव्राजीदग्रिमः पुमान् ॥५॥
[9]यमनुप्राव्रजन् भूरि सहस्राणि महीक्षिताम् । इक्ष्वाकुभो[10]जमुख्यानां स्वामिभक्त्यैव केवलम् ॥६॥
कच्छाद्या यस्य सद्वृत्तं निर्वोढुमसहिष्णव । वसानाः[11] पर्णवल्काद्यान् वन्यां [12]वृत्ति प्रपेदिरे ॥७॥
[13]अनाश्वान्यस्तपस्तेपे[14] चरं सोढ्वा परीषहान् । सर्वं सहत्वमाध्याय[15] निर्जरासाधनं परम् ॥८॥

और अपने सदुपदेशोंके द्वारा संसारका भय नष्ट करनेवाले हैं ऐसे वृषभसेन गणधरको नमस्कार हो।

"भुवं धरतीति धर्मो धरणीन्द्रस्तं चक्राकारेण वलयाकारेण समीपे बिभर्तीति धर्मचक्रभृत् पार्श्वतीर्थंकरः तस्मै"। उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार 'धर्मचक्रभृते' शब्दका अर्थ पार्श्वनाथ भी होता है अतः इस श्लोकमें भगवान् पार्श्वनाथको भी नमस्कार किया गया है। इसी प्रकार जयकुमार, नारायण, बलभद्र आदि अन्य कथानायकोंको भी नमस्कार किया गया है। विशेष व्याख्यान संस्कृत टिप्पणसे जानना चाहिए। इस श्लोकके चारों चरणोंके प्रथम अक्षरोंसे इस ग्रन्थका प्रयोजन भी ग्रन्थकर्ताने व्यक्त किया है—'श्रीसाधन' अर्थात् कैवल्यलक्ष्मीको प्राप्त करना ही इस ग्रन्थके निर्माणका प्रयोजन है ॥१॥

जो अज्ञानान्धकाररूप वस्त्रसे आच्छादित जगत्को प्रकाशित करनेवाले हैं तथा सब ओर फैलनेवाली ज्ञानरूपी प्रभाके भारसे अत्यन्त उद्भासित–शोभायमान हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्यको हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥ जिसकी महिमा अजेय है, जो मिथ्यादृष्टियोंके शासनका खण्डन करनेवाला है, जो नय प्रमाणके प्रकाशसे सदा प्रकाशित रहता है और मोक्षलक्ष्मीका प्रधान कारण है ऐसा जिनशासन निरन्तर जयवन्त हो ॥३॥ श्री अरहन्त भगवान्ने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुओंकी सेनाको सहज ही जीत लिया था ऐसा जयनशील जिनेन्द्रप्रणीत रत्नत्रयरूपी अस्त्र हमेशा जयवन्त रहे ॥४॥ जिन अग्रपुरुष–पुरुषोत्तमने इन्द्रके वैभवको तिरस्कृत करनेवाले अपने साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ समझते हुए मुनिदीक्षा धारण की थी, जिनके साथ ही केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर इक्ष्वाकु और भोजवंशके बड़े-बड़े हजारों राजाओंने दीक्षा ली थी, जिनके निर्दोष चरित्रको धारण करनेके लिए असमर्थ हुए कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओंने वृक्षोंके पत्ते तथा छालको पहिनना और वनमें पैदा हुए कन्द-मूल आदिका भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया था, जिन्होंने आहार पानीका त्यागकर सर्वंसहा पृथिवीकी तरह सब प्रकारके उपसर्गोंके सहन करनेका दृढ विचार कर अनेक परीषह सहे थे तथा कर्मनिर्जराके मुख्य कारण तपको चिरकाल तक तपा था, चिरकाल तक तपस्या करनेवाले जिन जिनेन्द्रके मस्तकपर बढी हुई जटाएँ ध्यान-

---

१. तत्त्वप्रमाभा–अ०, प०, स०, द०, ल० । २ प्रकृष्टज्ञानम् । ३ -त्म्यविशा-स० । ४ विनाशित । ५ मुक्तिलक्ष्म्या एकमेव शासन यस्मात् तत् । ६. जिनस्येदम् । ७ परावेर्जेरिति सूत्रादात्मनेपदी । ८ तृणं मन्यमान 'मन्यस्योकाकादिषु यतोऽवज्ञा' इति चतुर्थी । ९ येन सह । १०. भोजवंशः । ११ परिदधाना । १२ जीवनम् । १३ अनशनवान् । १४. अत्र तपम्तपसि, तपेर्धातो- कर्मवत् कार्यं भवति । तपसि कर्मणोत्यात्मनेपदी । १५ आलम्ब्य विमृश्य वा । आधाय द०, स० ।

चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम्। ध्यानाग्निदग्धकर्मेन्धननिर्यद्धूमशिखा इव ॥९॥
मर्यादाविष्क्रियाहेतोर्विहरन्तं यदृच्छया। चलन्तमिव हेमाद्रिं ददृशुर्यं सुरासुराः ॥१०॥
श्रेयसि[3] प्रयते दानं यस्मै दत्त्वा प्रसेदुषि[4]। पञ्चरत्नमयीं वृष्टिं ववृषुः सुरवारिदाः ॥११॥
[5]उदपादि विभोर्यस्य घातिकर्मारिनिर्जयात्। केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकावभासकम् ॥१२॥
येनाभ्यधायि सद्धर्मः कर्मारातिनिबर्हणः। सदःसरोमुखाम्भोजवनदीधितिमालिना ॥१३॥
यस्मात् स्वान्वयमाहात्म्यं शुश्रुवान् भरतात्मजः[6]। सलीलमनटच्चारुचञ्चच्चीवरवल्कलः[7][8] ॥१४॥
तमादिदेवं नाभेयं वृषभं वृषभध्वजम्। [9]प्रणौमि [10]प्रणिपत्याहं [11]प्रणिधाय मुहुर्मुहुः ॥१५॥
अजितादीन् महावीरपर्यन्तान् परमेश्वरान्। जिनेन्द्रान् [12]पर्युपासेऽहं धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥१६॥
सकलज्ञानसाम्राज्ययौवराज्यपदे स्थितान्। [13]तोष्टवीमि गणाधीशानाप्तसंज्ञानकण्ठिकान् ॥१७॥
अनादिनिधनं तुङ्गमनल्पफलदायिनम्। [14]उपाध्वं विपुलच्छायं[15] श्रुतस्कन्धमहाद्रुमम् ॥१८॥
इत्याप्तासवचः[16] स्तोत्रैः कृतमङ्गलसत्क्रियः। पुराणं [17]संग्रहीष्यामि त्रिषष्टिपुरुषाश्रितम् ॥१९॥
तीर्थेशामपि चक्रेशां हलिनामर्धचक्रिणाम्। त्रिषष्टिलक्षणं वक्ष्ये पुराणं तद्द्विषामपि ॥२०॥
पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महन्महदाश्रयात्। महद्भिरुपदिष्टत्वात् महाश्रेयोऽनुशासनात् ॥२१॥

रूपी अग्निसे जलाये गये कर्मरूप ईंधनसे निकलती हुई धूमकी शिखाओंके समान शोभायमान होती थीं, मर्यादा प्रकट करनेके अभिप्रायसे स्वेच्छापूर्वक चलते हुए जिन भगवान्‌को देखकर सुर और असुर ऐसा समझते थे मानो सुवर्णमय मेरु पर्वत ही चल रहा है, जिन भगवान्‌को हस्तिनापुरके राजा श्रेयांसके दान देनेपर देवरूप मेघोंने पाँच प्रकारके रत्नोंकी वर्षा की थी, कुछ समय बाद घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको पराजित कर देनेपर जिन्हें लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी, जो सभारूपी सरोवरमें बैठे हुए भव्य जीवोंके मुखरूपी कमलोंको प्रकाशित करनेके लिए सूर्यके समान थे, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका उपदेश दिया था, और जिनसे अपने वंशका माहात्म्य सुनकर वल्कलोंको पहिने हुए भरतपुत्र मरीचिने लीलापूर्वक नृत्य किया था। ऐसे उन नाभिराजाके पुत्र वृषभचिह्नसे सहित आदिदेव (प्रथम तीर्थंकर) भगवान् वृषभदेवको मैं नमस्कार कर एकाग्र चित्तसे वार-वार उनकी स्तुति करता हूँ ॥५-१५॥ इनके पश्चात्, जो धर्मसाम्राज्यके अधिपति हैं ऐसे अजितनाथको आदि लेकर महावीर पर्यन्त तेईस तीर्थंकरोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥१६॥ इसके बाद, केवलज्ञानरूपी साम्राज्यके युवराज पदमें स्थित रहनेवाले तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरणको प्राप्त हुए गणधरोंकी मैं वार-वार स्तुति करता हूँ ॥१७॥ हे भव्य पुरुषो! जो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आदि और अन्तसे रहित है, उन्नत है, अनेक फलोंका देनेवाला है, और विस्तृत तथा सघन छायासे युक्त है ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्षकी उपासना करो ॥१८॥ इस प्रकार देव गुरु शास्त्रके स्तवनों-द्वारा मङ्गलरूप सत्क्रियाको करके मैं त्रेसठ शलाका (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र) पुरुषोंसे आश्रित पुराणका संग्रह करूँगा ॥१९॥ तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और उनके शत्रुओं—प्रतिनारायणोंका भी पुराण कहूँगा ॥२०॥ यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता

१. कर्मेध-द०। एध इन्धनम्। २. प्रकटता। ३. पवित्रे। ४ प्रसन्ने सति। ५. उत्पन्नम्। पदः 'पद' कर्तरि लुङि तेऽङिनित्य भवति ञि।' ६. मरीचिः। ७ कन्यारूपवल्कल.। ८.-वल्कलम् अ०। ९. 'णु स्तुतौ'। १० प्रह्वो भूत्वा। ११. ध्यात्वा। १२ आराधये। १३. भृश पुनः पुनः स्तोमि। १४. आराधयध्वम्। १५. पक्षे विपुलदयम्। १६. परापरगुरु-तद्वचनम्। १७. संक्षेप करिष्ये।

[1]कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात् पुराणता । महत्त्वं स्वमहिम्नैव [2]तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते[3] ॥२२॥
महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम् । महापुराणमाम्नातं[4]मत एतन्महर्षिभि. ॥२३॥
ऋषिप्रणीतमार्षं स्यात् सूक्तं सूनृतशासनात् । धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति [5]स्मृतम् ॥२४॥
[6]इतिहास इतीष्टं तद् इति हासीदिति श्रुते । [7]इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायं चामनन्ति[8] तत् ॥२५॥
पुराणमितिहासाख्यं यत्प्रोवाच गणाधिप· । तत्किलाहमधीर्वक्ष्ये केवलं भक्तिचोदित[10] ॥२६॥
पुराणं गणभृत्प्रोक्तं [11]विवक्षोर्मे महान्भरः । [12]विवक्षोरिव दम्यस्य[13] पुङ्गवैर्भारमुद्धृतम् ॥२७॥
क्व गम्भीर. पुराणाब्धि क्व माद्दग्बोधदुर्विधः[14] । सोऽहं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षुर्यामि हास्यताम् ॥२८॥
अथवास्त्वेतदल्पोऽपि यद्घटेऽहं स्वशक्तितः । लूनवालधिरप्युक्षा किं नोत्पुच्छयते तराम् ॥२९॥
गणाधीशैः प्रणीतेऽपि पुराणेऽस्मिन्नहं यते[15] । सिंहैरासेविते मार्गे मृगोऽन्य.[16] केन वार्यते ॥३०॥
पुराणकविभि· क्षुण्णे[17] कथामार्गेऽस्ति मे गति.[18] । [19]पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जन· ॥३१॥

है। इसमें महापुरुषोंका वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषोंने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढनेसे महान् कल्याणकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं॥२१॥ 'प्राचीन कवियोंके आश्रयसे इसका प्रसार हुआ है इसलिए इसकी पुराणता—प्राचीनता प्रसिद्ध ही है तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्यसे ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं' ऐसा भी कितने ही विद्वान् महापुराणकी निरुक्ति—अर्थ करते है ॥२२॥ यह पुराण महापुरुषोंसे सम्बन्ध रखनेवाला है तथा महान् अभ्युदय—स्वर्ग मोक्षादि कल्याणोंका कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं॥२३॥ यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होनेके कारण आर्ष, सत्यार्थका निरूपक होनेसे सूक्त तथा धर्मका प्ररूपक होनेके कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। 'इति इह आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ—ऐसी अनेक कथाओंका इसमें निरूपण होनेसे ऋषि गण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'ऐतिह्य' भी मानते हैं ॥२४-२५॥ जिस इतिहास नामक महापुराणका कथन स्वयं गणधरदेवने किया है उसे मैं मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर कहूँगा क्योंकि मैं अल्पज्ञानी हूँ ॥२६॥ बड़े-बड़े बैलों-द्वारा उठाने योग्य भारको उठानेकी इच्छा करनेवाले बछड़ेको जैसे बड़ी कठिनता पड़ती है वैसे ही गणधरदेवके द्वारा कहे हुए महापुराणको कहनेकी इच्छा रखनेवाले मुझ अल्पज्ञको पड रही है ॥२७॥ कहाँ तो यह अत्यन्त गम्भीर पुराणरूपी समुद्र और कहाँ मुझ जैसा अल्पज्ञ ! मै अपनी भुजाओंसे यहाँ समुद्रको तैरना चाहता हूँ इसलिए अवश्य ही हँसीको प्राप्त होऊँगा ॥२८॥ अथवा ऐसा समझिए कि मैं अल्पज्ञानी होकर भी अपनी शक्तिके अनुसार इस पुराणको कहनेके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ जैसे कि कटी पूँछवाला भी बैल क्या अपनी कटी पूँछको नहीं उठाता ? अर्थात् अवश्य उठाता है ॥२९॥ यद्यपि यह पुराण गणधरदेवके द्वारा कहा गया है तथापि मै भी यथाशक्ति इसके कहनेका प्रयत्न करता हूँ। जिस रास्तेसे सिंह चले है उस रास्तेसे हिरण भी अपनी शक्त्यनुसार यदि गमन करना चाहता है तो उसे कौन रोक सकता है ? ॥३०॥ प्राचीन कवियों-द्वारा क्षुण्ण किये गये—निरूपण कर सुगम बनाये गये कथामार्गमें मेरी भी गति

---

१. पुराण कवि–द० । पूर्वकविम् । २ पुराणस्य । ३ निरूप्यते अ०, स०, द० । ४. कथितम् । ५ उक्तम् । ६ इतिहासमिती–म०, ल० । ७ 'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमिति ह्यव्ययम्' इति वचनात्, अथवा इतिवृत्तम् ऐतिह्यम् आम्नायश्चेति नामत्रयम् । ८. –मृषयो वामनन्ति स०, ल० । ९ कथयन्ति । १०. नोदित. द०, अ० । ११. वक्तुमिच्छो. । १२. वोढुमिच्छो । १३. बालवत्सस्य । १४ दरिद्र. । १५ प्रयत्न करोमि । १६. यान् अ०, प०, स०, ल०, म० । १७. सर्मदिते । १८ उपाय । १९ पुरोगमैः ।

महाकरीन्द्रसंमर्दविरलीकृतपादपे । वने वन्येभकलभाः सुलभाः स्वैरचारिणः ॥३२॥
महातिमिपृथु[1]प्रोथपथी[2]कृतजलेऽर्णवे[3] । यथेष्टं पर्यटन्त्येव ननु पाठीनशावकाः ॥३३॥
महाभटास्त्रसंपातनिरुद्धप्रतियोद्धृके[4] । [5]भटब्रुवोऽपि निःशङ्कं वल्गत्येव रणाङ्गणे ॥३४॥
[6]तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलम्बनम् । महतोऽस्य पुराणाब्धेस्तरणायोद्यतोऽस्म्यहम् ॥३५॥
महत्यस्मिन् पुराणाब्धौ [7]शाखाशततरङ्गके । स्खलितं यत्प्रमादान्मे तद् बुधाः क्षन्तुमर्हथ ॥३६॥
कविप्रमादजान् दोषानपास्यास्मात् कथामृतात् । सन्तो गुणान् जिघृक्षन्तु[8] गुणगृह्यो[9] हि सज्जनः ॥३७॥
सुभाषितमहारत्नसंभृतेऽस्मिन् कथाम्बुधौ । [10]दोषग्राहाननादृत्य यतध्वं सारसंग्रहे ॥३८॥
कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः । मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ॥३९॥
यद्वचोदर्पणे कृत्स्नं [11]वाङ्मयं प्रतिबिम्बितम् । तान् कवीन् बहुमन्येऽहं किमन्यैः कविमानिभिः ॥४०॥
नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती । येषामद्य[12] कवित्वस्य [13]सूत्रपातायितं वचः ॥४१॥

है क्योंकि आगे चलनेवाले पुरुषोंके द्वारा जो मार्ग साफ कर दिया जाता है फिर उस मार्गमें कौन पुरुष सरलतापूर्वक नहीं जा सकता है ? अर्थात् सभी जा सकते हैं ॥३१॥ अथवा बड़े-बड़े हाथियोंके मर्दन करनेसे जहाँ वृक्ष बहुत ही विरले कर दिये गये हैं ऐसे वनमें जंगली हस्तियोंके बच्चे सुलभतासे जहाँ-तहाँ घूमते ही हैं ॥३२॥ अथवा जिस समुद्रमें बड़े-बड़े मच्छोंने अपने विशाल मुखोंके आघातसे मार्ग साफ कर दिया है उसमें उन मच्छोंके छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी इच्छासे घूमते हैं ॥३३॥ अथवा जिस रणभूमिमें बड़े-बड़े शूर-वीर योद्धाओंने अपने शस्त्र-प्रहारोंसे शत्रुओंको रोक दिया है उसमें कायर पुरुष भी अपनेको योद्धा मानकर निःशङ्क हो उछलता है ॥३४॥ इसलिए मैं प्राचीन कवियोंको ही हाथका सहारा मानकर इस पुराणरूपी समुद्रको तैरनेके लिए तत्पर हुआ हूँ ॥३५॥ सैकड़ों शाखारूप तरङ्गोंसे व्याप्त इस पुराणरूपी महासमुद्रमें यदि मैं कदाचित् प्रमादसे स्खलित हो जाऊँ—अज्ञानसे कोई भूल कर बैठूँ तो विद्वज्जन मुझे क्षमा ही करेंगे ॥३६॥ सज्जन पुरुष कविके प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़कर इस कथारूपी अमृतसे मात्र गुणोंके ही ग्रहण करनेकी इच्छा करें क्योंकि सज्जन पुरुष गुण ही ग्रहण करते हैं। ॥३७॥ उत्तम-उत्तम उपदेशरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस कथारूप समुद्रमें मगरमच्छोंको छोड़कर सार वस्तुओंके ग्रहण करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥३८॥ पूर्वकालमें सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ सो दोनोंमें कवि नामकी तो समानता है परन्तु अर्थमें उतना ही अन्तर है जितना कि पद्मराग मणि और काचमें होता है ॥३९॥ इसलिए जिनके वचनरूपी दर्पणमें समस्त शास्त्र प्रतिबिम्बित थे मैं उन कवियोंको बहुत मानता हूँ—उनका आदर करता हूँ। मुझे उन अन्य कवियोंसे क्या प्रयोजन है जो व्यर्थ ही अपनेको कवि माने हुए हैं ॥४०॥ मैं उन पुराणके रचनेवाले कवियोंको नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमलमें सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियोंकी कवितामें सूत्रपातका कार्य करते

---

१ नासिका । २. अपन्था: पन्थाः कृत पथीकृतं जलं यत्र । ३ जलार्णवे म०, अ०, प०, ल० । ४ भटे । ५ भटजातिमात्रोपजीवी, तुच्छभट इत्यर्थः । ६ तत् कारणात् । सत्पु०—अ०, स०, द० । ७ अवान्तरकथा । ८ गृहीतुमिच्छन्तु । ९. गुणगृह्या हि सज्जना प०, म०, ल० । गुणा एव गृह्या यस्यासौ । १०. दोषग्रहान् ल० । ११ तर्कागमव्याकरणछन्दोऽलङ्कारादिवाक्प्रपञ्च । १२ —मन्य: कवित्वस्य अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । १३ सूत्रपतनायितम् ।

[1]प्रवादिकरियूथानां केसरी [2]नयकेसरः । सिद्धसेनकविर्जीयाद् विकल्पनखराङ्कुरः ॥४२॥
नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥४३॥
[3]कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः [4]सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि [5]चूडामणीयते ॥४४॥
श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने ॥४५॥
[6]विदुष्विणीषु संसत्सु [7]यस्य नामापि कीर्तितम् । [8]निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः ॥४६॥
चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं [9]येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥४७॥
चन्द्रोदयकृतस्तस्य यशः केन न शस्यते । यदाकल्पमनाम्लानि [10]सतां शेखरतां गतम् ॥४८॥
[11]शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्यचतुष्टयम्[12] । मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वरः ॥४९॥
काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः । अर्थान्[13]स्मानुवदन्तीव[14] जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥५०॥
धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः । कथालंकारतां भेजुः [15]काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥५१॥

हैं–मूलभूत होते हैं ॥४१॥ वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों जो कि प्रवादीरूप हाथियोंके झुण्डके लिए सिंहके समान हैं, नैगमादि नय ही जिनकी केसर (अयाल—गरदनपर-के बाल) तथा अस्ति नास्ति आदि विकल्प ही जिनके पैने नाखून थे ॥४२॥ मैं उन महाकवि समन्तभद्रको नमस्कार करता हूँ जो कि कवियोंमें ब्रह्माके समान हैं और जिनके वचनरूप वज्रके पातसे मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे ॥४३॥ स्वतन्त्र कविता करनेवाले कवि, शिष्योंको ग्रन्थके मर्म तक पहुँचानेवाले गमक–टीकाकार, शास्त्रार्थ करनेवाले वादी और मनोहर व्याख्यान देनेवाले वाग्मी इन सभीके मस्तकपर समन्तभद्र स्वामीका यश चूड़ामणिके समान आचरण करनेवाला है, अर्थात् वे सबमें श्रेष्ठ थे ॥४४॥ मैं उन श्रीदत्तके लिए नमस्कार करता हूँ जिनका शरीर तपोलक्ष्मीसे अत्यन्त सुन्दर है और जो प्रवादीरूपी हस्तियोंके भेदनमें सिंहके समान थे ॥४५॥ विद्वानोंकी सभामें जिनका नाम कह देने मात्रसे सबका गर्व दूर हो जाता है वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें ॥४६॥ मैं उन प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति करता हूँ जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान अत्यन्त शुक्ल है और जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को हमेशाके लिए आह्लादित किया है ॥४७॥ वास्तवमें चन्द्रोदयकी (न्यायकुमुदचन्द्रोदयकी) रचना करनेवाले उन प्रभाचन्द्र आचार्यके कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले तथा सज्जनोंके मुकुट-भूत यशकी प्रशंसा कौन नहीं करता ? अर्थात् सभी करते है ॥४८॥ जिनके वचनोंसे प्रकट हुए चारों आराधनारूप मोक्षमार्ग (भगवती आराधना) की आराधना कर जगत्के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर भी हमारी रक्षा करें ॥४९॥ जिनकी जटारूप प्रबल–युक्तिपूर्ण वृत्तियाँ–टीकाएँ काव्योंके अनुचिन्तनमें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो हमें उन काव्योंका अर्थ ही बतला रही हों, ऐसे वे जटासिंहनन्दि आचार्य (वराङ्गचरितके कर्ता) हम लोगोंकी रक्षा करें ॥५०॥ वे काणभिक्षु जयवान् हों जिनके धर्मरूप सूत्रमें पिरोये हुए मनोहर वचनरूप निर्मल मणि कथाशास्त्रके अलंकारपनेको प्राप्त हुए थे अर्थात् जिनके द्वारा रचे गये कथाग्रन्थ

---

१. परवादि । २ नैगमादि । ३ "कविर्नूतनसन्दर्भो गमकः कृतिभेदगः । वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी तु जनरञ्जकः ॥" ४. समन्तभ– अ०, स० । ५ चूडामणिरिवाचरति । ६. विद्वाम. अत्र सन्तीति विदुष्विण्यस्तासु । ७. सभासु । ८ नितरा ह्रस्वं करोति । ९ ग्रन्थविशेषम् । १० ईषद्म्लानि । न आम्लानि अनाम्लानि । -मनाम्लायि द०, स०, अ०, प०, ल० । ११. सुखीभूतम् । १२. आराधनाचतुष्टयम् ।
[illegible]

कवीनां तीर्थकृद्देवः [1]किंतरां तत्र वर्ण्यते । विदुषां वाङ्मलध्वंसि [2]तीर्थं यस्य [3]वचोमयम् ॥५२॥
भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः । विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥५३॥
कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य परं पदम् । गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥५४॥
श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः । स नः पुनातु पूतात्मा [4]कविवृन्दारको [5]मुनिः ॥५५॥
लोकवित्त्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् । वाङ्मिता [6]ऽवाङ्मिता [7]यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां [8]विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् । मन्मनःसरसि स्थेयात् मृदुपादकुशेशयम् ॥५७॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम् । धवलीकृतनिःशेषभुवनां [9]तन्नमीम्यहम् ॥५८॥
जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः । जयसेनगुरुः पातु बुधवृन्दाग्रणीः स नः ॥५९॥
स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः । [10]वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः [11]समग्रहीत् ॥६०॥
कवयोऽन्येऽपि सन्त्येव [12]कस्तानुद्देष्टुमप्यलम् [13] । सत्कृता ये जगत्पूज्यास्ते मया मङ्गलार्थिना ॥६१॥
त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः । येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२॥

सब ग्रन्थोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥५१॥ जो कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे अथवा जिन्होंने कवियों-को पथप्रदर्शन करनेके लिए किसी लक्षणग्रन्थकी रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके शब्दसम्बन्धी दोषोंको नष्ट करनेवाला है ऐसे उन देवाचार्य-देवनन्दीका कौन वर्णन कर सकता है ? ॥५२॥ भट्टाकलङ्क, श्रीपाल और पात्रकेसरी आदि आचार्योंके अत्यन्त निर्मल गुण विद्वानोंके हृदयमें मणिमालाके समान सुशोभित होते हैं ॥५३॥ वे वादिसिंह कवि किसके द्वारा पूज्य नहीं हैं जो कि कवि, प्रशस्त व्याख्यान देनेवाले और गमकों-टीकाकारोंमें सबसे उत्तम थे ॥५४॥ वे अत्यन्त प्रसिद्ध वीरसेन भट्टारक हमें पवित्र करें जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है, जो कवियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो लोकव्यवहार तथा काव्यस्वरूपके महान् ज्ञाता हैं तथा जिनकी वाणीके सामने औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं सुरगुरु बृहस्पतिकी वाणी भी सीमित-अल्प जान पड़ती है ॥५५-५६॥ धवलादि सिद्धान्तोंके ऊपर अनेक उपनिबन्ध-प्रकरणोंके रचनेवाले हमारे गुरु श्रीवीरसेन भट्टारकके कोमल चरणकमल हमेशा हमारे मनरूप सरोवरमें विद्यमान रहें ॥५७॥ श्रीवीरसेन गुरुकी धवल, चन्द्रमाके समान निर्मल और समस्त लोकको धवल करनेवाली वाणी (धवलाटीका) तथा कीर्तिको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥५८॥ वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करें जो कि तपोलक्ष्मीके जन्मदाता थे, शास्त्र और शान्तिके भाण्डार थे, विद्वानोंके समूहके अग्रणी-प्रधान थे, वे कवि परमेश्वर लोकमें कवियों-द्वारा पूज्य थे जिन्होंने शब्द और अर्थके संग्रहरूप समस्त पुराणका संग्रह किया था ॥५९-६०॥

इन ऊपर कहे हुए कवियोंके सिवाय और भी अनेक कवि हैं उनका गुणगान तो दूर रहा नाम मात्र भी कहनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। मङ्गल प्राप्तिकी अभिलाषासे मैं उन जगत्पूज्य सभी कवियोंका सत्कार करता हूँ ॥६१॥ संसारमें वे ही पुरुष कवि हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी कि वाणी धर्मकथाके अंगपनेको प्राप्त होती है अर्थात्

---

१ कवीनां तीर्थकृदित्यनेनैव वर्णनेनालम् । तत्र देवे अन्यत् किमपि अतिशयेन न वर्णनीयमिति भाव. । तदेव तीर्थकृत्त्वं समर्थम् । इतरमपरार्द्धमाह । २ जलम् । ३. वागूरूपम् । ४. वादिवृन्दा- स०, द० । ५. श्रेष्ठ । ६. वाग्मिनो स०, द० । ७. अवाङ्मिता अल्पीकृता । ८ व्याख्यानानाम । ९. ता नमाम्य-द० । १० शब्द । ११. संग्रहमकरोत् । १२. नाममात्रेण कथयितुम् । १३. समर्थः ।

धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते । शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥६३॥
केचिन्मिथ्यादृशः काव्यं ग्रथ्नन्ति श्रुतिपेशलम् । [1]तत्त्वधर्मानुबन्धित्वान्न सतां प्रीणनक्षमम् ॥६४॥
अव्युत्पन्नतराः केचित् कवित्वाय कृतोद्यमाः । प्रयान्ति हास्यतां लोके मूका इव विवक्षवः ॥६५॥
केचिदन्यवचोलेशानादाय कविमानिनः । छायामारोपयन्त्यन्यां वस्त्रेष्विव वणिग्ब्रुवाः ॥६६॥
संभोक्तुमक्षमाः केचित्सरसां[2] कृतिकामिनीम् । सहायान् कामयन्तेऽन्यानकल्या[3] इव कामुकाः ॥६७॥
केचिदन्यकृतैरर्थैः शब्दैश्च [4]परिवर्तितैः । प्रसारयन्ति काव्यार्थान् [5]प्रतिशिष्ट्येव वाणिजाः ॥६८॥
केचिद्वर्णोज्ज्वलां वाणीं रचयन्त्यर्थदुर्बलाम् । जातुषी कण्ठिकेवासौ छायामृच्छति नोच्छ्रिताम् ॥६९॥
केचिदर्थमपि प्राप्य तद्योगपदयोजनैः[6] । न सतां प्रीणनायालं लुब्धा लब्धश्रियो यथा ॥७०॥
यथेष्टं प्रकृतारम्भाः केचिन्निर्वहणाकुलाः । कवयो बत सीदन्ति कराक्रान्तकुटुम्बिवत् ॥७१॥

जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथाकी रचना करते हैं ॥६२॥ कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखती है। धर्मशास्त्रके सम्बन्धसे रहित कविता मनोहर होनेपर भी मात्र पापास्रवके लिए होती है ॥६३॥ कितने ही मिथ्यादृष्टि कानोंको प्रिय लगनेवाले-मनोहर काव्यग्रन्थोंकी रचना करते हैं परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होनेसे-धर्मशास्त्रके निरूपक न होनेसे-सज्जनोंको सन्तुष्ट नहीं कर सकते ॥६४॥ लोकमें कितने ही कवि ऐसे भी हैं जो काव्यनिर्माणके लिए उद्यम करते हैं परन्तु वे बोलनेकी इच्छा रखनेवाले गूँगे पुरुषकी तरह केवल हँसीको ही प्राप्त होते हैं ॥६५॥ योग्यता न होनेपर भी अपनेको कवि माननेवाले कितने ही लोग दूसरे कवियोंके कुछ वचनोंको लेकर उसकी छाया मात्र कर देते हैं अर्थात् अन्य कवियोंकी रचनामें थोड़ा-सा परिवर्तन कर उसे अपनी मान लेते हैं जैसे कि नकली व्यापारी दूसरोंके थोड़े-से कपड़े लेकर उनमें कुछ परिवर्तन कर व्यापारी बन जाते हैं ॥ ६६ ॥ शृंगारादि रसोंसे भरी हुई-रसीली कवितारूपी कामिनीके भोगनेमें-उसकी रचना करनेमें असमर्थ हुए कितने ही कवि उस प्रकार सहायकोंकी वांछा करते हैं जिस प्रकार कि स्त्रीसंभोगमें असमर्थ कामीजन औषधादि सहायकोंकी वांछा करते हैं ॥६७॥ कितने ही कवि अन्य कवियों-द्वारा रचे गये शब्द तथा अर्थमें कुछ परिवर्तन कर उनसे अपने काव्यग्रन्थोंका प्रसार करते हैं जैसे कि व्यापारी अन्य पुरुषों-द्वारा बनाये हुए मालमें कुछ परिवर्तन कर अपनी छाप लगा कर उसे बेचा करते हैं ॥६८॥ कितने ही कवि ऐसी कविता करते हैं जो शब्दोंसे तो सुन्दर होती हैं परन्तु अर्थसे शून्य होती है। उनकी यह कविता लाखकी बनी हुई कंठीके समान उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त नहीं होती ॥६९॥ कितने ही कवि सुन्दर अर्थको पाकर भी उसके योग्य सुन्दर पदयोजनाके बिना सज्जन पुरुषोंको आनन्दित करनेके लिए समर्थ नहीं हो पाते जैसे कि भाग्यसे प्राप्त हुई कृपण मनुष्यकी लक्ष्मी योग्य पद-स्थान योजनाके बिना सत्पुरुषोंको आनन्दित नहीं कर पाती ॥७०॥ कितने ही कवि अपने इच्छानुसार काव्य बनानेका प्रारम्भ तो कर देते हैं परन्तु शक्ति न होनेसे उसकी पूर्ति नहीं कर सकते अतः वे टैक्सके भारसे दबे हुए

---

१. तुरित्यव्ययमवधारणार्थे वर्तते । २. स्वरसात् द० । सामर्थ्यात् । ३. -नकल्या प०, म०, ल० । कल्याः दक्षाः अकल्याः अदक्षाः स्त्रीसम्भोगे असमर्था इत्यर्थः । 'कल्यं सज्जे प्रभाते च कल्यो नीरोगदक्षयोः' इति विश्वप्रकाशः । अकल्याः पुंस्त्वरहिताः । ४. पर्यायान्तरं नीतैः । ५. प्रतिनिधिव्यवहारेण । ६. वर्णसमुदाययोजनैश्च ।

आप्तपाशमतान्यन्ये कवयः पोषयन्त्यलम्। कुकवित्वाद् वरं तेषामकवित्वमुपासितम् ॥७२॥
अनभ्यस्तमहाविद्या. कलाशास्त्रबहिष्कृता। काव्यानि कर्तुमीहन्ते केचित्पश्यत साहसम् ॥७३॥
तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन्। धर्म्यं शस्यं यशस्यं च काव्यं कुर्वन्तु धीधना: ॥७४॥
परेषां दूषणाज्जातु न बिभेति कवीश्वरः। किमुलूकभयाद् धुन्वन् ध्वान्तं नोदेति [1]भानुमान् ॥७५॥
परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम्। न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेय सन्मार्गदेशनात्[2] ॥७६॥
पुराणकवयः केचित् केचिन्नवकवीश्वरा.। तेषां मतानि[3] भिन्नानि कस्तदाराधने क्षमः ॥७७॥
केचित् सौशब्द्यमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम्[4]। केचित् समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां[5] पदावलीम् ॥७८॥
मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धैषिण[6] परे। मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते ॥७९॥
इति [7]भिन्नाभिसन्धित्वा[8] दुराराधा [9]मनीषिणः। [10]पृथक्जनोऽपि सूक्तानामनभिज्ञः सुदुर्ग्रह.[11] ॥८०॥
सतीमपि कथां रम्यां दूषयन्त्येव दुर्जना। भुजङ्गा इव सच्छायां [12]चन्दनद्रुमवल्लरीम् ॥८१॥

बहुकुटुम्बी व्यक्तिके समान दुखी होते हैं ॥७१॥ कितने ही कवि अपनी कविता-द्वारा कपिल आदि आप्ताभासोंके उपदिष्ट मतका पोषण करते हैं—मिथ्यामार्गका प्रचार करते हैं। ऐसे कवियोंका कविता करना व्यर्थ है क्योंकि कुकवि कहलानेकी अपेक्षा अकवि कहलाना ही अच्छा है ॥७२॥ कितने ही कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने न्याय, व्याकरण आदि महाविद्याओं-का अभ्यास नहीं किया है तथा जो संगीत आदि कलाशास्त्रोंके ज्ञानसे दूर हैं फिर भी वे काव्य करनेकी चेष्टा करते हैं, अहो! इनके साहसको देखो ॥७३॥ इसलिए बुद्धिमानों-को शास्त्र और अर्थका अच्छी तरह अभ्यास कर तथा महाकवियोंकी उपासना करके ऐसे काव्यकी रचना करनी चाहिए जो धर्मोपदेशसे सहित हो, प्रशंसनीय हो और यशको बढ़ाने-वाला हो ॥७४॥ उत्तम कवि दूसरोंके द्वारा निकाले हुए दोषोंसे कभी नहीं डरता। क्या अन्ध-कारको नष्ट करनेवाला सूर्य उलूकके भयसे उदित नहीं होता? ॥७५॥ अन्यजन सन्तुष्ट हों अथवा नहीं कविको अपना प्रयोजन पूर्ण करनेके प्रति ही उद्यम करना चाहिए। क्योंकि कल्याणकी प्राप्ति अन्य पुरुषोंकी आराधनासे नहीं होती किन्तु श्रेष्ठ मार्गके उपदेशसे होती है ॥७६॥ कितने ही कवि प्राचीन हैं और कितने ही नवीन हैं तथा उन सबके मत जुदे-जुदे हैं अतः उन सबको प्रसन्न करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है? ॥७७॥ क्योंकि कोई शब्दोंकी सुन्दरताको पसंद करते हैं, कोई मनोहर अर्थसम्पत्तिको चाहते हैं, कोई समासकी अधिकताको अच्छा मानते हैं और कोई पृथक्-पृथक् रहनेवाली अलमस्त पदावलीको ही चाहते हैं ॥७८॥ कोई मृदुल-सरल रचनाको चाहते हैं, कोई कठिन रचनाको चाहते हैं, कोई मध्यम श्रेणीकी रचना पसन्द करते हैं और कोई ऐसे भी हैं जिनकी रुचि सबसे विलक्षण-अनोखी है ॥७९॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचार होनेके कारण बुद्धिमान पुरुषोंको प्रसन्न करना कठिन कार्य है। तथा सुभाषितोंसे सर्वथा अपरिचित रहनेवाले मूर्ख मनुष्यको वशमें करना उनकी अपेक्षा भी कठिन कार्य है ॥८०॥ दुष्ट पुरुष निर्दोष और मनोहर कथाको भी दूषित कर देते हैं, जैसे चन्दनवृक्षकी मनोहर कान्तिसे युक्त नयी कोंपलोंको सर्प दूषित कर देते हैं ॥ ८१ ॥

१ भास्कर.। २ दर्शनात् स०। ३ अभिप्राया। ४ सौष्ठवम्। ५. व्यस्तपदावलीम् अ०, व्यस्तपदावलिम् म०। ६ श्लिष्टबन्धः। गाढबन्ध इत्यर्थः। ७ अभिप्रायः। ८ दुराराध्या अ०, प०, स०, द०, म०, ल०,। ९. विपश्चित अ०, म०। १०. पामर। ११ सुष्ठु दु:खेन महता कष्टेन ग्रहीतुं शक्यः। १२. मञ्जरीम् ल०।

सदोषामपि निर्दोषां करोति सुजनः कृतिम् । [1]घनात्यय इवापङ्कां सरसीं पङ्कदूषिताम् ॥८२॥
दुर्जना दोषमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति सज्जनाः । स तेषां [2]क्षेत्रजो भावो दुश्चिकित्स्यश्चिरादपि ॥८३॥
यतो गुणधनाः सन्तो दुर्जना दोषवित्तकाः । स्वधनं गृह्णतां तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः ॥८४॥
दोषान् गृह्णन्तु वा कामं गुणास्तिष्ठन्तु नः स्फुटम् । गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि [3]पुष्कलम् ॥८५॥
असतां [4]दूयते चित्तं श्रुत्वा धर्मकथां सतीम् । मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणाम् ॥८६॥
मिथ्यात्वदूषितधियामरुच्यं धर्मभेषजम् । सदप्यसदिवाभाति तेषां पित्तजुषामिव ॥८७॥
सुभाषितमहामन्त्रान् प्रयुक्तान् कविमन्त्रिभिः । श्रुत्वा प्रकोपमायान्ति दुर्ग्रहा इव दुर्जना ॥८८॥
चिरप्ररूढदुर्ग्रन्थिवेणुमूलसमोऽनृजुः । नर्जूकर्तुं खल. शक्यः श्वपुच्छसदृशोऽथवा ॥८९॥
सुजनः सुजनीकर्तुमशक्तो यच्चिरादपि । खल. खलीकरोत्येव जगदाशु तदद्भुतम् ॥९०॥
सौजन्यस्य परा कोटिरनसूया दयालुता । गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः ॥९१॥
स्वभावमिति निश्चित्य सुजनस्येतरस्य च । सुजनेष्वनुरागो नो दुर्जनेष्ववधीरणा ॥९२॥

परन्तु सज्जन पुरुष सदोष रचनाको भी निर्दोष बना देते हैं जैसे कि शरद् ऋतु पंकसहित सरोवरोंको पंकरहित–निर्मल बना देती है ॥८२॥ दुर्जन पुरुष दोषोंको चाहते हैं और सज्जन पुरुष गुणोंको । उनका यह सहज स्वभाव है जिसकी चिकित्सा बहुत समयमें भी नहीं हो सकती अर्थात् उनका यह स्वभाव किसी प्रकार भी नहीं छूट सकता ॥ ८३ ॥ जब कि सज्जनोंका धन गुण है और दुर्जनोंका धन दोष, तब उन्हें अपना-अपना धन ग्रहण कर लेनेमें भला कौन बुद्धिमान् पुरुष बाधक होगा ? ॥८४॥ अथवा दुर्जन पुरुष हमारे काव्यसे दोषोंको ग्रहण कर लेवें जिससे गुण-ही-गुण रह जायें यह बात हमको अत्यन्त इष्ट है क्योंकि जिस काव्यसे समस्त दोष निकाल लिये गये हों वह काव्य निर्दोष होकर उत्तम हो जायेगा ॥८५॥ जिस प्रकार मन्त्रविद्याको सुनकर भूत, पिशाचादि महाग्रहोंसे पीड़ित मनुष्योंका मन दुःखी होता है उसी प्रकार निर्दोष धर्मकथाको सुनकर दुर्जनोंका मन दुःखी होता है ॥८६॥ जिन पुरुषोंकी बुद्धि मिथ्यात्वसे दूषित होती है उन्हें धर्मरूपी ओषधि तो अरुचिकर मालूम होती ही है साथमें उत्तमोत्तम अन्य पदार्थ भी बुरे मालूम होते हैं जैसे कि पित्तज्वरवालेको ओषधि या अन्य दुग्ध आदि उत्तम पदार्थ भी बुरे–कड़ुवे मालूम होते हैं ॥८७॥ कविरूप मन्त्रवादियोंके द्वारा प्रयोगमें लाये हुए सुभाषित रूप मन्त्रोंको सुनकर दुर्जन पुरुष भूतादि ग्रहोंके समान प्रकोपको प्राप्त होते हैं ॥८८॥ जिस प्रकार बहुत दिनसे जमे हुए बाँसकी गाँठ-दार जड़ स्वभावसे टेढी होती है उसे कोई सीधा नहीं कर सकता उसी प्रकार चिरसंचित मायाचारसे पूर्ण दुर्जन मनुष्य भी स्वभावसे टेढा होता है उसे कोई सीधा–सरल परिणामी नहीं कर सकता अथवा जिस तरह कोई कुत्तेकी पूँछको सीधा नहीं कर सकता उसी तरह दुर्जनको भी सीधा नहीं कर सकता ॥८९॥ यह एक आश्चर्यकी बात है कि सज्जन पुरुष चिरकालके सतत प्रयत्नसे भी जगत्को अपने समान सज्जन बनानेके लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेते हैं ॥९०॥ ईर्ष्या नहीं करना, दया करना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम करना यह सज्जनताकी अन्तिम अवधि है और इसके विपरीत अर्थात् ईर्ष्या करना, निर्दयी होना तथा गुणी जीवोंसे प्रेम नहीं करना यह दुर्जनताकी अन्तिम अवधि है । यह सज्जन और दुर्जनोंका स्वभाव ही है ऐसा निश्चय कर सज्जनोंमें न तो विशेष राग ही

---

१. शरत्काल । २ शरीरज 'क्षेत्र पत्नीशरीरयोः' इत्यभिधानात् । ३. मनोज्ञम् । ४ दूङ् परितापे ।

कवीनां कृतिनिर्वाहे सतो मत्वावलम्बनम्। कविताम्भोधिमुद्वेल[1] लिलङ्घयिषुरस्म्यहम् ॥९३॥
कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्य तज्ज्ञैर्निरुच्यते। तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं[2] सालंकारमनाकुलम्[3] ॥९४॥
केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्[4]। वाचामलंक्रियां प्राहुस्तद्द्वयं नो मतं मतम् ॥९५॥
सालंकारमुपारूढरसमुद्भूतसौष्ठवम्[5]। अनुच्छिष्टं[6] सतां काव्य सरस्वत्या मुखायते ॥९६॥
असृष्टबन्धलालित्यमपेतं रसवत्तया। न तत्काव्यमिति[7] ग्राम्यं केवलं कटु कर्णयो. ॥९७॥
सुश्लिष्टपदविन्यास प्रबन्धं[8] रचयन्ति ये। श्राव्यबन्धं[9] प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मता ॥९८॥
महापुराणसंबन्धि महानायकगोचरम्। त्रिवर्गफलसंदर्भं महाकाव्यं तदिष्यते ॥९९॥
निस्तनन्[10] कतिचिच्छ्लोकान् सर्वोऽपि कुरुते कवि.। पूर्वापरार्थघटनै. प्रबन्धो दुष्करो मतः ॥१००॥
शब्दराशिरपर्यन्तः स्वाधीनोऽर्थः स्फुटा[11] रसाः। सुलभाश्च प्रतिच्छन्दा[12] कवित्वे का दरिद्रता ॥१०१॥

करना चाहिए और न दुर्जनोंका अनादर ही करना चाहिए ॥९१-९२॥ कवियोंके अपने कर्तव्य-की पूर्तिमें सज्जन पुरुष ही अवलम्बन होते हैं ऐसा मानकर मैं अलंकार, गुण, रीति आदि लहरों-से भरे हुए कवितारूपी समुद्रको लाँघना चहता हूँ अर्थात् सत्पुरुषोंके आश्रयसे ही मैं इस महान् काव्य ग्रन्थको पूर्ण करना चाहता हूँ ॥९३॥ काव्यस्वरूपके जाननेवाले विद्वान्, कविके भाव अथवा कार्यको काव्य कहते हैं। कविका वह काव्य सर्वसंमत अर्थसे सहित, ग्राम्यदोषसे रहित, अलंकारसे युक्त और प्रसाद आदि गुणोंसे शोभित होना चाहिए ॥९४॥ कितने ही विद्वान् अर्थकी सुन्दरताको वाणीका अलंकार कहते हैं और कितने ही पदोंकी सुन्दरताको, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनोंकी सुन्दरता ही वाणीका अलंकार है ॥९५॥ सज्जन पुरुषोंका बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, शृंगारादि रसोंसे युक्त, सौन्दर्यसे ओतप्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह काव्य सरस्वतीदेवीके मुखके समान शोभायमान होता है अर्थात् जिस प्रकार शरीरमें मुख सबसे प्रधान अंग है उसके बिना शरीरकी शोभा और स्थिरता नहीं होती उसी प्रकार सर्वलक्षणपूर्ण काव्य ही सब शास्त्रोंमें प्रधान है तथा उसके बिना अन्य शास्त्रोंकी शोभा और स्थिरता नहीं हो पाती ॥९६॥ जिस काव्यमें न तो रीतिकी रमणीयता है, न पदोंका लालित्य है और न रसका ही प्रवाह है उसे काव्य नहीं कहना चाहिए वह तो केवल कानोंको दुःख देनेवाली ग्रामीण भाषा ही है ॥९७॥ जो अनेक अर्थोंको सूचित करनेवाले पदविन्याससे सहित, मनोहर रीतियोंसे युक्त एवं स्पष्ट अर्थसे उद्भासित प्रबन्धों-काव्योंकी रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते हैं ॥९८॥ जो प्राचीनकालके इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाला हो, जिसमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके चरित्रका चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और कामके फलको दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं ॥९९॥ किसी एक प्रकीर्णक विषयको लेकर कुछ श्लोकोंकी रचना तो सभी कवि कर सकते हैं परन्तु पूर्वापरका सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रबन्धकी रचना करना कठिन कार्य है ॥१००॥ जब कि इस संसारमें शब्दोंका समूह अनन्त है, वर्ण-नीय विषय अपनी इच्छाके आधीन है, रस स्पष्ट हैं और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ हैं तब कविता करनेमें दरिद्रता क्या है? अर्थात् इच्छानुसार सामग्रीके मिलनेपर उत्तम कविता ही करना

१. वेलामतिक्रान्तम्। २ ग्राम्य 'दु प्रतीतिकरं ग्राम्यम्, यथा–'या भवत प्रिया'। ३. रसालङ्कारैर-सङ्कीर्णम्। ४ सहृदयहृदयाह्लादकत्वम्। ५. प्रादुर्भूत। ६ उच्छिष्टं परप्ररूपितम्। ७. –मतिग्राम्य स०, प०, द०, म०। ८. काव्यम्। ९. श्रव्यबन्ध स०, प०, ल०। १०. निस्तन्वन् म०। निस्वनन् ल०, द०, प०, म०। क्लिश्यन्। ११ स्फुटो रस द०, प०,। १२ प्रविच्छन्दा ल०। प्रतिनिधय।

[1]प्रयान्महति वाङ्मार्गे खिन्नोऽर्थ[2]गहनाटनैः । महाकवितरुच्छायां [3]विश्रमायाश्रयेत् कविः ॥१०२॥
प्रज्ञामूलो गुणोदग्रस्कन्धो वाक्पल्लवोज्ज्वलः । महाकवितरुर्धत्ते यशःकुसुममञ्जरीम् ॥१०३॥
प्रज्ञावेलः प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रहः । महाध्वान [4]पृथुस्रोताः कविरम्भोनिधीयते ॥१०४॥
यथोक्तमुपयुञ्जीध्वं बुधाः काव्यरसायनम् । येन कल्पान्तरस्थायि वपुर्वः स्याद् यशोमयम् ॥१०५॥
यशोधनं चिचीपूर्णां[5] पुण्यपुण्यपणायिनाम्[6] । परं मूल्यमिहाम्नातं[7] काव्यं धर्मकथामयम् ॥१०६॥
इदमध्यवसायाह कथां धर्मानुबन्धिनीम्[8] । प्रस्तुवे[9] [10]प्रस्तुतां सद्भिर्महापुरुषगोचराम् ॥१०७॥
विस्तीर्णानेकशाखाढ्यां[11] सच्छायां[12] फलशालिनीम् । [13]आर्यैर्निषेवितां रम्यां सतीं कल्पलतामिव॥१०८
प्रसन्नामतिगम्भीरां निर्मलां [14]सुखशीतलाम् । [15]निर्वापितजगत्तापां महतीं सरसीमिव ॥१०९॥

चाहिए ॥१०१॥ विशाल शब्दमार्गमें भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन वनोंमें घूमनेसे खेद-खिन्नताको प्राप्त हुआ है उसे विश्रामके लिए महाकविरूप वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार महावृक्षोंकी छायासे मार्गकी थकावट दूर हो जाती है और चित्त हलका हो जाता है उसी प्रकार महाकवियोंके काव्यग्रन्थोंके परिशीलनसे अर्थाभावसे होनेवाली सब खिन्नता दूर हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१०२॥ प्रतिभा जिसकी जड़ है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाएँ हैं, और उत्तम शब्द ही जिसके उज्ज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमञ्जरीको धारण करता है ॥१०३॥ अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे है, प्रसाद आदि गुण ही जिसमें लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शब्दोंसे युक्त है, तथा जिसमें गुरुशिष्य-परम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्रके समान आचरण करता है ॥१०४॥

हे विद्वान् पुरुषो! तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायनका भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्त काल तक स्थिर रह सके। भावार्थ—जिस प्रकार रसायन सेवन करनेसे शरीर पुष्ट हो जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे हुए काव्य, महाकवि आदि-के स्वरूपको समझकर कविता करनेवालेका यश चिरस्थायी हो जाता है ॥१०५॥ जो पुरुष यशरूपी धनका संचय और पुण्यरूपी पण्यका व्यवहार—लेनदेन करना चाहते हैं उनके लिए धर्मकथाको निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन (पूँजी) के समान माना गया है ॥१०६॥ यह निश्चय कर मैं ऐसी कथाको आरम्भ करता हूँ जो धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका प्रारम्भ अनेक सज्जन पुरुषोंके द्वारा किया गया है तथा जिसमें ऋषभनाथ आदि महापुरुषोंके जीवनचरित्रका वर्णन किया गया है ॥१०७॥ जो धर्मकथा कल्पलताके समान, फैली हुई अनेक शाखाओ (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप,

---

१. गच्छन् । २ गहनं काननम् । ३. विश्रामाय—द०, स०, प०, म०, ल० । ४. अविच्छिन्नशब्द-प्रवाहः । ५. चिचीषूणां स०, द० । पोषितुमिच्छूनाम् । 'चृ भरणे' इति क्र्यादिधातोः सन् ततः उप्रत्ययः । ६. पणायिताम् स० । क्रेतॄणाम् । ७. कथितम् । ८. निश्चित्य । ९. धर्मानुवर्तिनीम् स०, द० । १० प्रारेभे । ११ शाखा—कथा । १२. समीचीनपुरातनकाव्यच्छायाम् । उक्तं चालंकारचूडामणिदर्पणे—'मुखच्छायेन यस्य काव्येषु पुरातनकाव्यच्छाया संक्रामति स महाकविः' इति । १३ भोगभूमिजैः । १४ सुखाय शीतलाम् । १५ निर्वासित-म० ।

गुरुप्रवाहसंभूतिमपङ्कां तापविच्छिदम्[1] । कृतावतारां[2] कृतिभिः पुण्यां व्योमापगामिव ॥११०॥

चेतःप्रसादजननीं कृतमङ्गलसंग्रहाम् । [3]क्रोडीकृतजगद्बिम्बां हसन्तीं दर्पणश्रियम् ॥१११॥

कल्पाङ्घ्रिपादिवोत्तुङ्गादभीष्टफलदायिनः । महाशाखामिवोदग्रां श्रुतस्कन्धादुपाहृताम् ॥११२॥

प्रथमस्यानुयोगस्य गम्भीरस्योदधेरपि । वेलामिव बृहद्ध्वानां[4] प्रसृतार्थमहाजलाम् ॥११३॥

[5]आक्षिप्ताशेषतन्त्रार्थां[6] [7]विक्षिप्तपरशासनाम् । सतां संवेगजननीं निर्वेदरसबृंहिणीम् ॥११४॥

अद्भुतार्थामिमां दिव्यां [8]परमार्थबृहत्कथाम् । लम्भैरनेकैः संदब्धां गुणाढ्यैः पूर्वसूरिभिः ॥११५॥

यशःश्रेयस्करीं[9] पुण्यां भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् । पूर्वानुपूर्वीमाश्रित्य वक्ष्ये शृणुत सज्जनाः ॥११६॥

नवभिः कुलकम्

कथाकथकयोरत्र श्रोतॄणामपि लक्षणम् । व्यावर्णनीयं प्रागेव कथारम्भे मनीषिभिः ॥११७॥

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा । तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति[10] मनीषिणः ॥११८॥

कान्ति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग मोक्षादिकी प्राप्ति) से शोभायमान है, आर्यों (भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों)-द्वारा सेवित है, मनोहर है, और उत्तम है। अथवा जो धर्मकथा बड़े सरोवरके समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसादगुणसे सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ अर्थसे युक्त) है, निर्मल (कीचड़ आदिसे रहित, दुःश्रवत्व आदि रोगोंसे रहित) है, सुखकारी है, शीतल है, और जगत्त्रयके सन्तापको दूर करनेवाली है। अथवा जो धर्मकथा आकाशगंगाके समान गुरुप्रवाह (बड़े भारी प्रवाह, गुरुपरम्परा) से युक्त है, पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गरमी, संसारभ्रमणजन्य खेद) को नष्ट करनेवाली है, कुशल पुरुषों (देवों, गणधरादि चतुर पुरुषों)-द्वारा किये गये अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यवर्धक) रूप है। अथवा जो धर्मकथा चित्तको प्रसन्न करने, सब प्रकारके मंगलोंका संग्रह करने तथा अपने-आपमें जगत्त्रयके प्रतिबिम्बित करनेके कारण दर्पणकी शोभाको हँसती हुई-सी जान पड़ती है। अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फलको देनेवाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्षसे प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखाके समान शोभायमान हो रही है। अथवा जो धर्मकथा, प्रथमानुयोगरूपी गहरे समुद्रकी वेला (किनारे) के समान महागम्भीर शब्दोंसे सहित है और फैले हुए महान् अर्थ रूप जलसे युक्त है। जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादिके साधक समस्त तन्त्रोंका निरूपण करनेवाली है, मिथ्यामतको नष्ट करनेवाली है, सज्जनोंके संवेगको पैदा करनेवाली और वैराग्य रसको बढ़ानेवाली है। जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थोंसे भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परम प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली है, अनेक बड़ी-बड़ी कथाओंसे युक्त है, गुणवान् पूर्वाचार्यों-द्वारा जिसकी रचना की गयी है। जो यश तथा कल्याणको करनेवाली है, पुण्यरूप है और स्वर्गमोक्षादि फलोंको देनेवाली है ऐसी उस धर्मकथाको मैं पूर्व आचार्योंकी आम्नायके अनुसार कहूँगा। हे सज्जन पुरुषो, उसे तुम सब ध्यानसे सुनो ॥१०८–११६॥ बुद्धिमानोंको इस कथारम्भके पहले ही कथा, वक्ता और श्रोताओंके लक्षण अवश्य ही कहना चाहिए ॥११७॥ मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ तथा कामका कथन करना कथा कहलाती है। जिसमें

---

१. तापविच्छिदाम् अ०, प० । २ अवतार अवगाहः । ३. क्रोडीकृतं स्वीकृतम् । ४. महाध्वानां ल०, द०, प०, स० । ध्वानः शब्दपरिपाटी । ५. आक्षिप्तः स्वीकृत. । ६ तन्त्र सिद्धान्तः । ७ विक्षिप्तं तिरस्कृतम् । ८. परमार्थां बृहत्कथाम् स०, द०, ल०, अ० । ९ श्रेयस्करा स० । १०. म्ना अभ्यासे ।

[1]तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा[2] कथा। अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम्[3] ॥११९॥
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥१२०॥
प्राहुर्धर्मकथाङ्गानि सप्त सप्तर्धिभूषणाः। यैर्भूषिता कथाऽऽहार्यै[4]र्नटीव रसिका भवेत् ॥१२१॥
द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत्। प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथामुखे ॥१२२॥
द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवनस्थितिः। जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्तितः ॥१२३॥
प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम्। भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा ॥१२४॥
इत्यमूनि कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता। यथावसरमेवैषां[5] प्रपञ्चो दर्शयिष्यते ॥१२५॥
तस्यास्तु कथकः सूरिः सद्वृत्तः स्थिरधीर्वशी। [6]कल्येन्द्रियः प्रशस्ताङ्गः [7]स्पष्टमृष्टेष्टगीर्गुणः ॥१२६॥
यः सर्वज्ञमताम्भोधिवार्धौतविमलाशयः। अशेषवाङ्मलापायादुज्ज्वला यस्य भारती ॥१२७॥
श्रीमाञ्जितसभो वाग्मी [8]प्रगल्भः [9]प्रतिभानवान्। यः सतां संमतव्याख्यो [10]वाग्विमर्दभरक्षमः ॥१२८॥

धर्मका विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं ॥११८॥ धर्मके फल-स्वरूप जिन अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्मका फल दिखानेके लिए अर्थ और कामका वर्णन करना भी कथा कहलाती है। यदि यह अर्थ और कामकी कथा धर्मकथासे रहित हो तो विकथा ही कहलायेगी और मात्र पापास्रवका ही कारण होगी ॥११९॥ जिससे जीवोंको स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है वास्तवमें वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखनेवाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं ॥१२०॥ सप्त ऋद्धियोंसे शोभायमान गणधरादि देवोंने इस सद्धर्मकथाके सात अंग कहे हैं। इन सात अङ्गोंसे भूषित कथा अलङ्कारोंसे सजी हुई नटीके समान अत्यन्त सरस हो जाती है ॥१२१॥ द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत ये सात अंग कहलाते हैं। ग्रंथ-के आदिमें इनका निरूपण अवश्य होना चाहिए ॥१२२॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं, ऊर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्रदेवका चरित्र ही तीर्थ है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकारका काल है, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञानका होना फल कहलाता है, और वर्णनीय कथावस्तु-को प्रकृत कहते हैं ॥ १२३-१२४॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात अंग जिस कथामें पाये जायें उसे सत्कथा कहते हैं। इस ग्रन्थमें भी अवसरके अनुसार इन अंगोंका विस्तार दिखाया जायेगा। ॥१२५॥

वक्ताका लक्षण

ऊपर कही हुई कथाका कहनेवाला आचार्य वही पुरुष हो सकता है जो सदाचारी हो, स्थिरबुद्धि हो, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला हो, जिसकी सब इन्द्रियाँ समर्थ हों, जिसके अंगो-पांग सुन्दर हों, जिसके वचन स्पष्ट परिमार्जित और सबको प्रिय लगनेवाले हों, जिसका आशय जिनेन्द्रमतरूपी समुद्रके जलसे धुला हुआ और निर्मल हो, जिसकी वाणी समस्त दोषोंके अभावसे अत्यन्त उज्ज्वल हो, श्रीमान् हो, सभाओंको वशमें करनेवाला हो, प्रशस्त वचन बोलने-वाला हो, गम्भीर हो, प्रतिभासे युक्त हो, जिसके व्याख्यानको सत्पुरुष पसंद करते हों, अनेक

---

१ धर्मफलरूपाभ्युदयाङ्गत्वात्। २. कथनम्। ३ -कारिणी म०, ल०,। ४ भूषणैः। ५ -मेतेषा स०, द०। ६ कल्येन्द्रियः म०, ल०, स०। प्रशस्तनयनादिद्रव्येन्द्रिय। ७ मृष्टा शुद्धा। ८ गम्भीराशय। 'विद्वत्सुप्रगल्भाविशी'। ९. 'आशूत्तरप्रदात्री भा प्रतिभा सर्वतोमुखी'। १० प्रश्नसहः।

दयालुर्वत्सलो धीमान् परेङ्गित[1]विशारदः। योऽधीती विश्वविद्यासु स धीरः कथयेत् कथाम् ॥१२९॥
[2]नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः। नानाशास्त्रकलाभिज्ञः स भवेत् कथकाग्रणीः ॥१३०॥
नाङ्गुलीभञ्जनं कुर्यान्न भ्रुवौ नर्तयेद् ब्रुवन्। नाधिक्षिपेन्न[3] च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत् ॥१३१॥
उच्चैः प्रभाषितव्य स्यात् सभामध्ये कदाचन। तत्राप्यनुद्धतं ब्रूयाद् वचः [4]सभ्यमनाकुलम् ॥१३२॥
हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयाद् धर्म्यं यशस्करम्। प्रसङ्गादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करम् ॥१३३॥
इत्यालोच्य कथायुक्तिमयुक्तिपरिहारिणीम्। [5]प्रस्तूयाद् यः कथावस्तु स शस्तो[6] वदतां वरः ॥१३४॥
आक्षेपिणीं कथां कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे। विक्षेपिणीं कथां तज्ज्ञः कुर्याद् दुर्मतनिग्रहे ॥१३५॥
[7]संवेदिनीं कथां [8]पुण्यफलसंपत्प्रपञ्चने। [9]निर्वेदिनीं कथां कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति ॥१३६॥
इति धर्मकथाङ्गत्वादर्थाक्षिप्तां[10] चतुष्टयीम्। कथां यथार्हं श्रोतृभ्यः कथक प्रतिपादयेत् ॥१३७॥
धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः। तेषां च सदसद्भावव्यक्तौ दृष्टान्तकल्पना ॥१३८॥

प्रश्न तथा कुतर्कोंको सहनेवाला हो, दयालु हो, प्रेमी हो, दूसरेके अभिप्रायको समझनेमें निपुण हो, जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन किया हो और धीर, वीर हो ऐसे पुरुषको ही कथा कहनी चाहिए॥१२६-१२९॥ जो अनेक उदाहरणोंके द्वारा वस्तुस्वरूप कहनेमें कुशल है, संस्कृत, प्राकृत आदि अनेक भाषाओंमें निपुण है, अनेक शास्त्र और कलाओंका जानकार है वही उत्तम वक्ता कहा जाता है ॥१३०॥ वक्ताको चाहिए कि वह कथा कहते समय अंगुलियाँ नहीं चटकावे, न भौंह ही चलावे, न किसीपर आक्षेप करे, न हँसे, न जोरसे बोले और न धीरे ही बोले ॥१३१॥ यदि कदाचित् सभाके बीचमें जोरसे बोलना पड़े तो उद्धतपना छोड़कर सत्यप्रमाणित वचन इस प्रकार बोले जिससे किसीको क्षोभ न हो ॥१३२॥ वक्ताको हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेशसे सहित हो और यशको करनेवाला हो। अवसर आनेपर भी अधर्मयुक्त तथा अकीर्तिको फैलानेवाले वचन नहीं कहना चाहिए ॥१३३॥ इस प्रकार अयुक्तियोंका परिहार करनेवाली कथाकी युक्तियोंका सम्यक् प्रकारसे विचार कर जो वर्णनीय कथावस्तुका प्रारम्भ करता है वह प्रशंसनीय श्रेष्ठ वक्ता समझा जाता है ॥ १३४ ॥ बुद्धिमान् वक्ताको चाहिए कि वह अपने मतकी स्थापना करते समय आक्षेपिणी कथा कहे, मिथ्या मतका खण्डन करते समय विक्षेपिणी कथा कहे, पुण्यके फलस्वरूप विभूति आदिका वर्णन करते समय संवेदिनी कथा कहे तथा वैराग्य उत्पादनके समय निर्वेदिनी कथा कहे ॥ १३५-१३६ ॥ इस प्रकार धर्मकथाके अंगभूत आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी रूप चारों कथाओंका विचार कर श्रोताओंकी योग्यतानुसार वक्ताको कथन करना चाहिए ॥१३७॥ अब आचार्य श्रोताओंका लक्षण कहते हैं—

श्रोताका लक्षण

जो हमेशा धर्मश्रवण करनेमें लगे रहते हैं विद्वानोंने उन्हें श्रोता माना है। अच्छे और बुरेके भेदसे श्रोता अनेक प्रकारके है, उनके अच्छे और बुरे भावोंके जाननेके लिए नीचे लिखे

---

१ इङ्गित चित्तविकृतिः। २. बहुकथानिपुण। ३. धिक्कार कुर्यात्। ४. सत्य–द०, स०, अ०, प०, म०, ल०। ५. प्रारभेत। ६ शास्ता प०, द०। ७. संवेजनीं स०, प०, द०। ८. पुण्या फल–म०, ल०। ९. निर्वेदनी प०, स०, द०। १० अर्थायातम्।

मृच्चालिन्यजमार्जारशुककङ्कशिलाहिभिः । गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलौककैः ॥१३९॥
श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाधममध्यमाः । अन्यादृशोऽपि सन्त्येव तत्किं तेषामियत्तया ॥१४०॥
गोहंससदृशान् प्राहुरुत्तमान् मृच्छुकोपमान् । मध्यमान् विदुरन्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मतः ॥१४१॥
[1]शेमुष्यब्दतुलादण्डनिकषोपलसन्निभाः । श्रोतारः सत्कथारत्नपरीक्षाध्यक्षका मताः ॥ १४२॥

अनुसार दृष्टान्तोंकी कल्पना की जाती है ॥ १३८ ॥ मिट्टी, चलनी, बकरा, विलाव, तोता, वगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटा घड़ा, डाँस और जोंक इस प्रकार चौदह प्रकारके श्रोताओंके दृष्टान्त समझना चाहिए। भावार्थ—(१) जैसे मिट्टी पानीका संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बादमें कठोर हो जाती है। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमलपरिणामी हों परन्तु बादमें कठोरपरिणामी हो जायें वे मिट्टीके समान श्रोता हैं। (२) जिस प्रकार चलनी सारभूत आटेको नीचे गिरा देती है और छोकको बचा रखती है उसी प्रकार जो श्रोता वक्ताके उपदेशमें-से सारभूत तत्त्वको छोड़कर निःसार तत्त्वको ग्रहण करते हैं वे चलनीके समान श्रोता हैं। (३) जो अत्यन्त कामी हैं अर्थात् शास्त्रोपदेशके समय शृंगारका वर्णन सुनकर जिनके परिणाम शृंगार रूप हो जावें वे अजके समान श्रोता हैं। (४) जैसे अनेक उपदेश मिलनेपर भी विलाव अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोड़ता, सामने आते ही चूहेपर आक्रमण कर देता है उसी प्रकार जो श्रोता बहुत प्रकारसे समझानेपर भी क्रूरताको नहीं छोड़ें, अवसर आनेपर क्रूर प्रवृत्ति करने लगें वे मार्जारके समान श्रोता हैं। (५) जैसे तोता स्वयं अज्ञानी है दूसरोंके द्वारा कहलानेपर ही कुछ सीख पाता है वैसे ही जो श्रोता स्वयं ज्ञानसे रहित हैं दूसरोंके बतलानेपर ही कुछ शब्द मात्र ग्रहण कर पाते हैं वे शुकके समान श्रोता हैं। (६) जो बगुलेके समान बाहरसे भद्रपरिणामी मालूम होते हों परन्तु जिनका अन्तरङ्ग अत्यन्त दुष्ट हो वे बगुलाके समान श्रोता हैं। (७) जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदयमें समझाये जानेपर जिनवाणी रूप जलका प्रवेश नहीं हो पाता वे पाषाणके समान श्रोता हैं। (८) जैसे साँपको पिलाया हुआ दूध भी विषरूप हो जाता है वैसे ही जिनके सामने उत्तमसे-उत्तम उपदेश भी खराब असर करता है वे सर्पके समान श्रोता हैं। (९) जैसे गाय तृण खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोड़ा-सा उपदेश सुनकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गायके समान श्रोता हैं। (१०) जो केवल सार वस्तुको ग्रहण करते हैं वे हंसके समान श्रोता हैं। (११) जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है पर समस्त पानीको गँदला कर देता है। इसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं परन्तु अपने कुतर्कोंसे समस्त सभामें क्षोभ पैदा कर देते हैं वे भैंसाके समान श्रोता हैं। (१२) जिनके हृदयमें कुछ भी उपदेश नहीं ठहरे वे छिद्र घटके समान श्रोता हैं। (१३) जो उपदेश तो बिलकुल ही ग्रहण न करें परन्तु सारी सभाको व्याकुल कर दें वे डाँसके समान श्रोता हैं। (१४) जो गुण छोड़कर सिर्फ अवगुणोंको ही ग्रहण करें वे जोंकके समान श्रोता हैं। इन ऊपर कहे हुए श्रोताओंके उत्तम, मध्यम और अधमके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं। इनके सिवाय और भी अन्य प्रकारके श्रोता हैं परन्तु उन सबकी गणनासे क्या लाभ है ? ॥ १३९–१४० ॥ इन श्रोताओंमें जो श्रोता गाय और हंसके समान हैं वे उत्तम कहलाते हैं, जो मिट्टी और तोताके समान हैं उन्हें मध्यम जानना चाहिए और बाकीके समान अन्य सब श्रोता अधम माने गये हैं ॥१४१॥ जो श्रोता नेत्र, दर्पण, तराजू और कसौटीके समान गुण-दोषोंके बतलानेवाले हैं वे सत्कथारूप

---

१ तयाक्ष्यब्द—द०, स०, अ०, प०, ल०।

श्रोता न चैहिकं किंचित्फलं वान्छेत्कथाश्रुतौ। नेच्छेद् वक्ता च सत्कारधनभेषजसंश्रयान्[1] ॥१४३॥
श्रेयोऽर्थं केवलं ब्रूयात् सन्मार्गं शृणुयाच्च वै। श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न लोकपरिपक्तये[2] ॥१४४॥
श्रोता शुश्रूषताद्यैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते। वक्ता च वत्सलत्वादियथोक्तगुणभूषणः ॥१४५॥
शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान्[3] विदुः ॥१४६॥
सत्कथाश्रवणात् पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते। तेनाभ्युदयससिद्धिः क्रमान्नैःश्रेयसी स्थितिः ॥१४७॥
इत्याप्तोक्त्यनुसारेण कथितं वः कथामुखम्। कथावतारसंबन्धं वक्ष्यामः[4] शृणुताधुना ॥१४८॥
इत्यनुश्रूयते देवः [5]पुराकल्पे स नाभिजः। अध्युवास भुवो मौलिं [6]कैलासाद्रिं यदृच्छया ॥१४९॥
तत्रासीनं च तं देवाः परिचेरुः सपर्यया। तुष्टुवुश्च [7]किरीटाग्रसंदष्टकरकुड्मलाः[8] ॥१५०॥
सभाविरचनां तत्र सुत्रामा त्रिजगद्गुरोः। प्रीतः प्रवर्तयामास प्राप्तकैवल्यसंपदः ॥१५१॥

रत्नके परीक्षक माने गये हैं ॥१४२॥ श्रोताओंको शास्त्र सुननेके बदले किसी सांसारिक फलकी चाह नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार वक्ताको भी श्रोताओंसे सत्कार, धन, ओषधि और आश्रय—घर आदिकी इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥१४३॥ स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणोंकी अपेक्षा रखकर ही वक्ताको सन्मार्गका उपदेश देना चाहिए तथा श्रोताको सुनना चाहिए क्योंकि सत्पुरुषोंकी चेष्टाएँ वास्तविक कल्याणकी प्राप्तिके लिए ही होती हैं अन्य लौकिक कार्योंके लिए नहीं ॥१४४॥ जो श्रोता शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है। इसी प्रकार जो वक्ता वात्सल्य आदि गुणोंसे भूषित होता है वही प्रशंसनीय माना जाता है ॥१४५॥ शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओंके आठ गुण जानना चाहिए॥ भावार्थ—सत्कथाको सुननेकी इच्छा होना शुश्रूषा गुण है, सुनना श्रवण है, समझकर ग्रहण करना ग्रहण है, बहुत समय तक उसकी धारणा रखना धारण है, पिछले समय ग्रहण किये हुए उपदेश आदिका स्मरण करना स्मरण है, तर्क-द्वारा पदार्थके स्वरूपके विचार करनेकी शक्ति होना ऊह है, हेय वस्तुओंको छोड़ना अपोह है और युक्ति-द्वारा पदार्थका निर्णय करना निर्णीति गुण है। श्रोताओंमें इनका होना अत्यन्त आवश्यक है ॥१४६॥ सत्कथाके सुननेसे श्रोताओंको जो पुण्यका संचय होता है उससे उन्हें पहले तो स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है और फिर क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १४७ ॥ इस प्रकार मैंने शास्त्रोंके अनुसार आप लोगोंको कथामुख (कथाके प्रारम्भ) का वर्णन किया है अब इस कथाके अवतारका सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो ॥१४८॥

कथावतारका वर्णन

गुरुपरम्परासे ऐसा सुना जाता है कि पहले तृतीय कालके अन्तमें नाभिराजके पुत्र भगवान् ऋषभदेव विहार करते हुए अपनी इच्छासे पृथिवीके मुकुटभूत कैलास पर्वतपर आकर विराजमान हुए ॥१४९॥ कैलासपर विराजमान हुए उन भगवान् वृषभदेवकी देवोंने भक्तिपूर्वक पूजा की तथा जुड़े हुए हाथोंको मुकुटसे लगाकर स्तुति की ॥१५०॥ उसी पर्वतपर त्रिजगद्गुरु भगवान्‌को केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, उससे हर्षित होकर इन्द्रने वहाँ समवसरणकी रचना करायी

---

१ संश्रयात् अ०, प०, स०, द०, म०, ल०। २. परिपङ्क्तये द०, ल०, म०, अ०। परिपाकाय। ३. गुणाः स्मृताः म०। ४ वक्ष्यामि अ०, स०, द०। ५. पूर्वशास्त्रे। 'कल्पः स्यात् प्रलये न्याये शास्त्रे ब्रह्मदिने विधौ।' अथवा पुराकल्पे युगादौ। ६. कैलासाद्रौ। 'वसामनूपाध्याङ्' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे द्वितीया। ७. तिरीटाग्र—ल०, म०, अ०। ८ कुड्मला म०, ल०।

तत्र देवसमे देवं स्थितमत्यद्भुतस्थितिम् । प्रणनाम मुदाभ्येत्य भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१५२॥
स तं स्तुतिभिरर्घ्याभिरभ्यर्च्य नृसुरार्चितम् । यथोचितं [1]सभास्थानमध्यास्त विनयानतः ॥१५३॥
सभा सभासुरसुरा पीत्वा धर्मामृतं विभोः । पिप्रिये पद्मिनीबोधदंशुजालमलं रवेः ॥१५४॥
मध्येसभमथोत्थाय भरतो रचिताञ्जलिः । व्यजिज्ञपदिदं वाक्यं प्रश्रयो मूर्तिमानिव ॥१५५॥
ब्रुवतोऽस्य मुखाम्भोजाल्लसद्दन्तांशुकेसरात् । निर्ययौ मधुरा वाणी प्रसन्नेव सरस्वती ॥१५६॥
त्वत्तः प्रबोधमायान्ती सभेयं ससुरासुरा । प्रफुल्लवदनाम्भोजा व्यक्तमम्भोजिनीयते ॥१५७॥
[2]तमःप्रलयलीनस्य जगतः सर्जनं प्रति । त्वयामृतमिवासिक्तमिदमालक्ष्यते वचः ॥१५८॥
नोदभास्यन् यदि ध्वान्तविच्छिदस्त्वद्वचोंऽशवः । तमस्यन्धे जगत्कृत्स्नमपतिष्यदिदं ध्रुवम् ॥१५९॥
युष्मत्सदर्शनादेव देवाभून्मे कृतार्थता । कस्य वा नु कृतार्थत्वं संनिधौ महतो निधेः ॥१६०॥
श्रुत्वा पुनर्भवद्वाचं[3] कृतार्थतरकोऽस्म्यहम् । दृष्टामृतं कृती लोकः किं पुनस्तद्रसोपयुक्[4] ॥१६१॥
इष्ट एव किलारण्ये वृष्टो देव[5] इति श्रुतिः । स्पष्टीभूताद्य मे देव वृष्टं धर्माम्बु [6]यत्त्वया ॥१६२॥

॥१५१॥ देवाधिदेव भगवान् आश्चर्यकारी विभूतिके साथ जब समवसरण सभामें विराजमान थे तब भक्तिसे भरे हुए महाराज भरतने हर्षके साथ आकर उन्हें नमस्कार किया ॥१५२॥ महाराज भरतने मनुष्य और देवोंसे पूजित उन जिनेन्द्रदेवकी अर्थसे भरे हुए अनेक स्तोत्रों-द्वारा पूजा की और फिर वे विनयसे नत होकर अपने योग्य स्थानपर बैठ गये ॥१५३॥ देदीप्यमान देवोंसे भरी हुई वह सभा भगवान्‌से धर्मरूपी अमृतका पान कर उस तरह संतुष्ट हुई थी जिस तरह कि सूर्यके तेज किरणोंका पान कर कमलिनी संतुष्ट होती है ॥१५४॥ इसके अनन्तर मूर्तिमान् विनयकी तरह महाराज भरत हाथ जोड़ सभाके बीच खड़े होकर यह वचन कहने लगे ॥१५५॥ प्रार्थना करते समय महाराज भरतके दाँतोंकी किरणरूपी केशरसे शोभायमान मुखसे जो मनोहर वाणी निकल रही थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उनके मुखसे प्रसन्न हुई उज्ज्वलवर्णधारिणी सरस्वती ही निकल रही हो ॥१५६॥ हे देव, देव और धरणेन्द्रोंसे भरी हुई यह सभा आपके निमित्तसे प्रबोध—प्रकृष्ट ज्ञानको (पक्षमें विकासको) पाकर कमलिनीके समान शोभायमान हो रही है क्योंकि सबके मुख, कमलके समान अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहे हैं ॥१५७॥ हे भगवन्, आपके यह दिव्य वचन अज्ञानान्धकाररूप प्रलयमें नष्ट हुए जगत्‌की पुनरुत्पत्तिके लिए सींचे गये अमृतके समान मालूम होते हैं ॥१५८॥ हे देव, यदि अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले आपके वचनरूप किरण प्रकट नहीं होते तो निश्चयसे यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी सघन अन्धकारमें पड़ा रहता ॥१५९॥ हे देव, आपके दर्शन मात्रसे ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, यह ठीक ही है महानिधिको पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता ? ॥१६०॥ आपके वचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया क्योंकि जब लोग अमृतको देखकर ही कृतार्थ हो जाते है तब उसका स्वाद लेनेवाला क्या कृतार्थ नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१६१॥ हे नाथ, वनमें मेघका बरसना सबको इष्ट है यह कहावत जो सुनी जाती थी सो आज यहाँ आपके द्वारा धर्मरूपी जलकी वर्षा देखकर मुझे प्रत्यक्ष हो गयी। भावार्थ—जिस प्रकार वनमें पानीकी वर्षा सबको अच्छी लगती है उसी प्रकार इस कैलासके काननमें

---

१ सभास्थाने । 'शीङ्स्थासोरधेराधार' इति सूत्रात्सप्तम्यर्थे द्वितीया । २ तम प्रलयः—अज्ञानमूर्च्छा । 'प्रलयो मृत्युकल्पान्तमूर्च्छास्वपि प्रयुज्यते ।' अथवा 'प्रलयो नष्टचेष्टता' इत्यमर । ३. भवद्वाक्यं अ० । ४. -रसोपभुक् न०, अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ५ इन्द्र. मेघ । ६. यस्मात् कारणात् ।

-त्वयोपदिशता तत्त्वं किं नाम परिशेषितम् । धूतान्धतमसो भास्वान्[1] भास्यं किमवशेषयेत् ॥१६३॥

त्वयोपदर्शिते तत्त्वे सतां मोमुह्यते न धीः । [2]महत्यादर्शिते वर्त्मन्यनन्धः कः परिस्खलेत् ॥१६४॥

त्वद्वचोविस्तरे कृत्स्नं वस्तुबिम्बं मयेक्षितम् । त्रैलोक्यश्रीमुखालोकमङ्गलाब्दतलायिते ॥१६५॥

तथापि किमपि प्रष्टुमिच्छा मे हृदि वर्तते । भवद्वचोमृतामीक्ष्ण[3]पिपासा तत्र कारणम् ॥१६६॥

गणेशमथवोल्लङ्घ्य त्वां प्रष्टुं क इवाहकम्[4] । भक्तो न गणयामीदमतिभक्तिश्च नेष्यते[5] ॥१६७॥

[6]किंविशेषैषितैषा मे किमनीषल्लभादरः[7] । [8]श्रद्धोत्कर्षोचिकीर्षा[9] नु [10]मुखरीकुरुतेऽद्य माम् ॥१६८॥

भगवन् श्रोतुकामोऽस्मि विश्वभुग्धर्मसंग्रहम् । पुराणं महतां पुंसां प्रसीद कुरु मे दयाम् ॥१६९॥

त्वत्समाः कति सर्वज्ञा मत्समाः कति चक्रिणः । केशवाः कति वा देव सरामाः कति तद्द्विषः ॥१७०॥

कीदृशं [11]वृत्तकं तेषां वृत्तं[12] वर्त्स्यच्च सांप्रतम्[13] । तत्सर्वं [14]ज्ञातुकामोऽस्मि वद मे वदतां वर[15] ॥१७१॥

[16]किंनामानश्च ते सर्वे किंगोत्राः किंसनाभयः । किंलक्ष्माणः किमाकाराः [17]किमाहार्याः किमायुधाः ॥१७२॥

आपके द्वारा होनेवाली धर्मरूपी जलकी वर्षा सबको अच्छी लग रही है ॥१६२॥ हे भगवन्, उपदेश देते हुए आपने किस पदार्थको छोड़ा है ? अर्थात् किसीको भी नहीं। क्या सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य किसी पदार्थको प्रकाशित करनेसे बाकी छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं ॥१६३॥ हे भगवन्, आपके द्वारा दिखलाये हुए तत्त्वोंमें सत्पुरुषोंकी बुद्धि कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होती। क्या महापुरुषोंके द्वारा दिखाये हुए विशाल मार्गमें नेत्रवाला पुरुष कभी गिरता है ? अर्थात् नहीं गिरता ॥१६४॥ हे स्वामिन्, तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगल दर्पणके समान आचरण करनेवाले आपके इन वचनोंके विस्तारमें प्रतिबिम्बित हुई संसारकी समस्त वस्तुओंको यद्यपि मैं देख रहा हूँ तथापि मेरे हृदयमें कुछ पूछनेकी इच्छा उठ रही है और उस इच्छाका कारण आपके वचनरूपी अमृतके निरन्तर पान करते रहनेकी लालसा ही समझनी चाहिए ॥१६५-१६६॥ हे देव, यद्यपि लोग कह सकते हैं कि गणधरको छोड़कर साक्षात् आपसे पूछनेवाला यह कौन है ? तथापि मैं इस बातको कुछ नहीं समझता, आपकी सातिशय भक्ति ही मुझे आपसे पूछनेके लिए प्रेरित कर रही है ॥१६७॥ हे भगवन्, पदार्थका विशेष स्वरूप जाननेकी इच्छा, अधिक लाभकी भावना, श्रद्धाकी अधिकता अथवा कुछ करनेकी इच्छा ही मुझे आपके सामने वाचाल कर रही है ॥१६८॥ हे भगवन्, मैं तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके उस पुण्यको सुनना चाहता हूँ जिसमें सर्वज्ञप्रणीत समस्त धर्मोंका संग्रह किया गया हो। हे देव, मुझपर प्रसन्न होइए, दया कीजिए और कहिए कि आपके समान कितने सर्वज्ञ-तीर्थंकर होंगे ? मेरे समान कितने चक्रवर्ती होंगे ? कितने नारायण, कितने बलभद्र और कितने उनके शत्रु-प्रतिनारायण होंगे ? उनका अतीत चरित्र कैसा था ? वर्तमानमें और भविष्यत्में कैसा होगा ? हे वक्तृश्रेष्ठ, यह सब मैं आपसे सुनना चाहता हूँ ॥१६९-१७१॥ हे सबका हित करनेवाले जिनेन्द्र, यह भी कहिए कि वे सब किन-किन नामोंके धारक होंगे ? किस-किस गोत्रमें उत्पन्न होंगे ? उनके सहोदर कौन-कौन होंगे ? उनके क्या-क्या लक्षण होंगे ? वे किस आकारके धारक होंगे ? उनके क्या-क्या

---

१ प्रकाश्यम् । २. महतादर्शिते ल० । ३. पुनः पुनः । ४. कुत्सितोऽहम् । ५. नेक्ष्यते अ० । ६ विशेषमेष्टुमिच्छन्तीत्येवं शीलः विशेषैषी तस्य भावः । ७ सुदुर्लभादर । ८. -त्कर्षश्चि-ल० । ९. -र्षा मु-स० । १० सुमुखरी-प०, द०, । ११ चारित्रम् । १२. भविष्यत् । १३. वर्तमानम् । १४. श्रोतु-म०. ल० । १५. वदता वर आ०, प० । १६ कानि नामानि येषां ते । १७ किमाभरणम् ।

किं तेषामायुषो मानं कि वर्ष्म[1] किमथान्तरम् । कुतूहलमिदं ज्ञातुं विश्वं [2]विश्वजनीन मे ॥१७३॥
कस्मिन् युगे कियन्तो वा [3]युगांशाः किं युगान्तरम्[4] । युगानां परिवर्तो वा कतिकृत्वः प्रवर्तते ॥१७४॥
युगस्य कथिते[कतिथे[5]]भागे मनवो मन्वते[6] च किम् । किं वा मन्वन्तरं देव [7]तत्त्वं मे ब्रूहि तत्त्वतः॥१७५॥
लोकं कालावतारं च [8]वंशोत्पत्तिलयस्थितीः । वर्णसंभूतिमन्यच्च [9]बुभुत्सेऽहं भवन्मुखात् ॥१७६॥
अनादिवासनोद्भूतमिथ्याज्ञानसमुत्थितम् । नुद मे संशयध्वान्तं जिनार्कवचनांशुभिः ॥१७७॥
इति प्रश्नमुपन्यस्य भरतः [10]शातमातुरः । [11]विरराम यथास्थानमासीनश्च[12] कथोत्सुकः ॥१७८॥
लब्धावसरमिद्धार्थं[13] सुसंबद्धमनुद्धतम् । अभ्यनन्दत् सभा कृत्स्ना प्रश्नमस्येशितुर्विशाम्[14] ॥१७९॥
तत्क्षणं सत्कथाप्रश्नात्तदर्पितदृशः सुराः । पुष्पवृष्टिमिवातेनुः प्रतीता[15] भरतं प्रति ॥१८०॥
साधु भो भरताधीश [16]प्रतीक्ष्योऽसि त्वमद्य नः । प्रशशंसुरितीन्द्रास्तं प्रश्रयात् को न शस्यते ॥१८१॥
प्रश्नाद्विनैव[17] तद्भावं जानन्नपि स सर्ववित् । तत्प्रश्नान्तमुदैक्षिष्ट [18]प्रतिपन्ननुरोधतः ॥१८२॥

आभूषण होंगे ? उनके क्या-क्या अस्त्र होंगे ? उनकी आयु और शरीरका प्रमाण क्या होगा ? एक-दूसरेमें कितना अन्तर होगा ? किस युगमें कितने युगोंके अंश होते हैं ? एक युगसे दूसरे युगमें कितना अन्तर होगा ? युगोंका परिवर्तन कितनी बार होता है ? युगके कौन-से भागमें मनु-कुलकर उत्पन्न होते हैं ? वे क्या जानते हैं ? एक मनुसे दूसरे मनुके उत्पन्न होने-तक कितना अन्तराल होता है ? हे देव, यह सब जाननेका मुझे कौतूहल उत्पन्न हुआ है सो यथार्थ रीतिसे मुझे इन सब तत्त्वोंका स्वरूप कहिए ॥१७२–१७५॥ इसके सिवाय लोकका स्वरूप, कालका अवतरण, वंशोंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, क्षत्रिय आदि वर्णोंकी उत्पत्ति भी मैं आपके श्रीमुखसे जानना चाहता हूँ ॥१७६॥ हे जिनेन्द्रसूर्य, अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञानसे सातिशय बढ़े हुए मेरे इस संशयरूपी अन्धकारको आप अपने वचनरूप किरणोंके द्वारा शीघ्र ही नष्ट कीजिए ॥१७७॥ इस प्रकार प्रश्न कर महाराज भरत जब चुप हो गये और कथा सुननेमें उत्सुक होते हुए अपने योग्य आसनपर बैठ गये तब समस्त सभाने भरत महाराजके इस प्रश्नकी सातिशय प्रशंसा की जो कि समयके अनुसार किया गया था, प्रकाशमान अर्थोंसे भरा हुआ था, पूर्वापर सम्बन्धसे सहित था तथा उद्धतपनेसे रहित था ॥१७८–१७९॥ उस समय उनके इस प्रश्नको सुनकर सब देवता लोग महाराज भरतकी ओर आँख उठाकर देखने लगे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे उनपर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं ॥१८०॥ हे भरतेश्वर, आप धन्य हैं, आज आप हमारे भी पूज्य हुए हैं। इस प्रकार इन्द्रोंने उनकी प्रशंसा की थी सो ठीक ही है, विनयसे किसकी प्रशंसा नहीं होती ? अर्थात् सभीकी होती है ॥ १८१ ॥ संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्नके बिना ही भरत महाराजके अभिप्रायको जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे ॥१८२॥

---

१. वर्ष्म प्रमाणं शरीरोत्सेध इत्यर्थः । २. विश्वजनेभ्यो हित । ३. युगान्ताः म० । सुषमादयः । ४. अवधिः । ५. कतीना पूरणम् । ६ जानन्ति । ७ तत् त्वमिति पदविभागः । ८. वंशोत्पत्ति लयस्थिती ल० । ९. बोद्धुमिच्छामि । १०. शतस्य माता शतमाता, शतमातुरपत्यं शातमातुर. । 'संख्यासम्भद्रान्मस्तुर्ड्.र्' । ११. तूष्णी स्थित. । १२ उपविष्ट. । १३. इद्धः समृद्धः । १४. विशामीशितुः राज्ञः । १५ प्रतीता द०, म०, ल० । प्रतीतं प० । १६. पूज्यः । १७ विनापि द०, प० । १८ प्रतिपन्नविरोधतः स० ।

इति विज्ञापितस्तेन भगवानादितीर्थकृत् । व्याजहार पुराणार्थमतिगम्भीरया गिरा ॥१८३॥
अपरिस्पन्दताल्वादेरस्पष्टदशनद्युतेः । स्वयंभुवो मुखाम्भोजाज्जाता चित्रं सरस्वती ॥१८४॥
प्रसवागारमेतस्याः सत्यं तद्वक्त्रपङ्कजम् । तत्र लब्धात्मलाभा सा [1]यज्जगद्वशमानयत्[2] ॥१८५॥
विवक्षया विनैवास्य दिव्यो वाक्प्रसरोऽभवत् । महतां चेष्टितं चित्रं जगदभ्युजिहीर्षताम्[3] ॥१८६॥
एकरूपापि तद्भाषा श्रोतॄन् प्राप्य पृथग्विधान् । भेजे नानात्मतां [4]कुल्याजलस्रुतिरिवाङ्घ्रिपान् ॥१८७॥
परार्थं स कृतार्थोऽपि यदैहिष्ट[5] जगद्गुरुः । तन्नूनं महतां चेष्टा परार्थैव निसर्गतः ॥१८८॥
स्वन्मुखात् प्रसृता वाणी दिव्या तां महतीं सभाम् । प्रीणयामास सौधीव धारा संतापहारिणी ॥१८९॥
यत्पृष्टमादितस्तेन तत् सर्वमनुपूर्वशः[6] । वाचस्पतिरनायासाद् भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥१९०॥
प्रागेवोत्सर्पिणीकालसंबन्धि पुरुषाश्रयम्[7] । पुराणमतिगम्भीरं व्याजहार जगद्गुरुः ॥१९१॥
ततोऽवसर्पिणीकालमाश्रित्य प्रस्तुतां[8] कथाम् । [9]प्रस्तोष्यन् स पुराणस्य पीठिकां प्राक्समादधे[10] ॥१९२॥
[11]इतिवृत्तं पुराकल्पे यत्प्रोवाच [12]गिरांपतिः । गणी वृषभसेनाख्यस्तत्तदाधि[13]जगेऽ[14]र्थतः[15] ॥१९३॥

इस प्रकार महाराज भरतके द्वारा प्रार्थना किये गये आदिनाथ भगवान् सातिशय गम्भीर वाणीसे पुराणका अर्थ कहने लगे ॥ १८३ ॥ उस समय भगवान्के मुखसे जो वाणी निकल रही थी वह बड़ा ही आश्चर्य करनेवाली थी क्योंकि उसके निकलते समय न तो तालु, कण्ठ, ओठ, आदि अवयव ही हिलते थे और न दाँतोंकी किरण ही प्रकट हो रही थी ॥ १८४ ॥ अथवा सचमुचमें भगवान्का मुखकमल ही इस सरस्वतीका उत्पत्तिस्थान था उसने वहाँ उत्पन्न होकर ही जगत्को वशमें किया ॥ १८५ ॥ भगवान्के मुखसे जो दिव्य ध्वनि प्रकट हो रही थी वह बोलनेकी इच्छाके विना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक है क्योंकि जगत्का उद्धार चाहनेवाले महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली ही होती हैं ॥ १८६ ॥ जिस प्रकार नहरोंके जलका प्रवाह एकरूप होनेपर भी अनेक प्रकारके वृक्षोंको पाकर अनेकरूप हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवकी वाणी एकरूप होनेपर भी पृथक्-पृथक् श्रोताओंको प्राप्तकर अनेकरूप हो जाती है। भावार्थ—भगवान्की दिव्य ध्वनि उद्गम स्थानसे एकरूप ही प्रकट होती है परन्तु उसमें सर्वभाषारूप परिणमन होनेका अतिशय होता है जिससे सब श्रोता लोग उसे अपनी-अपनी भाषामें समझ जाते हैं ॥१८७॥ वे जगद्गुरु भगवान् स्वयं कृतकृत्य होकर भी धर्मोपदेशके द्वारा दूसरोंकी भलाईके लिए उद्योग करते थे। इससे निश्चय होता है कि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ स्वभावसे ही परोपकारके लिए होती हैं ॥१८८॥ उनके मुखसे प्रकट हुई दिव्यवाणीने उस विशाल सभाको अमृतकी धाराके समान सन्तुष्ट किया था क्योंकि अमृतधाराके समान ही उनकी वाणी भव्य जीवोंका सन्ताप दूर करनेवाली थी, जन्म-मरणके दुःखसे छुड़ानेवाली थी ॥१८९॥ महाराज भरतने पहले जो कुछ पूछा था उस सबको भगवान् वृषभदेव विना किसी कष्टके क्रमपूर्वक कहने लगे ॥१९०॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले उत्सर्पिणीकाल सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंका चरित्र निरूपण करनेवाले अत्यन्त गम्भीर पुराणका निरूपण किया, फिर अवसर्पिणीकालका आश्रय कर तत्सम्बन्धी तिरेसठ शलाकापुरुषोंकी कथा कहनेकी इच्छासे पीठिकासहित उनके पुराणका वर्णन किया ॥१९१-१९२॥ भगवान् वृषभनाथने तृतीय कालके

---

१ यत् कारणात् । २ मानयत् द०, स० । ३. अभ्युद्धर्तुमिच्छताम् । ४. 'पय प्रणालीसरितो' कुल्या' । ५. चेष्टयामास । ६. अनुक्रमेण । ७. पुरुषाश्रितम् । ८. प्रकृताम् । ९. प्रवक्ष्यन् । १०. मादधे प०, द०, स० । ११. ऐतिह्यम् । १२ सर्वज्ञः । १३. तदाधिजगदेऽर्थतः स० । १४. ज्ञातवान् । इङ् अध्ययने । 'गाङ्लिटि' इङो लिटि गाङ् भवति इति गाङादेशः । १५. ग्रन्थरचनां विना ।

ततः स्वायंभुवीं वाणीमवधार्यार्थतः कृती । जगद्धिताय सोऽग्रन्थीत्तत्पुराणं गणाग्रणी ॥१९४॥
शेषैरपि तथा तीर्थकृद्भिर्गणधरैरपि । [1]महर्द्धिभिर्यथाम्नायं तत्पुराणं प्रकाशितम् ॥१९५॥
ततो युगान्ते भगवान् वीरः सिद्धार्थनन्दनः । विपुलाद्रिमलंकुर्वन्नेकदाऽऽस्ताखिलार्थदृक् ॥१९६॥
अथोपसृत्य तत्रैनं पश्चिमं तीर्थनायकम् । पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥१९७॥
तं प्रत्यनुग्रहं भर्तुरवबुध्य गणाधिपः । पुराणसंग्रहं कृत्स्नमन्ववोचत् स गौतमः ॥१९८॥
[2]तत्तदानुस्मृतं तत्र[3] गौतमेन महर्षिणा । ततोऽवोधि सुधर्मोऽसौ जम्बूनाम्ने समर्पयत् ॥१९९॥
ततः प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागतम् । पुराणमधुनास्माभिर्यथाशक्ति प्रकाश्यते ॥२००॥
तत्रोऽत्र मूलतन्त्रस्य कर्ता पश्चिमतीर्थकृत् । गौतमश्चानुतन्त्रस्य [4]प्रत्यासत्तिक्रमाश्रयात् ॥२०१॥
श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रत्यमापत । इतीदमनुसंधाय[5] प्रबन्धोऽयं[6] निबध्यते ॥२०२॥
[7]इति[8] प्रमुखं नाम कथासंबन्धसूचनम् । कथाप्रामाण्यसंसिद्धावुपयोगीति वर्णितम् ॥२०३॥
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं [9]सूक्तमाञ्जसम् । ततः श्रद्धेयमध्येयं ध्येयं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥२०४॥
इदं पुण्यमिदं पूतमिदं [10]मङ्गलमुत्तमम् । [11]इदमायुष्यमग्र्यं च यशस्यं स्वर्ग्यमेव च ॥२०५॥

अन्तमें जो पूर्वकालीन इतिहास कहा था, वृषभसेन गणधरने उसे अर्थरूपसे अध्ययन किया ॥१९३॥ तदनन्तर गणधरोंमें प्रधान वृषभसेन गणधरने भगवान्‌की वाणीको अर्थरूपसे हृदयमें धारण कर जगत्‌के हितके लिए उसकी पुराणरूपसे रचना की ॥१९४॥ वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थंकरों, गणधरों तथा बड़े-बड़े ऋषियोंद्वारा प्रकाशित किया गया ॥१९५॥

तदनन्तर चतुर्थ कालके अन्तमें एक समय सिद्धार्थ राजाके पुत्र सर्वज्ञ महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृहीके विपुलाचल पर्वतपर आकर विराजमान हुए ॥१९६॥ इसके बाद पता चलनेपर राजगृहीके अधिपति विनयवान् श्रेणिक महाराजने जाकर उन अन्तिम तीर्थंकर-भगवान् महावीरसे उस पुराणको पूछा ॥१९७॥ महाराज श्रेणिकके प्रति महावीर स्वामीके अनुग्रहका विचार कर गौतम गणधरने उस समस्त पुराणका वर्णन किया ॥१९८॥ गौतम स्वामी चिरकाल तक उसका स्मरण-चिन्तवन करते रहे, बादमें उन्होंने उसे सुधर्माचार्यसे कहा और सुधर्माचार्यने जम्बू स्वामीसे कहा ॥१९९॥ उसी समयसे लेकर आज तक यह पुराण बीचमें नष्ट नहीं होनेवाली गुरुपरम्पराके क्रमसे चला आ रहा है। इसी पुराणका मैं भी इस समय शक्तिके अनुसार प्रकाश करूँगा ॥२००॥ इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि इस पुराणके मूल-कर्ता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं और निकट क्रमकी अपेक्षा उत्तर ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर हैं ॥२०१॥ महाराज श्रेणिकके प्रश्नको उद्देश्य करके गौतम स्वामीने जो उत्तर दिया था उसीका अनुसंधान-विचार कर मैं इस पुराण ग्रन्थकी रचना करता हूँ ॥ २०२ ॥ यह प्रतिमुख नामका प्रकरण कथाके सम्बन्धको सूचित करनेवाला है तथा कथाकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए उपयोगी है अतः मैंने यहाँ उसका वर्णन किया है ॥२०३॥ यह पुराण ऋषियोंके द्वारा कहा गया है इसलिए निश्चयसे प्रमाणभूत है। अतएव आत्मकल्याण चाहनेवालोंको इसका श्रद्धान, अध्ययन और ध्यान करना चाहिए ॥२०४॥ यह पुराण पुण्य बढ़ानेवाला है, पवित्र है, उत्तम मङ्गलरूप है, आयु बढ़ानेवाला है, श्रेष्ठ है, यश बढ़ानेवाला

---

१. महर्षिभि–म०, ल० । २. प्रोक्तम् । ३. समवसरणे । ४. प्रत्यासत्ति· सवन्ध । ५. अवधार्य ६. पुराणम् । ७. इद प्रतिमुख अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ८ इदं प्रमुखम् एतदादि । ९ सूक्तमञ्जसा द०, म०, प०, ल० । १० माङ्गल्य–अ०, प०, स०, द०, म० ल० । ११. आयु करम् ।

इदमर्चयतां शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्च पृच्छताम्। पठतां क्षेममारोग्यं शृण्वतां कर्मनिर्जरा ॥२०६॥
इतो दुःस्वप्ननिर्णाशः सुस्वप्नस्फातिरेव[1][2] च। इतोऽभीष्टफलव्यक्तिर्निमित्तमपि पश्यताम् ॥२०७॥

हरिणीच्छन्दः

[3]वृषभकविभिर्यातं मार्गं वयं च किलाधुना
जिगमिषव इत्यस्तं लोके किमन्यदतः परम्।
घटितमथवा नैतच्चित्रं पतत्पतिलङ्घितं[4]
गगनमितरे नाक्रामेयुः किमल्पशकुन्तयः ॥२०८॥

मालिनीच्छन्दः

इति वृषभकवीन्द्रैर्द्योतितं मार्गमेनं
वयमपि च यथावद् द्योतयामः स्वशक्त्या।
सवितृकिरणजालैर्द्योतितं व्योममार्गं
विरलमुडुगणोऽयं भासयेत् किं न लोके ॥२०९॥

है और स्वर्ग प्रदान करनेवाला है ॥२०५॥ जो मनुष्य इस पुराणकी पूजा करते हैं उन्हें शान्तिकी प्राप्ति होती है, उनके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं, जो इसके विषयमें जो कुछ पूछते हैं उन्हें सन्तोष और पुष्टिकी प्राप्ति होती है; जो इसे पढ़ते हैं उन्हें आरोग्य तथा अनेक मङ्गलोंकी प्राप्ति होती है और जो सुनते हैं उनके कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥ २०६ ॥ इस पुराणके अध्ययनसे दुःख देनेवाले खोटे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, तथा सुख देनेवाले अच्छे स्वप्नोंकी प्राप्ति होती है, इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है तथा विचार करनेवालोंको शुभ अशुभ आदि निमित्तों-शकुनोंकी उपलब्धि भी होती है ॥२०७॥ पूर्वकालमें वृषभसेन आदि गणधर जिस मार्गसे गये थे इस समय मैं भी उसी मार्गसे जाना चाहता हूँ अर्थात् उन्होंने जिस पुराणका निरूपण किया था उसीका निरूपण मैं भी करना चाहता हूँ सो इससे मेरी हँसी ही होगी, इसके सिवाय हो ही क्या सकता है ? अथवा यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि जिस आकाशमें गरुड़ आदि बड़े-बड़े पक्षी उड़ते हैं उसमें क्या छोटे-छोटे पक्षी नहीं उड़ते ? अर्थात् अवश्य उड़ते हैं ॥ २०८ ॥ इस पुराणरूपी मार्गको वृषभसेन आदि गणधरोंने जिस प्रकार प्रकाशित किया है उसी प्रकार मैं भी इसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रकाशित करता हूँ। क्योंकि लोकमें जो आकाश सूर्यकी किरणोंके समूहसे प्रकाशित होता है उसी आकाशको क्या तारागण प्रकाशित नहीं करते ? अर्थात् अवश्य करते हैं। भावार्थ-मैं इस पुराणको कहता अवश्य हूँ परन्तु उसका जैसा विशद निरूपण वृषभसेन आदि गणधरोंने किया था वैसा मैं नहीं कर सकता। जैसे तारागण आकाशको प्रकाशित करते

---

१ सुस्वप्नस्फीति-प०, सुस्वप्नस्याप्तिरेव ल०, म०, द०, अ०। २. स्फाति वृद्धि। ३ वृषभ. मुख्य। ४. पतत्पतिलङ्घितम् म०, द०, ल०।

स्रग्धराच्छन्दः

श्रीमद्भव्याब्जिनीनां हृदयमुकुलितं धुन्वदाधाय[1] बोधं
मिथ्यात्वाद्यान्धकारस्थितिमपघटयद् वाङ्मयूखप्रतानैः ।
[2]सद्वृत्तं शुद्धमार्गप्रकटनमहिमालम्बि यद् ब्र[3]ध्नबिम्ब-
प्रस्पर्द्धीद्धर्द्धि जैनं जगति विजयतां पुण्यमेतत् पुराणम् ॥२१०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखवर्णनं नाम प्रथमं पर्व ॥१॥

अवश्य है परन्तु सूर्यकी भाँति प्रकाशित नहीं कर पाते ॥२०९॥ बोध-सम्यग्ज्ञान (पक्षमें विकास) की प्राप्ति कराकर सातिशय शोभित भव्य जीवोंके हृदयरूपी कमलोंके संकोचको दूर करनेवाला, वचनरूपी किरणोंके विस्तारसे मिथ्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सद्वृत्त-सदाचारका निरूपण करनेवाला अथवा उत्तम छन्दोंसे सहित (पक्षमें गोलाकार) शुद्ध मार्ग-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग (पक्षमें कण्टकादिरहित उत्तम मार्ग) को प्रकाशित करनेवाला और इद्धर्द्धि-प्रकाशमान शब्द तथा अर्थरूप सम्पत्तिसे (पक्षमें उज्ज्वल किरणोंसे युक्त) सूर्यबिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाला यह जिनेन्द्रदेवसम्बन्धी पवित्र-पुण्यवर्धक पुराण जगत्में सदा जयशील रहे ॥२१०॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें 'कथामुखवर्णन' नामक प्रथम पर्व समाप्त हुआ ॥ १ ॥

---

१ कृत्वा । २. सता वृत्त यस्मिन् तत् । ३ ब्रध्न. भानु: ।

द्वितीयं पर्व

तमादिदेवं देवानामधिदेवं स्वयंभुवम् । प्रणम्य तत्पुराणस्य वक्ष्युपोद्घात[1] विस्तरम् ॥ १ ॥
अथातो धर्मजिज्ञासासमाहित[2]मतिः कृती । श्रेणिकः परिपप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभुम् ॥ २ ॥
भगवन्नर्थतः कृत्स्नं श्रुतं स्वायंभुवान्मुखात् । ग्रन्थतः श्रोतुमिच्छामि पुराणं त्वदनुग्रहात् ॥ ३ ॥
त्वमकारणबन्धुर्नस्त्वमकारणवत्सल. । त्वमकारणवैद्योऽसि [3]दुःखातङ्कार्तितात्मनाम् ॥ ४ ॥
पुण्याभिषेकमभितः कुर्वन्तीव शिरस्सु नः । व्योमगङ्गाम्बुसच्छाया[4] युष्मत्पादनखांशव ॥ ५ ॥
तव दीप्ततपोलब्धे[5]रङ्गलक्ष्मीः [6]प्रतायिनी । अकालेऽप्यनुसंधत्ते सान्द्रबालातपश्रियम् ॥ ६ ॥
त्वया जगदिदं कृत्स्नम[7]विद्यामीलितेक्षणम् । सद्य प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जिनीवनम् ॥ ७ ॥
यन्नेन्दुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवे करैः । तत्त्वया हेलयोद[8]स्तमन्तर्ध्वान्तं वचोंऽशुभिः ॥ ८ ॥
तवोच्छिखाः स्फुरन्त्येता योगिन् सप्त महर्द्धय । [9]कर्मेन्धनदहोद्दीप्ता [10]सप्तार्चिष इवार्चिष ॥ ९ ॥

अब मै देवाधिदेव स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर उनके इस महापुराण-सम्बन्धी उपोद्घात-प्रारम्भका विस्तारके साथ कथन करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर धर्मका स्वरूप जाननेमें जिसकी बुद्धि लग रही है, ऐसे बुद्धिमान् श्रेणिक महाराजने गणनायक गौतम स्वामी-से पूछा ॥२॥ हे भगवन्, श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखसे यह सम्पूर्ण पुराण अर्थरूपसे मैंने सुना है अब आपके अनुग्रहसे उसे ग्रन्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥३॥ हे स्वामिन्, आप हमारे अकारण बन्धु है, हमपर विना कारणके ही प्रेम करनेवाले हैं तथा जन्म-मरण आदि दुखदायी रोगोंसे पीड़ित संसारी प्राणियोंके लिए अकारण-स्वार्थरहित वैद्य है ॥४॥ हे देव, आकाशगङ्गाके जलके समान स्वच्छ, आपके चरणोंके नखोंकी किरणें जो हमारे शिरपर पड़ रही हैं वे ऐसी मालूम होती हैं मानो मेरा सब ओरसे अभिषेक ही कर रही हों ॥५॥ हे स्वामिन्, उग्र तपस्याकी लब्धिसे सब ओर फैलनेवाली आपके शरीरकी आभा असमयमें ही प्रातःकालीन सूर्यकी सान्द्र-सघन शोभाको धारण कर रही है ॥६॥ हे भगवन्, जिस प्रकार सूर्य रातमें निमीलित हुए कमलोंको शीघ्र ही प्रबोधित-विकसित कर देता है उसी प्रकार आपने अज्ञान रूपी निद्रामें निमीलित-सोये हुए इस समस्त जगत्को प्रबोधित-जागृत कर दिया है ॥७॥ हे देव, हृदयके जिस अज्ञानरूपी अन्धकारको चन्द्रमा अपनी किरणोंसे छू नहीं सकता तथा सूर्य भी अपनी रश्मियोंसे जिसका स्पर्श नहीं कर सकता उसे आप अपने वचनरूपी किरणोंसे अनायास ही नष्ट कर देते हैं ॥८॥ हे योगिन्, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी यह बुद्धि आदि सात ऋद्धियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो कर्मरूपी ईंधनके जलानेसे उद्दीप्त हुई

---

१. उपक्रम । 'उपोद्घात उदाहरः' इत्यभिधानात् । २. समाहिता संलीना । ३ दुःखातङ्काद्दिनात्मनाम् द०, स०, अ०, प०, ल० । ४ समाना । ५ ऋद्धे । ६. विस्तारिणी । ७. अविद्या अनित्याऽशुचिदुःखाज्ञाना-त्मसु विपरीता व्यापृतिरविद्या । ८ निरस्तम् । ९. कर्मेन्धनदहोदीप्ता· ट० । कर्मेन्धनानि दहन्तीति कर्मेन्धन-दह । १० अग्ने. ।

इदं पुण्याश्रमस्थानं पवित्रं त्वत्प्रतिश्रयात् । रक्षारण्यमिवाभाति तपोलक्ष्म्या निराकुलम् ॥१०॥
अत्रैते पशवो वन्या[1] पुष्टा मृष्टैस्तृणाङ्कुरैः । न क्रूरमृगसंबाधां जानन्त्यपि कदाचन ॥११॥
पादप्रधावनोत्सृष्टैः[2] कमण्डलुजलैरिमे । अमृतैरिव वर्द्धन्ते मृगशावाः पवित्रिताः ॥१२॥
सिंहस्तनन्धयानत्र करिण्यः पाययन्त्यमूः । सिंहधेनुस्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे ॥१३॥
अहो परममाश्चर्यं यदवाचोऽप्यमी मृगाः । भजन्ति भगवत्पादच्छायां मुनिगणा इव ॥१४॥
[3]अकृत्तवल्कलाश्चामी प्रसूनफलशालिनः । धर्मारामतरूयन्ते परितो वनपादपाः ॥१५॥
इमा वनलता रम्या [4]प्रफुल्ला भ्रमरैर्वृताः । न विदुः [5]करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः ॥१६॥
तपोवनमिदं रम्यं [6]परितो विपुलाचलम् । दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः ॥१७॥
इमे तपोधना दीप्ततपसो [7]वातवल्कलाः । भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्गमुपासते ॥१८॥
इति प्रस्पष्टमाहात्म्यः [8]कृती जगदनुग्रहे । भगवन् [9]भव्यसार्थस्य[10] [11]सार्थवाहायते भवान् ॥१९॥
ततो ब्रूहि महायोगिन् न ते कश्चिदगोचरः । तव ज्ञानांशवो दिव्याः[12] प्रसरन्ति जगत्त्रये ॥२०॥

अग्निकी सात शिखाएँ ही हों ॥९॥ हे भगवन्, आपके आश्रयसे ही यह समवसरण पुण्यका आश्रमस्थान तथा पवित्र हो रहा है अथवा ऐसा मालूम होता है मानो तपरूपी लक्ष्मीका उपद्रवरहित रक्षावन ही हो ॥१०॥ हे नाथ, इस समवसरणमें जो पशु बैठे हुए हैं वे धन्य हैं, इनका शरीर मीठी घासके खानेसे अत्यन्त पुष्ट हो रहा है, ये दुष्ट पशुओं (जानवरों)-द्वारा होनेवाली पीड़ाको कभी जानते ही नहीं हैं ॥११॥ पादप्रक्षालन करनेसे इधर-उधर फैले हुए कमण्डलुके जलसे पवित्र हुए ये हरिणोंके बच्चे इस तरह बढ़ रहे हैं मानो अमृत पीकर ही बढ रहे हों ॥१२॥ इस ओर ये हथिनियाँ सिंहके बच्चेको अपना दूध पिला रही हैं और ये हाथीके बच्चे स्वेच्छासे सिंहिनीके स्तनोंका स्पर्श कर रहे हैं-दूध पी रहे है ॥१३॥ अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिन हरिणोंको बोलना भी नहीं आता वे भी मुनियोंके समान भगवान्‌के चरणकमलोंकी छायाका आश्रय ले रहे हैं ॥१४॥ जिनकी छालोंको कोई छील नहीं सका है तथा जो पुष्प और फलोंसे शोभायमान हैं ऐसे सब ओर लगे हुए ये वनके वृक्ष ऐसे मालूम होते हैं मानो धर्मरूपी बगीचेके ही वृक्ष हैं ॥१५॥ ये फूली हुई और भ्रमरोंसे घिरी हुई वनलताएँ कितनी सुन्दर हैं ? ये सब न्यायवान् राजाकी प्रजाकी तरह कर-बाधा (हाथसे फल-फूल आदि तोड़नेका दुःख, पक्षमें टैक्सका दुःख) को तो जानती ही नहीं हैं ॥१६॥ आपका यह मनोहर तपोवन जो कि विपुलाचल पर्वतके चारों ओर विद्यमान है, प्रकट हुए दयावनके समान मेरे मनको आनन्दित कर रहा है ॥१७॥ हे भगवन्, उग्र तपश्चरण करनेवाले ये दिगम्बर तपस्वीजन केवल आपके चरणोंके प्रसादसे ही मोक्षमार्गकी उपासना कर रहे हैं ॥१८॥ हे भगवन्, आपका माहात्म्य अत्यन्त प्रकट है, आप जगत्‌के उपकार करनेसे सातिशय कुशल हैं अतएव आप भव्य समुदायके सार्थवाह—नायक गिने जाते हैं ॥१९॥ हे महायोगिन्, संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो आपके ज्ञानका विषय न हो, आपकी मनोहर ज्ञानकिरणें तीनों लोकोंमें फैल रही हैं इसलिए हे देव, आप ही

---

१. धन्या अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । २. पादप्रधावनोत्सृष्टविशिष्टसलिलैरिमे प०, द० । ३. अकृत्ताः अच्छिन्नाः । ४ विकसिताः । ५. कर- हस्त- बलिश्च । ६ विपुलगिरेरभितः । "हाधिक्समयानिकषापर्युपर्यधोऽत्यन्तरान्तरेणतस्पर्यभिसरोऽभयैश्चाप्रधानेऽस्मोट्त्वात् ।" ७. वायुर्वल्कलं येषां ते दिगम्बराः । ८. कुशलः । ९ भव्यसार्थस्य सार्थस्य अ०, स० । १०. सङ्घस्य । ११ सार्थवाहः वणिक्श्रेष्ठः । १२. दीप्ताः अ०, स० ।

विज्ञाप्यमन्यदप्यस्ति समाधाय मनः श्रृणु । [1]यतो [2]भगवतश्चित्तं दृढं स्यान्मदनुग्रहे ॥२१॥
पुरा चरितमज्ञानान्मया दुश्चरितं महत् । तस्यैनसः प्रशान्त्यर्थं प्रायश्चित्तं चराम्यहम् ॥२२॥
हिंसानृता[3]न्यैरैरामारत्यारम्भपरिग्रहैः । मया संचितमज्ञेन पुरैनो [4]निरयोचितम् ॥२३॥
कृतो मुनिवधानन्दस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया । येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ॥२४॥
तत्प्रसीद विभो वक्तुमामूलात् पावनीं कथाम् । निष्कयो[5] दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथाश्रुतिः ॥२५॥
इति प्रश्रयिणीं वाचमुदीर्य[6] मगधाधिपः । व्यरमद्दशनज्योत्स्नाकृतपुष्पार्चनस्तुतिः ॥२६॥
ततस्तमृषयो दीप्ततपोलक्ष्मीविभूषणाः । प्रशशंसुरिति प्रीता धार्मिकं मगधेश्वरम् ॥२७॥
साधु भो मगधाधीश ! साधु प्रश्नविदां वर ! । पृच्छताद्य त्वया तत्त्वं साधु नः प्रीणितं मनः ॥२८॥
[7]पिपृच्छिषितमस्माभिर्यदेव [8]परमार्थकम् । तदेवाद्य त्वया पृष्टं संवादः[9] पश्य कीदृशः ॥२९॥
[10]बुभुत्सावेदनं[11] प्रश्नः स ते धर्मो बुभुत्सितः । त्वया बुभुत्सुना[12] धर्मं [13]विश्वमेव बुभुत्सितम् ॥३०॥
पश्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः । सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं [14]पुण्यकथाश्रुतिः ॥३१॥

यह पुराण कहिए ॥२०॥ हे भगवन्, इसके सिवाय एक बात और कहनी है उसे चित्त स्थिर कर सुन लीजिए जिससे मेरा उपकार करनेमें आपका चित्त और भी दृढ हो जाये ॥२१॥ वह बात यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश बड़े-बड़े दुराचरण किये हैं। अब उन पापोंकी शान्तिके लिए ही यह प्रायश्चित्त ले रहा हूँ ॥२२॥ हे नाथ, मुझ अज्ञानीने पहले हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीसेवन और अनेक प्रकारके आरम्भ तथा परिग्रहादिके द्वारा अत्यन्त घोर पापोंका संचय किया है ॥२३॥ और तो क्या, मुझ मिथ्यादृष्टिने मुनिराजके वध करनेमें भी बड़ा आनन्द माना था जिससे मुझे नरक ले जानेवाले नरकायु कर्मका ऐसा बन्ध हुआ जो कभी छूट नहीं सकता ॥२४॥ इसलिए हे प्रभो, उस पवित्र पुराणके प्रारम्भसे कहनेके लिए मुझपर प्रसन्न होइए क्योंकि उस पुण्यवर्धक पुराणके सुननेसे मेरे पापोंका अवश्य ही निराकरण हो जायेगा ॥२५॥ इस प्रकार दाँतोंकी कान्तिरूपी पुष्पोंके द्वारा पूजा और स्तुति करते हुए मगधसम्राट् विनयके साथ ऊपर कहे हुए वचन कहकर चुप हो गये ॥२६॥

तदनन्तर श्रेणिकके प्रश्नसे प्रसन्न हुए और तीव्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे शोभायमान मुनिजन नीचे लिखे अनुसार उन धर्मात्मा श्रेणिक महाराजकी प्रशंसा करने लगे ॥२७॥ हे मगधेश्वर, तुम धन्य हो, तुम प्रश्न करनेवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो, इसलिए और भी धन्य हो, आज महापुराणसम्बन्धी प्रश्न पूछते हुए तुमने हम लोगोंके चित्तको बहुत ही हर्षित किया है ॥२८॥ हे श्रेणिक, श्रेष्ठ अक्षरोंसे सहित जिस पुराणको हम लोग पूछना चाहते थे उसे ही तुमने पूछा है। देखो, यह कैसा अच्छा सम्बन्ध मिला है ॥२९॥ जाननेकी इच्छा प्रकट करना प्रश्न कहलाता है। आपने अपने प्रश्नमें धर्मका स्वरूप जानना चाहा है। सो हे श्रेणिक, धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छा करते हुए आपने सारे संसारको जानना चाहा है अर्थात् धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छासे आपने अखिल संसारके स्वरूपको जाननेकी इच्छा प्रकट की है ॥३०॥ हे श्रेणिक, देखो, यह धर्म एक वृक्ष है। अर्थ

---

१ विज्ञापनात् समाधानात् । २ भवत । ३ अन्यधनवनितारति । ४ दति निकाचितम् अ०, स०, द०, प० । ५ नि क्रिया ट० । ६ उक्त्वा । ७ प्रष्टुमिष्टम् । ८ परमाक्षरम् अ०, स०, प०, ल०, द० । ९ प्रकृतार्थादविचलन सवाद. । १० बोद्धुमिच्छा । ११ वेदन विज्ञापनम् । वेदनः अ०, स०, द० । १२ बुभुत्सता द०, स०, अ०, प०, म०, ल० । १३ सर्वमेव द०, प० । १४ धर्मकथा म०, प० ।

धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविगानतः[1]। धर्मः कामार्थयोः[2] सूतिरित्यायुष्मन् विनिश्चिनु ॥३२॥
धर्मार्थी सर्वकामार्थी धर्मार्थी धनसौख्यवान्। धर्मो हि मूलं सर्वासां धनर्द्धिसुखसंपदाम् ॥३३॥
धर्मः कामदुघा धेनुर्धर्मश्चिन्तामणिर्महान्। धर्मः कल्पतरुः स्थेयान् धर्मो हि निधिरक्षयः ॥३४॥
पश्य धर्मस्य माहात्म्यं योऽपायात्परिरक्षति। यत्र[3] स्थितं नरं दूरान्ना[4]तिक्रामन्ति देवताः ॥३५॥
[5]विचारनृपलोकात्मदिव्यप्रत्ययतोऽपि[6] च। धीमन् धर्मस्य माहात्म्यं निर्विचारमवेहि भोः ॥३६॥
स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् संधारयेन्नरम्। धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये ॥३७॥
स च धर्मः पुराणार्थः पुराणं पञ्चधा विदुः। क्षेत्रं कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टितम् ॥३८॥
क्षेत्रं त्रैलोक्यविन्यासः कालस्त्रैकाल्यविस्तरः। मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ॥३९॥
न्याय्यमाचरितं तेषां चरितं दुरितच्छिदाम्। इति कृत्स्नः पुराणार्थः प्रश्ने संभावितस्त्वया ॥४०॥
अहो प्रसन्नगम्भीरः प्रश्नोऽयं विश्वगोचरः। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसन्मार्गकालसच्चरिताश्रयः ॥४१॥

उसका फल है और काम उसके फलोंका रस है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूल कारण धर्मका सुनना है ॥३१॥ हे आयुष्मन्, तुम यह निश्चय करो कि धर्मसे ही अर्थ, काम, स्वर्गकी प्राप्ति होती है। सचमुच वह धर्म ही अर्थ और कामका उत्पत्तिस्थान है ॥३२॥ जो धर्मकी इच्छा रखता है वह समस्त इष्ट पदार्थोंकी इच्छा रखता है। धर्मकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य ही धनी और सुखी होता है क्योंकि धन, ऋद्धि, सुख-संपत्ति आदि सबका मूल कारण एक धर्म ही है ॥३३॥ मनचाही वस्तुओंको देनेके लिए धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिन्तामणि है, धर्म ही स्थिर रहनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही अविनाशी निधि है ॥३४॥ हे श्रेणिक, देखो धर्मका कैसा माहात्म्य है, जो पुरुष धर्ममें स्थिर रहता है—निर्मल भावोंसे धर्मका आचरण करता है वह उसे अनेक संकटोंसे बचाता है। तथा देवता भी उसपर आक्रमण नहीं कर सकते, दूर-दूर ही रहते हैं ॥३५॥ हे बुद्धिमन्, विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और उत्तम ज्ञानादिकी प्राप्तिसे भी धर्मका अचिन्त्य माहात्म्य जाना जाता है। भावार्थ—द्रव्योंकी अनन्त शक्तियोंका विचार, राज-सम्मान, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और अवधि मनःपर्यय आदि ज्ञान इन सबकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है। अतः इन सब बातोंको देखकर धर्मका अलौकिक माहात्म्य जानना चाहिए ॥३६॥ यह धर्म नरक निगोद आदिके दुःखोंसे इस जीवकी रक्षा करता है और अविनाशी सुखसे युक्त मोक्ष-स्थानमें इसे पहुँचा देता है इसलिए इसे धर्म कहते हैं ॥३७॥ जो पुराणका अर्थ है वही धर्म है, मुनिजन पुराणको पाँच प्रकारका मानते हैं—क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाएँ ॥३८॥ ऊर्ध्व, मध्य और पातालरूप तीन लोकोंकी जो रचना है उसे क्षेत्र कहते हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीन कालोंका जो विस्तार है उसे काल कहते हैं। मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको तीर्थ कहते हैं। इस तीर्थको सेवन करनेवाले शलाकापुरुष सत्पुरुष कहलाते हैं और पापोंको नष्ट करनेवाले उन सत्पुरुषोंके न्यायोपेत आचरणको उनकी चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ कहते हैं। हे श्रेणिक, तुमने पुराणके इस सम्पूर्ण अर्थको अपने प्रश्नमें समाविष्ट कर दिया है ॥३९-४०॥ अहो श्रेणिक, तुम्हारा यह प्रश्न सरल होनेपर भी गम्भीर है, सब तत्त्वोंसे भरा हुआ है तथा क्षेत्र, क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा,

---

१ अविवादतः। २ कारणमित्यर्थः। ३ धर्मे। ४ अतिशयेन। ५ विचारं नृप लोकात्म—द०।
६ प्रत्ययः शपथः।

इदमेव युगस्यादौ पप्रच्छ भरतः पुरुम् । ततोऽनुयुयुजे[1] सम्राट् सागरोऽजितमच्युतम् ॥४२॥
इति प्रमाणभूतेयं वक्तृश्रोतृपरम्परा । त्वयाद्यालङ्कृता धीमन् ! पृच्छतेमं महाधियम् ॥४३॥
त्वं प्रष्टा भगवान् वक्ता सहशुश्रूषवो वयम् । सामग्री नेदृशी जातु जाता नैव जनिष्यते ॥४४॥
तस्मात् पुण्यकथामेनां शृणुयाम समं वयम् । प्रज्ञापारमितो देवो वक्तुमुत्सहतामयम् ॥४५॥
इति प्रोत्साह्य तं धर्मे[2] ते समाधानचक्षुषः । ततो गणधरस्तोत्रं पेठुरित्युच्चकैस्तदा ॥४६॥
त्वां प्रत्यक्षविदां बोधैरप्यबुद्धमहोदयम् । प्रत्यक्षस्तवनैः स्तोतुं वयं चाद्य किलोद्यताः ॥४७॥
[3]चतुर्दशमहाविद्यास्थानाकूपारपारगम् । त्वामृषे ! स्तोतुकामाः स्मः केवलं भक्तिचोदिताः[4] ॥४८॥
भगवन् भव्यसार्थस्य[5] नेतुस्तव शिवाकरम्[6] । पताकेवोच्छ्रिता भाति कीर्तिरेषा विधूज्ज्वला ॥४९॥
[7]आलवालीकृताम्भोधिवलया कीर्तिवल्लरी । जगन्नाडीतरोरग्रमाक्रामति तवोच्छिखा ॥५०॥
त्वामामनन्ति मुनयो योगिनामधियोगिनम् । त्वां गण्यं गणनातीतगुणं गणधरं विदुः ॥५१॥

सन्मार्ग, काल और सत्पुरुषोंका चरित्र आदिका आधारभूत है ॥४१॥ हे बुद्धिमान् श्रेणिक, युगके आदिमें भरत चक्रवर्तीने भगवान् आदिनाथसे यही प्रश्न पूछा था, और यही प्रश्न चक्रवर्ती सगरने भगवान् अजितनाथसे पूछा था। आज तुमने भी अत्यन्त बुद्धिमान् गौतम गणधरसे यही प्रश्न पूछा है। इस प्रकार वक्ता और श्रोताओंकी जो प्रमाणभूत-सच्ची परम्परा चली आ रही थी उसे तुमने सुशोभित कर दिया है ॥४२-४३॥ हे श्रेणिक, तुम प्रश्न करनेवाले, भगवान् महावीर स्वामी उत्तर देनेवाले और हम सब तुम्हारे साथ सुननेवाले हैं। हे राजन्, ऐसी सामग्री पहले न तो कभी मिली है और न कभी मिलेगी ॥४४॥ इसलिए पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले ये गौतम स्वामी इस पुण्य कथाका कहना प्रारम्भ करें और हम सब तुम्हारे साथ सुनें ॥४५॥ इस प्रकार वे सब ऋषिजन महाराज श्रेणिकको धर्ममें उत्साहित कर एकाग्रचित्त हो उच्च स्वरसे गणधर स्वामीका नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे ॥ ४६ ॥

हे स्वामिन्, यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानके धारक बड़े-बड़े मुनि भी अपने ज्ञान-द्वारा आपके अभ्युदयको नहीं जान सके हैं तथापि हम लोग प्रत्यक्ष स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए हैं सो यह एक आश्चर्यकी ही बात है ॥४७॥ हे ऋषे, आप चौदह महाविद्या (चौदह पूर्व) रूपी सागरके पारगामी हैं अतः हम लोग मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं ॥४८॥ हे भगवन्, आप भव्य जीवोंको मोक्षस्थानकी प्राप्ति करानेवाले हैं, आपकी चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कीर्ति फहराती हुई पताकाके समान शोभायमान हो रही है ॥४९॥ देव, चारों ओर फैले हुए समुद्रको जिसने अपना आलवाल (क्यारी) बनाया है ऐसी बढ़ती हुई आपकी यह कीर्तिरूपी लता इस समय त्रसनाड़ीरूपी वृक्षके अग्रभागपर आक्रमण कर रही है—उसपर आरूढ़ हुआ चाहती है ॥५०॥ हे नाथ, बड़े-बड़े मुनि भी यह मानते हैं कि आप योगियोंमें महायोगी हैं, प्रसिद्ध हैं, असंख्यात गुणोंके धारक हैं तथा संघके अधिपति-गणधर हैं ॥५१॥

---

१ प्रश्नमकरोत् । २. ऋषय. । ३ चत्वारो वेदा, शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दोविचितिः ज्योतिषं निरुक्तम् इतिहासः पुराणं मीमांसा न्यायशास्त्रं चेति चतुर्दशमहाविद्यास्थानानि चतुर्दशपूर्वाणि वा चतुर्दशमहाविद्यास्थानानि । ४. नोदिता. अ०, स० । ५. संघस्य । ६ मोक्षखनिम् । ७. आलवालः आवाप. ।

गोतमा [1]गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती । तां वेत्सि तामधीषे[2] च त्वमतो गौतमो मतः ॥५२॥
गोतमादागतो देवः स्वर्गाग्राद् गौतमो[3] मतः[4] । तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वं चासौ गौतमश्रुतिः ॥५३॥
इन्द्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यसे । साक्षात् सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकण्ठिक ॥५४॥
चतुर्भिश्चामलैर्बोधैरबुद्धस्त्वं जगद् यतः । प्रज्ञापारमितं बुद्धं त्वां निराहुरतो बुधाः ॥५५॥
[5]पारेतमः [6]परं [7]ज्योतिस्त्वामदृष्ट्वा दुरासदम् । ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात् ॥५६॥
श्रुतदेव्याहितस्त्रैणप्रयत्ना[8] बोधदीपिका । तवैषा प्रज्वलत्युच्चैर्द्योतयन्ती जगद्गृहम् ॥५७॥
तव वाक्प्रकरो[9] दिव्यो विधुन्वन् जगतां तमः । प्रकाशयति सन्मार्गं रवेरिव करोत्कर ॥५८॥
तव लोकातिगा प्रज्ञा विद्यानां पारदृश्वरी । श्रुतस्कन्धमहासिन्धोरभजद् यानपात्रताम् ॥५९॥
त्वयावतारिता तुङ्गान्महावीरहिमाचलात् । श्रुतामरसरित्पुण्या निर्धुनानाखिलं रजः ॥६०॥
प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः । केवलं केवलिन्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली ॥६१॥

उत्कृष्ट वाणीको गौतम कहते हैं और वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ-तीर्थंकरकी दिव्य ध्वनि ही हो सकती है उसे आप जानते हैं अथवा उसका अध्ययन करते हैं इसलिए आप गौतम माने गये हैं अर्थात् आपका यह नाम सार्थक है (श्रेष्ठा गौः,गोतमा, तामधीते वेद वा गौतमः 'तदधीते वेद वा' इत्यण्प्रत्ययः) ॥५२॥ अथवा यों समझिए कि भगवान् वर्धमान स्वामी, गोतम अर्थात् उत्तम सोलहवें स्वर्गसे अवतीर्ण हुए हैं इसलिए वर्धमान स्वामीको गौतम कहते हैं इन गौतम अर्थात् वर्धमान स्वामी-द्वारा कही हुई दिव्यध्वनिको आप पढ़ते हैं, जानते हैं, इसलिए लोग आपको गौतम कहते हैं । (गोतमादागतः गौतमः 'तत आगतः' इत्यण् , गौतमेन प्रोक्तमिति गौतमम्, गौतमम् अधीते वेद वा गौतमः) ॥५३॥ आपने इन्द्रके द्वारा की हुई अर्चारूपी विभूतिको प्राप्त किया है इसलिए आप इन्द्रभूति कहलाते हैं । तथा आपको सम्यग्ज्ञानरूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है अतः आप सर्वज्ञदेव श्री वर्धमान स्वामीके साक्षात् पुत्रके समान हैं ॥५४॥ हे देव, आपने अपने चार निर्मल ज्ञानोंके द्वारा समस्त संसारको जान लिया है तथा आप बुद्धिके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको बुद्ध कहते हैं ॥५५॥ हे देव, आपको बिना देखे अज्ञानान्धकारसे परे रहनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, आप उस ज्योतिके प्रकाश होनेसे ज्योतिस्वरूप अनोखे दीपक हैं ॥५६॥ हे स्वामिन्, श्रुत देवताके द्वारा स्त्रीरूपको धारण करनेवाली आपकी सम्यग्ज्ञानरूपी दीपिका जगत्‌रूपी घरको प्रकाशित करती हुई अत्यन्त शोभायमान हो रही है ॥५७॥ आपके दिव्य वचनोंका समूह लोगोंके मिथ्यात्व रूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ सूर्यकी किरणोंके समूहके समान समीचीन मार्गका प्रकाश करता है ॥५८॥ हे देव, आपकी यह प्रज्ञा लोकमें सबसे चढ़ी-बढ़ी है, समस्त विद्याओंमें पारंगत है और द्वादशांगरूपी समुद्रमें जहाजपनेको प्राप्त है—अर्थात् जहाजका काम देती है ॥५९॥ हे देव, आपने अत्यन्त ऊँचे वर्धमान स्वामीरूप हिमालयसे उस श्रुतज्ञानरूपी गङ्गा नदीका अवतरण कराया है जो कि स्वयं पवित्र है और समस्त पाप-रूपी रजको धोनेवाली है ॥६०॥ हे देव, केवलीभगवान्‌में मात्र एक केवलज्ञान ही होता है और आपमें प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो प्रकारका ज्ञान विद्यमान है इसलिए आप श्रुतकेवली

---

१. वाक् । 'गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु । स्त्री गवि भूमिदिग्नेत्रवाग्बाणसलिले त्रिषु ॥' इति विश्वलो० । २. -मधीष्टे म०, ल० । ३. तीर्थंकर । ४. जिनः अ०, स०, द०, प० । ५ तमसः पारं गतम् । ६. केवलज्ञानम् । दुरासद भवतीति सबन्ध । ७. द्योति स० । ८. कृतस्त्रीसंबन्धि । ९ प्रसरो म०, ल० ।

पारेतम परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयम् । तद्द्वारोद्घाटनं बीज[1] त्वामुपास्य लभेमहि ॥६२॥
[2]ब्रह्मोद्या निखिला [3]विद्यास्त्व हि ब्रह्मसुतो मुनिः । परं ब्रह्म त्वदायत्तमतो ब्रह्मविदो विदुः ॥६३॥
मुनयो [4]वातरशनाः पदमूर्ध्वं [5]विधित्सव । त्वां मूर्द्धवन्दिनो भूत्वा तदुपायमुपासते ॥६४॥
महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्राज्ञ नमोऽस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्यं नमः [6]स्तात्ते महर्द्धये ॥६५॥
नमोऽवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे । परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे ॥६६॥
[7]कोष्ठबुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते [8]बीजबुद्धये । [9]पदानुसारिन् [10]संभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमो नमः ॥६७॥

कहलाते हैं ॥६१॥ हे देव, हम लोग मोह अथवा अज्ञानान्धकारसे रहित मोक्षरूपी परम धाममें प्रवेश करना चाहते हैं अतः आपकी उपासना कर आपसे उसका द्वार उघाड़नेका कारण प्राप्त करना चाहते हैं ॥६२॥ हे देव, आप सर्वज्ञ देवके द्वारा कही हुई समस्त विद्याओंको जानते हैं इसलिए आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं तथा परंब्रह्मरूप सिद्ध पदकी प्राप्ति होना आपके अधीन है, ऐसा ब्रह्मका स्वरूप जाननेवाले योगीश्वर भी कहते हैं ॥६३॥ हे देव, जो दिगम्बर मुनि मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी हैं वे आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए उसके उपायभूत—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उपासना करते हैं ॥६४॥ हे देव, आप महायोगी हैं—ध्यानी हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप महात्मा हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप जगत्त्रयके रक्षक और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६५॥ हे देव, आप देशावधि, परमावधि और सर्वावधिरूप अवधिज्ञानको धारण करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ हे देव, आप कोष्ठबुद्धि नामक ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् जिस प्रकार कोठेमें अनेक प्रकारके धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आपके हृदयमें भी अनेक पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है, अतः आपको नमस्कार हो। आप बीजबुद्धि नामक ऋद्धिसे सहित हैं अर्थात् जिस प्रकार उत्तम जमीनमें बोया हुआ एक भी बीज अनेक फल उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार आप भी आगमके बीजरूप एक दो पदोंको ग्रहण कर अनेक प्रकारके ज्ञानको प्रकट कर देते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप पदानुसारी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आगमके आदि, मध्य, अन्तको अथवा जहाँ-कहींसे भी एक पदको सुनकर भी समस्त आगमको जान लेते हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप संभिन्नश्रोतृ ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं अर्थात् आप नौ योजन चौड़े और बारह योजन लम्बे क्षेत्रमें फैले हुए चक्रवर्तीके कटकसम्बन्धी समस्त मनुष्य और तिर्यञ्चोंके अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक मिले हुए शब्दोंको एक साथ ग्रहण कर सकते हैं अतः आपको बार-बार नमस्कार

---

१ कारणम् । २ ब्रह्मणा सर्वज्ञेनोक्ता । ३ विद्यास्त्व द०, ल० । ४. वायुकाञ्चीदामा । ५. विवित्सव द० । वेत्तुमिच्छव लब्धुमिच्छव इत्यर्थः । 'विद्लृ लाभे' इति धातोरुत्पन्नत्वात् । ६ नमस्त्रात्रे ल० । स्तात् अस्तु । ७. कोष्ठागारिकधृतभूरिधान्यानामविनष्टाव्यतिकीर्णाना यथास्थानं तथैवावस्थानमवधारितग्रन्थार्थाना यस्या बुद्धौ सा कोष्ठबुद्धिः । ८. विशिष्टक्षेत्रकालादिसहायमेकमप्युप्त बीजमनेकबीजप्रदं यथा भवति तथैकबीजपदग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्यस्या बुद्धौ सा बीजबुद्धि । ९. आदावन्ते यत्र तत्र चैकपदग्रहणात् समस्तग्रन्थार्थस्यावधारणा यस्यां बुद्धौ सा पदानुसारिणी बुद्धि । १०. स सम्यक्मकरव्यतिकरव्यतिरेकेण भिन्न विभक्त शब्दरूप शृणोतीति संभिन्नश्रोतृऋद्धि द्वादशयोजनायामनवयोजनविस्तारचक्रधरस्कन्धावारोत्पन्ननरकरभाद्यक्षरानक्षरात्मकशब्दसंदोहस्यान्योन्य विभिन्नस्यापि युगपत्प्रतिभासो यस्यां बुद्धौ सत्या भवति सा संभिन्नश्रोत्रीत्यर्थः ।

नमोऽस्त्वृजुमते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने । नमः[1] प्रत्येकबुद्धाय[2] स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥६८॥
अभिन्नदशपूर्वित्वात् प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदृश्वने ॥६९॥
दीप्तोग्रतपसे तुभ्यं नमस्तप्तमहातपः । नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे ॥७०॥
नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा सिद्धिमीयुषे । [3]आमर्ष[4]क्ष्वेलवाग्विप्रुड्जल्लसर्वौषधे[5] नमः ॥७१॥
नमोऽमृतमधुक्षीरसर्पिरास्राविणेऽस्तु[6] ते । नमो मनोवचःकायबलिनां ते बलीयसे ॥७२॥

हो ॥६७॥ आप ऋजुमति और विपुलमति नामक दोनों प्रकारके मनःपर्ययज्ञानसे सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप प्रत्येकबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो तथा आप स्वयंबुद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ६८ ॥ हे स्वामिन्, दशपूर्वोंका पूर्ण ज्ञान होनेसे आप जगत्में पूज्यताको प्राप्त हुए हैं अतः आपको नमस्कार हो। इसके सिवाय आप समस्त पूर्व विद्याओंके पारगामी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६९॥ हे नाथ, आप पक्षोपवास, मासोपवास आदि कठिन तपस्याएँ करते हैं, आतापनादि योग लगाकर दीर्घकाल तक कठिन-कठिन तप तपते हैं। अनेक गुणोंसे सहित अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और अत्यन्त तेजस्वी हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७०॥ हे देव, आप अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व इन आठ विक्रिया ऋद्धियोंकी सिद्धिको प्राप्त हुए हैं अर्थात् (१) आप अपने शरीरको परमाणुके समान सूक्ष्म कर सकते हैं, (२) मेरुसे भी स्थूल बना सकते हैं, (३) अत्यन्त भारी (वजनदार) कर सकते हैं, (४) हलका (कम वजनदार) बना सकते हैं, (५) आप जमीनपर बैठे-बैठे ही मेरु पर्वतकी चोटी छू सकते हैं अथवा देवोंके आसन कम्पायमान कर सकते हैं, (६) आप अढाई द्वीपमें चाहे जहाँ जा सकते हैं अथवा जलमें स्थलकी तरह स्थलमें जलकी तरह चल सकते हैं, (७) आप चक्रवर्तीके समान विभूतिको प्राप्त कर सकते हैं और (८) विरोधी जीवोंको भी वशमें कर सकते हैं अतः आपको नमस्कार हो। इनके सिवाय हे देव, आप आमर्ष, क्ष्वेल, वाग्विप्रुट, जल्ल और सर्वौषधि आदि ऋद्धियोंसे सुशोभित हैं अर्थात् (१) आपके वमनकी वायु समस्त रोगोंको नष्ट कर सकती है, (२) आपके मुखसे निकले हुए कफको स्पर्शकर बहनेवाली वायु सब रोगोंको हर सकती है, (३) आपके मुखसे निकली हुई वायु सब रोगोंको नष्ट कर सकती है, (४) आपके मलको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको हर सकती है और (५) आपके शरीरको स्पर्श कर बहती हुई वायु सब रोगोंको दूर कर सकती है। इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७१॥ हे देव, आप अमृतस्राविणी, मधुस्राविणी, क्षीरस्राविणी और घृतस्राविणी आदि रस ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं अर्थात् (१) भोजनमें मिला हुआ विष भी आपके प्रभावसे अमृतरूप हो सकता है, (२) भोजन मीठा न होनेपर भी आपके प्रभावसे मीठा हो सकता है, (३) आपके निमित्तसे भोजनगृह अथवा भोजनमें दूध झरने लग सकता है और (४) आपके प्रभावसे भोजनगृहसे घी-की कमी दूर हो सकती है। अतः आपको नमस्कार हो। इनके सिवाय आप मनोबल, वचन-बल और कायबल ऋद्धिसे सम्पन्न हैं अर्थात् आप समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्तमें अर्थरूपसे

---

१ वैराग्यकारणं किञ्चिद्दृष्ट्वा यो वैराग्य गतः स प्रत्येकबुद्ध । प्रत्येकात्रिमित्ताद्बुद्ध प्रत्येकबुद्ध. । यथा नीलाञ्जनाविलयात् वृषभनाथः । २ वैराग्यकारणं किंचिद्दृष्ट्वा परोपदेश चानपेक्ष्य स्वयमेव यो वैराग्यं गतः स स्वयम्बुद्धः । ३ छर्दिः । ४. क्ष्वेलः (उगुलु क०) [मुखमलम्] । 'थूक' । ५ सर्वाङ्गमलम् । ६. –स्राविणे नमः म० । –स्राविणेऽस्तु ते स०, द०, प० ।

जलजङ्घाफलश्रेणीतन्तुपुष्पाम्बराश्रयात् । चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये ॥७३॥
त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमो गुरुः । त्वामेव सेवमानानां भवन्ति ज्ञानसंपदः ॥७४॥
त्वयैव भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता[1] । अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः ॥७५॥
त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम् । तव पादाङ्घ्रिपच्छायां त्वय्यास्तिक्यादुपास्महे ॥७६॥
वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥७७॥
स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्यं भवन्तं भुवनाधिकम् । पुराणश्रुतिमेवैनां[3] तत्फलं[4] प्रार्थयामहे ॥७८॥
पुराणश्रुतितो धर्मो योऽस्माकमभिसंस्कृतः[5] । पुराणकवितामेव तस्मादाशास्महे[6] वयम् ॥७९॥

चिन्तवन कर सकते हैं, समस्त द्वादशाङ्गका अन्तर्मुहूर्तमें शब्दों-द्वारा उच्चारण कर सकते हैं और शरीरसम्बन्धी अतुल्य बलसे सहित हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥७२॥ हे देव, आप जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, श्रेणीचारण, तन्तुचारण, पुष्पचारण और अम्बरचारण आदि चारण ऋद्धियोंसे युक्त हैं अर्थात् (१) आप जलमें भी स्थलके समान चल सकते हैं तथा ऐसा करनेपर जलकायिक और जलचर जीवोंको आपके द्वारा किसी प्रकारकी बाधा नहीं होगी। (२) आप बिना कदम उठाये ही आकाशमें चल सकते हैं। (३) आप वृक्षोंमें लगे फलोंपर-से गमन कर सकते हैं और ऐसा करनेपर भी वे फल वृक्षसे टूटकर नीचे नहीं गिरेंगे। (४) आप आकाशमें श्रेणीबद्ध गमन कर सकते हैं, बीचमें आये हुए पर्वत आदि भी आपको नहीं रोक सकते। (५) आप सूत अथवा मकड़ीके जालके तन्तुओंपर गमन कर सकते हैं पर वे आपके भारसे टूटेंगे नहीं। (६) आप पुष्पोंपर भी गमन कर सकते हैं परन्तु वे आपके भारसे नहीं टूटेंगे और न उसमें रहनेवाले जीवोंको किसी प्रकारका कष्ट होगा। और (७) इनके सिवाय आप आकाशमें भी सर्वत्र गमनागमन कर सकते हैं। इसलिए आपको नमस्कार हो। हे स्वामिन्, आप अक्षीण ऋद्धिके धारक हैं अर्थात् आप जिस भोजनशालामें भोजन कर आवें उसका भोजन चक्रवर्तीके कटकको खिलानेपर भी क्षीण नहीं होगा और आप यदि छोटेसे स्थानमें भी बैठकर धर्मोपदेश आदि देंगे तो उस स्थानपर समस्त मनुष्य और देव आदिके बैठनेपर भी संकीर्णता नहीं होगी। इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७३॥ हे नाथ, संसारमें आप ही परम हितकारी बन्धु हैं, आप ही परमगुरु हैं और आपकी सेवा करनेवाले पुरुषोंको ज्ञानरूपी सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है ॥७४॥ हे भगवन्, इस संसारमें आपने ही समस्त धर्मशास्त्रोंका वर्णन किया है अतः ये बड़े-बड़े योगी आपको ही नमस्कार करते हैं ॥७५॥ हे देव, मोक्षरूपी परम कल्याणकी प्राप्ति आपसे ही होती है ऐसा मानकर हम लोग आपमें श्रद्धा रखते हुए आपके चरणरूप वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेते हैं ॥७६॥ हे देव, आपकी स्तुति करनेसे हमारी वचनगुप्तिकी हानि होती है, आपका स्मरण करनेसे मनोगुप्तिमें बाधा पहुँचती है तथा आपको नमस्कार करनेमें कायगुप्तिकी हानि होती है सो भले ही हो हमें इसकी चिन्ता नहीं, हम सदा ही आपकी स्तुति करेंगे, आपका स्मरण करेंगे और आपको नमस्कार करेंगे ॥७७॥ हे स्वामिन्, जगत्में श्रेष्ठ और स्तुति करनेके योग्य आपकी हम लोगोंने जो ऊपर लिखे अनुसार स्तुति की है उसके फलस्वरूप हमें तिरसठ शलाकापुरुषोंका पुराण सुनाइए, यही हम सब प्रार्थना करते हैं ॥७८॥ हे देव, पुराणके सुननेसे हमें जो सुयोग्य धर्मकी प्राप्ति होगी उससे हम कवितारूप पुराणकी ही आशा करते हैं ॥७९॥ हे नाथ, आपके चरणोंकी

---

१ स्मृति । २ निश्चयबुद्धे । ३.–मेवैता स०, द० । ४ स्तुतिफलम् । ५ वासित । ६. प्रार्थयामहे ।

त्वत्पदाराधनात् पुण्यं यदस्माभिरुपार्जितम् । [1]तवैव तेन भूयान्नः परार्था संपदूर्जिता ॥८०॥
त्वत्प्रसादादियं देव सफला प्रार्थनाऽस्तु नः । सार्धं राजर्षिणानेन श्रोतॄननुगृहाण नः ॥८१॥
इत्युच्चैः स्तोत्रसंपाठैस्तत्क्षणं प्रविजृम्भितः । पुण्यो मुनिसमाजेऽस्मिन् महान् कलकलोऽभवत् ॥८२॥
इत्थं स्तुवद्भिरोघेन[2] मुनि[3]वृन्दारकैस्तदा । प्रसादितो गणेन्द्रोऽभूद् भक्तिग्राह्या हि योगिनः ॥८३॥
तदा[4] प्रशान्तगम्भीरं स्तुत्वा मुनिभिरर्थितः[5] । मनो व्यापारयामास गौतमस्तदनुग्रहे ॥८४॥
ततः प्रशान्तसंजल्पे प्रव्यक्तकरकुड्मले । शुश्रूषावहिते[6] साधुसमाजे [7]निभृतं स्थिते ॥८५॥
वाङ्मलानामशेषाणामपायादतिनिर्मलाम् । वाग्देवीं दशनज्योत्स्नाव्याजेन स्फुटयन्निव ॥८६॥
सुभाषितमहारत्नप्रसारमिव[8] दर्शयन् । यथाकामं जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनाम् ॥८७॥
लसद्दशनदीप्रांशुप्रसूनैराकिरन् सदः । सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वरङ्गमिवाचरन् ॥८८॥
मनःप्रसादमभितो विभजद्भिरिवायतैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः कृत्स्नां सभां प्रक्षालयन्निव ॥८९॥
तपोऽनुभावसंजातमध्यासीनोऽपि विष्टरम् । जगतामुपरीवोच्चैर्महिम्ना घटितस्थितिः ॥९०॥

आराधना करनेसे हमारे जो कुछ पुण्यका संचय हुआ है उससे हमें भी आपकी इस उत्कृष्ट महासम्पत्तिकी प्राप्ति हो ॥८०॥ हे देव, आपके प्रसादसे हमारी यह प्रार्थना सफल हो। आज राजर्षि श्रेणिकके साथ-साथ हम सब श्रोताओंपर कृपा कीजिए ॥८१॥

इस प्रकार मुनियोंने जब उच्च स्वरसे स्तोत्रोंसे जो गणधर गौतम स्वामीकी स्तुति की थी उससे उस समय मुनिसमाजमें पुण्यवर्द्धक बड़ा भारी कोलाहल होने लगा था ॥८२॥ इस प्रकार समुदाय रूपसे बड़े-बड़े मुनियोंने जब गणधर देवकी स्तुति की तब वे प्रसन्न हुए। सो ठीक ही है क्योंकि योगीजन भक्तिके द्वारा वशीभूत होते ही हैं ॥८३॥ इस प्रकार मुनियों-ने जब बड़ी शान्ति और गम्भीरताके साथ स्तुति कर गणधर महाराजसे प्रार्थना की तब उन्होंने उनके अनुग्रहमें अपना चित्त लगाया–उस ओर ध्यान दिया ॥८४॥ इसके अनन्तर जब स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाला कोलाहल शान्त हो गया और सब लोग हाथ जोड़कर पुराण सुननेकी इच्छासे सावधान हो चुपचाप बैठ गये तब वे भगवान् गौतम स्वामी श्रोताओंको संबोधते हुए गम्भीर मनोहर और उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई वाणी-द्वारा कहने लगे। उस समय जो दाँतोंकी उज्ज्वल किरणें निकल रही थीं उनसे ऐसा मालूम होता था मानों वे शब्दसम्बन्धी समस्त दोषोंके अभावसे अत्यन्त निर्मल हुई सरस्वती देवीको ही साक्षात् प्रकट कर रहे हों। उस समय वे गणधर स्वामी ऐसे शोभायमान हो रहे थे जैसे भक्तिरूपी मूल्यके द्वारा अपनी इच्छानुसार खरीदनेके अभिलाषी मुनिजनोंको सुभाषित रूपी महारत्नोंका समूह ही दिखला रहे हों। उस समय वे अपने दाँतोंके किरणरूपी फूलोंको सारी सभामें बिखेर रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सरस्वती देवीके प्रवेशके लिए रङ्गभूमिको ही सजा रहे हों। मन-की प्रसन्नताको विभक्त करनेके लिए ही मानो सब ओर फैली हुई अपनी स्वच्छ और प्रसन्न दृष्टिके द्वारा वे गौतम स्वामी समस्त सभाका प्रक्षालन करते हुए-से मालूम होते थे। यद्यपि वे ऋषिराज तपश्चरणके माहात्म्यसे प्राप्त हुए आसनपर बैठे हुए थे तथापि अपने उत्कृष्ट माहात्म्य-से ऐसे मालूम होते थे मानो समस्त लोकके ऊपर ही बैठे हों। उस समय वे न तो सरस्वती-को ही अधिक कष्ट देना चाहते थे और न इन्द्रियोंको ही अधिक चलायमान करना चाहते थे।

---

१. तदेव म० । २. समुदायेन । ३. मुख्यैः । ४. इति प्रशान्तगम्भीरं स्तुत्वा स्तुतिभिरर्थितः । म० । तथा प०, स० । ५. प्रार्थितः । ६. सावधाने । ७ निश्चलं यथा भवति तथा । ८. प्रसार [समूह] ।

सरस्वतीपरिक्लेशमनिच्छन्निव नाधिकम्। दीपयन् करणस्पन्दमभिन्नमुखसौष्ठवः ॥९१॥
न[2]स्विद्यन्न परिश्राम्यन्नो त्रस्यन्न परिस्खलन्। सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन् ॥९२॥
[3]समसृज्वायतस्थानमास्थाय रचितासनः। पल्यङ्केन परां कोटीं वैराग्यस्येव[4]रूपयन् ॥९३॥
करं वामं स्वपर्यङ्के निधायोत्तानितं शनैः। देशनाहस्तमुत्क्षिप्य मार्दवं नाटयन्निव ॥९४॥
व्याजहारातिगम्भीरमधुरोदारया गिरा। भगवान् गौतमस्वामी श्रोतॄन् संबोधयन्निति ॥९५॥
श्रुतं मया श्रुतस्कन्धादायुष्मन्तो महाधियः। [5]निबोधत[6]पुराणं मे[7] यथावत् कथयामि वः ॥९६॥
यत् प्रजापतये ब्रह्मा भरतायादितीर्थकृत्। प्रोवाच तदहं तेऽद्य वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥९७॥
महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कन्धस्य वर्णिताः। तेषामाद्योऽनुयोगोऽयं सतां सच्चरिताश्रयः ॥९८॥
द्वितीयः करणादिः स्यादनुयोगः स यत्र वै। त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यानं[8]कुलपत्रेऽधिरोपितम् ॥९९॥
चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदितः। यत्र[9]चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता ॥१००॥
तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः। प्रमाणनयनिक्षेपैः[10] सदाद्यैश्च[11] किमादिभिः[12] ॥१०१॥
आनुपूर्व्यादिभेदेन पञ्चधोपक्रमो मतः। स पुराणावतारेऽस्मिन् योजनीयो यथागमम् ॥१०२॥

बोलते समय उनके मुखका सौन्दर्य भी नष्ट नहीं हुआ था। उस समय उन्हें न तो पसीना आता था, न परिश्रम ही होता था, न किसी बातका भय ही लगता था और न वे बोलते-बोलते स्खलित ही होते थे-चूकते थे। वे बिना किसी परिश्रमके ही अतिशय प्रौढ़-गम्भीर सरस्वतीको प्रकट कर रहे थे। वे उस समय सम, सीधे और विस्तृत स्थानपर पर्यङ्कासनसे बैठे हुए थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो शरीर-द्वारा वैराग्यकी अन्तिम सीमाको ही प्रकट कर रहे हों। उस समय उनका बायाँ हाथ पर्यङ्कपर था और दाहिना हाथ उपदेश देनेके लिए कुछ ऊपरको उठा हुआ था जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो वे मार्दव (विनय) धर्मको नृत्य ही करा रहे हों अर्थात् उच्चतम विनय गुणको प्रकट कर रहे हों॥ ८५—९५ ॥ वे कहने लगे—हे आयुष्मान् बुद्धिमान् भव्यजनो, मैंने श्रुतस्कन्धसे जैसा कुछ इस पुराणको सुना है सो ज्योंका-त्यों आप लोगोंके लिए कहता हूँ, आप लोग ध्यानसे सुने ॥९६॥ हे श्रेणिक, आदि ब्रह्मा प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवने भरत चक्रवर्तीके लिए जो पुराण कहा था उसे ही मैं आज तुम्हारे लिए कहता हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो ॥९७॥

श्रुतस्कन्धके चार महा अधिकार वर्णित किये गये है उनमे पहले अनुयोगका नाम प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगमें तीर्थंकर आदि सत्पुरुषोंके चरित्रका वर्णन होता है ॥९८॥ दूसरे महाधिकारका नाम करणानुयोग है। इसमें तीनों लोकोंका वर्णन उस प्रकार लिखा होता है जिस प्रकार किसी ताम्रपत्रपर किसीकी वंशावली लिखी होती है ॥९९॥ जिनेन्द्रदेवने तीसरे महाधिकारको चरणानुयोग बतलाया है। इसमें मुनि और श्रावकोंके चारित्रकी शुद्धिका निरूपण होता है ॥१००॥ चौथा महाधिकार द्रव्यानुयोग है इसमें प्रमाण नय निक्षेप तथा सत्संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदिके द्वारा द्रव्योंका निर्णय किया जाता है ॥१०१॥ आनुपूर्वी आदिके भेदसे उपक्रमके पाँच भेद माने गये हैं।

---

१. [इन्द्रियं शरीरं वा]। २ खिद्यन् अ०। ३ —मृज्वासनस्थान—द०, प०। मृज्वागत. स्थान—स०। ४. दर्शयन्। ५ जानीत। ६. पुराणार्थं स०, ल०। ७. मे इत्यव्ययम् 'अहमित्यर्थः'। ८ सन्तानक्रमादागत-ताम्रमयादिपत्रं कुलपत्रमिति वदन्ति। ९. चर्या चरित्रम्। १०. निक्षेपः न्यासः। ११ सत् अस्ति किं स्यात्। अथवा सदाद्यैः सत्संख्याक्षेत्रादिभिः। १२. निर्देशस्वामित्वादिभिः।

प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम् । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥१०३॥
आनुपूर्वी तथा नाम प्रमाणं साभिधेयकम् । अर्थाधिकारश्चेत्येवं पञ्चैते स्युरुपक्रमाः ॥१०४॥
[1]पूर्वानुपूर्व्या प्रथमश्चरमोऽयं विलोमतः[2] । यथातथानुपूर्व्या च यां कांचिद्गणनां[3] श्रितः ॥१०५॥
श्रुतस्कन्धानुयोगानां चतुर्णां प्रथमो मतः । ततोऽनुयोगं प्रथमं प्राहुरन्वर्थसंज्ञया ॥१०६॥
प्रमाणमधुना तस्य[4] वक्ष्यते ग्रन्थतोऽर्थतः । ग्रन्थगौरवभीरूणां श्रोतॄणामनुरोधतः ॥१०७॥
सोऽर्थतोऽपरिमेयोऽपि संख्येयः शब्दतो मतः । कृत्स्नस्य वाङ्मयस्यास्य संख्येयत्वानतिक्रमात् ॥१०८॥
[5]द्वे लक्षे पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चतुःशतम् । चत्वारिंशत्तथा द्वे च कोट्योऽस्मिन् ग्रन्थसंख्यया ॥१०९॥
एकत्रिंशच्च लक्षाः स्युः शतानां पञ्चसप्ततिः । ग्रन्थसंख्या च विज्ञेया श्लोकेनानुष्टुभेन हि ॥११०॥
ग्रन्थप्रमाणनिश्चित्यै[6] पदसंख्योपवर्ण्यते । पञ्चैवेह सहस्राणि पदानां[7] गणना मता ॥१११॥
शतानि षोडशैव स्युश्चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । त्र्यशीतिलक्षाः सप्तैव सहस्राणि शताष्टकम् ॥११२॥
अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युः संहिता[8] मध्यमं पदम् । पदेनैतेन मीयन्ते पूर्वाङ्गग्रन्थविस्तराः ॥११३॥

इस पुराणके प्रारम्भमें उन उपक्रमोंका शास्त्रानुसार सम्बन्ध लगा लेना चाहिए ॥१०२॥ प्रकृत अर्थात् जिसका वर्णन करनेकी इच्छा है ऐसे पदार्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें बैठा देना—उन्हें अच्छी तरह समझा देना सो उपक्रम है इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥१०३॥ १ आनुपूर्वी, २ नाम, ३ प्रमाण, ४ अभिधेय और ५ अर्थाधिकार ये उपक्रमके पाँच भेद हैं ॥१०४॥ यदि चारों महाधिकारोंको पूर्व क्रमसे गिना जाये तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि उलटे क्रमसे गिना जाये तो यही प्रथमानुयोग अन्तका अनुयोग होता है। अपनी इच्छानुसार जहाँ कहींसे भी गणना करनेपर यह दूसरा तीसरा आदि किसी भी संख्याका हो सकता है ॥१०५॥ ग्रन्थके नाम कहनेको नाम उपक्रम कहते हैं यह प्रथमानुयोग श्रुतस्कन्धके चारों अनुयोगोंमें सबसे पहला है इसलिए इसका प्रथमानुयोग यह नाम सार्थक गिना जाता है ॥१०६॥ ग्रन्थ-विस्तारके भयसे डरनेवाले श्रोताओंके अनुरोधसे अब इस ग्रन्थका प्रमाण बतलाता हूँ। वह प्रमाण अक्षरोंकी संख्या तथा अर्थ इन दोनोंकी अपेक्षा बतलाया जायेगा ॥१०७॥ यद्यपि यह प्रथमानुयोग रूप ग्रन्थ अर्थकी अपेक्षा अपरिमेय है-संख्यासे रहित है तथापि शब्दोंकी अपेक्षा परिमेय है-संख्येय है तब उसका एक अंश प्रथमानुयोग असंख्येय कैसे हो सकता है ? ॥१०८॥ ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा गणना करनेपर प्रथमानुयोगमें दो लाख करोड़, पचपन हजार करोड़, चार सौ बयालीस करोड़ और इकतीस लाख सात हजार पाँच सौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥१०९-११०॥ इस प्रकार ग्रन्थप्रमाणका निश्चय कर अब उसके पदोंकी संख्याका वर्णन करते हैं। प्रथमानुयोग ग्रन्थके पदोंकी गणना पाँच हजार मानी गयी है और सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोंका एक मध्यम पद होता है। इस मध्यमपदके द्वारा ही ग्यारह अङ्ग तथा चौदह पूर्वोंकी ग्रन्थसंख्याका वर्णन किया जाता

---

१ पूर्वपरिपाट्या । २. अपरतः, अपरानुपूर्व्येत्यर्थः । ३.–ञ्चिद्गुणना स० । ४ प्रथमानुयोगस्य । ५ परिकर्मादिभेदेन पञ्चविधस्य द्वादशतमाङ्गस्य दृष्टिवादाख्यस्य तृतीयो भेदः प्रथमानुयोगः । तत्र पञ्चसहस्रमध्यमपदानि भवन्ति तानि मध्यमपदवर्णैः १६३४८३०७८८८ गुणयित्वा द्वात्रिंशत्संख्यया भक्ते द्वे लक्षे पञ्चपञ्चाशदित्यादिसंख्या स्यात् । ६ प्रमाण निश्चितस्य द०, प०, ल० । ७. गणिमानत. ट० । गणधरत. । ८. संहता ट० । संयुक्ता. ।

द्रव्यप्रमाणमित्युक्तं भावतस्तु [1]श्रुतात्मकम्। प्रमाणमविसंवादि परमर्षिप्रणेतृकम् ॥११४॥
पुराणस्यास्य [2]वक्तव्यं कृत्स्नं वाङ्मयमिष्यते। यतो नास्माद् बहिर्भूतमस्ति [3]वस्तु वचोऽपि वा॥११५॥
यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात्। तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात् पुराणतः ॥११६॥
तीर्थकृच्चक्रवर्तीन्द्रबलकेशवसंपदः। मुनीनामृद्धयश्चास्य वक्तव्याः सह कारणैः ॥११७॥
बद्धो मुक्तस्तथा बन्धो मोक्षस्तद्द्वयकारणम्। षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च नवेत्यस्यार्थसंग्रहः ॥११८॥
जगत्त्रयनिवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रहः। जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोद्यते[4] ॥११९॥
[5]मार्गो मार्गफलं चेति पुरुषार्थसमुच्चयः। यावान् प्रविस्तरस्तस्य धत्ते सोऽस्याभिधेयताम् ॥१२०॥
किमत्र बहुनोक्तेन धर्मसृष्टिरविप्लुता[6]। यावती सास्य वक्तव्यपदवीमवगाहते ॥१२१॥
सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम्। सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥१२२॥
यदत्र सुस्थितं वस्तु तदेव निकषक्षमम्[7]। यदत्र दुःस्थितं नाम तत्सर्वत्रैव दुःस्थितम् ॥१२३॥
एवं महाभिधेयस्य पुराणस्यास्य भूयसः। क्रियतेऽर्थाधिकाराणामियत्तानुगमोऽधुना ॥१२४॥
त्रयः षष्टिरिहार्थाधिकारा प्रोक्ता महर्षिभिः। कथापुरुषसंख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात् ॥१२५॥
त्रिषष्ट्यवयवः सोऽयं पुराणस्कन्ध इष्यते। अवान्तराधिकाराणामपर्यन्तोऽत्र विस्तरः ॥१२६॥

है ॥१११-११३॥ यह जो ऊपर प्रमाण बतलाया है सो द्रव्यश्रुतका ही है, भावश्रुतका नहीं है। वह भावकी अपेक्षा श्रुतज्ञान रूप है जो कि सत्यार्थ, विरोधरहित और केवलिप्रणीत है ॥११४॥ सम्पूर्ण द्वादशाङ्ग ही इस पुराणका अभिधेय विषय है क्योंकि इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही है ॥११५॥ जिस प्रकार महामूल्य रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है उसी प्रकार सुभाषितरूपी रत्नोंकी उत्पत्ति इस पुराणसे होती है ॥११६॥ इस पुराण-में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, बलभद्र और नारायणोंकी सम्पदाओं तथा मुनियोंकी ऋद्धियों-का उनकी प्राप्तिके कारणोंके साथ-साथ वर्णन किया जायेगा ॥११७॥ इसी प्रकार संसारी जीव, मुक्त जीव, बन्ध, मोक्ष, इन दोनोंके कारण, छह द्रव्य और नव पदार्थ ये सब इस ग्रन्थके अर्थसंग्रह है अर्थात् इस सबका इसमें वर्णन किया जायेगा ॥११८॥ इस पुराणमें तीनों लोकोंकी रचना, तीनों कालोंका संग्रह, संसारकी उत्पत्ति और विनाश इन सबका वर्णन किया जायेगा ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ और काम ये पुरुषार्थ इन सबका जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रन्थकी अभिधेयताको धारण करता है अर्थात् उसका इसमें कथन किया जायेगा ॥१२०॥ अधिक कहनेसे क्या, जो कुछ जितनी निर्बाध धर्मकी सृष्टि है वह सब इस ग्रन्थकी वर्णनीय वस्तु है ॥१२१॥ जो सुभाषित दूसरी जगह बहुत समय तक खोजनेपर भी नहीं मिल सकते उनका संग्रह इस पुराणमें अपनी इच्छानुसार पद-पदपर किया जा सकता है ॥१२२॥ इस ग्रन्थमें जो पदार्थ उत्तम ठहराया गया है वह दूसरी जगह भी उत्तम होगा तथा जो इस ग्रन्थमें बुरा ठहराया गया है वह सभी जगह बुरा ही ठहराया जायेगा। भावार्थ—यह ग्रन्थ पदार्थोंकी अच्छाई तथा बुराईकी परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है ॥१२३॥ इस प्रकार यह महापुराण बहुत भारी विषयोंका निरूपण करनेवाला है। अब इसके अर्थाधिकारोंकी संख्याका नियम कहते हैं ॥१२४॥

इस ग्रन्थमें तिरसठ महापुरुषोंका वर्णन किया जायेगा इसलिए उसी संख्याके अनुसार ऋषियोंने इसके तिरसठ ही अधिकार कहे हैं ॥१२५॥ इस पुराण स्कन्धके तिरसठ अधिकार

---

१ श्रुतज्ञानं (नामा)। २. अभिधेयम्। ३. अर्थः। ४. -मिहोच्यते द०, प०, म०, म०, ल०। ५ रत्नत्रयात्मकः। ६ अबाधिता। ७. विचारक्षमम्। ८. -त्ताधिगमो - अ०, द०।

तीर्थकृत्पुराणेषु शेषाणामपि संग्रहात् । चतुर्विंशतिरेवात्र पुराणानीति केचन ॥१२७॥
पुराणं वृषभस्याद्यं द्वितीयमजितेशिनः । तृतीयं संभवस्येष्टं चतुर्थमभिनन्दने ॥१२८॥
पञ्चमं सुमतेः प्रोक्तं षष्ठं पद्मप्रभस्य च । सप्तमं स्यात्सुपार्श्वस्य [1]चन्द्राभासोऽष्टमं स्मृतम् ॥१२९॥
नवमं पुष्पदन्तस्य दशमं शीतलेशिनः । [2]श्रायसं च परं तस्माद् द्वादशं वासुपूज्यगम् ॥१३०॥
त्रयोदश च विमले ततोऽनन्तजितः परम् । जिने पञ्चदशं धर्मे शान्तेः षोडशमीशितुः ॥१३१॥
कुन्थोः सप्तदशं ज्ञेयमरस्याष्टादशं मतम् । मल्लेरेकोनविंशं स्याद् विंशं च मुनिसुव्रते ॥१३२॥
एकविंशं नमेर्भर्तुर्नेमेर्द्वाविंशमर्हतः । पार्श्वेशस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मतेः ॥१३३॥
पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम् । महापुराणमेतेषां समूहः परिभाष्यते ॥१३४॥
पुराणं [3]महदद्यत्वे यदस्माभिरनुस्मृतम् [4] । [5]पुरा युगान्ते तन्नून कियदप्यवशिष्यते ॥१३५॥
दोषाद् दुःषमकालस्य प्रहास्यन्ते धियो नृणाम् । तासां हानौ पुराणस्य हीयते ग्रन्थविस्तरः ॥१३६॥
तथाहीदं पुराणं नः [6]सुधर्मा श्रुतकेवली । [7]सुधर्मं प्रचयं नेष्यत्यखिलं मदनन्तरम् ॥१३७॥
जम्बूनामा ततः कृत्स्नं पुराणमपि शुश्रुवान् । प्रथयिष्यति लोकेऽस्मिन् सोऽन्त्यः केवलिनामिह ॥१३८॥
अहं सुधर्मो जम्ब्वाख्यो निखिलश्रुतधारिणः । क्रमात् कैवल्यमुत्पाद्य [8]निर्वास्यामस्ततो वयम् ॥१३९॥
त्रयाणामस्मदादीनां कालः केवलिनामिह । द्वाषष्टिवर्षपिण्डः स्याद् भगवन्निर्वृतेः [9] परम् ॥१४०॥

य अवयव अवश्य हैं परन्तु इसके अवान्तर अधिकारोंका विस्तार अमर्यादित है ॥१२६॥ कोई-कोई आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थंकरोंके पुराणोंमें चक्रवर्ती आदिके पुराणोंका भी संग्रह हो जाता है इसलिए चौबीस ही पुराण समझना चाहिए। जो कि इस प्रकार हैं—पहला पुराण वृषभनाथका, दूसरा अजितनाथका, तीसरा संभवनाथका, चौथा अभिनन्दननाथका, पाँचवाँ सुमतिनाथका, छठा पद्मप्रभका, सातवाँ सुपार्श्वनाथका, आठवाँ चन्द्रप्रभका, नौवाँ पुष्पदन्तका, दसवाँ शीतलनाथका, ग्यारहवाँ श्रेयान्सनाथका, बारहवाँ वासुपूज्यका, तेरहवाँ विमलनाथका, चौदहवाँ अनन्तनाथका, पन्द्रहवाँ धर्मनाथका, सोलहवाँ शान्तिनाथका, सत्रहवाँ कुन्थुनाथका, अठारहवाँ अरनाथका, उन्नीसवाँ मल्लिनाथका, बीसवाँ मुनिसुव्रतनाथका, इक्कीसवाँ नमिनाथका, बाईसवाँ नेमिनाथका, तेईसवाँ पार्श्वनाथका और चौबीसवाँ सन्मति—महावीर स्वामीका ॥१२७–१३३॥ इस प्रकार चौबीस तीर्थंकरोंके ये चौबीस पुराण हैं इनका जो समूह है वही महापुराण कहलाता है ॥१३४॥ आज मैंने जिस महापुराणका वर्णन किया है वह इस अवसर्पिणी युगके अन्तमें निश्चयसे बहुत ही अल्प रह जायेगा ॥१३५॥ क्योंकि दुःषम नामक पाँचवें कालके दोषसे मनुष्योंकी बुद्धियाँ उत्तरोत्तर घटती जायेंगी और बुद्धियोंके घटनेसे पुराणके ग्रन्थका विस्तार भी घट जायेगा ॥१३६॥

उसका स्पष्ट निरूपण इस प्रकार समझना चाहिए—हमारे पीछे श्रुतकेवली सुधर्माचार्य जो कि हमारे ही समान हैं, इस महापुराणको पूर्णरूपसे प्रकाशित करेंगे ॥१३७॥ उनसे यह सम्पूर्ण पुराण श्री जम्बूस्वामी सुनेंगे और वे अन्तिम केवली होकर इस लोकमें उसका पूर्ण प्रकाश करेंगे ॥१३८॥ इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले हैं—श्रुतकेवली हैं। हम तीनों क्रम-क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जायेंगे ॥१३९॥ हम तीनों केवलियोंका काल भगवान् वर्धमान स्वामीकी मुक्तिके बाद बासठ वर्षका

---

१. चन्द्रप्रभस्य। २ श्रेयस इदम्। श्रेयासं अ०, प०, ल०। ३. महदाद्यत्वे अ०, प०, स०, ल०। ४. कथितम्। ५ अग्रे। ६ सुधर्मा अ०, प०। ७ सुधर्मप्र—अ०। ८. निर्वृतिं गमिष्याम। ९ भगवन्निर्वृतेः ल०।

ततो यथाक्रमं विष्णुर्नन्दिमित्रोऽपराजितः । गोवर्धनो भद्रबाहुरित्याचार्या महाधियः ॥१४१॥
चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे । पुराणं द्योतयिष्यन्ति कार्त्स्न्येन [1]शरदः शतम् ॥१४२॥
विशाखप्रोष्ठिलाचार्यौ क्षत्रियो जयसाह्वयः । नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेणस्तथैव च ॥१४३॥
विजयो बुद्धिमान् गङ्गदेवो धर्मादिशब्दनः[2] । सेनश्च दशपूर्वाणां धारकाः स्युर्यथाक्रमम् ॥१४४॥
त्र्यशीतिर्[3]शतमब्दानामेतेषां कालसंग्रहः । तदा च कृत्स्नमेवेदं पुराणं विस्तरिष्यते ॥१४५॥
ततो नक्षत्रनामा च जयपालो महातपाः । पाण्डुश्च ध्रुवसेनश्च कंसाचार्य इति क्रमात् ॥१४६॥
एकादशाङ्गविद्यानां पारगाः स्युर्मुनीश्वराः । विंशं द्विशतमब्दानामेतेषां काल इष्यते ॥१४७॥
तदा पुराणमेतत्[4] तु पादोनं प्रथयिष्यते । भाजनाभावतो भूयो[5] जायेत [6]ज्ञाकनिष्ठता ॥१४८॥
सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः । लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमाङ्गाब्धिपारगाः ॥१४९॥
[7]शरदां शतमेषां स्यात् कालोऽष्टादशभिर्युतम्[8] । तुर्यो भागः पुराणस्य तदास्य प्रतनिष्यते ॥१५०॥
ततः क्रमात् प्रहाये[9]दं पुराणं स्वल्पमात्रया । धीप्रमोषादिदोषेण विरलैर्धारयिष्यते ॥१५१॥
[10]ज्ञानविज्ञानसंपन्नगुरुपर्वान्वयादिदम् । प्रमाणं [11]यच्च यावच्च यदा यत्र प्रकाशते ॥१५२॥
तदापीदमनुस्मर्तुं [12]प्रभविष्यन्ति धीधनाः । जिनसेनाग्रगाः पूज्याः कवीनां परमेश्वराः ॥१५३॥
[13]पुराणमिदमेवाद्य यदाम्नातं स्वयम्भुवा । पुराणाभासमन्यत्तु केवलं वाङ्मलं विदुः ॥१५४॥

है ॥१४०॥ तदनन्तर सौ वर्षमें क्रम-क्रमसे विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये बुद्धिमान् आचार्य होंगे। ये आचार्य ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्वरूप महाविद्याओंके पारगत अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और पुराणको सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित करते रहेंगे ॥१४१-१४२॥ इनके अनन्तर क्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिमान्, गङ्गदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अङ्ग और दश पूर्वके धारक होंगे। उनका काल १८३ वर्ष होगा। उस समय तक इस पुराणका पूर्ण प्रकाश होता रहेगा ॥१४३-१४५॥ इनके बाद क्रमसे नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँच महा तपस्वी मुनि होंगे। ये सब ग्यारह अङ्गके धारक होंगे, इनका समय २२० दो सौ बीस वर्ष माना जाता है। उस समय यह पुराण एक भाग कम अर्थात् तीन चतुर्थांश रूपमें प्रकाशित रहेगा फिर योग्य पात्रका अभाव होनेसे भगवान्‌का कहा हुआ यह पुराण अवश्य ही कम होता जायेगा ॥१४६-१४८॥ इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार आचार्य होंगे जो कि विशाल कीर्तिके धारक और प्रथम अंग (आचारांग) रूपी समुद्रके पारगामी होंगे। इन सबका समय अठारह वर्ष होगा। उस समय इस पुराणका एक चौथाई भाग ही प्रचलित रह जायेगा ॥१४९-१५०॥ इसके अनन्तर अर्थात् वर्धमान स्वामीके मोक्ष जानेसे ६८३ छह सौ तिरासी वर्ष बाद यह पुराण क्रम-क्रमसे थोड़ा-थोड़ा घटता जायेगा। उस समय लोगोंकी बुद्धि भी कम होती जायेगी इसलिए विरले आचार्य ही इसे अल्परूपमें धारण कर सकेंगे ॥१५१॥ इस प्रकार ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न गुरुपरिपाटी-द्वारा यह पुराण जब और जिस मात्रामें प्रकाशित होता रहेगा उसका स्मरण करनेके लिए जिनसेन आदि महाबुद्धिमान् पूज्य और श्रेष्ठ कवि उत्पन्न होंगे ॥१५२-१५३॥ श्री वर्धमान स्वामीने जिसका निरूपण किया

१. सवत्सरस्य। २ शब्दत॰ अ॰, प॰, म॰, द॰, ल॰। शब्दित स॰। ३ त्र्यशीतं शत–अ॰, स॰, प॰, म॰, द॰, ल॰। ४ –मेतच्च अ॰। ५. पश्चात्। ६ जायेताज्ञा–ल॰। ७. समाना अ॰, ब॰, प॰, म॰, ल॰, द॰, स॰। ८ –र्युत॰ अ॰, द॰, म॰, प॰, स॰। ९ प्रहीण भूत्वा। १० ज्ञान [मतिज्ञानं] विज्ञानं [लिखितपठितादिक श्रुतज्ञानम्]। ११. यत्र द॰, प॰। १२ समर्था भविष्यन्ति। १३. प्रमाणमिद–अ॰, स॰, प॰, द॰, म॰, ल॰।

नामग्रहणमात्रं च पुनाति परमेष्ठिनाम् । किं पुनर्मुहुरापीतं तत्कथाश्रवणामृतम् ॥१५५॥
ततो भव्यजनैः[1] श्राद्धैरवगाह्यमिदं मुहुः । पुराणं [2]पुण्यपुंरत्नैर्भृतमब्धीयितं महत् ॥१५६॥
तच्च पूर्वानुपूर्व्येदं पुराणमनुवर्ण्यते । तत्राद्यस्य पुराणस्य सम्रहे कारिका[3] विदुः ॥१५७॥
स्थितिः कुलधरोत्पत्तिर्वंशानामथ निर्गमः[4] । पुरोः साम्राज्यमार्हन्त्यं निर्वाणं युगविच्छिदा[5] ॥१५८॥
एते महाधिकाराः स्युः पुराणे वृषभेशिनः । यथावसरमन्येषु पुराणेष्वपि लक्षयेत् ॥१५९॥
कथोपोद्घात [6]एष स्यात् कथायाः पीठिकामितः । वक्ष्ये कालावतारं च स्थितीः[7] कुलभृतामपि ॥१६०॥

मालिनीच्छन्दः

प्रणिगदति सतीत्थं गौतमे भक्तिनम्रा मुनिपरिषदशेषा श्रोतुकामा पुराणम् ।
मगधनृपतिनामा[8] सावधाना तदाभूद्धितमवगणयेद् वा[9][10] कः सुधीराप्तवाक्यम् ॥१६१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याचार्यपरम्परीणममलं[11] पुण्यं पुराणं पुरा कल्पे यद्भगवानुवाच वृषभश्चक्रादिमत्रे जिनः ।
तद्वः पापकलङ्कपङ्कमखिलं प्रक्षाल्य शुद्धिं परां देयात् पुण्यवचोजलं परमिदं तीर्थं जगत्पावनम् ॥१६२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥२॥

हैं वह पुराण ही श्रेष्ठ और प्रामाणिक है इसके सिवाय और सब पुराण पुराणाभास हैं उन्हें केवल वाणीके दोषमात्र जानना चाहिए ॥१५४॥ जब कि पञ्चपरमेष्ठियोंका नाम लेना ही जीवोंको पवित्र कर देता है तब बार-बार उनकी कथारूप अमृतका पान करना तो कहना ही क्या है ? वह तो अवश्य ही जीवोंको पवित्र कर देता है—कर्ममलसे रहित कर देता है ॥१५५॥ जब यह बात है तो श्रद्धालु भव्य जीवोंको पुण्यरूपी रत्नोंसे भरे हुए इस पुराणरूपी समुद्रमें अवश्य ही अवगाहन करना चाहिए ॥१५६॥ ऊपर जिस पुराणका लक्षण कहा है अब यहाँ क्रमसे उसीको कहेंगे और उसमें भी सबसे पहले भगवान् वृषभनाथके पुराणकी कारिका कहेंगे ॥१५७॥ श्री वृषभनाथके पुराणमें कालका वर्णन, कुलकरोंकी उत्पत्ति, वंशोंका निकलना, भगवान्का साम्राज्य, अरहन्त अवस्था, निर्वाण और युगका विच्छेद होना ये महाधिकार हैं। अन्य पुराणोंमें जो अधिकार होंगे वे समयानुसार बताये जायेंगे ॥१५८–१५९॥

यह इस कथाका उपोद्घात है, अब आगे इस कथाकी पीठिका, कालावतार और कुलकरोंकी स्थिति कहेंगे ॥१६०॥ इस प्रकार गौतम स्वामीके कहनेपर भक्तिसे नम्र हुई वह मुनियोंकी समस्त सभा पुराण सुननेकी इच्छासे श्रेणिक महाराजके साथ सावधान हो गयी, सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कि आप्त पुरुषोंके हितकारी वचनोंका अनादर करे ॥१६१॥ इस प्रकार जो आचार्य-परम्परासे प्राप्त हुआ है, निर्दोष है, पुण्यरूप है और युगके आदिमें भरत चक्रवर्तीके लिए भगवान् वृषभदेवके द्वारा कहा गया था, ऐसा यह जगत्को पवित्र करनेवाला उत्कृष्ट तीर्थस्वरूप पुराणरूपी पवित्र जल तुम लोगोंके समस्त पाप कलंकरूपी कीचड़को धोकर तुम्हें परम शुद्धि प्रदान करे ॥१६२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें 'कथामुखवर्णन' नामक द्वितीय पर्व समाप्त हुआ ॥ २ ॥

---

१ श्रद्धानयुक्तैः । २. पुण्यसरत्नै–अ० । ३. कारिका ब०, अ०, ल० । ४. उत्पत्ति । ५. विच्छिदा भेद । ६. एषोऽस्या प०, म०, द०, ल० । ७. स्थितिं स०, प०, द०, म०, ल० । ८. अमा सह । ९. अवज्ञा कुर्यात् । १०. तथाहि । ११. परम्परागतम् ।

तृतीयं पर्व

पुराणं मुनिमानम्य जिनं वृषभमच्युतम् । महतस्तत्पुराणस्य पीठिका व्याकरिष्यते ॥१॥
अनादिनिधन कालो वर्त्तनालक्षणो मत. । लोकमात्र सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्न[1] प्रमाणकः ॥२॥
सोऽसंख्येयोऽप्यनन्तस्य वस्तुराशेरुपग्रहे[2] । वर्त्तते स्वगतानन्तसामर्थ्यपरिबृंहितः ॥३॥
यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला । तथा कालः पदार्थानां वर्त्तनोपग्रहे[3] मत ॥४॥
[4]स्वतोऽपि [5]वर्त्तमानानां सोऽर्थानां परिवर्त्तकः । [6]यथास्व [7]गुणपर्यायैरतो नान्योऽन्यसंप्लवः[8] ॥५॥
सोऽस्तिकायेष्वसंपाठान्नास्तीत्येके[9] विमन्वते । षड्द्रव्येपूपदिष्टत्वाद्युक्तियोगाच्च तद्गति[10] ॥६॥

मैं उन वृषभनाथ स्वामीको नमस्कार करके इस महापुराणकी पीठिकाका व्याख्यान करता हूँ जो कि इस अवसर्पिणी युगके सबसे प्राचीन मुनि हैं, जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है और विनाशसे रहित हैं ॥१॥

कालद्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है (जो द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक हो उसे वर्तना कहते हैं) यह कालद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होनेके कारण समस्त लोकाकाशमे भरा हुआ है। भावार्थ–कालद्रव्यका एक-एक परमाणु लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर स्थित है ॥२॥ उस कालद्रव्यमें अनन्त पदार्थोंके परिणमन करानेकी सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थोंके परिणमन-मे सहकारी होता है ॥३॥ जिस प्रकार कुम्हारके चाकके घूमनेमें उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमे काल द्रव्य सहकारी कारण है। संसारके समस्त पदार्थ अपने-अपने गुणपर्यायों-द्वारा स्वयमेव ही परिणमनको प्राप्त होते रहते हैं और कालद्रव्य उनके उस परिणमनमें मात्र सहकारी कारण होता है। जब कि पदार्थोंका परिणमन अपने-अपने गुणपर्याय रूप होता है तब अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि वे सब पदार्थ सर्वदा पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् अपना स्वरूप छोड़कर परस्परमें मिलते नहीं है ॥४॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं अर्थात् सत्स्वरूप होकर बहुप्रदेशी हैं। इनमें कालद्रव्यका पाठ नहीं है, इसलिए वह है ही नहीं इस प्रकार कितने ही लोग मानते हैं परन्तु उनका वह मानना ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि एक प्रदेशी होनेके कारण काल द्रव्यका पंचास्तिकायोंमे पाठ नहीं है तथापि छह द्रव्योंमे तो उसका पाठ किया गया है। इसके सिवाय युक्तिसे भी काल द्रव्यका सद्भाव सिद्ध होता है। वह युक्ति इस प्रकार है कि संसारमें जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार कालप्रसिद्ध है वह पर्याय है। पर्यायका मूलभूत कोई-न-कोई पर्यायी अवश्य होता है क्योंकि विना पर्यायीके पर्याय नहीं हो सकती इसलिए व्यवहार कालका मूल-

---

१. परिच्छिन्न· निश्चित.। २ उपकारे। –रुपग्रहः म०। ३ –ग्रहो मत प०। ४. स्वसामर्थ्यात्। ५ विवर्त–द०, स०, प०, म०, ल०। ६ यथायोग्यम्। ७ –स्वगुण-स०, ल०। ८. परस्परसंकर.। ९ द्राविडा.। १० उपाय ।

[1]मुख्यकल्पेन कालोऽस्ति व्यवहारप्रतीतितः । मुख्यादृते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा ॥७॥
प्रदेशप्रचयापायात् कालस्यानस्तिकायता । [2]गुणप्रचययोगोऽस्य द्रव्यत्वादस्ति सोऽस्त्यतः ॥८॥
अस्तिकायश्रुतिर्वक्ति कालस्यानस्तिकायताम् । सर्वस्य सविपक्षत्वाज्जीवकायश्रुति[3]र्यथा ॥९॥
कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपाश्रयः[4] । परापरत्वसंसूच्यो वर्णितः सर्वदर्शिभिः ॥१०॥
वर्तितो [5]द्रव्यकालेन वर्तनालक्षणेन यः । कालः पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय [6]कल्प्यते ॥११॥
समयावलिकोच्छ्वास-नालिकादिप्रभेदतः । ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधाः ॥१२॥
[7]भवायुष्कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मकः[8] । सोऽनन्तसमयस्तस्य परिवर्तोऽप्यनन्तधा[9] ॥१३॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ । उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम्[10] ॥१४॥

भूत मुख्य काल द्रव्य है। मुख्य पदार्थके बिना व्यवहार-गौण पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जैसे कि वास्तविक सिंहके बिना किसी प्रतापी बालकमें सिंहका व्यवहार नहीं किया जा सकता, वैसे ही मुख्य कालके बिना घड़ी, घण्टा आदिमें काल द्रव्यका व्यवहार नहीं किया जा सकता। परन्तु होता अवश्य है इससे काल द्रव्यका अस्तित्व अवश्य मानना पड़ता है ॥५-७॥ यद्यपि इसमें एकसे अधिक बहुप्रदेशोंका अभाव है इसलिए इसे अस्तिकायोंमें नहीं गिना जाता है तथापि इसमें अगुरुलघु आदि अनेक गुण तथा उनके विकारस्वरूप अनेक पर्याय अवश्य हैं क्योंकि यह द्रव्य है, जो-जो द्रव्य होता है उसमें गुणपर्यायोंका समूह अवश्य रहता है। द्रव्यत्वका गुणपर्यायोंके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा बहुप्रदेशोंके साथ नहीं है। अतः बहुप्रदेशोंका अभाव होनेपर भी काल पदार्थ द्रव्य माना जा सकता है और इस तरह काल नामक पृथक् पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जाती है ॥८॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश-को अस्तिकाय कहनेसे ही यह सिद्ध होता है कि काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है क्योंकि विपक्षी-के रहते हुए ही विशेषणकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जिस प्रकार छह द्रव्योंमें चेतनरूप आत्मद्रव्यको जीव कहना ही पुद्गलादि पाँच द्रव्योंको अजीव सिद्ध कर देता है उसी प्रकार जीवादिको अस्तिकाय कहना ही कालको अनस्तिकाय सिद्ध कर देता है ॥९॥ इस मुख्य कालके अतिरिक्त जो घड़ी, घण्टा आदि है वह व्यवहारकाल कहलाता है। यहाँ यह याद रखना आवश्यक होगा कि व्यवहारकाल मुख्य कालसे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है वह उसीके आश्रयसे उत्पन्न हुआ उसकी पर्याय ही है। यह छोटा है, यह बड़ा है आदि बातोंसे व्यवहारकाल स्पष्ट जाना जाता है ऐसा सर्वज्ञदेवने वर्णन किया है ॥१०॥ यह व्यवहारकाल वर्तना लक्षणरूप निश्चय काल द्रव्यके द्वारा ही प्रवर्तित होता है और वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान रूप होकर संसारका व्यवहार चलानेके लिए समर्थ होता है अथवा कल्पित किया जाता है ॥११॥ वह व्यवहारकाल समय, आवलि, उच्छ्वास, नाड़ी आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। यह व्यवहारकाल सूर्यादि ज्योतिश्चक्रके घूमनेसे ही प्रकट होता है ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१२॥ यदि भव, आयु, काय और शरीर आदिकी स्थितिका समय जोड़ा जाये तो वह अनन्त समयरूप होता है और उसका परिवर्तन भी अनन्त प्रकारसे होता है ॥१३॥

---

१. स्वरूपेण । २. अगुरुलघुगुण । ३. जीवास्तिकाय. । ४. संश्रयः । ५ मुख्यकालेन । ६ कल्पित. म० । ७ यु. काय–ल०, अ०, म०, स०, प०, द० । ८. संकल्पनात्मक. प० । ९. –नन्तकः स० । १०. वर्ष्म ... । "–र्ष्म देहप्रमाणयो" इत्यमर ।

कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा सागरसंख्यया । शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥१५॥
षोढा स पुनरेकैको भिद्यते स्वभिदात्मभिः । तन्नामान्यनुकीर्त्यन्ते शृणु राजन् यथाक्रमम् ॥१६॥
द्विरुक्तसुषमाद्यासीत् द्वितीया सुषमा मता । सुषमा दुःषमान्तान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥१७॥
पञ्चमी दुःषमा ज्ञेया समा षष्ठ्यतिदुःषमा । भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्ययाः ॥१८॥
समा कालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयोः । सुषमा दुःषमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ॥१९॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सान्तर्भिदाविमौ । स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥२०॥
कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्तनैः । तावुभौ परिवर्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥२१॥
पुराऽस्यामवसर्पिण्यां क्षेत्रेऽस्मिन् भरताह्वये । मध्यमं खण्डमाश्रित्य ववृधे प्रथमा समा ॥२२॥
सागरोपमकोटीनां कोटी स्याच्चतुराहता । तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता ॥२३॥
देवोत्तरकुरुक्ष्मासु या स्थितिः समवस्थिता । सा स्थितिर्भारते वर्षे युगारम्भे स्म जायते ॥२४॥

उस व्यवहारकालके दो भेद कहे जाते हैं—१ उत्सर्पिणी और २ अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्योंके बल, आयु और शरीरका प्रमाण क्रम-क्रमसे बढ़ता जाये उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें वे क्रम-क्रमसे घटते जाये उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥१४॥ उत्सर्पिणी कालका प्रमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणी कालका प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्प काल होता है ॥१५॥ हे राजन्, इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके प्रत्येकके छह-छह भेद होते हैं। अब क्रमपूर्वक उनके नाम कहे जाते हैं सो सुनो ॥१६॥ अवसर्पिणी कालके छह भेद ये हैं-पहला सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा, पाँचवाँ दुःषमा और छठा अतिदुःषमा अथवा दुःषम-दुःषमा ये अवसर्पिणीके भेद जानना चाहिए। उत्सर्पिणी कालके भी छह भेद होते हैं जो कि उक्त भेदोंसे विपरीत रूप हैं, जैसे १ दुःषमादुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ॥१७-१८॥ समा कालके विभागको कहते हैं तथा सु और दुर् उपसर्ग-क्रमसे अच्छे और बुरे अर्थमें आते हैं। सु और दुर् उपसर्गोंको पृथक्-पृथक् समाके साथ जोड़ देने तथा व्याकरणके नियमानुसार स को ष कर देनेसे सुषमा तथा दुःषमा शब्दोंकी सिद्धि होती है। जिनका अर्थ क्रमसे अच्छा काल और बुरा काल होता है, इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छहों भेद सार्थक नामवाले हैं ॥१९॥ इसी प्रकार अपने अवान्तर भेदोंसे सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल भी सार्थक नामसे युक्त हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदिकी वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी और जिसमें घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥ ये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दोनों ही भेद कालचक्रके परिभ्रमणसे अपने छहों कालोंके साथ-साथ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्षकी तरह घूमते रहते हैं अर्थात् जिस तरह कृष्णपक्षके बाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्ष बदलता रहता है उसी तरह अवसर्पिणीके बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणीके बाद अवसर्पिणी बदलती रहती है ॥२१॥

पहले इस भरतक्षेत्रके मध्यवर्ती आर्यखण्डमें अवसर्पिणीका पहला भेद सुषमा-सुषमा नामका काल बीत रहा था उस कालका परिमाण चार कोड़ाकोड़ी सागर था, उस समय यहाँ नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था थी ॥२२-२३॥ देवकुरु और उत्तरकुरु नामक उत्तर भोगभूमियोंमें जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्रमें युगके

---

१. प्रमितिः । २ काल. । ३. तामिस्रेतरौ कृष्णशुक्लौ। ४. प्रथते स०,प० । ववृते द०,ट० । ववृत वर्तते स्म।

तत्रा स्थितिर्मनुष्याणां [1]त्रिपल्योपमसम्मिता । षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुषः स्मृतः ॥२५॥

[2]वज्रास्थिबन्धनाः सौम्याः सुन्दराकारचारव. । निष्टप्तकनकच्छाया दीप्यन्ते ते नरोत्तमाः ॥२६॥

मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकाङ्गदौ । केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद् विभूषणम् ॥२७॥

[3]ते स्वपुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यसंपद । रंरम्यन्ते चिरं स्त्रीभि. सुरा इव सुरालये ॥२८॥

[4]महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः । महानुभावास्ते सर्वे [5]महीयन्ते महोदया. ॥२९॥

तेषामाहारसंप्रीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभि । [6]कुवलीफलमात्रं च दिव्यान्न [7]विष्वणन्ति ते ॥३०॥

[8]निर्व्यायामा निरातङ्का निर्णीहारा [9]निराधयः । निस्स्वेदास्ते [10]निराबाधा जीवन्ति [11]पुरुषायुषाः॥३१॥

स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः । कल्पद्रुमेषु संसक्ता कल्पवल्ल्य इवोज्ज्वला ॥३२॥

पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः । यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुञ्जते भोगसंपदः ॥३३॥

स्वभावसुन्दर रूपं स्वभावमधुरं वच' । स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव ॥३४॥

रुच्याहारगृहातोद्य-माल्यभूषाम्बरादिकम् । भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरूद्भवम् ॥३५॥

प्रारम्भ अर्थात् अवसर्पिणीके पहले कालमें थी ॥२४॥ उस समय मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी होती थी और शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुषकी थी ॥२५॥ उस समय यहाँ जो मनुष्य थे उनके शरीरके अस्थिबन्धन वज्रके समान सुदृढ थे, वे अत्यन्त सौम्य और सुन्दर आकारके धारक थे। उनका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान देदीप्यमान था ॥२६॥ मुकुट, कुण्डल, हार, करधनी, कड़ा, बाजूबन्द और यज्ञोपवीत इन आभूषणोंको वे सर्वदा धारण किये रहते थे ॥२७॥ वहाँके मनुष्योंको पुण्यके उदयसे अनुपम रूप सौन्दर्य तथा अन्य सम्पदाओंकी प्राप्ति होती रहती है इसलिए वे स्वर्गमें देवोंके समान अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥२८॥ वे पुरुष सबके सब बड़े बलवान्, बड़े धीर-वीर, बड़े तेजस्वी, बड़े प्रतापी, बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े पुण्यशाली होते हैं। उनके वक्षःस्थल बहुत ही विस्तृत होते हैं तथा वे सब पूज्य समझे जाते है ॥२९॥ उन्हें तीन दिन बाद भोजनकी इच्छा होती है सो कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए बदरीफल बराबर उत्तम भोजन ग्रहण करते है ॥३०॥ उन्हें न तो कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कोई रोग होता है, न मलमूत्रादिकी बाधा होती है, न मानसिक पीड़ा होती है, न पसीना ही आता है और न अकालमें उनकी मृत्यु ही होती है। वे बिना किसी बाधाके सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं ॥३१॥ वहाँकी स्त्रियाँ भी उतनी ही आयुकी धारक होती हैं, उनका शरीर भी उतना ही ऊँचा होता है और वे अपने पुरुषोंके साथ ऐसी शोभायमान होती हैं जैसी कल्पवृक्षोंपर लगी हुई कल्पलताएँ ॥३२॥ वे स्त्रियाँ अपने पुरुषोंमें अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी स्त्रियोंमे अनुरक्त रहते हैं। वे दोनों ही अपने जीवन पर्यन्त बिना किसी क्लेशके भोग-सम्पदाओंका उपभोग करते रहते हैं ॥३३॥ देवोंके समान उनका रूप स्वभावसे सुन्दर होता है, उनके वचन स्वभावसे मीठे होते हैं और उनकी चेष्टाएँ भी स्वभावसे चतुर होती हैं ॥३४॥ इच्छानुसार मनोहर आहार, घर, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदिक समस्त भोगोपभोगकी सामग्री

---

१. त्रिभि पल्यैरुपमा यस्यासो त्रिपल्योपमस्तेन सम्मिता। २ अस्थीनि च बन्धनानि च अस्थिबन्धनानि, वज्रवत् अस्थिबन्धनानि येषा ते। ३. एते पुण्ये–अ०, प०, स०, द०, ल०। ४. महौजस । ५. महीङ् वृद्धौ पूजाया च, कण्ड्वादित्वाद् यक्। ६ बदरफलम्। ७ स्वन शब्दे। अश्नन्ति। 'वेश्च स्वनोऽशने' इत्यशनार्थे षत्वम्। ८. श्रमजनकगमनागमनादिव्यापाररहिता। ९. निरामयाः स०। १० परकृतबाधारहिताः। निराबाध अ०, ल०। ११. पुरुषायुषम् द०, प०, म०।

मन्दगन्धवहाधूतचलदं[1]शुकपल्लवाः । नित्यालोका[2] विराजन्ते कल्पोपपदपादपाः ॥३६॥
कालानुभवसंभूतक्षेत्रसामर्थ्यबृंहिताः । कल्पद्रुमास्तथा तेषां[3] कल्पन्तेऽभीष्टसिद्धये ॥३७॥
मनोभिरुचितान्[4] भोगान् यस्मात् पुण्यकृतां नृणाम् । कल्पयन्ति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः ॥३८॥
मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः । भोजनामत्र[5]वस्त्राङ्गा दशधा कल्पशाखिनः ॥३९॥
इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वन्तोऽर्थक्रियाममी । संज्ञाभिरेव विस्पष्टा ततो नातिप्रतन्यते[6] ॥४०॥
तथा भुक्त्वा चिरं भोगान् स्वपुण्यपरिपाकजान् । स्वायुरन्ते विलीयन्ते ते घना इव शारदाः ॥४१॥
जृम्भिकारम्भमात्रेण तत्कालोत्थक्षुतेन वा । जीवितान्ते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यान्त्यनेनसः ॥४२॥
स्वभावमार्दवायोगवक्रतादिगुणैर्युताः । भद्रकास्त्रिदिवं यान्ति तेषां नान्या गतिस्ततः ॥४३॥
इत्याद्यः[7] कालभेदोऽत्रावसर्पिण्यां वर्णितो मनाक् । उदक्कुरुसमः शेषो विधिरत्रावधार्यताम्[8] ॥४४॥
ततो यथाक्रमं तस्मिन् काले गलति मन्दताम् । यातासु वृक्षवीर्यायुः शरीरोत्सेधवृत्तिषु ॥४५॥
सुषमालक्षणः कालो द्वितीयः समवर्त्तत । सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः ॥४६॥
तदास्मिन् भारते वर्षे मध्यभोगभुवां[9] स्थितिः । जायते स्म परां भूतिं तन्वाना कल्पपादपैः ॥४७॥
तदा मर्त्या ह्यमर्त्याभा द्विपल्योपमजीविताः[10] । चतुःसहस्रचापोच्चविग्रहाः शुभचेष्टिताः ॥४८॥

इन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हो जाती है ॥३५॥ जिनके पल्लवरूपी वस्त्र मन्द सुगन्धित वायुके द्वारा हमेशा हिलते रहते हैं। ऐसे सदा प्रकाशमान रहनेवाले वहाँके कल्पवृक्ष अत्यन्त शोभायमान रहते हैं ॥३६॥ सुषमासुषमा नामक कालके प्रभावसे उत्पन्न हुई क्षेत्रकी सामर्थ्यसे वृद्धिको प्राप्त हुए वे कल्पवृक्ष वहाँके जीवोंको मनोवांछित पदार्थ देनेके लिए सदा समर्थ रहते हैं ॥३७॥ वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषोंको मनचाहे भोग देते रहते हैं इसलिए जानकार पुरुषोंने उनका 'कल्पवृक्ष' यह नाम सार्थक ही कहा है ॥३८॥ वे कल्पवृक्ष दस प्रकारके हैं-१ मद्याङ्ग, २ तूर्याङ्ग, ३ विभूषाङ्ग, ४ स्रगङ्ग (माल्याङ्ग), ५ ज्योतिरङ्ग, ६ दीपाङ्ग, ७ गृहाङ्ग, ८ भोजनाङ्ग, ९ पात्राङ्ग और १० वस्त्राङ्ग। वे सब अपने-अपने नामके अनुसार ही कार्य करते है इसलिए इनके नाम मात्र कह दिये हैं; अधिक विस्तारके साथ उनका कथन नहीं किया है ॥३९-४०॥ इस प्रकार वहाँके मनुष्य अपने पूर्व पुण्यके उदयसे चिरकाल तक भोगोंको भोगकर आयु समाप्त होते ही शरदृऋतुके मेघोंके समान विलीन हो जाते हैं ॥४१॥ आयुके अन्तमें पुरुषको जम्हाई आती है और स्त्रीको छींक। उसीसे पुण्यात्मा पुरुष अपना-अपना शरीर छोड़कर स्वर्ग चले जाते है ॥४२॥ उस समयके मनुष्य स्वभावसे ही कोमल-परिणामी होते हैं, इसलिए वे भद्रपुरुष मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। स्वर्गके सिवाय उनकी और कोई गति नहीं होती ॥४३॥ इस प्रकार अवसर्पिणी कालके प्रथम सुषमासुषमा नामक कालका कुछ वर्णन किया है। यहाँकी और समस्त विधि उत्तरकुरुके समान समझना चाहिए ॥४४॥ इसके अनन्तर जब क्रम-क्रमसे प्रथम काल पूर्ण हुआ और कल्पवृक्ष, मनुष्योंका बल, आयु तथा शरीरकी ऊँचाई आदि सब घटतीको प्राप्त हो चले तब सुषमा नामक दूसरा काल प्रवृत्त हुआ। इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागर था ॥४५-४६॥ उस समय इस भारतवर्षमें कल्पवृक्षोंके द्वारा उत्कृष्ट विभूतिको विस्तृत करती हुई मध्यम भोगभूमिकी अवस्था प्रचलित हुई ॥४७॥ उस वक्त यहाँके मनुष्य देवोंके समान कान्तिके धारक थे, उनकी आयु दो पल्यकी

१. अंशुक वस्त्रम्। २ नित्यप्रकाशा। ३ समर्था भवन्ति। ४ -भिलषितान् प०, म०, ल०। ५. अमत्रं भाजनम्। ६ प्रतन्वते अ०, प०, म०, द०। ७. -द्यकाल अ०, स०। ८. -वधार्यते प०, म०। ९ भुवः म०, ल०। १०. जीवित अ०, म०।

कलाधरकलास्पर्द्धिदेहज्योत्स्नास्मितोज्ज्वलाः । दिनद्वयेन तेऽश्नन्ति [1]वार्क्षमन्धोऽक्षमात्रकम् ॥४९॥
शेषो विधिस्तु निःशेषो हरिवर्षसमो मतः । ततः क्रमेण कालेऽस्मिन् नवसर्पत्यनुक्रमात् ॥५०॥
प्रहीणा वृक्षवीर्यादिविशेषाः प्राक्तना यदा । जघन्यभोगभूमीनां मर्यादाविरभूत्तदा ॥५१॥
यथावसरसंप्राप्तस्तृतीयः कालपर्ययः । प्रावर्तत सुराजेव स्वां मर्यादामलङ्घयन् ॥५२॥
सागरोपमकोटीनां [2]कोट्यौ द्वे [3]लब्धसंस्थितौ । कालेऽस्मिन् भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः ॥५३॥
[4]गव्यूतिप्रमितोच्छ्रायाः [5]प्रियङ्गुश्यामविग्रहाः । दिनान्तरेण संप्राप्त[6]धात्रीफलमिताशनाः ॥५४॥
ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते ॥५५॥
कल्पानोकहवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योतिरङ्गास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशताम् ॥५६॥
[7]पुष्पवन्तावथाषाढ्यां[8] पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ । [9]सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयो. ॥५७॥
चामीकरमयौ पोताविव तौ गगनार्णवे । वियद्गजस्य [10]निर्याणे[11]लिखितौ तिलकाविव ॥५८॥
पौर्णमासीविलासिन्याः क्रीड्यमानौ समुज्ज्वलौ । परस्परकराश्लिष्टौ[12] [13]जातुषाविव गोलकौ ॥५९॥
जगद्गृहमहाद्वारि विन्यस्तौ कालभूभृत । [14]प्रत्यग्रस्य प्रवेशाय कुम्भाविव हिरण्मयौ ॥६०॥

थी, उनका शरीर चार हजार धनुष ऊँचा था तथा उनकी सभी चेष्टाएँ शुभ थीं ॥४८॥ उनके शरीरकी कान्ति चन्द्रमाकी कलाओंके साथ स्पर्धा करती थी अर्थात् उनसे भी कहीं अधिक सुन्दर थी, उनकी मुसकान बड़ी ही उज्ज्वल थी। वे दो दिन बाद कल्पवृक्षसे प्राप्त हुए बहेड़ेके बराबर उत्तम अन्न खाते थे ॥४९॥ उस समय यहाँकी शेष सब व्यवस्था हरिक्षेत्रके समान थी फिर क्रमसे जब द्वितीय काल पूर्ण हो गया और कल्पवृक्ष तथा मनुष्योंके बल, विक्रम आदि घट गये तब जघन्य भोगभूमिकी व्यवस्था प्रकट हुई ॥५०–५१॥ उस समय न्यायवान् राजाके सदृश मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता हुआ तीसरा सुषमादुःषमा नामका काल यथाक्रमसे प्रवृत्त हुआ ॥५२॥ उसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागरकी थी। उस समय इस भारतवर्षमें मनुष्योंकी स्थिति एक पल्यकी थी। उनके शरीर एक कोश ऊँचे थे, वे प्रियङ्गुके समान श्यामवर्ण थे और एक दिनके अन्तरसे आँवलेके बराबर भोजन ग्रहण करते थे ॥५३-५४॥ इस प्रकार क्रम-क्रमसे तीसरा काल व्यतीत होनेपर जब इसमें पल्यका आठवाँ भाग शेष रह गया तब कल्पवृक्षोंकी सामर्थ्य घट गयी और ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश अत्यन्त मन्द हो गया ॥५५–५६॥ तदनन्तर किसी समय आषाढ सुदी पूर्णिमाके दिन सायंकालके समय आकाशके दोनों भागोंमें अर्थात् पूर्व दिशामें उदित होता हुआ चमकीला चन्द्रमा और पश्चिममें अस्त होता हुआ सूर्य दिखलायी पड़ा ॥५७॥ उस समय वे सूर्य और चन्द्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्रमें सोनेके बने हुए दो जहाज ही हों अथवा आकाशरूपी हस्तीके गण्डस्थलके समीप सिन्दूरसे बने हुए दो चन्द्रक (गोलाकार चिह्न) ही हों। अथवा पूर्णिमारूपी स्त्रीके दोनों हाथोंपर रखे हुए खेलनेके मनोहर लाखनिर्मित दो गोले ही हों। अथवा आगे होनेवाले दुःषम-सुषमा नामक कालरूपी नवीन राजाके प्रवेशके लिए जगत्रूपी घरके विशाल दरवाजेपर रखे हुए मानो दो सुवर्णकलश ही हों । अथवा तारारूपी फेन

---

१. वृक्षस्येदम् । २. –ना द्वे कोटघो लब्ध–द० । कोटयौ द्वौ लब्ध–अ०, म०, स०, ल० । ३. लब्धा संप्राप्ता । ४ क्रोशः । ५. कलिनी । ६. आमलकी । ७. सूर्याचन्द्रमसौ । पुष्पदन्ता–द०, स०, म०, ल० । ८. आषाढमासे । ९. अपराह्णे । १०. अपाङ्गदेशो निर्याणम् । ११. –णलक्षितौ अ० ।–ण चन्द्रकाविव लक्षितौ द०, प०, म० ल० । १२. आहवौ । १३. जतोविकारौ । १४ नूतनस्य ।

ताराफेनग्रहग्राहवियत्सागरमध्यगौ । चामीकरमयौ दिव्यावम्भःक्रीडागृहाविव ॥६१॥
सद्वृत्तत्वादसङ्गत्वात् साधुवर्गानुकारिणौ । शीततीव्रकरत्वाच्च सदसद्भूमिपाविव ॥६२॥
प्रतिश्रुतिरिति ख्यातस्तदा कुलधरोऽग्रिम. । विभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रवद् बभौ ॥६३॥
पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशितम् । धनुःसहस्रमुत्सेधः शतैरधिकमष्टभि. ॥६४॥
जाज्वल्यमानमकुटो [1]लसन्मकरकुण्डलः । कनकाद्रिरिवोत्तुङ्गो बिभ्राणो हारनिर्झरम् ॥६५॥
नानाभरणभाभारभासुरोदारविग्रह । प्रोत्सर्पत्तेजसा स्वेन निर्भर्त्सितविग्रहः ॥६६॥
महान् जगद्गृहोन्मानमानदण्ड इवोच्छ्रितः । दधज्जन्मान्तराभ्यासजनितं बोधमिद्धधीः ॥६७॥
स्फुरद्दन्तांशुसलिलैर्मुहुः प्रक्षालयन् दिशः । प्रजानां प्रीणनं वाक्यं [2]सौधं रसमिवोद्गिरन् ॥६८॥
अदृष्टपूर्वौ तौ दृष्ट्वा सभीतान् भोगभूमिजान् । भीतेर्निवर्त्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥६९॥
एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरङ्गप्रभापायात् कालह्रासवशोद्भवात् ॥७०॥
सदाप्यधिनभोभागं [3]भ्राम्यतोऽमू महाद्युती । न वस्ताभ्यां भयं किंचिदतो मा भैष्ट भद्रकाः ॥७१॥

और बुध, मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छोंसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रके मध्यमें सुवर्णके दो मनोहर जलक्रीड़ागृह ही बने हों। अथवा सद्वृत्त-गोलाकार (पक्षमें सदाचारी) और असंग-अकेले (पक्षमें परिग्रहरहित) होनेके कारण साधुसमूहका अनुकरण कर रहे हों अथवा शीतकर-शीतल किरणोंसे युक्त (पक्षमें अल्प टैक्स लेनेवाला) और तीव्रकर-उष्ण किरणोंसे युक्त (पक्षमें अधिक टैक्स लेनेवाला) होनेके कारण क्रमसे न्यायी और अन्यायी राजाका ही अनुकरण कर रहे हों ॥५८-६२॥ उस समय वहाँ प्रतिश्रुति नामसे प्रसिद्ध पहले कुलकर विद्यमान थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और प्रजाजनोंके नेत्रके समान शोभायमान थे अर्थात् नेत्रके समान प्रजाजनोंको हितकारी मार्ग बतलाते थे ॥६३॥ जिनेन्द्रदेवने उनकी आयु पल्यके दसवें भाग और ऊँचाई एक हजार आठ सौ धनुष बतलायी है ॥६४॥ उनके मस्तकपर प्रकाशमान मुकुट शोभायमान हो रहा था, कानोंमें सुवर्णमय कुण्डल चमक रहे थे और वे स्वयं मेरु पर्वतके समान ऊँचे थे इसलिए उनके वक्षःस्थलपर पड़ा हुआ रत्नोंका हार झरनेके समान मालूम होता था। उनका उन्नत और श्रेष्ठ शरीर नाना प्रकारके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे अतिशय प्रकाशमान हो रहा था, उन्होंने अपने बढ़ते हुए तेजसे सूर्यको भी तिरस्कृत कर दिया था। वे बहुत ही ऊँचे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो जगत्‌रूपी घरकी ऊँचाईको नापनेके लिए खड़े किये गये मापदण्ड ही हों। इसके सिवाय वे जन्मान्तरके संस्कारसे प्राप्त हुए अवधिज्ञानको भी धारण किये हुए थे इसलिए वही सबमें उत्कृष्ट बुद्धिमान् गिने जाते थे ॥६५-६७॥ वे देदीप्यमान दांतोंकी किरणोंरूपी जलसे दिशाओंका बार-बार प्रक्षालन करते हुए जब प्रजाको सन्तुष्ट करनेवाले वचन बोलते थे तब ऐसे मालूम होते थे मानो अमृतका रस ही प्रकट कर रहे हों। पहले कभी नहीं दिखनेवाले सूर्य और चन्द्रमाको देखकर भयभीत हुए भोगभूमिज मनुष्योंको उन्होंने उनका निम्नलिखित स्वरूप बतलाकर भयरहित किया था ॥६८-६९॥ उन्होंने कहा—हे भद्र पुरुषो, तुम्हें जो ये दिख रहे हैं वे सूर्य, चन्द्रमा नामके ग्रह हैं, ये महाकान्तिके धारक हैं तथा आकाशमें सर्वदा घूमते रहते हैं। अभीतक इनका प्रकाश ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे तिरोहित रहता था इसलिए नहीं दिखते थे परन्तु अब चूँकि कालदोषके

---

१ लसत्कनककुण्डल. द०, प०, म०, ल० । २. सुधाया अयम् । ३ भ्रमतो म०, ल० ।

इति तद्वचनात्तेषां प्रत्याश्वासो महानभूत्। [[1]क्षेत्रे सोऽतः परं चास्मिन् नियोगान् भाविनोऽन्वशात्]॥७२॥
प्रतिश्रुतिरयं धीरो यन्नः प्रत्यश्रृणोद् वचः। इतीडां चक्रिरे नाम्ना ते तं संप्रीतमानसाः॥७३॥
अहो धीमन् महाभाग चिरंजीव प्रसीद नः। यानपात्रायितं येन[2] त्वयास्मद्व्यसनार्णवे॥७४॥
इति स्तुत्वार्यकास्ते तं सत्कृत्य च पुनः पुनः। लब्धानुज्ञास्ततः स्वं स्वमोको जग्मुः [3]सजानयः॥७५॥
मनौ याति दिवं तस्मिन् काले गलति च क्रमात्। मन्वन्तरमसंख्येया वर्षकोटीर्व्यतीत्य च॥७६॥
सन्मतिः सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा। प्रोत्सर्पदंशुकः [4]प्रांशुश्चलत्कल्पतरूपमः॥७७॥
स कुन्तली किरीटी च कुण्डली हारभूषितः। स्रग्वी मलयजालिप्तवपुरत्यन्तमाबभौ॥७८॥
तस्यायुरम[5]मप्रख्यमासीत् संख्येयहायनम्। सहस्रं त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो धनुषां मतः॥७९॥
ज्योतिर्विटपिनां भूयोऽप्यासीत् कालेन मन्दिमा। [6]प्रहाणाभिमुखं तेजो निर्वास्यति हि दीपवत्॥८०॥
नभोऽङ्गणमथापूर्य तारकाः प्रचकाशिरे। [7]नात्यन्धकारकलुषां वेलां प्राप्य तमीमुखे॥८१॥
अकस्मात् तारका दृष्ट्वा संभ्रान्तान् भोगभूभुवः। भीतिर्विचलयामास [8]प्राणिहत्येव योगिनः॥८२॥

वशसे ज्योतिरङ्ग वृक्षोंका प्रभाव कम हो गया है अतः दिखने लगे हैं। इनसे तुम लोगोंको कोई भय नहीं है अतः भयभीत नहीं होओ ॥७०-७१॥ प्रतिश्रुतिके इन वचनोंसे उन लोगोंको बहुत ही आश्वासन हुआ। इसके बाद प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें होनेवाली व्यवस्थाओंका निरूपण किया ॥७२॥ इन धीर-वीर प्रतिश्रुतिने हमारे वचन सुने हैं इसलिए प्रसन्न होकर उन भोगभूमिजोंने प्रतिश्रुति इसी नामसे स्तुति की और कहा कि—अहो महाभाग, अहो बुद्धिमान्, आप चिरंजीव रहें तथा हमपर प्रसन्न हों क्योंकि आपने हमारे दुःखरूपी समुद्रमें नौकाका काम दिया है अर्थात् हितका उपदेश देकर हमें दुःखरूपी समुद्रसे उद्धृत किया है ॥७३-७४॥ इस प्रकार प्रतिश्रुतिका स्तवन तथा बार-बार सत्कार कर वे सब आर्य उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपने-अपने घर चले गये ॥७५॥ इसके बाद क्रम-क्रमसे समयके व्यतीत होने तथा प्रतिश्रुति कुलकरके स्वर्गवास हो जानेपर जब असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर (एक कुलकरके बाद दूसरे कुलकरके उत्पन्न होने तक बीचका काल) व्यतीत हो गया तब समीचीन बुद्धिके धारक सन्मति नामके द्वितीय कुलकरका जन्म हुआ। उनके वस्त्र बहुत ही शोभायमान थे तथा वे स्वयं अत्यन्त ऊँचे थे इसलिए चलते-फिरते कल्पवृक्षके समान मालूम होते थे ॥७६-७७॥ उनके केश बड़े ही सुन्दर थे, वे अपने मस्तकपर मुकुट बाँधे हुए थे, कानोंमें कुण्डल पहिने थे, उनका वक्षःस्थल हारसे सुशोभित था, इन सब कारणोंसे वे अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥७८॥ उनकी आयु अममके बराबर संख्यात वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई एक हजार तीन सौ धनुष थी ॥७९॥ इनके समयमें ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंकी प्रभा बहुत ही मन्द पड़ गयी थी तथा उनका तेज बुझते हुए दीपकके समान नष्ट होनेके सम्मुख ही था ॥८०॥ एक दिन रात्रिके प्रारम्भमें जब थोड़ा-थोड़ा अन्धकार था तब तारागण आकाशरूपी अङ्गणको व्याप्त कर—सब ओर प्रकाशमान होने लगे ॥८१॥ उस समय अकस्मात् तारोंको देखकर भोगभूमिज मनुष्य अत्यन्त भ्रममें पड़ गये अथवा अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्हें भयने इतना कम्पायमान कर दिया

१. तसञ्ज्ञिते ताडपत्रपुस्तके कोष्ठकान्तर्गत पाठो लेखकप्रमादात्प्रभ्रष्टोऽत्र ब०, अ०, प०, ल०, म०, द०, स०, संज्ञितपुस्तकेभ्यस्तत्पाठो गृहीतः। २ कारणेन। ३ सभार्याः। ४ उन्नतः। ५ पञ्चपञ्चाशत् शून्याग्र विंशतिप्रमाणचतुरशीतीनां परस्परगुणनम् अममवर्षप्रमाणम्। ६. प्रहीणाभिमुखं अ०, प०, म०, ल०। ७. अत्यन्धकारकलुषा न भवतीति नात्यन्धकारकलुषा ताम्। ८. प्राणिहतिः।

स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोचतार्यकान्। नोत्पातः कोऽप्ययं भद्रास्तन्मागात भियो वशम् ॥८३॥
एतास्तास्तारका नामैतच्च नक्षत्रमण्डलम्। ग्रहा इमे [1]सदोद्योता इदं तारकितं नभः ॥८४॥
ज्योतिश्चक्रमिदं शश्वत् व्योममार्गे कृतस्थिति। स्पष्टतामधुनायातं ज्योतिरङ्गप्रभाक्षयात् ॥८५॥
इतः प्रभृत्यहोरात्रविभागश्च प्रवर्तते। उदयास्तमयैः सूर्याचन्द्रयोः सहतारयोः ॥८६॥
ग्रहणग्रहविक्षेपदिनान्ययनसंक्रमात्। ज्योतिर्ज्ञानस्य [2]बीजानि सोऽन्वबोचद् विदां वरः ॥८७॥
अथ तद्वचनादार्या जाताः सपदि निर्भयाः। स हि लोकोत्तरं ज्योतिः प्रजानामुपकारकम् ॥८८॥
अयं सन्मतिरेवास्तु प्रभुर्नः सन्मतिप्रदः। इति प्रशस्य संपूज्य ययुस्ते तं स्वमास्पदम् ॥८९॥
ततोऽन्तरमसंख्येयाः[3] कोटीरुल्लङ्घ्य वत्सरान्। तृतीयो मनुरत्रासीत् क्षेमंकरसमाह्वयः ॥९०॥
युगबाहुर्महाकायः पृथुवक्षाः स्फुरत्प्रभः। सोऽत्यशेत[4] गिरिं मेरुं [5]ज्वलन्मुकुटचूलिकः ॥९१॥
[6]अटटप्रमितं तस्य बभूवायुर्महौजसः। देहोत्सेधश्च चापानाममुष्यासीच्छताष्टकम् ॥९२॥
पुरा किल मृगा भद्राः प्रजानां हस्तलालिताः। तदा तु विकृतिं भेजुर्व्यात्तास्याः[7] भीषणस्वनाः ॥९३॥
तेषां विक्रियया सान्तर्गर्जया तत्रसुः प्रजाः। पप्रच्छुस्ते[8] तमभ्येत्य मनुं स्थितमविस्मितम् ॥९४॥

जितना कि प्राणियोंकी हिंसा मुनिजनोंको कम्पायमान कर देती है ॥८२॥ सन्मति कुलकरने क्षण-भर विचार कर उन आर्य पुरुषोंसे कहा कि हे भद्र पुरुषो, यह कोई उत्पात नहीं है इसलिए आप व्यर्थ ही भयके वशीभूत न हों ॥८३॥ ये तारे हैं, यह नक्षत्रोंका समूह है, ये सदा प्रकाशमान रहनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह हैं और यह तारोंसे भरा हुआ आकाश है ॥८४॥ यह ज्योतिश्चक्र सर्वदा आकाशमें विद्यमान रहता है, अबसे पहले भी विद्यमान था, परन्तु ज्योतिरङ्ग जातिके वृक्षोंके प्रकाशसे तिरोभूत था। अब उन वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो गयी है इसलिए स्पष्ट दिखायी देने लगा है ॥८५॥ आजसे लेकर सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदिका उदय और अस्त होता रहेगा और उससे रात-दिनका विभाग होता रहेगा ॥८६॥ उन बुद्धिमान् सन्मतिने सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, ग्रहोंका एक राशिसे दूसरी राशिपर जाना, दिन और अयन आदिका संक्रमण बतलाते हुए ज्योतिष विद्याके मूल कारणोंका भी उल्लेख किया था ॥८७॥ वे आर्य लोग भी उनके वचन सुनकर शीघ्र ही भयरहित हो गये। वास्तवमें वे सन्मति प्रजाका उपकार करनेवाली कोई सर्वश्रेष्ठ ज्योति ही थे ॥८८॥ समीचीन बुद्धिके देनेवाले यह सन्मति ही हमारे स्वामी हों इस प्रकार उनकी प्रशंसा और पूजा कर वे आर्य पुरुष अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥८९॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तराल काल बीत जानेपर इस भरतक्षेत्रमें क्षेमंकर नामके तीसरे मनु हुए ॥९०॥ उनकी भुजाएँ युगके समान लम्बी थीं। शरीर ऊँचा था, वक्षःस्थल विशाल था, आभा चमक रही थी तथा मस्तक मुकुटसे शोभायमान था। इन सब बातोंसे वे मेरु पर्वतसे भी अधिक शोभायमान हो रहे थे ॥९१॥ इस महाप्रतापी मनुकी आयु अटट बराबर थी और शरीरकी ऊँचाई आठ सौ धनुषकी थी ॥९२॥ पहले जो पशु, सिंह, व्याघ्र आदि अत्यन्त भद्रपरिणामी थे जिनका लालन-पालन प्रजा अपने हाथसे ही किया करती थी वे अब इनके समय विकारको प्राप्त होने लगे–मुँह फाड़ने लगे और भयंकर शब्द करने लगे ॥९३॥ उनकी इस भयंकर गर्जनासे मिले हुए विकार भावको देखकर प्रजाजन डरने लगे तथा

---

१. सदाद्योता प०। २ कारणानि। ३ मख्येयकोटी–म०। ४ अतिशयितवान्। ५. स्फुरन्मुकुट-द०, प०, ल०। ६. पञ्चपञ्चाशच्छून्याग्रमष्टादशप्रमाणचतुरशीतिसगुणनमटटवर्षप्रमाणम्। ७. व्यात्तं विवृतम्। ८ पप्रच्छुश्च अ०, ल०, द०, स०।

इमे भद्रमृगा पूर्वं [1]स्वादीयोभिस्तृणाङ्कुरैः । [2]रसायनरसै पुष्टा सरसां सलिलैरपि ॥९५॥
[3]अङ्काधिरोपणैर्हस्तलालनैरपि [4]सान्त्विताः । अस्माभिरति[5]विश्रब्धा [6]संवसन्तोऽनुपद्रवाः ॥९६॥
इदानीं तु विना हेतोः शृङ्गैरभिभवन्ति नः । दंष्ट्राभिर्नखराग्रैश्च [7]विभित्सन्ति च दारुणाः ॥९७॥
कोऽभ्युपायो महाभाग ब्रूहि न. क्षेमसाधनम्[8] । क्षेमंकरो हि स भवान् जगतः क्षेमचिन्तनैः ॥९८॥
इति तद्वचनाज्जातसौहार्दो मनुरब्रवीत् । सत्यमेतत्तथापूर्वमिदानीं तु [9]भयावहाः ॥९९॥
तदिमे परिहर्तव्याः कालाद्विकृतिमागता. । कर्तव्यो नैषु विश्वासो [10]बाधा कुर्वन्त्युपेक्षिता. ॥१००॥
इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परिजहुस्तदा मृगान् । शृङ्गिणो दंष्ट्रिण· क्रूरान् शेषैः [11]सवासमाययुः ॥१०१॥
व्यतीयुषि तत. काले मनोरस्य व्यतिक्रमे । मन्वन्तरमसंख्येयाः समाकोटीर्विलङ्घ्य च ॥१०२॥
[12]अत्रान्तरे महोदग्रविग्रहो दोषविग्रहः । अग्रेसरः सतामासीन्मनु. क्षेमंधराह्वयः ॥१०३॥
[13]तुटिकाब्दमितं तस्य बभूवायुर्महात्मनः । शतानि सप्त चापानां सप्तति. पञ्च चोच्छ्रिति. ॥१०४॥
यदा प्रबलतां याता [14]पाकसत्त्वा महाक्रुधः । तदा [15]लकुटयष्ट्याद्यै. स रक्षाविधिमन्वशात् ॥१०५॥
क्षेमंधर इति ख्यातिं प्रजानां क्षेमधारणात् । स दधे[16] पाकसत्त्वेभ्यो रक्षोपायानुशासनैः[17] ॥१०६॥

विना किसी आश्चर्यके निश्चल बैठे हुए क्षेमंकर मनुके पास जाकर उनसे पूछने लगे ॥९४॥ हे देव, सिंह व्याघ्र आदि जो पशु पहले बड़े शान्त थे, जो अत्यन्त स्वादिष्ट घास खाकर और तालावोंका रसायनके समान रसीला पानी पीकर पुष्ट हुए थे, जिन्हें हम लोग अपनी गोदीमें बैठाकर अपने हाथोंसे खिलाते थे, हम जिनपर अत्यन्त विश्वास करते थे और जो विना किसी उपद्रवके हम लोगोंके साथ-साथ रहा करते थे आज वे ही पशु बिना किसी कारणके हम लोगोंको सींगोंसे मारते हैं, दाढ़ों और नखोंसे हमें विदारण किया चाहते हैं और अत्यन्त भयंकर दीख पड़ते हैं। हे महाभाग, आप हमारा कल्याण करनेवाला कोई उपाय बतलाइए। चूँकि आप सकल संसारका क्षेम–कल्याण सोचते रहते हैं इसलिए सच्चे क्षेमंकर हैं ॥९५-९८॥ इस प्रकार उन आर्योंके वचन सुनकर क्षेमंकर मनुको भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हो गया और वे कहने लगे कि आपका कहना ठीक है। ये पशु पहले वास्तवमें शान्त थे परन्तु अब भयंकर हो गये हैं इसलिए इन्हें छोड़ देना चाहिए। ये कालके दोषसे विकारको प्राप्त हुए हैं अब इनका विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि तुम इनकी उपेक्षा करोगे तो ये अवश्य ही बाधा करेंगे ॥९९-१००॥ क्षेमंकरके उक्त वचन सुनकर उन लोगोंने सींगवाले और दाढ़वाले दुष्ट पशुओंका साथ छोड़ दिया, केवल निरुपद्रवी गाय-भैंस आदि पशुओंके साथ रहने लगे ॥१०१॥ क्रम-क्रमसे समय बीतनेपर क्षेमंकर मनुकी आयु पूर्ण हो गयी। उसके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर व्यतीत हो गया तब अत्यन्त ऊँचे शरीरके धारक, दोषोंका निग्रह करनेवाले और सज्जनोंमें अग्रसर क्षेमंकर नामक चौथे मनु हुए। उन महात्माकी आयु तुटिक प्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचहत्तर धनुष थी। इनके समयमें जब सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट पशु अतिशय प्रबल और क्रोधी हो गये तब इन्होंने लकड़ी लाठी आदि उपायोंसे इनसे बचनेका उपदेश दिया। चूँकि इन्होंने दुष्ट जीवोंसे रक्षा करनेके उपायोंका उपदेश

---

१. अत्यर्थं स्वादुभि· । २ रसायनवत्स्वादुभिः । ३. अङ्कः उत्सङ्ग· । ४. सामनीता. । ५ –भिरिति म०, ल० । ६ विश्वासिताः । ७ भेत्तुमिच्छन्ति । ८ साधने ल० । ९. भयंकरा. । १०. बाधां अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । ११ सहवासम् । १२ तत्रान्तरे अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । १३ पञ्चचत्वारिंशत् शून्याधिक षोडशप्रमितचतुर्दश-प्रमाणचतुरशीतिसंगुणन तुटिकाब्दप्रमाणम् । १४ क्रूरमृगा. । १५. 'यष्टि स्यात् सप्तपर्विका' । १६ दध्रे अ०, प०, द० म०. ल० । १७. शासनात् अ०, प०, द०, म०, ल० ।

पुनर्मन्वन्तरं तत्र संजातं पूर्ववत्क्रमात् । मनुः सीमंकरो जज्ञे प्रजानां पुण्यपाकतः ॥१०७॥
स चित्रवस्त्रमाल्यादिभूषितं वपुरुद्वहन् । सुरेन्द्रः स्वर्गलक्ष्म्येव भोगलक्ष्म्योपलालितः ॥१०८॥
[1]कमलप्रमितं तस्य प्राहुरायुर्महाधियः । शतानि सप्त पञ्चाशदुच्छ्रायो धनुषां मतः ॥१०९॥
कल्पाङ्घ्रिपा यदा जाता विरला मन्दकाः फले । तदा तेषु विसंवादो बभूवैषां परस्परम् ॥११०॥
ततो मनुरसौ मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अतः सीमंकराख्यां तैर्लम्भितो[2] ऽन्वर्थतां गताम् ॥१११॥
पुनर्मन्वन्तरं प्राग्वदतिलङ्घ्य महोदयः । मनुः सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधीः ॥११२॥
[3]नलिनप्रमितायुष्को नलिनास्येक्षणद्युतिः । धनुषां पञ्चवर्गाग्रमुच्छ्रितः शतसप्तकम् ॥११३॥
अत्यन्तविरला जाताः क्ष्माजा मन्दफला यदा । नृणां महान् विसंवादः केशाकेशि तदावृधत्[4] ॥११४॥
क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा । सीमानि तरुगुल्मादिचिह्नितान्यकरोत् कृती ॥११५॥
ततोऽन्तरमभूद् भूयोऽप्यसंख्या वर्षकोटयः । हीयमानेषु सर्वेषु नियोगेष्वनुपूर्वशः ॥११६॥
तदन्तरव्यतिक्रान्तावभूद् विमलवाहनः । मनूनां सप्तमो भोगलक्ष्म्यालिङ्गितविग्रहः ॥११७॥
[5]पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माश्लिष्टतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव तनूत्सेधोऽस्य वर्णितः ॥११८॥

देकर प्रजाका कल्याण किया था इसलिए इनका क्षेमंधर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१०२-१०६॥ इनके बाद पहलेकी भाँति फिर भी असंख्यात करोड़ वर्षोंका मन्वन्तर पड़ा। फिर क्रमसे प्रजाके पुण्योदयसे सीमंकर नामके कुलकर उत्पन्न हुए। इनका शरीर चित्र-विचित्र वस्त्रों तथा माला आदिसे शोभायमान था। जैसे इन्द्र स्वर्गकी लक्ष्मीका उपभोग करता है वैसे ही यह भी अनेक प्रकारकी भोगलक्ष्मीका उपभोग करते थे। महाबुद्धिमान् आचार्योंने इनकी आयु कमल प्रमाण वर्षोंकी बतलायी है तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पचास धनुषकी। इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अल्प रह गये और फल भी अल्प देने लगे तथा इसी कारणसे जब लोगोंमें विवाद होने लगा तब सीमंकर मनुने सोच-विचारकर वचनों-द्वारा कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत कर दी अर्थात् इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी कि इस जगहके कल्पवृक्षसे इतने लोग काम लें और उस जगहके कल्पवृक्षसे उतने लोग काम लें। प्रजाने उक्त व्यवस्थासे ही उन मनुका सीमंकर यह सार्थक नाम रख लिया था ॥१०७-१११॥ इनके बाद पहलेकी भाँति मन्वन्तर व्यतीत होनेपर सीमन्धर नामके छठे मनु उत्पन्न हुए। उनकी बुद्धि बहुत ही पवित्र थी। वह नलिन प्रमाण आयुके धारक थे, उनके मुख और नेत्रोंकी कान्ति कमलके समान थी तथा शरीरकी ऊँचाई सात सौ पच्चीस धनुषकी थी। इनके समयमें जब कल्पवृक्ष अत्यन्त थोड़े रह गये तथा फल भी बहुत थोड़े देने लगे और उस कारणसे जब लोगोंमें भारी कलह होने लगा, कलह ही नहीं, एक-दूसरेको बाल पकड़-पकड़कर मारने लगे तब उन सीमन्धर मनुने कल्याण स्थापनाकी भावनासे कल्पवृक्षोंकी सीमाओंको अन्य अनेक वृक्ष तथा छोटी-छोटी झाड़ियोंसे चिह्नित कर दिया था ॥११२-११५॥ इनके बाद फिर असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तर हुआ और कल्पवृक्षोंकी शक्ति आदि हरएक उत्तम वस्तुओंमें क्रम-क्रमसे घटती होने लगी तब मन्वन्तरको व्यतीत कर विमलवाहन नामके सातवें मनु हुए। उनका शरीर भोगलक्ष्मीसे आलिङ्गित था, उनकी आयु पद्म-प्रमाण वर्षोंकी थी।

---

१ चत्वारिंशच्छून्याधिकं चतुर्दशप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं कमलवर्षप्रमाणम्। २. प्रापितः। ३. पञ्चत्रिंशत् शून्याग्र द्वादशप्रमितचतुरशीतिसंगुणनं नलिनवर्षप्रमाणम्। ४. 'वृधूङ् वृद्धौ' द्युतादित्वात् "द्युद्भ्यो लुङ्" इति सूत्रेण लुङि परस्मैपदमपि। ५. त्रिंशच्छून्याधिको दशप्रमाणचतुरशीतिसंवर्गः पद्मवर्षप्रमाणम्।

[1]तदुपज्ञं गजादीनां बभूवारोहणक्रम. । [2]कुथाराङ्कुशपर्याणमुखभाण्डाद्युपक्रमैः ॥११९॥
पुनरन्तरमत्राभूदसंख्येयाब्दकोटयः ।ततोऽष्टमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दित. ॥१२०॥
[3]पद्माङ्गप्रमितायुष्कश्चापानां पञ्चसप्ततिः । षट्[4]छतान्यप्युदग्रश्रीरुच्छ्रिताङ्गो बभूव सः ॥१२१॥
तस्य कालेऽभवत्तेषां क्षणं पुत्रमुखेक्षणम् । अदृष्टपूर्वमार्याणां महदुत्त्रासकारणम् ॥१२२॥
ततः सपदि संजातसाध्वसानार्यकांस्तदा । तद्याथात्म्योपदेशेन स मंत्रासमथीज्ज्ञयत् ॥१२३॥
चक्षुष्मानिति तेनाभूत् तत्काले ते यतोऽर्भकाः । [5]जनयित्रोः क्षणं जाताश्चक्षुर्दर्शनगोचरम् ॥१२४॥
पुनरप्यन्तरं तावद् वर्षकोटीर्विलङ्घ्य सः । यशस्वानित्यभून्नाम्ना यशस्वी नवमो मनु. ॥१२५॥
[6]कुमुदप्रमितं तस्य परमायुर्महीयसः । षट्छतानि च पञ्चाशद्धनूंषि [7]वपुरुच्छ्रितिः ॥१२६॥
तस्य काले प्रजा [8]जन्यमुखालोकपुरस्सरम् । कृताशिषः क्षणं स्थित्वा लोकान्तरमुपागमन् ॥१२७॥
यशस्वानित्यभूत्तेन[9] शशंसुस्तद्यशो यतः । प्रजाः [10]सुप्रजसः प्रीता. [11]पुत्राशासनदेशनात् ॥१२८॥
ततोऽन्तरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसंमितम् । अभिचन्द्रोऽभवन्नाम्ना चन्द्रसौम्याननो मनु. ॥१२९॥
[12]कुमुदाङ्गमितायुष्को[13] ज्वलन्मुकुटकुण्डल. । पञ्चवर्गाग्रषट्चापशतोत्सेध. स्फुरत्तनुः ॥१३०॥

शरीर सात सौ धनुष ऊँचा और लक्ष्मीसे विभूषित था। इन्होंने हाथी, घोड़ा आदि सवारी-के योग्य पशुओंपर कुथार, अंकुश, पलान, तोबरा आदि लगाकर सवारी करनेका उपदेश दिया था ॥११६–११९॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्षोंका अन्तराल रहा। फिर चक्षुष्मान् नामके आठवें मनु उत्पन्न हुए, वे पद्माङ्ग प्रमाण आयुके धारक थे और छह-सौ पचहत्तर धनुष ऊँचे थे। उनके शरीरकी शोभा बड़ी ही सुन्दर थी। इनके समयसे पहलेके लोग अपनी सन्तानका मुख नहीं देख पाते थे, उत्पन्न होते ही माता-पिताकी मृत्यु हो जाती थी परन्तु अब वे क्षण-भर पुत्रका मुख देखकर मरने लगे। उनके लिए यह नयी बात थी इसलिए भयका कारण हुई। उस समय भयभीत हुए आर्य पुरुषोंको चक्षुष्मान् मनुने यथार्थ उपदेश देकर उनका भय छुड़ाया था। चूँकि उनके समय माता पिता अपने पुत्रोंको क्षण-भर देख सके थे इसलिए उनका चक्षुष्मान् यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२०–१२४॥ तदनन्तर करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर यशस्वान् नामके नौवें मनु हुए। वे बड़े ही यशस्वी थे। उन महा-पुरुषकी आयु कुमुद प्रमाण वर्षोंकी थी। उनके शरीरकी ऊँचाई छह सौ पचास धनुषकी थी। उनके समयमें प्रजा अपनी सन्तानोंका मुख देखनेके साथ-साथ उन्हें आशीर्वाद देकर तथा क्षण-भर ठहर कर परलोक गमन करती थी—मृत्युको प्राप्त होती थी। इनके उपदेशसे प्रजा अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देने लगी थी इसलिए उत्तम सन्तानवाली प्रजाने प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन किया इसी कारण उनका यशस्वान् यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१२५-१२८॥ इनके बाद करोड़ों वर्षोंका अन्तर व्यतीत कर अभिचन्द्र नामके दसवें मनु उत्पन्न हुए। उनका मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था, कुमुदाङ्ग प्रमाण उनकी आयु थी, उनका मुकुट और कुण्डल अतिशय देदीप्यमान था। वे छह सौ पच्चीस धनुष ऊँचे तथा देदीप्यमान

---

१ तस्य प्रथमोपदेश. आदानुक्रमोपज्ञमिति नपुंसकत्वम् । २. कुठाराङ्कुश–अ०, प०, म०,ल० । कुथ-श्चाङ्कुश–द० । ३. पञ्चविंशतिशून्याग्रा नवप्रमाणचतुरशीतिहतिर्हि पद्माङ्गवर्षप्रमाणम् । ४. तद्शतान्य–अ०, द०, स० । ५. जननीजनकयोः । ६. पञ्चविंशतिशून्याग्रमष्टप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं कुमुदवर्षप्रमाणम् । ७ –षि च तनूच्छ्रिति' द०,प०,म०,ल० । ८ जन्यः पुत्र । ९ कारणेन । १०. शोभनाः प्रजा पुत्रा यासा ता सुप्रजसः । 'नञ्दुस्सो. सक्थिः हलेर्वाम्' इत्यनुवर्तमाने 'असप्रजाया.' इति समासान्त. । ११. आशासनम् आशीर्वचनम् । १२. विंशतिशून्याधिका सप्तप्रमितिचतुरशीतिहति. कुमुदाङ्गवर्षप्रमाणम् । १३ –ङ्गप्रमायु—अ०, स०, द०, म० प०, ल० ।

कल्पद्रुम इवोत्तुङ्गफलशाली[1] महाद्युतिः । स बभार यथास्थानं नानाभरणमञ्जरीः ॥१३१॥
तस्य काले प्रजास्तोक[2]मुखं वीक्ष्य सकौतुकम् । आशास्याक्रीडनं चक्रुर्निशि चन्द्राभिदर्शनैः ॥१३२॥
ततोऽभिचन्द्र इत्यासीद्यतश्चन्द्रमभिस्थिताः । पुत्रानाक्रीडयामासुस्तत्काले तन्मताज्जनाः ॥१३३॥
पुनरन्तरमुल्लङ्घ्य तत्प्रायोग्यसमाशतैः[3] । चन्द्राभ इत्यभूत् ख्यातश्चन्द्रास्यः कालविन्मनुः ॥१३४॥
[4]नयुतप्रमितायुष्को विलसल्लक्षणोज्ज्वलः । धनुषां षट्छतान्युच्चैः[5] प्रोद्यदर्कसमद्युतिः ॥१३५॥
स पुष्कला[6] कला बिभ्रदुदितो [7]जगतां प्रियः । स्मितज्योत्स्नाभिराह्लादं शशीव समजीजनत् ॥१३६॥
तस्य कालेऽतिसंप्रीताः पुत्राशासनदर्शनैः । [8]तुभिः सह स्म जीवन्ति दिनानि कतिचित् प्रजाः ॥१३७॥
ततो लोकान्तरप्राप्तिमभजन्त यथासुखम् । स तदाह्लादनादासीच्चन्द्राभ इति विश्रुतः ॥१३८॥
मरुद्देवोऽभवत् कान्तः [9]कुलधृत्तदनन्तरम्[10] । स्वोचितान्तरमुल्लङ्घ्य प्रजानामुत्सवो दृशाम् ॥१३९॥
शतानि पञ्च [11]पञ्चाग्रां सप्तातिं च समुच्छ्रितः[12] । धनूंषि [13]नयुताङ्गायुर्विवस्वानिव भास्वरः ॥१४०॥

शरीरके धारक थे। यथायोग्य अवयवोंमें अनेक प्रकारके आभूषणरूप मंजरियोंको धारण किये हुए थे। उनका शरीर महाकान्तिमान् था और स्वयं पुण्यके फलसे शोभायमान थे इसलिए फूले-फले तथा ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे। उनके समय प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंका मुख देखने लगी—उन्हें आशीर्वाद देने लगी तथा रातके समय कौतुकके साथ चन्द्रमा दिखला-दिखलाकर उनके साथ कुछ क्रीड़ा भी करने लगी। उस समय प्रजाने उनके उपदेशसे चन्द्रमाके सम्मुख खड़ा होकर अपनी सन्तानोंको क्रीड़ा करायी थी—उन्हें खिलाया था इसलिए उनका अभिचन्द्र यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥१२९–१३३॥ फिर उतना ही अन्तर व्यतीत कर चन्द्राभ नामके ग्यारहवें मनु हुए। उनका मुख चन्द्रमाके समान था, ये समयकी गतिविधिके जाननेवाले थे। इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी। ये अनेक शोभायमान सामुद्रिक लक्षणोंसे उज्ज्वल थे। इनका शरीर छह सौ धनुष ऊँचा था तथा उदय होते हुए सूर्यके समान देदीप्यमान था। ये समस्त कलाओं-विद्याओंको धारण किये हुए ही उत्पन्न हुए थे, जनताको अतिशय प्रिय थे, तथा अपनी मन्द मुसकानसे सबको आह्लादित करते थे इसलिए उदित होते ही सोलह कलाओंको धारण करनेवाले लोकप्रिय और चन्द्रिकासे युक्त चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे। इनके समयमें प्रजाजन अपनी सन्तानोंको आशीर्वाद देकर अत्यन्त प्रसन्न तो होते ही थे, परन्तु कुछ दिनों तक उनके साथ जीवित भी रहने लगे थे, तदनन्तर सुखपूर्वक परलोकको प्राप्त होते थे। उन्होंने चन्द्रमाके समान सब जीवोंको आह्लादित किया था इसलिए उनका चन्द्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१३४–१३८॥ तदनन्तर अपने योग्य अन्तरको व्यतीत कर प्रजाके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, मनोहर शरीरके धारक मरुद्देव नामके बारहवें कुलकर उत्पन्न हुए। उनके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पचहत्तर धनुषकी थी और आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी। वे सूर्यके समान देदीप्यमान थे अथवा वह स्वयं ही एक विलक्षण सूर्य थे, क्योंकि सूर्यके समान तेजस्वी होनेपर भी लोग उन्हें सुखपूर्वक देख सकते थे जब कि चकाचौंधके कारण सूर्यको कोई देख नहीं सकता। सूर्यके समान उदय होनेपर भी वे कभी अस्त नहीं होते थे—उनका कभी पराभव नहीं होता था जब कि सूर्य

---

१ शाली स०, ल०। २ तोकः पुत्रः। ३ संवत्सरशतैः। ४ विंशतिशून्याग्र षट्प्रमितचतुरशीतिसगुणन नयुतवर्षप्रमाणम्। ५. षट्शतान्युच्चैः अ०, प०, स०, द०, ल०। ६ पुष्कला (पूर्णा.)। ७. जनताप्रियः अ०, प०, म०, स०, द०, ल०। ८. पुत्रैः। ९ कुलभृत्--द०, प०, म०। कुलकृत्--अ०, स०। १०--नन्तरः प०। ११. पञ्चाग्रसप्ततिश्च अ०। १२ समुच्छ्रितिः म०, ल०। १३. पञ्चदशशून्याधिकपञ्चमितिचतुरशीतिसवर्गा नयुताङ्गवर्षप्रमा।

स तेजस्वी सुखालोकः सोदयोऽनस्तसंगतिः । [1]भूमिष्ठोऽप्यम्बरोद्भासी भास्वानिव[2] विलक्षणः ॥१४१॥
तस्य काले प्रजा दीर्घं [3]प्रजाभिः स्वाभिरन्विताः । [4]प्राणिपुस्तन्मुखालोकतदङ्गस्पर्शनोत्सवैः ॥१४२॥
स त [5]दुच्छ्वसितं यस्मात् तदायत्तस्वजीविका । प्रजा जीवन्ति तेनाभिर्मरुदेव इतीरितः ॥१४३॥
नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् । गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोऽधिरोहणे ॥१४४॥

तस्यैव काले [काले तस्यैव] [6]कुत्शैलाः कुसमुद्राः कुनिम्नगाः ।
जाताः सासारमेघाश्च [7]किंराजान इवास्थिराः ॥१४५॥

ततः प्रसेनजिज्जज्ञे प्रभविष्णुर्मनुर्महान् । कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णायां[8] शनैः शनैः ॥१४६॥
[9]पर्वप्रमितमाम्नातं मनोरस्यायुरञ्जसा । शतानि पञ्चचापानां शतार्द्धं च तदुच्छ्रितिः ॥१४७॥
प्रजानामधिकं चक्षुस्तमोदोषैरविप्लुतः[10] । सोऽभाद्रविरिवाभ्युद्यन्[11] [12]पद्माकरपरिग्रहात् ॥१४८॥
तदाभूद्गर्भकोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता । ततस्तत्कर्षणोपायं[13] स प्रजानामुपादिशत् ॥१४९॥
तनुत्रवरणं यत्तज्जरायुपटलं नृणाम् । स प्रसेनो जयात्तस्य प्रसेनजिदसौ स्मृतः ॥१५०॥

अस्त हो जाता है और जमीनमें स्थित रहते हुए भी वे आकाशको प्रकाशित करते थे जब कि सूर्य आकाशमें स्थित रहकर ही उसे प्रकाशित करता है (पक्षमें वस्त्रोंसे शोभायमान थे)। इनके समयमें प्रजा अपनी-अपनी सन्तानोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगी थी तथा उनके मुख देखकर और शरीरको स्पर्श कर सुखी होती थी। वे मरुदेव ही वहाँके लोगोंके प्राण थे क्योंकि उनका जीवन मरुदेवके ही आधीन था अथवा यों समझिए—वे उनके द्वारा ही जीवित रहते थे इसलिए प्रजाने उन्हें मरुदेव इस सार्थक नामसे पुकारा था। इन्हीं मरुदेवने उस समय जलरूप दुर्गम स्थानोंमें गमन करनेके लिए छोटी-बड़ी नाव चलानेका उपदेश दिया था तथा पहाड़ रूप दुर्गम स्थानपर चढ़नेके लिए इन्होंने सीढ़ियाँ बनवायी थीं। इन्हींके समयमें अनेक छोटे-छोटे पहाड़, उपसमुद्र तथा छोटी-छोटी नदियाँ उत्पन्न हुई थीं तथा नीच राजाओंके समान अस्थिर रहनेवाले मेघ भी जब कभी बरसने लगे थे॥ १३९-१४५॥ इनके बाद समय व्यतीत होनेपर जब कर्मभूमिकी स्थिति धीरे-धीरे समीप आ रही थी—अर्थात् कर्मभूमिकी रचना होनेके लिए जब थोड़ा ही समय बाकी रह गया था तब बड़े प्रभावशाली प्रसेनजित् नामके तेरहवें कुलकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु एक पर्व प्रमाण थी और शरीरकी ऊँचाई पाँच-सौ पचास धनुषकी थी। वे प्रसेनजित् महाराज मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिए प्रजाके तीसरे नेत्रके समान थे, अज्ञानरूपी दोषसे रहित थे और उदय होते ही पद्मा-लक्ष्मीके करग्रहणसे अतिशय शोभायमान थे, इन सब बातोंसे वे सूर्यके समान मालूम होते थे क्योंकि सूर्य भी मार्ग दिखानेके लिए तीसरे नेत्रके समान होता है, अन्धकारसे रहित होता है और उदय होते ही कमलोंके समूहको आनन्दित करता है। इनके समयमें बालकोंकी उत्पत्ति जरायुसे लिपटी हुई होने लगी अर्थात् उत्पन्न हुए बालकोंके शरीरपर मांसकी एक पतली झिल्ली रहने लगी। इन्होंने अपनी प्रजाको उस जरायुके खींचने अथवा फाड़ने आदिका उपदेश दिया था। मनुष्योंके शरीरपर जो आवरण होता है उसे जरायुपटल अथवा प्रसेन कहते हैं। तेरहवें मनुने उसे जीतने-दूर करने आदिका उपदेश दिया था इसलिए

भूमिस्थो द०, प०, म०, ल० । २. स्वानतिवि—ब०, अ० । स्वानिति वि – द०, प०, ल० । ३. ... पुत्रैः । ४. जीवन्ति स्म । ५ तासां प्रजानामुच्छ्वासः प्राण इत्यर्थः । ६. कुत्कीलाः अ०, द०, प०, स० । कुत्कीलाः म०, ल० । ७. कुत्सितभूपाः । ८. समीपस्थायाम् । ९. पञ्चदशशून्याग्र चतुःप्रमाणचतुरशीतिसंगुणनं ... वर्षप्रमाणम् । १०. अनुपद्रुतः । ११. -म्युद्यत् स०, प०, ल० । १२. पद्मायाः लक्ष्म्याः करा हस्ताः, पक्षे पद्मानां कमलानाम् आकरः समूहः । १३. कर्षणं छेदनम् ।

प्रसा-प्रसूति संरोधादिनस्तस्या. प्रसेवकः । [1]तद्धानोपायकथनात् तज्जयाद् वा प्रसेनजित् ॥१५१॥
तदनन्तरमेवाभून्नाभि. कुलधरः सुधी. । युगादिपुरुषै. पूर्वैरूढां धुरमुद्वहन् ॥१५२॥
पूर्वकोटीमितं तस्य परमायुस्तदुच्छ्रिति[2] । शतानि पञ्च चापानां पञ्चवर्गाधिकानि वै ॥१५३॥
मुकुटोद्भासिमूर्द्धासौ कुण्डलाभ्यामलङ्कृतः । सुमेरुरिव चन्द्रार्कसंश्लिष्टाधित्यको[3] बभौ ॥१५४॥
पार्वणं शशिनं गर्वात् स्खलयत्तन्मुखाम्बुजम् । स्मितोल्लसितदन्तांशुकेसरं भृशमाबभौ ॥१५५॥
स हारभूषितं वक्षो बभाराभरणोज्ज्वल.[4] । हिमवानिव गङ्गाम्बुप्रवाहघटितं तटम् ॥१५६॥
सदङ्गुलितलौ बाहू सोऽधान्नागाविवोत्फणौ । केयूररुचिरावंसौ[5] साही निधिघटाविव ॥१५७॥
[6]सुसंहतं दधौ मध्यं स्थेयो[7] वज्रास्थिबन्धनम् । लोकस्कन्ध इवोर्ध्वाधोविस्तृतश्चारुनाभिकम् ॥१५८॥
कटीतटं कटीसूत्रघटितं स्म बिभर्ति स । रत्नद्वीपमिवाम्भोधि. पर्यन्तस्थितरत्नकम् ॥१५९॥
वज्रसारौ दधावूरू परिवृत्तौ सुसंहतौ । जगद्गृहान्तर्विन्यस्तसुस्थितस्तम्भसन्निभौ ॥१६०॥

वे प्रसेनजित् कहलाते थे । अथवा प्रसा शब्दका अर्थ प्रसूति–जन्म लेना है तथा इन शब्दका अर्थ स्वामी होता है। जरायु उत्पत्तिको रोक लेती है अतः उसीको प्रसेन–जन्मका स्वामी कहते हैं (प्रसा+इन=प्रसेन) इन्होंने उस प्रसेनके नष्ट करने अथवा जीतनेके उपाय बतलाये थे इसलिए इनका प्रसेनजित् नाम पड़ा था ॥१४६-१५१॥ इनके बाद ही नाभिराज नामके कुलकर हुए थे, ये महाबुद्धिमान् थे । इनसे पूर्ववर्ती युग-श्रेष्ठ कुलकरोंने जिस लोकव्यवस्थाके भारको धारण किया था वह भी उसे अच्छी तरह धारण किये हुए थे । उनकी आयु एक करोड़ पूर्वकी थी और शरीरकी ऊँचाई पाँच-सौ पच्चीस धनुष थी । इनका मस्तक मुकुटसे शोभायमान था और दोनों कान कुण्डलोंसे अलंकृत थे इसलिए वे नाभिराज उस मेरु पर्वतके समान शोभायमान हो रहे थे जिसका ऊपरी भाग दोनों तरफ घूमते हुए सूर्य और चन्द्रमासे शोभायमान हो रहा है । उनका मुखकमल अपने सौन्दर्यसे गर्वपूर्वक पौर्णमासीके चन्द्रमाका तिरस्कार कर रहा था तथा मन्द मुसकानसे जो दाँतोंकी किरणें निकल रही थीं वे उसमें केसर की भाँति शोभायमान हो रही थीं । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गङ्गाके जल-प्रवाहसे युक्त अपने तटको धारण करता है उसी प्रकार नाभिराज अनेक आभरणोंसे उज्ज्वल और रत्नहारसे भूषित अपने वक्षःस्थलको धारण कर रहे थे । वे उत्तम अँगुलियों और हथेलियोंसे युक्त जिन दो भुजाओंको धारण किये हुए थे वे ऊपरको फण उठाये हुए सर्पोंके समान शोभायमान हो रहे थे । तथा बाजूबन्दोंसे सुशोभित उनके दोनों कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पसहित निधियोंके दो घोड़े ही हों । वे नाभिराज जिस कटि भागको धारण किये हुए थे वह अत्यन्त सुदृढ़ और स्थिर था, उसके अस्थिबन्ध वज्रमय थे तथा उसके पास ही सुन्दर नाभि शोभायमान हो रही थी । उस कटि भागको धारण कर वे ऐसे मालूम होते थे मानो मध्यलोकको धारण कर ऊर्ध्व और अधोभागमें विस्तारको प्राप्त हुआ लोकस्कन्ध ही हो । वे करधनीसे शोभायमान कमरको धारण किये थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सब ओर फैले हुए रत्नोंसे युक्त रत्नद्वीपको धारण किये हुए समुद्र ही हो । वे वज्रके समान मजबूत, गोलाकार और एक-दूसरेसे सटी हुई जिन जंघाओंको धारण किये हुए थे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगद्रूपी

---

१. छेदनोपाय. । २ –दुच्छ्रयः अ०, द०, स०, प०, म०, ल० । ३. ऊर्ध्वभूमिरधित्यका । ४.–णोज्ज्वलम् अ०, स०, ल० । ५ रुचिरो वासौ अ०, प०, म०, स०, ल० । ६. 'दृढसन्धिस्तु संहत.' । ७. स्थिरतरम् ।

मत्वोरसिलमस्योद्र्ध्वकायं वेधा महामरम्। उपाजेकर्तुं मध्यूरू स्थिरे जङ्घे न्यधाद् ध्रुवम् ॥१६१॥
चन्द्रार्कसरिदम्भोधिमत्स्यकूर्मादिलक्षणम्। दधेऽधिचरणं भक्तुं चराचरमिवाश्रितम् ॥१६२॥
इति स्वभावमाधुर्यसौन्दर्यघटितं वपुः। मन्ये तादृक् सुरेन्द्राणामपि जायेत दुष्करम् ॥१६३॥
तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत। स तन्निकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत् ॥१६४॥
तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विषः। प्रादुरासन्नभोमार्गे सान्द्राः सेन्द्रशरासनाः ॥१६५॥
नभो नीरन्ध्रमारुन्धन्जजृम्भेऽम्भोमुचां चयः। कालादुद्भूतसामर्थ्यैरारब्धः सूक्ष्मपुद्गलैः ॥१६६॥
विद्युद्वन्तो महाध्वाना वर्षन्तो रेजिरे घनाः। [3]सहेमकक्ष्या मदिनो नागा इव सबृंहिताः[4] ॥१६७॥
घनाघनघनध्वानैः प्रहता गिरिभित्तयः। प्रत्याक्रोशमिवातेनुः प्ररुष्टाः प्रतिशब्दकैः ॥१६८॥
[5]ववावचा[6]ततान् कुर्वन् कलापौघान् कलापिनाम्। घनाघनाद्धिमुक्ताम्भःकणवाही समीरणः ॥१६९॥
चातका मधुरं [7]रेणुरभिनन्द्य घनागमम्। अकस्मात्ताण्डवारम्भमातेने शिखिनां कुलम् ॥१७०॥
अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनम्भोमुचां चयाः। मुक्तधारं प्रवर्षन्तः प्रक्षरद्धातु[8]निर्झरान् ॥१७१॥

घरके भीतर लगे हुए दो मजबूत खम्भे हों। उनके शरीरका ऊर्ध्व भाग वक्षःस्थलरूपी शिलासे युक्त होनेके कारण अत्यन्त वजनदार था मानो यह समझकर ही ब्रह्माने उसे निश्चलरूपसे धारण करनेके लिए उनकी ऊरुओं (घुटनोंसे ऊपरका भाग) सहित जंघाओं (पिंडरियों) को बहुत ही मजबूत बनाया था। वे जिस चरणतलको धारण किये हुए थे वह चन्द्र, सूर्य, नदी, समुद्र, मच्छ, कच्छप आदि अनेक शुभलक्षणोंसे सहित था जिससे वह ऐसा मालूम होता था मानो यह चर-अचर रूप सभी संसार सेवा करनेके लिए उसके आश्रयमें आ पड़ा हो। इस प्रकार स्वाभाविक मधुरता और सुन्दरतासे घना हुआ नाभिराजका जैसा शरीर था, मैं मानता हूँ कि वैसा शरीर देवोंके अधिपति इन्द्रको भी मिलना कठिन है ॥१५२–१६३॥ इनके समयमें उत्पन्न होते वक्त बालककी नाभिमें नाल दिखायी देने लगा था और नाभिराजने उसके काटनेकी आज्ञा दी थी इसलिए इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम पड़ गया था ॥१६४॥ उन्हींके समय आकाशमें कुछ सफेदी लिये हुए काले रंगके सघन मेघ प्रकट हुए थे। वे मेघ इन्द्रधनुषसे सहित थे ॥१६५॥ उस समय कालके प्रभावसे पुद्गल परमाणुओंमें मेघ बनानेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो गयी थी, इसलिए सूक्ष्म पुद्गलों-द्वारा बने हुए मेघोंके समूह छिद्ररहित लगातार समस्त आकाशको घेर कर जहाँ-तहाँ फैल गये थे ॥१६६॥ वे मेघ बिजलीसे युक्त थे, गम्भीर गर्जना कर रहे थे और पानी बरसा रहे थे जिससे ऐसे शोभायमान होते थे मानो सुवर्णकी मालाओंसे सहित, मद बरसानेवाले और गरजते हुए हस्ती ही हों ॥१६७॥ उस समय मेघोंकी गम्भीर गर्जनासे टकरायी हुई पहाड़ोंकी दीवालोंसे जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा मालूम होता था मानो वे पर्वतकी दीवालें कुपित होकर प्रतिध्वनिके बहाने आक्रोश वचन (गालियाँ) ही कह रही हों ॥१६८॥ उस समय मेघमाला-द्वारा बरसाये हुए जलकणोंको धारण करनेवाला-ठण्डा वायु मयूरोंके पंखोंको फैलाता हुआ बह रहा था ॥१६९॥ आकाशमें बादलोंका आगमन देखकर हर्षित हुए चातक पक्षी मनोहर शब्द बोलने लगे और मोरोंके समूह अकस्मात् ताण्डव नृत्य करने लगे ॥१७०॥ उस समय धाराप्रवाह बरसते हुए मेघोंके समूह ऐसे मालूम होते थे मानो जिनसे धातुओंके

---

१. उरस्वन्तम्। 'स्वादुरस्वानुरसि लः' इत्यभिधानात्। २ आहितबलीकर्तुम्। ३ सवरत्रा। "दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्" इत्यमरः। ४. सगर्जिताः। सजृम्भिता ब०। ५. वाति स्म। ६ आ समन्तात् ततान् आततान् कुर्वन्। ७. 'रण शब्दे'। ८ धातुः गैरक।

क्वचिद् गिरिसरित्पूराः प्रावर्तन्त महारया.[1] । धातुरागारुणा मुक्ता[2] रक्तमोक्षा इवाद्रिषु ॥१७२॥
ध्वनन्तो ववृषुर्मुक्तस्थूलधारं[3] पयोधराः । रुदन्त इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये ॥१७३॥
[4]मार्दङ्गिककरास्फालादिव वातनिघट्टनात् । [5]पुष्करेष्विव गम्भीरं ध्वनत्सु [6]जलवाहिषु ॥१७४॥
विद्युन्नटी नभोरङ्गे विचित्राकारधारिणी । प्रतिक्षणविवृत्ताङ्गी नृत्तारम्भमिवातनोत् ॥१७५॥
पयः पयोधरासक्तैः पिबद्भिरवितृप्तिभिः । कृच्छ्रा[7] लब्धमतिप्रीतैश्चातकैरर्भकायितम् ॥१७६॥
तटित्कलत्रसंसक्तैः कालापेक्षैर्महाजलैः[8] । कृषिप्रवृत्तकैर्मेघैर्व्यक्तं [9]पामरकायितम् ॥१७७॥
अबुद्धिपूर्वमुत्सृज्य वृष्टिं सद्यः पयोमुचः । [10]नैकधा विक्रियां भेजुर्वैचित्र्यात् पुद्गलात्मनः ॥१७८॥
तदा जलधरोन्मुक्तामुक्ताफलरुचोऽप्सटाः[11] । मही [12]निर्वापयामासुर्दिनाकरकरोष्मतः ॥१७९॥
ततोऽब्दमुक्तवारिक्ष्मारवानिलातपगोचरान् । [13]क्लेदाधारावगाहान्त[14]र्नीहारोष्मस्वलक्षणान् ॥१८०॥

निर्झर निकल रहे हैं ऐसे पर्वतोंका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुए हो ॥१७१॥ पहाड़ोंपर कहीं-कहीं गेरूके रंगसे लाल हुए नदियोंके जो पूर बड़े वेगसे बह रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो मेघोंके प्रहारसे निकले हुए पहाड़ोंके रक्तके प्रवाह ही हों ॥१७२॥ वे बादल गरजते हुए मोटी धारसे बरस रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कल्पवृक्षोंका क्षय हो जानेसे शोकसे पीड़ित हो रुदन ही कर रहे हों–रो-रोकर आँसू बहा रहे हों ॥१७३॥ वायुके आघात-से उन मेघोंसे ऐसा गम्भीर शब्द होता था मानो बजानेवालेके हाथकी चोटसे मृदङ्गका ही शब्द हो रहा हो। उसी समय आकाशमें बिजली चमक रही थी, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी रङ्गभूमिमें अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण-क्षणमें यहाँ-वहाँ अपना शरीर घुमाती हुई कोई नटी नृत्य कर रही हो ॥१७४-१७५॥ उस समय चातक पक्षी ठीक बालकोंके समान आचरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार बालक पयोधर—माताके स्तनमें आसक्त होते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी पयोधर-मेघोंमें आसक्त थे, बालक जिस तरह कठिनाईसे प्राप्त हुए पय–दूधको पीते हुए तृप्त नहीं होते उसी तरह चातक पक्षी भी कठिनाईसे प्राप्त हुए पय–जलको पीते हुए तृप्त नहीं होते थे, और बालक जिस प्रकार मातासे प्रेम रखते हैं उसी प्रकार चातक पक्षी भी मेघोंसे प्रेम रखते थे ॥१७६॥ अथवा वे बादल पामर मनुष्यों-के समूहके समान आचरण करते थे क्योंकि जिस प्रकार पामर मनुष्य स्त्रीमें आसक्त हुआ करते हैं उसी प्रकार वे भी बिजलीरूपी स्त्रीमें आसक्त थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार खेतीके योग्य वर्षाकालकी अपेक्षा रखते हैं उसी प्रकार वे भी वर्षाकालकी अपेक्षा रखते थे, पामर मनुष्य जिस प्रकार महाजड़ अर्थात् महामूर्ख होते हैं उसी प्रकार वे भी महाजल अर्थात् भारी जलसे भरे हुए थे (संस्कृत-साहित्यमें श्लेष आदिके समय ड और ल में अभेद होता है) और पामर मनुष्य जिस प्रकार खेती करनेमें तत्पर रहते हैं उसी प्रकार मेघ भी खेती करानेमें तत्पर थे ॥१७७॥ यद्यपि वे बादल बुद्धिरहित थे तथापि पुद्गल परमाणुओंकी विचित्र परिणति होनेके कारण शीघ्र ही बरसकर अनेक प्रकारकी विकृतिको प्राप्त हो जाते थे ॥१७८॥ उस समय मेघोंसे जो पानीकी बूँदें गिर रही थीं वे मोतियोंके समान सुन्दर थीं तथा उन्होंने सूर्यकी किरणोंके तापसे तपी हुई पृथ्वीको शान्त कर दिया था ॥१७९॥ इसके अनन्तर मेघोंसे पड़े हुए जलकी आर्द्रता,

---

१. वेगा । २ रक्तमोचनाः । ३. –स्थूलधारा. म०, ल० । ४. मृदङ्गवादकः । ५. वाद्यवक्त्रेषु । ६ मेघेषु। ७. लब्धमिव प्री-म०, स०, ल० । ८ महातोयै. महाजडैश्च । ९ पामर इव आचरितम् । १०. अनेकधा । ११.–रुचोऽच्छटा अ०, प०, द० । –रुचश्छटा स० । –रुचो घटा म० । –रुचो छटा ल० । १२. शैत्यं नयन्ति स्म इत्यर्थः । १३. आर्द्रता । १४. अन्तर्हितशोषणत्वम् ।

गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणाम्[1] । संरूढान्यङ्कुरावस्थाप्रभृत्याकणिशाहितः ॥१८१॥
शनैश्शनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा । सस्यान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वतः ॥१८२॥
प्रजानां पूर्वसुकृतात् कालादपि च तादृशात् । सुपक्वानि यथाकालं फलदायीनि रेजिरे[2] ॥१८३॥
तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तत्पदम् । कल्पवृक्षोचितं[3] स्थानं तान्यध्यासिषत स्फुटम् ॥१८४॥
नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत् किंतु मध्यमा । वृष्टिस्त[4]तः सर्वधान्यानां फलावाप्तिरविप्लुता[5] ॥१८५॥
षाष्टिकाः कलमव्रीहियवगोधूमकङ्गव[6] । [7]श्यामाककोद्र[8]वो[9]दार[10]नीवारवरका[11]स्तथा ॥१८६॥
तिलातस्यौ मसूराश्च[12] सर्षपो[13] धान्यजीरकौ[14] ।
[15]मुद्गमाषा[16]ढकी[17]राज[18]माष[19]निष्पावकाश्चणाः[20] ॥१८७॥
[21]कुलित्थत्रिपुटौ[22] चेति धान्यभेदास्त्विमे मताः । सकुसुम्भाः सकर्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥१८८॥
उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः । तदुपायमजानानाः[23] स्वतोऽमुह्यन्मुहु[24]र्मुहुः ॥१८९॥
कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः । युगस्य परिवर्तेऽस्मिन्नभूवन्नाकुलाः कुलाः ॥१९०॥
तीव्रायां[25] अशनायायां[26] मुदीर्णाहारसञ्ज्ञकाः[27] । जीवनोपायसंशीति[28] व्याकुलीकृतचेतसः ॥१९१॥

पृथ्वीका आधार, आकाशका अवगाहन, वायुका अन्तर्नीहार अर्थात् शीतल परमाणुओंका संचय करना और धूपकी उष्णता इन सब गुणोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपी सामग्रीको पाकर खेतोंमें अनेक अंकुर पैदा हुए, वे अंकुर पास-पास जमे हुए थे तथापि अंकुर अवस्थासे लेकर फल लगने तक निरन्तर धीरे-धीरे बढ़ते जाते थे। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके धान्य बिना बोये ही सब ओर पैदा हुए थे। वे सब धान्य प्रजाके पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे अथवा उस समयके प्रभावसे ही समय पाकर पक गये तथा फल देनेके योग्य हो गये ॥१८०-१८३॥ जिस प्रकार पिताके मरनेपर पुत्र उनके स्थानपर आरूढ़ होता है उसी प्रकार कल्पवृक्षोंका अभाव होनेपर वे धान्य उनके स्थानपर आरूढ़ हुए थे ॥१८४॥ उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किन्तु मध्यम दरजेकी होती थी इसलिए सब धान्य बिना किसी विघ्न-बाधाके फलसहित हो गये थे ॥१८५॥ साठी, चावल, कलम, व्रीहि, जौ, गेहूँ, कांगनी, सामा, कोदो, नीवार (तिन्नी), बटाने, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनियाँ, जीरा, मूँग, उड़द, अरहर, रोंसा, मोठ, चना, कुलथी और तेवर आदि अनेक प्रकारके धान्य तथा कुसुम्भ (जिसकी कुसुमानी-लाल रंग बनता है) और कपास आदि प्रजाकी आजीविकाके हेतु उत्पन्न हुए थे ॥१८६-१८८॥ इस प्रकार भोगोपभोगके योग्य इन धान्योंके मौजूद रहते हुए भी उनके उपयोगको नहीं जाननेवाली प्रजा बार बार मोहको प्राप्त होती थी-वह उन्हें देखकर बार-बार भ्रममें पड़ जाती थी ॥१८९॥ इस युग-परिवर्तनके समय कल्पवृक्ष बिलकुल ही नष्ट हो गये थे इसलिए प्रजाजन निराश्रय होकर अत्यन्त व्याकुल होने लगे ॥१९०॥ उस समय आहार संज्ञाके उदयसे उन्हें तीव्र भूख लग

१. –लक्षणीम् अ०, प० । २. जज्ञिरे अ०, द०, प०, स०, म० । ३. –चितस्थानं म०, ल० । ४ तत्कारणात् । ५ अबाधिना । ६. पीततण्डुलाः । ७. 'श्यामाकस्तु समथाक. स्यात्' । ८ कोरदूष । ९–द्रवोद्दाल–द० । १० उद्दारनीवार तृणधान्यम् । ११. [मटर इति हिन्दोभाषायाम्] १२ तुन्दुभ । १३. धान्यकम् । १४. जीरणः । १५. मुद्ग. पीतमुद्गो वा "खण्डीरः पीतमुद्गः स्यात् कृष्णमुद्गस्तु शिम्बिका" इत्यभिधानात् । १६ वृष्यः । १७. तुवरिका । १८. अलसान्द्र ['रोसा' इति हिन्दी] । १९. निष्पाव. ['मोठ' इति हिन्दी] 'समी तु वल्क-निष्पावौ' । २०. हरिमन्थकाः । २१. कुलत्थिका "कुलत्थिका पिलकुलः" । [illegible]] । २२ [illegible] । २४ मन्यन्ति स्म ।

युगमुख्यमुपासीना[1] नाभिं मनुमपश्चिमम्[2] । ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥१९२॥
जीवाम कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः । [3]कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यकाः ॥१९३॥
इमे केचिदितो देव तरुभेदाः समुत्थिताः । शाखाभिः फलनम्राभिराह्वयन्तीव नोऽधुना ॥१९४॥
किमिमे परिहर्तव्या किंवा भोग्यफला इमे । [4]फलेग्रहीनिमेऽस्मान् वा निगृह्णन्त्यनुपान्ति[5] वा ॥१९५॥
अमीषामुपशल्येषु[6] केऽप्यमी तृणगुल्मकाः । फलनम्रशिखा भान्ति [7]विश्वदिक्कमितोऽमुतः ॥१९६॥
क एषामुपयोगः स्याद् विनियोज्याः[8] कथं नु वा । किमिमे स्वैरसंग्राह्या न वेतीदं वदाद्य नः ॥१९७॥
त्वं देव सर्वमप्येतद् वेत्सि नाभेऽनभिज्ञकाः । पृच्छामो वयमद्यार्त्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद नः ॥१९८॥
[9]इतिकर्तव्यतामूढा[10]नतिभीतांस्तदार्यकान् । नाभिर्न[11] भेयमित्युक्त्वा व्याजहार पुनः स तान् ॥१९९॥
इमे [12]कल्पतरूच्छेदे द्रुमाः पक्वफलानताः । युष्मानद्यानुगृह्णन्ति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥२००॥
भद्रकास्तदिमे भोग्या कार्या न भ्रान्तिरत्र वः । अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥२०१॥
इमाश्च[13] नामौषधयः [14]स्तम्बकर्यादयो मताः । एतासां भोज्यमन्नाद्य व्यञ्जनाद्यः सुसंस्कृतम् ॥२०२॥

रही थी परन्तु उनके शान्त करनेका कुछ उपाय नहीं जानते थे इसलिए जीवित रहनेके संदेह-से उनके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठे। अन्तमें वे सब लोग उस युगके मुख्य नायक अन्तिम कुलकर श्री नाभिराजके पास जाकर बड़ी दीनतासे इस प्रकार प्रार्थना करने लगे ॥१९१-१९२॥ हे नाथ, मनवांछित फल देनेवाले तथा कल्पान्त काल तक नहीं भुलाये जानेके योग्य कल्पवृक्षोंके विना अब हम पुण्यहीन अनाथ लोग किस प्रकार जीवित रहें ? ॥१९३॥ हे देव, इस ओर ये अनेक वृक्ष उत्पन्न हुए हैं जो कि फलोंके बोझसे झुकी हुई अपनी शाखाओं-द्वारा इस समय मानो हम लोगोंको बुला ही रहे हों ॥१९४॥ क्या ये वृक्ष छोड़ने योग्य हैं ? अथवा इनके फल सेवन करने योग्य हैं ? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे ? ॥१९५॥ तथा इन वृक्षोंके समीप ही सब दिशाओंमें ये कोई छोटी-छोटी झाड़ियाँ जम रही हैं, उनकी शिखाएँ फलोंके भारसे झुक रही हैं जिससे ये अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं ॥१९६॥ इनका क्या उपयोग है ? इन्हें किस प्रकार उपयोगमें लाना चाहिए ? और इच्छानुसार इसका संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं ? हे स्वामिन्, आज यह सब बातें हमसे कहिए ॥१९७॥ हे देव नाभिराज, आप यह सब जानते हैं और हम लोग अनभिज्ञ हैं—मूर्ख हैं अतएव दुखी होकर आपसे पूछ रहे हैं इसलिए हम लोगोंपर प्रसन्न होइए और कहिए ॥१९८॥ इस प्रकार जो आर्य पुरुष हमें क्या करना चाहिए इस विषयमें मूढ थे तथा अत्यन्त घबड़ाये हुए थे 'उनसे डरो मत' ऐसा कहकर महाराज नाभिराज नीचे लिखे वाक्य कहने लगे ॥१९९॥ चूँकि अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं इसलिए पके हुए फलोंके भारसे नम्र हुए ये साधारण वृक्ष ही अब तुम्हारा वैसा उपकार करेंगे जैसा कि पहले कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥ हे भद्रपुरुषो, ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इस विषयमें तुम्हें कोई संशय नहीं करना चाहिए। परन्तु (हाथका इशारा कर) इन विषवृक्षोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए ॥२०१॥ ये स्तम्बकारी आदि कोई ओषधियाँ हैं, इनके मसाले आदिके

---

१. उपासीनाः [समीपे उपविष्टाः] । २. मुख्यम् । ३. अभीष्टदैः । ४. फलानि गृह्णतः । ५. रक्षन्ति । ६. समीपभूमिषु । ७. सर्वदिक्षु । ८. विनियोग्याः प० । ९. कर्तव्य कार्यम् । १०. -नतिभ्रान्तास्तदा स०, ल०, द० । ११. न भेतव्यम् । १२. कल्पवृक्षहानौ । १३. काश्चनौषध्यः अ०, प०, म०, द०, ल० । ओषध्यः फलपाकान्ताः । १४. व्रीह्यादय ।

स्वभावमधुराश्चैते दीर्घाः पुण्ड्रेक्षुदण्डकाः। रसीकृत्य प्रपातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः ॥२०३॥
गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि च। पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥२०४॥
इत्याद्युपायकथनैः प्रीताः सत्कृत्य तं मनुम्। भेजुस्तद्दर्शितां वृत्तिं प्रजाः कालोचितां तदा ॥२०५॥
प्रजानां हितकृद् भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ। [1]नाभिराजस्तदोद्भूतो भेजे कल्पतरुस्थितम् ॥२०६॥
पूर्वं व्यावर्णिता [2]ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात्। पुरा भवे बभूवुस्ते विदेहेषु महान्वयाः ॥२०७॥
[3]कुशलैः पात्रदानाद्यैरनुष्ठानैर्यथोचितैः। सम्यक्त्वग्रहणात् पूर्वं बद्धायुर्भोगभूभुवाम् ॥२०८॥
पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्वमुपादाय जिनान्तिके। अत्रोदपत्सत[4] स्वायुरन्ते ते श्रुतपूर्विणः[5] ॥२०९॥
[6]इमं नियोगमाध्याय[7] प्रजानामित्युपादिशन्। केचिज्जातिस्मरास्तेषु केचिच्चावधिलोचनाः ॥२१०॥
प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः। आर्याणां [8]कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥२११॥
[9]कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति। युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ[10] प्रभविष्णवः ॥२१२॥
वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव संमतः। भरतश्चक्रभृच्चैव [11]कुरुधृच्चैव वर्णितः ॥२१३॥

साथ पकाये गये अन्न आदि खाने योग्य पदार्थ अत्यन्त स्वादिष्ट हो जाते हैं ॥२०२॥ और ये स्वभावसे ही मीठे तथा लम्बे-लम्बे पौंड़े और ईखके पेड़ लगे हुए हैं। इन्हें दाँतोंसे अथवा यन्त्रोंसे पेलकर इनका रस निकालकर पीना चाहिए ॥२०३॥ उन दयालु महाराज नाभिराजने थाली आदि अनेक प्रकारके बरतन हाथीके गण्डस्थलपर मिट्टी-द्वारा बनाकर उन आर्य पुरुषोंको दिये तथा इसी प्रकार बनानेका उपदेश दिया ॥२०४॥ इस प्रकार महाराज नाभिराज-द्वारा बताये हुए उपायोंसे प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई। उसने नाभिराज मनुका बहुत ही सत्कार किया तथा उन्होंने उस कालके योग्य जिस वृत्तिका उपदेश दिया था वह उसीके अनुसार अपना कार्य चलाने लगी ॥२०५॥ उस समय यहाँ भोगभूमिकी व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी, प्रजाका हित करनेवाले केवल नाभिराज ही उत्पन्न हुए थे इसलिए वे ही कल्पवृक्षकी स्थितिको प्राप्त हुए थे अर्थात् कल्पवृक्षके समान प्रजाका हित करते थे ॥२०६॥ ऊपर प्रतिश्रुतिको आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त जिन चौदह मनुओंका क्रम-क्रमसे वर्णन किया है वे सब अपने पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रोंमें उच्च कुलीन महापुरुष थे ॥२०७॥ उन्होंने उस भवमें पुण्य बढानेवाले पात्रदान तथा यथायोग्य व्रताचरणरूपी अनुष्ठानोंके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले ही भोगभूमिकी आयु बाँध ली थी, बादमें श्री जिनेन्द्रके समीप रहनेसे उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा श्रुतज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और जिसके फलस्वरूप आयुके अन्तमें मरकर वे इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए थे ॥२०८-२०९॥ इन चौदहमें-से कितने ही कुलकरोंको जातिस्मरण था और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे इसलिए उन्होंने विचार कर प्रजाके लिए ऊपर कहे गये नियोगों-कार्योंका उपदेश दिया था ॥२१०॥ ये प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु तथा आर्य पुरुषोंको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहलाते थे। इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे इसलिए कुलधर कहलाते थे तथा युगके आदिमें होनेसे ये युगादिपुरुष भी कहे जाते थे ॥२११-२१२॥ भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी माने गये थे। इसी प्रकार भरत महाराज चक्रवर्ती भी थे और कुलधर

---

१. नाभिराजस्ततो भेजे श्रुतकल्प–प०, म०, द०। २. ये ते अ०, प०, म०, स०, ल०। ये वै द०। ३ पुण्यकारणैः। –४ परस्यत म०, ल०। ५. पूर्वभवे श्रुतधारिणः। ६ इमान्नियोगानाध्याय अ०, द०, प०, म०, ल०। ७. ध्यात्वा। ८. गृहविन्यासकरणात्। 'संघाते सन्निवेशे च सस्त्याय.' इत्यभिधानात्। ९. अन्वयानाम्। 'कुलमन्वयसंघातगृहोत्पत्याश्रमेषु च' इत्यभिधानात्। १०. युगादिप्र–म०। ११. कुलभृच्चैव द०, म०, ल०।

तत्राद्यैः पञ्चभिर्नृणां कुलकृद्भिः[1] कृतागसाम् । हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा ॥२१४॥

हामाकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः । पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हामाधिक्कारलक्षणः ॥२१५॥

[2]शरीरदण्डनं चैव वधबन्धादिलक्षणम् । नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥२१६॥

यदायुरुक्तमेतेषाममामादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनम् ॥२१७॥

पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्वर्गितं भवेत् पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोट्यसौ ॥२१८॥

पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पूर्वाङ्गं परिभाष्यते । [3]पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं पर्वमिष्यते ॥२१९॥

गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम् । उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम् ॥२२०॥

तेषां संख्यानभेदानां नामानीमान्यनुक्रमात् । कीर्त्यन्तेऽनादि[4]सिद्धान्तपदरूढानि[5] यानि वै ॥२२१॥

पूर्वाङ्गं च तथा पूर्वं पर्वाङ्गं पर्वसाह्वयम् । नयुताङ्गं परं तस्मान्नयुतं च ततः परम् ॥२२२॥

कुमुदाङ्गमतो विद्धि कुमुदाह्वमतः परम् । पद्माङ्गं च ततः पद्मं नलिनाङ्गमतोऽपि च ॥२२३॥

भी कहलाते थे ॥२१३॥ उन कुलकरोंमें-से आदिके पाँच कुलकरोंने अपराधी मनुष्योंके लिए 'हा' इस दण्डकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया। उनके आगेके पाँच कुलकरोंने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है जो तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना। शेष कुलकरोंने 'हा' 'मा' और 'धिक' इन तीन प्रकारके दण्डोंकी व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है, अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिक्कार है जो रोकनेपर भी अपराध करते हो ॥२१४-२१५॥ भरत चक्रवर्तीके समय लोग अधिक दोष या अपराध करने लगे थे इसलिए उन्होंने वध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड देनेकी भी रीति चलायी थी ॥२१६॥ इन मनुओंकी आयु ऊपर अमम आदिकी संख्या-द्वारा बतलायी गयी है इसलिए अब उनका निश्चय करनेके लिए उनकी परिभाषाओंका निरूपण करते हैं ॥२१७॥ चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वाङ्ग होता है। चौरासी लाखका वर्ग करने अर्थात् परस्पर गुणा करनेसे जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते हैं (८४००००० × ८४००००० = ७०५६००००००००००) इस संख्यामें एक करोड़का गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतना एक पूर्व कोटि कहलाता है। पूर्वकी संख्यामें चौरासीका गुणा करनेपर जो लब्ध हो उसे पर्वाङ्ग कहते हैं तथा पर्वाङ्गमें पूर्वाङ्ग अर्थात् चौरासी लाखका गुणा करनेसे पर्व कहलाता है ॥२१८-२१९॥ इसके आगे जो नयुताङ्ग नयुत आदि संख्याएँ कही हैं उनके लिए भी क्रमसे यही गुणाकार करना चाहिए। भावार्थ—पर्वको चौरासीसे गुणा करनेपर नयुताङ्ग, नयुताङ्गको चौरासी-लाखसे गुणा करनेपर नयुत; नयुतको चौरासीसे गुणा करनेपर कुमुदाङ्ग, कुमुदाङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर कुमुद; कुमुदको चौरासीसे गुणा करनेपर पद्माङ्ग, और पद्माङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर पद्म; पद्मको चौरासीसे गुणा करनेपर नलिनाङ्ग, और नलिनाङ्गको चौरासी लाखसे गुणा करनेपर नलिन होता है। इसी प्रकार गुणा करनेपर आगेकी संख्याओंका प्रमाण निकलता है ॥२२०॥ अब क्रमसे उन संख्याके भेदोंके नाम कहे जाते हैं जो कि अनादिनिधन जैनागममें रूढ़ हैं ॥२२१॥ पूर्वाङ्ग, पूर्व, पर्वाङ्ग, पर्व, नयुताङ्ग, नयुत, कुमुदाङ्ग, कुमुद, पद्माङ्ग, पद्म, नलिनाङ्ग, नलिन, कमलाङ्ग, कमल, तुट्यङ्ग, तुटिक, अटटाङ्ग,

---

१. कुलभृद्भिः म०, ल० । २. शारीरं दण्डनं अ०, प०, द०, म०, ल० । ३. पर्वाङ्ग-अ०, प० । ४. सिद्धान्ते पद-द०, ल० । ५.-रूढानि म०, प० ।

नलिनं कमलाङ्गं च तथान्यत् कमलं विदुः । तुट्यङ्गं तुटिकं चान्यदटटाङ्गमथाटटम् ॥२२४॥
अममाङ्गमतो ज्ञेयममाख्यमतः परम् । हाहाङ्गं च तथा हाहा हूहूश्चैव प्रतीयताम्[1] ॥२२५॥
लताङ्गं च लताह्वं च [2]महत्पूर्वं च तद्द्वयम् । शिरःप्रकम्पितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितम् ॥२२६॥
अचलात्मकमित्येवं प्रकारः कालपर्ययः । संख्येयो गणनातीतं विदुः कालमतः परम् ॥२२७॥
यथासंभवमेतेषु मनूनामायुरूह्यताम् । संख्याज्ञानमिदं विद्वान्[3] सुधी पौराणिको भवेत् ॥२२८॥
आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः द्वितीयः सन्मतिर्मतः । तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः ॥२२९॥
सीमकृत् पञ्चमो ज्ञेयः षष्ठः सीमधृदिष्यते । ततो विमलवाहाङ्कश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥२३०॥
यशस्वान्नवमस्तस्मान्नभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः । चन्द्राभोऽस्मात् परं ज्ञेयो मरुद्देवस्ततः परम् ॥२३१॥
प्रसेनजित् परं[4] तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः । वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू ॥२३२॥

उपजातिः

प्रतिश्रुतिः [5]प्रत्यशृणोत् प्रजानां चन्द्रार्कसंदर्शनभीतिभाजाम् ।
स सन्मतिस्तारकिताभ्रमार्गसंदर्शने भीतिमपाचकार[6] ॥२३३॥

इन्द्रवज्रा

क्षेमंकरः क्षेमकृदार्यवर्गे क्षेमंधरः क्षेमधृतेः[7] प्रजानाम् ।
सीमंकरः सीमकृदार्यनॄणां सीमंधरः सीमधृतेस्तरूणाम् ॥२३४॥

उपजातिः

वाहोपदेशाद्विमलादिवाहः पुत्राननालोकनसंप्रदायात् ।
चक्षुष्मदाख्या मनुरग्रगोऽभूद्यशस्वदाख्यस्तदभिष्टवेन[8] ॥२३५॥

अटट, अममाङ्ग, अमम, हाहाङ्ग, हाहा, हूहूङ्ग, हूहू, लताङ्ग, लता, महालताङ्ग, महालता, शिरःप्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्याके नाम हैं जो कि कालद्रव्यकी पर्याय हैं। यह सब संख्येय हैं–संख्यातके भेद हैं इसके आगेका संख्यासे रहित है–असंख्यात है॥२२२-२२७॥ ऊपर मनुओं-कुलकरोंकी जो आयु कही है उसे इन भेदोंमे ही यथासंभव समझ लेना चाहिए। जो बुद्धिमान् पुरुष इस संख्या ज्ञानको जानता है वही पौराणिक–पुराणका जानकार विद्वान् हो सकता है ॥२२८॥ ऊपर जिन कुलकरोंका वर्णन कर चुके हैं यथाक्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं—पहले प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर, पाँचवें सीमंकर, छठें सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान्, नौवें यशस्वान्, दसवें अभिचन्द्र, ग्यारहवें चन्द्राभ, बारहवें मरुदेव, तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज। इनके सिवाय भगवान् वृषभदेव तीर्थंकर भी थे और मनु भी तथा भरत चक्रवर्ती भी थे और मनु भी ॥ २२९-२३२ ॥ अब संक्षेपमें उन कुलकरोंके कार्यका वर्णन करता हूँ—प्रतिश्रुतिने सूर्य चन्द्रमाके देखनेसे भयभीत हुए मनुष्योंके भयको दूर किया था, तारोंसे भरे हुए आकाशके देखनेसे लोगोंको जो भय हुआ था उसे सन्मतिने दूर किया था, क्षेमंकरने प्रजामें क्षेम-कल्याणका प्रचार किया था, क्षेमंधरने कल्याण धारण किया था, सीमंकरने आर्य पुरुषोंकी सीमा नियत की थी, सीमन्धरने कल्पवृक्षोंकी सीमा निश्चित की थी, विमलवाहनने हाथी

---

१. निश्चीयताम् । हूहूङ्गहूहू चेत्येवं निश्चीयताम् । २. तद्द्वयम् —महालताङ्ग महालताह्वम् इति द्वयम् । ३. जानान. । ४. परस्तस्मा–प०, म०, ल० । ५. प्रजाना वचनमिति सम्बन्धः । ६ अपसारयति स्म । ७. क्षेमधारणात् । ८. तदभिस्तवनेन ।

सोऽक्रीडयच्चन्द्रमसाभिचन्द्रश्चन्द्राभकस्तैः कियदप्यजीवीत्[1]।
[2]मरुत्सुरोऽभूच्चिरजीवनाप्तैः प्रसेनजिद्गर्भमलापहारात् ॥२३६॥
नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन [3]प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत्।
सोऽजीजनत् तं वृषभं महात्मा सोऽप्यग्रसूनुं [4]मनुमादिराजम् ॥२३७॥

वसन्ततिलका

इत्थं [5]युगादिपुरुषोद्भवमादरेण तस्मिन्निरूपयति गौतमसद्गणेन्द्रे।
सा साधुसंसदखिला सह मागधेन राज्ञा प्रमोदमचिरात् परमाजगाम ॥२३८॥

मालिनी

सकलमनुनियोगात् कालभेदं च षोढा परिषदि [6]जिनसेनाचार्यमुख्यो निरूप्य।
पुनरथ पुरुनाम्नः पुण्यमाद्यं पुराणं कथयितुमुदियाय[7] श्रेणिकाकर्णयेति ॥२३९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे,
पीठिकावर्णनं नाम तृतीयं पर्व ॥३॥

आदिपर सवारी करनेका उपदेश दिया था सबसे अग्रसर रहनेवाले चक्षुष्मान्‌ने पुत्रके मुख देखनेकी परम्परा चलायी थी, यशस्वान्‌का सब कोई यशोगान करते थे, अभिचन्द्रने बालकोंकी चन्द्रमाके साथ क्रीड़ा करानेका उपदेश दिया था, चन्द्राभके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ कुछ दिनों तक जीवित रहने लगे थे, मरुद्देवके समय माता-पिता अपने पुत्रोंके साथ बहुत दिनों तक जीवित रहने लगे थे, प्रसेनजित्‌ने गर्भके ऊपर रहनेवाले जरायु-रूपी मलके हटानेका उपदेश दिया था और नाभिराजने नाभि-नाल काटनेका उपदेश देकर प्रजाको आश्वासन दिया था। उन नाभिराजने वृषभदेवको उत्पन्न किया था ॥२३३-२३७॥ इस प्रकार जब गौतम गणधरने बड़े आदरके साथ युगके आदिपुरुषों—कुलकरोंकी उत्पत्तिका कथन किया तब वह मुनियोंकी समस्त सभा राजा श्रेणिकके साथ परम आनन्दको प्राप्त हुई ॥२३८॥ उस समय महावीर स्वामीकी शिष्यपरम्पराके सर्वश्रेष्ठ आचार्य गौतम स्वामी कालके छह भेदोंका तथा कुलकरोंके कार्योंका वर्णन कर भगवान् आदिनाथका पवित्र पुराण कहनेके लिए तत्पर हुए और मगधेश्वरसे बोले कि हे श्रेणिक, सुनो ॥२३९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण संग्रहमें पीठिकावर्णन नामक तृतीय पर्व समाप्त हुआ ॥३॥

---

१. –दप्यजीवत् म०। २. मरुद्देवः। ३. आश्वासनं [सान्त्वनम्]। ४. भरतेशम्। ५. मनूत्पत्तिम्। ६ जिनस्य सेना जिनसेना जिनसेनाया आचार्यः जिनसेनाचार्यस्तेषु मुख्यो गौतमगणधर इत्यर्थः। ७. उद्युक्तो बभूव।

चतुर्थं पर्व

यस्त्रिपर्वीमिमां[1] पुण्यामधीते मतिमान् पुमान्। सोऽधिगम्य पुराणार्थमिहामुत्र च नन्दति ॥१॥
अथाद्यस्य पुराणस्य महतः पीठिकामिमाम्। प्रतिष्ठाप्य ततो वक्ष्ये चरितं वृषभेशिनः ॥२॥
लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं [2]दानतपोऽन्वयम्[3]। पुराणेष्वष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यपि ॥३॥
[4]लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णनं यत् सविस्तरम्। लोकाख्यानं तदाम्नातं [5]विशोधितदिगन्तरम् ॥४॥
तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादिप्रपञ्चनम्[6]। देशाख्यानं तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञैः संज्ञानलोचनैः ॥५॥
भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपणम्। पुराख्यानमितीष्टं तत् पुरातनविदां मते ॥६॥
[7]अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगरं चेति तत्पतेः। आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥७॥
संसाराब्धेरपारस्य तरणे [8]तीर्थमिष्यते। [9]चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥८॥
यादृशं स्यात्तपोदानमनीदृक्षगुणोदयम्[10]। कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥९॥
नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मताः। तासां संकीर्तनं यद्धि गत्याख्यानं तदिष्यते ॥१०॥
पुण्यपापफलावाप्तिर्जन्तूनां यादृशी भवेत्। तदाख्यानं फलाख्यानं तच्च निःश्रेयसावधि ॥११॥
लोकाख्यानं यथोद्देशमिह तावत् प्रतन्यते। यथावसरमन्येषां प्रपञ्चो वर्णयिष्यते ॥१२॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य ऊपर कहे हुए पवित्र तीनों पर्वोंका अध्ययन करता है वह सम्पूर्ण पुराणका अर्थ समझकर इस लोक तथा परलोकमें आनन्दको प्राप्त होता है ॥१॥ इस प्रकार महापुराणकी पीठिका कहकर अब श्री वृषभदेव स्वामीका चरित कहूँगा ॥२॥ पुराणोंमें लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान, तप, गति और फल इन आठ बातोंका वर्णन अवश्य ही करना चाहिए ॥३॥ लोकका नाम कहना, उसकी व्युत्पत्ति बतलाना, प्रत्येक दिशा तथा उसके अन्तरालोंकी लम्बाई, चौड़ाई आदि बतलाना इनके सिवाय और भी अनेक बातोंका विस्तारके साथ वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥४॥ लोकके किसी एक भागमें देश, पहाड़, द्वीप तथा समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेको जानकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥५॥ भारतवर्ष आदि क्षेत्रोंमें राजधानीका वर्णन करना, पुराण जाननेवाले आचार्योंके मतमें पुराख्यान अर्थात् नगरवर्णन कहलाता है ॥६॥ उस देशका यह भाग अमुक राजाके आधीन है अथवा वह नगर अमुक राजाका है इत्यादि वर्णन करना जैन शास्त्रोंमें राजाख्यान कहा गया है ॥७॥ जो इस अपार संसार समुद्रसे पार करे उसे तीर्थ कहते हैं ऐसा तीर्थ जिनेन्द्र भगवान्का चरित्र ही हो सकता है अतः उसके कथन करनेको तीर्थाख्यान कहते हैं ॥८॥ जिस प्रकारका तप और दान करनेसे जीवोंको अनुपम फलकी प्राप्ति होती हो उस प्रकारके तप तथा दानका कथन करना तपदानकथा कहलाती है ॥९॥ नरक आदिके भेदसे गतियोंके चार भेद माने गये हैं उनके कथन करनेको गत्याख्यान कहते है ॥१०॥ संसारी जीवोंको जैसा कुछ पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है उसका मोक्षप्राप्ति पर्यन्त वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है ॥११॥ ऊपर कहे हुए आठ आख्यानोंमें-से यहाँ नामा-

१. इमां पूर्वोक्ताम्। २. दानतपोद्वयम् म०, स०, द०, प०, ल०। ३. सम्बद्ध। ४ नामोच्चारणमुद्देश। ५. निष्काशितोपदेशान्तरम्। ६. विस्तार.। ७ 'स्वे स्वेचना' इति सूत्रेण सप्तमीदेश। ८. –रं वेति अ०, स०, म०, द०, प०, ल०। जलोत्तारम्। ९. चरितम्। १० अनिर्वचनीयम्।

लोक्यन्तेऽस्मिन्[1]निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्था: सपर्ययाः । इति लोकस्य लोकत्वं [2]निराहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥१३॥
क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः । इति क्षेत्रं निराहुस्तं लोकमन्वर्थसंज्ञया ॥१४॥
लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः । [3]नित्यः स्वभावनिर्वृत्तः सोऽनन्ताकाशमध्यगः ॥१५॥
स्रष्टास्य जगतः कश्चिदस्तीत्येके[4] जगुर्जडाः । तद्दुर्णयनिरासार्थं सृष्टिवादः परीक्ष्यते ॥१६॥
स्रष्टा [5]सर्गबहिर्भूतः क्वस्थः सृजति तज्जगत् । निराधारश्च [6]कूटस्थः सृष्ट्वैनत्[7] क्व निवेशयेत् ॥१७॥
नैको विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने पटुः । [8]वितनोश्च न [9]तन्वादिमूर्त्तमुत्पत्तुमर्हति ॥१८॥
कथं च स सृजेल्लोकं विनान्यैः करणादिभिः । तानि सृष्ट्वा सृजेल्लोकमिति चेदनवस्थितिः ॥१९॥

नुसार सबसे पहले लोकाख्यानका वर्णन किया जाता है। अन्य सात आख्यानोंका वर्णन भी समयानुसार किया जायेगा ॥१२॥ जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायोंसहित देखे जायें उसे लोक कहते हैं। तत्त्वोंके जानकार आचार्योंने लोकका यही स्वरूप बतलाया है [लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् स लोकः] ॥१३॥ जहाँ जीवादि द्रव्योंका विस्तार निवास करता हो उसे क्षेत्र कहते हैं। सार्थक नाम होनेके कारण विद्वान् पुरुष लोकको ही क्षेत्र कहते हैं ॥१४॥ जीवादि पदार्थोंको अवगाह देनेवाला यह लोक अकृत्रिम है—किसीका बनाया हुआ नहीं है, नित्य है इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने-आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाशके ठीक मध्य भागमें स्थित है ॥१५॥ कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि इस लोकका बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य है। ऐसे लोगोंका दुराग्रह दूर करनेके लिए यहाँ सर्व-प्रथम सृष्टिवादकी ही परीक्षा की जाती है ॥१६॥ यदि यह मान लिया जाये कि इस लोकका कोई बनानेवाला है तो यह विचार करना चाहिए कि वह सृष्टिके पहले—लोककी रचना करनेके पूर्व सृष्टिके बाहर कहाँ रहता था ? किस जगह बैठकर लोककी रचना करता था ? यदि यह कहो कि वह आधाररहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टिको कैसे बनाया और बनाकर कहाँ रखा ? ॥१७॥ दूसरी बात यह है कि आपने उस ईश्वरको एक तथा शरीररहित माना है इससे भी वह सृष्टिका रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसारकी रचना करनेमें समर्थ कैसे हो सकता है ? तथा शरीररहित अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक वस्तुओंकी रचना कैसे हो सकती है ? क्योंकि लोकमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्तिक वस्तुओंकी रचना मूर्तिक पुरुषों-द्वारा ही होती है जैसे कि मूर्तिक कुम्हारसे मूर्तिक घटकी ही रचना होती है ॥१८॥ एक बात यह भी है—जब कि संसारके समस्त पदार्थ कारण-सामग्रीके बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोकको कैसे बना सकेगा ? यदि यह कहो कि वह पहले कारण-सामग्रीको बना लेता है बादमें लोकको बनाता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। कारण-सामग्रीको बनानेके लिए भी कारण-सामग्रीकी आवश्यकता होती है, यदि ईश्वर उस कारण-सामग्रीको भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण-सामग्रीके योग्य तृतीय कारण-सामग्रीको उसके पहले भी बनाना पड़ेगा। और इस तरह उस परिपाटीका कभी अन्त नहीं होगा ॥१९॥

---

१. -स्मिन् समीक्ष्य-स०, द०, प०, म०, ल० । २. निरुक्तिं कुर्वन्ति । ३. शाश्वतः ईश्वरानिर्मितश्च । ४. नैयायिकवैशेषिकादयः । ५. सृष्टि । ६. अपरिणामी । 'एकरूपतया तु यः । कालव्यापी कूटस्थः' इत्यभिधानात् । ७ 'त्यदा द्वितीयाटौस्येनदेनः' इति अन्वादेशे एतच्छब्दस्य एनदादेशो भवति । ८. विमूर्तेः सकाशात् । ९. तनुकरणभवनादिमूर्तद्वयम् ।

तेषां स्वभावसिद्धत्वे लोकेऽप्येतत् प्रसज्यते । किं च [1]निर्मातृवद् विश्वं स्वतःसिद्धिमवाप्नुयात् ॥२०॥
सृजेद् विनापि सामग्र्या स्वतन्त्रः प्रभुरिच्छया । इतीच्छामात्रमेवैतत् क. श्रद्दध्यादयुक्तिकम् ॥२१॥
कृतार्थस्य विनिर्मित्सा[2] कथमेवास्य युज्यते । अकृतार्थोऽपि न स्रष्टुं विश्वमीष्टे कुलालवत् ॥२२॥
अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेष जगत् सृजेत् । न सिसृक्षापि तस्यास्ति विक्रियारहितात्मनः ॥२३॥
तथाप्यस्य जगत्सर्गे फलं किमपि मृग्यताम् । निष्ठितार्थस्य धर्मादिपुरुषार्थेष्वनर्थिनः ॥२४॥
स्वभावतो विनैवार्थात् सृजतोऽनर्थसंगतिः । क्रीडेयं कापि चेदस्य दुरन्ता मोहसन्ततिः ॥२५॥

यदि यह कहो कि वह कारण-सामग्री स्वभावसे ही-अपने-आप ही बन जाती है, उसे ईश्वरने नहीं बनाया है तो यह बात लोकमें भी लागू हो सकती है-मानना चाहिए कि लोक भी स्वतः सिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि उस ईश्वरको किसने बनाया ? यदि उसे किसीने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतः सिद्ध है-उसे किसीने भी नहीं बनाया है तो यह लोक भी स्वतः सिद्ध हो सकता है-अपने आप बन सकता है ॥२०॥ यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनानेमें समर्थ है इसलिए सामग्रीके बिना ही इच्छा मात्रसे लोकको बना लेता है तो आपकी यह इच्छा मात्र है। इस युक्तिशून्य कथनपर भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य विश्वास करेगा ? ॥२१॥ एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है—सब कार्य पूर्ण कर कर चुका है—उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा ही कैसे होगी ? क्योंकि कृतकृत्य पुरुषको किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती। यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो फिर वह लोकको बनानेके लिए समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार अकृतकृत्य कुम्हार लोकको नहीं बना सकता ॥२२॥

एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है, निष्क्रिय है, व्यापी है और विकाररहित है सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोकको नहीं बना सकता क्योंकि यह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वरसे मूर्तिक पदार्थोंकी रचना नहीं हो सकती। किसी कार्यको करनेके लिए हस्त-पादादिके संचालन रूप कोई-न-कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है परन्तु आपने तो ईश्वरको निष्क्रिय माना है इसलिए वह लोकको नहीं बना सकता। यदि सक्रिय मानो तो वह असंभव है क्योंकि क्रिया उसीके हो सकती है जिसके कि अधिष्ठान-से कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्र व्यापी है वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा ? इसके सिवाय ईश्वरको सृष्टि रचनेकी इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि आपने ईश्वरको निर्विकार माना है। जिसकी आत्मामें राग-द्वेष आदि विकार नहीं है उसके इच्छा-का उत्पन्न होना असम्भव है ॥२३॥ जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षमें किसीकी चाह नहीं रखता तब सृष्टिके बनानेमें इसे क्या फल मिलेगा ? इस बातका भी तो विचार करना चाहिए, क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभावसे ही सृष्टिकी रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है, क्रीडा मात्रसे ही जगत्‌को बनाता है तब तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है जो कि बालकोंके समान निष्प्रयोजन कार्य करता है ॥२४-२५॥

---

१. ईश्वरवत् जगत् । २. विनिर्मातुमिच्छा ।

कर्मापेक्षः शरीरादिर्देहिनां घटयेद् यदि । [1]नन्वेवमीश्वरो न स्यात् पारतन्त्र्यात् कुविन्दवत् ॥२६॥
निमित्तमात्रमिष्टश्चेत् कार्ये कर्मादिहेतुके । [2]सिद्धोपस्थाप्यसौ हन्त पोष्यते किमकारणम् ॥२७॥
वत्सलः प्राणिनामेकः सृजन्ननुजिघृक्षया[3] । ननु सौख्यमयीं सृष्टिं विदध्यादनुपप्लुताम् ॥२८॥
सृष्टिप्रयासवैयर्थ्यं[4] सर्जने जगतः सतः[5] । नात्यन्तमसतः सर्गो[6] युक्तो व्योमारविन्दवत् ॥२९॥
नोदासीनः सृजेन्मुक्तः संसारी [7]नाप्यनीश्वरः । सृष्टिवादावतारोऽयं[8] ततश्च न कुतश्च न ॥३०॥
महानधर्मयोगोऽस्य सृष्ट्वा संहरतः प्रजाः । दुष्टनिग्रहबुद्ध्या चेद् वरं दैत्याद्यसर्जनम् ॥३१॥
बुद्धिमद्धेतुसान्निध्ये तन्वाद्युत्पत्तुमर्हति[9] । [10]विशिष्टसंनिवेशादिप्रतीतेर्नगरादिवत् ॥३२॥

यदि यह कहो कि ईश्वर जीवोंके शरीरादिक उनके कर्मोंके अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसके वैसे ही शरीरादिकी रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार माननेसे आपका ईश्वर ईश्वर ही नहीं ठहरता। उसका कारण यह है कि वह कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे जुलाहेकी तरह परतन्त्र हो जायेगा और परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं रह सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणोंके परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहलाता इसी प्रकार आपका ईश्वर भी कर्मोंके परतन्त्र है तथा परतन्त्र होनेसे ईश्वर नहीं कहला सकता। ईश्वर तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हुआ करता है ॥२६॥ यदि यह कहो कि जीवके कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादि कार्य अपने-आप होते रहते हैं ईश्वर उनमें निमित्त माना ही जाता है तो भी आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख-दुःखादि कार्य कर्मोंके अनुसार अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वरकी पुष्टि करते हैं ॥२७॥ कदाचित् यह कहा जाये कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है—दयालु है इसलिए वह जीवोंका उपकार करनेके लिए ही सृष्टिकी रचना करता है तो फिर उसे इस समस्त सृष्टिको सुखरूप तथा उपद्रवरहित ही बनाना चाहिए था। दयालु होकर भी सृष्टिके बहुभागको दुःखी क्यों बनाता है ? ॥२८॥ एक बात यह भी है कि सृष्टिके पहले जगत् था या नहीं ? यदि था तो फिर स्वतः सिद्ध वस्तुके रचनेमें उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया ? और यदि नहीं था तो उसकी वह रचना क्या करेगा ? क्योंकि जो वस्तु आकाश कमलके समान सर्वथा असत् है उसकी कोई रचना नहीं कर सकता ॥ २९ ॥ यदि सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर मुक्त है—कर्ममल कलंकसे रहित है तो वह उदासीन—राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण जगत्की सृष्टि नहीं कर सकता। और यदि संसारी है—कर्ममल कलंकसे सहित है तो वह हमारे-तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा तब सृष्टि किस प्रकार करेगा ? इस तरह यह सृष्टिवाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥३०॥ जरा इस बातका भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोकको बनाता है इसलिए लोकके समस्त जीव उसकी सन्तानके समान हुए फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तानके नष्ट करनेका भारी पाप लगता है। कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवोंका निग्रह करनेके लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही है कि वह दुष्ट जीवोंको उत्पन्न ही नहीं करता ॥ ३१ ॥ यदि आप यह कहें—कि 'जीवोंके शरीरादिकी उत्पत्ति किसी बुद्धिमान् कारणसे ही हो

---

१ नत्वेव–अ०, ल० । २ कार्ये निष्पन्ने सति प्राप्तः । ३. अनुगृहीतुमिच्छया । ४. व्यर्थत्वम् । ५. विद्यमानस्य । ६. सृष्टिः । ७.–री सोऽप्यनीश्वरः अ०, प०, म०, द०, स०, ल० । ८. येन केन प्रकारेण नास्तीत्यर्थः । ९ उद्भवितुम् । १०. सन्निवेश. रचना ।

इत्यसाधनमेवैतदीश्वरास्तित्वसाधने । विशिष्टसन्निवेशादेरन्यथाप्युपपत्तितः ॥३३॥
चेतनाधिष्ठितं हीदं[1] [2]कर्मनिर्मातृचेष्टितम् । नन्वक्षसुखदुःखादि [3]वैश्वरूप्याय कल्प्यते ॥३४॥
[4]निर्माणकर्मनिर्मातृकौशलापादितोदयम् । अङ्गोपाङ्गादिवैचित्र्यमङ्गिनां [5]संगिरावहे ॥३५॥
तदेतत्कर्मवैचित्र्याद् भवन्नानात्मकं जगत् । विश्वकर्माणमात्मानं साधयेत् कर्मसारथिम्[6] ॥३६॥
विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् । ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ॥३७॥
स्रष्टारमन्तरेणापि व्योमादीनां च [7]संगरात् । सृष्टिवादी स निर्ग्राह्यः शिष्टैर्दुर्मतदुर्मदी ॥३८॥
ततोऽसावकृतोऽनादिनिधनः कालतत्त्ववत् । लोको जीवादितत्त्वानामाधारात्मा प्रकाशते ॥३९॥
असृज्योऽयमसंहार्यः स्वभावनियतस्थितिः । अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च त्रिभिर्भेदैः समन्वितः ॥४०॥
वेत्रविष्टरझल्लर्यो मृदङ्गश्च यथाविधाः । संस्थानैस्तादृशान् प्राहुर्लोकाननुपूर्वशः ॥४१॥

सकती है क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकारकी है। जिस प्रकार किसी ग्राम आदिकी रचना विशेष प्रकारकी होती है अतः वह किसी बुद्धिमान् कारीगरका बनाया हुआ होता है उसी प्रकार जीवोंके शरीरादिककी रचना भी विशेष प्रकारकी है अतः वे भी किसी बुद्धिमान् कर्ताके बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान् कर्ता ईश्वर ही है' ॥३२॥ परन्तु आपका यह हेतु ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं क्योंकि विशेष रचना आदिकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे भी हो सकती है ॥३३॥ इस संसारमें शरीर, इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं उन सबकी उत्पत्ति चेतन-आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कर्मरूपी विधाताके द्वारा ही होती है ॥३४॥ इसलिए हम प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि संसारी जीवोंके अंग-उपांग आदिमें जो विचित्रता पायी जाती है वह सब निर्माण नामक नामकर्मरूपी विधाताकी कुशलतासे ही उत्पन्न होती है ॥३५॥ इन कर्मोंकी विचित्रतासे अनेकरूपताको प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बातको सिद्ध कर देता है कि शरीर, इन्द्रिय आदि अनेक रूपधारी संसारका कर्ता संसारी जीवोंकी आत्माएँ ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं। अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्मके उदयसे प्रेरित होकर शरीर आदि संसारकी सृष्टि करते हैं ॥३६॥ विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्याय वाचक शब्द हैं इनके सिवाय और कोई लोकका बनानेवाला नहीं है ॥३७॥ जब कि ईश्वरवादी पुरुष आकाश काल आदिकी सृष्टि ईश्वरके बिना ही मानते हैं तब उनका यह कहना कहाँ रहा कि संसारकी सब वस्तुएँ ईश्वरके द्वारा ही बनायी गयी हैं? इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होनेके कारण शिष्ट पुरुषोंको चाहिए कि वे ऐसे सृष्टिवादीका निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्वके उदयसे अपने दूषित मतका अहंकार करता है ॥३८॥ इसलिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्यकी भाँति ही अकृत्रिम है अनादि निधन है—आदि-अन्तसे रहित है और जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका आधार होकर हमेशा प्रकाशमान रहता है ॥३९॥ न इसे कोई बना सकता है न इसका संहार कर सकता है, यह हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थितिमें विद्यमान रहता है तथा अधोलोक तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदोंसे सहित है ॥ ४० ॥ वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगका जैसा आकार होता है अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका भी ठीक वैसा ही आकार होता है। अर्थात् अधोलोक वेत्रासनके

---

१ –तं देहं कर्म-म० । २. नामकर्म । ३ सकलरूपत्वाय । वैश्वरूपाय अ०, स०, ल०, ट० । ४. निर्माणनामकर्म । ५. प्रतिज्ञा कुर्महे । ६. सहायम् । ७. अङ्गीकारात् ।

वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद् यादृशः पुमान् । तादृशं लोकसंस्थानमामनन्ति मनीषिणः ॥४२॥
अनन्तानन्तभेदस्य वियतो मध्यमाश्रितः । लोकस्त्रिभिर्वृतो वातैर्भाति शिक्यैरिवाततैः ॥४३॥
वातरज्जुभिरानद्धो लोकस्तिसृभिराशिरः । पटत्रितयसंवीतसुप्रतिष्ठकसन्निभः ॥४४॥
तिर्यग्लोकस्य विस्तारं रज्जुमेकां प्रचक्षते । चतुर्दशगुणां प्राहू रज्जुं लोकोच्छ्रितिं बुधाः ॥४५॥
अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कम्भरज्जवः । सप्तैका पञ्च चैका च यथाक्रममुदाहृताः ॥४६॥
द्वीपाब्धिभिरसंख्यातैर्द्विर्द्विर्विष्क[1]म्भमाश्रितैः । विभाति वलयाकारैर्मध्यलोको विभूषितः ॥४७॥
मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः । मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणाम्भोधिवेष्टितः ॥४८॥
सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः । प्रविभक्तः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः ॥४९॥
स मेरुमौलिराभाति लवणोदधिमेखलः[2] । सर्वद्वीपसमुद्राणां जम्बूद्वीपोऽधिराजवत् ॥५०॥
इह जम्बूमति द्वीपे मेरोः [3]प्रत्यग्दिशाश्रितः । विषयो गन्धिलाभिख्यो भाति स्वर्गैकखण्डवत् ॥५१॥
पूर्वापरावधी तस्य [4]देवाद्रि[5]श्चोर्मिमालिनी । दक्षिणोत्तरपर्यन्तौ [6]सीतोदा [7]नील एव च ॥५२॥

समान नीचे विस्तृत और ऊपर सकड़ा है, मध्यम लोक झल्लरीके समान सब ओर फैला हुआ है और ऊर्ध्वलोक मृदंगके समान बीचमें चौड़ा तथा दोनों भागोंमें सकड़ा है ॥४१॥ अथवा दोनों पाँव फैलाकर और कमरपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषका जैसा आकार होता है बुद्धिमान् पुरुष लोकका भी वैसा ही आकार मानते हैं ॥४२॥ यह लोक अनन्तानन्त आकाशके मध्यभागमें स्थित तथा घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन प्रकारके विस्तृत वातवलयोंसे घिरा हुआ है और ऐसा मालूम होता है मानो अनेक रस्सियोंसे बना हुआ छींका ही हो ॥४३॥ नीचेसे लेकर ऊपर तक उपर्युक्त तीन वातवलयोंसे घिरा हुआ यह लोक ऐसा मालूम होता है मानो तीन कपड़ोंसे ढका हुआ सुप्रतिष्ठ (ठौना) ही हो ॥४४॥ विद्वानोंने मध्यम लोकका विस्तार एक राजु कहा है तथा पूरे लोककी ऊँचाई उससे चौदह गुणी अर्थात् चौदह राजु कही है ॥४५॥ यह लोक अधोभागमें सात राजु, मध्यभागमें एक राजु, ऊर्ध्वलोकके मध्यभागमें पाँच राजु और सबसे ऊपर एक राजु चौड़ा है ॥४६॥ इस लोकके ठीक बीचमें मध्यम लोक है जो कि असंख्यात द्वीपसमुद्रोंसे शोभायमान है। वे द्वीप-समुद्र क्रम-क्रमसे दूने-दूने विस्तारवाले हैं तथा वलयके समान हैं। भावार्थ—जम्बूद्वीप थालीके समान तथा बाकी द्वीप समुद्र वलयके समान बीचमें खाली हैं ॥४७॥ इस मध्यम लोकके मध्यभागमें जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप गोल है तथा लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है। इसके बीचमें नाभिके समान मेरु पर्वत है ॥४८॥ यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन चौड़ा है तथा हिमवत् आदि छह कुलाचलों, भरत आदि सात क्षेत्रों और गङ्गा, सिन्धु आदि चौदह नदियोंसे विभक्त होकर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है ॥४९॥ मेरु पर्वतरूपी मुकुट और लवणसमुद्ररूपी करधनीसे युक्त यह जम्बूद्वीप ऐसा शोभायमान होता है मानो सब द्वीप-समुद्रोंका राजा ही हो ॥५०॥ इसी जम्बूद्वीपमें मेरु पर्वतसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिल नामक देश है जो कि स्वर्गके टुकड़ेके समान शोभायमान है ॥५१॥ इस देशकी पूर्व दिशामें मेरु पर्वत है, पश्चिममें ऊर्मिमालिनी नामकी विभंग नदी है, दक्षिणमें सीतोदा नदी

---

१. द्विगुणद्विगुणविस्तारम् । २. कटीसूत्र । ३. पश्चिमदिक् । ४ देवमाल इति वक्षारगिरिः । ५. ऊर्मिमालिनी इति विभङ्गा नदी । ६. सीतोदा नदी । ७ नीलपर्वतः ।

यत्र कर्ममलापायाद् विदेहा मुनयः सदा। [1]निर्वान्तीति गता रूढिं [2]विदेहाख्यार्थभागियम् ॥५३॥
नित्यप्रमुदिता यत्र[3] प्रजा नित्यकृतोत्सवाः। नित्यं सन्निहितैर्भोगैः सत्यं स्वर्गेऽप्यनादरः ॥५४॥
निसर्गसुभगा नार्यो निसर्गचतुरा नराः। निसर्गललितालापा बाला[4] यत्र गृहे गृहे ॥५५॥
[5]वैदग्ध्यं चतुरैर्वेषैर्भूषणैश्च धनर्द्धयः। विलासैः यौवनारम्भाः [6]सूच्यन्ते यत्र देहिनाम् ॥५६॥
यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हताम्। शक्तिरात्यन्तिकी[7] शीले प्रोषधे च रतिर्नृणाम् ॥५७॥
न यत्र परलिङ्गानामस्ति जातुचिदुद्भवः। सदोदयाज्जिनार्कस्य खद्योतानामिवाहनि ॥५८॥
यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः। पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः ॥५९॥
यस्य सीमविभागेषु शाल्यादिक्षेत्रसंपदः। सदैव फलशालिन्यो भान्ति धर्म्या इव क्रियाः ॥६०॥
यत्र शालिवनोपान्ते खात् पतन्तीं शुकावलीम्। शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं [8]तोरणश्रियम् ॥६१॥

है और उत्तरमें नीलगिरि है ॥५२॥ यह देश विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत है। वहाँसे मुनि लोग हमेशा कर्मरूपी मलको नष्ट कर विदेह (विगत देह)—शरीररहित होते हुए निर्वाणको प्राप्त होते रहते हैं इसलिए उस क्षेत्रका विदेह नाम सार्थक और रूढ़ि दोनों ही अवस्थाओंको प्राप्त है ॥५३॥ उस गन्धिल देशकी प्रजा हमेशा प्रसन्न रहती है तथा अनेक प्रकारके उत्सव किया करती है, उसे हमेशा मनचाहे भोग प्राप्त होते रहते हैं इसलिए वह स्वर्गको भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥ उस देशके प्रत्येक घरमें स्वभावसे ही सुन्दर स्त्रियाँ हैं, स्वभावसे ही चतुर पुरुष हैं और स्वभावसे ही मधुर वचन बोलनेवाले बालक हैं ॥५५॥ उस देशमें मनुष्योंकी चतुराई उनके चतुराईपूर्ण वेषोंसे प्रकट होती है। उनके आभूषणोंसे उनकी सम्पत्तिका ज्ञान होता है तथा भोग-विलासोंसे उनके यौवनका प्रारम्भ सूचित होता है ॥५६॥ वहाँके मनुष्य उत्तम पात्रोंमें दान देने तथा देवाधिदेव अरहन्त भगवान्‌की पूजा करने ही में प्रेम रखते हैं। वे लोग शीलकी रक्षा करनेमें ही अपनी अत्यन्त शक्ति दिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारण करनेमें ही रुचि रखते हैं।

भावार्थ—यह परिसंख्या अलंकार है। परिसंख्याका संक्षिप्त अर्थ नियम है। इसलिए इस श्लोकका भाव यह हुआ कि वहाँके मनुष्योंकी प्रीति पात्रदान आदिमें ही थी विषयवासनाओंमें नहीं थी, उनकी शक्ति शीलव्रतकी रक्षाके लिए ही थी निर्बलोंको पीड़ित करनेके लिए नहीं थी और उनकी रुचि प्रोषधोपवास धारण करनेमें ही थी वेश्या आदि विषयके साधनोंमें नहीं थी ॥५७॥

उस गन्धिल देशमें श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यका उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियोंका उद्भव कभी नहीं होता जैसे कि दिनमें सूर्यका उदय रहते हुए जुगुनुओंका उद्भव नहीं होता ॥५८॥ उस देशके बाग फलशाली वृक्षोंसे हमेशा शोभायमान रहते हैं तथा उनमें जो कोकिलाएँ मनोहर शब्द करती हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो वे बाग उन शब्दोंके द्वारा पथिकोंको बुला ही रहे है ॥५९॥ उस देशके सीमा प्रदेशोंपर हमेशा फलोंसे शोभायमान धान आदिके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गादि फलोंसे शोभायमान धार्मिक क्रियाएँ ही हों ॥६०॥ उस देशमें धानके खेतोंके समीप आकाशसे जो तोताओंकी पंक्ति नीचे उतरती है उसे खेती

---

१. मुक्ता भवन्ति। २ विदेहाख्यार्थतामियम् स०, द०। विदेहान्वर्थभागियम् म०। विदेहान्वर्थभागयम् प०। ३. देशे। ४. बालका। ५. अयं श्लोक 'म' पुस्तके नास्ति। ६. अनुमीयन्ते ज्ञायन्ते। ७. अन्तान्निष्क्रान्तम् अत्यन्तम् अत्यन्ते भवा आत्यन्तिकी। ८ मरकतरत्नम्।

मन्दगन्धवहाधूताः [1]शालिवप्राः फलानताः । [2]कृतसंराविणो यत्र [3]छोत्कुर्वन्तीव पक्षिणः ॥६२॥
यत्र पुण्ड्रेक्षुवाटेषु यन्त्रचीत्कारहारिषु । पिबन्ति पथिका स्वैरं रसं [4]सुरसमैक्षवम् ॥६३॥
यत्र कुक्कुटसंपात्या[5] ग्राम्याः संसक्तसीमकाः । सीमानः सस्यसंपन्ना [6]नि.फलाञ्चिफलोदया.[7] ॥६४॥
कलासमाप्तिषु प्राय. [8]कलान्तरपरिग्रहः । [9]गुणाधिरोपणौद्धत्यं यत्र चापेषु धन्विनाम् ॥६५॥
मुनीनां यत्र शैथिल्यं गात्रेषु न समाधिषु । निग्रहः करणग्रामे [10]भूतग्रामे न जातुचित् ॥६६॥
[11]कुलायेषु शकुन्तानां यत्रोद्वासध्वनिः[12] स्थितः । [13]वर्णसंकरवृत्तान्तश्चित्रादन्यत्र न क्वचित् ॥६७॥
यत्र भङ्गस्तरङ्गेषु गजेषु मदविक्रिया[14] । दण्डपारुष्यमब्जेषु सरस्सु [15]जलसंग्रहः ॥६८॥

की रक्षा करनेवाली गोपिकाएँ ऐसा मानती हैं मानो हरे-हरे मणियोंका बना हुआ तोरण ही उतर रहा हो ॥ ६१ ॥ मन्द-मन्द हवासे हिलते हुए फूलोंके बोझसे झुके हुए वायुके आघातसे शब्द करते हुए वहाँके धानके खेत ऐसे मालूम होते हैं मानो पक्षियोंको ही उड़ा रहे हों ॥६२॥ उस देशमें पथिक लोग यन्त्रोंके चीं-चीं शब्दोंसे शोभायमान पौंड़ों तथा ईखोंके खेतोंमें जाकर अपनी इच्छानुसार ईखका मीठा-मीठा रस पीते हैं ॥ ६३ ॥ उस देशके गाँव इतने समीप बसे हुए हैं कि मुर्गा एक गाँवसे दूसरे गाँव तक सुखपूर्वक उड़कर जा सकता है, उनकी सीमाएँ परस्पर मिली हुई हैं तथा सीमाएँ भी धानके ऐसे खेतोंसे शोभायमान हैं जो थोड़े ही परिश्रमसे फल जाते हैं ॥६४॥ उस देशके लोग जब एक कलाको अच्छी तरह सीख चुकते हैं तभी दूसरी कलाओंका सीखना प्रारम्भ करते हैं अर्थात् वहाँके मनुष्य हर एक विषयका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं तथा उस देशमें गुणाधिरोपणौद्धत्य-गुण न रहते हुए भी अपने-आपको गुणी बतानेकी उद्दण्डता नहीं है ॥६५॥ उस देशमें यदि मुनियोंमें शिथिलता है तो शरीरमें ही है अर्थात् लगातार उपवासादिके करनेसे उनका शरीर ही शिथिल हुआ है समाधि-ध्यान आदिमें नहीं है। इसके सिवाय निग्रह (दमन) यदि है तो इन्द्रियसमूहमें ही है अर्थात् इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्ति रोकी जाती है प्राणिसमूहमें कभी निग्रह नहीं होता अर्थात् प्राणियोंका कोई घात नहीं करता ॥ ६६ ॥ उस देशमें उद्वासध्वनि (कोलाहल) पक्षियोंके घोंसलोंमें ही है अन्यत्र उद्वासध्वनि—(परदेशगमन सूचक शब्द) नहीं है। तथा वर्णसंकरता (अनेक रंगोंका मेल) चित्रोंके सिवाय और कहीं नहीं है—वहाँके मनुष्य वर्णसंकर-व्यभिचारजात नहीं हैं ॥ ६७ ॥ उस देशमें यदि भंग शब्दका प्रयोग होता है तो तरंगोंमें ही (भंग नाम तरंग-लहरका है) होता है वहाँके मनुष्योंमें कभी भंग (विनाश) नहीं होता। मद-तरुण हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाला तरल पदार्थ-का विकार हाथियोंमें होता है

---

१. क्षेत्राणि । २. समन्तात् कृतशब्दाः । ३. उड्डापयन्तीव । ४. सुस्वादुम् । ५. संपतितुं योग्या । ६. -लाङ्गिफलो-स० । ७ फलं निरीशमञ्चतीति फलाञ्चो स चासौ फलोदयश्च तस्मान्निष्क्रान्ता इति । अकृष्टपच्या इत्यर्थः। "अथो फलम् । निरीश कुटक फालः कृषिको लाङ्गल हलम्" इत्यमरः । फलमिति लांगलाग्रस्थायोविशेष.। ८ कलाविशेषः कालान्तरस्वीकारश्च "कला शिल्पे कालभेदेऽपि" इत्यभिधानात् । ९. गुणस्य मौर्व्या अधिरोपणे औद्धत्यं गर्व. पक्षे गुणाः शौर्यादय.। १०. भूतः जीवः । ११. पक्षिगृहेषु "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इत्यभिधानात् । कलापेषु अ० । १२. हिंसनशब्दः । "उद्वासनप्रमथनक्रथनोज्जासनानि च" इत्यभिधानात् , पक्षिध्वनिश्च, अथवा शून्यमिति शब्दश्च अप्रावासश्च । १३. वर्णसंकरवृत्तान्तः इति पाठे सुगमम् , अथवा वर्णसंस्कारवृत्तान्त इत्यत्र वर्णश्च संस्कारश्च वृत्तं च इति वर्णसंस्कारवृत्तानि तेषामन्तो नाशः, पक्षे वर्णस्य सस्कारस्तस्य वृत्तान्तो वार्ता। १४ विकारः । १५. पक्षे जडसंग्रह ।

[1]स्वर्गावाससमाः पुर्यो [2]निगमाः [3]कुरुसंनिभाः । विमानस्पर्द्धिनो गेहाः प्रजा यत्र सुरोपमाः ॥६९॥
दिग्नागस्पर्द्धिनो नागा [4]नार्यो दिक्कन्यकोपमाः । दिक्पाला इव भूपाला यत्राविष्कृतदिग्जयाः ॥७०॥
[5]जनतापच्छिदो यत्र वाप्यः स्वच्छाम्बुसंभृताः । भान्ति तीरतरुच्छायानिरुद्धोष्ण्या [6]बहुप्रपाः ॥७१॥
यत्र [7]कूपतटाकाद्या कामं सन्तु [8]जलाशयाः । तथापि जनतातापं हरन्ति रसवत्तया ॥७२॥
[9]विपङ्का ग्राहवत्यश्च स्वच्छाः कुटिलवृत्तयः । अलङ्घ्याः सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नगाः ॥७३॥

वहाँके मनुष्योंमें मद अहंकारका विकार नहीं होता है। दण्ड (कमलपुष्पके भीतरका वह भाग जिसमें कि कमलगट्टा लगता है) की कठोरता कमलोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें दण्ड-पारुष्य नहीं है–उन्हें कड़ी सजा नहीं दी जाती। तथा जलका संग्रह तालाबोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें जल-संग्रह (ड और लमें अभेद होनेके कारण जड़-संग्रह–मूर्ख मनुष्योंका संग्रह) नहीं होता ॥ ६८ ॥ उस देशके नगर स्वर्गके समान है, गाँव देवकुरु–उत्तरकुरु भोग-भूमिके समान हैं, घर स्वर्गके विमानोंके साथ स्पर्धा करनेवाले है और मनुष्य देवोंके समान हैं ॥६९॥ उस देशके हाथी ऐरावत आदि दिग्गजोंके साथ स्पर्धा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ दिक्कुमारियोंके समान हैं और दिग्विजय करनेवाले राजा दिक्पालोंके समान है ॥७०॥ उस देशमे मनुष्योंका सन्ताप दूर करनेवाली तथा स्वच्छ जलसे भरी हुई अनेक बावड़ियाँ शोभायमान हो रही हैं। किनारेपर लगे हुए वृक्षोंकी छायासे उन बावड़ियोंमें गरमीका प्रवेश बिलकुल ही नहीं हो पाता है तथा वे प्याऊओंके समान जान पड़ती हैं ॥ ७१ ॥ उस देशके कुएँ, तालाब आदि भले ही जलाशय (मूर्खपक्षमें जड़तासे युक्त) हों तथापि वे अपनी रसवत्तासे–मधुर जलसे लोगोंका सन्ताप दूर करते हैं ॥७२॥ उस देशकी नदियाँ ठीक वेश्याओंके समान शोभायमान होती हैं। क्योंकि वेश्याएँ जैसे विपङ्का अर्थात् विशिष्ट पङ्क–पापसे सहित होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी विपङ्का अर्थात् कीचड़रहित हैं। वेश्याएँ जैसे ग्राहवती–धनसञ्चय करनेवाली होती है उसी तरह नदियाँ भी ग्राहवती–मगरमच्छोंसे भरी हुई हैं। वेश्याएँ जैसे ऊपरसे स्वच्छ होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी स्वच्छ–साफ हैं। वेश्याएँ जैसे कुटिल-वृत्ति–मायाचारिणी होती हैं उसी तरह नदियाँ भी कुटिलवृत्ति–टेढ़ी बहनेवाली है। वेश्याएँ जैसे अलंघ्य होती हैं–विषयी मनुष्यों-द्वारा वशीभूत नहीं होती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अलंघ्य है–गहरी होनेके कारण तैरकर पार करने योग्य नहीं हैं। वेश्याएँ जैसे सर्वभोग्या–ऊँच-नीच सभी मनुष्योंके द्वारा भोग्य होती है उसी प्रकार नदियाँ भी सर्वभोग्य–पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीवोंके द्वारा भोग्य है। वेश्याएँ जैसे विचित्रा–अनेक वर्णकी होती है उसी प्रकार नदियाँ भी विचित्रा–अनेकवर्ण–अनेक रंगकी अथवा विविध प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त है और वेश्याएँ जैसे निम्नगा–नीच पुरुषोंकी ओर जाती है उसी प्रकार नदियाँ भी निम्नगा–ढालू जमीनकी ओर जाती है ॥७३॥ उस देशमें तालाबोंके किनारे कण्ठमें मृणालका

१ स्वर्गभूमि । २. वणिक्पथाः । "वेदनगरवणिक्पथेषु निगमः" इत्यभिधानात् । ३. कुरुः उत्तम-भोगभूमिः । ४ नागा कन्या दिक्– म० । ५ अयं श्लोको 'म'पुस्तके नास्ति । ६. पानीयशालिका-सदृशाः । सुप प्राग्बहुर्वेति पदपरिसमाप्त्यर्थो सुपः प्राक् बहुप्रत्ययो भवति । ७. –तडागाद्याः अ० । ८ धाराः जडबुद्धय इति ध्वनिः । ९. चित्रार्थपक्षे ग्राहशब्दः स्वीकारार्थः । तथाहि पङ्कयुक्तानामियं स्वनिक्षिप्तस्य ग्राहः स्वीकारो घटते एता नद्यस्तु विपङ्का अपि ग्राहवत्य इति चित्रम्, उत्तरत्र चित्रार्थः सुगमः, अथवा विपङ्काः निष्पापाः ग्राहवत्यः स्वीकारवत्य इति विरोधः । विचित्राः नानास्वभावाः ।

[1]सरसां तीरदेशेषु रुतं हंसा विकुर्वते । यत्र कण्ठबिलालग्नमृणालशकलाकुलाः ॥७४॥
वनेषु वनमातङ्गा मदमीलितलोचनाः । भ्रमन्त्यविरतं यस्मिन्नाह्वातुमिव[2] दिग्गजान् ॥७५॥
यत्र शृङ्गाग्रसंलग्नकर्दमा दुर्दमा भृशम् । उत्खनन्ति वृषा दृप्ताः[3] स्थलेषु स्थलपद्मिनीम् ॥७६॥
जैनालयेषु संगीतपटहास्फोटनिस्स्वनैः । यत्र नृत्यन्त्यकालेऽपि शिखिनः [4]प्रोन्मदिष्णवः ॥७७॥
गवां गणा यथाकालमात्तगर्भाः कृतस्वनाः । पोषयन्ति पयोभिः स्वैर्जनं यत्र घनैः समाः ॥७८॥
बलाकालिपताकाढ्याः स्तनिता मन्द्रबृंहिताः । जीमूता यत्र वर्षन्तो भान्ति मत्ता इव द्विपाः ॥७९॥
न स्पृशन्ति करावाधा यत्र राजन्वतीः प्रजाः । सदा सुकालसान्निध्यान्नेतयो नाप्यनीतयः ॥८०॥
विषयस्यास्य मध्येऽस्ति विजयार्द्धो महाचलः । रौप्यः स्वैरंशुभिः शुभ्रैर्हसन्निव कुलाचलान्[5] ॥८१॥
यो योजनानां पञ्चाग्रां विंशतिं धरणीतलात् । उच्छ्रितः शिखरैस्तुङ्गैर्दिवं स्प्रष्टुमिवोद्यतः ॥८२॥
[6]द्विस्ताँङ्गयाद् विस्तृतो मूलात् प्रभृत्यादशयोजनम् । मध्ये त्रिंशत्पृथुर्योऽग्रे दशयोजनविस्तृतिः ॥८३॥
उच्छ्रायस्य तुरीयांशमवगाढश्च यः क्षितौ । गन्धिलादेशविष्कम्भमानदण्ड इवायतः ॥८४॥

टुकड़ा लग जानेसे व्याकुल हुए हंस अनेक प्रकारके मनोहर शब्द करते हैं ॥७४॥ उस देशके वनोंमें मदसे निमीलित नेत्र हुए जंगली हाथी निरन्तर इस प्रकार घूमते हैं मानो दिग्गजोंको ही बुला रहे हों ॥७५॥ जिसके सींगोंकी नोकपर कीचड़ लगी हुई तथा जो बड़ी कठिनाईसे वशमें किये जा सकते हैं ऐसे गर्वीले बैल उस देशके खेतोंमें स्थलकमलिनियोंको उखाड़ा करते हैं ॥७६॥ उस देशके जिनमन्दिरोंमें संगीतके समय जो तबला बजते हैं, उनके शब्दोंको मेघका शब्द समझकर हर्षसे उन्मत्त हुए मयूर असमयमें ही-वर्षा ऋतुके बिना ही नृत्य करते रहते हैं ॥७७॥ उस देशकी गायें यथासमय गर्भ धारण कर मनोहर शब्द करती हुई अपने पय-दूधसे सबका पोषण करती हैं, इसलिए वे मेघके समान शोभायमान होती हैं क्योंकि मेघ भी यथासमय जलरूप गर्भको धारण कर मनोहर गर्जना करते हुए अपने पय-जलसे सबका पोषण करते हैं ॥ ७८ ॥ उस देशमें बरसते हुए मेघ मदोन्मत्त हाथियोंके समान शोभायमान होते हैं। क्योंकि हाथी जिस प्रकार पताकाओंके सहित होते हैं उसी प्रकार मेघ भी बलाकाओंकी पंक्तियोंसे सहित हैं, हाथी जिस प्रकार गम्भीर गर्जना करते हैं उसी प्रकार मेघ भी गम्भीर गर्जना करते हैं और हाथी जैसे मद बरसाते हैं वैसे ही मेघ भी पानी बरसाते हैं ॥७९॥ उस देशमें सुयोग्य राजाकी प्रजाको कर (टॅक्स) की बाधा कभी छू भी नहीं पाती तथा हमेशा सुकाल रहनेसे वहाँ न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न किसी प्रकारकी अनीतियाँ ही हैं ॥८०॥ ऐसे इस गन्धिल देशके मध्य भागमें एक विजयार्ध नामका बड़ा भारी पर्वत है जो चाँदीमय है। तथा अपनी सफेद किरणोंसे कुलाचल पर्वतोंकी हँसी करता हुआ-सा मालूम होता है ॥८१॥ वह विजयार्ध पर्वत धरातलसे पचीस योजन ऊँचा है और ऊँचे शिखरोंसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोकका स्पर्श करनेके लिए ही उद्यत हो ॥८२॥ वह पर्वत मूलसे लेकर दश योजनकी ऊँचाई तक पचास योजन, बीचमें तीस योजन और ऊपर दश योजन चौड़ा है ॥८३॥ वह पर्वत ऊँचाईका एक चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा छह योजन जमीनके

१. अस्य श्लोकस्य पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः क्रमव्यत्ययो जातः 'म०' पुस्तके। २. स्पर्धां कर्तुम्। ३. दर्पाविष्टाः। ४ प्रोन्माद्यन्ति इत्येवशीलाः। भूवृधूभ्राजसहचररुचापत्रपालक्रन्दनिरामुड्प्रजनोत्पथोत्पदोन्मादिष्णुरिति सूत्रेण उत्पूर्वोन्मदादेर्धातोः ताच्छील्ये ष्णुच् प्रत्ययो भवति। ५. कुलाचलम् स०, ल०। ६. द्वौ वारौ द्वि, द्विस्तौङ्ग्याद् विस्तृतो मूलात्प्रभृत्यादशयोजनम्। मूलादारभ्य दशयोजनपर्यन्त तुङ्गत्वात् पञ्चविंशतियोजनप्रमिताद् द्विवारं विस्तृतः पञ्चाशत्योजनप्रमितविस्तार इत्यर्थः।

दशयोजनविस्तीर्ण-श्रेणीद्वयसमाश्रयान्। यो धत्ते खेचरावासान् [1]सुरवेश्मापहासिन ॥८५॥
[2]खेचरीजनसंचारसंक्रान्तपदयावकै:[3] । रक्ताम्बुजोपहारश्रीर्यत्र नित्यं वितन्यते ॥८६॥
अभेद्यशक्तिरक्षय्य.[4] [5]सिद्धविद्यैरुपासित[6] । दधदात्यन्तिकीं[7] शुद्धि सिद्धात्मेव विभाति य:[8] ॥८७॥
योऽनादिकालसंबन्धिशुद्धिशक्तिसमन्वयात् । भव्यात्मनिर्विशेषोऽपि[9] दीक्षायोगपराङ्मुख. ॥८८॥
विद्याधरै सदाराध्यो निर्मलात्मा [10]सनातनः। [11]सुनिश्चितप्रमाणो यो धत्ते जैनागमस्थितिम् ॥८९॥
भजन्त्येकाकिनो नित्यं [12]वीतसंसारभीतय. । प्रवृद्धनखरा [13]धीरा यं सिंहा इव चारणाः ॥९०॥

भीतर प्रविष्ट है तथा गन्धिला देशकी चौड़ाईके बराबर लम्बा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो उस देशको नापनेका मापदण्ड ही हो ॥८४॥ उस पर्वतके ऊपर दश-दश योजन चौड़ी दो श्रेणियाँ है जो उत्तर श्रेणि और दक्षिण श्रेणिके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनपर विद्याधरोंके निवासस्थान बने है जो अपने सौन्दर्यसे देवोंके विमानोंका भी उपहास करते हैं ॥८५॥ विद्याधर स्त्रियोंके इधर-उधर घूमनेसे उनके पैरोंका जो महावर उस पर्वतपर लग जाता है उससे वह ऐसा शोभायमान होता है मानो उसे हमेशा लाल-लाल कमलोंका उपहार ही दिया जाता हो ॥८६॥ उस पर्वतकी शक्तिको कोई भेदन नहीं कर सकता, वह अविनाशी है, अनेक विद्याधर उसकी उपासना करते हैं तथा स्वयं अत्यन्त निर्मलताको धारण किये हुए है, इसलिए सिद्ध परमेष्ठीकी आत्माके समान शोभायमान होता है क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीकी आत्मा भी अभेद्य शक्तिकी धारक है, अविनाशी है, सम्यग्ज्ञानी जीवोंके द्वारा सेवित है और कर्ममल कलंकसे रहित होनेके कारण स्थायी विशुद्धताको धारण करती है—अत्यन्त निर्मल है ॥८७॥ अथवा वह पर्वत भव्यजीवके समान है क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीव अनादिकालसे शुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्वारा प्राप्त होने योग्य निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है, उसी प्रकार वह पर्वत भी अनादिकालसे शुद्धि अर्थात् निर्मलताकी शक्तिको धारण करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वत दीक्षा धारण नहीं कर सकता जब कि भव्य जीव दीक्षा धारण कर तपस्या कर सकता है ॥८८॥ वह पर्वत हमेशा विद्याधरोंके द्वारा आराध्य है-विद्याधर उसकी सेवा करते है, स्वयं निर्मल रूप है, सनातन है-अनादिसे चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है-लम्बाई चौड़ाई आदिके निश्चित प्रमाणसे सहित है, इसलिए ठीक जैनागमकी स्थितिको धारण करता है, क्योंकि जैनागम भी विद्याधरोंके द्वारा—सम्यग्ज्ञानके धारक विद्वान् पुरुषोंके द्वारा आराध्य है-बड़े-बड़े विद्वान् उसका ध्यान, अध्ययन आदि करते है, निर्मल रूप है-पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित है, सनातन है-द्रव्य दृष्टिकी अपेक्षा अनादिसे चला आया है और सुनिश्चित प्रमाण है-युक्तिसिद्ध प्रत्यक्ष परोक्षप्रमाणोंसे प्रसिद्ध है ॥८९॥ उस पर्वतपर चारण ऋद्धिके धारक मुनि हमेशा सिंहके समान विहार करते रहते है क्योंकि जिस प्रकार सिंह अकेला होता है उसी प्रकार वे मुनि भी एकाकी (अकेले) रहते हैं, सिंहको जैसे इधर-उधर घूमनेका भय नहीं रहता वैसे ही उन मुनियोंको भी इधर-उधर घूमने अथवा चतुर्गतिरूप संसारका भय नहीं होता, सिंहके नख जैसे बड़े होते हैं उसी

१. वेश्मोप-द०,स०,ल० । २ खचरो-प०,म०,द० । ३. अलक्तकै. । ४. न क्षीयत इत्यक्षय्य. । ५. विद्याधरै., पक्षे सम्यग्ज्ञानिभिः । ६. आराधित । ७. अत्यन्ते भवा आत्यन्तिकी । ८. शुद्धित्वेन शक्तिः तस्याः सबन्धात्। उक्त च भव्यपक्षे-"शुद्ध्यशुद्धी पुन शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवद्" इति पर्वतपक्षे सुगमम् । ९ सदृशः। १०. नित्यः । ११ पक्षे सुनिश्चितानि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि यस्मिन् । १२. पक्षे संभ्रमणम् । १३. मनीषिण. ।

यो वितत्य[1] पृथुश्रेणीद्वयं पक्षद्वयोपमम् । [2]समुत्पित्सुरिवाभाति नाकलक्ष्मीदिदृक्षया ॥९१॥
यस्य सानुषु रम्येषु किन्नराः सुरपन्नगाः । रंरम्यमाणाः सुचिरं विस्मरन्ति निजालयान् ॥९२॥
यदीया राजतीर्भित्तीः शरन्मेघावली श्रिता । [3]व्यज्यते शीकरासारैः स्तनितैश्चलितैरपि[4] ॥९३॥
यस्तुङ्गैः शिखरैर्धत्ते देवावासान् स्फुरन्मणीन् । चूडामणीनिवोदग्रान् सिद्धायतनपूर्वकान् ॥९४॥
दधात्युच्चैः स्वकूटानि मुकुटानीव [5]भूमिभृत् । परार्घ्यरत्नचित्राणि यः श्लाघ्यानि सुरासुरैः ॥९५॥
गुहाद्वयं च यो धत्ते द्युद्वज्रकवाटकम्[6] । स्वसारधननिक्षेपमहादुर्गमिवायतम् ॥९६॥
उत्संगादेत्य नीलाद्रेर्गङ्गासिन्धू महापगे । विशुद्धत्वादलङ्घ्यस्य यस्य पादान्तमाश्रिते ॥९७॥
यस्तटोपान्तसं[7]रूढवनराजीपरिष्कृतः । नीलाम्बरधरस्योच्चैर्धत्ते लाङ्गलिनः श्रियम् ॥९८॥
वनवेदीं समुत्तुङ्गां यो बिभर्त्यभितो वनम्[8] । रामणीयकसीमानमिव केनापि निर्मिताम् ॥९९॥
संचरत्खचरीपादनूपुरारावकर्षकः[9] । यत्र गन्धवहो वाति मन्दं [10]मन्दारवीथिषु ॥१००॥
य पूर्वापरकोटीभ्यां दिकूतटानि विघट्टयन् । स्वगतं वक्ति माहात्म्यं [11]जगद्गुरुमरक्षमम् ॥१०१॥

प्रकार दीर्घ तपस्याके कारण उन मुनियोंके नख भी बड़े होते हैं और सिंह जिस प्रकार धीर होता है उसी प्रकार वे मुनि भी अत्यन्त धोर वीर हैं ॥९०॥ वह पर्वत अपनी दोनों श्रेणियोंसे ऐसा मालूम होता है मानो दोनों पंखे फैलाकर स्वर्गलोककी शोभा देखनेकी इच्छासे उड़ना ही चाहता हो ॥९१॥ उस पर्वतके मनोहर शिखरोंपर किन्नर और नागकुमार जातिके देव चिरकाल तक क्रीड़ा करते-करते अपने घरोंको भी भूल जाते हैं ॥९२॥ उस पर्वतकी रजतमयी सफेद दीवालोंपर आश्रय लेनेवाले शरद्ऋतुके श्वेत बादलोंका पता लोगोंको तब होता है जब कि वे छोटी-छोटी बूँदोंसे बरसते हैं, गरजते हैं और इधर-उधर चलने लगते हैं ॥९३॥ वह पर्वत अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-द्वारा देवोंके अनेक आवासोंको धारण करता है। वे आवास चमकीले मणियोंसे युक्त हैं और उस पर्वतके चूणामणिके समान मालूम होते हैं। उन शिखरोंपर अनेक सिद्धायतन (जैनमन्दिर) भी बने हुए हैं ॥९४॥ वह विजयार्धपर्वतरूपी राजा मुकुटोंके समान अत्यन्त ऊँचे कूटोंको धारण करता है। वे मुकुट अथवा कूट महामूल्य रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं तथा सुर और असुर उनकी प्रशंसा करते हैं ॥९५॥ वह पर्वत देदीप्यमान वज्रमय कपाटोंसे युक्त दरवाजोंको धारण करता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो अपने सारभूत धनको रखनेके लिए लम्बे-चौड़े महादुर्ग-किलेको धारण कर रहा हो ॥९६॥ वह पर्वत अत्यन्त विशुद्ध और अलङ्घ्य है इसलिए ही मानो गङ्गा सिन्धु नामकी महानदियोंने नीलगिरिकी गोदसे (मध्य भागसे) आकर उसके पादों–चरणों–अथवा समीपवर्ती शाखाओंका आश्रय लिया है ॥९७॥ वह पर्वततटके समीप खड़े हुए अनेक वनोंसे शोभायमान है इसलिए नीलवस्त्रको पहने हुए बलभद्रकी उत्कृष्ट शोभाको धारण कर रहा है ॥९८॥ वह पर्वत वनके चारों ओर बनी हुई ऊँची वनवेदीको धारण किये हुए है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो किसीके द्वारा बनायी गयी सुन्दर सीमा अथवा सौन्दर्यकी अवधिको ही धारण कर रहा हो ॥९९॥ उस पर्वतपर कल्पवृक्षोंके मध्यमार्गसे सुगन्धित वायु हमेशा धीरे-धीरे बहता रहता है, उस वायुमें इधर-उधर घूमनेवाली विद्याधरियोंके नूपुरोंका मनोहर शब्द भी मिला होता है ॥१००॥ वह पर्वत अपनी पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे दिशाओंके किनारों-

---

१. विस्तारं कृत्वा । २. समुत्पतितुमिच्छुः । ३. प्रकटीक्रियते । ४ चलनैः । ५. राजा । ६. कपाटकम् अ०, द०, स०, प०, ल० । ७. समुत्पन्न । ८ वनस्य अभितः । ९. आकर्षकः । १०. कल्पवृक्ष । ११. जगतो महामरक्षमम् ।

[1]तनायतो [2]यदि व्योम्नि स्ववर्ष्मणा न हेलया । तदा जगत्कुटीमध्ये [3]समास्यत् क्व सोऽद्रिराट् ॥१०२॥
सोऽचलस्तुङ्गकूटाग्रैर्विभाति [4]विशुद्धैरात्मनोन्नतैः । कुलाचलैरिव स्पर्धां निरुद्धैः कर्तुमुद्यतः ॥१०३॥
[5]तस्यास्त्युत्तरतः [6]श्रेण्यामलकेति परा पुरी । सालकैः [7]खचरीवक्त्रैः साकं हसति या विधुम् ॥१०४॥
सा तस्यां नगरी भाति श्रेण्यां प्राप्तमहोदया । शिलायां पाण्डुकाख्यायां जैनीवाभिषवक्रिया ॥१०५॥
महत्यां [8]शब्दविद्यायां प्रक्रियेवातिविस्तृता । भगवद्दिव्यभाषायां नानाभाषात्मतेव या ॥१०६॥
या धत्ते सालमुत्तुङ्गगोपुरद्वारमुच्छ्रितम् । वेदिकावलयं प्रान्ते जम्बूद्वीपस्थली यथा ॥१०७॥
यत्खातिका भ्रमद्भृङ्गरचिताञ्जनरञ्जितैः । पद्मोत्पलैः स्फुरन्नेत्रैः [9]खेचरानिव वीक्षते ॥१०८॥
शोभायै केवलं यस्याः सालः [10]सपरिखावृतिः । तत्पालकभुजालम्बसंरक्षिताः प्रजाः ॥१०९॥
यस्याः सौधावलीशृङ्गसङ्गिनी केतुमालिका । कैलासकूटनिपतद्धंसमालां विडम्बते ॥११०॥
गृहेषु दीर्घिका [11]यस्यां कलहंसविकूजितैः । [12]मानसं व्याहसन्तीव प्रफुल्लाम्भोरुहश्रियः ॥१११॥

का मर्दन करता हुआ ऐसा मालूम होता है मानो जगत्‌के भारसे भारी भारको धारण करने-में सामर्थ्य रखनेवाले अपने माहात्म्यको ही प्रकट कर रहा हो ॥१०१॥ यदि यह पर्वत तिर्यक् प्रदेशोंमें लम्बा न होकर कौतूहलमात्रसे आकाशमें ही बढ़ा जाता तो जगत्‌रूपी कुटीमें कहाँ समाता ? ॥१०२॥ वह पर्वत इतना ऊँचा और इतना निर्मल है कि अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरों-द्वारा कुलाचलोंके साथ भी स्पर्धाके लिए तैयार रहता है ॥१०३॥ ऐसे उस विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक अलका नामकी श्रेष्ठ पुरी है जो केशवाली विद्याधरियोंके मुखके साथ-साथ चन्द्रमाकी भी हँसी उड़ाती है ॥१०४॥ बड़े भारी अभ्युदयको प्राप्त वह नगरी उस उत्तर-श्रेणीमें इस प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार कि पाण्डुक शिलापर जिनेन्द्रदेवकी अभिषेक-क्रिया सुशोभित होती है ॥१०५॥ वह अलकापुरी किसी बड़े व्याकरणपर बनी हुई प्रक्रियाके समान अतिशय विस्तृत है तथा भगवन् जिनेन्द्रदेवकी दिव्य ध्वनिमें जिस प्रकार नाना भाषा-त्मता है अर्थात् नाना भाषारूप परिणमन करनेका अतिशय विद्यमान है उसी प्रकार उस नगरीमें भी नाना भाषात्मता है अर्थात् नाना भाषाएँ उस नगरीमें बोली जाती हैं ॥१०६॥ वह नगरी ऊँचे-ऊँचे गोपुर-दरवाजोंसे सहित अत्यन्त उन्नत प्राकार (कोट) को धारण किये हुए है जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो वेदिकाके वलयको धारण किये हुए जम्बू-द्वीपकी स्थली ही हो ॥१०७॥ उस नगरीकी परिखामें अनेक कमल फूले हुए हैं और उन कमलोंपर चारों ओर भौंरे फिर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो वह परिखा इधर-उधर घूमते हुए भ्रमररूपी सुन्दर अंजनसे सुशोभित कमलरूपी नेत्रोंके द्वारा वहाँके विद्याधरोंको देख रही हो ॥१०८॥ उस नगरीके चारों ओर परिखासे घिरा हुआ जो कोट है वह केवल उसकी शोभाके लिए ही है क्योंकि उस नगरीका पालन करने-वाला विद्याधर नरेश अपनी भुजाओंसे ही प्रजाकी रक्षा करता है ॥१०९॥ उस नगरी-के बड़े-बड़े पक्के मकानोंके शिखरोंपर फहराती हुई पताकाएँ, कैलासके शिखरपर उतरती हुई हंसमालाको तिरस्कृत करती हैं ॥११०॥ उस नगरीके प्रत्येक घरमें फूले हुए कमलोंसे शोभायमान अनेक वापिकाएँ हैं। उनमें कलहंस (बत्तख) पक्षी मनोहर शब्द करते हैं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो मानसरोवरकी हँसी ही कर रही हों ॥१११॥

१. अदीर्घः । २. यदा ल०, ब०, द० । ३. माङ् माने लुङ् । ४. विशुद्धित्वाद् म०, प०, द०, ट० । ५. ततोऽस्त्यु-अ०, स० । ६. उत्तरस्याम् । ७. खेचरी म० द० । ८. व्याकरणशास्त्रे । ९. वीक्ष्यन्तीव म०, प०, द०, ल० । १०. सपरिखावृतः म० । ११. यस्याः अ०, ब०, द०, प०, म० । १२. मानसनाम सरोवरम् ।

स्वच्छाम्बुवसना वाप्यो नीलोत्पलवतंसका[1]। भान्ति पद्मानना यत्र लसत्कुवलयेक्षणाः ॥११२॥
यत्र मर्त्या न सन्त्यज्ञा नाङ्गना शीलवर्जिताः। नानारामा निवेशाश्च नारामाः फलवर्जिताः ॥११३॥
विनार्हत्पूजया जातु जायन्ते न जनोत्सवाः। विना संन्यासविधिना मरणं यत्र नाङ्गिनाम् ॥११४॥
सस्यान्यकृष्टपच्यानि यत्र नित्यं चकासति[2]। प्रजानां सुकृतानीव [3]वितरन्ति महत्फलम् ॥११५॥
यत्रोद्यानेषु पाय्यन्ते [4]पयोदैर्बालपादपाः। स्तनन्धया इवाप्राप्तस्थेमानो[5] यत्नरक्षिताः ॥११६॥
महाब्धाविव सध्वाने स्फुरद्रत्ने वणिक्पथे। विचरन्ति जना यस्यां [6]मत्स्या इव समन्ततः ॥११७॥
पद्मेष्वेव विकोशत्वं[7] प्रमदास्वेव भीरुता[8]। दन्तच्छदेष्वधरता[9] यत्र [10]निस्त्रिंशतासिषु ॥११८॥
याच्ञाकरग्रहौ यस्यां विवाहेष्वेव केवलम्। मालास्वेव परिम्लानिर्द्विरदेष्वेव बन्धनम् ॥११९॥
जनैरत्युत्सुकैर्वीक्ष्यं [11]वयस्कान्तं [12]सपुष्पकम्। [13]बाणाङ्कितं यदुद्यानं वधूवरमिव प्रियम् ॥१२०॥

उस नगरीमें अनेक वापिकाएँ स्त्रियोंके समान शोभायमान हो रही हैं क्योंकि स्वच्छ जल ही उनका वस्त्र है, नील कमल ही कर्णफूल है, कमल ही मुख है और शोभायमान कुवलय ही नेत्र हैं॥ ११२॥ उस नगरीमें कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो अज्ञानी हो, कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शीलसे रहित हो, कोई ऐसा घर नहीं है जो बगीचेसे रहित हो और कोई ऐसा बगीचा नहीं है जो फलोंसे रहित हो॥ ११३॥ उस नगरीमें कभी ऐसे उत्सव नहीं होते जो जिन-पूजाके बिना ही किये जाते हों तथा मनुष्योंका ऐसा मरण भी नहीं होता जो संन्यासकी विधिसे रहित हो॥११४॥ उस नगरीमें धानके ऐसे खेत निरन्तर शोभायमान रहते हैं जो बिना बोये-बखरे ही समयपर पक जाते हैं और पुण्यके समान प्रजाको महाफल देते हैं॥११५॥ उस नगरीके उपवनोंमें ऐसे अनेक छोटे-छोटे वृक्ष (पौधे) हैं जिन्हें अभी पूरी स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त नहीं हुई है। अन्य लोग उनकी यत्नपूर्वक रक्षा करते हैं तथा बालकोंकी भाँति उन्हें पय-जल (पक्षमें दूध) पिलाते हैं॥११६॥ उस नगरीके बाजार किसी महासागरके समान शोभायमान हैं क्योंकि उनमें महासागरके समान ही शब्द होता रहता है, महासागरके समान ही रत्न चमकते रहते हैं और महासागरमें जिस प्रकार जलजन्तु सब ओर घूमते रहते हैं उसी प्रकार उनमें भी मनुष्य घूमते रहते हैं॥११७॥ उस नगरीमें विकोशत्व-(खिल जानेपर कुड्मल-बौंड़ीका अभाव) कमलोंमें ही होता है, वहाँके मनुष्योंमें विकोशत्व-(खजानोंका अभाव) नहीं होता। भीरुता केवल स्त्रियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें नहीं, अधरता ओठोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें अधरता-नीचता नहीं है। निस्त्रिंशता-खड्गपना तलवारोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें निस्त्रिंशता-क्रूरता नहीं है। याच्ञा-वधूकी याचना करना और करग्रह-पाणिग्रहण (विवाह-कालमें होनेवाला संस्कारविशेष) विवाहमें ही होता है वहाँके मनुष्योंमें याच्ञा-भिक्षा माँगना और करग्रह-टैक्स वसूल करना अथवा अपराध होनेपर जंजीर आदिसे हाथोंका पकड़ा जाना नहीं होता। म्लानता-मुरझा जाना पुष्पमालाओंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें म्लानता-उदासीनता अथवा निष्प्रभता नहीं है और बन्धन-रस्सी वगैरहसे बाँधा जाना केवल हाथियोंमें ही है वहाँके मनुष्योंमें बन्धन-कारागार आदिका बन्धन नहीं है॥११८-११९॥ उस नगरीके उपवन ठीक वधूवर अर्थात् दम्पतिके समान सबको अतिशय प्रिय लगते हैं क्योंकि वधूवरको लोग जैसे

---

१ कर्णाभरणानि। -वतंसिका. द०। २. चकासते म०, ल०। ३ ददति। ४ पयोऽर्थं-अ०, द०, स०, प०। ५. अप्राप्तस्थिरत्वा.। ६. यस्यां यादांसीव ल०, प०, द०, म०, स०, ल०। ७. भण्डाररहितत्वम्, पक्षे विकुड्मलत्वम्। ८. स्त्रीत्वं भीतिश्च। ९ नीचत्वं च। १०. निस्त्रिंशत्वं खड्गत्वम्, पक्षे क्रूरत्वं च। ११ पक्षिभिः कान्तं च। १२ सपुष्पमस्तकम्। १३. बाण- झिण्टिः वधूवरे, पक्षे शरः।

इति प्रतीतमाहात्म्या विजयार्द्धमहीभृतः । [1]सद्वृत्तवर्णसंकीर्णा सा पुरी तिलकायते ॥१२१॥
तस्याः [2]पतिरभूत् खेन्द्रमुकुटारूढशासनः[3] । खगेन्द्रोऽतिबलो नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षयः[4] ॥१२२॥
स धर्मविजयी[5] शूरो जिगीषुररिमण्डले । [6]षाड्गुण्येनाजयत् कृत्स्नं विपक्षमनुपेक्षितम्[7] ॥१२३॥
स कुर्वन् वृद्धसंयोगं विजितेन्द्रियसाधनः[8] । [9]साधनैः प्रतिसामन्तान् लीलयैवोदमूलयत् ॥१२४॥
[10]महोदयो महोत्तुङ्गवंशो भास्वन्महाकरः । महादानेन सोऽपुष्णादाश्रितानिव दिग्द्विपः ॥१२५॥
लसद्दन्तांशु तस्यास्यं [11]सज्योत्स्नं बिम्बमैन्दवम् । जित्वेव भूपताकाभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां व्यराजत ॥१२६॥

बड़ी उत्सुकतासे देखते है उसी प्रकार वहाँके उपवनोंको भी लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते है। वधूवर जिस प्रकार वयस्कान्त-तरुण अवस्थासे सुन्दर होते हैं उसी प्रकार उपवन भी वयस्कान्त-पक्षियोंसे सुन्दर होते हैं। वधूवर जिस प्रकार सपुष्पक-पुष्पमालाओंसे सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी सपुष्पक-फूलोंसे सहित होते हैं। और वधूवर जिस प्रकार बाणांकित-बाण-चिह्नसे चिह्नित अथवा धनुषबाणसे सहित होते हैं उसी प्रकार उपवन भी बाण जातिके वृक्षोंसे सहित होते है॥ १२० ॥ इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जो अनेक प्रकारके सच्चरित्र ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंसे व्याप्त है ऐसी वह अलका नगरी उस विजयार्ध पर्वतरूपी राजाके मस्तकपर गोल तथा उत्तम रंगवाले तिलकके समान सुशोभित होती है॥१२१॥ उस अलकापुरीका राजा अतिबल नामका विद्याधर था जो कि शत्रुओंके बलका क्षय करनेवाला था और जिसकी आज्ञाको समस्त विद्याधर राजा मुकुटके समान अपने मस्तकपर धारण करते थे॥१२२॥ वह अतिबल राजा धर्मसे ही (धर्मसे अथवा स्वभावसे) विजयलाभ करता था शूरवीर था और शत्रुसमूहको जीतनेवाला था। उसने सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छह गुणोंसे बड़े-बड़े शत्रुओंको जीत लिया था॥१२३॥ वह राजा हमेशा वृद्ध मनुष्योंकी संगति करता था तथा उसने इन्द्रियोंके सब विषय जीत लिये थे इसीलिए वह अपनी सेना-द्वारा बड़े-बड़े शत्रुओंको लीलामात्रमें ही उखाड़ देता था-नष्ट कर देता था॥१२४॥ वह राजा दिग्गजके समान था क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज महान् उदयसे सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी महान् उदय (वैभव) से सहित था, दिग्गज जिस प्रकार ऊँचे वंश (पीठकी रीढ) का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी सर्वश्रेष्ठ वंश-कुलका धारक था—उच्च कुलमें पैदा हुआ था। दिग्गज जिस प्रकार भास्वन्महाकर-प्रकाशमान लम्बी सूँड़का धारक होता है उसी प्रकार वह राजा भी देदीप्यमान लम्बी भुजाओंका धारक था तथा दिग्गज जिस प्रकार अपने महादानसे—भारी मदजलसे भ्रमर आदि आश्रित प्राणियों-का पोषण करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने महादान-विपुल दानसे शरणमें आये हुए पुरुषोंका पोषण करता था॥ १२५ ॥ उस राजाके मुखसे शोभायमान दाँतोंकी किरणे निकल रही थीं तथा दोनों भौंहें कुछ ऊपरको उठी हुई थीं इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो उसके मुखने चन्द्रिकासे शोभित चन्द्रमाको जीत लिया है और इसीलिए उसने अपनी

---

१. सद्वृत्तं येषा ते तैः सकीर्णा., सद्वृत्त च वर्ण च इति सद्वृत्तवर्णौ ताभ्या सकीर्णा च। २. प्रभु- अ०, द०, स०, द०। ३. आरोपिताज्ञ। ४ क्षय प्रलयकाल। ५ दैवबलवान्। ६ 'संधिविग्रह-यानासनद्वैधाश्रया इति षड्गुणा' षड्गुणा एव षाड्गुण्यं तेन। ७. सावधानं यथा भवति। ८ करणग्रामः। ९. सेनाभिः। सामन्तैः प०। १०, पक्षे पृष्ठास्थि। ११ सज्ज्योत्स्नं द०।

सपुष्पकेशमस्याभादुत्तमाङ्गं [1]सदानवम् । त्रिकूटाग्रमिवोपान्तपतच्चामरनिर्झरम् ॥१२७॥
पृथु वक्षःस्थलं हारि [3]हारवल्लीपरिष्कृतम्[4] । क्रीडाद्वीपायितं लक्ष्म्या स बभार गुणाम्बुधिः ॥१२८॥
करौ करिकराकारावूरू कामेषुधीयितौ । [5]कुरुविन्दाकृती जङ्घे क्रमावम्बुजसच्छवी ॥१२९॥
[6]प्रतिप्रतीकमित्यस्य [7]कृतं वर्णनयानया । यद्यच्चारूपमावस्तु तत्तत्स्वाङ्गैर्जिगीषत[8] ॥१३०॥
मनोहराङ्गी तस्याभूत् प्रिया नाम्ना मनोहरा । मनोभवस्य जैत्रेषुरिव या रूपशोभया ॥१३१॥
स्मितपुष्पोज्ज्वला भर्तुः प्रियासील्लतिकेव सा । हितानुबन्धिनी जैनी[9] विद्येव च यशस्करी ॥१३२॥
तयोर्महाबलख्यातिरभूत् सूनुर्महोदयः । यस्य [10]जातावभूत् प्रीतिः पिण्डीभूतेव बन्धुषु ॥१३३॥
कलासु कौशलं शौर्यं त्यागः प्रज्ञा क्षमा दया । [11]धृतिः सत्यं च शौचं च गुणास्तस्य निसर्गजाः ॥१३४॥
स्पर्धयेव वपुर्वृद्धौ विवृद्धा प्रत्यहं गुणाः । स्पर्द्धा ह्येकत्र भूष्णूनां[12] क्रियासाम्याद् विवर्धते ॥१३५॥

भौंहोंरूप दोनों पताकाएँ फहरा रखी हों ॥१२६॥ महाराज अतिबलका मस्तक ठीक त्रिकूटाचलके शिखरके समान शोभायमान था क्योंकि जिस प्रकार त्रिकूटाचल–सपुष्पकेश–पुष्पक विमानके स्वामी रावणसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सपुष्पकेश–अर्थात् पुष्पयुक्त केशोंसे सहित था। त्रिकूटाचलका शिखर जिस प्रकार सदानव–दानवोंसे–राक्षसोंसे सहित था उसी प्रकार उनका मस्तक भी सदानव–हमेशा नवीन था–श्याम केशोंसे सहित था। और त्रिकूटाचलके समीप जिस प्रकार जलके झरने झरा करते हैं उसी प्रकार उनके मस्तकके समीप चौर ढुल रहे थे ॥१२७॥ वह राजा गुणोंका समुद्र था, उसका वक्षःस्थल अत्यन्त विस्तृत था, सुन्दर था और हाररूपी लताओंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीका क्रीड़ाद्वीप ही हो ॥१२८॥ उस राजाकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान थीं, जाँघें कामदेवके तरकसके समान थीं, पिंडरियाँ पद्मरागमणिके समान सुदृढ़ थीं और चरणकमलोंके समान सुन्दर कान्तिके धारक थे ॥१२९॥ अथवा इस राजाके प्रत्येक अंगका वर्णन करना व्यर्थ है क्योंकि संसारमें सुन्दर वस्तुओंकी उपमा देने योग्य जो भी वस्तुएँ हैं उन सबको यह अपने अंगोंके द्वारा जीतना चाहता है। भावार्थ—संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा देकर उस राजाके अंगोंका वर्णन किया जाये ॥१३०॥ उस राजाकी मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली मनोहरा नामकी रानी थी जो अपनी सौन्दर्य-शोभाके द्वारा ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवका विजयी बाण ही हो ॥१३१॥ वह रानी अपने पतिके लिए हास्यरूपी पुष्पसे शोभायमान लताके समान प्रिय थी और जिनवाणीके समान हित चाहनेवाली तथा यशको बढ़ानेवाली थी ॥१३२॥ उन दोनोंके अतिशय भाग्यशाली महाबल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रके उत्पन्न होते ही उसके समस्त सहोदरोंमें प्रेमभाव एकत्रित हो गया था ॥१३३॥ कलाओंमें कुशलता, शूरवीरता, दान, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य और शौच ये उनके स्वाभाविक गुण थे ॥१३४॥ उस महाबलका शरीर तथा गुण ये दोनों प्रतिदिन परस्परकी ईर्ष्यासे वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे अर्थात् गुणोंकी वृद्धि देखकर शरीर बढ़ रहा था और शरीरकी वृद्धिसे गुण बढ़ रहे थे। सो ठीक ही है क्योंकि एक स्थानपर रहनेवालोंमें क्रियाकी समानता होनेसे ईर्ष्या

---

१. पुष्पकचसहितम् पुष्पकविमानाधीशसहितं च । सरावणमिति यावत् । २. नित्यं नूतनं सराक्षसं च । ३. हारावलि–स० । ४ अलङ्कृतम् । ५. पद्मरागरत्नाङ्कुराकृती । "कुरुविन्दस्तु मुस्तायां कुल्माषव्रीहिभेदयोः । हिङ्गुले पद्मरागे च मुकुरेऽपि समीरितः ॥" ६ अवयवं प्रति । ७. अलम् । ८ जिगीषति स०, म०, ल० । ९. जैनागम इव । १० उत्पत्तौ । ११ संतोषः । १२ भूताना स०, म०, ल० ।

[1]राजविद्याश्चतस्रोऽपि सोऽध्यैष्ट गुरुसंनिधौ। स ताभिर्विबभौ भाभिः स्वाभिरुद्यन्निवांशुमान् ॥१३६॥
[2]सोऽधीयन्[3] निखिलां विद्यां [4]गुरुसंस्कारयोगतः। दिदीपेऽधिकमर्चिष्मा[5]निवानिलसमन्वितः[6] ॥१३७॥
प्रश्रयाद्यान् गुणानस्य मत्वा योग्यत्वपोषकान्। यौवराज्यपदं तस्मै साऽनुमेने खगाधिपः ॥१३८॥
संविभक्ता तयोर्लक्ष्मीश्चिरं रेजे धृतायतिः। हिमवत्यम्बुराशौ च व्योमगङ्गेव संगता ॥१३९॥
स राजा तेन पुत्रेण [7]पुत्री बहुसुतोऽप्यभूत्। नभोभागो यथार्केण ज्योतिष्मान्नापरैर्ग्रहैः ॥१४०॥
अथान्येद्युरसौ राजा निर्वेदं विषयेष्वगात्। वितृष्णः कामभोगेषु प्रव्रज्यायै कृतोद्यमः ॥१४१॥
विषपुष्पमिवात्यन्तविषमं प्राणहारकम्। [8]महादृष्टिविषस्थानमिव चात्यन्तभीषणम् ॥१४२॥
[9]निर्भुक्तमाल्यवद् भूयो न भोग्यं मानशालिनाम्। दुष्कलत्रमिवापायि हेयं राज्यममंस्त सः ॥१४३॥
भूयोऽप्यचिन्तयद् धीमानिमां संसारवल्लरीम्। [10]उत्खेत्स्यामि महाध्यानकुठारेण [11]क्षमीभवन् ॥१४४॥
मूलं मिथ्यात्वमेतस्या पुष्पं [12]जात्यादिकं फलम्। [13]व्यसनान्यसुभृद्भृङ्गैः सेव्येयं [14]विषयासवे ॥१४५॥

हुआ ही करती है ॥१३५॥ उस पुत्रने गुरुओंके समीप आन्वीक्षिकी आदि चारों विद्याओंका अध्ययन किया था तथा वह पुत्र उन विद्याओंसे ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि उदित होता हुआ सूर्य अपनी प्रभाओंसे शोभायमान होता है ॥१३६॥ उसे पूर्वभवके प्रबल संस्कारके योगसे समस्त विद्याएँ स्मृत हो उठीं जिनसे वह वायुके समागमसे अग्निके समान और भी अधिक देदीप्यमान हो गया ॥१३७॥ महाराज अतिबलने अपने पुत्रकी योग्यता प्रकट करनेवाले विनय आदि गुण देखकर उसके लिए युवराज पद देना स्वीकार किया ॥१३८॥ उस समय पिता, पुत्र दोनोंमें विभक्त हुई राज्यलक्ष्मी पहलेसे कहीं अधिक विस्तृत हो हिमालय और समुद्र दोनोंमें पड़ती हुई आकाशगंगाकी तरह चिरकाल तक शोभायमान होती रही ॥१३९॥ यद्यपि राजा अतिबलके और भी अनेक पुत्र थे तथापि वे उस एक महाबल पुत्रसे ही अपने-आपको पुत्रवान् माना करते थे जिस प्रकार कि आकाशमें यद्यपि अनेक ग्रह होते हैं तथापि वह एक सूर्यग्रहके द्वारा ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहोंसे नहीं ॥१४०॥ इसके अनन्तर किसी दिन राजा अतिबल विषयभोगोंसे विरक्त हुए और कामभोगोंसे तृष्णारहित होकर दीक्षा-ग्रहण करनेके लिए उद्यम करने लगे ॥१४१॥ उस समय उन्होंने विचार किया कि यह राज्य विषपुष्पके समान अत्यन्त विषम और प्राणहरण करनेवाला है। दृष्टिविष सर्पके समान महा भयानक है, व्यभिचारिणी स्त्रीके समान नाश करनेवाला है तथा भोगी हुई पुष्पमालाके समान उच्छिष्ट है अतः सर्वथा हेय है–छोड़ने योग्य है, स्वाभिमानी पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहीं है ॥१४२-१४३॥ वे बुद्धिमान् महाराज अतिबल फिर भी विचार करने लगे कि मैं उत्तम क्षमा धारण कर अथवा ध्यान, अध्ययन आदिके द्वारा समर्थ होकर अपनी आत्म-शक्तिको बढ़ाकर इस संसाररूपी बेलको अवश्य ही उखाड़ूँगा ॥१४४॥ इस संसाररूपी बेलकी मिथ्यात्व ही जड़ है, जन्म-मरण आदि ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन अर्थात्

---

१ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्या। आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयी-स्थितः। अर्थानर्थौ च वार्तायां दण्डनीत्या नयानयौ ॥" २. सोऽवधार्याखिला अ०,। सोऽधीयान्निखिला विद्या द०,प०,म०,स०। ३. अधीयान. [अधीयन्] स्मरन्। ४. उपनयनादि। ५. अग्निः। ६. समिन्धितः स०। समागमात् म०,ल०। ७. पुत्रवान्। ८. दृष्टिविषाहिप्रदेशम्। ९. अनुभुक्तम्। १०. छेदं करिष्यामि। उच्छेत्-स्यामि द०, ट०। ११. अक्षमः क्षमो भवन् क्षमीभवन् क्षमावान्। १२. जातिजरादिकम्। १३. दुःखानि। 'व्यसनं विपरिभ्रंशे' इत्यभिधानात्। १४. विषयपुष्परसनिमित्तम्। 'हेतौ कर्मणः' इति सूत्रान्निमित्ते सप्तमी। अत्र सेव्येयम् [सेव्या इयम् इति पदच्छेदः] इत्येतदेव प्रधानं कर्म।

यौवनं क्षणभङ्गीदं भोगा भुक्ता न तृप्तये । [1]प्रत्युतात्यन्तमेवैतैस्तृष्णार्चिरभिवर्द्धते ॥१४६॥
शरीरमिदमत्यन्त[2]पूतिबीभत्स्वशाश्वतम् । [3]विलास्यतेऽद्य वा श्वो वा मृत्युवज्रविचूर्णितम् ॥१४७॥
शरीरवेणुरस्वन्तफलो[4] दुर्ग्रन्थिसंततः[5] । [6]प्लुष्टः कालाग्निना सद्यो [7]भस्मसात् स्यात् स्फुरद्ध्वनिः॥१४८॥
बन्धवो बन्धनान्येते धनं दुःखानुबन्धनम् । विषया विषसंपृक्तविषमाशनसंनिभाः ॥१४९॥
तदलं राज्यभोगेन लक्ष्मीरतिचलाचला[8] । संपदो जलकल्लोलविलोलाः सर्वमध्रुवम् ॥१५०॥
इति निश्चित्य धीरोऽसावभिषेकपुरस्सरम् । सूनवे राज्यसर्वस्वमदि[9]तातिबलस्तदा ॥१५१॥
ततो गज इवापेतबन्धनो निःसृतो गृहात् । बहुभिः खेचरैः सार्द्धं दीक्षां स समुपाददे ॥१५२॥
जिगीषु बलवद्गुप्त्या[10] समित्या च सुसंवृतम् । महानागफणारत्नमिव चान्यैर्दुरासदम् ॥१५३॥
नाभिकालोद्भवत्कल्पतरुजालमिवाम्बरैः । भूषणैश्च परित्यक्तमपेतं दोषवत्तया ॥१५४॥
[11]उदर्कसुखहेतुत्वाद् गुरूणामिव सद्वचः । नियतावासशून्यत्वात् [12]पततामिव मण्डलम् ॥१५५॥

दुःख प्राप्त होना ही इसके फल है। केवल विषयरूपी आसवका पान करनेके लिए ये प्राणीरूपी भौंरे निरन्तर इस लताकी सेवा किया करते हैं। यह यौवन क्षणभंगुर है और ये पञ्चेन्द्रियोंके भोग यद्यपि अनेक बार भोगे गये हैं तथापि इनसे तृप्ति नहीं होती, तृप्ति होना तो दूर रही किन्तु तृष्णारूपी अग्निकी सातिशय वृद्धि होती है। यह शरीर भी अत्यन्त अपवित्र, घृणाका स्थान और नश्वर है। आज अथवा कल बहुत शीघ्र ही मृत्यु-रूपी वज्रसे पिसकर नष्ट हो जायेगा। अथवा दुःखरूपी फलसे युक्त और परिग्रहरूपी गाँठोंसे भरा हुआ यह शरीररूपी बाँस मृत्युरूपी अग्निसे जलकर चट-चट शब्द करता हुआ शीघ्र ही भस्मरूप हो जायेगा। ये बन्धुजन बन्धनके समान हैं, धन दुःखको बढ़ानेवाला है और विषय विष मिले हुए भोजनके समान विषम हैं। लक्ष्मी अत्यन्त चञ्चल है, सम्पदाएँ जलकी लहरोंके समान क्षणभंगुर हैं, अथवा कहाँतक कहा जाये यह सभी कुछ तो अस्थिर है इसलिए राज्य भोगना अच्छा नहीं—इसे हर एक प्रकारसे छोड़ ही देना चाहिए ॥१४४-१५०॥ इस प्रकार निश्चय कर धीर-वीर महाराज अतिबलने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य पुत्र-महाबलके लिए सौंप दिया। और अपने बन्धनसे छुटकारा पाये हुए हाथीके समान घरसे निकलकर अनेक विद्याधरोंके साथ वनमें जाकर दीक्षा ले ली ॥१५१-१५२॥ इसके पश्चात् महाराज अतिबल पवित्र जिन-लिङ्ग धारण कर चिरकाल तक कठिन तपश्चरण करने लगे। उनका वह तपश्चरण किसी विजिगीषु (शत्रुओंपर विजय पानेकी अभिलाषी) सेनाके समान था क्योंकि वह सेना जिस प्रकार गुप्ति-बरछा आदि हथियारों तथा समितियों-समूहोंसे सुसंवृत रहती है, उसी प्रकार उनका वह तपश्चरण भी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे तथा ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंसे सुसंवृत—सुरक्षित था। अथवा उनका वह तपश्चरण किसी महासर्पके फणमें लगे हुए रत्नोंके समान अन्य साधारण मनुष्योंको दुर्लभ था। उनका वह तपश्चरण दोषोंसे रहित था तथा नाभिराजाके समय होनेवाले वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्षके समान

---

१. पुन किमिति चेत् । २. दुर्गन्धि । ३. विलयमेष्यति । विनाश्यते अ०, स० । विनश्यते म०, द०। ४ प्राणान्तफलः दुःखान्तफलश्च । ५. सस्थित प०, म० । ६ दग्ध । ७. भस्माधीनं भवेत् । ८. अतिशयेन चञ्चला । 'चल कम्पने' इति धातो कर्तर्यच्प्रत्यये 'चलिचलपतिवदोऽचीति द्विर्भावे अभ्यागिति पूर्वस्य अगागम । ९ ददौ । १० [योगनिग्रहतया] पक्षे रक्षया । ११. उत्तरकालः । १२. विहगानाम् ।

विषादभयदैन्यादिहानेः सिद्धास्पदोपमम् ।[1] क्षमाधारतया वातवलयस्थितिमुद्वहत्[2] ॥१५६॥
निःसंगत्वादिवाभ्यस्तपरमाणुविचेष्टितम्[3] । निर्वाणसाधनत्वाच्च रत्नत्रयमिवामलम् ॥१५७॥
सोऽत्युदारगुणं भूरितेजोभासुरमूर्जितम् । पुण्यं जैनेश्वरं रूपं दधत्तेपे[4] चिरं तप ॥१५८॥
ततः कृताभिषेकोऽसौ वलशाली महावलः । राज्यभारं दधे नम्रखेचराभ्यर्चितक्रम ॥१५९॥
स दैववलसंपन्नः[5] कृतधीरविचेष्टितः । दोर्वलं प्रथयामास संहरन् द्विषतां वलम् ॥१६०॥
मन्त्रशक्त्या प्रतिध्वस्त[6]सामर्थ्यास्तस्य विद्विषः । महाहय इवाभूवन् विक्रियाविमुखास्तदा ॥१६१॥
[7]तस्मिन्नारूढमाधुर्ये दधुः प्रीतिं प्रजादृशः । चूतद्रुम इव स्वादुसुपक्वफलशालिनि ॥१६२॥
नात्यर्थमभवत्तीक्ष्णो न चाति मृदुतां दधे । मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स जगद्वशमानयत् ॥१६३॥
[8]उभयेऽपि द्विषस्तेन शमिता भूतिमिच्छता । कालादौद्धत्यमायाता जलदेनेव पांसवः ॥१६४॥
सिद्धिर्धर्मार्थकामानां नावाधिष्ट परस्परम् । तस्य प्रयोगनैपुण्याद् वन्धू[9]भूयमिवागता ॥१६५॥

शोभायमान था। अथवा यों कहिए कि वह तपश्चरण भविष्यत्कालमें सुखका कारण होनेसे गुरुओंके सद्वचनोंके समान था। निश्चित निवास स्थानसे रहित होनेके कारण पक्षियोंके मण्डलके समान था। विषाद, भय, दीनता आदिका अभाव हो जानेसे सिद्धस्थान-मोक्ष-मन्दिरके समान था। क्षमा-शान्तिका आधार होनेके कारण (पक्षमें पृथिवीका आधार होनेके कारण) वातवलयकी उपमाको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता था। तथा परिग्रहरहित होनेके कारण पृथक् रहनेवाले परमाणुके समान था। मोक्षका कारण होनेसे निर्मल रत्नत्रयके तुल्य था। अतिशय उदार गुणोंसे सहित था, विपुल तेजसे प्रकाशमान और आत्मबलसे संयुक्त था ॥१५३–१५८॥ इस प्रकार अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् उसके बलशाली पुत्र महाबलने राज्यका भार धारण किया। उस समय अनेक विद्याधर नम्र होकर उसके चरणकमलोंकी पूजा किया करते थे ॥१५९॥ वह महाबल दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे सम्पन्न था, उसकी चेष्टाएँ वीर मानवके समान थीं तथा उसने शत्रुओंके बलका संहार कर अपनी भुजाओंका बल प्रसिद्ध किया था ॥१६०॥ जिस प्रकार मन्त्रशक्तिके प्रभावसे बड़े-बड़े सर्प सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित हो जाते हैं–वशीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार उसकी मन्त्रशक्ति (विमर्शशक्ति) के प्रभावसे बड़े-बड़े शत्रु सामर्थ्यहीन होकर विकारसे रहित (वशीभूत) हो जाते थे ॥१६१॥ जिस प्रकार स्वादिष्ट और पके हुए फलोंसे शोभायमान आम्रवृक्षपर प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ती है उसी प्रकार माधुर्य आदि अनेक गुणोंसे शोभायमान राजा महाबलपर भी प्रजाकी प्रेमपूर्ण दृष्टि पड़ा करती थी ॥१६२॥ वह न तो अत्यन्त कठोर था और न अतिशय कोमलताको ही धारण किये था किन्तु मध्यम वृत्तिका आश्रय कर उसने समस्त जगत्को वशीभूत कर लिया था ॥१६३॥ जिस प्रकार ग्रीष्म कालके आश्रयसे उड़ती हुई धूलिको मेघ शान्त कर दिया करते हैं उसी प्रकार समृद्धि चाहनेवाले उस राजाने समयानुसार उद्धत हुए–गर्वको प्राप्त हुए अन्तरंग (काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोह) तथा बाह्य दोनों प्रकारके शत्रुओंको शान्त कर दिया था ॥१६४॥ उस राजाके धर्म, अर्थ और काम, परस्परमें किसीको बाधा नहीं पहुँचाते थे–वह समानरूप

---

१ क्षान्तेराधारत्वेन, पक्षे क्षितेराधारत्वेन। २. मुद्वहन् अ०, स०, म०, ल०। ३. अभ्यस्त परमाणोर्विचेष्टितं येन। ४ तपश्चकार। ५. निष्पन्नबुद्धिः। कृतघोर्वीरचेष्टित. प०। वीरचेष्टित ल०। –६ परिध्वस्त–अ०, द०, स०, म०, प०। ७ धृतप्रियत्वे। 'स्वादुप्रियौ च मधुरावित्यभिधानात्। ८ बाह्याभ्यन्तरशत्रवः। 'अयुक्तित प्रणीताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षितीशामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः। ९. बन्धुत्वम्।

प्रायेण राज्यमासाद्य भवन्ति मदकर्कशा । नृपेभा स तु नामाद्यत्[1] प्रत्युतासीत् प्रसन्नधीः ॥१६६॥
वयसा रूपसम्पत्त्या कुलजात्यादिभिः परं । मजन्ति मदमस्यैते गुणाः प्रशममादधुः ॥१६७॥
राज्यलक्ष्म्याः परं पर्वमुद्वहन्ति नृपात्मजाः । [2]कामविद्येव [3]निर्मोक्षो साभूत्तस्योपशान्तये ॥१६८॥
अन्यायध्वनिरुत्सन्नः[4] पाति[5] तस्मिन् सुराजनि । प्रजानां भयसंक्षोभाः स्वप्नेऽप्यासन्न जातुचित् ॥१६९॥
चक्षुश्चारो[6] विचारश्च तस्यासीत् कार्यदर्शने । चक्षुषी पुनरस्यास्यमण्डने [7]दृश्यदर्शने ॥१७०॥
अथास्य यौवनारम्भे रूपमासीज्जगत्प्रियम् । पूर्णस्येव शशाङ्कस्य दधतः सकला कला ॥१७१॥
अदृश्यो मदनोऽनङ्गो दृश्योऽसौ चारुविग्रहः । तदस्य मदनो दूरमौपम्यपदमभ्यगात्[8] ॥१७२॥
तस्यामाद्यलिसङ्काश[9] मृदुकुञ्चितमूर्द्धजम् । शिरोविन्यस्तमकुटं[10] मेरोः कूटमिवाभ्रितम्[11] ॥१७३॥
ललाटमस्य विस्तीर्णमुन्नतं रुचिमादधे । लक्ष्म्या विश्रान्तये [12]क्लृप्तमिव हैमं शिलातलम् ॥१७४॥
भ्रूरेखे तस्य रेजाते कुटिले भृशमायते । मदनस्यास्त्रशालायां धनुषोरिव यष्टिके ॥१७५॥
चक्षुषी रेजतुस्तस्य भ्रूचापोपान्तवर्तिनी । विषमेषोरिवाशेषजिगीषोरिषुयन्त्रके[13] ॥१७६॥

से तीनोंका पालन करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इसके कार्यकी चतुराईसे उक्त तीनों वर्ग परस्परमें मित्रताको ही प्राप्त हुए हों ॥१६५॥ राजारूपी हस्ती राज्य पाकर प्रायः मदसे (गर्वसे पक्षमें मदजलसे) कठोर हो जाते हैं परन्तु वह महाबल मदसे कठोर नहीं हुआ था बल्कि स्वच्छ बुद्धिका धारक हुआ था ॥१६६॥ अन्य राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणोंसे मद-गर्व करने लगते हैं परन्तु महाबलके उक्त गुणोंने एक शान्ति भाव ही धारण किया था ॥१६७॥ प्रायः राजपुत्र राज्यलक्ष्मीके निमित्तसे परम अहंकारको प्राप्त हो जाते हैं परन्तु महाबल राज्यलक्ष्मीको पाकर भी शान्त रहता था जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि कामविद्यासे सदा निर्विकार और शान्त रहते हैं ॥१६८॥ राजा महाबलके राज्य करनेपर 'अन्याय' शब्द ही नष्ट हो गया था तथा भय और क्षोभ प्रजाको कभी स्वप्नमें भी नहीं होते थे ॥१६९॥ उस राजाके राज्यकार्यके देखनेमें गुप्तचर और विचारशक्ति ही नेत्रका काम देते थे । नेत्र तो केवल मुखकी शोभाके लिए अथवा पदार्थोंके देखनेके लिए ही थे ॥१७०॥ कुछ समय बाद यौवनका प्रारम्भ होनेपर समस्त कलाओंके धारक महाबलका रूप उतना ही लोकप्रिय हो गया था जितना कि सोलहों कलाओंको धारण करनेवाले चन्द्रमाका होता है ॥१७१॥ राजा महाबल और कामदेव दोनों ही सुन्दर शरीरके धारक थे । अभीतक राजाको कामदेवकी उपमा ही दी जाती थी परन्तु कामदेव अदृश्य हो गया और राजा महाबल दृश्य ही रहे इससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवने उसकी उपमाको दूरसे ही छोड़ दिया था ॥१७२॥ उस राजाके मस्तकपर भ्रमरके समान काले, कोमल और घुँघराले बाल थे, ऊपरसे मुकुट लगा था जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानो काले मेघोंसे सहित मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥१७३॥ इस राजाका ललाट अतिशय विस्तृत और ऊँचा था जिससे ऐसा शोभायमान होता था मानो लक्ष्मीके विश्रामके लिए एक सुवर्णमय शिला ही बनायी गयी हो ॥१७४॥ उस राजाकी अतिशय लम्बी और टेढ़ी भौंहोंकी रेखाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवकी अस्त्रशालामें रखी हुई दो धनुषयष्टि ही हों ॥१७५॥ भौंहरूपी चापके समीपमें रहनेवाली उसकी दोनों आँखें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो समस्त जगत्-

---

१. पुनः किमिति चेत् । २ कामशास्त्रम् । ३. निर्मोक्तुमिच्छोः । ४. नष्टः । ५ रक्षति सति । ६ गूढपुरुषः । ७ दृश्य द्रष्टुं योग्य घटपटादि । ८. -मभ्यगात् प०, म०, न०, द०, ल० । ९. सदृशम् । १०. मुकुटं अ०, ल० । ११ सञ्जाताभ्रम् । १२. कृतम् । १३ बाणौ ।

सकर्णपालिके चारु रत्नकुण्डलमण्डिते । श्रुताङ्गनाख्यमाक्रीड[1] लीला[2] दोलायिते दधौ ॥१७७॥
दधेऽसौ नासिकावंशं तुङ्गं [3] मध्येविलोचनम् । तद्वृद्धिस्पर्द्ध[4] रोधार्थं बद्धं सेतुमिवायतम् ॥१७८॥
मुखमस्य लसद्दन्तदीप्तिकेसरमाबभौ । महोत्पलमिवामोदशालि दन्तच्छदच्छदम्[5] ॥१७९॥
पृथुवक्षो बभारासौ हाररोचिर्जलप्लवम् । धारागृहमिवोदारं लक्ष्म्या [6] निर्वापणं परम् ॥१८०॥
[7] केयूररुचिरावंसौ[8] तस्य शोभामुपेयतुः । क्रीडाद्री रुचिरौ लक्ष्म्या विहारायेव निर्मितौ ॥१८१॥
युगायतौ बिभर्ति स्म बाहू चारुतलाङ्कितौ । स [9] सुराग इवोदग्रविटपौ पल्लवोज्ज्वलौ ॥१८२॥
[10] गभीरनाभिकं मध्यं [11] सवलिं ललितं दधौ । महाब्धिरिव सावर्त्तं सतरङ्गं च [12] सैकतम् ॥१८३॥
घनं च जघनं तस्य [13] मेखलादामवेष्टितम् । बभौ वेदिकया जम्बूद्वीपस्थलमिवावृतम् ॥१८४॥
रम्भास्तम्भनिभावूरू स धत्ते स्म कनद्द्युती । कामिनीदृष्टिबाणानां लक्ष्याविव निवेशितौ ॥१८५॥
वज्रशाणस्थिरे जङ्घे सोऽधत्त रुचिराकृती । मनोजजैत्रबाणानां [14] निशानायेव कल्पिते ॥१८६॥
पदतामरसद्वन्द्वं [15] ससदङ्गुलिपत्रकम् । नखांशुकेसरं दध्रे लक्ष्म्या कुलगृहायितम् ॥१८७॥

को जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाण चलानेके दो यन्त्र ही हों ॥१७६॥ रत्नजड़ित कुण्डलोंसे शोभायमान उसके दोनों मनोहर कान ऐसे मालूम होते थे मानो सरस्वती देवीके झूलनेके लिए दो झूले ही पड़े हों ॥१७७॥ दोनों नेत्रोंके बीचमें उसकी ऊँची नाक ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी वृद्धिविषयक स्पर्धाको रोकनेके लिए बीचमें एक लम्बा पुल ही बाँध दिया हो ॥१७८॥ उस राजाका मुख सुगन्धित कमलके समान शोभायमान था। जिसमें दाँतोंकी सुन्दर किरणें ही केशर थीं और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥१७९॥ हारकी किरणोंसे शोभायमान उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था मानो जलसे भरा हुआ विस्तृत, उत्कृष्ट और सन्तोषको देनेवाला लक्ष्मीका स्नानगृह ही हो ॥१८०॥ केयूर (बाहुबन्ध) की कान्तिसे सहित उसके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान होते थे मानो लक्ष्मीके विहारके लिए बनाये गये दो मनोहर क्रीड़ाचल ही हों ॥१८१॥ वह युग (जुआँरी) के समान लम्बी और मनोहर हथेलियोंसे अंकित भुजाओंको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम हो रहा था मानो कोंपलों-से शोभायमान दो बड़ी-बड़ी शाखाओंको धारण करनेवाला कल्पवृक्ष ही हो ॥१८२॥ वह राजा गम्भीर नाभिसे युक्त और त्रिवलिसे शोभायमान मध्य भागको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो भँवर और तरंगोंसे सहित बालूके टीलेको धारण करनेवाला समुद्र ही हो ॥१८३॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका स्थूल नितम्ब ऐसा शोभायमान होता था मानो वेदिका-से घिरा हुआ जम्बूद्वीप ही हो ॥१८४॥ देदीप्यमान कान्तिको धारण करने और कदली स्तम्भकी समानता रखनेवाली उसकी दोनों जाँघें ऐसी शोभायमान होती थीं मानो स्त्रियोंके दृष्टिरूपी बाण चलानेके लिए खड़े किये गये दो निशाने ही हों ॥१८५॥ वह महाबल वज्रके समान स्थिर तथा सुन्दर आकृतिवाली पिंडरियोंको धारण किये हुए था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवके विजयी बाणोंको तीक्ष्ण करनेके लिए दो शाण ही धारण किये हो ॥१८६॥ वह अंगुली-रूपी पत्तोंसे युक्त शोभायमान तथा नखोंकी किरणोंरूपी केशरसे युक्त जिन दो चरणकमलोंको धारण कर रहा था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीके रहनेके लिए कुलपरम्परासे

---

१ आक्रीडः उद्यानम् । २. लीला दो–स०, ल० । ३. विलोचनयोर्मध्ये । ४ स्पर्द्धि–म० । ५. छदं पत्रम् । ६ सुखहेतुम् । ७. सकेयूररुचावंसौ अ०, प०, द०, स०, ल० । ८. भुजशिखरौ । ९ कल्पवृक्षः । १०. गम्भीर–प०, द०, ल० । ११ स वली अ०, प०, द०, म०, स० । १२. पुलिनम् । १३ काञ्चीदाम । १४. निशातनाय [तीक्ष्णीकरणाय] । १५. लसदङ्गुलि–म०, द० ।

इत्यस्य रूपमुद्भूतनवयौवनविभ्रमम् । कामनीयकमैकध्य[1]मुपनीतमिवाबभौ ॥१८८॥
न केवलमसौ रूपशोभयैवाजयज्जगत् । व्यजेष्ट मन्त्रशक्त्यापि वृद्धसंयोगलब्धया ॥१८९॥
तस्याभूवन् महाप्रज्ञाश्चत्वारो मन्त्रिपुङ्गवाः । बहिश्चरा इव प्राणाः सुस्निग्धा दीर्घदर्शिनः[2] ॥१९०॥
महामतिश्च संभिन्नमतिः शतमतिस्तथा । स्वयंबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तम्भा इव स्थिराः ॥१९१॥
स्वयंबुद्धोऽभवत् तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधीः । शेषा मिथ्यादृशस्तेऽमी सर्वे स्वामिहितोद्यताः ॥१९२॥
चतुर्भिः स्वैरमात्यैस्तैः पादैरिव सुयोजितैः । महाबलस्य तद्राज्यं पप्रथे समवृत्तवत् ॥१९३॥
स मन्त्रिभिश्चतुर्भिस्तैः कदाचिच्च समं त्रिभिः । द्वाभ्यामेकेन वा मन्त्रमविसंवादिनाऽभजत् ॥१९४॥
स्वयं निश्चितकार्यस्य मन्त्रिणोऽस्यानुशासनम्[3] । चक्रुः स्वयं प्रबुद्धस्य जिनस्येवामरोत्तमाः[4] ॥१९५॥
न्यस्तराज्यभरस्तेषु स स्त्रीभिः खचरोचितान् । बुभुजे सुचिरं भोगान् नभोगानामधीशिता[5] ॥१९६॥

चले आये हों घर ही हों ॥१८७॥ इस प्रकार महाबलका रूप बहुत ही सुन्दर था, उसमें नवयौवनके कारण अनेक हाव-भाव विलास उत्पन्न होते रहते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सब जगत्‌का सौन्दर्य यहाँपर ही इकट्ठा हुआ हो ॥ १८८ ॥ उस राजाने केवल अपने रूपकी शोभासे ही जगत्‌को नहीं जीता था किन्तु वृद्ध जनोंकी संगतिसे प्राप्त हुई मन्त्रशक्तिके द्वारा भी जीता था ॥१८९॥ उस राजाके चार मन्त्री थे जो महाबुद्धिमान्, स्नेही और दीर्घदर्शी थे। वे चारों ही मन्त्री राजाके बाह्य प्राणोंके समान मालूम होते थे ॥१९०॥ उनके नाम क्रमसे महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। ये चारों ही मन्त्री राज्यके स्थिर मूलस्तम्भके समान थे ॥१९१॥ उन चारों मन्त्रियोंमें स्वयंबुद्धनामक मन्त्री शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और बाकी तीन मन्त्री मिथ्यादृष्टि थे। यद्यपि उनमें इस प्रकारका मतभेद था परन्तु स्वामीके हितसाधन करनेमें वे चारों ही तत्पर रहा करते थे ॥१९२॥ वे चारों ही मन्त्री उस राज्यके चरणके समान थे। उनकी उत्तम योजना करनेसे महाबलका राज्य समवृत्तके समान अतिशय विस्तारको प्राप्त हुआ था। भावार्थ—वृत्त छन्दको कहते हैं, उसके तीन भेद हैं—समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त। जिसके चारों पाद-चरण एक समान लक्षणके धारक होते हैं उसे समवृत्त कहते हैं। जिसके प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद एक समान लक्षणके धारक हों उसे अर्धसमवृत्त कहते हैं और जिसके चारों पाद भिन्न-भिन्न लक्षणोंके धारक होते हैं उन्हें विषमवृत्त कहते हैं। जिस प्रकार एक समान लक्षणके धारक चारों पादों—चरणोंकी योजनासे—रचनासे समवृत्त नामक छन्दका भेद प्रसिद्ध होता है तथा प्रस्तार आदिकी अपेक्षासे विस्तारको प्राप्त होता है उसी प्रकार उन चारों मन्त्रियोंकी योजनासे—सम्यक् कार्यविभागसे राजा महाबलका राज्य प्रसिद्ध हुआ था तथा अपने अवान्तरविभागोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ था ॥ १९३ ॥ राजा महाबल कभी पूर्वोक्त चारों मन्त्रियोंके साथ, कभी तीनके साथ, कभी दोके साथ और कभी यथार्थवादी एक स्वयंबुद्ध मन्त्रीके साथ अपने राज्यका विस्तार किया करता था ॥१९४॥ वह राजा स्वयं ही कार्यका निश्चय कर लेता था। मन्त्री उसके निश्चित किये हुए कार्यकी प्रशंसा मात्र किया करते थे जिस प्रकार कि तीर्थंकर भगवान् दीक्षा लेते समय स्वयं विरक्त होते हैं, लौकान्तिक देव मात्र उनके वैराग्यकी प्रशंसा ही किया करते हैं ॥१९५॥ भावार्थ—राजा महाबल इतने अधिक बुद्धिमान् और दीर्घदर्शी-विचारक थे

---

१. एकधा भाव. ऐकध्यम् । २. विद्वान्सः । 'निरीक्ष्य एव वक्तव्यं वक्तव्यं पुनरञ्जसा । इति यो वक्ति लोकेऽस्मिन् दीर्घदर्शी स उच्यते ॥' ३.—नुशंसनम् म०, द०, ल० । ४ लौकान्तिकाः । ५. अधीशः ।

मालिनीच्छन्दः

मृदुसुरभिसमीरैः सान्द्रमन्दारवीथी

परिचयसुखशीतैर्धूतसंभोगखेदः ।

मुहुरुपवनदेशान् नन्दनोद्देशदेश्यान्[1]

जितमदननिवेशान् स्त्रीसहायः स भेजे ॥१९७॥

इति [2]सुकृतविपाकादानमत्खेचरोद्यन्

मकुटमकरिकाभिः[3] स्पृष्टपादारविन्दः ।

चिरमरमत तस्मिन् खेचराद्रौ सुराद्रौ

सुरपतिरिव सोऽयं भाविभास्वज्जिनश्रीः ॥१९८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमहाबलाभ्युदय-वर्णनं नाम चतुर्थं पर्व ॥४॥

कि उनके निश्चित विचारोंको कोई मन्त्री सदोष नहीं कर सकता था ॥१९६॥ अनेक विद्याधरोंका स्वामी राजा महाबल उपर्युक्त चारों मन्त्रियोंपर राज्यभार रखकर अनेक स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक कामदेवके निवासस्थानको जीतने और नन्दनवनके प्रदेशोंकी समानता रखनेवाले उपवनोंमें बार-बार विहार करता था। विहार करते समय घनीभूत मन्दार वृक्षोंके मध्यमे भ्रमण करनेके कारण सुखप्रद शीतल, मन्द तथा सुगन्धित वायुके द्वारा उसका संभोगजन्य समस्त खेद दूर हो जाता था ॥१९७॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे नमस्कार करनेवाले विद्याधरोंके देदीप्यमान मुकुटोंमें लगे हुए मकर आदिके चिह्नोंसे जिसके चरणकमल बार-बार स्पृष्ट हो रहे थे—छुए जा रहे थे और जिसे आगे चलकर तीर्थंकरकी महनीय विभूति प्राप्त होनेवाली थी ऐसा वह महाबल राजा, मेरुपर्वतपर इन्द्रके समान, विजयार्ध पर्वतपर चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥१९८॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य रचित, त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण संग्रहमें 'श्रीमहाबलाभ्युदयवर्णन' नामका चतुर्थ पर्व पूर्ण हुआ ॥४॥

---

१ सदृशान् । २. पुण्योदयात् । ३ –मकरिकाप्रस्पष्ट ।

पञ्चमं पर्व

कदाचिदथ तस्याऽऽसीद् वर्षवृद्धिदिनोत्सव[1]। मङ्गलैर्गीतवादित्रनृत्यारम्भैश्च संभृतः ॥१॥
सिंहासने तमासीन तदानीं खचराधिपम्। [2]दुधुवुश्चामरैर्वारनार्यः क्षीरोदपाण्डुरैः ॥२॥
मदनद्रुममञ्जर्यो लावण्याम्भोधिवीचयः। सौन्दर्यकलिका रेजुस्तरुण्यस्तत्समीपगा ॥३॥
पृथुवक्ष स्थलच्छन्न[3]पर्यन्तैर्[4]मकुटोज्ज्वलैः। खगेन्द्रैः परिवव्रेऽसौ गिरिराज इवाद्रिभि ॥४॥
तस्य वक्ष स्थले हारो [5]नीहारांशुसमद्युति। बभासे हिमवत्सानौ प्रपतन्निव निर्झरः ॥५॥
तद्वक्षसि पृथाविन्द्रनीलमध्यमणिर्बभौ। कण्ठिका हंसमालेव व्योम्नि [6]दात्यूहमध्यगा ॥६॥
मन्त्रिणश्च तदामात्यसेनापतिपुरोहिताः। श्रेष्ठिनोऽधिकृताश्चान्ये तं परीत्यावतस्थिरे ॥७॥
स्मितैः संभाषितैः स्थानैर्दानैः संमाननैरपि। तानसौ तर्पयामास [7]वीक्षितैरपि सादरैः ॥८॥
स गोष्ठीर्भावयन् भूयो गन्धर्वादिकलाविदाम्। स्पर्द्धमानांश्च तान् पश्यन्नुप[8]श्रोतृसमक्षतः ॥९॥
सामन्तप्रहितान् दूतान् द्वाःस्थैरानीयमानकान्। समभावयन् यथोक्तेन समानेन पुनः पुनः ॥१०॥

तदनन्तर, किसी दिन राजा महाबलकी जन्मगाँठका उत्सव हो रहा था। वह उत्सव मंगलगीत, वादित्र तथा नृत्य आदिके आरम्भसे भरा हुआ था ॥१॥ उस समय विद्याधरोंके अधिपति राजा महाबल सिंहासनपर बैठे हुए थे। अनेक वारांगनाएँ उनपर क्षीरसमुद्रके समान श्वेतवर्ण चामर ढोर रही थीं ॥२॥ उनके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवरूपी वृक्षकी मंजरियाँ ही हों, अथवा सौन्दर्यरूपी सागरकी तरंगे ही हों अथवा सुन्दरताकी कलिकाएँ ही हों ॥३॥ अपने-अपने विशाल वक्षःस्थलोंसे समीपके प्रदेशको आच्छादित करनेवाले तथा मुकुटोंसे शोभायमान अनेक विद्याधर राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे। उनके बीचमें बैठे हुए महाबल ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अनेक पर्वतोंसे घिरा हुआ था उनके बीचमें स्थित सुमेरु पर्वत ही हो। ॥४॥ उनके वक्षःस्थलपर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिका धारक—श्वेत हार पड़ा हुआ था जो कि हिमवत् पर्वतके शिखरपर पड़ते हुए झरनेके समान शोभायमान हो रहा था ॥५॥ जिस प्रकार विस्तृत आकाशमें जलकाकके इधर-उधर चलती हुई हंसोंकी पंक्ति शोभायमान होती है उसी प्रकार राजा महाबलके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर इन्द्रनीलमणिसे सहित मोतियोंकी कण्ठी शोभायमान हो रही थी ॥६॥ उस समय मन्त्री, सेनापति, पुरोहित, सेठ तथा अन्य अधिकारी लोग राजा महाबलको घेरकर बैठे हुए थे ॥७॥ वे राजा किसीके साथ हँसकर, किसीके साथ सम्भाषण कर किसीको स्थान देकर, किसीको दान देकर, किसीका सम्मान कर और किसीकी ओर आदर-सहित देखकर उन समस्त सभासदोंको सन्तुष्ट कर रहे थे ॥८॥ वे महाबल संगीत आदि अनेक कलाओंके जानकार विद्वान् पुरुषोंकी गोष्ठीका बार-बार अनुभव करते जाते थे। तथा श्रोताओंके समक्ष कलाविद् पुरुष परस्परमें जो स्पर्धा करते थे उसे भी देखते जाते थे। इसी बीचमें सामन्तों-द्वारा भेजे हुए दूतोंको द्वारपालोंके हाथ बुलवाकर उनका बार-बार यथायोग्य

---

१. जननदिवसक्रियमाणोत्सव। २. धुनन्ति स्म। धूञ् कम्पने। ३ आच्छादितः। ४.-र्मुकुटो अ०। ५ चन्द्र। ६ कृष्णपक्षिविशेष। ७. वीक्षणैः। ८ सम्यादि।

तस्माद् धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणम् । तदर्थिना महाभाग धर्मे कार्या मतिः स्थिरा ॥२४॥
धीमन्निमां चलां लक्ष्मीं शाश्वतीं कर्तुमिच्छता । त्वया धर्मोऽनुमन्तव्यः सोऽनुष्ठेयश्च शक्तितः ॥२५॥
इत्युक्त्वाथ स्वयंबुद्धे स्वामिश्रेयोऽनुबन्धिनि । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वचो [1]विरतिमीयुषि ॥२६॥
ततस्तद्वचनं सोढुमशक्तो दुर्मतोद्धत । द्वितीयः सचिवो वाचमित्युवाच महामतिः ॥२७॥
[2]भूतवादमथालम्ब्य स लौकायतिकीं[3] श्रुतिम् । [4]प्रस्तुवञ्जीवतत्त्वस्य दूषणे मतिमातनोत् ॥२८॥
सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिन्तनम् । स एव तावन्नास्त्यात्मा कुतो धर्मफलं भजेत्[5] ॥२९॥
पृथिव्यप्पवनाग्नीनां संघातादिह चेतना । प्रादुर्भवति [6]मद्याङ्गसंगमान्मदशक्तिवत् ॥३०॥
ततो न चेतना कायतत्त्वात् पृथगिहास्ति नः । [7]तस्यास्तद्[8]व्यतिरेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत् ॥३१॥
[9]ततो न धर्मः पापं[10] वा परलोकश्च कस्यचित् । जलबुद्बुदवज्जीवा विलीयन्ते तनुक्षयात् ॥३२॥
तस्माद् दृष्टसुखं त्यक्त्वा परलोकसुखार्थिनः । व्यर्थक्लेशा भवन्त्येते लोकद्वयसुखाच्च्युताः[11] ॥३३॥
तदेषां परलोकार्था[12] समीहा[13] क्रोष्टु[14]रामिषम् । त्यक्त्वा मुखागतं मोहान्[15] मीनायोत्पतनायते ॥३४॥

करना ये सब सनातन (अनादिकालसे चले आये) धर्म कहलाते हैं॥ २३ ॥ इसलिए हे महाभाग, राज्य आदि समस्त विभूतिको धर्मका फल जानकर उसके अभिलाषी पुरुषोंको अपनी बुद्धि हमेशा धर्ममें स्थिर रखनी चाहिए॥२४॥ हे बुद्धिमन्, यदि आप इस चंचल लक्ष्मीको स्थिर करना चाहते है तो आपको यह अहिंसादि रूप धर्म मानना चाहिए तथा शक्तिके अनुसार उसका पालन भी करना चाहिए॥२५॥ इस प्रकार स्वामीका कल्याण चाहनेवाला स्वयंबुद्ध मन्त्री जब धर्मसे सहित, अर्थसे भरे हुए और यशको बढ़ानेवाले वचन कहकर चुप हो रहा तब उसके वचनोंको सुननेके लिए असमर्थ महामति नामका दूसरा मिथ्यादृष्टि मन्त्री नीचे लिखे अनुसार बोला॥२६-२७॥ महामति मन्त्री, भूतवादका आलम्बन कर चार्वाक मतका पोषण करता हुआ जीवतत्त्वके विषयमें दूषण देने लगा ॥२८॥ वह बोला–हे देव, धर्मीके रहते हुए ही उसके धर्मका विचार करना संगत (ठीक) होता है परन्तु आत्मा नामक धर्मीका अस्तित्व सिद्ध नहीं है इसलिए धर्मका फल कैसे हो सकता है? ॥२९॥ जिस प्रकार महुआ, गुड़, जल आदि पदार्थोंके मिला देनेसे उसमें मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, जल, वायु और अग्निके संयोगसे उनमें चेतना उत्पन्न होती है॥३०॥ इसलिए इस लोकमें पृथिवी आदि तत्त्वोंसे बने हुए हमारे शरीरसे पृथक् रहनेवाला चेतना नामका कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि शरीरसे पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं देखी जाती। संसारमें जो पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे पृथक् सिद्ध नहीं होते उनका अस्तित्व नहीं माना जाता, जैसे कि आकाशके फूलका॥३१॥ जब कि चेतनाशक्ति नामका जीव पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब किसीके पुण्य-पाप और परलोक आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं? शरीरका नाश हो जानेसे ये जीव जलके बबूलेके समान एक क्षणमें विलीन हो जाते हैं॥३२॥ इसलिए जो मनुष्य प्रत्यक्षका सुख छोड़कर परलोकसम्बन्धी सुख चाहते हैं वे दोनों लोकोंके सुखसे च्युत होकर व्यर्थ ही क्लेश उठाते हैं॥३३॥ अत एव वर्तमानके सुख छोड़कर परलोकके सुखोंकी इच्छा करना ऐसा है जैसे कि मुखमें आये हुए मांसको छोड़कर मोहवश किसी शृगालका मछलीके

---

१ विरामम् । तूष्णीम्भावमित्यर्थ । २. भूतचतुष्टयवादम् । ३. लौकायतिकमतसम्बन्धिशास्त्रम् । ४. प्रकृतं कुर्वन् । ५ भवेत् अ०, म०, स०, द०, प०, ल० । ६ गुडधातकीपिष्टयादय । ७ चेतनाया । ८. कायतत्त्वव्यतिरेकेण । ९. तस्मात् कारणात् । १०. अधर्म । ११. सुखच्युताः म०, ल० । –च्युत अ० । १२. परलोकप्रयोजना । १३. वाञ्छा । १४. जम्बुकस्य । १५. मत्स्यवाञ्छया उत्पतनम् ।

पिण्डत्यागाल्लिहन्तीमे हस्तं प्रेत्य[1] सुखेप्सया । विप्रलब्धाः समुत्सृष्टदृष्टभोगा विचेतसः ॥३५॥
स्वमते युक्तिमित्युक्त्वा [2]विरते भूतवादिनि । विज्ञानमात्रमाश्रित्य प्रस्तुवन्जीवनास्तिताम् ॥३६॥
[3]संभिन्नो वादकण्डूयाविजृम्भितमथोद्वहन् । स्मितं स्वमतसंसिद्धिमित्युपन्यस्यति[4] स्म सः ॥३७॥
जीववादिन्न ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धितः[5] । विज्ञप्तिमात्रमेवेदं क्षणभङ्गि यतो जगत् ॥३८॥
[6]निरंशं तच्च विज्ञानं [7]निरन्वयविनश्वरम् । [8]वेद्यवेदकसंवित्तिभागैर्भिन्नं प्रकाशते ॥३९॥
सन्तानावस्थितेस्तस्य स्मृत्याद्यपि [9]घटामटेत्[10] । [11]संवृत्या स च सन्तानः सन्तानिभ्यो न भिद्यते ॥४०॥
[12]प्रत्यभिज्ञादिकं भ्रान्तं[13] वस्तुनि क्षणनश्वरे । यथा लूनपुनर्जातनखकेशादिषु क्वचित्[14] ॥४१॥

लिए छलाँग भरना है । अर्थात् जिस प्रकार शृगाल मछलीकी आशासे मुखमें आये हुए मांसको छोड़कर पछताता है उसी प्रकार परलोकके सुखोंकी आशासे वर्तमानके सुखोंको छोड़नेवाला पुरुष भी पछताता है 'आधी छोड़ एकको धावै, ऐसा डूबा थाह न पावै' ॥३४॥ परलोकके सुखोंकी चाहसे ठगाये हुए जो मूर्ख मानव प्रत्यक्षके भागोंको छोड़ देते हैं वे मानो सामने परोसा हुआ भोजन छोड़कर हाथ ही चाटते हैं अर्थात् परोक्ष सुखकी आशासे वर्तमानके सुख छोड़ना भोजन छोड़कर हाथ चाटनेके तुल्य है ॥३५॥

इस प्रकार भूतवादी महामति मन्त्री अपने पक्षकी युक्तियाँ देकर जब चुप हो रहा तब वाद करनेकी खुजलीसे उत्पन्न हुए कुछ हास्यको धारण करनेवाला सम्भिन्नमति नामका तीसरा मन्त्री भी केवल विज्ञानवादका आश्रय लेकर जीवका अभाव सिद्ध करता हुआ नीचे लिखे अनुसार अपने मतकी सिद्धि करने लगा ॥३६-३७॥ वह बोला—हे जीववादिन् स्वयंबुद्ध, आपका कहा हुआ जीव नामका कोई पृथक् पदार्थ नहीं है क्योंकि उसकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती । यह समस्त जगत् विज्ञानमात्र है क्योंकि क्षणभंगुर है । जो-जो क्षण-भंगुर होते हैं वे सब ज्ञानके विकार होते हैं । यदि ज्ञानके विकार न होकर स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होते, परन्तु संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है इसलिए वे सब ज्ञानके विकारमात्र हैं ॥३८॥ वह विज्ञान निरंश है—अवान्तर भागोंसे रहित है, बिना परम्परा उत्पन्न किये ही उसका नाश हो जाता है और वेद्य-वेदक तथा संवित्तिरूपसे भिन्न प्रकाशित होता है । अर्थात् वह स्वभावतः न तो किसी अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है और न किसीको जानता ही है, एक क्षण रहकर समूल नष्ट हो जाता है ॥३९॥ वह ज्ञान नष्ट होनेके पहले ही अपनी सांवृतिक सन्तान छोड़ जाता है जिससे पदार्थोंका स्मरण होता रहता है । वह सन्तान अपने सन्तानी ज्ञानसे भिन्न नहीं है ॥४०॥ यहाँ प्रश्न हो सकता है कि विज्ञानकी सन्तान प्रतिसन्तान मान लेनेसे पदार्थका स्मरण तो सिद्ध हो जायेगा परन्तु प्रत्यभिज्ञान सिद्ध नहीं हो सकेगा । क्योंकि प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिके लिए पदार्थको

---

१ भवान्तरे । २ विरामे सति । तूष्णी स्थिते । ३ सभिन्नमतिः । ४. उपन्यासं करोति स्म । ५. अदर्शनात् । ६ वेद्यवेदकाद्यशरहितम् । ७. अन्वयान्निष्क्रान्त निरन्वय, निरन्वय विनश्यतीत्येव शील निरन्वयविनश्वरम् । ८. सवित्तेर्भागा सवित्तिभागाः वेद्याश्च वेदकाश्च वेद्यवेदका वेद्यवेदका एव सवित्तिभागास्तै. भिन्न पृथक् । ९. घटनाम् । १० गच्छत् । ११. भ्रान्त्या । १२ दर्शनस्मरणकारकं सकलन प्रत्यभिज्ञान यथा स एवाऽय देवदत्तः । आदिशब्देन स्मृतिर्ग्राह्या । तद्यथा संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति स देवदत्तो यथा ज्ञानम् । १३ भ्रान्ति । १४ एकचत्वारिंशत्तमाच्छ्लोकादग्रे दपुस्तके निम्नाङ्कित. पाठोऽधिको वर्तते—"दु.ख संसारिण. स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिता. । विज्ञान वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥१॥ पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषया पञ्च मानसम् । धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥२॥ समुदेति यतो लोके रागादीना गणोऽखिल । स चात्मात्मीयभावाख्यः समुदायसमाहृत ॥३॥ क्षणिका. सर्वसंस्कारा इत्येव वासना मता । समार्गं इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥४॥" 'ल' पुस्तकेऽपि प्रथमश्लोकस्य पूर्वार्द्धं त्यक्त्वाऽर्धचतुर्था. श्लोका उद्धृताः । अन्यत्र त०, ब०, प०, म०, स०, अ०, ट० पुस्तकेषु नास्त्येवासौ पाठ ।

ततो विज्ञानसन्तान[1]व्यतिरिक्तो न कश्चन । जीवसंज्ञः पदार्थोऽस्ति [2]प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥४२॥
[3]तदमुत्रात्मनो दुःखजिहासार्थं[4] प्रयस्यतः[5] । टिट्टिभस्येव[6] भीतिस्ते गगनात्पातिप्यतः ॥४३॥
इत्युदीर्य स्थिते तस्मिन् मन्त्री शतमतिस्ततः । नैरात्म्यवादमालम्ब्य प्रोवाचेत्थं विकत्थनः[7] ॥४४॥
शून्यमेव जगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते । भ्रान्तेः स्वप्नेन्द्रजालादौ हस्त्यादिप्रतिभासवत् ॥४५॥
ततः कुतोऽस्ति [8]वो जीवः परलोकः कुतोऽस्ति वा । असत्सर्वमिदं यस्माद् [9]गन्धर्वनगरादिवत् ॥४६॥
अतोऽमी परलोकार्थं तपोऽनुष्ठानतत्पराः । वृथैव क्लेशमायान्ति परमार्थानभिज्ञकाः ॥४७॥
घर्मारम्भे यथा मुग्धाः दृष्ट्वा मरुमरीचिकाः । जलाशयानुधावन्ति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी ॥४८॥

अनेक क्षणस्थायी मानना चाहिए जो कि आपने माना नहीं है । पूर्व क्षणमें अनुभूत पदार्थका द्वितीयादि क्षणमें प्रत्यक्ष होनेपर जो जोड़रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । उक्त प्रश्नका समाधान इस प्रकार है—क्षणभंगुर पदार्थमें जो प्रत्यभिज्ञान आदि होता है वह वास्तविक नहीं है किन्तु भ्रान्त है । जिस प्रकारकी काटे जानेपर फिरसे बढ़े हुए नखों और केशोंमें 'ये वे ही नख केश हैं' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है ॥४१॥ * [संसारी स्कन्ध दुःख कहे जाते हैं । वे स्कन्ध विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूपके भेदसे पाँच प्रकारके कहे गये हैं । पाँचों इन्द्रियाँ, शब्द आदि उनके विषय, मन और धर्मायतन (शरीर) ये बारह आयतन हैं । जिस आत्मा और आत्मीय भावसे संसारमें रुलानेवाले रागादि उत्पन्न होते हैं उसे समुदय सत्य कहते हैं । 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस प्रकारकी क्षणिक नैरात्म्यभावना मार्ग सत्य है तथा इन स्कन्धोंके नाश होनेको निरोध अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥४१॥] इसलिए विज्ञानकी सन्तानसे अतिरिक्त जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है जो कि परलोकरूप फलको भोगनेवाला हो ॥४२॥ अतएव परलोकसम्बन्धी दुःख दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेवाले पुरुषोंका परलोकभय वैसा ही है जैसा कि टिटिहरीको अपने ऊपर आकाशके पड़नेका भय होता है ॥४३॥

इस प्रकार विज्ञानवादी सम्भिन्नमति मन्त्री जब अपना अभिप्राय प्रकट कर चुप हो गया तब अपनी प्रशंसा करता हुआ शतमति नामका चौथा मन्त्री नैरात्म्यवाद (शून्यवाद) का आलम्बन कर नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥४४॥ यह समस्त जगत् शून्यरूप है । इसमें नर, पशु-पक्षी, घट-पट आदि पदार्थोंका जो प्रतिभास होता है वह सब मिथ्या है । भ्रान्तिसे ही वैसा प्रतिभास होता है जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदिमें हाथी आदिका मिथ्या प्रतिभास होता है ॥४५॥ इसलिए जब कि सारा जगत् मिथ्या है तब तुम्हारा माना हुआ जीव कैसे सिद्ध हो सकता है और उसके अभावमें परलोक भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि यह सब गन्धर्वनगरकी तरह असत्स्वरूप है ॥४६॥ अतः जो पुरुष परलोकके लिए तपश्चरण तथा अनेक अनुष्ठान आदि करते हैं वे व्यर्थ ही क्लेशको प्राप्त होते हैं । ऐसे जीव यथार्थज्ञानसे रहित हैं ॥४७॥ जिस प्रकार ग्रीष्मऋतुमें मरुभूमिपर पड़ती हुई सूर्यकी चमकीली किरणोंको जल समझकर मृग व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं उसी प्रकार ये भोगाभिलाषी मनुष्य परलोकके सुखोंको सच्चा सुख समझकर व्यर्थ ही दौड़ा करते हैं—

---

१. भिन्न । २ मृतोत्पत्तिः । ३. उत्तरभवे । ४ हातुमिच्छार्थं । ५. प्रयत्नं कुर्वतः । ६ कोयष्टिकस्य । ७. आत्मश्लाघावान् । ८. वा म०, ल० । ९. यथा गन्धर्वनगरादयः शून्या भवन्ति तथैवेत्यर्थः ।
* कोष्टकके अन्तर्गत भाग केवल 'ब और क' प्रतिके आधारपर है ।

इत्युद्ग्राह्य[1] [2]कुदृष्टान्तकुहेतुभिरपार्थकम् । व्यरमत् सोऽप्यतो वक्तुं स्वयंबुद्धः [3]प्रचक्रमे ॥४९॥
भूतवादिन् मृषा वक्ति स त्वमात्मशून्यताम् । भूतेभ्यो व्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतितः ॥५०॥
कायात्मकं न चैतन्य न कायश्चेतनात्मकः । मिथो विरुद्धधर्मत्वात् तयोश्चिदचिदात्मनोः ॥५१॥
कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगत । तयोरन्तर्बहीरूपनिर्भासा[4]च्चासि[5]कोशवत् ॥५२॥
न भूतकार्यं चैतन्यं घटते तद्गुणोऽपि वा । ततो जात्यन्तरीभावात्तद्विभागेन[6] तद्ग्रहात्[7] ॥५३॥
न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति । भस्मादि तद्विकारेभ्यो [8]वैधर्म्यान्मूर्त्यनन्वयात् ॥५४॥
गृहप्रदीपयोर्यद्वत् सम्बन्धो [9]युतसिद्धयोः । [10]आधाराधेयरूपत्वात् तद्वद्देहोपयोगयोः ॥५५॥

उनको प्राप्तिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥४८॥ इस प्रकार खोटे दृष्टान्त और खोटे हेतुओं-द्वारा सारहीन वस्तुका प्रतिपादन कर जब शतमति भी चुप हो रहा तब स्वयंबुद्ध मन्त्री कहनेके लिए उद्यत हुए ॥४९॥

हे भूतवादिन्, 'आत्मा नहीं है' यह आप मिथ्या कह रहे हैं क्योंकि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयके अतिरिक्त ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यकी भी प्रतीति होती है ॥५०॥ वह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप ही है क्योंकि दोनोंका परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित्स्वरूप है—ज्ञान दर्शनरूप है और शरीर अचित्स्वरूप है—जड़ है ॥ ५१ ॥ शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते क्योंकि दोनोंमें परस्परविरोधी गुणोंका योग पाया जाता है। चैतन्यका प्रतिभास तलवारके समान अन्तरंगरूप होता है और शरीरका प्रतिभास म्यानके समान बहिरंगरूप होता है। भावार्थ–जिस प्रकार म्यानमें तलवार रहती है। यहाँ म्यान और तलवार दोनोंमें अभेद नहीं होता उसी प्रकार 'शरीरमें चैतन्य है' यहाँ शरीर और आत्मामें अभेद नहीं होता। प्रतिभासभेद होनेसे दोनों ही पृथक्-पृथक् पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥५२॥ यह चैतन्य न तो पृथिवी आदि भूतचतुष्टयका कार्य है और न उनका कोई गुण ही है। क्योंकि दोनोंकी जातियाँ पृथक्-पृथक् हैं। एक चैतन्यरूप है तो दूसरा जड़रूप है। यथार्थमें कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थोंमें ही होता है विजातीय पदार्थोंमे नहीं होता। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदिसे बने हुए शरीरका ग्रहण उसके एक अंशरूप इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है जब कि ज्ञानरूप चैतन्यका स्वरूप अतीन्द्रिय है–ज्ञानमात्रसे ही जाना जाता है। यदि चैतन्य, पृथिवी आदिका कार्य अथवा स्वभाव होता तो पृथिवी आदिसे निर्मित शरीरके साथ-ही-साथ इन्द्रियों-द्वारा उसका भी ग्रहण अवश्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर और चैतन्य पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं ॥५३॥ वह चैतन्य शरीरका भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीरके विकार हैं उनसे वह विसदृश होता है। यदि चैतन्य शरीरका विकार होता तो उसके भस्म आदि विकाररूप ही चैतन्य होना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चैतन्य शरीरका विकार नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि शरीरका विकार मूर्तिक होगा परन्तु यह चैतन्य अमूर्तिक है–रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित है–इन्द्रियों-द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता ॥५४॥ शरीर और आत्माका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि घर और दीपकका होता

---

१. उक्त्वा । २. अनर्थकवचनम् । ३ उपक्रमं चकार । ४. दर्शनात् । ५. असिश्च कोशश्च असिकोशाविव । ६. तद्भूतविभागेन । ७. तच्चैतन्यस्वीकारात् । ८ असंबन्धात् । ९ पृथगाश्रयाश्रयित्व युतसिद्धत्वम् । "तावेवायुतसिद्धौ तौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयो । अवश्यमेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥" १०. आत्मा ।

[1]सर्वाङ्गीणैकचैतन्यप्रतिभासादबाधितात् । प्रत्यङ्गप्रविभक्तेभ्यो भूतेभ्यः संविदो भिदा[2] ॥५६॥
कथं मूर्तिमतो देहाच्चैतन्यमतदात्मकम्[3] । स्याद्धेतुफलभावो[4] हि न मूर्तामूर्तयोः क्वचित् ॥५७॥
अमूर्तमक्षविज्ञानं मूर्तादक्षकदम्बकात् । दृष्टमुत्पद्यमानं चेन्नास्य मूर्तत्वसङ्गरात्[5] ॥५८॥
बन्धं प्रत्येकतां बिभ्रदात्मा मूर्तेन कर्मणा । मूर्तः कथंचिदाक्षोऽपि[6] बोधः स्यान्मूर्तिमानतः ॥५९॥
कायाकारेण भूतानां परिणामोऽन्यहेतुकः । कर्मसारथिमात्मानं[7] व्यतिरिच्य स कोऽपरः ॥६०॥
अभूत्वा भवनाद्देहे भूत्वा च[8] भवनात् पुनः । जलबुद्बुदवज्जीवं मा मंस्थास्तद्विलक्षणम् ॥६१॥

है। आधार और आधेय रूप होनेसे घर और दीपक जिस प्रकार पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं ॥ ५५ ॥ आपका सिद्धान्त है कि शरीरके प्रत्येक अंगोपांगकी रचना पृथक्-पृथक् भूतचतुष्टयसे होती है सो इस सिद्धान्तके अनुसार शरीरके प्रत्येक अंगोपांगमें पृथक्-पृथक् चैतन्य होना चाहिए क्योंकि आपका मत है कि चैतन्य भूतचतुष्टयका ही कार्य है। परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है। शरीरके सब अंगोपांगोंमें एक ही चैतन्यका प्रतिभास होता है, उसका कारण यह भी है कि जब शरीरके किसी एक अंगमें कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीरमें दुःखका अनुभव होता है। इससे मालूम होता है कि सब अंगोपागोंमें व्याप्त होकर रहनेवाला चैतन्य भूतचतुष्टयका कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगोंमें पृथक्-पृथक् ही होता ॥५६॥ इसके सिवाय इस बातका भी विचार करना चाहिए कि मूर्तिमान् शरीरसे मूर्तिरहित चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् पदार्थोंमें कार्यकारण भाव नहीं होता ॥५७॥ कदाचित् आप यह कहें कि मूर्तिमान् पदार्थसे भी अमूर्तिमान् पदार्थकी उत्पत्ति हो सकती है, जैसे कि मूर्तिमान् इन्द्रियोंसे अमूर्तिमत् ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको हम अमूर्तिक ही मानते हैं ॥५८॥ उसका कारण भी यह है कि यह आत्मा मूर्तिक कर्मोंके साथ बन्धको प्राप्त कर एक रूप हो गया है इसलिए कथंचित् मूर्तिक माना जाता है। जब कि आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक माना जाता है तब इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी मूर्तिक मानना उचित है। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्तिक पदार्थोंसे अमूर्तिक पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥५९॥ इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें जो शरीरके आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्तसे हुआ है। यदि उस निमित्तपर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्माको छोड़कर और दूसरा क्या निमित्त हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ–कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदिको शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्माकी सत्ता पृथक् सिद्ध होती है ॥६०॥ यदि कहो कि जीव पहले नहीं था, शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है और शरीरके साथ ही नष्ट हो जाता है इसलिए जलके बबूलेके समान है जैसे जलका बबूला जलमें ही उत्पन्न होकर उसीमें नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीव भी शरीरके साथ उत्पन्न होकर उसीके साथ नष्ट हो जाता है सो आपका यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर और जीव दोनों ही विलक्षण–विसदृश पदार्थ हैं। विसदृश पदार्थसे विसदृश पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥६१॥

१. सर्वाङ्गभवम्। २ भिदा भेद। ३. अमूर्तात्मकम्। ४ कारणकार्यभाव.। ५. प्रतिज्ञाया। ६. अक्षेभ्यो भव। ७ त्यक्त्वा। ८ वा अ०, स०, द०, ल०।

शरीरं किमुपादानं संविदः सहकारि वा। नोपादानमुपादेयाद् विजातीयत्वदर्शनात् ॥६२॥
[1]सहकारीति चेदिष्टमुपादानं तु मृग्यताम्। [2]सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत् ॥६३॥
ततो भूतमयाद् देहाद् व्यतिभिन्नं स्वलक्षणम्[3]। जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यताम् ॥६४॥
एतेनैव प्रतिक्षिप्तं[4] मदिराङ्गनिदर्शनम्। मदिराङ्गेष्वविरोधिन्या मदशक्तेर्विभावनात्[5] ॥६५॥
सत्यं [6]भूतोपसृष्टोऽयं भूतवादी कुतोऽन्यथा। भूतमात्रमिदं विश्वमभूतं प्रतिपादयेत् ॥६६॥
पृथिव्यादिष्वनुद्भूतं चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत्। नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयात्[7] ॥६७॥
[8]आद्यन्तौ देहिनां देहौ न विना भवतस्तनू। पूर्वोत्तरे संविदधिष्ठानत्वान्मध्यदेहवत् ॥६८॥

आपका कहना है कि शरीरसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है-यहाँ हम पूछते हैं कि शरीर चैतन्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण? उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उपादेय-चैतन्यसे शरीर विजातीय पदार्थ है। यदि सहकारी कारण मानो तो यह हमें भी इष्ट है परन्तु उपादान कारणकी खोज फिर भी करनी चाहिए। कदाचित् यह कहो कि सूक्ष्म रूपसे परिणत भूतचतुष्टयका समुदाय ही उपादान कारण है तो आपका यह कहना असत् है क्योंकि सूक्ष्म भूतचतुष्टयके संयोग-द्वारा उत्पन्न हुए शरीरसे वह चैतन्य पृथक् ही प्रतिभासित होता है। इसलिए जीवद्रव्यको ही चैतन्यका उपादान कारण मानना ठीक है चूँकि वही उसका सजातीय और सलक्षण है ॥६२-६४॥ भूतवादीने जो पुष्प, गुड़, पानी आदिके मिलनेसे मदशक्तिके उत्पन्न होनेका दृष्टान्त दिया है, उपर्युक्त कथनसे उसका भी निराकरण हो जाता है क्योंकि मदिराके कारण जो गुड़ आदि हैं वे जड़ और मूर्तिक हैं तथा उनसे जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वह भी जड़ और मूर्तिक है। भावार्थ-मादक शक्तिका उदाहरण विषम है। क्योंकि प्रकृतमें आप सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्यसे विजातीयकी उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्यसे सजातीयकी उत्पत्तिका ॥६५॥ वास्तवमें भूतवादी चार्वाक भूत-पिशाचोंसे ग्रसित हुआ जान पड़ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसारको जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप ही कैसे कहता ? ॥६६॥ कदाचित् भूतवादी यह कहे कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टयमें चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूपसे पहलेसे ही रहती है सो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन पदार्थमें चेतनशक्ति नहीं पायी जाती, यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥६७॥ इस उपर्युक्त कथनसे सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है। जैसे इस वर्तमान शरीरमें जीवका अस्तित्व है उसी प्रकार पिछले और आगेके शरीरमें भी उसका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि जीवोंका वर्तमान शरीर पिछले शरीरके बिना नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि वर्तमान शरीरमें स्थित आत्मामें जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं वे पूर्वभवका संस्कार ही हैं। यदि वर्तमान शरीरके पहले इस जीवका कोई शरीर नहीं होता और यह नवीन ही उत्पन्न हुआ होता तो जीवकी सहसा दुग्धपानादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वर्तमान शरीरके बाद भी यह जीव कोई-न-कोई शरीर धारण करेगा क्योंकि ऐन्द्रियिक ज्ञानसहित आत्मा बिना शरीरके रह नहीं सकता ॥६८॥

---

१. शरीरम्। २. सूक्ष्मभूतचतुष्टयसंयोग। ३ चैतन्यम्। ४ निराकृतम्। ५. सद्भावात्, वा सम्भवात्। ६. ग्रहाविष्टः। ७. असंबन्धात्। ८ "आद्यन्तौ देहिना देहौ" इत्यत्र देहिनामाद्यन्तदेहौ पूर्वोत्तरे तनू विना न भवतः। संविदधिष्ठानत्वात् मध्यदेहवत् इत्यस्मिन् अनुमाने आदिभूतो देहः उत्तरतनुं विना न भवति अन्तदेहस्तु पूर्वतनुं विना न भवति" इत्यर्थः।

[1]तौ देहौ यत्र तं विद्धि परलोकमसंशयम् । तद्वांश्च परलोकी स्यात् प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥६९॥
जात्यनुस्मरणाज्जीवगतागतविनिश्चयात् । आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चयः ॥७०॥
अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टितम् । हिताहिताभिसंधा[2]नाद्यन्त्रस्येव विचेष्टितम् ॥७१॥
चैतन्यं भूतसंयोगाद् यदि चेत्थं प्रजायते । [3]पिठरे [4]रन्धनायाग्निश्रिते स्यात्तत्समुद्भव ॥७२॥
इत्यादिभूतवादीष्टमतदूषणसंभवात् । मूर्खप्रलपितं [5]तस्य मतमित्यवधीर्यताम्[6] ॥७३॥
[7]विज्ञप्तिमात्रसंसिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति[8] ते । साध्यसाधनयोरैक्यात् कुतस्तत्त्वविनिश्चिति' ॥७४॥
विज्ञानव्यतिरिक्तस्य [9]वाक्यस्येह प्रयोगत । बहिरर्थस्य संसिद्धिर्विज्ञानं तद्वचोऽपि चेत् ॥७५॥
[10]किं केन साधितं [11]तत्स्यान्मूर्खविज्ञप्तिमात्रकम् । कुतो ग्राह्यादिभेदोऽपि [12]विज्ञानैक्ये निरंशके ॥७६॥

जहाँ यह जीव अपने अगले-पिछले शरीरोंसे युक्त होता है वहीं उसका परलोक कहलाता है और उन शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा परलोकी कहा जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोक-सम्बन्धी पुण्य-पापोंके फलको भोगता है ॥६९॥ इसके सिवाय, जातिस्मरणसे जीवन-मरण-रूप आवागमनसे और आप्तप्रणीत आगमसे भी जीवका पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है॥ ७०॥ जिस प्रकार किसी यन्त्रमें जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालककी प्रेरणासे होता है। इसी प्रकार इस शरीरमें भी जो यातायातरूपी हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी अन्य चालककी प्रेरणासे ही हो रहा है वह चालक आत्मा ही है। इसके सिवाय शरीरकी जो चेष्टाएँ होती हैं सो हित-अहितके विचारपूर्वक होती हैं-इससे भी जीवका अस्तित्व पृथक् जाना जाता है ॥७१॥ यदि आपके कहे अनुसार पृथिवी आदि भूतचतुष्टयके संयोगसे जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकानेके लिए आगपर रखी हुई बटलोईमें भी जीवकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु और पृथिवीरूप भूतचतुष्टयका संयोग होता है ॥७२॥ इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भूतवादियोंके मतमें अनेक दूषण हैं इसलिए यह निश्चय समझिए कि भूतवादियोंका मत निरे मूर्खोंका प्रलाप है उसमें कुछ भी सार नहीं है ॥७३॥

इसके अनन्तर स्वयंबुद्धने विज्ञानवादीसे कहा कि आप इस जगत्को विज्ञान मात्र मानते हैं--विज्ञानसे अतिरिक्त किसी पदार्थका सद्भाव नहीं मानते परन्तु विज्ञानसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि आपके मतानुसार साध्य, साधन दोनों एक हो जाते हैं--विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही साधन होता है। ऐसी हालतमें तत्त्व-का निश्चय कैसे हो सकता है ? ॥७४॥ एक बात यह भी है कि संसारमें बाह्यपदार्थोंकी सिद्धि वाक्योंके प्रयोगसे ही होती है। यदि वाक्योंका प्रयोग न किया जाये तो किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होगी और उस अवस्थामें संसारका व्यवहार बन्द हो जायेगा। यदि वह वाक्य विज्ञानसे भिन्न है तो वाक्योंका प्रयोग रहते हुए विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही है तो हे मूर्ख, बता कि तूने 'यह संसार विज्ञान मात्र है' इस विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि किसके द्वारा की है ? इसके सिवाय एक बात यह भी विचारणीय है कि जब तू निरंश निर्विभाग विज्ञानको ही मानता है तब ग्राह्य आदिका भेदव्यवहार किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? भावार्थ–विज्ञान पदार्थोंको जानता है इसलिए

---

१ देहौ नौ अ०, द०, स०, प० । तौ पूर्वोत्तरौ । २. अभिप्रायात् । ३. स्थाल्याम् । ४ पचनाय । ५ चार्वाकस्य। ६ अवलोक्यताम् ।–धार्यताम् म०, ल० । ७ विज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति वक्ति । ८ विज्ञानम् । ९ विज्ञप्तिप्रतिपादकस्य । १० किं कि न प० । ११. विज्ञानम् । १२ विज्ञानाद्वैते ।

विज्ञप्तिर्विषयाकारशून्या न प्रतिभासते । प्रकाश्येन विना सिद्ध्येत् क्वचित् किन्तु प्रकाशकम् ॥७७॥
विज्ञप्त्या [1]परसंवित्तेर्ग्रहः स्याद् वा न वा तव । तद्ग्रहे सर्वविज्ञाननिरालम्बनताक्षतिः ॥७८॥
तदग्रहेऽन्यसंतानसाधने का [2]गतिस्तव । अनुमानेन तत्सिद्धौ ननु बाह्यार्थसंस्थितिः ७९॥
विश्वं विज्ञप्तिमात्रं चेद् वाग्विज्ञानं मृषाखिलम् । भवेद् बाह्यार्थशून्यत्वात् कुतः सत्येतरस्थितिः ॥८०॥
ततोऽस्ति बहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः । तस्माद् विज्ञप्तिवादोऽयं बालालपितपेलवः[3] ॥८१॥
शून्यवादेऽपि शून्यत्वप्रतिपादि वचस्तव । विज्ञानं चास्ति वा नेति विकल्पद्वयकल्पना ॥८२॥
[4]वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति हन्त हतो भवान् । वद्धःकृत्स्नस्य संसिद्धेरन्यथा[5] शून्यता कुतः ॥८३॥

ग्राहक कहलाता है और पदार्थ ग्राह्य कहलाते हैं जब तू ग्राह्य-पदार्थोंकी सत्ता ही स्वीकृत नहीं करता तो ज्ञान-ग्राहक किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? यदि ग्राह्यको स्वीकार करता है तो विज्ञानका अद्वैत नष्ट हुआ जाता है ॥७५-७६॥ ज्ञानका प्रतिभास घट-पटादि विषयोंके आकारसे शून्य नहीं होता अर्थात् घट-पटादि विषयोंके रहते हुए ही ज्ञान उन्हें जान सकता है, यदि घट-पटादि विषय न हों तो उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी नहीं हो सकता । क्या कभी प्रकाश करने योग्य पदार्थोंके बिना भी कहीं कोई प्रकाशक प्रकाश करनेवाला होता है ? अर्थात् नहीं होता । इस प्रकार यदि ज्ञानको मानते हो तो उसके विषयभूत पदार्थोंको भी मानना चाहिए ॥७७॥ हम पूछते हैं कि आपके मतमें एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानका ग्रहण होता है अथवा नहीं ? यदि होता है तो आपके माने हुए विज्ञानमें निरालम्वनताका अभाव हुआ अर्थात् वह विज्ञान निरालम्ब नहीं रहा, उसने द्वितीय विज्ञानको जाना इसलिए उन दोनोंमें ग्राह्य-ग्राहक भाव सिद्ध हो गया जो कि विज्ञानाद्वैतका बाधक है । यदि यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञानको ग्रहण नहीं करता तो फिर आप उस द्वितीय विज्ञानको जो कि अन्य सन्तान-रूप है, सिद्ध करनेके लिए क्या हेतु देंगे ? कदाचित् अनुमानसे उसे सिद्ध करोगे तो घट-पट आदि बाह्य पदार्थोंकी स्थिति भी अवश्य सिद्ध हो जायेगी क्योंकि जब साध्य-साधनरूप अनुमान मान लिया तब विज्ञानाद्वैत कहाँ रहा ? उसके अभावमें अनुमानके विषयभूत घट-पटादि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥७८-७९॥ यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही है तो फिर समस्त वाक्य और ज्ञान मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि जब बाह्य घट-पटादि पदार्थ ही नहीं हैं तो 'ये वाक्य और ज्ञान सत्य हैं तथा ये असत्य' यह सत्यासत्य व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? ॥ ८० ॥ जब आप साधन आदिका प्रयोग करते हैं तब साधनसे भिन्न साध्य भी मानना पड़ेगा और 'वह साध्य घट-पट आदि बाह्य पदार्थ ही होगा । इस तरह विज्ञानसे अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका भी सद्भाव सिद्ध हो जाता है । इसलिए आपका यह विज्ञानाद्वैतवाद केवल बालकोंकी बोलीके समान सुननेमें ही मनोहर लगता है ॥८१॥

इस प्रकार विज्ञानवादका खण्डन कर स्वयम्बुद्ध शून्यवादका खण्डन करनेके लिए तत्पर हुए । वे बोले कि-आपके शून्यवादमें भी, शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वचन और उनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है, या नहीं ? इस प्रकार दो विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥८२॥ यदि आप इन विकल्पोंके उत्तरमें यह कहें कि हाँ, शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वचन और ज्ञान दोनों ही हैं; तब खेदके साथ कहना पड़ता है कि आप जीत लिये गये क्योंकि वाक्य और

---

१. परा चासौ संवित्तिश्च । २. उपाय. । ३. अविशेष , अथवा क्षीणः ।-पेशल ल० । ४. वाक् च विज्ञान च वाग्विज्ञानम् । ५ वाग्विज्ञानाभावे सति ।

तदस्या[2] लपितं शून्यमुन्मत्त[3]विरुतोपमम् । ततोऽस्ति जीवो धर्मश्च दयासंयमलक्षण. ॥८४॥
[4]सर्वज्ञोपज्ञमेवैतत् तत्त्वं तत्त्वविदां मतम् । [5]आप्तम्मन्यमतान्यन्यान्यवहेयान्यतो बुधैः ॥८५॥
इति तद्वचनाज्जाता परिषत्सकलैव सा । [6]निरारेकात्मसद्भावे[7] संप्रीतश्च समापतिः ॥८६॥
परवादिनगास्तेऽपि स्वयंबुद्धवचोऽशनेः । निष्ठुरापातमासाद्य सद्यः प्रम्लानिमागताः ॥८७॥
पुनः प्रशान्तगम्भीरे स्थिते तस्मिन् सदस्यसौ । दृष्टश्रुतानुभूतार्थसंबन्धीदमभाषत ॥८८॥
शृणु भोस्त्वं महाराज [8]वृत्तमाख्यानकं पुरा । खेन्द्रोऽभूदरविन्दाख्यो भवद्वंशशिखामणिः ॥८९॥
स इमां पुण्यपाकेन शास्ति स्म परमां पुरीम् । उद्धतप्रतिसामन्तदोर्दर्पानवसर्पयन्[9] ॥९०॥
विषयानन्वभूद् दिव्यानसौ खेचरगोचरान् । अभूतां हरिचन्द्रश्च कुरुविन्दश्च तत्सुतौ ॥९१॥
स बह्वारम्भसंर[10]म्भरौद्रध्यानाभिसंधिना । बबन्ध नरकायुष्यं तीव्रासातफलोदयम् ॥९२॥
प्रत्यासन्नमृतेस्तस्य दाहज्वरविजृम्भितः । ववृधे तनुसंतापः कदाचिदतिदुःसहः ॥९३॥

विज्ञानकी तरह आपको सब पदार्थ मानने पड़ेंगे। यदि यह कहो कि हम वाक्य और विज्ञानको नहीं मानते तो फिर शून्यताकी सिद्धि किस प्रकार होगी? भावार्थ-यदि आप शून्यता प्रतिपादक वचन और विज्ञानको स्वीकार करते हैं तो वचन और विज्ञानके विषयभूत जीवादि समस्त पदार्थ भी स्वीकृत करने पड़ेंगे। इसलिए शून्यवाद नष्ट हो जायेगा और यदि वचन तथा विज्ञानको स्वीकृत नहीं करते हैं तब शून्यवादका समर्थन व मनन किसके द्वारा करेंगे? ॥८३॥ ऐसी अवस्थामें आपका यह शून्यवादका प्रतिपादन करना उन्मत्त पुरुषके रोनेके समान व्यर्थ है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि जीव शरीरादिसे पृथक् पदार्थ है तथा दया, संयम आदि लक्षणवाला धर्म भी अवश्य है ॥८४॥

तत्त्वज्ञ मनुष्य उन्हीं तत्त्वोंको मानते हैं जो सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे हुए हों। इसलिए विद्वानोंको चाहिए कि वे आप्ताभास पुरुषों-द्वारा कहे हुए तत्त्वोंको हेय समझें ॥८५॥ इस प्रकार स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके वचनोंसे वह सम्पूर्ण सभा आत्माके सद्भावके विषयमें संशयरहित हो गयी अर्थात् सभीने आत्माका पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया और सभाके अधिपति राजा महाबल भी अतिशय प्रसन्न हुए ॥ ८६ ॥ वे परवादीरूपी वृक्ष भी स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके वचनरूपी वज्रके कठोर प्रहारसे शीघ्र ही म्लान हो गये ॥८७॥ इसके अनन्तर जब सब सभा शान्तभावसे चुपचाप बैठ गयी तब स्वयम्बुद्ध मन्त्री दृष्ट श्रुत और अनुभूत पदार्थसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहने लगे ॥८८॥

हे महाराज, मैं एक कथा कहता हूँ उसे सुनिए। कुछ समय पहले आपके वंशमें चूड़ामणिके समान एक अरविन्द नामका विद्याधर हुआ था ॥८९॥ वह अपने पुण्योदयसे अहंकारी शत्रुओंके भुजाओंका गर्व दूर करता हुआ इस उत्कृष्ट अलका नगरीका शासन करता था ॥९०॥ वह राजा विद्याधरोंके योग्य अनेक उत्तमोत्तम भोगोंका अनुभव करता रहता था। उसके दो पुत्र हुए, एकका नाम हरिचन्द्र और दूसरेका नाम कुरुविन्द था ॥ ९१ ॥ उस अरविन्द राजाने बहुत आरम्भको बढ़ानेवाले रौद्रध्यानके चिन्तनसे तीव्र दुःख देनेवाली नरकआयुका बन्ध कर लिया था ॥ ९२ ॥ जब उसके मरनेके दिन निकट आये तब

---

१ तत् कारणात् । २ शून्यवादिनः । ३ वचः । ४ सर्वज्ञेन प्रथमोपदिष्टम् । ५. आत्मानमाप्तं मन्यन्ते इत्याप्तम्मन्या तेषां मतानि । ६ निस्सन्देहा । ७. आत्मास्तित्वे । ८. कथाम् । ९. अपसारयन् । १०. प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादतः प्रयत्नावेशः संरम्भ इत्युच्यते ।

[1]कह्लारवारिभिर्धूतशीतशीतलि[2]कानिलैः । न [3]निर्वृतिमसौ लेभे हारैश्च हरिचन्दनैः ॥९४॥
विद्यासु विमुखीभावं स्वासु यातासु दुर्मदी । पुण्यक्षयात् परिक्षीणमदशक्तिरिवेभराट् ॥९५॥
दाहज्वरपरीताङ्गः[4] सतापं सोढुमक्षमः । हरिचन्द्रमथाहूय सुतमित्यादिशद् वचः ॥९६॥
अङ्ग पुत्र ममाङ्गेषु संतापो वर्द्धतेतराम् । पश्य कह्लारहाराणां परिम्लानिं [5]तदर्पणात् ॥९७॥
तन्मामुदक्कुरून्[6] पुत्र प्रापयाशु स्वविद्यया । तांश्च शीतान् वनोद्देशान् सीतानद्यास्तटाश्रितान् ॥९८॥
तत्र कल्पतरून् धुन्वन् सीतावीचिचयोत्थितः । दाहान्मां मातरिश्वास्मादुपशान्तिं स नेष्यति ॥९९॥
इति तद्वचनाद् विद्यां [7]प्रैषिष्यद् व्योमगामिनीम् । स सूनुः साप्यपुण्यस्य नाभूत्तस्योपकारिणी ॥१००॥
विद्यावैमुख्यतो ज्ञात्वा पितुर्व्याधेरसाध्यताम् । सुतः कर्तव्यतामूढः सोऽभूदुद्विग्नमानसः[8] ॥१०१॥
अथान्येद्युरमुष्याङ्गे पेतुः शोणितविन्दवः । मिथः कलहविश्लिष्ट[9]गृहकोकिल[10]वालधेः ॥१०२॥
तैश्च तस्य किलाङ्गानि [11]निर्ववुः पापदोषतः । [12]सोऽतुषच्चेति [13]दिष्ट्याद्य परं लब्धं मयौषधम् ॥१०३॥
ततोऽन्य कुरुविन्दाख्यं सूनुमाहूय सोऽवदत् । पुत्र मे रुधिरापूर्णा वाप्येका [14]क्रियतामिति ॥१०४॥

उसके दाहज्वर उत्पन्न हो गया जिससे दिनों-दिन शरीरका अत्यन्त दुःसह सन्ताप बढ़ने लगा ॥९३॥ वह राजा न तो लाल कमलोंसे सुवासित जलके द्वारा, न पंखोंकी शीतल हवाके द्वारा, न मणियोंके हारके द्वारा और न चन्दनके लेपके द्वारा ही सुख-शान्तिको पा सका था ॥९४॥ उस समय पुण्यक्षय होनेसे उसकी समस्त विद्याएँ उसे छोड़कर चली गयीं थीं इसलिए वह उस गजराजके समान अशक्त हो गया था जिसकी कि मदशक्ति सर्वथा क्षीण हो गयी हो ॥९५॥ जब वह दाहज्वरसे समस्त शरीरमें बेचैनी पैदा करनेवाले सन्तापको नहीं सह सका तब उसने एक दिन अपने हरिचन्द्र पुत्रको बुलाकर कहा ॥९६॥ हे पुत्र, मेरे शरीरमें यह सन्ताप बढ़ता ही जाता है। देखो तो, लाल कमलोंकी जो मालाएँ सन्ताप दूर करनेके लिए शरीरपर रखी गयी थीं वे कैसी मुरझा गयी हैं ॥९७॥ इसलिए हे पुत्र, तुम मुझे अपनी विद्याके द्वारा शीघ्र ही उत्तरकुरु देशमें भेज दो और उत्तरकुरुमें भी उन वनोंमें भेजना जो कि सीतोदा नदीके तटपर स्थित हैं तथा अत्यन्त शीतल हैं ॥९८॥ कल्पवृक्षोंको हिलानेवाली तथा सीता नदीकी तरंगोंसे उठी हुई वहाँकी शीतल वायु मेरे इस सन्तापको अवश्य ही शान्त कर देगी ॥९९॥ पिताके ऐसे वचन सुनकर राजपुत्र हरिचन्द्रने अपनी आकाशगामिनी विद्या भेजी परन्तु राजा अरविन्दका पुण्य क्षीण हो चुका था इसलिए वह विद्या भी उसका उपकार नहीं कर सकी अर्थात् उसे उत्तरकुरु देश नहीं भेज सकी ॥१००॥ जब आकाशगामिनी विद्या भी अपने कार्यसे विमुख हो गयी तब पुत्रने समझ लिया कि पिताकी बीमारी असाध्य है। इससे वह बहुत उदास हुआ और किंकर्त्तव्यविमूढ-सा हो गया ॥१०१॥ अनन्तर किसी एक दिन दो छिपकली परस्परमें लड़ रही थीं। लड़ते-लड़ते एककी पूँछ टूट गयी, पूँछसे निकली हुई खूनकी कुछ बूँदें राजा अरविन्दके शरीरपर आकर पड़ीं ॥१०२॥ उन खूनकी बूँदोंसे उसका शरीर ठण्डा हो गया–दाहज्वरकी व्यथा शान्त हो गयी। पापके उदयसे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और विचारने लगा कि आज मैंने दैवयोगसे बड़ी अच्छी ओषधि पा ली है ॥१०३॥ उसने कुरुविन्द नामके दूसरे पुत्रको बुलाकर कहा कि हे पुत्र, मेरे

---

१. कह्लारं सौगन्धिकं कमलम् । २ तालवृन्तकम् । ३. सुखम् । ४ परीताङ्ग ल० । ५. शरीरार्पणात् । ६. उत्तरकुरून् । ७ प्रेषयति स्म । इष गत्यामिति धातु । ८. उद्वेगयुक्तमना । ९ गृह-गोधिक– म०, ल० । १०. गृहगोधिका । ११. शैत्यं ववुरित्यर्थः । १२. सोऽनुष्यच्चेति ल० । १३ दैवेन । १४. कार्यतामिति ।

पुनरप्यवदल्लब्धविभङ्गोऽस्मिन् वनान्तरे । मृगा बहुविधाः सन्ति तैस्त्वं प्रकृतमाचर ॥१०५॥
स तद्वचनमाकर्ण्य पापभीरुर्विचिन्त्य च । तत्कर्मापारयन्[1] कर्तुं मूकीभूतः क्षणं स्थितः ॥१०६॥
प्रत्यासन्नमृतिं बुद्ध्वा तं बद्धनरकायुषम् । दिव्यज्ञानदृशः साधोस्तत्कार्येऽभूत् स [2]शीतकः ॥१०७॥
अनुल्लङ्घ्यं पितुर्वाक्यं मन्यमानस्तथाप्यसौ । कृत्रिमैः [3]क्षतजैः पूर्णां वापीमेकामकारयत् ॥१०८॥
स तदाकर्णनात् प्रीतिमगमत् पापपण्डितः । अलब्धपूर्वमासाद्य निधानमिव दुर्गतः[4] ॥१०९॥
[5]कारिमारुणरागेण वारिणा [6]विप्रतारितः । [7]बहु मेने [8]स तां पापो वापीं [9]वैतरणीमिव ॥११०॥
तत्रानीतश्च तन्मध्ये यथेष्टं शयितोऽमुतः । चिक्रीड कृतगण्डूषः कृतकं तदबुद्ध च ॥१११॥
[10]नरकायुरपर्याप्तं [11]पर्याप्तिपयिषन्निव । दधे स [12]सुतवधे चित्तमधीः पापोदधेर्विधुः ॥११२॥
स रुष्टः पुत्रमाहन्तुमाधावन् पतितोऽन्तरे । [13]स्वासिधेनुकया [14]दीर्णहृदयो मृतिमासदत् ॥११३॥
स तथा[15] दुर्मृतिं प्राप्य गतः [16]श्वाभ्रीमधर्मतः । कथेयमधुनाप्यस्यां नगर्यां स्मर्यते जनैः ॥११४॥
ततो भग्नैकरदनो दन्तीवानमिताननः । उत्खातफणमाणिक्यो महाहिरिव निष्प्रभः ॥११५॥

लिए खूनसे भरी हुई एक बावड़ी बनवा दो ॥१०४॥ राजा अरविन्दको विभंगावधि ज्ञान था इसलिए विचार कर फिर बोला—इसी समीपवर्ती वनमें अनेक प्रकारके मृग रहते हैं उन्हींसे तू अपना काम कर अर्थात् उन्हें मारकर उनके खूनसे बावड़ी भर दे ॥१०५॥ वह कुरुविन्द पापसे डरता रहता था इसलिए पिताके ऐसे वचन सुनकर तथा कुछ विचारकर पापमय कार्य करनेके लिए असमर्थ होता हुआ क्षण-भर चुपचाप खड़ा रहा ॥१०६॥ तत्पश्चात् वनमें गया वहाँ किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिसे जब उसे मालूम हुआ कि हमारे पिताकी मृत्यु अत्यन्त निकट है तथा उन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है तब वह उस पापकर्मके करनेसे रुक गया ॥१०७॥ परन्तु पिताके वचन भी उल्लंघन करने योग्य नहीं हैं ऐसा मानकर उसने कृत्रिम रुधिर अर्थात् लाखके रंगसे भरी हुई एक बावड़ी बनवायी ॥१०८॥ पापकार्य करनेमें अतिशय चतुर राजा अरविन्दने जब बावड़ी तैयार होनेका समाचार सुना तब वह बहुत ही हर्षित हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पहले कभी प्राप्त नहीं हुए निधानको देखकर हर्षित होता है ॥१०९॥ जिस प्रकार पापी—नारकी जीव वैतरणी नदीको बहुत अच्छी मानता है उसी प्रकार वह पापी अरविन्द राजा भी लाखके लाल रंगसे धोखा खाकर अर्थात् सचमुचका रुधिर समझकर उस बावड़ीको बहुत अच्छी मान रहा था ॥११०॥ जब वह उस बावड़ीके पास लाया गया तो आते ही उसके बीचमें सो गया और इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा। परन्तु कुल्ला करते ही उसे मालूम हो गया कि यह कृत्रिम रुधिर है ॥१११॥ यह जानकर पापरूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान वह बुद्धिरहित राजा अरविन्द, मानो नरककी पूर्ण आयु प्राप्त करनेकी इच्छासे ही रुष्ट होकर पुत्रको मारनेके लिए दौड़ा परन्तु बीचमें इस तरह गिरा कि अपनी ही तलवारसे उसका हृदय विदीर्ण हो गया तथा मर गया ॥११२-११३॥ वह कुमरणको पाकर पापके योगसे नरकगतिको प्राप्त हुआ। हे राजन्! यह कथा इस अलका नगरीमें लोगोंको आजतक याद है ॥११४॥ जिस प्रकार दाँत टूट जानेसे हाथी अपना मुँह नीचा कर लेता है अथवा जिस प्रकार फणका मणि उखाड़ लेनेसे सर्प तेज-

---

१. अतीरयन् असमर्थो भवन्नित्यर्थः । २. मन्द । 'शीतकोऽलसोऽनुष्णः' इत्यमरः । ३. रक्तैः । ४. दरिद्र । ५. कृत्रिम । ६ वञ्चितः । ७. बहुमन्यते स्म । ८. ता वर्यां वापी वै–अ० । ९. नरकनदीम् । १०. नरकायुरपर्यन्त प०, द०, ल० । ११. पर्याप्ति कर्तुमिच्छन् । १२. पुत्रहिंसायाम् । १३. स्वच्छुरिकया । १४ दीर्णं विदारितम् । १५. तदा द०, प०, ल० । १६ नरकगतिम् ।

पितुर्मनोरिवापायात् कुरुविन्दोऽरविन्दवत् । परिम्लानतनुच्छायः स शोच्यामगमद् दशाम्[1] ॥११६॥
तथात्रैव भवद्वंशे विस्तीर्णे जलधाविव । दण्डो नाम्नाभवत् खेन्द्रो दण्डितारातिमण्डलः ॥११७॥
मणिमालीत्यभूत्तस्मात् सूनुर्मणिरिवाम्बुधेः । नियोज्य यौवराज्ये तं स्वेष्टान् भोगानभुङ्क्त सः ॥११८॥
भुक्त्वापि सुचिरं भोगान्नातृप्यद् विषयोत्सुकः । [2]प्रत्युतासक्तिमभजत् स्त्रीवस्त्राभरणादिषु ॥११९॥
सोऽत्यन्तविषयासक्तिकृतकौटिल्य[3]चेष्टितः । बबन्ध तीव्रसंक्लेशात् तिरश्चामायुरार्तधीः ॥१२०॥
जीवितान्ते स दुर्ध्यानमार्त्तमापूर्य दुर्मृतेः । भाण्डागारे निजे मोहात् महानजगरोऽजनि ॥१२१॥
स जातिस्मरतां गत्वा भाण्डागारिकवद् भृशम् । तत्प्रवेशे निजं सूनुमन्वमंस्त न चापरम् ॥१२२॥
अन्येद्युरवधिज्ञानलोचनान्मुनिपुङ्गवात् । मणिमाली पितुर्ज्ञात्वा तं वृत्तान्तमशेषतः ॥१२३॥
पितृभक्त्या स [4]तन्मूर्च्छामपहर्तुमनाः सुधीः । [5]शयोरग्ने शनैः स्थित्वा स्नेहार्द्रां गिरमभ्यधात् ॥१२४॥
पितः पतितवानस्यां कुयोनावधुना त्वकम् । विषयासङ्ग[6]दोषेण [7]धृतमूर्च्छो धनर्द्धिषु ॥१२५॥
ततो धिगिदमत्यन्तकटुकं विषयामिषम्[8] । [9]वमैतद् दुर्जरं तात किम्पाकफलसन्निभम् ॥१२६॥

रहित हो जाता है अथवा सूर्य अस्त हो जानेसे जिस प्रकार कमल मुरझा जाता है उसी प्रकार पिताकी मृत्युसे कुरुविन्दने अपना मुँह नीचा कर लिया, उसका सब तेज जाता रहा तथा सारा शरीर मुरझा गया–शिथिल हो गया। इस प्रकार वह शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥११५-११६॥

हे राजन्, अब दूसरी कथा सुनिए–समुद्रके समान विस्तीर्ण आपके इस वंशमें एक दण्ड नामका विद्याधर हो गया है। वह बड़ा प्रतापी था। उसने अपने समस्त शत्रुओंको दण्डित किया था ॥११७॥ जिस प्रकार समुद्रसे मणि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उस दण्ड विद्याधरसे भी मणिमाली नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब राजा दण्डने उसे युवराज-पदपर नियुक्त कर दिया और आप इच्छानुसार भोग भोगने लगा ॥११८॥ वह विषयोंमें इतना अधिक उत्सुक हो रहा था कि चिरकाल तक भोगोंको भोगकर भी तृप्त नहीं होता था बल्कि स्त्री, वस्त्र तथा आभूषण आदिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक आसक्त होता जाता था ॥११९॥ अत्यन्त विषयासक्तिके कारण मायाचारी चेष्टाओंको करनेवाले उस आर्तध्यानी राजाने तीव्र संक्लेश भावोंसे तिर्यञ्च आयुका बन्ध किया ॥१२०॥ चूँकि मरते समय उसका आर्तध्यान नामका कुध्यान पूर्णताको प्राप्त हो रहा था, इसलिए कुमरणसे मरकर वह मोहके उदयसे अपने भण्डारमें बड़ा भारी अजगर हुआ ॥१२१॥ उसे जातिस्मरण भी हो गया था इसलिए वह भण्डारीकी तरह भण्डारमें केवल अपने पुत्रको ही प्रवेश करने देता था अन्यको नहीं ॥१२२॥ एक दिन अतिशय बुद्धिमान् राजा मणिमाली किन्हीं अवधिज्ञानी मुनिराजसे पिताके अजगर होने आदिका समस्त वृत्तान्त मालूम कर पितृ-भक्तिसे उनका मोह दूर करनेके लिए भण्डारमें गया और धीरेसे अजगरके आगे खड़ा होकर स्नेहयुक्त वचन कहने लगा ॥१२३-१२४॥ हे पिता, तुमने धन, ऋद्धि आदिमें अत्यन्त ममत्व और विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति की थी इसी दोषसे तुम इस समय इस कुयोनिमें–सर्पपर्यायमें आकर पड़े हो ॥१२५॥ यह विषयरूपी आमिष अत्यन्त कटुक है, दुर्जर है और किंपाक (विषफल) फलके समान है इसलिए धिक्कारके योग्य है। हे पिताजी, इस विषयरूपी आमिषको अब भी छोड़ दो ॥१२६॥

---

१. अवस्थाम्। २. पुनः किमिति चेत्। ३. कौटिल्यं माया। ४. अज्ञानम्। ५. अजगरस्य। ६. आसन्न. आसक्तिः। ७. धृतमोहः। ८. संभोगः। 'आमिषं पलले लोभे संभोगोत्कोचयोरपि' इत्यभिधानात्। ९. उद्गारं कुरु।

[1]रथाङ्गमिव संसारमनुबध्नाति संततम्। दुस्त्यजं त्यजदप्येतत् कण्ठस्थमिव जीवितम् ॥१२७॥
प्रकटीकृतविश्वासं प्राणहारि भयावहम्। [2]मृगयोरिव दुर्गीतं नृगणैणप्रलम्भकम् ॥१२८॥
ताम्बूलमिव संयोगादिदं रागविवर्द्धनम्। अन्धकारमिवोत्सर्पत् सन्मार्गस्य निरोधनम् ॥१२९॥
जैनं मतमिव प्रायः परिभूतमतान्तरम्। तडिल्लसितवल्लोलं वैचित्र्यात् सुरचापवत् ॥१३०॥
किं चात्र बहुनोक्तेन पश्येदं विषयोद्भवम्। सुखं संसारकान्तारे परिभ्रमयतीप्सितम् ॥१३१॥
नमोऽस्तु [3]तद्रसासंगविमुखाय स्थिरात्मने[4]। तपोधनगणायेति निनिन्द विषयानसौ ॥१३२॥
अथासौ पुत्रनिर्दिष्टधर्मवाक्यांशुमालिना। गलिताशेषमोहान्धतमसः[5] समजायत ॥१३३॥
ततो धर्मौषधं प्राप्य स कृतानुशयः[6] शयुः। ववाम विषयौत्सुक्यं महाविषमिवोल्वणम्[7] ॥१३४॥
स परित्यज्य संवेगादाहारं सशरीरकम्। जीवितान्ते तनुं हित्वा दिविजोऽभून्महर्द्धिकः ॥१३५॥
ज्ञात्वा च भवमागत्य संपूज्य मणिमालिने। मणिहारमदत्तासावुन्मिषन्मणिदीधितिम् ॥१३६॥
स एष भवतः कण्ठे हारो रत्नांशुभासुरः। लक्ष्यतेऽद्यापि यो लक्ष्म्याः प्रहास इव निर्मलः ॥१३७॥
तथैवमपरं[8] राजन् यथावृत्तं[10] निगद्यते[9]। सन्ति यद्दर्शिनोऽद्यापि वृद्धाः केचन खेचराः ॥१३८॥
आसीच्छतबली नाम्ना भवदीयः [11]पितामहः। प्रजा राजन्वतीः कुर्वन् स्वगुणै[12]रभिगामिकैः[13] ॥१३९॥

हे तात, जिस प्रकार रथका पहिया निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-चलता रहता है उसी प्रकार यह विषय भी निरन्तर संसार-परिभ्रमण करता रहता है-स्थिर नहीं रहता अथवा संसार चतुर्गतिरूप संसारका बन्ध करता रहता है। यद्यपि यह कण्ठस्थ प्राणोंके समान कठिनाईसे छोड़े जाते हैं परन्तु त्याज्य अवश्य हैं ॥१२७॥ ये विषय शिकारीके गानेके समान हैं जो पहले मनुष्यरूपी हरिणोंको ठगनेके लिए विश्वास दिलाते हैं और बादमें भयंकर हो प्राणोंका हरण किया करते हैं ॥१२८॥ जिस प्रकार ताम्बूल चूना, खैर और सुपारीका संयोग पाकर राग—लालिमाको बढ़ाते है उसी प्रकार ये विषय भी स्त्री-पुत्रादिका संयोग पाकर राग—स्नेहको बढ़ाते हैं और बढ़ते हुए अन्धकारके समान समीचीन मार्गको रोक देते हैं ॥१२९॥ जिस प्रकार जैनमत मतान्तरोंका खण्डन कर देता है उसी प्रकार ये विषय भी पिता, गुरु आदिके हितोपदेशरूपी मतोंका खण्डन कर देते हैं। ये बिजलीकी चमकके समान चञ्चल हैं और इन्द्रधनुषके समान विचित्र हैं ॥ १३० ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ ? देखो, विषयोंसे उत्पन्न हुआ यह विषयसुख इस जीवको संसाररूपी अटवीमें घुमाता है॥१३१॥ जो इस विषयरसकी आसक्तिसे विमुख रहकर अपने आत्माको अपने-आपमें स्थिर रखते हैं ऐसे मुनियोंके समूहको नमस्कार हो। इस प्रकार राजा मणिमालीने विषयोंकी निन्दा की॥१३२॥ तदनन्तर अपने पुत्रके धर्मवाक्यरूपी सूर्यके द्वारा उस अजगरका सम्पूर्ण मोहरूपी गाढ़ अन्धकार नष्ट हो गया ॥१३३॥ उस अजगरको अपने पिछले जीवनपर भारी पश्चात्ताप हुआ और उसने धर्मरूपी ओषधि ग्रहण कर महाविषके समान भयंकर विषयासक्ति छोड़ दी ॥१३४॥ उसने संसारसे भयभीत होकर आहार-पानी छोड़ दिया, शरीरसे भी ममत्व त्याग दिया और उसके प्रभावसे वह आयुके अन्तमें शरीर त्याग कर बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ॥१३५॥ उस देवने अवधिज्ञानके द्वारा अपने पूर्व भव जान मणिमालीके पास आकर उसका सत्कार किया तथा उसे प्रकाशमान मणियोंसे शोभायमान एक मणियोंका हार दिया ॥१३६॥ रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान तथा लक्ष्मीके हासके समान निर्मल वह हार आज भी आपके कण्ठमें दिखायी दे रहा है ॥१३७॥

हे राजन्, इसके सिवाय एक और भी वृत्तान्त मैं ज्योंका-त्यों कहता हूँ। उस वृत्तान्तके देखनेवाले कितने ही वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं ॥१३८॥ शतबल नामके आपके दादा हो

१. शकटचक्रवत्। २. व्याधस्य। ३. विषयसुखानुरागासक्तिः। ४. स्थिरबुद्धये। ५. तामसः ल०। ६. पश्चात्तापः। ७. उत्कटम्। ८. प्रकाशमानः। ९. कथ्येत्यर्थः। १०. यथावद् वर्तितम्। ११. पितृपिता। १२. -णैरभिरामकैः अ०। -राभिरामिकैः स०, प०। १३. अत्यादरणीयैः।

स राज्यं सुचिरं भुक्त्वा कदाचिद् भोगनिःस्पृहः । भवत्पितरि निक्षिप्तराज्यभारो महोदयः ॥१४०॥
सम्यग्दर्शनपूतात्मा गृहीतोपासकव्रतः । निबद्धसुरलोकायुर्विशुद्धपरिणामत ॥१४१॥
कृत्वानशनसच्चर्यामवमोदर्यमप्यदः । यथोचितनियोगेन[1] योगेनान्तेऽत्यजत् तनुम् ॥१४२॥
माहेन्द्रकल्पेऽनल्पर्द्धिरभूदेष सुराग्रणीः । अणिमादिगुणोपेतः सप्ताम्बुधिमितस्थितिः ॥१४३॥
स चान्यदा महामेरौ नन्दने त्वामुपागतम् । क्रीडाहेतोर्मया सार्द्धं दृष्ट्वातिस्नेहनिर्भरः ॥१४४॥
कुमार परमो धर्मो जैनाभ्युदयसाधनः । न विस्मार्यस्त्वयेत्येवं त्वां तदान्वशिषत्तराम्[3] ॥१४५॥
नमत्ख[4]चरराजेन्द्रमस्तकारूढशासनः । सहस्रबल इत्यासीद् भवत्पितृपितामहः ॥१४६॥
स देव देवे[5] निक्षिप्य लक्ष्मीं शतबले सुते । जग्राह परमां दीक्षां जैनीं निर्वाणसाधनीम् ॥१४७॥
विजहार महीं कृत्स्नां द्योतयन् स तपोंऽशुभिः । मिथ्यान्धकारघटनां विघटय्यांशुमानिव ॥१४८॥
क्रमात् कैवल्यमुत्पाद्य पूजितो नृसुरासुरैः । ततोऽनन्तमपारं च संप्रापच्छाश्वतं पदम् ॥१४९॥
तथा युष्मत्पितायुष्मन् राज्यभूरिमं[6] वशी । त्वयि निक्षिप्य वैराग्यात् महाप्राव्राज्यमास्थितः[7] ॥१५०॥
पुत्रनप्तृभिरन्यैश्च नमश्चरनराधिपैः । सार्द्धं तपश्चरन्नेष मुक्तिलक्ष्मीं[8] जिघृक्षति ॥१५१॥
धर्माधर्मफलस्यैते दृष्टान्तत्वेन दर्शिताः । युष्मद्वंश्याः[9] खगाधीशाः[10] सुप्रतीतकथानकाः ॥१५२॥

गये हैं जो अपने मनोहर गुणोंके द्वारा प्रजाको हमेशा सुयोग्य राजासे युक्त करते थे ॥१३९॥ उन भाग्यशाली शतबलने चिरकाल तक राज्य भोग कर आपके पिताके लिए राज्यका भार सौंप दिया था और स्वयं भोगोंसे निःस्पृह हो गये थे ॥१४०॥ उन्होंने सम्यग्दर्शनसे पवित्र होकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे और विशुद्ध परिणामोंसे देवायुका बन्ध किया था ॥१४१॥ उनने उपवास अवमोदर्य आदि सत्प्रवृत्तिको धारण कर आयुके अन्तमें यथायोग्य रीतिसे समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा ॥१४२॥ जिससे महेन्द्रस्वर्गमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक श्रेष्ठ देव हुए। वहाँ वे अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे सहित थे तथा सात सागर प्रमाण उनकी स्थिति थी ॥१४३॥ किसी एक दिन आप सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमें क्रीड़ा करनेके लिए मेरे साथ गये हुए थे वहींपर वह देव भी आया था। आपको देखकर बड़े स्नेहके साथ उसने उपदेश दिया था कि 'हे कुमार, यह जैनधर्म ही उत्तम धर्म है, यही स्वर्ग आदि अभ्युदयोंकी प्राप्तिका साधन है इसे तुम कभी नहीं भूलना' ॥१४४-१४५॥ यह कथा कहकर स्वयंबुद्ध कहने लगा कि—

"हे राजन्, आपके पिताके दादाका नाम सहस्रबल था। अनेक विद्याधर राजा उन्हें नमस्कार करते थे और अपने मस्तकपर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥१४६॥ उन्होंने भी अपने पुत्र शतबल महाराजको राज्य देकर मोक्षप्राप्त करनेवाली उत्कृष्ट जिनदीक्षा ग्रहण की थी॥१४७॥ वे तपरूपी किरणोंके द्वारा समस्त पृथिवीको प्रकाशित करते और मिथ्यात्वरूपी अन्धकारकी घटाको विघटित करते हुए सूर्यके समान विहार करते रहे ॥१४८॥ फिर क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मनुष्य,देव और धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित हो अनन्त अपार और नित्य मोक्ष पदको प्राप्त हुए ॥१४९॥ हे आयुष्मन्, इसी प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले आपके पिता भी आपके लिए राज्यभार सौंप कर वैराग्यभावसे उत्कृष्ट जिनदीक्षाको प्राप्त हुए हैं और पुत्र, पौत्र तथा अनेक विद्याधर राजाओंके साथ तपस्या करते हुए मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करना चाहते हैं ॥१५०-१५१॥ हे राजन्, मैंने धर्म और अधर्मके फलका दृष्टान्त देनेके लिए ही आपके वंशमें उत्पन्न हुए उन

---

१. कृत्स्नेन । २. समाधिना । ३. नितरामनुशास्ति स्म । ४. -खेचर- अ०, ल० । ५. विजिगीषौ (जयनशीले इत्यर्थ) 'पर्जन्ये राज्ञि निर्माणे व्यवहर्तरि भर्तरि । मूर्खे बाले जिगीषौ च देवोक्तिर्नरकुष्ठिनि ॥' इत्यभिधानात् । ६. इन्द्रियजयी । ७. आश्रितः । ८. गृहीतुमिच्छति । ९. वंशे भवा । १०. कथैव आनकः पटहः कथानकं सुप्रतीतः प्रसिद्धः कथानको येषां ते तथोक्ताः ।

विद्धि ध्यानचतुष्कस्य फलमेतन्निदर्शितम् । पूर्वं ध्यानद्वयं [1]पापं शुभोदर्कं [2]परं द्वयम् ॥१५३॥
तस्माद् धर्मजुषां पुंसां भुक्तिमुक्ती न दुर्लभे । प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामिदं निश्चिनु धीधन ॥१५४॥
इति प्रतीतमाहात्म्यो धर्मोऽयं जिनदेशितः । त्वयापि शक्तितः सेव्यः फलं [3]विपुलमिच्छता ॥१५५॥
श्रुत्वोदारं च गम्भीरं स्वयंबुद्धोदितं[4] वचः । सभा [5]समाजयामास [6]परमास्तिक्यमास्थिता[7] ॥१५६॥
इदमेवार्हतं तत्त्वमितोऽन्यन्न मतान्तरम् । [8]प्रतीतिरिति तद्वाक्यादाविरासीत् [9]सदः [10]सताम् ॥१५७॥
सुदृष्टिर्व्रतसंपन्नो गुणशीलविभूषितः । [11]ऋजुर्गुप्तो[12] गुरौ भक्तः श्रुताभिज्ञः प्रगल्भधीः[13] ॥१५८॥
श्लाघ्य एष गुणैरेभिः परमश्रावकोचितैः । स्वयंबुद्धे महात्मेति तुष्टुवुस्तं सभासदः[14] ॥१५९॥
प्रशस्य खचराधीशः [15]प्रतिपद्य च तद्वचः । प्रीतः संपूजयामास स्वयंबुद्धं महाधियम् ॥१६०॥
अथान्यदा स्वयंबुद्धो महामेरुगिरिं ययौ । [16]विवन्दिषुर्जिनेन्द्राणां चैत्यवेश्मनि भक्तितः ॥१६१॥
[17]वनैश्चतुर्भिरामान्त[18] जिनस्येव [19]शुभोदयम् । श्रुतस्कन्धमिवानादिनिधनं सप्रमाणकम् ॥१६२॥

विद्याधर राजाओंका वर्णन किया है जिनके कि कथारूपी दुन्दुभि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ॥१५२॥ आप ऊपर कहे हुए चारों दृष्टान्तोंको चारों ध्यानोंका फल समझिए क्योंकि राजा अरविन्द रौद्रध्यानके कारण नरक गया। दण्ड नामका राजा आर्तध्यानसे भाण्डारमें अजगर हुआ, राजा शतबल धर्मध्यानके प्रतापसे देव हुआ और राजा सहस्रबलने शुक्लध्यानके माहात्म्यसे मोक्ष प्राप्त किया। इन चारों ध्यानोंमें-से पहलेके दो—आर्त और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं जो कुगतिके कारण हैं और आगेके दो-धर्म तथा शुक्लध्यान शुद्ध हैं, वे स्वर्ग और मोक्षके कारण हैं ॥१५३॥ इसलिए हे बुद्धिमान् महाराज, धर्मसेवन करनेवाले पुरुषोंको न तो स्वर्गादिकके भोग दुर्लभ हैं और न मोक्ष ही। यह बात आप प्रत्यक्ष प्रमाण तथा सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशसे निश्चित कर सकते हैं ॥१५४॥ हे राजन्, यदि आप निर्दोष फल चाहते हैं तो आपको भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए प्रसिद्ध महिमासे युक्त इस जैन धर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥१५५॥ इस प्रकार स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके कहे हुए उदार और गम्भीर वचन सुनकर वह सम्पूर्ण सभा बड़ी प्रसन्न हुई तथा परम आस्तिक्य भावको प्राप्त हुई ॥१५६॥ स्वयम्बुद्धके वचनोंसे समस्त सभासदोंको यह विश्वास हो गया कि यह जिनेन्द्रप्रणीत धर्म ही वास्तविक तत्त्व है अन्य मत-मतान्तर नहीं ॥१५७॥ तत्पश्चात् समस्त सभासद् उसकी इस प्रकार स्तुति करने लगे कि यह स्वयम्बुद्ध सम्यग्दृष्टि है, व्रती है, गुण और शीलसे सुशोभित है, मन, वचन, कायका सरल है, गुरुभक्त है, शास्त्रोंका वेत्ता है, अतिशय बुद्धिमान् है, उत्कृष्ट श्रावकोंके योग्य उत्तम गुणोंसे प्रशंसनीय है और महात्मा है ॥१५८-१५९॥ विद्याधरोंके अधिपति महाराज महाबलने भी महाबुद्धिमान् स्वयम्बुद्धकी प्रशंसा कर उसके कहे हुए वचनोंको स्वीकार किया तथा प्रसन्न होकर उसका अतिशय सत्कार किया ॥१६०॥ इसके बाद किसी एक दिन स्वयम्बुद्ध मन्त्री अकृत्रिम चैत्यालयमें विराजमान जिन-प्रतिमाओंकी भक्तिपूर्वक वन्दना करनेकी इच्छासे मेरुपर्वतपर गया ॥१६१॥

वह पर्वत जिनेन्द्र भगवान्‌के समवसरणके समान शोभायमान हो रहा है क्योंकि जिस

---

१. पापहेतु. । २. सुखोदर्कं त० ब० पुस्तकयोः पाठान्तरं पार्श्वके लिखितम् । शुभोत्तरफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमर । ३. विमल-म०, ल० । ४. वचनम् । ५. तुतोष । 'समाज प्रीतिदर्शनयो.' इति धातुरवोरादिक. । ६. जीवास्तित्वम् । ७ आश्रिता । ८ निश्चय. । ९ सभा । १० -सताम् ट० । सत्पुरुषाणाम् । ११. मनोगुप्त्यादिमान् । १२ -र्गुप्तो-ट० । १३. प्रौढबुद्धि. । १४. सभ्या. । १५. अङ्गीकृत्य । १६. वन्दितुमिच्छु. । १७. भद्रशालनन्दनसौमनसपाण्डुकैः, पक्षे अशोकसप्तच्छदचम्पकाम्रैः । १८. आराजन्तम् । १९. समोदयम् द०, ट० । समवसरणम् ।

महीभृतामधीशत्वात् [1]सद्वृत्तत्वात् [2]सदास्थिते । [3]प्रवृद्धकटकत्वाच्च सुराजानमिवोन्नतम् ॥१६३॥
[4]सर्वलोकोत्तरत्वाच्च ज्येष्ठत्वात् सर्वभूभृताम् । महत्त्वात् स्वर्णवर्णत्वात् तमाद्यमिव [5]पूरुषम् ॥१६४॥
समासादितवज्रत्वादप्सरः[6]संश्रयादपि । [7]ज्योतिःपरीतमूर्त्तित्वात् सुरराजमिवापरम् ॥१६५॥
चूलिकाग्रसमासन्नसौधर्मेन्द्रविमानकम् । स्वर्लोकधारणे न्यस्तमिवैकं स्तम्भमुच्छ्रितम् ॥१६६॥
मेखलाभिर्वनश्रेणीर्दधानं कुसुमोज्ज्वला. । स्पर्द्धयेव कुरुक्ष्माजैः सर्वर्तुफलदायिनीः[8] ॥१६७॥
हिरण्मयमहोदग्रवपुषं रत्नभासुरम् । जिनजन्माभिषेकाय बद्धं पीठमिवामरैः ॥१६८॥
जिनाभिषेकसंबन्धाज्जिनायतनधारणात् । स्वीकृतेनेव पुण्येन [9]प्राप्तं स्वर्गमनर्गलम्[10] ॥१६९॥

प्रकार समवसरण (अशोक, सप्तच्छद, आम्र और चम्पक) चार वनोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चार (भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक) वनोंसे सुशोभित है। वह अनादि निधन है तथा प्रमाणसे (एक लाख योजन) सहित है इसलिए श्रुतस्कन्धके समान है क्योंकि आर्यदृष्टिसे श्रुतस्कन्ध भी अनादिनिधन है और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे सहित है। अथवा वह पर्वत किसी उत्तम महाराजके समान है क्योंकि जिस प्रकार महाराज अनेक महीभृतों (राजाओं) का अधीश होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अनेक महीभृतों (पर्वतों) का अधीश है। महाराज जिस प्रकार सुवृत्त (सदाचारी) और सदास्थिति (समीचीन सभासे युक्त) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवृत्त (गोलाकार) और सदास्थिति (सदा विद्यमान) रहता है। तथा महाराज जिस प्रकार प्रवृद्धकटक (बड़ी सेनाका नायक) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक (ऊँचे शिखरवाला) है। अथवा वह पर्वत आदि पुरुष श्री वृषभदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि भगवान् वृषभदेव जिस प्रकार सर्वलोकोत्तर हैं—लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी सर्वलोकोत्तर है—सब देशोंसे उत्तर दिशामें विद्यमान है। भगवान् जिस प्रकार सब भूभृतोंमें (सब राजाओंमें) ज्येष्ठ थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सब भूभृतों (पर्वतों)में ज्येष्ठ—उत्कृष्ट है। भगवान् जिस प्रकार महान् थे उसी प्रकार वह पर्वत भी महान् है और भगवान् जिस प्रकार सुवर्ण वर्णके थे उसी प्रकार वह पर्वत भी सुवर्ण वर्णका है। अथवा वह मेरु पर्वत इन्द्रके समान सुशोभित है क्योंकि इन्द्र जिस प्रकार वज्र (वज्रमयी शस्त्र) से सहित होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी वज्र (हीरों) से सहित होता है। इन्द्र जिस प्रकार अप्सरःसंश्रय (अप्सराओंका आश्रय) होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अप्सरःसंश्रय (जलसे भरे हुए तालाबोंका आधार) है। और इन्द्रका शरीर जैसे चारों ओर फैलती हुई ज्योति (तेज) से सुशोभित होता है उसी प्रकार उस पर्वतका शरीर भी चारों ओर फैले हुए ज्योतिषी देवोंसे सुशोभित है। सौधर्म स्वर्गका इन्द्रक विमान इस पर्वतकी चूलिकाके अत्यन्त निकट है (बालमात्रके अन्तरसे विद्यमान है) इसलिए ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गलोकको धारण करनेके लिए एक ऊँचा खम्भा ही खड़ा हो। वह पर्वत अपनी कटनियोंसे जिन वनपंक्तियोंको धारण किये हुए है वे हमेशा फूलोंसे उज्ज्वल रहती हैं तथा ऐसी मालूम होती हैं मानो कल्पवृक्षोंके साथ स्पर्धा करके ही सब ऋतुओंके फल फूल दे रही हों। वह पर्वत सुवर्णमय है, ऊँचा है और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे सहित है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए देवोंके द्वारा बनाया हुआ सुवर्णमय ऊँचा और रत्नखचित सिंहासन ही हो। उस पर्वतपर श्री जिनेन्द्रदेवका अभिषेक होता है तथा अनेक चैत्यालय विद्यमान हैं मानो इन्हीं दो

१. सुवृत्तत्वात् । २. नित्यस्थिते । सताम् आ समन्तात् स्थितिर्यस्मिन् । ३. प्रवृद्धसानुत्वात् प्रवृद्धसैन्यत्वाच्च । ४. सर्वजनस्योत्तरदिक्स्थत्वात् सर्वजनोत्तमत्वाच्च । ५. पुरुपरमेश्वरम् । ६. अद्भिरुपलक्षितसरोवरसंश्रयात् देवगणिकासंश्रयाच्च । ७. ज्योतिर्गणः पक्षे कायकान्तिः । ८ –दायिभिः म० । ९. प्राप्तस्वर्ग– अ०, स०, द०, म०, ल० । १०. अप्रतिबन्धं यथा भवति तथा ।

[1]लवणाम्भोधिवेलाम्भोवलयश्लक्ष्णवाससः । [2]जम्बूद्वीपमहीभर्तुः तिरीटमिव सुस्थितम् ॥१७०॥
कुलाचलपृथूत्तुङ्गवीचीभङ्गोपशोभिनः । संगीतप्रहतातोद्यविहङ्गरुत[3]शालिनः ॥१७१॥
महानदीजलालोलमृणालविलसद्द्युतेः । नन्दनादिमहोद्यानविसर्पत्पत्रसंपदः[4] ॥१७२॥
[5]सुरासुरसभावासभासितामरसश्रिय. । [6]सुखासवरसासक्तजीवभृङ्गावलीभृतः ॥१७३॥
जगत् पद्माकरस्यास्य मध्ये [7]कालानिलोद्धृतम् । विवृद्धमिव किञ्जल्कपुञ्जमापिञ्जरच्छविम् ॥१७४॥
[8]सरत्नकटकं भास्वच्चूलिकामुकुटोज्ज्वलम्[9] । सोऽद्राक्षीद् गिरिराजं त राजन्तं जिनमन्दिरैः ॥१७५॥
[10]तमद्भुतश्रियं पश्यन् अगमत् स परां मुदम् । न्यरूपयच्च पर्यन्तदेशानस्येति विस्मयात् ॥१७६॥
गिरीन्द्रोऽयं स्वशृङ्गाग्रैः समाक्रान्तनभोऽङ्गणः । लोकनाडीगतायाम[11]मिमान[12] इव राजते ॥१७७॥
अस्य [13]सानूनिमे रम्यच्छायानोकहशोभिनः । सार्द्धं वधूजनै. शश्वदावसन्ति दिवौकसः ॥१७८॥
अस्य [14]पादाद्रयोऽप्यस्मा[15]दालोलनिषधं गता. । महतां पादसंसेवी को वा [16]नायतिमाप्नुयात्॥१७९॥

कारणोंसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा वह विना किसी रोक-टोकके स्वर्गको प्राप्त हुआ है अर्थात् स्वर्ग तक ऊँचा चला गया है। अथवा वह पर्वत लवणसमुद्रके नीले जलरूपी सुन्दर वस्त्रोंको धारण किये हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके अच्छी तरह लगाये गये मुकुटके समान मालूम होता है। अथवा यह जगत् एक सरोवरके समान है क्योंकि यह सरोवरकी भाँति ही कुलाचलरूपी बड़ी ऊँची लहरोंसे शोभायमान है, संगीतके लिए बजते हुए बाजोंके शब्दरूपी पक्षियोंके शब्दोंसे सुशोभित है, गङ्गा, सिन्धु आदि महानदियोंके जलरूपी मृणालसे विभूषित है, नन्दनादि महावनरूपी कमलपत्रोंसे आच्छन्न है, सुर और असुरोंके सभाभवनरूपी कमलोंसे शोभित है, तथा सुखरूप मकरन्दके प्रेमी जीवरूपी भ्रमरावलीको धारण किये हुए है। ऐसे इस जगत्रूपी सरोवरके बीचमें वह पीत वर्णका सुवर्णमय मेरु पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो प्रलयकालके पवनसे उड़ा हुआ तथा एक जगह इकट्ठा हुआ कमलोंकी केशरका समूह हो। वास्तवमें वह पर्वत, पर्वतोंका राजा है क्योंकि राजा जिस प्रकार रत्नजडित कटकों (कड़ों) से युक्त होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी रत्नजड़ित कटकों (शिखरों) से युक्त है और राजा जिस प्रकार मुकुटसे शोभायमान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूलिकारूपी देदीप्यमान मुकुटसे शोभायमान है। इस प्रकार वर्णनयुक्त तथा जिनमन्दिरोंसे शोभायमान वह मेरु पर्वत स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने देखा ॥१६२-१७५॥ अद्भुत शोभायुक्त उस मेरु पर्वतको देखता हुआ वह मन्त्री अत्यन्त आनन्दको प्राप्त हुआ और बड़े आश्चर्यसे उसके समीपवर्ती प्रदेशोंका नीचे लिखे अनुसार निरूपण करने लगा ॥१७६॥ इस गिरिराजने अपने शिखरोंके अग्रभागसे समस्त आकाशरूपी आँगनको घेर लिया है जिससे ऐसा शोभायमान होता है मानो लोकनाड़ीकी लम्बाई ही नाप रहा हो ॥१७७॥ मनोहर तथा घनी छायावाले वृक्षोंसे शोभायमान इस पर्वतके शिखरोंपर वे देव लोग अपनी-अपनी देवियोंके साथ सदा निवास करते हैं ॥१७८॥ इस पर्वतके प्रत्यन्त पर्वत (समीप-

---

१ घिनीलाम्भो—अ०, म०, द०, स०, प०, ल०। २. जम्बूद्वीपमहीभर्तुः सादृश्याभावात् जम्बूद्वीपमहीभर्तुरिति रूपकमयुक्तमिति न शङ्कनीयम्। महाजनैरिवानेकद्वीपैर्वेष्टितत्वेन साम्यसद्भावात्। 'यथा कथचित् सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते' इति वचनात्। नन्विदमुपलक्षण न तु रूपकस्यैवेति वाच्यम् 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति वचनात्। ३. ध्वनिः। ४. अत्र श्लोके पत्रशब्देन कमलिनीपत्राणि गृह्यन्ते। ५. सुरासुरसभागृहोद्भासिकमलश्रियः। ६. सुखमेव आसवरसः मकरन्दरसः तत्र आसक्ता जीवा एव भृङ्गावल्य ता बिभर्ति तस्य। ७. काल एवानिलस्तेनोद्धृतम्। ८. रत्नमयसानुसहितम्। पक्षे रत्नमयकरवलयसहितम्। ९. पक्षे कलशोपलक्षितमुकुटम्। १०. तमुद्भूत–अ०, ल०। ११. उत्सेधम्। १२. प्रमाता। १३ शृङ्गेषु। 'वसोऽनुपाध्याङ्' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे द्वितीया विभक्तिर्भवति। १४. प्रत्यन्तपर्वता। १५ मेरो। १६ नायाति–म०, ल०।

गजदन्ताद्रयोऽस्यैते [1]लक्ष्यन्ते पादसंश्रिताः । [2]भवत्या निषधनीलाभ्यामिव हस्ताः प्रसारिताः ॥१८०॥
इमे चैनं महानद्यौ सीतासीतोदकाह्वये । क्रोशद्वयादनास्पृश्य [3]यातोऽम्भोधिं भयादिव ॥१८१॥
अस्य पर्यन्तभूभागं सदाऽलंकुरुते द्रुमैः । भद्रशालपरिक्षेपः[4] कुरुलक्ष्मीमधिक्षिपन्[5] ॥१८२॥
इतो नन्दनमुद्यानमितं सौमनसं वनम् । [6]इतः पाण्डुकमाभाति शश्वत्कुसुमितद्रुमम् ॥१८३॥
इतोऽर्द्धचन्द्रवृत्ताङ्गाः कुरवोऽमी चकासते । इतो जम्बूद्रुमः श्रीमानितः शाल्मलिपादपः ॥१८४॥
अमी चैत्यगृहा भान्ति वनेष्वस्य जिनेशिनाम् । रत्नभाभासिभिः कूटैः द्योतयन्तो नभोऽङ्गणम् ॥१८५॥
शश्वत् पुण्यजनाकीर्णः सोद्यानः सजिनालयः । पर्यन्तस्थसरित्क्षेत्रो नगोऽयं नगरायते ॥१८६॥
संगतस्याङ्गभृद्भृङ्गैः क्षेत्रपत्रोपशोभिनः । जम्बूद्वीपाम्बुजस्यास्य नगोऽयं कर्णिकायते ॥१८७॥
इति प्रकटितोदारमहिमा भूभृतां पतिः । मन्ये जगत्त्रयायाममद्याप्येष विलङ्घते ॥१८८॥
तमित्थावर्णयन् दूरात् स्वयंबुद्धः समासदत् । ध्वजहस्तैरिवाहूतः सादरं जिनमन्दिरैः ॥१८९॥
अकृत्रिमाननाद्यन्तान् [7]नित्यालोकान् सुरार्चितान् । जिनालयान् समासाद्य स परां मुदमाययौ ॥१९०॥
[8]सपर्यया स [9]पर्येत्य भूयो भक्त्या प्रणम्य च । भद्रशालादिचैत्यानि वन्दते स्म यथाक्रमम् ॥१९१॥

वर्ती छोटी-छोटी पर्वतश्रेणियाँ) यहाँसे लेकर निषध और नील पर्वत तक चले गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़ोंकी चरणसेवा करनेवाला कौन पुरुष बड़प्पनको प्राप्त नहीं होता ? ॥१७९॥ इसके चरणों (प्रत्यन्त पर्वतों)के आश्रित रहनेवाले ये गजदन्त पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानो निषध और नील पर्वतने भक्तिपूर्वक सेवाके लिए अपने हाथ ही फैलाये हों ॥१८०॥ ये सीता, सीतोदा नामकी महानदियाँ मानो भयसे ही इसके पास नहीं आकर दो कोशकी दूरीसे समुद्रकी ओर जा रही हैं ॥१८१॥ इस पर्वतके चारों ओर यह भद्रशाल वन है जो अपनी शोभासे देवकुरु तथा उत्तरकुरुकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा है और अपने वृक्षोंके द्वारा इस पर्वतसम्बन्धी चारों ओरके भूमिभागको सदा अलंकृत करता रहता है ॥१८२॥ इधर नन्दनवन, इधर सौमनस वन और इधर पाण्डुक वन शोभायमान है। ये तीनों ही वन सदा फूले हुए वृक्षोंसे अत्यन्त मनोहर हैं ॥१८३॥ इधर ये अर्धचन्द्राकार देवकुरु तथा उत्तरकुरु शोभायमान हो रहे हैं, इधर शोभावान् जम्बूवृक्ष है और इधर यह शाल्मली वृक्ष है ॥१८४॥ इस पर्वतके चारों वनोंमें ये जिनेन्द्रदेवके चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नोंकी कान्तिसे भासमान अपने शिखरोंके द्वारा आकाशरूपी आँगनको प्रकाशित कर रहे हैं ॥१८५॥ यह पर्वत सदा पुण्यजनों (यक्षों) से व्याप्त रहता है। अनेक बाग-बगीचे तथा जिनालयोंसे सहित है तथा इसके समीप ही अनेक नदियाँ और विदेह क्षेत्र विद्यमान हैं इसलिए यह किसी नगरके समान मालूम हो रहा है। क्योंकि नगर भी सदा पुण्यजनों (धर्मात्मा लोगों) से व्याप्त रहता है, बाग-बगीचे और जिन-मन्दिरोंसे सहित होता है तथा उसके समीप, अनेक नदियाँ और खेत विद्यमान रहते हैं ॥१८६॥ अथवा यह पर्वत संसारी जीवरूपी भ्रमरोंसे सहित तथा भरतादि क्षेत्ररूपी पत्रोंसे शोभायमान इस जम्बूद्वीपरूपी कमलकी कर्णिकाके समान भासित होता है ॥१८७॥ इस प्रकार उत्कृष्ट महिमासे युक्त यह सुमेरु पर्वत, जान पड़ता है कि आज भी तीनों लोकोंकी लम्बाईका उल्लंघन कर रहा है ॥१८८॥ इस तरह दूरसे ही वर्णन करता हुआ स्वयम्बुद्ध मन्त्री उस मेरु पर्वतपर ऐसा जा पहुँचा मानो जिन-मन्दिरोंने अपने ध्वजारूपी हाथोंसे उसे आदरसहित बुलाया ही हो ॥१८९॥ वहाँ अनादिनिधन, हमेशा प्रकाशित रहनेवाले और देवोंसे पूजित अकृत्रिम चैत्यालयोंको पाकर वह स्वयंबुद्ध मन्त्री परम आनन्दको प्राप्त हुआ ॥१९०॥ उसने पहले प्रदक्षिणा दी। फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और फिर पूजा की। इस प्रकार यथाक्रमसे भद्रशाल आदि वनोंकी समस्त अकृत्रिम

---

१. लक्षन्ते ल० । २. भवत्यै द०, ट० । भजनाय । ३. गच्छतः । ४. परिवलयः । परिक्षेपं स०, अ० । ५. तिरस्कुर्वन् । अधिक्षिपत् अ०, अ० । ६. भद्रशालादुपरि । ७. सन्ततप्रकाशकान् । ८ पूजया । ९ प्रदक्षिणीकृत्य ।

स सौमनसपौरस्त्यदिग्भागजिनवेश्मनि[1] । कृतार्चनविधिर्भक्त्या प्रणम्य क्षणमासितः[2] ॥१९२॥
[3]प्राग्विदेहमहाकच्छविषयारिष्टसत्पुरात् । आगतौ सहसैक्षिष्ट मुनी गगनचारिणौ ॥१९३॥
आदित्यगतिमग्रण्यं[4] तथारिञ्जयशब्दनम्[5] । युगन्धरमहातीर्थसरसीहंसनायकौ ॥१९४॥
तावभ्येत्य समभ्यर्च्य प्रणम्य च पुनः पुनः । पप्रच्छेति [6]सुखासीनौ मनीषी [7]स्वमनीषितम् ॥१९५॥
भगवन्तौ युवां ब्रूतं किंचित् पृच्छामि हृद्गतम् । भवन्तौ हि जगद्बोधविधौ[8] धत्तोऽवधित्विषम्॥१९६॥
अस्मत्स्वामी खगाधीशः ख्यातोऽस्तीह महाबलः । स भव्यसिद्धिराहोस्विदभव्य संशयोऽत्र मे ॥१९७॥
जिनोपदिष्टसन्मार्गमस्मद्वाक्यात्[9] प्रमाणयन् । स किं [10]श्रद्धास्यते नेति [11]जिज्ञासे [12]वामनुग्रहात् ॥१९८॥
इति प्रश्नमुपन्यस्य[13] तस्मिन् विश्रान्तिमीयुषि[14] । तयोरादित्यगत्याख्यः समाख्यदवधीक्षणः ॥१९९॥
भो भव्य ! भव्य एवासौ [15]प्रत्येष्यति च [16]ते वचः । दशमे जन्मनीतश्च तीर्थकृत्त्वमवाप्स्यति॥२००॥
द्वीपे जम्बूमतीहैव विषये भारताह्वये । [17]जनितैष्यद्[18] युगारम्भे भगवानादितीर्थकृत् ॥२०१॥
इतोऽतीतभवं चास्य वक्ष्ये शृणु समासतः । धर्मबीजमनेनोप्तं यत्र भोगेच्छयान्वितम् ॥२०२॥
इहैवापरतो मेरोर्विदेहे गन्धिलाभिधे । पुरे सिंहपुराभिख्ये पुरन्दरपुरोपमे ॥२०३॥
श्रीषेण इत्यभूद् राजा [19]राजेव प्रियदर्शनः । देवी च सुन्दरी तस्य बभूवात्यन्तसुन्दरी ॥२०४॥
जयवर्माह्वयः सोऽयं तयोः सूनुरजायत । श्रीवर्मेति च तस्याभूदनुजो जनताप्रियः ॥२०५॥

प्रतिमाओंकी वन्दना की ॥१९१॥ वन्दनाके बाद उसने सौमनसवनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें पूजा की तथा भक्तिपूर्वक प्रणाम करके क्षण-भरके लिए वह वहीं बैठ गया ॥१९२॥

इतनेमें ही उसने पूर्व विदेह क्षेत्रसम्बन्धी महाकच्छ देशके अरिष्ट नामक नगरसे आये हुए, आकाशमें चलनेवाले आदित्यगति और अरिंजय नामके दो मुनि अकस्मात् देखे। वे दोनों ही मुनि युगन्धर स्वामीके समवसरणरूपी सरोवरके मुख्य हंस थे ॥१९३-१९४॥ अतिशय बुद्धिमान् स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने सम्मुख जाकर उनकी पूजा की, बार-बार प्रणाम किया और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये तब उनसे नीचे लिखे अनुसार अपने मनोरथ पूछे ॥१९५॥ हे भगवन्, आप जगत्को जाननेके लिए अवधिज्ञानरूपी प्रकाश धारण करते है इसलिए आपसे मैं कुछ मनोगत बात पूछता हूँ, कृपाकर उसे कहिए ॥१९६॥ हे स्वामिन्, इस लोकमें अत्यन्त प्रसिद्ध विद्याधरोंका अधिपति राजा महाबल हमारा स्वामी है वह भव्य है अथवा अभव्य ? इस विषयमें मुझे संशय है ॥१९७॥ जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सन्मार्गका स्वरूप दिखानेवाले हमारे वचनोंको जैसे वह प्रमाणभूत मानता है वैसे श्रद्धान भी करेगा या नहीं ? यह बात मैं आप दोनोंके अनुग्रहसे जानना चाहता हूँ ॥१९८॥ इस प्रकार प्रश्न कर जब स्वयम्बुद्ध मन्त्री चुप हो गया तब उनमें-से आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे ॥१९९॥ हे भव्य, तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे वचनोंपर विश्वास करेगा और दसवें भवमें तीर्थंकर पद भी प्राप्त करेगा ॥२००॥ वह इसी जम्बूद्वीपके भरत नामक क्षेत्रमें आनेवाले युगके प्रारम्भमें ऐश्वर्यवान् प्रथम-तीर्थंकर होगा ॥२०१॥ अब मैं संक्षेपसे इसके उस पूर्वभवका वर्णन करता हूँ जहाँ कि इसने भोगोंकी इच्छाके साथ-साथ धर्मका बीज बोया था। हे राजन्, तुम सुनो ॥२०२॥

इसी जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वतसे पश्चिमकी ओर विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है उसमें सिंहपुर नामका नगर है जो कि इन्द्रके नगरके समान सुन्दर है। उस नगरमें एक श्रीषेण नामका राजा हो गया है। वह राजा चन्द्रमाके समान सबको प्रिय था। उसकी एक अत्यन्त सुन्दर सुन्दरी नामकी स्त्री थी॥२०३-२०४॥उन दोनोंके पहले जयवर्मा नामका पुत्र हुआ

---

१. पूर्वदिग्भागस्थजिनगृहे । २. स्थितः । -मास्थित. द०, म० । ३. पूर्वविदेह. । ४. मुख्यम् । ५. अरिञ्जयाख्यम् । ६. सुखोपविष्टौ । ७. स्वेप्सितम् । ८. बोधविधाने । ९. वाक्य प्र-अ०, द०, स०, प० । १०. श्रद्धानं करिष्यते । ११. ज्ञातुमिच्छामि । १२. युवयोः । १३. उपन्यास कृत्वा । १४. गच्छति सति । १५ विश्वासं करिष्यति । १६ च तद्वच. म० । १७. भविष्यति । १८. भविष्यद्युगप्रारम्भे । १९. चन्द्र इव ।

[1]पित्रोरपि निसर्गेण कनीयानभवत् प्रियः। प्रायः [2]प्रजात्वसाम्येऽपि क्वचित् प्रीतिः प्रजायते ॥२०६॥
जनानुरागमुत्साहं[3] पिता दृष्ट्वा कनीयसि। राज्यपट्टं बबन्धास्य ज्यायांसमवधीरयन्[4] ॥२०७॥
जयवर्माथ निर्वेदं परं प्राप्य तपोऽग्रहीत्। स्वयंप्रभगुरोः पार्श्वे [5]स्वमपुण्यं [6]विगर्हयन् ॥२०८॥
नवसंयत एवासौ [7]यान्तमृद्ध्या [8]महीधरम्। खे खेचरेशमुच्चक्षुर्वीक्ष्यासीत् सनिदानकः ॥२०९॥
महाखेचरभोगा हि भूयासुर्मेऽन्यजन्मनि। इति ध्यायन्नसौ दृष्टो वल्मीकाद् भीमभोगिना ॥२१०॥
भोगं [10]काम्यन् विसृष्टासुरिह भूत्वा महाबलः। सोऽ[11]नाशितम्भवान्[12] भोगान् भुङ्क्तेऽद्य खचरोचितान् २११
[13]ततो भोगेष्वसावेवं चिरकालमरज्यत। भवद्वचोऽधुना श्रुत्वा क्षिप्रमेभ्यो [14]विरंस्यति ॥२१२॥
सोऽद्य रात्रौ समैक्षिष्ट स्वप्ने दुर्मन्त्रिभिस्त्रिभिः। निमज्यमानमात्मानं बलात् पङ्के दुरुत्तरे ॥२१३॥
ततो [15]निर्भर्त्स्यं तान् दुष्टान् दुःपङ्कादुद्धृतं त्वया। अभिषिक्तं [16]स्वमैक्षिष्ट निविष्टं हरिविष्टरे ॥२१४॥
दीप्तामेकां च स ज्वालां क्षीयमाणामनुक्षणम्[17]। [18]क्षणप्रभामिवालोलामपश्यत् क्षणदाक्षये[19] ॥२१५॥
दृष्ट्वा स्वप्नावतिस्पष्टं त्वामेव [20]प्रतिपालयन्। आस्ते तस्मात् त्वमाश्वेव गत्वैनं प्रतिबोधय ॥२१६॥
स्वप्नद्वयमदः पूर्वं त्वत्तः श्रुत्वातिविस्मितः। प्रीतो भवद्वचः कृत्स्नं[21] स करिष्यत्यसंशयम् ॥२१७॥

और उसके बाद उसका छोटा भाई श्रीवर्मा हुआ। वह श्रीवर्मा सब लोगोंको अतिशय प्रिय था ॥२०५॥ वह छोटा पुत्र माता-पिताके लिए भी स्वभावसे ही प्यारा था सो ठीक ही है सन्तानपना समान रहनेपर भी किसीपर अधिक प्रेम होता ही है ॥२०६॥ पिता श्रीषेणने मनुष्योंका अनुराग तथा उत्साह देखकर छोटे पुत्र श्रीवर्माके मस्तकपर ही राज्यपट्ट बाँधा और इसके बड़े भाई जयवर्माकी उपेक्षा कर दी ॥२०७॥ पिताकी इस उपेक्षासे जयवर्माको बड़ा वैराग्य हुआ जिससे वह अपने पापोंकी निन्दा करता हुआ स्वयंप्रभगुरुसे दीक्षा लेकर तपस्या करने लगा ॥२०८॥ जयवर्मा अभी नवदीक्षित ही था–उसे दीक्षा लिये बहुत समय नहीं हुआ था कि उसने विभूतिके साथ आकाशमें जाते हुए महीधर नामके विद्याधरको आँख उठाकर देखा। उस विद्याधरको देखकर जयवर्माने निदान किया कि मुझे आगामी भवमें बड़े-बड़े विद्याधरोंके भोग प्राप्त हों। वह ऐसा विचार ही रहा था कि इतनेमें एक भयंकर सर्पने वामीसे निकलकर उसे डस लिया। वह भोगोंकी इच्छा करते हुए ही मरा था इसलिए यहाँ महाबल हुआ है और कभी तृप्त न करनेवाले विद्याधरोंके उचित भोगोंको भोग रहा है। पूर्वभवके संस्कारसे ही वह चिरकाल तक भोगोंमें अनुरक्त रहा है किन्तु आपके वचन सुनकर शीघ्र ही इनसे विरक्त होगा ॥२०९–२१२॥ आज रातको उसने स्वप्नमें देखा है कि कि तुम्हारे सिवाय अन्य तीन दुष्ट मन्त्रियोंने उसे बलात्कार किसी भारी कीचड़में फँसा दिया है और तुमने उन दुष्टों मन्त्रियोंकी भर्त्सना कर उसे कीचड़से निकाला है और सिंहासनपर बैठाकर उसका अभिषेक किया है ॥२१३–२१४॥ इसके सिवाय दूसरे स्वप्नमें देखा है कि अग्निकी एक प्रदीप्त ज्वाला बिजलीके समान चंचल और प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। उसने ये दोनों स्वप्न आज ही रात्रिके अन्तिम समयमें देखे हैं ॥२१५॥ अत्यन्त स्पष्ट रूपसे दोनों स्वप्नोंको देख वह तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ ही बैठा है इसलिए तुम शीघ्र ही जाकर उसे समझाओ ॥२१६॥ वह पूछनेके पहले ही आपसे इन दोनों स्वप्नोंको सुनकर अत्यन्त विस्मित होगा और प्रसन्न होकर निःसन्देह आपके समस्त वचनोंको स्वीकृत करेगा ॥२१७॥

१. जननीजनकयोः। २. पुत्रत्वसमानेऽपि। ३. व्यवसायम्। 'उत्साहो व्यवसायः स्यात् सवीर्यमतिशक्तिभाक्' इत्यमरः। ४. अवज्ञा कुर्वन्। ५. आत्मीयम्। ६. निन्दन्। ७. गच्छन्तम्। ८. महीधरनामानम्। ९. भोगस्ते प०, द०, ल०,। १०. भोग काम्यतीति भोग काम्यन्। भोगकाम–अ०, स०। भोगकाम्यन् द०। ११. सोऽनाशितभवं भोगान् अ०, स०, द०। १२ अतृप्तिकरान्। १३. कारणात्। १४. विरक्तो भविष्यति। १५. सतर्ज्य। १६ आत्मानम्। १७. अनन्तरक्षणमेक। १८. तडिद्। १९. रात्र्यन्ते। २० प्रतीक्षमाणः। २१. –वः सूक्ष्मं स०, अ०, द०, स०।

तृषितः पयसीवाब्दात् पतिते चातकोऽधिकम्। [1]जनुषान्ध इवानन्धकरणे[2] परमौषधे[3] ॥२१८॥
रुचिमेष्यति सद्धर्मे त्वत्तः सोऽद्य प्रबुद्धधीः। दूत्येव मुक्तिकामिन्या काललब्ध्या प्रचोदितः ॥२१९॥
विद्धि तद्भाविपुण्यर्द्धिपिशुनं स्वप्नमादिमम्। द्वितीयं च तदीयायुर्गतिह्रास[4]निवेदकम् ॥२२०॥
माससात्रावशिष्टं च जीवितं तस्य [5]निश्चिनु। तदस्य श्रेयसे भद्र [6]घटेथास्त्वमशीतकः[7] ॥२२१॥
इत्युदीर्य[8] ततोऽन्तर्द्धिमगात् सोऽम्बरचारणः। समं सधर्मणादित्यगतिराशास्य[10] मन्त्रिणम्[11] ॥२२२॥
स्वयंबुद्धोऽपि तद्वाक्यश्रवणात् किंचिदाकुलः। द्रुतं प्र[12]त्यावृतत् तस्य प्रतिबोधविधायकः ॥२२३॥
सत्वरं च समासाद्य तं च दृष्ट्वा महाबलम्। चारणर्षिवचोऽशेषमाख्यत् स्वप्नफलावधि ॥२२४॥
[13]हन्त दुःखानुबन्धानां ह[14]न्ता धर्मो जिनोदितः। तस्मात् तस्मिन् मतिं धत्स्व मतिमन्निति चान्वशात्[15] ॥
ततः स्वायुःक्षयं बुद्ध्वा स्वयंबुद्धान्महाबलः। तनुत्यागे मतिं धीमानधत्त विधिवत् तदा ॥२२६॥
कृत्वाष्टाह्निकमिद्धर्द्धिः महामहमहापयत्[16]। दिवसान् स्वगृहोद्यानजिनवेश्मनि भक्तितः ॥२२७॥
सुतायातिबलाख्याय दत्त्वा राज्यं समृद्धिमत्। सर्वानापृच्छ्य[17] मन्त्र्यादीन् परं स्वातन्त्र्यमाश्रितः ॥२२८॥
सिद्धकूटमुपेत्याशु परार्ध्यं जिनमन्दिरम्। सिद्धार्चास्तत्र संपूज्य स [18]संन्यास्थदसाध्वसः ॥२२९॥
यावज्जीवं कृताहारशरीरत्यागसंगरः[19]। गुरुसाक्षि समारुक्षद् वीरशय्याममूढधीः ॥२३०॥

जिस प्रकार प्यासा चातक मेघसे पड़े हुए जलमें, और जन्मान्ध पुरुष तिमिर रोग दूर करनेवाली श्रेष्ठ ओषधिमें अतिशय प्रेम करता है उसी प्रकार मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतके समान काललब्धिके द्वारा प्रेरित हुआ महाबल आपसे प्रबोध पाकर समीचीन धर्ममें अतिशय प्रेम करेगा ॥२१८-२१९॥ राजा महाबलने जो पहला स्वप्न देखा है उसे तुम उसके आगामी भवमें प्राप्त होनेवाली विभूतिका सूचक समझो और द्वितीय स्वप्नको उसकी आयुके अतिशय ह्रासको सूचित करनेवाला जानो ॥२२०॥ यह निश्चित है कि अब उसकी आयु एक माहकी ही शेष रह गयी है इसलिए हे भद्र, इसके कल्याणके लिए शीघ्र ही प्रयत्न करो, प्रमादी न होओ ॥२२१॥ यह कहकर और स्वयंबुद्ध मन्त्रीको आशीर्वाद देकर गगनगामी आदित्यगति नामके मुनिराज अपने साथी अरिंजयके साथ-साथ अन्तर्हित हो गये ॥२२२॥ मुनिराजके वचन सुननेसे कुछ व्याकुल हुआ स्वयंबुद्ध भी महाबलको समझानेके लिए शीघ्र ही वहाँसे लौट आया ॥२२३॥ और तत्काल ही महाबलके पास जाकर उसे प्रतीक्षामें बैठा हुआ देख प्रारम्भसे लेकर स्वप्नोंके फल पर्यन्त विषयको सूचित करनेवाले ऋषिराजके समस्त वचन सुनाने लगा ॥२२४॥ तदनन्तर उसने यह उपदेश भी दिया कि हे बुद्धिमन्, जिनेन्द्र भगवान्‌का कहा हुआ यह धर्म ही समस्त दुःखोंकी परम्पराका नाश करनेवाला है इसलिए उसीमें बुद्धि लगाइए, उसीका पालन कीजिए ॥२२५॥ बुद्धिमान् महाबलने स्वयंबुद्धसे अपनी आयुका क्षय जानकर विधिपूर्वक शरीर छोड़ने–समाधिमरण धारण करनेमें अपना चित्त लगाया ॥२२६॥ अतिशय समृद्धिशाली राजा अपने घरके बगीचेके जिनमन्दिरमें भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक महायज्ञ करके वहीं दिन व्यतीत करने लगा ॥२२७॥ वह अपना वैभवशाली राज्य अतिबल नामक पुत्रको सौंपकर तथा मन्त्री आदि समस्त लोगोंसे पूछकर परम स्वतन्त्रताको प्राप्त हो गया ॥२२८॥ तत्पश्चात् वह शीघ्र ही परमपूज्य सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा। वहाँ उसने सिद्ध प्रतिमाओंकी पूजा कर निर्भय हो संन्यास धारण किया ॥२२९॥ बुद्धिमान् महाबलने गुरुकी साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्तके लिए आहार पानी तथा शरीर-

---

१. जन्मान्धः। २. अन्धमनन्धं करणमनन्धंकरणं तस्मिन्। ३.–करण परमौषधम् अ०। ४. स्वल्पत्वम्। ५. निश्चितम् अ०, स०। ६. चेष्टां कुरु। ७ अमन्दः। ८. उक्त्वा। ९ तिरोधानम्। १०. आशीर्वादं दत्त्वा। –राशस्य ब०। ११. तन्मतम् म०, प०, ट०। तदभीष्टम्। धर्मवृद्धिमिति यावत्। १२. निजपुरं प्रत्यागतः। १३. हन्त संबोधने, हे महाबल। १४. घातकः। १५. शिक्षामकरोत्। १६. अनयत्। –महापयन् अ०, स०। १७. संतोषं नीत्वा। १८ संन्यसनमकरोत्। १९. प्रतिज्ञा।

आरुह्याराधनानावं तितीर्षुर्भवसागरम् । निर्यापकं स्वयंबुद्धं बहु मेने महाबलः ॥२३१॥
सर्वत्र समतां मैत्रीमनौत्सुक्यं[1] च भावयन् । सोऽभून्मुनिरिवासंगत्यक्तबाह्येतरोपधिः[2] ॥२३२॥
देहाहारपरित्यागव्रतमास्थाय धीरधीः । परमाराधनाशुद्धिं स भेजे [3]सुसमाहितः ॥२३३॥
प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरगोचरान् । उपकारानसौ नैच्छत् शरीरेऽनिच्छतां गतः ॥२३४॥
तीव्रं [4]तपस्यतस्तस्य [5]तनिमानमगात् तनुः । परिणामस्त्ववर्धिष्ट स्मरतः परमेष्ठिनाम् ॥२३५॥
[6]अनाशुषोऽस्य गात्राणां परं शिथिलताऽभवत् । नारूढाया: प्रतिज्ञाया व्रतं हि महतामिदम् ॥२३६॥
शरद्घन इवारूढकार्श्यो[7]ऽभूत् स[8] रसक्षयात् । मांसासृग्जवियुक्तं च देहं सुर इवाबिभ:[9] ॥२३७॥
गृहीतमरणारम्भव्रतं तं वीक्ष्य चक्षुषी । शुचेव क्वापि संलीने प्राग्विलासाद् [10]विरेमतुः ॥२३८॥
कपोलावस्य संशुष्यदसृङ्मांसत्वचावपि । रूढौ कान्त्यानपायिन्या नोज्झितां प्राक्तनीं श्रियम् ॥२३९॥

से ममत्व छोड़ने की प्रतिज्ञा की और वीरशय्या आसन धारण की ॥२३०॥ वह महाबल आराधनारूपी नावपर आरूढ़ होकर संसाररूपी सागरको तैरना चाहता था इसलिए उसने स्वयंबुद्ध मन्त्रीको निर्यापकाचार्य (सल्लेखनाकी विधि करानेवाले आचार्य, पक्षमें-नाव चलानेवाला खेवटिया) बनाकर उसका बहुत ही सम्मान किया ॥२३१॥ वह शत्रु, मित्र आदिमें समता धारण करने लगा, सब जीवोंके साथ मैत्रीभावका विचार करने लगा, हमेशा अनुत्सुक रहने लगा और बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर परिग्रहत्यागी मुनिके समान मालूम होने लगा ॥२३२॥ वह धीर-वीर महाबल शरीर तथा आहार त्याग करनेका व्रत धारण कर आराधनाओंकी परम विशुद्धिको प्राप्त हुआ था, उस समय उसका चित्त भी अत्यन्त स्थिर था ॥२३३॥ उस धीर-वीरने प्रायोपगमन नामका संन्यास धारण कर शरीरसे बिलकुल ही स्नेह छोड़ दिया था इसलिए वह शरीररक्षाके लिए न तो स्वकृत उपकारोंकी इच्छा रखता था और न परकृत उपकारोंकी ॥२३४॥ भावार्थ-संन्यास मरणके तीन भेद हैं-१ भक्त प्रत्याख्यान, २ इंगिनीमरण और ३ प्रायोपगमन। (१) भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजनकी प्रतिज्ञा कर जो संन्यासमरण हो उसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं, इसका काल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर बारह वर्ष तकका है। (२) अपने शरीरकी सेवा स्वयं करे, किसी दूसरेसे रोगादिका उपचार न करावे। ऐसे विधानसे जो संन्यास धारण किया जाता है उसे इंगिनीमरण कहते हैं। (३) और जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारके उपचार न हों उसे प्रायोपगमन कहते हैं। राजा महाबलने प्रायोपगमन नामका तीसरा संन्यास धारण किया था ॥२३४॥ कठिन तपस्या करनेवाले महाबल महाराजका शरीर तो कृश हो गया था परन्तु पञ्च-परमेष्ठियोंका स्मरण करते रहनेसे परिणामोंकी विशुद्धि बढ़ गयी थी ॥२३५॥ निरन्तर उपवास करनेवाले उन महाबलके शरीरमें शिथिलता अवश्य आ गयी थी परन्तु ग्रहण की हुई प्रतिज्ञामें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आयी थी, सो ठीक है क्योंकि प्रतिज्ञामें शिथिलता नहीं करना ही महापुरुषोंका व्रत है ॥२३६॥ शरीरके रक्त, मांस आदि रसोंका क्षय हो जानेसे वह महाबल शरद् ऋतुके मेघोंके समान अत्यन्त दुर्बल हो गया था। अथवा यों समझिए कि उस समय वह राजा देवोंके समान रक्त, मांस आदिसे रहित शरीरको धारण कर रहा था ॥२३७॥ राजा महाबलने मरणका प्रारम्भ करनेवाले व्रत धारण किये हैं, यह देखकर उसके दोनों नेत्र मानो शोकसे ही कहीं जा छिपे थे और पहलेके हाव-भाव आदि विलासोंसे विरत हो गये थे ॥२३८॥ यद्यपि उसके दोनों गालोंके रक्त, मांस तथा चमड़ा आदि सब सूख गये थे तथापि

१. विषयेष्वलाम्पट्यम्। २. परिग्रहः। ३. सुष्ठु सन्नद्धः। ४. तपस्कुर्वतः। ५. अतिकृशत्वम्। ६. अश्नातीत्येवंशीलः अश्वान् न अश्नान् अनश्वान् तस्य अनाशुषः। ७. कृशस्य भावः। ८. देहो महाबलस्य। ९. बिभर्ति स्म। १०. अपसरतः स्म।

नितान्तपीवरावंसौ केयूरकिणकर्कशौ । तदास्योज्झितकाठिन्यौ मृदिमानमुपेयतुः ॥२४०॥
[1]आभुग्नमुदरं चास्य [2]विवलीभङ्गसंगमम् । निवातनिस्तरङ्गाम्बुसरः शुष्यदिवाभवत् ॥२४१॥
[3]तपस्तनूनपात्तापाद् दिदीपेऽधिकमेव सः । कनकाश्म इवाध्मातः[4] परां शुद्धिं समुद्वहन् ॥२४२॥
असह्यं तनुसंतापं सहमानस्य हेलया । यद्धु परीषहाभङ्गमभङ्गस्यास्य [5]संगरे ॥२४३॥
त्वगस्थीभूतदेहोऽपि यद् व्यजेष्ट परीषहान् । स्वसमाधिबलाद् व्यक्तं स तदासीन्महाबलः ॥२४४॥
[6]मूर्ध्नि लोकोत्तमान् सिद्धान् स्थापयन् हृदयेऽर्हतः । शिरःकवचमस्त्रं च स चक्रे साधुभिस्त्रिभिः ॥२४५॥
चक्षुषी [7]परमात्मानमद्राष्टामस्य योगत. । [8]अश्रौष्टां परमं मन्त्रं श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥२४६॥
मनोगर्भगृहेऽर्हन्तं विधायासौ निरञ्जनम् । प्रदीपमिव निर्धूतध्वान्तोऽभूद् ध्यानतेजसा ॥२४७॥
द्वाविंशतिदिनान्येष कृतसल्लेखनाविधि । जीवितान्ते [9]समाधाय मनः स्वं परमेष्ठिषु ॥२४८॥
नमस्कारपदान्यन्तर्जल्पेन [10]निभृतं जपन् । ललाटपटविन्यस्तहस्तपङ्कजकुड्मल. ॥२४९॥
कोशादसेरिवान्यत्वं देहाज्जीवस्य भावयन् । भावितात्मा सुखं प्राणानौज्झत् सन्मन्त्रिसाक्षिकम् ॥२५०॥

उन्होंने अपनी अविनाशिनी कान्तिके द्वारा पहलेकी शोभा नहीं छोड़ी थी, वे उस समय भी पहलेकी ही भाँति सुन्दर थे ॥२३९॥ समाधिग्रहणके पहले उसके जो कन्धे अत्यन्त स्थूल तथा बाजूबन्दकी रगड़से अत्यन्त कठोर थे उस समय वे भी कठोरताको छोड़कर अतिशय कोमलताको प्राप्त हो गये थे ॥२४०॥ उसका उदर कुछ भीतरकी ओर झुक गया था और त्रिवली भी नष्ट हो गयी थी इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो हवाके न चलनेसे तरंगरहित सूखता हुआ तालाब ही हो ॥२४१॥ जिस प्रकार अग्निमें तपाया हुआ सुवर्ण पाषाण अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता है उसी प्रकार वह महाबल भी तपरूपी अग्निसे तप्त हो अत्यन्त शुद्धिको धारण करता हुआ अधिक प्रकाशमान होने लगता था ॥२४२॥ राजा असह्य शरीर-सन्तापको लीलामात्रमें ही सहन कर लेता था तथा कभी किसी विपत्तिसे पराजित नहीं होता था इसलिए उसके साथ युद्ध करते समय-परीषह ही पराजयको प्राप्त हुए थे, परीषह उसे अपने कर्त्तव्यमार्गसे च्युत नहीं कर सके थे ॥२४३॥ यद्यपि उसके शरीरमें मात्र चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी तथापि उसने अपनी समाधिके बलसे अनेक परीषहोंको जीत लिया था इसलिए उस समय वह यथार्थमें 'महाबल' सिद्ध हुआ था ॥२४४॥ उसने अपने मस्तकपर लोकोत्तम परमेष्ठीको तथा हृदयमें अरहंत परमेष्ठीको विराजमान किया था और आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन तीन परमेष्ठियोंके ध्यानरूपी टोप-कवच और अस्त्र धारण किये थे ॥२४५॥ ध्यानके द्वारा उसके दोनों नेत्र मात्र परमात्माको ही देखते थे, कान परम मन्त्र (णमोकार मन्त्र) को ही सुनते थे और जिह्वा उसीका पाठ करती थी ॥२४६॥ वह राजा महाबल अपने मनरूपी गर्भगृहमें निर्धूम दीपकके समान कर्ममलकलंकसे रहित अर्हन्त परमेष्ठीको विराजमान कर ध्यानरूपी तेजके द्वारा मोह अथवा अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित हो गया था ॥२४७॥ इस प्रकार महाराज महाबल निरन्तर बाईस दिन तक सल्लेखनाकी विधि करते रहे। जब आयुका अन्तिम समय आया तब उन्होंने अपना मन विशेष रूपसे पञ्चपरमेष्ठियोंमें लगाया। उसने हस्तकमल जोड़कर ललाटपर स्थापित किये और मन-ही-मन निश्चल रूपसे नमस्कार मन्त्रका जाप करते हुए, म्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको पृथक् चिन्तवन करते हुए और अपने

---

१ आकुञ्चितम् । २ विगतवलीभङ्ग. । ३. अग्निनातापात् । ४. सतप्तः । ५. प्रतिज्ञायां युद्धे च । ६ शिखायाम् । 'शिखा हृदयं शिरः कवचम् अस्त्रम्' चेति पञ्च स्थानानि तत्र पञ्च नमस्कारं पञ्चधा कृत्वा योजयन् इत्यर्थः । ७ 'परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः' अत्र परमात्मशब्देन अर्हन् प्रतिपाद्यते । ध्यानसामर्थ्यादर्हन् चक्षुर्विषयोऽभूदित्यर्थ । विहिते कारागारे इत्यादिवत् । ८. अशृणुताम् । ९. समाधान कृत्वा । १०. निश्चलं यथा भवति तथा ।

मन्त्रशक्त्या यथा पूर्वं स्वयंबुद्धो न्यधाद् बलम्[1]। तथापि[2] मन्त्रशक्त्यैव बलं न्यास्यन् महाबले॥२५१॥
साचिव्यं सचिवेनेति कृतमस्य निरत्ययम्[3]। तदा धर्मसहायत्वं निर्व्यपेक्षं प्रकुर्वता ॥२५२॥
देहभारमथोत्सृज्य लघूभूत इव क्षणात्। प्रापत् स कल्पमैशानमनल्पसुखसंनिधिम् ॥२५३॥
तत्रोपपादशय्यायामुदपादि महोदयः। विमाने श्रीप्रभे रम्ये ललिताङ्गः सुरोत्तमः ॥२५४॥
यथा वियति वीताभ्रे साभ्रा[5] विद्युद् विरोचते। तथा वैक्रियिकी दिव्या तनुरस्याचिरादभात् ॥२५५॥
नवयौवनपूर्णो ना[6] सर्वलक्षणसंभृतः। सुप्तोत्थितो यथा भाति तथा सोऽन्तर्मुहूर्ततः ॥२५६॥
[7]ज्वलत्कुण्डलकेयूरमुकुटाङ्गदभूषणः। स्रग्वी सदंशुकधरः प्रादुरासीन्महाद्युतिः ॥२५७॥
तस्य रूपं तदा रेजे निमेषालसलोचनम्। झषद्वयेन निष्कम्पस्थितेनेव सरोजलम् ॥२५८॥
बाहुशाखोज्ज्वलं श्रोमत्तलपल्लवकोमलम्। नेत्रभृङ्गं वपुस्तस्य भेजे कल्पाङ्घ्रिपश्रियम् ॥२५९॥
ललितं ललिताङ्गस्य दिव्यं रूपमयोनिजम्। इत्येव वर्णनास्यास्तु किं वा वर्णनयानया ॥२६०॥
पुष्पवृष्टिस्तदापप्तन्मुक्ता कल्पद्रुमैः स्वयम्। दुन्दुभिस्तनितं मन्द्रं जजृम्भे स्वदिक्तटम् ॥२६१॥
मृदुराधूतमन्दारनन्दनादाहरन् रजः। सुगन्धिरावबौ मन्दमनिलोऽम्बुकणान् किरन् ॥२६२॥
ततोऽसौ वलितां किंचिद् दृशं व्यापारयन् दिशाम्[8]। समन्तादानमद्देवक्रोदिदेहप्रभाज्जुषाम् ॥२६३॥

शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावना करते हुए, स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके समक्ष सुखपूर्वक प्राण छोड़े॥२४८-२५०॥ स्वयम्बुद्ध मन्त्री जिस प्रकार पहले अपनी मन्त्रशक्ति (विचारशक्ति) के द्वारा महाबलमें बल (शक्ति अथवा सेना) सन्निहित करता रहता था, उसी प्रकार उस समय भी वह मन्त्रशक्ति (पञ्चनमस्कार मन्त्रके जापके प्रभाव)के द्वारा उसमें आत्मबल सन्निहित करता रहा, उसका धैर्य नष्ट नहीं होने दिया ॥२५१॥ इस प्रकार निःस्वार्थ भावसे महाराज महाबलकी धर्मसहायता करनेवाले स्वयम्बुद्ध मन्त्रीने अन्त तक अपने मन्त्रीपनेका कार्य किया॥२५२॥ तदनन्तर वह महाबलका जीव शरीररूपी भार छोड़ देनेके कारण मानो हलका होकर विशाल सुख-सामग्रीसे भरे हुए ऐशान स्वर्गको प्राप्त हुआ। वहाँ वह श्रीप्रभ नामके अतिशय सुन्दर विमानमें उपपाद शय्यापर बड़ी ऋद्धिका धारक ललिताङ्ग नामका उत्तम देव हुआ ॥२५३-२५४॥ मेघरहित आकाशमें श्वेत बादलोंसहित बिजलीकी तरह उपपाद शय्यापर शीघ्र ही उसका वैक्रियिक शरीर शोभायमान होने लगा ॥२५५॥ वह देव अन्तर्मुहूर्तमें ही नवयौवनसे पूर्ण तथा सम्पूर्ण लक्षणोंसे सम्पन्न होकर उपपाद शय्यापर ऐसा सुशोभित होने लगा मानो सब लक्षणोंसे सहित कोई तरुण पुरुष सोकर उठा हो ॥२५६॥ देदीप्यमान कुण्डल, केयूर, मुकुट और बाजूबन्द आदि आभूषण पहने हुए, मालासे सहित और उत्तम वस्त्रोंको धारण किये हुए ही वह अतिशय कान्तिमान् ललिताङ्ग नामक देव उत्पन्न हुआ ॥२५७॥ उस समय टिमकाररहित नेत्रोंसे सहित उसका रूप निश्चल बैठी हुई दो मछलियोंसहित सरोवरके जलकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥२५८॥ अथवा उसका शरीर कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि उसकी दोनों भुजाएँ उज्ज्वल शाखाओंके समान थीं, अतिशय शोभायमान हाथोंकी हथेलियाँ कोमल पल्लवोंके समान थीं और नेत्र भ्रमरोंके समान थे ॥२५९॥ अथवा ललिताङ्गदेवके रूपका और अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? उसका वर्णन तो इतना ही पर्याप्त है कि वह योनिके बिना ही उत्पन्न हुआ था और अतिशय सुन्दर था ॥२६०॥ उस समय स्वयं कल्पवृक्षोंके द्वारा ऊपरसे छोड़ी हुई पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी और दुन्दुभिका गम्भीर शब्द दिशाओंको व्याप्त करता हुआ निरन्तर बढ़ रहा था ॥२६१॥ जलकी छोटी-छोटी बूँदोंको बिखेरता और नन्दन वनके हिलते हुए कल्पवृक्षोंसे पुष्पपराग ग्रहण करता हुआ अतिशय सुहावना पवन धीरे-धीरे बह रहा था ॥२६२॥ तदनन्तर सब

१. बलं चतुरङ्ग बल सामर्थ्यम्। २. तदापि ब०,अ०,स०,प०। ३. निरतिक्रमम्। ४. सम्यक्त्यानम्। ५. शुभ्रमेघसमन्विता। ६. पुरुष। ७. अयं श्लोकः 'म' पुस्तके नास्ति। ८. दिक्षु।

अहो परममैश्वर्यं किमेतत् कोऽस्मि [1]किं न्विमे। आनमन्त्येत्य मा दूरादित्यासीद् विस्मितः क्षणम् ॥२६४॥
क्वायातोऽस्मि कुतो वाऽद्य प्रसीदतीति मे मनः। शय्यातलमिदं कस्य रम्यः कोऽयं [2]महाश्रम ॥२६५॥
इति चिन्तयतस्तस्य क्षणादवधिरुद्ययौ। तेनाबुद्ध सुरः सर्वं स्वयंबुद्धादिवृत्तकम् ॥२६६॥
[3]अये, तपःफलं दिव्यमय स्वर्गो महाद्युतिः। इमे देवास्समुत्सर्पद्देहोद्योताः प्रणामिनः ॥२६७॥
विमानमेतदुद्भासि कल्पपादपवेष्टितम्। इमा मञ्जुगिरो देव्यः शिञ्जानमणिनूपुराः ॥२६८॥
अप्सरःपरिवारोऽयमितो नृत्यति सस्मितम्। गीयते कलमामन्द्रमितश्च [4]मुरवध्वनिः ॥२६९॥
इति निश्चित्य तत्सर्वं भवप्रत्ययतोऽवधेः। शय्योत्सङ्गे सुखासीनो नानारत्नांशुभासुरे ॥२७०॥
जयेश विजयिन् नन्द [5]नेत्रानन्द महाद्युते। वर्धस्वेत्युद्गिरो [6]नम्रास्तमासीदन् [7]दिवौकसः ॥२७१॥
सप्रश्रयमथोपेत्य [8]स्वनियोगप्रचोदिताः। ते तं विज्ञापयामासुरिति प्रणतमौलयः ॥२७२॥
प्रतीच्छ प्रथमं नाथ [9]सज्जं मज्जनमङ्गलम्। ततः पूजां जिनेन्द्राणां कुरु पुण्यानुबन्धिनीम् ॥२७३॥
ततो बलमिदं दैवं [10]भवद्दैवबलार्जितम्। समालोकय [11]संघट्टैः समापतदितस्ततः ॥२७४॥
इतः [12]प्रेक्षस्व [13]संप्रेक्ष्याः [14]प्रेक्षागृहमुपागतः। सलीलभ्रूलतोत्क्षेपं नटन्तीः सुरनर्तकीः ॥२७५॥
मनोज्ञवेषभूषाश्च देवीर्देवाद्य [15]मानय। [16]देवभूयत्वसंप्राप्तौ फलमेतावदेव हि ॥२७६॥

ओरसे नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके शरीरकी प्रभासे व्याप्त दिशाओंमें दृष्टि घुमाकर ललिताङ्गदेवने देखा कि यह परम ऐश्वर्य क्या है? मैं कौन हूँ? और ये सब कौन हैं? जो मुझे दूर-दूरसे आकर नमस्कार कर रहे हैं। ललिताङ्गदेव यह सब देखकर क्षण-भरके लिए आश्चर्यसे चकित हो गया ॥२६३-२६४॥ मैं यहाँ कहाँ आ गया? कहाँसे आया? आज मेरा मन प्रसन्न क्यों हो रहा है? यह शय्यातल किसका है? और यह मनोहर महान् आश्रम कौन-सा है? इस प्रकार चिन्तवन कर ही रहा था कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान प्रकट हो गया। उस अवधिज्ञानके द्वारा ललिताङ्गदेवने स्वयम्बुद्ध मन्त्री आदिके सब समाचार जान लिये ॥२६५-२६६॥ 'यह हमारे तपका मनोहर फल है, यह अतिशय कान्तिमान् स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुए तथा शरीरका प्रकाश सब ओर फैलाते हुए देव हैं, यह कल्पवृक्षोंसे घिरा हुआ शोभायमान विमान है, ये मनोहर शब्द करती तथा रुनझुन शब्द करनेवाले मणिमय नूपुर पहने हुई देवियाँ हैं, इधर यह अप्सराओंका समूह मन्द-मन्द हँसता हुआ नृत्य कर रहा है, इधर मनोहर और गम्भीर गान हो रहा है, और इधर यह मृदंग बज रहा है।' इस प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे पूर्वोक्त सभी बातोंका निश्चय कर वह ललिताङ्गदेव अनेक रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान शय्यापर सुखसे बैठा ही था कि नमस्कार करते हुए अनेक देव उसके पास आये। वे देव ऊँचे स्वरसे कह रहे थे कि हे स्वामिन्, आपकी जय हो। हे विजयशील, आप समृद्धिमान् हैं। हे नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, महाकान्तिमान्, आप सदा बढ़ते रहें—आपके बल-विद्या, ऋद्धि आदिकी सदा वृद्धि होती रहे ॥२६७-२७१॥ तत्पश्चात् अपने-अपने नियोगसे प्रेरित हुए अनेक देव विनयसहित उसके पास आये और मस्तक झुकाकर इस प्रकार कहने लगे कि हे नाथ, स्नानकी सामग्री तैयार है इसलिए सबसे पहले मङ्गलमय स्नान कीजिए फिर पुण्यको बढ़ानेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कीजिए। तदनन्तर आपके भाग्यसे प्राप्त हुई तथा अपने-अपने गटों (छोटी टुकड़ियों)-के साथ जहाँ-तहाँ (सब ओरसे) आनेवाली देवोंकी सब सेनाका अवलोकन कीजिए। इधर नाट्यशालामें आकर, लीलासहित भौंह नचाकर नृत्य करती हुई, दर्शनीय सुन्दर देव नर्तकियोंको देखिए। हे देव, आज मनोहर वेष-भूषासे युक्त देवियोंका सम्मान कीजिए क्योंकि

---

१. के स्विमे अ०, प०, द०, स०। २. आश्रय.। ३ अहो। इदं अ०, स०। ४. मुरजध्वनिः द०, अ०, प०। ५ नेत्रानन्दिन् प०। नेत्रानन्दिमहा–द०, स०। ६. उच्चवचनाः। ७. आगच्छन्ति स्म। ८ –गनिवेदनः अ०, स०, द०। ९. सज्जीकृतम्। १०. सुकृतम्। ११. संमर्दैः। १२. आलोकय। १३. दर्शनीया। १४. नाट्यशालाम्। १५ सत्कुरु। १६. देवत्वस्य।

इति तद्वचनादेतत् स सर्वमकरोत् कृती । स्वनियोगानतिक्रान्तिः महतां भूषणं परम् ॥२७७॥
निष्टप्तकनकच्छायः सप्तहस्तोच्चविग्रहः । वस्त्राभरणमालाद्यैः सहजैरेव भूषितः ॥२७८॥
सुगन्धिबन्धुरामोद[1]निःश्वासो लक्षणोज्ज्वलः । स दिव्यानन्वभूद् भोगान् अणिमादिगुणैर्युतः ॥२७९॥
भेजे वर्षसहस्रेण मानसीं स [3]तनुस्थितिम् । पक्षेणैकेन चोच्छ्वासं प्रवीचारोऽस्य कायिकः ॥२८०॥
तनुच्छायामिवाम्लानिं दधानः स्रजमुज्ज्वलाम् । शरत्काल इवाधत्त स दिव्यमरजोऽम्बरम्[4] ॥२८१॥
सहस्राण्यभवन्[5] देव्यः चत्वार्यस्य परिग्रहः । चतस्रश्च महादेव्यः चारुलावण्यविभ्रमाः ॥२८२॥
स्वयंप्रभाग्रिमा देवी द्वितीया कनकप्रभा । कनकादिलतान्यासीद् देवी विद्युल्लतापरा ॥२८३॥
रामाभिरभिरामाभिराभिर्भोगाननारतम् । भुञ्जानस्यास्य कालोऽगादनल्पः पुण्यपाकजान् ॥२८४॥
तदायुर्जलधेर्मध्ये [6]वीचीमाला इवाकुलाः । विलीयन्ते स्म भूयस्यो देव्यः स्वायुःस्थितिच्युतेः ॥२८५॥
पल्योपमपृथक्त्वा[7]वशिष्टमायुर्यदास्य च । तदोदपादि पुण्यैः स्वैः [8]प्रेयस्यस्य स्वयंप्रभा ॥२८६॥
अथ सा [9]कृतनेपथ्या प्रभातरलविग्रहा । पत्युर्[10]ङ्गता रेजे कल्पश्रीरिव रूपिणी ॥२८७॥
सैषा स्वयंप्रभाऽस्यासीत् परा[11] सौहार्दभूमिका । चिरं मधुकरस्येव [12]प्रत्यग्रा चूतमञ्जरी ॥२८८॥
स्वयंप्रभाननालोकतद्गात्रस्पर्शनोत्सवैः । स रेमे करिणीसक्तः करीव सुचिरं सुरः ॥२८९॥

निश्चयसे देवपर्यायकी प्राप्तिका इतना ही तो फल है । इस प्रकार कार्यकुशल ललिताङ्गदेवने उन देवोंके कहे अनुसार सभी कार्य किये सो ठीक ही है क्योंकि अपने नियोगोंका उल्लंघन नहीं करना ही महापुरुषोंका श्रेष्ठ भूषण है ॥२७२-२७७॥ वह ललिताङ्गदेव तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था, सात हाथ ऊँचे शरीरका धारक था, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण और माला आदिसे विभूषित था, सुगन्धित श्वासोच्छ्वाससे सहित था, अनेक लक्षणोंसे उज्ज्वल था और अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे युक्त था । ऐसा वह ललिताङ्गदेव निरन्तर दिव्य भोगोंका अनुभव करने लगा ॥२७८-२७९॥ वह एक हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, एक पक्षमें श्वासोच्छ्वास लेता था तथा स्त्रीसंभोग शरीर-द्वारा करता था ॥२८०॥ वह शरीरकी कान्तिके समान कभी नहीं मुरझानेवाली उज्ज्वल माला तथा शरत्कालके समान निर्मल दिव्य अम्बर (वस्त्र, पक्षमें आकाश) धारण करता था ॥२८१॥ उस देवके चार हजार देवियाँ थीं तथा सुन्दर लावण्य और विलास-चेष्टाओंसे सहित चार महादेवियाँ थीं ॥२८२॥ उन चारों महादेवियोंमें पहली स्वयंप्रभा, दूसरी कनकप्रभा, तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥२८३॥ इन सुन्दर स्त्रियोंके साथ पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाले भोगको निरन्तर भोगते हुए इस ललिताङ्गदेवका बहुत काल बीत गया ॥२८४॥ उसके आयुरूपी समुद्रमें अनेक देवियाँ अपनी-अपनी आयुकी स्थिति पूर्ण हो जानेसे चञ्चल तरङ्गोंके समान विलीन हो चुकी थीं ॥२८५॥ जब उसकी आयु *पृथक्त्वपल्यके बराबर अवशिष्ट रह गयी तब उसके अपने पुण्यके उदयसे एक स्वयंप्रभा नामकी प्रियपत्नी प्राप्त हुई ॥२८६॥ वेष-भूषासे सुसज्जित तथा कान्तियुक्त शरीरको धारण करनेवाली वह स्वयंप्रभा पतिके समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो रूपवती स्वर्गकी लक्ष्मी ही हो ॥२८७॥ जिस प्रकार आमकी नवीन मंजरी भ्रमरको अतिशय प्यारी होती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा ललिताङ्गदेवको अतिशय प्यारी थी ॥२८८॥ अतिशय प्यारी होती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा ललिताङ्गदेवको अतिशय प्यारी थी ॥२८८॥ हस्तिनीमें आसक्त रहनेवाले वह देव स्वयंप्रभाका मुख देखकर तथा उसके शरीरका स्पर्श कर

---

१. -ञ्जरिव म०, ल० । २ मनोहर । ३ आहारम् । ४. वस्त्रम् आकाश च । ५. -ण्यभवद्देव्य- अ० । ६ वीचिमा- प० । ७ सप्ताष्ट पञ्चषट्वा [त्रयाणामुपरि नवानामध संख्या] । ८. प्रियतमा । ९ कृताभरणा । १० समीप । ११. सुहृत्त्वम् । १२. अभिनवा ।

* तीनसे अधिक और नौसे कम संख्याको पृथक्त्व कहते हैं ।

स तया मन्दरे [1]कान्तचन्द्रकान्तशिलातले । [2]भृङ्गकोकिलवाचालनन्दनादिवनाञ्चिते[3] ॥२९०॥
नीलादिष्वचलेन्द्रेषु खचराचलसानुषु । कुण्डले रुचके चाद्रौ मानुषोत्तरपर्वते ॥२९१॥
नन्दीश्वरमहाद्वीपे द्वीपेष्वन्येषु [4]साब्धिषु । भोगभूम्यादिदेशेषु दिव्यं देवोऽवसत् सुखम् ॥२९२॥

मालिनीच्छन्दः

इति परममुदारं दिव्यभोगं [5]महर्द्धिः सममरवधूभिः सोऽन्वभूदद्भुतश्रीः ।
[6]स्मितहसितविलासस्पष्टचेष्टाभिरिष्टं स्वकृतसुकृतपाकात् साधिकं वार्द्धिमेकम् ॥२९३॥
स्वतनुमतनु[7]तीव्रासह्यतापैस्तपोभिर्यदयमकृत धीमान् निष्कलङ्कामुत्र[8] ।
तदिह रुचिरभाभिः स्वर्वधूभिः [9]सहायं सुखमभजत तस्माद्धर्म एवार्जनीयः ॥२९४॥
कुरुत तपसि तृष्णां भोगतृष्णामपास्य श्रियमधिकतरां चेद् वाञ्छथ [10]प्राञ्चतेशाम् ।
जिनमवृजिनमार्यास्तद्वचः श्रद्धीध्वं कुकवि[11]विरुतमन्यच्छासनं माधिगीध्वम् ॥२९५॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं[12]विकथ्यपुरुषार्थसमर्थनो यो धर्मः कुकर्मकुटिलाटविसत्कुठारः[13] ।
तं सेवितुं बुधजनाः [14]प्रयतध्वमाध्वं[15] जैने मते [16]कुमतिभेदिनि सौख्यकामाः ॥२९६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललिताङ्गस्वर्गभोग-वर्णनं नाम पञ्चमं पर्व ॥५॥

हस्तीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥२८९॥ वह देव उस स्वयंप्रभाके साथ कभी मनोहर चन्द्रकान्त शिलाओंसे युक्त तथा भ्रमर, कोयल आदि पक्षियों-द्वारा वाचालित नन्दन आदि वनोंसे सहित मेरुपर्वतपर, कभी नील निषध आदि बड़े-बड़े पर्वतोंपर, कभी विजयार्ध-के शिखरोंपर, कभी कुण्डलगिरिपर, कभी रुचकगिरिपर, कभी मानुषोत्तर पर्वतपर, कभी नन्दीश्वर महाद्वीपमें, कभी अन्य अनेक द्वीपसमुद्रोंमें और कभी भोगभूमि आदि प्रदेशोंमें दिव्यसुख भोगता हुआ निवास करता था ॥२९०-२९२॥ इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंका धारक और अद्भुत शोभासे युक्त वह ललिताङ्गदेव, अपने किये हुए पुण्य कर्मके उदयसे, मन्द-मन्द मुसकान, हास्य और विलास आदिके द्वारा स्पष्ट चेष्टा करनेवाली अनेक देवाङ्गनाओंके साथ कुछ अधिक एक सागर तक अपनी इच्छानुसार उदार और उत्कृष्ट दिव्यभोग भोगता रहा ॥२९३॥ उस बुद्धिमान् ललिताङ्गदेवने पूर्वभवमें अत्यन्त तीव्र असह्य सन्तापको देनेवाले तपश्चरणोंके द्वारा अपने शरीरको निष्कलङ्क किया था इसलिए ही उसने इस भवमें मनोहर कान्तिकी धारक देवियोंके साथ सुख भोगे अर्थात् सुखका कारण तपश्चरण वगैरहसे उत्पन्न हुआ धर्म है अतः सुख चाहनेवालोंको हमेशा धर्मका ही उपार्जन करना चाहिए ॥२९४॥ हे आर्य पुरुषो, यदि अतिशय लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हो तो भोगोंकी तृष्णा छोड़कर तपमें तृष्णा करो तथा निष्पाप श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करो और उन्हींके वचनोंका श्रद्धान करो, अन्य मिथ्यादृष्टि कुकवियोंके कहे हुए मिथ्यामतोंका अध्ययन मत करो ॥२९५॥ इस प्रकार जो प्रशंसनीय पुरुषार्थोंका देनेवाला है और कर्मरूपी कुटिल वनको नष्ट करनेके लिए तीक्ष्ण कुठारके समान है ऐसे इस जैनधर्मकी सेवाके लिए हे सुखाभिलाषी पण्डितजनो, सदा प्रयत्न करो और दुर्बुद्धिको नष्ट करनेवाले जैनमतमें आस्था-श्रद्धा करो ॥२९६॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें ललिताङ्ग स्वर्गभोग वर्णन नामका पञ्चम पर्व पूर्ण हुआ ॥५॥

---

१. कान्त चन्द्रकान्तशिलातलं यस्मिन् मन्दरे स तथोक्तस्तस्मिन् । २. इदमपि मन्दरस्य विशेषणम् । ३. -वनान्विते अ०, ल० । ४. साब्धिषु प०, ल० । ५. अणिमादिऋद्धिमान् । ६. गर्वयुक्तम् । ७. अदभ्रः । ८. इह स्वर्गे । ९ सहाय ट० । भाग्यसहितः । (सह + अयम् इति छेदोऽन्यत्र) १०. पूजयत । ११. कथितम् । १२. श्लाघ्यः । १३. -सत्कुठारः प० । १४. यतङ् प्रयत्ने । १५. आस उपवेशने । १६. कुमतभे- प०, द०, म० ।

षष्ठं पर्व

कदाचिदथ तस्यासन् भूषासंबन्धिनोऽमलाः[1]। मणयस्तेजसा मन्दा निशापायप्रदीपवत् ॥१॥
माला च सहजा तस्य महोर स्थलसंगिनी। म्लानिमार्गा[2]दमुष्येव लक्ष्मीविंश्लेषभीलुका ॥२॥
प्रचकम्पे तदावाससंबन्धी कल्पपादपः। तद्वियोगमहावातधूतः [3]साध्वसमादधत् ॥३॥
तनुच्छाया च तस्यासीत् सद्यो मन्दायिता तदा। पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया [4]क्वावतिष्ठताम् ॥४॥
[5]तमालोक्य [6]तदाध्वस्तकान्तिं [7]विच्छायतां गतम्। न शेकुर्द्रष्टुमैशानकल्पजा दिविजाः शुचा ॥५॥
तस्य दैन्यात् परिप्राप्ता दैन्यं तत्परिचारकाः। तरौ चलति शाखाद्या विशेषान्न चलन्ति किम् ॥६॥
आजन्मनो यदेतेन [8]निर्विष्टं सुखमामरम्[9]। तत्तदा पिण्डितं सर्वं [10]दुःखमूर्ये[11]मिवागमत् ॥७॥
[12]तत्कण्ठमालिकाम्लानिवच [13]कल्पान्तमानशे। शीघ्ररूपस्य लोकान्तमणोरिव विचेष्टितम् ॥८॥
अथ सामानिका देवाः तमुपेत्य तथोचितम्। तद्विषादापनोदीदं [14]पुष्कलं वचनं जगुः ॥९॥
भो धीर धीरतामेव भावयाद्य शुचं त्यज। जन्ममृत्युजरातङ्कभयानां को न गोचरः ॥१०॥
[15]साधारणीमिमां विद्धि सर्वेषां प्रच्युतिं दिवः। [16]द्यौरायुषि परिक्षीणे न वोढुं क्षमते क्षणम् ॥११॥

इसके अनन्तर किसी समय* उस ललिताङ्गदेवके आभूषणसम्बन्धी निर्मलमणि अकस्मात् प्रातःकालके दीपकके समान निस्तेज हो गये ॥१॥ जन्मसे ही उसके विशाल वक्षःस्थलपर पड़ी हुई माला ऐसी म्लान हो गयी मानो उसके वियोगसे भयभीत हो उसकी लक्ष्मी ही म्लान हो गयी हो ॥२॥ उसके विमानसम्बन्धी कल्पवृक्ष भी ऐसे काँपने लगे मानो उसके वियोगरूपी महावायुसे कम्पित होकर भयको ही धारण कर रहे हों ॥३॥ उस समय उसके शरीरकी कान्ति भी शीघ्र ही मन्द पड़ गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यरूपी छत्रका अभाव होनेपर उसकी छाया कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥४॥ उस समय कान्तिसे रहित तथा निष्प्रभताको प्राप्त हुए ललिताङ्गदेवको देखकर ऐशानस्वर्गमें उत्पन्न हुए देव शोकके कारण उसे पुनः देखनेके लिए समर्थ न हो सके ॥५॥ ललिताङ्गदेवकी दीनता देखकर उसके सेवक लोग भी दीनताको प्राप्त हो गये सो ठीक है वृक्षके चलनेपर उसकी शाखा उपशाखा आदि क्या विशेष रूपसे नहीं चलने लगते ? अर्थात् अवश्य चलने लगते हैं ॥६॥ उस समय ऐसा मालूम होता था कि इस देवने जन्मसे लेकर आज तक जो देवों सम्बन्धी सुख भोगे हैं वे सबके-सब दुःख बनकर ही आये हों ॥७॥ जिस प्रकार शीघ्र गतिवाला परमाणु एक ही समयमें लोकके अन्त तक पहुँच जाता है उसी प्रकार ललिताङ्गदेवकी कण्ठमालाकी म्लानताका समाचार भी उस स्वर्गके अन्त तक व्याप्त हो गया था ॥८॥ अथानन्तर सामाजिक जातिके देवोंने उसके समीप आकर उस समयके योग्य तथा उसका विषाद दूर करनेवाले नीचे लिखे अनेक वचन कहे ॥९॥ हे धीर, आज अपनी धीरताका स्मरण कीजिए और शोकको छोड़ दीजिए। क्योंकि जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग और भय किसे प्राप्त नहीं होते ? ॥१०॥ स्वर्गसे च्युत होना सबके लिए साधारण बात है क्योंकि आयु क्षीण होनेपर यह स्वर्ग क्षण-भर भी धारण करने के लिए

---

१ निजायुषि षण्मासावशिष्टकाले। २ –मगाद–अ०, प०। ३. भयम्। ४ क्वाप्रतिष्ठते। ५ तदालोक्य म०, ल०। ६. तमाध्वस्त म०, ल०। ७. विवर्णत्वम्। ८ अनुभुक्तम्। ९ देवसंबन्धि। १०. दुःखत्वम्। ११ –मिवागतम् म०, ल०। १२. कण्ठस्थितस्रक्। १३ ईशानकल्पान्तम्। १४ मनोहरम्। १५. समानाम्। १६ स्वर्गः। * आयुके छह माह बाकी रहनेपर।

[1]नित्यालोकोऽप्यनालोको[2] द्युलोक प्रतिभासते । [3]विरमात् पुण्यदीपस्य समन्तादन्धकारितः ॥१२॥
यथा रतिरभूत् स्वर्गे पुण्यपाकादनारतम् । तथैवाद्यारतिर्भूय. क्षीणपुण्यस्य जायते ॥१३॥
न केवलं परिम्लानि मालायाः सहजन्मन. । पापातपे तपत्यन्ते जन्तोर्म्लानिस्तनोरपि ॥१४॥
कम्पते हृदय [4]पूर्वं[5] चरमं कल्पपादप । गलति श्री [6]पुरा पश्चात् तनुच्छाया समं ह्रिया ॥१५॥
[7]जनापराग एवादौ जृम्भते जृम्भिका परम्[8] । वाससोरपरागश्च[9] पश्चात् [10]पापोपरागतः ॥१६॥
कामरागावभङ्गश्च[11] मानभङ्गादनन्तरम् । मनः पूर्वं तमो [12]रुन्द्धे दृशौ पश्चादनीदृशम् ॥१७॥
प्रत्यासन्नच्युतेरेव यद् द्यौ स्थित्यं [13]दिवौकसः । न तत् स्यान्नारकस्यापि प्रत्यक्षं तच्च तेऽधुना ॥१८॥
यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः [14]पुरा । तथा पातोन्मुख स्वर्गे जन्तोरभ्युदयोऽप्ययम् ॥१९॥
तस्मात् मा स्म गम. शोकं कुयोन्यावर्तपातिनम् । धर्मे मतिं निधत्स्वार्य धर्मो हि शरणं परम् ॥२०॥
कारणाच्च विना कार्यमार्य जातुचिदीक्ष्यते । पुण्यं च कारणं प्राहु बुधा. स्वर्गापवर्गयोः ॥२१॥
तत्पुण्यसाधने जैने शासने मतिमादधत्[15] । विषादमुत्सृजानूनं[16] [17]येनानेना[18] भविष्यसि ॥२२॥
इति तद्वचनाद् धैर्यमवलम्ब्य स धर्मधीः । मासार्द्धं भुवने कृत्स्ने जिनवेश्मान्यपूजयत् ॥२३॥
ततोऽच्युतस्य कल्पस्य जिनबिम्बानि[19] पूजयन् । तच्चैत्यद्रुमसूलस्थः स्वायुरन्ते[20] समाहितः ॥२४॥

समर्थ नहीं है ॥११॥ सदा प्रकाशमान रहनेवाला यह स्वर्ग भी कदाचित् अन्धकाररूप प्रतिभासित होने लगता है क्योंकि जब पुण्यरूपी दीपक बुझ जाता है तब यह सब ओरसे अन्धकारमय हो जाता है ॥१२॥ जिस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गमें निरन्तर प्रीति रहा करती है उसी प्रकार पुण्य क्षीण हो जानेपर उसमे अप्रीति होने लगती है ॥१३॥ आयुके अन्तमें देवों-के साथ उत्पन्न होनेवाली माला ही म्लान नहीं होती है किन्तु पापरूपी आतपके तपते रहनेपर जीवोंका शरीर भी म्लान हो जाता है ॥१४॥ देवोंके अन्त समयमें पहले हृदय कम्पायमान होता है, पीछे कल्पवृक्ष कम्पायमान होते हैं। पहले लक्ष्मी नष्ट होती है फिर लज्जाके साथ शरीरकी प्रभा नष्ट होती है ॥१५॥ पापके उदयसे पहले लोगोंमे अस्नेह बढ़ता है फिर जँभाईकी वृद्धि होती है, फिर शरीरके वस्त्रोंमें भी अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥१६॥ पहले मान भंग होता है पश्चात् विषयोंकी इच्छा नष्ट होती है। अज्ञानान्धकार पहले मनको रोकता है पश्चात् नेत्रोंको रोकता है ॥१७॥ अधिक कहाँतक कहा जाये, स्वर्गसे च्युत होनेके सम्मुख देवको जो तीव्र दुःख होता है वह नारकीको भी नहीं हो सकता। इस समय उस भारी दुःखका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं ॥१८॥ जिस प्रकार उदित हुए सूर्यका अस्त होना निश्चित है उसी प्रकार स्वर्गमें प्राप्त हुए जीवोंके अभ्युदयोंका पतन होना भी निश्चित है ॥१९॥ इसलिए हे आर्य, कुयोनिरूपी आवर्तमें गिरानेवाले शोकको प्राप्त न होइए तथा धर्ममें मन लगाइए, क्योंकि धर्म ही परम शरण है ॥२०॥ हे आर्य, कारणके बिना कभी कोई कार्य नहीं होता है और चूंकि पण्डितजन पुण्यको ही स्वर्ग तथा मोक्षका कारण कहते हैं ॥२१॥ इसलिए पुण्यके साधनभूत जैनधर्ममें ही अपनी बुद्धि लगाकर खेदको छोड़िए, ऐसा करनेसे तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥२२॥ इस प्रकार सामानिक देवोंके कहनेसे ललिताङ्ग देवने धैर्यका अवलम्बन किया, धर्ममें बुद्धि लगायी और पन्द्रह दिन तक समस्त लोकके जिन-चैत्यालयोंकी पूजा की ॥२३॥ तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गकी जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ वह आयुके अन्तमें वहीं साव-

---

१ सततप्रकाश । २ प्रकाशरहितः । ३ विरामात् अ०, प०, ल० । ४. आदौ । ५ पश्चात् । ६ प्रगे म०, द० । पूर्वम् । ७ जनाना विराग । ८ पश्चात् । ९ अपगतरागः । १० पापग्रहणात् । ११ अव समन्ताद् भङ्ग । १२ रुणद्धि । १३ –स्य त्रिदिवो–स०, द०, अ०, प०, ल० । १४. पुरः अ०, म०, द०, प० । पुरा ल० । १५ –मादधे ल० । १६ –मुत्सृजेर्नूनं ल० । १७ विषादत्यजनेन । १८ पापरहित. । १९ –बिम्बानपूजयत ल० । २० समाधानचित्त. ।

नमस्कारपदान्युच्चैरनुध्यायन्नसाध्वसः । साध्वसौ मुकुलीकृत्य करौ [1]प्रायाददृश्यताम् ॥२५॥
जम्बूद्वीपे महामेरोर्विदेहे पूर्वदिग्गते । या पुष्कलावतीत्यासीद् [2]जानभूमिर्मनोरमा ॥२६॥
स्वर्गभूनिर्विशेषां[3] तां पुरमुत्पलखेटकम् । भूषयत्युत्पलच्छन्नशालिवप्रादिसंपदा ॥२७॥
वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाज्ञापरोऽभवत् । कान्ता वसुन्धरास्यासीद् द्वितीयेव वसुन्धरा ॥२८॥
तयो सूनुरभूद्देवो ललिताङ्गस्ततश्च्युतः । वज्रजङ्घ इति ख्यातिं दधदन्वर्थतां गताम् ॥२९॥
स बन्धुकुमुदानन्दी प्रत्यहं वर्द्धयन् कलाः । सकोचयन् द्विपत्पद्मान् ववृधे बालचन्द्रमाः ॥३०॥
आरूढयौवनस्यास्य रूपसंपदनीदृशी । जाता कान्तिरिवापूर्णमण्डलस्य निशाकृतः ॥३१॥
शिरस्यस्य बभुर्नीला मूर्द्धजाः [4]कुञ्चितायताः । कामकृष्णभुजङ्गस्य शिशवो [5]नु विजृम्भिता. ॥३२॥
नेत्रभृङ्गे मुखाब्जे [6]स स्मितांशुकरकेसरे । धत्ते स्म मधुरां वाणी मकरन्दरसोपमाम् ॥३३॥
नेत्रयोर्द्वितयं रेजे संसक्तं तस्य कर्णयोः । [7]सश्रुतौ ताविवाधित्य [8]शिक्षितुं सूक्ष्मदर्शिताम् ॥३४॥
[9]उपकण्ठमसौ दध्रे हारं नीहारसच्छविम् । तारानिकरमास्येन्दोरिव सेवार्थमागतम् ॥३५॥
वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चन्दनचर्चिकाम् । मेरुर्निजतटीलग्नां[10] शारदीमिव चन्द्रिकाम् ॥३६॥

धान चित्त होकर चैत्यवृक्षके नीचे बैठ गया तथा वहीं निर्भय हो हाथ जोड़कर उच्चस्वरसे नमस्कार मन्त्रका ठीक-ठीक उच्चारण करता हुआ अदृश्यताको प्राप्त हो गया ॥२४-२५॥

इसी जम्बूद्वीपके महामेरुसे पूर्व दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें जो महामनोहर पुष्कलावती नामका देश है वह स्वर्गभूमिके समान सुन्दर है । उसी देशमें एक उत्पलखेटक नामका नगर है जो कि कमलोंसे आच्छादित धानके खेतों,कोट और परिखा आदिकी शोभासे उस पुष्कलावती देशको भूषित करता रहता है।।२६-२७।। उस नगरीका राजा वज्रबाहु था जो कि इन्द्रके समान आज्ञा चलानेमें सदा तत्पर रहता था । उसकी रानीका नाम वसुन्धरा था । वह वसुन्धरा सहनशीलता आदि गुणोंसे ऐसी शोभायमान होती थी मानो दूसरी वसुन्धरा-पृथिवी ही हो ।।२८।। वह ललिताङ्गनामका देव स्वर्गसे च्युत होकर उन्हीं-वज्रबाहु और वसुन्धराके, वज्रके समान जंघा होनेसे 'वज्रजंघ' इस सार्थक नामको धारण करनेवाला पुत्र हुआ ।।२९।। वह वज्रजंघ शत्रुरूपी कमलोंको संकुचित करता हुआ बन्धुरूपी कुमुदोंको हर्षित (विकसित) करता था तथा प्रतिदिन कलाओं (चतुराई, पक्षमें चन्द्रमाका सोलहवाँ भाग) की वृद्धि करता था इसलिए द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा।।३०।। जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसकी रूपसंपत्ति अनुपम हो गयी जैसे कि चन्द्रमा क्रम-क्रमसे बढ़कर जब पूर्ण हो जाता है तब उसकी कान्ति अनुपम हो जाती है ।।३१।। उसके शिरपर काले कुटिल और लम्बे बाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवरूपी काले सर्पके बढ़े हुए बच्चे ही हों।।३२।। वह वज्रजंघ, नेत्ररूपी भ्रमर और हास्यकी किरणरूपी केशरसे सहित अपने मुखकमलमें मकरन्दरसके समान मनोहर वाणीको धारण करता था ।।३३।। कानोंसे मिले हुए उसके दोनों नेत्र ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो वे अनेक शास्त्रोंका श्रवण करनेवाले कानोंके समीप जाकर उनसे सूक्ष्मदर्शिता (पाण्डित्य और बारीक पदार्थको देखनेकी शक्ति)का अभ्यास ही कर रहे हों।।३४।। वह वज्रजंघ अपने कण्ठके समीप जिस हारको धारण किये हुए था वह नीहार-बरफके समान स्वच्छ कान्तिका धारक था तथा ऐसा मालूम होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाकी सेवाके लिए तारोंका समूह ही आया हो ।।३५।। वह अपने विशाल वक्षस्थलपर चन्दनका विलेपन धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो अपने तटपर शरद् ऋतुकी चाँदनी धारण किये हुए मेरु पर्वत ही

१. आगमत् । २. विषयः । जनसंबन्धिभूमिः, जनपद इत्यर्थः । जन्मभूमिः अ०, स०, द० । जनभूमिः ल० । ३. सभानाम् । ४. कुटिल । ५. इव । ६. मुखाब्जेऽस्य ल०, म० । ७. शास्त्रश्रवणसहितौ । ८. अभ्यास कर्तुम् । ९. कण्ठस्य समीपे । १०. –तटालग्ना अ०, प०, द०, स० । –तटे लग्ना म० ।

मुकुटोद्भासिनो [1]मेरुम्मन्यस्य शिरसोऽन्तिके । बाहू [2]तस्यायतौ नीलनिषधाविव रेजतुः ॥३७॥
सरिदावर्तगम्भीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ । नारीदृक्करिणीरोधे [3]वारीखातेव हृद्भुवा ॥३८॥
[4]रसनावेष्टितं तस्य कटीमण्डलमाबभौ । हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव जम्बूद्रुमस्थलम् ॥३९॥
ऊरुद्वयमभात्तस्य स्थिरं वृत्तं सुसंहतम् [5] । रामामनोगजालानस्तम्भलीलां[6] समुद्वहत् ॥४०॥
जङ्घे वज्रस्थिरे नास्य [7]व्यावर्ण्येते मयाधुना । तन्नाम्नैव [8]गतार्थत्वात् पौनरुक्त्यविशङ्कया ॥४१॥
चरणद्वितयं सोऽधादारक्तं [9]मृदिमान्वितम् । श्रित श्रियानपायिन्या [10]संचारीव स्थलाम्बुजम् ॥४२॥
रूपसंपदमुष्यैषा भूषिता श्रुतसंपदा । शरच्चन्द्रिकयेवेन्दोः मूर्तिरानन्दिनी दृशाम् ॥४३॥
[11]पदवाक्यप्रमाणेषु परं प्रावीण्यमागता । तस्य धीः सर्वशास्त्रेषु [12]दीपिकेव व्यदीप्यत ॥४४॥
स कलाः सकला [13]विद्वान् विनीतात्मा जितेन्द्रिय. । राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यतामगमत् कृती ॥४५॥
निसर्गजा गुणास्तस्य विश्वं जनमरञ्जयन् । जनानुरागः सोऽपुष्यात् महतीमस्य योग्यताम् ॥४६॥
अनुरागं सरस्वत्यां कीर्त्यां [14]प्रणयनिघ्नताम् । लक्ष्म्यां [15]वाल्लभ्यमातन्वन् विदुषांमूर्ध्नि सोऽभवत्॥४७॥
स तथापि कृतप्रज्ञो यौवनं परिमापिवान् । स्वयंप्रभानुरागेण [16]प्रायोऽभूत् स्त्रीषु निःस्पृहः ॥४८॥

हो ॥३६॥ मुकुटसे शोभायमान उसका मस्तक ठीक मेरु पर्वतके समान मालूम होता था और उसके समीप लम्बी भुजाएँ नील तथा निषध गिरिके समान शोभायमान होती थीं ॥३७॥ उसके मध्य भागमें नदीकी भँवरके समान गम्भीर नाभि ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियोंको दृष्टिरूपी हथिनियोंको रोकनेके लिए कामदेवके द्वारा खोदा हुआ एक गड्ढा ही हो ॥३८॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिभाग ऐसा शोभायमान था मानो सुवर्णकी वेदिकासे घिरा हुआ जम्बूवृक्षके रहनेका स्थान ही हो ॥३९॥ स्थिर गोल और एक दूसरेसे मिली हुई उसकी दोनों जाँघें ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्त्रियोंके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए दो स्तम्भ ही हों ॥४०॥ उसकी वज्रके समान स्थिर जंघाओं (पिंडरियों) का तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह उसके वज्रजंघ नामसे ही गतार्थ हो जाता है। इतना होनेपर भी यदि वर्णन करूँ तो मुझे पुनरुक्ति दोषकी आशंका है ॥४१॥ उस वज्रजंघके कुछ लाल और कोमल दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो अविनाशिनी लक्ष्मीसे आश्रित चलते-फिरते दो स्थलकमल ही हों ॥४२॥ शास्त्रज्ञानसे भूषित उसकी यह रूपसम्पत्ति नेत्रोंको उतना ही आनन्द देती थी जितना कि शरद् ऋतुकी चाँदनीसे भूषित चन्द्रमाकी मूर्ति देती है॥४३॥ पद वाक्य और प्रमाण आदिके विषयमें अतिशय प्रवीणताको प्राप्त हुई उसकी बुद्धि सब शास्त्रोंमें दीपिकाके समान देदीप्यमान रहती थी ॥४४॥ वह समस्त कलाओंका ज्ञाता विनयी जितेन्द्रिय और कुशल था इसलिए राज्यलक्ष्मीके कटाक्षोंका भी आश्रय हुआ था, वह उसे प्राप्त करना चाहती थी॥४५॥ उसके स्वाभाविक गुण सब लोगोंको प्रसन्न करते थे तथा उसका स्वाभाविक मनुष्य-प्रेम उसकी बड़ी भारी योग्यताको पुष्ट करता था ॥४६॥ वह वज्रजंघ सरस्वतीमें अनुराग, कीर्तिमें स्नेह और राज्यलक्ष्मीपर भोग करनेका अधिकार (स्वामित्व) रखता था इसलिए विद्वानोंमें सिरमौर समझा जाता था ॥४७॥ यद्यपि वह बुद्धिमान् वज्रजंघ उत्कृष्ट यौवनको प्राप्त हो गया था तथापि स्वयंप्रभाके अनुरागसे वह प्रायः अन्य स्त्रियोंमें निस्पृह ही रहता था ॥४८॥

---

१. आत्मानं मेरुमिव मन्यत इति मेरुम्मन्यस्तस्य । २ तस्यायितौ ल० । ३. वारीः गजवारणगर्तः 'वारी तु गजबन्धिनी' इत्यभिधानात् । ४. रशना—ल० । ५. निविडम् । ६. बन्धस्तम्भशोभाम् । ७. विवर्ण्येते अ०, स० । ८ ज्ञातार्थत्वात् । ९. मृदुत्वम् । १० सचरणशीलम् । ११ शब्दागमपरमागमयुक्त्यागमेषु । १२ टिप्पणवत् । १३ ज्ञानवान् । १४. स्नेहाधीनताम् । १५ वल्लभत्वम् । १६ इव ।

तस्येति परमानन्दात् काले गच्छति श्रीमतः । स्वयंप्रभा दिवश्च्युत्वा [1]क्वोत्पन्नेत्यधुनोच्यते ॥४९॥
अथ स्वयंप्रभादेवी [2]तस्मिन् प्रच्युतिमीयुषि । तद्वियोगाच्चिरं खिन्ना चक्राह्वेव विभर्तृका ॥५०॥
[3]शुचाविव च संतापधारिणी भूरभूद्भाः[4] । समुज्झितकलालापा कोकिलेव घनागमे ॥५१॥
दिव्यस्येवौषधस्यास्य विरहार्त्तां तथा सतीम् । [5]आधयो[6]ऽपीडयन् गाढं व्याधिकल्पाः[7] सुदुःसहाः ॥५२॥
ततोऽस्या दृढधर्माख्यो देवोऽन्तःपरिषद्भवः[8] । शुचं व्यपोह्य सन्मार्गे मतिमासञ्जयत्तराम्[9] ॥५३॥
सा चित्रप्रतिमेवासीत् तदा भोगेषु निःस्पृहा । विमुक्तमृतिभीशूरपुरुषस्येव शेमुषी ॥५४॥
श्रीमती सा भविष्यन्ती भव्यमालेव [10]धर्मभाक् । षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी[11] ॥५५॥
ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमन्दिरे । मूले चैत्यतरोः सम्यक् स्मरन्ती गुरुपञ्चकम् ॥५६॥
समाधिना कृतप्राणत्यागा [12]प्राच्योष्ट सा दिवः । तारकेव निशापाये सहसाऽदृश्यतां गता ॥५७॥
प्राग्भाषिते विदेहेऽस्ति नगरी पुण्डरीकिणी । तस्याः पतिरभून्नाम्ना वज्रदन्तो महीपतिः ॥५८॥
लक्ष्मीरिवास्य कान्ताङ्गी लक्ष्मीमतिरभूत् प्रिया । स तया कल्पवल्ल्येव [13]सुरागोऽलङ्कृतो नृपः ॥५९॥
तयोः पुत्री बभूवासौ विश्रुता श्रीमतीति या । पताकेव मनोजस्य रूपसौन्दर्यलीलया[14] ॥६०॥
नवयौवनमासाद्य मधुमासमिवाधिकम् । लोकस्य प्रमदं तेने बाला शशिकलेव सा ॥६१॥

इस प्रकार उस बुद्धिमान् वज्रजंघका समय बड़े आनन्दसे व्यतीत हो रहा था। अब स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्गसे च्युत होकर कहाँ उत्पन्न हुई इस बातका वर्णन किया जाता है ॥४९॥ ललिताङ्गदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर वह स्वयंप्रभा देवी उसके वियोगसे चकवाके बिना चकवीकी तरह बहुत ही खेदखिन्न हुई ॥५०॥ अथवा ग्रीष्मऋतुमें जिस प्रकार पृथ्वी प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगती है उसी प्रकार वह स्वयंप्रभा भी पतिके विरहमें प्रभारहित होकर संताप धारण करने लगी और जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें कोयल अपना मनोहर आलाप छोड़ देती है उसी प्रकार उसने भी अपना मनोहर आलाप छोड़ दिया था—वह पतिके विरहमें चुपचाप बैठी रहती थी ॥५१॥ जिस प्रकार दिव्य ओषधियोंके अभावमें अनेक कठिन बीमारियाँ दुःख देने लगती हैं उसी प्रकार ललिताङ्गदेवके अभावमें उस पतिव्रता स्वयंप्रभाको अनेक मानसिक व्यथाएँ दुःख देने लगी थीं ॥५२॥ तदनन्तर उसकी अन्तःपरिषद्के सदस्य दृढधर्म नामके देवने उसका शोक दूर कर सन्मार्गमें उसकी मति लगायी ॥५३॥ उस समय वह स्वयंप्रभा चित्रलिखित प्रतिमाके समान अथवा मरणके भयसे रहित शूर-वीर मनुष्यकी बुद्धिके समान भोगोंसे निस्पृह हो गयी थी ॥५४॥ जो आगामी कालमें श्रीमती होनेवाली है ऐसी वह मनस्विनी (विचारशक्तिसे सहित) स्वयंप्रभा, भव्य जीवोंकी श्रेणीके समान धर्म सेवन करती हुई छह महीने तक बराबर जिनपूजा करनेमें उद्यत रही ॥५५॥ तदनन्तर सौमनस वनसम्बन्धी पूर्वदिशाके जिनमन्दिरमें चैत्यवृक्षके नीचे पञ्चपरमेष्ठियोंका भले प्रकार स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर स्वर्गसे च्युत हो गयी। वहाँसे च्युत होते ही वह रात्रिका अन्त होनेपर तारिकाकी तरह क्षण एकमें अदृश्य हो गयी ॥५६-५७॥

जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है। वज्रदन्त नामक राजा उसका अधिपति था। उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमती था जो वास्तवमें लक्ष्मीके समान ही सुन्दर शरीरवाली थी। वह राजा उस रानीसे ऐसा शोभायमान होता था जैसे कि कल्पलतासे कल्पवृक्ष ॥५८-५९॥ वह स्वयंप्रभा उन दोनोंके श्रीमती नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई। वह श्रीमती अपने रूप और सौन्दर्यकी लीलासे कामदेवकी पताकाके समान मालूम होती थी ॥६०॥ जिस प्रकार चैत्र मासको पाकर चन्द्रमाकी कला लोगोंको अधिक आनन्दित

१. इति प्रश्ने कृते । २. ललिताङ्गे । ३ आषाढे । ४ विगतकान्तिः । ५. मनःपीडाः । ६.–पीपिडन् अ०, प०, स०, द० । ७. मंदृशाः । ८.परिषत्त्रयदेवेष्वभ्यन्तरपरिषदि भवः । ९.नितरां ससक्तामकरोत् । १०.समूहः । ११. प्रौढा । १२. च्युतवती । च्युङ् गताविति धातोः । १३. कल्पतरु । पक्षे शोभनरागः । १४. शोभया ।

नखैरापाटलैस्तस्या जिग्ये[1] कुरवकच्छविः। अशोकपल्लवच्छाया पादभासाधरीकृता[3] ॥६२॥
रणन्नूपुरमत्तालीझङ्कारमुखरीकृते। पादारविन्दे साऽधत्त लक्ष्म्याः[4] शश्वत्कृतास्पदे ॥६३॥
चिरं यदुदवासेन[5] दधत्कण्टकितां[6] तनुम्। व्रतं[7] चचार तेनाब्जं मन्येऽगात् तत्पदोपमाम् ॥६४॥
जङ्घे रराजतुस्तस्याः कुसुमेषोरिवेषुधी। ऊरुदण्डौ च बिभ्राते काममालानयष्टिताम्[9] ॥६५॥
नितम्बबिम्बमेतस्या सरस्या इव सैकतम्[10]। लसद्दुकूलनीरेण[11] स्थगितं रुचिमानशे ॥६६॥
[12]वलिमं दक्षिणावर्त्तनाभिमध्यं बभार सा। नदीव जलमावर्त्तसंशोभिततरङ्गकम्[13] ॥६७॥
मध्यं स्तनभराक्रान्ति[14]चिन्तयैवात्ततानवम्[15]। रोमावलिच्छलेनास्या दधेऽवष्टम्भयष्टिकाम्[16] ॥६८॥
नाभिरन्ध्रादधस्तन्वीं रोमराजीमसौ दधे। [17]उपघ्नान्तरमन्विच्छोः[18] कामाहेः[19] पदवीमिव ॥६९॥
लतेवासौ मृदू बाहू दधौ[20] विटपसच्छवी। नखांशुमञ्जरी चास्या धत्ते स्म कुसुमश्रियम् ॥७०॥
आनीलचूचुकौ तस्याः कुचकुम्भौ विरेजतुः। पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिमुद्रितौ ॥७१॥
स्तनांशुकं शुकच्छायं तस्याः स्तनतटाश्रितम्। बभासे रुद्रपङ्केजकुट्मलं[21] शैवलं यथा ॥७२॥

करने लगती है उसी प्रकार नवयौवनको पाकर वह श्रीमती भी लोगोंको अधिक आनन्दित करने लगती थी ॥६१॥ उसके गुलाबी नखोंने कुरवक पुष्पकी कान्तिको जीत लिया था और चरणोंकी आभाने अशोकपल्लवोंकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया था ॥६२॥ वह श्रीमती, रुनझुन शब्द करते हुए नूपुररूपी मत्त भ्रमरोंकी झंकारसे मुखरित तथा लक्ष्मीके सदा निवास-स्थानस्वरूप चरणकमलोंको धारण कर रही थी ॥६३॥ मैं मानता हूँ कि कमलने चिरकाल तक पानीमें रहकर कण्टकित (रोमाञ्चित, पक्षमें काँटेदार) शरीर धारण किये हुए जो व्रताचरण किया था उसीसे वह श्रीमतीके चरणोंकी उपमा प्राप्त कर सका था ॥६४॥ उसकी दोनों जंघाएँ कामदेवके तरकसके समान शोभित थीं, और ऊरुदण्ड (जाँघें) कामदेवरूपी हस्तीके बन्धन-स्तम्भकी शोभा धारण कर रहे थे ॥६५॥ शोभायमान वस्त्ररूपी जलसे तिरोहित हुआ उसका नितम्बमण्डल किसी सरसीके बालूके टीलेके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥६६॥ वह त्रिव-लियोंसे सुशोभित तथा दक्षिणावर्त्त नाभिसे युक्त मध्यभागको धारण कर रही थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो भँवरसे शोभायमान और लहरोंसे युक्त जलको धारण करनेवाली नदी ही हो ॥६७॥ उसका मध्यभाग स्तनोंका बोझ बढ़ जानेकी चिन्तासे ही मानो कृश हो गया था और इसीलिए उसने रोमावलिके छलसे मानो सहारेकी लकड़ी धारण की थी ॥६८॥ वह नाभि-रन्ध्रके नीचे एक पतली रोमराजिको धारण कर रही थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो दूसरा आश्रय चाहनेवाले कामदेवरूपी सर्पका मार्ग ही हो ॥६९॥ वह श्रीमती स्वयं लताके समान थी, उसकी भुजाएँ शाखाओंके समान थीं और नखोंकी किरणें फूलोंकी शोभा धारण करती थीं ॥७०॥ जिनका अग्रभाग कुछ-कुछ श्यामवर्ण है ऐसे उसके दोनों स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो कामरससे भरे हुए और नीलरत्नकी मुद्रासे अंकित दो कलश ही हों ॥७१॥ उसके स्तन-तटपर पड़ी हुई हरे रंगकी चोली ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कमलमुकुलपर पड़ा हुआ

---

१ ईषदरुणैः। 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः'। २ अरुणसैरेयकः। ३. अधःकृता। ४. लक्ष्मीशश्व -अ०, स०। ५ उदके आवास उदवास तेन। ६ रोमहर्षिताम्। पक्षे सजातकण्टकाम्। 'रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यभिधानात्। ७. चचारि म०, ल०। ८ व्रतेन। ९ बन्धस्तम्भताम्। १०. पुलिनम्। ११ आच्छा-दितम्। १२ वलय. अस्य सन्तीति वलिम तम्। वलितं अ०, प०, स०, द०। १३ -भिसतरङ्गकम् द०, स०, म०, ल०, अ०। १४. आक्रमणम्। १५. स्वीकृततनुत्वम्। १६ आधारयष्टिम्। १७. आश्र-यान्तरम्। 'स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रये' इत्यभिधानात्। १८. अन्वेष्टुमिच्छो गवेषणशीलस्य। १९. मार्ग.। २० शाखा। २१ -कुड्मल अ०, स०, द०, म०, ल०।

हारस्तस्याः स्तनोपान्ते नीहाररुचिनिर्मलः[1] । श्रियमाधत्त फेनस्य कञ्जकुट्[2]मलसंस्पृशः ॥७३॥
ग्रीवास्या [3]राजिभिर्मेजे [4]कम्बुबन्धुरविभ्रमम् । [5]स्रस्तावंसौ च हंसीव पक्षती सा दधे शुची[6] ॥७४॥
मुखमस्या दधे चन्द्रपद्मयोः श्रियमक्रमात्[7] । नेत्रानन्दि स्मितज्योत्स्नं स्फुरद्दन्तांशुकेशरम् ॥७५॥
स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चान्द्रायणं तपः । कृत्वा नूनं शशी प्रापत् तद्वक्त्रस्योपमानताम् ॥७६॥
कर्णौ सहोत्पलौ[8] तस्या नेत्राभ्यां लङ्घितौ भृशम् । स्वायत्यारोधिनं को वा सहेतोपान्तवर्त्तिनम् ॥७७॥
कर्णपूरोत्पलं तस्या नेत्रोपान्ते स्म लक्ष्यते । [9]दिदृक्षमाणमस्येव शोभां स्वश्रीविहासिनीम्[10] ॥७८॥
मुखपङ्कजसंसक्तानलकालीन्[11] बभार सा । मलिनानपि नो धत्ते कः श्रिताननपायिनः ॥७९॥
[12]धम्मिल्लभारमास्रस्तं[13] सा दधे मृदुकुञ्चितम् । चन्दनद्रुमवल्लीव कृष्णाहेर्भोग[14]मायतम् ॥८०॥
इत्यसौ मदनोन्मादजनिकां[15] रूपसंपदम् । बभार स्ववधूरूपसारांशैरिव निर्मिताम् ॥८१॥
लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदागो वेधसार्जितम् । [16]तन्निर्माणेन तन्नूनं तेन प्रक्षालितं तदा ॥८२॥
पितरौ तां प्रपश्यन्तौ नितरां प्रीतिमापतुः । कलामिव सुधासूतेः जनतानन्दकारिणीम् ॥८३॥

शैल ही हो ॥७२॥ उसके स्तनोंके अग्रभागपर पड़ा हुआ बरफके समान श्वेत और निर्मल हार कमलकुड्मल (कमल पुष्पकी बौंड़ी) को छूनेवाले फेनकी शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥ अनेक रेखाओंसे उपलक्षित उसकी ग्रीवा रेखासहित शंखकी शोभा धारण कर रही थी तथा वह स्वयं मनोहर कन्धोंको धारण किये हुए थी जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो निर्मल पंखोंके मूलभागको धारण किये हुए हंसी हो ॥७४॥ नेत्रोंको आनन्द देनेवाला उसका मुख एक ही साथ चन्द्रमा और कमल दोनोंकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि वह हास्यरूपी चाँदनीसे चन्द्रमा-के समान जान पड़ता था और दाँतोंकी किरणरूपी केशरसे कमलके समान मालूम होता था ॥७५॥ चन्द्रमाने,अपनी कलाओंकी वृद्धि और हानिके द्वारा चिरकाल तक चान्द्रायण व्रत किया था इसलिए मानो उसके फलस्वरूप ही वह श्रीमतीके मुखकी उपमाको प्राप्त हुआ था ॥७६॥ उसके नेत्र इतने बड़े थे कि उन्होंने उत्पल धारण किये हुए कानोंका भी उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है अपना विस्तार रोकनेवालेको कौन सह सकता है ? भले ही वह समीपवर्ती क्यों न हो ॥७७॥ उसके नेत्रोंके समीप कर्णफूलरूपी कमल ऐसे दिखाई देते थे मानो अपनी शोभापर हँसनेवाले नेत्रोंकी शोभाको देखना ही चाहते हैं ॥७८॥ वह श्रीमती अपने मुखकमलके ऊपर (मस्तकपर) काली अलकावलीको धारण किये हुए थी सो ठीक ही है, आश्रयमें आये हुए निरुपद्रवी मलिन पदार्थोंको भी कौन धारण नहीं करता ? अर्थात् सभी करते हैं ॥७९॥ वह कुछ नीचेकी ओर लटके हुए, कोमल और कुटिल केशपाशको धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो काले सर्पके लम्बायमान शरीरको धारण किये हुए चन्दनवृक्षकी लता ही हो ॥८०॥ इस प्रकार वह श्रीमती कामदेवको भी उन्मत्त बनानेवाली रूपसम्पत्तिको धारण करनेके कारण ऐसी मालूम होती थी मानो देवांगनाओंके रूपके सारभूत अंशोंसे ही बनायी गयी हो ॥८१॥ ऐसा मालूम पड़ता था कि ब्रह्माने लक्ष्मीको चंचल बनाकर जो पाप उपार्जन किया था वह उसने श्रीमतीको बनाकर धो डाला था ॥८२॥ चन्द्रमाकी कलाके समान जनसमूहको आनन्द देनेवाली उस श्रीमतीको देख-देखकर उसके माता-पिता अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते थे ॥८३॥

---

१. चन्द्रः । २. –कुड्मल –अ०, स०, द०, म०, ल० । ३. रेखाभिः । ४ कम्बुकन्धरविभ्रमम् प०, द०, म०, ट० । शङ्खस्य ग्रीवाविलासम् । ५. ईषन्नतौ । स्रस्तावंसौ द०, स०, ल० । ६. सामुद्रिकलक्षणोक्त-दोषरहितौ, पक्षे शुभ्रौ । ७. युगपत् । ८. कर्णाभरणयुक्तौ । ९. 'स्मृदृश' इति तङो विधानात् आनश् । १०. हसन्तीम् । ११. –न्तामलकाली अ०, प०, स०, द० । १२. कचबन्ध ।. १३ आनतम् । १४. शरीरम् । १५. जननीम् । १६ श्रीमन्निर्माणेन ।

अथान्येद्युरसौ सुप्ता हर्म्ये हंसांशुनिर्मले[1] । [2]परार्ध्यरत्नसंशोभे स्वर्विमानापहासिनि ॥८४॥
तदैतदभवत्तस्याः [3]संविधानकमीदृशम् । यशोधरगुरोस्तस्मिन् पुरे कैवल्यसंभवे[4] ॥८५॥
मनोहराख्यमुद्यानमध्यासीनं तमर्चितुम् । देवाः संप्रापुरारूढविमानाः सह संपदा ॥८६॥
पुष्पवृष्टिर्दिशो रुद्ध्वा[5] तदापप्तत् सहालिभिः । स्वर्गलक्ष्म्येव तं द्रष्टुं प्रहिता नयनावली ॥८७॥
मन्दमाधूतमन्दारसान्द्रकिञ्जल्कपिञ्जरः । पुञ्जितालिरुता मञ्जुरा[6] गुञ्जन् मरुद्राववौ ॥८८॥
दध्वनद्दुन्दुभिध्वानै[7]ररुध्यन्त दिशो दश । सुराणां प्रमदोद्भूतो महान् [8]कलकलोऽप्यभूत् ॥८९॥
सा तदा तद्ध्वनिं श्रुत्वा निशान्ते सहसोत्थिता । भेजे हंसीव संत्रासं श्रुतपर्जन्यनिःस्वना[9] ॥९०॥
देवागमे क्षणात्तस्याः प्राग्जन्मस्मृतिराशभूत्[10] । सा स्मृत्वा ललिताङ्गं तं मुमूर्च्छोत्कण्ठिता मुहुः ॥९१॥
सखीभिरथ सोपायमाश्वास्य व्यजनानिलैः । [11]प्रत्यापत्तिं समानीता साभूद् भूयोऽप्यवाङ्मुखी[12] ॥९२॥
मनोहरं प्रमोद्भासि सुन्दरं [13]चारुलक्षणम् । तद्वपुर्मनसीवास्या लिखितं निर्बभौ तदा ॥९३॥
परिपृष्टापि साशङ्कं[14] सखीभिर्जोषमास्त[15] सा । मूकीभूता किलाप्राप्ते[16]स्तस्य मौनं ममेत्यलम् ॥९४॥
ततः पर्याकुलाः सख्यः तमुदन्तमशेषतः । गत्वा पितृभ्यामाचख्युः सख्यो [17]वर्षधरैः समम् ॥९५॥

तदनन्तर किसी एक दिन वह श्रीमती सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल, महामूल्य रत्नोंसे शोभायमान और स्वर्गविमानको भी लज्जित करनेवाले राजभवनमें सो रही थी ॥८४॥ उसी दिन उससे सम्बन्ध रखनेवाली यह विचित्र घटना हुई कि उसी नगरके मनोहर नामक उद्यानमें श्रीयशोधर गुरु विराजमान थे उन्हें उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त हुआ इसलिए स्वर्गके देव अपनी विभूतिके साथ विमानोंपर आरूढ होकर उनकी पूजा करनेके लिए आये थे ॥८५-८६॥ उस समय भ्रमरोंके साथ-साथ, दिशाओंको व्याप्त करनेवाली जो पुष्पवर्षा हो रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो यशोधर महाराजके दर्शन करनेके लिए स्वर्गलक्ष्मी-द्वारा भेजी हुई नेत्रोंकी परम्परा ही हो ॥८७॥ उस समय मन्द-मन्द हिलते हुए मन्दारवृक्षोंकी सघन केशरसे कुछ पीला हुआ तथा इकट्ठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारसे मनोहर वायु शब्द करता हुआ बह रहा था ॥८८॥ और बजते हुए दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे दसों दिशाओंको व्याप्त करता हुआ देवोंके हर्षसे उत्पन्न होनेवाला बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥८९॥ वह श्रीमती प्रातःकालके समय अकस्मात् उस कोलाहलको सुनकर उठी और मेघोंकी गर्जना सुनकर डरी हुई हंसिनीके समान भयभीत हो गयी ॥९०॥ उस समय देवोंका आगमन देखकर उसे शीघ्र ही पूर्वजन्मका स्मरण हो आया, जिससे वह ललिताङ्गदेवका स्मरण कर बार-बार उत्कण्ठित होती हुई मूर्च्छित हो गयी ॥९१॥ तत्पश्चात् सखियोंने अनेक शीतलोपचार और पंखाकी वायुसे आश्वासन देकर उसे सचेत किया परन्तु फिर भी उसने अपना मुँह ऊपर नहीं उठाया ॥ ९२ ॥ उस समय मनोहर, प्रभासे देदीप्यमान, सुन्दर और अनेक उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित उस ललिताङ्गका शरीर श्रीमतीके हृदयमें लिखे हुएके समान शोभायमान हो रहा था ॥ ९३ ॥ अनेक आशंकाएँ करती हुई सखियोंने उससे उसका कारण भी पूछा परन्तु वह चुपचाप बैठी रही। ललिताङ्गकी प्राप्ति पर्यन्त मुझे मौन रखना ही श्रेयस्कर है ऐसा सोचकर मौन रह गयी ॥ ९४ ॥ तदनन्तर घबड़ायी हुई सखियोंने पहरेदारोंके साथ जाकर उसके माता-पितासे सब वृत्तान्त कह सुनाया

---

१. हसासनिर्मले द०, ट० । हंसपक्षवच्छुभ्रे । २. परार्घ्यम् उत्कृष्टम् । ३. सामग्री । ४. उत्पन्ने सति । ५. रुद्धा ल० । ६. मनोज्ञ । ७–नैराऋध्यैस्तद्दिशो दश ल०, ल० । ८ जयजयारावकोलाहलः । ९ अशनि । [रसदब्द. गर्जन्मेघ इत्यर्थः] १०. विरन्वभूत् अ० । ११ पूर्वस्थितिम् । १२ अधोमुखी । १३. हलकुलिशादि । १४. आशङ्कया सहितं यथा भवति तथा । १५. तूष्णीमास्त । १६. प्राप्तिपर्यन्तम् । १७ वृद्धकञ्चुकीभि ।

तद्वार्ताकर्णनात्तूर्णं[1] तदभ्यर्ण[2]मुपागतौ । पितरौ तदवस्थां[3] च दृष्ट्वैनां शुचमीयतुः ॥९६॥
अङ्ग पुत्रि परिष्वङ्गं[4] विधेह्यस्मद[5]ङ्कमेहि नौ[6] । इति निर्बध्यमानापि[7] मोमुह्यैव[8] यदास्त सा ॥९७॥
लक्ष्मीमतिमित्यर्थीवाच प्रभुरिङ्गितकोविदः । जाता ते पुत्रिका तन्वी सेयमापूर्णयौवना ॥९८॥
अस्याः सुदति पश्येदं वपुरत्यन्तकान्तिमत् । अनीदृशमभूत् स्वर्गनारीभिरपि दुर्लभम् ॥९९॥
ततो विक्रिया[9]स्या न दुष्यत्यद्य सुन्दरि । तेन मा स्म भय देवि शङ्कमानान्यथा गमः ॥१००॥
प्राग्जन्मानुभवः कोऽपि नूनमस्या हृदि स्थितः । संस्कारान् प्राक्तनान् प्रायः स्मृत्वा मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥१०१॥
इति ब्रुवाण एवासौ उत्तस्थौ सह कान्तया । नियोज्य पण्डितां धात्रीं कन्याश्वासनसंविधौ ॥१०२॥
तदा कार्यद्वयं तस्य युगपत् समुपस्थितम्[10] । कैवल्यं स्वगुरोश्चक्रसंभूतिश्चायुधालये ॥१०३॥
तत्कार्यद्वैतमासाद्य बभूव क्षणमाकुलः । प्राग्विधेयं किमत्रेति स निश्चेतुमशक्नुवन् ॥१०४॥
ततः किमत्र कर्तव्यमित्यसौ[11] संप्रधारयन् । गुरोः कैवल्यसंपूजामादौ निश्चितवान् सुधीः ॥१०५॥
यतो[12] दूरात् समासन्नं कार्यं[13] कार्यं मनीषिभिः । [14] व्यतिपाति ततस्तस्मात् प्रधानं कार्यमाचरेत् ॥१०६॥
ततः शक्यं शुभं तस्मात् तस्माच्च विपुलोदयम् । धर्मात्मकं च यत् कार्यमर्हत्पूजादिलक्षणम् ॥१०७॥

॥९५॥ सखियोंकी बात सुनकर उसके माता-पिता शीघ्र ही उसके पास गये और उसकी वह अवस्था देखकर शोकको प्राप्त हुए ॥९६॥ 'हे पुत्री, हमारा आलिंगन कर, गोदमें आ' इस प्रकार समझाये जानेपर भी जब वह मूर्च्छित हो चुपचाप बैठी रही तब समस्त चेष्टाओं और मनके विकारोंको जाननेवाले वज्रदन्त महाराज रानी लक्ष्मीमतीसे बोले—हे तन्वि, अब यह तुम्हारी पुत्री पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गयी है ॥९७-९८॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली, देख, यह इसका शरीर कैसा अनुपम और कान्तियुक्त हो गया है। ऐसा शरीर स्वर्गकी दिव्यांगनाओंको भी दुर्लभ है ॥ ९९ ॥ इसलिए हे सुन्दरि, इस समय इसका यह विकार कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। अतएव हे देवि, तू अन्य-रोग आदिकी शंका करती हुई व्यर्थ ही भयको प्राप्त न हो ॥ १०० ॥ निश्चय ही आज इसके हृदयमें कोई पूर्वभवका स्मरण हो आया है क्योंकि संसारी जीव प्रायः पुरातन संस्कारोंका स्मरण कर मूर्च्छित हो ही जाते हैं ॥ १०१ ॥ यह कहते-कहते वज्रदन्त महाराज कन्याको आश्वासन देनेके लिए पण्डिता नामक धायको नियुक्त कर लक्ष्मीमतीके साथ उठ खड़े हुए ॥१०२॥ कन्याके पाससे वापस आनेपर महाराज वज्रदन्तके सामने एक साथ दो कार्य आ उपस्थित हुए। एक तो अपने गुरु यशोधर महाराज-को केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी अतएव उनकी पूजाके लिए जाना और दूसरा आयुधशालामें चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था अतएव दिग्विजयके लिए जाना ॥ १०३ ॥ महाराज वज्रदन्त एक साथ इन दोनों कार्योंका प्रसंग आनेपर निश्चय नहीं कर सके कि इनमें पहले किसे करना चाहिए और इसीलिए वे क्षण-भरके लिए व्याकुल हो उठे ॥१०४॥ तत्पश्चात् 'इनमें पहले किसे करना चाहिए' इस बातका विचार करते हुए बुद्धिमान् वज्रदन्तने निश्चय किया कि सबसे पहले गुरुदेव—यशोधर महाराजके केवलज्ञानकी पूजा करनी चाहिए ॥ १०५ ॥ क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंको दूरवर्ती कार्यकी अपेक्षा निकटवर्ती कार्य ही पहले करना चाहिए, उसके बाद दूरवर्ती मुख्य कार्य करना चाहिए ॥१०६॥ इसलिए जिस अर्हन्त पूजासे पुण्य होता है, जिससे बड़े-बड़े अभ्युदय प्राप्त होते हैं, तथा जो धर्ममय आवश्यक कार्य है ऐसे अर्हन्तपूजा आदि प्रधान कार्यको ही पहले करना चाहिए ॥ १०७ ॥

१. शीघ्रम् । २. समीपम् । ३ तां दृष्ट्वा प०, द० । ४ आलिङ्गनम् । ५ अङ्कम् । ६. आवयोः । ७. निर्वाध्यमानापि अ०, प० । निर्बोध्यमानाऽपि द० । ८ मोमुह्यते इति मोमुह्या । मोमुह्येव ल० । मोमुहैव द०, ट० । ९. चित्तविकृतिः । १०. आगतम् । ११. विचारयन् । १२. दूरादासन्नम् आगतं स्थिर-मित्यर्थः । १३. कर्तव्यम् । १४ विनश्वरम् ।

मनसीत्याकलय्या[1]सौ यशोधरगुरोः पराम् । पूजां कर्तुं[2] समुत्तस्थौ नृपः पुण्यानुबन्धिनीम् ॥१०८॥
ततः पृतनया सार्द्धमुपसृत्य जगद्गुरुम् । पूजयामास संप्रीतिप्रोत्फुल्लमुखपङ्कजः ॥१०९॥
तत्पादौ प्रणमन्नेव सोऽलब्धावधिमिद्धधीः । विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति ॥११०॥
तेनाबुद्धाच्युतेन्द्रत्वमात्मनः प्राक्तने भवे । ललिताङ्गप्रियायाश्च दुहितृत्वमिहाञ्जसा ॥१११॥
कृताभिवन्दनस्तस्मा[3]न्निवृत्य[4] कृतधीः सुताम् । पण्डितायै समर्प्याशु प्रतस्थे दिग्जयाय सः ॥११२॥
चक्रपूजां ततः कृत्वा चक्री[5] शक्रसमद्युतिः । प्रास्थितासौ दिशो जेतुं ध्वजिन्या सषडङ्गया ॥११३॥
अथ पण्डितिकान्येद्युः निपुणा निपुणं वचः । श्रीमत्याः प्रतिबोधाय रहस्येवमभाषत ॥११४॥
[6]अशोकवनिकामध्ये चन्द्रकान्तशिलातले । स्थित्वा सस्नेहमङ्गानि स्पृशन्ती मृदुपाणिना ॥११५॥
मुखपङ्कजसंसर्पद्दशनांशुजलप्लवैः । तस्या हृदयसंतापमिव निर्वापयन्त्यसौ ॥११६॥
अहं पण्डितिका सत्यं पण्डिता[7] कार्ययुक्तिषु । जननीनिर्विशेषास्मि तव प्राणसमा सखी ॥११७॥
ततो ब्रूहि[8] मिथः कन्ये धन्ये त्वं मौनकारणम् । नामयो गोपनीयो हि जनन्या इति विश्रुतम् ॥११८॥
मया सुनिपुणं चित्ते पर्यालोचितमीहितम् । तवाग्रीय तु विज्ञातं तन्मे वद पतिंवरे ॥११९॥
किमेष मदनोन्मादः किमालि ग्रहविप्लवः[9] । प्रायो हि यौवनारम्भे जृम्भते मदनग्रहः ॥१२०॥

मनमें ऐसा विचार कर वह राजा वज्रदन्त पुण्य बढ़ानेवाली यशोधर महाराजकी उत्कृष्ट पूजा करनेके लिए उठ खड़ा हुआ ॥१०८॥ तदनन्तर सेनाके साथ जाकर उसने जगद्गुरु यशोधर महाराजकी पूजा की। पूजा करते समय उसका मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित हो रहा था ॥१०९॥ प्रकाशमान बुद्धिके धारक वज्रदन्तने ज्यों ही यशोधर गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया त्यों ही उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया, सो ठीक ही है, विशुद्ध परिणामोंसे की गयी भक्ति क्या फलीभूत नहीं होगी? अथवा क्या-क्या फल नहीं देगी? ॥११०॥ उस अवधिज्ञानसे राजाने जान लिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा नामक प्रिया थी ॥१११॥ वह बुद्धिमान् वज्रदन्त वन्दना आदि करके वहाँसे लौटा और पुत्री श्रीमतीको पण्डिता धायके लिए सौंपकर शीघ्र ही दिग्विजयके लिए चल पड़ा ॥११२॥ इन्द्रके समान कान्तिका धारक वह चक्रवर्ती चक्ररत्नकी पूजा करके हाथी, घोड़ा, रथ, पियादे, देव और विद्याधर इस प्रकार षडंग सेनाके साथ दिशाओंको जीतनेके लिए गया ॥११३॥

तदनन्तर अतिशय चतुर पण्डिता नामकी धाय किसी एक दिन एकान्तमें श्रीमतीको समझानेके लिए इस प्रकार चातुर्यसे भरे वचन कहने लगी ॥११४॥ वह उस समय अशोकवाटिकाके मध्यमें चन्द्रकान्त शिलातलपर बैठी हुई थी तथा अपने कोमल हाथोंसे [सामने बैठी हुई] श्रीमतीके अंगोंका बड़े प्यारसे स्पर्श कर रही थी। बोलते समय उसके मुख-कमलसे जो दाँतोंकी किरणरूपी जलका प्रवाह बह रहा था उससे ऐसी मालूम होती थी मानो वह श्रीमतीके हृदयका सन्ताप ही दूर कर रही हो ॥११५-११६॥ वह कहने लगी–हे पुत्रि, मैं समस्त कार्योंकी योजनामें पण्डिता हूँ–अतिशय चतुर हूँ। इसलिए मेरा पण्डिता यह नाम सत्य है–सार्थक है। इसके सिवाय मैं तुम्हारी माताके समान हूँ और प्राणोंके समान सदा साथ रहनेवाली प्रियसखी हूँ ॥११७॥ इसलिए हे धन्य कन्ये, तू यहाँ मुझसे अपने मौनका कारण कह। क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि रोग मातासे नहीं छिपाया जाता ॥११८॥ मैंने अपने चित्तमें तेरी इस चेष्टाका अच्छी तरहसे विचार किया है परन्तु मुझे कुछ भी मालूम नहीं हुआ इसलिए हे कन्ये, ठीक-ठीक कह ॥११९॥ हे सखि, क्या यह कामका उन्माद है अथवा किसी ग्रहकी पीड़ा है? प्रायः करके यौवनके आरम्भ-

---

१. विचार्य । २. उद्युक्तोऽभूत् । ३. जिनस्थानात् । ४. सम्पूर्णबुद्धिः । ५. इन्द्रसमतेजाः । ६. अशोकवनम् । ७ कार्यघटनासु । ८. रहसि । ९. पीडा ।

इति पृष्टा तथा किंचिदानम्य मुखपङ्कजम् । पद्मिनीव दिनापाये परिम्लानं महोत्पलम् ॥१२१॥
जगाद श्रीमती सत्यं न शक्तास्मीदृशं वचः । कस्यापि पुरतो वक्तुं [1]लज्जाविवशमानसा ॥१२२॥
किंतु तेऽद्य पुरो नाहं जिह्रेम्यार्त्ता लपन्त्यलम् । जननीनिर्विशेषा त्वं चिरं परिचिता च मे ॥१२३॥
तद् वक्ष्ये शृणु सौम्याङ्गि महतीयं कथा मम । मया प्राग्जन्मचरितं स्मृतं देवागमेक्षणात् ॥१२४॥
तत्कीदृशं कथा चेति सर्वं वक्ष्ये सविस्तरम् । स्वप्नानुभूतमिव मे स्मृतौ तत्प्रतिभासते ॥१२५॥
अहं पूर्वभवेऽभूवं धातकीखण्डनामनि । महाद्वीपे सरोजाक्षि स्वर्गभूम्यतिशायिनि ॥१२६॥
तत्रास्ति मन्दरात् पूर्वाद् विदेहे [2]प्रत्यगाश्रिते । विषयो गन्धिलाभिख्यो यः कुरूनपि निर्जयेत् ॥१२७॥
तत्रासीत् पाटलीग्रामे नागदत्तो वणिक्सुतः । सुमतिस्तस्य कान्ताभूत् तयोर्जाता सुता इमे ॥१२८॥
नन्दश्च नन्दिमित्रश्च नन्दिषेणाह्वयः परः । वरसेनो जयादिश्च सेनस्तत्सूनवः क्रमात् ॥१२९॥
पुत्रिके च तयोर्जाते [3]मदनश्रीपदादिके । कान्ते तयोरहं जाता निर्नामेति कनीयसी ॥१३०॥
कदाचित् कानने रम्ये [4]चरिते चारणादिके । गिरावम्बरपूर्वेऽहं तिलके पिहितास्रवम् ॥१३१॥
नानर्द्धिभूषणं दृष्ट्वा मुनिं सावधिबोधनम् । इदमप्राक्षमानम्य [5]संबोध्य भगवन्निति ॥१३२॥
केनास्मि कर्मणा जाता कुले [6]दौर्गत्यशालिनि । ब्रूहीदमतिनिर्विण्णां[7] [8]दीनामनुगृहाण माम् ॥१३३॥
इति पृष्टो मुनीन्द्रोऽसौ जगौ मधुरया गिरा । इहैव विषयेऽमुत्र[9] पुत्रि जातासि कर्मणा ॥१३४॥

में कामरूपी ग्रहका उपद्रव हुआ ही करता है॥१२०॥ इस तरह पण्डिता धायके द्वारा पूछे जानेपर श्रीमतीने अपना मुरझाया हुआ मुख इस प्रकार नीचा कर लिया जिस प्रकार कि सूर्यास्तके समय कमलिनी मुरझाकर नीचे झुक जाती है। वह मुख नीचा करके कहने लगी–यह सच है कि मैं ऐसे वचन किसीके भी सामने नहीं कह सकती क्योंकि मेरा हृदय लज्जासे पराधीन हो रहा है॥१२१-१२२॥ किंतु आज मैं तुम्हारे सामने कहती हुई लज्जित नहीं होती हूँ उसका कारण भी है कि मैं इस समय अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ और आप हमारी माताके तुल्य तथा चिरपरिचिता हैं ॥१२३॥ इसलिए हे मनोहरांगि, सुन, मैं कहती हूँ। यह मेरी कथा बहुत बड़ी है। आज देवोंका आगमन देखनेसे मुझे अपने पूर्वभवके चरित्रका स्मरण हो आया है॥१२४॥ वह पूर्वभवका चरित्र कैसा है अथवा वह कथा कैसी है? इन सब बातोंको मैं विस्तारके साथ कहती हूँ। वह सब विषय मेरी स्मृतिमें अनुभव कियेके समान स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है॥१२५॥

हे कमलनयने, इसी मध्यलोकमें एक धातकीखण्ड नामका महाद्वीप है जो अपनी शोभासे स्वर्गभूमिको तिरस्कृत करता है। इस द्वीपके पूर्व मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर स्थित विदेह क्षेत्रमें एक गन्धिला नामका देश है जो कि अपनी शोभासे देवकुरु और उत्तरकुरुको भी जीत सकता है। उस देशमें एक पाटली नामका ग्राम है उसमें नागदत्त नामका एक वैश्य रहता था। उसकी स्त्रीका नाम सुमति था और उन दोनोंके क्रमसे नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन और जयसेन ये पाँच पुत्र तथा मदनकान्ता और श्रीकान्ता नामकी दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। पूर्वभवमें मैं इन्हींके घर निर्नामा नामकी सबसे छोटी पुत्री हुई थी॥१२६-१३०॥ किसी दिन मैंने चारणचरित नामक मनोहर वनमें अम्बरतिलक पर्वतपर विराजमान अवधिज्ञानसे सहित तथा अनेक ऋद्धियोंसे भूपित पिहितास्रव नामक मुनिराजके दर्शन किये। दर्शन और नमस्कार कर मैंने उनसे पूछा कि हे भगवन्, मैं किस कर्मसे इस दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई हूँ। हे प्रभो, कृपा कर इसका कारण कहिए और मुझ दीन तथा अतिशय उद्विग्न स्त्री-जनपर अनुग्रह कीजिए॥१३१-१३३॥ इस प्रकार पूछे जानेपर वे मुनिराज मधुर वाणीसे कहने लगे कि हे पुत्रि, पूर्वभवमें तू अपने कर्मोदयसे इसी देशके पलालपर्वत नामक ग्राममें देविलग्राम नामक

---

१. लज्जाधीनम् । २. अपरम् । ३. मदनकान्ता श्रीकान्तेत्यर्थः । ४. चारणचरिते । ५. भो भगवन्नित्यभिमुखीकृत्य । ६. दारिद्र्य । ७ उद्वेगवतीम् । ८. अनाथाम् । ९. पूर्वजन्मनि । 'प्रेत्यामुत्र भवान्तरे' ।

पलालपर्वतग्रामे देविलग्रामकूटकात् । सुमतेरुदरे पुत्री धनश्रीरिति विश्रुता ॥१३५॥
अन्येद्युश्च त्वमज्ञानाद् शुनः पूतिकलेवरम् । मुनेः समाधिगुप्तस्य पठतोऽन्ते न्यधा[1] मुदा ॥१३६॥
मुनिस्तदवलोक्यासौ त्वामित्यन्वशिषत्तदा । त्वयेदं बालिके कर्म [2]विरूपकमनुष्ठितम् ॥१३७॥
फलिष्यति विपाके ते दुरन्तं कटुकं फलम् । दहत्यधिकमन्यस्मिन् [3]माननीयविमानता ॥१३८॥
इति ब्रुवन्तमभ्येत्य क्षमामग्राहयस्तदा[4] । भगवन्निदमज्ञानात् क्षमस्व कृतमित्यरम्[5] ॥१३९॥
तेनोपशमभावेन जाताल्पं पुण्यमाश्रिता । मनुष्यजन्मनीहाद्य कुले [6]परमदुर्गते ॥१४०॥
[7]तत. [8]कल्याणि [9]कल्याणं गृहाणोपोषितं[10] व्रतम् । [11]जिनेन्द्रगुणसंपत्तिं श्रुतज्ञानमपि [12]क्रमात् ॥१४१॥
कृतानां कर्मणामार्ये सहसा [13]परिपाचनम् । तपोऽनशनमाम्नातं[14] विधियुक्तमुपोषितम् ॥१४२॥
तीर्थकृत्त्वस्य पुण्यस्य कारणानीह[15] षोडश । कल्याणान्यत्र पञ्चैव प्रातिहार्याष्टकं तथा ॥१४३॥
[16]अतिशेषाश्चतुस्त्रिंशदिमानुद्दिश्य सद्गुणान् । या साऽनुष्ठीयते भव्यैः संपज्जिनगुणादिका ॥१४४॥
उपवासदिनान्यत्र[17] त्रिषष्टिर्मुनिभिर्मता । श्रुतज्ञानोपवासस्य स्वरूपमधुनोच्यते ॥१४५॥
[18]अष्टाविंशतिमप्येकादश द्वौ च यथाक्रमम् । अष्टाशीतिमथैकं च चतुर्दश च [19]पञ्च च ॥१४६॥

पटेलकी सुमति स्त्रीके उदरसे धनश्री नामसे प्रसिद्ध पुत्री हुई थी ॥१३४-१३५॥ किसी दिन तूने पाठ करते हुए समाधिगुप्त मुनिराजके समीप मरे हुए कुत्तेका दुर्गन्धित कलेवर डाला था और अपने इस अज्ञानपूर्ण कार्यसे खुश भी हुई थी। यह देखकर मुनिराजने उस समय तुझे उपदेश दिया था कि बालिके, तूने यह बहुत ही विरुद्ध कार्य किया है, भविष्यमें उदयके समय यह तुझे दुःखदायी और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्य पुरुषोंका किया हुआ अपमान अन्य पर्यायमें अधिक सन्ताप देता है ॥१३६-१३८॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर धनश्रीने उसी समय उनके सामने जाकर अपना अपराध क्षमा कराया और कहा कि हे भगवन्, मैंने यह कार्य अज्ञानवश ही किया है इसलिए क्षमा कर दीजिए ॥१३९॥ उस उपशम भावसे-क्षमा माँग लेनेसे तुझे कुछ थोड़ा-सा पुण्य प्राप्त हुआ था उसीसे तू इस समय मनुष्ययोनिमें इस अतिशय दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुई है ॥१४०॥ इसलिए हे कल्याणि, कल्याण करनेवाले जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान इन दो उपवास व्रतोंको क्रमसे ग्रहण करो ॥१४१॥ हे आर्ये, विधिपूर्वक किया गया यह अनशन तप, किये हुए कर्मोंको बहुत शीघ्र नष्ट करनेवाला माना गया है ॥१४२॥ तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके कारणभूत सोलह भावनाएँ, पाँच कल्याणक, आठ प्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय इन तिरसठ गुणोंको उद्देश्य कर जो उपवास व्रत किया जाता है उसे जिनेन्द्रगुण-सम्पत्ति कहते हैं। भावार्थ-इस व्रतमें जिनेन्द्र भगवान्के तिरसठ गुणोंको लक्ष्य कर तिरसठ उपवास किये जाते हैं जिनकी व्यवस्था इस प्रकार है-सोलह कारण भावनाओंकी सोलह प्रतिपदा, पंच कल्याणकोंकी पाँच पंचमी, आठ प्रातिहार्योंकी आठ अष्टमी और चौंतीस अतिशयोंकी बीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी इस प्रकार तिरसठ उपवास होते हैं॥१४३-१४४॥ पूर्वोक्त प्रकारसे जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति नामक व्रतमें तिरसठ उपवास करना चाहिए ऐसा गणधरादि मुनियोंने कहा है। अब इस समय श्रुतज्ञान नामक उपवास व्रतका स्वरूप कहा जाता है ॥१४५॥ अट्ठाईस, ग्यारह,

---

१. न्यधान्मुदा । २. निकृष्टम् । ३ पूज्यावज्ञा । ४ --ग्राहयत् तदा अ०, स० ।--मभ्येत्याक्षमयस्त्वममुं तदा प० । ५. क्षिप्रम् । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । ६. उत्कृष्टदरिद्रे । ७ तदनन्तरम् । ८. हे पुण्यवति । ९. शुभम् । १० व्रतम् । ११ एतद्द्वयनामकम् । १२ क्रममनतिक्रम्य । गृहाणेति यावत् । १३. परिपाचयतीति परिपाचनम् । १४. कथितम् । १५ उपोषितव्रते । १६ अतिशयाश्चतु --अ०, प०, स० । अतिशयाश्च--ल० । अतिशया । १७. जिनगुणसंपत्तौ । १८. मतिज्ञानम् अष्टविंशतिप्रकारम् । एकादश इति एकादशाङ्गानि इत्यर्थः । परिकर्म च द्विप्रकारमित्यर्थ. । सूत्रमष्टाशीतिप्रकारमित्यर्थ । आद्यनुयोगम् एकप्रकारमिति यावत् । चतुर्दश पूर्वाणि इत्यर्थ. । चूलिकाश्च पञ्चप्रकारा इत्यर्थ. । मन पर्ययश्च द्विप्रकार इत्यर्थ. । केवलज्ञानम् एकप्रकारमिति यावत् । १९. पञ्चकम् प०, द०, ल० ।

विद्धि षड्द्व्येकसंख्यां च[1] मत्यादिज्ञानपर्ययात्[2] । नामोद्देशक्रमश्चैषां ज्ञानानामित्यनुस्मृतः ॥१४७॥
मतिज्ञानमथैकादशाङ्गानि परिकर्म च । सूत्रमाद्यनुयोगं च पूर्वाण्यपि च चूलिकाम् ॥१४८॥
अवधिं च मनःपर्ययाख्यं केवलमेव च । ज्ञानभेदान् प्रतीत्येमान् श्रुतज्ञानमुपोष्यते ॥१४९॥
दिनानां शतमत्रेष्टमष्टापञ्चाशताधिकम् । [3]विद्धि [4]त्वमेतावालम्ब्य तपोऽनशनमाचर ॥१५०॥
उशन्ति ज्ञानसाम्राज्यं विध्योः फलमथैनयोः । स्वर्गाद्यपि फलं प्राहुरेनयोरनुषङ्गजम्[5][6] ॥१५१॥
मुनयः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः[7] क्षमाः । [8]अतिक्रान्तिरतस्तेषां लोकद्वयविरोधिनी ॥१५२॥
वाचानिलङ्घनं वाचं निरुणद्धि भवे परे । मनसोल्लङ्घनं चापि स्मृतिमाहन्ति मानसीम् ॥१५३॥
[9]कायेनातिक्रमस्तेषां कायार्तीः साधयेत्तराम् । तस्मात्तपोधनेन्द्राणां कार्यो नातिक्रमो बुधैः ॥१५४॥
क्षमाधनानां क्रोधाग्निं जनाः संधुक्षयन्ति ये । क्षमाभस्मप्रतिच्छन्नं दुर्वचो विस्फुलिङ्गकम् ॥१५५॥
संमोहकाष्ठजनितं[10] प्रातीप्य[11]पवनेरितम् । किं तैर्न नाशितं मुग्धे हितं लोकद्वयाश्रितम् ॥१५६॥
इत्थं मुनिवचः पथ्यमनुमन्य यथाविधि । उपोष्य तद्द्वयं स्वायुरन्ते स्वर्गमयासिषम् ॥१५७॥
ललिताङ्गस्य तत्रासं कान्तादेवी स्वयंप्रभा । सार्द्धं सपर्ययागत्य ततो गुरुमपूजयम् ॥१५८॥
कल्पेऽनल्पर्द्धिरैशाने श्रीप्रभाधिपसंयुता । भोगान्[12] भुक्त्वात्र जातेति कथापर्यवसानकम् ॥१५९॥

दो, अठासी, एक, चौदह, पाँच, छह, दो और एक इस प्रकार मतिज्ञान आदि भेदोंकी एक सौ अठावन संख्या होती है। उनका नामानुसार क्रम इस प्रकार है कि मतिज्ञानके अट्ठाईस, अंगोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अट्ठासी, अनुयोगका एक, पूर्वके चौदह, चूलिकाके पाँच, अवधिज्ञानके छह, मनःपर्ययज्ञानके दो और केवलज्ञानका एक–इस प्रकार ज्ञानके इन एक सौ अट्ठावन भेदोंकी प्रतीतिकर जो एक सौ अट्ठावन दिनका उपवास किया जाता है उसे श्रुतज्ञान उपवास व्रत कहते हैं। हे पुत्रि, तू भी विधिपूर्वक ऊपर कहे हुए दोनों अनशन व्रतोंको आचरण कर ॥१४६-१५०॥ हे पुत्रि, इन दोनों व्रतोंका मुख्य फल केवलज्ञानकी प्राप्ति और गौण फल स्वर्गादिकी प्राप्ति है ॥१५१॥ हे कल्याणि, देख, मुनि शाप देने तथा अनुग्रह करने–दोनोंमें समर्थ होते हैं, इसलिए उनका अपमान करना दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाला है ॥१५२॥ जो पुरुष वचनद्वारा मुनियोंका उल्लंघन–अनादर करते हैं वे दूसरे भवमें गूँगे होते हैं। जो मनसे निरादर करते हैं उनकी मनसे सम्बन्ध रखनेवाली स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जो शरीरसे तिरस्कार करते हैं उन्हें ऐसे कौन-से दुःख हैं जो प्राप्त नहीं होते हैं? इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको तपस्वी मुनियोंका कभी अनादर नहीं करना चाहिए। हे मुग्धे, जो मनुष्य, क्षमारूपी धनको धारण करनेवाले मुनियोंकी, मोहरूपी काष्ठसे उत्पन्न हुई, विरोधरूपी वायुसे प्रेरित हुई, दुर्वचनरूपी तिलगोंसे भरी हुई और क्षमारूपी भस्मसे ढकी हुई क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करते हैं उनके द्वारा, दोनों लोकोंमें होनेवाला अपना कौन-सा हित नष्ट नहीं किया जाता? ॥१५३-१५६॥ इस प्रकार मैं मुनिराजके हितकारी वचन मानकर और जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति तथा श्रुतज्ञान नामक दोनों व्रतोंके विधिपूर्वक उपवास कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गयी ॥१५७॥ वहाँ ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा नामकी मनोहर महादेवी हुई और वहाँसे ललितांगदेवके साथ मध्यलोकमें आकर मैंने व्रत देनेवाले पिहितास्रव गुरुकी पूजा की ॥१५८॥ बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाली मैंने उस ऐशान स्वर्गमें श्रीप्रभविमानके अधिपति ललितांग-

१. संख्याश्च अ०, प०, स०, द०, ल० । २. पर्ययान् अ०, प०, स०, द०, ल० । ३. विधी द०, अ०, द०, म०, प०, ल०, ट० । ४. विधी । ५. -योरनुपङ्गजम् अ०, प०, द०, म०, ल०, ट० । ६. आनुपङ्गिकम् । ७ समर्थाः । ८. अतिक्रमणम् । ९ कायेनातिक्रमे तेषा कार्तिः का या न ढौकते । अ०, प०, स०, द० । कायेनातिक्रमस्तेषा कायार्ति साधयेत्तराम् म० १०. प्रतीप–अ०, स०, द० । ११. प्रातिकूल्यमेव वायुः । १२. भुक्त्वा तु ।

ललिताङ्गच्युतौ तस्मात् षण्मासान् जिनपूजनम्। कृत्वा प्रच्युत्य संभूतिमिहालप्सि तनूदरि ॥१६०॥
तमिदानीमनुस्मृत्य तदन्वेषणसंविधौ। यतेऽहं[1] प्रयता तेन[2] वाचंयमविधिं श्रये ॥१६१॥
उत्कीर्ण इव देवोऽसौ पश्याद्यापि मनो मम। अधितिष्ठति[3] दिव्येन रूपेणानङ्गतां[4] गतः ॥१६२॥
ललिताङ्गवपुः सौम्यं ललितं[5] ललितानने। [6]सहजाताम्बरस्रग्वि स्फुरदाभरणोज्ज्वलम् ॥१६३॥
पश्यामीव सुखस्पर्शं तत्करस्पर्शलालितौ[7]। [8]तदलाभे च मद्गात्रं क्षामतां[9] नैतदुज्झति ॥१६४॥
इमेऽश्रुबिन्दवोऽजस्रं निर्यान्ति मम लोचनात्। मद्दुःखमक्षमा द्रष्टुं तमन्वेष्टुमिवोद्यताः ॥१६५॥
इत्युक्त्वा पुनरप्येवमवादीत् श्रीमती सखीम्। शक्ता त्वमेव नान्यास्ति मत्प्रियान्वेषणं प्रति ॥१६६॥
त्वयि सत्यां सरोजाक्षि कुतोऽद्य स्यान्ममासुखम्। नलिन्याः किमु दौःस्थित्यं तपत्यां तपनद्युतौ ॥१६७॥
सत्यं त्वं पण्डिता कार्यघटनास्वतिपण्डिता। तन्ममैतस्य कार्यस्य संसिद्धिस्त्वयि[10] तिष्ठते ॥१६८॥
ततो रक्ष मम प्राणान् प्राणेशस्य गवेषणात्। स्त्रीणां विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलम्बनम् ॥१६९॥
[11]तदुपायं च तेऽद्याहं ब्रुवे[12] प्रस्तुतसिद्धये। मया विलिखितं पूर्वभवसंबन्धिपट्टकम् ॥१७०॥

देवके साथ अनेक भोग भोगे तथा वहाँसे च्युत होकर यहाँ वज्रदन्त चक्रवर्तीके श्रीमती नामकी पुत्री हुई हूँ। हे सखि, यहाँतक ही मेरी पूर्वभवकी कथा है ॥१५९॥ हे कृशोदरि, ललितांगदेवके स्वर्गसे च्युत होनेपर मैं छह महीने तक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करती रही फिर वहाँसे चलकर यहाँ उत्पन्न हुई हूँ ॥१६०॥ मैं इस समय उसीका स्मरण कर उसके अन्वेषणके लिए प्रयत्न कर रही हूँ और इसीलिए मैंने मौन धारण किया है ॥१६१॥ हे सखि, देख, यह ललितांग अब भी मेरे मनमें निवास कर रहा है। ऐसा मालूम होता है मानो किसीने टाँकी-द्वारा उकेरकर सदाके लिए मेरे मनमें स्थिर कर दिया हो। यद्यपि आज उसका वह दिव्य-वैक्रियिक शरीर नहीं है तथापि वह अपनी दिव्य शक्तिसे अनंगता (शरीरका अभाव और कामदेवपना) धारण कर मेरे मनमे अधिष्ठित है ॥१६२॥ हे सुमुखि, जो अतिशय सौम्य है, सुन्दर है, साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा माला आदिसे सहित है, प्रकाशमान आभरणोंसे उज्ज्वल है और सुखकर स्पर्शसे सहित है ऐसे ललितांगदेवके शरीरको मैं सामने देख रही हूँ, उसके हाथके स्पर्शसे लालित सुखद स्पर्शको भी देख रही हूँ परन्तु उसकी प्राप्तिके बिना मेरा यह शरीर कृशताको नहीं छोड़ रहा है ॥१६३-१६४॥ ये अश्रुबिन्दु निरन्तर मेरे नेत्रोंसे निकल रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है कि ये हमारा दुःख देखनेके लिए असमर्थ होकर उस ललितांगको खोजनेके लिए ही मानो उद्यत हुए हैं ॥१६५॥ इतना कहकर वह श्रीमती फिर भी पण्डिता सखीसे कहने लगी कि हे प्रिय सखि, तू ही मेरे पतिको खोजनेके लिए समर्थ है। तेरे सिवाय और कोई यह कार्य नहीं कर सकता ॥१६६॥ हे कमलनयने, आज तेरे रहते हुए मुझे दुःख कैसे हो सकता है ? सूर्यकी प्रभाके देदीप्यमान रहते हुए भी क्या कमलिनीको दुःख होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥१६७॥ हे सखि, तू समस्त कार्योंके करनेमें अतिशय निपुण है अतएव तू सचमुचमें पण्डिता है—तेरा पण्डिता नाम सार्थक है। इसलिए मेरे इस कार्यकी सिद्धि तुझपर ही अवलम्बित है ॥१६८॥ हे सखि, मेरे प्राणपति ललितांगको खोजकर मेरे प्राणोंकी रक्षा कर क्योंकि स्त्रियोंकी विपत्ति दूर करनेके लिए स्त्रियाँ ही अवलम्बन होती हैं ॥१६९॥ इस कार्यकी सिद्धिके लिए मैं आज

---

१ पवित्रा। २. मौनम्। ३ दैवेन म० ल०। ४ अशरीरत्वम्। ५ नलिनानने अ०, व०, स०, ल०, म०। ल०, व०, पुस्तकयोः 'ललितानने' 'नलिनानने' इत्युभयथा पाठोऽस्ति। ६. सहजाताम्बरस्रग्वी म०, ल०। ७ लालितम् प०, ल०। ८ ललिताङ्गस्यालाभे। ९. कृशत्वम्। १० स्थेयप्रकाशनेति सूत्रात् प्रतिज्ञानिर्णयप्रकाशनेषु आत्मनेपदी। तिष्ठति स०। ११. गवेषणोपायम। १२. प्रकृत।

क्वचित् किंचिन्निगूढान्तःप्रकृतं चित्तरञ्जनम् । तदमूजादाय धूर्त्तानां मनःसंमोहकारणम् ॥१७१॥
[1]पतिम्रुवाश्च ये मिथ्या [2]वैयात्योद्धतबुद्धयः । तान् स्मितांशुपटच्छन्नान् कुरु गूढार्थसङ्कटे ॥१७२॥
इत्युक्त्वा पण्डितावोचत् तच्चित्ताश्वासनं वचः । स्मितांशु[3]मञ्जरीपुञ्जैः [4]किरतीवोद्[5]गमाञ्जलिम् ॥१७३॥
मयि सत्यां मनस्तापो मा भूत् ते कलभाषिणि । लसत्यां चूतमञ्जर्यां कोकिलाया कुतोऽसुखम् ॥१७४॥
कवेर्धीरिव सुश्लिष्टमर्थं ते मृगये पतिम् । सखि लक्ष्मीरिवोद्योगशालिनं पुरुषं [6]परम् ॥१७५॥
घटयिष्यामि ते कार्यं पटुधीरहमुद्यता । दुर्घटं नास्ति मे किंचित् [7]प्रतीहीह जगत्त्रये ॥१७६॥
नानाभरणविन्यासमतो धारय सुन्दरि । [8]वसन्तलतिकेवोद्यत्प्रवा[9]लाङ्कुरसंकुलम् ॥१७७॥
तदत्र संशयो नैव [10]कार्यः कार्यस्य साधने । [11]श्रीमतीप्रार्थितार्थानां ननु सिद्धिरसंशयम् ॥१७८॥
इत्युक्त्वा पण्डिताश्वास्य तां तदर्पितपट्टकम् । गृहीत्वागमदाश्वेव महापूतजिनालयम् ॥१७९॥
यः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरैः । पातालादुत्फणस्तोषात् [12]किमप्युद्यन्निवाहिराट् ॥१८०॥
वर्णसाङ्कर्यसंभूत[13]चित्रकर्मान्विता अपि । यद्भित्तयो जगच्चित्तहारिण्यो गणिका इव ॥१८१॥

तुझसे एक उपाय बताती हूँ। वह यह है कि मैंने पूर्वभवसम्बन्धी चरित्रको बतानेवाला एक चित्रपट बनाया है ॥ १७० ॥ उसमें कहीं-कहीं चित्त प्रसन्न करनेवाले गूढ विषय भी लिखे गये है । इसके सिवाय वह धूर्त मनुष्योंके मनको भ्रान्तिमें डालनेवाला है । हे सखि, तू इसे लेकर जा ॥१७१॥ धृष्टताके कारण उद्धत बुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष झूठमूठ ही यदि अपने-आपको पति कहें—मेरा पति बनना चाहें उन्हें गूढ विषयोंके संकटमें हास्यकिरणरूपी वस्त्रसे आच्छादित करना अर्थात् चित्रपट देखकर झूठमूठ ही हमारा पति बनना चाहें उनसे तू गूढ़ विषय पूछना जब वे उत्तर न दे सके तो अपने मन्द हास्यसे उन्हें लज्जित करना ॥१७२॥ इस प्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषत् हास्यकी किरणोंके बहाने पुष्पांजलि बिखेरती हुई पण्डिता सखी, उसके चित्तको आश्वासन देनेवाले वचन कहने लगी ॥१७३॥ हे मधुरभाषिणि, मेरे रहते हुए तेरे चित्तको सन्ताप नहीं हो सकता क्योंकि आम्रमंजरीके रहते हुए कोयलको दुःख कैसे हो सकता है ? ॥१७४॥ हे सखि, जिस प्रकार कविकी बुद्धि सुश्लिष्ट-अनेक भावोंको सूचित करनेवाले उत्तम अर्थको और लक्ष्मी जिस प्रकार उद्योगशाली मनुष्यको खोज लाती है उसी प्रकार मै भी तेरे पतिको खोज लाती हूँ ॥१७५॥ हे सखि, मै चतुर बुद्धिकी धारक हूँ तथा कार्य करनेमें हमेशा उद्यत रहती हूँ इसलिए तेरा यह कार्य अवश्य सिद्ध कर दूँगी। तू यह निश्चित जान कि मुझे इन तीनों लोकोंमें कोई भी कार्य कठिन नहीं है ॥१७६॥ इसलिए हे सुन्दरि, जिस प्रकार माधवी लता प्रकट होते हुए प्रवालों और अंकुरोंके समूहको धारण करती है उसी प्रकार अब तू अनेक प्रकारके आभरणोंके विन्यासको धारण कर ॥१७७॥ इस कार्यकी सिद्धिमें तुझे संशय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीमतीके द्वारा चाहे हुए पदार्थोंकी सिद्धि निःसन्देह ही होती है ॥१७८॥ वह पण्डिता इस प्रकार कहकर तथा उस श्रीमतीको समझाकर उसके द्वारा दिये हुए चित्रपटको लेकर शीघ्र ही महापूत नामक अथवा अत्यन्त पवित्र जिनमन्दिर गयी ॥१७९॥ वह जिनमन्दिर रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान अपने ऊँचे उठे हुए शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो फण ऊँचा किये हुए शेषनाग ही सन्तुष्ट होकर पाताललोकसे निकला हो ॥१८०॥ उस मन्दिरकी दीवालें ठीक वेश्याओंके समान थीं क्योंकि जिस प्रकार वेश्याएँ वर्णसंकरता (ब्राह्मणादि वर्णोंके साथ व्यभिचार)से उत्पन्न हुई तथा अनेक आश्चर्यकारी कार्योंसे सहित

---

१. आत्मानं पतिं ब्रुवते इति पतिम्रुवाः । २. धार्ष्ट्यम् । ३. पुष्पस्तवकैः । ४. किरन्ती अ०, स०, द०, ल० । ५. पुष्पम् । ६. उत्कृष्टम् । ७. जानीहि । ८ वसन्ततिलकेवोद्यत् ल० । माधवीलता । ९ नवपल्लव. । १० कर्तव्य. । ११. श्रीरस्यास्तीति श्रीमती तया वाञ्छितपदार्थानाम । १२ येन केनापि प्रकारेण । १३. [आलेख्य कर्म] पक्षे नानाप्रकारपापकर्म ।

[1]दिवामन्यां निशां हर्तुं क्षमैर्मणिविचित्रितैः । तुङ्गैः शृङ्गैः स यो भाति [2]दिवमुन्मीलयन्[3]निव ॥१८२॥
पठद्भिरनिशं साधुवृन्दैरामन्द्रनिःस्वनम् । [4]प्रजल्पन्निव यो भव्यै[5]र्व्यभाव्यत समागतैः ॥१८३॥
यस्य कूटाग्रसंसक्ताः केतवोऽनिलघट्टिताः । त्रिदिवं वन्दनाभक्त्यै [6]व्याह्वयन्त इवामरान् ॥१८४॥
[7]यद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्चकासिरे । स्वर्गस्योपायनीकर्तुं [8]निर्मिमाणा [9]घनानिव ॥१८५॥
यस्य कूटतटालग्नाः तारास्तरलरोचिषः । पुष्पोपहारसंमोहं[10] तन्वन्ति[11] नभोजुषाम् ॥१८६॥
[12]सद्वृत्तसंगतो [13]श्चित्रसंदर्भरुचिराकृतिः । यः सु[14]शब्दो महान्मह्याम्[15] काव्यबन्ध इवाबभौ ॥१८७॥
सपताको रणद्घण्टो यो दृढस्तम्भसंभृतः[16] । व्यभाद् गम्भीरनिर्घोषैः सबृंहित इवेभराट् ॥१८८॥
पठतां पुण्यनिर्घोषैः वन्दारूणां च निःस्वनैः । यः संदधावकालेऽपि मदारम्भं शिखण्डिषु ॥१८९॥
यस्तुङ्गशिखरः शश्वच्चारणैः[17] कृतसंस्तवः[18] । [19]विद्याधरैः समासेव्यो मन्दराद्रिरिवाद्युतत् ॥१९०॥

होकर जगत्के कामी पुरुषोंका चित्त हरण करती हैं उसी प्रकार वे दीवालें भी वर्ण-संकरता (काले पीले नीले लाल आदि रंगोंके मेल)से बने हुए अनेक चित्रोंसे सहित होकर जगत्के सब जीवोंका चित्त हरण करती थीं ॥१८१॥ रातको भी दिन बनानेमें समर्थ और मणियोंसे चित्र-विचित्र रहनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे वह मन्दिर ऐसा मालूम होता था मानो स्वर्गका उन्मीलन ही कर रहा है—स्वर्गको भी प्रकाशित कर रहा हो ॥१८२॥ उस मन्दिरमें निरन्तर अनेक मुनियोंके समूह गम्भीर शब्दोंसे स्तोत्रादिकका पाठ करते रहते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आये हुए भव्य जीवोंके साथ सम्भाषण ही कर रहा हो ॥१८३॥ उसकी शिखरोंके अग्रभागपर लगी हुई तथा वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो वन्दना भक्ति आदिके लिए देवोंको ही बुला रही हों ॥१८४॥ उस मन्दिरके झरोखोंसे निकलते हुए धूपके धूम ऐसे मालूम होते थे मानो स्वर्गको भेंट देनेके लिए नवीन मेघोंको ही बना रहे हों ॥१८५॥ उस मन्दिरके शिखरोंके चारों ओर जो चंचल किरणोंके धारक तारागण चमक रहे थे वे ऊपर आकाशमें स्थित रहनेवाले देवोंको पुष्पोपहारकी भ्रान्ति उत्पन्न किया करते थे अर्थात् देव लोग यह समझते थे कि कहीं शिखरपर किसीने फूलोंका उपहार तो नहीं चढ़ाया है ॥१८६॥ वह चैत्यालय सद्वृत्तसंगत—सम्यक्चारित्रके धारक मुनियोंसे सहित था, अनेक चित्रोंके समूहसे शोभायमान था, और स्तोत्रपाठ आदिके शब्दोंसे सहित था इसलिए किसी महाकाव्य-के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि महाकाव्य भी, सद्वृत्त—वसन्ततिलका आदि सुन्दर-सुन्दर छन्दोंसे सहित होता है, मुरज कमल छत्र हार आदि चित्रश्लोकोंसे मनोहर होता है और उत्तम-उत्तम शब्दोंसे सहित होता है ॥१८७॥ उस चैत्यालयपर पताकाएँ फहरा रही थीं, भीतर बजते हुए घण्टे लटक रहे थे, स्तोत्र आदिके पढ़नेसे गम्भीर शब्द हो रहा था, और स्वयं अनेक मजबूत खम्भोंसे स्थिर था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कोई बड़ा हाथी ही हो क्योंकि हाथीपर भी पताका फहराती है, उसके गलेमें मनोहर शब्द करता हुआ घण्टा बँधा रहता है। वह स्वयं गम्भीर गर्जनाके शब्दसे सहित होता है तथा मजबूत खम्भोंसे बँधा रहनेके कारण स्थिर होता है ॥१८८॥ वह चैत्यालय पाठ करनेवाले मनुष्योंके पवित्र शब्दों तथा वन्दना करनेवाले मनुष्योंकी जय जय ध्वनिसे असमयमें ही मयूरोंको मदोन्मत्त बना देता था अर्थात् मन्दिरमें होनेवाले शब्दको मेघका शब्द समझकर मयूर वर्षाके बिना ही मदोन्मत्त हो जाते

१. आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामन्या ताम् । २. स्वर्गम् । ३. पश्यन्निव । ४. संभाषण कुर्वन् । ५. भव्यैः सह । ६ वाह्वयन्त अ०,स० । ७. तद्वाता—ल० । ८. निर्मिमीत इति निर्मिमाणा । ९ घना इव ल० । १० सभ्रान्तिम् । ११. मातन्वन्ति नभोजुषाम् द० । १२. सच्चारित्रवद्भव्यजनसहितः, पक्षे समीचीनवृत्तजाति-सहितः । १३. चित्रपुत्रिकासन्दर्भ , पक्षे चित्रार्थसन्दर्भरचना । १४. सुशब्दो । १५. भूमौ । १६ सम्यग् वृतः । १७. कुशीलवैः पक्षे चारणमुनिभिः । १८. पक्षे परिचयः । १९. शब्दागमपरमागमादिविद्याधरैः खचरैश्च ।

तत्र पट्टकशालायां पण्डिता कृतवन्दना । प्रसार्य पट्टकं तस्थौ [1]परिचिक्षिपुरागतान् ॥१९१॥
[2]प्रैक्षन्त केचिदागत्य सावधानं महाधियः । केचित् किमेतदित्युच्चैः जजल्पुर्वीक्ष्य पट्टकम् ॥१९२॥
तेषां समुचितैर्वाक्यैर्ददती पण्डितोत्तरम् । तत्रास्ते स्म स्मितोद्योतैः किरन्ती [3]पण्डितायितान् ॥१९३॥
अथ दिग्विजयाच्चक्री न्यवृतत् कृतदिग्जयः । प्रणतीकृतनिःशेषनरविद्याधरामरः ॥१९४॥
ततोऽभिषेकं द्वात्रिंशत्सहस्रधरणीश्वरैः [4] । चक्रवर्ती परं प्रापत् पुण्यैः किं नु न लभ्यते ॥१९५॥
स च ते च समाकाराः कराङ्घ्रिवदनादिभिः । तथापि तैः समभ्यर्च्यः सोऽभूत् पुण्यानुभावतः ॥१९६॥
अनीदृशवपुश्चन्द्रसौम्यास्यः कमलेक्षणः । पुण्येन स बभौ सर्वानतिशय्य नरामरान् ॥१९७॥
शङ्खचक्राङ्कुशादीनि [5]लक्षणान्यस्य पादयोः । बभुरालिखितानीव लक्ष्म्या लक्ष्माणि चक्रिणः ॥१९८॥
अमोघशासने तस्मिन् भुवं शासति भूभुजि । न [6]दण्ड्यपक्षः कोऽप्यासीत् प्रजानामकृतागसाम् ॥१९९॥
स बिभ्रद् वक्षसा लक्ष्मीं वक्त्राब्जेन च वाग्वधूम् । [7]प्रणाय्यामिव लोकान्तं प्राहिणोत् कीर्तिमेकिकाम् ॥२००॥

थे ॥१८९॥ वह चैत्यालय अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सहित था, अनेक चारण (मागध स्तुतिपाठक) सब उसकी स्तुति किया करते थे और अनेक विद्याधर (परमागमके जाननेवाले) उसकी सेवा करते थे इसलिए ऐसा शोभायमान होता था मानो मेरु पर्वत ही हो क्योंकि मेरु पर्वत भी अत्यंन्त ऊँचे शिखरोंसे सहित है, अनेक चारण (ऋद्धिके धारक मुनिजन) उसकी स्तुति करते रहते हैं तथा अनेक विद्याधर उसकी सेवा करते है ॥१९०॥ इत्यादि वर्णन-युक्त उस चैत्यालयमें जाकर पण्डिता धायने पहले जिनेन्द्र देवकी वन्दना की फिर वह वहाँकी चित्रशालामे अपना चित्रपट फैलाकर आये हुए लोगोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे बैठ गयी ॥१९१॥ विशाल बुद्धिके धारक कितने ही पुरुष आकर बड़ी सावधानीसे उस चित्रपटको देखने लगे और कितने ही उसे देखकर यह क्या है ? इस प्रकार जोरसे बोलने लगे ॥१९२॥ वह पण्डिता समुचित वाक्योंसे उन सबका उत्तर देती हुई और पण्डिताभास–मूर्ख लोगोंपर मन्द हास्यका प्रकाश डालती हुई गम्भीर भावसे वहाँ बैठी थी ॥१९३॥

अनन्तर जिसने समस्त दिशाओंको जीत लिया है और जिसे समस्त मनुष्य विद्याधर और देव नमस्कार करते हैं ऐसा वज्रदन्त चक्रवर्ती दिग्विजयसे वापस लौटा ॥१९४॥ उस समय चक्रवर्तीने बत्तीस हजार राजाओं-द्वारा किये हुए राज्याभिषेकमहोत्सवको प्राप्त किया था सो ठीक ही है, पुण्यसे क्या-क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥१९५॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती और वे बत्तीस हजार राजा हाथ, पाँव, मुख आदि अवयवोंसे समान आकारके धारक थे तथापि वह चक्रवर्ती अपने पुण्यके माहात्म्यसे उन सबके द्वारा पूज्य हुआ था ॥१९६॥ इसका शरीर अनुपम था, मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था, और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। पुण्यके उदयसे वह समस्त मनुष्य और देवोंसे बढकर शोभायमान हो रहा था ॥१९७॥ इसके दोनों पाँवोमें जो शंख, चक्र, अंकुश आदिके चिह्न शोभायमान थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीने ही चक्रवर्तीके ये सब लक्षण लिखे हैं ॥१९८॥ अव्यर्थ आज्ञाके धारक महाराज वज्रदन्त जब पृथ्वीका शासन करते थे तब कोई भी प्रजा अपराध नहीं करती थी इसलिए कोई भी पुरुष दण्डका भागी नहीं होता था ॥१९९॥ वह चक्रवर्ती वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको और मुखकमलमें सरस्वतीको धारण करता था परन्तु अत्यन्त प्रिय कीर्तिको धारण करनेके लिए उसके पास कोई स्थान ही नहीं रहा इसलिए उसने अकेली कीर्तिको लोकके अन्त तक पहुँचा दिया था। अर्थात् लक्ष्मी और सरस्वती तो

१. परीक्षितुमिच्छुः । २. प्रेक्ष्यन्ते अ०, स० । प्रेक्ष्यन्त म०, ल० । ३. पण्डिता इवाचरितान् । ४. धरणीधरैः अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ५. चिह्नानि । ६. दण्डयितुं योग्यो दण्ड्य स चासौ पक्षश्च । ७ असम्मताम् । 'पाय्यवाय्यसान्नाय्यनिकाय्यप्रणाय्यानाय्यं मानहविर्निवासासम्मत्यनित्ये' इति सूत्रात् असम्मत्यर्थे ण्यणन्तनिपातनम् । प्राणाय्यमिव द०, ल० ।

सुधासूतिरिवोदंशुरंशुमानिव चोत्करः । स कान्तिं दीप्तिमप्युच्चैरधाद्व्यद्भुतोदयः ॥२०१॥
पुण्यकल्पतरोरुच्चैः फलानीव महान्त्यलम् । बभूवुस्तस्य रत्नानि चतुर्दश [1]विशां विभो ॥२०२॥
निधयो नव तस्यासन् पुण्यानामिव राशयः । यैरक्षयैरमुष्यासीद् गृहवार्ता[2] महोदया ॥२०३॥
षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीमिति संपालयन्नसौ । दशाङ्गभोगसंभूतिम्[3] अभुङ्क्त[4] सुकृती चिरम् ॥२०४॥

हरिणीच्छन्दः

इति कतिपयैरेवाहोभिः कृती कृतदिग्जयो जयपृतनया सार्धं चक्री निवृत्य पुरीं विशन् ।
सुरपृतनया[5] साकं शक्रो[6] विशन्नमरावतीमिव स रुरुचे भास्वन्मौलिर्ज्वलन्मणिकुण्डलः ॥२०५॥

मालिनी

विहितनिखिलकृत्योऽप्यात्मपुत्रीविवाहे[7] व्यतिकरकरणीये किंचिदन्तःसचिन्तः ।
पुरमविशदुदारश्रीपरार्ध्यं पुरुश्रीर्मृदुपवनविधूतप्रोल्लसत्केतुमालम् ॥२०६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

[8]क्षुन्दन्तो लवलीलतास्तटवने सिन्धोर्लवङ्गातते
तत्रासीनसुराङ्गनालसलसन्नेत्रैः शनैर्वीक्षिताः ।
आभेजुर्विजयार्द्ध[9]कन्दरदरीरामृज्य[10] सेनाचरा
यस्यासौ विजयी स्वपुण्यफलितां दीर्घं भुनक्ति स्म गाम्[11] ॥२०७॥

उसके समीप रहती थीं और कीर्ति समस्त लोकमें फैली हुई थी ॥२००॥ वह राजा चन्द्रमाके समान कान्तिमान् और सूर्यके समान उत्कर (तेजस्वी अथवा उत्कृष्ट टैक्स वसूल करनेवाला) था। आश्चर्यकारी उदयको धारण करनेवाला वह राजा कान्ति और तेज दोनोंको उत्कृष्ट रूपसे धारण करता था ॥२०१॥ पुण्यरूपी कल्पवृक्षके बड़े-बड़े फल इतने ही होते हैं यह बात सूचित करनेके लिए ही मानो उस चक्रवर्तीके चौदह महारत्न प्रकट हुए थे ॥२०२॥ उसके यहाँ पुण्य-की राशिके समान नौ अक्षय निधियाँ प्रकट हुई थीं, उन निधियोंसे उसका भण्डार हमेशा भरा रहता था ॥२०३॥ इस प्रकार वह पुण्यवान् चक्रवर्ती छह खण्डोंसे शोभित पृथिवीका पालन करता हुआ चिरकाल तक दस प्रकारके भोग* भोगता रहा ॥२०४॥ इस प्रकार देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान रत्नोंके कुण्डल धारण करनेवाला वह कार्यकुशल चक्रवर्ती कुछ ही दिनोंमें दिग्विजय कर लौटा और अपनी विजयसेनाके साथ राजधानीमें प्रविष्ट हुआ। उस समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि देदीप्यमान मुकुट और रत्न-कुण्डलोंको धारण करनेवाला कार्यकुशल इन्द्र अपनी देवसेनाके साथ अमरावतीमें प्रवेश करते समय शोभित होता है ॥२०५॥ समस्त कार्य कर चुकनेपर भी जिसके हृदयमें पुत्री-श्रीमतीके विवाहकी कुछ चिन्ता विद्यमान है, ऐसे उत्कृष्ट शोभाके धारक उस वज्रदन्त चक्रवर्तीने मन्द-मन्द वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम-उत्तम शोभासे श्रेष्ठ अपने नगरमें प्रवेश किया था ॥२०६॥ जिसकी सेनाके लोगोंने लवंगकी लताओंसे व्याप्त समुद्रतटके वनोंमें चन्दन लताओंका चूर्ण किया है, उन वनोंमें बैठी हुई देवांगनाओंने जिन्हें अपने आलस्य-भरे सुशोभित नेत्रोंसे धीरे-धीरे देखा है और जिन्होंने विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंको स्वच्छ कर उनमें आश्रय प्राप्त किया है ऐसा वह सर्वत्र विजय प्राप्त करनेवाला वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने

१ मनुजपते । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यभिधानात् । २ वृत्ति । ३ भोगाः "दिव्वपुर रमण णिहि चमुभायणभोयणा य सयण च । आसणवाहण णट्ट दसग इमे ताण ॥ [सरत्ना निधयो दिव्याः पुर शय्यासने चमू । नाट्य सभाजन भोज्य वाहन चेति तानि वै ॥] ४–सभुक्ता म०, ल० । ५ सह । ६. वज्रच्छरादीनामत्यनजिरादेरिति दीर्घ । ७ श्रीमतीविवाहसंबन्धकरणीये । ८ सञ्चूर्णयन्त. । ९. विजयार्द्धस्य कन्दरदर्यः गुहाः श्रेष्ठाः ता । १० आमृद्य द०, ट० । सञ्चूर्ण्य । ११ भूमिम् । *१ चौदह रत्न, २ नौ निधि, ३ सुन्दर स्त्रियाँ, ४ नगर, ५ आसन, ६ शय्या, ७ सेना, ८ भाजन, ९ पात्र और १० नाटयशाला ।

आक्रामन् वनवेदिकान्तरगतस्तां वैजयार्द्धीं तटी-
मुल्लङ्घ्याब्धिवधूं तरङ्गतरलां गङ्गां च सिन्धुं [1]धुनीम् ।
[2]जित्वाशाः कुलभूभृदुन्नतिमपि [3]न्यक्कृत्य चक्राङ्कितां
लेभेऽसौ जिनशासनार्पितमतिः श्रीवज्रदन्तः श्रियम् ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
ललिताङ्गस्वर्गच्यवनवर्णनं नाम षष्ठं पर्व ॥६॥

पुण्यके फलसे प्राप्त हुई पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा।।२०७।। दिग्विजयके समय जो समुद्रके समीप वनवेदिकाके मध्यभागको प्राप्त हुआ, जिसने विजयार्ध पर्वतके तटोंका उल्लंघन किया, जिसने तरंगोंसे चंचल समुद्रकी स्त्रीरूप गंगा और सिन्धु नदीको पार किया और हिमवत् कुलाचलकी ऊँचाईको तिरस्कृत किया—उसपर अपना अधिकार किया ऐसा वह जिनशासनका ज्ञाता वज्रदन्त चक्रवर्ती समस्त दिशाओंको जीतकर चक्रवर्तीकी पर्ण लक्ष्मीको प्राप्त हुआ ।।२०८।।

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण
महापुराणसंग्रहमें ललितांगदेवका स्वर्गसे च्युत होने आदिका
वर्णन करनेवाला छठा पर्व पूर्ण हुआ ।।६।।

---

१. नदीम् । २. जित्वाशा ल० । ३. अधःकृत्य ।

सप्तमं पर्व

अथाहूय सुतां चक्री तामित्यन्वशिषत् कृती । स्मितांशुसलिलैः सिञ्चन्निवैनामाधिबाधिताम् ॥१॥
पुत्रि मा स्म गमः शोकमुपसंहर मौनिताम् । जानामि त्वत्पतेः सर्वं वृत्तान्तमवधित्विषा ॥२॥
[1]त्वकं पुत्रि सुखं [2]स्नाहि [3]प्रसाधनविधिं कुरु । चन्द्रबिम्बायिते पश्य दर्पणे मुखमण्डनम् ॥३॥
[4]अशान मधुरालापैः तर्पयेष्टं सखीजनम् । त्वदिष्टसंगमोऽवश्यमद्य श्वो वा भविष्यति ॥४॥
यशोधरमहायोगिकैवल्ये स मयावधिः । [5]समासादि ततोऽज्ञासम[6]निह्न[7]समयावधि ॥५॥
शृणु पुत्रि तवास्माकं त्वत्कान्तस्यापि वृत्तकम् । जन्मान्तरनिबद्धं ते वक्ष्यामीदं[8]तया पृथक् ॥६॥
इतोऽहं पञ्चमेऽभूवं जन्मन्यस्यां महाद्युतौ । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां स्वर्णगर्यामिवर्द्धिभिः ॥७॥
सुतोऽर्द्धचक्रिणश्चन्द्रकीर्तिरित्यात्त[9]कीर्तन. । जयकीर्तिर्वयस्यो मे तदासीत् सहवर्द्धितः ॥८॥
पितुः क्रमागतां लक्ष्मीमासाद्य परमोदयाम् । समं वयं [10]वयस्येन चिरमत्रारमावहि ॥९॥
गृहमेधी गृहीताणुव्रतः सोऽहं क्रमात्ततः । कालान्ते चन्द्रसेनाख्यं गुरुं श्रित्वा समाधये ॥१०॥
त्यक्ताहारशरीरः सन्नुद्याने प्रीतिवर्द्धने । संन्यासविधिनाऽजाये कल्पे माहेन्द्रसंज्ञिके[11] ॥११॥
सप्तसागरकालायुःस्थिति. सामानिकः सुर. । जयकीर्तिश्च तत्रैव जातो मत्तुल्यसर्द्धिकः॥१२॥
ततः प्रच्युत्य कालान्ते द्वीपे पुष्करसंज्ञके[12] । पूर्वमन्दरपौ[13]रस्त्यविदेहे प्राजनिष्वहि ॥१३॥

अनन्तर कार्य-कुशल चक्रवर्तीने मानसिक पीड़ासे पीड़ित पुत्रीको बुलाकर मन्द हास्यकी किरणरूपी जलके द्वारा सिंचन करते हुए की तरह नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥ १ ॥ हे पुत्रि, शोकको मत प्राप्त हो, मौनका संकोच कर, मैं अवधिज्ञानके द्वारा तेरे पतिका सब वृत्तान्त जानता हूँ ॥ २ ॥ हे पुत्रि, तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नान कर, अलंकार धारण कर और चन्द्रबिम्बके समान उज्ज्वल दर्पणमें अपने मुखकी शोभा देख ॥३॥ भोजन कर और मधुर बातचीतसे प्रिय सखीजनोंको सन्तुष्ट कर। तेरे इष्ट पतिका समागम आज या कल अवश्य ही होगा ॥ ४ ॥ श्रीयशोधर महायोगीके केवलज्ञान महोत्सवके समय मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था, उसीसे मैं कुछ भवोंका वृत्तान्त जानने लगा हूँ ॥५॥ हे पुत्रि, तू अपने, मेरे और अपने पतिके पूर्वजन्मसम्बन्धी वृत्तान्त सुन। मैं तेरे लिए पृथक्-पृथक् कहता हूँ ॥ ६ ॥ इस भवसे पहले पाँचवें भवमें मैं अपनी ऋद्धियोंसे स्वर्गपुरीके समान शोभायमान और महादेदीप्यमान इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें अर्धचक्रवर्तीका पुत्र चन्द्रकीर्ति नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उस समय जयकीर्ति नामका मेरा एक मित्र था जो हमारे ही साथ वृद्धिको प्राप्त हुआ था ॥७-८॥ समयानुसार पितासे कुलपरम्परासे चली आयी उत्कृष्ट राज्यविभूतिको पाकर मैं इसी नगरमें अपने मित्रके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥९॥ उस समय मैं अणुव्रत धारण करनेवाला गृहस्थ था। फिर क्रमसे समय बीतनेपर आयुके अन्त समयमें समाधि धारण करनेके लिए चन्द्रसेन नामक गुरुके पास पहुँचा। वहाँ प्रीतिवर्धन नामके उद्यानमें आहार तथा शरीरका त्याग कर संन्यास विधिके प्रभावसे चौथे माहेन्द्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ ॥१०-११॥ वहाँ मैं सात सागरकी आयुका धारक सामानिक जातिका देव हुआ। मेरा मित्र जयकीर्ति भी वहीं उत्पन्न हुआ। वह भी मेरे ही समान ऋद्धियोंका धारक हुआ था ॥ १२ ॥ आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर

---

१. त्वर ल०, म० । २ स्नानं कुरु । ३. अलंकारः । ४. भोजनं कुरु । ५. प्राप्त. । ६. अजानिषम् । ७. युक्तद्रव्यक्षेत्रकालभावसीम इत्यर्थ । ८. अनेन प्रकारेण-मीदं तया प०, म०, द०, ल० । ९. मात्तम् स्वीकृतम् । १०. मित्रेण । ११.-मज्ञिते अ०, प०, द०, स०, ल० । १२.-संज्ञिते प० । १३. पूर्व ।

विषये मङ्गलावत्यां नगरे रत्नसञ्चये । श्रीधरस्य महीभर्तुः तनयौ बलकेशवौ ॥१४॥
[1]मनोहरातद्भमयो. श्रीवर्मा च विभीषणः । ततो राज्यपदं प्राप्य दीर्घं [2]तत्रारमावहं [हि] ॥१५॥
पिता तु मयि निक्षिप्तराज्यभारः सुधर्मतः । दीक्षित्वोपोष्य सिद्धोऽभूत् उपवासविधीन् बहून् ॥१६॥
मनोहरा मयि स्नेहा[illegible] स्थितागारे शुचिव्रता । सुधर्मगुरुनिर्दिष्टमाचरन्ती चिरं तपः ॥१७॥
[illegible] [illegible]विधिनाकर्मक्षपण वि[illegible]मुपगम्य । जीवितान्ते समाराध्य ललिताङ्गसुरोऽभवत् ॥१८॥
[illegible] [illegible]रततोऽस्मा मा विभीषणवियोगतः । शुचमापन्नमासाद्य सोपाय प्रत्यबोधयत् ॥१९॥
[illegible] पुत्र [3]स्वर मागा शुचमज्ञो यथा जनः । जननादिभियोऽ[3]वश्यंभावुका[4] विद्धि संसृतौ ॥२०॥
इति मातृचरस्यास्य ललिताङ्गस्य बोधनात् । शुचमुत्सृज्य धर्मैकरसो[5]ऽभूवं प्रसन्नधीः ॥२१॥
ततो युगन्धरस्यान्ते दीक्षां जैनेश्वरीमहम् । नृपैर्दशसहस्त्रार्द्धमितैः सार्द्धमुपाददिषि ॥२२॥
यथाविधि तपस्तप्त्वा सिंहनिष्क्रीडितं तपः । सुदुश्चरं महोदर्कं सर्वतोभद्रमप्यतः ॥२३॥
[6]त्रिज्ञानविमलालोकः [7]कालान्ते [8]प्रापमिन्द्रताम् । कल्पेऽच्युते ह्यनल्पर्द्धौ द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥२४॥
दिव्याननुभवन् भोगान् तत्र कल्पे महाद्युतौ । गत्वा च जननीस्नेहात् ललिताङ्गमपूजयम् ॥२५॥

हम दोनों पुष्कर नामक द्वीपमें पूर्वमेरुसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्न-संचय नगरमें श्रीधर राजाके पुत्र हुए। मैं बलभद्र हुआ और जयकीर्तिका जीव नारायण हुआ। मेरा जन्म श्रीधर महाराजकी मनोहरा नामकी रानीसे हुआ था और श्रीवर्मा मेरा नाम था तथा जयकीर्तिका जन्म उसी राजाकी दूसरी रानी मनोरमासे हुआ था और उसका नाम विभीषण था। हम दोनों भाई राज्य पाकर वहाँ दीर्घकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥१३-१५॥ हमारे पिता श्रीधर महाराजने मुझे राज्यभार सौंपकर सुधर्माचार्यसे दीक्षा ले ली और अनेक प्रकारके उपवास करके सिद्ध पद प्राप्त कर लिया ॥१६॥ मेरी माता मनोहरा मुझपर बहुत स्नेह रखती थी इसलिए पवित्र व्रतोंका पालन करती हुई और सुधर्माचार्यके द्वारा बताये हुए तपोंका आचरण करती हुई वह चिरकाल तक घरमें ही रही ॥१७॥ उसने विधिपूर्वक *कर्मक्षपण नामक व्रतके उपवास किये थे और आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा था जिससे मरकर स्वर्गमें ललितांगदेव† हुई ॥१८॥ तदनन्तर कुछ समय बाद मेरे भाई विभीषणकी मृत्यु हो गयी और उसके वियोगसे मैं जब बहुत शोक कर रहा था तब ललितांगदेवने आकर अनेक उपायोंसे मुझे समझाया था ॥१९॥ कि हे पुत्र, तू अज्ञानी पुरुषके समान शोक मत कर और यह निश्चय समझ कि इस संसारमें जन्म-मरण आदिके भय अवश्य ही हुआ करते हैं ॥२०॥ इस प्रकार जो पहले मेरी माता थी उस ललितांगदेवके समझानेसे मैंने शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्त होकर धर्ममें मन लगाया ॥२१॥ तत्पश्चात् मैंने श्री युगन्धर मुनिके समीप पाँच हजार राजाओंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण की ॥२२॥ और अत्यन्त कठिन, किन्तु उत्तम फल देनेवाले सिंहनिष्क्रीडित तथा सर्वतोभद्र नामक तपको विधिपूर्वक तपकर मति श्रुत अवधिज्ञानरूपी निर्मल प्रकाशको प्राप्त किया। फिर आयुके अन्तमें मरकर अनल्प ऋद्धियोंसे युक्त अच्युत नामक सोलहवें स्वर्गमें इन्द्र पदवी प्राप्त की। वहाँ मेरी आयु बाईस सागर प्रमाण थी ॥२३-२४॥ अत्यन्त कान्तिमान् उस अच्युत स्वर्गमें मैं दिव्य भोगोंको भोगता रहा। किसी दिन मैंने माताके

---

१. मनोहरामनोहरयो. श्रीधरस्य भार्ययो. । २ तत्रारमावहि ब०, प०, अ०, द०, म०, स०, ल० । ३ नियमेन भवितु शील यामा ता । ४ भीलुका म० । ५. रस अनुराग. । ६, ज्ञान–प० । ७.–कल्यान्ते ल० । ८. अगमम् ।
*–कर्मक्षपण व्रतमें १४८ उपवास करने पडते हैं जिनका क्रम इस प्रकार है । सात चतुर्थी, तीन सप्तमी, छत्तीस नवमी, एक दशमी, सोलह एकादशी और पचासी द्वादशी । कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंके नाशको उद्देश्य कर इस व्रतमें १४८ उपवास किये जाते हैं इसलिए इसका 'कर्मक्षपण' नाम है । † यह ललिताङ्ग स्वयप्रभा (श्रीमती) के पति ललिताङ्गदेवसे भिन्न था ।

प्रीतिवर्द्धनमारोप्य विमानमतिभास्वरम् । नीत्वास्मत्कल्पमेवास्य कृतवानस्मि सत्क्रियाम् ॥२६॥
स नो[1] मातृचरस्तस्मिन् कल्पेऽनल्पसुखोदये । भोगाननुभवन् दिव्यानसकृच्च मयार्चितः ॥२७॥
ललिताङ्गस्ततश्च्युत्वा जम्बूद्वीपस्य पूर्वके । विदेहे मङ्गलावत्यां रौप्यस्याद्रेरुदक्तटे[2] ॥२८॥
गन्धर्वपुरनाथस्य वासवस्य खगेशिनः । सूनुरासीत् प्रभावत्यां देव्यां नाम्ना महीधरः ॥२९॥
महीधरे निजं राज्यभारं निक्षिप्य वासवः । निकटेऽरिंजयाख्यस्य तप्त्वा मुक्तावली[3] तपः ॥३०॥
निर्वाणमगमत् पद्मावत्यार्यां च प्रभावती । समाश्रित्य तपस्तप्त्वा परं रत्नावलीमसौ ॥३१॥
अच्युतं कल्पमासाद्य प्रतीन्द्रपदभागभूत् । महीधरोऽपि संसिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदयः ॥३२॥
कदाचिदथ गत्वाहं पुष्करार्द्धस्य पश्चिमे । भागे पूर्वविदेहे तं विषयं वत्सकावतीम् ॥३३॥
तत्र प्रभाकरीपुर्यां विनयन्धरयोगिनः । निर्वाणपूजां निष्पाद्य महामेरुमथागमम् ॥३४॥
तत्र नन्दनपूर्वाशाचैत्यालयमुपाश्रितम् । महीधरं समालोक्य विद्यापूजोद्यतं तदा ॥३५॥
प्रत्यबूबुधमित्युच्चैः[4] अहो खेन्द्र[5] महीधरम् । विद्धि मामच्युताधीशं ललिताङ्गस्त्वमप्यसौ ॥३६॥
त्वय्यसाधारणी प्रीतिः ममास्ति जननीचरे । तद्भद्र विषयासङ्गाद्[6] दुरन्ताद् विरमाधुना ॥३७॥
इत्युक्तमात्र एवासौ निर्विण्णः[7] कामभोगतः । महीकम्पे सुते ज्येष्ठे राज्यभारं समर्पयन्[8] ॥३८॥
बहुभिः खेचरैः सार्द्धं[9] जगन्नन्दनशिष्यताम् । प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेन्द्रोऽभवद् विभुः ॥३९॥
विंशत्यब्धिस्थितिस्तत्र भोगान्निर्विश्य निश्च्युतः । धातकीखण्डपूर्वाशापश्चिमोरुविदेहगे ॥४०॥

स्नेहसे ललितांगदेवके समीप जाकर उसकी पूजा की ॥ २५ ॥ मैं उसे अत्यन्त चमकीले प्रीतिवर्धन नामके विमानमें बैठाकर अपने स्वर्ग (सोलहवाँ स्वर्ग) ले गया और वहाँ उसका मैंने बहुत ही सत्कार किया ॥ २६ ॥ इस प्रकार मेरी माताका जीव ललितांग, अत्यन्त सुख संयुक्त स्वर्गमें दिव्य भोगोंको भोगता हुआ जबतक विद्यमान रहा तबतक मैंने कई बार उसका सत्कार किया ॥२७॥ तदनन्तर ललितांगदेव वहाँसे चयकर जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें गन्धर्वपुरके राजा वासव विद्याधरके घर उसकी प्रभावती नामकी महादेवीसे महीधर नामका पुत्र हुआ ॥२८-२९॥ राजा वासव अपना सब राज्यभार महीधर पुत्रके लिए सौंपकर तथा अरिंजय नामक मुनिराजके समीप मुक्तावली तप तपकर निर्वाणको प्राप्त हुए। रानी प्रभावती पद्मावती आर्यिकाके समीप दीक्षित हो उत्कृष्ट रत्नावली तप तपकर अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुई और तबतक इधर महीधर भी अनेक विद्याओंको सिद्ध कर आश्चर्यकारी विभवसे सम्पन्न हो गया ॥३०-३२॥ तदनन्तर किसी दिन मैं पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम भागके पूर्व विदेहसम्बन्धी वत्सकावती देशमें गया वहाँ प्रभाकरी नगरीमें श्री विनयन्धर मुनिराजकी निर्वाण-कल्याणकी पूजा की और पूजा समाप्त कर मेरु पर्वतपर गया। वहाँ उस समय नन्दनवनके पूर्व दिशासम्बन्धी चैत्यालयमें स्थित राजा महीधरको (ललितांगका जीव) विद्याओंकी पूजा करनेके लिए उद्यत देखकर मैंने उसे उच्चस्वरमें इस प्रकार समझाया—अहो भद्र, जानते हो, मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र हूँ और तू ललितांग है। तू मेरी माताका जीव है इसलिए तुझपर मेरा असाधारण प्रेम है। हे भद्र, दुःख देनेवाले इन विषयोंकी आसक्तिसे अब विरक्त हो ॥३३-३७॥ इस प्रकार मैंने उससे कहा ही था कि वह विषयभोगोंसे विरक्त हो गया और महीकम्प नामक ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्यभार सौंपकर अनेक विद्याधरोंके साथ जगन्नन्दन मुनिका शिष्य हो गया, तथा कनकावली तप तपकर उसके प्रभावसे प्राणत स्वर्गमें बीस सागरकी स्थितिका धारक इन्द्र हुआ। वहाँ वह अनेक भोगों-को भोगकर धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व दिशासम्बन्धी पश्चिमविदेह क्षेत्रमें स्थित गन्धिलदेशके

---

१. स मे मा–स०, प० । २ उत्तरश्रेण्याम् । ३. –वलि तपः प० । ४ प्रतिबोधयामि स्म । ५. भद्र ल० । ६ विषयासक्ते । ७. निर्वेगपरः । ८. समर्पयत् अ०, प०, द०, स० । समर्पयत् ल० । ९. मुनिः ।

गन्धिले विषयेऽयोध्यानगरे जयवर्मणः । सुप्रभायाश्च पुत्रोऽभूत् अजितंजय इत्यसौ[1] ॥४१॥
जयवर्माथ निक्षिप्य स्वं राज्यमजितंजये । पार्श्वेऽभिनन्दनस्याधात् तपः[2] साचाम्लवर्द्धनम् ॥४२॥
कर्मबन्धननिर्मुक्तो लेभेऽसौ परमं पदम् । यत्रात्यन्तिकमक्षय्यमव्याबाधं परं सुखम् ॥४३॥
सुप्रभा च समासाद्य गणिनीं तां सुदर्शनाम् । रत्नावलीमुपोष्याभूद[3]च्युतानुदिशाधिपः ॥४४॥
ततोऽजितंजयश्चक्री भूत्वा भक्त्याभिनन्दनम् । विवन्दिषुर्जिनं जातः पिहितास्रवनामभाक् ॥४५॥
तदा पापास्रवद्वारपिधानान्नाम तादृशम् । लब्ध्वासौ सुचिरं कालं साम्राज्यसुखमन्वभूत् ॥४६॥
प्रबोधितश्च सोऽन्येद्यु' मयैव[4] स्नेहनिर्भरम् । भो भव्य मा भवान् साङ्क्षीद्[5] विषयेष्वपहारिषु ॥४७॥
पश्य निर्विषयां तृप्तिमुशन्त्यात्यन्तिकीं बुधाः । न सास्ति विषयैर्मुक्तैः दिव्यमानुषगोचरैः ॥४८॥
भूयो भुक्तेषु भोगेषु भवेन्नैव[6] रसान्तरम् । स एव चेद् रसः पूर्वं. किं तैश्चर्वितचर्वणैः ॥४९॥
भोगैरैन्द्रैर्न यस्तृप्त स किं तप्स्यति[7] मर्त्यजैः । [8]अनाशितम्भवैरेभिस्तदलं भङ्गुरैः सुखैः ॥५०॥
इत्यस्मद्वचनाज्जातवैराग्यः पिहितास्रवः । सहस्रगुणविंशत्या समं पार्थिवकुञ्जरैः ॥५१॥
मन्दरस्थविरस्यान्ते दीक्षामादाय सोऽवधिम् । चारणर्द्धिं च संप्राप्य तिलकान्ते[9]ऽम्बरे गिरौ ॥५२॥
तपो जिनगुणर्द्धिं च श्रुतज्ञानविधिं च ते । तदादाद्दानायै[10] स्वर्गाग्रसुखसाधनम् ॥५३॥

अयोध्या नामक नगरमें जयवर्मा राजाके घर उसकी सुप्रभा रानीसे अजितंजय नामक पुत्र हुआ ॥३८-४१॥ कुछ समय बाद राजा जयवर्माने अपना समस्त राज्य अजितंजय पुत्रके लिए सौंपकर अभिनन्दन मुनिराजके समीप दीक्षा ले ली और आचाम्लवर्धन तप तपकर कर्म-बन्धनसे रहित हो मोक्षरूप उत्कृष्ट पदको प्राप्त कर लिया। उस मोक्षमें आत्यन्तिक, अविनाशी और अव्याबाध उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है ॥४२-४३॥ रानी सुप्रभा भी सुदर्शना नामकी गणिनी-के पास जाकर तथा रत्नावली व्रतके उपवास कर अच्युत स्वर्गके अनुदिश विमानमें देव हुई ॥४४॥ तदनन्तर अजितंजय राजा चक्रवर्ती होकर किसी दिन भक्तिपूर्वक अभिनन्दन स्वामीकी वन्दनाके लिए गया। वन्दना करते समय उसके पापास्रवके द्वार रुक गये थे इसलिए उसका पिहितास्रव नाम पड़ गया। 'पिहितास्रव' इस सार्थक नामको पाकर वह सुदीर्घ काल तक साम्राज्यसुखका अनुभव करता रहा ॥४५-४६॥ किसी दिन स्नेहपूर्वक मैंने उसे इस प्रकार सम-झाया—हे भव्य, तू इन नष्ट हो जानेवाले विषयोंमें आसक्त मत हो। देख, पण्डित जन उस तृप्तिको ही सुख कहते हैं जो विषयोंसे उत्पन्न न हुई हो तथा अन्तसे रहित हो। वह तृप्ति मनुष्य तथा देवोंके उत्तमोत्तम विषय भोगनेपर भी नहीं हो सकती। ये भोग बार-बार भोगे जा चुके हैं, इनमें कुछ भी रस नहीं बदलता। जब इनमें वही पहलेका रस है तब फिर चर्वण किये हुए का पुनः चर्वण करनेमें क्या लाभ है ? जो इन्द्रसम्बन्धी भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ वह क्या मनुष्योंके भोगोंसे तृप्त हो सकेगा ? इसलिए तृप्ति नहीं करनेवाले इन विनाशीक सुखोंसे बाज आओ, इन्हें छोड़ो ॥४७-५०॥ इस प्रकार मेरे वचनोंसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ऐसे पिहितास्रव राजाने बीस हजार बड़े-बड़े राजाओंके साथ मन्दिरस्थविर नामक मुनिराजके समीप दीक्षा लेकर अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि प्राप्त की। उन्हीं पिहितास्रव मुनिराजने अम्बरतिलक नामक पर्वतपर पूर्वभवमें तुम्हें स्वर्गके श्रेष्ठ सुख देनेवाले जिनगुण सम्पत्ति और श्रुतज्ञान सम्पत्ति नामके व्रत दिये थे। इस प्रकार हे पुत्रि, जो पिहितास्रव पहले मेरे गुरु थे—माताके जीव थे वही पिहितास्रव

---

१. –यसाह्वयः प०, अ०, द०, स०, ल०। २. तपस्या चाम्ल अ०, स०, म०, ल०। तपश्चाचाम्ल- द०। ३. अच्युतकल्पेऽनुदिशविमानाधीशः। ४. मयैवं अ०,प०, द०, ल०। ५. त्वं संगं मा गाः 'सञ्ज संगे' इति धातु। भवच्छब्दप्रयोगे प्रथमपुरुष एव भवति। –न् काङ्क्षीत् प०, द०, स०। ६. –र्भेषु अ०, प०, द०, स०, ल०। ७. तृप्तिमेष्यति। ८ अतृप्तिकरैः। अनाशितमवै. अ०, प०, द०, स०, ल०। ९. तिलका-म्बरे द०। १०. आदत्त इत्याददाना तस्यै।

ततोऽस्मद्गुरुसंवासात् तवाप्यभ्यर्हितो[1] गुरुः। द्वाविंशति[2] गुरुस्नेहाल्ललिताङ्गानथार्चयम् ॥५४॥
तेष्वन्त्यो भवतीभर्ता[3] प्राग्भवेऽभून्महाबलः। स्वयंबुद्धोपदेशेन सोऽन्वभूदामरीं श्रियम् ॥५५॥
ललिताङ्गश्च्युतः स्वर्गान्मर्त्यभावे स्थितोऽद्य नः। प्रत्यासन्नतमो बन्धुः स ते भर्त्ता भविष्यति ॥५६॥
तवाभिज्ञान[4]मन्यच्च वक्ष्ये पद्मानने शृणु। ब्रह्मेन्द्रलान्तवेशाभ्यां भक्त्या पृष्टस्तदेत्यहम् ॥५७॥
युगन्धरजिनेन्द्रस्य[5] तीर्थेऽलप्स्वहि[6] दर्शनम्[7]। ततस्तच्चरितं कृत्स्नं[8] संबुबुत्सावहेऽधुना ॥५८॥
ततोऽवोचमहं ताभ्यामिति तच्चरितं तदा। दम्पतिभ्यां समेताभ्यां[9] युवाभ्यां च यदृच्छया ॥५९॥
जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्मिन् विदेहे वत्सकाह्वये। विषये भोगभूदेश्ये[10] सीतादक्षिणदिग्गते ॥६०॥
सुसीमानगरे नित्य[11] वास्तव्यौ ज्ञानवित्तकौ। जातौ प्रहसिताख्यश्च तथा विकसिताह्वयः ॥६१॥
तत्पुराधिपतेः श्रीमदजितंजयभूभृतः।[12] नाम्नामृतमतिर्मन्त्री सत्यभामा प्रियास्य च ॥६२॥
तयोः प्रहसिताख्योऽयमभूत् सूनुर्विचक्षणः। सखा विकसितो[13]ऽस्यासौ सदेमौ[14] सहचारिणौ ॥६३॥
जात्या[15] हेतुतदाभासच्छलजात्यादिकोविदौ[16]। [17]तीर्णव्याकरणाम्भोधी समारञ्जनतत्परौ ॥६४॥

व्रतदानकी अपेक्षा तेरे भी पूज्य गुरु हुए। मेरी माताके जीव ललितांगने मुझे उपदेश दिया था इसलिए मैंने गुरुके स्नेहसे अपने समयमें होनेवाले बाईस ललितांग देवोंकी पूजा की थी ॥५१-५४॥ [उन बाईस ललितांगोंमें-से पहला ललितांग तो मेरी माता मनोहराका जीव था जो कि क्रमसे जन्मान्तरमें पिहितास्रव हुआ] और अन्तका ललितांग तेरा पति था जो कि पूर्वभवमें महाबल था तथा स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके उपदेशसे देवोंकी विभूतिका अनुभव करनेवाला हुआ था ॥५५॥ वह बाईसवाँ ललितांग स्वर्गसे च्युत होकर इस समय मनुष्यलोकमें स्थित है। वह हमारा अत्यन्त निकटसम्बन्धी है। हे पुत्रि, वही तेरा पति होगा ॥५६॥ हे कमलानने, मैं उस विषयका परिचय करानेवाली एक कथा और कहता हूँ उसे भी सुन। जब मैं अच्युत स्वर्गका इन्द्र था तब एक बार ब्रह्मेन्द्र और लान्तव स्वर्गके इन्द्रोंने भक्तिपूर्वक मुझसे पूछा था कि हम दोनोंने युगन्धर तीर्थंकरके तीर्थमें सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है इसलिए इस समय उनका पूर्ण चरित्र जानना चाहते हैं ॥५७-५८॥ उस समय मैंने उन दोनों इन्द्रों तथा अपनी इच्छासे साथ-साथ आये हुए तुम दोनों दम्पतियों (ललितांग और स्वयंप्रभा) के लिए युगन्धर स्वामीका चरित्र इस प्रकार कहा था ॥५९॥

जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती देश है जो कि भोगभूमिके समान है। इसी देशमें सीता नदीकी दक्षिण दिशाकी ओर एक सुसीमा नामका नगर है। उसमें किसी समय प्रहसित और विकसित नामके दो विद्वान् रहते थे, वे दोनों ज्ञानरूपी धनसे सहित अत्यन्त बुद्धिमान् थे ॥६०-६१॥ उस नगरके अधिपति श्रीमान् अजितंजय राजा थे। उनके मन्त्रीका नाम अमितमति और अमितमतिकी स्त्रीका नाम सत्यभामा था। प्रहसित, इन दोनोंका ही बुद्धिमान् पुत्र था और विकसित इसका मित्र था। ये दोनों सदा साथ-साथ रहते थे ॥६२-६३॥ ये दोनों विद्वान्, हेतु हेत्वाभास, छल, जाति आदि सब विषयोंके पण्डित, व्याकरणरूपी समुद्रके

---

१. पूज्य.। २. मातृस्नेहात्। ३. त्वत्पुरुष.। ४. चिह्नम्। ५. जिनेशस्य म०, ल०। ६. लब्धवन्तौ। ७ सम्यग्दर्शनम्। ८ सम्यग्बोद्धुमिच्छामः। ९ समागताभ्याम्। १०. भोगभूमिसदृशे। 'ईषदसमाप्ते कल्पप् देश्यदेशीयर्'। ११ नित्यवास्तव्यौ द०, ट०। सदा निवसन्तौ। १२ नाम्नामितमति-अ०, द०, ल०। १३. विकसितास्योऽमौ म०, ल०। १४. सदा तौ प०। सदोभौ द०। १५. जन्मना जननादारभ्य इत्यर्थः। जातौ अ०, प०, स०, द०, ल०। १६. जात्येति वचनेन परोपदेशमन्तरेणैव। हेतुतयाभासच्छलजात्यादिकोविदौ साधनसाधनाच्छलजातिनिग्रहप्रवीणौ। "कमप्यर्थमभिप्रेत्य प्रवृत्ते वचने पुनः। अनिष्टमर्थमारोप्य तन्निषेधः छल मतम्।" "प्रवृत्ते स्थापनाहेतौ दूषणासक्तमुत्तरम्। जातिमाहुरथान्ये तु सोऽव्याघातकमुत्तरम्।" "अखण्डिताहङ्कृतिना पराहङ्कारखण्डनम्। निग्रहस्तन्निमित्तस्य निग्रहस्थानतोच्यते"। १७. लङ्घितः।

तौ राजसम्मतौ वादकण्डूयाकाण्डपण्डितौ[1] । विद्यासंवादगोष्ठीषु निकषोपलतां गतौ ॥६५॥
कदाचिच्च नरेन्द्रेण समं गत्वा मुनीश्वरम् । मतिसागरमद्राष्टाममृतस्रवणर्द्धिकम् ॥६६॥
नृपप्रश्नवशात्तस्मिन् जीवतत्त्वनिरूपणम् । कुर्वाणे[2] चोद्य[3]चुञ्चुत्वात् इत्यब्रूतां प्रसह्य[4] तौ ॥६७॥
विनोपलब्ध्या[5] सद्भावं[6] प्रतीमः[7] कथमात्मनः । स नास्त्यतः कुतस्तस्य प्रेत्यभाव[8]फलादिकम् ॥६८॥
[9]तदुपालम्भमित्युच्चैराकर्ण्य मुनिपुङ्गवः । वचनं तत्प्रबोधार्थं धीरधीः प्रत्यभाषत ॥६९॥
यदुक्तं जीवनास्तित्वेऽनुपलब्धिः प्रसाधनम् । तदसद्धेतुदोषाणां भूयसां तत्र सम्भवात् ॥७०॥
छद्मस्थानुपलब्धिभ्यः[10] सूक्ष्मादिषु[11] कुतो गतिः । अभावस्य ततो हेतुः[12] साध्यं व्यभिचरत्ययम् ॥७१॥
भवता किं तु दृष्टोऽसौ स्वपितुर्यः पितामहः । तथापि सोऽस्ति चेदस्तु जीवस्याप्येवमस्तिता ॥७२॥
अभावेऽपि विचक्षणां[13] जीवस्यानुपलब्धितः । स नास्तीति मृषास्तित्वात् सौक्ष्म्यस्येह विचक्षण[14] ॥७३॥
जीवशब्दाभिधेयस्य वचसः प्रत्ययस्य[15] च । यथास्तित्वं तथा बाह्योऽप्यर्थस्तस्यास्तु काऽक्षमा ॥७४॥

पारगामी, सभाको प्रसन्न करनेमें तत्पर, राजमान्य, वादविवादरूपी खुजलीको नष्ट करनेके लिए उत्तम वैद्य तथा विद्वानोंकी गोष्ठीमें यथार्थ ज्ञानकी परीक्षाके लिए कसौटीके समान थे ॥६४-६५॥ किसी दिन उन दोनों विद्वानोंने राजाके साथ अमृतस्राविणी ऋद्धिके धारक मतिसागर नामक मुनिराजके दर्शन किये ॥६६॥ राजाके मुनिराजसे जीवतत्त्वका स्वरूप पूछा, उत्तरमें वे मुनिराज जीवतत्त्वका निरूपण करने लगे, उसी समय प्रश्न करनेमें चतुर होनेके कारण वे दोनों विद्वान् प्रहसित और विकसित हठपूर्वक बोले कि उपलब्धिके बिना हम जीवतत्त्वपर विश्वास कैसे करें ? जब कि जीव ही नहीं है तब मरनेके बाद होनेवाला परलोक और पुण्य-पाप आदिका फल कैसे हो सकता है ? ॥६७-६८॥ वे धीर-वीर मुनिराज उन विद्वानोंके ऐसे उपालम्भरूप वचन सुनकर उन्हें समझानेवाले नीचे लिखे वचन कहने लगे ॥६९॥

आप लोगोंने जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए जो अनुपलब्धि हेतु दिया है (जीव नहीं है क्योंकि वह अनुपलब्ध है) वह असत् हेतु है क्योंकि उसमें हेतुसम्बन्धी अनेक दोष पाये जाते हैं ॥७०॥ उपलब्धि पदार्थोंके सद्भावका कारण नहीं हो सकती क्योंकि अल्प ज्ञानियोंको परमाणु आदि सूक्ष्म, राम, रावण आदि अन्तरित तथा मेरु आदि दूरवर्ती पदार्थोंकी भी उपलब्धि नहीं होती परन्तु इन सबका सद्भाव माना जाता है इसलिए जीवका अभाव सिद्ध करनेके लिए आपने जो हेतु दिया है वह व्यभिचारी है ॥७१॥ इसके सिवाय एक बात हम आपसे पूछते हैं कि आपने अपने पिताके पितामहको देखा है या नहीं ? यदि नहीं देखा है, तो वे थे या नहीं ? यदि नहीं थे तो आप कहाँसे उत्पन्न हुए ? और थे, तो जब आपने उन्हें देखा ही नहीं है—आपको उनकी उपलब्धि हुई ही नहीं; तब उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? यदि उनका सद्भाव मानते हो तो उन्हींकी भाँति जीवका भी सद्भाव मानना चाहिए ॥७२॥ यदि यह मान भी लिया जाये कि जीवका अभाव है; तो अनुपलब्धि होनेसे ही उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका अस्तित्व तो है परन्तु उपलब्धि नहीं होती ॥७३॥ जैसे जीव अर्थको कहनेवाले 'जीव' शब्द और उसके ज्ञानका जीवज्ञान-सद्भाव माना जाता है, उसी प्रकार उसके वाच्यभूत बाह्य-जीव अर्थके भी सद्भावको माननेमें क्या हानि है ? क्योंकि जब 'जीव' पदार्थ ही नहीं होता तो उसके वाचक शब्द कहाँसे आते और उनके सुननेसे वैसा ज्ञान भी कैसे होता ? ॥७४॥

१. वादस्य कण्डूया वादकण्डूया तस्या काण्डः कापहन तत्र पण्डितौ निपुणौ । २ साक्षेपप्रश्नप्रतीतत्वात् । ३ चञ्चुत्वात् अ०, प०, म०, द०, ल० । ४. बलात्कारेण । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यभिधानात् । ५. दर्शनेन । ६ अस्तित्वम् । ७. विश्वासं कुर्मः । ८. प्रेत्य उत्तरभवः । ९ तज्जीवदूषणम् । १०. –नुपलब्धिश्चेत् अ०, प०, द०, ल० । ११. परमाणुपिशाचादिषु । १२. साधनम् । १३. शरीरादीनाम् । विचक्षणा प०, द०, ल० । १४. बन्धकस्य । १५. ज्ञानस्य ।

जीवशब्दोऽयमभ्रान्त बाह्यमर्थमपेक्षते । संज्ञात्वाल्लौकिक[1]भ्रान्ति[2]मतहेत्वादि[3]शब्दवत्[4] ॥७५॥
इत्यादियुक्तिभिर्जीवं तत्त्वं स निरणीनयत्[5] । तावपि ज्ञानजं गर्वमुज्झित्वा नेमतुर्मुनिम् ॥७६॥
गुरोस्तस्यैव पार्श्वे तौ गृहीत्वा परमं तप । सुदर्शनमथाचाम्लवर्द्धनं चाप्युपोषतुः ॥७७॥
निदानं वासुदेवत्वे व्यधाद् विकसितोऽप्यभुत्[6] । कालान्ते तावजायेतां महाशुक्रसुरोत्तमौ ॥७८॥
इन्द्रप्रतीन्द्रपदयो. षोडशाब्ध्युपमस्थिती । तौ तत्र [7]सुखसाद्भूतावन्वभूतां सुरश्रियम् ॥७९॥
स्वायुरन्ते ततश्च्युत्वा धातकीखण्डगोचरे । विदेहे पुष्कलावत्यां पश्चिमार्द्धपुरोगते[8] ॥८०॥
विषये पुण्डरीकिण्यां पुर्यां राज्ञो धनंजयात् । जयसेनायशस्वत्योः देव्योर्व्यत्यासितक्रमौ[9] ॥८१॥
जज्ञाते तनयौ रामकेशवस्थानभागिनौ । ज्यायान् महाबलोऽन्यश्च ख्यातोऽतिबलसंज्ञया ॥८२॥
राज्यान्ते केशवेऽतीते तपस्तप्त्वा महाबलः । पार्श्वे समाधिगुप्तस्य प्राणतेन्द्रस्ततोऽभवत् ॥८३॥
भुक्त्वामरीं श्रियं तत्र विंशत्यब्ध्युपमात्यये । धातकीखण्डपश्चार्द्ध[10]पुरोवर्त्तिविदेहगे ॥८४॥
विषये वत्सकावत्यां प्रभाकर्याः पुर.[11] प्रभोः । महासेनस्य भूभर्तु. प्रतापानतविद्विपः ॥८५॥
देव्यां वसुन्धराख्यायां जयसेनाह्वयोऽजनि । प्रजानां जनितानन्दश्चन्द्रमा इव नन्दनः ॥८६॥
क्रमाच्चक्रधरो भूत्वा प्रजा. स चिरमन्वशात् । विरक्तधीश्च भोगेषु प्रव्रज्यामार्हतीं श्रितः ॥८७॥

जीव शब्द अभ्रान्त बाह्य पदार्थकी अपेक्षा रखता है क्योंकि वह संज्ञावाचक शब्द है। जो-जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं, वे किसी संज्ञासे अपना सम्बन्ध रखते हैं जैसे लौकिक घट आदि शब्द, भ्रान्ति शब्द, मत शब्द और हेतु आदि शब्द। इत्यादि युक्तियोंसे मुनिराजने जीवतत्त्वका निर्णय किया, जिसे सुनकर उन दोनों विद्वानोंने ज्ञानका अहंकार छोड़कर मुनिको नमस्कार किया ॥७५-७६॥ उन दोनों विद्वानोंने उन्हीं मुनिके समीप उत्कृष्ट तप ग्रहण कर सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन व्रतोंके उपवास किये ॥७७॥ विकसितने नारायण पद प्राप्त होनेका निदान भी किया। आयुके अन्तमे दोनों शरीर छोड़कर महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र और प्रतीन्द्र पदपर सोलह सागर प्रमाण स्थितिके धारक उत्तम देव हुए। वे वहाँ सुखमें तन्मय होकर स्वर्ग-लक्ष्मीका अनुभव करने लगे ॥७८-७९॥ अपनी आयुके अन्तमें दोनों वहाँसे चयकर धातकीखण्ड द्वीपके पश्चिम भागसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमे पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें राजा धनंजयकी जयसेना और यशस्वती रानीके बलभद्र और नारायणका पद धारण करनेवाले पुत्र उत्पन्न हुए। अब उत्पत्तिकी अपेक्षा दोनोंके क्रममे विपर्यय हो गया था। अर्थात् बलभद्र ऊर्ध्वगामी था और नारायण अधोगामी था। बड़े पुत्रका नाम महाबल था और छोटेका नाम अतिबल था (महाबल प्रहसितका जीव था और अतिबल विकसितका जीव था) ॥८०-८२॥ राज्यके अन्तमें जब नारायण अतिबलकी आयु पूर्ण हो गयी तब महाबलने समाधिगुप्त मुनिराजके पास दीक्षा लेकर अनेक तप तपे, जिससे आयुके अन्तमें शरीर छोड़कर वह प्राणत नामक चौदहवें स्वर्गमें इन्द्र हुआ ॥८३॥ वहाँ वह बीस सागर तक देवोंकी लक्ष्मीका उपभोग करता रहा। आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे चयकर धातकीखण्ड द्वीपके पश्चिम भागसम्बन्धी पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके अधिपति तथा अपने प्रतापसे समस्त शत्रुओंको नम्र करनेवाले महासेन राजाकी वसुन्धरा नामक रानीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ। वह पुत्र चन्द्रमाके समान समस्त प्रजाको आनन्दित करता था ॥८४-८६॥ अनुक्रमसे उसने चक्रवर्ती

---

१. वाचकत्वात्। २ लौकिक घटमानयेत्यादि। ३ भ्रान्तमतहेत्वादि-म०। -भ्रान्ति मत-अ०, स०। -भ्रान्तमत हेत्वादि-द०, ल०। इष्टाभिप्रायः। ४. बूलित्वादित्यादिशब्दवत्। ५. निश्चयमकारयत्। ६ अज्ञानी। -प्यसत् द०। -प्यभूत् ल०। ७. सुखाधीनौ। ८. पूर्वदिग्गते। ९ अनुल्लङ्घितक्रमौ 'ऊर्ध्वगाम्यधोगामिनौ' इति 'द'पुस्तके। १०. पूर्वदिग्वर्ति। ११. पुरस्य।

सीमन्धरार्हत्पादाब्जमूले [1]षोडशकारणीम्[2] । भावयन् सुचिरं तेपे तपो निरतिचारकम् ॥८८॥
स्वायुरन्तेऽहमिन्द्रोऽभूद् ग्रैवेयेपूर्ध्वमध्यमे । त्रिंशदब्ध्युपमं कालं दिव्यं तत्रान्वभूत् सुखम् ॥८९॥
ततोऽवतीर्णः स्वर्गाग्रात् पुष्करार्द्धपुरोगते । विदेहे मङ्गलावत्यां प्राक्पुरे रत्नसंचये ॥९०॥
अजितंजयभूपालाद् वसुमत्यां सुतोऽभवत् । युगन्धर इति ख्यातिमुद्वहन् नृसुरार्चित ॥९१॥
कल्याणत्रितये वर्यां स सपर्यामवापिवान् । क्रमात् कैवल्यमुत्पाद्य महानेष महीयते ॥९२॥
शुभानुबन्धिना सोऽयं कर्मणाऽभ्युदयं सुखम् । [3]षट्षष्ट्यब्ध्युपमं कालं भुक्त्वार्हन्त्यमथासदत् ॥९३॥
[4]युग्यो धर्मरथस्यायं युगज्येष्ठो युगंधरः । तीर्थकृत् त्रायते[5] सोऽस्मान् भव्याब्जवनभानुमान् ॥९४॥
तदेति मद्वचः श्रुत्वा बहवो दर्शनं श्रिता. । युवां च धर्मसंवेग[6] परमं समुपागतौ ॥९५॥
पिहितास्रवभट्टारकैवल्योपजनक्षणे[7] । समं गत्वार्चयिष्या[8] मस्तदा पुत्रि स्मरस्यदः ॥९६॥
अभिजानासि तत्पुत्रि स्वयंभूरमणोदधिम् । क्रीडाहेतोर्व्रजिष्यामो[9] गिरिं चाञ्जनसंज्ञकम् ॥९७॥
श्रीमती गुरुणेत्युक्ता तात युष्मत्प्रसादतः । अभिजानामि तत्सर्वमित्यसौ[10] प्रत्यभाषत ॥९८॥
[11]गुरोः स्मरामि कैवल्यपूजां[12] द्युतिलके गिरौ । [13]विहृतिं चाञ्जने शैले स्वयंभूरमणे च यत् ॥९९॥

होकर पहले तो चिरकाल तक प्रजाका शासन किया और फिर भोगोंसे विरक्त हो जिनदीक्षा धारण की ॥ ८७ ॥ सीमन्धर स्वामीके चरणकमलोंके मूलमें सोलह कारणभावनाओंका चिन्तवन करते हुए उसने बहुत समय तक निर्दोष तपश्चरण किया ॥८८॥ फिर आयुका अन्त होनेपर उपरिम ग्रैवेयकके मध्यभाग अर्थात् आठवें ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ तीस सागर तक दिव्य सुखोंका अनुभव कर वहाँसे अवतीर्ण हुआ और पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व-विदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्न-संचय नगरमें अजितंजय राजाकी वसुमती रानीसे युगन्धर नामका प्रसिद्ध पुत्र हुआ। वह पुत्र मनुष्य तथा देवों-द्वारा पूजित था ॥८९-९१॥ वही पुत्र गर्भ, जन्म और तप इन तीनों कल्याणोंमें इन्द्र आदि देवों-द्वारा की हुई पूजाको प्राप्त कर आज अनुक्रमसे केवलज्ञानी हो सबके द्वारा पूजित हो रहा है ॥ ९२ ॥ इस प्रकार उस प्रहसितके जीवने पुण्यकर्मसे छयासठ सागर (१६+२०+३०=६६) तक स्वर्गोंके सुख भोग कर अरहन्त पद प्राप्त किया है ॥९३॥ ये युगन्धर स्वामी इस युगके सबसे श्रेष्ठ पुरुष हैं, तीर्थंकर हैं, धर्मरूपी रथके चलानेवाले हैं तथा भव्य जीवरूप कमल वनको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं। ऐसे ये तीर्थंकर देव हमारी रक्षा करें—संसारके दुःख दूर कर मोक्ष पद प्रदान करें ॥९४॥ उस समय मेरे ये वचन सुनकर अनेक जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए थे तथा आप दोनों भी (ललितांग और स्वयम्प्रभा) परम धर्मप्रेमको प्राप्त हुए थे ॥ ९५ ॥ हे पुत्रि, तुम्हें इस बातका स्मरण होगा कि जब पिहितास्रव भट्टारकको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय हम लोगोंने साथ-साथ जाकर ही उनकी पूजा की थी ॥९६॥ हे पुत्रि, तू यह भी जानती होगी कि हमलोग क्रीड़ा करनेके लिए स्वयम्भूरमण समुद्र तथा अंजनगिरिपर जाया करते थे ॥९७॥ इस प्रकार पिताके कह चुकनेपर श्रीमतीने कहा कि हे तात, आपके प्रसादसे मैं यह सब जानती हूँ ॥९८॥ अम्बरतिलक पर्वतपर गुरुदेव पिहितास्रव मुनिके केवलज्ञानकी जो पूजा की थी वह भी

१ षोडशकारणानि । षोडशकारणाना समाहारः । २–कारणम् अ०, प०, द० स, ल० । ३. षट्षष्ट्यब्ध्युपमम् इत्यस्य पदस्य निर्वाह क्रियते । महाशुक्रे स्वर्गे षोडशाब्ध्युपमस्थिति । प्राणते कल्पे विंशत्यब्ध्युपमायुः स्थितिः । ऊर्ध्वग्रैवेयेषु ऊर्ध्वमध्यमे त्रिंशदब्ध्युपमायुः स्थिति । एतेषामायुषा सम्मेलने षट्षष्ट्यब्ध्युपमः कालो जात इति यावत् । ४ युगवाह. । ५. त्रायता सो–प०, म०, द०, स०, ल० ।–त्रायता तस्मात् अ०, स० । ६. धर्मे धर्मफले चानुरागः संवेगस्तम् । ७ केवलज्ञानोत्पत्तिसमये । ८ पूजयिष्याम. । 'स्मृत्यर्थे यदि लृङिति' भूतानद्यतने लृट् । ९. अगमाम । १०. प्रत्युत्तरमदात् । ११. पिहितास्रवस्य । १२ अम्बरतिलके । १३. विहृत द०, ट० । विहरणम् ।

प्रत्यक्षमिव तत्सर्वं परिस्फुरति मे हृदि । किंतु कान्तः क मे जात इति दोलायते मतिः[1] ॥१००॥
इति ब्रुवाणां तां भूयः प्रत्युवाच नराधिपः । पुत्रि स्वर्गस्थयोरेव[2] युवयोः प्राक्च्युतोऽच्युतात् ॥१०१॥
नगर्यामिह [3]धुर्योऽहं यशोधरमहीपतेः । देव्यां वसुंधरायाश्च वज्रदन्त- सुतोऽभवम् ॥१०२॥
[4]नियुताद्धप्रसंख्यानि[5] पूर्वाण्यायुःस्थिती यदा । भवतो परिशिष्टानि तदाहं प्रच्युतो दिवः ॥१०३॥
युवां च परिशिष्टायुर्भुक्त्वान्ते त्रिदिवाच्च्युतौ । जातौ यथास्वमत्रैव विषये राजदारकौ ॥१०४॥
[7]जनितेतस्तृतीयेऽह्नि ललिताङ्गचरेण ते । संगमोऽद्यैव तद्वार्तां पण्डितानेष्यति[8] स्फुटम् ॥१०५॥
[9]पैतृष्वस्रीय एवायं तव[10] भर्ता भविष्यति । तदियं मृग्यमाणैव वल्ली पादेऽवसज्यते[11] ॥१०६॥
मातुलान्यास्तवायान्त्या वयमप्यद्य पुत्रिके । प्रत्युद्गच्छाम[12] इत्युक्त्वा राजोत्थाय ततोऽगमत् ॥१०७॥
पण्डिता तत्क्षणं प्राप्ता प्रफुल्लवदनाम्बुजा । मुखरागेण संलक्ष्यकार्यसिद्धिरुवाच ताम् ॥१०८॥
त्वं दिष्ट्या वर्द्धसे कन्ये पूर्णस्तेऽद्य मनोरथ. । सप्रपञ्चं च तद्वच्मि सावधानमितः शृणु ॥१०९॥
[13]यदा पट्टकमादाय गताहं [14]त्वन्निदेशत. । तदास्यां विपुलाश्चर्यं महापूतजिनालये ॥११०॥
मया तत्र विचित्रस्य पट्टकस्य प्रसारणे । बहवस्तदविज्ञाय गता. पण्डितमानिन ॥१११॥

मुझे याद है तथा अंजनगिरि और स्वयम्भूरमण समुद्रमें जो विहार किये थे वे सब मुझे याद हैं ॥ ९९ ॥ हे पिताजी, वे सब बातें प्रत्यक्षकी तरह मेरे हृदयमें प्रतिभासित हो रही हैं किन्तु मेरा पति ललितांग कहाँ उत्पन्न हुआ है ? इसी विषयमें मेरा चित्त चंचल हो रहा है ॥१००॥ इस प्रकार कहती हुई श्रीमतीसे वज्रदन्त पुनः कहने लगे कि हे पुत्रि, जब तुम दोनों स्वर्गमें स्थित थे तब मैं तुम्हारे च्युत होनेके पहले ही अच्युत स्वर्गसे च्युत हो गया था और इस नगरीमें यशोधर महाराज तथा वसुन्धरा रानीके वज्रदन्त नामका श्रेष्ठ पुत्र हुआ हूँ ॥ १०१-१०२ ॥ जब आप दोनोंकी आयुमें 'पचास हजार पूर्व वर्ष बाकी थे तब मैं स्वर्गसे च्युत हुआ था ॥ १०३ ॥ तुम दोनों भी अपनी बाकी आयु भोगकर स्वर्गसे च्युत हुए और इसी देशमें यथायोग्य राजपुत्र और राजपुत्री हुए हो ॥ १०४ ॥ आजसे तीसरे दिन तेरा ललितांगके जीव राजपुत्रके साथ समागम हो जायेगा। तेरी पण्डिता सखी आज ही उसके सब समाचार स्पष्ट रूपसे लायेगी ॥१०५॥ हे पुत्रि, वह ललितांग तेरी बुआके ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा। यह समागम ऐसा आ मिला है मानो जिस बेलको खोज रहे हों वह स्वयं ही अपने पाँवमें आ लगी हो ॥ १०६ ॥ हे पुत्रि, तेरी मामी आज आ रही है इसलिए उन्हें लानेके लिए हम लोग भी उनके सम्मुख जाते हैं ऐसा कहकर राजा वज्रदन्त उठकर वहाँसे बाहर चले गये ॥ १०७ ॥

राजा गये ही थे कि उसी क्षण पण्डिता सखी आ पहुँची। उस समय उसका मुख प्रफुल्लित हो रहा था और मुखकी प्रसन्न कान्ति कार्यकी सफलताको सूचित कर रही थी। वह आकर श्रीमतीसे बोली ॥१०८॥ हे कन्ये, तू भाग्यसे बढ रही है (तेरा भाग्य बड़ा बलवान् है)। आज तेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है। मैं विस्तारके साथ सब समाचार कहती हूँ, सावधान होकर सुन ॥१०९॥ उस समय मैं तेरी आज्ञासे चित्रपट लेकर यहाँसे गयी और अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए महापूत नामक जिनालयमें जा ठहरी ॥११०॥ मैंने वहाँ जाकर तेरा विचित्र चित्रपट फैलाकर रख दिया। अपने-आपको पण्डित माननेवाले कितने ही मूर्ख लोग उसका आशय नहीं

१. मनः म०, ल० । २. सतो । ३ धुरन्धर. । ४. वियुतार्द्ध–ल० । ५. पञ्चाशत्सहस्रसख्यानि । ६ युवयोः । ७. भविष्यति । ८ गृहीत्वा आगमिष्यति । ९ पितुर्भगिन्याः पुत्रः । १०. इद पद देहलीदीपन्यायेन सवन्धनीयम् । ११. ससक्ता भवति । १२ अभिमुख गच्छाम । १३ तदा ल० । १४. तवाज्ञातः ।

तौ तु वासवदुर्दान्तौ यावलौ[1] कविचक्षणौ । दृष्ट्वास्मत्पट्टकं हृष्टा स्वानुमानादवोचताम् ॥११२॥
पट्टकार्थं[2] स्फुटं विद्वो[3] जातिस्मृतिमुपेयुषी । व्यलिखद्राजपुत्रीदं स्वपूर्वभवचेष्टितम् ॥११३॥
इति नागरिकत्वेन प्रवृत्तौ नायकब्रुवौ[4] । ताववोचं विहस्याहं चिरात् स्यादिदमीदृशम् ॥११४॥
हठात् प्रकृतगूढार्थं सम्प्रश्ने च मया कृते । [5]जोषमास्तां विलक्षौ[6] तौ मूकीभूय ततो गतौ ॥११५॥
[7]श्वशुर्यस्ते युवा वज्रजङ्घस्तत्रागमत् ततः । दिव्येन वपुषा कान्त्या दीप्त्या[8] चानुपमो भुवि ॥११६॥
अथ प्रदक्षिणीकृत्य भव्यस्तज्जिनमन्दिरम् । स्तुत्वा प्रणम्य चाभ्यर्च्य पट्टशालामुपासदत् ॥११७॥
निर्वर्ण्य[9] पट्टकं तत्र श्रीमानिदमवोचत । [10]ज्ञातपूर्वमिवेदं मे चरितं पट्टकस्थितम् ॥११८॥
वर्णनातीतमत्रेदं[11] चित्रकर्म विराजते । [12]मानोन्मानप्रमाणाढ्यं निम्नोन्नतविभागवत् ॥११९॥
अहो सुनिपुणं चित्रकर्मेदं विलसच्छवि । रसभावान्वितं हारि रेखामाधुर्यसंगतम् ॥१२०॥
अत्रास्मद्भवसंबन्धः[13] पूर्वोऽल्लेखि[14] सविस्तरम् । [15]श्रीप्रभाधिपतां साक्षात् पश्यामीवेह मामिकाम् ॥१२१॥
अहो स्त्रीरूपमत्रेदं नितरामभिरोचते । स्वयंप्रभाङ्गसंवादि[16] विचित्राभरणोज्ज्वलम् ॥१२२॥

समझ सके। इसलिए देखकर ही वापस चले गये थे ॥ १११ ॥ हाँ, वासव और दुर्दान्त, जो झूठ बोलनेमें बहुत ही चतुर थे, हमारा चित्रपट देखकर बहुत प्रसन्न हुए और फिर अपने अनुमानसे बोले कि हम दोनों चित्रपटका स्पष्ट आशय जानते हैं। किसी राजपुत्रीको जाति-स्मरण हुआ है, इसलिए उसने अपने पूर्वभवकी समस्त चेष्टाएँ लिखी हैं ॥ ११२-११३ ॥ इस प्रकार कहते-कहते वे बड़ी चतुराईसे बोले कि इस राजपुत्रीके पूर्व जन्मके पति हम ही हैं। मैंने बहुत देर तक हँसकर कहा कि कदाचित् ऐसा हो सकता है ॥११४॥ अनन्तर जब मैंने उनसे चित्रपटके गूढ़ अर्थोंके विषयमें प्रश्न किये और उन्हें उत्तर देनेके लिए बाध्य किया तब वे चुप रह गये और लज्जित हो चुपचाप वहाँसे चले गये ॥११५॥ तत्पश्चात् तेरे श्वशुरका तरुण पुत्र वज्रजंघ वहाँ आया, जो अपने दिव्य शरीर, कान्ति और तेजके द्वारा समस्त भूतलमें अनुपम था ॥११६॥ उस भव्यने आकर पहले जिनमन्दिरकी प्रदक्षिणा दी। फिर जिनेन्द्रदेवकी स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया, उनकी पूजा की और फिर चित्रशालामें प्रवेश किया ॥११७॥ वह श्रीमान् इस चित्रपटको देखकर बोला कि ऐसा मालूम होता है मानो इस चित्रपटमें लिखा हुआ चरित्र मेरा पहलेका जाना हुआ हो ॥११८॥ इस चित्रपटपर जो यह चित्र चित्रित किया गया है इसकी शोभा वाणीके अगोचर है। यह चित्र लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई आदिके ठीक-ठीक प्रमाणसे सहित है तथा इसमें ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशोंका विभाग ठीक-ठीक दिखलाया गया है ॥११९॥ अहा, यह चित्र बड़ी चतुराईसे भरा हुआ है, इसकी दीप्ति बहुत ही शोभायमान है, यह रस और भावोंसे सहित है, मनोहर है तथा रेखाओंकी मधुरतासे संगत है ॥१२०॥ इस चित्रमें मेरे पूर्वभवका सम्बन्ध विस्तारके साथ लिखा गया है। ऐसा जान पड़ता है मानो मैं अपने पूर्वभवमें होनेवाले श्रीप्रभ विमानके अधिपति ललितांगदेवके स्वामित्वको साक्षात् देख रहा हूँ ॥१२१॥ अहा, यहाँ यह स्त्रीका रूप अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। यह अनेक प्रकारके आभरणोंसे

---

१. मृषा । २. पट्टे स्थितार्थम् । ३. जानीवः । ४. आत्मानं नायक ब्रुवात इति । ५. तूष्णीम् । ६. लज्जितौ । उक्तं च विदग्धचूडामणौ–'विलक्षो विस्मयान्वितः' इत्येतस्य व्याख्यानावसरे 'आत्मनश्चरिते सम्यग्जातेऽन्तर्यस्य जायते । अपत्रपातिमहती स विलक्ष इति स्मृतः ॥' इति । ७ वरः । ८. तेजसा । ९. अवलोक्य । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम् ।' इत्यमर । १०. पूर्वस्मिन् ज्ञातम् । ११. पटे । १२. 'आयामसंश्रितं मानमिह मानं निगद्यते । नाहसंश्रितमुन्मान प्रमाण व्याससंश्रितम् ॥' १३. सबन्धं ल० । १४. पौर्वोऽलेखि म० । १५. श्रीप्रभविमानाधिपतित्वं ललिताङ्गत्वम् । १६. समानम् ।

किंत्वत्र कतिचित् कस्माद् गूढानि प्रकृतानि भो. । मन्ये संमोहनायेदं जनानामिति चित्रितम् ॥१२३॥
ऐशानो लिखितः कल्पः श्रीप्रभं च प्रभास्वरम्[1] । [2]श्रीप्रभाधिपतेः पार्श्वे दर्शितेयं स्वयंप्रभा ॥१२४॥
कल्पानोकहवीथीयमिदमुत्पङ्कजं सर- । दोलागृहमिदं रम्यं रम्योऽयं कृतकाचलः ॥१२५॥
कृतप्रणयकोपेयं दर्शितात्र पराङ्मुखी । मन्दारवनवीथ्यन्ते लतेव पवनाहता ॥१२६॥
[3]कनकाद्रितटे क्रीडा ललिता दर्शितावयो. । इतो मणितटोत्सर्पत्प्रभाकाण्डपटावृते[4] ॥१२७॥
निगूढ[5]प्रेमसद्भावकैतवापादितेर्ष्यया । शय्योत्सङ्गे[6] मदुत्सङ्गात्[7] बलात् पादोऽर्पितोऽनया ॥१२८॥
मणिनूपुरझङ्कारचारुणा चरणेन माम् । ताडयन्तीह संरुद्धा काञ्च्या सख्येव गौरवात् ॥१२९॥
कृतव्यलीककोपं मां प्रसादयितुमानता । स्वोत्तमाङ्गेन पादौ मे घटयन्तीह दर्शिता ॥१३०॥
अच्युतेन्द्रसमायोगगुरु[8]पूजादिविस्तरः । दर्शितोऽत्र निगूढस्तु भावः प्रणयजो मिथः[9] ॥१३१॥
इह प्रणयकोपेऽस्याः पादयोर्निपतन्निह । कर्णोत्पलेन मृदुना ताड्यमानो न दर्शितः ॥१३२॥
सालक्तकपदाङ्गुष्ठमुद्रयाऽस्मदुर स्थले । वाल्लभ्यलाञ्छनं[10] दत्तं प्रियया नात्र दर्शितम् ॥१३३॥

उज्ज्वल है और ऐसा जान पड़ता है मानो स्वयंप्रभाका ही रूप हो ॥१२२॥ किन्तु इस चित्रमें कितने ही गूढ विषय क्यों दिखलाये गये हैं? मालूम होता है कि अन्य लोगोंको मोहित करनेके लिए ही यह चित्र बनाया गया है ॥१२३॥ यह ऐशान स्वर्ग लिखा गया है। यह देदीप्यमान श्रीप्रभविमान चित्रित किया गया है और यह श्रीप्रभविमानके अधिपति ललितांग देवके समीप स्वयंप्रभादेवी दिखलायी गयी हैं ॥१२४॥ यह कल्पवृक्षोंकी पंक्ति है, यह फूले हुए कमलोंसे शोभायमान सरोवर है, यह मनोहर दोलागृह है और यह अत्यन्त सुन्दर कृत्रिम पर्वत है ॥१२५॥ इधर यह प्रणय-कोप कर पराङ्मुख बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलायी गयी है जो कल्पवृक्षोंके समीप वायुसे झकोरी हुई लताके समान शोभायमान हो रही है ॥१२६॥ इधर तट भागपर लगे हुए मणियोंकी फैलती हुई प्रभारूपी परदासे तिरोहित मेरुपर्वतके तटपर हम दोनोंकी मनोहर क्रीड़ा दिखलायी गयी है ॥१२७॥ इधर, अन्तःकरणमें छिपे हुए प्रेमके साथ कपटसे कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभाने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदीसे हटाकर शय्याके मध्यभागपर रखा है ॥१२८॥ इधर, यह स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे मनोहर अपने चरणकमलके द्वारा मेरा ताड़न करना चाहती है परन्तु गौरवके कारण ही मानो सखीके समान इस करधनीने उसे रोक दिया है ॥१२९॥ इधर दिखाया गया है कि मैं बनावटी कोप किये हुए बैठा हूँ और मुझे प्रसन्न करनेके लिए अति नम्रीभूत हुई स्वयंप्रभा अपना मस्तक मेरे चरणोंपर रख रही है ॥१३०॥ इधर यह अच्युत स्वर्गके इन्द्रके साथ हुई भेंट तथा पिहितास्रव गुरुकी पूजा आदिका विस्तार दिखलाया गया है और इस स्थानपर परस्परके प्रेमभावसे उत्पन्न हुआ रति आदि भाव दिखलाया गया है ॥१३१॥ यद्यपि इस चित्रमें अनेक बातें दिखला दी गयी हैं; परन्तु कुछ बातें छूट भी गयी हैं। जैसे कि एक दिन मैं प्रणय-कोपके समय इस स्वयंप्रभाके चरणोंपर पड़ा था और यह अपने कोमल कर्णफूलसे मेरा ताड़न कर रही थी, परन्तु वह विषय इसमें नहीं दिखाया गया है ॥१३२॥ एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थलपर महावर लगे हुए अपने पैरके अँगूठेसे छाप लगायी थी। वह क्या थी मानो 'यह हमारा पति है' इस बातको सूचित करनेवाला चिह्न ही था। परन्तु वह विषय भी यहाँ

---

१ प्रभास्करम् अ०। २ विमानम्। ३. मेरु। ४. यवनिका। ५. नितरां गूढो निगूढ., प्रेम्णः सद्भाव अस्तित्व प्रेमसद्भाव.। निगूढ प्रेमसद्भावो यस्याः सा। कैतवेनापादिता ईर्ष्या यस्याः सा। निगूढप्रेमसद्भावा चासौ कैतवापादितेर्ष्या च तया। ६ मध्ये। ७. अङ्कात्। ८. गुरुः पिहितास्रव.। ९ रहसि। १०. वल्लभाया भावो वाल्लभ्यं तस्य चिह्नम्।

कपोलफलके चास्याः [1] फलिनीफलसत्त्विषि । लिखन्नालेख्य [2] पत्राणि नाहमत्र निदर्शितः ॥१३४॥
नूनं स्वयंप्रभाचार्याहस्तनैपुण्यमीदृशम् । नान्यस्य स्त्रीजनस्येदृक् प्रावीण्यं स्यात् कलाविधौ ॥१३५॥
इति प्रतर्कयन्नेव पर्याकुल इव क्षणम् । शून्यान्तःकरणोऽध्यासीत् [3] [4] किमप्यामीलितेक्षणः ॥१३६॥
उदश्रुलोचनश्चायं दशामन्त्या [5] मिवोपयन् । दिष्ट्या संधारितोऽभ्येत्य तदा सख्येव मूर्च्छया ॥१३७॥
तदवस्थं तमालोक्य नाहमेवोन्मनायिता [6] । चित्रस्थान्यपि रूपाणि प्रायो [7] न्प्रायोऽन्तरार्द्रताम् ॥१३८॥
[8] प्रत्याश्वासमथानीतः सोपायं परिचारिभिः । त्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽदर्शत्त्वन्मयी [9] दिशः ॥१३९॥
अचिराल्लब्धसंज्ञश्च [10] पृष्टवानिति मामसौ । भद्रे केनेदमालेख्ये [11] लिखितं नः पुरेहितम् [12] ॥१४०॥
प्रत्युक्तश्च मयेत्यस्ति स्त्रीसर्गे [13] स्यैकनायिका । दुहिता मातुलान्यास्ते श्रीमतीति पतिंवरा [14] ॥१४१॥
तां विद्धि मदनस्येव पताकामुज्ज्वलांशुकाम् [15] । स्त्रीसृष्टेरिव निर्माण [16] रेखां माधुर्यशालिनीम् ॥१४२॥
समग्रयौवनारम्भसूत्रपातैरिवायतैः । दृष्टिपातैः [17] स्वभूस्तस्याः श्लाघते शरकौशलम् ॥१४३॥
तद्वक्त्रेन्दुः सदा भाति नूनं दन्तांशुपेशलः । लक्ष्मीकराग्रसंसक्तलीलाम्बुजजिगीषया ॥१४४॥

नहीं दिखाया गया है ॥१३३॥ मैंने इसके प्रियंगु फलके समान कान्तिमान् कपोलफलकपर कितनी ही बार पत्र-रचना की थी, परन्तु वह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया है ॥१३४॥ निश्चयसे यह हाथकी ऐसी चतुराई स्वयंप्रभाके जीवकी ही है क्योंकि चित्रकलाके विषयमें ऐसी चतुराई अन्य किसी स्त्रीके नहीं हो सकती ॥१३५॥ इस प्रकार तर्क-वितर्क करता हुआ वह राजकुमार व्याकुलकी तरह शून्यहृदय और निमीलितनयन होकर क्षण-भर कुछ सोचता रहा ॥१३६॥ उस समय उसकी आँखोंसे आँसू झर रहे थे, वह अन्तकी मरण अवस्थाको प्राप्त हुआ ही चाहता था कि दैव योगसे उसी समय मूर्च्छाने सखीके समान आकर उसे पकड़ लिया, अर्थात् वह मूर्च्छित हो गया ॥१३७॥ उसकी वैसी अवस्था देखकर केवल मुझे ही विषाद नहीं हुआ था; किन्तु चित्रमें स्थित मूर्तियोंका अन्तःकरण भी आर्द्र हो गया था ॥१३८॥ अनन्तर परिचारकोंने उसे अनेक उपायोंसे सचेत किया किन्तु उसकी चित्तवृत्ति तेरी ही ओर लगी रही। उसे समस्त दिशाएँ ऐसी दिखती थीं मानो तुझसे ही व्याप्त हों ॥१३९॥ थोड़ी ही देर बाद जब वह सचेत हुआ तो मुझसे इस प्रकार पूछने लगा कि हे भद्रे, इस चित्रमें मेरे पूर्वभवकी ये चेष्टाएँ किसने लिखी हैं? ॥१४०॥ मैंने उत्तर दिया कि तुम्हारी मामीकी एक श्रीमती नामकी पुत्री है, वह स्त्रियोंकी सृष्टिकी एक मात्र मुख्य नायिका है—वह स्त्रियोंमें सबसे अधिक सुन्दर है और पति-वरण करनेके योग्य अवस्थामें विद्यमान है—अविवाहित है ॥१४१॥ हे राजकुमार, तुम उसे उज्ज्वल वस्त्रसे शोभायमान कामदेवकी पताका ही समझो, अथवा स्त्रीसृष्टिकी माधुर्यसे शोभायमान अन्तिम निर्माणरेखा ही जानो अर्थात् स्त्रियोंमें इससे बढकर सुन्दर स्त्रियोंकी रचना नहीं हो सकती ॥१४२॥ उसके लम्बायमान कटाक्ष क्या हैं मानो पूर्ण यौवनके प्रारम्भको सूचित करनेवाले सूत्रपात ही हैं। उसके ऐसे कटाक्षोंसे ही कामदेव अपने बाणोंके कौशलकी प्रशंसा करता है अर्थात् उसके लम्बायमान कटाक्षोंको देखकर मालूम होता है कि उसके शरीरमें पूर्ण यौवनका प्रारम्भ हो गया है तथा कामदेव जो अपने बाणोंकी प्रशंसा किया करता है सो उसके कटाक्षोंके भरोसे ही किया करता है ॥१४३॥ उसका मुखरूपी चन्द्रमा सदा दाँतोंकी उज्ज्वल किरणोंसे शोभाय-

---

१. फलिनी प्रियङ्गुः। २. मकरिकापत्राणि। ३. चिन्तयति स्म। ४. ईषत्। ५ मरणावस्थाम्। ६ दुर्मन 'सुदिदृक्षायतोच्छ्वासा ज्वरदाहाशनारुचीः। सम्मूर्च्छोन्मादमोहान्ता कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना॥'। ७. अगच्छन्। ८. पुनरुज्जीवनम्। ९ त्वया निर्वृत्ता। १० लब्धचैतन्य। ११. पटे इवाचरिता। १२ पूर्वभवचेष्टितम्। परेहितम् म०, ट०। १३ स्त्रीसृष्टेः। १४. कन्यका। १५ उज्ज्वलवस्त्राम्। उज्ज्वल-कान्ति च। १६ जीवरेखाम्। १७ स्मरः।

तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्तां पदावलीम् । भ्रमरा लङ्घयन्त्याशु रक्ताम्बुजविशङ्कया ॥१४५॥
कामविद्यामिवादेष्टु[1] भ्रमर्यः कलनिस्वनाः । तस्याः कर्णोत्पले लग्ना [2]नापयान्त्यपि ताडिताः ॥१४६॥
देवस्य वज्रदन्तस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिहालेख्ये प्रदर्शितम् ॥१४७॥
लक्ष्मीरिवार्थिनां प्रार्थ्या सैषा कन्या घनस्तनी । [3]मृग्या मृगयते त्वाद्य[4] नान्यस्त्वमिव पुण्यवान् ॥१४८॥
ललिताङ्ग ब्रवीति त्वां प्रिया [5]दिव्येव तन्मृषा । [6]येनेहापि भवान् सौम्यो लक्ष्यते ललिताङ्गकः[7] ॥१४९॥
इत्युक्तस्तु मया साधु पण्डिते साधु जल्पितम् । विधेर्विलसितं[8] चित्रम [9]इष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥१५०॥
पश्य जन्मान्तराज्जन्तूनानीयैवमनन्तरे । भवे संघटयत्याशु[10] विधिर्यातोऽनुलोमताम्[11] ॥१५१॥
द्वीपान्तराद् दिशामन्तात्[12] अन्तरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयान्वीपतां[13] गतः ॥१५२॥
इतीरयन्[14] वचो भूयः प्रस्विद्यत्करपल्लवः । तदस्मत्पट्टकं पाणौ कृतवान् स कुतूहली ॥१५३॥
स्वपट्टकमिदं चान्यत् मम हस्ते[15] समार्पिपत् । यत्र त्वच्चित्रसंवादि[16] सर्वमालक्ष्यते स्फुटम् ॥१५४॥
सूत्रक्रमः स्फुटोऽत्रास्ति व्यक्तो वर्णक्रमोऽप्ययम् । क्रमो[17] भवानुबन्धस्य[18] प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥१५५॥

मान रहता है। इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीके हाथमें स्थित क्रीड़ाकमलको ही जीतना चाहता हो ॥१४४॥ चलते समय, उसके लाक्षा रससे रँगे हुए चरणोंको लालकमल समझकर भ्रमर शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥१४५॥ उसके कर्णफूलपर बैठी तथा मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो उसे कामशास्त्रका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिए वे ताड़ना करनेपर भी नहीं हटती हों ॥१४६॥ राजा वज्रदन्तकी प्रियपुत्री उस श्रीमतीने ही इस चित्रमें अपना कलाकौशल दिखलाया है ॥१४७॥ जो लक्ष्मीकी तरह अनेक अर्थीजनोंके द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् जिसे अनेक अर्थीजन चाहते हैं। जो यौवनवती होनेके कारण स्थूल और कठोर स्तनोंसे सहित है तथा जो अच्छे-अच्छे मनुष्यों-द्वारा खोज करनेके योग्य है अर्थात् दुर्लभ है, ऐसी वह श्रीमती आज आपकी खोज कर रही है। आपकी खोजके लिए ही उसने मुझे यहाँ भेजा है। इसलिए समझना चाहिए कि आपके समान और कोई पुण्यवान् नहीं है ॥१४८॥ वह प्यारी श्रीमती आपका स्वर्गका (पूर्वभवका) नाम ललिताङ्ग बतलाती है। परन्तु वह झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य-भवमें भी सौम्य तथा सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे साक्षात् ललिताङ्ग दिखायी पड़ते हैं ॥१४९॥ इस प्रकार मेरे कहनेपर वह राजकुमार कहने लगा कि ठीक पण्डिते, ठीक, तुमने बहुत अच्छा कहा। अभिलषित पदार्थोंकी सिद्धिमें कर्मोंका उदय भी बड़ा विचित्र होता है ॥१५०॥ देखो, अनुकूलताको प्राप्त हुआ कर्मोंका उदय जीवोंको जन्मान्तरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी शीघ्र मिला देता है ॥१५१॥ अनुकूलताको प्राप्त हुआ दैव अभीष्ट पदार्थको किसी दूसरे द्वीपसे, दिशाओंके अन्तसे, किसी अन्तरीप (टापू) से अथवा समुद्रसे भी लाकर उसका संयोग करा देता है ॥१५२॥ इस प्रकार जो अनेक वचन कह रहा था, जिसके हाथसे पसीना निकल रहा था तथा जिसे कौतूहल उत्पन्न हो रहा था, ऐसे उस राजकुमार वज्रजंघने हमारा चित्रपट अपने हाथमें ले लिया और यह अपना चित्र हमारे हाथमें सौंप दिया। देख, इस चित्रमें तेरे चित्रसे मिलते-जुलते सभी विषय स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ॥१५३-१५४॥ जिस प्रकार प्रत्याहारशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में

---

१. उपदेष्टुं कर्तुम् । २. नापसरन्ति । ३. मृगयितुं योग्या । ४. भवन्तम् । ५. स्वर्गे । ६ कारणेन । ७ मनोज्ञावयवः । ८. चेष्टितम् । ९ अदृष्टपदार्थ. ।–मभीष्टार्थ–अ०, प०, स०, ल० । १० संघट्टयत्याशु अ०, प०, स०, द० । ११. अनुकूलताम् । १२. वारिमध्यद्वीपात् । १३ अनुकूलताम् । १४. ब्रुवन् । १५. समर्पयत् अ०, प०, स०, द० । १६. सदृशम् । १७. भावानु–अ०, प०, स०, द०, ल० । १८ अञ्जल्यित्यादि ।

इदमर्पयतानूनमनुरागो मनोगतः। त्वन्मनोरथसंसिद्धौ [1]सत्यङ्कारोऽर्पितोऽमुना ॥१५६॥
ततः करं प्रसार्यार्थे पुनर्दर्शनमस्तु ते। व्रज व्रजाम इत्युक्त्वा निरगात् स जिनालयात् ॥१५७॥
गृहीत्वाहं च तद्वार्तामिहागामिति पण्डिता। प्रसारितवती[2] तस्याः पुरस्ताच्चित्रपट्टकम् ॥१५८॥
तन्निर्वर्ण्य चिरं जातप्रत्यया सा समाश्वसीत्। [3]चिरोढप्रौढसंतापा चातकीव घनाघनम् ॥१५९॥
यथा शरन्नदीतीरपुलिनं हंसकामिनी। भव्यावली यथाध्यात्मशास्त्रं प्राप्य प्रमोदते ॥१६०॥
यथा कुसुमितं चूतकाननं कलकण्ठिका। द्वीपं नन्दीश्वरं प्राप्य यथा वा सुरनासिरी ॥१६१॥
तथेदं पट्टकं प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला। मनोज्ञेष्टार्थसंपत्तिः कस्य वा नोत्कतां[4] हरेत् ॥१६२॥
ततः कृतार्थतां तस्या समर्थयितुकामया। प्रोचे[5] पण्डितया वाचं श्रीमत्यवसरोचितम् ॥१६३॥
दिष्ट्या कल्याणि [6]कल्याणान्यचिरात् त्वमवाप्नुहि। प्रतीहि[7] प्राणनाथेन प्रत्यासन्नं [8]समागमम् ॥१६४॥
मागमस्त्वमनाश्वासं[9] स[10] जोषं[11] गतवानिति। मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलक्षितः ॥१६५॥
चिरं विलम्बितो द्वारि वीक्षते मां मुहुर्मुहुः। व्रजन्नपि सुगे[12] मार्गे स्खलत्येव पदे पदे ॥१६६॥

सूत्र, वर्ण और धातुओंके अनुबन्धका क्रम स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इस चित्रमें भी रेखाओं, रंगों और अनुकूल भावोंका क्रम अत्यन्त स्पष्ट दिखाई दे रहा है अर्थात् जहाँ जो रेखा चाहिए वहाँ वही रेखा खींची गयी है; जहाँ जो रंग चाहिए वहाँ वही रंग भरा गया है और जहाँ जैसा भाव दिखाना चाहिए वहाँ वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥१५५॥ राजकुमारने मुझे यह चित्र क्या सौंपा है मानो अपने मनका अनुराग ही सौंपा है अथवा तेरे मनोरथको सिद्ध करनेके लिए सत्यंकार (बयाना) ही दिया है ॥१५६॥ अपना चित्र मुझे सौंप देनेके बाद राजकुमारने हाथ फैलाकर कहा कि हे आर्ये, तेरा दर्शन फिर भी कभी हो, इस समय जाओ, हम भी जाते हैं। इस प्रकार कहकर वह जिनालयसे निकलकर बाहर चला गया ॥१५७॥ और मैं उस समाचारको ग्रहण कर यहाँ आयी हूँ। ऐसा कहकर पण्डिताने वज्रजंघका दिया हुआ चित्रपट फैलाकर श्रीमतीके सामने रख दिया ॥१५८॥

उस चित्रपटको उसने बड़ी देर तक गौरसे देखा, देखकर उसे अपने मनोरथ पूर्ण होनेका विश्वास हो गया और उसने सुखकी साँस ली। जिस प्रकार चिरकालसे संतप्त हुई चातकी मेघका आगमन देखकर हर्षित होती है, जिस प्रकार हंसी शरद् ऋतुमें किनारेकी निकली हुई जमीन देखकर प्रसन्न होती है, जिस प्रकार भव्य जीवोंकी पंक्ति अध्यात्मशास्त्रको देखकर प्रमुदित होती है, जिस प्रकार कोयल फूले हुए आमोंका वन देखकर आनन्दित होती है और जिस प्रकार देवोंकी सेना नन्दीश्वर द्वीपको पाकर प्रसन्न होती है; उसी प्रकार श्रीमती उस चित्रपटको पाकर प्रसन्न हुई थी। उसकी सब आकुलता दूर हो गयी थी। सो ठीक ही है अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति किसकी उत्कण्ठा दूर नहीं करती? ॥१५९-१६२॥ तत्पश्चात् श्रीमती इच्छानुसार वर प्राप्त होनेसे कृतार्थ हो जायेगी इस बातका समर्थन करनेके लिए पण्डिता श्रीमतीसे उस अवसरके योग्य वचन कहने लगी ॥१६३॥ कि हे कल्याणि, दैवयोगसे अब तू शीघ्र ही अनेक कल्याण प्राप्त कर। तू विश्वास रख कि अब तेरा प्राणनाथके साथ समागम शीघ्र ही होगा ॥१६४॥ वह राजकुमार वहाँसे चुपचाप चला गया इसलिए अविश्वास मत कर, क्योंकि उस समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था। इस बातका मैंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है ॥१६५॥ वह जाते समय दरवाजेपर बहुत देर तक विलम्ब करता रहा, बार-बार मुझे देखता था

१. सत्यापनम्। २. प्रसारयति स्म। ३. प्रवृद्ध.। ४. उन्मनस्कता चित्तव्याकुलताम्। ५. प्रोच्यते स्म। ६. श्रेयांसि। ७. विश्वासं कुरु। ८. संयोगम्। ९. अविश्वासम्। १०. वज्रजङ्घः। ११. तूष्णीम्। १२. सुखेन गम्यतेऽस्मिन्निति सुगस्तस्मिन्।

स्मयते जृम्भते किंचित् स्मरत्याराद् विलोकते । श्वसित्युष्णं च दीर्घं च पटुरस्मिन् स्मरज्वरः ॥१६७॥
तमेव बहुमन्येते पितरौ[2] ते नरोत्तमम् । नृपेन्द्रो[3] भागिनेयत्वाद् भ्रात्रीयत्वाच्च[4] देव्यसौ[5] ॥१६८॥
लक्ष्मीवान् कुलजो दक्षः स्वरूपोऽभिमतः सताम् । इत्यनेको गुणग्रामः तस्मिन्नस्ति वरोचितः ॥१६९॥
सपत्नी श्रीसरस्वत्योर्भूत्वा त्वं तदुरोगृहे । चिरं निवस कल्याणि कल्याणशतभागिनी ॥१७०॥
[6]सामान्येनोपमानं ते लक्ष्मीर्नैव सरस्वती । यतोऽपूर्वैव लक्ष्मीस्त्वमन्यैव च सरस्वती ॥१७१॥
भिदेलिमदले[7] शश्वत्संकोचिनि रजोजुषि । सा श्रीरश्री[8]रिवोद्भूता कुशेशयकुटीरके[9] ॥१७२॥
सरस्वती च सोच्छिष्टे[10]चलजिह्वाग्रपल्लवे । [11]लब्धजन्मा तयोः कस्य.[12] तवैवाभिजनः[13] शुचिः ॥१७३॥
लताङ्गि ललिताङ्गस्य विविक्ते[14] तस्य मानसे । रमस्व राजहंसीव[15] लताङ्गमितवत्सरान् ॥१७४॥
युवयोरुचितं योगं कृत्वा यातु कृतार्थताम् । विधाता जननिर्वादात्[16] मुच्येत कथमन्यथा ॥१७५॥
समाश्वसिहि तद्भद्रे क्षिप्रमेष्यति ते वरः । त्वद्वरागमने पश्य पुरमुद्वेलकौतुकम्[17] ॥१७६॥

और सुखपूर्वक गमन करने योग्य उत्तम मार्गमें चलता हुआ भी पद-पदपर स्खलित हो जाता था। वह हँसता था, जँभाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, दूर तक देखता था और उष्ण तथा लम्बी साँस छोड़ता था। इन सब चिह्नोंसे जान पड़ता था कि उसमें कामज्वर बढ़ रहा है ॥१६६-१६७॥ वह वज्रजंघ राजा वज्रदन्तका भानजा है और लक्ष्मीमती देवीके भाईका पुत्र (भतीजा) है। इसलिए तेरे माता-पिता भी उसे श्रेष्ठ वर समझते हैं॥१६८॥ इसके सिवाय वह लक्ष्मीमान् है, उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ है, चतुर है, सुन्दर है और सज्जनोंका मान्य है। इस प्रकार उसमें वरके योग्य अनेक गुण विद्यमान हैं ॥१६९॥ हे कल्याणि, तू लक्ष्मी और सरस्वतीकी सपत्नी (सौत) होकर सैकड़ों सुखोंका अनुभव करती हुई चिरकाल तक उसके हृदय-रूपी घरमें निवास कर ॥१७०॥ यदि सामान्य (गुणोंकी बराबरी) की अपेक्षा विचार किया जाये तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी उपमाको नहीं पा सकतीं, क्योंकि तू अनोखी लक्ष्मी है और अनोखी ही सरस्वती है। जिसके पत्ते फटे हुए हैं, जो सदा संकुचित (संकीर्ण) होता रहता है और जो परागरूपी धूलिसे सहित है ऐसे कमलरूपी झोंपड़ीमें जिस लक्ष्मीका जन्म हुआ है उसे लक्ष्मी नहीं कह सकते वह तो अलक्ष्मी है–दरिद्रा है। भला, तुम्हें उसकी उपमा कैसे दी जा सकती है ? इसी प्रकार उच्छिष्ट तथा चञ्चल जिह्वाके अग्रभागरूपी पल्लव-पर जिसका जन्म हुआ है वह सरस्वती भी नीच कुलमें उत्पन्न होनेके कारण तेरी उपमाको प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि तेरा कुल अतिशय शुद्ध है–उत्तम कुलमें ही तू उत्पन्न हुई है॥१७१-१७३॥ हे लताङ्गि (लताके समान कृश अंगोंको धारण करनेवाली) जिस प्रकार पवित्र मानस-सरोवरमें राजहंसी क्रीडा किया करती है उसी प्रकार तू भी ललिताङ्ग (वज्रजंघ) के पवित्र और एकान्त मनमें अनेक वर्षों तक क्रीडा कर ॥१७४॥ विधाता तुम दोनोंका योग्य समागम-कर कृतकृत्यपनेको प्राप्त हो, क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता अर्थात् तुम दोनोंका समागम नहीं करता तो लोकनिन्दासे कैसे छूटता ? ॥१७५॥ इसलिए हे भद्रे, धैर्य धर, तेरा पति शीघ्र ही आयेगा, देख, तेरे पतिके आगमनके लिए सारा नगर कैसा अतिशय कौतुकपूर्ण हो रहा है

१ ईषद्धसति। २ जननीजनकौ। ३. चक्री। ४ भ्रातृपुत्रत्वात्। ५. लक्ष्मीमति। ६. समानधर्मेण। सामान्येन इति पदविभाग। ७ भिन्नकपाटे भिन्नपर्णे च। ८. अश्रीः दरिद्रा। ९ तृणकुटीरे। १०. चलज्जिह्वाग्र–अ०, द०, म०, ल०। ११ मुखे जन्म तयोः द०। १२. कुत आगत.। १३. कुलम्। १४. पवित्रे। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यभिधानात्। १५ मत्स्याविशेष। लतागमिव म०, ल०। १६.'कर्णिका-रमथवा जनितान्तम्लानगन्धगुणतो जनितान्तम्। मज्जने हि विबिरप्रतिमोहस्तम्य् युक्तिघटना प्रतिमोह ॥' इत्यभिजनापवादात्। १७. उत्साहम्।

इत्यादितद्[1]गतालापैः श्रव्यैस्तां सुखमानयत् । पण्डिता सा[2] नु तत्प्राप्तौ[3] नाद्याप्यासीन्निराकुला ॥१७७॥
तावच्च चक्रिणा बन्धुप्रीतिमातन्वता पराम् । गत्वार्धपथमानीतो वज्रबाहुर्महीपतिः ॥१७८॥
[4]स्वसुः पतिं स्वसारं च [5]स्वस्रीयं च विलोकयन् । प्रापच्चक्री परां प्रीतिं प्रेम्णे दृष्टा हि बन्धुता[6] ॥१७९॥
सुखसंकथया कांचित् स्थित्वा कालकलां पुनः । [7]प्राघूर्णकोचितां तस्मै सत्क्रियां[8] तेन लम्भिताः[9] ॥१८०॥
चक्रवर्तिकृतां प्राप्य वज्रबाहुः स माननाम्[10] । प्रिप्रिये ननु संप्रीत्यै सत्कारः प्रभुणा कृतः ॥१८१॥
यथासुखं च संतोषात् स्थितेष्वेवं सनाभिषु । ततश्चक्रधरो वाचमित्यवोचत् स्वसुः पतिम् ॥१८२॥
यत् किंचिद् रुचितं तुभ्यं वस्तुजाले[11] ममालये । तद् गृहाण यदि प्रीतिर्मयि तेऽस्त्यनियन्त्रणा[12] ॥१८३॥
प्रीतेरद्य परां[13] कोटिमधिरोहति मे मनः । त्वं सतुक्कः[14] सदारश्च यन्ममाभ्यागतो गृहम् ॥१८४॥
त्वमिष्टबन्धुरायातो गृहं मेऽद्य सदारकः । [15]संविभागोचितः कोऽन्यः प्रस्तावः स्यान्ममेदृशः ॥१८५॥
तदत्रावसरे वस्तु तन्न मे यन्न दीयते । प्रणयिन् प्रणयस्यास्य मा कृथा भङ्गमर्थिनः[16] ॥१८६॥
इत्युक्तः प्रेमनिघ्नेन[17] चक्रिणा प्रत्युवाच सः । त्वत्प्रसादान्ममास्त्यत्र सर्वं किं प्रार्थ्यमद्य मे ॥१८७॥
[18]साम्नानेनार्पितः स्वेन प्रयुक्तेनेति सादरम् । प्रणयस्य परां भूमिमहमारोपि[19]तस्त्वया ॥१८८॥

॥१७६॥ इस तरह पण्डिताने वज्रजंघसम्बन्धी अनेक मनोहर बातें कहकर श्रीमतीको सुखी किया, परन्तु वह उसकी प्राप्तिके विषयमें अबतक भी निराकुल नहीं हुई ॥१७७॥

इधर पण्डिताने श्रीमतीसे जबतक सब समाचार कहे तबतक महाराज वज्रदन्त, विशाल भ्रातृप्रेमको विस्तृत करते हुए आधी दूर तक जाकर वज्रबाहु राजाको ले आये ॥१७८॥ राजा वज्रदन्त अपने बहनोई, बहन और भानजेको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि इष्टजनोंका दर्शन प्रीतिके लिए ही होता है ॥१७९॥ तदनन्तर कुछ देर तक कुशल-मंगलकी बातें होती रहीं और फिर चक्रवर्तीकी ओरसे सब पाहुनोंका उचित सत्कार किया गया ॥१८०॥ स्वयं चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारको पाकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ। सच है, स्वामीके द्वारा किया हुआ सत्कार सेवकोंकी प्रीतिके लिए ही होता है ॥१८१॥ इस प्रकार जब सब बन्धु संतोषपूर्वक सुखसे बैठे हुए थे तब चक्रवर्तीने अपने बहनोई राजा वज्रबाहुसे नीचे लिखे हुए वचन कहे ॥१८२॥ यदि आपकी मुझपर असाधारण प्रीति है तो मेरे घरमें जो कुछ वस्तु आपको अच्छी लगती हो वही ले लीजिए ॥१८३॥ आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर पधारे हैं इसलिए मेरा मन प्रीतिकी अन्तिम अवधिको प्राप्त हो रहा है ॥१८४॥ आप मेरे इष्ट बन्धु हैं और आज पुत्रसहित मेरे घर आये हुए हैं इसलिए देनेके योग्य इससे बढ़कर और ऐसा कौन-सा अवसर मुझे प्राप्त हो सकता है ? ॥१८५॥ इसलिए इस अवसरपर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मैं आपके लिए न दे सकूँ। हे प्रणयिन्, मुझ प्रार्थीके इस प्रेमको भंग मत कीजिए ॥१८६॥ इस प्रकार प्रेमके वशीभूत चक्रवर्तीके वचन सुनकर राजा वज्रबाहुने इस प्रकार उत्तर दिया। हे चक्रिन्, आपके प्रसादसे मेरे यहाँ सब कुछ है, आज मैं आपसे किस वस्तुकी प्रार्थना करूँ ? ॥१८७॥ आज आपने सम्मानपूर्वक जो मेरे साथ स्वयं सामका प्रयोग किया है—भेंट आदि करके स्नेह प्रकट किया है सो मानो आपने मुझे

---

१. वज्रजङ्घगतः । २. श्रीमती । ३ तत्प्राप्त्यै द०, ल० । ४. भगिन्याः । ५ भगिनीपुत्रम् । ६. बन्धुसमूह. । ७. अतिथियोग्याम् । ८. सत्कारविशेषम् । ९. प्रापिता. । १०. मानताम् प०, स०, द०, ल०, ट० । सम्मानम् । ११. —जातं प०, अ०, स०, द०, ल० । १२. अनिर्बन्धा । १३. परमप्रकर्षम् । १४. सपुत्रः । सतुष्क म०, ल० । सपुत्रः अ० द०, स० । १५. सविभाग त्याग सम्भावना वा । १६. मम । १७. स्नेहाधीनेन । १८ प्रियवचनेन । १९. प्रापित. ।

क्रियन्मात्रमिदं देव स्वापतेयं परिक्षयि । त्वयाढ्यङ्करणी[1] दृष्टिरलंमयार्पिता मयि ॥१८९॥
अहमद्य कृती धन्यो जीवितं श्लाघ्यमद्य मे । यद् वीक्षितोऽस्मि देवेन स्नेहनिर्भरया दृशा ॥१९०॥
परोपकृतये[2] बिभ्रत्यर्थवत्तां[3] भवद्विधाः । लोके[4] प्रसिद्धधातुत्वा· शब्दा इव कृतागमाः[5] ॥१९१॥
तदेव वस्तु[6] वस्तुष्ट्यै सोपयोगं यदर्थिनाम् । अविभक्तधनानां तु बन्धुताया[7] विशेषतः ॥१९२॥
तदेतत् स्वैरसंभोग्यमास्तां[8] [9]सान्न्यासिकं धनम् । न मे मानग्रह· कोऽपि त्वयि नानादरोऽपि वा ॥१९३॥
प्रार्थयेऽहं तथाप्येतद् युष्मदाज्ञां प्रपूजयन् । श्रीमती वज्रजङ्घाय देया कन्योत्तमा त्वया ॥१९४॥
भागिनेयत्वमस्त्येकमाभिजात्य[10] च[11] तत्कृतम् । योग्यतां चास्य पुष्णाति सत्कारोऽद्य त्वया कृत·॥१९५॥
अथवैतत् खलूक्त्वाय[12] सर्वथार्हति कन्यकाम् । हसन्त्याश्च[13] रुदन्त्याश्च प्राघूर्णक[14] इति श्रुते ॥१९६॥
तत्प्रसीद विभो दातुं भागिनेयाय कन्यकाम् । सफला प्रार्थना मेऽस्तु [15]कुमारः सोऽस्तु तत्पति· ॥१९७॥

स्नेहकी सबसे ऊँची भूमिपर ही चढ़ा दिया है ॥ १८८ ॥ हे देव, नष्ट हो जानेवाला यह धन कितनी-सी वस्तु है ? यह आपने सम्पन्न बनानेवाली अपनी दृष्टि मुझपर अर्पित कर दी है मेरे लिए यही बहुत है ॥१८९॥ हे देव, आज आपने मुझे स्नेहसे भरी हुई दृष्टिसे देखा है इसलिए मैं आज कृतकृत्य हुआ हूँ, धन्य हुआ हूँ और मेरा जीवन भी आज सफल हुआ है ॥ १९० ॥ हे देव, जिस प्रकार लोकमें शास्त्रोंकी रचना करनेवाले तथा प्रसिद्ध धातुओंसे बने हुए जीव अजीव आदि शब्द परोपकार करनेके लिए ही अर्थोंको धारण करते है, उसी प्रकार आप-जैसे उत्तम पुरुष भी परोपकार करनेके लिए ही अर्थों (धन-धान्यादि विभूतियों) को धारण करते हैं ॥ १९१ ॥

हे देव, आपको उसी वस्तुसे सन्तोष होता है जो कि याचकोंके उपयोगमें आती है और इससे भी बढकर सन्तोष उस वस्तुसे होता है जो कि धन आदिके विभागसे रहित (सम्मिलित रूपसे रहनेवाले) बन्धुओंके उपयोगमें आती है ॥ १९२ ॥ इसलिए, आपके जिस धनको मैं अपनी इच्छानुसार भोग सकता हूँ ऐसा वह धन धरोहररूपसे आपके ही पास रहे, इस समय मुझे आवश्यकता नहीं है। हे देव, आपसे धन नहीं माँगनेमे मुझे कुछ अहंकार नहीं है और न आपके विषयमे कुछ अनादर ही है ॥ १९३ ॥ हे देव, यद्यपि मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है तथापि आपकी आज्ञाको पूज्य मानता हुआ आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी श्रीमती नामकी उत्तम कन्या मेरे पुत्र वज्रजंघके लिए दे दीजिए ॥ १९४ ॥ यह वज्रजंघ प्रथम तो आपका भानजा है, और दूसरे आपका भानजा होनेसे ही इसका उच्चकुल प्रसिद्ध है। तीसरे आज आपने जो इसका सत्कार किया है वह इसकी योग्यताको पुष्ट कर रहा है ॥ १९५ ॥ अथवा यह सब कहना व्यर्थ है। वज्रजंघ हर प्रकारसे आपकी कन्या ग्रहण करनेके योग्य है। क्योंकि लोकमें ऐसी कहावत प्रसिद्ध है कि कन्या चाहे हँसती हो चाहे रोती हो, अतिथि उसका अधिकारी होता है ॥ १९६ ॥ इसलिए हे

---

१ अनाढ्य· आढ्य क्रियते यया सा । 'कृञ् करणे' खनट् । २ उपकाराय । ३. धनिकताम् । पक्षे अभिधेयवत्त्वम् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ।' इत्यमर· । ४. –प्रसिद्धधातुत्वात् अ०, ल० । लोकप्रसिद्धधातुत्वात् म० । ५ सूत्रानुसारेण निष्पन्नाः । कृतो ग्रा. म० । कृतागता ट० । ६. युष्माकम् । ७. बन्धुसमूहस्य 'ग्रामजनबन्धुगजसहायात्तल्' इति समूहे तल् । ८ तत्कारणात् । ९. निक्षिप्तम् । १०. कुलजत्वम् । ११. भागिनेयत्वकृतम् । १२ वचनेनालम् । 'निषेधेऽलंखलो क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः । १३. –श्चारुदन्त्यश्च प०, म०, ल० । १४ अभ्यागत । प्राघूर्णिक ट० । १५. 'कुमार· कौमारः' इति द्वौ पाठौ 'त०, ब०' पुस्तकयो. । कौमार अ०, प०, स०, द०, म०, ल०, ट० । कुमारीहृदयं प्राप्त. ।

वस्तुवाहनसर्वस्वं लब्धमेवासकृन्मया । किं तेनालब्धपूर्वं न कन्यारत्नं प्रदीयताम् ॥१९८॥
इति विज्ञापितस्तेन चक्रभृत् प्रत्यपद्यत । तथाऽस्तु संगमो यूनोरनुरूपोऽनयोरिति ॥१९९॥
प्रकृत्या सुन्दराकारो वज्रजङ्घोऽस्त्वयं वरः । पतिंवरा गुणैर्युक्ता श्रीमती चास्तु सा वधूः ॥२००॥
जन्मान्तरानुबद्धं च प्रेमास्त्येवानयोरतः[1] । समागमोऽस्तु चन्द्रस्य ज्योत्स्नायास्तु यथोचितः ॥२०१॥
प्रागेव चिन्तितं कार्यं मयेदमतिमानुषम्[2] । विधिस्तु प्राक्तरामत्र सावधानोऽत्र के वयम् ॥२०२॥
इति चक्रधरेणोक्तां वाचं संपूज्य पुण्यधीः । वज्रबाहुः परां कोटिं प्रीतेरध्यारुरोह सः ॥२०३॥
वसुन्धरा महादेवी पुत्रकल्याणसंपदा । तथा प्रमदपूर्णाङ्गी न स्वाङ्गे नन्वमात्तता[3] ॥२०४॥
सा तदा सुतकल्याणमहोत्सवसमुद्गतम् । रोमाञ्चमन्वितं[4] भेजे प्रमदाङ्कुरसन्निभम् ॥२०५॥
मन्त्रिमुख्यमहामात्यसेनापतिपुरोहिताः । [5]सामन्ताश्च [6]सपौरास्तत्कल्याणं बहुमेनिरे ॥२०६॥
कुमारो वज्रजङ्घोऽयमनङ्गसदृशाकृतिः । श्रीमतीयं रतिं रूपसंपदा निर्जिगीषति ॥२०७॥
अभिरूपः[7] कुमारोऽयं सुरूपा[8] कन्यकानयोः । अनुरूपोऽस्तु संबन्धः सुरदम्पतिलीलयोः ॥२०८॥
इति प्रमदविस्तारमुद्वहत् तत्पुरं तदा । राजवेश्म च संवृत्तं[9] श्रियमन्यामिवाश्रितम् ॥२०९॥

स्वामिन्, अपने भानजे वज्रजंघको पुत्री देनेके लिए प्रसन्न होइए। मैं आशा करता हूँ कि मेरी प्रार्थना सफल हो और यह कुमार वज्रजंघ ही उसका पति हो ॥१९७॥ हे देव, धन, सवारी आदि वस्तुएँ तो मुझे आपसे अनेक बार मिल चुकी हैं इसलिए उनसे क्या प्रयोजन है ? अबकी बार तो कन्या-रत्न दीजिए जो कि पहले कभी नहीं मिला था ॥ १९८ ॥ इस प्रकार राजा वज्रबाहुने जो प्रार्थना की थी उसे चक्रवर्तीने यह कहते हुए स्वीकार कर लिया कि आपने जैसा कहा है वैसा ही हो, युवावस्थाको प्राप्त हुए इन दोनोंका यह समागम अनुकूल ही है ॥१९९॥ स्वभावसे ही सुन्दर शरीरको धारण करनेवाला यह वज्रजंघ वर हो और अनेक गुणोंसे युक्त कन्या श्रीमती उसकी वधू हो ॥२००॥ इन दोनोंका प्रेम जन्मान्तरसे चला आ रहा है इसलिए इस जन्ममें भी चन्द्रमा और चाँदनीके समान इन दोनोंका योग्य समागम हो ॥२०१॥ इस लोकोत्तर कार्यका मैंने पहलेसे ही विचार कर लिया था। अथवा इन दोनोंका दैव (कर्मोंका उदय) इस विषयमें पहलेसे ही सावधान हो रहा है। इस विषयमें हम लोग कौन हो सकते हैं ? ॥२०२॥ इस प्रकार चक्रवर्तीके द्वारा कहे हुए वचनोंका सत्कार कर वह पवित्र बुद्धिका धारक राजा वज्रबाहु प्रीतिकी परम सीमापर आरूढ हुआ–अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥२०३॥ उस समय वज्रजंघकी माता वसुन्धरा महादेवी अपने पुत्रकी विवाहरूप सम्पदासे इतनी अधिक हर्षित हुई कि अपने अंगमें भी नहीं समा रही थी ॥२०४॥ उस समय वसुन्धराके शरीरमें पुत्रके विवाहरूप महोत्सवसे रोमांच उठ आये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो हर्षके अंकुर ही हों ॥ २०५ ॥ मंत्री, महामंत्री, सेनापति, पुरोहित, सामन्त तथा नगरवासी आदि सभी लोगोंने उस विवाहकी प्रशंसा की ॥ २०६ ॥ यह कुमार वज्रजंघ कामदेवके समान सुन्दर आकृतिका धारक है और यह श्रीमती अपनी सौन्दर्य-सम्पत्तिसे रतिको जीतना चाहती है ॥ २०७ ॥ यह कुमार सुन्दर है और यह कन्या भी सुन्दरी है इसलिए देव-देवाङ्गनाओंकी लीलाको धारण करनेवाले इन दोनोंका योग्य समागम होना चाहिए ॥ २०८ ॥ इस प्रकार आनन्दके विस्तारको धारण करता हुआ वह नगर बहुत ही शोभायमान हो रहा था और

---

१ –नयोरिव प० । –नयोरति अ० । २. मानुषमतिक्रान्तः । ३ सममात्तदा अ०, प०, स०, द० ल० । माति स्म । ४. व्याप्तम् । ५. नायकाः । ६. सपौरास्तु स० । ७. मनोज्ञ । ८. मनोज्ञा । प्राप्तरूप-सुरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोरित्यभिधानात् । ९. सम्यग वर्तते स्म ।

विवाहमण्डपारम्भं चक्रवर्तिनिदेशतः[1] । [2]महास्थपतिरातेने परार्घ्यमणिकाञ्चनैः ॥२१०॥
चामीकरमयाः स्तम्भा [3]तलकुम्भैर्महोदयैः । रत्नोज्ज्वलैः श्रियं तेनुर्नृपा इव नृपासनैः ॥२११॥
स्फाटिक्यो भित्तयस्तस्मिन् जनानां प्रतिबिम्बकैः । चित्रिता इव संरेजुः प्रेक्षिणां[4] चित्तरञ्जिकाः ॥२१२॥
मणिकुट्टिमभूरस्मिन् नीलरत्नैर्विनिर्मिता । पुष्पोपहारैर्व्यरुचद् द्यौरिवाततारका ॥२१३॥
मुक्तादामानि लम्बानि [5]तद्गर्भे व्यद्युतस्तराम् । सफेनानि मृणालानि लम्बितानीव कौतुकात् ॥२१४॥
पद्मरागमयस्तस्मिन् वेदिबन्धोऽभवत् पृथुः । जनानामिव चित्तस्थो रागस्तन्मयतां गतः ॥२१५॥
सुधोज्ज्वलानि कूटानि पर्यन्तेष्वस्य रेजिरे । तोषात् सुरविमानानि हसन्तीवात्मशोभया ॥२१६॥
वेदिका[6]कटिसूत्रेण पर्यन्ते स परिष्कृतः । रामणीयकसीम्नेव रुद्धदिक्केन विश्वतः ॥२१७॥
रत्नैर्विरचितं तस्य बभौ गोपुरमुच्चकैः । प्रोत्सर्पद्रत्नभाजालरचितेन्द्रशरासनम् ॥२१८॥
सर्वरत्नमयस्तस्य द्वारबन्धो निवेशितः । लक्ष्म्याः प्रवेशनायेव पर्यन्तार्पितमङ्गलः ॥२१९॥
स तदाष्टाह्निकीं पूजां चक्रे चक्रधरः पराम् । कल्पवृक्षमहारूढिं महापूतजिनालये ॥२२०॥
ततः शुभदिने सौम्ये लग्ने शुभमुहूर्तके । चन्द्रताराबलोपेते तज्ज्ञैः[7] सम्यग्निरूपिते ॥२२१॥

राजमहलका तो कहना ही क्या था ? वह तो मानो दूसरी ही शोभाको प्राप्त हो रहा था, उसकी शोभा ही बदल गयी थी ॥२०९॥ चक्रवर्तीकी आज्ञासे विश्वकर्मा नामक मनुष्यरत्नने महामूल्य रत्नों और सुवर्णसे विवाहमण्डप तैयार किया था ॥२१०॥ उस विवाहमण्डपमें सुवर्णके खम्भे लगे हुए थे और उनके नीचे रत्नोंसे शोभायमान बड़े-बड़े तलकुम्भ लगे हुए थे, उन तलकुम्भोंसे वे सुवर्णके खम्भे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि सिंहासनोंसे राजा सुशोभित होते हैं ॥२११॥ उस मण्डपमें स्फटिककी दीवालोंपर अनेक मनुष्योंके प्रतिबिम्ब पड़ते थे जिनसे वे चित्रित हुई-सी जान पड़ती थीं और इसीलिए दर्शकोंका मन अनुरञ्जित कर रही थीं ॥२१२॥ उस मण्डपकी भूमि नील रत्नोंसे बनी हुई थी, उसपर जहाँ-तहाँ फूल बिखेरे गये थे। उन फूलोंसे वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ताराओंसे व्याप्त नीला आकाश ही हो ॥२१३॥ उस मण्डपके भीतर जो मोतियोंकी मालाएँ लटकती थीं वे ऐसी भली मालूम होती थीं मानो किसीने कौतुकवश फेनसहित मृणाल ही लटका दिये हों ॥२१४॥ उस मण्डपके मध्यमें पद्मराग मणियोंकी एक बड़ी वेदी बनी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो मनुष्योंके हृदयका अनुराग ही वेदीके आकारमें परिणत हो गया हो ॥२१५॥ उस मण्डपके पर्यन्त भागमें चूनासे पुते हुए सफेद शिखर ऐसे शोभायमान होते थे मानो अपनी शोभासे सन्तुष्ट होकर देवोंके विमानोंकी हँसी ही उड़ा रहे हों ॥२१६॥ उस मण्डपके सब ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी हुई थी, वह वेदिका उसके कटिसूत्रके समान जान पड़ती थी। उस वेदिकारूप कटिसूत्रसे घिरा हुआ मण्डप ऐसा मालूम होता था मानो सब ओरसे दिशाओंको रोकनेवाली सौन्दर्यकी सीमासे ही घिरा हो ॥२१७॥ अनेक प्रकारके रत्नोंसे बहुत ऊँचा बना हुआ उसका गोपुर-द्वार ऐसा मालूम होता था मानो रत्नोंकी फैलती हुई कान्तिके समूहसे इन्द्रधनुष ही बना रहा हो। ॥२१८॥ उस मण्डपका भीतरी दरवाजा सब प्रकारके रत्नोंसे बनाया गया था और उसके दोनों ओर मङ्गल-द्रव्य रखे गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो लक्ष्मीके प्रवेशके लिए ही बनाया गया हो ॥२१९॥ उसी समय वज्रदन्त चक्रवर्तीने महापूत चैत्यालयमें आठ दिन तक कल्पवृक्ष नामक महापूजा की थी ॥२२०॥ तदनन्तर ज्योतिषियोंके द्वारा बताया हुआ शुभ

---

१ शासनात् । २ विश्वकर्मा । ३ आसनीभूतपाषाणैः । ४. पश्यताम् । ५. तन्मण्डपान्तरे । ६. वेदिकानाम्ना हेमसूत्रत्रयेण । ७ ज्योतिःशास्त्रज्ञैः ।

कृतोपशोभे नगरे समन्ताद्बद्धतोरणे । सुरलोक इवाभाति परां दधति संपदम् ॥२२२॥
राजवेश्माङ्गणे सान्द्रचन्दनच्छटयोक्षिते[1] । पुष्पोपहारैरागुञ्जदलिभिः कृतरोचिषि ॥२२३॥
सौवर्णकलशैः पूर्णैः पुण्यतोयैः सरत्नकैः । अभ्यषेचि विधानज्ञैर्विधिवत् तद्वधूवरम् ॥२२४॥
तदा महानकध्वानः शङ्खकोलाहलाकुलः[2] । घनाडम्बरमाक्रम्य जजृम्भे नृपमन्दिरे ॥२२५॥
कल्याणाभिषवे तस्मिन् श्रीमतीवज्रजङ्घयोः । स नान्तर्वंशिकस्[3]तोषनिर्भरं न ननर्त यः ॥२२६॥
वाराङ्गनाः पुरन्ध्र्यश्च पौरवर्गश्च तत्क्षणम् । पुण्यैः पुण्याक्षतैः शेषां[4] साशिषं तावलम्भयन्[5] ॥२२७॥
श्लक्ष्णपट्टदुकूलानि निष्प्रवाणीनि[6] तौ तदा । क्षीरोदोर्मिमयानीव[7] पर्यधत्तामनन्तरम् ॥२२८॥
प्रसाधनगृहे[8] रम्ये[9] प्राङ्मुख सुनिवेशितौ । तावलंकारसर्वस्वं भेजतुर्मङ्गलोचितम् ॥२२९॥
चन्दनेनानुलिप्तौ तौ ललाटेन[10] ललाटिकाम् । चन्दनद्रवविन्यस्तां दधतुः कौतुकोचिताम्[11] ॥२३०॥
वक्षसा हारयष्टिं तौ हरिचन्दनशोभिना । अधत्तां मौक्तिकैः स्थूलै[12] धृततारावलिश्रियम् ॥२३१॥
पुष्पमाला बभौ मूर्ध्नि तयोः कुञ्चितमूर्द्धजे । सीतापगेव नीलाद्रिशिखरोपान्तवर्त्तिनी ॥२३२॥
कर्णिकाभरणन्यासं[13] कर्णयोर्निरविक्षताम्[14] । [15]यद्रत्नाभांशुभिर्भेजे तद्वक्त्राब्जं परां श्रियम् ॥२३३॥

दिन शुभ लग्न और चन्द्रमा तथा ताराओंके बलसे सहित शुभ मुहूर्त आया। उस दिन नगर विशेषरूपसे सजाया गया। चारों ओर तोरण लगाये गये तथा और भी अनेक विभूति प्रकट की गयी जिससे वह स्वर्गलोकके समान शोभायमान होने लगा। राजभवनके आँगनमें सब ओर सघन चन्दन छिड़का गया तथा गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे सुशोभित पुष्प सब ओर बिखेरे गये। इन सब कारणोंसे वह राजभवनका आँगन बहुत ही शोभायमान हो रहा था। उस आँगनमें वधू-वर बैठाये गये तथा विधि-विधानके जाननेवाले लोगोंने पवित्र जलसे भरे हुए रत्नजड़ित सुवर्णमय कलशोंसे उनका अभिषेक किया ॥२२१–२२४॥ उस समय राजमन्दिरमें शङ्खके शब्दसे मिला हुआ बड़े-बड़े दुन्दुभियोंका भारी कोलाहल हो रहा था और वह आकाशको भी उल्लंघन कर सब ओर फैल गया था ॥२२५॥ श्रीमती और वज्रजंघके उस विवाहाभिषेकके समय अन्तःपुरका ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो हर्षसे सन्तुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥२२६॥ उस समय वारांगनाएँ, कुलवधुएँ और समस्त नगर-निवासी जन उन दोनों वर-वधुओंको आशीर्वादके साथ-साथ पवित्र पुष्प और अक्षतोंके द्वारा प्रसाद प्राप्त करा रहे थे ॥२२७॥ अभिषेकके बाद उन दोनों वर-वधूने क्षीरसागरकी लहरोंके समान अत्यन्त उज्ज्वल, महीन और नवीन रेशमी वस्त्र धारण किये ॥२२८॥ तत्पश्चात् दोनों वर-वधू अतिशय मनोहर प्रसाधन-गृहमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठ गये और वहाँ उन्होंने विवाह मंगलके योग्य उत्तम-उत्तम आभूषण धारण किये ॥२२९॥ पहले उन्होंने अपने सारे शरीरमें चन्दनका लेप किया। फिर ललाटपर विवाहोत्सवके योग्य, घिसे हुए चन्दनका तिलक लगाया ॥२३०॥ तदनन्तर सफेद चन्दन अथवा केशरसे शोभायमान वक्षःस्थलपर गोल नक्षत्र-माला-के समान सुशोभित बड़े-बड़े मोतियोंके बने हुए हार धारण किये ॥२३१॥ कुटिल केशोंसे सुशोभित उनके मस्तकपर धारण की हुई पुष्पमाला नीलगिरिके शिखरके समीप बहती हुई सीता नदीके समान शोभायमान हो रही थी ॥२३२॥ उन दोनोंने कानोंमें ऐसे कर्णभूषण

१. प्रोक्षिते। २ आकीर्णः। ३. अन्तःपुरेष्वधिकृतः। ४ आशो सहिताम्। ५. प्रापयन्ति स्म। ६. नववस्त्राणि। –नि तत्प्रमाणानि स०। ७. परिधानमकार्ष्टाम्। ८. अलंकारगृहे। ९. प्राङ्मुखौ स०। १०. तिलकम्। ११. उत्सवोचिताम्। १२. वृत्ततारा-अ०, स०, ल०। १३. कर्णाभरणम्। १४ अधत्ताम्। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमर। १५. यद्रत्नाभ्यशुभि–प०। यद्रत्नाभाशुभि–अ०।

आजानुलम्बमानेन तौ प्रालम्बेन[1] रेजतुः । शरज्ज्योत्स्नामयेनेव मृणालच्छविचारुणा ॥२३४॥
[2]कटकाङ्गदकेयूर[3]मुद्रिकादिविभूषणैः । बाहू व्यरुचतां कल्पतरुशाखाच्छवी तयोः ॥२३५॥
[4]जघने रसनावेष्टैः[5] [6]किङ्किणीकृतनिःस्वनम् । तावनङ्गद्विपस्येव जयडिण्डिममूहतुः ॥२३६॥
मणिनूपुरझङ्कारैः क्रमौ शिश्रियतुः श्रियम् । श्रीमत्या पद्मयोर्भृङ्गकलनिःक्वणशोभिनोः ॥२३७॥
महालङ्कृतिमाचार इत्येव[7] बिभ्रतः स्म तौ । अन्यथा[8] सुन्दराकारशोभैवालङ्कृतिस्तयोः ॥२३८॥
लक्ष्मीमति स्वयं लक्ष्मीरिव पुत्रीमभूषयत् । पुत्रं च भूषयामास वसुधेव वसुन्धरा ॥२३९॥
प्रसाधनविधेरन्ते यथास्वं तौ निवेशितौ । रत्नवेदीतटे पूर्वं कृतमङ्गलसत्क्रिये ॥२४०॥
मणिप्रदीपरुचिरा मङ्गलैरुपशोभिता । बभौ वेदी तदाक्रान्ता[9] सामरेवाद्रिराट्तटी ॥२४१॥
ततो मधुरगम्भीरमानका [10]कोणताडिताः । दध्वनुर्ध्वनदम्भोधि[11]गभीरध्वनयस्तदा ॥२४२॥
मङ्गलोद्गानमातेनुर्वारवध्वः कल तदा । [12]उत्साहान् पेठुरभितो वन्दिनः[13] सह[14]मागधाः ॥२४३॥
वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारेभे ललितं तदा । वाराङ्गनाभिरुद्भ्रूभी रणन्नूपुरमेखलम् ॥२४४॥

धारण किये थे कि जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे उनका मुख-कमल उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥२३३॥ वे दोनों शरद्-ऋतुकी चाँदनी अथवा मृणाल तन्तुके समान सुशोभित सफेद, घुटनों तक लटकती हुई पुष्पमालाओंसे अतिशय शोभायमान हो रहे थे॥२३४॥ कड़े, बाजूबंद, केयूर और अँगूठी आदि आभूषण धारण करनेसे उन दोनोंकी भुजाएँ भूषणांग जातिके कल्पवृक्षकी शाखाओंकी तरह अतिशय सुशोभित हो रही थीं ॥२३५॥ उन दोनोंने अपने-अपने नितम्ब भागपर करधनी पहनी थी। उसमें लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ (बोरा) मधुर शब्द कर रही थीं। उन करधनियोंसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उन्होंने कामदेवरूपी हस्तीके विजय-सूचक बाजे ही धारण किये हों ॥२३६॥ श्रीमतीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे ऐसे मालूम होते थे मानो भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शोभायमान कमल ही हों ॥२३७॥ विवाहके समय आभूषण धारण करना चाहिए, केवल इसी पद्धतिको पूर्ण करनेके लिए उन्होंने बड़े-बड़े आभूषण धारण किये थे नहीं तो उनके सुन्दर शरीरकी शोभा ही उनका आभूषण थी ॥२३८॥ साक्षात् लक्ष्मीके समान लक्ष्मीमतिने स्वयं अपनी पुत्री श्रीमतीको अलंकृत किया था और साक्षात् वसुन्धरा (पृथिवी)के समान वसुन्धराने अपने पुत्र वज्रजंघको आभूषण पहनाये थे ॥२३९॥ इस प्रकार अलंकार धारण करनेके बाद वे दोनों जिसकी मंगलक्रिया पहले ही की जा चुकी है ऐसी रत्न-वेदीपर यथायोग्य रीतिसे बैठाये गये ॥२४०॥ मणिमय दीपकोंके प्रकाशसे जगमगाती हुई और मङ्गल-द्रव्योंसे सुशोभित वह वेदी उन दोनोंके बैठ जानेसे ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो देव-देवियोंसे सहित मेरु पर्वतका तट ही हो ॥२४१॥ उस समय समुद्रके समान गम्भीर शब्द करते हुए, डंडोंसे बजाये गये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥२४२॥ वाराङ्गनाएँ मधुर मंगल गीत गा रही थीं और वन्दीजन मागध जनोंके साथ मिलकर चारों ओर उत्साहवर्धक मङ्गलपाठ पढ रहे थे ॥ २४३ ॥ जिनकी भौंहें कुछ-कुछ ऊपरको उठी हुई हैं ऐसी वाराङ्गनाएँ लय-तान आदिसे सुशोभित तथा रुन-झुन शब्द

---

१ हारविशेषेण । 'प्रालम्बमृजुलम्बि स्यात्' इत्यमरः । २ भुजाभरणम् । ३ भुजशिखराभरणम् । ४. जघन अ०, प०, स०, द०, ल० । ५ काञ्चीदामवलयम् । ६ क्षुद्रघण्टिका । ७. इत्येव अ०, प०, स०, द० । ८. आचाराभावे । ९ तद्वधूवराक्रान्ता । १० कोणः वाद्यताडनोपकरणम् । 'कोणः वीणादिवादनम्' इत्यभिधानात् । ११ –गम्भीर– अ०, प०, स०, द०, ल० । १२. मङ्गलाष्टकान् । १३. स्तुतिपाठकाः । १४ वंशवीर्यादिस्तुत्युपजीविनः । सहमागधो अ०, प०, स०, द०, ल० ।

ततो वधूवरं सिद्ध[1]स्नानाम्भःपूतमस्तकम् । निवेशितं महाभामि[2]चामीकरपट्टके ॥२४५॥
स्वयं स्म करकं धत्ते चक्रवर्ती महाकरः । हिरण्मयं महारत्नखचितं मौक्तिकोज्ज्वलम् ॥२४६॥
अशोकपल्लवैर्वक्त्रनिहितैः करकौ[3] बभौ । करपल्लवसच्छायामनुकुर्वन्निवानयोः[4] ॥२४७॥
ततो न्यपाति[5] करकाद्धारा तत्करपल्लवे[6] । दूरमावर्जिता[7] दीर्घं भवन्तौ जीवतामिति ॥२४८॥
ततः पाणौ महाबाहुर्वज्रजङ्घोऽग्रहीन्मुदा । श्रीमतीं तन्मृदुस्पर्शसुखामीलितलोचनः ॥२४९॥
[8]श्रीमती तत्करस्पर्शाद् धर्मबिन्दूनधारयत् । चन्द्रकान्तशिलापुत्री[9] चन्द्रांशुस्पर्शनादिव ॥२५०॥
वज्रजङ्घकरस्पर्शात्[10]तनुतांऽस्याश्चिरं धृतः । संतापः क्वापि याति स्म भूमेरिव घनागमे ॥२५१॥
वज्रजङ्घसमासंगात् श्रीमती व्यद्युततराम् । कल्पवल्लीव संश्लिष्टतुङ्गकल्पमहीरुहा ॥२५२॥
सोऽपि पर्यन्तवर्तिन्या तया लक्ष्मीं परामधात् । स्त्रीसृष्टेः परया कोट्या रत्येव कुसुमायुधः ॥२५३॥
गुरुसाक्षि तयोरित्थं विवाहः परमोदयः । निरवर्तत[11] लोकस्य परमानन्दमादधत् ॥२५४॥
ततः पाणिगृहीतीं[12] तां ते जना बहुमेनिरे । श्रीमती सत्यमेवेयं श्रीमतीत्युद्गिरस्तदा ॥२५५॥
तौ दम्पती सदाकारौ सुरदम्पतिविभ्रमौ । जनानां पश्यतां चित्तं निर्व[13]वाराम्रुताविती ॥२५६॥

करते हुए नूपुर और मेखलाओंसे मनोहर नृत्य कर रही थीं ॥२४४॥ तदनन्तर जिनके मस्तक सिद्ध प्रतिमाके जलसे पवित्र किये गये हैं ऐसे वधू-वर अतिशय शोभायमान सुवर्णके पाटेपर बैठाये गये ॥२४५॥ घुटनों तक लम्बी भुजाओंके धारक चक्रवर्तीने स्वयं अपने हाथमें भृंगार धारण किया। वह भृंगार सुवर्णसे बना हुआ था, बड़े-बड़े रत्नोंसे खचित था तथा मोतियोंसे अतिशय उज्ज्वल था ॥२४६॥ मुखपर रखे हुए अशोक वृक्षके पल्लवोंसे वह भृंगार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो इन दोनों वर-वधुओंके हस्तपल्लवकी उत्तम कान्तिका अनुकरण ही कर रहा हो ॥२४७॥ तदनन्तर आप दोनों दीर्घकाल तक जीवित रहें, मानो यह सूचित करनेके लिए ही ऊँचे भृंगारसे छोड़ी गयी जलधारा वज्रजंघके हस्तपर पड़ी ॥२४८॥

तत्पश्चात् बड़ी-बड़ी भुजाओंको धारण करनेवाले वज्रजंघने हर्षके साथ श्रीमती-का पाणिग्रहण किया। उस समय उसके कोमल स्पर्शके सुखसे वज्रजंघके दोनों नेत्र बन्द हो गये थे ॥२४९॥ वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरमें भी पसीना आ गया था जैसे कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणिकी बनी हुई पुतलीमें जलबिन्दु उत्पन्न हो जाते हैं ॥२५०॥ जिस प्रकार मेघोंकी वृष्टिसे पृथ्वीका सन्ताप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीके शरीरका चिरकालीन सन्ताप भी नष्ट हो गया था ॥२५१॥ उस समय वज्रजंघके समागमसे श्रीमती किसी बड़े कल्पवृक्षसे लिपटी हुई कल्प-लताकी तरह सुशोभित हो रही थी ॥२५२॥ वह श्रीमती स्त्री-संसारमें सबसे श्रेष्ठ थी, समीपमें बैठी हुई उस श्रीमतीसे वह वज्रजंघ भी ऐसा सुशोभित होता था जैसे रतिसे कामदेव सुशोभित होता है ॥२५३॥ इस प्रकार लोगोंको परमानन्द देनेवाला उन दोनोंका विवाह गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक बड़े वैभवके साथ समाप्त हुआ ॥२५४॥ उस समय सब लोग उस विवाहिता श्रीमतीका बड़ा आदर करते थे और कहते थे कि यह श्रीमती सचमुचमें श्रीमती है अर्थात् लक्ष्मीमती है ॥२५५॥ उत्तम आकृतिके धारक, देव-देवाङ्ग-

१. सिद्धप्रतिमाभिषेकजलम् । २ सौवर्णे वधूवरासने । ३ भृङ्गारः । ४. दम्पत्योः । ५ पतितम् । ६. वज्रजङ्घहस्ते । ७ विसृष्टा । ८ अयं श्लोकः 'धर्मबिन्दून्' इत्यस्य स्थाने 'स्वेदबिन्दून्' इति परिवर्त्य द्वितीयस्तवके चन्द्रप्रभचरिते स्वकीयग्रन्थाङ्गतां नीतः । ९. पुत्रिका । १०. शरीरे । ११ वर्तितम् । १२ पाणिगृहीता प०, अ०, स०, म०, द०, ल० । १३. अतुषत् । 'वृञ् वरणे' लिट् । निर्वृ नि सतोषं गतवत् इत्यर्थः ।

तत्कल्याणं समालोक्य देवलोकेऽपि दुर्लभम् । प्रशशंसुर्मुदं प्राप्ता. परमां प्रेक्षका जना ॥२५७॥
चक्रवर्ती महाभाग[1] स्त्रीरत्नमिदमूर्जितम् । योग्ये नियोजयामास जनश्लाघास्पदे पदे[2] ॥२५८॥
जननी पुण्यवत्यस्या मूर्ध्नि[3] सुप्रजसामसौ । [4]सत्प्रसूतिरियं सूता यया लक्ष्मीसमद्युति. ॥२५९॥
कुमारेण तपस्तप्तं किमेतेनान्यजन्मनि । येनासादि[5] जगत्सारं स्त्रीरत्नममितद्युति ॥२६०॥
धन्येयं कन्यका मान्या नान्या पुण्यवतीदृशी । कल्याणभागिनी यैषा वज्रजङ्घं पतिं[6] वृता ॥२६१॥
उपोषितं किमेताभ्यां किं वा तप्तं तपो महत् । किं नु दत्तं किमिष्टं[7] वा कीदृग् वाचरितं व्रतम् ॥२६२॥
अहो धर्मस्य माहात्म्यमहो सत्साधनं तपः । अहो दत्तिर्महोदर्का दयावल्ली फलत्यहो ॥२६३॥
नूनमाभ्यां कृता पूजा महतामर्हतां पराम्[8] [रा] । पूज्यपूजानुसंधत्ते ननु संपत्परम्पराम् ॥२६४॥
अतः[9] कल्याणभागित्वं धनर्द्धिविपुलं सुखम् । वाञ्छद्भिरर्हतां मार्गे मतिः कार्या महाफले ॥२६५॥
इत्यादिजनसजल्पैः संश्लाघ्यौ दम्पती सदा । सुखासीनौ प्रशाय्यायां[10] बन्धुभिः परिवारितौ ॥२६६॥
[11]दीनैर्दैन्यं समुत्सृष्टं कार्पण्यं[12] कृपणैर्जहे[13] । [14]अनाथैश्च सनाथत्वं भेजे तस्मिन् महोत्सवे ॥२६७॥
बन्धवो मानिता.[15] सर्वे[16] दानमानाभिजल्पनैः । भृत्याश्च तर्पिता सर्वा चक्रिणास्मिन् महोत्सवे ॥२६८॥

नाओंके समान क्रीड़ा करनेवाले तथा अमृतके समान आनन्द देनेवाले उन वधू और वरको जो भी देखता था उसीका चित्त आनन्दसे सन्तुष्ट हो जाता था ॥ २५६ ॥ जो स्वर्गलोकमें दुर्लभ है ऐसे उस विवाहोत्सवको देखकर देखनेवाले पुरुष परम आनन्दको प्राप्त हुए थे और सभी लोग उसकी प्रशंसा करते थे ॥ २५७ ॥ वे कहते थे कि चक्रवर्ती बड़ा भाग्यशाली है जिसके यह ऐसा उत्तम स्त्री-रत्न उत्पन्न हुआ है और वह उसने सब लोगोंकी प्रशंसाके स्थानभूत वज्रजंघरूप योग्य स्थानमें नियुक्त किया है ॥२५८॥ इसकी यह पुण्यवती माता पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मीके समान कान्तिवाली यह उत्तम सन्तान उत्पन्न की है ॥ २५९ ॥ इस वज्रजंघकुमारने पूर्व जन्ममें कौन-सा तप तपा था जिससे कि संसारका सारभूत और अतिशय कान्तिका धारक यह स्त्री-रत्न इसे प्राप्त हुआ है ॥२६०॥ चूँकि इस कन्याने वज्रजंघको पति बनाया है इसलिए यह कन्या धन्य है, मान्य है और भाग्यशालिनी है। इसके समान और दूसरी कन्या पुण्यवती नहीं हो सकती ॥२६१॥ पूर्व जन्ममें इन दोनोंने न जाने कौन-सा उपवास किया था, कौन-सा भारी तप तपा था, कौन-सा दान दिया था, कौन-सी पूजा की थी अथवा कौन-सा व्रत पालन किया था ॥ २६२ ॥ अहो, धर्मका बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरणसे उत्तम सामग्री प्राप्त होती है, दान देनेसे बड़े-बड़े फल प्राप्त होते हैं और दयारूपी बेलपर उत्तम-उत्तम फल फलते हैं ॥२६३॥ अवश्य ही इन दोनोंने पूर्वजन्ममें महापूज्य अर्हन्त देवकी उत्कृष्ट पूजा की होगी क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजा अवश्य ही सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त कराती रहती है ॥२६४॥ इसलिए जो पुरुष अनेक कल्याण, धन-ऋद्धि तथा विपुल सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्ग आदि महाफल देनेवाले श्री अरहन्त देवके कहे हुए मार्गमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥२६५॥ इस प्रकार दर्शक लोगोंके वार्तालापसे प्रशंसनीय वे दोनों वर-वधू अपने इष्ट बन्धुओंसे परिवारित हो सभा-मण्डपमें सुखसे बैठे थे ॥२६६॥ उस विवाहोत्सवमें दरिद्र लोगोंने अपनी दरिद्रता छोड़ दी थी, कृपण लोगोंने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सनाथताको प्राप्त हो गये थे ॥२६७॥ चक्रवर्तीने इस महोत्सवमें दान, मान, सम्भाषण आदिके द्वारा अपने

१ महापुण्यवान् । २. स्थाने । ३ शोभनपुत्रवतीनाम् । ४ सती प्रसूतिर्यस्या सा । ५ प्राप्तम् । ६. वृणीते स्म । ७ पूजितम् । ८. परा अ० प०, ब०, द०, म०, ल० । ९. कारणात् । १० दम्पत्यासने । प्रसज्याया स० । प्रशस्याया ल० । ११. निर्धनैः । १२ लुब्धैः । १३ त्यक्तम् । १४ अगतिकैः । १५. सत्कृता । १६ दत्तिपूजाभिसम्भाषणैः ।

गृहे गृहे महांस्तोषः केतुबन्धो गृहे गृहे । गृहे गृहे [1]वरालापो [2]वधूशंसा गृहे गृहे ॥२६९॥
दिने दिने महांस्तोषो धर्मभक्तिर्दिने दिने । दिने दिने महेन्द्रर्द्ध्या[3] पूज्यते स्म वधूवरम् ॥२७०॥
अथापरेद्युरुद्यावम्[4] द्योतयितुमुद्यमी[5] । प्रदोषे[6] दीपिकोद्योतैः महापूतं[7] ययौ वरः ॥२७१॥
प्रयान्तमनुयाति स्म श्रीमती तं महाद्युतिम् । भास्वन्तमिव[8] रुद्धान्धतमसं भासुरा प्रभा ॥२७२॥
[9]पूजाविभूतिं महतीं पुरस्कृत्य जिनालयम् । प्रापत्तुङ्गकूटाग्रं स सुमेरुमिवोच्छ्रितम् ॥२७३॥
स तं प्रदक्षिणीकुर्वन् [10]सजानिर्विबभौ[11] नृपः । मेरुमर्क इव श्रीमान् महादीप्त्या परिष्कृतः[12] ॥२७४॥
[13]कृतेर्याशुद्धिरिद्धर्द्धिः प्रविश्य जिनमन्दिरम् । तत्रापश्यदृषीन् दीप्ततपसः कृतवन्दनः ॥२७५॥
ततो गन्धकुटीमध्ये जिनेन्द्रार्चां हिरण्मयीम् । पूजयामास गन्धाद्यैरभिषेकपुरस्सरम् ॥२७६॥
कृतार्चनस्ततः स्तोतुं प्रारेभेऽसौ महामतिः । [14]अर्थ्याभिः स्तुतिभिः साक्षात्[15]कृत्य [16]स्तुत्यं जिनेश्वरम्॥२७७॥
नमो जिनेशिने तुभ्यमनभ्यस्त्वदुराधये[17] । त्वामद्याराधयामीश कर्मशत्रुबिभित्सया[18] ॥२७८॥
अनन्तास्त्वद्गुणाः स्तोतुमशक्या[19] गणपैरपि । भक्त्या तु प्रस्तुवे[20] स्तोत्रं भक्तिः श्रेयोऽनुबन्धिनी॥२७९॥

समस्त बन्धुओंका सम्मान किया था तथा दासी दास आदि भृत्योंको भी सन्तुष्ट किया था ॥२६८॥ उस समय घर-घर बड़ा सन्तोष हुआ था, घर-घर पताकाएँ फहरायी गयी थीं, घर-घर वरके विषयमें बात हो रही थी और घर-घर वधूकी प्रशंसा हो रही थी ॥२६९॥ उस समय प्रत्येक दिन बड़ा सन्तोष होता था, प्रत्येक दिन धर्ममें भक्ति होती थी और प्रत्येक दिन इन्द्र-जैसी विभूतिसे वधू-वरका सत्कार किया जाता था ॥ २७० ॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन अपना धार्मिक उत्साह प्रकट करनेके लिए उद्युक्त हुआ वज्रजंघ सायंकालके समय अनेक दीपकोंका प्रकाश कर महापूत चैत्यालयको गया ॥२७१॥ अतिशय कान्तिका धारक वज्रजंघ आगे-आगे जा रहा था और श्रीमती उसके पीछे-पीछे जा रही थी। जैसे कि अन्धकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके पीछे-पीछे उसकी देदीप्यमान प्रभा जाती है ॥ २७२ ॥ वह वज्रजंघ पूजाकी बड़ी भारी सामग्री साथ लेकर जिनमन्दिर पहुँचा। वह मन्दिर मेरु पर्वतके समान ऊँचा था, क्योंकि उसके शिखर भी अत्यन्त ऊँचे थे ॥ २७३ ॥ श्रीमतीके साथ-साथ चैत्यालयकी प्रदक्षिणा देता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा कि महाकान्तिसे युक्त सूर्य मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता हुआ शोभायमान होता है ॥२७४॥ प्रदक्षिणाके बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की अर्थात् मार्ग चलते समय होनेवाली शारीरिक अशुद्धताको दूर किया तथा प्रमादवश होनेवाली जीवहिंसाको दूर करनेके लिए प्रायश्चित्त आदि किया। अनन्तर, अनेक विभूतियोंको धारण करनेवाले जिनमन्दिरके भीतर प्रवेश कर वहाँ महातपस्वी मुनियोंके दर्शन किये और उनकी वन्दना की। फिर गन्धकुटीके मध्यमें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमाकी अभिषेकपूर्वक चन्दन आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥२७५-२७६॥ पूजा करनेके बाद उस महाबुद्धिमान् वज्रजंघने स्तुति करनेके योग्य जिनेन्द्रदेवको साक्षात् कर (प्रतिमाको साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर) उत्तम अर्थोंसे भरे हुए स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥ २७७ ॥ हे देव ! आप कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, और मानसिक व्यथाओंसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। हे ईश, आज मैं कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेकी इच्छासे आपकी आराधना करता हूँ ॥ २७८ ॥ हे देव, आपके अनन्त गुणोंकी

---

१. वज्रजङ्घालाप । २. श्रीमती । वधूशस्या अ०, प०, द०, स०, ल० । ३. महेन्द्रधर्या ल० । ४. उत्साहम् । ५. उद्युक्त । ६. रात्रौ । ७ महापूतजिनालयम् । ८ रविम् । ९ पूजासामग्रीम् । १०. कुलवधूसहितः । ११. –निर्बभौ म०, ल० । १२. अलंकृत । १३. ईर्यापथविशुद्धि । १४ सदर्थत्वात् स्पृहणीयाभि. । १५. प्रत्यक्षीकृत्य । १६. स्तोतु योग्यम् । १७. आधि मनःपीडा । १८. भेत्तुमिच्छया । १९. गणधरैः । २०. प्रारेभे ।

त्वद्भक्तः सुखमभ्येति लक्ष्मीस्त्वद्भक्तमश्नुते । त्वद्भक्तिर्भुक्तये[1] पुंसां मुक्तये या [2]स्थवीयसी ॥२८०॥
अतो भजन्ति भव्यास्त्वां मनोवाक्कायशुद्धिभिः । फलार्थिभिर्भवान् सेव्यो व्यक्तं कल्पतरूयते ॥२८१॥
त्वया प्रवर्षता धर्मवृष्टिं दुष्कर्मधर्मतः । [3]प्रोदन्यज्जगद्भव्यवारिस्पृहां नवघनायितम् ॥२८२॥
त्वया प्रदर्शितं मार्गमासेवन्ते हितैषिणः । भास्वता द्योतितं मार्गमिव कार्यार्थिनो जनाः ॥२८३॥
संसारोच्छेदने बीजं त्वया तत्त्वं निदर्शितम् । आत्रिकामुत्रिकार्थानां यतः सिद्धिरिहाङ्गिनाम् ॥२८४॥
[4]लक्ष्मीसर्वस्वमुज्झित्वा साम्राज्यं [5]प्राज्यवैभवम् । त्वया चित्रमुदूढासौ[6] मुक्तिश्री स्पृहयालुना ॥२८५॥
दयावल्लीपरिष्वक्तो[7] महोदर्को[8] महोन्नति[9] । प्रार्थितार्थान् प्रपुष्णाति भवान् कल्पद्रुमो यथा ॥२८६॥
त्वया कर्ममहाशत्रून्मूलानुच्छेत्तु[10]मिच्छता । धर्मचक्रं तपोधारं पाणीकृतमसंभ्रमम्[11] ॥२८७॥
न बद्धो भ्रुकुटिन्यासो न दष्टोष्ठं मुखाम्बुजम् । न मिन्नसौष्ठवं स्थानं त्वयारिजये त्वया ॥२८८॥
दयालुनापि दुःसाध्यमोहशत्रुजिगीषया । तपःकुठारे कठिने त्वया व्यापारितः करः ॥२८९॥
त्वया संसारदुर्वल्ली रूढाऽज्ञानजलोक्षणैः । नाना दुःखफला चित्रं[12] वर्द्धितापि न वर्द्धते ॥२९०॥

स्तुति स्वयं गणधरदेव भी नहीं कर सकते तथापि मैं भक्तिवश आपकी स्तुति प्रारम्भ करता हूँ क्योंकि भक्ति ही कल्याण करनेवाली है ॥२७९॥ हे प्रभो, आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्त पुरुषके समीप ही जाती है, आपमें अत्यन्त स्थिर भक्ति स्वर्गादिके भोग प्रदान करती है और अन्तमें मोक्ष भी प्राप्त कराती है ॥२८०॥ इसलिए ही भव्य जीव शुद्ध मन, वचन, कायसे आपकी स्तुति करते हैं। हे देव, फल चाहनेवाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिए आप स्पष्ट रूपसे कल्पवृक्षके समान आचरण करते हैं अर्थात् मन वांछित फल देते हैं ॥२८१॥ हे प्रभो, आपने धर्मोपदेशरूपी वर्षा करके, दुष्कर्मरूपी सन्तापसे अत्यन्त प्यासे संसारी जीवरूपी चातकोंको नवीन मेघके समान आनन्दित किया है ॥२८२॥ हे देव, जिस प्रकार कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुष सूर्यके द्वारा प्रकाशित हुए मार्गकी सेवा करते हैं–उसी मार्गसे आते-जाते हैं उसी प्रकार आत्महित चाहनेवाले पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मोक्षमार्गकी सेवा करते हैं ॥२८३॥ हे देव, आपके द्वारा निरूपित तत्त्व जन्म-मरणरूपी संसारके नाश करनेका कारण है तथा इसीसे प्राणियोंकी इस लोक और परलोक-सम्बन्धी समस्त कार्योंकी सिद्धि होती है ॥२८४॥ हे प्रभो, आपने लक्ष्मीके सर्वस्वभूत तथा उत्कृष्ट वैभवसे युक्त साम्राज्यको छोड़कर भी इच्छासे सहित हो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका वरण किया है, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥२८५॥ हे देव, आप दयारूपी लतासे वेष्टित हैं, स्वर्ग आदि बड़े-बड़े फल देनेवाले हैं, अत्यन्त उन्नत हैं–उदार हैं और मनवाञ्छित पदार्थ प्रदान करने-वाले हैं इसलिए आप कल्पवृक्षके समान हैं ॥२८६॥ हे देव, आपने कर्मरूपी बड़े-बड़े शत्रुओंको नष्ट करनेकी इच्छासे तपरूपी धारसे शोभायमान धर्मरूपी चक्रको बिना किसी घबरा-हटके अपने हाथमें धारण किया है ॥२८७॥ हे देव, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतते समय आपने न तो अपनी भौंह ही चढ़ायी, न ओठ ही चबाये, न मुखकी शोभा नष्ट की और न अपना स्थान ही छोड़ा है ॥२८८॥ हे देव, आपने दयालु होकर भी मोहरूपी प्रबल शत्रुको नष्ट करनेकी इच्छा-से अतिशय कठिन तपश्चरणरूपी कुठारपर अपना हाथ चलाया है अर्थात् उसे अपने हाथमें धारण किया है ॥२८९॥ हे देव, अज्ञानरूपी जलके सींचनेसे उत्पन्न हुई और अनेक दुःखरूपी फलको देनेवाली संसाररूपी लता आपके द्वारा वर्धित होनेपर भी–बढ़ाये जानेपर भी बढ़ती

---

१ भोगाय । २ स्थूलतरा । ३. पिपासत्संसारिचातकानाम् । ४ भण्डार । ५. भूरि । ६ विवाहिता । ७ आलिङ्गित । ८. महोत्तरफलः । ९ महोन्नत- म०, ल० । १०. –नुच्चैरुच्छेत्तु–अ०, प०, स०, ल०, द० । ११. अव्यग्रम् । १२. वर्द्धिना छेदिता च ।

प्रसीदति भवत्पादपद्मे पद्मा[1] प्रसीदति । विमुखे याति वैमुख्यं भवन्माध्यस्थ्यमीदृशम् ॥२९१॥
प्रातिहार्यमयीं भूतिं त्वं दधानोऽप्यनन्यगाम् । वीतरागो महांश्चासि जगत्येतज्जिनाद्भुतम् ॥२९२॥
तवायं [3]शिशिरच्छायो भात्यशोकतरुर्महान् । शोकमाश्रितभव्यानां विदूर[4]मपहस्तयन् ॥२९३॥
पुष्पवृष्टिं दिवो देवाः किरन्ति त्वां जिनाभितः । परितो मेरुमुत्फुल्ला यथा कल्पमहीरुहाः ॥२९४॥
दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । [5]विकरोति मनोध्वान्तमवाचामपि देहिनाम् ॥२९५॥
प्रकीर्णक[6]युगं भाति त्वां जिनोभयतो धुतम् । पतन्निर्झरसंवादि[7] शशाङ्ककरनिर्मलम् ॥२९६॥
चामीकरविनिर्माणं[8] हरिभिर्धृतमासनम् । गिरीन्द्रशिखरस्पर्द्धि राजते जिनराज ते ॥२९७॥
ज्योतिर्मण्डलमुत्सर्पत् तवालङ्कुरुते वपुः । मार्तण्डमण्डलद्वेषि विधुन्वज्जगतां तमः ॥२९८॥
तवोद्घोषयतीवोच्चैः जगतामेकभर्तृताम् । दुन्दुभिस्तनितं मन्द्रमुच्चरत्पथि वार्मुचाम् ॥२९९॥
तवाविष्कुरुते देव प्राभवं भुवनातिगम् । विधुबिम्बप्रतिस्पर्द्धि छत्रत्रितयमुच्छ्रितम् ॥३००॥
विभ्राजते जिनैतत्ते प्रातिहार्यकदम्बकम् । त्रिजगत्सारसर्वस्वमिवैकत्र समुच्चितम् ॥३०१॥

नहीं है यह भारी आश्चर्यकी बात है (पक्षमें आपके द्वारा छेदी जानेपर बढती नहीं है अर्थात् आपने संसाररूपी लताका इस प्रकार छेदन किया है कि वह फिर कभी नहीं बढती।) भावार्थ-संस्कृतमें 'वृधु' धातुका प्रयोग छेदना और बढाना इन दो अर्थोंमें होता है। श्लोकमें आये हुए वर्धिता शब्दका जब 'बढाना' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब विरोध होता है, और जब 'छेदन' अर्थमें प्रयोग किया जाता है तब उसका परिहार हो जाता है। ॥२९०॥ हे भगवन्, आपके चरण-कमलके प्रसन्न होनेपर लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती है और उनके विमुख होनेपर लक्ष्मी भी विमुख हो जाती है। हे देव, आपकी यह मध्यस्थ वृत्ति ऐसी ही विलक्षण है ॥२९१॥ हे जिनेन्द्र, यद्यपि आप अन्यत्र नहीं पायी जानेवाली प्रातिहार्यरूप विभूतिको धारण करते हैं तथापि संसारमें परम वीतराग कहलाते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥२९२॥ शीतल छायासे युक्त तथा आश्रय लेनेवाले भव्य जीवोंके शोकको दूर करता हुआ यह आपका अतिशय उन्नत अशोकवृक्ष बहुत ही शोभायमान हो रहा है ॥२९३॥

हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार फूले हुए कल्पवृक्ष मेरु पर्वतके सब तरफ पुष्पवृष्टि करते हैं उसी प्रकार ये देव लोग भी आपके सब ओर आकाशसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। ॥२९४॥ हे देव, समस्त भाषारूप परिणत होनेवाली आपकी दिव्य ध्वनि उन जीवोंके भी मनका अज्ञानान्धकार दूर कर देती है जो कि मनुष्योंकी भाँति स्पष्ट वचन नहीं बोल सकते ॥२९५॥ हे जिन, आपके दोनों तरफ ढुराये जानेवाले, चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल दोनों चमर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो ऊपरसे पड़ते हुए पानीके झरने ही हों ॥२९६॥ हे जिनराज, मेरु पर्वतके शिखरके साथ ईर्ष्या करनेवाला और सुवर्णका बना हुआ आपका यह सिंहासन बड़ा ही भला मालूम होता है ॥२९७॥ हे देव, सूर्यमण्डलके साथ विद्वेष करनेवाला तथा जगत्के अन्धकारको दूर करनेवाला और सब ओर फैलता हुआ आपका यह भामण्डल आपके शरीरको अलंकृत कर रहा है ॥२९८॥ हे देव, आकाशमें जो दुन्दुभिका गम्भीर शब्द हो रहा है वह मानो जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहा है कि संसारके एक मात्र स्वामी आप ही हैं ॥२९९॥ हे देव, चन्द्र-बिम्बके साथ स्पर्धा करनेवाले और अत्यन्त ऊँचे आपके तीनों छत्र आपके सर्वश्रेष्ठ प्रभावको प्रकट कर रहे हैं ॥३००॥ हे जिन, ऊपर कहे हुए आपके इन आठ प्रातिहार्योंका समूह ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो एक जगह इकट्ठे हुए तीनों लोकोंके सर्वश्रेष्ठ पदार्थोंका सार ही

---

१. प्रसन्ने सति। २ लक्ष्मीः। ३. शीत। ४. अपसारयन्। ५. नाशयति। ६ चामर। ७. सदृशम्। ८. कारणम्।

नोपरोद्धुमलं[1] देव तव वैराग्यसंपदम् । सुरैर्विरचितो भक्त्या प्रातिहार्यपरिच्छदः[2] ॥३०२॥
करिकेसरिदावाहिनिषाद[3]विषमाब्धयः । रोगा बन्धाश्च[4] शाम्यन्ति त्वत्पदानुस्मृतेर्जिन ॥३०३॥
करटक्षर[5]दुद्दाममदाम्बुकृतदुर्दिनम् । [6]गजमाघातुकं मर्त्या जयन्ति त्वदनुस्मृते ॥३०४॥
करीन्द्रकुम्भनिर्भेदकठोरनखरो हरिः । क्रमेऽपि[7] पतितं जन्तुं न हन्ति त्वत्पदस्मृते. ॥३०५॥
नोपद्रवति दीप्तार्चिरप्यर्चिष्मान् [8]समुत्थितः । त्वत्पदस्मृतिशीताम्बुधाराप्रशमितोदय. ॥३०६॥
फणी कृतफणो[9] रोषादुद्गिरन्[10] गरमुल्बणम् । त्वत्पदागद[11]संस्मृत्या सद्यो भवति निर्विष ॥३०७॥
वने प्रचण्डलुण्टाककोदण्डरवभीषणे । सार्था[12] सार्थाधिपा· स्वैरं प्रयान्ति त्वत्पदानुगा.[13] ॥३०८॥
अपि चण्डानिलाकाण्ड[14]जृम्भणाघूर्णितार्णसम् । तरन्त्यर्णवमुद्वेल हेलया त्वत्क्रमाश्रिता ॥३०९॥
भग्नस्थानकृतोत्थानतीव्रव्रणरुजो जनाः । सद्योभवन्त्यनातङ्का. स्मृतत्वत्पदभेषजा· ॥३१०॥
कर्मबन्धविनिर्मुक्तं त्वामनुस्मृत्य मानव । दृढबन्धनबद्धोऽपि भवत्याशु निश्शृङ्खलः ॥३११॥
इति [15]विघ्नितविघ्नौघ [16]भक्तिनिघ्नेन चेतसा । पर्युपासे जिनेन्द्र त्वां विघ्नवर्गोपशान्तये ॥३१२॥
त्वमेको जगतां ज्योतिस्त्वमेको जगतां पतिः । त्वमेको जगतां बन्धुस्त्वमेको जगतां गुरु.[17] ॥३१३॥

हो ॥३०१॥ हे देव, यह प्रातिहार्योंका समूह आपकी वैराग्यरूपी संपत्तिको रोकनेके लिए समर्थ नहीं है क्योंकि यह भक्तिवश देवोंके द्वारा रचा गया है ॥३०२॥ हे जिनदेव, आपके चरणोंके स्मरण मात्रसे हाथी, सिंह, दावानल, सर्प, भील, विषम समुद्र, रोग और बन्धन आदि सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥३०३॥ जिसके गण्डस्थलसे झरते हुए मदरूपी जलके द्वारा दुर्दिन प्रकट किया जा रहा है तथा जो आघात करनेके लिए उद्यत है ऐसे हाथीको पुरुष आपके स्मरण मात्रसे ही जीत लेते हैं ॥३०४॥ बड़े-बड़े हाथियोंके गण्डस्थल भेदन करनेसे जिसके नख अतिशय कठिन हो गये हैं ऐसा सिंह भी आपके चरणोंका स्मरण करनेसे अपने पैरोंमें पड़े हुए जीवको नहीं मार सकता है ॥३०५॥ हे देव, जिसकी ज्वालाएँ बहुत ही प्रदीप्त हो रही हैं तथा जो उन बढ़ती हुई ज्वालाओंके कारण ऊँची उठ रही है ऐसी अग्नि यदि आपके चरण-कमलोंके स्मरणरूपी जलसे शान्त कर दी जाये तो फिर वह अग्नि भी उपद्रव नहीं कर सकती ॥३०६॥ क्रोधसे जिसका फण ऊपर उठा हुआ है और जो भयंकर विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषधके स्मरणसे शीघ्र ही विषरहित हो जाता है ॥ ३०७ ॥ हे देव, आपके चरणोंके अनुगामी धनी व्यापारी जन प्रचण्ड लुटेरोंके धनुषोंकी टंकारसे भयंकर वनमें भी निर्भय होकर इच्छानुसार चले जाते हैं ॥ ३०८ ॥ जो प्रबल वायुकी असामयिक अचानक वृद्धिसे कम्पित हो रहा है ऐसे बड़ी-बड़ी लहरोंवाले समुद्रको भी आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले पुरुष लीलामात्रमें पार हो जाते हैं ॥ ३०९ ॥ जो मनुष्य कुढंगे स्थानोंमें उत्पन्न हुए फोड़ा आदिके बड़े-बड़े घावोंसे रोगी हो रहे हैं वे भी आपके चरणरूपी औषधका स्मरण करने मात्रसे शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं ॥ ३१० ॥ हे भगवन्, आप कर्मरूपी बन्धनोंसे रहित हैं। इसलिए मजबूत बन्धनोंसे बँधा हुआ भी मनुष्य आपका स्मरण कर तत्काल ही बन्धनरहित हो जाता है ॥ ३११ ॥ हे जिनेन्द्रदेव, आपने विघ्नोंके समूहको भी विघ्नित किया है—उन्हें नष्ट किया है इसलिए अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट करनेके लिए मैं भक्तिपूर्ण हृदयसे आपकी उपासना करता हूँ ॥३१२॥ हे देव, एकमात्र आप ही तीनों लोकोंको

---

१ समर्थः । २ परिकर । ३ व्याध । ४ बन्धनानि । ५. गण्डस्थलम् । ६. आहिंसकम् ।
आघातक द०, ज० । ७ पादे । ८ समुच्छ्रित प०, स० । ९ उत्थितफण । १०. विषम् । ११. अगदं
भेषजम् । १२ अर्थेन सहिता । १३ त्वत्पदोपगा ट० । त्वत्पदसमीपगम्या । १४. अकाण्ड अकाल. ।
१५ विहतान्तरायसमुदायम् । १६ भक्तयधीनेन । १७ पिता ।

त्वमादिः सर्वविद्यानां त्वमादिः सर्वयोगिनाम् । त्वमादिर्धर्मतीर्थस्य त्वमादिर्गुरुरङ्गिनाम् ॥३१४॥
त्वं [1]सार्वः सर्वविद्येशः सर्वलोकावलोकथाः । स्तुतिवादस्तवैतावानलमास्तां सविस्तरः ॥३१५॥

वसन्ततिलकम्

त्वां देवमित्थमभिवन्द्य कृतप्रणामो नान्यत् फलं परिमितं [2]परिमार्गयामि ।
त्वय्येव भक्तिमचलां जिन मे दिश त्वं सा सर्वमभ्युदयमुक्तिफलं प्रसूते ॥३१६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैः प्रणिपत्य तं जिनपतिं स्तुत्वा कृताभ्यर्चनः, स श्रीमान् मुनिवृन्दमप्यनुगमात्[3] संपूज्य निष्कल्मषम् ।
श्रीमत्या सह वज्रजंघनृपतिस्तामुत्तमर्द्धिं पुरीम्, प्राविक्षत् प्रमदोदयाज्जिनगुणान् भूयः स्मरन् भूतये ॥३१७॥
लक्ष्मीमानभिषेकपूर्वकमसौ श्रीवज्रजङ्घो भुवि, द्वात्रिंशन्मुकुटप्रबद्धमहितैः[4] क्ष्माभृत्सहस्रैर्मुहुः ।
तां कल्याणपरम्परामनुभवन् भोगान् पराम्निर्विशन्[5], श्रीमत्या सह दीर्घकालमवसत्तस्मिन् पुरेऽर्चन् जिनान् ॥३१८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजङ्घसमागमवर्णनं नाम सप्तमं पर्व ॥७॥

प्रकाशित करनेवाली ज्योति है, आप ही समस्त जगत्के एकमात्र स्वामी हैं, आप ही समस्त संसारके एकमात्र बन्धु हैं और आप ही समस्त लोकके एकमात्र गुरु हैं ॥ ३१३ ॥ आप ही सम्पूर्ण विद्याओंके आदिस्थान हैं, आप ही समस्त योगियोंमें प्रथम योगी हैं, आप ही धर्मरूपी तीर्थके प्रथम प्रवर्तक हैं, और आप ही प्राणियोंके प्रथम गुरु हैं ॥ ३१४ ॥ आप ही सबका हित करनेवाले हैं, आप ही सब विद्याओंके स्वामी हैं और आप ही समस्त लोकको देखनेवाले हैं। हे देव, आपकी स्तुतिका विस्तार कहाँतक किया जाये। अबतक जितनी स्तुति कर चुका हूँ मुझ-जैसे अल्पज्ञके लिए उतनी ही बहुत है ॥ ३१५ ॥ हे देव, इस प्रकार आपकी वन्दना कर मैं आपको प्रणाम करता हूँ और उसके फलस्वरूप आपसे किसी सीमित अन्य फलकी याचना नहीं करता हूँ। किन्तु हे जिन, आपमें ही मेरी भक्ति सदा अचल रहे यही प्रदान कीजिए क्योंकि वह भक्ति ही स्वर्ग तथा मोक्षके उत्तम फल उत्पन्न कर देती है ॥ ३१६ ॥ इस प्रकार श्रीमान् वज्रजंघ राजाने जिनेन्द्र देवको उत्तम रीतिसे नमस्कार किया, उनकी स्तुति और पूजा की। फिर राग-द्वेषसे रहित मुनिसमूहकी भी क्रमसे पूजा की। तदनन्तर श्रीजिनेन्द्रदेवके गुणोंका बार-बार स्मरण करता हुआ वह वज्रजंघ राज्यादिकी विभूति प्राप्त करनेके लिए हर्षसे श्रीमतीके साथ-साथ अनेक ऋद्धियोंसे शोभायमान पुण्डरीकिणी नगरीमें प्रविष्ट हुआ ॥ ३१७ ॥ वहाँ भरतभूमिके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंने उस लक्ष्मीवान् वज्रजंघका राज्याभिषेकपूर्वक भारी सम्मान किया था। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करते हुए हजारों राजाओंके द्वारा बार-बार प्राप्त हुई कल्याण-परम्पराका अनुभव करते हुए और श्रीमतीके साथ उत्तमोत्तम भोग भोगते हुए वज्रजंघने दीर्घकाल तक उसी पुण्डरीकिणी नगरीमें निवास किया था ॥ ३१८ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजंघके समागमका वर्णन करनेवाला सातवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥७॥

---

१. सर्वेभ्यो हित । २. मृगये । ३ अनुक्रमात् । ४. महितः क्ष्माभृत् अ०, स० । ५. अनुभवन् ।

अष्टमं पर्व

अथ तत्रावसद्दीर्घं स कालं चक्रिमन्दिरे । नित्योत्सवे महाभोगसंपदा सोपभोगया ॥१॥
श्रीमतीस्तनसंस्पर्शात् तन्मुखाब्जविलोकनात् । तस्यासीन्महती प्रीतिः प्रेम्णे वस्त्विष्टमाश्रितम् ॥२॥
तन्मुखाब्जाद् रसामोदा[1]वाहरन्नातृपन् नृपः । मधुव्रत इवाम्भोजात् कामसेवा[2] न तृप्तये ॥३॥
मुखेन्दुमस्या सोऽपश्यत् निर्निमेषोत्कया[3] दृशा । [4]कान्तिमद्दशनज्योतिर्ज्योत्स्नया सततोज्ज्वलम् ॥४॥
अपाङ्गवीक्षितै[5]र्लीलास्मितैश्च कलभाषितै[6] । मनो बबन्ध सा तस्य [7]स्वस्मिन्नत्यन्तमासुरे[8] ॥५॥
त्रिवलीवीचिरम्येऽसौ नाभिकावर्त्तशोभिनि । उदरे कृशमध्याया रेमे नद्या इव ह्रदे[9] ॥६॥
नितम्बपुलिने तस्याः स चिरं [10]धृतिमातनोत् । काञ्चीविहङ्गविरुते[11] रम्ये हंसयुवायितः ॥७॥
तत्स्तनांशु[12]कमाहृत्य तत्र व्यापारयन् करम् । मदेभ इव सोऽभासीत् पद्मिन्याः कुड्मलं स्पृशन् ॥८॥
स्तनचक्राह्वये तस्याः श्रीखण्डद्रवकर्दमे । उरःसरसि रेमेऽसौ सत्कुचांशुकशैवले ॥९॥

विवाह हो जानेके बाद वज्रजंघने, जहाँ नित्य ही अनेक उत्सव होते रहते थे ऐसे चक्रवर्तीके भवनमें उत्तम-उत्तम भोगोपभोग सम्पदाओंके द्वारा भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुए दीर्घकाल तक निवास किया था ॥१॥ वहाँ श्रीमतीके स्तनोंका स्पर्श करने तथा मुखरूपी कमलके देखनेसे उसे बड़ी प्रसन्नता होती थी सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट वस्तुके आश्रयसे सभीको प्रसन्नता होती है ॥२॥ जिस प्रकार भौंरा कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार राजा वज्रजंघ भी श्रीमतीके मुखरूपी कमलसे रस और सुवासको ग्रहण करता हुआ कभी सन्तुष्ट नहीं होता था । सच है, कामसेवनसे कभी सन्तोष नहीं होता है॥३॥श्रीमतीका मुखरूपी चन्द्रमा चमकीले दाँतोंकी किरणरूपी चाँदनीसे हमेशा उज्ज्वल रहता था इसलिए वज्रजंघ उसे टिमकाररहित लालसापूर्ण दृष्टिसे देखता रहता था ॥४॥ श्रीमतीने अत्यन्त मनोहर कटाक्षावलोकन, लीलासहित मुसकान और मधुर भाषणोंके द्वारा उसका चित्त अपने अधीन कर लिया था ॥५॥ श्रीमतीकी कमर पतली थी और उदर किसी नदीके गहरे कुण्डके समान था । क्योंकि कुण्ड जिस प्रकार लहरोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार उसका उदर भी त्रिवलिसे (नाभिके नीचे रहनेवाली तीन रेखाओंसे) मनोहर था और कुण्ड जिस प्रकार आवर्तसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसका उदर भी नाभिरूपी आवर्तसे शोभायमान था। इस तरह जिसका मध्य भाग कृश है ऐसी किसी नदीके कुण्डके समान श्रीमतीके उदर प्रदेशपर वह वज्रजंघ रमण करता था ॥६॥ तरुण हंसके समान वह वज्रजंघ, करधनीरूपी पक्षियोंके शब्दसे शब्दायमान उस श्रीमतीके मनोहर नितम्बरूपी पुलिनपर चिरकाल तक क्रीडा करके सन्तुष्ट रहता था ॥७॥ स्तनोंसे वस्त्र हटाकर उनपर हाथ फेरता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि कमलिनीके कुड्मल (बौंड़ी)का स्पर्श करता हुआ मदोन्मत्त हाथी शोभायमान होता है ॥८॥ जो स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंसे सहित है, चन्दनद्रवरूपी

---

१ –नाहरन्ना–द० । –दादाहरन्ना–अ०, प० । २ इष्टविषयोपभोगः । ३ उत्कण्ठया । ४. कान्तिरेषामस्तीति कान्तिमन्तः ते च ते दशनाश्च तेषां ज्योतिरेव ज्योत्स्ना तया । ५ वीक्षणैः । ६. कलभाषणैः । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे' । ७ आत्मनि । ८.–रत्यन्तबन्धुरे अ०, प०, म०, स०, द० । ९ इवाह्रदे अ०, स० । १० सन्तोषम् । ११. ध्वनौ । १२ कुचांशुक–ट० । उरोजाच्छादनवस्त्रविशेषः ।

मृदुबाहुलते कण्ठे गाढमासज्य[1] सुन्दरी। कामपाशायिते तस्य मनोऽबध्नान् मनस्विनी[2] ॥१०॥
मृदुपाणितले स्पर्शं रसगन्धौ मुखाम्बुजे। शब्दमालपिते तस्याः तनौ[3] रूपं निरूपयन्[4] ॥११॥
सुचिरं तर्पयामास[5] सोऽक्षग्राममशेषतः। सुखमैन्द्रियिकं[6] प्रेप्सोः[7] गतिर्नातः पराङ्गिनः ॥१२॥
काञ्चीदाममहानागसंरुद्धेऽन्यैर्दुरासदे। रेमे तस्याः कटिस्थाने महतीव निधानके ॥१३॥
कचग्रहैर्मृदीयोभिः कर्णोत्पलवितादितैः[9]। अभूत् प्रणयकोपोऽस्या यून प्रीत्यै सुखाय च ॥१४॥
गलिताभरणन्यासे रतिघर्माम्बुकर्दमे। तस्यासीद्धृति[10] रङ्गेऽस्याः सुखोत्कर्षः स कामिनाम् ॥१५॥
सौधवातायनोपान्तकृतशय्यौ रतिश्रमम्। अपनिन्यतुरास्पृष्टौ[11] तौ शनैर्मृदुमारुतैः ॥१६॥
तस्या मुखेन्दुराह्लाद लोचने नयनोत्सवम्। स्तनौ स्पर्शसुखासंगमहय तेनुर्दुरासदम् ॥१७॥
तत्कन्यामृतमासाद्य दिव्यौषधमिवातुरः[12]। स काले सेवमानोऽभूत् सुखी निर्मदनज्वरः ॥१८॥
कदाचिन्नन्दनस्पर्द्धिपरार्द्ध्यतरुशोभिषु। गृहोद्यानेषु रेमेऽसौ कान्तयामा महर्द्धिषु ॥१९॥
कदाचिद् बहिरुद्याने लतागृहविराजिनि। क्रीडाद्रिसहितेऽदीव्यत् प्रियया[13] सममुत्सुकः ॥२०॥

कीचड़से युक्त है और स्तनवस्त्र (कंचुकी) रूपी शेवालसे शोभित है ऐसे उस श्रीमतीके वक्षःस्थलरूपी सरोवरमें वह वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा करता था ॥९॥ उस सुन्दरी तथा सहृदया श्रीमतीने कामपाशके समान अपनी कोमल भुजलताओंको वज्रजंघके गलेमें डालकर उसका मन बाँध लिया था–अपने वश कर लिया था ॥१०॥ वह वज्रजंघ श्रीमतीकी कोमल बाहुओंके स्पर्शसे स्पर्शन इन्द्रियको, मुखरूपी कमलके रस और गन्धसे रसना तथा घ्राण इन्द्रियको, सम्भाषणके समय मधुर शब्दोंको सुनकर कर्ण इन्द्रियको और शरीरके सौन्दर्यको निरखकर नेत्र इन्द्रियको तृप्त करता था। इस प्रकार वह पाँचों इन्द्रियोंको सब प्रकारसे चिरकाल तक सन्तुष्ट करता था सो ठीक ही है इन्द्रियसुख चाहनेवाले जीवोंको इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है ॥११-१२॥ करधनीरूपी महासर्पसे घिरे हुए होनेके कारण अन्यपुरुषोंको अप्राप्य श्रीमतीके कटिभागरूपी बड़े खजानेपर वज्रजंघ निरन्तर क्रीड़ा किया करता था ॥१३॥ जब कभी श्रीमती प्रणयकोपसे कुपित होती थी तब वह धीरे-धीरे वज्रजंघके केश पकड़कर खींचने लगती थी तथा कर्णोत्पलके कोमल प्रहारोंसे उसका ताड़न करने लगती थी। उसकी इन चेष्टाओंसे वज्रजंघको बड़ा ही सन्तोष और सुख होता था ॥१४॥ परस्परकी खींचातानीसे जिसके आभरण अस्त-व्यस्त होकर गिर पड़े हैं तथा जो रतिकालीन स्वेद-बिन्दुओंसे कर्दम युक्त हो गया है ऐसे श्रीमतीके शरीरमें उसे बड़ा सन्तोष होता था। सो ठीक है कामीजन इसीको उत्कृष्ट सुख समझते हैं ॥१५॥ राजमहलमें झरोखेके समीप ही इनकी शय्या थी इसलिए झरोखेसे आनेवाली मन्द-मन्द वायुसे इनका रति-श्रम दूर होता रहता था ॥१६॥ श्रीमतीका मुखरूपी चन्द्रमा वज्रजंघके आनन्दको बढ़ाता था, उसके नेत्र, नेत्रोंका सुख विस्तृत करते थे तथा उसके दोनों स्तन अपूर्व स्पर्श-सुखको बढाते थे ॥१७॥ जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष उत्तम औषध पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ ज्वर आदिसे रहित होकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृतको पाकर समयपर उसका सेवन करता हुआ काम-ज्वरसे रहित होकर सुखी हो गया था ॥१८॥ वह वज्रजंघ कभी तो नन्दन वनके साथ स्पर्धा करनेवाले श्रेष्ठ वृक्षोंसे शोभायमान और महाविभूतिसे युक्त घरके उद्यानोंमें श्रीमतीके साथ रमण करता था और कभी लतागृहों

१. ससक्तौ कृत्वा। २ 'क्लेशैरुपहृतस्यापि मानसं सुखिनो यथा। स्वकार्येषु स्थिरं यस्य मनस्वीत्युच्यते बुधैः ॥' ३. शरीरे। ४. पश्यन्। ५. इन्द्रियसमुदायम्। ६ –मैन्द्रियक द०, स०, म०, ल०। ७. प्राप्तुमिच्छोः। ८. उपायः। ९. 'त' पुस्तके 'विताडनैः' इत्यपि पाठः। १०. मुद्। ११ ईषत्स्पृष्टौ। १२. व्याधिपीडितः। १३. स समुत्सुक. म०, ल०।

नदीपुलिनदेशेषु कदाचिद् विजहार स । स्वयंगलत्प्रफुल्लकुसुमशोभिषु ॥२१॥
कदाचिद् दीर्घिकाम्भस्सु जलक्रीडां समातनोत् । मकरन्दरज पुञ्जपिञ्जरेषु स सप्रियः ॥२२॥
चामीकरमयैर्यन्त्रैर्जलकेलिविधावसौ । प्रियामुखाब्जमम्भोभिरसिञ्चत् कूणितेक्षणम्[1] ॥२३॥
साप्यस्य मुखमासेक्तुं कृतवाञ्छापि नाशकत् । स्तनांशुके गलत्याविर्भवद्व्रीडा[2] पराङ्मुखी ॥२४॥
जलकेलिविधौ तस्या लग्नं स्तनतटेंऽशुकम् । जलच्छायां[3] दधे श्लक्ष्ण[4] स्तनशोभामकर्शयत्[5] ॥२५॥
स्तनकुड्मल[6] संशोभा मृदुबाहुमृणालिका । सा दधे नलिनीशोभां मुखाम्बुजविराजिनी ॥२६॥
कर्णोत्पल स्वमित्यस्या विलोलैरादधे जलै । तन्मुखाम्बुरुहच्छायां स्वाञ्जेतुमिवाक्षमै ॥२७॥
धारागृहे स निपतद्धारावद्धनागमे । प्रियया विद्युतेवोच्चैः चिक्रीड सुखनिर्वृत[7] ॥२८॥
कदाचित्सौधपृष्ठेषु तारकाप्रतिबिम्बितैः[8] । कृतार्चनेष्वसौ रेमे ज्योत्स्नां रात्रिषु निर्विशन्[9] ॥२९॥
इति तत्र चिरं भोगैरुपभोगैश्च हारिभि. । वधूवरमरंस्तैतत् स्वर्गभोगातिशायिभिः ॥३०॥
तयोस्तथाविधैर्भोगैर्जिनेन्द्रमहिमोत्सवै[10] । पात्रदानविनोदैश्च तत्र कालोऽगमद् बहु ॥३१॥
[11]नित्यप्रसाद[12] लाभेन तयोर्नित्यमहोत्सवैः । पुत्रोत्पत्त्यादिसर्गैश्च स कालोऽविदितोऽगमत् ॥३२॥

(निकुंजों) से शोभायमान तथा क्रीड़ा-पर्वतोंसे सहित बाहरके उद्यानोंमें उत्सुक होकर क्रीड़ा करता था ॥ १९-२०॥ कभी फूली हुई लताओंसे झरे हुए पुष्पोंसे शोभायमान नदीतटके प्रदेशोंमें विहार करता था ॥२१॥ और कभी कमलोंकी परागरजके समूहसे पीले हुए वावड़ीके जलमें प्रियाके साथ जल-क्रीड़ा करता था ॥२२॥ वह वज्रजंघ जल-क्रीड़ाके समय सुवर्णमय पिचकारियोंसे अपनी प्रिया श्रीमतीके तीखे कटाक्षोंवाले मुख-कमलका सिंचन करता था ॥२३॥ पर श्रीमती जब प्रियपर जल डालनेके लिए पिचकारी उठाती थी तब उसके स्तनोंका आँचल खिसक जाता था और इससे वह लज्जासे विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥ जल-क्रीड़ा करते समय श्रीमतीके स्तनतटपर जो महीन वस्त्र पानीसे भीगकर चिपक गया था वह जलकी छायाके समान मालूम होता था। तथा उसने उसके स्तनोंकी शोभा कम कर दी थी ॥ २५ ॥ श्रीमतीके स्तन कुड्मल (बौड़ी) के समान, कोमल भुजाएँ मृणालके समान और मुख कमलके समान शोभायमान था इसलिए वह जलके भीतर कमलिनीकी शोभा धारण कर रही थी ॥२६॥ हमारे ये कमल श्रीमतीके मुखकमलकी कान्तिको जीतनेके लिए समर्थ नहीं हैं—यह विचार कर ही मानो चंचल जलने श्रीमतीके कर्णोत्पलको वापस बुला लिया था ॥ २७ ॥ ऊपरसे पड़ती हुई जलधारासे जिसमें सदा वर्षाऋतु बनी रहती है ऐसे धारागृहमें (फव्वाराके घरमें) वह वज्रजंघ बिजलीके समान अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ सुखपूर्वक क्रीड़ा करता था ॥२८॥ और कभी ताराओंके प्रतिबिम्बके बहाने जिनपर उपहारके फूल बिखेरे गये हैं ऐसे राजमहलोंकी रत्नमयी छतोंपर रातके समय चाँदनीका उपभोग करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥ इस प्रकार दोनों वधू-वर उस पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वर्गलोकके भोगोंसे भी बढ़कर मनोहर भोगोपभोगोंके द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥ ३० ॥ ऊपर कहे हुए भोगोंके द्वारा, जिनेन्द्रदेवकी पूजा आदि उत्सवोंके द्वारा और पात्र दान आदि माङ्गलिक कार्योंके द्वारा उन दोनोंका वहाँ बहुत समय व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥ वहाँ अनेक लोग आकर वज्रजंघके लिए उत्तम-उत्तम वस्तुएँ भेंट करते थे, पूजा आदिके उत्सव होते रहते थे तथा पुत्र-जन्म आदिके समय अनेक उत्सव मनाये जाते थे जिससे उन दोनोंका दीर्घ समय अनायास ही व्यतीत हो गया था ॥ ३२ ॥

---

१. कूणित सङ्कोचितम् । कोणितेक्षणम् म०, ल० । २. लज्जा । ३. जलच्छाय प०, अ०, स० । जलछाया ल० । ४ श्लक्ष्णा प० । ५. कृशमकुर्वत् । ६.-कुड्मल-अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ७ सुखतृप्त । ८ प्रतिबिम्बै. । ९ अनुभवन् । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' । १०. पूजोत्सवै. । ११. तस्य प्रसाद-म०, ल० । १२. प्रसन्नता ।

वज्रजङ्घानुजां कन्यामनुरूपामनुन्धरीम् । वज्रबाहुर्विभूत्यासावदितामिततेजसे ॥३३॥
चक्रिसूनुं तमासाद्य सुतरां पिप्रिये सती । अनुन्धरी नवोढासौ वसन्तमिव कोकिला ॥३४॥
अथ चक्रधरः पूजासत्कारैरभिपूजितम् । स्वपुरं प्रति यानाय[1] व्यसृजत्[2] तद्वधूवरम् ॥३५॥
हस्त्यश्वरथपादातं रत्नं देशं सकोशकम् । [3]तदान्वयिनिकं पुत्र्यै ददौ चक्रधरो महत् ॥३६॥
अथ प्रयाणसंक्षोभाद् दम्पत्योस्तत्पुरं तदा । परमाकुलतां भेजे तद्गुणैरुन्मनायितम् ॥३७॥
ततः प्रस्थानगम्भीरभेरीध्वानैः शुभे दिने । प्रयाणमकरोच्छ्रीमान् वज्रजङ्घः सहाङ्गनः ॥३८॥
वज्रबाहुमहाराजो देवी चास्य वसुन्धरा । वज्रजङ्घं सपत्नीकं व्रजन्तमनुजग्मतुः ॥३९॥
पौरवर्गं तथा मन्त्रिसेनापतिपुरोहितान् । सोऽनु[4]व्रजितुमायातान्[5] अविदूराद् व्यसर्जयत् ॥४०॥
हस्त्यश्वरथभूयिष्ठं साधनं सहपत्तिकम् । [6]संवाहयन् स संप्रापत् पुरमुत्पलखेटकम् ॥४१॥
परार्ध्यरचनोपेतं सोत्सवं प्रविशन् पुरम् । पुरन्दर इवाभासीद् वज्रजङ्घोऽमितद्युतिः ॥४२॥
पौराङ्गना महावीथीर्विशन्तं तं प्रियान्वितम् । सुमनोऽञ्जलिभिः प्रोच्चैश्च[7] चकरुः सौधसंश्रिताः ॥४३॥
पुष्पाक्षतयुतां पुण्यां शेषां पुण्याशिषा समम् । प्रजाः समन्ततोऽभ्येत्य दम्पती तावलम्भयन्[8] ॥४४॥

वज्रजंघकी एक अनुन्धरी नामकी छोटी वहन थी जो उसीके समान सुन्दरी थी। राजा वज्रबाहुने वह बड़ी विभूतिके साथ चक्रवर्तीके वड़े पुत्र अमिततेजके लिए प्रदान की थी॥३३॥ जिस प्रकार कोयल वसन्तको पाकर प्रसन्न होती है उसी प्रकार वह नवविवाहिता सती अनुन्धरी, चक्रवर्तीके पुत्रको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई थी॥ ३४ ॥ इस प्रकार जव सब कार्य पूर्ण हो चुके तव चक्रवर्ती वज्रदन्त महाराजने अपने नगरको वापस जानेके लिए पूजा सत्कार आदिसे सवका सम्मान कर वधू-वरको विदा कर दिया॥ ३५ ॥ उस समय चक्रवर्तीने पुत्रीके लिए हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रत्न, देश और खजाना आदि कुलपरम्परासे चला आया वहुत-सा धन दहेजमें दिया था॥ ३६ ॥

वज्रजंघ और श्रीमतीने अपने गुणोंसे समस्त पुरवासियोंको उन्मुग्ध कर लिया था इस-लिए उनके जानेका क्षोभकारक समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे॥३७॥ तदनन्तर किसी शुभदिन श्रीमान् वज्रजंघने अपनी पत्नी श्रीमतीके साथ प्रस्थान किया। उस समय उनके प्रस्थानको सूचित करनेवाले नगाड़ोंका गम्भीर शब्द हो रहा था॥३८॥ वज्र-जंघ अपनी पत्नीके साथ आगे चलने लगे और महाराज वज्रबाहु तथा उनकी पत्नी वसुन्धरा महाराज्ञी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे॥३९॥ पुरवासी, मन्त्री, सेनापति तथा पुरोहित आदि जो भी उन्हें पहुँचाने गये थे वज्रजंघने उन्हें थोड़ी दूरसे वापस विदा कर दिया था॥४०॥ हाथी, घोड़े, रथ और पियादे आदिकी विशाल सेनाका संचालन करता हुआ वज्रजंघ क्रम-क्रमसे उत्पलखेटक नगरमें पहुँचा॥४१॥ उस समय उस नगरीमें अनेक उत्तम-उत्तम रचनाएँ की गयी थीं, कई प्रकारके उत्सव मनाये जा रहे थे। उस नगरमें प्रवेश करता हुआ अतिशय देदी-प्यमान वज्रजंघ इन्द्रके समान शोभायमान हो रहा था॥ ४२ ॥ जव वज्रजंघने अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ नगरकी प्रधान-प्रधान गलियोंमें प्रवेश किया तव पुरसुन्दरियोंने महलोंकी छतों-पर चढ़कर उन दोनोंपर वड़े प्रेमके साथ अंजलि भर-भरकर फूल वरसाये थे॥४३॥ उस समय सभी ओरसे प्रजाजन आते थे और शुभ आशीर्वादके साथ-साथ पुष्प तथा अक्षतसे मिला

---

१. गमनाय । २. प्राहिणोत् । ३. अनु पश्चात्, अयः अयनं गमनम् अन्वयः स्यादित्यर्थः । अनवस्थितम् अन्वयः अनुगमनम् अस्याः अस्तीत्यस्मिन्नर्थे इन् प्रत्यये अन्वयिन् इति शब्दः, ततः ङीप्रत्यये सति अन्वयि-नीति सिद्धम् । अन्वयिन्याः सम्बन्धि द्रव्यमित्यस्मिन्नर्थे ठणि सति आन्वयिनिकमिति सिद्धम् । [जामातृदेयं द्रव्यमित्यर्थः] । ४. अनुगन्तुम् । ५. अनतिदूरात् । ६ सम्यग् गमयन् । ७. किरन्ति स्म । ८. प्रापयन्ति स्म ।

ततः प्रहतगम्भीरपटहध्वानसंकुलम् । पुरमुच्चोरणं पश्यन् स विवेश नृपालयम्[1] ॥४५॥
तत्र[1] श्रीभवने[2] रम्ये सर्वर्तुसुखदायिनि । श्रीमत्या सह संप्रीत्या वज्रजङ्घोऽवसत् सुखम् ॥४६॥
स राजसदनं रम्यं प्रीत्यामुष्यै प्रदर्शयन् । तत्र तां रमयामास खिन्नां गुरुवियोगतः[3] ॥४७॥
पण्डिता सममायाता सखीनामग्रणीः सती[4] । तामसौ रञ्जयामास विनोदैर्नर्तनादिभिः ॥४८॥
भोगैरनारतैरेवं काले गच्छत्यनुक्रमात् । श्रीमती सुषुवे पुत्रान् व्येकपञ्चाशतं[5] यमान्[6] ॥४९॥
अथान्येद्युर्महाराजो वज्रबाहुर्महाद्युतिः । शरदम्बुधरोत्थानं सौधाग्रस्थो निरूपयन् ॥५०॥
दृष्ट्वा तद्विलयं सद्यो निर्वेदं परमागतः । विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिन्ता गरीयसी ॥५१॥
पश्य नः पश्यतामेव कथमेष शरद्घन. । प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणान्तरे ॥५२॥
[7]संपदश्रविलायं[8] न्ना: क्षणादेषा विलास्यते । लक्ष्मीस्तडिद्विलोलेयं इत्वर्यो[9] यौवनश्रियः ॥५३॥
[10]आपातमात्ररम्याश्च भोगाः पर्यन्ततापिनः । प्रतिक्षणं गलत्यायुर्गलन्नालिजलं[11] यथा ॥५४॥
रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबन्धुसमागमः । प्रियाङ्गनारतिश्चेति सर्वमप्यनवस्थितम्[12] ॥५५॥
विचिन्त्येति चलां लक्ष्मीं प्रजिहासुः[13] सुधीरसौ । अभिषिच्य सुतं राज्ये वज्रजङ्घमतिष्ठिपत् ॥५६॥
स राज्यभोगनिर्विण्णस्तूर्णं[14] यसधरान्तिके । नृपैः सार्द्धं सहस्रार्द्ध[15]मितैर्दीक्षामुपाददे ॥५७॥

हुआ पवित्र प्रसाद उन दोनों दम्पतियोंके समीप पहुँचाते थे॥४४॥ तदनन्तर बजती हुई भेरियोंके गम्भीर शब्दसे व्याप्त तथा अनेक तोरणोंसे अलंकृत नगरकी शोभा देखते हुए वज्रजंघने राजभवनमें प्रवेश किया ॥४५॥ वह राजभवन अनेक प्रकारकी लक्ष्मीसे शोभित था, महा मनोहर था और सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाली सामग्रीसे सहित था। ऐसे ही राजमहलमें वज्रजंघ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेम और सुखसे निवास करता था ॥४६॥ यद्यपि माता-पिता आदि गुरुजनोंके वियोगसे श्रीमती खिन्न रहती थी परन्तु वज्रजंघ बड़े प्रेमसे अत्यन्त सुन्दर राजमहल दिखलाकर उसका चित्त बहलाता रहता था॥४७॥ शीलव्रत धारण करनेवाली तथा सब सखियोंमें श्रेष्ठ पण्डिता नामकी सखी भी उसके साथ आयी थी। वह भी नृत्य आदि अनेक प्रकारके विनोदोंसे उसे प्रसन्न रखती थी॥४८॥ इस प्रकार निरन्तर भोगोपभोगोंके द्वारा समय व्यतीत करते हुए उसके क्रमशः उनचास युगल अर्थात् अट्ठानवे पुत्र उत्पन्न हुए ॥४९॥

तदनन्तर किसी एक दिन महाकान्तिमान् महाराज वज्रबाहु महलकी छतपर बैठे हुए शरद् ऋतुके बादलोंका उठाव देख रहे थे ॥५०॥ उन्होंने पहले जिस बादलको उठता हुआ देखा था उसे तत्कालमें विलीन हुआ देखकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे उसी समय संसारके सब भोगोंसे विरक्त हो गये और मनमें इस प्रकार गम्भीर विचार करने लगे ॥५१॥ देखो, यह शरद् ऋतुका बादल हमारे देखते-देखते राजमहलकी आकृतिको धारण किये हुए था और देखते-देखते ही क्षण-भरमें विलीन हो गया ॥५२॥ ठीक, इसी प्रकार हमारी यह सम्पदा भी मेघके समान क्षण-भरमें विलीन हो जायेगी। वास्तवमें यह लक्ष्मी बिजलीके समान चंचल है और यौवनकी शोभा भी शीघ्र चली जानेवाली है ॥५३॥ ये भोग प्रारम्भ कालमें ही मनोहर लगते हैं किन्तु अन्तकालमें (फल देनेके समय) भारी सन्ताप देते है। यह आयु भी फूटी हुई नालीके जलके समान प्रत्येक क्षण नष्ट होती जाती है ॥५४॥ रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य, इष्ट-बन्धुओंका समागम और प्रिय स्त्रीका प्रेम आदि सभी कुछ अनवस्थित हैं—क्षणनश्वर हैं ॥५५॥ इस प्रकार विचार कर चंचल लक्ष्मीको छोड़नेके अभिलाषी बुद्धिमान् राजा वज्रबाहुने अपने पुत्र वज्रजंघका अभिषेक कर उसे राज्यकार्यमे नियुक्त किया ॥५६॥ और स्वयं

---

१. राजालये । २. लक्ष्मीनिवासे । ३ मातापितृवियोगात् । ४ प्रशस्ता । ५. एकोनम् । ६. युगलान् । ७ धनकनकसमृद्धि. । ८. अभ्रमिव विलास्यते विलयमेष्यति । ९ व्यभिचारिण्य । १०. अनुभवनकालमात्रम् । ११ पतदघाटीनीरम् । १२ अस्थिरम् । १३ प्रहातुमिच्छु । १४ शीघ्रम् । १५. पञ्चशतप्रमितै. ।

श्रीमतीतनयाश्चामी वीरबाहुपुरोगमाः[1] । समं राजर्षिणाऽनेन तदा संयमिनोऽभवन् ॥५८॥
[2]यमं समनुपाल्य[3] शुद्धिभिर्विहरन्नसौ । क्रमादुत्पाद्य कैवल्यं परं धाम समासदत् ॥५९॥
वज्रजङ्घस्ततो राज्यसंपदं प्राप्य पैतृकीम्[4] । निरविक्षच्चिरं भोगान् प्र[6]कृतीरनुरञ्जयन् ॥६०॥
अथान्यदा महाराजो वज्रदन्तो महर्द्धिकः । सिंहासने सुखासीनो नरेन्द्रैः परिवेष्टितः ॥६१॥
तथासीनस्य[7] चोद्यानपालो विकसितं नवम् । सुगन्धिपद्ममानीय तस्य हस्ते ददौ मुदा ॥६२॥
पाणौकृत्य[8] तदाजिघ्रन् स्वाननामोदसुन्दरम् । संप्रीत. करपद्मेन सविभ्रममविभ्रमत्[9] ॥६३॥
[10]तद्गन्धलोलुपं तत्र रुद्धं लोकान्तराधितम्[11] । दृष्ट्वालिं विषयासंगात्[12] विरराम[13] सुधीरसौ ॥६४॥
अहो मदालिरेषोऽत्र गन्धाकृष्ट्या रसं[14] पिबन् । दिनापाये निरुद्धोऽभूद्[15] व्यसुर्धिग्विषयैषिताम्[16] ॥६५॥
विषया विषमाः पाके किम्पाकसदृशा इमे । आपातरम्या[17] धिगिमाननिष्टफलदायिनः ॥६६॥
अहो धिगस्तु भोगाङ्गमिदमङ्गं[18] शरीरिणाम् । [19]विलीयते[20] शरन्मेघविलायमतिपेलवम्[21] ॥६७॥
तडिदुन्मिषिता[22] लोला लक्ष्मीस्तात्कालिकं[23] सुखम् । इमाः स्वप्नर्द्धिदेशीया[24] विनश्वर्यो धनर्द्धय. ॥६८॥

राज्य तथा भोगोंसे विरक्त हो शीघ्र ही श्रीयमधरमुनिके समीप जाकर पाँच सौ राजाओंके साथ जिनदीक्षा ले ली ॥५७॥ उसी समय वीरबाहु आदि श्रीमतीके अट्ठानवे पुत्र भी इन्हीं राजर्षि वज्रबाहुके साथ दीक्षा लेकर संयमी हो गये ॥५८॥ वज्रबाहु मुनिराजने विशुद्ध परिणामोंके धारक वीरबाहु आदि मुनियोंके साथ चिरकाल तक विहार किया फिर क्रम-क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षरूपी परमधामको प्राप्त किया ॥५९॥ इधर वज्रजंघ भी पिताकी राज्य-विभूति प्राप्त कर प्रजाको प्रसन्न करता हुआ चिरकाल तक अनेक प्रकारके भोग भोगता रहा ॥६०॥

अनन्तर किसी एक दिन बड़ी विभूतिके धारक तथा अनेक राजाओंसे घिरे हुए महाराज वज्रदन्त सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे ॥६१॥ कि इतनेमें ही वनपालने एक नवीन खिला हुआ सुगन्धित कमल लाकर बड़े हर्षसे उनके हाथपर अर्पित किया ॥६२॥ वह कमल राजाके मुखकी सुगन्धके समान सुगन्धित और बहुत ही सुन्दर था। उन्होंने उसे अपने हाथमें लिया और अपने करकमलमें घुमाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ सूँघा ॥६३॥ उस कमलके भीतर उसकी सुगन्धिका लोभी एक भ्रमर रुककर मरा हुआ पड़ा था। ज्यों ही बुद्धिमान् महाराजने उसे देखा त्यों ही वे विषयभोगोंसे विरक्त हो गये ॥६४॥ वे विचारने लगे कि—अहो, यह मदोन्मत्त भ्रमर इसकी सुगन्धिसे आकृष्ट होकर यहाँ आया था और रस पीते-पीते ही सूर्यास्त हो जानेसे इसीमें घिरकर मर गया। ऐसी विषयोंकी चाहको धिक्कार हो ॥६५॥ ये विषय किंपाक फलके समान विषम हैं। प्रारम्भकालमें अर्थात् सेवन करते समय तो अच्छे मालूम होते हैं परन्तु फल देते समय अनिष्ट फल देते हैं इसलिए इन्हें धिक्कार हो ॥६६॥ प्राणियोंका यह शरीर जो कि विषय-भोगोंका साधन है शरद् ऋतुके बादलके समान क्षण-भरमें विलीन हो जाता है इसलिए ऐसे शरीरको भी धिक्कार हो ॥६७॥ यह लक्ष्मी बिजलीकी चमकके समान चंचल है, यह इन्द्रिय-सुख भी अस्थिर है और धन-धान्य आदिकी विभूति भी स्वप्नमें प्राप्त हुई विभूतिके

१. प्रमुखाः । २. युगलं, श्रीमतीपुत्रैः । ३ धृत्वा । ४. पितुः सकाशादागता पैतृकी ताम् । 'इष्ठन्' इति सूत्रेण आगतार्थे ठञ् । ततः स्त्रियां ङीप्प्रत्यय. । ५ लब्धभूत् । ६. प्रजापरिवारान् । ७. तदासीनस्य म०, ल० । ८. स्वीकृत्य । 'नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ' इति नित्यं तिसंज्ञौ भवतः । ९. –मविभ्रमात् प० । –मविभ्रमत् ल० । १०. तत् कमलम् । ११. मरणमाश्रितम् । १२. विषयासक्तेः । १३. अपनरति स्म । १४. मकरन्दम् । १५. गतप्राणः । १६. विषयवाञ्छाम् । १७. अनुभवनकालः । १८. भोगकारणम् । १९. विलीयेत ल० । २०. शरदभ्रमिव । २१. अस्थिरम् । २२. कान्तिः । २३. चञ्चलम् । २४. स्वप्नसंपत्समानाः ।

भोगान् भो गाढु[1]मीहन्ते कथमेतान् मनस्विनः । ये विलोभयितुं जन्तूनायान्ति च वियन्ति[2] च ॥६९॥
वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवनं सुखसंपदः । वस्तुवाहनमन्यच्च सुरचापवदस्थिरम् ॥७०॥
तृणाग्रलग्नवार्बिन्दुर्विनिपातोन्मुखो यथा । तथा प्राणभृतामायु[3]र्विलासो विनिपातुकः[4] ॥७१॥
अग्रेसरीजरातङ्काः[5] पार्ष्णिग्राहा[6]स्तरस्विनः[7] । कषायाटविकैः[8] सार्द्धं[9] यमराड्भरांधर्मा[10] ॥७२॥
अक्षग्रामं दहन्त्येते[11] संतर्षविषमार्चिषा । विषया विषमोत्थानवेदना[12] लुम्पयन्त्यसून् ॥७३॥
प्राणिनां सुखमल्पीयो भूयिष्ठं तु खमेव तु । संसृतौ तदिहाश्वासः कस्कः[13,14] कौतस्कुतोऽथवा ॥७४॥
तनुमान् विषयानीप्सन् क्लेशैः प्रागेव ताम्यति । भुञ्जानस्तृप्त्ययोगेन वियोगेऽनुशयानकः[15] ॥७५॥
यदद्याढ्यतरं तृप्तं श्वस्तदाढ्यचरं भवेत् । यच्चाद्य व्यसनैर्भुक्तं तत्कुलं[16] श्वोवसीयसम्[17] ॥७६॥
सुखं तु खानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम् । संयोगा विप्रयोगान्ता विपदन्ताश्च संपदः ॥७७॥
इत्यशाश्वतिकं विश्वं जीवलोकं[18] विलोकयन्[19] । विषयान् विषवन्मेने पर्यन्तविरसानसौ ॥७८॥
इति निर्विद्य[20] भोगेषु साम्राज्यभरमात्मनः । सूनवेऽमिततेजोऽभिधानाय स्म प्रदित्सति[21] ॥७९॥

समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली है ॥६८॥ जो भोग संसारी जीवोंको लुभानेके लिए आते हैं और लुभाकर तुरन्त ही चले जाते हैं ऐसे इन विषयभोगोंको प्राप्त करनेके लिए हे विद्वज्जनो, तुम क्यों भारी प्रयत्न करते हो ॥६९॥ शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसम्पदाएँ, गृह, सवारी आदि सभी कुछ इन्द्रधनुषके समान अस्थिर हैं ॥७०॥ जिस प्रकार तृणके अग्रभागपर लगा हुआ जलका बिन्दु पतनके सम्मुख होता है उसी प्रकार प्राणियोंकी आयुका विलास पतनके सम्मुख होता है ॥७१॥ यह यमराज संसारी जीवोंके साथ सदा युद्ध करनेके लिए तत्पर रहता है। वृद्धावस्था इसकी सबसे आगे चलनेवाली सेना है, अनेक प्रकारके रोग पीछेसे सहायता करनेवाले बलवान् सैनिक हैं और कषायरूपी भील सदा इसके साथ रहते हैं ॥७२॥ ये विषय-तृष्णारूपी विषम ज्वालाओंके द्वारा इन्द्रिय-समूहको जला देते हैं और विषमरूपसे उत्पन्न हुई वेदना प्राणोंको नष्ट कर देती है ॥७३॥ जब कि इस संसारमें प्राणियोंको सुख तो अत्यन्त अल्प है और दुःख ही बहुत है तब फिर इसमें सन्तोष क्या है ? और कैसे हो सकता है ? ॥७४॥ विषय प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ यह प्राणी पहले तो अनेक क्लेशोंसे दुःखी होता है फिर भोगते समय तृप्ति न होनेसे दुःखी होता है और फिर वियोग हो जानेपर पश्चात्ताप करता हुआ दुःखी होता है। भावार्थ—विषय-सामग्रीकी तीन अवस्थाएँ होती हैं–१ अर्जन, २ भोग और ३ वियोग। यह जीव उक्त तीनों ही अवस्थाओंमें दुःखी रहता है॥७५॥ जो कुल आज अत्यन्त धनाढ्य और सुखी माना जाता है वह कल दरिद्र हो सकता है और जो आज अत्यन्त दुःखी है वही कल धनाढ्य और सुखी हो सकता है ॥७६॥ यह सांसारिक सुख दुःख उत्पन्न करनेवाला है, धन विनाशसे सहित है, संयोगके बाद वियोग अवश्य होता है और सम्पत्तियोंके अनन्तर विपत्तियाँ आती हैं ॥ ॥७७॥ इस प्रकार समस्त संसारको अनित्यरूपसे देखते हुए चक्रवर्तीने अन्तमें नीरस होनेवाले विषयोंको विषके समान माना था ॥७८॥

इस तरह विषयभोगोंसे विरक्त होकर चक्रवर्तीने अपने साम्राज्यका भार अपने

---

१. प्रवेष्टुम् । प्राप्तुमित्यर्थः । २. नश्यन्ति । ३ जीवितस्फूर्तिः । ४. पतनशील । ५. व्याध्यः । ६. पृष्ठवर्तिन । ७. वेगिनः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जव.।' ८ अटवीचरैः । ९ यमराड्मरणोद्यमी अ० । १०. युद्धसन्नद्धो भवति । ११. वाञ्छा । १२ चोरयन्ति । १३ 'कस्कादिषु' इति सूत्रात् सिद्धः । १४. अयमपि तथैव । १५ अनुशयान एव अनुशयानक , पश्चात्तापवान् । १६. 'कुलमन्वयसङ्घातगृहोत्पत्त्याश्रमेषु च ।' १७ मङ्गलार्थे निपातोऽयम् । १८ मर्त्यलोकम् । १९. विचारयन् । २०. निर्वेदपरो भूत्वा । २१. प्रदातुमिच्छति ।

प्रदित्सताऽमुना राज्यं भूयो भूयोऽनुबध्नता । समादिष्टोऽप्यसौ नैच्छत् सानुजो राज्यसंपदम् ॥८०॥
स[1] देव यदिदं राज्यं युष्माभिः प्रजिहासितम्[2] । नेच्छाम्यलमनेनार्य मा भूदाज्ञाप्रतीपता[3] ॥८१॥
युष्माभिः सममेवाहं प्रयास्यामि तपोवनम् । यौष्माकी या गतिः सा[4] वै ममापीत्यभणीद् गिरम् ॥८२॥
ततस्तन्निश्चयं ज्ञात्वा राज्यं तत्सूनवे ददौ । पुण्डरीकाय बालाय सन्तानस्थितिपालिने ॥८३॥
स यशोधरयोगीन्द्रशिष्यं गुणधरं श्रितः । सपुत्रदारो राजर्षिरदीक्षिष्ट नृपैः समम् ॥८४॥
देव्यः षष्टिसहस्राणि तद्व्यंशप्रमिता[5] नृपाः । प्रभुं[6] तमन्वदीक्षन्त सहस्रं च सुतोत्तमाः ॥८५॥
पण्डितापि तदात्मानुरूपां दीक्षां समाददे । तदेव ननु पाण्डित्यं यत् संसारात् समुद्धरेत् ॥८६॥
ततश्चक्रधरापायाल्लक्ष्मीमतिरगाच्छुचम् । अनुन्धर्या सहोष्णांशुवियोगात्कमलिनी यथा ॥८७॥
पुण्डरीकमथादाय बालं मन्त्रिपुरस्कृतम्[7] । ते[8] प्रविष्टाः[9] पुरीं शोकाद् विच्छायत्वमुपागताम् ॥८८॥
ततोऽभून्महती चिन्ता लक्ष्मीमत्या महाभरे । राज्ये बालोऽयमव्यक्तः स्थापितो नप्तृभाण्डकम्[10] ॥८९॥
कथं नु पालयाम्येनं विना पक्ष[11]बलादहम् । वज्रजङ्घस्य तन्मूलं[12] प्रहिणोम्यद्य[13] धीमतः ॥९०॥
[14]तेनाधिष्ठित[15]मस्येदं राज्यं निष्कण्टकं भवेत् । अन्यथा गत[16]मेवैतदाक्रान्तं बलिभिर्नृपैः ॥९१॥

अमिततेज नामक पुत्रके लिए देना चाहा ॥७९॥ और राज्य देनेकी इच्छासे उससे बार-बार आग्रह भी किया परन्तु वह राज्य लेनेके लिए तैयार नहीं हुआ। इसके तैयार न होनेपर इसके छोटे भाइयोंसे कहा गया परन्तु वे भी तैयार नहीं हुए ॥८०॥ अमिततेजने कहा—हे देव, जब आप ही इस राज्यको छोड़ना चाहते हैं तब यह हमें भी नहीं चाहिए। मुझे यह राज्यभार व्यर्थ मालूम होता है। हे पूज्य, मैं आपके साथ ही तपोवनको चलूँगा इससे आपकी आज्ञा भंग करनेका दोष नहीं लगेगा। हमने यह निश्चय किया है कि जो गति आपकी है वही गति मेरी भी है ॥८१-८२॥ तदनन्तर, वज्रदन्त चक्रवर्तीने पुत्रोंका राज्य नहीं लेनेका दृढ़ निश्चय जानकर अपना राज्य, अमिततेजके पुत्र पुण्डरीकके लिए दे दिया। उस समय वह पुण्डरीक छोटी अवस्थाका था और वही सन्तानकी परिपाटीका पालन करनेवाला था ॥८३॥ राज्यकी व्यवस्था कर राजर्षि वज्रदन्त यशोधर तीर्थंकरके शिष्य गुणधर मुनिके समीप गये और वहाँ अपने पुत्र, स्त्रियों तथा अनेक राजाओंके साथ दीक्षित हो गये ॥८४॥ महाराज वज्रदन्तके साथ साठ हजार रानियोंने, बीस हजार राजाओंने और एक हजार पुत्रोंने दीक्षा धारण की थी ॥८५॥ उसी समय श्रीमतीकी सखी पण्डिताने भी अपने अनुरूप दीक्षा धारण की थी-व्रत ग्रहण किये थे। वास्तवमें पाण्डित्य वही है जो संसारसे उद्धार कर दे ॥८६॥

तदनन्तर, जिस प्रकार सूर्यके वियोगसे कमलिनी शोकको प्राप्त होती है उसी प्रकार चक्रवर्ती वज्रदन्त और अमिततेजके वियोगसे लक्ष्मीमती और अनुन्धरी शोकको प्राप्त हुई थीं ॥८७॥ पश्चात् जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी मात्र दीक्षाका उत्सव देखनेके लिए उनके साथ-साथ गये थे ऐसे प्रजाके लोग, मन्त्रियों-द्वारा अपने आगे किये गये पुण्डरीक बालकको साथ लेकर नगरमें प्रविष्ट हुए। उस समय वे सब शोकसे कान्तिशून्य हो रहे थे ॥८८॥ तदनन्तर लक्ष्मीमतीको इस बातकी भारी चिन्ता हुई कि इतने बड़े राज्यपर एक छोटा-सा अप्रसिद्ध बालक स्थापित किया गया है। यह हमारा पौत्र (नाती) है। बिना किसी पक्षकी सहायताके मैं इसकी रक्षा किस प्रकार कर सकूँगी। मैं यह सब समाचार आज ही बुद्धिमान् वज्रजंघके पास भेजती हूँ। उनके

---

१ समीचीनमेव। २. प्रहातुमिष्टम्। ३ प्रतिकूलता। ४. सैव द०, स०, म०, ल०। ५. विंशतिसहस्रप्रमिताः। ६ 'दार्थेऽनुना' इति द्वितीया। ७ अङ्गीकृतम्। ८. ते प्रविष्टे पुरीं शोकाद्विच्छाय त्वमुपागते द०, ट०। तं प्रविष्टाः पुरीं शोकाद्विच्छायत्वमुपागताः स०। ते लक्ष्मीमत्यनुन्धर्यौ। ९ प्रविष्टे प्रविविशतुः। १०. नप्तृभाण्डकः अ०। पौत्र एव मूलधनम्। ११. सहायबलाद्। १२ तत्कारणम्। १३ प्राहिणोम्यद्य ब०, प०। १४. वज्रजङ्घेन। १५. स्थापितम्। १६. नष्टम्।

निश्चित्येति समाहूय सुतौ मन्दरमालिनः । सुन्दर्याश्च खगाधीशो[1] गन्धर्वपुरपालिनः ॥९२॥
[2]चिन्तामनोगती स्निग्धौ[3] शुची दक्षौ महान्वयौ । अनुरक्तौ[4] श्रुताशेषशास्त्रार्थौ कार्यकोविदौ ॥९३॥
करण्डस्थिततत्कार्यपत्रौ सोपायनौ तदा । प्राहिणोद् वज्रजङ्घस्य पार्श्वे [5]सन्देशपूर्वकम् ॥९४॥
चक्रवर्ती वनं यातः सपुत्रपरिवारकः । पुण्डरीकस्तु राज्येऽस्मिन् पुण्डरीकानन स्थितः ॥९५॥
क्व चक्रवर्तिनो राज्यं क्वायं बालोऽतिदुर्बलः । तदयं [6]पुङ्गवैर्धार्ये[7] भरे[8] दम्यो[9] नियोजितः ॥९६॥
बालोऽयमबले चावां राज्यं चेदमनायकम् । [10]विशीर्णप्रायमेतस्य पालनं त्वयि तिष्ठते[11] ॥९७॥
[12]अकालहरणं तस्मादागन्तव्यं महाधिया । त्वया त्वत्सन्निधानेन भूयाद् राज्यमविप्लवम्[13] ॥९८॥
इति [14]वाचिकमादाय तौ तदोत्पेततुर्नभः । पयोदांस्त्वरया[15] दूरमाकर्षन्तौ समीपगान् ॥९९॥
क्वचिज्जलधरांस्तुङ्गान् स्वमार्गस्य निरोधिनः । विभिन्दन्तौ पयोबिन्दून् क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥१००॥
तौ पश्यन्तौ नदीर्दूराद्[16] तन्वीरत्यन्तपाण्डुराः । घनागमस्य कान्तस्य विरहेणेव कर्शिताः ॥१०१॥
मन्वानौ दूरभावेन [17]पारिमाण्डल्यमागतान्[18] । भूमाविव निमग्नाङ्गानर्कतापभयाद् गिरीन् ॥१०२॥

द्वारा अधिष्ठित (व्यवस्थित) हुआ इस बालकका यह राज्य अवश्य ही निष्कटंक हो जायेगा अन्यथा इसपर आक्रमण कर बलवान् राजा इसे अवश्य ही नष्ट कर देंगे ॥ ८९-९१ ॥ ऐसा निश्चय कर लक्ष्मीमतीने गन्धर्वपुरके राजा मन्दरमाली और रानी सुन्दरीके चिन्तागति और मनोगति नामक दो विद्याधर पुत्र बुलाये। वे दोनों ही पुत्र चक्रवर्तीसे भारी स्नेह रखते थे, पवित्र हृदयवाले, चतुर, उच्चकुलमें उत्पन्न, परस्परमें अनुरक्त, समस्त शास्त्रोंके जानकार और कार्य करनेमें बड़े ही कुशल थे ॥९२-९३॥ इन दोनोंको, एक पिटारेमें रखकर समाचारपत्र दिया तथा दामाद और पुत्रीको देनेके लिए अनेक प्रकारकी भेट दी और नीचे लिखा हुआ सन्देश कहकर दोनोंको वज्रजंघके पास भेज दिया ॥ ९४ ॥ 'वज्रदन्त चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवारके साथ वनको चले गये हैं—वनमें जाकर दीक्षित हो गये हैं। उनके राज्यपर कमलके समान मुखवाला पुण्डरीक बैठाया गया है। परन्तु कहाँ तो चक्रवर्तीका राज्य और कहाँ यह दुर्बल बालक? सचमुच एक बड़े भारी बैलके द्वारा उठाने योग्य भारके लिए एक छोटा-सा बछड़ा नियुक्त किया गया। यह पुण्डरीक बालक है और हम दोनों सास बहू स्त्री हैं इसलिए यह बिना स्वामी-का राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है। अब इसकी रक्षा आपपर ही अवलम्बित है। अतएव अविलम्ब आइए। आप अत्यन्त बुद्धिमान् हैं। इसलिए आपके सन्निधानसे यह राज्य निरुपद्रव हो जायेगा' ॥ ९५-९८॥ ऐसा सन्देश लेकर वे दोनों उसी समय आकाशमार्गसे चलने लगे। उस समय वे समीपमें स्थित मेघोंको अपने वेगसे दूर तक खींचकर ले जाते थे ॥ ९९॥ वे कहींपर अपने मार्गमें रुकावट डालनेवाले ऊँचे-ऊँचे मेघोंको चीरते हुए जाते थे। उस समय उन मेघोंसे जो पानीकी बूँदें पड़ रही थीं उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो आँसू ही बहा रहे हों। कहीं नदियोंको देखते जाते थे, वे नदियाँ दूर होनेके कारण ऊपरसे अत्यन्त कृश और श्वेतवर्ण दिखाई पड़ती थीं जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वर्षाकालरूपी पतिके विरहसे कृश और पाण्डुरवर्ण हो गयी हों। वे पर्वत भी देखते जाते थे उन्हें दूरीके कारण वे पर्वत गोल-गोल दिखाई पड़ते थे

---

१. विद्याधरपतेः। २. चिन्तागतिमनोगतिनामानौ। ३ स्नेहितौ। ४. संस्कारयुक्तौ। ५. सन्देशः वाचिकम्। 'सन्देशवाग् वाचिकं स्यात्।' ६.-वृषभश्रेष्ठैः। ७. पुङ्गवोढार्ये अ०, प०, स०। ८ भारे अ०, ल०। ९ बालवत्सः। १० जीर्णसदृशम्। ११. निर्णयो भवति। १२. कालहरणं न कर्तव्यम्। १३. बाधा-रहितम्। १४. 'सन्देशवाग् वाचिकं स्यात्।' १५ वेगेन। १६. दूरत्वात्। १७. परमसूक्ष्मत्वम्। १८.-त्यसंगतान् प०, ल०।

दीर्घिकाम्भो भुवो न्यस्तमिवैकमतिवर्तुलम्। तिलकं दूरताहेतोः प्रेक्षमाणावनुक्षणम् ॥१०३॥
क्रमादापततामेतौ पुरमुत्पलखेटकम्। मन्द्रसंगीतनिर्घोषबधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥१०४॥
द्वाःस्थैः प्रणीयमानौ च प्रविश्य नृपमन्दिरम्। महानृपसभासीनं वज्रजङ्घमदर्शताम् ॥१०५॥
कृतप्रणामौ तौ तस्य पुरो रत्नकरण्डकम्। निचिक्षिपतुरन्तःस्थपत्रकं सदुपायनम् ॥१०६॥
[1]तदुन्मुद्र्य तदन्तःस्थं गृहीत्वा कार्यपत्रकम्। निरूप्य विस्मितश्चक्रवर्तिप्राव्रज्यनिर्णयात् ॥१०७॥
अहो चक्रधरः पुण्यभागी साम्राज्यवैभवम्। त्यक्त्वा दीक्षामुपायंस्त[3] विविक्ताङ्गीं[4] वधूमिव ॥१०८॥
अहो पुण्यधनाः पुत्राश्चक्रिणोऽचिन्त्यसाहसाः। [5]अवमत्याधिराज्यं ये समं पित्रा दिदीक्षिरे ॥१०९॥
पुण्डरीकस्तु संफुल्लपुण्डरीकाननद्युतिः। राज्ये निवेशितो धुर्ये[6] रूढभारे स्तनन्धयः ॥११०॥
[7]मामी च [8]सन्निधानं मे [9]प्रतिपालयति द्रुतम्। तद्राज्यप्रशमायेति दुर्बोधः कार्यसम्भवः ॥१११॥
इति निश्चितलेखार्थः कृतधीः कृत्यकोविदः। स्वयं निर्णीतमर्थं तं श्रीमतीमप्यबोधयत् ॥११२॥
वाचिकेन च संवादं लेखार्थस्य विभावयन्। प्रस्थाने पुण्डरीकिण्या मतिमाधात् स धीधनः ॥११३॥
श्रीमतीं च समाश्वास्य तद्वार्त्ताकर्णनाकुलाम्। तया समं समालोच्य प्रयाणं निश्चिचाय सः ॥११४॥

जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो सूर्यके सन्तापसे डरकर जमीनमें ही छिपे जा रहे हों। वे बावड़ियोंका जल भी देखते जाते थे। दूरीके कारण वह जल उन्हें अत्यन्त गोल मालूम होता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पृथ्वीरूप स्त्रीने चन्दनका सफेद तिलक ही लगाया हो। इस प्रकार प्रत्येक क्षण मार्गकी शोभा देखते हुए वे दोनों अनुक्रमसे उत्पलखेटक नगर जा पहुँचे। वह नगर संगीत कालमें होनेवाले गम्भीर शब्दोंसे दिशाओंको वधिर (बहरा) कर रहा था ॥१००-१०४॥ जब वे दोनों भाई राजमन्दिरके समीप पहुँचे तब द्वारपाल उन्हें भीतर ले गये। उन्होंने राजमन्दिरमें प्रवेश कर राजसभामें बैठे हुए वज्रजंघके दर्शन किये ॥१०५॥ उन दोनों विद्याधरोंने उन्हें प्रणाम किया और फिर उनके सामने, लायी हुई भेंट तथा जिसके भीतर पत्र रखा हुआ है ऐसा रत्नमय पिटारा रख दिया ॥१०६॥ महाराज वज्रजंघने पिटारा खोलकर उसके भीतर रखा हुआ आवश्यक पत्र ले लिया। उसे देखकर उन्हें चक्रवर्तीके दीक्षा लेनेका निर्णय हो गया और इस बातसे वे बहुत ही विस्मित हुए ॥१०७॥ वे विचारने लगे कि अहो, चक्रवर्ती बड़ा ही पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्यके वैभवको छोड़कर पवित्र अंगवाली स्त्रीके समान दीक्षा धारण की है ॥१०८॥ अहो! चक्रवर्तीके पुत्र भी बड़े पुण्यशाली और अचिन्त्य साहसके धारक हैं जिन्होंने इतने बड़े राज्यको ठुकराकर पिताके साथ ही दीक्षा धारण की है ॥१०९॥ फूले हुए कमलके समान मुखकी कान्तिका धारक बालक पुण्डरीक राज्यके इस महान् भारको वहन करनेके लिए नियुक्त किया गया है और मामी लक्ष्मीमती 'कार्य चलाना कठिन है' यह समझकर राज्यमें शान्ति रखनेके लिए शीघ्र ही मेरा सन्निधान चाहती हैं अर्थात् मुझे बुला रही हैं ॥११०-१११॥ इस प्रकार कार्य करनेमें चतुर बुद्धिमान् वज्रजंघने पत्रके अर्थका निश्चय कर स्वयं निर्णय कर लिया और अपना निर्णय श्रीमतीको भी समझा दिया ॥११२॥ पत्रके सिवाय उन विद्याधरोंने लक्ष्मीमतीका कहा हुआ मौखिक सन्देश भी सुनाया था जिससे वज्रजंघको पत्रके अर्थका ठीक-ठीक निर्णय हो गया था। तदनन्तर बुद्धिमान् वज्रजंघने पुण्डरीकिणी पुरी जानेका विचार किया ॥११३॥ पिता और भाईके दीक्षा लेने आदिके समाचार सुनकर श्रीमतीको बहुत दुःख हुआ था परन्तु वज्रजंघने उसे समझा दिया और उसके साथ भी गुण-दोषका

---

१ तदुन्मुद्रितमन्तःस्थ प०। तदुन्मुद्र्य ल०। २ प्राव्राज्य-प०, अ०, द०, स०, म०। ३. उपयच्छते स्म। स्वीकरोति स्म। 'यमो विवाहे' उपायमेस्तङो भवति विवाहे इति तङ्। ४ पवित्राङ्गीम्। ५. अवज्ञां कृत्वा। अवमन्याधि-प०। ६. धरन्धरे। ७. मातुलानी। ८. सामीप्यम्। ९. प्रतीक्षते।

विसृज्य च पुरो दूतमुख्यौ तौ कृतसत्क्रियौ । स्वयं तदनुमार्गेण प्रयाणायोद्यतो नृपः ॥११५॥
ततो मतिवरानन्दौ धनमित्रोऽप्यकम्पनः । महामन्त्रिपुरोधोऽग्र्यश्रेष्ठिसेनाधिनायकाः ॥११६॥
प्रधानपुरुषाश्चान्ये प्रयाणोद्यतबुद्धयः । परिवव्रुर्नरेन्द्रं तं शतक्रतुमिवामराः ॥११७॥
तस्मिन्नेवाह्नि सोऽह्नाय[1] प्रस्थानमकरोत् कृती । महान् प्रयाणसंक्षोभस्तदाभूत्तन्नियोगिनाम् ॥११८॥
यूयमाबद्धसौवर्णग्रैवेयादिपरिच्छदाः[2] । करेणूर्मदवैमुख्यात्[3] सतीः कुलवधूरिव ॥११९॥
राज्ञीनामधिरोहाय सज्जाः प्रापयत द्रुतम् । यूयमश्वतरीराशु[4] पर्याणयत[5] शीघ्रगाः ॥१२०॥
नृपवल्लभिकानां च यूयमर्पयताश्विमाः । काचवाहजनान्[6] यूयं गवेषयत दुर्दमान्[7] ॥१२१॥
तुरङ्गमकुलं चेदमापाय्योदकमाशुगम्[8] । बद्धपर्याणकं यूयं कुरुध्वं सुत्वयोऽन्वितम् ॥१२२॥
[9]भुजिष्याः सर्वकर्मीणा[10] यूयमाह्वयत द्रुतम्[11] । पाकधान्यपरिक्षोद[12]शोधनादिनियोगिनीः ॥१२३॥
यूयं सेनाग्रगा भूत्वा निवेशं प्रति सूच्छ्रिताः[13] । अनुतिष्ठत[14] सत्काय[15]मानगर्भा महावृतीः ॥१२४॥
यूयं महानसे राज्ञो नियुक्ताः सर्वसंपदाः । समग्रयत[16] तद्योग्यां सामग्रीं निरवग्रहाः[17] ॥१२५॥
यूयं गोमण्डलं चारु वात्सकं बहुधेनुकम् । सोदकेषु प्रदेशेषु सच्छायेष्वभिरक्षत ॥१२६॥
यूयमारक्षत स्त्रैणं[18] [19]राजकीयं प्रयत्नतः । सपाठीना इवाम्भोधेस्तरङ्गा भासुरातपः[20] ॥१२७॥

विचार कर साथ-साथ वहाँ जानेका निश्चय किया ॥ ११४ ॥ तदनन्तर खूब आदर-सत्कारके साथ उन दोनों विद्याधर दूतोंको उन्होंने आगे भेज दिया और स्वयं उनके पीछे प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥११५॥

तदनन्तर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन इन चारों महामन्त्री, पुरोहित, राजसेठ और सेनापतियोंने तथा और भी चलनेके लिए उद्यत हुए प्रधान पुरुषोंने आकर राजा वज्रजंघको उस प्रकार घेर लिया था जिस प्रकार कि कहीं जाते समय इन्द्रको देव लोग घेर लेते हैं ॥११६-११७॥ उस कार्यकुशल वज्रजंघने उसी दिन शीघ्र ही प्रस्थान कर दिया। प्रस्थान करते समय अधिकारी कर्मचारियोंमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ११८ ॥ वे अपने सेवकोंसे कह रहे थे कि तुम रानियोंके सवार होनेके लिए शीघ्र ही ऐसी हथिनियाँ लाओ जिनके गलेमें सुवर्णमय मालाएँ पड़ी हों, पीठपर सुवर्णमय झूलें पड़ी हों और जो मदरहित होनेके कारण कुलीन स्त्रियोंके समान साध्वी हों। तुम लोग शीघ्र चलनेवाली खच्चरियोंको जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो। तुम स्त्रियोंके चढ़नेके लिए पालकी लाओ और तुम पालकी ले जानेवाले मजबूत कहारोंको खोजो। तुम शीघ्रगामी तरुण घोड़ोंको पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही तैयार करो। तुम शीघ्र ही ऐसी दासियाँ बुलाओ जो सब काम करनेमें चतुर हों और खासकर रसोई बनाना, अनाज कूटना, शोधना आदिका आर्य कर सकें। तुम सेनाके आगे-आगे जाकर ठहरनेकी जगहपर डेरा-तम्बू आदि तैयार करो तथा घास-भुस आदिके ऊँचे-ऊँचे ढेर लगाकर भी तैयार करो। तुम लोग सब सम्पदाओंके अधिकारी हो इसलिए महाराजकी भोजनशालामें नियुक्त किये जाते हो। तुम बिना किसी प्रतिबन्धके भोजनशालाकी समस्त योग्य सामग्री इकट्ठी करो। तुम बहुत दूध देनेवाली और बछड़ोंसहित सुन्दर-सुन्दर गायें ले जाओ, मार्गमें उन्हें जलसहित और छायावाले प्रदेशोंमें सुरक्षित रखना। तुम लोग हाथमें चमकीली तलवार लेकर

---

१ सपदि । २. कण्ठभूषादिपरिकराः । ३. विमुखत्वात् । ४. वेसरी. । ५. बद्धपर्याणाः कुरुत । ६. कापटिजनान् । ७ निरङ्कुशान् । ८. शीघ्रगमनम् । ९. चेटीः । १०. सर्वकर्मणि समर्थाः । ११. द्रुता अ०, प०, द०, स० । १२ क्षोद कुट्टनम् । १३. सूच्छ्रितोः द०, प० । सोच्छ्रिती अ०, स० । उच्छ्रिताः उद्धृताः । १४. कुरुत । १५. कायमानं तृणगृहम् । 'कायमान तृणौकसि' इत्यभिधानचिन्तामणि । १६. समग्रं कुरुध्वम् । १७ निर्बाधा । १८. स्त्रीसमूहम् । १९. राज्ञ इदम् । २० भासुरखड्गाः ।

यूयं कञ्चुकिनो वृद्धा मध्येऽन्तःपुरयोषिताम् । अङ्गरक्षानियोगं स्वमशून्यं कुरुतादृता[1] ॥१२८॥
यूयमत्रैव पाश्चात्य[2] कर्माण्येवानुतिष्ठत । यूयं समं समागत्य स्वान् नियोगान् प्रपश्यत ॥१२९॥
देशाधिकारिणो गत्वा यूयं चोदयत द्रुतम् । [3]प्रतिग्रहीतुं भूनाथं सामग्र्या स्वानुरूपया ॥१३०॥
यूयं बिभृत[4] हस्त्यश्वं यूयं पालयतौष्ट्रकम् । यूयं सवात्सकं भूरिक्षीरं रक्षत धेनुकम्[5] ॥१३१॥
यूयं जैनेश्वरीमर्च्यां रत्नत्रयपुरस्सराम्[6] । यजेत शान्तिकं कर्म समाधाय[7] महीक्षित. ॥१३२॥
कृताभिषेचनाः सिद्धशेषां गन्धाम्बुमिश्रिताम् । यूयं क्षिपेत[8] पुण्याशीः शान्तिघोषैः समं प्रभो ॥१३३॥
यूयं नैमित्तिका सम्यग्[9] निरूपितशुभोदया । प्रस्थानसमयं ब्रूत राज्ञो यात्राप्रसिद्धये[10] ॥१३४॥
इति [11]तन्त्रनियुक्तानां[12] तदा कोलाहलो महान् । [13]उदतिष्ठत् प्रयाणाय सामग्रीमनुतिष्ठताम् ॥१३५॥
ततः करीन्द्रैस्तुरगैः पत्तिभिश्चोद्यतायुधैः । नृपाजिरमभूद् रुद्धं स्यन्दनैश्च समन्ततः ॥१३६॥
सितातपत्रैर्मायूरपि[14]च्छं छत्रैश्च सूच्छ्रितैः । निरुद्धमभवद् व्योम घनैरिव सितासितै. ॥१३७॥
छत्राणां निकुरम्बेण रुद्धं तेजोऽपि भास्वतः । सद्वृत्तसंनिधौ नूनं नाभा[15] तेजस्विनामपि ॥१३८॥
रथानां वारणानां च केतवोऽ[16]न्योऽन्यतोऽश्लिषन्[17] । पवनान्दोलिता दीर्घकालाद् दृष्ट्वे[18]व तोषिण ॥१३९॥

मछलियोंसहित समुद्रकी तरङ्गोंके समान शोभायमान होते हुए बड़े प्रयत्नसे राजाके रनवासकी रक्षा करना। तुम वृद्ध कंचुकी लोग अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मध्यमें रहकर बड़े आदरके साथ अंगरक्षाका कार्य करना। तुम लोग यहाँ ही रहना और पीछेके कार्य बड़ी सावधानीसे करना। तुम साथ-साथ जाओ और अपने-अपने कार्य देखो। तुम लोग जाकर देशके अधिकारियोंसे इस बातकी शीघ्र ही प्रेरणा करो कि वे अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराजको लेनेके लिए आयें। मार्गमें तुम हाथियों और घोड़ोंकी रक्षा करना, तुम ऊँटोंका पालन करना और तुम बहुत दूध देनेवाली बछड़ोंसहित गायोंकी रक्षा करना। तुम महाराजके लिए शान्ति-वाचन करके रत्नत्रयके साथ-साथ जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी पूजा करो। तुम पहले जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करो और फिर शान्तिवाचनके साथ-साथ पवित्र आशीर्वाद देते हुए महाराजके मस्तकपर गन्धोदकसे मिले हुए सिद्धोंके शेषाक्षत क्षेपण करो। तुम ज्योतिषी लोग ग्रहोंके शुभोदय आदिका अच्छा निरूपण करते हो इसलिए महाराजकी यात्राकी सफलताके लिए प्रस्थानका उत्तम समय बतलाओ। इस प्रकार उस समय वहाँ महाराज वज्रजंघके प्रस्थानके लिए सामग्री इकट्ठी करनेवाले कर्मचारियोंका भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ११९-१३५ ॥ तदनन्तर राजभवनके आगेका चौक हाथी, घोड़े, रथ और हथियार लिये हुए पियादोंसे खचाखच भर गया था ॥ १३६ ॥ उस समय ऊपर उठे हुए सफेद छत्रोंसे तथा मयूरपिच्छके बने हुए नीले-नीले छत्रोंसे आकाश व्याप्त हो गया था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ सफेद और कुछ काले मेघोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १३७ ॥ उस समय तने हुए छत्रोंके समूहसे सूर्यका तेज भी रुक गया था सो ठीक ही है। सद्वृत्त—सदाचारी पुरुषोंके समीप तेजस्वी पुरुषोंका भी तेज नहीं ठहर पाता। छत्र भी सद्वृत्त—सदाचारी (पक्षमें) गोल थे इसलिए उनके समीप सूर्यका तेज नहीं ठहर पाया था ॥१३८॥ उस समय रथों और हाथियों-पर लगी हुई पताकाएँ वायुके वेगसे हिलती हुई आपसमें मिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो बहुत समय बाद एक दूसरेको देखकर सन्तुष्ट हो परस्परमें मिल ही रही

---

१. सादराः। २. पश्चात्कर्तुं योग्यानि कार्याणि। ३. सम्मुखागन्तुम्। ४ पोषयत। ५ धेनुसमूहम्। ६.–पुरस्सरा. अ०, स०। ७. समाधानं कृत्वा। ८ क्षिपत द०। ९. प्रस्थाने समय अ०, स०। १०. सिद्ध्यर्थम्। ११. तन्त्रः परिच्छेदः। १२. तन्त्रनियुक्ताना प०। १३. उदेति स्म। १४.–पिच्छच्छत्रै– अ०, प०, द०, स०, म०। १५. आभा तेज.। १६–न्योन्यमाश्लिषन् प०, अ०, स०, द०, म०, ल०। १७ आलिङ्गनं चक्रिरे। १८. दृष्ट्वेव।

तुरङ्गमखुरोद्भूताः [1]प्रासर्पन् रेणवः[2] पुरः । मार्गमस्येव निर्देष्टुं[3] नभोभागविलङ्घिनः ॥१४०॥
करिणां मदधाराभिः शीकरैश्च करोज्झितैः । हयलालाजलैश्चापि प्रणनाश महीरजः ॥१४१॥
ततः पुराद् विनिर्यान्ती सा चमूर्व्यरुचद् भृशम् । महानदीव सच्छत्रफेना वाजितरङ्गिका ॥१४२॥
करीन्द्रपृथुयादोभिः[4] तुरङ्गमतरङ्गकैः । विलोलासिलतामत्स्यैः शुशुभे सा चमूधुनी ॥१४३॥
ततः समीकृताशेषस्थलनिम्नमहीतला । अपर्याप्तमहामार्गा यथास्वं प्रसृता चमूः ॥१४४॥
वनेभकटमुज्झित्वा दानसक्ता[5] मदालिनः । [6]न्यलीयन्त नृपेभेन्द्रकरटे[7] प्रक्षरन्मदे ॥१४५॥
रम्यान् वनतरून् हित्वा राजस्तम्बेरमानमून् । [8]आश्रयन्मधुपाः प्रायः प्रत्यग्रं लोकरञ्जनम् ॥१४६॥
नृपं वनानि रम्याणि प्रत्यगृह्णन्निवाध्वनि । फलपुष्पभरानम्रैः सान्द्रच्छायैर्महाद्रुमैः ॥१४७॥
तदा वनलतापुष्पपल्लवान् करपल्लवैः । आजह्रुरावतंसादिविन्यासाय वधूजनः ॥१४८॥
ध्रुवमक्षीणपुष्पर्द्धिं प्राप्तास्ते वनशाखिनः । यत्सैनिकोपभोगेऽपि न जहुः पुष्पसंपदम् ॥१४९॥
हयहेषितमातङ्गबृहद्बृंहितनिस्वनैः । मुखरं तद्बलं शष्पसरोवरमथासदत् ॥१५०॥
यदम्बुजरजःपुञ्जपिञ्जरीकृतवीचिकम् । कनकद्रवसच्छायं बिभर्ति स्माम्बुशीतलम् ॥१५१॥

…ॆ ॥१३९॥ घोड़ोंकी टापोंसे उठी हुई धूल आगे-आगे उड़ रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह वज्रजंघको मार्ग दिखानेके लिए ही आकाश प्रदेशका उल्लंघन कर रही हो ॥१४०॥ …ाथियोंकी मदधारासे, उनकी सूँडसे निकले हुए जलके छींटोंसे और घोड़ोंकी लार तथा फेनसे पृथ्वीकी सब धूल जहाँकी तहाँ शान्त हो गयी थी ॥१४१॥ तदनन्तर, नगरसे बाहर निकलती …ई वह सेना किसी महानदीके समान अत्यन्त शोभायमान हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार महानदीमें फेन होता है उसी प्रकार उस सेनामें सफेद छत्र थे और नदीमें जिस प्रकार लहरें होती हैं उसी प्रकार उसमें अनेक घोड़े थे ॥१४२॥ अथवा बड़े-बड़े हाथी ही जिसमें बड़े-बड़े जलजन्तु थे, घोड़े ही जिसमें तरंगें थीं और चंचल तलवारें ही जिसमें मछलियाँ थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी बड़ी ही सुशोभित हो रही थी ॥१४३॥ उस सेनाने ऊँची-नीची जमीनको सम कर दिया था तथा वह चलते समय बड़े भारी मार्गमें भी नहीं समाती थी इसलिए वह अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ फैलकर जा रही थी ॥१४४॥ 'प्रायः नवीन वस्तु ही लोगोंको अ…क आनन्द देती है', लोकमें जो यह कहावत प्रसिद्ध है वह बिलकुल ठीक है इसीलिए तो म…के लोभी भ्रमर जंगली हाथियोंके गण्डस्थल छोड़-छोड़कर राजा वज्रजंघकी सेनाके हाथियोंके मद बहानेवाले गण्डस्थलोंमें निलीन हो रहे थे और सुगन्धके लोभी कितने ही भ्रमर वनके मनोहर वृक्षोंको छोड़कर महाराजके हाथियोंपर आ लगे थे ॥१४५-१४६॥ मार्गमें जगह-जगह-पर फल और फूलोंके भारसे झुके हुए तथा घनी छायावाले बड़े-बड़े वृक्ष लगे हुए थे। उनसे ऐसा मालूम होता था मानो मनोहर वन उन वृक्षोंके द्वारा मार्गमें महाराज वज्रजंघका सत्कार ही कर रहे हों ॥१४७॥ उस समय स्त्रियोंने कर्णफूल आदि आभूषण बनानेके लिए अपने कर-पल्लवोंसे वनलताओंके बहुत-से फूल और पत्ते तोड़ लिये थे ॥१४८॥ मालूम होता है कि उन वनके वृक्षोंको अवश्य ही अक्षीणपुष्प नामकी ऋद्धि प्राप्त हो गयी थी इसीलिए तो सैनिकों-द्वारा बहुत-से फूल तोड़ लिये जानेपर भी उन्होंने फूलोंकी शोभाका परित्याग नहीं किया था ॥१४९॥ अथानन्तर घोड़ोंके हींसने और हाथियोंकी गम्भीर गर्जनाके शब्दोंसे शब्दायमान वह सेना क्रम-क्रमसे शष्प नामक सरोवरपर जा पहुँची ॥१५०॥

उस सरोवरकी लहरें कमलोंकी परागके समूहसे पीली-पीली हो रही थीं और इसीलिए वह पिघले हुए सुवर्णके समान पीले तथा शीतल जलको धारण कर रहा था ॥ १५१ ॥

१. प्रसरन्ति स्म । २ सर्पद्रेणव. अ०, म०, स० । ३ उपदेष्टुम् । ४. जलचरैः । ५. मदासक्ताः । –शक्ताः अ०, प०, द० । ६ निलीना बभूवुः । ७. गण्डस्थले । ८. श्रयन्ति स्म ।

[1]वनषण्डवृतप्रान्तं यदर्कस्यांशवो भृशम् । न तेपुः संवृत[2] को वा तपेदार्द्रान्तरात्मकम् ॥१५२॥
विहङ्गमरुतैर्नूनं तत्सरो नृपसाधनम् । आजुहाव निवेष्टव्यमिहेत्युद्वीचिबाहुकम् ॥१५३॥
ततस्तस्मिन् सरस्यस्य न्यविक्षत बलं प्रभोः । तरुगुल्मलताच्छन्नपर्यन्ते[3] मृदुमारुते ॥१५४॥
दुर्बलाः स्वं जहुः स्थानं बलवद्भिरभिद्रुताः । आदेशैरिव संप्राप्तैः स्थानिनो हन्तिपूर्वकाः[4] ॥१५५॥
विजहुर्निजनीडानि विहगास्तत्रसुर्मृगाः । मृगेन्द्रा बलसंक्षोभात् शनैः समुदमीलयन्[5] ॥१५६॥
शाखाविपक्त[6]भूषादि-रुचिरा वनपादपाः । कल्पद्रुमश्रियं भेजुराश्रितैर्मिथुनैर्मिथः ॥१५७॥
कुसुमापचये[7] तेषां पादपा विटपैर्नताः । आनुकूल्यमिवातेनुः संमतातिथ्यसत्क्रियाः ॥१५८॥
कृतावगाहनाः स्नातुं स्तनदघ्नं[8] सरोजलम् । रूपसौन्दर्यलोभेन[9][10]तदगारी[11]दिवाङ्गनाः ॥१५९॥
[12]किणीभूतदृढस्कन्धान् विशतः [13]काचवाहकान् । स्वाम्भोऽतिव्ययभीत्येव चकम्पे वीक्ष्य तत्सरः ॥१६०॥
विष्वग् ददृशिरे [14]दूष्यकुटीभेदा निवेशिताः । क्लृप्ता वत्स्यंज्जिनस्यास्य[15] वनश्रीभिरिवालयाः ॥१६१॥

उस सरोवरके किनारेके प्रदेश हरे-हरे वनखण्डोंसे घिरे हुए थे इसलिए सूर्यकी किरणें उसे सन्तप्त नहीं कर सकती थीं सो ठीक ही है जो संवृत है—वन आदिसे घिरा हुआ है (पक्षमें गुप्ति समिति आदिसे कर्मोंका संवर करनेवाला है) और जिसका अन्तःकरण—मध्यभाग (पक्षमें हृदय) आर्द्र है—जलसे सहित होनेके कारण गीला है (पक्षमें दयासे भीगा है) उसे कौन सन्तप्त कर सकता है ? ॥१५२॥ उस सरोवरमें लहरें उठ रही थीं और किनारेपर हंस, चकवा आदि पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो यह सरोवर लहररूपी हाथ उठाकर पक्षियोंके द्वारा मधुर शब्द करता हुआ 'यहाँ ठहरिए' इस तरह वज्रजंघकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥१५३॥ तदनन्तर, जिसके किनारे छोटे-बड़े वृक्ष और लताओंसे घिरे हुए हैं तथा जहाँ मन्द-मन्द वायु बहती रहती है ऐसे उस सरोवरके तटपर वज्रजंघकी सेना ठहर गयी ॥१५४॥ जिस प्रकार व्याकरणमें 'वध' 'घस्लृ' आदि आदेश होनेपर हन् आदि स्थानी अपना स्थान छोड़ देते हैं उसी प्रकार उस तालाबके किनारे बलवान् प्राणियों-द्वारा ताड़ित हुए दुर्बल प्राणियोंने अपने स्थान छोड़ दिये थे । भावार्थ—सैनिकोंसे डर-कर हरिण आदि निर्बल प्राणी अन्यत्र चले गये थे और उनके स्थानपर सैनिक ठहर गये थे ॥१५५॥ उस सेनाके क्षोभसे पक्षियोंने अपने घोंसले छोड़ दिये थे, मृग भयभीत हो गये थे और सिंहोंने धीरे-धीरे आँखें खोली थीं ॥१५६॥ सेनाके जो स्त्री-पुरुष वनवृक्षोंके नीचे ठहरे थे उन्होंने उनकी डालियोंपर अपने आभूषण, वस्त्र आदि टाँग दिये थे इसलिए वे वृक्ष कल्पवृक्षकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥१५७॥ पुष्प तोड़ते समय वे वृक्ष अपनी डालियोंसे झुक जाते थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वे वृक्ष आतिथ्य-सत्कारको उत्तम समझकर उन पुष्प तोड़नेवालोंके प्रति अपनी अनुकूलता ही प्रकट कर रहे हों ॥१५८॥ सेनाकी स्त्रियाँ उस सरोवरके जलमें स्तन पर्यन्त प्रवेश कर स्नान कर रही थीं, उस समय वे ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो सरोवरका जल अदृष्टपूर्व सौन्दर्यका लाभ समझकर उन्हें अपने-आपमें निगल ही रहा हो ॥१५९॥ भार ढोनेसे जिनके मजबूत कन्धोंमें बड़ी-बड़ी भट्टे पड़ गयी हैं, ऐसे कहार लोगोंको प्रवेश करते हुए देखकर वह तालाब 'इनके नहानेसे हमारा बहुत-सा जल व्यर्थ ही खर्च हो जायगा' मानो इस भयसे ही काँप उठा था ॥१६०॥ इस तालाबके किनारे चारों ओर लगे हुए तम्बू ऐसे मालूम होते थे मानो वनलक्ष्मीने भविष्यत्कालमें तीर्थंकर होनेवाले वज्रजंघके

१. वनखण्ड अ०, द०, स०, म०, ल० । २. निभृतम् । ३ पर्यन्तमृदु अ०, ल० । ४. हनिपूर्वका ब, प०, अ०, म, द०, ल०, ट । हन् हिंसागत्योरित्यादिधातवः । ५ नयनोन्मीलन चक्रिरे । ६. लग्नम् । ७. कुसुमावचये अ०, प०, द० स० । ८. स्तनप्रमाणम् । ९. —लाभेन म०, ल० । १० सर. । ११. गिलति स्म । १२. व्रणीभूतदृढभुजशिखरान् । १३. कावटिकान् । १४. वस्त्रवेश्म । १५ भविष्यज्जिनस्य ।

निपत्य[1] भुवि भूयोऽपि प्रोत्थाय कृतवल्गनाः[2] । रेजिरे वाजिनः स्नेहैः[3] पुष्टा मल्ला इवोद्धताः ॥१६२॥

[4]मधुपानादिव क्रुद्धा बद्धाः[5] शालिषु दन्तिनः । सुवंशा जगतां पूज्या बलादाधोरणैः[6] स्तदा ॥१६३॥

यथास्वं सन्निविष्टेषु सैन्येषु स ततो नृपः । शिबिरं प्रापदध्वन्यैः[7] हयैरविदितान्तरम् ॥१६४॥

तुरङ्गमखुरोद्धूतरेणुरूषित[8] मूर्त्तयः । स्विद्यन्त सादिनः[9] प्राप्तास्ते ललाटन्तपे रवौ ॥१६५॥

[10]कायमाने महामाने राजा तत्रावसत् सुखम् । सरोजलतरङ्गोत्थमृदुमारुतशीतले ॥१६६॥

ततो दमधराभिख्यः श्रीमानम्बरचारणः । समं सागरसेनेन तन्निवेशमुपाययौ ॥१६७॥

कान्तारचर्यां संगीर्य[11] पर्यटन्तौ यदृच्छया । वज्रजङ्घमहीभर्त्तुरावासं तावुपेयतुः ॥१६८॥

दूरादेव मुनीन्द्रौ तौ राजापश्यन्महाद्युती । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गाविव प्रक्षीणकल्मषौ ॥१६९॥

स्वाङ्गदीप्तिविनिर्धूततमसौ तौ ततो मुनी । ससंभ्रमं समुत्थाय प्रतिजग्राह भूमिपः ॥१७०॥

कृताञ्जलिपुटो भक्त्या दत्तार्घ्यः प्रणिपत्य तौ । गृहं प्रवेशयामास श्रीमत्या सह पुण्यभाक् ॥१७१॥

प्रक्षालिताङ्घ्री संपूज्य मान्ये स्थाने निवेश्य तौ । प्रणिपत्य मनःकायवचोभिः शुद्धिमुद्वहन् ॥१७२॥

लिए उत्तम भवन ही बना दिये हों ॥१६१॥ जमीनमें लोटनेके बाद खड़े होकर हींसते हुए घोड़े ऐसे मालूम होते थे मानो तेल लगाकर पुष्ट हुए उद्धत मल्ल ही हों ॥१६२॥ पीठकी उत्तम रीढवाले हाथी भी भ्रमरोंके द्वारा मदपान करनेके कारण कुपित होनेपर ही मानो महावतों-द्वारा बाँध दिये गये थे जैसे कि जगत्पूज्य और कुलीन भी पुरुष मद्यपानके कारण बाँधे जाते हैं ॥१६३॥

तदनन्तर जब समस्त सेना अपने-अपने स्थानपर ठहर गयी तब राजा वज्रजंघ मार्ग तय करनेमें चतुर-शीघ्रगामी घोड़ेपर बैठकर शीघ्र ही अपने डेरेमें जा पहुँचे ॥१६४॥ घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलिसे जिसके शरीर रूक्ष हो रहे हैं ऐसे घुड़सवार लोग पसीनेसे युक्त होकर उस समय डेरोंमें पहुँचे थे जिस समय कि सूर्य उनके ललाटको तपा रहा था ॥१६५॥ जहाँ सरोवरके जलकी तरंगोंसे उठती हुई मन्द वायुके द्वारा भारी शीतलता विद्यमान थी ऐसे तालाबके किनारेपर बहुत ऊँचे तम्बूमें राजा वज्रजंघने सुखपूर्वक निवास किया ॥१६६॥

तदनन्तर आकाशमें गमन करनेवाले श्रीमान् दमधर नामक मुनिराज, सागरसेन नामक मुनिराजके साथ-साथ वज्रजंघके पड़ावमें पधारे ॥१६७॥ उन दोनों मुनियोंने वनमें ही आहार लेनेकी प्रतिज्ञा की थी इसलिए इच्छानुसार विहार करते हुए वज्रजंघके डेरेके समीप आये ॥१६८॥ वे मुनिराज अतिशय कान्तिके धारक थे, और पापकर्मोंसे रहित थे इसलिए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्वर्ग और मोक्षके साक्षात् मार्ग ही हों ऐसे दोनों मुनियोंको राजा वज्रजंघने दूरसे ही देखा ॥१६९॥ जिन्होंने अपने शरीरकी दीप्तिसे वनका अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे दोनों मुनियोंको राजा वज्रजंघने संभ्रमके साथ उठकर पड़गाहन किया ॥१७०॥ पुण्यात्मा वज्रजंघने रानी श्रीमतीके साथ बड़ी भक्तिसे उन दोनों मुनियोंको हाथ जोड़ अर्घ दिया और फिर नमस्कार कर भोजनशालामें प्रवेश कराया ॥१७१॥ वहाँ वज्रजंघने उन्हें ऊँचे स्थानपर बैठाया, उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन किया, पूजा की, नमस्कार किया, अपने मन,

---

१. पतित्वा । २ प्रोञ्छाय कृतबलाधाना. प०, स० । ३. तैलै. । ४. मधुनो मद्यस्य पानात् । पक्षे मद्यपरक्षणात् । ५. क्रुद्धैर्बद्धाः म०, द०, स० । ६ हस्तिपकैः । ७. पथिकैः । ८. आच्छादित. । ९. अश्वारोहा. । १०. पटकुट्याम् । ११. प्रतिज्ञा कृत्वा ।

श्रद्धादिगुणसंपत्त्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिभाक्। दत्त्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्चर्याण्यवाप सः ॥१७२॥
वसुधारां[1] दिवो देवाः पुष्पवृष्ट्या सहाकिरन्। मन्दं व्योमापगावारि[2]कणवर्षी मरुद्ववौ ॥१७४॥
मन्द्रदुन्दुभिनिर्घोषैः घोषणां च प्रचक्रिरे। अहो दानमहो दानमित्युच्चैर्दिङ्मुखस्पृशम् ॥१७५॥
ततोऽभिवन्द्य संपूज्य विसर्ज्य मुनिपुङ्गवौ। [3]काञ्चुकीयादबुद्धैतौ चरमावात्मनः सुतौ ॥१७६॥
श्रीमत्या सह संश्रित्य संप्रीत्या निकटं तयोः। स धर्ममशृणोत् पुण्यकामः सद्गृहमेधिनाम् ॥१७७॥
दानं पूजां च शीलं च प्रोषधं च प्रपञ्चतः। श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छत् सकान्तः स्वां भवावलीम् ॥१७८॥
मुनिर्दमवरः प्राख्यत् तस्य जन्मावलीमिति। दशनांशुभिरुद्योतमातन्वन् दिङ्मुखेषु सः ॥१७९॥
चतुर्थे जन्मनीतस्त्वं जम्बूद्वीपविदेहगे। गन्धिले विषये सिंहपुरे श्रीषेणपार्थिवात् ॥१८०॥
सुन्दर्यामतिसुन्दर्यां ज्यायान् सूनुरजायथाः। निर्वेदादार्हतीं दीक्षामादायाप्यकृतसंयतः[4] ॥१८१॥
विद्याधरेन्द्रभोगेषु न्यस्तधीर्मृतिमापिवान्। प्रागुक्ते गन्धिले रूप्यगिरेरुत्तरसत्तटे ॥१८२॥
नगर्यामलकाख्यायां व्योमगानामधीशिता। महाबलोऽभूर्भोगांश्च यथाकामं स्वमन्वभूः ॥१८३॥
स्वयंबुद्धात् प्रबुद्धात्मा जिनपूजापुरस्सरम्। त्यक्त्वा संन्यासतो देहं ललिताङ्गः सुरोऽभवः[5] ॥१८४॥
ततश्च्युत्वाधुनाभूस्त्वं वज्रजङ्घमहीपतिः। श्रीमती च [6]पुरैकस्मिन् भवे द्वीपे द्वितीयके ॥१८५॥

वचन, कायको शुद्ध किया और फिर श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ, क्षमा, ज्ञान और शक्ति इन गुणोंसे विभूषित होकर विशुद्ध परिणामोंसे उन गुणवान् दोनों मुनियोंको विधिपूर्वक आहार दिया। उसके फलस्वरूप नीचे लिखे हुए पञ्चाश्चर्य हुए। देव लोग आकाशसे रत्नवर्षा करते थे, पुष्पवर्षा करते थे, आकाशगंगाके जलके छींटोंको बरसाता हुआ मन्द-मन्द वायु चल रहा था, दुन्दुभि बाजोंकी गम्भीर गर्जना हो रही थी और दिशाओंको व्याप्त करनेवाले 'अहो दानम् अहो दानम्' इस प्रकारके शब्द कहे जा रहे थे ॥१७२-१७५॥ तदनन्तर वज्रजंघ, जब दोनों मुनिराजोंको वन्दना और पूजा कर वापस भेज चुका तब उसे अपने कंचुकीके कहनेसे मालूम हुआ कि उक्त दोनों मुनि हमारे ही अन्तिम पुत्र हैं ॥१७६॥ राजा वज्रजंघ श्रीमतीके साथ-साथ बड़े प्रेमसे उनके निकट गया और पुण्यप्राप्तिकी इच्छासे सद्गृहस्थोंका धर्म सुनने लगा ॥१७७॥ दान, पूजा, शील और प्रोषध आदि धर्मोंका विस्तृत स्वरूप सुन चुकनेके बाद वज्रजंघने उनसे अपने तथा श्रीमतीके पूर्वभव पूछे ॥१७८॥ उनमें-से दमधर नामके मुनि अपने दाँतोंकी किरणों-से दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए उन दोनोंके पूर्वभव कहने लगे ॥१७९॥

हे राजन्, तू इस जन्मसे चौथे जन्ममें जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें स्थित गन्धिल देशके सिंहपुर नगरमें राजा श्रीषेण और अतिशय मनोहर सुन्दरी नामकी रानीके ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। वहाँ तूने विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की। परन्तु संयम प्रकट नहीं कर सका और विद्याधर राजाओंके भोगोंमें चित्त लगाकर मृत्युको प्राप्त हुआ जिससे पूर्वोक्त गन्धिल देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर अलका नामकी नगरीमें महाबल हुआ। वहाँ तूने मनचाहे भोगोंका अनुभव किया। फिर स्वयम्बुद्ध मन्त्रीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्त कर तूने जिनपूजा कर समाधिमरणसे शरीर छोड़ा और ललितांगदेव हुआ। वहाँसे च्युत होकर अब वज्रजंघ नामका राजा हुआ है ॥१८०-१८४॥

यह श्रीमती भी पहले एक भवमें धातकीखण्डद्वीपमें पूर्व मेरुसे पश्चिमकी ओर गन्धिल देशके पलालपर्वत नामक ग्राममें किसी गृहस्थकी पुत्री थी। वहाँ कुछ पुण्यके उदयसे तू उसी देशके पाटली

---

१. धारा दिवो अ०, प०, द०, स०, ल०। २. वारिकणान् किरतीति वारिकणकीः। ३. वृद्धकञ्चुकिन- सकाशात्। ४. प्रारब्धयोगी। ५. –भवत् अ०। ६. पूर्वस्मिन्।

प्राग्मेरोर्गन्धिले देशे प्रत्यक्पुत्री कुटुम्बिनः । पलालपर्वतग्रामे जाताल्पसुकृतोदयात् ॥१८६॥
तत्रैव विषये भूय पाटलीग्रामकेऽभवत् । निर्नामिका वणिक्पुत्री संश्रित्य पिहितास्रवम् ॥१८७॥
विधिनोपोष्य तत्रासीत् तव देवी स्वयंप्रभा । श्रीप्रभेऽभूदिदानीं च श्रीमती वज्रदन्तत ॥१८८॥
श्रुत्वेति स्वान् भवान् भूयो भूनाथ प्रियया समम् । पृष्टवानिष्टवर्गस्य भवानतिकुतूहलात्॥१८९॥
स्वबन्धुनिर्विशेषा मे स्निग्धा मतिवरादय । तत्प्रसीद भवानेषां ब्रूहीत्याख्यच्च तान् मुनि ॥१९०॥
अयं मतिवरोऽत्रैव जम्बूद्वीपे पुरोगते । विदेहो वत्सकावत्यां विषये त्रिदिवोपमे ॥१९१॥
तत्र पुर्यां प्रभाकर्यामतिगृद्ध्रो नृपोऽभवत् । विषयेषु विपक्तात्मा बह्वारम्भपरिग्रहैः ॥१९२॥
बद्ध्वायुर्नारकं जात श्वभ्रे पङ्कप्रमाह्वये । दशाब्ध्युपमितं कालं नारकीं वेदनामगात् ॥१९३॥
ततो निष्पत्य पूर्वोक्तनगरस्य समीपगे । व्याघ्रोऽभूत् प्राक्तनात्मीयधननिक्षेपपर्वते ॥१९४॥
अथान्यदा पुराधीशस्तत्रागत्य समावसत् । निवर्त्य स्वानुजन्मानं व्युत्थितं विजिगीषया ॥१९५॥
स्वानुजन्मानमग्रस्थं नृपमाख्यत् पुरोहित. । अत्रैव ते महाँल्लाभो भविता मुनिदानत ॥१९६॥
स मुनि. कथमेवात्र लभ्यश्चेच्छृणु पार्थिव । वक्ष्ये तदागमोपायं दिव्यज्ञानावलोकितम् ॥१९७॥

नामक ग्राममें किसी वणिक्‌के निर्नामिका नामकी पुत्री हुई। वहाँ उसने पिहितास्रव नामक मुनिराजके आश्रयसे विधिपूर्वक जिनेन्द्रगुणसम्पत्ति और श्रुतज्ञान नामक व्रतोंके उपवास किये जिसके फलस्वरूप श्रीप्रभ विमानमें स्वयंप्रभा देवी हुई। जब तुम ललितांगदेवकी पर्यायमें थे तब यह तुम्हारी प्रिय देवी थी और अब वहाँसे चयकर वज्रदन्त चक्रवर्तीकि श्रीमती पुत्री हुई है ॥१८५-१८८॥ इस प्रकार राजा वज्रजंघने श्रीमतीके साथ अपने पूर्वभव सुनकर कौतूहलसे अपने इष्ट सम्बन्धियोंके पूर्वभव पूछे ॥१८९॥ हे नाथ, ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन मुझे अपने भाईके समान अतिशय प्यारे हैं इसलिए आप प्रसन्न होइए और इनके पूर्वभव कहिए। इस प्रकार राजाका प्रश्न सुनकर उत्तरमें मुनिराज कहने लगे ॥१९०॥

हे राजन्, इसी जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें एक वत्सकावती नामका देश है जो कि स्वर्गके समान सुन्दर है, उसमें एक प्रभाकरी नामकी नगरी है। यह मतिवर पूर्वभवमें इसी नगरीमें अतिगृध्र नामका राजा था। वह विषयोंमें अत्यन्त आसक्त रहता था। उसने बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण नरक आयुका बन्ध कर लिया था जिससे वह मरकर पङ्कप्रभा नामके चौथे नरकमें उत्पन्न हुआ। वहाँ दशसागर तक नरकोंके दुःख भोगता रहा॥१९१-१९३॥ उसने पूर्वभवमें पूर्वोक्त प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर अपना बहुत-सा धन गाड़ रखा था। वह नरकसे निकलकर इसी पर्वतपर व्याघ्र हुआ ॥१९४॥ तत्पश्चात् किसी एक दिन प्रभाकरी नगरीका राजा प्रीतिवर्धन अपने प्रतिकूल खड़े हुए छोटे भाईको जीतकर लौटा और उसी पर्वतपर ठहर गया ॥१९५॥ वह वहाँ अपने छोटे भाईके साथ बैठा हुआ था कि इतनेमें पुरोहितने आकर उससे कहा कि आज यहाँ आपको मुनिदानके प्रभावसे बड़ा भारी लाभ होनेवाला है ॥१९६॥ हे राजन्, वे मुनिराज यहाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकेंगे। इसका उपाय मैं अपने दिव्यज्ञानसे जानकर आपके लिए कहता हूँ। सुनिए—॥१९७॥

हम लोग नगरमें यह घोषणा दिलाये देते हैं कि आज राजाके बड़े भारी हर्षका समय है इसलिए समस्त नगरवासी लोग अपने-अपने घरोंपर पताकाएँ फहराओ, तोरण बाँधो और

---

१. पूर्वमन्दरस्य। २. अपरविदेहे। ३. गन्धिलविषये। ४. समानाः। ५. कारणात्। ६. पूर्वभवान्। ७ विषयेष्वभिप– ट०। ८ आसक्तः। ९ –नरकं यात. ल०। १०. निर्गत्य अ०, प०, द०, स०, ल०। ११. तत्पुरेशः प्रीतिवर्द्धननामा। १२ तत्पर्वतसमीपे। १३. पुनरावर्त्य। १४ सानुजन्मान– प०, ल०, म०, ट०। अनुजसहितम्। १५. माख्यात् अ०, स०, द०। १६. भविष्यति। १७. महानिमित्तम्।

महानथ नरेन्द्रस्य प्रमदस्तेन[1] नागराः । सर्वे यूयं स्वगेहेषु बद्ध्वा केतून् सतोरणान् ॥१९८॥
गृहाङ्गणानि रथ्याश्च[2] कुरुताशु प्रसूनकैः । सोपहाराणि नीरन्ध्रमि[3]ति दद्मः प्रघोषणाम् ॥१९९॥
ततो मुनिरसौ त्यक्त्वा पुरमत्रागमिष्यति । विचिन्त्याप्रासुकत्वेन विहारायोग्यमात्मनः ॥२००॥
पुरोधोवचनात् तुष्टो नृपोऽसौ प्रीतिवर्द्धनः । तत् तथैवाकरोत् प्रीतो मुनिरप्यागमत् तथा[5] ॥२०१॥
पिहितास्रवनामासौ मासक्षपण[6]संयुतः । प्रविष्टो नृपतेः सद्म चरंश्चर्या[7]मनुक्रमात् ॥२०२॥
ततो नृपतिना तस्मै दत्तं दानं यथाविधि । पातिता च दिवो देवैः वसुधारा कृतारवम् ॥२०३॥
ततस्तदवलोक्यासौ शार्दूलो जातिमस्मरत् । उपशान्तश्च निर्मू[8]र्च्छः शरीराहारमत्यजत् ॥२०४॥
शिलातले निविष्टं च [9]संन्यस्तनिखिलोपधिम् । दिव्यज्ञानमयेनाक्ष्णा सहसाबुद्ध तं[10] मुनिः ॥२०५॥
ततो नृपमुवाचेत्थम[11]स्मिन्नद्रावुपासकः । संन्यासं कुरुते कोऽपि स त्वया परिचर्यताम् ॥२०६॥
स चक्रवर्तितामेत्य चरमाङ्गः पुरोः पुरा । सूनुर्भूत्वा परं धाम व्रजत्यत्र न संशयः ॥२०७॥
इति तद्वचनाज्जातविस्मयो मुनिना समम् । गत्वा नृपस्तमद्राक्षीत् शार्दूलं कृतसाहसम् ॥२०८॥
ततस्तस्य सपर्यायां[12] [13]साचिव्यमकरोन्नृपः । मुनिश्चास्मै ददौ [14]कर्णजापं स्वर्गी भवेत्यसौ[15] ॥२०९॥
व्याघ्रोऽष्टादशभिर्भक्तमहोभिरुपसंहरन् । दिवाकरप्रभो नाम्ना देवोऽभूत्[16] तद्विमानके ॥२१०॥

घरके आँगन तथा नगरकी गलियोंमें सुगन्धित जल सींचकर इस प्रकार फूल बिखेर दो कि बीच-में कहीं कोई रन्ध्र खाली न रहे ॥१९८-१९९॥ ऐसा करनेसे नगरमें जानेवाले मुनि अप्रासुक होनेके कारण नगरको अपने विहारके अयोग्य समझ लौटकर यहाँपर अवश्य ही आयेंगे ॥२००॥ पुरोहितके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजा प्रीतिवर्धनने वैसा ही किया जिससे मुनिराज लौटकर वहाँ आये ॥२०१॥ पिहितास्रव नामके मुनिराज एक महीनेके उपवास समाप्त कर आहारके लिए भ्रमण करते हुए क्रम-क्रमसे राजा प्रीतिवर्धनके घरमें प्रविष्ट हुए ॥२०२॥ राजाने उन्हें विधिपूर्वक आहार दान दिया जिससे देवोंने आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की और वे रत्न मनोहर शब्द करते हुए भूमिपर पड़े ॥२०३॥ राजा अतिगृध्रके जीव सिंहने भी वहाँ यह सब देखा जिससे उसे जाति-स्मरण हो गया। वह अतिशय शान्त हो गया, उसकी मूर्च्छा (मोह) जाती रही और यहाँतक कि उसने शरीर और आहारसे भी ममत्व छोड़ दिया ॥२०४॥ वह सब परिग्रह अथवा कषायोंका त्याग कर एक शिलातलपर बैठ गया। मुनिराज पिहितास्रवने भी अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे अकस्मात् सिंहका सब वृत्तान्त जान लिया ॥२०५॥ और जानकर उन्होंने राजा प्रीतिवर्धनसे कहा कि—हे राजन्, इस पर्वतपर कोई श्रावक होकर (श्रावकके व्रत धारण कर) संन्यास कर रहा है तुम्हें उसकी सेवा करनी चाहिए ॥२०६॥ वह आगामी कालमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके चक्रवर्ती पदका धारक पुत्र होगा और उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२०७॥ मुनिराजके इन वचनोंसे राजा प्रीतिवर्धनको भारी आश्चर्य हुआ। उसने मुनिराजके साथ वहाँ जाकर अतिशय साहस करनेवाले सिंहको देखा ॥२०८॥ तत्पश्चात् राजाने उसकी सेवा अथवा समाधिमें योग्य सहायता की और यह देव होनेवाला है यह समझकर मुनिराजने भी उसके कानमें नमस्कार मन्त्र सुनाया ॥२०९॥ वह सिंह अठारह दिन तक आहारका त्याग कर समाधिसे शरीर छोड़ दूसरे

---

१. तेन कारणेन । २. नगरे भवाः । ३. वीथीः । ४. निबिडम् । ५. –रप्यगमत्तथा प० । –रप्यागमत्तदा म०, ल० । ६. क्षपण उपवासः । ७. वीरचर्यामाचरन् । ८. निर्मोहः । ९. संत्यक्ताखिलपरिग्रहम् । १०. सन्मुनिः स०, अ० । तन्मुनिः प०, ब० । ११. –मुवाचेद–प० । १२. आराधनायाम् । १३. सहायत्वम् । १४. पञ्चनमस्कारम् । १५ भवत्यसौ अ०, स०, ल० । १६. दिवाकरप्रभविमाने ।

तदाश्चर्यं महद् दृष्ट्वा नृपस्यास्य चमूपतिः। मन्त्री पुरोहितश्च द्रागुपशान्तिं परां गता ॥२११॥
नृपदानानुमोदेन कुरुष्वार्यास्ततोऽभवन्। कालान्ते ते ततो गत्वा श्रीमदैशानकल्पजा ॥२१२॥
सुरा जाता विमानेशा मन्त्री काञ्चनसंज्ञके। विमाने कनकाभोऽभूत् [1]रुषिताख्ये पुरोहितः ॥२१३॥
[2]प्रभञ्जनोऽभूत् सेनानी [3]प्रभानाम्नि प्रभाकरः। ललिताङ्गभवे युष्मत्परिवारामरा इमे ॥२१४॥
ततः प्रच्युत्य शार्दूलचरो देवोऽभवत् स ते। मन्त्री मतिवर सूनुः श्रीमत्यां मतिसागरात् ॥२१५॥
अपराजितसेनान्यः[4] च्युतः स्वर्गात् प्रभाकरः। आर्जवायाश्च पुत्रोऽभूदकम्पनसमाह्वयः ॥२१६॥
श्रुतकीर्तेरथानन्तमत्याश्च कनकप्रभ । सुतोऽभूदयमानन्दः पुरोधास्तव संमतः ॥२१७॥
प्रभञ्जनश्च्युतस्तस्मात् श्रेष्ठ्यभूद् धनमित्रक । धनदत्तोदरे जातो धनदत्ताद् धनर्द्धिमान् ॥२१८॥
इति तस्य मुनीन्द्रस्य वच श्रुत्वा नराधिपः। श्रीमती च तवा धर्मे परं संवेगमापतुः[5] ॥२१९॥
राजा सविस्मयं भूयोऽप्यपृच्छत् तं मुनीश्वरम्। अमी नकुलशार्दूलगोलाङ्गूलाः ससूकरा[6] ॥२२०॥
कस्मादस्मिञ्जनाकीर्णे देशे तिष्ठन्त्यनाकुलाः। भवन्मुखारविन्दावलोकने दत्तदृष्टयः ॥२२१॥
इति [7]राज्ञानुयुक्तोऽसौ चारणर्षिरवोचत । शार्दूलोऽयं भवेऽन्यस्मिन् देशेऽस्मिन्नेव विश्रुते ॥२२२॥
हास्तिनाख्यपुरे ख्याते वैश्यात् सागरदत्तत.। धनवत्यामभूत् सूनुरुग्रसेनसमाह्वयः ॥२२३॥
सोऽप्रत्याख्यानत क्रोधात् पृथिवीभेदसन्निभात्। तिर्यगायुर्बबन्धाज्ञो निसर्गादतिरोषण. ॥२२४॥

स्वर्गके दिवाकरप्रभ नामक विमानमें दिवाकरप्रभ नामका देव हुआ ॥२१०॥ इस आश्चर्यको देखकर राजा प्रीतिवर्धनके सेनापति, मन्त्री और पुरोहित भी शीघ्र ही अतिशय शान्त हो गये ॥२११॥ इन सभीने राजाके द्वारा दिये हुए पात्रदानकी अनुमोदना की थी इसलिए आयु समाप्त होनेपर वे उत्तरकुरु भोगभूमिमें आर्य हुए ॥२१२॥ और आयुके अन्तमें ऐशान स्वर्गमें लक्ष्मीमान् देव हुए। उनमें-से मन्त्री, कांचन नामक विमानमें कनकाभ नामका देव हुआ, पुरोहित रुषित नामके विमानमें प्रभंजन नामका देव हुआ और सेनापति प्रभानामक विमानमें प्रभाकर नामका देव हुआ। आपकी ललितांगदेवकी पर्यायमें ये सब आपके ही परिवारके देव थे ॥२१३-२१४॥ सिंहका जीव वहाँसे च्युत हो मतिसागर और श्रीमतीका पुत्र होकर आपका मतिवर नामका मन्त्री हुआ है॥२१५॥ प्रभाकरका जीव स्वर्गसे च्युत होकर अपराजित सेनानी और आर्जवाका पुत्र होकर आपका अकम्पन नामका सेनापति हुआ है ॥२१६॥ कनकप्रभका जीव श्रुतकीर्ति और अनन्तमतीका पुत्र होकर आपका आनन्द नामका प्रिय पुरोहित हुआ है ॥२१७॥ तथा प्रभंजन देव वहाँसे च्युत होकर धनदत्त और धनदत्ताका पुत्र होकर आपका धनमित्र नामका सम्पत्तिशाली सेठ हुआ है ॥२१८॥ इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमती—दोनों ही धर्मके विषयमें अतिशय प्रीतिको प्राप्त हुए ॥२१९॥

राजा वज्रजंघने फिर भी बड़े आश्चर्यके साथ उन मुनिराजसे पूछा कि ये नकुल, सिंह, वानर और शूकर चारों जीव आपके मुख-कमलको देखनेमें दृष्टि लगाये हुए इन मनुष्योंसे भरे हुए स्थानमें भी निर्भय होकर क्यों बैठे हैं ? ॥२२०-२२१॥ इस प्रकार राजाके पूछनेपर चारण ऋद्धिके धारक ऋषिराज बोले,

हे राजन्, यह सिंह पूर्वभवमें इसी देशके प्रसिद्ध हस्तिनापुर नामक नगरमें सागरदत्त वैश्यसे उसकी धनवती नामक स्त्रीमें उग्रसेन नामका पुत्र हुआ था ॥२२२-२२३॥ वह उग्रसेन स्वभावसे ही अत्यन्त क्रोधी था इसलिए उस अज्ञानीने पृथिवीभेदके समान अप्रत्याख्यानावरण

---

१. रुचिताख्ये अ०, स०, द०। २ प्रभञ्जने विमाने च नाम्नि तस्य प्रभाकरः अ०। ३ प्रभाविमाने प्रभाकरो देवः। ४. सेनापतेः। ५ धर्मे धर्मपदे चानुरागः संवेगस्तम्। ६. सशूकरा. अ०, प०। ७. परिपृष्ट।

कोष्ठागार[1]नियुक्तांश्च निर्भर्त्स्य[2] घृततण्डुलम् । बलादादाय वेश्याभिः[3] संप्रायच्छत[4] दुर्मदी ॥२२५॥
तद्वार्ताकर्णनाद् राज्ञा बन्धितस्तीव्रवेदनः । [5]चपेटाचरणाघातैः मृत्वा व्याघ्र इहाभवत् ॥२२६॥
वराहोऽयं भवेऽतीते पुरे विजयनामनि । सूनुर्वसन्तसेनायां महानन्दनृपादभूत् ॥२२७॥
हरिवाहननामासौ अप्रत्याख्यानमानतः । मानमस्थिसमं बिभ्रत् पित्रोरप्यविनीतकः ॥२२८॥
तिर्यगायुरतो बद्ध्वा [6]नैच्छत् पित्रनुशासनम्[7] । धावमानः शिलास्तम्भजर्जरीकृतमस्तकः ॥२२९॥
आर्तो मृत्वा वराहोऽभूद् वानरोऽयं पुरा भवे । पुरे धान्याह्वये[8] जातः [9]कुबेराख्यवणिक्सुतः ॥२३०॥
सुदत्तागर्भसंभूतो नागदत्तसमाह्वयः । अप्रत्याख्यानमायां तां मेषशृङ्गसमां श्रितः ॥२३१॥
स्वानुजाया विवाहार्थं स्वापणे[10] स्वापतेयकम् । स्वाम्बायामाददानायां सुपरीक्ष्य यथेप्सितम् ॥२३२॥
ततस्तद्वञ्चनोपायम्[11] जानन्नार्तधीर्मृतः । तिर्यगायुर्वशेनासौ गोलाङ्गूलत्वमित्यगात् ॥२३३॥
नकुलोऽयं भवेऽन्यस्मिन् सुप्रतिष्ठितपत्तने । अभूत् कादम्बिको[12] नाम्ना लोलुपो धनलोलुपः ॥२३४॥
सोऽन्यदा नृपतौ चैत्यगृहनिर्मापणोद्यते[13] । [14]इष्टका[15]विष्टिपुरुषैरानाययति लुब्धधीः ॥२३५॥

क्रोधके निमित्तसे तिर्यंच आयुका बन्ध कर लिया था ॥२२४॥ एक दिन उस दुष्टने राजाके भण्डारकी रक्षा करनेवाले लोगोंको घुड़ककर वहाँसे बलपूर्वक बहुत-सा घी और चावल निकालकर वेश्याओंको दे दिया ॥२२५॥ जब राजाने यह समाचार सुना तब उसने उसे बँधवा कर थप्पड़, लात, घूँसा आदिकी बहुत ही मार दिलायी जिससे वह तीव्र वेदना सहकर मरा और यहाँ यह व्याघ्र हुआ है ॥२२६॥

हे राजन्, यह सूकर पूर्वभवमें विजय नामक नगरमें राजा महानन्दसे उसकी रानी वसन्तसेनामें हरिवाहन नामका पुत्र हुआ था। वह अप्रत्याख्यानावरण मानके उदयसे हड्डीके समान मानको धारण करता था इसलिए माता-पिताका भी विनय नहीं करता था ॥२२७-२२८॥ और इसीलिए उसे तिर्यंच आयुका बन्ध हो गया था। एक दिन वह माता-पिताका अनुशासन नहीं मानकर दौड़ा जा रहा था कि पत्थरके खम्भेसे टकराकर उसका शिर फूट गया और इसी वेदनामें आर्तध्यानसे मरकर यह सूकर हुआ है ॥२२९॥

हे राजन्, यह वानर पूर्वभवमें धन्यपुर नामके नगरमें कुबेर नामक वणिक्के घर उसकी सुदत्ता नामकी स्त्रीके गर्भसे नागदत्त नामका पुत्र हुआ था वह भेंड़के सींगके समान अप्रत्याख्यानावरण मायाको धारण करता था ॥ २३०-२३१ ॥ एक दिन इसकी माता, नागदत्तकी छोटी बहनके विवाहके लिए अपनी दूकानसे इच्छानुसार छाँट-छाँटकर कुछ सामान ले रही थी। नागदत्त उसे ठगना चाहता था परन्तु किस प्रकार ठगना चाहिए ? इसका उपाय वह नहीं जानता था इसलिए उसी उधेड़बुनमें लगा रहा और अचानक आर्तध्यानसे मरकर तिर्यञ्च आयुका बन्ध होनेसे यहाँ यह वानर अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥ २३२-२३३॥ और—

हे राजन्, यह नकुल (नेवला) भी पूर्वभवमें इसी सुप्रतिष्ठित नगरमें लोलुप नामका हलवाई था। वह धनका बड़ा लोभी था ॥२३४॥ किसी समय वहाँका राजा जिनमन्दिर बनवा रहा था और उसके लिए वह मजदूरोंसे ईंटें बुलाता था। वह लोभी मूर्ख हलवाई उन

१. भाण्डागारिकान् । २. सन्तर्ज्य । ३. वेश्याभ्यः । 'दाणाद्धर्मे तज्जदेयैः' इति चतुर्थ्यर्थे तृतीया । वेश्यायै अ०, प०, द०, स० । ४. प्रयच्छति स्म । तेनैव सूत्रेणात्मनेपदी । ५. हस्ततलपादताडनैः । ६. नेच्छत् प०, ब० । ७. पित्रानुशासनम् प० । ८. धन्याह्वये ल० । ९. कुबेराह्ववणिक्पुत्रः । कुबेराख्यो वणिक्सुतः अ० । १०. निजविपण्याम् । ११. वञ्चनापाय—अ० । १२. भक्ष्यकारः । १३. —णोद्यमे ल० । १४. इष्टिकाविष्ट—प०, द० । इष्टकाविष्ट—अ० । १५. वेतनपुरुषैः ।

दत्त्वापूपं[1] निगूढं स्वं मूढः प्रावेशयद् गृहम् । इष्टकास्तत्र कासांचिन् भेदेऽपश्यच्च काञ्चनम् ॥२३६॥
तल्लोभादिष्टका भूयोऽप्यानाययितुमुद्यतः । पुरुषैर्वैष्टिकैस्तेभ्यो दत्त्वापूपादिभोजनम् ॥२३७॥
स्वसुताग्राममन्येद्यु स गच्छन् पुत्रमात्मनः । न्ययुङ्क्त पुत्रकाहारं दत्त्वाऽऽनाय्यास्त्वयेष्टकाः ॥२३८॥
इत्युक्त्वास्मिन् गते पुत्रः तत्तथा नाकरोदतः । स निवृत्य सुतं पृष्ट्वा[2] रुष्टोऽसौ दुष्टमानसः ॥२३९॥
शिरः पुत्रस्य निर्भिद्य[3] [4]लकुटोपलताडनैः । चरणौ स्वौ च निर्वेदाद् बभञ्ज किल मूढधीः ॥२४०॥
राज्ञा च घातितो मृत्वा नकुलत्वमुपागमत् । अप्रत्याख्यानलोभेन नीत सोऽयं[5] दशामिमाम् ॥२४१॥
युष्मद्दानं समीक्ष्यैते प्रमोदं परमागताः । प्राप्ता जातिस्मरत्वं च निर्वेदमधिकं श्रिताः ॥२४२॥
भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुष्वमी । ततोऽमी भीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः[6] ॥२४३॥
इतोऽष्टमे भवे भाविन्यपुनर्भवतां[7] भवान् । [8]भवितामी च तत्रैव भवे [9]सेत्स्यन्त्यसंशयम् ॥२४४॥
तावच्चाभ्युदयं सौख्यं दिव्यमानुषगोचरम् । त्वयैव सममेतेऽनुभोक्तारः[10] पुण्यभागिनः ॥२४५॥
श्रीमती च भवत्तीर्थे[11] दानतीर्थप्रवर्तकः । श्रेयान् भूत्वा परं श्रेयः श्रमिष्यति न संशयः ॥२४६॥
इति चारणयोगीन्द्रवचः श्रुत्वा नराधिपः । दधे रोमाञ्चितं गात्रं[12] ततं प्रेमाङ्कुरैरिव ॥२४७॥

मजदूरोंको कुछ पुआ वगैरह देकर उनसे छिपकर कुछ ईंटें अपने घरमें डलवा लेता था। उन ईंटोंके फोड़नेपर उनमें-से कुछमें सुवर्ण निकला। यह देखकर इसका लोभ और भी बढ़ गया। उस सुवर्णके लोभसे उसने बार-बार मजदूरोंको पुआ आदि देकर उनसे बहुत-सी ईंटें अपने घर डलवाना प्रारम्भ किया ॥२३५-२३७॥ एक दिन उसे अपनी पुत्रीके गाँव जाना पड़ा। जाते समय वह पुत्रसे कह गया कि हे पुत्र, तुम भी मजदूरोंको कुछ भोजन देकर उनसे अपने घर ईंटें डलवा लेना ॥२३८॥ यह कहकर वह तो चला गया परन्तु पुत्रने उसके कहे अनुसार घरपर ईंटें नहीं डलवायीं। जब वह दुष्ट लौटकर घर आया और पुत्रसे पूछनेपर जब उसे सब हाल मालूम हुआ तब वह पुत्रसे भारी कुपित हुआ ॥२३९॥ उस मूर्खने लकड़ी तथा पत्थरोंकी मारसे पुत्रका शिर फोड़ डाला और उस दुःखसे दुःखी होकर अपने पैर भी काट डाले ॥२४०॥ अन्तमें वह राजाके द्वारा मारा गया और मरकर इस नकुल पर्यायको प्राप्त हुआ है। वह हलवाई अप्रत्याख्यानावरण लोभके उदयसे ही इस दशा तक पहुँचा है ॥२४१॥

हे राजन्, आपके दानको देखकर ये चारों ही परम हर्षको प्राप्त हो रहे हैं और इन चारोंको ही जाति-स्मरण हो गया है जिससे ये संसारसे बहुत ही विरक्त हो गये हैं ॥२४२॥ आपके दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे इन सभीने उत्तम भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया है। इसलिए ये भय छोड़कर धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे यहाँ बैठे हुए हैं ॥२४३॥ हे राजन्, इस भवसे आठवें आगामी भवमें तुम वृषभनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भवमें ये सब भी सिद्ध होंगे, इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥२४४॥ और तबतक ये पुण्यशील जीव आपके साथ-साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम-उत्तम सुख तथा विभूतियोंका अनुभोग करते रहेंगे ॥२४५॥ इस श्रीमतीका जीव भी आपके तीर्थमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति चलानेवाला राजा श्रेयान्स होगा और उसी भवसे उत्कृष्ट कल्याण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है ॥२४६॥ इस प्रकार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके वचन सुनकर राजा

१ दत्त्वापूपान् द०, अ०, स०, प० । अपूपं भक्ष्यम् । २. दृष्ट्वा अ० । ३. निर्भेद्य अ०, स० । ४ लकुटो दण्डः । ५. अवस्थाम् । ६. श्रव- श्रवणम् । ७. पुनर्भवरहितत्वम्, सिद्धत्वमित्यर्थः । ८. प्राप्स्यति । अत्र प्राप्त्यर्थं शाकटायनापेक्षया तङन्तो वा अनङन्तो वाऽस्तु । 'भुव प्राप्त्याविणि' इति सूत्रव्याख्याने वाऽऽत्मनेपदीति भूधातु तङन्त एव । ९ सिद्धिं प्राप्स्यन्ति । सेत्स्यत्यसं–ल० । १०. अनुभविष्यन्ति । ११. भवत्तीर्थदान– स०, अ० । १२. विस्तृतम् ।

ततोऽभिवन्द्य योगीन्द्रौ नरेन्द्रः प्रिययान्वितः। स्वावासं प्रत्यगात् प्रीतैः[1] समं मतिवरादिभिः ॥२४८॥
मुनी च वातरशनौ[2] वायुमन्वीयतुस्तदा। मुनिवृत्तेरसंगत्वं[3] ख्यापयन्तौ नभोगती ॥२४९॥
नृपोऽपि तद्गुणध्यानसमुत्कण्ठितमानसः। तत्रैव तदहःशेषम्[4] अतिवाह्य[5] ससाधनः ॥२५०॥
ततः प्रयाणकैः कैश्चित् संप्रापत् पुण्डरीकिणीम्। तत्रापश्यच्च शोकार्त्तां देवीं लक्ष्मीमतीं सतीम् ॥२५१॥
अनुन्धरीं च सोत्कण्ठां समाश्वास्य शनैरसौ। पुण्डरीकस्य तद्राज्यमकरोन्निरुपप्लवम्[6] ॥२५२॥
[7]प्रकृतीरपि सामाद्यै[8]रुपायैः सोऽन्वरञ्जयत्। सामन्तानपि संमान्य[9] यथापूर्वमतिष्ठिपत् ॥२५३॥
समन्त्रिकं ततो राज्ये बालं बालार्कसप्रभम्[10]। निवेश्य पुनरावृत्तः प्रापदुत्पलखेटकम् ॥२५४॥

मालिनीच्छन्दः

अथ परमविभूत्या वज्रजङ्घः क्षितीशः
पुरममरपुराभं स्वं[11] विशन्[12] कान्तयामा।
शतमख इव शच्या संभृतश्रीः[13] स रेजे
पुरवरवनितानां लोचनैः पीयमानः ॥२५५॥

वज्रजंघका शरीर हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा जिससे ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमके अंकुरोंसे व्याप्त ही हो गया हो ॥२४७॥ तदनन्तर राजा उन दोनों मुनिराजोंको नमस्कार कर रानी श्रीमती और अतिशय प्रसन्न हुए मतिवर आदिके साथ अपने डेरेपर लौट आया ॥२४८॥ तत्पश्चात् वायुरूपी वस्त्रको धारण करनेवाले (दिगम्बर) वे दोनों मुनिराज 'मुनियोंकी वृत्ति परिग्रहरहित होती है' इस बातको प्रकट करते हुए वायुके साथ-साथ ही आकाशमार्गसे विहार कर गये ॥२४९॥ राजा वज्रजंघने उन मुनियोंके गुणोंका ध्यान करते हुए उत्कण्ठित चित्त होकर उस दिनका शेष भाग अपनी सेनाके साथ उसी शष्प नामक सरोवरके किनारे व्यतीत किया ॥२५०॥ तदनन्तर वहाँसे कितने ही पड़ाव चलकर वे पुण्डरीकिणी नगरीमें जा पहुँचे। वहाँ जाकर राजा वज्रजंघने शोकसे पीड़ित हुई सती लक्ष्मीमती देवीको देखा और भाईके मिलनेकी उत्कण्ठासे सहित अपनी छोटी बहन अनुन्धरीको भी देखा। दोनोंको धीरे-धीरे आश्वासन देकर समझाया तथा पुण्डरीकके राज्यको निष्कण्टक कर दिया ॥२५१-२५२॥ उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायोंसे समस्त प्रजाको अनुरक्त किया और सरदारों तथा आश्रित राजाओंका भी सम्मान कर उन्हें पहलेकी भाँति (चक्रवर्तीके समयके समान) अपने-अपने कार्योंमें नियुक्त कर दिया ॥२५३॥ तत्पश्चात् प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान पुण्डरीक बालकको राज्य-सिंहासनपर बैठाकर और राज्यकी सब व्यवस्था सुयोग्य मन्त्रियोंके हाथ सौंपकर राजा वज्रजंघ लौटकर अपने उत्पलखेटक नगरमें आ पहुँचे ॥२५४॥ उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित महाराज वज्रजंघने प्रिया श्रीमतीके साथ बड़े ठाट-बाटसे स्वर्गपुरीके समान सुन्दर अपने उत्पलखेटक नगरमें प्रवेश किया। प्रवेश करते समय नगरकी मनोहर स्त्रियाँ अपने नेत्रों-द्वारा उनके सौन्दर्य-रसका पान कर रही थीं। नगरमें प्रवेश करता हुआ वज्रजंघ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो स्वर्गमें प्रवेश करता हुआ इन्द्र ही हो ॥२५५॥

---

१. प्रीत्यै समं–अ०। २. वातवसनौ द०, ल०। वान्तवसनौ प०। वान्तरसनौ अ०। ३. कथयन्तौ। ४. दिवसावशेषम्। ५. अतीत्य। ६. निरुपद्रवम्। ७. प्रजा। ८. सामभेददानदण्डैः। ९. सत्कृत्य। १०. सदृशम्। ११. आत्मीयम्। १२. विशत्का–अ०, प०, स०, म०। १३. सम्यग्धृतश्रीः।

किमयममरनाथः किंस्विदीशो धनानां
किमुत फणिगणेशः किं वपुष्माननङ्गः ।
इति पुरनरनारीजल्पनैः[1] कथ्यमानो
गृहमविशदुदारश्रीः परार्द्ध्यं महर्द्धिः ॥२५६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रासौ[2] सुखमावसत् स्वरुचितान्[3] भोगान् स्वपुण्योर्जितान्
भुञ्जानः षड्ऋतुप्रमोदजनने हर्म्ये मनोहारिणि ।
संभोगैरुचितै शचीमिव हरिः समावयन् प्रेयसीं[4]
जैनं धर्ममनुस्मरन् स्मरनिभः कीर्तिं च तन्वन् दिशि[5] ॥२५७॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजंघपात्रदानानुवर्णनं नामाष्टमं पर्व ॥८॥



क्या यह इन्द्र है ? अथवा कुबेर है ? अथवा धरणेन्द्र है ? अथवा शरीरधारी कामदेव है ? इस प्रकार नगरकी नर-नारियोंकी बातचीतके द्वारा जिनकी प्रशंसा हो रही है ऐसे अत्यन्त शोभायमान और उत्कृष्ट विभूतिके धारक वज्रजंघने अपने श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया ॥२५६॥ छहों ऋतुओंमें हर्ष उत्पन्न करनेवाले उस मनोहर राजमहलमें कामदेवके समान सुन्दर वज्रजंघ अपने पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए मनवांछित भोगोंको भोगता हुआ सुखसे निवास करता था । तथा जिस प्रकार संभोगादि उचित उपायोंके द्वारा इन्द्र इन्द्राणीको प्रसन्न रखता है उसी प्रकार वह वज्रजंघ संभोग आदि उपायोंसे श्रीमतीको प्रसन्न रखता था । वह सदा जैन धर्मका स्मरण रखता था और दिशाओंमें अपनी कीर्ति फैलाता रहता था ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजङ्घके पात्रदानका वर्णन करनेवाला आठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥८॥



---

१ श्लाघ्यमान । २ -सौ पुरमाव- अ० । ३. आत्माभीष्टान् । ४. प्रियतमाम् । ५. दिश द०, स० ।

नवमं पर्व

अथ त्रिवर्गसंसर्गरम्यं राज्यं प्रकुर्वतः। तस्य कालोऽगमद् भूयान् भोगैः षड्‌ऋतुसुन्दरैः ॥१॥
स रेमे[1] शरदारम्भे प्रफुल्लाब्जसरोजले। वनेष्वयुक्छदामोदसुभगेषु[2] प्रियान्वितः ॥२॥
सरित्पुलिनदेशेषु प्रियाजघनहारिषु। राजहंसो धृतिं[3] लेभे[4] सध्रीचीमनुयन्नयम्[5] ॥३॥
कुर्वन्नीलोत्पलं कर्णे स कान्ताया वतंसकम्[6]। शोभामिव दृशोरस्याः[7] तेनाभूत् सन्निकर्षयन्[8] ॥४॥
सरसाब्जरजःपुञ्जपिञ्जरं स्तनमण्डलम्। स पश्यन् बहुमेनेऽस्याः कामस्येव करण्डकम् ॥५॥
[9]वासगेहे समुत्सर्पद् धूपामोदसुगन्धिनि। प्रियास्तनोष्मणा[10] भेजे हिमर्तौ स परां धृतिम् ॥६॥
कुङ्कुमालिप्तसर्वाङ्गीमम्लानमुखवारिजाम्। प्रियामरमयद् गाढमाश्लिष्यन्[11] शिशिरागमे ॥७॥
मधौ[12] मधुमदामत्तकामिनीजनसुन्दरे। वनेषु सहकाराणां स रेमे रामया समम् ॥८॥
अशोककलिकां कर्णे न्यस्यन्नस्या मनोभवः। जनचेतोभिदो दध्यौ[13] शोणिताक्तान्[14] स तीरिकान्[15] ॥९॥
घर्मे घर्माम्बुविच्छेदिसरोऽनिलहृतक्लमः। जलकेलिविधौ कान्तां रमयन् विजहार सः ॥१०॥
चन्दनद्रवसिक्ताङ्गीं प्रियां हारविभूषणाम्। कण्ठे गृह्णन् स घर्मोत्थं नाज्ञासीत् कमपि श्रमम् ॥११॥

तदनन्तर धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गोंके संसर्गसे मनोहर राज्य करनेवाले महाराज वज्रजंघका छहों ऋतुओंके सुन्दर भोग भोगते हुए बहुत-सा समय व्यतीत हो गया॥ १ ॥ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ वह राजा शरद् ऋतुके प्रारम्भकालमें फूले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाबोंके जलमें और सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंकी सुगन्धिसे मनोहर वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥२॥ कभी वह श्रेष्ठ राजा, राजहंस पक्षीके समान अपनी सहचरीके पीछे-पीछे चलता हुआ प्रियाके नितम्बके समान मनोहर नदियोंके तटप्रदेशोंपर सन्तुष्ट होता था ॥३॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें नील कमलका आभूषण पहनाता था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस नील कमलके आभूषणोंके छलसे उसके नेत्रोंकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥४॥ श्रीमतीका स्तनमण्डल तालाबोंकी परागके समूहसे पीला पड़ गया था इसलिए कामदेवके पिटारेके समान जान पड़ता था। राजा वज्रजंघ उस स्तन-मण्डलको देखता हुआ हुआ बहुत ही हर्षित होता था ॥५॥ हेमन्त ऋतुमें वह वज्रजंघ धूपकी फैलती हुई सुगन्धिसे सुगन्धित शयनागारमें श्रीमतीके स्तनोंकी उष्णतासे परम धैर्यको प्राप्त होता था ॥६॥ तथा शिशिर ऋतुका आगमन होनेपर जिसका सम्पूर्ण शरीर केशरसे लिप्त हो रहा है और जिसका मुख-कमल प्रसन्नतासे खिल रहा है ऐसी प्रिया श्रीमतीको गाढ़ आलिंगनसे प्रसन्न करता था ॥७॥ मधुके मदसे उन्मत्त हुई स्त्रियोंसे हरे-भरे सुन्दर वसन्तमें वज्रजंघ अपनी स्त्रीके साथ-साथ आमोंके वनोंमें क्रीड़ा करता था ॥८॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें अशोक वृक्षकी नयी कली पहनाता था। उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानो मनुष्यके चित्तको भेदन करनेवाले और खूनसे रंगे हुए अपने लाल-लाल बाण पहनाता हुआ कामदेव ही हो ॥९॥ ग्रीष्म ऋतुमें पसीनेको सुखानेवाली तालाबोंके समीपवर्ती वायुसे जिसकी सब थकावट दूर हो गयी है ऐसा वज्रजंघ जलक्रीड़ा कर श्रीमतीको प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥१०॥ चन्दनके द्रवसे जिसका सारा शरीर लिप्त हो रहा है और जो कण्ठमें हार पहने हुई है

---

१. रेजे म०, ल० । २. सप्तपर्ण । ३. संतोषम् । ४. सहाया श्रीमतीमित्यर्थः । ५. अनुगच्छन् । ६ कर्णपूरम् । ७. कर्णपूरकरणेन । ८. संनियोजयन् । ९. शय्यागृहे । १०. उष्णेन । ११. स हिमागमे अ०, प०, द०, स० । १२. मधुमदायत्त—प०, द० । मधुमहामत्त–अ० । १३. ध्यायति स्म । १४ रक्तलिप्तान् । १५. बाणान् । तीरका ल० । तीरकान् म० ।

शिरीषकुसुमैः कान्तामलंकुर्वन् वतंसितैः। रूपिणीमिव नैदाघीं श्रियं तां बह्वमंस्त सः ॥१२॥
घनागमे घनोपान्तस्फुरत्तडिति साध्वसात्। कान्तयाऽश्लेषि विश्लेषभीतया घनमेव[1] सः ॥१३॥
इन्द्रगोपचिता भूमिरामन्द्रस्तनिता घनाः। ऐन्द्रचापं च पान्थानां चक्रुरुत्कण्ठितं मनः ॥१४॥
नभः[2] स्थगितमस्माभिः सुरगोपैस्तता[3] मही। क्व[4] याथेति[5] न्यषेधन्नु पथिकान् गर्जितैर्घनाः[6] ॥१५॥
विकासिकुटजच्छन्ना भूधराणामुपत्यका[8]। मनोऽस्य निन्युरौत्सुक्यं स्वनैरुन्मदकेकिनाम् ॥१६॥
कदम्बानिलसंवाससुरभीकृतसानवः। गिरयोऽस्य मनो जह्रुः काले[10] नृत्यच्छिखावले ॥१७॥
अनेहसि[11] लसद्विद्युद्द्योतितविहायसि। स रेमे रम्यहर्म्याग्रम्[12] अधिशय्य प्रियासखः ॥१८॥
सरितामुद्धताम्भोभिः प्रियामानप्रधाविभिः[13]। प्रवाहैर्धृतिरस्यासीद् वर्षर्तौ[14] समुपागमे ॥१९॥
भोगान् षड्ऋतुजानित्थं भुञ्जानोऽसौ सहाङ्गनः। साक्षात्कृत्येव मूढानां तपःफलमदर्शयन् ॥२०॥
अथ कालागुरूद्दामधूपधूमाधिवासिते। मणिप्रदीपकोद्योतदूरीकृततमस्तरे[15] ॥२१॥
[16]प्रतिपादिकविन्यस्तरत्नमञ्चोपशोभिनि। दधत्यालम्बिभिर्मुक्ताजालकैर्हसितश्रियम्[17] ॥२२॥

ऐसी श्रीमतीको गलेमें लगाता हुआ वज्रजंघ गरमीसे पैदा होनेवाले किसी भी परिश्रमको नहीं जानता था ॥११॥ वह कभी शिरीषके फूलोंके आभरणोंसे श्रीमतीको सजाता था और फिर उसे साक्षात् शरीर धारण करनेवाली ग्रीष्मऋतुकी शोभा समझता हुआ बहुत कुछ मानता था ॥१२॥ वर्षाऋतुमें जब मेघोंके किनारेपर बिजली चमकती थी उस समय वियोगके भयसे अत्यन्त भयभीत हुई श्रीमती बिजलीके डरसे वज्रजंघका स्वयं गाढ़ आलिंगन करने लगती थी ॥१३॥ उस समय वीरवहूटी नामके लाल-लाल कीड़ोंसे व्याप्त पृथ्वी, गम्भीर गर्जना करते हुए मेघ और इन्द्रधनुष ये सब पथिकोंके मनको बहुत ही उत्कण्ठित बना रहे थे ॥१४॥ उस समय गरजते हुए बादल मानो यह कहकर ही पथिकोंको गमन करनेसे रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगोंने घेर लिया है और पृथ्वी वीरवहूटी कीड़ोंसे भरी हुई है अब तुम कहाँ जाओगे ?॥१५॥ उस समय खिले हुए कुटज जातिके वृक्षोंसे व्याप्त पर्वतके समीपकी भूमि उन्मत्त हुए मयूरोंके शब्दोंसे राजा वज्रजंघका मन उत्कण्ठित कर रही थी ॥१६॥ जिस समय मयूर नृत्य कर रहे थे ऐसे उस वर्षाके समयमें कदम्बपुष्पोंकी वायुके सम्पर्कसे सुगन्धित शिखरोंवाले पर्वत राजा वज्रजंघका मन हरण कर रहे थे ॥१७॥ जिस समय चमकती हुई बिजलीसे आकाश प्रकाशमान रहता है ऐसे उस वर्षाकालमें राजा वज्रजंघ अपने सुन्दर महलके अग्रभागमें प्रिया श्रीमतीके साथ शयन करता हुआ रमण करता था ॥१८॥ वर्षाऋतु आनेपर स्त्रियोंका मान दूर करनेवाले और उछलते हुए जलसे शोभायमान नदियोंके पूरसे उसे बहुत ही सन्तोष होता था ॥१९॥ इस प्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ-साथ छहों ऋतुओंके भोगोंका अनुभव करता हुआ मानो मूर्ख लोगोंको पूर्वभवमें किये हुए अपने तपका साक्षात् फल ही दिखला रहा था ॥२०॥

अथानन्तर एक दिन वह वज्रजंघ अपने शयनागारमें कोमल, मनोहर और गंगा नदीके बालूदार तटके समान सुशोभित रेशमी चद्दरसे उज्ज्वल शय्यापर शयन कर रहा था। जिस शयनागारमें वह शयन करता था वह कृष्ण अगुरुकी बनी हुई उत्कृष्ट धूपके धूमसे अत्यन्त

---

१. निबिडम्। २. आच्छादितम्। ३. विस्तृता। ४ कुत्र गच्छथ। ५. निषेधं चक्रिरे। ६. इव। ७ गर्जिता घनाः म०, ल०। ८ आसन्नभूमि। ९. सहवास। १०. प्रावृषि इत्यर्थः। ११. काले। १२. सौधाग्रे 'शीङ्स्थासोरधेराधारः' इति सूत्रात् सप्तम्यर्थे द्वितीया। १३. अहंकारप्रक्षालके। १४. वर्षर्तौ ल०। १५ निबिडान्धकारे। १६. प्रतिपादकेषु स्थापिता। १७ हसितं हसनम्।

कुन्देन्दीवरमन्दारसान्द्रामोदाश्रितालिनि । चित्रभित्तिगतानेकरूपकर्ममनोहरे[1] ॥२३॥
[2]वासगेहेऽन्यदा शिश्ये तल्पे मृदुनि हारिणि । गङ्गासैकतनिर्भासि[3] दुकूल[4]प्रच्छदोज्ज्वले ॥२४॥
प्रियास्तनतटस्पर्शसुखामीलितलोचनः । मेरुकन्दरमाश्लिष्यन् स विद्युदिव वारिदः ॥२५॥
तत्र वातायनद्वारपिधानारुद्धधूमके । केशसंस्कारधूपोद्यद्धूमेन क्षणमूर्च्छितौ ॥२६॥
निरुद्धोच्छ्वासदौःस्थित्यादन्तः किञ्चिदिवाकुलौ । दम्पती तौ निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतुः ॥२७॥
जीवापाये तयोर्देहौ क्षणाद् विच्छायतां गतौ । प्रदीपापायसंवृद्ध[5]तमस्कन्धौ यथा गृहौ ॥२८॥
व्युतासुरसौ छायां न लेभे सहकान्तया । [6]पर्यस्त इव कालेन सलतः कल्पपादपः ॥२९॥
[7]भोगाङ्गेनापि धूपेन[8] तयोरासीत् परासुता[9] । धिगिमान् भोगि[10]भोगाभान् भोगान् प्राणापहारिणः ॥३०॥
तौ तथा[11] सुखसाद्भूतौ[12] संभोगैरुपलालितौ । प्राप्तावेकपदे[13] शोच्यां दशां धिक्संसृतिस्थितिम् ॥३१॥
भोगाङ्गैरपि जन्तूनां यदि चेदीदृशी दशा । जनाः किमेभिरस्वन्तै[14] कुरुतार्हन्मते रतिम् ॥३२॥

सुगन्धित हो रहा था, मणिमय दीपकोंके प्रकाशसे उसका समस्त अन्धकार नष्ट हो गया था। जिनके प्रत्येक पायेमें रत्न जड़े हुए हैं ऐसे अनेक मंचोंसे वह शोभायमान था। उसमें जो चारों ओर मोतियोंके गुच्छे लटक रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो हँस ही रहा हो। कुन्द, नीलकमल और मन्दार जातिके फूलोंकी तीव्र सुगन्धिके कारण उसमें बहुत-से भ्रमर आकर इकट्ठे हुए थे। तथा दीवालोंपर बने हुए तरह तरह-तरहके चित्रोंसे वह अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२१-२४॥ श्रीमतीके स्तनतटके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखसे जिसके नेत्र निमीलित (बन्द) हो रहे हैं ऐसा वह वज्रजंघ मेरु पर्वतकी कन्दराका स्पर्श करते हुए बिजलीसहित बादलके समान शोभायमान हो रहा था ॥२५॥ शयनागारको सुगन्धित बनाने और केशोंका संस्कार करनेके लिए उस भवनमें अनेक प्रकारका सुगन्धि धूप जल रहा था। भाग्यवश उस दिन सेवक लोग झरोखेके द्वार खोलना भूल गये थे इसलिए वह धूम उसी शयनागारमें रुकता रहा। निदान, केशोंके संस्कारके लिए जो धूप जल रहा था उसके उठते हुए धूमसे वे दोनों पति-पत्नी क्षण-भरमें मूर्च्छित हो गये ॥२६॥ उस धूमसे उन दोनोंके श्वास रुक गये जिससे अन्तःकरणमें उन दोनोंको कुछ व्याकुलता हुई। अन्तमें मध्य रात्रिके समय वे दोनों ही दम्पति दीर्घ निद्राको प्राप्त हो गये—सदाके लिए सो गये—मर गये ॥२७॥ जिस प्रकार दीपक बुझ जानेपर रुके हुए अन्धकारके समूहसे मकान निष्प्रभ—मलीन—हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव निकल जानेपर उन दोनोंके शरीर क्षण-भरमें निष्प्रभ—मलीन—हो गये ॥२८॥ जिस प्रकार समय पाकर उखड़ा हुआ कल्पवृक्ष लतासे सहित होनेपर भी शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार प्राणरहित वज्रजंघ श्रीमतीके साथ रहते हुए भी शोभायमान नहीं हो रहा था ॥२९॥ यद्यपि वह धूप उनके भोगोपभोगका साधन था तथापि उससे उनकी मृत्यु हो गयी इसलिए सर्पके फणाके समान प्राणोंका हरण करनेवाले इन भोगोंको धिक्कार हो ॥३०॥ जो श्रीमती और वज्रजंघ उत्तम-उत्तम भोगोंका अनुभव करते हुए हमेशा सुखी रहते थे वे भी उस समय एक ही साथ सोचनीय अवस्थाको प्राप्त हुए थे इसलिए संसारकी ऐसी स्थितिको धिक्कार हो ॥३१॥ हे भव्यजन, जब कि भोगोपभोगके साधनोंसे ही जीवोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है तब अन्तमें दुःख देनेवाले इन भोगोंसे क्या प्रयोजन है ? इन्हें छोड़कर जिनेन्द्रदेवके वीतराग मतमें ही प्रीति करो ॥३२॥

---

१. चित्रकर्म। २. शय्यागृहे। ३. सदृश। ४. प्रच्छलो—म०, ल०। ५. सरुद्ध—म०, द०, ल०। ६. विध्वस्त। ७. भोगकारणेन। ८. धूमेन प०। ९. मृतिः। १०. सर्पशरीर। ११ तदा अ०, म०, स०, ल०। १२. सुखाधीनौ। १३. तत्क्षणे। 'सहसैकपदे सद्योऽकस्मात् सपदि तत्क्षणे' इत्यभिधान-चिन्तामणिः। १४. दुःखान्तैः।

पात्रदानात्तपुण्येन[1] बद्धोदक्कुरुनायुषौ[2] । क्षणात् कुरून् समासाद्य तत्र तौ जन्म भेजतुः ॥२३॥
जम्बूद्वीपमहामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिताः । सन्त्युदक्कुरवो नाम स्वर्गश्रीपरिहासिनः ॥२४॥
मद्यातोद्यविभूषास्रग्दीपज्योतिर्गृहाङ्गकाः । भोजनामत्र[3]वस्त्राङ्गा इत्यन्वर्थसमाह्वयाः ॥२५॥
यत्र कल्पद्रुमा रम्या दशधा परिकीर्तिताः । नानारत्नमयाः [4]स्फीतप्रभोद्योतितदिङ्मुखाः ॥२६॥
मद्याङ्गा मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिकान् । रसभेदांस्ततामोदान् वितरन्त्यमृतोपमान् ॥२७॥
कामोद्दीपनसाधर्म्यात् मद्यमित्युपचर्यते । तारवो[5] रसभेदोऽयं यः सेव्यो भोगभूमिजैः ॥२८॥
मदस्य करणं मद्यं [6]पानशौण्डैर्यदादृतम् । तद्वर्जनीयमार्याणामन्तःकरणमोहदम्[7] ॥३९॥
पटहान् मर्दलांस्ताल[8] झल्लरीशङ्खकाहलम् । फलन्ति पणवाद्यांश्च वाद्यभेदांस्तदङ्घ्रिपाः ॥४०॥
तुलाकोटिक[10]केयूररुचकाङ्गदवेष्टकान्[11] । हारान् मकुटभेदांश्च[12] सुवते भूषणाङ्गकाः ॥४१॥
स्रजो नानाविधाः कर्णपूरभेदांश्च नैकधा[13] । सर्वर्तुकुसुमाकीर्णाः सुमनोङ्गा दधत्यलम् ॥४२॥
मणिप्रदीपैराभान्ति दीपाङ्गाख्या महाद्रुमाः । ज्योतिरङ्गाः सदा[14] द्योतमातन्वन्ति स्फुरद्रुचः ॥४३॥
गृहाङ्गाः सौधमुत्तुङ्गं मण्डपं च सभागृहम् । चित्रनर्तनशालाश्च संनिधापयितुं[15] क्षमाः ॥४४॥

उन दोनोंने पात्रदानसे प्राप्त हुए पुण्यके कारण उत्तरकुरु भोगभूमिकी आयुका बन्ध किया था इसलिए क्षण-भरमें वहीं जाकर जन्म-धारण कर लिया ॥२३॥

जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु पर्वतसे उत्तरकी ओर उत्तरकुरु नामकी भोगभूमि है जो कि अपनी शोभासे सदा स्वर्गकी शोभाको हँसती रहती है ॥२४॥ जहाँ मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये सार्थक नामको धारण करनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नोंके बने हुए हैं और अपनी विस्तृत प्रभासे दशों दिशाओंको प्रकाशित करते रहते हैं ॥२५-२६॥ इनमें मद्यांगजातिके वृक्ष फैलती हुई सुगन्धिसे युक्त तथा अमृतके समान मीठे मधु—मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकारके रस देते हैं ॥३७॥ कामोद्दीपनकी समानता होनेसे शीघ्र ही इन मधु आदिको उपचारसे मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एक प्रकारके रस हैं जिन्हें भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं ॥३८॥ मद्यपायी लोग जिस मद्यका पान करते हैं वह नशा करनेवाला है और अन्तःकरणको मोहित करनेवाला है इसलिए आर्यपुरुषोंके लिए सर्वथा त्याज्य है ॥३९॥ वादित्रांग जातिके वृक्षमें दुन्दुभि, मृदंग, झल्लरी, शंख, भेरी, चंग आदि अनेक प्रकारके बाजे फलते हैं ॥४०॥ भूषणांग जातिके वृक्ष नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद(अनन्त), करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकारके आभूषण उत्पन्न करते हैं ॥४१॥ मालांग जातिके वृक्ष सब ऋतुओंके फूलोंसे व्याप्त अनेक प्रकारकी मालाएँ और कर्णफूल आदि अनेक प्रकारके कर्णाभरण अधिक रूपसे धारण करते हैं ॥४२॥ दीपांग नामके कल्पवृक्ष मणिमय दीपकोंसे शोभायमान रहते हैं और प्रकाशमान कान्तिके धारक ज्योतिरंग जातिके वृक्ष सदा प्रकाश फैलाते रहते हैं ॥४३॥ गृहांग जातिके कल्पवृक्ष, ऊँचे-ऊँचे राजभवन, मण्डप, सभागृह, चित्रशाला और नृत्यशाला आदि अनेक प्रकारके भवन तैयार करनेके लिए समर्थ

---

१ स्वीकृत । २ उत्तरकुरु । ३ भाजन । ४. बहुल । ५ तरुसम्बन्धी । ६ मद्यपायिभि. । ७ –मन्तःकरणमोहनम् द०, स०, प० ।–मन्तस्करणमोहदम् अ० । ८–.तालझल्लरी–प० । पटहान्मर्दलं तालझल्लरी अ०। ९. जयघण्टा । १० नूपुरम् । रुचकं कुण्डलं ग्रीवाभरण वा । 'रुचकं मङ्गलद्रव्ये ग्रीवाभरणदन्तयोः' इत्यभिधानात् । ११ वेष्टकं रशना । १२.–मुकुट–अ०, प०, स० । १३ अनेकधा । १४. सदा द्योतिं वितन्वन्ति अ०, स० । सदोद्योतमातन्वन्ति प०, द०, म० । १५. कर्तुम् ।

भोजनाङ्गा वराहारानमृतस्वाददायिनः । [1]वपुष्करान् फलन्त्यात्तषड्रसानशनादिकान् ॥४५॥
अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं चान्नं[2] चतुर्विधम् । [3]कट्वम्लतिक्तमधुरकषायलवणा रसाः ॥४६॥
स्थालानि[4] चषकान्[5] शुक्ति[6]भृङ्गारकरकादिकान् । भाजनाङ्गा दिशन्त्याविर्भवच्छाखाविषङ्गिण[7] ॥४७॥
चीनपट्टदुकूलानि [8]प्रावारपरिधानकम्[9] । मृदुश्लक्ष्णमहार्घाणि[10] वस्त्राङ्गा दधति द्रुमाः ॥४८॥
न वनस्पतयोऽप्येते नैव [11]दिव्यैरधिष्ठिताः[12] । केवलं पृथिवीसारा[13]स्तन्मयत्वमुपागताः[14] ॥४९॥
अनादिनिधनाश्चैते निसर्गात् फलदायिनः । नहि[15] भावस्वभावानामुपालम्भः[16] सुसङ्गतः[17] ॥५०॥
नृणां दानफलादेते फलन्ति विपुलं फलम् । [18]यथान्यपादपाः काले प्राणिनामुपकारकाः ॥५१॥
सर्वरत्नमयं यत्र धरणीतलमुज्ज्वलैः । प्रसूनैः सोपहारत्वात् मुच्यते जातु न श्रिया ॥५२॥
यत्र तृण्या[19] महीपृष्ठं चतुरङ्गुलसंमिता । शुकच्छायांशुकेनेव प्रच्छादयति हारिणी ॥५३॥
मृगाश्चरन्ति[20] यत्रत्याः[21] कोमलास्तृणसंपदः । [22]स्वाद्वीर्मृदयसीर्हृद्या[23] रसायनरसास्थया ॥५४॥

रहते हैं ॥४४॥ भोजनांग जातिके वृक्ष, अमृतके समान स्वाद देनेवाले, शरीरको पुष्ट करनेवाले और छहों रससहित अशन-पान आदि उत्तम-उत्तम आहार उत्पन्न करते हैं ॥४५॥ अशन (रोटी, दाल, भात आदि खानेके पदार्थ), पानक (दूध, पानी आदि पीनेके पदार्थ), खाद्य (लड्डू आदि खाने योग्य पदार्थ) और स्वाद्य (पान, सुपारी, जावित्री आदि स्वाद लेने योग्य पदार्थ) ये चार प्रकारके आहार और कड़वा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कसैला और खारा ये छह प्रकारके रस हैं ॥४६॥ भाजनांग जातिके वृक्ष थाली, कटोरा, सीपके आकारके बरतन, भृंगार और करक (करवा) आदि अनेक प्रकारके बरतन देते हैं। ये बरतन इन वृक्षोंकी शाखाओंमें लटकते रहते हैं ॥४७॥ और वस्त्रांग जातिके वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुपट्टे और धोती आदि अनेक प्रकारके कोमल, चिकने और महामूल्य वस्त्र धारण करते हैं ॥४८॥ ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित ही हैं। केवल, वृक्षके आकार परिणत हुआ पृथ्वीका सार ही हैं ॥४९॥ ये सभी वृक्ष अनादिनिधन हैं और स्वभावसे ही फल देनेवाले हैं। इन वृक्षोंका यह ऐसा स्वभाव ही है इसलिए 'ये वृक्ष वस्त्र तथा बरतन आदि कैसे देते होंगे, इस प्रकार कुतर्क कर इनके स्वभावमें दूषण लगाना उचित नहीं है। भावार्थ—पदार्थोंके स्वभाव अनेक प्रकारके होते हैं इसलिए उनमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि कहा भी है, 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' अर्थात् स्वभाव तर्कका विषय नहीं है ॥५०॥ जिस प्रकार आजकलके अन्य वृक्ष अपने-अपने फलनेका समय आनेपर अनेक प्रकारके फल देकर प्राणियोंका उपकार करते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्योंके दानके फलसे अनेक प्रकारके फल फलते हुए वहाँके प्राणियोंका उपकार करते हैं ॥५१॥ जहाँकी पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है और उसपर उज्ज्वल फूलोंका उपहार पड़ा रहता है इसलिए उसे शोभा कभी छोड़ती ही नहीं है ॥५२॥ जहाँकी भूमिपर हमेशा चार अंगुल प्रमाण मनोहर घास लहलहाती रहती है जिससे ऐसा मालूम होता है कि मानो हरे रंगके वस्त्रसे भूपृष्ठको ढक रही हो अर्थात् जमीनपर हरे रंगका कपड़ा बिछा हो ॥५३॥ जहाँके पशु

---

१. पुष्टिकरान् । २. चान्धश्चतुर्विधम् प०, स०, म० । चाद्य चतुर्विधम् अ० । ३ कट्वाम्ल–म०, ल० ४.–भोजनभाजनानि । ५ पानपात्र । ६ शुक्तो प० । शुक्तीन् अ०, स०,द० । ७. ससक्तान् । ८. उत्तरीयवस्त्र । ९. अधोऽशुक । १० महामूल्यानि । ११ देवै–म०, ल० । १२. स्थापिता । १३. पृथिवीसारस्तन्मयत्व–ब०, अ०, प०, म०, म०, द०, ल० । १४. –मुपागत ब०, अ०, प०, स०, द० । १५. पदार्थ । १६. दूषणम् । १७. मनोज्ञः । १८. यथाद्य अ०,प०,स०,द० । १९ वनसंहतिः । २०. भक्षयन्ति । २१. यत्र भवाः । तत्रत्याः अ०, स० । २२. अतिशयेन रुच्या । २३. अमृतरसबुद्धया ।

सोत्पला दीर्घिका यत्र विदलत्कनकाम्बुजाः। हंसानां कलमन्द्रेण विरुतेन मनोहराः ॥५५॥
सरांस्युत्फुल्लपद्मानि वनमुन्मत्तकोकिलम्। क्रीडाद्रयश्च रुचिरा सन्ति यत्र पदे पदे ॥५६॥
यत्राधूय तरून्मन्दमावाति मृदुमारुतः। पटवासमिवातन्वन् मकरन्दरजोऽमितः ॥५७॥
यत्र गन्धवहाधूतैराकीर्णा पुष्परेणुभिः। वसुधा राजते पीतक्षौमेणेवावकुण्ठिता ॥५८॥
यत्रामोदितदिग्भागैः मरुद्भिः पुष्पजं रजः। नभसि श्रियमाधत्ते वितानस्याभितो हृतम् ॥५९॥
यत्र नातपसंबाधा न वृष्टिर्न हिमादयः। नेतयो दन्दशूका वा प्राणिनां भयहेतवः ॥६०॥
न ज्योत्स्ना नाप्यहोरात्रविभागो नर्तुसंक्रमः। नित्यैकवृत्तयो भावा यत्रैषां सुखहेतवः ॥६१॥
वनानि नित्यपुष्पाणि नलिन्यो नित्यपङ्कजाः। यत्र नित्यसुखा देशा रत्नपांसुभिराचिताः ॥६२॥
यत्रोत्पन्नवतां दिव्यमङ्गुल्याहारमुद्रसम्। वदन्त्युत्तानशय्यायामासप्ताहव्यतिक्रमात् ॥६३॥
ततो देशान्तरं तेषामामनन्ति मनीषिणः। दम्पतीनां महीरङ्गरिङ्गिणां दिनसप्तकम् ॥६४॥
सप्ताहेन परेणाथ प्रोत्थाय कलभाषिणः। स्खलद्गति सहेलं च संचरन्ति महीतले ॥६५॥
ततः स्थिरपदन्यासैर्व्रजन्ति दिनसप्तकम्। कलाज्ञानेन सप्ताहं निर्विशन्ति गुणैश्च ते ॥६६॥
परेण सप्तरात्रेण सम्पूर्णनवयौवनाः। लसदंशुकसद्भूषा जायन्ते भोगभागिनः ॥६७॥

स्वादिष्ट, कोमल और मनोहर तृणरूपी सम्पत्तिको रसायन समझकर बड़े हर्षसे चरा करते हैं ॥५४॥ जहाँ अनेक वापिकाएँ हैं जो कमलोंसे सहित हैं, उनमें सुवर्णके समान पीले कमल फूल रहे हैं और जो हंसोंके मधुर तथा गम्भीर शब्दोंसे अतिशय मनोहर जान पड़ती है ॥५५॥ जहाँ जगह-जगहपर फूले हुए कमलोंसे सुशोभित तालाब, उन्मत्त कोकिलाओंसे भरे हुए वन और सुन्दर क्रीड़ापर्वत हैं ॥५६॥ जहाँ कोमल वायु वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बहता रहता है। वह वायु बहते समय सब ओर कमलोंकी परागको उड़ाता रहता है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो सब ओर सुगन्धित चूर्ण ही फैला रहा हो ॥ ५७ ॥ जहाँ वायुके द्वारा उड़कर आये हुए पुष्पपरागसे ढकी हुई पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही है मानो पीले रंगके रेशमी वस्त्रसे ढकी हो ॥ ५८ ॥ जहाँ दशों दिशाओंमें वायुके द्वारा उड़-उड़कर आकाशमें इकट्ठा हुआ पुष्पपराग सब ओरसे तने हुए चँदोवाकी शोभा धारण करता है ॥ ५९ ॥ जहाँ न गरमीका क्लेश होता है, न पानी बरसता है, न तुषार आदि पड़ता है, न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ हैं और न प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाले साँप, बिच्छू, खटमल आदि दुष्ट जन्तु ही हुआ करते हैं ॥६०॥ जहाँ न चाँदनी है, न रात-दिनका विभाग और न ऋतुओंका परिवर्तन ही है, जहाँ सुख देनेवाले सब पदार्थ सदा एक-से रहते हैं ॥६१॥ जहाँके वन सदा फूलोंसे युक्त रहते हैं, कमलिनियोंमें सदा कमल लगे रहते हैं, और रत्नकी धूलिसे व्याप्त हुए देश सदा सुखी रहते हैं ॥ ६२ ॥ जहाँ उत्पन्न हुए आर्य लोग प्रथम सात दिन तक अपनी शय्यापर चित्त पड़े रहते हैं। उस समय आचार्योंने हाथका रसीला अगूठा चूसना ही उनका दिव्य आहार बतलाया है ॥६३॥ तत्पश्चात् विद्वानोंका मत है कि वे दोनों दम्पती द्वितीय सप्ताहमें पृथ्वीरूपी रंगभूमिमें घुटनोंके बल चलते हुए एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जाने लगते हैं ॥ ६४ ॥ तदनन्तर तीसरे सप्ताहमें वे खड़े होकर अस्पष्ट किन्तु मीठी-मीठी बातें कहने लगते हैं और गिरते-पड़ते खेलते हुए जमीनपर चलने लगते हैं ॥६५॥ फिर चौथे सप्ताहमें अपने पैर स्थिरतासे रखते हुए चलने लगते हैं तथा पाँचवें सप्ताहमें अनेक कलाओं और गुणोंसे सहित हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ छठे सप्ताहमें पूर्ण जवान हो जाते हैं और सातवें सप्ताहमें अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर भोग भोगनेवाले

---

१. वासचूर्णम्। २ स्वर्णवर्णपट्टवस्त्रेण। ३ आच्छादिता। –गुण्ठिता अ०, प०, स०, द०। ४. पदार्थाः। ५. उद्गतरसम्। ६. अनुभवन्ति।

नवमासं स्थिता गर्भे रत्नगर्भगृहोपमे। यत्र दम्पतितामेत्य जायन्ते दानिनो नरा: ॥६८॥
यदा दम्पतिसंभूतिर्जनयित्रो[1] परासुता। तदैव यत्र पुत्रादिसंकल्पो यत्र देहिनाम् ॥६९॥
क्षुत[2] जृम्भितमात्रेण यत्राहुर्मृतिमङ्गिनाम्। स्वभावमार्दवाद् यान्ति दिवमेव यदुद्भवा. ॥७०॥
देहोच्छ्रायं नृणां यत्र नानालक्षणसुन्दरम्। धनुषां षट्सहस्राणि [3]विवृण्वन्त्याप्तसूक्तयः ॥७१॥
पल्यत्रयमितं यत्र देहिनामायुरिष्यते। दिनत्रयेण चाहारः [4]कुवलीफलमात्रकः ॥७२॥
[5]यद्भुवां न जरातङ्का न वियोगो न शोचनम्। नानिष्टसंप्रयोगश्च न चिन्ता दैन्यमेव च ॥७३॥
न निद्रा नातितन्द्राण[6] नाप्युन्मेषनिमेषणम्। न शारीरमलं यत्र न लालास्वेदसंभव: ॥७४॥
न यत्र विरहोन्मादो न यत्र मदनज्वर.। न यत्र खण्डना भोगे सुखं यत्र निरन्तरम् ॥७५॥
न विषादो भयं ग्लानि[7]र्नारुचि. कुपितं च[8] न। न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नाबल ॥७६॥
[9]बालार्कसमनिर्भासा नि:स्वेदा नीरजोऽम्बरा। यत्र पुण्योदयान्नित्यं रंरम्यन्ते नरा. सुखम् ॥७७॥
दशाङ्गतरुसंभूतभोगानुभवनोद्भवम्। सुख यत्रातिशेते तां चक्रिणो भोगसंपदम् ॥७८॥
यत्र दीर्घायुषां नृणां नाकाण्डे[10] मृत्युसंभव। निरुपद्रवमायु. स्वं जीवन्त्युक्तप्रमाणकम् ॥७९॥

हो जाते हैं ॥६७॥ पूर्वभवमें दान देनेवाले मनुष्य ही जहाँ उत्पन्न होते हैं। वे उत्पन्न होनेके पहले नौ माह तक गर्भमें इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि कोई रत्नोंके महलमें रहता है। उन्हें गर्भमें कुछ भी दुःख नहीं होता। और स्त्री-पुरुष साथ-साथ ही पैदा होते हैं। वे दोनों स्त्री-पुरुष दम्पतिपनेको प्राप्त होकर ही रहते हैं ॥६८॥ चूँकि वहाँ जिस समय दम्पतिका जन्म होता है उसी समय उनके माता-पिताका देहान्त हो जाता है इसलिए वहाँके जीवोंमें पुत्र आदिका संकल्प नहीं होता ॥६९॥ जहाँ केवल छींक और जँभाई लेने मात्रसे ही प्राणियोंकी मृत्यु हो जाती है अर्थात् अन्त समयमें माताको छींक और पुरुषको जँभाई आती है। जहाँ उत्पन्न होनेवाले जीव स्वभावसे कोमलपरिणामी होनेके कारण स्वर्गको ही जाते हैं ७०॥ जहाँ उत्पन्न होनेवाले लोगोंका शरीर अनेक लक्षणोंसे सुशोभित तथा छह हजार धनुष ऊँचा होता है ऐसा आप्त-प्रणीत आगम स्पष्ट वर्णन करते हैं॥ ७१॥ जहाँ जीवोंकी आयु तीन पल्य प्रमाण होती है और आहार तीन दिनके बाद होता है, वह भी वदरीफल (छोटे बेरके) बराबर॥ ७२॥ जहाँ उत्पन्न हुए जीवोंके न बुढ़ापा आता है, न रोग होता है, न विरह होता है, न शोक होता है, न अनिष्टका संयोग होता है, न चिन्ता होती है, न दीनता होती है, न नींद आती है, न आलस्य आता है, न नेत्रोंके पलक झपते हैं, न शरीरमें मल होता है, न लार बहती है और न पसीना ही आता है॥ ७३-७४॥ जहाँ न विरहका उन्माद है, न कामज्वर है, न भोगोंका विच्छेद है किन्तु निरन्तर सुख-ही-सुख रहता है॥ ७५॥ जहाँ न विषाद है, न भय है, न ग्लानि है, न अरुचि है, न क्रोध है, न कृपणता है, न अनाचार है, न कोई बलवान् है और न कोई निर्बल है ॥७६॥ जहाँके मनुष्य बालसूर्यके समान देदीप्यमान, पसीनारहित और स्वच्छ वस्त्रोंके धारक होते हैं तथा पुण्यके उदयसे सदा सुखपूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं ॥७७॥ जहाँ दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए भोगोंके अनुभव करनेसे उत्पन्न हुआ सुख चक्रवर्तीकी भोग-सम्पदाओंका भी उल्लंघन करता है अर्थात् वहाँके जीव चक्रवर्तीकी अपेक्षा अधिक सुखी रहते हैं ॥७८॥ जहाँ मनुष्य बड़ी लम्बी आयुके धारक होते हैं उनकी असमयमें मृत्यु नहीं होती। वे अपनी तीन पल्य प्रमाण आयु तक निर्विघ्न रूपसे जीवित रहते हैं॥ ७९॥

---

१. जननीजनकयो। २. जृम्भण। ३. विवरणं कुर्वन्ति। ४. वदरम्। ५. यत्रोत्पन्नानाम्। ६. तन्द्रा। ७. हर्षक्षय। ८. कोप: ९. तरुणार्कसदृशशरीरच। १० अकाले।

सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदया. । सर्वे सर्वर्तुजान् भोगान् यत्र [1]विन्दन्त्यनामयाः ॥८०॥
सर्वेऽपि सुन्दराकारा सर्वे वज्रास्थिबन्धना. । सर्वे चिरायुष. कान्त्या गीर्वाणा इव यन्नुव. [2] ॥८१॥
यत्र कल्पतरुच्छायामुपेत्य ललितस्मितौ । दम्पती गीतवादित्रै रमेते[3] सततोत्सवै ॥८२॥
कलाकुशलता कल्य[4]देहत्वं कलकण्ठता[5] । मात्सर्येर्ष्यादिवैकल्यमपि यत्र निसर्गजम् ॥८३॥
स्वभावसुन्दराकारा स्वभावललितेहिता[6] । स्वभावमधुरालापा मोदन्ते यत्र देहिन ॥८४॥
दानाद् दानानुमोदाद् वा यत्र पात्रसमाश्रिताद् । प्राणिन सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः ॥८५॥
कुदृष्टयो व्रतैर्हीना केवलं भोगकाङ्क्षिण । दत्वा दानान्यपात्रेषु तिर्यक्त्वं यत्र यान्त्यमी ॥८६॥
कुशीला कुत्सिताचारा कुवेषा दुरुपोषिता । मायाचाराश्च जायन्ते मृगा यत्र व्रतच्युता. ॥८७॥
[7]मिथुनं मिथुनं तेषां मृगाणामपि जायते । न मिथोऽस्ति विरोधो[8] वा [9]वैरं [10]वैरस्यमेव वा ॥८८॥
इत्यत्यन्तसुखे तस्मिन् क्षेत्रे पात्रप्रदानत । श्रीमती वज्रजङ्घश्च दम्पतित्वमुपेयतु ॥८९॥
प्रागुक्ताश्च मृगा जन्म भेजुस्तत्रैव भद्रका । पात्रदानानुमोदेन दिव्यं मानुष्यमाश्रिता ॥९०॥
तथा मतिवराद्याश्च तद्वियोगाद् गताः शुचम् । दृढधर्मान्तिके दीक्षां जैनीमाशिश्रियन् पराम् ॥९१॥
ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राचारसंपदम् । समाराध्य यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषु ॥९२॥

जहाँ सब जीव समान रूपसे भोगोंका अनुभव करते हैं, सबके एक समान सुखका उदय होता है, सभी नीरोग रहकर छहों ऋतुओंके भोगोपभोग प्राप्त करते हैं ॥८०॥ जहाँ उत्पन्न हुए सभी जीव सुन्दर आकारके धारक हैं, सभी वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित हैं, सभी दीर्घ आयुके धारक हैं और सभी कान्तिसे देवोंके समान हैं ॥८१॥ जहाँ स्त्री-पुरुष कल्पवृक्षकी छायामें जाकर लीलापूर्वक मन्द-मन्द हँसते हुए, गाना-बजाना आदि उत्सवोंसे सदा क्रीड़ा करते रहते हैं ॥८२॥ जहाँ कलाओंमें कुशल होना, स्वर्गके समान सुन्दर शरीर प्राप्त होना, मधुर कण्ठ होना और मात्सर्य, ईर्ष्या आदि दोषोंका अभाव होना आदि बातें स्वभावसे ही होती हैं ॥८३॥ जहाँके जीव स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाले, स्वभावसे ही मनोहर चेष्टाओंवाले और स्वभावसे ही मधुर वचन बोलनेवाले होते हैं। इस प्रकार वे सदा प्रसन्न रहते हैं ॥८४॥ उत्तम पात्रके लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दानकी अनुमोदना करनेसे जीव जिस भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और जीवनपर्यन्त नीरोग रहकर सुखसे बढ़ते रहते हैं ॥८५॥ जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, व्रतोंसे हीन हैं और केवल भोगोंके अभिलाषी हैं वे अपात्रोंमें दान देकर वहाँ तिर्यञ्च पर्यायको प्राप्त होते हैं ॥८६॥ जो जीव कुशील हैं—खोटे स्वभावके धारक हैं, मिथ्या आचारके पालक हैं, कुवेषी हैं, मिथ्या उपवास करनेवाले हैं, मायाचारी हैं और व्रतभ्रष्ट हैं वे जिस भोगभूमिमें हरिण आदि पशु होते हैं ॥८७॥ और जहाँ पशुओंके युगल भी आनन्दसे क्रीड़ा करते हैं। उनके परस्परमें न विरोध होता है न वैर होता है और न उनका जीवन ही नीरस होता है ॥८८॥ इस प्रकार अत्यन्त सुखोंसे भरे हुए उस उत्तरकुरुक्षेत्रमें पात्रदानके प्रभावसे वे दोनों श्रीमती और वज्रजंघ दम्पती अवस्थाको प्राप्त हुए—स्त्री और पुरुषरूपसे उत्पन्न हुए ॥८९॥ जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे नकुल, सिंह, वानर और शूकर भी पात्रदानकी अनुमोदनाके प्रभावसे वहींपर दिव्य मनुष्यशरीरको पाकर भद्र-परिणामी आर्य हुए ॥९०॥ इधर मतिवर, आनन्द, धनमित्र और अकम्पन ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजंघके विरहसे भारी शोकको प्राप्त हुए और अन्तमें चारोंने ही श्रीदृढधर्म नामके आचार्यके समीप उत्कृष्ट जिनदीक्षा धारण कर ली ॥९१॥ और चारों ही सम्यग्दर्शन,

---

१ लभन्ते । 'विदुङ् लाभे' । २ यत्रोत्पन्नाः । ३. रेमाते अ०, प०, द०, स०, म० । ४. निरामय । कल्पदेहत्व अ०, प०, द०, स० । ५. मनोज्ञकण्ठत्वम् । ६. चेष्टा । ७. मैथुनं मि-स०, द०, ल० । ८ वध्य-वधकादिभाव । ९ मानसिको द्वेष. । १० रसक्षय ।

अधो ग्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिन्द्रताम् । प्रापुस्तपोऽनुभावेन तपो हि फलतीप्सितम् ॥९३॥
[1]अथातो वज्रजङ्घार्यः कान्तया सममेकदा । कल्पपादपजां लक्ष्मीमीक्षमाणः क्षणं स्थितः ॥९४॥
सूर्यप्रभस्य देवस्य नभोयायि विमानकम् । दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा प्रबुद्धः प्रियया समम् ॥९५॥
तावच्चारणयोर्युग्मं दूरादागच्छदैक्षत । तं च तावनुगृह्णन्तौ व्योम्नः [2]समवतेरतुः ॥९६॥
दृष्ट्वा तौ सहसास्यासीदभ्युत्थानादिसंभ्रमः । संस्काराः प्राक्तना नूनं प्रेरयन्त्यङ्गिनो हिते ॥९७॥
अभ्युत्तिष्ठन्नसौ रेजे मुनीन्द्रौ सह कान्तया । नलिन्या दिवसः सूर्यप्रतिसूर्याविवोद्गतौ[3] ॥९८॥
तयोरधिपदद्वन्द्वं[4] दत्तार्घः प्रणनाम सः । आनन्दाश्रुलवैः सान्द्रैः क्षालयन्निव तत्क्रमौ ॥९९॥
तावाशीभिरथाश्वास्य प्रणतं प्रमदान्वितम् । [5]यती समुचितं देशमध्यासीनौ यथाक्रमम् ॥१००॥
ततः सुखोपविष्टौ तौ सोऽपृच्छदिति चारणौ । लसद्दन्तांशुसंतानैः पुष्पाञ्जलिमिवाकिरन् ॥१०१॥
भगवन्तौ युवां [6]क्वत्यौ [7]कुतस्त्यौ किं नु कारणम् । युष्मदागमने ब्रूतमिदमेतत्तथाद्य[8] मे ॥१०२॥
युष्मत्संदर्शनाज्जातसौहार्दं मम मानसम् । प्रसीदति किमु ज्ञातपूर्वौ[9] [10]ज्ञाती युवां मम ॥१०३॥

सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी सम्पदाकी आराधना कर अपनी-अपनी आयुके अनुसार स्वर्गलोक गये ॥९२॥ वहाँ तपके प्रभावसे अधोग्रैवेयकके सबसे नीचेके विमानमें (पहले ग्रैवेयकमें) अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए। सो ठीक ही है। तप सबके अभीष्ट फलोंको फलता है ॥९३॥

अनन्तर एक समय वज्रजंघ आर्य अपनी स्त्रीके साथ कल्पवृक्षकी शोभा निहारता हुआ क्षण-भर बैठा ही था ॥९४॥ कि इतनेमें आकाशमें जाते हुए सूर्यप्रभ देवके विमानको देखकर उसे अपनी स्त्रीके साथ-साथ ही जातिस्मरण हो गया और उसी क्षण दोनोंको संसारके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो गया ॥९५॥ उसी समय वज्रजंघके जीवने दूरसे आते हुए दो चारण मुनि देखे। वे मुनि भी उसपर अनुग्रह करते हुए आकाशमार्गसे उतर पड़े ॥९६॥ वज्रजंघका जीव उन्हें आता हुआ देखकर शीघ्र ही खड़ा हो गया। सच है, पूर्व जन्मके संस्कार ही जीवोंको हित-कार्यमें प्रेरित करते रहते हैं ॥९७॥ दोनों मुनियोंके समक्ष अपनी स्त्रीके साथ खड़ा होता हुआ वज्रजंघका जीव ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे उदित होते हुए सूर्य और प्रतिसूर्यके समक्ष कमलिनीके साथ दिन शोभायमान होता है ॥९८॥ वज्रजंघके जीवने दोनों मुनियोंके चरणयुगलमें अर्घ चढ़ाया और नमस्कार किया। उस समय उसके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकल-निकल कर मुनिराजके चरणोंपर पड़ रहे थे जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो अश्रुजलसे उनके चरणोंका प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥९९॥ वे दोनों मुनि स्त्रीके साथ प्रणाम करते हुए आर्य वज्रजंघको आशीर्वाद-द्वारा आश्वासन देकर मुनियोंके योग्य स्थानपर यथाक्रम बैठ गये ॥१००॥ तदनन्तर सुखपूर्वक बैठे हुए दोनों चारण मुनियोंसे वज्रजंघ नीचे लिखे अनुसार पूछने लगा। पूछते समय उसके मुखसे दाँतोंकी किरणोंका समूह निकल रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रहा हो ॥१०१॥ वह बोला—हे भगवन्, आप कहाँके रहनेवाले हैं? आप कहाँसे आये हैं और आपके आनेका क्या कारण है? यह सब आज मुझसे कहिए ॥१०२॥ हे प्रभो, आपके दर्शनसे मेरे हृदयमें मित्रताका भाव उमड़ रहा है, चित्त बहुत ही प्रसन्न हो रहा है और मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानो आप मेरे परि-

१. अनन्तरम् । २. अवतरत स्म । ३.–विवोन्नतौ प० । ४ पदयुगले । ५. यते म०, ल० । ६. क्व भवौ । ७. कुत आगतौ । 'क्वेहामातस्त्रात् त्यच्' इति यथाक्रमं भवार्थे आगतार्थे च त्यच्प्रत्ययः । ८ प्रत्यक्षतया । –मेतत्तथाद्य मे म० ल० । ९. पूर्वस्मिन् ज्ञातौ । १०. बन्धू ।

इति प्रश्नावसानेऽस्य मुनिर्ज्यायानभाषत । दशनांशुजलोत्पीडै[1] क्षालयन्निव तत्तनुम् ॥१०४॥
त्वं विद्धि मां स्वयम्बुद्धं यतो[2]ऽबुद्धाः प्रबुद्धधीः । महाबलभवे जैनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्[3] ॥१०५॥
त्वद्वियोगादहं जातनिर्वेदो बोधमाश्रितः । दीक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः ॥१०६॥
स्वयंप्रभविमानेऽग्रे मणिचूलाह्वयः सुरः । साधिकाब्ध्युपमायुष्कः ततश्च्युत्वा भुवं श्रितः ॥१०७॥
जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्मिन् विदेहे पौष्कलावते[4] । नगर्यां पुण्डरीकिण्यां प्रियसेनमहीभृतः ॥१०८॥
सुन्दर्याश्च सुतोऽभूवं ज्यायान् प्रीतिंकराह्वयः । प्रीतिदेवः कनीयान् मे मुनिरेष महातपाः ॥१०९॥
स्वयम्प्रभजिनोपान्ते दीक्षित्वा चावयोस्त्वहि । सावधिज्ञानमाकाशचारणत्वं तपोबलात् ॥११०॥
बुद्ध्वाऽवधिमयं चक्षुर्व्यापार्या[5]र्जयसंगतम्[6] । [7]त्वामार्यमिह सम्भूतं प्रबोधयितुमागतौ ॥१११॥
[8]विद्धार्य[9] कुरुष्वार्य पात्रदानविशेषतः । समुत्पन्नमिहात्मानं विशुद्धाद् दर्शनाद् विना ॥११२॥
महाबलभवेऽस्मत्तो बुद्ध्वा त्यक्ततनुस्थितिः । नालब्ध[10] दर्शने शुद्धिं भोगकाङ्क्षानुबन्धतः ॥११३॥
तस्मात्ते दर्शनं सम्यग्विशेषणमनुत्तरम् । आयातौ दातुकामौ स्व[11] स्वर्मोक्षसुखसाधनम् ॥११४॥
तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते । काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम् ॥११५॥
देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि । [12]अन्तःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धकृत्[13] [दृक्]॥११६॥

चित बन्धु है ॥१०३॥ इस प्रकार वज्रजंघका प्रश्न समाप्त होते ही ज्येष्ठ मुनि अपने दाँतोंकी किरणोंरूपी जलके समूहसे उसके शरीरका प्रक्षालन करते हुए नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१०४॥ हे आर्य, तू मुझे स्वयम्बुद्ध मन्त्रीका जीव जान, जिससे कि तूने महाबलके भवमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर कर्मोंका क्षय करनेवाले जैनधर्मका ज्ञान प्राप्त किया था ॥१०५॥ उस भवमें तेरे वियोगसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर मैंने दीक्षा धारण की थी और आयुके अन्तमें संन्यास-पूर्वक शरीर छोड़ सौधर्म स्वर्गके स्वयम्प्रभ विमानमें मणिचूल नामका देव हुआ था। वहाँ मेरी आयु एक सागरसे कुछ अधिक थी। तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर भूलोकमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥१०६-१०७॥ जम्बू द्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें स्थित पुष्कलावती देशसम्बन्धी पुण्डरीकिणी नगरीमें प्रियसेन राजा और उनकी महाराज्ञी सुन्दरी देवीके प्रीतिंकर नामका बड़ा पुत्र हुआ हूँ और यह महातपस्वी प्रीतिदेव मेरा छोटा भाई है ॥१०८-१०९॥ हम दोनों भाइयोंने भी स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर तपोबलसे अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी चारण ऋद्धि प्राप्त की है ॥११०॥ हे आर्य, हम दोनोंने अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे जाना है कि आप यहाँ उत्पन्न हुए हैं। चूँकि आप हमारे परम मित्र थे इसलिए आपको समझानेके लिए हम लोग यहाँ आये हैं ॥१११॥ हे आर्य, तू निर्मल सम्यग्दर्शनके बिना केवल पात्रदानकी विशेषतासे ही यहाँ उत्पन्न हुआ है यह निश्चय समझ ॥११२॥ महाबलके भवमें तूने हमसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त कर शरीर छोड़ा था परन्तु उस समय भोगोंकी आकांक्षाके वशसे तू सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताको प्राप्त नहीं कर सका था ॥११३॥ अब हम दोनों, सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग और मोक्षसम्बन्धी सुखके प्रधान कारणरूप सम्यग्दर्शनको देनेकी इच्छासे यहाँ आये हैं ॥११४॥ इसलिए हे आर्य, आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर। उसके ग्रहण करनेका यह समय है क्योंकि काललब्धिके बिना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥११५॥ जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरङ्ग कारण तथा करणलब्धिरूप अन्तरङ्ग कारण सामग्रीकी प्राप्ति होती है तभी

१ प्रवाहैः। २ बुद्धया अ०। ३ विनाशकम्। ४. पुष्कलावत्या अयं पौष्कलावत तस्मिन्। ५. अविनाशितसंगमम्। ६ –संगत अ०, प०। ७ त्वामावामिह ल०, अ०। ८ विद्धि। ९. भोगभूमिषु। १०. नालब्धो– म०, ल०। ११. भवावः। १२. अभ्यन्तःकरण। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यभिधानात्। १३ विशुद्धदृक् ब०, अ०, प०, द०, स०, म०, ल०।

शमाद् दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः[1] । जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलङ्ककलि[2]लात्मनः ॥११७॥
यथा पित्तोदयोद्भ्रान्तस्वान्तवृत्तेस्तदत्ययात् । यथार्थदर्शनं तद्वदन्तर्मोहोपशान्तितः ॥११८॥
अनिर्धूय तमो नैशं[3] तथा नोदयतेऽंशुमान् । तथानुद्भिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनम् ॥११९॥
त्रिधा[4] विपाट्य मिथ्यात्वप्रकृतिं करणैस्त्रिभिः । भव्यात्मा ह्रासयन् कर्मस्थितिं सम्यक्त्वभाग् भवेत्॥१२०॥
आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले[5] ज्ञानचेष्टिते[6] ॥१२१॥
[7]आत्मादिमुक्तिपर्यन्ततत्त्वश्रद्धानमञ्जसा । त्रिभिर्मूढैरनालीढमष्टाङ्गं विद्धि दर्शनम् ॥१२२॥
तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकम्पनम् । गुणाः श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥१२३॥
तस्य निःशङ्कितत्वादीन्यष्टावङ्गानि निश्चिनु । यैरंशुभिरिवाभाति रत्नं सद्दर्शनाह्वयम् ॥१२४॥
शङ्कां जहीहि सन्मार्गे भोगकाङ्क्षामपाकुरु । [8]विचिकित्साद्वयं हित्वा भजस्वामूढदृष्टिताम् ॥१२५॥
कुरूपबृंहणं धर्मे मलस्थाननिगूहनैः । मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर ॥१२६॥
रत्नत्रितयवत्यार्यसङ्घे वात्सल्यमातनु । विधेहि शासने जैने यथाशक्ति प्रभावनाम् ॥१२७॥
देवतालोकपाषण्डव्यामोहांश्च समुत्सृज । मोहान्धो हि जनस्तत्त्वं पश्यन्नपि न पश्यति ॥१२८॥

यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है ॥११६॥ जिस जीवका आत्मा अनादिकालसे लगे हुए मिथ्यात्वरूपी कलंकसे दूषित हो रहा है, उस जीवको सबसे पहले दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे औपशमिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥११७॥ जिस प्रकार पित्तके उदयसे उद्भ्रान्त हुई चित्तवृत्तिका अभाव होनेपर क्षीर आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान होने लगता है उसी प्रकार अन्तरङ्ग कारणरूप मोहनीय कर्मका उपशम होनेपर जीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान होने लगता है ॥११८॥ जिस प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको दूर किये विना उदित नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको दूर किये विना उदित नहीं होता—प्राप्त नहीं होता ॥११९॥ यह भव्य जीव, अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों-द्वारा मिथ्यात्वप्रकृतिके मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप तीन खण्ड करके कर्मोंकी स्थिति कम करता हुआ सम्यग्दृष्टि होता है ॥१२०॥ वीतराग सर्वज्ञ देव, आप्तोपज्ञ, आगम और जीवादि पदार्थोंका बड़ी निष्ठासे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका मूल कारण है। इसके विना वे दोनों नहीं हो सकते ॥१२१॥ जीवादि सात तत्त्वोंका तीन मूढतारहित और आठ अंगसहित यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥१२२॥ प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा ये चार सम्यग्दर्शनके गुण हैं और श्रद्धा, रुचि, स्पर्श तथा प्रत्यय ये उसके 'पर्याय है ॥१२३॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। इन आठ अंगरूपी किरणोंसे सम्यग्दर्शनरूपी रत्न बहुत ही शोभायमान होता है ॥ १२४॥ हे आर्य, तू इस श्रेष्ठ जैनमार्गमें शंकाको छोड़—किसी प्रकारका सन्देह मत कर, भोगोंकी इच्छा दूर कर, ग्लानिको छोड़कर अमूढदृष्टि (विवेकपूर्ण दृष्टि) को प्राप्त कर दोषके स्थानोंको छिपाकर समीचीन धर्मकी वृद्धि कर, मार्गसे विचलित होते हुए धर्मात्माका स्थितीकरण कर, रत्नत्रयके धारक आर्य पुरुषोंके संघमें प्रेमभावका विस्तार कर और जैन-शासनकी शक्तिके अनुसार प्रभावना कर ॥१२५-१२७॥ देवमूढता, लोकमूढता और

१. प्रथमोपशमसम्यक्त्वादानम् । २. दूषित । ३. निशाया इदम् । ४. मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतिभेदेन । ५. तद्दर्शनं मूलं कारणं ययोः । ६. ज्ञानचारित्रे । ७. जीवादिमोक्षपर्यन्तसप्ततत्त्वश्रद्धानम् । ८. स्वपराश्रयभेदेन द्वयम् ।

प्रतीहि धर्मसर्वस्वं दर्शनं चारुदर्शन[2] । तस्मिन्प्राप्ते[3] दुरापाणि[4] न सुखानीह देहिनाम् ॥१२९॥
लब्धं तेनैव सज्जन्म स कृतार्थः स पण्डितः । परिस्फुरति निर्व्याजं यस्य सद्दर्शनं हृदि ॥१३०॥
सिद्धिप्रसादसोपानं विद्धि दर्शनमग्रिमम् । दुर्गतिद्वाररोधि[5] कवाटपुटमूर्जितम् ॥१३१॥
स्थिरं धर्मतरोर्मूलं द्वारं स्वर्मोक्षवेश्मनः । शीलाभरणहारस्य तरलं[6] तरलोपमम्[7] ॥१३२॥
अलङ्करिष्णु रोचिष्णु रत्नसारमनुत्तरम् । सम्यक्त्वं हृदये धत्स्व मुक्तिश्रीहारविभ्रमम्[8] ॥१३३॥
सम्यग्दर्शनसद्रत्नं येनासादि[9] दुरासदम् । सोऽचिरान्मुक्तिपर्यन्तां[10] सुखवाप्तिमवाप्नुयात् ॥१३४॥
लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्तमपि पश्य यः । संसारलतिकां छित्त्वा कुरुते ह्रासिनीमसौ ॥१३५॥
सुदेवत्वसुमानुष्ये जन्मनी तस्य नेतरत् । दुर्जन्म जायते जातु हृदि यस्यास्ति दर्शनम् ॥१३६॥
किं वा बहुभिरालापैः श्लाघैवैवास्तु दर्शने । लब्धेन येन संसारो यात्यनन्तोऽपि सान्तताम् ॥१३७॥
तस्त्वं जैनेश्वरीमाज्ञामस्मद्वाक्यात् प्रमाणयन् । अनन्यशरणो भूत्वा प्रतिपद्यस्व दर्शनम् ॥१३८॥
उत्तमाङ्गमिवाङ्गेषु नेत्रद्वयमिवानने । मुक्त्यङ्गेषु प्रधानाङ्गमाहुः सद्दर्शनं विदुः ॥१३९॥

पाषण्ड, मूढता इन तीन मूढताओंको छोड़ क्योंकि मूढ़ताओंसे अन्धा हुआ प्राणी तत्त्वोंको देखता हुआ भी नहीं देखता ॥१२८॥ हे आर्य, पदार्थके ठीक-ठीक स्वरूपका दर्शन करनेवाले सम्यग्दर्शनको ही तू धर्मका सर्वस्व समझ, उस सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो चुकनेपर संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं रहता जो जीवोंको प्राप्त नहीं होता हो ॥१२९॥ इस संसारमें उसी पुरुषने श्रेष्ठ जन्म पाया है, वही कृतार्थ है और वही पण्डित है जिसके हृदयमें छलरहित-वास्तविक सम्यग्दर्शन प्रकाशमान रहता है ॥१३०॥ हे आर्य, तू यह निश्चित जान कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महलकी पहली सीढ़ी है। नरकादि दुर्गतियोंके द्वारको रोकनेवाले मजबूत किवाड़ हैं, धर्मरूपी वृक्षकी स्थिर जड़ है, स्वर्ग और मोक्षरूपी घरका द्वार है और शीलरूपी रत्नहारके मध्यमें लगा हुआ श्रेष्ठ रत्न है ॥१३१-१३२॥ यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अलंकृत करनेवाला है, स्वयं देदीप्यमान है, रत्नोंमें श्रेष्ठ है, सबसे उत्कृष्ट है और मुक्तिरूपी लक्ष्मीके हारके समान है। ऐसे इस सम्यग्दर्शनरूपी रत्नहारको हे भव्य, तू अपने हृदयमें धारण कर ॥१३३॥ जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्लभ इस सम्यग्दर्शनरूपी श्रेष्ठ रत्नको पा लिया है वह शीघ्र ही मोक्ष तकके सुखको पा लेता है ॥१३४॥ देखो, जो पुरुष एक मुहूर्तके लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है वह इस संसाररूपी बेलको काटकर बहुत ही छोटी कर देता है अर्थात् वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तनसे अधिक समय तक संसारमें नहीं रहता ॥१३५॥ जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन विद्यमान है वह उत्तम देव और उत्तम मनुष्य पर्यायमें ही उत्पन्न होता है। उसके नारकी और तिर्यञ्चोंके खोटे जन्म कभी भी नहीं होते ॥१३६॥ इस सम्यग्दर्शनके विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? इसकी तो यही प्रशंसा पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्त संसार भी सान्त (अन्तसहित) हो जाता है ॥१३७॥ हे आर्य, तू मेरे कहनेसे अर्हन्त देवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ अनन्यशरण होकर अन्य रागी द्वेषी देवताओंकी शरणमें न जाकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर ॥१३८॥ जिस प्रकार शरीरके हस्त, पाद आदि अंगोंमें मस्तक प्रधान है और मुखमें नेत्र प्रधान है उसी प्रकार मोक्षके समस्त अंगोंमें गण-

१ जानीहि। २ चारुदर्शनम् द०, अ०, प०, म०, स०, ल०। ३. प्राप्ते सति। ४. दुर्लभानि। ५ कवाटपट- म०, ल०। ६ कान्तिमत्। ७ तरलोपलम् ब०, ट०। मध्यमणिः 'उपलो रत्नपाषाणौ उपला शर्करापि च' इति। 'तरलो हारमध्यगः' इत्यमरः। 'हारमध्यस्थितं रत्नं तरलं नायकं विदुः' इति हलायुध। ८. शोभाम्। ९ प्राप्तम्। १०. सुखपरम्पराम्।



अपास्य लोक[1]पाषण्डदेवतासु विमूढताम् । [2]परतीर्थ्यैरनालीढमुज्ज्वलीकुरु दर्शनम् ॥१४०॥
संसारलतिकायामं छिन्धि सद्दर्शनासिना । नासि नासन्नभव्यस्त्वं भविष्यत्तीर्थनायक ॥१४१॥
सम्यक्त्वमधि[3]कृत्यैवमाप्तसूक्त्यनुसारतः । कृतार्य देशनास्माभिर्ग्राह्यैषा श्रेयसे त्वया ॥१४२॥
त्वमप्यम्बावलम्बेथा सम्यक्त्वमविलम्बितम्[4] । भवाम्बुधेस्तरण्डं तत्[5] [6]स्त्रैणात् किं वत खिद्यसि ॥१४३॥
सद्दृष्टेः स्त्रीष्वनुत्पत्तिः पृथिवीष्वपि षट्स्वधः । त्रिषु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु[7] [8]वाम्बिके ॥१४४॥
धिगिदं स्त्रैणमश्लाघ्यं नैर्ग्रन्थ्यप्रतिबन्धि यत् । कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र तद्विदः ॥१४५॥
तदेतत् स्त्रैणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनम् । प्राप्तासि[9] परमस्थानसप्तकं[10] त्वमनुक्रमात् ॥१४६॥
युवां कतिपयैरेव भवैः श्रेयोऽनुबन्धिभिः । ध्यानाग्निदग्धकर्माणौ प्राप्तास्थ[11] परमं पदम् ॥१४७॥
इति प्रीतिंकराचार्यवचनं स प्रमाणयन् । [12]सजानिरादधे सम्यग्दर्शनं प्रीतमानसः ॥१४८॥
स सद्दर्शनमासाद्य सप्रियः प्रिप्रियेतराम् । पुण्यात्यलब्धलाभो हि देहिनां महतीं धृतीम् ॥१४९॥
प्राप्य [13]सूत्रानुगां हृद्यां सम्यग्दर्शनकण्ठिकाम् । यौवराज्यपदे सोऽस्थात् मुक्तिसाम्राज्यसम्पदः ॥१५०॥

धरादि देव सम्यग्दर्शनको ही प्रधान अंग मानते हैं ॥१३९॥ हे आर्ये, तू लोकमूढता, पाषण्डिमूढता और देवमूढताका परित्याग कर जिसे मिथ्यादृष्टि प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे सम्यग्दर्शनको उज्ज्वल कर–विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर ॥१४०॥ तू सम्यग्दर्शनरूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी लताकी दीर्घताको काट। तू अवश्य ही निकट भव्य है और भविष्यत्कालमें तीर्थंकर होनेवाला है ॥१४१॥ हे आर्य, इस प्रकार मैंने अरहन्त देवके कहे अनुसार, सम्यग्दर्शन विषयको लेकर, यह उपदेश किया है सो मोक्षरूपी कल्याणकी प्राप्तिके लिए तुझे यह अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए ॥१४२॥ इस प्रकार वे मुनिराज आर्य वज्रजंघको समझाकर आर्या श्रीमतीसे कहने लगे कि माता, तू भी बहुत शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए नौकाके समान इस सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर। वृथा ही स्त्रीपर्यायमें क्यों खेद-खिन्न हो रही है ? ॥१४३॥ हे माता, सब स्त्रियोंमें, रत्नप्रभाको छोड़कर नीचेकी छह पृथिवियोंमें भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें तथा अन्य नीच पर्यायोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती ॥१४४॥ इस निन्द्य स्त्रीपर्यायको धिक्कार है जो कि निर्ग्रन्थ-दिगम्बर मुनिधर्म पालन करनेके लिए बाधक है और जिसमें विद्वानोंने करीष (कण्डाकी आग) की अग्निके समान कामका सन्ताप कहा है ॥१४५॥ हे माता, अब तू निर्दोष सम्यग्दर्शनकी आराधना कर और इस स्त्रीपर्यायको छोड़कर क्रमसे सप्त परम स्थानोंको प्राप्त कर। भावार्थ—१ 'सज्जाति', २ 'सद्गृहस्थता' (श्रावकके व्रत), ३ 'पारिव्रज्य' (मुनियोंके व्रत), ४ 'सुरेन्द्र पद', ५ 'राज्यपद' ६ 'अरहन्तपद', ७ 'सिद्धपद' ये सात परम स्थान (उत्कृष्टपद) कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रमसे इन परम स्थानोंको प्राप्त होता है ॥१४६॥ आप लोग कुछ पुण्य भवोंको धारण कर ध्यानरूपी अग्निसे समस्त कर्मोंको भस्म कर परम पदको प्राप्त करोगे ॥१४७॥

इस प्रकार प्रीतिंकर आचार्यके वचनोंको प्रमाण मानते हुए आर्य वज्रजंघने अपनी स्त्रीके साथ-साथ प्रसन्नचित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥१४८॥ वह वज्रजंघका जीव अपनी प्रियाके साथ-साथ सम्यग्दर्शन पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तुका लाभ प्राणियोंके महान् सन्तोषको पुष्ट करता ही है ॥१४९॥ जिस प्रकार कोई राजकुमार सूत्र (तन्तु)

१. पाखण्ड–प०, द०। पाखण्डि–म०, ल०। २. परशास्त्रैः परवादिभिर्वा। ३ अधिकार कृत्वा। ४. शीघ्रम्। ५. कारणात्। ६. स्त्रीत्वात्। ७. विकलेन्द्रियजातिषु। ८. चाम्बिके द०। ९ लुटि मध्यमपुरुषैकवचनम्। १०. 'सज्जाति- सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता। साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥'' ११. आप्लृ व्याप्तौ लुटि। १२. सवनित। १३. आगम।

सापि सम्यक्त्वलाभेन नितरामतुषत् सती । विशुद्धपुंस्त्वयोगेन निर्वाणमभिलाषुका ॥१५१॥
अलब्धपूर्वमास्वाद्य सद्दर्शनरसायनम् । प्रापतुस्तौ परां पुष्टिं धर्मे कर्मनिबर्हणे ॥१५२॥
शार्दूलार्यादयोऽप्याभ्यां समं सद्दर्शनामृतम् । तथा भेजुर्गुरोरस्य पादमूलमुपाश्रिताः ॥१५३॥
तौ दम्पती[1] कृतानन्दसदर्शितमनोरथौ । मुनीन्द्रौ धर्मसंवेगाच्चिरस्यास्पृक्षतां मुहुः ॥१५४॥
जन्मान्तरनिबद्धेन प्रेम्णा [2]विस्फारितेक्षणः । क्षणं मुनिपदाम्भोजसंस्पर्शात् सोऽन्वभूद् धृतिम् ॥१५५॥
कृतप्रणाममाशीर्भिराशास्य तमनुस्थितम् । ततो यथोचितं देशं तावृषी गन्तुमुद्यतौ ॥१५६॥
पुनर्दर्शनमस्त्वार्य सद्धर्मं मा स्म विस्मर । इत्युक्त्वान्तर्हितौ[3] सद्यश्चारणौ व्योमचारिणौ ॥१५७॥
गतेऽथ चारणद्वन्द्वे सोऽभूदुत्कण्ठितः क्षणम् । प्रेयसां विप्रयोगो हि मनस्तापाय कल्प्यते ॥१५८॥
मुहुर्मुनिगुणाध्यानै[4]रार्द्रयन्नात्मनो मनः । इति चिन्तामसौ भेजे चिरं धर्मानुबन्धिनीम् ॥१५९॥
धुनोति दवथुं[5] स्वान्तात् तनोत्यानन्दथुं[6] परम् । धिनोति[7] च मनोवृत्तिमहो साधुसमागमः ॥१६०॥
मुष्णाति दुरितं दूरात् परं पुष्णाति योग्यताम् । भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः ॥१६१॥

में पिरोयी हुई मनोहर मालाको प्राप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीके युवराज पदपर स्थित होता है उसी प्रकार वह वज्रजंघका जीव भी सूत्र (जैन सिद्धान्त) में पिरोयी हुई मनोहर सम्यग्दर्शन-रूपी कण्ठमालाको प्राप्त कर मुक्तिरूपी राज्यसम्पदाके युवराज-पदपर स्थित हुआ था ॥१५०॥ विशुद्ध पुरुषपर्यायके संयोगसे निर्वाण प्राप्त करनेकी इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुई थी ॥ १५१ ॥ जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी रसायनका आस्वाद कर वे दोनों ही दम्पती कर्म नष्ट करनेवाले जैन धर्ममें बड़ी दृढताको प्राप्त हुए ॥ १५२ ॥ पहले कहे हुए सिंह, वानर, नकुल और सूकरके जीव भी गुरुदेव-प्रीतिंकर मुनिके चरण-मूलका आश्रय लेकर आर्य वज्रजंघ और आर्या श्रीमतीके साथ-साथ ही सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको प्राप्त हुए थे ॥ १५३ ॥ जिन्होंने हर्षसूचक चिह्नोंसे अपने मनोरथकी सिद्धिको प्रकट किया है ऐसे दोनों दम्पतियोंको दोनों ही मुनिराज धर्म-प्रेमसे बार-बार स्पर्श कर रहे थे ॥ १५४ ॥ वह वज्रजंघका जीव जन्मान्तरसम्बन्धी प्रेमसे आँखे फाड़-फाड़कर श्री प्रीतिंकर मुनिके चरण-कमलोंकी ओर देख रहा था और उनके क्षण-भरके स्पर्शसे बहुत ही सन्तुष्ट हो रहा था ॥१५५॥ तत्पश्चात् वे दोनों चारण मुनि अपने योग्य देशमें जानेके लिए तैयार हुए। उस समय वज्रजंघके जीवने उन्हें प्रणाम किया और कुछ दूर तक भेजनेके लिए वह उनके पीछे खड़ा हो गया। चलते समय दोनों मुनियोंने उसे आशीर्वाद देकर हितका उपदेश दिया और कहा कि हे आर्य, फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूपी समीचीन धर्मको नहीं भूलना। यह कहकर वे दोनों गगनगामी मुनि शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये ॥ १५६-१५७ ॥

अनन्तर जब दोनों चारण मुनिराज चले गये तब वह वज्रजंघका जीव क्षण एक तक बहुत ही उत्कण्ठित होता रहा। सो ठीक ही है, प्रिय मनुष्योंका विरह मनके सन्तापके लिए ही होता है ॥ १५८ ॥ वह बार बार मुनियोंके गुणोंका चिन्तवन कर अपने मनको आर्द्र करता हुआ चिर कालतक धर्म बढानेवाले नीचे लिखे हुए विचार करने लगा ॥१५९॥ अहा ! कैसा आश्चर्य है कि साधु पुरुषोंका समागम हृदयसे सन्तापको दूर करता है, परम आनन्दको बढाता है और मनकी वृत्तिको सन्तुष्ट कर देता है ॥ १६० ॥ प्रायः साधु पुरुषोंका समागम दूरसे ही पापको नष्ट कर देता है, उत्कृष्ट योग्यताको पुष्ट करता है, और अत्यधिक कल्याणको

---

१ धृतानन्द-प०, अ०, द०, स० । २ विस्तारितेक्षणः अ० । ३. अन्तर्धिमगाताम् । ४. स्मरणैः । ५. सन्तापम् । ६ आनन्दम् । ७ प्रीणयति ।

साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधनाः । [1]लोकानुवृत्तिसाध्यांशो नैषां कश्चन पुष्कलः[2] ॥१६२॥
परानुग्रहबुद्धया तु केवलं मार्गदेशनाम्[3] । कुर्वतेऽमी प्रगत्यापि[4] निसर्गोऽयं महात्मनाम् ॥१६३॥
स्वदु खे निर्घृणारम्भा. परदु खेषु दु-खिता । निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या[5] मुमुक्षव ॥१६४॥
क्व वयं निस्पृहा क्वेमे क्वेयं भूमि सुखोचिता । तथाप्यनुग्रहेऽस्माकं सावधानास्तपोधना. ॥१६५॥
भवन्तु सुखिन सर्वे सत्त्वा इत्येव केवलम् । यतो यतन्ते तेनैषां यतित्वं सन्निरुच्यते ॥१६६॥
एवं नाम महीयांस. परार्थे कुर्वते रतिम् । दूरादपि समागत्य यथैतौ चारणावुभौ[6] ॥१६७॥
अद्यापि चारणौ साक्षात् पश्यामीव पुरःस्थितौ । तपस्तनूनपात्ताप[7]तनूकृततनू मुनी ॥१६८॥
चारणौ चरणद्वन्द्वे प्रणतं मृदुपाणिना । स्पृशन्तौ स्नेहनिघ्नं मां व्यधातामधिमस्तकम् ॥१६९॥
[8]अपिप्यतां च मां धर्मतृषितं दर्शनामृतम् । अपास्य भोग[9]संतापं निर्वृतं येन मे मनः ॥१७०॥
सत्यं प्रीतिंकरो ज्यायान् मुनिर्योऽस्मास्वदर्शयत् । प्रीतिं सर्वत्र[10]गप्रीतिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥१७१॥

बढ़ाता है ॥१६१॥ ये साधु पुरुष मोक्षमार्गको सिद्ध करनेमें सदा दत्तचित्त रहते हैं। इन्हें सांसारिक लोगोंको प्रसन्न करनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता ॥१६२॥ ये मुनिजन केवल परोपकार करनेकी बुद्धिसे ही उनके पास जा-जाकर मोक्षमार्गका उपदेश दिया करते हैं। वास्तवमें यह महापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥१६३॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले ये साधुजन अपने दुःख दूर करनेके लिए सदा निर्दय रहते हैं अर्थात् अपने दुःख दूर करनेके लिए किसी प्रकारका कोई आरम्भ नहीं करते। परके दुःखोंमें सदा दुःखी रहते हैं अर्थात् उनके दुःख दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं। और दूसरोंके कार्य सिद्ध करनेके लिए निःस्वार्थ भावसे सदा तैयार रहते हैं ॥१६४॥ कहाँ हम और कहाँ ये अत्यन्त निःस्पृह साधु? और कहाँ यह मात्र सुखोंका स्थान भोगभूमि अर्थात् निःस्पृह मुनियोंका भोगभूमिमें जाकर वहाँके मनुष्योंको उपदेश देना सहज कार्य नहीं है तथापि ये तपस्वी हम लोगोंके उपकारमें कैसे सावधान हैं? ॥१६५॥ ये साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसारके समस्त जीव सदा सुखी रहें और इसीलिए वे यति (यतते इति यतिः) कहलाते हैं ॥ १६६ ॥ जिस प्रकार इन चारण ऋद्धिधारी पुरुषोंने दूरसे आकर हम लोगोंका उपकार किया उसी प्रकार महापुरुष दूसरोंका उपकार करनेमें सदा प्रीति रखते हैं ॥१६७॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे जिनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है ऐसे उन चारण मुनियोंको मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूँ, मानो वे अब भी मेरे सामने ही खड़े हैं ॥१६८॥ मैं उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम कर रहा हूँ और वे दोनों चारणमुनि कोमल हाथसे मस्तकपर स्पर्श करते हुए मुझे स्नेहके वशीभूत कर रहे हैं ॥ १६९ ॥ मुझ, धर्मके प्यासे मानवको उन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया है, इसीलिए मेरा मन भोगजन्य सन्तापको छोड़कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ॥१७०॥ वे प्रीतिंकर नामके ज्येष्ठ मुनि सचमुचमें प्रीतिंकर हैं क्योंकि उनकी प्रीति सर्वत्र-गामी है और मार्गका उपदेश देकर उन्होंने हम लोगोंपर अपार प्रेम दरशाया है। भावार्थ—जो मनुष्य सब जगह जानेकी सामर्थ्य होनेपर भी किसी खास जगह किसी खास व्यक्तिके पास जाकर उसे उपदेश आदि देवे तो उससे उसकी अपार प्रीतिका पता चलता है। यहाँपर भी उन मुनियोंमें चारण ऋद्धि होनेसे सब जगह जानेकी सामर्थ्य थी परन्तु उस समय अन्य जगह न जाकर वे वज्रजंघके जीवके पास पहुँचे इससे उसके विषयमें उनकी अपार प्रीतिका पता

१. जनानुवर्तनम् । २. श्रेष्ठ । ३.—दर्शनम् अ०, स० । —देशनम् म०, ल० । ४. पुनरत्यथ । ५. वाञ्छा । ६. चारणर्षभौ अ०, स० । ७. तापोऽग्निः । ८. पानमकारयताम् । ९. भोगसन्तर्षम् प०, अ०, द०, स०, म० । १०. सर्वत्रग. प्रीत. म०, ल० ।

महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरुः स नः । वितीर्य दर्शनं सम्यगधुना तु विशेषतः ॥१७२॥
[1]गुरूणां यदि संसर्गो न स्यान्न स्याद् गुणार्जनम् । विना गुणार्जनात् [2]क्वास्य जन्तोः सफलजन्मता॥१७३॥
रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णताम् । तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥१७४॥
न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः । नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥१७५॥
यथान्धतमसच्छन्नान् नार्थान् दीपाद् विनेक्षते । तथा जीवादिभावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥१७६॥
बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीतये नृणाम् । बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥१७७॥
यतो गुरुनिदेशेन जाता नः शुद्धिरीदृशी । ततो गुरुपदे भक्तिर्भूयाजन्मान्तरेऽपि नः ॥१७८॥
इति चिन्तयतोऽस्यासीद् दृढा सम्यक्त्वभावना । सा तु कल्पलतेवास्मै सर्वमिष्टं फलिष्यति ॥१७९॥
समानभावनानेन साप्यभूच्छ्रीमतीचरी । समानशीलयोश्चासीदाच्छिन्ना प्रीतिरेनयोः ॥१८०॥
दम्पत्योरिति संप्रीत्या भोगान्निर्विशतोश्चिरम् । भोगकालस्तयोर्निष्ठां[3] प्रापत् पल्यत्रयोन्मितः[4] ॥१८१॥
जीवितान्ते सुखं प्राणान् हित्वा तौ पुण्यशेषतः । प्रापतुः कल्पमैशानं गृहाडिव गृहान्तरम् ॥१८२॥
विलीयन्ते यथा मेघा यथाकालं कृतोदयाः । भोगभूमिभुवां देहास्तथान्ते[5] विशरारवः[6] ॥१८३॥
यथा वैक्रियिके देहे न दोषमलसंभवः । तथा दिव्यमनुष्याणां[7] देहे शुद्धिरुदाहृता ॥१८४॥

चलता है ॥१७१॥ महाबल भवमें भी वे मेरे स्वयम्बुद्ध नामक गुरु हुए थे और आज इस भवमें भी सम्यग्दर्शन देकर विशेष गुरु हुए हैं ॥१७२॥ यदि संसारमें गुरुओंकी संगति न हो तो गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती और गुणोंकी प्राप्तिके विना इस जीवके जन्मकी सफलता कहाँ हो सकती है ? ॥१७३॥ जिस प्रकार सिद्ध रसके संयोगसे तांबा आदि धातुएँ सुवर्णपनेको प्राप्त हो जाती हैं उसी प्रकार गुरुदेवके उपदेशसे प्रकट हुए गुणोंके संयोगसे भव्य जीव भी शुद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ॥१७४॥ जिस प्रकार जहाजके विना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरुके उपदेशके विना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता ॥१७५॥ जिस प्रकार कोई पुरुष दीपकके विना गाढ़ अन्धकारमें छिपे हुए घट, पट आदि पदार्थोंको नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देनेवाले गुरुके विना जीव, अजीव आदि पदार्थोंको नहीं जान सकता ॥१७६॥ इस संसारमें भाई और गुरु ये दोनों ही पदार्थ मनुष्योंकी प्रीतिके लिए हैं। पर भाई तो इस लोकमे ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा परलोक, दोनों ही लोकोंमें विशेष रूपसे प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥१७७॥ जब कि गुरुके उपदेशसे ही हम लोगोंको इस प्रकारकी विशुद्धि प्राप्त हुई है तब हम चाहते हैं कि जन्मान्तरमें भी मेरी भक्ति गुरुदेवके चरण-कमलोंमें बनी रहे ॥१७८॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए वज्रजंघकी सम्यक्त्व भावना अत्यन्त दृढ़ हो गयी। यही भावना आगे चलकर इस वज्रजंघके लिए कल्पलताके समान समस्त इष्ट फल देनेवाली होगी ॥१७९॥ श्रीमतीके जीवने भी वज्रजंघके जीवके समान ऊपर लिखे अनुसार चिन्तन किया था इसलिए इसकी सम्यक्त्व भावना भी सुदृढ़ हो गयी थी। इन दोनों पति-पत्नियोंका स्वभाव एक-सा था इसलिए दोनोंमें एक-सी अखण्ड प्रीति रहती थी ॥१८०॥ इस प्रकार प्रीतिपूर्वक भोग भोगते हुए उन दोनों दम्पतियोंका तीन पल्य प्रमाण भारी काल व्यतीत हो गया ॥१८१॥ और दोनों जीवनके अन्तमें सुखपूर्वक प्राण छोड़कर बाकी बचे हुए पुण्यसे एक घरसे दूसरे घरके समान ऐशान स्वर्गमें जा पहुँचे ॥१८२॥ जिस प्रकार वर्षाकालमें मेघ अपने-आप ही उत्पन्न हो जाते हैं और समय पाकर आप ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीर अपने-आप ही उत्पन्न होते हैं और जीवनके अन्तमें अपने-आप ही विलीन हो जाते हैं ॥१८३॥ जिस प्रकार वैक्रियिक

१. गुरुणा यदि– ल०, प०, स० । २. –स्यास्य म०, ल० । ३. अन्तम् । ४. प्रमितः । ५. तदन्ते म०, ल० । ६ विशरणशील । ७ भोगभूमिजानाम् ।

विमाने श्रीप्रभे तत्र[1] नित्यालोके स्फुरत्प्रभः । स श्रीमान् वज्रजङ्घार्यः श्रीधराख्यः सुरोऽभवत् ॥१८५॥
सापि सम्यक्त्वमाहात्म्यात् स्त्रैणाद् विश्लेपमीयुषी । स्वयंप्रभविमानेऽभूत् तत्समनामा[2] सुरोत्तमः ॥१८६॥
शार्दूलार्यादयोऽप्यस्मिन् कल्पेऽनल्पसुखोदये । महर्द्धिका सुरा जाता पुण्यैः किं नु दुरासदम् ॥१८७॥
ऋते धर्मात् कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखम् । तस्मात् सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरम् ॥१८८॥
शार्दूलभूतपूर्वो यः स विमाने मनोहरे । चित्राङ्गदे ज्वलन्मौलिरभूच्चित्राङ्गदोऽमरः ॥१८९॥
वराहार्यश्च नन्द्याख्ये विमाने मणिकुण्डली । ज्वलन्मकुट[3]केयूरमणिकुण्डलभूषितः ॥१९०॥
नन्द्यावर्तविमानेऽभूद् वानरार्यो मनोहरः[4] । सुराङ्गनामनोहारिचतुराकारसुन्दरः ॥१९१॥
प्रभाकरविमानेऽभून्नकुलार्यो मनोरथः । मनोरथशतावाप्तदिव्य[5]भोगोऽमृताशनः[6] ॥१९२॥
इति पुण्योदयात्तेषां स्वर्लोकसुखभोगिनाम्[7] । रूपसौन्दर्यभोगादिवर्णना ललिताङ्गवत् ॥१९३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैः प्रमदोदयात् सुरवरः श्रीमानसौ श्रीधरः
स्वर्गश्रीनयनोत्सवं शुचितरं बिभ्रद्वपुर्भास्वरम्[8] ।
कान्ताभिः कलभाषिणीभिरुचितान् भोगान् मनोरञ्जनान्
भुञ्जानः सततोत्सवैररमत स्वस्मिन् विमानोत्सवे ॥१९४॥

शरीरमें दोष और मल नहीं होते उसी प्रकार भोगभूमिज जीवोंके शरीरमें भी दोष और मल नहीं होते । उनका शरीर भी देवोंके शरीरके समान ही शुद्ध रहता है ॥१८४॥ वह वज्रजंघ आर्य ऐशान स्वर्गमें हमेशा प्रकाशमान रहनेवाले श्रीप्रभ विमानमें देदीप्यमान कान्तिका धारक श्रीधर नामका ऋद्धिधारी देव हुआ ॥१८५॥ और आर्या श्रीमती भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे स्त्रीलिङ्गसे छुटकारा पाकर उसी ऐशान स्वर्गके स्वयम्प्रभ विमानमें स्वयम्प्रभ नामका उत्तम देव हुई ॥१८६॥ सिंह, नकुल, वानर और शूकरके जीव भी अत्यन्त सुखमय इसी ऐशान स्वर्गमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देव हुए । सो ठीक ही है पुण्यसे क्या दुर्लभ है ? ॥१८७॥ इस संसारमें धर्मके विना स्वर्ग कहाँ ? और स्वर्गके विना सुख कहाँ इसलिए सुख चाहनेवाले पुरुषोंको चिरकाल तक धर्मरूपी कल्पवृक्षकी ही सेवा करनी चाहिए ॥१८८॥ जो जीव पहले सिंह था वह चित्रांगद नामके मनोहर विमानमें प्रकाशमान मुकुटका धारक चित्रांगद नामका देव हुआ ॥१८९॥ शूकरका जीव नन्द नामक विमानमें प्रकाशमान मुकुट, बाजूबन्द और मणिमय कुण्डलोंसे भूषित मणिकुण्डली नामका देव हुआ ॥१९०॥ वानरका जीव नन्द्यावर्त नामक विमानमें मनोहर नामका देव हुआ जो कि देवांगनाओंके मनको हरण करनेवाले सुन्दर आकारसे शोभायमान था ॥ १९१ ॥ और नकुलका जीव प्रभाकर विमानमें मनोरथ नामका देव हुआ जो कि सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त हुए दिव्य भोगरूपी अमृतका सेवन करनेवाला था ॥१९२॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गलोकके सुख भोगनेवाले उन छहों जीवोंके रूप, सौन्दर्य, भोग आदिका वर्णन ललितांगदेवके समान जानना चाहिए ॥१९३॥ इस प्रकार पुण्यके उदयसे स्वर्गलक्ष्मीके नेत्रोंको उत्सव देनेवाले, अत्यन्त पवित्र और चमकीले शरीरको धारण करनेवाला वह ऋद्धिधारी श्रीधर देव मधुर वचन बोलनेवाली देवाङ्गनाओंके साथ मनोहर भोग भोगता हुआ अपने ही विमानमें अनेक उत्सवों-द्वारा क्रीड़ा करता था ॥१९४॥

---

१. ऐशानकल्पे । २ तेन विमानेन समानं नाम यस्यासौ श्रीस्वयंप्रभ इत्यर्थः । ३. -मुकुट- अ०, प०, द० । ४. मनोहरनामा । ५. -भोगामृताशनः । ६ देव । ७. -सुखभागिनाम् अ०, प०, स०, द०, म० । ८. -र्भासुरम् अ०, स० ।

कान्तानां करपल्लवैर्मृदुतलैः संवाह्यमानक्रम
तद्वक्त्रेन्दुशुचिस्मितांशुसलिलैः संसिच्यमानो मुहुः ।
[1]सभ्रूविभ्रमतत्कटाक्षविशिखैर्लक्ष्यीकृतोऽनुक्षणं
भोगाङ्गैरपि सोऽतृपत् प्रमुदितो वर्त्स्यज्जिनः श्रीधरः ॥१९५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजङ्घार्यसम्यग्दर्शनोत्पत्तिवर्णनं नाम नवमं पर्व ॥९॥



कभी देवाङ्गनाएँ अपने कोमल करपल्लवोंसे उसके चरण दबाती थीं, कभी अपने मुखरूपी चन्द्रमासे निकलती हुई मन्द मुसकानकी किरणोंरूपी जलसे बार-बार उसका अभिषेक करती थीं और कभी भौहोंके विलाससे युक्त कटाक्षरूपी बाणोंका उसे लक्ष्य बनाती थीं। इस प्रकार आगामी कालमें तीर्थंकर होनेवाला वह प्रसन्नचित्त श्रीधरदेव भोगोपभोगकी सामग्रीसे प्रत्येक क्षण सन्तुष्ट रहता था ॥१९५॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीमहापुराण संग्रहमें श्रीमती और वज्रजङ्घ आर्यको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला नवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥९॥



१. सद्भ्रू-प० । सुभ्रू अ०, स० ।

दशमं पर्व

अथान्येद्युरबुद्धासौ[1] प्रयुक्तावधिरञ्जसा[2] । स्वगुरुं प्राप्तकैवल्यं श्रीप्रभाद्रिमधिष्ठितम् ॥१॥
जगत्प्रीतिंकरो[3] योऽस्य[4] गुरुः प्रीतिंकराह्वय । तमर्चितुमभीयाय[5] वर्यया सपर्यया ॥२॥
श्रीप्रभाद्रौ तमभ्यर्च्य सर्वज्ञमभिवन्द्य च । श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छदित्यसौ स्वमनीषितम् ॥३॥
महाबलभवे येऽस्मन्मन्त्रिणो दुर्दृशस्त्रयः । क्वाद्य ते लब्धजन्मानः कीदृशीं वा गतिं श्रिता ॥४॥
इति पृष्टवते तस्मै सोऽवोचत् सर्वभाववित् । तन्मनोध्वान्तसंतानमपाकुर्वन् वचोंऽशुभिः ॥५॥
त्वयि[6] स्वर्गगतेऽस्मासु लब्धबोधिषु ते तदा । प्रपद्य दुर्मृतिं[7] याता वियाता बत दुर्गतिम् ॥६॥
द्वौ निगोतास्पदं[8] यातौ तमोऽन्धं यत्र केवलम् । [9]तप्ताधिश्रयणोद्वृत्तभूयिष्ठैर्जन्ममृत्युभिः ॥७॥
[10]गतं [तः] शतमतिः श्वभ्रं मिथ्यात्वपरिपाकतः । विपाकक्षेत्रमाम्नातं[11] तद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥८॥
मिथ्यात्वविषसंसुप्ता ये [12]मार्गपरिपन्थिनः । ते यान्ति दीर्घमध्वानं[13] कुयोन्यावर्तसंकुलम् ॥९॥
तमस्यन्धे निमज्जन्ति [14]सज्ज्ञानद्वेषिणो नराः । आप्तोपज्ञमतो[15] ज्ञानं बुधोऽभ्यस्येदनारतम् ॥१०॥

अथानन्तर किसी एक दिन श्रीधरदेवको अवधिज्ञानका प्रयोग करनेपर यथार्थ रूपसे मालूम हुआ कि हमारे गुरु श्रीप्रभ पर्वतपर विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥१॥ संसारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रीति करनेवाले जो प्रीतिंकर मुनिराज थे वे ही इसके गुरु थे। इन्हींकी पूजा करनेके लिए अच्छी-अच्छी सामग्री लेकर श्रीधरदेव उनके सम्मुख गया ॥२॥ जाते ही उसने श्रीप्रभ पर्वतपर विद्यमान सर्वज्ञ प्रीतिंकर महाराजकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, धर्मका स्वरूप सुना और फिर नीचे लिखे अनुसार अपने मनकी बात पूछी ॥३॥ हे प्रभो, मेरे महाबल भवमें जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्री थे वे इस समय कहाँ उत्पन्न हुए हैं, वे कौन-सी गतिको प्राप्त हुए हैं? ॥४॥ इस प्रकार पूछनेवाले श्रीधरदेवसे सर्वज्ञदेव, अपने वचनरूपी किरणोंके द्वारा उसके हृदयगत समस्त अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हुए कहने लगे ॥५॥ कि हे भव्य, जब तू महाबलका शरीर छोड़कर स्वर्ग चला गया और मैंने रत्नत्रयको प्राप्त कर दीक्षा धारण कर ली तब खेद है कि वे तीनों ढीठ मन्त्री कुमरणसे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुए थे ॥६॥ उन तीनोंमें-से महामति और संभिन्नमति ये दो तो उस निगोद स्थानको प्राप्त हुए हैं जहाँ मात्र सघन अज्ञानान्धकारका ही अधिकार है और जहाँ अत्यन्त तप्त खौलते हुए जलमें उठनेवाली खलबलाहटके समान अनेक बार जन्म-मरण होते रहते हैं ॥७॥ तथा शतमति मन्त्री अपने मिथ्यात्वके कारण नरक गति गया है। यथार्थमें खोटे कर्मोंका फल भोगनेके लिए नरक ही मुख्य क्षेत्र है ॥८॥ जो जीव मिथ्यात्वरूपी विषसे मूर्च्छित होकर समीचीन जैन मार्गका विरोध करते हैं वे कुयोनिरूपी भँवरोंसे व्याप्त इस संसाररूपी मार्गमें दीर्घकाल तक घूमते रहते हैं ॥९॥ चूँकि सम्यग्ज्ञानके विरोधी जीव अवश्य ही नरकरूपी गाढ अन्धकारमें

---

१. –न्येद्युः प्राबुद्धासौ अ० । –प्रबुद्धासौ स० । २. झटिति । ३ जगत्प्रीतिकरो स० । ४. श्रीधरस्य । ५. अभिमुखमगच्छत् । ६. स्वर्गे गते अ०, प०, स० । ७. याता बत बुद्ध्यापि दुर्गतिम् अ०, स० । वियाता धृष्टाः । ८. निगोदास्पदं द०, म०, स० । ९. निकृष्टपीडाश्रयलेपप्रचुरैः । तप्तादिश्रय–म०, ल० । १०. गतः शत–ब०, अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । ११ कथितम् । १२. सन्मार्गविरोधिन । १३. कालम् । 'अध्वा वर्त्मनि संस्थाने सास्रवस्कन्धकालयो.' इत्यभिधानात् । १४. सता ज्ञानम् । सज्ञान–द०, स०, अ०, प० । १५. अतः कारणात् ।

धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वमधर्मेण पतत्यधः । मिश्रस्तु याति मानुष्यमित्याप्तोक्ति[1] विनिश्चिनु ॥११॥
स एष शतबुद्धिस्ते मिथ्याज्ञानस्य दार्ढ्यतः । द्वितीयनरके दुःखमनुभुङ्क्तेऽतिदारुणम् ॥१२॥
सोऽयं स्वयंकृतोऽनर्थो जन्तोरघजितात्मनः[2] । यदयं विद्विषन् धर्ममधर्मे कुरुते रतिम् ॥१३॥
धर्मात् सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः[3] । धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया[4] ॥१४॥
धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृष्णता । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः[5] ॥१५॥
तनोति विषयासङ्गः[6] सुखसंतर्षमङ्गिनः । स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥१६॥
सतप्तस्तत्प्रतीकारमीप्सन् पापेऽनुरज्यते । द्वेष्टि पापरतो धर्ममधर्माच्च पतत्यधः ॥१७॥
विपच्यते यथाकालं नरके दुरनुष्ठितम्[8] । अनेहसि[9] समभ्यर्णे यथाऽलर्कशुनो[10] विषम् ॥१८॥
यथोपचरितैः[11] जन्तुं तीव्रं ज्वरयति ज्वरः । तथा दुरीहितैः पाप्मा बाढीभवति दुर्दृशः ॥१९॥
दुरन्तः कर्मणां पाको ददाति कटुकं फलम् । येनात्मा पतितः श्वभ्रे क्षणं दुःखान्न मुच्यते ॥२०॥
कीदृशं नरके दुःखं तत्रोत्पत्तिः कुतोऽङ्गिनाम् । इति चेच्छृणु तत्सम्यक् प्रणिधाय मनः क्षणम् ॥२१॥
हिंसायां निरता ये स्युर्ये मृषावादतत्पराः । चुराशीलाः परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये ॥२२॥

निमग्न होते हैं इसलिए विद्वान् पुरुषोंको आप्त प्रणीत सम्यग्ज्ञानका ही निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥१०॥ यह आत्मा धर्मके प्रभावसे स्वर्ग-मोक्ष रूप उच्च स्थानोंको प्राप्त होता है। अधर्मके प्रभावसे अधोगति अर्थात् नरकको प्राप्त होता है। और धर्म, अधर्म दोनोंके संयोगसे मनुष्य-पर्यायको प्राप्त होता है। हे भद्र, तू उपर्युक्त अर्हन्तदेवके वचनोंका निश्चय कर ॥११॥ वह तुम्हारा शतबुद्धि मंत्री मिथ्याज्ञानकी दृढतासे दूसरे नरकमें अत्यन्त भयंकर दुःख भोग रहा है ॥१२॥ पापसे पराजित आत्माको स्वयं किये हुए अनर्थका यह फल है जो उसका धर्मसे द्वेष और अधर्मसे प्रेम होता है ॥१३॥ 'धर्मसे सुख प्राप्त होता है और अधर्मसे दुःख मिलता है' यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है इसीलिए तो बुद्धिमान् पुरुष अनर्थोंको छोड़नेकी इच्छासे धर्ममें ही तत्परता धारण करते हैं ॥१४॥ प्राणियोंपर दया करना, सच बोलना, क्षमा धारण करना, लोभका त्याग करना, तृष्णाका अभाव करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्तिका इकट्ठा करना ही धर्म है और उससे उलटे अदया आदि भाव अधर्म है ॥१५॥ विषयासक्ति जीवोंके इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णाको बढ़ाती है, इन्द्रियजन्य सुखकी तृष्णा प्रज्वलित अग्निके समान भारी सन्ताप पैदा करती है। तृष्णासे सन्तप्त हुआ प्राणी उसे दूर करनेकी इच्छासे पापमें अनुरक्त हो जाता है, पापमें अनुराग करनेवाला प्राणी धर्मसे द्वेष करने लगता है और धर्मसे द्वेष करनेवाला जीव अधर्मके कारण अधोगतिको प्राप्त होता है ॥१६-१७॥

जिस प्रकार समय आनेपर (प्रायः वर्षाकालमें) पागल कुत्तेका विष अपना असर दिखलाने लगता है उसी प्रकार किये हुए पापकर्म भी समय पाकर नरकमें भारी दुःख देने लगते हैं ॥१८॥ जिस प्रकार अपथ्य सेवनसे मूर्ख मनुष्योंका ज्वर बढ़ जाता है उसी प्रकार पापाचरणसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका पाप भी बहुत बड़ा हो जाता है ॥१९॥ किये हुए कर्मोंका परिपाक बहुत ही बुरा होता है। वह सदा कड़ुए फल देता रहता है, उसीसे यह जीव नरकमें पड़कर वहाँ क्षण-भरके लिए भी दुःखसे नहीं छूटता ॥२०॥ नरकोंमें कैसा दुःख है ? और वहाँ जीवोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ? यदि तू यह जानना चाहता है तो क्षण-भरके लिए मन स्थिर कर सुन ॥२१॥ जो जीव हिंसा करनेमें आसक्त रहते हैं, झूठ बोलनेमें तत्पर होते है, चोरी

---

१. -मित्याप्तोक्तविनिश्चितम् अ०,स०। २ रविजितात्मन द०,स०,अ०,ल०। ३. अविप्रतिपत्तितः। ४ हातुमिच्छया। ५. ज्ञान वै- स०। ६. विषयासक्ति। ७. अभिलाषम्। ८. दुराचार। ९ काले। १० उन्मत्तशुनकस्य। ११ अपथ्यभोजनैः।

ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः । सत्त्वेषु निरनुक्रोशा[1] बह्वारम्भपरिग्रहाः ॥२३॥
धर्मद्रुहश्च[2] ये नित्यमधर्मपरिपोषकाः[3] । दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥२४॥
रुष्यन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातकाः । मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥२५॥
[4]वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः । खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥२६॥
ते नराः पापभारेण प्रविशन्ति रसातलम् । विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणाम् ॥२७॥
जलस्थलचराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः । पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च प्रयान्त्यधः ॥२८॥
प्रयान्त्यसंज्ञिनो घर्मां तां वंशां च सरीसृपाः । पक्षिणस्ते[5] तृतीयां च तां चतुर्थीं च पन्नगाः ॥२९॥
सिंहास्तां पञ्चमीं चैव तां च षष्ठीं च योषितः । प्रयान्ति सप्तमीं तांश्च मर्त्या मत्स्याश्च पापिनः ॥३०॥
रत्नशर्करवालुक्य. पङ्कधूमतमःप्रभा । तमस्तमःप्रभा[6] चेति सप्ताध श्वभ्रभूमयः ॥३१॥
तासां पर्यायनामानि घर्मा वंशा शिलाञ्जना । [7]अरिष्टा मघवी चैव माघवी चेत्यनुक्रमात् ॥३२॥
तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले[8] मधुकृतामिव[9] । तेऽधोमुखाः प्रजायन्ते पापिनामुन्नतिः कुतः ॥३३॥
तेऽन्तर्मुहूर्ततो गात्रं पूतिगन्धि जुगुप्सितम् । पर्याप्नुवन्ति दुष्प्रेक्ष्यं विकृताकृति दुष्कृतात्[10] ॥३४॥
पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे[11] ज्वलदग्न्यतिदुःसहे । विच्छिन्नबन्धनानीव पत्राणि विलुठन्त्यधः ॥३५॥
निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधमूर्धसु । प्रकुर्वन्ति दुरात्मानश्छिन्नसर्वाङ्गसन्धयः ॥३६॥

करते हैं, परस्त्रीरमण करते हैं, मद्य पीते हैं, मिथ्यादृष्टि है, क्रूर हैं, रौद्रध्यानमें तत्पर हैं, प्राणियोंमें सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते है, सदा धर्मसे द्रोह करते है, अधर्ममें सन्तोप रखते हैं, साधुओंकी निन्दा करते हैं, मात्सर्यसे उपहत हैं, धर्मसेवन करनेवाले परिग्रहरहित मुनियोंसे विना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मधु और मांस खानेमें तत्पर हैं, अन्य जीवोंकी हिंसा करनेवाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओंको पालते हैं, अतिशय निर्दय है, स्वयं मधु, मांस खाते हैं और उनके खानेवालोंकी अनुमोदना करते हैं वे जीव पापके भारसे नरकमें प्रवेश करते है। इस नरकको ही खोटे कर्मोंके फल देनेका क्षेत्र जानना चाहिए ॥२२-२७॥ क्रूर जलचर, थलचर, सर्प, सरीसृप, पाप करनेवाली स्त्रियाँ और क्रूर पक्षी आदि जीव नरकमें जाते है ॥२८॥ असैनी पञ्चेन्द्रिय जीव घर्मानामक पहली पृथ्वी तक जाते हैं, सरीसृप-सरकनेवाले-गुहा दूसरी पृथ्वी तक जाते है, पक्षी तीसरी पृथ्वी तक, सर्प चौथी पृथ्वी तक, सिंह पाँचवीं पृथ्वी तक, स्त्रियाँ छठवीं पृथ्वी तक और पापी मनुष्य तथा मच्छ सातवीं पृथ्वी तक जाते हैं ॥२९-३०॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथिवियाँ हैं जो कि क्रम-क्रमसे नीचे-नीचे हैं ॥३१॥ घर्मा, वंशा, शिला, (मेघा), अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये सात पृथिवियोंके क्रमसे नामान्तर हैं ॥३२॥ उन पृथिवियोंमें वे जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान लटकते हुए घृणित स्थानोंमें नीचेकी ओर मुख करके पैदा होते हैं। सो ठीक ही है पापी जीवोंकी उन्नति कैसे हो सकती है ? ॥३३॥ वे जीव पापकर्मके उदयसे अन्तर्मुहूर्तमें ही दुर्गन्धित, घृणित, देखनेके अयोग्य और बुरी आकृतिवाले शरीरकी पूर्ण रचना कर लेते हैं ॥३४॥ जिस प्रकार वृक्षके पत्ते शाखासे बन्धन टूट जानेपर नीचे गिर पड़ते है उसी प्रकार वे नारकी जीव शरीरकी पूर्ण रचना होते ही उस उत्पत्तिस्थानसे जलती हुई अत्यन्त दुःसह नरककी भूमिपर गिर पड़ते हैं ॥३५॥ वहाँकी भूमिपर अनेक तीक्ष्ण हथियार गड़े हुए हैं, नारकी उन हथियारोंकी नोंकपर गिरते हैं

---

१. निष्कृपा.। २. धर्मघातका.। ३. -परितोषकाः ल०। ४. शुनकादीन्। ५.धर्मभ्रंशे। ६. महातमःप्रभा। ७. सारिष्टा अ०, प०, द०, स०। ८ गोलके। ९. मधुमक्षिणाम्। १०. दुःकृतात् ब०, अ०, प०, द०, स०। ११. ज्वलनिन्यति-ब०, ट०, ज्वलति ब्यति-अ०, प०, द०, स०, ल०।

भूम्युष्मणा च संतप्ता दु[1]स्सहेनाकुलीकृताः । तप्तभ्राष्ट्रे[2] तिला यद्वत्[3] निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥३७॥
ततस्तेषां निकृन्तन्ति गात्राणि निशितायुधैः । नारका [4]परुषक्रोधास्तर्जयन्तोऽतिभीषणम् ॥३८॥
तेषां छिन्नानि गात्राणि संधानं[5] यान्ति तत्क्षणम् । दण्डाहतानि वारीणि यद्वद्विक्षिप्य[6] शल्कशः[7] ॥३९॥
वैरमन्योऽन्यसम्बन्धि निवेद्यानुभवाद् गतम् । दण्डांस्तदनुरूपांस्ते योजयन्ति परस्परम् ॥४०॥
चोदयन्त्यसुराश्चैनान् यूयं युध्यध्वमित्यरम् । सस्मार्य पूर्ववैराणि[8] प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः[9] ॥४१॥
वज्रचञ्चुपुटैर्गृध्राः कृन्तन्त्येतान् भयङ्कराः । श्वानश्चानर्जुना[10] शूना[11] दृणन्ति[12] नखैः खरैः ॥४२॥
मूषाक्वथिततास्रादिरसान् केचित् प्रपायिताः । प्रयान्ति विलयं सद्यो रसन्तो[13] विरसस्वनम् ॥४३॥
इक्षुयन्त्रेषु निक्षिप्य पीड्यन्ते खण्डशः कृताः । [14]उष्ट्रिकासु च निष्क्वाथ्य नीयन्ते रसतां परे ॥४४॥
केचित् स्वान्येव मांसानि खाद्यन्ते बलिभिः परैः । विशस्य[15] निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा ॥४५॥
[16]संदंशकैर्विदार्यास्यं गले पादिकया[17] बलात् । ग्रास्यन्ते तापितांल्लोहपिण्डान् मांसप्रिया पुरा ॥४६॥
सैषा तव प्रियेत्युच्चैः तप्ताय पुत्रिका गले[18] । आलिङ्ग्यन्ते बलादन्यैरनलार्चि कणाचिताम् ॥४७॥

जिसमें उनके शरीरकी सब सन्धियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती है और इस दुःखसे दुःखी होकर वे पापी जीव रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥३६॥ वहाँकी भूमिकी असह्य गरमीसे सन्तप्त होकर व्याकुल हुए नारकी गरम भाड़में डाले हुए तिलोंके समान पहले तो उछलते हैं और फिर नीचे गिर पड़ते हैं ॥ ३७ ॥ वहाँ पड़ते ही अतिशय क्रोधी नारकी भयंकर तर्जना करते हुए तीक्ष्ण शस्त्रोंसे उन नवीन नारकियोंके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥३८॥ जिस प्रकार किसी डण्डेसे ताड़ित हुआ जल बूँद-बूँद होकर बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार उन नारकियोंका शरीर भी हथियारोंके प्रहारसे छिन्न-भिन्न होकर जहाँ-तहाँ बिखर जाता है और फिर क्षण-भरमें मिलकर एक हो जाता है ॥३९॥ उन नारकियोंको अवधिज्ञान होनेसे अपनी पूर्वभवसम्बन्धी घटनाओंका अनुभव होता रहता है, उस अनुभवसे वे परस्पर एक दूसरेको अपना पूर्व वैर बतलाकर आपसमें दण्ड देते रहते हैं ॥४०॥ पहलेकी तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जातिके देव जाकर वहाँके नारकियोंको उनके पूर्वभवके वैरका स्मरण कराकर परस्परमें लड़नेके लिए प्रेरणा करते रहते हैं ॥ ४१ ॥ वहाँके भयंकर गीध* अपनी वज्रमयी चोंचसे उन नारकियोंके शरीरको चीर डालते हैं और काले-काले कुत्ते अपने पैने नखोंसे फाड़ डालते हैं ॥ ४२ ॥ कितने ही नारकियोंको खौलती हुई ताँबा आदि धातुएँ पिलायी जाती हैं जिसके दुःखसे वे बुरी तरह चिल्ला-चिल्लाकर शीघ्र ही विलीन (नष्ट) हो जाते हैं ॥४३॥ कितने ही नारकियोंके टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू (गन्ना पेलनेके यन्त्र) में डालकर पेलते हैं। कितने ही नारकियोंको कढ़ाईमें खौलाकर उनका रस बनाते हैं ॥४४॥ जो जीव पूर्वपर्यायमें मांसभक्षी थे उन नारकियोंके शरीरको बलवान् नारकी अपने पैने शस्त्रोंसे काट-काटकर उनका मांस उन्हें ही खिलाते हैं ॥४५॥ जो जीव पहले बड़े शौकसे मांस खाया करते थे, सँड़ासीसे उनका मुख फाड़कर उनके गलेमें जबरदस्ती तपाये हुए लोहेके गोले निगलाये जाते हैं ॥४६॥ 'यह वही तुम्हारी उत्तम प्रिया है' ऐसा कहते हुए बलवान् नारकी अग्निके फुलिंगोंसे

---

१. दुस्सहोष्णाकुली–अ० । २. अम्बरीषे । ३. स्थालीपच्यमानतण्डुलोत्पतननिपतनवत् । ४ परुषा क्रोधा. अ०, स०, द० । ५. सम्बन्धम् । ६. विकीर्य । ७. खण्डशः । ८. चतुर्थनरकात् प्राक् । ९. सुदारुणम् प० । १०. कृष्णाः । ११ स्थूलाः । १२ विदारयन्ति । १३ ध्वनन्तः । १४. कटाहेषु । १५ छित्त्वा । १६ कङ्कमुखैः । १७ पादिक्कयम अ०, प०, स०, द० । १८ परे द० । परैः स० ।

*ये गीध, कुत्ते आदि जीव तिर्यञ्चगतिके नहीं है किन्तु नारकी ही विक्रिया शक्तिसे अपने शरीरमें वैसा परिणमन कर लेते है ।

संकेतकेतकोद्याने[1] कर्कशक्रकचच्छदे। त्वामिहोपह्वरे[2] कान्ता [3]ह्वयत्यभिसिसीर्षया[4] ॥४८॥
पुरा पराङ्गनासंगरति[5] दुर्ललितानिति। संयोजयन्ति तप्ताय पुत्रिकाभिर्बलात् परे ॥४९॥
तांस्तदालिङ्गनासंगात् क्षणमूर्च्छामुपागतान्। तुदन्त्ययोमयैस्तोत्रै[6]रन्ये मर्मसु नारकाः ॥५०॥
तदङ्गालिङ्गनासंगात्[7] क्षणामीलितलोचनाः। निपतन्ति महीरङ्गे [8]तेऽङ्गारीकृतविग्रहाः ॥५१॥
[9]भस्त्राग्निदीपितान् केचिदा[10]यसान् शाल्मलीद्रुमान्। [11]आरोप्यन्ते हठात् कैश्चित् तीक्ष्णोर्ध्वाधोऽग्रकण्टकान्
ते तदारोपणोऽर्वाध कर्षणैरतिकर्षिताः। मुच्यन्ते नारकैः कृच्छ्रात् क्षरत्क्षतजमूर्तयः ॥५२॥
[12]अरुष्करद्रवापूर्णनदीरन्ये विगाहिताः। क्षणाद् विशीर्णसर्वाङ्गा [13]विलुप्यन्ते[14]ऽम्बुचारिभिः ॥५४॥
विस्फुलिङ्गमयीं शय्यां ज्वलन्तीमधिशायिताः। शेरते प्लुष्यमाणाङ्गा दीर्घनिद्रासुखेप्सया ॥५५॥
असिपत्रवनान्यन्ये श्रयन्त्युष्णार्दिता यदा। तदा वाति मरुत्तीव्रो विस्फुलिङ्गकणान् किरन् ॥५६॥
तेन पत्राणि [15]पात्यन्ते सर्वायुधमयान्यरम्। तैश्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः पूत्कुर्वन्ति वराककाः ॥५७॥

व्याप्त तपायी हुई लोहेकी पुतलीका जबरदस्ती गलेसे आलिंगन कराते हैं॥४७॥ जिन्होंने पूर्वभवमें परस्त्रियोंके साथ रति-क्रीड़ा की थी ऐसे नारकी जीवोंसे अन्य नारकी आकर कहते हैं कि 'तुम्हें तुम्हारी प्रिया अभिसार करनेकी इच्छासे संकेत किये हुए केतकीवनके एकान्तमें बुला रही है', इस प्रकार कहकर उन्हें कठोर करोंत-जैसे पत्तेवाले केतकीवनमें ले जाकर तपायी हुई लोहेकी पुतलियोंके साथ आलिङ्गन कराते है ॥४८-४९॥ उन लोहेकी पुतलियोंके आलिङ्गनसे तत्क्षण ही मूर्च्छित हुए उन नारकियोंको अन्य नारकी लोहेके परेनोंसे मर्मस्थानोंमें पीटते हैं॥ ५० ॥ उन लोहेकी पुतलियोंके आलिंगनकालमें ही जिनके नेत्र दुःखसे बन्द हो गये हैं तथा जिनका शरीर अंगारोंसे जल रहा है ऐसे वे नारकी उसी क्षण जमीनपर गिर पड़ते हैं ॥ ५१ ॥ कितने ही नारकी, जिनपर ऊपरसे नीचे तक पैने कॉटे लगे हुए है और जो धौंकनीसे प्रदीप्त किये गये हैं ऐसे लोहेके बने हुए सेमरके वृक्षोंपर अन्य नारकियोंको जबरदस्ती चढाते हैं ॥५२॥ वे नारकी उन वृक्षोंपर चढ़ते हैं, कोई नारकी उन्हें ऊपरसे नीचेकी ओर घसीट देता है और कोई नीचेसे ऊपरको घसीट ले जाता है। इस तरह जब उनका सारा शरीर छिल जाता है और उससे रुधिर बहने लगता है तब कहीं बड़ी कठिनाईसे छुटकारा पाते है ॥ ५३ ॥ कितने ही नारकियोंको भिलावेके रससे भरी हुई नदीमें जबरदस्ती पटक देते है जिससे आप क्षण भरमे उनका सारा शरीर गल जाता है और उसके खारे जलकी लहरें उन्हें लिप्त कर उनके घावोंको भारी दुःख पहुँचाती हैं ॥ ५४ ॥ कितने ही नारकियोंको फुलिङ्गोंसे व्याप्त जलती हुई अग्निकी शय्यापर सुलाते है। दीर्घनिद्रा लेकर सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वे नारकी उसपर सोते हैं जिससे उनका सारा शरीर जलने लगता है ॥५५॥ गरमीके दुःखसे पीड़ित हुए नारकी ज्यों ही असिपत्र वनमें (तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंवाले वनमें) पहुँचते हैं त्यों ही वहाँ अग्निके फुलिंगोंको बरसाता हुआ प्रचण्ड वायु बहने लगता है। उस वायुके आघातसे अनेक आयुधमय पत्ते शीघ्र ही गिरने लगते है जिनसे उन नारकियोंका सम्पूर्ण शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है और उस दुःखसे दुःखी होकर बेचारे दीन नारकी रोने-चिल्लाने लगते हैं ॥ ५६-५७ ॥

१. केतकीवने। २. रहसि। ३. आह्वानं करोति। ४. अभिसर्तुमिच्छा अभिसिसीर्षा तया। निधुवनेच्छयेत्यर्थः। ५. दृप्तान्। ६. तोदनैः। 'प्राजनं तोदनं तोत्रम्' इत्यभिधानात्। तुदन्त्यनेनेति तोत्रम् 'तुद व्यथने' इति धातोः करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः। ७. -संग- अ०, प०, द०, स०, ल०। ८. तेऽङ्गाराङ्कितविग्रहाः प०, द, स०, अ०, ल०। ९. चर्मप्रसेविकाभिः। 'भस्त्रा चर्मप्रसेविका' इत्यभिधानात्। १०. अयोमयान्। ११.'रुह बीजजन्मनि' णिङ् परि ह्रा पा इति सूत्रेण हकारस्य पकारः। १२.भल्लातकीतैलम्। १३. छिद्यन्ते। १४. विलिप्यन्तेऽम्बु ल०। १५. सात्यन्ते स०, द०, अ०, प०, ल०।

[1]वल्लूरीकृत्य शोष्यन्ते [2]शूल्यमांसीकृता परैः। पात्यन्ते च गिरेरग्रादधःकृतमुखाः परे[3] ॥५८॥
दार्यन्ते क्रकचैस्तीक्ष्णैः केचिन्मर्मास्थिसन्धिषु। तक्षाय सूचिनिर्भिन्ननखाग्रा[4] लब्धवेदनाः ॥५९॥
कांश्चिन्निशातशूलाग्र[5]प्रोतांल्लम्बा[6]न्त्रसन्ततीन्। भ्रमयन्त्युच्छलच्छोणशोणिताऽरुणविग्रहान् ॥६०॥
व्रणजर्जरितान् कांश्चित् सिञ्चन्ति क्षारवारिभिः। [7]तत्किलाप्यायनं तेषां मूर्च्छाविह्वलितात्मनाम् ॥६१॥
कांश्चिदुत्तुङ्गशैलाग्रात् पातितानतिनिष्ठुराः। नारकाः परुषं घ्नन्ति शतशो वज्रमुष्टिभिः[8] ॥६२॥
अन्यानन्ये विनिघ्नन्ति [9]द्रुघणैरतिनिर्घृणाः। विच्छिन्नप्रोच्छलच्चक्षुर्गोलोकानधिमस्तकम् ॥६३॥
[10]औरभ्रैश्च [11]रणैरन्यान् योधयन्ति मिथोऽसुराः। स्फुरद्ध्वनिदलन्मूर्द्ध[12]गलन्मस्तिष्ककर्दमान् ॥६४॥
तप्तलोहासनेष्वन्याना[13]सयन्ति पुरोद्धतान्। शाययन्ति च [14]विन्यासैः [15]शिताग्र कण्टकास्तरे[16] ॥६५॥
इत्यसह्यतरां घोरां नारकीं प्राप्य [17]यातनाम्। [18]उद्विग्नानां मनस्येषामेषा चिन्तोपजायते ॥६६॥
अहो दुरासदा[19] भूमिः प्रदीप्ता ज्वलनार्चिषा। वायवो वान्ति दुःस्पर्शाः स्फुलिङ्गकणवाहिनः ॥६७॥
दीप्ता दिशश्च दिग्दाहशङ्कां सञ्जनयन्त्यमूः। तप्तपांसुमयीं वृष्टिं किरन्त्यम्बुमुचोऽम्बरात् ॥६८॥

वे नारकी कितने ही नारकियोंको लोहेकी सलाईपर लगाये हुए मांसके समान लोहदण्डोंपर टाँगकर अग्निमें इतना सुखाते हैं कि वे सूखकर वल्लूर (शुष्क मांस) की तरह हो जाते हैं और कितने ही नारकियोंको नीचेकी ओर मुँह कर पहाड़की चोटीपर-से पटक देते हैं ॥५८॥ कितने ही नारकियोंके मर्मस्थान और हड्डियोंके सन्धिस्थानोंको पैनी करोंतसे विदीर्ण कर डालते हैं और उनके नखोंके अग्रभागमें तपायी हुई लोहेकी सुइयाँ चुभाकर उन्हें भयंकर वेदना पहुँचाते हैं ॥५९॥ कितने ही नारकियोंको पैने शूलके अग्रभागपर चढाकर घुमाते हैं जिससे उनकी अँतड़ियाँ निकलकर लटकने लगती हैं और छलकते हुए खूनसे उनका सारा शरीर लाल-लाल हो जाता है ॥ ६० ॥ इस प्रकार अनेक घावोंसे जिनका शरीर जर्जर हो रहा है ऐसे नारकियोंको वे वलिष्ठ नारकी खारे पानीसे सींचते हैं। जो नारकी घावोंकी व्यथासे मूर्च्छित हो जाते हैं खारे पानीके सींचनेसे वे पुनः सचेत हो जाते हैं ॥ ६१ ॥ कितने ही नारकियोंको पहाड़की ऊँची चोटीसे नीचे पटक देते हैं और फिर नीचे आनेपर उन्हें अनेक निर्दय नारकी बड़ी कठोरताके साथ सैकड़ों वज्रमय मुट्ठियोंसे मारते हैं ॥६२॥ कितने ही निर्दय नारकी अन्य नारकियोंको उनके मस्तकपर मुद्गरोंसे पीटते हैं जिससे उनके नेत्रोंके गोलक (गटेना) निकलकर बाहर गिर पड़ते हैं ॥ ६३ ॥ तीसरी पृथिवी तक असुर कुमारदेव नारकियोंको मेढा बनाकर परस्परमें लड़ाते हैं जिससे उनके मस्तक शब्द करते हुए फट जाते हैं और उनसे रक्त मांस आदि बहुत-सा मल बाहर निकलने लगता है ॥६४॥ जो जीव पहले बड़े उद्दण्ड थे उन्हें वे नारकी तपाये हुए लोहेके आसनपर बैठाते हैं और विधिपूर्वक पैने काँटोंके बिछौनेपर सुलाते हैं ॥ ६५ ॥ इस प्रकार नरककी अत्यन्त असह्य और भयंकर वेदना पाकर भयभीत हुए नारकियोंके मनमें यह चिन्ता उत्पन्न होती है ॥६६॥ कि अहो ! अग्निकी ज्वालाओंसे तपी हुई यह भूमि बड़ी ही दुरासद (सुखपूर्वक ठहरनेके अयोग्य) है। यहाँपर सदा अग्निके फुलिंगोंको धारण करनेवाला यह वायु बहता रहता है जिसका कि स्पर्श भी सुखसे नहीं किया जा सकता ॥६७॥ ये जलती हुई दिशाएँ दिशाओंमें आग लगनेका सन्देह उत्पन्न कर रही हैं

१ शुष्कमांसीकृत्य। 'उत्तप्तं शुष्कमांसं स्यात् तद्वल्लूरं त्रिलिङ्गकम्'। २ शूले संस्कृतं दग्धं शूल्यं तच्च मांसं च शूल्यमांसम्। ३. परे म०, ल०। ४ उत्कटं। ५. शूलाग्रेण निक्षिप्तान्। ६. आन्त्र परीतम्। ७ क्षाराम्बुसेचनम्। ८ दृढमुष्टिप्रहारैः। ९. मुद्गरैः। १०. मेषसम्बन्धिभिः। 'मेढ्रोरभ्रोरणोर्णायुमेषवृष्णय एडके।' इत्यभिधानात्। ११ युद्धैः। १२. किट्ट। –मस्तिष्क– प०, म०, स०। –मस्तक–अ०। –मास्तिक– ल०। १३ 'आस उपवेशने'। १४. विधिन्यासैः। १५. शित निशितम् 'तीक्ष्णम्'। १६ शय्याविशेषे। १७ तीव्रवेदनाम्। १८. भीतानाम्। १९. दुर्गमा।

विषारण्यमिदं विश्वग् विषवल्लीभिराततम् । असिपत्रवनं चेदमसिपत्रैर्भयानकम्[1] ॥६९॥
[2]भृषाभिसारिकाश्चेमा[3]स्तप्तायोमयपुत्रिकाः । [4]कामुद्दीपयन्त्यस्मानालिङ्गन्त्यो बलाद् गले ॥७०॥
योधयन्ति बलादस्मानिमे केऽपि [5]महत्तराः । नूनं प्रेताधिना[6]येन प्रयुक्ताः कर्मसाक्षिणः[7] ॥७१॥
[8]खरारटितमुत्प्रोथं[9] ज्वलज्ज्वालाकरालितम् । [10]गिलितुमनलोद्गारि [11]खरोष्ट्रं नोऽभिधावति ॥७२॥
अमी च भीषणाकाराः कृपाणोद्यतपाणयः । पुरुषास्तर्जयन्त्यस्मानकारणरणोद्धराः[12] ॥७३॥
इमे च परुषापाता गृध्रा नोऽभि[13]द्रवन्त्यरम् । [14]भषन्तः सारमेयाश्च [15]भीषयन्त्येतरामिमे ॥७४॥
[16]नूनमेतन्निभं[17]नास्मद्दुरितान्येव निर्दयम् । पीडामुत्पादयन्त्येवमहो व्यसनसन्निधिः[18] ॥७५॥
इतः [19]स्वरति पद्घोषो[20] नारकाणां प्रधावताम् । इतश्च करुणाक्रन्दगर्भः पूत्कारनिःस्वनः ॥७६॥
इतोऽयं प्रध्वनद्ध्वाङ्क्ष[21]कठोराराव मूर्च्छि[22]तः । [23]शिवानामशि[24]वाध्वानः प्रध्वानयति रोदसी[25] ॥७७॥
इतः परुषसम्पातपवनाधूननोत्थितः । असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वनिः ॥७८॥
सोऽयं कण्टकितस्कन्धः कूटशाल्मलिपादपः । यस्मिन् स्मृतेऽपि नोऽङ्गानि तुद्यन्त इव कण्टकैः ॥७९॥

और ये मेघ तप्तधूलिकी वर्षा कर रहे हैं ॥ ६८ ॥ यह विषवन है जो कि सब ओरसे विष लताओंसे व्याप्त है और यह तलवारकी धारके समान पैने पत्तोंसे भयंकर असिपत्र वन है ॥६९॥ ये गरम की हुई लोहेकी पुतलियाँ नीच व्यभिचारिणी स्त्रियोंके समान जबरदस्ती गलेका आलिंगन करती हुई हम लोगोंको अतिशय सन्ताप देती हैं (पक्षमें कामोत्तेजन करती हैं) ॥७०॥ ये कोई महाबलवान् पुरुष हम लोगोंको जबरदस्ती लड़ा रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो हमारे पूर्वजन्मसम्बन्धी दुष्कर्मोंकी साक्षी देनेके लिए यमराजके द्वारा ही भेजे गये हों ॥७१॥ जिनके शब्द बड़े ही भयानक हैं, जो अपनी नासिका ऊपरको उठाये हुए हैं, जो जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर हैं और जो मुँहसे अग्नि उगल रहे हैं ऐसे ऊँट और गधोंका यह समूह हम लोगोंको निगलनेके लिए ही सामने दौड़ा आ रहा है ॥७२॥ जिनका आकार अत्यन्त भयानक है जिन्होंने अपने हाथमें तलवार उठा रखी है और जो बिना कारण ही, लड़नेके लिए तैयार हैं, ऐसे ये पुरुष हम लोगोंकी तर्जना कर रहे हैं—हम लोगोंको घुड़क रहे हैं—डाँट दिखला रहे हैं ॥ ७३ ॥ भयंकर रूपसे आकाशसे पड़ते हुए ये गीध शीघ्र ही हमारे सामने झपट रहे हैं और ये भौंकते हुए कुत्ते हमें अतिशय भयभीत कर रहे हैं ॥७४॥ निश्चय ही इन दुष्ट जीवोंके छलसे हमारे पूर्वभवके पाप ही हमें इस प्रकार दुःख उत्पन्न कर रहे हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि हम लोगोंको सब ओरसे दुःखोंने घेर रखा है ॥७५॥ इधर यह दौड़ते हुए नारकियोंके पैरोंकी आवाज सन्ताप उत्पन्न कर रही है और इधर यह करुण विलापसे भरा हुआ किसीके रोनेका शब्द आ रहा है ॥ ७६ ॥ इधर यह काँव-काँव करते हुए कौवोंके कठोर शब्दसे विस्तारको प्राप्त हुआ शृगालोंका अमंगलकारी शब्द आकाश-पातालको शब्दायमान कर रहा है ॥ ७७ ॥ इधर यह असिपत्र वनमें कठिन रूपसे चलनेवाले वायुके प्रकम्पनसे उत्पन्न हुआ शब्द तथा उस वायुके आघातसे गिरते हुए पत्तोंका कठोर शब्द हो रहा है ॥७८॥ जिसके स्कन्ध भागपर काँटे लगे हुए हैं ऐसा यह वही कृत्रिम सेमरका पेड़

---

१ भयकरम् । २. मिथ्यागणिका । ३. –श्चैता– म०, ल० । ४. अत्यर्थम् । ५. असुराः । ६. यमेन । ७. कृताध्यक्षाः । ८. कटुरवं भवति तथा । ९. नासिका । १० चर्वितुम् । 'गृ निगरणे' धातोस्तुमुन् प्रत्ययः । ११. गर्दभोष्ट्रसमूहः । १२. दर्पाविष्टाः । १३. अभिमुखमागच्छन्ति । १४. तर्जयन्तः । १५. सन्त्रासयन्ति । १६. अहमेवं मन्ये । १७. व्याजेन । १८. समीपः । १९. स्फुरति अ०, प०, स० । स्वरति 'औस्वृ शब्दोपतापयोः । २०. पादरवः । २१. प्रद्ध्वनद्ध्वाङ्क्षः अ०, स०, ल० । ध्वाङ्क्षः वायसः । २२. मिश्रितः । २३. शृगालानाम् । २४. अमङ्गल । २५. आकाशभूमी ।

सैषा वैतरणी नाम सरित् सारुष्करद्रवा[1]। आस्तां तरणमेतस्याः स्मरणं च भयावहम् ॥८०॥
एते[2] च नारकावासा प्रज्वलन्त्यन्तरूष्मणा। अन्धमूषास्विवावर्त्तं नीयन्ते यत्र नारकाः ॥८१॥
दुस्सहा वेदनास्तीव्रा प्रहारा दुर्धरा इमे। अकाले दुस्त्यजाः प्राणा दुर्निवाराश्च नारकाः ॥८२॥
क्व याम क्व नु तिष्ठामः [3]क्वास्महे क्व नु [4]शेमहे। यत्र यत्रोपसर्पामस्तत्र तत्राधयोऽधिकाः ॥८३॥
इत्यपारमिदं दुःखं तरिष्याम कदा वयम्। नाब्धयोऽप्युपमानं नो जीवितस्यालवीयसः ॥८४॥
इत्यनुध्यायतां तेषां योऽन्तस्तापोऽनुसन्ततः[5]। स एव प्राणसंशीतिं[6] तानारोपयितुं क्षमः ॥८५॥
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यद्दुःखं सुदारुणम्। तत्तत्पिण्डीकृतं तेषु दुर्मोचैः पापकर्मभिः ॥८६॥
अक्ष्णोर्निमेषमात्रं च न तेषां सुखसंगतिः। दुःखमेवानुबन्धीद्धम् नारकाणामहर्निशम् ॥८७॥
नानादुःखशतावर्ते मग्नानां नरकार्णवे। तेषामास्तां सुखावाप्तिस्तत्स्मृतिश्च दवीयसी[7] ॥८८॥
शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते। तदसह्यमचिन्त्यं च बत केनोपमीयते ॥८९॥
शीतं षष्ठ्यां च सप्तम्यां पञ्चम्यां तद्द्वयं मतम्[8]। पृथिवीषूष्णमुद्दिष्टं चतसृष्वादिमासु च ॥९०॥
त्रिंशत्पञ्चहताः पञ्चत्रिपञ्च दश च क्रमात्। तिस्रः पञ्चभिरूनैका लक्षाः पञ्च च सप्तसु ॥९१॥

है जिसकी याद आते ही हम लोगोंके समस्त अंग काँटे चुभनेके समान दुःखी होने लगते हैं॥७९॥ इधर यह भिलावेके रससे भरी हुई वैतरणी नामकी नदी है। इसमें तैरना तो दूर रहा इसका स्मरण करना भी भयका देनेवाला है॥८०॥ ये वही नारकियोंके रहनेके घर (बिल) हैं जो कि गरमीसे भीतर-ही-भीतर जल रहे हैं और जिनमें ये नारकी छिद्ररहित साँचेमें गली हुई सुवर्ण, चाँदी आदि धातुओंकी तरह घुमाये जाते हैं॥८१॥ यहाँकी वेदना इतनी तीव्र है कि उसे कोई सह नहीं सकता, मार भी इतनी कठिन है कि उसे कोई बरदाश्त नहीं कर सकता। ये प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूट नहीं सकते और ये नारकी भी किसीसे रोके नहीं जा सकते॥८२॥ ऐसी अवस्थामें हम लोग कहाँ जायें? कहाँ खड़े हों? कहाँ बैठें? और कहाँ सोवें? हम लोग जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ अधिक-ही-अधिक दुःख पाते हैं॥८३॥ इस प्रकार यहाँके इस अपार दुःखसे हम कब तिरेंगे?—कब पार होंगे? हम लोगोंकी आयु भी इतनी अधिक है कि सागर भी उसके उपमान नहीं हो सकते॥८४॥ इस प्रकार प्रतिक्षण चिन्तवन करते हुए नारकियोंको जो निरन्तर मानसिक सन्ताप होता रहता है वही उनके प्राणोंको संशयमें डाले रखनेके लिए समर्थ है अर्थात् उक्त प्रकारके सन्तापसे उन्हें मरनेका संशय बना रहता है॥८५॥ इस विषयमें और अधिक कहनेसे क्या लाभ है? इतना ही पर्याप्त है, कि संसारमें जो-जो भयंकर दुःख होते हैं उन सभीको, कठिनतासे दूर होने योग्य कर्मोंने नरकोंमें इकट्ठा कर दिया है॥८६॥ उन नारकियोंको नेत्रोंके निमेष मात्र भी सुख नहीं है। उन्हें रात-दिन इसी प्रकार दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है॥८७॥ नाना प्रकारके दुःखरूपी सैकड़ों आवर्तोंसे भरे हुए नरकरूपी समुद्रमें डूबे हुए नारकियोंको सुखकी प्राप्ति तो दूर रही उसका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है॥८८॥ शीत अथवा उष्ण नरकोंमें इन नारकियोंको जो दुःख होता है वह सर्वथा असह्य और अचिन्त्य है। संसारमें ऐसा कोई पदार्थ भी तो नहीं है जिसके साथ उस दुःखकी उपमा दी जा सके॥८९॥ पहलेकी चार पृथिवियोंमें उष्ण वेदना है। पाँचवीं पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों वेदनाएँ हैं अर्थात् ऊपरके दो लाख बिलोंमें उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है। छठी और सातवीं पृथिवीमें शीत वेदना है। यह उष्ण और शीतकी वेदना नीचे-नीचेके नरकोंमें क्रम-क्रमसे बढ़ती हुई है॥९०॥ उन सातों पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख,

१. भल्लातकतैलसहिता। २. एते ते अ०, प०, द०, स०। ३ 'आस उपवेशने'। ४. 'शीङ् स्वप्ने'। ५. विस्तृत। ६ सदेहः। ७ नितरां दूरा। ८ –यं समम् ल०।

नरकेषु बिलानि स्युः प्रज्वलन्ति महान्ति च । नारका येषु पच्यन्ते [1]कुम्भीष्विव दुरात्मकाः ॥९२॥
एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशापि च । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदायुस्तत्राब्धिसंख्यया ॥९३॥
धनूंषि सप्त तिस्रः स्युररत्न्योऽङ्गुलयश्च षट् । घर्मायां नारकोत्सेधो [2]द्विर्द्विश्शेषासु कथ्यताम् ॥९४॥
[3]पोगण्डा हुण्डसंस्थाना [4]षण्ढका' पूतिगन्धयः । दुर्वर्णाश्चैव दुःस्पर्शा दुःस्वरा दुर्भगाश्च ते ॥९५॥
तमोमयैरिवारब्धा विरूक्षैः परमाणुभिः । जायन्ते कालकालाभा[5] नारका द्रव्यलेश्यया ॥९६॥
भावलेश्या तु कापोती[6] जघन्या मध्यमोत्तमा । नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया ॥९७॥
कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा चेति यथाक्रमम् । घर्मादिसप्तमीं यावत् तावत्पृथिवीषु वर्णिता ॥९८॥
यादृशः कटुकालाबुकाञ्जीरादिसमागमे[7] । रसः कटुरनिष्टश्च तद्गात्रेष्वपि तादृशः ॥९९॥
श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां [8]समाहृतौ । यद्वैगन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा ॥१००॥
यादृशः करपत्रेषु[9] गोक्षुरेषु[10] च यादृशः । तादृशः कर्कशः स्पर्शः तदङ्गेष्वपि जायते ॥१०१॥

पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं। ये बिल सदा ही जाज्वल्यमान रहते हैं और बड़े-बड़े हैं। इन बिलोंमें पापी नारकी जीव हमेशा कुम्भीपाक (बन्द घड़ेमें पकाये जानेवाले जल आदि) के समान पकते रहते हैं ॥९१-९२॥ उन नरकोंमें क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥९३॥ पहली पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है। और द्वितीय आदि पृथिवियोंमें क्रम-क्रमसे दूनी-दूनी समझनी चाहिए। अर्थात् दूसरी पृथिवीमें पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल, तीसरी पृथिवीमें इकतीस धनुष एक हाथ, चौथी पृथिवीमें बासठ धनुष दो हाथ, पाँचवीं पृथिवीमें एक सौ पचीस धनुष, छठी पृथिवीमें दो सौ पचास हाथ और सातवीं पृथिवीमें पाँच सौ धनुष शरीरकी ऊँचाई है ॥९४॥ वे नारकी विकलांग, हुण्डक संस्थानवाले, नपुंसक, दुर्गन्धयुक्त, बुरे काले रंगके धारक, कठिन स्पर्शवाले, कठोर स्वरसहित तथा दुर्भग (देखनेमें अप्रिय) होते हैं ॥९५॥ उन नारकियोंका शरीर अन्धकारके समान काले और रूखे परमाणुओंसे बना हुआ होता है। उन सबकी द्रव्यलेश्या अत्यन्त कृष्ण होती है ॥९६॥ परन्तु भावलेश्यामें अन्तर है जो कि इस प्रकार है—पहली पृथिवीमें जघन्य कापोती भावलेश्या है, दूसरी पृथिवीमें मध्यम कापोती लेश्या है, तीसरी पृथिवीमें उत्कृष्ट कापोती लेश्या और जघन्य नील लेश्या है, चौथी पृथिवीमें मध्यम नील लेश्या है, पाँचवींमें उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या है, छठी पृथिवीमें मध्यम कृष्ण लेश्या है और सातवीं पृथिवीमें उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। इस प्रकार घर्मा आदि सात पृथिवियोंमें क्रमसे भावलेश्याका वर्णन किया ॥९७-९८॥ कड़ुई तूम्बी और कांजीरके संयोगसे जैसा कड़ुआ और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस नारकियोंके शरीरमें भी उत्पन्न होता है ॥९९॥ कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट आदि जीवोंके मृतक कलेवरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है वह भी इन नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धकी बराबरी नहीं कर सकती ॥ १०० ॥ करोंत और गोखुरूमें जैसा कठोर स्पर्श होता है वैसा ही कठोर स्पर्श नार-

---

१. पिठरेषु । 'कुम्भी तु पाटला वारी पर्णे पिठरकट्फले' इत्यभिधानात् । कुम्भेष्विव म०, ल० । २. द्विगुणः द्विगुणः । ३. विकलाङ्गाः । ४. षण्डकाः ब०, अ०, प० । ५. अतिकृष्णाभाः । ६. घर्मायां कापोती जघन्या । वंशाया मध्यमा कापोती लेश्या मेघायाम्—उत्तमा कापोती लेश्या जघन्या नीललेश्या च । अञ्जनाया मध्यमा नीललेश्या अरिष्टायाम् उत्कृष्टा नीललेश्या जघन्या कृष्णलेश्या च । मध्यमा कृष्णा माघव्या मघव्या सप्तम्या भूमौ उत्कृष्टा कृष्णलेश्या । ७. संयोगे । ८. संग्रहे । ९. क्रकचेषु । १०. गोकण्टकेषु ।

अपृथग्विक्रियास्तेषामशुभाद् दुरितोदयात् । ततो[1] विकृतबीभत्सविरूपात्मैव[2] सा मता ॥१०२॥
विबोधोऽस्ति विभङ्गाख्यस्तेषां पर्याप्त्यनन्तरम् । तेनान्यजन्मवैराणां स्मरन्त्युद्घट्टयन्ति[3] च ॥१०३॥
यदमी प्राक्तने जन्मन्यासन् पापेषु पण्डिताः । कटुवाचश्च[4] दुराचारास्तद्विपाकोऽयमुल्बण[5] ॥१०४॥
ईदृग्विधं महादुःखं द्वितीयनरकाश्रितम् । पापेन कर्मणा प्रापत् शतबुद्धिरसौ सुर ॥१०५॥
तस्माद्दुःखमनिच्छूनां नारकं तीव्रमीदृशम् । उपास्योऽयं जिनेन्द्राणां धर्मो मतिमतां नृणाम् ॥१०६॥
धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययम् । धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवम् ॥१०७॥
धर्मादेव सुरेन्द्रत्वं नरेन्द्रत्वं गणेन्द्रता । धर्मात्तीर्थंकरत्वं च परमानन्त्यमेव च ॥१०८॥
धर्मो बन्धुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरङ्गिनाम् । तस्माद्धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥१०९॥
तदा प्रीतिंकरस्येति वचः श्रुत्वा जिनेशिनः । श्रीधरो धर्मसंवेगं परं प्रापत् स पुण्यधीः ॥११०॥
[6]गत्वा गुरुनिदेशेन शतबुद्धिमबोधयत् । किं भद्रमुख[7] मां वेत्सि शतबुद्धे महाबलम् ॥१११॥
तदासीत् तव मिथ्यात्वमुद्रिक्तं[8] दुर्नयाश्रयात् । पश्य तत्परिपाकोऽयमसत्वन्तस्ते[9] पुरःस्थितः ॥११२॥
इत्यसौ बोधितस्तेन शुद्धं दर्शनमग्रहीत् । मिथ्यात्वकलुषापायात् परां शुद्धिमुपाश्रितः ॥११३॥
कालान्ते नरकाद्धीमान्निर्गत्य शतधीचरः । पुष्करद्वीपपूर्वार्द्धप्राग्विदेहमुपागतः ॥११४॥

कियोंके शरीरमें भी होता है ॥१०१॥ उन नारकियोंके अशुभ कर्मका उदय होनेसे अपृथक् विक्रिया ही होती है और वह भी अत्यन्त विकृत, घृणित तथा कुरूप हुआ करती है। भावार्थ– एक नारकी एक समयमें अपने शरीरका एक ही आकार बना सकता है सो वह भी अत्यन्त विकृत, घृणाका स्थान और कुरूप आकार बनाता है, देवोंके समान मनचाहे अनेक रूप बनानेकी सामर्थ्य नारकी जीवोंमें नहीं होती ॥१०२॥ पर्याप्तक होते ही उन्हें विभंगावधि ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे वे पूर्वभवके वैरोंका स्मरण कर लेते हैं और उन्हें प्रकट भी करने लगते हैं ॥१०३॥ जो जीव पूर्वजन्ममें पाप करनेमें बहुत ही पण्डित थे, जो खोटे वचन कहनेमें चतुर थे और दुराचारी थे यह उन्हींके दुष्कर्मोंका फल है ॥१०४॥ हे देव, वह शतबुद्धि मन्त्रीका जीव अपने पापकर्मके उदयसे ऊपर कहे अनुसार द्वितीय नरकसम्बन्धी बड़े-बड़े दुःखोंको प्राप्त हुआ है ॥१०५॥ इसलिए जो जीव ऊपर कहे हुए नरकोंके तीव्र दुःख नहीं चाहते उन बुद्धिमान् पुरुषोंको इस जिनेन्द्रप्रणीत धर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥१०६॥ यही जैन धर्म ही दुःखोंसे रक्षा करता है, यही धर्म सुख विस्तृत करता है, और यही धर्म कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले मोक्षसुखको देता है ॥१०७॥ इस जैन धर्मसे इन्द्र चक्रवर्ती और गणधरके पद प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर पद भी इसी धर्मसे प्राप्त होता है और सर्वोत्कृष्ट सिद्ध पद भी इसीसे मिलता है ॥१०८॥ यह जैन धर्म ही जीवोंका बन्धु है, यही मित्र है और यही गुरु है, इसलिए हे देव, स्वर्ग और मोक्षके सुख देनेवाले इस जैनधर्ममें ही तू अपनी बुद्धि लगा ॥१०९॥ उस समय प्रीतिंकर जिनेन्द्रके ऊपर कहे वचन सुनकर पवित्र बुद्धिका धारक श्रीधरदेव अतिशय धर्मप्रेमको प्राप्त हुआ ॥११०॥ और गुरुके आज्ञानुसार दूसरे नरकमें जाकर शतबुद्धिको समझाने लगा कि हे भोले मूर्ख शतबुद्धि, क्या तू मुझ महाबलको जानता है ? ॥१११॥ उस भवमें अनेक मिथ्यानयोंके आश्रयसे तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल हो रहा था। देख, उसी मिथ्यात्वका यह दुःख देनेवाला फल तेरे सामने है ॥११२॥ इस प्रकार श्रीधरदेवके द्वारा समझाये हुए शतबुद्धिके जीवने शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्वरूपी मैलके नष्ट हो जानेसे उत्कृष्ट विशुद्धि प्राप्त की ॥११३॥ तत्पश्चात् वह शतबुद्धिका जीव आयुके अन्तमें

---

१. ततः कारणात् । २ विरूप दुर्वर्णं । ३ उद्घाट्यन्ति । ४ दुर्वचनाः । ५. उत्कटः । ६. द्वितीयनरकमेत्य । ७ भद्रश्रेष्ठ । भद्रमुख अ०, प०, स० । ८. उत्कटम् । ९, दुःखावसान ।

विषये मङ्गलावत्यां नगर्यां रत्नसञ्चये । महीधरस्य सम्राजः सुन्दर्याश्च सुतोऽभवत् ॥११५॥
जयसेनश्रुतिर्बुद्ध्वा विवाहसमये सुरात् । श्रीधराख्यात् प्रवव्राज गुरुं यमधरं श्रित. ॥११६॥
नारकीं वेदनां घोरां तेनासौ किल बोधित । निर्विद्य विषयासंगात् तपो दुश्चरमाचरत् ॥११७॥
ततो ब्रह्मेन्द्रतां सोऽगात् जीवितान्ते समाहित[1] । क नारक क देवोऽयं विचित्रा कर्मणां गति ॥११८॥
नीचैर्वृत्तिरधर्मेण धर्मेणोच्चै. स्थितिं भजेत् । तस्मादुच्चै. पदं वाञ्छन् नरो धर्मपरो भवेत् ॥११९॥
ब्रह्मलोकादथागत्य ब्रह्मेन्द्र सोऽवधीक्षण । श्रीधरं पूजयामास गतं कल्याणमित्रताम् ॥१२०॥
श्रीधरोऽथ दिवश्च्युत्वा जम्बूद्वीपमुपाश्रिते । प्राग्विदेहे महावत्सविषये स्वर्गसन्निभे ॥१२१॥
सुसीमानगरे[2] जज्ञे सुदृष्टिनृपते सुत । मातु सुन्दरनन्दाया सुविधिर्नाम पुण्यधी ॥१२२॥
बाल्यात् प्रभृति सर्वासां कलानां सोऽभवन्निधि । शशीव जगतस्तन्वन्नन्वहं नयनोत्सवम् ॥१२३॥
स बाल्य[3] एव सद्धर्ममबुद्ध प्रतिबुद्धधीः । प्रायेणात्मवतां[4] चित्तमात्मश्रेयसि रज्यते ॥१२४॥
शैशवेऽपि स संप्रापज्जनतानन्ददायिनी । रूपसंपदमापूर्णयौवनस्तु विशेषत. ॥१२५॥
[5]मकुटालङ्कृतप्रांशु[6]मूर्धा[7] प्रोन्नतिमाश्रये । मेरु कुलमहीध्राणामिव मध्ये स भूभृताम् ॥१२६॥

भयंकर नरकसे निकलकर पूर्व पुष्कर द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्नसंचय-नगरमें महीधर चक्रवर्तीके सुन्दरी नामक रानीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ। जिस समय उसका विवाह हो रहा था उसी समय श्रीधरदेवने आकर उसे समझाया जिससे विरक्त होकर उसने यमधर मुनिराजके समीप दीक्षा धारण कर ली। श्रीधरदेवने उसे नरकोंके भयंकर दुःखकी याद दिलायी जिससे वह विषयोंसे विरक्त होकर कठिन तपश्चरण करने लगा ॥११४-११७॥ तदनन्तर आयुके अन्त समयमें समाधिपूर्वक प्राण छोड़कर ब्रह्मस्वर्गमें इन्द्र पदको प्राप्त हुआ। देखो, कहाँ तो नारकी होना और कहाँ इन्द्र पद प्राप्त होना। वास्तवमें कर्मोंकी गति बड़ी ही विचित्र है ॥११८॥ यह जीव, हिंसा आदि अधर्मकार्योंसे नरकादि नीच गतियोंमें उत्पन्न होता है और अहिंसा आदि धर्मकार्योंसे स्वर्ग आदि उच्च गतियोंको प्राप्त होता है इसलिए उच्च पदकी इच्छा करनेवाले पुरुषको सदा धर्ममें तत्पर रहना चाहिए ॥११९॥ अनन्तर अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे युक्त उस ब्रह्मेन्द्रने (शतबुद्धि या जयसेनके जीवने) ब्रह्म स्वर्गसे आकर अपने कल्याणकारी मित्र श्रीधरदेवकी पूजा की ॥१२०॥

अनन्तर वह श्रीधरदेव स्वर्गसे च्युत होकर जम्बूद्वीपसम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्रमें स्वर्गके समान शोभायमान होनेवाले महावत्स देशके सुसीमानगरमें सुदृष्टि राजाकी सुन्दरनन्दा नामकी रानीसे पवित्रबुद्धिका धारक सुविधि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२१-१२२॥ वह सुविधि बाल्यावस्थासे ही चन्द्रमाके समान समस्त कलाओंका भाण्डार था और प्रतिदिन लोगोंके नेत्रोंका आनन्द बढ़ाता रहता था ॥१२३॥ उस बुद्धिमान् सुविधिने बाल्य अवस्थामें ही समीचीन धर्मका स्वरूप समझ लिया था। सो ठीक ही है, आत्मज्ञानी पुरुषोंका चित्त आत्मकल्याणमें ही अनुरक्त रहता है ॥१२४॥ वह बाल्य अवस्थामें ही लोगोंको आनन्द देनेवाली रूपसम्पदाको प्राप्त था और पूर्ण युवा होनेपर विशेष रूपसे मनोहर सम्पदाको प्राप्त हो गया था ॥१२५॥ उस सुविधिका ऊँचा मस्तक सदा मुकुटसे अलंकृत रहता था इसलिए अन्य राजाओंके बीचमें वह सुविधि उस प्रकार उन्नता धारण करता था जिस प्रकार कि कुलाचलोंके

---

१ समाधानयुक्तः। २. सीतानद्युत्तरतटवर्तिनि। ३ यौवने। ४. बुद्धिमताम्। ५. मुकुटा- अ०, प०। ६ उन्नतः। ७. मूर्ध्ना द०, म०, स०, ल०।

कुण्डलोद्भासि तस्याभात् मुखमुद्भ्रूविलोचनम् । सचन्द्रार्कं सतारं च सेन्द्रचापमिवाम्बरम् ॥१२७॥
मुखं सुरभिनिश्वास कान्ताधरमभाद् विभो । महोत्पलमिवोद्भिन्नदलं सुरभिगन्धि च ॥१२८॥
नासिका घ्रातुमस्येव[1] गन्धमायतिमादधे । अवाङ्मुखी[2] विरेकाभ्यामापिबन्तीव[3] तद्रसम् ॥१२९॥
[4]कन्धरस्तन्मुखाब्जस्य नाललीलां दधे पराम् । मृणालवलयेनेव हारेण परिराजित.[5] ॥१३०॥
महोरःस्थलमस्याभान्महारत्नांशुपेशलम्[6] । ज्वलद्दीपमिवाम्भोजवासिन्या[7] वासगेहकम् ॥१३१॥
अंसावभ्युन्नतौ तस्य दिग्गजस्येव सद्गतेः । कुम्भाविव रराजाते सुवंशस्य महोन्नते ॥१३२॥
[8]व्यायामशालिनावस्य रेजतुर्भूभुजो भुजौ । भूलोकापायरक्षार्थं क्लृप्तौ वज्राविवार्गलौ ॥१३३॥
नखताराभिरुद्भूतचन्द्रार्कस्फुटलक्षणम् । चारुहस्ततलं तस्य नभस्थलमिवाबभौ ॥१३४॥
मध्यमस्य जगन्मध्यविभ्रमं[9] विभ्रदद्युतत् । घनता[10]मवमूर्ध्वाधोविस्तीर्णपरिमण्डलम्[11] ॥१३५॥

बीचमें चूलिकासहित मेरु पर्वत है ॥१२६॥ उसका मुख, सूर्य, चन्द्रमा, तारे और इन्द्रधनुपसे सुशोभित आकाशके समान शोभायमान हो रहा था। क्योंकि वह दो कुण्डलोंसे शोभायमान था जो कि सूर्य और चन्द्रमाके समान जान पड़ते थे तथा कुछ ऊँची उठी हुई भौंहोंसहित चमकते हुए नेत्रोंसे युक्त हुआ था इसलिए इन्द्रधनुष और ताराओंसे युक्त हुआ-सा जान पड़ता था ॥१२७॥ अथवा उसका मुख एक फूले हुए कमलके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि फूले हुए कमलमें जिस प्रकार उसकी कलिकाएँ विकसित होती हैं उसी प्रकार उसके मुखमें मनोहर ओठ शोभायमान थे और फूला हुआ कमल जिस प्रकार मनोज्ञ गन्धसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी श्वासोच्छ्वासकी मनोज्ञ गन्धसे युक्त था ॥१२८॥ उसकी नाक स्वभावसे ही लम्बी थी, इसीलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने मुख-कमलकी सुगन्धि सूँघनेके लिए ही लम्बाई धारण की हो। और उसमें जो दो छिद्र थे उनसे ऐसी मालूम होती थी मानो नीचेकी ओर मुँह करके उन छिद्रों-द्वारा उसका रसपान ही कर रही हो ॥१२९॥ उसका गला मृणालवलयके समान श्वेत हारसे शोभायमान था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मुखरूपी कमलकी उत्तम नालको ही धारण कर रहा हो ॥१३०॥ बड़े-बड़े रत्नोंकी किरणोंसे मनोहर उसका विशाल वक्षःस्थल ऐसा शोभायमान होता था मानो कमलवासिनी लक्ष्मीका जलते हुए दीपकोंसे शोभायमान निवासगृह ही हो ॥१३१॥ वह सुविधि स्वयं दिग्गजके समान शोभायमान था और उसके ऊँचे उठे हुए दोनों कन्धे दिग्गजके कुम्भस्थलके समान शोभायमान हो रहे थे। क्योंकि जिस प्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् समीचीन चालका धारक होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सद्गति अर्थात् समीचीन आचरणोंका धारक अथवा सत्पुरुषोंका आश्रय था। दिग्गज जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी रीढसे सहित होता है इसी प्रकार वह सुविधि भी सुवंश अर्थात् उच्च कुलवाला था और दिग्गज जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा होता है उसी प्रकार वह सुविधि भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट था ॥१३२॥ उस राजाकी अत्यन्त लम्बी दोनों भुजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उपद्रवोंसे लोककी रक्षा करनेके लिए वज्रके बने हुए दो अर्गलदण्ड ही हों ॥१३३॥ उसकी दोनों सुन्दर हथेलियाँ नखरूपी ताराओंसे शोभायमान थीं और सूर्य तथा चन्द्रमाके चिह्नोंसे सहित थीं इसलिए तारे और सूर्य-चन्द्रमासे सहित आकाशके समान शोभायमान हो रही थीं ॥१३४॥ उसका मध्य भाग लोकके मध्य भागकी शोभाको धारण करता हुआ अत्यन्त शोभायमान था, क्योंकि लोकका मध्य भाग जिस प्रकार

१ –मस्येव म०, ल०। २ अधोमुखी। ३ रन्ध्राभ्याम्। ४ कण्ठ। ५. परिरञ्जित म०। ६. मनोज्ञम्। ७ लक्ष्म्या। ८ दैर्घ्य। ९ शोभा। १० कृशत्वम्। ११ परिधिः।

जघनाभोगमामुक्त[1]कटिसूत्रमसौ दधे । मेरुर्नितम्बमालम्बिसेन्द्रचापाम्बुदं[2] यथा ॥१३६॥
सोऽधात् कनकराजीवकिञ्जल्कपरिपिञ्जरौ । ऊरू जगद्गृहोदग्रतोरणस्तम्भसन्निभौ ॥१३७॥
जङ्घाद्वयं च सुश्लिष्टं[3] नृणां चित्तस्य रञ्जकम् । सालङ्कारं व्यजेष्टास्य सुकवेः काव्यबन्धनम् ॥१३८॥
तत्क्रमाब्जं मृदुस्पर्शं लक्ष्मीसंवाहनोचितम्[3] । शोणिमानं[4] दधे लग्नमिव तत्करपल्लवात् ॥१३९॥
इत्याविष्कृतरूपेण हारिणा चारुलक्ष्मणा । मनांसि जगतां जह्रे स बालाद् बालकोऽपि सन् ॥१४०॥
स तथा[5] यौवनारम्भे मदनोद्रेक[6]चकारिणी । वशी युवजरन्नासीद[7]रिषड्वर्गनिग्रहात् ॥१४१॥
सोऽनुमेने यथाकालं सत्कलत्रपरिग्रहम् । उपरोधाद् गुरोः प्राप्तराज्यलक्ष्मीपरिच्छदः ॥१४२॥
चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्रीयोऽयं[8] यतो[9] युवा । ततश्चक्रिसुतानेन परिणिन्ये मनोरमा ॥१४३॥
तयानुकूलया सत्या[10] स रेमे सुचिरं नृपः । सुशीलमनुकूलं च कलत्रं रमयेत्परम् ॥१४४॥
तयोरत्यन्तसंप्रीत्या काले गच्छत्यनन्तरम् । स्वयंप्रभो दिवश्च्युत्वा केशवाख्यः सुतोऽजनि ॥१४५॥

कृश है उसी प्रकार उसका मध्य भाग भी कृश था और जिस प्रकार लोकके मध्य भागसे ऊपर और नीचेका हिस्सा विस्तीर्ण होता है उसी प्रकार उसके मध्य भागसे ऊपर नीचेका हिस्सा भी विस्तीर्ण था ॥१३५॥ जिस प्रकार मेरु पर्वत इन्द्रधनुषसहित मेघोंसे घिरे हुए नितम्ब भाग (मध्य-भागको) धारण करता है उसी प्रकार वह सुविधि भी सुवर्णमय करधनीको धारण किये हुए नितम्ब भाग (जघन भाग) को धारण करता था ॥१३६॥ वह सुविधि, सुवर्ण कमलकी केशरके समान पीली जिन दो ऊरुओंको धारण कर रहा था वे ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्‌रूपी घरके दो तोरण-स्तम्भ (तोरण बाँधनेके खम्भे) ही हों ॥१३७॥ उसकी दोनों जंघाएँ सुश्लिष्ट थीं अर्थात् संगठित होनेके कारण परस्परमें सटी हुई थीं, मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली थीं और उनके अलंकारों (आभूषणोंसे) सहित थीं इसलिए किसी उत्तम कविकी सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषगुणसे सहित मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली और उपमा, रूपक आदि अलंकारोंसे युक्त काव्य-रचनाको भी जीतती थीं ॥१३८॥ अत्यन्त कोमल स्पर्शके धारक और लक्ष्मीके द्वारा सेवा करने योग्य (दाबनेके योग्य) उसके दोनों चरण-कमल जिस स्वाभाविक लालिमाको धारण कर रहे थे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सेवा करते समय लक्ष्मीके कर-पल्लवसे छूटकर ही लग गयी हो ॥१३९॥ इस प्रकार वह सुविधि बालक होनेपर भी अनेक सामुद्रिक चिह्नोंसे युक्त प्रकट हुए अपने मनोहर रूपके द्वारा संसारके समस्त जीवोंके मनको जबरदस्ती हरण करता था ॥१४०॥ उस जितेन्द्रिय राजकुमारने कामका उद्रेक करनेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंका निग्रह कर दिया था इसलिए वह तरुण होकर भी वृद्धोंके समान जान पड़ता था ॥१४१॥ उसने यथायोग्य समयपर गुरुजनोंके आग्रहसे उत्तम स्त्रीके साथ पाणिग्रहण करानेकी अनुमति दी थी और छत्र, चमर आदि राज्य-लक्ष्मीके चिह्न भी धारण किये थे, राज्य-पद स्वीकृत किया था ॥१४२॥ तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था इसलिए उसने उन्हीं चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था ॥१४३॥ सदा अनुकूल सती मनोरमाके साथ वह राजा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा सो ठीक है । सुशील और अनुकूल स्त्री ही पतिको प्रसन्न कर सकती है ॥१४४॥ इस प्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीड़ा करते हुए उन दोनोंका समय बीत रहा था कि स्वयंप्रभ नामका देव (श्रीमती

---

१. पिनद्धकटिसूत्रम् । २ सुसम्बद्धम् । ३. सम्मर्दन । ४. शोणत्वम् । ५. यथा प० । ६. उद्रेक । ७. 'अयुक्तितः प्रणीताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः' इत्यरिषड्वर्गः । ८. स्वसुः पुत्रः भागिनेय इत्यर्थः । ९. यतः कारणात् । १०. पतिव्रतया ।

वज्रजङ्घभवे यासौ श्रीमती तस्य वल्लभा। [1]सैवास्य पुत्रतां याता संसृतिस्थितिरीदृशी ॥१४६॥
तस्मिन् पुत्रे नृपस्यास्य प्रीतिरासीद् गरीयसी। पुत्रमात्रं च संप्रीत्यै किमु [2]तेष्टाङ्गनाचर ॥१४७॥
शार्दूलार्यचराद्याश्च देशेऽत्रैव नृपात्मजा। जाता समानपुण्यत्वादन्योऽन्यसदृशर्द्धय ॥१४८॥
विभीषणनृपात् पुत्र प्रियदत्तोदरेऽजनि। देवश्चित्राङ्गद [3]श्च्युत्वा वरदत्ताह्वयो दिव ॥१४९॥
नन्दिषेणनृपानन्तमत्यो सूनुरजायत। मणिकुण्डलनामासौ [4]वरसेनसमाह्वय ॥१५०॥
[5]रतिषेणमहीभर्तुश्चन्द्रमत्यां सुतोऽजनि। मनोहरो [6]दिवश्च्युत्वा चित्राङ्गदसमाख्यया ॥१५१॥
प्रभञ्जननृपाच्चित्रमालिन्यां स मनोरथ.। प्रशान्तमदन सूनुरजनिष्ट दिवश्च्युत ॥१५२॥
ते सर्वे सदृशाकाररूपलावण्यसंपद। स्वोचितां श्रियमासाद्य चिरं भोगानभुञ्जत ॥१५३॥
ततोऽमी चक्रिणाऽन्येद्युरभिवन्द्य समं जिनम्। भक्त्या विमलवाहाख्यं महाप्राव्राज्यमाश्रिता. ॥१५४॥
नृपैरष्टादशाभ्यस्त [7]सहस्रप्रमितैरमा [8]। सहस्रै पञ्चभि पुत्रै प्राव्राजीच्चक्रवर्त्यसौ ॥१५५॥
पर संवेगनिर्वेदपरिणाममुपागत। ते तेपिरे तपस्तीव्रं [9]मार्गे स्वर्गापवर्गयो ॥१५६॥
संवेग परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च। निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥१५७॥

का जीव) स्वर्गसे च्युत होकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र हुआ ॥ १४५ ॥ वज्रजंघ पर्यायमें जो इसकी श्रीमती नामकी प्यारी स्त्री थी वही इस भवमें इसका पुत्र हुई है। क्या कहा जाये ? संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥ १४६ ॥ उस पुत्रपर सुविधि राजाका भारी प्रेम था सो ठीक ही है। जब कि पुत्र मात्र ही प्रीतिके लिए होता है तब यदि पूर्वभवका प्रेमपात्र स्त्रीका जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो फिर कहना ही क्या है ? उसपर तो सबसे अधिक प्रेम होता ही है ॥१४७॥ सिंह, नकुल, वानर और शूकरके जीव जो कि भोगभूमिके बाद द्वितीय स्वर्गमें देव हुए थे वे भी वहाँसे चय कर इसी वत्सकावती देशमें सुविधिके समान पुण्याधिकारी होनेसे उसीके समान विभूतिके धारक राजपुत्र हुए ॥ १४८ ॥ सिंहका जीव-चित्रांगद देव स्वर्गसे च्युत होकर विभीषण राजासे उसकी प्रियदत्ता नामकी पत्नीके उदरमें वरदत्त नामका पुत्र हुआ ॥१४९॥ शूकरका जीव—मणिकुण्डल नामका देव नन्दिषेण राजा और अनन्तमती रानीके वरसेन नामका पुत्र हुआ ॥१५०॥ वानरका जीव-मनोहर नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर रतिषेण राजाकी चन्द्रमती रानीके चित्रांगद नामका पुत्र हुआ ॥१५१॥ और नकुलका जीव-मनोरथ नामका देव स्वर्गसे च्युत होकर प्रभंजन राजाकी चित्रमालिनी रानीके प्रशान्तमदन नामका पुत्र हुआ ॥१५२॥ समान आकार, समान रूप, समान सौन्दर्य और समान सम्पत्तिके धारण करनेवाले वे सभी राजपुत्र अपने-अपने योग्य राज्यलक्ष्मी पाकर चिरकाल तक भोगोंका अनुभव करते रहे ॥ १५३ ॥

तदनन्तर किसी दिन वे चारों ही राजा, चक्रवर्ती अभयघोषके साथ विमलवाह जिनेन्द्र देवकी वन्दना करनेके लिए गये। वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वन्दना की और फिर सभीने विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली ॥१५४॥ वह चक्रवर्ती अठारह हजार राजाओं और पाँच हजार पुत्रोंके साथ दीक्षित हुआ था ॥ १५५ ॥ वे सब मुनीश्वर उत्कृष्ट संवेग और निर्वेदरूप परिणामोंको प्राप्त होकर स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत कठिन तप तपने लगे ॥१५६॥ धर्म और धर्मके फलोंमें उत्कृष्ट प्रीति करना संवेग कहलाता है और शरीर, भोग तथा संसारसे विरक्त

---

१. सैवाद्य प०, द०, स०, अ०। २ किमु तेष्वङ्गना- ल०। ३. व्याघ्रचर। ४. वराहचरः। ५. रविषेण- अ०, प०, स०। ६ मर्कटचर। ७ अभ्यस्त गुणितम्। ८-रमी प०, ल०। ९ मार्गं द०, स०, म०, ल०।

नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन् । उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥१५८॥
सद्दर्शनं व्रतोद्योतं [1]समतां प्रोषधव्रतम् । सचित्तसेवाविरतिं [2]मह्नि स्त्रीसंगवर्जनम् ॥१५९॥
ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम् । तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥१६०॥
स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादशगणाधिपाः[3] । स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद क्रमान्नृपः ॥१६१॥
पञ्चैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे ॥१६२॥
स्थूलात् प्राणातिपाताच्च मृषावादाच्च चौर्यतः । परस्त्रीसेवनात्तृष्णाप्रकर्षाच्च निवृत्तयः ॥१६३॥
व्रतान्येतानि पञ्च स्युर्भावनासंस्कृतानि वै । सम्यक्त्वशुद्धियुक्तानि [4]महोदर्काण्यगारिणाम् ॥१६४॥
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । [5]भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ॥१६५॥
[6]समतां प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रहम् । मरणान्ते च संन्यासं प्राहुः शिक्षाव्रतान्यपि ॥१६६॥
द्वादशात्मकमेतद्धि व्रतं स्याद् गृहमेधिनाम् । स्वर्गसौधस्य सोपानं पिधानमपि दुर्गते ॥१६७॥
ततो दर्शनसंपूतां व्रतशुद्धिमुपेयिवान् । उपासिष्ट[7] स मोक्षस्य मार्गं राजर्षिरूर्जितम् ॥१६८॥
अथावसाने नैर्ग्रन्थीं प्रव्रज्यामुपसेदिवान् । सुविधिर्विधिनाराध्य[8] मुक्तिमार्गमनुत्तरम् ॥१६९॥
समाधिना तनुत्यागादच्युतेन्द्रोऽभवद् विभुः । द्वाविंशत्यब्धिसंख्यात[9]परमायुर्महर्द्धिकः ॥१७०॥

होनेको निर्वेद कहते हैं ॥१५७॥ राजा सुविधि केशव पुत्रके स्नेहसे गृहस्थ अवस्थाका परित्याग नहीं कर सका था, इसलिए श्रावकके उत्कृष्ट पदमें स्थित रहकर कठिन तप तपता था ॥१५८॥ जिनेन्द्रदेवने गृहस्थोंके नीचे लिखे अनुसार ग्यारह स्थान या प्रतिमाएँ कही हैं (१) दर्शनप्रतिमा (२) व्रतप्रतिमा (३) सामायिकप्रतिमा (४) प्रोषधप्रतिमा (५) सचित्तत्यागप्रतिमा (६) दिवामैथुनत्यागप्रतिमा (७) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (८) आरम्भत्यागप्रतिमा (९) परिग्रहत्यागप्रतिमा (१०) अनुमतित्यागप्रतिमा और (११) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा। इनमेंसे सुविधि राजाने क्रम-क्रमसे ग्यारहवाँ स्थान–उद्दिष्टत्यागप्रतिमा धारण की थी ॥१५९-१६१॥ जिनेन्द्रदेवने गृहस्थाश्रमके उक्त ग्यारह स्थानोंमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंका निरूपण किया है ॥ १६२ ॥ स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे निवृत्त होनेको क्रमसे अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत कहते हैं ॥ १६३ ॥ यदि इन पाँच अणुव्रतोंको हरएक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंसे सुसंस्कृत और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे युक्त कर धारण किया जाये तो उनसे गृहस्थोंको बड़े-बड़े फलोंकी प्राप्ति हो सकती है ॥१६४॥ दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं। कोई-कोई आचार्य भोगोपभोगसे परिमाणव्रतको भी गुणव्रत कहते हैं [और देशव्रतको शिक्षाव्रतोंमें शामिल करते हैं] ॥१६५॥ सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरण समयमें संन्यास धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। [अनेक आचार्योंने देशव्रतको शिक्षाव्रतमें शामिल किया है और संन्यासका बारह व्रतोंसे भिन्न वर्णन किया है] ॥१६६॥ गृहस्थोंके ये उपर्युक्त बारह व्रत स्वर्गरूपी राजमहलपर चढ़नेके लिए सीढ़ीके समान हैं और नरकादि दुर्गतियोंका आवरण करनेवाले हैं ॥१६७॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनसे पवित्र व्रतोंकी शुद्धताको प्राप्त हुए राजर्षि सुविधि चिरकाल तक श्रेष्ठ मोक्षमार्गकी उपासना करते रहे ॥ १६८ ॥ अनन्तर जीवनके अन्त समयमें परिग्रहरहित दिगम्बर दीक्षाको प्राप्त हुए सुविधि महाराजने विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्गकी आराधना कर समाधि-मरणपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुए ॥१६९॥ वहाँ उनकी आयु बीस सागर प्रमाण थी

---

१. सामायिकम्। २. –मह्नि स्त्री– अ०, द०, स०, म०। –महि स्त्रीसंगवर्जितम् प०, । ३ जिनाधिपः म०, ल०। ४. महोत्तरफलानि। ५ भोगोपभोगपरिमाणम्। ६. सामायिकम्। ७. आराधयति स्म। ८.–विधिमाराध्य प०। ९.–सख्यान–अ०, स०।

केशवश्च परित्यक्तकृत्स्नबाह्येतरोपधिः । नै:संगीमाश्रितो दीक्षामतीन्द्रोऽभवदच्युते ॥१७१॥
पूर्वोक्ता नृपपुत्राश्च वरदत्तादय क्रमात् । समजायन्त पुण्यैः स्वैस्तत्र सामानिका सुरा. ॥१७२॥
तत्राष्टगुणमैश्वर्यं दिव्यं भोगं च निर्विशन् । स रेमे सुचिरं कालमच्युतेन्द्रोऽच्युतस्थिति ॥१७३॥
दिव्यानुभावमस्यासीद् वपुरव्याजसुन्दरम् । विषशस्त्राद्यिबाधाभिरस्पृष्टमतिनिर्मलम् ॥१७४॥
सन्तानकुसुमोत्तंसमसौ धत्ते स्म मौलिना । तपः फलमतिस्फीतं मूर्ध्नेवोद्धृत्य दर्शयन् ॥१७५॥
सहजैर्भूषणैरस्य रुरुचे रुचिरं वपुः । दयावल्लीफलैरुद्धैः प्रत्यङ्गमिव सगतै. ॥१७६॥
सम सुप्रविभक्ताङ्ग स रेजे दिव्यलक्षणै । सुरद्रुम इवाकीर्ण. पुष्पैरुच्चावचात्मभि ॥१७७॥
शिर सकुन्तलं तस्य रेजे सोष्णीषपट्टकम् । सतमालमिवाद्रीन्द्रकूटं व्योमापगाश्रितम् ॥१७८॥
मुखमस्य लसन्नेत्रभृङ्गसंगतमाबभौ । स्मितांशुभिर्जलाक्रान्त प्रबुद्धमिव पङ्कजम् ॥१७९॥
वक्षःस्थले पृथौ रम्ये हारं सोऽधत्त निर्मलम् । शरदम्भोदसंघातमिव मेरोस्तटाश्रितम् ॥१८०॥
लसदंशुकसंवीतं जघनं तस्य निर्बभौ । तरङ्गाक्रान्तमम्भोधेरिव सैकतमण्डलम् ॥१८१॥
सुवर्णकदलीस्तम्भविभ्रम रुचिमानशे । तस्योरुद्वितयं चारु सुरनारीमनोहरम् ॥१८२॥

और उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १७० ॥ श्रीमतीके जीव केशवने भी समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की और आयुके अन्तमें अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया ॥ १७१ ॥ जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसे वरदत्त आदि राजपुत्र भी अपने-अपने पुण्यके उदयसे उसी अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए ॥१७२॥ पूर्ण आयुको धारण करनेवाला वह अच्युत स्वर्गका इन्द्र अणिमा, महिमा आदि आठ गुण, ऐश्वर्य और दिव्य भोगोंका अनुभव करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ १७३ ॥ उसका शरीर दिव्य प्रभावसे सहित था, स्वभावसे ही सुन्दर था, विष-शस्त्र आदिकी बाधासे रहित था और अत्यन्त निर्मल था ॥ १७४ ॥ वह अपने मस्तकपर कल्प-वृक्षके पुष्पोंका सेहरा धारण करता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पूर्वभवमें किये हुए तपश्चरणके विशाल फलको मस्तकपर उठाकर सबको दिखा ही रहा हो ॥ १७५ ॥ उसका सुन्दर शरीर साथ-साथ उत्पन्न हुए आभूषणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उसके प्रत्येक अंग-पर दयारूपी लताके प्रशंसनीय फल ही लग रहे हैं ॥ १७६ ॥ समचतुरस्र संस्थानका धारक वह इन्द्र अपने अनेक दिव्य लक्षणोंसे ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि ऊँचे-नीचे सभी प्रदेशोंमें स्थित फूलोंसे व्याप्त हुआ कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥ १७७ ॥ काले-काले केश और श्वेतवर्णकी पगड़ीसे सहित उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो तापिच्छ पुष्पसे सहित और आकाशगंगाके पूरसे युक्त हिमालयका शिखर ही हो ॥ १७८ ॥ उस इन्द्रका मुख-कमल फूले हुए कमलके समान शोभायमान था, क्योंकि जिस प्रकार कमलपर भौंरे होते हैं उसी प्रकार उसके मुखपर शोभायमान नेत्र थे और कमल जिस प्रकार जलसे आक्रान्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी मुसकानकी सफेद-सफेद किरणोंसे आक्रान्त था॥१७९॥वह अपने मनोहर और विशाल वक्षःस्थलपर जिस निर्मल हारको धारण कर रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो मेरु पर्वतके तटपर अवलम्बित शरद् ऋतुके बादलोंका समूह ही हो ॥१८०॥ शोभाय-मान वस्त्रसे ढँका हुआ उसका नितम्बमण्डल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो लहरोंसे ढँका हुआ समुद्रका बालूदार टीला ही हो ॥१८१॥ देवाङ्गनाओंके मनको हरण करनेवाले उसके दोनों सुन्दर ऊरु सुवर्ण कदलीके स्तम्भोंका सन्देह करते हुए अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥१८२॥

---

१. दिव्यप्रभावम् । २. प्रशस्तैः । ३ अनेकभेदात्मभिः । ४. –तटाश्रितम् म०, ल० । ५ वेष्टितम् ।

तस्य पादद्वये लक्ष्मीः [1]काप्यभूदब्जशोभिनि । नखांशुस्वच्छसलिले सरसीव झषाङ्किते[2] ॥१८३॥
इत्युदारतरं बिभ्रद् दिव्यं वैक्रियिकं वपुः । स तत्र बुभुजे भोगानच्युतेन्द्रः स्वकल्पजान् ॥१८४॥
इतो रज्जूः षडुत्पत्य कल्पोऽस्त्यच्युतसंज्ञकः । सोऽस्य भुक्तिरभूत् पुण्यात् पुण्यैः किं नु न लभ्यते १८५॥
तस्य भुक्तौ[3] विमानानां परिसंख्या मता जिनैः[4] । शतमेकमथैकान्नैः षष्टिश्च परमागमे ॥१८६॥
[5]त्रयोविंशं शतं तेषु विमानेषु प्रकीर्णकाः । श्रेणीबद्धास्ततोऽन्ये स्युरतिरुन्द्राः सहेन्द्रका. ॥१८७॥
त्रयस्त्रिंशदथास्य स्युस्त्रायस्त्रिंशाः सुरोत्तमाः । ते च पुत्रीयितास्तेन स्नेहनिर्भरया धिया ॥१८८॥
[6]अयुतप्रमिताश्चास्य सामानिकसुरा मताः । ते ह्यस्य सदृशा सर्वै भोगैराज्ञा तु भिद्यते ॥१८९॥
आत्मरक्षाश्च तस्योक्ताश्[7]चत्वार्येवायुतानि वै । तेऽप्यङ्गरक्षकैस्तुल्या विभावायैव वर्णिताः ॥१९०॥
अन्तःपरिषदस्याद्या[8] सपाद[9] शतमिष्यते । मध्यमार्द्ध[10] तृतीयं स्याद् बाह्या तद्द्विगुणा मता ॥१९१॥
चत्वारो लोकपालाश्च तल्लोकान्तप्रपालकाः । प्रत्येकं च तथैनेषां देव्यो द्वात्रिंशदेव हि ॥१९२॥
अष्टावस्य महादेव्यो रूपसौन्दर्यसंपदा । तन्मनोलोहमाकष्टुं क्लृप्तायस्कान्तपुत्रिका. ॥१९३॥
अन्या वल्लभिकास्तस्य त्रिषष्टिः परिकीर्तिताः । एकशोऽग्रमहिष्यस्तृतीयत्रिशतैर्वृता ॥१९४॥

उस इन्द्रके दोनों चरण किसी तालावके समान मालूम पड़ते थे क्योंकि तालाब जिस प्रकार जलसे सुशोभित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी नखोंकी किरणोंरूपी निर्मल जलसे सुशोभित थे, तालाब जिस प्रकार कमलोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार उसके चरण भी कमलके चिह्नोंसे सहित थे और तालाब जिस प्रकार मच्छ वगैरहसे सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी मत्स्यरेखा आदिसे युक्त थे। इस प्रकार उसके चरणोंमें कोई अपूर्व ही शोभा थी ॥१८३॥ इस तरह अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर वैक्रियिक शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युतेन्द्र अपने स्वर्गमें उत्पन्न हुए भोगोंका अनुभव करता था ॥१८४॥ वह अच्युत स्वर्ग इस मध्यलोकसे छह राजु ऊपर चलकर है तथापि पुण्यके उदयसे वह सुविधि राजाके भोगोपभोगका स्थान हुआ सो ठीक ही है। पुण्यके उदयसे क्या नहीं प्राप्त होता ? ॥ १८५ ॥ उस इन्द्रके उपभोगमें आनेवाले विमानोंकी संख्या सर्वज्ञ प्रणीत आगममें जिनेन्द्रदेवने एक-सौ उनसठ कही है ॥१८६॥ उन एक सौ उनसठ विमानोंमें एक सौ तेईस विमान प्रकीर्णक हैं, एक इन्द्रक विमान है और बाकीके पैंतीस बड़े-बड़े श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥१८७॥ उन इन्द्रके तैंतीस त्रायस्त्रिंश जातिके उत्तम देव थे। वह उन्हें अपनी स्नेह-भरी बुद्धिसे पुत्रके समान समझता था ॥१८८॥ उसके दश हजार सामानिक देव थे। वे सब देव भोगोपभोगकी सामग्रीसे इन्द्रके ही समान थे परन्तु इन्द्रके समान उनकी आज्ञा नहीं चलती ॥१८९॥ उसके अंगरक्षकोंके समान चालीस हजार आत्मरक्षक देव थे। यद्यपि स्वर्गमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता तथापि इन्द्रकी विभूति दिखलानेके लिए ही वे होते हैं ॥१९०॥ अन्तःपरिषद्, मध्यमपरिषद् और बाह्यपरिषद्के भेदसे उस इन्द्रकी तीन सभाएँ थीं। उनमें-से पहली परिषद्में एक सौ पच्चीस देव थे, दूसरी परिषद्में दो सौ पचास देव थे और तीसरी परिषद्में पाँच सौ देव थे ॥१९१॥ उस अच्युत स्वर्गके अन्तभागकी रक्षा करनेवाले चारों दिशाओंसम्बन्धी चार लोकपाल थे और प्रत्येक लोकपालकी बत्तीस-बत्तीस देवियाँ थीं ॥१९२॥ उस अच्युतेन्द्रकी आठ महादेवियाँ थीं जो कि अपने वर्ण और सौन्दर्यरूपी सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रके मनरूपी लोहेको खींचनेके लिए बनी हुई पुतलियोंके समान शोभायमान होती थीं ॥१९३॥ इन आठ महादेवियोंके सिवाय उसके तिरसठ वल्लभिका देवियाँ और थीं

१. अब्जं लक्षणरूपकमलम् । २. मत्स्ययुक्ते । मत्स्यादिशुभलक्षणयुक्ते च । ३ भुक्तिः, भुक्तिक्षेत्रम् । ४. -मथैकोन- अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ५. त्रयोविंशत्युत्तरशतम् । ६. दशसहस्र । ७. चत्वारिंशत्सहस्राणि । ८. -स्यान्या अ०, प०, स०, द० । ९. पञ्चविंशत्युत्तरशतम् । १० पञ्चाशदधिकद्विशतैः ।

द्वे सहस्रे तथैकाग्रा सप्ततिश्च समुच्चिताः । सर्वा देव्योऽस्य याः स्मृत्वा याति चेतोऽस्य निर्वृतिम्[1] ॥१९५॥
तासां मृदुकरस्पर्शैस्तद्वक्त्राब्जनिरीक्षणैः । स लेभेऽभ्यधिकां तृप्तिं संभोगैरपि मानसैः ॥१९६॥
[2]षट्चतुष्कसहस्राणि नियुतानि दशैव च । विकरोत्येकशो देवी दिव्यरूपाणि योषिताम् ॥१९७॥
[3]चमूनां सप्तकक्षाः[4] स्युराद्यात्रायुतयोर्द्वयम् । द्विर्द्विः शेषनिकायेषु महाब्धे[5]रिव वीचयः ॥१९८॥
हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी । सप्तानीकान्युशन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ॥१९९॥
एकैकस्याश्च देव्याः स्यादप्सरःपरिषत्त्रयम् । पञ्चविंशश्च पञ्चाशच्छतं चैव यथाक्रमम् ॥२००॥
इत्युक्तपरिवारेण सार्द्धमच्युतकल्पजाम् । लक्ष्मीं निर्विशतस्तस्य[6] [7]व्यावर्ण्यालं परां श्रियम् ॥२०१॥
मानसोऽस्य प्रवीचारो [8]विष्वाणोऽप्यस्य मानसः । द्वाविंशतिसहस्रैश्च [9]समानां सकृदाहरेत् ॥२०२॥
तथैकादशभिर्मासैः सकृदुच्छ्वसितं भजेत् । त्र्यरत्निप्रमितोत्सेधदिव्यदेहधरः स च ॥२०३॥
धर्मेणेत्यच्युतेन्द्रोऽसौ प्रापत् सत्परम्पराम् । तस्मात्तदर्थिभिर्धर्मे मतिः कार्या जिनोदिते ॥२०४॥

मालिनीच्छन्दः

अथ सुललितवेषा[10] दिव्ययोषाः सभूषाः सुरभिकुसुममालाः [11]स्रस्तचूलाः सलीलाः ।
मधुरविरुतगानारब्ध[12]ताना [13]समानाः प्रमदमरमनून निन्युरेनं सुरेनम्[14] ॥२०५॥

तथा एक-एक महादेवी अढाईसौ-अढाईसौ अन्य देवियोंसे घिरी रहती थी ॥१९४॥ इस प्रकार सब मिलाकर उसकी दो हजार इकहत्तर देवियाँ थीं। इन देवियोंका स्मरण करने मात्रसे ही उसका चित्त सन्तुष्ट हो जाता था—उसकी कामव्यथा नष्ट हो जाती थी*॥१९५॥ वह इन्द्र उन देवियोंके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, मुखकमलके देखनेसे और मानसिक संभोगसे अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त होता था ॥१९६॥ इस इन्द्रकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा सुन्दर स्त्रियोंके दस लाख चौबीस हजार सुन्दर रूप बना सकती थी ॥१९७॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्यकारिणीके भेदसे उसकी सेनाकी सात कक्षाएँ थीं। उनमें-से पहली कक्षामें बीस हजार हाथी थे, फिर आगेकी कक्षाओंमें दूनी-दूनी संख्या थी। उसकी वह विशाल सेना किसी बड़े समुद्रकी लहरोंके समान जान पड़ती थी। यह सातों ही प्रकारकी सेना अपने-अपने महत्तर (सर्वश्रेष्ठ) के अधीन रहती थी ॥१९८-१९९॥ उस इन्द्रकी एक-एक देवीकी तीन-तीन सभाएँ थीं। उनमें-से पहली सभामें २५ अप्सराएँ थीं, दूसरी सभामें ५० अप्सराएँ थीं, और तीसरी सभामें सौ अप्सराएँ थीं ॥२००॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए परिवारके साथ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुई लक्ष्मीका उपभोग करनेवाले उस अच्युतेन्द्रकी उत्कृष्ट विभूतिका वर्णन करना कठिन है—जितना वर्णन किया जा चुका है उतना ही पर्याप्त है ॥२०१॥ उस अच्युतेन्द्रका मैथुन मानसिक था और आहार भी मानसिक था तथा वह बाईस हजार वर्षोंमें एक बार आहार करता था ॥२०२॥ ग्यारह महीनेमें एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था और तीन हाथ ऊँचे सुन्दर शरीरको धारण करनेवाला था ॥२०३॥ वह अच्युतेन्द्र धर्मके द्वारा ही उत्तम-उत्तम विभूतिको प्राप्त हुआ था इसलिए उत्तम-उत्तम विभूतियोंके अभिलाषी जनोंको जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे धर्ममें ही बुद्धि लगानी चाहिए ॥२०४॥ उस अच्युत स्वर्गमें, जिनके वेष बहुत ही सुन्दर हैं जो उत्तम-उत्तम आभूषण पहने हुई हैं, जो सुगन्धित पुष्पोंकी मालाओंसे सहित हैं, जिनके लम्बी चोटी नीचेकी ओर लटक रही है, जो अनेक प्रकारकी लीलाओंसे सहित हैं, जो मधुर शब्दोंसे

---

१. सुखम् । २. चतुर्विंशतिसहस्रोत्तरदशलक्षरूपाणि । ३. अनीकानाम् । ४. कक्षाभेदः । ५. महाब्धेरिव म०, ल० । ६. अनुभवतः । ७. वर्णनयाऽलम् । ८. आहारः । ९ संवत्सराणाम् । १०. आकारवेषा । ११ श्लथधम्मिला । १२. उपक्रमितस्वरविश्रमस्थानभेदाः । १३ अहङ्कारयुक्ता । १४. सुरेशम् ।

*८ × २५० = २००० । २००० + ६३ + ८ = २०७१ ।

ललितपदविहारैर्भ्रूविकारैरुदारैर्नयनयुगविलासैरङ्गलासैः[1] सुहासैः ।
प्रकटितमृदु[2]भावैः सानुभावैश्च[3] भावैः[4] जगृहुरथ मनोऽस्याब्जोपमास्या वयस्याः[5] ॥२०६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तासामिन्दुकलामले स्ववदनं पश्यन् कपोलाब्दके
तद्वक्त्राम्बुजभृङ्गतां च घटयन्नाघ्राततवक्त्रानिलः ।
तन्नेत्रैश्च मनोजबाणसदृशैर्भ्रूचापमुक्तैर्भृशं
विद्धं स्वं हृदयं तदीयकरसंस्पर्शैः समाश्वासयन् ॥२०७॥

स्रग्धरा

रेमे रामाननेन्दुद्युतिरुचिरतरे स्वे विमाने विमाने[6]
भुञ्जानो दिव्यभोगानमरपरिवृतो यान्[7] सुरेभैः[8] सुरेभैः[9] ।
जैनी पूजां[10] च तन्वन् मुहुरतनुरुचा भासमानोऽसमानो
लक्ष्मीवानच्युतेन्द्रः सुचिरमुरुतर[11] स्वांसकान्त सकान्त ॥२०८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमदच्युतेन्द्रैश्वर्यवर्णनं नाम दशमं पर्व ॥१०॥

गाती हुई राग-रागिनियोंका प्रारम्भ कर रही है, और जो हरप्रकारसे समान है—सदृश हैं अथवा गर्वसे युक्त हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ उस अच्युतेन्द्रको बड़ा आनन्द प्राप्त करा रही थीं ॥२०५॥ जिनके मुख कमलके समान सुन्दर हैं ऐसी देवाङ्गनाएँ, अपने मनोहर चरणोंके गमन, भौंहोंके विकार, सुन्दर दोनों नेत्रोंके कटाक्ष, अंगोपांगोंकी लचक, सुन्दर हास्य, स्पष्ट और कोमल हाव तथा रोमाञ्च आदि अनुभावोंसे सहित रति आदि अनेक भावोंके द्वारा उस अच्युतेन्द्रका मन ग्रहण करती रहती थीं ॥२०६॥ जो अपनी विशाल कान्तिसे शोभायमान है, जिसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता, और जो अपने स्थूल कन्धोंसे शोभायमान है ऐसा वह समृद्धिशाली अच्युतेन्द्र, स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमासे अत्यन्त देदीप्यमान अपने विस्तृत विमानमें कभी देवांगनाओंके चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल कपोलरूपी दर्पणमें अपना मुख देखता हुआ, कभी उनके मुखकी श्वासको सूँघकर उनके मुखरूपी कमलपर भ्रमर-जैसी शोभाको प्राप्त होता हुआ, कभी भौंहरूपी धनुषसे छोड़े हुए उनके नेत्रोंके कटाक्षोंसे घायल हुए अपने हृदयको उन्हींके कोमल हाथोंके स्पर्शसे धैर्य बँधाता हुआ, कभी दिव्य भोगोंका अनुभव करता हुआ, कभी अनेक देवोंसे परिवृत होकर हाथीके आकार विक्रिया किये हुए देवोंपर चढ़कर गमन करता हुआ और कभी बार-बार जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विस्तार करता हुआ अपनी देवाङ्गनाओंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥२०७-२०८॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें श्रीमान् अच्युतेन्द्रके ऐश्वर्यका वर्णन करनेवाला दशवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१०॥

---

१. वल्गनैः । २. मृदुत्वं । ३. ससामर्थ्यैः । ४. विकारैः । ५ वयस्विन्यः । ६. विगतप्रमाणे । ७ गच्छन् । ८ देवगजैः । ९. शोभनशब्दैः । १० पूजा वितन्वन् प० । ११. निजभुजाशिखरम । १२. स्वान्तकान्तः स०।

एकादशं पर्व

स्फुरन्ति यस्य वाक्पूजा[1] [2]प्राप्त्युपायगुणांशवः । स वः पुनातु भव्याब्जवनबोधी जिनांशुमान् ॥१॥
अथ तस्मिन् दिवं मुक्त्वा भुवमेष्यति[3] तत्तनौ । म्लानिमायात् किलाम्लानपूर्वा[4] मन्दारमालिका ॥२॥
स्वर्गप्रच्युतिलिङ्गानि यथान्येषां सुधाशिनाम् । स्पष्टानि न तथेन्द्राणां किं तु लेशेन केनचित्[5] ॥३॥
ततोऽबोधि सुरेन्द्रोऽसौ स्वर्गप्रच्युतिमात्मनः । तथापि न [6]व्यसीदत् स तद्धि धैर्यं महात्मनाम् ॥४॥
षण्मासशेषमात्रायुः सपर्यामर्हतामसौ । प्रारेभे पुण्यधीः कर्तुं प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः ॥५॥
स मनः [7]प्रणिधायान्ते पदेषु परमेष्ठिनाम् । निष्ठितायु[8]रभूत् पुण्यैः परिशिष्टैरधिष्ठितः ॥६॥
तथापि सुखसाद्भूता महाधैर्या महर्द्धयः । प्रच्यवन्ते दिवो देवा [9]धिगेनां संसृतिस्थितिम् ॥७॥
ततोऽच्युतेन्द्रः प्रच्युत्य जम्बूद्वीपे महाद्युतौ । [10]प्राग्विदेहाश्रिते देशे पुष्कलावत्यभिष्टवे[11] ॥८॥

---

* स्तोत्रों-द्वारा की हुई पूजा ही जिनकी प्राप्तिका उपाय है ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि अनेक गुणरूपी जिसकी किरणें प्रकाशमान हो रही हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंके वनको विकसित करनेवाला है ऐसा वह जिनेन्द्ररूपी सूर्य तुम सब श्रोताओं-को पवित्र करे ॥१॥

अनन्तर जब वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग छोड़कर पृथिवीपर आनेके सम्मुख हुआ तब उसके शरीरपर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला अचानक मुरझा गयी। वह माला इससे पहले कभी नहीं मुरझायी थी ॥२॥ स्वर्गसे च्युत होनेके चिह्न जैसे अन्य साधारण देवोंके स्पष्ट प्रकट होते हैं वैसे इन्द्रोंके नहीं होते किन्तु कुछ-कुछ ही प्रकट होते हैं ॥३॥ माला मुरझानेसे यद्यपि इन्द्रको मालूम हो गया था कि अब मैं स्वर्गसे च्युत होनेवाला हूँ तथापि वह कुछ भी दुःखी नहीं हुआ सो ठीक है। वास्तवमें महापुरुषोंका ऐसा ही धैर्य होता है ॥४॥ जब उसकी आयु मात्र छह माहकी बाकी रह गयी तब उस पवित्र बुद्धिके धारक अच्युतेन्द्रने अर्हन्तदेवकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया सो ठीक ही है, प्रायः पण्डितजन आत्मकल्याणके अभिलाषी हुआ ही करते हैं ॥५॥ आयुके अन्त समयमें उसने अपना चित्त पञ्चपरमेष्ठियोंके चरणोंमें लगाया और उप-भोग करनेसे बाकी बचे हुए पुण्यकर्मसे अधिष्ठित होकर वहाँकी आयु समाप्त की ॥६॥ यद्यपि स्वर्गोंके देव सदा सुखके अधीन रहते हैं, महाधैर्यवान् और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक होते हैं तथापि वे स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं इसलिए संसारकी इस स्थितिको धिक्कार हो ॥७॥

तत्पश्चात् वह अच्युतेन्द्र स्वर्गसे च्युत होकर महाकान्तिमान् जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें

---

१ प्राप्ति अनन्तचतुष्टयस्य प्राप्तिरित्यर्थः । अपायः घातिकर्मणां वियोगः, अपाय इति यावत् । अपायप्राप्तिः । वाक्पूजा—विहारस्थायिका तनू प्रवृत्तय इति स्वाज्ञा जिनस्यातिशया इमे । २ प्राप्त्यपाय-गुणांशवः ट० । ३ आगमिष्यति सति । ४. पूर्वस्मिन्नम्लाना । ५ कानिचित् अ०, प०, स०, द० । ६. न दुःख्यभूत् । ७. एकाग्रीकृत्य । ८. नाशितायुः । ९. धिगिमां प०, अ०, स० । १०. पूर्व° । ११ अभिष्टवः स्तवनं यस्य ।

* एक अर्थ यह भी होता है कि 'वचनोंसे प्रतिष्ठा करानेके कारणभूत गुणरूप किरणें जिसके प्रकाशमान हो रही हैं ।' इसके सिवाय 'ट' नामकी टिप्पणप्रतिमें 'वाक्पूजाप्राप्त्यपायगुणांशवः' ऐसा पाठ स्वीकृत किया गया है, जिसका उसी टिप्पणके आधारपर यह अर्थ होता है कि दिव्यध्वनि, अनन्त-चतुष्टयकी प्राप्ति और घातिचतुष्कका क्षय आदि गुण ही—अतिशय ही जिसकी किरणें हैं…।

नगर्यां पुण्डरीकिण्यां व सेनस्य भूभुजः । श्रीकान्तायाश्च पुत्रोऽभूद् वज्रनाभिरिति प्रभुः ॥९॥
तयोरेव सुता जाता [1]वरदत्तादय. क्रमात् । विजयो वैजयन्तश्च जयन्तोऽप्यपराजितः ॥१०॥
तदाभूवंस्तयोरेव प्रियाः पुत्रा महोदयाः । [2]पूर्वोद्दिष्टाहमिन्द्रास्तेऽप्यधोग्रैवेयकाच्युताः ॥११॥
सुबाहुरहमिन्द्रोऽभूद् य प्राग्मतिवरः कृती । आनन्दश्च महाबाहु पीठाख्योऽभूदकम्पन ॥१२॥
महापीठोऽभवत् सोऽपि धनमित्रचरः सुर. । संस्कारै. प्राक्तनैरेव घटनैकत्र देहिनाम् ॥१३॥
नगर्यां केशवोऽत्रैव धनदेवाह्वयोऽभवत् [3] । कुबेरदत्तवणिजोऽनन्तमत्याश्च नन्दनः ॥१४॥
वज्रनाभिरथापूर्णयौवनो रुरुचे भृशम् । बालार्क इव निष्टप्तचामीकरसमद्युति. ॥१५॥
विनीलकुटिलैः केशै.' शिरोऽस्य रुचिमानशे । [4]प्रावृषेण्याम्बुदच्छन्नमिव शृङ्गं महीभृत. ॥१६॥
कुण्डलार्ककरस्पृष्टगण्डपर्यन्तशोभिना । स बभासे मुखाब्जेन पद्माकर इवोन्मिषन् [5] ॥१७॥
ललाटाद्रितटे तस्य भ्रूलते रेजतुस्तराम् । नेत्रांशुपुष्पमञ्जर्यौ मधुपायिततारया ॥१८॥
कामिनीनेत्रभृङ्गालिमाकर्षन् मुखपङ्कजम् । श्वासामोदमाविरस्याभूत् स्मितकेशरनिर्गमम् ॥१९॥
कान्त्यासवमिवापातुमापतन्त्यतृपत्तराम् । जनतानेत्रभृङ्गाली तन्मुखाब्जे विकासिनि ॥२०॥
नासिकास्य रुचिं दध्रे नेत्रयोर्मध्यवर्तिनी । सीमेव रचिता धात्रा तयोः क्षेत्रानतिक्रमे ॥२१॥

स्थित पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता नामकी रानीके वज्रनाभि नामका समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ ॥८-९॥ पहले कहे हुए व्याघ्र आदिके जीव वरदत्त आदि भी क्रमसे उन्हीं राजा-रानीके विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके पुत्र हुए ॥१०॥ जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है ऐसे मतिवर मन्त्री आदिके जीव जो अधो-ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए थे वहाँसे च्युत होकर उन्हीं राजा-रानीके सम्पत्तिशाली पुत्र हुए ॥११॥ जो पहले (वज्रजंघके समयमें) मतिवर नामका बुद्धिमान् मन्त्री था वह अधोग्रैवेयकसे च्युत होकर उनके सुबाहु नामका पुत्र हुआ । आनन्द पुरोहितका जीव महाबाहु नामका पुत्र हुआ । सेनापति अकम्पनका जीव पीठ नामका पुत्र हुआ और धनमित्र सेठका जीव महापीठ नामका पुत्र हुआ । सो ठीक ही है, जीव पूर्वभवके संस्कारोंसे ही एक जगह इकट्ठे होते हैं ॥१२-१३॥ श्रीमतीका जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ था वह भी वहाँसे च्युत होकर इसी नगरीमें कुबेरदत्त वणिक्के उसकी स्त्री अनन्तमतीसे धनदेव नामका पुत्र हुआ ॥१४॥

अथानन्तर जब वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान हो उठा और इसीलिए वह प्रातःकालके सूर्यके समान बड़ा ही सुशोभित होने लगा ॥१५॥ अत्यन्त काले और टेढ़े बालोंसे उसका शिर ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि वर्षा ऋतुके बादलोंसे ढका हुआ पर्वतका शिखर ॥१६॥ कुण्डलरूपी सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जिसके कपोलोंका पर्यन्त भाग शोभायमान हो रहा है ऐसे मुखरूपी कमलसे वह वज्रनाभि फूले हुए कमलोंसे सुशोभित किसी सरोवरके समान शोभायमान हो रहा था ॥१७॥ उसके ललाटरूपी पर्वतके तटपर दोनों भौंहरूपी लताएँ नेत्रोंकी किरणों-रूपी पुष्पमंजरियों और तारेरूप भ्रमरोंसे बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थीं ॥१८॥ उसका मुख श्वासोच्छ्वासकी सुगन्धिसे सहित था, मुसकानरूपी केशरसे युक्त था और स्त्रियोंके नेत्ररूपी भ्रमरोंका आकर्षण करता था इसलिए ठीक कमलके समान जान पड़ता था ॥१९॥ सदा विकसित रहनेवाले उसके मुख-कमलपर जनसमूहके नेत्ररूपी भ्रमरोंकी पंक्ति मानो कान्तिरूपी आसवको पीनेके लिए ही सब ओरसे आकर झपटती थी और उसका पान कर अत्यन्त तृप्त होती थी ॥२०॥ दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें रहनेवाली उसकी नाक ऐसी

---

१ शार्दूलार्यचरवरदत्त-वराहार्यचरवरसेन-गोलाङ्गूलार्यचरचित्राङ्गद-नकुलार्यचरप्रशान्तमदना' । २. मति-वरादिचराः । ३. –प्यभूत् ल०, म० । ४. प्रावृषि भवः । ५. विकसन् ।

हारेण कण्ठपर्यन्तवर्तिनासौ श्रियं दधे। मृणालवलयेनेव लक्ष्म्यालिङ्गनसङ्गिना ॥२२॥
वक्षोऽस्य पद्मरागांशुच्छुरितं[1] रुचिमानशे। सान्द्रबालातपच्छन्नसानो कनकश्रृङ्गिण ॥२३॥
वक्ष स्थलस्य पर्यन्ते तस्यांसौ रुचिमापतु । लक्ष्म्या क्रीडार्थमुत्तुङ्गौ क्रीडाद्री घटिताविव ॥२४॥
वक्षोभवनपर्यन्ते तोरणस्तम्भविभ्रमम्। बाहू दधतुरस्योच्चैर्हारतोरणधारिणौ ॥२५॥
[2]वज्राङ्गबन्धनस्यास्य [3]मध्येनाभि समैक्ष्यत। वज्रालान्छनमुन्नूतं वस्यत्साम्राज्यलान्छनम् ॥२६॥
लसद्दुकूलपुलिनं [4]रतिहंसीनिषेवितम्। [5]परां श्रिय[6]मधादस्य कटिस्थानसरोवरम् ॥२७॥
सुवृत्तमसृणावूरू तस्य कान्तिमवापताम्। सञ्चरत्कामगन्धेभरोधे कल्पताविवार्गलौ ॥२८॥
जानु[7] गुल्फ[8] स्पृशौ जङ्घे तस्य शिश्रियतु श्रियम्। सन्धिमेव युवां धत्तेत्यादेष्टुमिवोद्यते ॥२९॥
पद्मकान्तिश्रितावस्य पादावङ्गुलिपत्रकौ। सिषेवे सुचिरं लक्ष्मीर्नखेन्दुद्युतिकेसरौ ॥३०॥
इति लक्ष्मीपरिष्वङ्गाद्[10] स्याति रुचिरं वपु । नूनं सुराङ्गनानां च कुर्यात् स्वे[11] स्पृहयालुताम् ॥३१॥
तथापि यौवनारम्भे मदनज्वरकोपिनि। नास्याजनि मद. कोऽपि स्वभ्यस्तश्रुतसंपद ॥३२॥
सोऽधीते स्म त्रिवर्गार्थसाधनीर्विपुलोदया । समन्त्रा राजविद्यास्ता लक्ष्म्याकर्षविधौ क्षमा ॥३३॥

मालूम होती थी मानो अपने-अपने क्षेत्रका उल्लंघन न करनेके लिए ब्रह्माने उनके बीचमें सीमा ही बना दी हो ॥ २१ ॥ गलेके समीप पड़े हुए हारसे वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो वक्षःस्थलवासिनी लक्ष्मीका आलिंगन करनेवाले मृणालवलय (गोल कमलनाल) से ही शोभायमान हो रहा हो ॥ २२ ॥ पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उदय होते हुए सूर्यकी लाल-लाल सघन प्रभासे आच्छादित हुआ मेरु पर्वतका तट ही हो ॥२३॥ वक्षःस्थलके दोनों ओर उसके ऊँचे कन्धे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए अतिशय ऊँचे दो क्रीड़ा-पर्वत ही बनाये गये हों ॥२४॥ हार-रूपी तोरणको धारण करनेवाली उसकी दोनों भुजाएँ वक्षःस्थलरूपी महलके दोनों ओर खड़े किये गये तोरण बाँधनेके खम्भोंका सन्देह पैदा कर रही थीं ॥२५॥ जिसके शरीरका संगठन वज्रके समान मजबूत है ऐसे उस वज्रनाभिकी नाभिके बीचमें एक अत्यन्त स्पष्ट वज्रका चिह्न दिखाई देता था जो कि आगामी कालमें होनेवाले साम्राज्य (चक्रवर्तित्व) का मानो चिह्न ही था ॥ २६ ॥ जो रेशमी वस्त्ररूपी तटसे शोभायमान था और रतिरूपी हंसीसे सेवित था ऐसा उसका कटिप्रदेश किसी सरोवरकी शोभा धारण कर रहा था ॥ २७ ॥ उसके अतिशय गोल और चिकने ऊरु, यहाँ-वहाँ फिरनेवाले कामदेवरूपी हस्तीको रोकनेके लिए बनाये गये अर्गल-दण्डोंके समान शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ २८ ॥ घुटनों और पैरके ऊपरकी गाँठोंसे मिली हुई उसकी दोनों जङ्घाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो लोगोंको यह उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुई हों कि हमारे समान तुम लोग भी सन्धि (मेल) धारण करो ॥२९॥ अँगुलीरूपी पत्तोंसे सहित और नखरूपी चन्द्रमाकी कान्तिरूपी केशरसे युक्त उसके दोनों चरण, कमलकी शोभा धारण कर रहे थे और इसीलिए लक्ष्मी चिरकालमें उनकी सेवा करती थी ॥३०॥ इस प्रकार लक्ष्मीका आलिंगन करनेसे अतिशय सुन्दरताको प्राप्त हुआ उसका शरीर अपनेमें देवाङ्ग-नाओंकी भी रुचि उत्पन्न करता था—देवाङ्गनाएँ भी उसे देखकर कामातुर हो जाती थीं॥३१॥ उसने शास्त्ररूपी सम्पत्तिका अच्छी तरह अभ्यास किया था इसलिए कामज्वरका प्रकोप बढ़ानेवाले यौवनके प्रारम्भ समयमें भी उसे कोई मद उत्पन्न नहीं हुआ था ॥३२॥ जो

---

१ मिश्रितम्। २. वज्रशरीरबन्धनस्य। ३ नाभिमध्ये। ४ रतिरूपमराली। ५. परश्रिय–द०, म०, ल०। ६. –श्रियमगाद–अ०, स०। ७. ऊरुपर्व। ८ गुल्फ घुण्टिका। ९. विभूतम्। १०. आलिङ्गनात्। ११. आत्मनि।

तस्मिंल्लक्ष्मीसरस्वत्योरतिवा[1] वल्लभ्यमाश्रिते । ईर्ष्ययेवामजत् कीर्तिर्दिगन्तान् विधुनिर्मला ॥३४॥
नूनं तद्गुणसंख्यानं वेधसा मंत्रिधित्सुना । शलाका स्थापिता व्योम्नि तारकानिकर[2]च्छलात् ॥३५॥
तस्य तद्रूपमाहार्यं[3] सा विद्या तच्च यौवनम् । जनानावर्जयन्ति[4] स्म गुणैरावर्ज्यते न कः ॥३६॥
गुणैरस्यैव शेषाश्च कुमाराः कृतवर्णनाः । ननु चन्द्रगुणानंशैः भजत्युडुगणोऽप्ययम् ॥३७॥
ततोऽस्य योग्यतां मत्वा वज्रसेनमहाप्रभुः । राज्यलक्ष्मीं समग्रां स्वामस्मिन्नेव न्ययोजयत् ॥३८॥
[5]नृपोऽभिषेकमस्योच्चैः स्वसमक्षमकारयत् । पट्टबन्धं च [6]सामात्यैः नृपैर्मकुटधारिभिः ॥३९॥
नृपासनस्थमेनं च वीजयन्ति स्म चामरैः । गङ्गातरङ्गसच्छायैः[7] भक्तिभिर्ललिताङ्गनाः ॥४०॥
धुन्वानाश्चामराण्यस्य ताः[8] ममोत्प्रेक्षते मनः । जनापवादजं लक्ष्म्या रजोऽ[9]पासितुमुद्यताः ॥४१॥
वक्षसि प्रणयं लक्ष्मीर्दृढमस्याकरोत्तदा । पट्टबन्धापदेशेन तस्मिन् प्राध्वकृतेव[10] सा ॥४२॥
[11]मकुटं मूर्ध्नि तस्याधान् नृपैर्नृपवरः समम् । स्वं भारमवतार्यास्मिन् ससाक्षिकमिवार्पयत्[12] ॥४३॥
हारेणालंकृतं वक्षो भुजावस्याङ्गदादिभिः[13] । [14]पट्टिकाकटिसूत्रेण कटी पट्टांशुकेन च ॥४४॥

धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली हैं, जो बड़े-बड़े फलोंको देनेवाली हैं और जो लक्ष्मीका आकर्षण करनेमें समर्थ हैं ऐसी मन्त्रसहित समस्त राजविद्याएँ उसने पढ़ ली थीं ॥३३॥ उसपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही अतिशय प्रेम रखती थीं इसलिए चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्ति मानो उन दोनोंकी ईर्ष्यासे ही दशों दिशाओंके अन्त तक भाग गयी थी ॥ ३४ ॥ मालूम होता है कि ब्रह्माने उसके गुणोंकी संख्या करनेकी इच्छासे ही आकाशमें ताराओंके समूहके छलसे अनेक रेखाएँ बनायी थीं ॥३५॥ उसका वह मनोहर रूप, वह विद्या और वह यौवन, सभी कुछ लोगोंको वशीभूत कर लेते थे, सो ठीक ही है। गुणोंसे कौन वशीभूत नहीं होता ? ॥३६॥ यहाँ जो वज्रनाभिके गुणोंका वर्णन किया है उसीसे अन्य राजकुमारोंका भी वर्णन समझ लेना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार तारागण कुछ अंशोंमें चन्द्रमाके गुणोंको धारण करते हैं उसी प्रकार वे शेष राजकुमार भी कुछ अंशोंमें वज्रनाभिके गुण धारण करते थे ॥ ३७ ॥ तदनन्तर, इसकी योग्यता जानकर वज्रसेन महाराजने अपनी सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी इसे ही सौंप दी ॥३८॥ राजाने अपने ही सामने बड़े ठाट-बाटसे इसका राज्याभिषेक कराया तथा मन्त्री और मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा उसका पट्टबन्ध कराया ॥३९॥ पट्टबन्धके समय वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था और अनेक सुन्दर स्त्रियाँ गंगा नदीके तरंगोंके समान निर्मल चमर ढोर रही थीं ॥४०॥ चमर ढोरती हुई उन स्त्रियोंको देखकर मेरा मन यही उत्प्रेक्षा करता है कि वे मानो राज्यलक्ष्मीके संसर्गसे वज्रनाभिपर पड़नेवाली लोकापवादरूपी धूलिको ही दूर करनेके लिए उद्यत हुई हों ॥४१॥ उस समय राज्यलक्ष्मी भी उसके वक्षःस्थलपर गाढ़ प्रेम करती थी और ऐसी मालूम होती थी मानो पट्टबन्धके छलसे वह उसपर बाँध ही दी गयी हो ॥४२॥ राजाओंमें श्रेष्ठ वज्रसेन महाराजने अनेक राजाओंके साथ अपना मुकुट वज्रनाभिके मस्तकपर रखा था। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबकी साक्षीपूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण कर रहे हों ॥४३॥ उस समय उसका वक्षःस्थल हारसे अलंकृत हो रहा था, भुजाएँ बाजूबन्द आदि आभूषणोंसे सुशोभित हो रही थीं और

---

१. वल्लभत्वम् । २. व्याजात् । ३. मनोहरम् । ४. नामयन्ति स्म । ५. नृपाभिषेक- अ०, प०, ब०, द० । ६. सप्रधानैः । ७. समानैः । ८. चामरग्राहिणीः । ९. अपसारणाय । १०. आनुकूल्य कृता । 'आनुकूल्यार्थक प्राध्वम्' इत्यभिधानात् । अथवा बद्धा प्राध्वमित्यव्यय । ११. मुकुट अ०, प०, द०, स०, ल०, । १२.-मिवार्पयन् ब०, द०, म०, ल० । १३-वस्याङ्गदाशुभिः अ०, प०, ब०, स०, द० । १४. काञ्चीविशेषेण ।

कृती कृताभिषेकाय सोऽस्मै [1]नापत्यमार्पिपत् । नृपैः समं समाशास्य[2] महान् सम्राड् भवेत्यमुम् ॥४५॥
अनन्तरं च लौकान्तिकामरैः प्रतिबोधितः । वज्रसेनमहाराजो न्यधान्निष्क्रमणे मतिम् ॥४६॥
यथोचितामपचितिं[3] तन्वत्सूत्तमनाकिषु[4] । परिनिष्क्रम्य चक्रेऽसौ मुक्तिलक्ष्मीं प्रमोदिनीम् ॥४७॥
समं भगवतानेन सहस्रगणनाभिताः । महत्याम्रवनोद्याने नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा ॥४८॥
राज्यं निष्कण्टकीकृत्य वज्रनाभिरपालयत् । भगवानपि योगीन्द्रस्तपश्चक्रे विकल्मषम् ॥४९॥
राज्यलक्ष्मीपरिष्वङ्गाद्[5] वज्रनाभिस्तुतोष सः । तपोलक्ष्मीसमासङ्गाद्[6] गुरुस्त्वस्यातिपिप्रिये ॥५०॥
भ्रातृभिर्धृतिरस्यासीद् वज्रनाभेः समाहितैः[7] । गुणैस्तु धृतिमातेने योगी श्रेयोऽनुबन्धिभिः ॥५१॥
वज्रनाभिर्नृपोऽमात्यैः [8]संविधत्ते स्म राजकम्[9] । मुनीन्द्रोऽपि तपोयोगैर्गुणग्राममपोषयत् ॥५२॥
निजे राज्याश्रमे पुत्रो गुरुरन्त्याश्रमे[10] स्थितः । परार्थबद्धकक्ष्यौ[11] तौ पालयामासतुः प्रजाः[12] ॥५३॥
वज्रनाभेर्जयागारे[13] चक्रं भास्वरमुद्बभौ । योगिनोऽपि मनोगारे ध्यानचक्रं स्फुरद्द्युति ॥५४॥
ततो व्यजेष्ट निःशेषां महीमेष महीपतिः । मुनिः कर्मजयावाप्तमहिमा जगतीत्रयीम्[14] ॥५५॥

कमर करधनी तथा रेशमी वस्त्रकी पट्टीसे शोभायमान हो रही थी ॥४४॥ अत्यन्त कुशल वज्रसेन महाराजने, जिसका राज्याभिषेक हो चुका है ऐसे वज्रनाभिके लिए 'तू बड़ा भारी चक्रवर्ती हो' इस प्रकार अनेक राजाओंके साथ-साथ आशीर्वाद देकर अपना समस्त राज्य-भार सौंप दिया ॥४५॥

तदनन्तर लौकान्तिक देवोंने आकर महाराज वज्रसेनको समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर उन्होंने दीक्षा धारण करनेमें अपनी बुद्धि लगायी ॥४६॥ जिस समय इन्द्र आदि उत्तम-उत्तम देव भगवान् वज्रसेनकी यथायोग्य पूजा कर रहे थे उसी समय उन्होंने दीक्षा लेकर मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्रसन्न किया था ॥४७॥ उस समय भगवान् वज्रसेनके साथ-साथ आम्रवन नामके बड़े भारी उपवनमें एक हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा ली थी ॥४८॥ इधर राजा वज्रनाभि राज्यको निष्कण्टक कर उसका पालन करता था और उधर योगिराज भगवान् वज्रसेन भी निर्दोष तपस्या करते थे ॥४९॥ इधर वज्रनाभि राज्यलक्ष्मीके समागमसे अतिशय सन्तुष्ट होता था और उधर उसके पिता भगवान् वज्रसेन भी तपोलक्ष्मीके समागमसे अत्यन्त प्रसन्न होते थे ॥५०॥ इधर वज्रनाभिको अपने सम्मिलित भाइयोंसे बड़ा धैर्य (सन्तोष) प्राप्त होता था और उधर भगवान् वज्रसेन मुनि कल्याण करनेवाले गुणोंसे धैर्य (सन्तोष) को विस्तृत करते थे ॥५१॥ इधर वज्रनाभि मंत्रियोंके द्वारा राजाओंके समूहको अपने अनुकूल करता था और उधर मुनीन्द्र वज्रसेन भी तप और ध्यानके द्वारा गुणोंके समूहका पालन करते थे ॥५२॥ इधर पुत्र वज्रनाभि अपने राज्याश्रममें स्थित था और उधर पिता भगवान् वज्रसेन अन्तिम मुनि आश्रममें स्थित थे। इस प्रकार वे दोनों ही परोपकारके लिए कमर बाँधे हुए थे और दोनों ही प्रजाकी रक्षा करते थे। भावार्थ—वज्रनाभि दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका अनुग्रह कर प्रजाका पालन करता था और भगवान् वज्रसेन हितका उपदेश देकर प्रजा (जीवों) की रक्षा करते थे ॥५३॥ वज्रनाभिके आयुधगृहमें देदीप्यमान चक्ररत्न प्रकट हुआ था और मुनिराज वज्रसेनके मनरूपी गृहमें प्रकाशमान तेजका धारक ध्यानरूपी चक्र प्रकट हुआ था ॥५४॥ राजा वज्रनाभिने उस चक्ररत्नसे समस्त पृथिवीको जीता था और मुनिराज

---

१. नृपतित्वम् । २ समाश्वास्य अ०, प०, द०, स०, । ३ पूजाम् । ४. लौकान्तिकेषु देवेषु । ५. आलिङ्गनात् । ६. संयोगात् । ७. समाधानयुक्तैः । ८ अनुकूलं करोति स्म, सम्यगकरोत् । ९ राज्यकम् प०, अ० । १०. ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुरिति चतुराश्रमेषु अन्त्ये । ११ कृतसहायौ । १२ जीवसमूहश्च । १३ शस्त्रशालायाम् । १४. जगतीत्रयम् ।

स्पर्द्धमानाविवान्योन्यमित्यास्तां तौ जयोद्धुरौ[1] । किन्त्वेकस्य जयोऽप्यल्पः परस्य भुवनातिगः ॥५६॥
धनदेवोऽपि तस्यासीच्चक्रिणो रत्नमूर्जितम् । राज्याङ्गं गृहपत्याख्यं निधौ रत्ने च योजितम् ॥५७॥
ततः कृत[2]मतिर्भुक्त्वा चिरं पृथ्वीं पृथूदयः । गुरोस्तीर्थकृ[3]तोऽबोधि बोधि[4]मत्यन्तदुर्लभाम् ॥५८॥
सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रयं यः सेवते कृती । रसायनमिवातर्क्यं[5] सोऽमृतं पदमश्नुते ॥५९॥
इत्याकलय्य[6] मनसा चक्री चक्रे तपोमतिम् । जरत्तृणमिवाशेषं साम्राज्यमवमत्य[7] सः ॥६०॥
वज्रदन्ताह्वये सूनौ कृतराज्यसमर्पणः । नृपैः [8]स्वमौलिबद्धार्द्धैः[9]स्तुग्भिश्च दशभिश्शतैः ॥६१॥
समं भ्रातृभिरष्टाभिर्धनदेवेन चादधे । दीक्षां भव्यजनोद्दीक्ष्यां[10] मुक्त्यै स्वगुरुसन्निधौ ॥६२॥
[11]तमन्वीयुर्नृपा जन्मदुःखार्त्तास्तपसे वनम् । शीतार्त्तः को न कुर्वीत सुधीरातपसेवनम् ॥६३॥
त्रिधा[12] प्राणिवधान् मिथ्यावादात् स्तेयात् परिग्रहात् । विरतिं स्त्रीप्रसंगाच्च स यावज्जीवमग्रहीत् ।६४।
व्रतस्थः समितीर्गुप्तीरादधेऽसौ सभावनाः । [13]मात्राष्टकमिदं प्राहुः मुनेरिन्द्र[14]सभावनाः ॥६५॥

वज्रसेनने कर्मोंको विजयसे अनुपम प्रभाव प्राप्त कर तीनों लोकोंको जीत लिया था ॥५५॥ इस प्रकार विजय प्राप्त करनेसे उत्कट (श्रेष्ठ) वे दोनों ही पिता-पुत्र परस्पर स्पर्धा करते हुए-से जान पड़ते थे। किन्तु एक (वज्रनाभि) की विजय अत्यन्त अल्प थी—छह खण्ड तक सीमित थी और दूसरे (वज्रसेन) की विजय संसार-भरको अतिक्रान्त करनेवाली थी—सबसे महान् थी ॥५६॥ धनदेव (श्रीमती और केशवका जीव) भी उस चक्रवर्तीकी निधियों और रत्नोंमें शामिल होनेवाला तथा राज्यका अङ्गभूत गृहपति नामका तेजस्वी रत्न हुआ ॥५७॥ इस प्रकार उस बुद्धिमान् और विशाल अभ्युदयके धारक वज्रनाभि चक्रवर्तीने चिरकाल तक पृथ्वीका उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरसे अत्यन्त दुर्लभ रत्नत्रयका स्वरूप जाना ॥५८॥ जो चतुर पुरुष रसायनके समान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनोंका सेवन करता है वह अचिन्त्य और अविनाशी मोक्ष-रूपी पदको प्राप्त होता है ॥५९॥ हृदयसे ऐसा विचार कर उस चक्रवर्तीने अपने सम्पूर्ण साम्राज्यको जीर्ण तृणके समान माना और तप धारण करनेमें बुद्धि लगायी ॥६०॥ उसने वज्रदन्त नामके अपने पुत्रके लिए राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेवके साथ-साथ मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे पिता वज्रसेन तीर्थंकरके समीप भव्य जीवोंके द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की ॥६१-६२॥ जन्म-मरणके दुःखोंसे दुःखी हुए अन्य अनेक राजा तप करनेके लिए उसके साथ वनको गये थे सो ठीक ही है, शीतसे पीड़ित हुआ कौन बुद्धिमान् धूपका सेवन नहीं करेगा ? ॥६३॥ महाराज वज्रनाभिने दीक्षित होकर जीवन पर्यन्तके लिए मन, वचन, कायसे हिंसा, झूठ, चोरी, स्त्री-सेवन और परिग्रहसे विरति धारण की थी अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत धारण किये थे ॥६४॥ व्रतोंमें स्थिर होकर उसने पाँच महाव्रतोंकी पचीस भावनाओं, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंको भी धारण किया था। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ दोनों मिलाकर आठ प्रवचनमातृकाएँ कहलाती हैं। प्रत्येक मुनिको इनका पालन अवश्य ही करना चाहिए ऐसा इन्द्रसभा (समवसरण) की रक्षा करनेवाले गणधरादि

---

१. उत्तप्तौ। २. सम्पूर्णबुद्धिः। ३. तीर्थकरस्य। ४. रत्नत्रयम्। ५ अचिन्त्यम्। ६. विचार्य। ७. अवज्ञां कृत्वा। ८. षोडशसहस्रैः। ९. पुत्रैः। १०. अभिलषणीयाम्। जनोदीक्षा अ०, स०। ११. तेन सह गताः। 'टाऽर्थेऽनुना'। १२. मनोवाक्कायेन। १३. प्रवचनमातृकाष्टकम्। १४. गणधरादयः।

उत्कृष्टतपसो धीरान् मुनीन् ध्यायन्ननेनस.[1] ।[2] एकचर्यां ततो भेजे युक्तः सद्दर्शनेन स ॥६६॥
स एकचरतां[3] प्राप्य चिरं गज इवागजः[4] । मन्थर[5] विजहारोर्वीं प्रपश्यन् सवन[6] वनम् ॥६७॥
ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधी. । स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्त्वस्याङ्गानि षोडश ॥६८॥
सद्दृष्टिं विनय शीलव्रतेष्वनतिचारताम् । ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्यात्[7] सवेगं चाप्यभावयत् ॥६९॥
यथाशक्ति तपस्तेपे स्वय वीर्यमह्नापयन्[8] । त्यागे च मतिमाधत्ते ज्ञानसंयमसाधने ॥७०॥
सावधान समाधाने[9] साधूनां सोऽभवन् मुहुः । समाधये हि सर्वोऽयं[10] परिस्पन्दो हितार्थिनाम् ॥७१॥
स वैयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु ।[11] अनात्मतरको भूत्वा तपसो हृदयं हि तत् ॥७२॥
स तेने भक्तिमर्हत्सु[12] पूजामर्हत्सु[13] निश्चलाम् । आचार्यान् प्रश्रयी भेजे मुनीनपि बहुश्रुतान् ॥७३॥
परां प्रवचने भक्तिमा[14] प्तोपज्ञे ततान स । न[15] पारयति रागादीन् विजेतु[16] सन्ततानस[17] ॥७४॥
अवश्यम[18] वशोऽप्येष वशी स्वावश्यकं दधौ । षड्भेदं देशकालादिमभ्यपेक्षमनूनयन् ॥७५॥
मार्गं प्रकाशयामास तपोज्ञानादिदीधिती । दधानोऽसौ मुनीनेनो[19] भव्याब्जानां प्रबोधक ॥७६॥

देवोंने कहा है ॥६४-६५॥ तदनन्तर उत्कृष्ट तपस्वी, धीर, वीर तथा पापरहित मुनियोंका चिन्तवन करनेवाला और सम्यग्दर्शनसे युक्त वह चक्रवर्ती एकचर्याव्रतको प्राप्त हुआ अर्थात् एकाकी विहार करने लगा ॥६६॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती एकचर्याव्रत प्राप्त कर किसी पहाड़ी हाथीके समान तालाब और वनकी शोभा देखता हुआ चिरकाल तक मन्द गतिसे (ईर्यासमितिपूर्वक) पृथिवीपर विहार करता रहा ॥६७॥ तदनन्तर आत्माके स्वरूपका चिन्तवन करनेवाले धीर-वीर वज्रनाभि मुनिराजने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरके निकट उन सोलह भावनाओंका चिन्तवन किया जो कि तीर्थंकर पद प्राप्त होनेमें कारण हैं ॥६८॥ उसने शंकादि दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, विनय धारण की, शील और व्रतोंके अतिचार दूर किये, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग किया, संसारसे भय प्राप्त किया ॥६९॥ अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर सामर्थ्यके अनुसार तपश्चरण किया, ज्ञान और संयमके साधनभूत त्यागमें चित्त लगाया ॥७०॥ साधुओंके व्रत, शील आदिमें विघ्न आनेपर उनके दूर करनेमें वह बार-बार सावधान रहता था क्योंकि हितैषी पुरुषोंकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ समाधि अर्थात् दूसरोंके विघ्न दूर करनेके लिए ही होती हैं ॥७१॥ किसी व्रती पुरुषके रोगादि होनेपर वह उसे अपनेसे अभिन्न मानता हुआ उसका वैयावृत्य (सेवा) करता था क्योंकि वैयावृत्य ही तपका हृदय है–सारभूत तत्त्व है ॥७२॥ वह पूज्य अरहन्त भगवान्में अपनी निश्चल भक्तिको विस्तृत करता था, विनयी होकर आचार्योंकी भक्ति करता था, तथा अधिक ज्ञानवान् मुनियोंकी भी सेवा करता था ॥७३॥ वह सच्चे देवके कहे हुए शास्त्रोंमें भी अपनी उत्कृष्ट भक्ति बढाता रहता था, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति (शास्त्रभक्ति) से रहित होता है वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओंको नहीं जीत सकता है ॥७४॥ वह अवश (अपराधीन) होकर भी वश–पराधीन (पक्षमें जितेन्द्रिय) था और द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा रखनेवाले, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका पूर्ण रूपसे पालन करता था ॥७५॥ तप, ज्ञान आदि किरणोंको धारण करनेवाला और भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाला वह मुनिराजरूपी सूर्य सदा जैनमार्गको प्रकाशित

---

१ अपापान् । २-३. एकविहारित्वम् । ४ पर्वतजात । ५ शनैः । ६ सजलमरण्यम् । ७. सातत्यात् । 'अभीक्ष्ण शश्वदनारते' इत्यभिधानात् । ८ अगोपयन् । ९ समाधौ । १०. चेष्टा । ११ अनात्मवञ्चकः । अनात्मान्तरको– द०, ल० । १२. इन्द्रादिकृत-पूजायोग्येषु । १३. निर्मलाम् प०,द० । १४ आप्तेन प्रथमोपक्रमे । १५ समर्थो न भवति । १६ विस्तृतान् । १७ अनाप्त । स न भवतित्यसः । प्रवचनभक्तिरहित इत्यर्थः । १८ अनिच्छु । १९. मुनीन्द्रसूर्यः ।

वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः । विनेयान् स्थापयन् धर्मे जिनप्रवचनाश्रितान् ॥७७॥
[1]इत्यमूनि महाधैर्यो मुनिश्चिरमभावयत् । तीर्थकृत्त्वस्य संप्राप्तौ कारणान्येष षोडश ॥७८॥
ततोऽमूर्भावनाः सम्यग् भावयन् मुनिसत्तमः[2] । स बबन्ध महत् पुण्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥७९॥
स कोष्ठबुद्धिममलां बीजबुद्धिं च शिश्रिये । पदानुसारिणीं बुद्धिं संभिन्नश्रोतृतामिति ॥८०॥
ताभिर्बुद्धिभिरिद्धर्द्धिः [3]परलोकगतागतम् । राजर्षी राजविद्याभिरिव सम्यगबुद्ध सः ॥८१॥
स दीप्ततपसा दीप्तो[4] भेजे [श्रेजे] तप्ततपाः परम् । तेपे तपोऽग्रयमुग्रं च [5]घोरांघो[होऽ] रातिमर्मभित् ॥८२॥
स तपोमन्त्रिभिर्द्वन्द्वम्[6] अमन्त्रयत मन्त्रवित् । परलोकजयोद्युक्तो विजिगीषुः पुरा यथा ॥८३॥
अणिमादिगुणोपेतां विक्रियर्द्धिमवाप सः । पदं वाञ्छन् तमैच्छन् महेच्छो गरिमास्पदम् ॥८४॥
जल्लाद्यौषधिसंप्राप्तिरस्यासीज्जगते[7] हिता । कल्पद्रुमफलावाप्तिः कस्य वा नोपकारिणी ॥८५॥
रसत्यागप्रतिज्ञस्य [8]रससिद्धिरभून्मुनेः । सूते निवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत् फलम् ॥८६॥

(प्रभावित) करता था ॥७६॥ जैनशास्त्रोंके अनुसार चलनेवाले शिष्योंको धर्ममें स्थिर रखता हुआ और धर्ममे प्रेम रखनेवाला वह वज्रनाभि सभी धर्मात्मा जीवोंपर अधिक प्रेम रखता था ॥७७॥ इस प्रकार महा धीर-वीर मुनिराज वज्रनाभिने तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके कारणभूत उक्त सोलह भावनाओंका चिरकाल तक चिन्तन किया था ॥७८॥ तदनन्तर इन भावनाओंका उत्तम रीतिसे चिन्तन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराजने तीन लोकमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृतिका बन्ध किया ॥७९॥ वह निर्मल कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणीबुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि इन चार ऋद्धियोंको भी प्राप्त हुआ था ॥८०॥ जिस प्रकार कोई राजर्षि राजविद्याओंके द्वारा अपने शत्रुओंके समस्त गमनागमनको जान लेता है ठीक उसी प्रकार प्रकाशमान ऋद्धियोंके धारक वज्रनाभि मुनिराजने भी ऊपर कही हुई चार प्रकारकी बुद्धि नामक ऋद्धियोंके द्वारा अपने परभव-सम्बन्धी गमनागमनको जान लिया था ॥८१॥ वह दीप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट दीप्तिको प्राप्त हुआ था, तप्त ऋद्धिके प्रभावसे उत्कृष्ट तप तपता था, उग्र ऋद्धिके प्रभावसे उग्र तपश्चरण करता था और भयानक कर्मरूप शत्रुओंके मर्मको भेदन करता हुआ घोर ऋद्धिके प्रभावसे घोर तप तपता था ॥८२॥ मन्त्र (परामर्श)-को जाननेवाला वह वज्रनाभि जिस प्रकार पहले राज्य-अवस्थामें विजयका अभिलाषी होकर परलोक (शत्रुसमूह) जो जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ मन्त्रियोंके साथ बैठकर द्वन्द्व (युद्ध) का विचार किया करता था, उसी प्रकार अब मुनि अवस्थामें भी पञ्चनमस्कारादि मन्त्रोंका जाननेवाला, वह वज्रनाभि कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेका अभिलाषी होकर परलोक (नरकादि पर्यायोंको, जीतनेके लिए तत्पर होता हुआ तपरूपी मन्त्रियों (मन्त्रशास्त्रके जानकार योगियों)के साथ द्वन्द्व (आत्मा और कर्म अथवा राग और द्वेष आदि) का विचार किया करता था ॥८३॥ उदार आशयको धारण करनेवाला वज्रनाभि केवल गौरवशाली सिद्ध पदकी ही इच्छा रखता था। उसे ऋद्धियोंकी बिलकुल ही इच्छा नहीं थी फिर भी अणिमा, महिमा आदि अनेक गुणोंसहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥८४॥ जगत्का हित करनेवाली जल्ल आदि ओषधि ऋद्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई थीं सो ठीक ही है। कल्पवृक्षपर लगे हुए फल किसका उपकार नहीं करते ? ॥८५॥ यद्यपि उन मुनिराजके घी, दूध आदि रसोंके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा थी तथापि घी, दूध आदिको झरानेवाली अनेक रस ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं। सो ठीक ही

१. इहामूनि ल० । २ सत्तमः श्रेष्ठ. । ३ परलोकगमनागमनम् । ४. दीप्ति । ५. घोराघारा –द० । घोराघोराति–ल० । ६ परिग्रहम् । इष्टानिष्टादिक च । पक्षे कलहं च । ७.–ज्जगतीहिता म०, ल० । ८. अमृतादिरससिद्धिः ।

स बलर्द्धिर्बलाधानादसोढोग्रान् परीषहान् । अन्यथा तादृशं द्वन्द्वं[1] कः सहेत सुदुस्सहम् ॥८७॥
सोऽक्षीणर्द्धिप्रभावेणाक्षीणान्नावसथोऽभवत् । ध्रुवं तपोऽकृशं तप्तं [2]पम्फुलीत्यक्षयं फलम् ॥८८॥
विशुद्धभावनः सम्यग् विशुध्यन् स्वविशुद्धिभिः[3] । तदोपशमकश्रेणीमारुरोह मुनीश्वरः ॥८९॥
अपूर्वकरणं श्रित्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् । स सूक्ष्मरागः[4] सम्प्रापदुपशान्तकषायताम् ॥९०॥
कृत्स्नस्य मोहनीयस्य प्रशमादुपपादितम् । तत्रौपशमिकं प्रापच्चारित्रं सुविशुद्धिकम् ॥९१॥
सोऽन्तर्मुहूर्ताद् भूयोऽपि स्वस्थानस्थो[5]ऽभवद् यतिः । नोर्ध्वं मुहूर्तात् तत्रास्ति[6] निसर्गात् स्थितिरात्मनः
सोऽबुद्ध परमं मन्त्रं सोऽबुद्ध परमं तपः । सोऽबुद्ध परमामिष्टिं[7] सोऽबुद्ध परमं पदम् ॥९३॥
ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते । प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥९४॥
रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः । प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमापिपत्[8] ॥९५॥
प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः । प्रायेणापगमो[9] यस्मिन् दुरितारिकदम्बकात्[10] ॥९६॥

है, इष्ट पदार्थोंके त्याग करनेसे उनसे भी अधिक महाफलोंकी प्राप्ति होती है ॥८६॥ बल ऋद्धिके प्रभावसे बल प्राप्त होनेके कारण वह कठिन-कठिन परीषहोंको भी सह लेता था सो ठीक ही है क्योंकि उसके बिना शीत, उष्ण आदिकी व्यथाको कौन सह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥८७॥ उसे अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई थी इसीलिए वह जिस दिन जिस घरमें भोजन ग्रहण करता था उस दिन उस घरमें अन्न अक्षय हो जाता था—चक्रवर्तीके कटकको भोजन करानेपर भी वह भोजन क्षीण नहीं होता था। सो ठीक ही है, वास्तवमें तपा हुआ महान् तप अविनाशी फलको फलता ही है ॥८८॥ विशुद्ध भावनाओंको धारण करनेवाले वज्रनाभि मुनिराज जब अपने विशुद्ध परिणामोंसे उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे तब वे उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए ॥८९॥ वे अधःकरणके बाद आठवें अपूर्वकरणका आश्रय कर नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त हुए और उसके बाद जहाँ राग अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है, ऐसे सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थानको प्राप्त कर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए। वहाँ उनका मोहनीय कर्म बिलकुल ही उपशान्त हो गया था ॥९०॥ सम्पूर्ण मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे वहाँ उन्हें अतिशय विशुद्ध औपशमिक चारित्र प्राप्त हुआ ॥९१॥ अन्तर्मुहूर्तके बाद वे मुनि फिर भी स्वस्थान अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानमें स्थित हो गये अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्त ठहरकर वहाँसे च्युत हो उसी गुणस्थानमें आ पहुँचे जहाँसे कि आगे बढ़ना शुरू किया था। उसका खास कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानमें आत्माकी स्वाभाविक स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे आगे है ही नहीं ॥९२॥ मुनिराज वज्रनाभि उत्कृष्ट मन्त्रको जानते थे, उत्कृष्ट तपको जानते थे, उत्कृष्ट पूजाको जानते थे और उत्कृष्ट पद (सिद्धपद) को जानते थे ॥९३॥ तत्पश्चात् आयुके अन्त समयमें उस बुद्धिमान् वज्रनाभिने श्रीप्रभनामक ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन (प्रायोपगमन नामका संन्यास) धारण कर शरीर और आहारसे ममत्व छोड़ दिया ॥९४॥ चूँकि इस संन्यासमें तपस्वी साधु रत्नत्रयरूपी शय्यापर उपविष्ट होता है—बैठता है, इसलिए इसका प्रायोपवेशन नाम सार्थक है ॥९५॥ इस संन्यासमें अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसे प्रायेणोपगम भी कहते हैं। अथवा इस संन्यासके धारण करनेपर अधिकतर कर्मरूपी शत्रुओंका अपगम—नाश—हो जाता है इसलिए इसे प्रायेणापगम भी कहते

१ इष्टानिष्टादिकम् । २ पम्फली—ब०, अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । भृश फलति । ३ आत्मशुद्धिभिः । ४. सूक्ष्मसाम्परायः । ५ अप्रमत्तगुणस्थानस्थः । ६. उपशान्तकषायगुणस्थाने । ७. भावपूजाम् । ८. प्रापय । ९ गम गमनम् । १० पापारिसमूहात् ।

प्रायेणास्माज्जनस्थानादपसृत्य[1] गमोऽटवेः । प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः ॥९७॥
स्वपरोपकृतां देहे सोऽनिच्छंस्तां प्रतिक्रियाम् । रिपोरिव शवं त्यक्त्वा देहमास्त निराकुल ॥९८॥
त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गो मुनिः परिकृशोदरः । [2]सत्त्वमेवावलम्ब्यास्थाद्[3] गयाराभ्रानकम्पधीः[4] ॥९९॥
क्षुधं पिपासां शीत च तथोष्णं दंशमक्षिकम्[5] । [6]नाग्न्यं तथा रतिं स्त्रैणं[7] चर्यां शय्यां[8] निषद्यकाम् ॥१००॥
आक्रोशं वधयाञ्चे च तथालाभमदर्शनम् । रोगं च सतृणस्पर्शं प्रज्ञाज्ञाने मल तथा ॥१०१॥
ससत्कारपुरस्कारमसोढैतान् परीषहान् । मार्गाच्यवनमाशंसु[9] महतीं निर्जरामपि ॥१०२॥
स भेजे मतिमान् क्षान्तिं परं मार्दवमार्जवम् । शौचं च सयमं सत्यं तपस्त्यागौ च निर्मदः ॥१०३॥
आकिञ्चन्यमथ ब्रह्मचर्यं च वदतां वरः । धर्मो [10]दशतयोऽयं हि गणेशामभिसम्मतः[11] ॥१०४॥
सोऽनु[12]दध्यावनित्यत्वं सुखायुर्बलसंपदाम् । तथाऽशरणतां मृत्युजराजन्मभये नृणाम् ॥१०५॥
संसृतेर्दुःस्वभावत्वं विचित्रपरिवर्तनैः । एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मत्वमीयुषः ॥१०६॥
अन्यत्वमात्मनो देहधनबन्धुकलत्रतः । तथाऽशौचं शरीरस्य नवद्वारैर्मलस्रुतः[13] ॥१०७॥
आस्रवं पुण्यपापात्मकर्मणां सह संवरम् । निर्जरां विपुलां बोधेर्दुर्लभत्वं भवाम्बुधौ ॥१०८॥

हैं ॥९६॥ उस विषयके जानकर उत्तम मुनियोंने इस संन्यासका एक नाम प्रायोपगमन भी बतलाया है और उसका अर्थ यह कहा है कि जिसमें प्रायः करके (अधिकतर) संसारी जीवोंके रहने योग्य नगर, ग्राम आदिसे हटकर किसी वनमें जाना पड़े उसे प्रायोपगमन कहते है ॥९७॥ इस प्रकार प्रायोपगमन संन्यास धारण कर वज्रनाभि मुनिराज अपने शरीरका न तो स्वयं ही कुछ उपचार करते थे और न किसी दूसरेसे ही उपचार करानेकी चाह रखते थे। वे तो शरीरसे ममत्व छोड़कर उस प्रकार निराकुल हो गये थे जिस प्रकार कि कोई शत्रुके मृतक शरीरको छोड़कर निराकुल हो जाता है ॥९८॥ यद्यपि उस समय उनके शरीरमें चमड़ा और हड्डी ही शेष रह गयी थी एवं उनका उदर भी अत्यन्त कृश हो गया था तथापि वे अपने स्वाभाविक धैर्यका अवलम्बन कर बहुत दिन तक निश्चलचित्त होकर बैठे रहे ॥९९॥ मुनिमार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी विशाल निर्जरा होनेकी इच्छा करते हुए वज्रनाभि मुनिराजने क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कारपुरस्कार ये बाईस परिषह सहन किये थे ॥१००-१०२॥ बुद्धिमान्, मदरहित और विद्वानोंमें श्रेष्ठ वज्रनाभि मुनिने उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये थे। वास्तवमें ये ऊपर कहे हुए दश धर्म गणधरोंको अत्यन्त इष्ट हैं ॥१०३-१०४॥ इनके सिवाय वे प्रति समय बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करते रहते थे जैसे कि संसारके सुख, आयु, बल और सम्पदाएँ सभी अनित्य हैं। तथा मृत्यु, बुढ़ापा और जन्मका भय उपस्थित होनेपर मनुष्योंको कुछ भी शरण नहीं है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप विचित्र परिवर्तनोंके कारण यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है। ज्ञानदर्शन स्वरूपको प्राप्त होनेवाला आत्मा सदा अकेला रहता है। शरीर, धन, भाई और स्त्री वगैरहसे यह आत्मा सदा पृथक् रहता है। इस शरीरके नव द्वारोंसे सदा मल झरता रहता है इसलिए यह अपवित्र है। इस जीवके पुण्य पापरूप कर्मोंका आस्रव होता रहता है। गुप्तिसमिति आदि कारणोंसे उन कर्मोंका संवर होता है। तपसे निर्जरा होती है। यह लोक चौदह राजूप्रमाण ऊँचा है। संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयकी

---

१ निर्गत्य। २. मनोबलम्। ३. बहुदिवाः। ४. निष्कम्पबुद्धिः। ५ मशकम्। ६ नग्नत्वम्। ७ स्त्रीसम्बन्धि। ८. शयनम्। ९. इच्छन्। १०. दशप्रकारः 'प्रकारवाची तयप्'। दशतयाय द०, म०, ल०। ११. -मपि सम्मतः अ०, स०, म०, द, ल०। १२. अन्वचिन्तयत्। १३ मलस्राविणः।

धर्मस्वाख्याततां चेति [1]तत्त्वानुध्यानभावनाः। लेश्याविशुद्धिमधिकां दधानः शुभभावनः ॥१०९॥
द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकाम्। [2]पृथक्त्वध्यानमापूर्य [3]समाधिं परमं श्रितः ॥११०॥
उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः। सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम् ॥१११॥
द्विषट्कयोजनैर्लोकप्रान्तमप्राप्य यत्स्थितम्। सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्यं विमानं तदनुत्तरम् ॥११२॥
जम्बूद्वीपसमायामविस्तारपरिमण्डलम्[4]। त्रिषष्टिपटलप्रान्ते चूडारत्नमिव स्थितम् ॥११३॥
यत्रोत्पन्नवतामर्था सर्वे सिद्ध्यन्त्ययत्नतः। इति सर्वार्थसिद्ध्याख्यां यद्बिभर्त्यर्थयोगिनाम्[5] ॥११४॥
महाधिष्ठानमुत्तुङ्गशिखरोल्लासिकेतनैः। समाह्वयदिवाभाति यन्मुनीन् सुखदित्सया[6] ॥११५॥
इन्द्रनीलमयीं यत्र भुवं पुष्पोपहारिणीम्। दृष्ट्वा तारकितं व्योम स्मरन्ति त्रिदिवौकसः ॥११६॥
[7]द्युसदां प्रतिबिम्बानि धारयन्त्यश्मकासति। सिसृक्षत्व[8] इवापूर्वं स्वर्गं यन्मणिभित्तयः ॥११७॥
किरणैर्यत्र रत्नानां तमोधूतं विदूरतः। पटं न कुरुते सत्यं निर्मला मलिनैः सह ॥११८॥
रत्नांशुभिर्जटिलितैर्यत्र शक्रशरासनम्। पर्यन्ते लक्ष्यते दीप्तसाललीलां विडम्बयत् ॥११९॥
भान्ति पुष्पस्रजो यत्र लम्बमानाः सुगन्धयः। सौमनस्यमिवेन्द्राणां सूचयन्त्योऽतिकोमलाः ॥१२०॥
मुक्तामयानि दामानि यत्राभान्ति निरन्तरम्। त्रिदशदशनांशूनि [9]हसितानीव तच्छ्रियः ॥१२१॥

प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है और दयारूपी धर्मसे ही जीवोंका कल्याण हो सकता है। इस प्रकार तत्त्वोंका चिन्तन करते हुए उन्होंने बारह भावनाओंको भाया। उस समय शुभ भावोंको धारण करनेवाले वे मुनिराज लेश्याओंकी अतिशय विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१०५-१०९॥ वे द्वितीय बार उपशम श्रेणीपर आरूढ हुए और पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यानको पूर्ण कर उत्कृष्ट समाधिको प्राप्त हुए ॥ ११० ॥ अन्तमें उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुए ॥ १११ ॥ यह सर्वार्थसिद्धि नामका विमान लोकके अन्त भागसे बारह योजन नीचा है। सबसे अग्रभागमें स्थित और सबसे उत्कृष्ट है ॥११२॥ इसकी लम्बाई, चौड़ाई और गोलाई जम्बूद्वीपके बराबर है। यह स्वर्गके तिरेसठ पटलोंके अन्तमें चूडामणि रत्नके समान स्थित है ॥११३॥ चूँकि उस विमानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सब मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए वह सर्वार्थसिद्धि इस सार्थक नामको धारण करता है ॥ ११४ ॥ वह विमान बहुत ही ऊँचा है तथा फहराती हुई पताकाओंसे शोभायमान है इसलिए ऐसा जान पड़ता है मानो सुख देनेकी इच्छासे मुनियोंको बुला ही रहा हो ॥११५॥ जिसपर अनेक फूल बिखरे हुए हैं ऐसी वहाँकी नीलमणिकी बनी हुई भूमिको देखकर देवता लोगोंको ताराओंसे व्याप्त आकाशका स्मरण हो आता है ॥११६॥ देवोंके प्रतिबिम्बको धारण करनेवाली वहाँकी रत्नमयी दीवालें ऐसी जान पड़ती हैं मानो किसी नये स्वर्गकी सृष्टि ही करना चाहती हों ॥ ११७ ॥ वहाँपर रत्नोंकी किरणोंने अन्धकारको दूर भगा दिया है। सो ठीक ही है, वास्तवमें निर्मल पदार्थ मलिन पदार्थोंके साथ संगति नहीं करते हैं ॥११८॥ उस विमानके चारों ओर रत्नोंकी किरणोंसे जो इन्द्रधनुष बन रहा है उससे ऐसा मालूम होता है मानो चारों ओर चमकीला कोट ही बनाया गया हो ॥ ११९ ॥ वहाँपर लटकती हुई सुगन्धित और सुकोमल फूलोंकी मालाएँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वहाँके इन्द्रोंके सौमनस्य (फूलोंके बने हुए, उत्तम मन)को ही सूचित कर रही हों ॥ १२० ॥ उस विमानमें निरन्तर रूपसे लगी हुई मोतियोंकी मालाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो दाँतोंकी स्पष्ट

---

१. तत्त्वानुस्मृतिरूपभावनाः। २. प्रथमशुक्लध्यानं सम्पूर्णीकृत्य। ३ समाधानम्। ४. परिधि.। ५. अर्थयुक्ताम्। ६ दातुमिच्छया। ७. देवानाम्। ८ स्रष्टुमिच्छवः। ९. हसनानि।

इत्यकृत्रिमनिश्शेषपरार्ध्यरचनाञ्चिते । तत्रोपपादशयने [1]पर्याप्तिं स क्षणाद् ययौ ॥१२२॥
दोषधातुमलस्पर्शवर्जितं चारुलक्षणम् । क्षणादाविरभूदस्य रूपमापूर्णयौवनम् ॥१२३॥
अम्लानशोभमस्याभाद् वपुरव्याजसुन्दरम्[2] । दृशोरुत्सवमातन्वदमृतेनेव निर्मितम् ॥१२४॥
शुभाः सुगन्धयः स्निग्धा[3] लोके ये केचनाणवः । तैरस्य देहनिर्माणमभूत् पुण्यानुभावतः ॥१२५॥
पर्याप्त्यनन्तरं सोऽभात् स्वदेहज्योत्स्नया वृतः । शय्योत्सङ्गे नभोरङ्गे शशीवाखण्डमण्डलः ॥१२६॥
[4]दिव्यहंसः स तत्तल्पमावसन् क्षणमाबभौ । गङ्गासैकतमाश्लिष्यन्निव हंसयुवैककः ॥१२७॥
सिंहासनमथाभ्यर्णम[5]लंकुर्वन्नध्यमादसौ । परार्ध्यं[6] निषधोत्सङ्गमाश्रयन्निव भानुमान् ॥१२८॥
स्वपुण्याम्बुभिरेवायमभ्यषेचि न केवलम् । अलंचक्रे च शारीरैर्गुणैरिव[7] विभूषणैः ॥१२९॥
सोऽधिवक्षःस्थलं दध्रे स्रजमेव न केवलम् । सहजां दिव्यलक्ष्मीं च यावदायुरविप्लुताम्[8] ॥१३०॥
अस्नातलिप्तदीप्ताङ्गः सहजाम्बरभूषणः । सोऽद्युतद् [9]द्युसदां मूर्ध्नि द्युलोकैकशिखामणिः ॥१३१॥
[10]शुचिस्फटिकनिर्भासिनिर्मलोदारविग्रहः । स बभौ प्रज्वलन्मौलिः पुण्यराशिरिवोच्छिखः ॥१३२॥

किरणोंसे शोभायमान वहाँकी लक्ष्मीका हास्य ही हो ॥ १२१ ॥ इस प्रकार अकृत्रिम और श्रेष्ठ रचनासे शोभायमान रहनेवाले उस विमानमें उपपाद शय्यापर वह देव क्षण-भरमें पूर्ण शरीरको प्राप्त हो गया ॥१२२॥ दोष, धातु और मलके स्पर्शसे रहित, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर क्षण-भरमें ही प्रकट हो गया था ॥१२३॥ जिसकी शोभा कभी म्लान नहीं होती, जो स्वभावसे ही सुन्दर है और जो नेत्रोंको आनन्द देनेवाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानो अमृतके द्वारा ही बनाया गया हो ॥१२४॥ इस संसारमें जो शुभ सुगन्धित और चिकने परमाणु थे, पुण्योदयके कारण उन्हीं परमाणुओंसे उसके शरीरकी रचना हुई थी ॥ १२५ ॥ पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद उपपाद शय्यापर अपने ही शरीरकी कान्तिरूपी चाँदनीसे घिरा हुआ वह अहमिन्द्र ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि आकाशमें चाँदनीसे घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥१२६॥ उस उपपाद शय्यापर बैठा हुआ वह दिव्यहंस (अहमिन्द्र) क्षण-भर तक ऐसा शोभायमान होता रहा जैसा कि गंगा नदीके बालूके टीलेपर अकेला बैठा हुआ तरुण हंस शोभायमान होता है ॥१२७॥ उत्पन्न होनेके बाद वह अहमिन्द्र निकटवर्ती सिंहासनपर आरूढ हुआ था। उस समय वह ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि अत्यन्त श्रेष्ठ निषध पर्वतके मध्यपर आश्रित हुआ सूर्य शोभायमान होता है ॥१२८॥ वह अहमिन्द्र अपने पुण्यरूपी जलके द्वारा केवल अभिषिक्त ही नहीं हुआ था किन्तु शारीरिक गुणोंके समान अनेक अलंकारोंके द्वारा अलंकृत भी हुआ था ॥१२९॥ उसने अपने वक्षःस्थलपर केवल फूलोंकी माला ही धारण नहीं की थी किन्तु जीवनपर्यन्त नष्ट नहीं होनेवाली, साथ-साथ उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मी भी धारण की थी ॥१३०॥ स्नान और विलेपनके बिना ही जिसका शरीर सदा देदीप्यमान रहता है और जो स्वयं साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र तथा आभूषणोंसे शोभायमान है ऐसा वह अहमिन्द्र देवोंके मस्तकपर (अग्रभागमें) ऐसा सुशोभित होता था मानो स्वर्गलोकका एक शिखामणि ही हो अथवा सूर्य ही हो क्योंकि शिखामणि अथवा सूर्य भी स्नान और विलेपनके बिना ही देदीप्यमान रहता है और स्वभावसे ही अपनी प्रभा-द्वारा आकाशको भूषित करता रहता है ॥१३१॥ जिसका निर्मल और उत्कृष्ट शरीर शुद्ध स्फटिकके समान अत्यन्त शोभायमान था तथा जिसके मस्तकपर देदीप्यमान मुकुट शोभायमान हो रहा था ऐसा वह अहमिन्द्र, जिसकी शिखा

१. स पर्याप्ति क्ष–ब०, द०, स०, म० । २. अनुपाधिमञ्जुलम् । ३. चिक्कणाः । ४. देवश्रेष्ठः । ५. समीपस्थम् । ६. परार्घनिषधो–अ०, प०, द०, स०, ल० । ७. सौकुमार्यादिभिः । ८ अबाधाम् । ९. देवानामग्रे । १० शुद्धः ।

[1]तिरीटाङ्गदकेयूरकुण्डलादिपरिष्कृत[2] । स्रग्वी सदंशुक श्रीमान् सोऽधात् कल्पद्रुमश्रियम् ॥१३३॥
अणिमादिगुणैः श्लाघ्या दधद्वैक्रियिकीं तनुम् । स्वक्षेत्रे विजहारासौ जिनेन्द्रार्चाः समर्चयन् ॥१३४॥
सङ्कल्पमात्रनिर्वृत्तै[3] र्दिव्यैर्गन्धाक्षतादिभि । पुण्यानुबन्धिनी पूजां स जैनीं विधिवद् व्यधात् ॥१३५॥
तत्रस्थ एव चाशेषभुवनोदरवर्तिनी । आनर्चार्चा जिनेन्द्राणां सोऽग्रणी [4]पुण्यकर्मणाम् ॥१३६॥
जिनार्चास्तुतिवादेषु वाग्वृत्तिं तद्गुणस्मृतौ । स्वं मनस्तन्नतौ काय पुण्यधी सन्न्ययोजयत् ॥१३७॥
धर्मगोष्ठीष्वनाहूतमिलितैः स्वसमृद्धिभिः । संभाषणादरोऽस्यासीदहमिन्द्रैः [5]शुभंयुभि ॥१३८॥
क्षालयन्निव दिग्भित्तीः स्मितांशुसलिलप्लवैः । सहाहमिन्द्रैरुन्द्रश्री स चक्रे धर्मसंकथाम् ॥१३९॥
स्वावासोपान्तिकोद्यानसर पुलिनभूमिषु । दिव्यहंसश्चिरं रेमे विहरन् स यदृच्छया ॥१४०॥
परक्षेत्रविहारस्तु नाहमिन्द्रेषु विद्यते । शुक्ललेश्यानुभावेन [6]स्वभोगैर्धृतिमापुषाम्[7] ॥१४१॥
स्वस्थाने या च संप्रीति निरपायसुखोदये । न सान्यत्र ततोऽन्येषां [नैषां] रिरंसा[8] परभुक्तिषु[9] ॥१४२॥
अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो[10] मत्तोऽस्तीत्यात्त[11]कत्थनाः । अहमिन्द्राख्यया ख्याति गतास्ते हि सुरोत्तमा ॥१४३॥
नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः । केवलं सुखसाद्भूता दीव्यन्ते ते प्रमोदिन ॥१४४॥

ऊँची उठी हुई है ऐसी पुण्यकी राशिके समान सुशोभित होता था ॥१३२॥ वह अहमिन्द्र, मुकुट, अनन्त, बाजूबन्द और कुण्डल आदि आभूषणोंसे सुशोभित था, सुन्दर मालाएँ धारण कर रहा था, उत्तम-उत्तम वस्त्रोंसे युक्त था और स्वयं शोभासे सम्पन्न था इसलिए अनेक आभूषण माला और वस्त्र आदिको धारण करनेवाले किसी कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था ॥१३३॥ अणिमा, महिमा आदि गुणोंसे प्रशंसनीय वैक्रियिक शरीरको धारण करनेवाला वह अहमिन्द्र जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाओंकी पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्रमें विहार करता था ॥१३४॥ और इच्छामात्रसे प्राप्त हुए मनोहर गन्ध, अक्षत आदिके द्वारा विधिपूर्वक पुण्यका बन्ध करनेवाली श्री जिनदेवकी पूजा करता था ॥१३५॥ वह अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवोंमें सबसे प्रधान था इसलिए उसी सर्वार्थसिद्धि विमानमें स्थित रहकर ही समस्त लोकके मध्यमें वर्तमान जिनप्रतिमाओंकी पूजा करता था ॥१३६॥ उस पुण्यात्मा अहमिन्द्रने अपने वचनोंकी प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओंके स्तवन करनेमें लगायी थी, अपना मन उनके गुण-चिन्तवन करनेमें लगाया था और अपना शरीर उन्हें नमस्कार करनेमें लगाया था ॥१३७॥ धर्मगोष्ठियोंमें विना बुलाये सम्मिलित होनेवाले, अपने ही समान ऋद्धियोंको धारण करनेवाले और शुभ भावोंसे युक्त अन्य अहमिन्द्रोंके साथ संभाषण करनेमें उसे बड़ा आदर होता था ॥१३८॥ अतिशय शोभाका धारक वह अहमिन्द्र कभी तो अपने मन्दहास्यके किरणरूपी जलके पूरोंसे दिशारूपी दीवालोंका प्रक्षालन करता हुआ अहमिन्द्रोंके साथ तत्त्वचर्चा करता था और कभी अपने निवासस्थानके समीपवर्ती उपवनके सरोवरके किनारेकी भूमिमें राजहंस पक्षीके समान अपने इच्छानुसार विहार करता हुआ चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥१३९-१४०॥ अहमिन्द्रोंका परक्षेत्रमें विहार नहीं होता क्योंकि शुक्ललेश्याके प्रभावसे अपने ही भोगों-द्वारा सन्तोषको प्राप्त होनेवाले अहमिन्द्रोंको अपने निरुपद्रव सुखमय स्थानमें जो उत्तम प्रीति होती है वह उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती। यही कारण है कि उनकी परक्षेत्रमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा नहीं होती है ॥१४१-१४२॥ 'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई इन्द्र नहीं है' इस प्रकार वे अपनी निरन्तर प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तमदेव अहमिन्द्र नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१४३॥ उन अहमिन्द्रके न तो परस्परमें असूया है, न परनिन्दा है, न आत्मप्रशंसा

१ किरीटा– अ० । २. भूपितः । ३ निष्पन्नैः । ४. शुभकर्मवताम् । ५. शुभावहैः । 'शुभेच्छुभिः' 'स' पुस्तके टिप्पणे पाठान्तरम् । शुभेषुभिः म०, ल० । ६ स्वक्षेत्रे । ७. सतोष गतवताम् । –मीयुषाम् अ०, प०, स०, द० । ८. रमणेच्छा । ९ परक्षेत्रेषु । १०. मत् । ११. स्वीकृतश्लाघा ।

स एष परमानन्दं स्वसाद्भूतं समुद्वहन् । त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युतिः ॥१४५॥
समेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुन्दरम् । हस्तमात्रोच्छ्रितं देहं हंसाभं धवलं दधत् ॥१४६॥
सहजांशुकदिव्यस्रग्विभूषाभिरलङ्कृतम् । सौन्दर्यस्येव संदोहं दधानो रुचिरं वपुः ॥१४७॥
[1]प्रशान्तललितोदात्तधीरनेपथ्यविभ्रमः । स्वदेहप्रसरज्ज्योत्स्नाक्षीराब्धौ मग्नविग्रहः ॥१४८॥
स्फुरदाभरणोद्योतद्योतिताखिलदिङ्मुखः । तेजोराशिरिवैकध्यमुपनीतोऽतिभास्वरः ॥१४९॥
विशुद्धलेश्यः शुद्धेद्धदेहदीधितिदिग्धदिक् । [3]सौधेनेव रसेनाहनिर्माणः सुखं[4]निर्वृतः ॥१५०॥
सुधाशिनां सुनासीरप्रमुखाणामगोचरम् । संप्राप्तः परमानन्दप्रदं पदमनुत्तरम् ॥१५१॥
त्रिसहस्राधिकं[5]त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे । मानसं दिव्यमाहारं स्वसात्कुर्वन् धृतिं दधौ ॥१५२॥
मासैः षोडशभिः पञ्चदशभिश्च दिनैर्गतैः[6] । प्राप्तोच्छ्वासस्थितिस्तत्र सोऽहमिन्द्रोऽवसत् सुखम् ॥१५३॥
लोकनाडीगतं योग्यं मूर्तद्रव्यं सपर्ययम् । स्वावधिज्ञानदीपेन द्योतयन् सोऽद्युतत्तराम् ॥१५४॥
[7]तन्मात्रां विक्रियां कर्तुमस्य सामर्थ्यमस्त्यदः । वीतरागस्तु तन्नैवं कुरुते निष्प्रयोजनम् ॥१५५॥
नलिनाभं मुखं तस्य नेत्रे नीलोत्पलोपमे । कपोलाविन्दु[8]सच्छायौ [9]बिम्बकान्तिधरोऽधरः ॥१५६॥

है और न ईर्ष्या ही है । वे केवल सुखमय होकर हर्षयुक्त होते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥१४४॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र अपने आत्माके अधीन उत्पन्न हुए उत्कृष्ट सुखको धारण करता था, तैंतीस सागर प्रमाण उसकी आयु थी और स्वयं अतिशय देदीप्यमान था ॥१४५॥ वह समचतुरस्र संस्थानसे अत्यन्त सुन्दर, एक हाथ ऊँचे और हंसके समान श्वेत शरीरको धारण करता था ॥१४६॥ वह साथ-साथ उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और दिव्य आभूषणोंसे विभूषित जिस मनोहर शरीरको धारण करता था वह ऐसा जान पड़ता था मानो सौन्दर्यका समूह ही हो ॥१४७॥ उस अहमिन्द्रकी वेषभूषा तथा विलास-चेष्टाएँ अत्यन्त प्रशान्त थीं, ललित (मनोहर) थीं, उदात्त (उत्कृष्ट) थीं और धीर थीं। इसके सिवाय वह स्वयं अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी क्षीरसागरमें सदा निमग्न रहता था ॥१४८॥ जिसने अपने चमकते हुए आभूषणोंके प्रकाशसे दसों दिशाओंको प्रकाशित कर दिया था ऐसा वह अहमिन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानो एकरूपताको प्राप्त हुआ अतिशय प्रकाशमान तेजका समूह ही हो ॥१४९॥ वह विशुद्ध लेश्याका धारक था और अपने शरीरकी शुद्ध तथा प्रकाशमान किरणोंसे दसों दिशाओंको लिप्त करता था, इसलिए सदा सुखी रहनेवाला वह अहमिन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो अमृतरसके द्वारा ही बनाया गया हो ॥१५०॥ इस प्रकार वह अहमिन्द्र ऐसे उत्कृष्ट पदको प्राप्त हुआ जो इन्द्रादि देवोंके भी अगोचर है, परमानन्द देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ है ॥१५१॥ वह अहमिन्द्र तैंतीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करता हुआ धैर्य धारण करता था ॥१५२॥ और सोलह महीने पन्द्रह दिन व्यतीत होनेपर श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। इस प्रकार वह अहमिन्द्र वहाँ (सर्वार्थसिद्धिमें) सुखपूर्वक निवास करता था ॥१५३॥ अपने अवधिज्ञानरूपी दीपकके द्वारा त्रसनाडीमें रहनेवाले जानने योग्य मूर्तिक द्रव्योंको उनकी पर्यायोंसहित प्रकाशित करता हुआ वह अहमिन्द्र अतिशय शोभायमान होता था ॥ १५४ ॥ उस अहमिन्द्रके अपने अवधिज्ञानके क्षेत्र बराबर विक्रिया करनेकी भी सामर्थ्य थी, परन्तु वह रागरहित होनेके कारण बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥ १५५ ॥ उसका मुख कमलके समान था, नेत्र नील कमलके समान थे, गाल चन्द्रमाके तुल्य थे और

१. प्रशान्तललितोदात्तधीरा इति चत्वारो नेपथ्यभेदाः । २ एकस्वरूपमिति यावत् । 'एकधा शब्दस्य भावः । ३ अमृतसम्बन्धिनेत्यर्थः । ४. सुखसन्तृप्तः । ५. त्रिसहस्रादिकं त्रिंशत् म०, ल० । ६ नैर्गतैः ब०, द०, स० । ७. स्वावधिक्षेत्रमात्राम् । ८ सदृशौ । ९. बिम्बिकापक्वफलकान्तिधरः ।

इत्यादि वर्णनातीतं वपुरस्यातिभास्वरम् । कामनीयकसर्वस्वमेकीभूतमिवारुचत्[1] ॥१५७॥
आहारकशरीरं यन्निरलंकारभास्वरम् । योगिनामृद्धिजं तेन सदृगस्याचकाद्[2] वपुः ॥१५८॥
एकान्तशान्तरूपं यत् सुखमाप्तैर्निरूपितम् । तदैकध्यमिवापन्नमभूत्तस्मिन् सुरोत्तमे ॥१५९॥
तेऽप्यष्टौ[7] भ्रातरस्तस्य धनदेवोऽप्यनल्पधीः । जातास्तत्सदृशा एव देवाः पुण्यानुभावतः ॥१६०॥
इति तत्राहमिन्द्रास्ते सुखं मोक्षसुखोपमम् । भुञ्जाना निष्प्रवीचाराश्चिरमासन् प्रमोदिनः ॥१६१॥
पूर्वोक्तसप्रवीचारसुखानन्तगुणात्मकम् । सुखमव्याहतं तेषां शुभकर्मोदयोद्भवम् ॥१६२॥
संसारे स्त्रीसमासंगाद्[3] अङ्गिनां सुखसंगमः । तदभावे कुतस्तेषां सुखमित्यत्र चर्च्यते[4] ॥१६३॥
[5]निर्द्वन्द्ववृत्तितामाप्ताः शंसुशन्तीह देहिनाम् । तत्कुतस्त्यं सरागाणां द्वन्द्वोपहतचेतसाम् ॥१६४॥
स्त्रीभोगो न सुखं चेतःसंमोहाद् गात्रसादनात्[6] । तृष्णानुबन्धात् संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥१६५॥
मदनज्वरसंतप्तस्तत्प्रतीकारवाञ्छया । स्त्रीरूपं सेवते श्रान्तो[7] यथा कट्वपि भेषजम् ॥१६६॥
मनोज्ञविषयासेवा तृष्णायै न वितृप्तये । तृष्णार्चिषा च संतप्तः कथं नाम सुखी जनः ॥१६७॥

अधर बिम्बफलकी कान्तिको धारण करता था ॥ १५६ ॥ अभीतक जितना वर्णन किया है उससे भी अधिक सुन्दर और अतिशय चमकीला उसका शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो एक जगह इकट्ठा किया गया सौन्दर्यका सर्वस्व (सार) ही हो ॥ १५७ ॥ छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके आहारक ऋद्धिसे उत्पन्न होनेवाला और आभूषणोंके बिना ही देदीप्यमान रहनेवाला जो आहारक शरीर होता है ठीक उसके समान ही उस अहमिन्द्रका शरीर देदीप्यमान हो रहा था [विशेषता इतनी ही थी कि वह आभूषणोंसे प्रकाशमान था] ॥ १५८ ॥ जिनेन्द्रदेवने जिस एकान्त और शान्तरूप सुखका निरूपण किया है मालूम पड़ता है वह सभी सुख उस अहमिन्द्रमें जाकर इकट्ठा हुआ था ॥१५९॥ वज्रनाभिके वे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ नामके आठों भाई तथा विशाल बुद्धिका धारक धनदेव ये सौ जीव भी अपने पुण्यके प्रभावसे उसी सर्वार्थसिद्धिमें वज्रनाभिके समान ही अहमिन्द्र हुए ॥ १६० ॥ इस प्रकार उस सर्वार्थसिद्धिमें वे अहमिन्द्र मोक्षतुल्य सुखका अनुभव करते हुए प्रवीचार (मैथुन) के बिना ही चिरकाल तक सुखी रहते थे ॥ १६१ ॥ उन अहमिन्द्रोंके शुभ कर्मके उदयसे जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है वह पहले कहे हुए प्रवीचारसहित सुखसे अनन्त गुना होता है ॥ १६२ ॥ जब कि संसारमें स्त्रीसमागमसे ही जीवोंको सुखकी प्राप्ति होती है तब उन अहमिन्द्रोंके स्त्री-समागम न होनेपर सुख कैसे हो सकता है ? यदि इस प्रकार कोई प्रश्न करे तो उसके समाधानके लिए इस प्रकार विचार किया जाता है ॥१६३॥ चूँकि इस संसारमें जिनेन्द्रदेवने आकुलतारहित वृत्तिको ही सुख कहा है, इसलिए वह सुख उन सरागी जीवोंके कैसे हो सकता है जिनके कि चित्त अनेक प्रकारकी आकुलताओंसे व्याकुल हो रहे हैं ॥१६४॥ जिस प्रकार चित्तमें मोह उत्पन्न करनेसे, शरीरमें शिथिलता लानेसे, तृष्णा (प्यास) बढानेसे और सन्ताप रूप होनेसे ज्वर सुखरूप नहीं होता उसी प्रकार चित्तमें मोह, शरीरमें शिथिलता, लालसा और सन्ताप बढानेका कारण होनेसे स्त्री-संभोग भी सुख रूप नहीं हो सकता ॥१६५॥ जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कड़वी ओषधिका भी सेवन करता है उसी प्रकार कामज्वरसे संतप्त हुआ यह प्राणी भी उसे दूर करनेकी इच्छासे स्त्रीरूप ओषधिका सेवन करता है ॥ १६६ ॥ जब कि मनोहर विषयोंका सेवन केवल तृष्णाके लिए है न कि सन्तोषके लिए भी, तब तृष्णारूपी ज्वालासे संतप्त हुआ यह जीव सुखी कैसे हो सकता है ? ॥ १६७ ॥

---

१ बभौ । २ प्राप्नम् । ३ संयोगात् । ४. विचार्यते । ५ निष्परिग्रहवृत्तित्वम् । ६ शरीरक्लेशात् । ७.–तेऽप्यार्तो प० । तेऽप्यार्तो अ०, द०, स०, म०, ल०, । रोगी ।

[1]रुजां यत्रोपघाताय तदौषधमनौषधम् । यन्नो[2]दन्याविनाशाय नाञ्जसा तज्जलं जलम् ॥१६८॥
न विहन्त्यापदं यच्च नार्थतस्तद्धनं धनम् । तथा तृष्णाच्छिदे यन्न न तद् विषयजं सुखम् ॥१६९॥
रुजामेष प्रतीकारो यस्त्रीसंभोगजं सुखम् । निर्व्याधिः स्वास्थ्यमापन्नः कुरुते किं नु भेषजम् ॥१७०॥
परं स्वास्थ्यं सुखं नैतद् विषयेष्वनुरागिणाम् । ते हि पूर्वं[3]तदात्वे च पर्यन्ते च विदाहिनः ॥१७१॥
[4]मनोनिर्वृतिमेवेह सुखं [5]वाञ्छन्ति कोविदाः । तत्कुतो विषयान्धानां [6]नित्यमायस्तचेतसाम् ॥१७२॥
विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमङ्गिनाम् । साबाधं सान्तरं बन्धकारणं दुःखमेव तत् ॥१७३॥
[7]आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः । तदुद्भवं सुखं नॄणां कण्डूकण्डूयनोपमम् ॥१७४॥
दग्धव्रणे यथा सान्द्रचन्दनद्रवचर्चनम् । किंचिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखम् ॥१७५॥
दुष्टव्रणे यथा क्षार-शस्त्रपाताद्युपक्रमः । प्रतीकारो रुजां जन्तोस्तथा विषयसेवनम् ॥१७६॥

जिस प्रकार, जो ओषधि रोग दूर नहीं कर सके वह ओषधि नहीं है, जो जल प्यास दूर नहीं कर सके वह जल नहीं है और जो धन आपत्तिको नष्ट नहीं कर सके वह धन नहीं है। इसी प्रकार जो विषयज सुख तृष्णा नष्ट नहीं कर सके वह विषयज (विषयोंसे उत्पन्न हुआ) सुख नहीं है ॥ १६८-१६९ ॥ स्त्री-संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख केवल कामेच्छारूपी रोगोंका प्रतिकार मात्र है—उन्हें दूर करनेका साधन है। क्या ऐसा मनुष्य भी ओषधि सेवन करता है जो रोगरहित है और स्वास्थ्यको प्राप्त है ? भावार्थ—जिस प्रकार रोगरहित स्वस्थ मनुष्य ओषधिका सेवन नहीं करता हुआ भी सुखी रहता है उसी प्रकार कामेच्छारहित सन्तोषी अहमिन्द्र स्त्री-संभोग न करता हुआ भी सुखी रहता है ॥ १७० ॥ विषयोंमें अनुराग करनेवाले जीवोंको जो सुख प्राप्त होता है वह उनका स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता है—उसे उत्कृष्ट सुख नहीं कह सकते, क्योंकि वे विषय, सेवन करनेसे पहले, सेवन करते समय और अन्तमें केवल सन्ताप ही देते हैं ॥ १७१ ॥ विद्वान् पुरुष उसी सुखको चाहते हैं जिसमें कि विषयोंसे मनकी निवृत्ति हो जाती है—चित्त सन्तुष्ट हो जाता है, परन्तु ऐसा सुख उन विषयान्ध पुरुषोंको कैसे प्राप्त हो सकता है जिनका चित्त सदा विषय प्राप्त करनेमें ही खेद-खिन्न बना रहता है ॥ १७२ ॥ विषयोंका अनुभव करनेपर प्राणियोंको जो सुख होता है वह पराधीन है, बाधाओंसे सहित है, व्यवधानसहित है और कर्मबन्धनका कारण है, इसलिए वह सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है ॥ १७३ ॥ ये विषय विषके समान अत्यन्त भयंकर हैं जो कि सेवन करते समय ही अच्छे मालूम होते हैं। वास्तवमें उन विषयोंसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका सुख खाज खुजलानेसे उत्पन्न हुए सुखके समान है अर्थात् जिस प्रकार खाज खुजलाते समय तो सुख होता है परन्तु बादमें दाह पैदा होनेसे उलटा दुःख होने लगता है उसी प्रकार इन विषयोंके सेवन करनेसे उस समय तो सुख होता है किन्तु बादमें तृष्णाकी वृद्धि होनेसे दुःख होने लगता है ॥१७४॥ जिस प्रकार जले हुए घावपर घिसे हुए गीले चन्दनका लेप कुछ थोड़ा-सा आराम उत्पन्न करता है उसी प्रकार विषय-सेवन करनेसे उत्पन्न हुआ सुख उस समय कुछ थोड़ा-सा सन्तोष उत्पन्न करता है। भावार्थ—जबतक फोड़ेके भीतर विकार विद्यमान रहता है तबतक चन्दन आदिका लेप लगानेसे स्थायी आराम नहीं हो सकता इसी प्रकार जबतक मनमें विषयोंकी चाह विद्यमान रहती है तबतक विषय-सेवन करनेसे स्थायी सुख नहीं हो सकता। स्थायी आराम और सुख तो तब प्राप्त हो सकता है जब कि फोड़ेके भीतरसे विकार और मनके भीतरसे विषयोंकी चाह निकाल दी जाये। अहमिन्द्रोंके मनसे विषयोंकी चाह निकल जाती है इसलिए वे सच्चे सुखी होते हैं ॥ १७५ ॥ जिस प्रकार विकारयुक्त घाव होनेपर उसे

१. रुजो- म०, द०, ल०। २. जलपानेच्छाविनाशाय। ३. तत्काले। ४ मनस्तृप्तिम्। ५. कथयन्तीत्यर्थः। ६ आयाममितम्। ७. अनुभवमात्रम्।

प्रियाङ्गनाङ्गसंसर्गाद् यदीह सुखमङ्गिनाम्। ननु पक्षिमृगादीनां तिरश्चामस्तु तत्सुखम् ॥१७७॥
शुनीमिन्द्रमहे[1] पूतिव्रणीभूतकुयोनिकाम्। अवशं सेवमानः श्वा सुखी चेत् स्रीजुषां सुखम् ॥१७८॥
निम्बद्रुमे यथोत्पन्नः कीटकस्तद्रसोपभुक्। मधुरं तद्रसं वेत्ति तथा विषयिणोऽप्यमी ॥१७९॥
संभोगजनितं खेदं श्लाघमानाः सुखास्थया[2]। तत्रैव रतिमायान्ति भवावस्करकीटकाः ॥१८०॥
विषयानुभवात् पुंसां रतिमात्रं प्रजायते। रतिश्चेत् सुखमायातं[3] नन्वमेध्याशनेऽ[4]पि तत् ॥१८१॥
यथामी रतिमासाद्य विषयाननुभुञ्जते। तथा श्वशूकरकुलं तद्रत्यैवाश्यमेधकम् ॥१८२॥
गूथकृमेर्यथा गूथरससेवा परं सुखम्। तथैव विषयानीप्सो[5] सख जन्तोर्विगर्हितम् ॥१८३॥
विषयाननुभुञ्जान स्त्रीप्रधानान् सवेपथु[6]। श्वसन् प्रस्विन्नसर्वाङ्ग सुखी चेद्दुःखीह क. ॥१८४॥
आयासमात्रमत्राज्ञ सुखमित्यभिमन्यते। विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशन् ॥१८५॥

क्षारयुक्त शस्त्रसे चीरने आदिका उपक्रम किया जाता है उसी प्रकार विषयोंकी चाहरूपी रोग उत्पन्न होनेपर उसे दूर करनेके लिए विषय-सेवन किया जाता है और इस तरह जीवोंका यह विषय-सेवन केवल रोगोंका प्रतिकार ही ठहरता है ॥१७६॥ यदि इस संसारमें प्रिय स्त्रियोंके स्तन, योनि आदि अंगके संसर्गसे ही जीवोंको सुख होता हो तो वह सुख पक्षी, हरिण आदि तिर्यञ्चोंको भी होना चाहिए ॥१७७॥ यदि स्त्रीसेवन करनेवाले जीवोंको सुख होता हो तो कार्तिकके महीनेमें जिसकी योनि अतिशय दुर्गन्धयुक्त फोड़ोंके समान हो रही है ऐसी कुत्तीको स्वच्छन्दतापूर्वक सेवन करता हुआ कुत्ता भी सुखी होना चाहिए ॥१७८॥ जिस प्रकार नीमके वृक्षमें उत्पन्न हुआ कीड़ा उसके कड़वे रसको पीता हुआ उसे मीठा जानता है उसी प्रकार संसाररूपी विष्ठामें उत्पन्न हुए ये मनुष्यरूपी कीड़े स्त्री-संभोगसे उत्पन्न हुए खेदको ही सुख मानते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं और उसीमें प्रीतिको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार नीमका कीड़ा नीमके कड़वे रसको आनन्ददायी मानकर उसीमें तल्लीन रहता है अथवा जिस प्रकार विष्ठाका कीड़ा उसके दुर्गन्धयुक्त अपवित्र रसको उत्तम समझकर उसीमें रहता हुआ आनन्द मानता है उसी प्रकार यह संसारी जीव संभोगजनित दुःखको सुख मानकर उसीमें तल्लीन रहता है ॥१७९-१८०॥ विषयोंका सेवन करनेसे प्राणियोंको केवल प्रेम ही उत्पन्न होता है। यदि वह प्रेम ही सुख माना जाये तो विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुओंके खानेमें भी सुख मानना चाहिए क्योंकि विषयी मनुष्य जिस प्रकार प्रेमको पाकर अर्थात् प्रसन्नताके विषयोंका उपभोग करते हैं उसी प्रकार कुत्ता और शूकरोंका समूह भी तो प्रसन्नताके साथ विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुएँ खाता है ॥ १८१-१८२॥ अथवा जिस प्रकार विष्ठाके कीड़ेको विष्ठाके रसका पान करना ही उत्कृष्ट सुख मालूम होता है उसी प्रकार विषय-सेवनकी इच्छा करनेवाले जन्तुको भी निन्द्य विषयोंका सेवन करना उत्कृष्ट सुख मालूम होता है ॥१८३॥ जो पुरुष, स्त्री आदि विषयोंका उपभोग करता है उसका सारा शरीर काँपने लगता है, श्वास तीव्र हो जाती है और सारा शरीर पसीनेसे तर हो जाता है। यदि संसारमें ऐसा जीव भी सुखी माना जाये तो फिर दुखी कौन होगा ? ॥१८४॥ जिस प्रकार दाँतोंसे हड्डी चबाता हुआ कुत्ता अपनेको सुखी मानता है उसी प्रकार जिसकी आत्मा विषयोंसे मोहित हो रही है ऐसा मूर्ख प्राणी भी विषय-सेवन करनेसे उत्पन्न हुए परिश्रम मात्रको ही सुख मानता है। भावार्थ—जिस प्रकार सूखी हड्डी चबानेसे कुत्तेको कुछ भी रसकी प्राप्ति नहीं होती वह व्यर्थ ही अपनेको सुखी मानता है उसी प्रकार विषय-सेवन करनेसे प्राणीको कुछ भी यथार्थ सुखकी प्राप्ति नहीं होती, वह व्यर्थ ही अपनेको सुखी मान लेता है। प्राणियोंकी इस विपरीत मान्यताका

---

१ कार्तिकमासे। २. सुखबुद्ध्या। ३ आगतम्। ४. विट्भक्षणे। ५ प्राप्तुमिच्छोः। ६ सकम्पः।

ततः स्वाभाविकं कर्मक्षयात् तत्प्रशमादपि । यदाह्लादनमेतत् स्यात् सुखं नान्यव्यपाश्रयम् ॥१८६॥
परिवारर्द्धिसामग्र्या सुखं स्यात् कल्पवासिनाम् । तदभावेऽहमिन्द्राणां कुतस्त्यमिति चेत् सुखम् ॥१८७॥
परिवारर्द्धिसत्तैव[1] किं सुखं किमु तद्गताम् । तत्सेवा सुखमित्येवमत्र स्याद् द्वितयी गतिः ॥१८८॥
सान्तःपुरो धनर्द्धीद्धपरिवारो ज्वरी नृपः । सुखी स्याद् यदि सन्मात्राद् विषयात् सुखमीप्सितम् ॥१८९॥
तत्सेवासुखमित्यत्र दत्तमेवोत्तरं पुरा । तत्सेवी तीव्रमायस्तः कथं वा सुखभाग् भवेत् ॥१९०॥
पश्यैते विषयाः स्वप्नभोगाभा विप्रलम्भकाः[2] । [3]अल्पायुकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्त्तधियां नृणाम् ॥१९१॥
विषयानर्जयन्नेव तावद्दुःखं महद् भवेत् । तद्रक्षाचिन्तने भूयो भवेदत्यन्तमार्त्तधीः ॥१९२॥
तद् वियोगे पुनर्दुःखमपारं परिवर्त्तते । पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वावसीदतः ॥१९३॥
[4]अनाशितंभवानेतान् विषयान् धिगपायिनः । येषामासेवनं जन्तोर्न संतापोपशान्तये ॥१९४॥
वह्निरिवेन्धनैः सिन्धोः स्रोतोभिरिव सारितैः[5] । न जातु विषयैर्जन्तोरुपभुक्तैर्वितृष्णता ॥१९५॥
क्षारमम्बु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः । तथा विषयसंभोगैः परं [6]संतर्पमृच्छति ॥१९६॥

कारण विषयोंसे आत्माका मोहित हो जाना ही है ॥१८५॥ इसलिए कर्मोंके क्षयसे अथवा उपशमसे जो स्वाभाविक आह्लाद उत्पन्न होता है वही सुख है। वह सुख अन्य वस्तुओंके आश्रयसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकता ॥१८६॥ अब कदाचित् यह कहो कि स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंको परिवार तथा ऋद्धि आदि सामग्रीसे सुख होता है परन्तु अहमिन्द्रोंके वह सामग्री नहीं है इसलिए उसके अभावमें उन्हें सुख कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? तो इस प्रश्नके समाधानमें हम दो प्रश्न उपस्थित करते हैं। वे ये हैं—जिनके पास परिवार आदि सामग्री विद्यमान है उन्हें उस सामग्रीकी सत्तामात्रसे सुख होता है अथवा उसके उपभोग करनेसे ? ॥१८७-१८८॥ यदि सामग्रीकी सत्तामात्रसे ही आपको सुख मानना इष्ट है तो उस राजाको भी सुखी होना चाहिए जिसे ज्वर चढ़ा हुआ है और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, धन, ऋद्धि तथा प्रतापी परिवार आदि सामग्री जिसके समीप ही विद्यमान है ॥१८९॥ कदाचित् यह कहो कि सामग्रीके उपभोगसे सुख होता है तो उसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि परिवार आदि सामग्रीका उपभोग करनेवाला, उसकी सेवा करनेवाला पुरुष अत्यन्त श्रम और क्लमको प्राप्त होता है अतः ऐसा पुरुष सुखी कैसे हो सकता है ? ॥१९०॥ देखो, ये विषय स्वप्नमें प्राप्त हुए भोगोंके समान अस्थायी और धोखा देनेवाले हैं। इसलिए निरन्तर आर्तध्यान रूप रहनेवाले पुरुषोंको उन विषयोंसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? भावार्थ—पहले तो विषय-सामग्री इच्छानुसार सबको प्राप्त होती नहीं है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए निरन्तर आर्तध्यान करना पड़ता है और दूसरे प्राप्त होकर स्वप्नमें दिखे हुए भोगोंके समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है इसलिए निरन्तर इष्ट वियोगज आर्तध्यान होता रहता है। इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि विषय-सामग्री सुखका कारण नहीं है ॥१९१॥ प्रथम तो यह जीव विषयोंके इकट्ठे करनेमें बड़े भारी दुःखको प्राप्त होता है और फिर इकट्ठे हो चुकनेपर उनकी रक्षाकी चिन्ता करता हुआ अत्यन्त दुःखी होता है ॥१९२॥ तदनन्तर इन विषयोंके नष्ट हो जानेसे अपार दुःख होता है क्योंकि पहले भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करके यह प्राणी बहुत ही दुःखी होता है ॥ १९३ ॥ जो अतृप्तिकर हैं, विनाशशील हैं और जिनका सेवन जीवोंके सन्तापको दूर नहीं कर सकता ऐसे इन विषयोंको धिक्कार है ॥ १९४ ॥ जिस प्रकार ईंधनसे अग्निकी तृष्णा नहीं मिटती और नदियोंके पूरसे समुद्रकी तृष्णा दूर नहीं होती उसी प्रकार भोगे हुए विषयोंसे कभी जीवोंकी तृष्णा दूर नहीं होती ॥ १९५ ॥ जिस प्रकार

१. अस्तित्वमेव । २. वञ्चकाः । ३. अस्थिराः । ४. अतृप्तिजनकान् । अनाशितंभवान् अ०, प०, स० । ५. सरित्सम्बन्धिभिः । ६. अभिलापम् ।

अहो विषयिणां व्यापत्पञ्चेन्द्रियवशात्मनाम्[1]। विषयामिषगृध्नूनामचिन्त्यं दुःखमापुषाम्[2] ॥१९७॥
वने वनगजास्तुङ्गा यूथपाः प्रोन्मदिष्णवः।[3]अवपातेषु सीदन्ति करिणीस्पर्शमोहिताः ॥१९८॥
सरन् सरसि संफुल्लकह्लारस्वादुवारिणि। मत्स्यी[4]बडिशमांसार्थी[5]जीवनाशं प्रणश्यति ॥१९९॥
मधुव्रतो सदामोदमाजिघ्रन् मददन्तिनाम्। मृत्युमाह्वयते गुञ्जन् कर्णतालाभिताडनैः ॥२००॥
पतङ्गः पवनालोलदीपार्चिषि पतन् मुहुः। मृत्युमिच्छत्यनिच्छोऽपि मषिसान्द्रतविग्रहः ॥२०१॥
यथेष्टगतिका[6] पुष्टा मृदुस्वादुतृणाङ्कुरैः। गीतासक्ता[7] मृतिं यान्ति [8]मृगयोर्मृगयोषितः ॥२०२॥
इत्येकशो[9]ऽपि विषये बह्वपायो निषेवितः। किं पुनर्विषयाः पुंसां सामस्त्येन निषेविताः ॥२०३॥
हृतोऽयं विषयैर्जन्तुः स्रोतोभिः सरितामिव। [10]श्वभ्रे पतित्वा गम्भीरे दुःखावर्तेषु सीदति ॥२०४॥
विषयैर्विप्रलब्धोऽयम[11] मीरतिधनायति[12]। धनायामासितो[13] जन्तुः क्लेशानाप्नोति दुस्सहान् ॥२०५॥
क्लिष्टोऽसौ मुहुरार्त्तः स्यादिष्टालाभे शुचं गतः। तस्य लाभेऽप्यसंतुष्टो दुःखमेवानुधावति ॥२०६॥

मनुष्य खारा पानी पीकर और भी अधिक प्यासा हो जाता है उसी प्रकार यह जीव, विषयोंके संभोगसे और भी अधिक तृष्णाको प्राप्त हो जाता है ॥१९६॥ अहो, जिनकी आत्मा पंचेन्द्रियोंके विषयोंके अधीन हो रही है जो विषयरूपी मांसकी तीव्र लालसा रखते हैं और जो अचिन्त्य दुःखको प्राप्त हो रहे हैं ऐसे विषयी जीवोंको बड़ा भारी दुःख है ॥१९७॥ वनोंमें बड़े-बड़े जंगली हाथी जो कि अपने झुण्डके अधिपति होते हैं और अत्यन्त मदोन्मत्त होते हैं वे भी हथिनीके स्पर्शसे मोहित होकर गड्ढोंमें गिरकर दुःखी होते हैं ॥१९८॥ जिसका जल फूले हुए कमलोंसे अत्यन्त स्वादिष्ट हो रहा है ऐसे तालाबमें अपने इच्छानुसार विहार करनेवाली मछली वंशीमें लगे हुए मासकी अभिलाषासे प्राण खो बैठती है—वंशीमें फँसकर मर जाती है ॥१९९॥ मदोन्मत्त हाथियोंके मदकी वास ग्रहण करनेवाला भौंरा गुंजार करता हुआ उन हाथियोंके कर्णरूपी बीजनोंके प्रहारसे मृत्युका आह्वान करता है ॥२००॥ पतंग वायुसे हिलती हुई दीपककी शिखापर बार-बार पड़ता है जिससे उसका शरीर स्याहीके समान काला हो जाता है और वह इच्छा न रखता हुआ भी मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥२०१॥ इसी प्रकार जो हरिणियाँ जंगलमें अपने इच्छानुसार जहाँ-तहाँ घूमती हैं तथा कोमल और स्वादिष्ट तृणके अंकुर चर-कर पुष्ट रहती हैं वे भी शिकारीके गीतोंमें आसक्त होनेसे मृत्युको प्राप्त हो जाती हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सेवन किया हुआ एक-एक इन्द्रियका विषय अनेक दुःखोंसे भरा हुआ है तब फिर समस्त रूपसे सेवन किये हुए पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंका क्या कहना है? ॥२०३॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे खींचा हुआ पदार्थ किसी गहरे गड्ढेमें पड़कर उसकी भँवरोंमें फिरा करता है उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे खींचा हुआ यह जन्तु नरकरूपी गहरे गड्ढेमें पड़कर दुःखरूपी भँवरोंमें फिरा करता है और दुःखी होता रहता है ॥२०४॥ विषयोंसे ठगा हुआ यह मूर्ख जन्तु पहले तो अधिक धनकी इच्छा करता है और उस धनके लिए प्रयत्न करते समय दुःखी होकर अनेक क्लेशोंको प्राप्त होता है। उस समय क्लिष्ट होनेसे यह भारी दुःखी होता है। यदि कदाचित् मनचाही वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई तो शोकको प्राप्त होता है। और यदि मनचाही वस्तुकी प्राप्ति भी हो गयी तो उतनेसे सन्तुष्ट नहीं होता जिससे फिर भी उसी दुःखके

१ लुब्धानाम्। २. -मोयुषाम् अ०, प०, द०, स०, ल०। ३. जलपातनार्थगर्तेषु। ४. 'बडिशं मत्स्यबन्धनम्'। ५ जीवन्नेव नश्यतीत्यर्थः। ६ -ह्येमैतिकाः द०, ट०। एतिका चरन्त्यः। आ समन्तात् इतिर्गमनं यासां ताः, अथवा एतिका नानावर्णा। ७ आसक्ते। ८ व्याधस्य। ९ एकैकम्। १० नरके गर्ते च। ११. विप्रलुब्धोऽय-अ०। १२. अतिशयेन वाञ्छति। १३. धनवाञ्छया आयस्तः।

[1]ततस्तद्रागसद्द्वेषदूषितात्मा[2] जडाशयः । कर्म बध्नाति दुर्मोचं येनामुत्रावसीदति ॥२०७॥
कर्मणानेन[3] दौःस्थित्यं दुर्गतावनुसंश्रितः । [4]दुःखासिकामवाप्नोति महतीमतिगर्हिताम् ॥२०८॥
विषयानीहते दुःखी [5]तत्प्राप्तावतिगृद्धिमान्[6] । [7]ततोऽतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदम् ॥२०९॥
इति भूयोऽपि तेनैव चक्रकेण परिभ्रमन् । संसारापारदुर्वार्धौ पतत्यत्यन्तदुस्तरे ॥२१०॥
तस्माद् विषयजामेनां मत्वानर्थपरम्पराम् । विषयेषु रतिस्त्याज्या तीव्रदुःखानुबन्धिषु ॥२११॥
कारीषाग्नीष्टकापाकतार्णाग्निसदृशा मताः । त्रयोऽमी वेदसंतापास्तद्वाञ्जन्तु[8] कथं सुखी ॥२१२॥
[9]ततोऽधिकमिदं दिव्य सुखमप्रविचारकम् । देवानामहमिन्द्राणामिति निश्चिनु मागध ॥२१३॥
सुखमेतेन[10] सिद्धानामप्युक्तं[11] विषयातिगम् । अप्रमेयमनन्तं च यदात्मोत्थमनीदृशम् ॥२१४॥
यद्दिव्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकाल्यगोचरम् । तत्सर्वं पिण्डितं नार्घः[12] सिद्धक्षणसुखस्य च ॥२१५॥
सिद्धानां सुखमात्मोत्थमव्याबाधमकर्मजम् । परमाह्लादरूपं तदनौपम्यमनुत्तरम् ॥२१६॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः[13] शीतीभूता निरुत्सुकाः । सिद्धाश्चेत् सुखिनः सिद्धमहमिन्द्रास्पदे सुखम् ॥२१७॥

लिए दौड़ता है ॥२०५-२०६॥ इस प्रकार यह जीव राग-द्वेषसे अपनी आत्माको दूषित कर ऐसे कर्मोंका बन्ध करता है जो बड़ी कठिनाईसे छूटते हैं और जिस कर्मबन्धके कारण यह जीव परलोकमें अत्यन्त दुःखी होता है ॥२०७॥ इस कर्मबन्धके कारण ही यह जीव नरकादि दुर्गतियोंमें दुःखमय स्थितिको प्राप्त होता है और वहाँ चिरकाल तक अतिशय निन्दनीय बड़े-बड़े दुःख पाता रहता है ॥२०८॥ वहाँ दुःखी होकर यह जीव फिर भी विषयोंकी इच्छा करता है और उनके प्राप्त होनेमें तीव्र लालसा रखता हुआ अनेक दुष्कर्म करता है जिससे दुःख देनेवाले कर्मोंका फिर भी बन्ध करता है। इस प्रकार दुःखी होकर फिर भी विषयोंकी इच्छा करता है, उसके लिए दुष्कर्म करता है, खोटे कर्मोंका बन्ध करता है और उनके उदयसे दुःख भोगता है। इस प्रकार चक्रक रूपसे परिभ्रमण करता हुआ जीव अत्यन्त दुःखसे तैरने योग्य संसार-रूपी अपार समुद्रमें पड़ता है ॥२०९-२१०॥ इसलिए इस समस्त अनर्थ-परम्पराको विषयोंसे उत्पन्न हुआ मानकर तीव्र दुःख होनेवाले विषयोंमें प्रीतिका परित्याग कर देना चाहिए ॥२११॥ जब कि स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों ही वेदोंके सन्ताप-क्रमसे सूखे हुए कण्डेकी अग्नि, ईंटोंके अँवाकी अग्नि और तृणकी अग्निके समान माने जाते हैं तब उन वेदोंको धारण करनेवाला जीव सुखी कैसे हो सकता है ॥२१२॥ इसलिए हे श्रेणिक, तू निश्चय कर कि अहमिन्द्र देवोंका जो प्रवीचाररहित दिव्य सुख है वह विषयजन्य सुखसे कहीं अधिक है ॥२१३॥ इस उपर्युक्त कथनसे सिद्धोंके उस सुखका भी कथन हो जाता है जो कि विषयोंसे रहित है, प्रमाणरहित है, अन्तरहित है, उपमारहित है और केवल आत्मासे ही उत्पन्न होता है ॥२१४॥ जो स्वर्गलोक और मनुष्यलोकसम्बन्धी तीनों कालोंका इकट्ठा किया हुआ सुख है वह सिद्ध परमेष्ठीके एक क्षणके सुखके बराबर भी नहीं है ॥२१५॥ सिद्धोंका वह सुख केवल आत्मासे ही उत्पन्न होता है, बाधारहित है, कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है, परम आह्लाद रूप है, अनुपम है और सबसे श्रेष्ठ है ॥२१६॥ जो सिद्ध परमेष्ठी सब परिग्रहोंसे रहित हैं, शान्त हैं और उत्कण्ठासे रहित हैं जब वे भी सुखी माने जाते हैं तब अहमिन्द्र पदमें तो सुख अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। भावार्थ—जिसके परिग्रहका एक अंश मात्र भी नहीं है ऐसे सिद्ध भगवान् ही जब

---

१. ततः कारणात् । २. इष्टलाभालाभरागद्वेष । ३. कर्मणा तेन अ०, प०, स०, द० । ४. दुःस्थितिम्, दुःखेनावस्थानम् । ५. विषयप्राप्तौ । ६ लोभवान् । ७. ततः लोभात् । ८. तद्वज्जन्तु' म०, ल० । ९. तत कारणात् । १० अहमिन्द्रसुखप्रतिपादनप्रकारेण । ११ अतिशयेनोक्तम् । १२ मूल्यम् । १३. द्वन्द्व. परिग्रह ।

मालिनीवृत्तम्

निरतिशयमुदारं निष्प्रवीचारमावि-
ष्कृतसुकृतफलानां कल्पलोकोत्तराणाम्[1]।
सुखममरवराणां दिव्यमव्याजरम्यं[2]
शिवसुखमिव तेषां संमुखायातमासीत् ॥२१८॥

सुगमसुगमितीदं संसृतौ देहभाजां
द्वितयमुदितमाप्तैः कर्मबन्धानुरूपम्।
सुकृत[3]विकृतभेदात्तच्च कर्म द्विधोक्तं
मधुरकटुकपाकं[4] भुक्तमेकं तथान्नम् ॥२१९॥

सुकृतफलमुदारं विद्धि सर्वार्थसिद्धौ
दुरितफलमुदग्रं सप्तमीनारकाणाम्।
शमदमयमयोगै[5]रग्रिम[6] पुण्यभाजा—
मशमदमयमानां कर्मणा दुष्कृतेन ॥२२०॥

सुखी कहलाते हैं तब जिनके शरीर अथवा अन्य अल्प परिग्रह विद्यमान हैं ऐसे अहमिन्द्र भी अपेक्षाकृत सुखी क्यों न कहलायें ? ॥२१७॥ जिनके पुण्यका फल प्रकट हुआ है ऐसे स्वर्गलोक-से आगे (सर्वार्थसिद्धिमें) रहनेवाले उन वज्रनाभि आदि अहमिन्द्रोंको जो सुख प्राप्त हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानो मोक्षका सुख ही उनके सम्मुख प्राप्त हुआ हो क्योंकि जिस प्रकार मोक्षका सुख अतिशयरहित, उदार, प्रवीचाररहित, दिव्य (उत्तम) और स्वभावसे ही मनोहर रहता है उसी प्रकार उन अहमिन्द्रोंका सुख भी अतिशयरहित, उदार, प्रवीचार-रहित, दिव्य (स्वर्गसम्बन्धी) और स्वभावसे ही मनोहर था ॥ भावार्थ–मोक्षके सुख और अहमिन्द्र अवस्थाके सुखमें भारी अन्तर रहता है तथापि यहाँ श्रेष्ठता दिखानेके लिए अहमिन्द्रोंके सुखमें मोक्षके सुखका सादृश्य बताया है ॥ २१८॥ इस संसारमें जीवोंको सुख-दुःख होते हैं वे दोनों ही अपने-अपने कर्मबन्धके अनुसार हुआ करते हैं ऐसा श्री अरहन्त देवने कहा है। वह कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। जिस प्रकार खाये हुए एक ही अन्नका मधुर और कटुक रूपसे दो प्रकारका विपाक देखा जाता है उसी प्रकार उन पुण्य और पापरूपी कर्मोंका भी क्रमसे मधुर (सुखदायी) और कटुक (दुःखदायी) विपाक-फल–देखा जाता है ॥२१९॥ पुण्यकर्मोंका उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धिमें और पापकर्मोंका उत्कृष्ट फल सप्तम पृथिवीके नारकियोंके जानना चाहिए। पुण्यका उत्कृष्ट फल परिणामोंको शान्त रखने, इन्द्रियोंका दमन करने और निर्दोष चारित्र पालन करनेसे पुण्यात्मा जीवोंको प्राप्त होता है और पापका उत्कृष्ट फल परिणामोंको शान्त नहीं रखने, इन्द्रियोंका दमन नहीं करने तथा निर्दोष चारित्र पालन नहीं करनेसे पापी जीवोंको प्राप्त होता है ॥ २२० ॥ जिस प्रकार

१ कल्पातीतानाम्। २ अनुपाधिमनोज्ञम्। ३ –दुरितभेदा– अ०, प०, स०, द०, म०, ल०
४ परिणमनम्। ५ योग ध्यानम। ६ प्रथमम।

कृतमतिरिति धीमान्[2] शंकरीं तां जिनाज्ञां[3]
शमदमयमशुद्धये[4] भावयेदस्ततन्द्रः।
सुखमतुलमभीप्सुर्दुःखभार[5] जिहासु-
र्निकटतरजिनश्रीर्वज्रनाभिर्यथायम् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भगवद्वज्रनाभिसर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनं नाम
एकादशं पर्व ॥११॥



बहुत ही शीघ्र जिनेन्द्र लक्ष्मी (तीर्थंकर पद) प्राप्त करनेवाले इस वज्रनाभिने शम, दम और यम (चारित्र) की विशुद्धिके लिए आलस्यरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेवकी कल्याण करनेवाली आज्ञाका चिन्तवन किया था उसी प्रकार अनुपम सुखके अभिलाषी दुःखके भारको छोड़नेकी इच्छा करनेवाले, बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंको भी शम, दम, यमकी विशुद्धिके लिए आलस्य (प्रमाद) रहित होकर कल्याण करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका चिन्तवन करना चाहिए—दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका चिन्तवन करना चाहिए ॥ २२१ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण
महापुराणसंग्रहमें श्री भगवान् वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धिगमनका
वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥११॥



१ सम्पूर्णबुद्धि। २. विद्वान्। ३ श्रीजिनाज्ञा म०, ल०। ४.–सिद्ध्यै अ०, स०।
५ हातुमिच्छुः।

द्वादशं पर्व

अथ तस्मिन् महाभागे[1] स्वर्लोकाद् भुवमेष्यति[2] । यद्वृत्तक जगत्यस्मिन् तद्वक्ष्ये शृणुताधुना ॥१॥
अत्रान्तरे[3] पुराणार्थकोविदं वदतां वरम् । पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायकम् ॥२॥
भगवन् भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ । कर्मभूमिव्यवस्थायां[4] प्रसृतायां यथायथम् ॥३॥
तथा[5] कुलधरोत्पत्तिस्त्वया प्रागेव वर्णिता । नाभिराजश्च तत्रान्त्यो[6] विश्वक्षत्रगणाग्रणी ॥४॥
स एष धर्मसर्गस्य[7] सूत्रधार[8] महाधियम् । इक्ष्वाकुज्येष्ठमृषभं क्वास्मिन्[9] समजीजनत् ॥५॥
तस्य स्वर्गावतारादिकल्याणर्द्धिश्च कीदृशी । इदमेतत् त्वया बोद्धुमिच्छामस्त्वदनुग्रहात् ॥६॥
[10]तत्प्रश्नावसितावित्थं व्याजहार गणाधिप । स[11] तान् विकल्मषान् कुर्वन् शुचिभिर्दशनांशुभि ॥७॥
इह जम्बूमति द्वीपे भरते सचराचलात् । दक्षिणे मध्यमे[12] खण्डे कालसन्धौ पुरोदिते ॥८॥
पूर्वोक्तकुलकृत्स्वन्त्यो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् । व्यावर्णितायुरुत्सेधरूपसौन्दर्यविभ्रमः ॥९॥
सनाभिर्भाविनां राज्ञां[13] सनाभि[14] स्वगुणांशुभि । भास्वानिव बभौ लोके भास्वन्मौलिर्महाद्युति[15] ॥१०॥
शशीव स कलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव । प्रभु शक्र इवाभीष्टफलद कल्पशाखिवत् ॥११॥

अनन्तर गौतम स्वामी कहने लगे कि जब वह वज्रनाभिका जीव अहमिन्द्र, स्वर्गलोकसे पृथ्वीपर अवतार लेनेके सम्मुख हुआ तब इस संसारमें जो वृत्तान्त हुआ था अब मैं उसे ही कहूँगा। आप लोग ध्यान देकर सुनिए ॥१॥ इसी बीचमें मुनियोंने नम्र होकर पुराणके अर्थको जाननेवाले और वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्री गौतम गणधरसे प्रश्न किया ॥२॥ कि हे भगवन्, जब इस भारतवर्षमें भोगभूमिकी स्थिति नष्ट हो गयी थी और क्रम-क्रमसे कर्मभूमिकी व्यवस्था फैल चुकी थी उस समय जो कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई थी उसका वर्णन आप पहले ही कर चुके हैं। उन कुलकरोंमें अन्तिम कुलकर नाभिराज हुए थे जो कि समस्त क्षत्रिय-समूहके अगुआ (प्रधान) थे। उन नाभिराजने धर्मरूपी सृष्टिके सूत्रधार, महाबुद्धिमान् और इक्ष्वाकु कुलके सर्वश्रेष्ठ भगवान् ऋषभदेवको किस आश्रममें उत्पन्न किया था? उनके स्वर्गावतार आदि कल्याणकोंका ऐश्वर्य कैसा था? आपके अनुग्रहसे हम लोग यह सब जानना चाहते हैं ॥३-६॥ इस प्रकार जब उन मुनियोंका प्रश्न समाप्त हो चुका तब गणनायक गौतम स्वामी अपने दाँतोंकी निर्मल किरणोंके द्वारा मुनिजनोंको पापरहित करते हुए बोले ॥७॥ कि हम पहले जिस कालसन्धिका वर्णन कर चुके हैं उस कालसन्धि (भोगभूमिका अन्त और कर्मभूमिका प्रारम्भ होने) के समय इसी जम्बू द्वीपके भरत क्षेत्रमें विजयार्ध पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यम-आर्य खण्डमें नाभिराज हुए थे। वे नाभिराज चौदह कुलकरोंमें अन्तिम कुलकर होनेपर भी सबसे अग्रिम (पहले) थे (पक्षमें सबसे श्रेष्ठ थे)। उनकी आयु, शरीरकी ऊँचाई, रूप, सौन्दर्य और विलास आदिका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥८-९॥ देदीप्यमान मुकुटसे शोभायमान और महाकान्तिके धारण करनेवाले वे नाभिराज आगामी कालमें होनेवाले राजाओंके बन्धु थे और अपने गुणरूपी किरणोंसे लोकमें सूर्यके समान शोभायमान हो रहे थे ॥१०॥ वे चन्द्रमाके समान कलाओं (अनेक विद्याओं) के आधार थे, सूर्यके समान तेजस्वी थे, इन्द्रके समान ऐश्वर्यशाली थे और कल्पवृक्षके समान मनचाहे फल देनेवाले थे ॥११॥

---

१ महाभाग्यवति। २ आगमिष्यति सति। ३. अवसरे। ४. स्थितौ। ५ तदा अ०, प०, स०, म०, द०, ल०। ६ सकलक्षत्रियसमूहः। ७ सृष्टेः। ८ प्रवर्तकम्। ९. स्थाने। १०. तन्मुनीनां प्रश्नावसाने। ११ मुनीन्। १२ आर्यखण्डे। १३ बन्धुः। १४.-भिश्च गुणां-प०, द०। १५. तेज।

तस्यासीन्मरुदेवीति देवी देवीव सा शची। रूपलावण्यकान्तिश्रीमतिद्युतिविभूतिभि[1] ॥१२॥
सा कलेवैन्दवी[2] कान्त्या जनतानन्ददायिनी। स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमुच्चित्येव विनिर्मिता ॥१३॥
तन्वङ्गी पक्वबिम्बोष्ठी सुभ्रूश्चारुपयोधरा। मनोभुवा जगज्जेतुं सा पताकेव दर्शिता ॥१४॥
तद्रूपसौष्ठवं तस्या[3] हावं भावं च विभ्रमम्। भावयित्वा कृती कोऽपि नाट्यशास्त्रं व्यधाद् ध्रुवम् ॥१५॥
नूनं तस्याः कलालापं[4] भावयन् स्वरमण्डलम्। [5]प्रणीतगीतशास्त्रार्थो जनो जगति सम्मतः ॥१६॥
रूपसर्वस्वहरणं कृत्वान्यस्त्रीजनस्य सा। [6]वैरूप्यं कुर्वती व्यक्तं [7]किराज्ञां वृत्तिमन्वयात्[8] ॥१७॥
सा दधेऽधिपदद्वन्द्वं लक्षणानि विचक्षणा। [9]प्रणिन्युर्लक्षणं स्त्रीणां यैरुदाहरणीकृतैः ॥१८॥
मृद्वङ्गुलिदले तस्याः [10]पदाब्जे श्रियमूहतुः[11]। नखदीधितिसन्तानलसत्केसरशोभिनी ॥१९॥
जित्वा रक्ताब्जमेतस्याः क्रमौ संभासनिर्वृतौ[12]। नखांशुमञ्जरीव्याजात् स्मितमातेनतुर्ध्रुवम् ॥२०॥

उन नाभिराजके मरुदेवी नामकी रानी थी जो कि अपने रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति आदि गुणोंसे इन्द्राणी देवीके समान थी ॥१२॥ वह अपनी कान्तिसे चन्द्रमाकी कलाके समान सब लोगोंको आनन्द देनेवाली थी और ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी स्त्रियोंके रूपका सार इकट्ठा करके ही बनायी गयी हो ॥१३॥ उसका शरीर कृश था, ओठ पके हुए बिम्बफलके समान थे, भौंहें अच्छी थीं और स्तन भी मनोहर थे। उन सबसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवने जगत्को जीतनेके लिए पताका ही दिखायी हो ॥१४॥ ऐसा मालूम होता है कि किसी चतुर विद्वान्ने उसके रूपकी सुन्दरता, उसके हाव, भाव और विलासका अच्छी तरह विचार करके ही नाट्यशास्त्रकी रचना की हो। भावार्थ—नाट्यशास्त्रमें जिन हाव, भाव और विलासका वर्णन किया गया है वह मानो मरुदेवीके हाव, भाव और विलासको देखकर ही किया गया है ॥१५॥ मालूम होता है कि संगीतशास्त्रकी रचना करनेवाले विद्वान्ने मरुदेवीकी मधुर वाणीमें ही संगीतके निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि समस्त स्वरोंका विचार कर लिया था। इसीलिए तो वह जगत्में प्रसिद्ध हुआ है ॥१६॥ उस मरुदेवीने अन्य स्त्रियोंके सौन्दर्यरूपी सर्वस्व धनका अपहरण कर उन्हें दरिद्र बना दिया था, इसलिए स्पष्ट ही मालूम होता था कि उसने किसी दुष्ट राजाकी प्रवृत्तिका अनुसरण किया था क्योंकि दुष्ट राजा भी तो प्रजाका धन अपहरण कर उसे दरिद्र बना देता है ॥१७॥ वह चतुर मरुदेवी अपने दोनों चरणोंमें अनेक सामुद्रिक लक्षण धारण किये हुए थी। मालूम होता है कि उन लक्षणोंको ही उदाहरण मानकर कवियोंने अन्य स्त्रियोंके लक्षणोंका निरूपण किया है ॥१८॥ उसके दोनों ही चरण कोमल अँगुलियोंरूपी दलोंसे सहित थे और नखोंकी किरणरूपी देदीप्यमान केशरसे सुशोभित थे इसलिए कमलके समान जान पड़ते थे और दोनों ही साक्षात् लक्ष्मी (शोभा) को धारण कर रहे थे ॥१९॥ मालूम होता है कि मरुदेवीके चरणोंने लाल कमलोंको जीत लिया इसीलिए तो वे सन्तुष्ट होकर नखोंकी किरणरूपी मंजरीके छलसे कुछ-कुछ हँस रहे थे ॥२०॥

१. विभूतिः अणिमादि। २. इन्दोरियम्। ३. 'हावो मुखविकारः स्याद् भावः स्याच्चित्तसंभवः। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः ॥' ४ सत्कारं कुर्वन्। ५. प्रणीतः प्रोक्तः। ६. विरूपत्वं विरुद्धं च। ७ किनृपाणाम्। ८. -मन्वियात् प०, म०, ल०। 'प' पुस्तके सप्तदशश्लोकानन्तरमयं श्लोकः समुद्धृतः—उक्तं च काव्यं [सामुद्रिके] 'भृङ्गाराथ [स] न वाजिकुञ्जररथश्रीवृक्षयूपेषु च [धी] मालाकुण्डलचामराङ्कुशयव [चामराङ्कुशयवाः] शैलध्वजा तोरणाः। मत्स्यस्वस्तिकवेदिका व्यजनिका शङ्खश्च पत्राम्बुजं पादौ पाणितलेऽथवा युवतयो गच्छन्ति राज्ञः [राज्ञी] पदम् ॥" ९. ऊचुः। १०. पादाब्जे अ०, प०, स०, म०, द०, ल०। ११ बिभ्रतुः। १२ संप्राप्तसुखौ।

नखैः कुरबकच्छायां क्रमौ जित्वाप्यनिर्वृतौ[1] । विजिग्याते गतेनास्या[2] हंसीनां गतिविभ्रमम् ॥२१॥
मणिनूपुरझङ्कारमुखरौ सुभ्रुवः क्रमौ । पद्माविव रणद्भृङ्गसंगतौ रुचिमापतुः ॥२२॥
[3]निगूढगुल्फसन्धित्वात् युक्तपार्ष्णिपरिग्रहात् । क्षितौ यानासनाभ्यां च तत्क्रमौ विजिगीषुताम् ॥२३॥
शोभा जङ्घाद्वये यास्या[4] काप्यन्यत्र न सास्त्यतः । अन्योऽन्योपमयैवास्य[5]वर्णनं तन्न वर्ण्यते ॥२४॥
जानुद्वयं[6] समाश्लिष्टं यदस्याः कामनीयकम् । तदेवालं जगज्जेतुं किं तरां चिन्तयानया ॥२५॥
ऊरुद्वयमुदारश्रि चारु हारि सुखावहम्[7] । स्पर्द्धयेव सुरस्त्रीभिरतिरम्यं बभार सा ॥२६॥
वामोरुरिति या रूढिस्तां स्वसात् कर्तुमन्यथा । वामवृत्ती[8] कृतावूरू मन्येऽन्यस्त्रीजयेऽमुया ॥२७॥

उसके दोनों चरण नखोंके द्वारा कुरवक जातिके वृक्षोंको जीतकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए थे इसीलिए उन्होंने अपनी गतिसे हंसिनीकी गतिके विलासको भी जीत लिया था ॥२१॥ सुन्दर भौंहोंवाली उस मरुदेवीके दोनों चरण मणिमय नूपुरोंकी झंकारसे सदा शब्दायमान रहते थे इसलिए गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे सहित कमलोंके समान सुशोभित होते थे ॥२२॥ उसके दोनों चरण किसी विजिगीषु (शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले) राजाकी शोभा धारण कर रहे थे, क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा सन्धिवार्ताको गुप्त रखता है अर्थात् युद्ध करते हुए भी मनमें सन्धि करनेकी भावना रखता है, पार्ष्णि (पीछेसे सहायता करनेवाली) सेनासे युक्त होता है, शत्रुके प्रति यान (युद्धके लिए प्रस्थान) करता है और आसन (परिस्थितिवश अपने ही स्थानपर चुपचाप रहना) गुणसे सहित होता है उसी प्रकार उसके चरण भी गाँठोंकी सन्धियाँ गुप्त रखते थे अर्थात् पुष्टकाय होनेके कारण गाँठोंकी सन्धियाँ मांसपिण्डमें विलीन थीं इसलिए बाहर नहीं दिखती थीं, पार्ष्णि (एड़ी) से युक्त थे, मनोहर यान (गमन) करते और सुन्दर आसन (बैठना आदिसे) सहित थे । इसके सिवाय जैसे विजिगीषु राजा अन्य शत्रु राजाओंको जीतना चाहता है वैसे ही उसके चरण भी अन्य स्त्रियोंके चरणोंकी शोभा जीतना चाहते थे ॥ २३ ॥ उसकी दोनों जंघाओंमें जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी । उन दोनोंकी उपमा परस्पर ही दी जाती थी अर्थात् उसकी वाम जंघा उसकी दक्षिण जंघाके समान थी और दक्षिण जंघा वाम जंघाके समान थी । इसलिए ही उन दोनोंका वर्णन अन्य किसीकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता था ॥२४॥ 'अत्यन्त मनोहर और परस्परमें एक दूसरेसे मिले हुए उसके दोनों घुटने ही क्या जगत्को जीतनेके लिए समर्थ हैं, इस चिन्तासे कोई लाभ नहीं था क्योंकि वे अपने सौन्दर्यसे जगत्को जीत ही रहे थे ॥२५॥ उसके दोनों ही ऊरु उत्कृष्ट शोभाके धारक थे, सुन्दर थे, मनोहर थे और सुख देनेवाले थे, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो देवांगनाओंके साथ स्पर्धा करके ही उसने ऐसे सुन्दर ऊरु धारण किये हों ॥ २६ ॥ मैं ऐसा मानता हूँ कि अभीतक संसारमें जो 'वामोरु' (मनोहर ऊरुवाली) शब्द प्रसिद्ध था उसे उस मरुदेवीने अन्य प्रकारसे अपने स्वाधीन करनेके लिए ही मानो अन्य स्त्रियोंके विजय करनेमें अपने दोनों ऊरुओंको वामवृत्ति (शत्रुके समान बरताव करनेवाले) कर लिया था । भावार्थ—कोशकारोंने स्त्रियोंका एक नाम 'वामोरु' भी लिखा है जिसका अर्थ होता है सुन्दर ऊरुवाली स्त्री । परन्तु मरुदेवीने 'वामोरु' शब्दको अन्य प्रकारसे (दूसरे अर्थसे) अपनाया था । वह 'वामोरु' शब्दका अर्थ करती थी 'जिसके ऊरु शत्रुभूत हों ऐसी स्त्री' । मानो उसने अपनी उक्त मान्यताको सफल बनानेके लिए ही अपने ऊरुओंको अन्य स्त्रियोंके ऊरुओंके सामने वामवृत्ति अर्थात् शत्रुरूप बना लिया था । संक्षेपमें भाव यह है कि उसने अपने ऊरुओंकी शोभासे अन्य स्त्रियोंको

१. असुखौ । २. गमनेन । ३. गुल्फिका [घुटिका] । ४. –स्यात् म०, ल० । ५. प्राप्तकीर्तनम् । ६. जानु ऊरुपर्व । ७. सुखाहरम् द०, स० । ८. वक्रवृत्ती ।

[1]कलत्रस्थानमेतस्या. स्थानीकृत्य मनोभुवा । विनिर्जित जगन्नून[2]मनूनपरिमण्डलम् ॥२८॥

[3]कटीमण्डलमेतस्याः काञ्चीसालपरिष्कृतम्[4] । मन्ये दुर्गमनङ्गस्य जगड्डमर[5]कारिणः ॥२९॥

लसदंशुकसंसक्तं काञ्चीवेष्टं बभार सा । फणिनं[6]स्रस्तनिर्मोकमिव चन्दनवल्लरी ॥३०॥

रोमराजी विनीलास्या रेजे मध्येतनूदरम् । हरिनीलमयीवावष्टम्भयष्टिर्मनोभुवः ॥३१॥

तनुमध्यं बभारासौ [7]वलिभं निम्ननाभिकम् । शरन्नदीव सावर्तं स्रोत[8] प्रतनुवीचिकम्[9] ॥३२॥

स्तनावस्या समुत्तुङ्गौ रेजतु परिणाहिनौ[10] । यौवनश्रीविलासाय क्लृप्तौ क्रीडाचलाविव ॥३३॥

धृतांशुकमसौ दध्रे कुङ्कुमाङ्कं[11] कुचद्वयम् । वीचिरुद्धमिवानोङ्गमिथुनं[12] सुरनिम्नगा ॥३४॥

स्तनावलग्न[13]संलग्नहाररोचिरसौ बभौ । सरोज[14]कुड्मलाभ्यर्णस्थितफेना यथाब्जिनी ॥३५॥

[15]व्यराजि कन्धरेणास्या[16]स्तनुराजीविराजिना[17] । उल्लिख्य[18] घटितेनेव धात्रा[19]निर्माणकौशलात् ॥३६॥

अधिकन्धरमाबद्ध[20]हारयष्टिर्व्यभादसौ । पतन्निर्झरिसरित्स्रोता [21]सानुलेखेव श्रृङ्गिण ॥३७॥

पराजित कर दिया था ॥२७॥ इसमें कोई सन्देह नहीं कि कामदेवने मरुदेवीके स्थूल नितम्ब-मण्डलको ही अपना स्थान बनाकर इतने बड़े विस्तृत संसारको पराजित किया था ॥२८॥ करधनीरूपी कोटसे घिरा हुआ उसका कटिमण्डल ऐसा मालूम होता था मानो जगत्-भरमें विप्लव करनेवाले कामदेवका किला ही हो ॥ २९ ॥ जिस प्रकार चन्दनकी लता, जिसकी काँचली निकल गयी है ऐसे सर्पको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी शोभायमान अधोवस्त्रसे सटी हुई करधनीको धारण कर रही थी ॥३०॥ उस मरुदेवीके कृश उदरभागपर अत्यन्त काली रोमोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो इन्द्रनील मणिकी बनी हुई कामदेवकी आलम्बनयष्टि (सहारा लेनेकी लकड़ी) ही हो ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार शरद् ऋतुकी नदी भँवरसे युक्त और पतली-पतली लहरोंसे सुशोभित प्रवाहको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी त्रिवलिसे युक्त और गम्भीर नाभिसे शोभायमान, अपने शरीरके मध्यभागको धारण करती थी ॥३२॥ उसके अतिशय ऊँचे और विशाल स्तन ऐसे शोभायमान होते थे मानो तारुण्य-लक्ष्मीकी क्रीड़ाके लिए बनाये हुए दो क्रीडाचल ही हों ॥३३॥ जिस प्रकार आकाशगंगा लहरोंमें रुके हुए दो चक्रवाक पक्षियोंको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी जिनपर केशर लगी हुई है और जो वस्त्रसे ढके हुए हैं ऐसे दोनों स्तनोंको धारण कर रही थी ॥३४॥ जिसके स्तनोंके मध्य भागमें हारकी सफेद-सफेद किरणें लग रही थीं ऐसी वह मरुदेवी उस कमलिनीकी तरह सुशोभित हो रही थी जिसके कि कमलोंकी बोंड़ियोंके समीप सफेद-सफेद फेन लग रहा है ॥ ३५ ॥ सूक्ष्म रेखाओंसे उसका शोभायमान कण्ठ बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो विधाताने अपना निर्माणसम्बन्धी कौशल दिखानेके लिए ही सूक्ष्म रेखाएँ उकेरकर उसकी रचना की हो ॥३६॥ जिसके गलेमें रत्नमय हार लटक रहा है ऐसी वह मरुदेवी, पर्वतकी उस शिखरके समान शोभायमान होती थी जिसपर कि ऊपरसे

---

१ कलत्र नितम्ब । 'कलत्र श्रोणिभार्ययोः' इत्यभिधानात् । २. निश्चयेन । ३. अय श्लोक पुरुदेवचम्पूकारेण अर्हद्दासेन स्वकीये पुरुदेवचम्पूकाव्ये चतुर्थस्तबके व्यशीतिपृष्ठे ग्रन्थाङ्गता प्रापितः । ४. अलङ्कृतम् । ५. डमर. विप्लवः । ६ स्रस्त—च्युत । ७. वलिरस्यास्तीति वलिभम् । ८. प्रवाह । ९. स्वल्पतरङ्गकम् । १०. विशालवन्तौ 'परिणाहो विशालता' इत्यभिधानात् । परिणाहितौ प०, स०, द० । ११. कुङ्कुमाक्तम् प०, अ० । १२ रथाङ्गमिथुनम् । चक्रवाकयुगलमित्यर्थः 'क्लीबेऽन. शकटोऽस्त्री स्यात्' इत्यभिधानात् । १३. अवलग्न मध्य । १४. कुड्मला—द०, स०, म०, ल०, । १५ भावे लुङ् । १६. स्वल्परेखा । १७ विभासिता अ०, स०, म०, ल० । १८. उत्कीर्य । १९ निर्माण सर्जन ।२०—मारब्ध—ब० । २१ नितम्बलेखा ।

शिरीषसुकुमाराङ्गास्तस्या बाहू विरेजतुः । कल्पवल्ल्या इवावाग्रौ[1] विटपौ[2] मणिभूषणौ ॥३८॥
मृदुबाहुलते तस्याः करपल्लवसंश्रिताम् । नखांशूल्लसितव्याजाद् दधतुः पुष्पमञ्जरीम् ॥३९॥
अशोकपल्लवच्छायं बिभ्रती करपल्लवम् । पाणौ कृतमिवाशेषं मनोरागमुवाह सा ॥४०॥
सा दधे किमपि[3] स्रस्तावंसौ हंसीव[4] पक्षती । भासस्तकबरीभार[5] वाहिकाखेदितानिव ॥४१॥
मुखमस्याः सरोजाक्ष्या जहास शशिमण्डलम् । [6]सकलं विकलङ्कं च विकलं सकलङ्कम् ॥४२॥
वैधव्य[7]दूषितेन्दुश्रीरब्जश्री पङ्कदूषिता । तस्याः सदोज्ज्वलास्यश्रीर्वद केनोपमीयते ॥४३॥
दशनच्छदरागोऽस्याः स्मितांशुभिरनुद्रुत[8] । पयःकणावकीर्णस्य विद्रुमस्याजय[9]च्छ्रियम् ॥४४॥
सुकण्ठ्याः कण्ठरागोऽस्या गीतगोष्ठीषु पप्रथे । मौर्वीरव इवाकृष्टधनुषः पुष्पधन्वनः ॥४५॥
कपोलावलकानस्या दधतुः प्रतिबिम्बितान् । शुद्धिभाजोऽनुगृह्णन्ति मलिनानपि संश्रितान् ॥४६॥
तस्या नासाग्रमभ्यग्रं[10] बभौ मुखमभिस्थितम् । तदामोदमिवाघ्रातुं तन्नि श्वसितमुत्थितम् ॥४७॥
नयनोत्पलयोः कान्तिस्तस्याः [11]कर्णान्तमाश्रयत् । कर्णेजपत्वमन्योऽन्यस्पर्धयेव चिकीर्षतोः ॥४८॥

पहाड़ी नदीके जलका प्रवाह पड़ रहा हो ॥ ३७ ॥ शिरीषके फूलके समान अतिशय कोमल अंगोंवाली उस मरुदेवीकी मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित दोनों भुजाएँ ऐसी भली जान पड़ती थीं मानो मणियोंके आभूषणोंसे सहित कल्पवृक्षकी दो मुख्य शाखाएँ ही हों ॥३८॥ उसकी दोनों कोमल भुजाएँ लताओंके समान थीं और वे नखोंकी शोभायमान किरणोंके बहाने हस्तरूपी पल्लवोंके पास लगी हुई पुष्पमंजरियाँ धारण कर रही थीं ॥३९॥ अशोक वृक्षके किसलयके समान लाल-लाल हस्तरूपी पल्लवोंको धारण करती हुई वह मरुदेवी ऐसी जान पड़ती थी मानो हाथोंमें इकट्ठे हुए अपने मनके समस्त अनुरागको ही धारण कर रही हो ॥ ४० ॥ जिस प्रकार हंसिनी कुछ नीचेकी ओर ढले हुए पंखोंके मूल भागको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी कुछ नीचेकी ओर झुके हुए दोनों कन्धोंको धारण कर रही थी, उसके वे झुके हुए कन्धे ऐसे मालूम होते थे मानो लटकते हुए केशोंका भार धारण करनेके कारण खेद-खिन्न होकर ही नीचेकी ओर झुक गये हों ॥४१॥ उस कमलनयनीका मुख चन्द्रमण्डलकी हँसी उड़ा रहा था क्योंकि उसका मुख सदा कलाओंसे सहित रहता था और चन्द्रमाका मण्डल एक पूर्णिमाको छोड़कर बाकी दिनोंमें कलाओंसे रहित होने लगता है, उसका मुख कलंकरहित था और चन्द्रमण्डल कलंकसे सहित था ॥ ४२ ॥ चन्द्रमाकी शोभा दिनमें चन्द्रमाके नष्ट हो जानेके कारण वैधव्य दोषसे दूषित हो जाती है और कमलिनीकी चड़से दूषित रहती है इसलिए सदा उज्ज्वल रहनेवाले उसके मुखकी शोभाकी तुलना किस पदार्थसे की जाये ? तुम्हीं कहो ॥ ४३ ॥ उसके मन्दहास्यकी किरणोंसे सहित दोनों ओठोंकी लाली जलके कणोंसे व्याप्त मूँगाकी भी शोभा जीत रही थी ॥४४॥ उत्तम कण्ठवाली उस मरुदेवीके कण्ठका राग (स्वर) संगीतकी गोष्ठियोंमें ऐसा प्रसिद्ध था मानो कामदेवके खींचे हुए धनुषकी डोरीका शब्द ही हो॥४५॥ उसके दोनों ही कपोल अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए काले केशोंको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है शुद्धिको प्राप्त हुए पदार्थ शरणमें आये हुए मलिन पदार्थोंपर भी अनुग्रह करते हैं—उन्हें स्वीकार करते हैं ॥४६॥ लम्बा और मुखके सम्मुख स्थित हुआ उसकी नासिकाका अग्रभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसके श्वासकी सुगन्धिको सूँघनेके लिए ही उद्यत हो ॥ ४७ ॥ उसके नयन-कमलोंकी कान्ति कानके समीप तक पहुँच गयी थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो दोनों ही नयन-कमल परस्परकी स्पर्धासे एक दूसरेकी चुगली करना

---

१. आनतौ । इवावग्रौ ल० । २. शाखे । ३. ईषन्नतौ । ४. पक्षमूले । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यभिधानात् । ५. वाहनम् । ६ सम्पूर्णम् । ७. विधवात्वं वियुक्तत्वं वा । ८ अनुगतः । ९ -जयत् श्रियम् अ०, स०, म०, ल० । १० स्थिरम् । ११. कर्णसमीपम् ।

[1]श्रुतेनालंकृतावस्याः कर्णौ पुनरलंकृतौ । कर्णाभरणविन्यासैः श्रुतदेव्या इवार्चनैः ॥४९॥
ललाटेनाष्टमीचन्द्रचारुणास्या विदिद्युते । मनोजश्रीविलासिन्या दर्पणेनेव हारिणा ॥५०॥
विनीलैरलकैरस्या मुखाब्जे मधुपायितम् । [2]भ्रूभ्यां च निर्जिता [3]सज्या मदनस्य धनुर्लता ॥५१॥
कचभारो बभौ तस्या विनीलकुटिलायतः । मुखेन्दुग्राससलोभेन विधुंतुद[4] इवाश्रितः ॥५२॥
[5]विस्रस्तकबरीबन्धविगलत्कुसुमोत्करैः । सोपहारामिव क्षोणीं चक्रे चंक्रमणेषु[6] सा ॥५३॥
[7]समसुप्रविभक्ताङ्गमित्यस्या वपुरूर्जितम् । स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छन्दभावेनेव[8] विधिर्व्यधात् ॥५४॥
सुयशाः सुचिरायुश्च [9]सुप्रजाश्च सुमङ्गला । [10]पतिवत्नी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥५५॥
सा खनिर्गुणरत्नानां साऽवनिः पुण्यसंपदाम् । पावनी श्रुतदेवीव[11] साऽनधीत्यैव पण्डिता ॥५६॥
सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्य परा धृतिः[12] । [13]सौहार्दस्य परा प्रीतिः सौजन्यस्य परा गतिः[14] ॥५७॥
कुसृतिः[15] कामतत्त्वस्य[16] [17]कलागमसरित्स्रुतिः । [18]प्रसृतिर्यशसां साऽऽसीत् [19]सतीत्वस्य पराधृतिः ॥५८॥
तस्याः किल समुद्वाहे[20] सुरराजेन चोदिताः । सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुः कल्याणकौतुकम्[21] ॥५९॥

चाहते हों ॥४८॥ यद्यपि उसके दोनों कान शास्त्र श्रवण करनेसे अलंकृत थे, तथापि सरस्वती देवीकी पूजाके पुष्पोंके समान कर्णभूषण पहनाकर फिर भी अलंकृत किये गये थे ॥ ४९ ॥ अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका ललाट अतिशय देदीप्यमान हो रहा था और ऐसा मालूम पड़ता था मानो कामदेवकी लक्ष्मीरूपी स्त्रीका मनोहर दर्पण ही हो ॥ ५० ॥ उसके अत्यन्त काले केश मुखकमलपर इकट्ठे हुए भौरोंके समान जान पड़ते थे और उसकी भौंहोंने कामदेवकी डोरीसहित धनुषरूलताको भी जीत लिया था ॥ ५१ ॥ उसके अतिशय काले, टेढ़े और लम्बे केशोंका समूह ऐसा शोभायमान होता था मानो मुखरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके लोभसे राहु ही आया हो ॥ ५२ ॥ वह मरुदेवी चलते समय कुछ-कुछ ढीली हुई अपनी चोटीसे नीचे गिरते हुए फूलोंके समूहसे पृथ्वीको उपहार सहित करती थी ॥५३॥ इस प्रकार जिसके प्रत्येक अंग उपांगकी रचना सुन्दर है ऐसा उसका सुदृढ शरीर ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो विधाताने स्त्रियोंकी सृष्टि करनेके लिए एक सुन्दर प्रतिबिम्ब ही बनाया हो ॥ ५४ ॥ संसारमें जो स्त्रियाँ अतिशय यशवाली, दीर्घ आयुवाली, उत्तम सन्तानवाली, मंगलरूपिणी और उत्तम पतिवाली थीं वे सब मरुदेवीसे पीछे थीं, अर्थात् मरुदेवी उन सबमें मुख्य थी ॥ ५५ ॥ वह गुणरूपी रत्नोंकी खान थी, पुण्यरूपी सम्पत्तियोंकी पृथिवी थी, पवित्र सरस्वती देवी थी और विना पढ़े ही पण्डिता थी ॥ ५६ ॥ वह सौभाग्यकी परम सीमा थी, सुन्दरताकी उत्कृष्ट पुष्टि थी, मित्रताकी परम प्रीति थी और सज्जनताकी उत्कृष्ट गति (आश्रय) थी ॥ ५७ ॥ वह कामशास्त्रकी सजेता थी, कलाशास्त्ररूपी नदीका प्रवाह थी, कीर्तिका उत्पत्तिस्थान थी और पातिव्रत्य धर्मकी परम सीमा थी ॥ ५८ ॥ उस मरुदेवीके विवाहके समय इन्द्रके द्वारा

१. शास्त्रश्रवणेन । २. भ्रूभ्या विनि– प०, म०, ल० । ३. सगुणा । ४. राहु । ५. विस्रस्त विश्लथ । ६. पुनः पुनर्गमनेषु । ७. समानं यथा भवति तथा सुष्ठु विभक्तावयवम् । ८. प्रतिनिधि । ९. सत्पुत्रवती । १०. सभर्तृका । ११. श्रुतदेवी च म०, ल० । १२ धृतिः धारणम् । भृति. ल० । १३. सुहृदयत्वस्य । १४. आधारः । १५. 'त०, ब०' पुस्तकसम्मतोऽयं पाठः । कुसृति-स्थाने 'प्रसृतिः प्रसूतिः' इति वा पाठः । इत्यपि 'त०, ब०' पुस्तकयोः पार्श्वे लिखितम् । 'प्रसृतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरिच्छ्रुतिः । प्रसूतिर्यशसा साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा धृतिः ॥' स०, अ० । 'प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्स्रुतिः । प्रसूतिर्यशसा साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा धृति ॥' द० । 'प्रसूतिः कामतत्त्वस्य कलागमसरित्श्रुतिः ।' प्रसूतिर्यशसा साऽऽसीत् सतीत्वस्य परा धृति ॥' द० । 'कुसृति कामतत्त्वस्य कलागमसरित्सृतिः ॥' ट० । प्रसूतिर्यशसा सासीत् सतीत्वस्य परा धृतिः ॥' ल० । कुसृतिः शाठ्यम् । १६. कामतन्त्रस्य । १७. कलाशास्त्रनद्याः प्रवाहः । १८. प्रसरणम् । १९. पातिव्रत्यस्य । २०. विवाहे । २१. विवाहोत्साहम् ।

पुण्यसम्पत्तिरेवास्या जननीत्वमुपागता । [1]सखीभूयं गता लज्जा गुणाः परिजनायिताः ॥६०॥
रूपप्रभावविज्ञानैरिति [2]रूढिं परांगता । भर्तुर्मनोगजालाने [3]मेजे साऽऽलानयष्टिताम् [4] ॥६१॥
तद्वक्त्रेन्दोः स्मितज्योत्स्ना तन्वती नयनोत्सवम् । भर्तुश्चेतोऽम्बुधेः क्षोभमनुवेलं समातनोत् ॥६२॥
रूपलावण्यसम्पत्त्या [5]पत्या श्रीरिव सा मता । [6]मताविव मुनिस्तस्यामतनोत् स परां धृतिम् [7] ॥६३॥
परिहासेष्वमर्मस्पृक् सम्भोगेष्वनुवर्तिनी । [8]साचिव्यमकरोत्तस्य[9] [10]नर्मणः प्रणयस्य च ॥६४॥
साभवत् प्रेयसी तस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी । शचीव देवराजस्य परा [11]प्रणयभूमिका ॥६५॥
स तया कल्पवल्ल्येव लसदंशुकभूषया । समाश्लिष्टतनुः श्रीमान् कल्पद्रुम इवाद्युतत् ॥६६॥
स एव पुण्यवांल्लोके सैव पुण्यवती सती । ययोरयोनिजन्मा [12]तौ वृषभो [13]भविताऽऽत्मजः ॥६७॥
तौ दम्पती तदा तत्र [14]भोगैकरसतां गतौ । भोगभूमिश्रियं साक्षाच्चक्रतुर्वियुतामपि [15] ॥६८॥
ताभ्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांघ्रिपात्यये । तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं व्यधात् ॥६९॥
सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात् । तां पुरीं परमानन्दाद् व्यधुः सुरपुरीनिभाम् ॥७०॥

प्रेरित हुए उत्तम देवोंने बड़ी विभूतिके साथ उसका विवाहोत्सव किया था ॥ ५९ ॥ पुण्यरूपी सम्पत्ति उसके मातृभावको प्राप्त हुई थी, लज्जा सखी अवस्थाको प्राप्त हुई थी और अनेक गुण उसके परिजनोंके समान थे । भावार्थ–पुण्यरूपी सम्पत्ति ही उसकी माता थी, लज्जा ही उसकी सखी थी और दया, उदारता आदि गुण ही उसके परिवारके लोग थे ॥६०॥ रूप प्रभाव और विज्ञान आदिके द्वारा वह बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुई थी तथा अपने स्वामी नाभिराजके मनरूपी हाथीको बाँधनेके लिए खम्भेके समान मालूम पड़ती थी ॥ ६१ ॥ उसके मुखरूपी चन्द्रमाकी मुसकानरूपी चाँदनी, नेत्रोंके उत्सवको बढ़ाती हुई अपने पति नाभिराजके मनरूपी समुद्रके क्षोभको हर समय विस्तृत करती रहती थी ॥ ६२ ॥ महाराज नाभिराज रूप और लावण्यरूपी सम्पदाके द्वारा उसे साक्षात् लक्ष्मीके समान मानते थे और उसके विषयमें अपने उत्कृष्ट सन्तोषको उस तरह विस्तृत करते रहते थे जिस तरह कि निर्मल बुद्धिके विषयमें मुनि अपना उत्कृष्ट सन्तोष विस्तृत करते रहते हैं ॥६३॥ वह परिहासके समय कुवचन बोलकर पतिके मर्म स्थानको कष्ट नहीं पहुँचाती थी और सम्भोग-कालमें सदा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करती थी इसलिए वह अपने पति नाभिराजके परिहास्य और स्नेहके विषयमें मन्त्रिणीका काम करती थी ॥ ६४ ॥ वह मरुदेवी नाभिराजको प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी, वे उससे उतना ही स्नेह करते थे जितना कि इन्द्र इन्द्राणीसे करता है ॥ ६५ ॥ अतिशय शोभायुक्त महाराज नाभिराज देदीप्यमान वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित उस मरुदेवीसे आलिंगित शरीर होकर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे देदीप्यमान वस्त्र और आभूषणोंको धारण करनेवाली कल्पलतासे वेष्टित हुआ (लिपटा हुआ) कल्पवृक्ष ही हो ॥६६॥ संसारमें महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थीं । क्योंकि जिनके स्वयम्भू भगवान् वृषभदेव पुत्र होंगे उनके समान और कौन हो सकता है ? ॥ ६७ ॥ उस समय भोगोपभोगोंमें अतिशय तल्लीनताको प्राप्त हुए वे दोनों दम्पती ऐसे जान पड़ते थे मानो भोगभूमिकी नष्ट हुई लक्ष्मीको ही साक्षात् दिखला रहे हों ॥ ६८ ॥ मरुदेवी और नाभिराजसे अलंकृत पवित्र स्थानमें जब कल्पवृक्षोंका अभाव हो गया तब वहाँ उनके पुण्यके द्वारा बार-बार बुलाये हुए इन्द्रने एक नगरीकी रचना की ॥६९॥ इन्द्रकी आज्ञासे शीघ्र ही अनेक उत्साही देवोंने बड़े आनन्दके साथ

---

१. सखीत्वम् । २ –नैरतिरुद्धिं ब०, प०, द०, । ३. बन्धने । ४. बन्धस्तम्भत्वम् । ५. भर्त्रा । ६. बुद्धौ । ७. सन्तोषम् । ८. महायत्वम् । ९. –मकरोत्सास्य अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । १० क्रीडाया: । ११. स्नेहस्थानम् । १२. स्वयम्भूः । १३. भविष्यति । १४. भोगमुख्यानुरागताम् । १५. वियुक्ताम् । अपेतामित्यर्थः ।

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्दं[1] भूलोकेऽस्मिन्निधित्सुभिः[2] । विशेषरमणीयैव [3]निर्ममे सामरैः पुरी ॥७१॥
[4]स्वस्वर्गस्त्रिदशा[5]वासः स्वल्प [6]इत्यवमत्य तम् । [7]परश्शतजनावासभूमिकां तां नु ते व्यधुः ॥७२॥
इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान् । पुरीं निवेशयामासुर्विन्यासैर्विविधैः सुराः ॥७३॥
नरेन्द्रभवनं चास्याः सुरैर्मध्ये निवेशितम् । सुरेन्द्रभवन[8]स्पर्द्धि पराद्ध्य[8]विभवान्वितम् ॥७४॥
[9]सुत्रामा सूत्र[10]धारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः । [11]वास्तुजातं मही कृत्स्ना सोद्धा[12] नास्तु कथं पुरी ॥७५॥
[13]संचस्करुश्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभिः । [14]अयोध्यां न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥७६॥
[15]साकेतरूढिरप्यस्याः श्लाघ्यैव [16]स्वैर्निकेतनैः । स्वर्निकेतमिवाह्वातुं[17][18] साकूतैः केतुबाहुभिः ॥७७॥
[19]सुकोशलेति च ख्यातिं सा देशाभिख्यया[20] गता । विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता ॥७८॥

स्वर्गपुरीके समान उस नगरीकी रचना की ॥७०॥ उन देवोंने वह नगरी विशेष सुन्दर बनायी थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इस मध्यम लोकमें स्वर्गलोकका प्रतिबिम्ब रखनेकी इच्छासे ही उन्होंने उसे अत्यन्त सुन्दर बनाया हो ॥ ७१ ॥ 'हमारा स्वर्ग बहुत ही छोटा है क्योंकि यह त्रिदशावास है अर्थात् सिर्फ त्रिदश = तीस व्यक्तियोंके रहने योग्य स्थान है (पक्षमें त्रिदश = देवोंके रहने योग्य स्थान है)'—ऐसा मानकर ही मानो उन्होंने सैकड़ों हजारों मनुष्योंके रहने योग्य उस नगरी (विस्तृत स्वर्ग) की रचना की थी ॥७२॥ उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवोंने उन सबको लाकर उस नगरीमें बसाया और सबके सुभीते-के लिए अनेक प्रकारके उपयोगी स्थानोंकी रचना की ॥७३॥ उस नगरीके मध्य भागमें देवोंने राजमहल बनाया था वह राजमहल इन्द्रपुरीके साथ स्पर्धा करनेवाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियोंसे सहित था ॥ ७४ ॥ जब कि उस नगरीकी रचना करनेवाले कारीगर स्वर्गके देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार (मेंट) इन्द्र था और मकान वगैरह बनानेके लिए सम्पूर्ण पृथिवी पड़ी थी तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न हो ? ॥ ७५ ॥ देवोंने उस नगरीको वप्र (धूलिके बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजोंसे सहित, पत्थरके बने हुए मजबूत कोट) और परिखा आदिसे सुशोभित किया था। उस नगरीका नाम अयोध्या था। वह केवल नाममात्रसे अयोध्या नहीं थी किन्तु गुणोंसे भी अयोध्या थी। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे इसलिए उसका वह नाम सार्थक था [अरिभिः योद्धुं न शक्या—अयोध्या] ॥७६॥ उस नगरीका दूसरा नाम साकेत भी था क्योंकि वह अपने अच्छे-अच्छे मकानोंसे बड़ी ही प्रशंसनीय थी। उन मकानोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्वर्गलोकके मकानोंको बुलानेके लिए अपनी पताकारूपी भुजाओंके द्वारा संकेत ही कर रहे हों। [आकेतैः गृहैः सह वर्तमाना = साकेता, 'स + आकेता'—घरोंसे सहित] ॥७७॥ वह नगरी सुकोशल देशमें थी इसलिए देशके नामसे 'सुकोशला' इस प्रसिद्धिको भी प्राप्त हुई थी। तथा वह नगरी अनेक विनीत–शिक्षित–पढ़े-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्योंसे व्याप्त थी इसलिए

---

१. प्रतिबिम्बम् । २. विधित्सुभिः ब० । निधातुमिच्छुभिः । ३. निर्मिता । ४. स्व आत्मीयः । ५. ध्वनौ त्रिंशज्जनावासः त्रयोदशजनावासो वा इत्यर्थः । ६. अवज्ञां कृत्वा । इत्यवमन्य प०, अ०, स० । ७. शतोपरितनसंख्यावज्जनावासाधारस्थानभूताम् । ८. —न्द्रनगरस्य—म०, ल० । ९. अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धः पुरुदेवचम्प्वाश्चतुर्थस्तबकेऽष्टादशश्लोकस्य पूर्वार्धत्वेन प्रापितस्तत्कर्त्रा । १०. शिल्पाचार्यः । ११. अगारसमूहम् । १२. उद्धा प्रशस्ता । सोधा— ल० । १३. अलञ्चक्रुः । १४ योद्धुमयोग्याम् । १५. आकेतैः गृहैः सह आवर्तत इति साकेतम् । १६. स्वनिकेतनैः म०, ल०, । १७ स्पर्द्धां कर्तुम् । १८. साभिप्रायैः । १९. शोभनः कोशलो यस्याः सा । २०. अभिख्यया शोभया ।

बभौ सुकोशला भाविविषयस्यालघीयसः । नाभिलक्ष्मीं दधानासौ राजधानी सुविश्रुता ॥७९॥
सनृपालयमुद्वप्रं [1]दीप्रशालं सखातिकम् । तद्वर्त्स्यन्नगरारम्भे प्रतिच्छन्दायितं[2] पुरम् ॥८०॥
पुण्येऽहनि मुहूर्ते च शुभयोगे शुभोदये[3] । पुण्याहघोषणां तत्र सुराश्चक्रुः प्रमोदिनः ॥८१॥
[4]अध्यवात्तां तदानीं तौ तामयोध्यां महर्द्धिकाम् । दम्पती परमानन्दादा[5]प्तसम्पत्परम्परौ ॥८२॥
विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो [6]जनितेति शतक्रतुः । तयोः पूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरस्सरम्[7] ॥८३॥
षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति[8] । रत्नवृष्टिं दिवो देवाः पातयामासुरादरात् ॥८४॥
संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता । साभात् स्वसम्पदौत्सुक्यात् [9]प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥८५॥
[10]हरिन्मणिमहानीलपद्मरागांशुसंकरैः[11] । साद्युतत् सुरचापश्रीः [12]प्रगुणत्वमिवाश्रिता ॥८६॥
[13]रैधारैरावतस्थूल[14]समायतकराकृतिः । बभौ पुण्यद्रुमस्येव पृथुः प्ररोहसन्ततिः[15] ॥८७॥
[16]नीरन्ध्रं रोदसी[17] रुद्ध्वा रायां[18] धारा पतन्त्यभात् । सुरद्रुमैरिवोन्मुक्ता सा प्ररोहपरम्परा ॥८८॥
रेजे हिरण्मयी वृष्टिः खाङ्गणान्निपतन्त्यसौ । ज्योतिर्गणप्रभेवोच्चैरायान्ती सुरसद्मनः ॥८९॥

वह 'विनीता' भी मानी गयी थी—उसका एक नाम 'विनीता' भी था ॥७८॥ वह सुकोशला नामकी राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और आगे होनेवाले बड़े भारी देशकी नाभि (मध्यभागकी) शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी ॥७९॥ राजभवन, वप्र, कोट और खाईसे सहित वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानो आगे-कर्मभूमिके समयमें होनेवाले नगरोंकी रचना प्रारम्भ करनेके लिए एक प्रतिबिम्ब-नकशा ही बनाया गया हो ॥८०॥ अनन्तर उस अयोध्या नगरीमें सब देवोंने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्नमें हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया ॥८१॥ जिन्हें अनेक सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त हुई थी ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवीने अत्यन्त आनन्दित होकर पुण्याहवाचनके समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरीमें निवास करना प्रारम्भ किया था ॥८२॥ "इन दोनोंके सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे" यह समझकर इन्द्रने अभिषेकपूर्वक उन दोनोंकी बड़ी पूजा की थी ॥८३॥

तदनन्तर छह महीने बाद ही भगवान् वृषभदेव यहाँ स्वर्गसे अवतार लेंगे ऐसा जानकर देवोंने बड़े आदरके साथ आकाशसे रत्नोंकी वर्षा की ॥८४॥ इन्द्रके द्वारा नियुक्त हुए कुबेरने जो रत्नकी वर्षा की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानो वृषभदेवकी सम्पत्ति उत्सुकताके कारण उनके आनेसे पहले ही आ गयी हो ॥८५॥ वह रत्नवृष्टि हरिन्मणि इन्द्रनील मणि और पद्मराग आदि मणियोंकी किरणोंके समूहसे ऐसी देदीप्यमान हो रही थी मानो सरलताको प्राप्त होकर (एक रेखामें सीधी होकर) इन्द्रधनुषकी शोभा ही आ रही हो ॥८६॥ ऐरावत हाथीकी सूँड़के समान स्थूल, गोल और लम्बी आकृतिको धारण करनेवाली वह रत्नोंकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो पुण्यरूपी वृक्षके बड़े मोटे अंकुरोंकी सन्तति ही हो ॥८७॥ अथवा अतिशय सघन तथा आकाश पृथिवीको रोककर पड़ती हुई वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानो कल्पवृक्षोंके द्वारा छोड़े हुए अंकुरोंकी परम्परा ही हो ॥८८॥ अथवा आकाशरूपी आँगनसे पड़ती हुई वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो स्वर्गसे

---

१ दीप्तशा म०, ल०। २. प्रतिनिधिरिवाचरितम्। ३ शुभग्रहोदये शुभलग्ने इत्यर्थः। 'राशीनामुदयो लग्नं ते तु मेषवृषादयः' इत्यभिधानात्। ४. 'वस निवासे' लुङ्। ५. नन्दावाप्त अ०, प०, द०, स०, म०। ६ भविष्यति। ७ पुरस्सराम् अ०, द०, म०, स०, ल०। ८. आगमिष्यति सति। ९. आगता। १० मरकत। ११. शुकेसरैः म०, ल०। १२ ऋजुत्वम्। १३ 'प' पुस्तके ८६-८७ श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति। १४. समानायाम्। १५. शिफासमूहः। १६. निबिडम्। १७. भूम्याकाशे। १८. रत्नसुवर्णानाम्।

खाद् भ्रष्टा[1] रत्नवृष्टिः सा क्षणमुत्प्रेक्षिता जनैः । गर्भस्रुति[2]र्निधीनां किं जगत्क्षोभादभूदिति ॥९०॥
खाङ्गणे विप्रकीर्णानि रत्नानि क्षणमावभुः । द्युशाखिनां फलानीव [3]शातितानि सुरद्विपैः ॥९१॥
खाङ्गणे गणनातीता रत्नधारा रराज सा । विप्रकीर्णेव कालेन तरला तारकावली ॥९२॥
विद्युदिन्द्रायुधे किंचित् जटिले[4] सुरनायकैः । दिवो विगलिते स्यातामित्यसौ क्षणमैक्ष्यत ॥९३॥
किमेषा वैद्युती[5] दीप्तिः किमुत द्युसदां[6] द्युतिः । इति व्योमचरैरेभिः क्षणमाशङ्क्य साम्बरे ॥९४॥
सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता । विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥९५॥
षण्मासानिति सापप्तत् पुण्ये नाभिनृपालये । स्वर्गावतरणाद् भर्तुः प्राक्तरां [7]द्युम्नसन्ततिः ॥९६॥
पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तदा[8] मता । अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थकृत्त्वस्य भाविनः ॥९७॥
रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः । क्षोभमा[9]याज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे[10] विभो[11] ॥९८॥
सिक्ता जलकणैर्गाङ्गैः मही रत्नैरलंकृता । गर्भाधाने[12] जगद्भर्तुः गर्भिणीवाभवद् गुरुः ॥९९॥
रत्नैः कीर्णा प्रसूनैश्च सिक्ता गन्धाम्बुभिर्बभौ । [13]तदास्नातानुलिप्तेव भूषिताङ्गी धराङ्गना ॥१००॥

अथवा विमानोंसे ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट प्रभा ही आ रही हो ॥८९॥ अथवा आकाशसे बरसती हुई रत्नवृष्टिको देखकर लोग यही उत्प्रेक्षा करते थे कि क्या जगत्में क्षोभ होनेसे निधियोंका गर्भपात हो रहा है ॥९०॥ आकाशरूपी आँगनमें जहाँ-तहाँ फैले हुए वे रत्न क्षण-भरके लिए ऐसे शोभायमान होते थे मानो देवोंके हाथियोंने कल्पवृक्षोंके फल ही तोड़-तोडकर डाले हों ॥९१॥ आकाशरूपी आँगनमें वह असंख्यात रत्नोंकी धारा ऐसी जान पडती थी मानो समय पाकर फैली हुई नक्षत्रोंकी चंचल और चमकीली पङ्क्ति ही हो ॥९२॥ अथवा उस रत्न-वर्षाको देखकर क्षणभरके लिए यही उत्प्रेक्षा होती थी कि स्वर्गसे मानो परस्पर मिले हुए बिजली और इन्द्रधनुष ही देवोंने नीचे गिरा दिये हों ॥९३॥ अथवा देव और विद्याधर उसे देखकर क्षणभरके लिए यही आशंका करते थे कि यह क्या आकाशमें बिजलीकी कान्ति है अथवा देवोंकी प्रभा है ? ॥९४॥ कुबेरने जो यह हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वृष्टि की थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो जगत्को भगवान्‌की 'हिरण्यगर्भता' बतलानेके लिए ही की हो [जिसके गर्भमें रहते हुए हिरण्य-सुवर्णकी वर्षा आदि हो वह हिरण्यगर्भ कहलाता है] ॥९५॥ इस प्रकार स्वामी वृषभदेवके स्वर्गावतरणसे छह महीने पहलेसे लेकर अतिशय पवित्र नाभिराजके घरपर रत्न और सुवर्णकी वर्षा हुई थी ॥९६॥ और इस प्रकार गर्भावतरणसे पीछे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्णकी वर्षा होती रही थी सो ठीक ही है क्योंकि होनेवाले तीर्थंकरका आश्चर्यकारक बड़ा भारी प्रभाव होता है ॥९७॥ भगवान्‌के गर्भावतरण-उत्सवके समय यह समस्त पृथिवी रत्नोंसे व्याप्त हो गयी थी, देव हर्षित हो गये थे और समस्त लोक क्षोभको प्राप्त हो गया था ॥९८॥ भगवान्‌के गर्भावतरणके समय यह पृथिवी गंगा नदीके जलके कणोंसे सींची गयी थी तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे अलंकृत की गयी थी इसलिए वह भी किसी गर्भिणी स्त्रीके समान भारी हो गयी थी ॥९९॥ उस समय रत्न और फूलोंसे व्याप्त तथा सुगन्धित जलसे सींची गयी यह पृथिवीरूपी स्त्री स्नान कर चन्दनका विलेपन लगाये और आभूषणोंसे

---

१. खाद् वृष्टा ल० । भ्रष्टा पतिता । २. स्रुतिं स्रवः । ३. पातितानि । 'शद्लृ शातने' । ४ घनता नीते । ५. विद्युत्सम्बन्धिनी । ६. देवानाम् । ७ हिरण्यसमूह 'हिरण्य द्रविण द्युम्नम्' । ८. तथा स०, म०, द०, ल० । ९. आगच्छत् । १०. गर्भादानोत्सवे म०, ल० । ११. अयं श्लोकः पुरुदेवचम्पूकर्त्रा स्वकीयग्रन्थस्य चतुर्थस्तवकस्यैकविंशस्थाने स्थापितः । १२ गर्भादाने म०, ल० । १३. स्नानानुलिप्तेव म०, ल० । स०, म० पुस्तकयोरुभयथा पाठः ।

सम्मता नाभिराजस्य पुष्पवत्यरजस्वला । वसुन्धरा तदा भेजे जिनमातुरनुक्रियाम्[1] ॥१०१॥
अथ सुप्तैकदा देवी सौधे मृदुनि तल्पके । गङ्गातरङ्गसच्छायैः[2] दुकूलप्रच्छदोज्ज्वले ॥१०२॥
सापश्यत् षोडशस्वप्नानिमान् शुभफलोदयान् । निशाया पश्चिमे यामे जिनजन्मानुशंसिनः ॥१०३॥
गजेन्द्रमैन्द्रमामन्द्रबृंहितं त्रिमदस्रुतम्[3] । ध्वनन्तमिव सासारं[4] सा ददर्श शरद्घनम् ॥१०४॥
गवेन्द्रं दुन्दुभिस्कन्धं कुमुदापाण्डुरद्युतिम् । पीयूषराशिनीकाशं[5] सापश्यन्मन्द्रनिःस्वनम्[6] ॥१०५॥
मृगेन्द्रमिन्दुसच्छायवपुषं रक्तकन्धरम् । ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटिताङ्गमिवैक्षत ॥१०६॥
पद्मां पद्ममयोत्तुङ्गविष्टरं सुरवारणैः । स्नाप्यां हिरण्मयैः कुम्भैरदर्शत् स्वामिव श्रियम् ॥१०७॥
दामनी कुसुमामोद-[7]समालग्नमदालिनी । तज्झङ्कृतैरिवारब्धगाने सानन्दमैक्षत ॥१०८॥
समग्रबिम्बमुज्ज्योत्स्नं ताराधीशं सतारकम् । स्मेरं स्वमिव वक्त्राब्जं समौक्तिकमलोकयत् ॥१०९॥
विधूतध्वान्तमुद्यन्तं भास्वन्तमुदयाचलात् । शातकुम्भमयं कुम्भमिवाद्राक्षीत् स्वमङ्गले ॥११०॥
कुम्भौ हिरण्मयौ पद्मपिहितास्यौ व्यलोकत । स्तनकुम्भाविवात्मीयौ समासक्तकराम्बुजौ ॥१११॥

सुसज्जित-सी जान पड़ती थी ॥१००॥ अथवा उस समय वह पृथिवी भगवान् वृषभदेवकी माता मरुदेवीकी सदृशताको प्राप्त हो रही थी क्योंकि मरुदेवी जिस प्रकार नाभिराजको प्रिय थी उसी प्रकार वह पृथिवी उन्हें प्रिय थी और मरुदेवी जिस प्रकार रजस्वला न होकर पुष्पवती थी उसी प्रकार वह पृथिवी भी रजस्वला (धूलिसे युक्त) न होकर पुष्पवती (जिसपर फूल बिखरे हुए थे) थी ॥१०१॥

अनन्तर किसी दिन मरुदेवी राजमहलमें गंगाकी लहरोंके समान सफेद और रेशमी चद्दरसे उज्ज्वल कोमल शय्या पर सो रही थी। सोते समय उसने रात्रिके पिछले प्रहरमें जिनेन्द्र देवके जन्मको सूचित करनेवाले तथा शुभ फल देनेवाले नीचे लिखे हुए सोलह स्वप्न देखे ॥१०२-१०३॥ सबसे पहले उसने इन्द्रका ऐरावत हाथी देखा। वह गम्भीर गर्जना कर रहा था तथा उसके दोनों कपोल और सूँड़ इन तीन स्थानोंसे मद झर रहा था इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो गरजता और बरसता हुआ शरद् ऋतुका बादल ही हो ॥१०४॥ दूसरे स्वप्नमें उसने एक बैल देखा। उस बैलके कन्धे नगाड़ेके समान विस्तृत थे, वह सफेद कमलके समान कुछ-कुछ शुक्ल वर्ण था। अमृतकी राशिके समान सुशोभित था और मन्द्र गम्भीर शब्द कर रहा था ॥१०५॥ तीसरे स्वप्नमें उसने एक सिंह देखा। उस सिंहका शरीर चन्द्रमाके समान शुक्लवर्ण था और कन्धे लाल रंगके थे इसलिए वह ऐसा मालूम होता था मानो चाँदनी और सन्ध्याके द्वारा ही उसका शरीर बना हो ॥१०६॥ चौथे स्वप्नमें उसने अपनी शोभाके समान लक्ष्मीको देखा। वह लक्ष्मी कमलोंके बने हुए ऊँचे आसनपर बैठी थी और देवोंके हाथी सुवर्णमय कलशोंसे उसका अभिषेक कर रहे थे ॥१०७॥ पाँचवें स्वप्नमें उसने बड़े ही आनन्दके साथ दो पुष्प-मालाएँ देखीं। उन मालाओंपर फूलोंकी सुगन्धिके कारण बड़े-बड़े भौंरे आ लगे थे और वे मनोहर झंकार शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन मालाओंने गाना ही प्रारम्भ किया हो ॥१०८॥ छठे स्वप्नमें उसने पूर्ण चन्द्रमण्डल देखा। वह चन्द्रमण्डल ताराओंसे सहित था और उत्कृष्ट चाँदनीसे युक्त था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मोतियोंसे सहित हँसता हुआ अपना (मरुदेवीका) मुख-कमल ही हो ॥१०९॥ सातवें स्वप्नमें उसने उदयाचलसे उदित होते हुए तथा अन्धकारको नष्ट करते हुए सूर्यको देखा। वह सूर्य ऐसा मालूम होता था मानो मरुदेवीके माङ्गलिक कार्यमें रखा हुआ सुवर्णमय कलश ही हो ॥११०॥ आठवें स्वप्नमें उसने सुवर्णके दो कलश देखे। उन कलशोंके मुख कमलोंसे ढके हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हस्तकमलसे आच्छादित

---

१. मातृत्वम् । २. सच्छाये अ०, स०, म० ल० । ३. कपोलद्वयनासिकाग्रमिति त्रिस्थानमदस्राविणाम् । ४. आसारेण सहितम् । ५. सदृशम् । ६. मन्द्रनिःस्वनम् म०, ल० । ७. समालग्नमहालिनी ।

झषौ सरसि संफुल्लकुमुदोत्पलपङ्कजे । सापश्यन्नयनायाम[1] दर्शयन्ताविवात्मनः ॥११२॥
तरत्सरोजकिञ्जल्कपिञ्जरोदकमैक्षत । सुवर्णद्रवसंपूर्णमिव दिव्यं सरोवरम् ॥११३॥
क्षुभ्यन्तमब्धिमुद्वेलं चलत्कल्लोलकाहलम्[2] । सादर्शच्छीकरैर्मोक्तुमट्टहासमिवोद्यतम् ॥११४॥
सैंहमासनमुत्तुङ्गं स्फुरन्मणिहिरण्मयम् । सापश्यन्मेरुश्रृङ्गस्य वैदग्धीं[3] दधदूर्जिताम् ॥११५॥
नाकालयं व्यलोकिष्ट परार्ध्यमणिभासुरम् । स्वसूनोः प्रसवागारमिव[4] देवैरुपाहृतम्[5] ॥११६॥
फणीन्द्रभवनं भूमिमुद्भिद्योद्गतमैक्षत । प्राग्दृष्टस्वर्विमानेन स्पर्द्धां कर्तुमिवोद्यतम् ॥११७॥
रत्नानां राशिमुत्सर्पदंशुपल्लविताम्बरम् । सा निदध्यौ[6] धरादेव्या निधानमिव दर्शितम् ॥११८॥
ज्वलद्भासुरनिर्धूमवपुषं विषमार्चिषम्[7] । प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्तिरूपं व्यचायत[8] ॥११९॥
न्यशामयच्च[9] तुङ्गाङ्गं पुङ्गवं रुक्मसच्छविम् । प्रविशन्तं स्ववक्त्राब्जं स्वप्नान्ते पीनकन्धरम् ॥१२०॥
ततः [10]प्राबोधिकैस्तूर्यैर्ध्वनद्भिः प्रत्यबुद्ध सा । वन्दिनां मङ्गलोद्गीतीः श्रृण्वतीति सुमङ्गला ॥१२१॥
सुखप्रबोधमाधातुमेतस्याः पुण्यपाठकाः । तदा प्रपेठुरित्युच्चैर्मङ्गलान्यस्खलद्गिर ॥१२२॥

हुए अपने दोनों स्तनकलश ही हों ॥१११॥ नौवें स्वप्नमें फूले हुए कुमुद और कमलोंसे शोभा-
यमान तालाबमें क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ देखीं। वे मछलियाँ ऐसी मालूम होती थीं
मानो अपने (मरुदेवीके) नेत्रोंकी लम्बाई ही दिखला रही हों ॥११२॥ दसवें स्वप्नमें उसने
एक सुन्दर तालाब देखा। उस तालाबका पानी तैरते हुए कमलोंकी केशरसे पीला-पीला हो
रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो पिघले हुए सुवर्णसे ही भरा हो ॥११३॥ ग्यारहवें
स्वप्नमें उसने क्षुभित हो वेला (तट) को उल्लंघन करता हुआ समुद्र देखा। उस समय उस
समुद्रमें उठती हुई लहरोंसे कुछ-कुछ गम्भीर शब्द हो रहा था और जलके छोटे-छोटे कण
उड़कर उसके चारों ओर पड़ रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अट्टहास ही
कर रहा हो ॥११४॥ बारहवें स्वप्नमें उसने एक ऊँचा सिंहासन देखा। वह सिंहासन सुवर्ण-
का बना हुआ था और उसमें अनेक प्रकारके चमकीले मणि लगे हुए थे जिससे ऐसा मालूम
होता था मानो वह मेरु पर्वतके शिखरकी उत्कृष्ट शोभा ही धारण कर रहा हो ॥११५॥ तेरहवें
स्वप्नमें उसने एक स्वर्गका विमान देखा। वह विमान बहुमूल्य श्रेष्ठ रत्नोंसे देदीप्यमान था
और ऐसा मालूम होता था मानो देवोंके द्वारा उपहारमें दिया हुआ, अपने पुत्रका प्रसूतिगृह
(उत्पत्तिस्थान) ही हो ॥११६॥ चौदहवें स्वप्नमें उसने पृथिवीको भेदन कर ऊपर आया
हुआ नागेन्द्रका भवन देखा। वह भवन ऐसा मालूम होता था मानो पहले दिखे हुए स्वर्गके
विमानके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥११७॥ पन्द्रहवें स्वप्नमें उसने अपनी
उठती हुई किरणोंसे आकाशको पल्लवित करनेवाली रत्नोंकी राशि देखी। उस रत्नोंकी राशि-
को मरुदेवीने ऐसा समझा था मानो पृथिवी देवीने उसे अपना खजाना ही दिखाया हो ॥११८॥
और सोलहवें स्वप्नमें उसने जलती हुई प्रकाशमान तथा धूमरहित अग्नि देखी। वह अग्नि
ऐसी मालूम होती थी मानो होनेवाले पुत्रका मूर्तिधारी प्रताप ही हो ॥११९॥ इस प्रकार
सोलह स्वप्न देखनेके बाद उसने देखा कि सुवर्णके समान पीली कान्तिका धारक और
ऊँचे कन्धोंवाला एक ऊँचा बैल हमारे मुख-कमलमें प्रवेश कर रहा है ॥१२०॥
तदनन्तर वह बजते हुए बाजोंकी ध्वनिसे जग गयी और बन्दीजनोंके नीचे लिखे हुए मंगल-
कारक मंगल-गीत सुनने लगी ॥१२१॥ उस समय मरुदेवीको सुख-पूर्वक जगानेके लिए, जिनकी
वाणी अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे पुण्य पाठ करनेवाले बन्दीजन उच्च स्वरसे नीचे लिखे अनुसार मंगल-

---

१. दैर्घ्यम् । २. अव्यक्तशब्दम् । ३. शोभाम् । ४. प्रसूतिगृहम् । ५. उपायनीकृत्यानीतम् । ६. ददर्श । ७. सप्तार्चिषम् अग्निम् इति यावत् । ८. ऐक्षत 'चायृ पूजायां च' । ९. अपश्यत् । १०. प्रबोधे नियुक्तैः ।

प्रबोधसमयोऽयं ते देवि सम्मुखमागतः । रचयन् [1]दरविश्लिष्टदलैरब्जैरिवाञ्जलिम् ॥१२३॥
विभावरी विभात्येषा दधती बिम्बमैन्दवम् । जितं त्वन्मुखकान्त्येव गलज्ज्योत्स्ना[2]परिच्छदम् ॥१२४॥
विच्छायतां गते चन्द्रबिम्बे मन्दीकृतादरम् । जगदानन्दयत्वद्य [3]विबुद्धं त्वन्मुखाम्बुजम् ॥१२५॥
दिगङ्गनामुखानीन्दुः संस्पृशन्नस्फुटैः करैः । [4]आपिपृच्छिषते नूनं [5]प्रवसन्स्वप्रियाङ्गनाः ॥१२६॥
ताराततिरियं व्योम्नि विरलं लक्ष्यतेऽधुना । विप्रकीर्णेव हारश्रीर्यामिन्या गतिसंभ्रमात् ॥१२७॥
रूयते[6] कलमामन्द्रमितः सरसि सारसैः । स्तोतुकामैरिवास्माभिः समं [7]त्वाम्नात[8]मङ्गलैः ॥१२८॥
उ[9]च्छ्वसत्कमलास्येयमितोऽधिगृह[10]दीर्घिकम् । भवन्तीं गायतीवोच्चैरब्जिनी भ्रमरारवैः ॥१२९॥
निशाविरहसंतप्तमितश्चक्राह्वयोर्युगम् । सरस्तरङ्गसंस्पर्शैरिदमाश्वास्यतेऽधुना ॥१३०॥
रथाङ्गमिथुनैरद्य प्रार्थ्यते [11]मित्रसन्निधिः । तीव्रमायासितैरन्तः करैरिन्दोर्विदाहिभिः ॥१३१॥
दुनोति[12] कृकवाकूणां ध्वनिरेष समुच्चरन् । कान्तासन्नवियोगार्त्तिपिशुनः कामिनां मनः ॥१३२॥
यदिन्दोः प्राप्तमान्द्यस्य [13]नोढस्तं मृदुभिः करैः । तत्प्रलीनं तमो नैशं[14] [15]खरांशावुदयोन्मुखे ॥१३३॥

पाठ पढ रहे थे ॥१२२॥ हे देवि, यह तेरे जागनेका समय है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो कुछ-कुछ फूले हुए कमलोंके द्वारा तुम्हें हाथ ही जोड़ रहा हो ॥१२३॥ तुम्हारे मुखकी कान्तिसे पराजित होनेके कारण ही मानो जिसकी समस्त चाँदनी नष्ट हो गयी है ऐसे चन्द्रमण्डलको धारण करती हुई यह रात्रि कैसी विचित्र शोभायमान हो रही है ॥१२४॥ हे देवि, अब कान्तिरहित चन्द्रमामें जगत्‌का आदर कम हो गया है इसलिए प्रफुल्लित हुआ यह तेरा मुख-कमल ही समस्त जगत्‌को आनन्दित करे ॥१२५॥ यह चन्द्रमा छिपी हुई किरणों (पक्षमें हाथों) से अपनी दिशारूपी स्त्रियोंके मुखका स्पर्श कर रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो परदेश जानेके लिए अपनी प्यारी स्त्रियोंसे आज्ञा ही लेना चाहता हो ॥१२६॥ ताराओंका समूह भी अब आकाशमें कहीं-कहीं दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है मानो जानेकी जल्दीसे रात्रिके हारकी शोभा ही टूट-टूटकर बिखर गयी हो ॥१२७॥ हे देवि, इधर तालाबोंपर ये सारस पक्षी मनोहर और गम्भीर शब्द कर रहे हैं और ऐसे मालूम होते हैं मानो मंगल-पाठ करते हुए हम लोगोंके साथ-साथ तुम्हारी स्तुति ही करना चाहते हो ॥१२८॥ इधर घरकी बावड़ीमें भी कमलिनीके कमलरूपी मुख प्रफुल्लित हो गये हैं और उनपर भौंरे शब्द कर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कमलिनी उच्च-स्वरसे आपका यश गा रही हो ॥१२९॥ इधर रात्रिमें परस्परके विरहसे अतिशय सन्तप्त हुआ यह चकवा-चकवीका युगल अब तालाबकी तरंगोंके स्पर्शसे कुछ-कुछ आश्वासन प्राप्त कर रहा है ॥१३०॥ अतिशय दाह करनेवाली चन्द्रमाकी किरणोंसे हृदयमें अत्यन्त दुःखी हुए चकवा-चकवी अब मित्र (सूर्य) के समागमकी प्रार्थना कर रहे हैं, भावार्थ—जैसे जब कोई किसीके द्वारा सताया जाता है तब वह अपने मित्रके साथ समागमकी इच्छा करता है वैसे ही चकवा-चकवी चन्द्रमाके द्वारा सताये जानेपर मित्र अर्थात् सूर्यके समागमकी इच्छा कर रहे हैं ॥१३१॥ इधर बहुत जल्दी होनेवाले स्त्रियोंके वियोगसे उत्पन्न हुए दुःखकी सूचना करनेवाली मुर्गोंकी तेज आवाज कामी पुरुषोंके मनको सन्ताप पहुँचा रही है ॥१३२॥ शान्तस्वभावी चन्द्रमाकी कोमल किरणोंसे रात्रिका जो अन्धकार

---

१. ईषद् विकसित । २ परिकरः । ३. विकसितम् । ४ अनुज्ञापयितुमिच्छति । ५ गच्छन् । ६ शब्द्यते । 'रु शब्दे' । ७ त्वा त्वाम् । ८ आम्नात अभ्यस्त । त्वामात्तमङ्गलैः अ०, प०, स०, ल० । ९. विकसत्कमलानना । १० गृहदीर्घिकायाम् । ११. सूर्यसमीपम् सहायसमीपं वा । १२. परितापयति 'टुदु परितापे' । १३ न नाशितम् । १४. निशाया इदम् । १५ रवौ ।

तमः शार्वरमुन्मथ्य करैर्भानोरुदेष्यतः । सेनेवाग्रेसरी सन्ध्या स्फुरत्येषानुरागिणी ॥१३४॥
मित्रमण्डलमुद्यच्छदिदमातनुते द्वयम् । विकासमब्जिनीषण्डे[1] ग्लानिं च कुमुदाकरे ॥१३५॥
[2]विकचवरं समालोक्य पद्मिन्याः पङ्कजाननम् । सासूयेव परिम्लानिं प्रयात्येष कुमुद्वती ॥१३६॥
पुरः प्रसारयन्नुच्चैः करानुद्याति भानुमान् । प्राचीदिगङ्गनागर्भात् तेजोगर्भ इवार्भकः ॥१३७॥
लक्ष्यते निषधोत्सङ्गे भानुरारक्तमण्डलः । पुञ्जीकृत इवैकत्र सान्ध्यो रागः सुरेश्वरैः ॥१३८॥
तमो [3]विधूतमुद्भूतं[4] चक्रवाकपरिक्लमः । प्रबोधिताब्जिनी भानोर्जन्मनोन्मीलितं[5] जगत् ॥१३९॥
समन्तादापतत्येष[6] प्रभाते शिशिरो मरुत् । कमलामोदमाकर्षन् प्रफुल्लादब्जिनीवनात् ॥१४०॥
इति प्रस्पष्ट एवायं प्रबोधसमयस्तव । देवि मुञ्चाधुना तल्पं शुचि हंसीव सैकतम् ॥१४१॥
[7]सुप्रातमस्तु ते नित्यं कल्याणशतभाग्भव । प्राचीवार्कं प्रसोष्ठाः[8] पुत्रं त्रैलोक्यदीपकम् ॥१४२॥
स्वप्नसंदर्शनादेव प्रबुद्धा प्राक्तरां पुनः । प्रबोधितेत्यपश्यत् सा सप्रमोदमयं जगत् ॥१४३॥
प्रबुद्धा च शुभस्वप्नदर्शनानन्दनिर्भरात्[9] । तनुं कण्टकिनीमूहे साब्जिनीव विकासिनी ॥१४४॥

नष्ट नहीं हो सका था वह अब तेज किरणवाले सूर्यके उदयके सम्मुख होते ही नष्ट हो गया है ॥१३३॥ अपनी किरणोंके द्वारा रात्रि सम्बन्धी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य आगे चलकर उदित होगा परन्तु उससे अनुराग (प्रेम और लाली) करनेवाली सन्ध्या पहलेसे ही प्रकट हो गयी है और ऐसी जान पड़ती है मानो सूर्यरूपी सेनापतिकी आगे चलनेवाली सेना ही हो ॥१३४॥ यह उदित होता हुआ सूर्यमण्डल एक साथ दो काम करता है—एक तो कमलिनियोंके समूहमें विकासको विस्तृत करता है और दूसरा कुमुदिनियोंके समूहमें म्लानताका विस्तार करता है ॥१३५॥ अथवा कमलिनीके कमलरूपी मुखको प्रफुल्लित हुआ देखकर यह कुमुदिनी मानो ईर्ष्यासे म्लानताको प्राप्त हो रही है ॥१३६॥ यह सूर्य अपने ऊँचे कर अर्थात् किरणोंको (पक्षमें हाथोंको) सामने फैलाता हुआ उदित हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीके गर्भसे कोई तेजस्वी बालक ही पैदा हो रहा हो ॥१३७॥ निषध पर्वतके समीप आरक्त (लाल) मण्डलका धारक यह सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो इन्द्रोंके द्वारा इकट्ठा किया हुआ सब सन्ध्याओंका राग (लालिमा) ही हो ॥१३८॥ सूर्यका उदय होते ही समस्त अन्धकार नष्ट हो गया, चकवा-चकवियोंका क्लेश दूर हो गया, कमलिनी विकसित हो गयी और सारा जगत् प्रकाशमान हो गया ॥१३९॥ अब प्रभातके समय फूले हुए कमलिनियोंके वनसे कमलोंकी सुगन्ध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सब ओर बह रहा है ॥१४०॥ इसलिए हे देव, स्पष्ट ही यह तेरे जागनेका समय आ गया है। अतएव जिस प्रकार हंसिनी बालूके टीलेको छोड़ देती है उसी प्रकार तू भी अब अपनी निर्मल शय्या छोड़ ॥१४१॥ तेरा प्रभात सदा मंगलमय हो, तू सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त हो और जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्यको उत्पन्न करती है उसी प्रकार तू भी तीन लोकको प्रकाशित करनेवाले पुत्रको उत्पन्न कर ॥१४२॥ यद्यपि वह मरुदेवी स्वप्न देखनेके कारण, बन्दीजनोंके मंगल-गानसे बहुत पहले ही जाग चुकी थी, तथापि उन्होंने उसे फिरसे जगाया। इस प्रकार जागृत होकर उसने समस्त संसारको आनन्दमय देखा ॥१४३॥ शुभ स्वप्न देखनेसे जिसे अत्यन्त आनन्द हो रहा है ऐसी जागी हुई मरुदेवी फूली हुई कमलिनीके समान कण्टकित अर्थात् रोमाञ्चित (पक्षमें काँटोंसे व्याप्त) शरीर धारण कर रही थी ॥१४४॥

---

१. खण्डे अ०, म०, द०, ग०, ल० । २ विकसनशीलम् । ३. विधुत स०, ल० । ४. उदयेन । ५ प्रकाशितम् । ६ आवाति । ७ शोभनं प्रातःकाल्यं यस्मात् तत् । ८ 'षू प्राणिप्रसवे' लिट् । ९. निर्भरा ल० ।

ततस्तद्दर्शनानन्दं वोढुं स्वाङ्गेष्विवाक्षमा । कृतमङ्गलनेपथ्या सा भेजे पत्युरन्तिकम् ॥१४५॥
उचितेन नियोगेन दृष्ट्वा सा नाभिभूभुजम् । तस्मै नृपासनस्थाय सुखासीना न्यजिज्ञपत् ॥१४६॥
देवाद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडश स्वप्नानिमानत्यद्भुतोदयान् ॥१४७॥
गजेन्द्रमवदाताङ्गं वृषभं दुन्दुभिस्वनम्[1] । सिंहमुल्लङ्घिताद्र्यग्रं लक्ष्मीं स्नाप्यां सुरद्विपैः ॥१४८॥
दामनी लम्बमाने खे शीतांशुं द्योतिताम्बरम् । प्रोद्यन्तमब्जिनीबन्धुं बन्धुरं झषयुग्मकम् ॥१४९॥
कलशावमृतापूर्णौ सरः स्वच्छाम्बु साम्बुजम् । वाराशिं क्षुभितावर्त्तं सैंहं भासुरमासनम् ॥१५०॥
विमानमापतत् स्वर्गाद् भुवो[2] भवनमुद्भवत्[3] । रत्नराशिं स्फुरद्रश्मिं ज्वलनं प्रज्वलद्द्युतिम् ॥१५१॥
दृष्ट्वैतान् षोडशस्वप्नानथाद्राक्षं महीपते । वदनं मे विशन्तं तं गवेन्द्रं कनकच्छविम् ॥१५२॥
वदैतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते । अपूर्वदर्शनात् कस्य न स्यात् कौतुकवन्मनः ॥१५३॥
अथासाववधिज्ञानविबुद्धस्वप्नसत्फलः । प्रोवाच तत्फलं देव्यै लसद्दशनदीधितिः ॥१५४॥
शृणु देवि महान् पुत्रो भविता ते गजेक्षणात् । समस्तभुवनज्येष्ठो महावृषभदर्शनात् ॥१५५॥
सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत् । लक्ष्म्याभिषेकमाप्तासौ[4] मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमैः ॥१५६॥
पूर्णेन्दुना जनाह्लादी भास्वता भास्वरद्युतिः । कुम्भाभ्यां निधिभागी स्यात् सुखी मत्स्ययुगेक्षणात्॥१५७॥
सरसा लक्षणोद्भासी सोऽब्धिना केवली भवेत् । सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगद्गुरुः ॥१५८॥

तदनन्तर वह मरुदेवी स्वप्न देखनेसे उत्पन्न हुए आनन्दको मानो अपने शरीरमें धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हुई थी इसीलिए वह मंगलमय स्नान कर और वस्त्राभूषण धारण कर अपने पतिके समीप पहुँची ॥१४५॥ उसने वहाँ जाकर उचित विनयसे महाराज नाभिराजके दर्शन किये और फिर सुखपूर्वक बैठकर, राज्यसिंहासनपर बैठे हुए महाराजसे इस प्रकार निवेदन किया ॥१४६॥ हे देव, आज मैं सुखसे सो रही थी, सोते ही सोते मैंने रात्रिके पिछले भागमें आश्चर्यजनक फल देनेवाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥१४७॥ स्वच्छ और सफेद शरीर धारण करनेवाला ऐरावत हाथी, दुन्दुभिके समान शब्द करता हुआ बैल, पहाड़की चोटीको उल्लंघन करनेवाला सिंह, देवोंके हाथियों-द्वारा नहलायी गयी लक्ष्मी, आकाशमें लटकती हुई दो मालाएँ, आकाशको प्रकाशमान करता हुआ चन्द्रमा, उदय होता हुआ सूर्य, मनोहर मछलियोंका युगल, जलसे भरे हुए दो कलश, स्वच्छ जल और कमलोंसे सहित सरोवर, क्षुभित और भँवरसे युक्त समुद्र, देदीप्यमान सिंहासन, स्वर्गसे आता हुआ विमान, पृथिवीसे प्रकट होता हुआ नागेन्द्रका भवन, प्रकाशमान किरणोंसे शोभित रत्नोंकी राशि और जलती हुई देदीप्यमान अग्नि। इन सोलह स्वप्नोंको देखनेके बाद हे राजन्, मैंने देखा है कि एक सुवर्णके समान पीला बैल मेरे मुखमें प्रवेश कर रहा है। हे देव, आप इन स्वप्नोंका फल कहिए। इनके फल सुननेकी मेरी इच्छा निरन्तर बढ़ रही है सो ठीक ही है अपूर्व वस्तुके देखनेसे किसका मन कौतुक-युक्त नहीं होता है ? ॥१४८-१५३॥ तदनन्तर, अवधिज्ञानके द्वारा जिन्होंने स्वप्नोंका उत्तम फल जान लिया है और जिनकी दाँतोंकी किरणें अतिशय शोभायमान हो रही हैं ऐसे महाराज नाभिराज मरुदेवीके लिए स्वप्नोंका फल कहने लगे ॥१५४॥ हे देवि, सुन, हाथीके देखनेसे तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखनेसे वह समस्त लोकमें ज्येष्ठ होगा ॥१५५॥ सिंहके देखनेसे वह अनन्त बलसे युक्त होगा, मालाओंके देखनेसे समीचीन धर्मके तीर्थ (आम्नाय) का चलानेवाला होगा, लक्ष्मीके देखनेसे वह सुमेरु पर्वतके मस्तकपर देवोंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होगा ॥१५६॥ पूर्ण चन्द्रमाके देखनेसे समस्त लोगोंको आनन्द देनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे देदीप्यमान प्रभाका धारक होगा, दो कलश देखनेसे अनेक निधियोंको प्राप्त होगा, मछलियोंका युगल देखनेसे सुखी होगा ॥१५७॥ सरोवरके देखनेसे अनेक लक्षणोंसे शोभित होगा, समुद्रके देखनेसे केवली होगा, सिंहासनके देखनेसे जगत्‌का गुरु होकर साम्राज्य-

---

१ वृषं दुन्दुभिनिःस्वनम् अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २. भूमेः सकाशात् । ३ नागालयम् । ४. प्राप्स्यति । –माप्तोऽसौ अ०, प०, स०, म०, ल० ।

स्वर्विमानावलोकेन स्वर्गादवतरिष्यति । फणीन्द्रभवनालोकात् सोऽवधिज्ञानलोचनः ॥१५९॥
गुणानामाकरः प्रोद्यद्रत्नराशिनिशामनात्[1] । [2]कर्मेन्धन[3]मगप्येष निर्धूमज्वलनेक्षणात् ॥१६०॥
वृषभाकारमादाय [4]भवत्यास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे वृषभो देवः [5]स्वमाधास्यति[6] निर्मले ॥१६१॥
इति तद्वचनाद् देवी [7]दधे रोमाञ्चितं वपुः । हर्षाङ्कुरैरिवाकीर्णं परमानन्दनिर्भरम् ॥१६२॥
[8]तदाप्रभृति सुत्रामशासनात्ता सिषेविरे । दिक्कुमार्योऽनुचारिण्यः[9] तत्कालोचितकर्मभिः ॥१६३॥

को प्राप्त करेगा ॥ १५८ ॥ देवोंका विमान देखनेसे वह स्वर्गसे अवतीर्ण होगा, नागेन्द्रका भवन देखनेसे अवधि-ज्ञान रूपी लोचनोंसे सहित होगा ॥ १५९ ॥ चमकते हुए रत्नोंकी राशि देखनेसे गुणोंकी खान होगा, और निर्धूम अग्निके देखनेसे कर्मरूपी इन्धनको जलानेवाला होगा ॥ १६० ॥ तथा तुम्हारे मुखमें जो वृषभने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भमें भगवान् वृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥ १६१ ॥ इस प्रकार नाभिराजके वचन सुनकर उसका सारा शरीर हर्षसे रोमांचित हो गया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो परम आनन्दसे निर्भर होकर हर्षके अंकुरोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १६२ ॥ [*जब अवसर्पिणी कालके तीसरे सुषमदुःषम नामक कालमें चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष बाकी रह गया था तब आषाढ कृष्ण द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें वज्र-नाभि अहमिन्द्र, देवायुका अन्त होनेपर सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत होकर मरुदेवीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ और वहाँ सीपके सम्पुटमें मोतीकी तरह सब बाधाओंसे निर्मुक्त होकर स्थित हो गया ॥१-३॥ उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होनेवाले चिह्नोंसे भगवान्‌के गर्भावतारका समय जानकर वहाँ आये और सभीने नगरकी प्रदक्षिणा देकर भगवान्‌के माता-पिताको नमस्कार किया ॥४॥ सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने देवोंके साथ-साथ संगीत प्रारम्भ किया। उस समय कहीं गीत हो रहे थे, कहीं बाजे बज रहे थे और कहीं मनोहर नृत्य हो रहे थे ॥५॥ नाभिराजके महलका आँगन स्वर्गलोकसे आये हुए देवोंके द्वारा खचाखच भर गया था। इस प्रकार गर्भकल्याणकका उत्सव कर वे देव अपने-अपने स्थानोंपर वापस चले गये ॥६॥] उसी समयसे लेकर इन्द्रकी आज्ञासे दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्योंके द्वारा दासियोंके समान मरुदेवीकी सेवा करने लगीं ॥१६३॥

१ दर्शनात् । २. कर्मेन्धनहरोऽप्येष अ०, प० । ३. कर्मेन्धनदाही । ४ भवत्यास्य तव मुख । ५. स्वम् आत्मानम् । ६ धारयिष्यति । ७. दध्रे प० । ८ १६२श्लोकादनन्तरम् अ०, प०, स०, द०, म०, ल० पुस्तकेष्वयमस्तन पाठोऽधिको दृश्यते । अयं पाठ 'त० ब०' पुस्तकयोर्नास्ति । प्रायेणान्येष्वपि कर्णाटकपुस्तकेषु नास्त्यय पाठ । कर्णाटकपुस्तकेष्वज्ञातेन केनचित् कारणेन त्रुटितोऽप्यय पाठः प्रकरणसंगत्यर्थमावश्यकः प्रति-भाति । स च पाठ ईदृश.—एष श्लोको हरिवंशपुराणस्याष्टमसर्गे सप्तनवतितमः श्लोको वर्तते । तृतीयकाल-शेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥१॥ अवतीर्य युगाद्यन्ते ह्यखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयाया सुरोत्तम. ॥२॥ उत्तराषाढनक्षत्रे देव्या गर्भसमाश्रित । स्थितो यथा विबाधोऽसौ मौक्तिक शुक्तिसम्पुटे ॥३॥ ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नेन सर्वेऽप्याशु सुरेश्वरा । पुरु प्रदक्षिणीकृत्य तद्गुरूश्च ववन्दिरे ॥४॥ सगीतकं समारब्धं वज्रिणा हि सहामरै । क्वचिद्गीत क्वचिद्वाद्य क्वचिन्नृत्य मनोहरम् ॥५॥ तत्प्राङ्गण समाक्रान्त नाकलोकैरिहागतै । कृत्वागर्भककल्याण पुनर्जग्मुर्यथायथम् ॥६॥ अय पाठ 'प' पुस्तकस्थ । 'द' पुस्तके द्वितीयश्लोकस्य 'युगाद्यन्ते' इत्यस्य स्थाने 'सुरायन्ते' इति पाठो विद्यते तस्य सिद्धिश्च संस्कृतटीकाकारेण शकन्ध्वादित्वात् पररूप विधाय विहिता । 'अ०, स०' पुस्तकयोर्निम्नाङ्कित पाठोऽस्ति प्रथमद्वितीयश्लोकस्थाने—'पूर्वलक्षेषु कालेऽसौ शेषे चतुरशीतिके । तृतीये हि त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुते सति ॥१॥ आयुरन्ते ततश्च्युत्वा ह्यखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयाया सुरोत्तम ॥२॥) ९ चेटच. ।

*कोष्ठकके भीतरका पाठ अ०, प०, द०, स०, म० और ल० प्रतिके आधारपर दिया है। कर्णाटकको 'त०' 'ब०' तथा 'ट' प्रतिमें यह पाठ नहीं पाया जाता है।

श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः । श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुतिबोधं च वैभवम् ॥१६४॥
तस्यामादधुरभ्यर्णवर्तिन्यः स्वानिमान् गुणान् । तत्संस्काराच्च सा रेजे संस्कृतेवाग्निना मणिः ॥१६५॥
तास्तस्याः परिचर्यायां गर्भशोधनमादितः । प्रचक्रुः शुचिभिर्द्रव्यैः स्वर्गलोकादुपाहृतैः[1] ॥१६६॥
स्वभावनिर्मला चार्वी भूयस्ताभिर्विशोधिता । सा शुचिस्फटिकेनेव घटिताङ्गी तदा बभौ ॥१६७॥
काश्चिन्मङ्गलधारिण्यः काश्चित्ताम्बूलदायिकाः । काश्चिन्मज्जनपालिन्यः काश्चिच्चासन्[2] प्रसाधिकाः ॥१६८॥
काश्चिन्महानसे युक्ता शय्याविरचने पराः । [3]पादसंवाहने काश्चित् काश्चिन्माल्यैरुपाचरन्[4] ॥१६९॥
[5]प्रसाधनविधौ काचित् स्पृशन्ती तन्मुखाम्बुजम् । सानुरागं व्यधात् सौरी[6] प्रभेवाब्जं[7] सरोरुहं ॥१७०॥
ताम्बूलदायिका[8] काचिद् बभौ पत्रैः करस्थितैः । शुकाध्यासितशाखाग्रा लतेवामरकामिनी ॥१७१॥
काचिदाभरणान्यस्यै ददती मृदुपाणिना । विबभौ कल्पवल्लीव शाखाग्रोद्भिन्न[9]भूषणाः ॥१७२॥
वासः क्षौमं[10] स्रजो दिव्याः सुमनोमञ्जरीरपि । तस्यै समर्पयामासुः काश्चित् कल्पलता इव ॥१७३॥
काचित् [11]सौगन्धिकाहूतद्विरेफैरनुलेपनैः । स्वकरस्थैः कृतामोदाद् [12]गन्धैर्युक्तिरिवारुचत् ॥१७४॥

श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन षट्कुमारी देवियोंने मरुदेवीके समीप रहकर उसमें क्रमसे अपने-अपने शोभा, लज्जा, धैर्य, स्तुति, बोध और विभूति नामक गुणोंका संचार किया था। अर्थात् श्री देवीने मरुदेवीकी शोभा बढ़ा दी, ह्री देवीने लज्जा बढ़ा दी, धृति देवीने धैर्य बढ़ाया, कीर्ति देवीने स्तुति की, बुद्धि देवीने बोध (ज्ञान) को निर्मल कर दिया और लक्ष्मी देवीने विभूति बढ़ा दी। इस प्रकार उन देवियोंके सेवा-सत्कारसे वह मरुदेवी ऐसी सुशोभित होने लगी थी जैसे कि अग्निके संस्कारसे मणि सुशोभित होने लगता है ॥१६४-१६५॥ परिचर्या करते समय देवियोंने सबसे पहले स्वर्गसे लाये हुए पवित्र पदार्थोंके द्वारा माताका गर्भ शोधन किया था ॥१६६॥ वह माता प्रथम तो स्वभावसे ही निर्मल और सुन्दर थी इतनेपर देवियोंने उसे विशुद्ध किया था। इन सब कारणोंसे वह उस समय ऐसी शोभायमान होने लगी थी मानो उसका शरीर स्फटिक मणिसे ही बनाया गया हो ॥१६७॥ उन देवियोंमें कोई तो माताके आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करती थीं, कोई उसे ताम्बूल देती थीं, कोई स्नान कराती थीं और कोई वस्त्राभूषण आदि पहनाती थीं ॥१६८॥ कोई भोजनशालाके काममें नियुक्त हुईं, कोई शय्या बिछानेके काममें नियुक्त हुईं, कोई पैर दाबनेके काममें नियुक्त हुईं और कोई तरह-तरहकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ पहनाकर माताकी सेवा करनेमें नियुक्त हुईं ॥१६९॥ जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा कमलिनीके कमलका स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (लालीसहित) कर देती है उसी प्रकार शृङ्गारित करते समय कोई देवी मरुदेवीके मुखका स्पर्श कर उसे अनुरागसहित (प्रेमसहित) कर रही थी ॥१७०॥ ताम्बूल देनेवाली देवी हाथमें पान लिये हुए ऐसी सुशोभित होती थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर तोता बैठा हो ऐसी कोई लता ही हो ॥१७१॥ कोई देवी अपने कोमल हाथसे माताके लिए आभूषण दे रही थी जिससे वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो जिसकी शाखाके अग्रभागपर आभूषण प्रकट हुए हों ऐसी कल्पलता ही हो ॥१७२॥ मरुदेवीके लिए कोई देवियाँ कल्पलताके समान रेशमी वस्त्र दे रही थीं, कोई दिव्य मालाएँ दे रही थीं ॥१७३॥ कोई देवी अपने हाथपर रखे हुए सुगन्धित द्रव्योंके विलेपनसे मरुदेवीके शरीरको सुवासित कर रही थी। विलेपनकी सुगन्धिके

---

१. आनीतैः । २ अलङ्कारे नियुक्ताः । ३ पादमर्दने । ४ उपचारमकुर्वन् । ५. अलङ्कारविधाने । ६ सूर्यस्येय मौरी । ७. सरोजिन्याः । सरोवरे प० । –वाब्ज सरोरुहम् म० । –वाब्जमरोरुहम् अ० । ८ ताम्बूलदायिनी द०, स०, म०, ल० । ९ उद्भिन्न उद्भूत । १०. दुकूलम् । ११ सौगन्धिकाः सौगन्ध्याः । सौगन्धिकाहूत सुगन्धसमूहाहूत । 'क्वचिद्हस्त्यचित्ताच्च ठणीति ठणि' अथवा 'सुगन्धाहूतविनयादिभ्य' इति स्वार्थे ठण् । १२. गन्धसमष्टि । गन्धद्रव्यकरणप्रतिपादकशास्त्रविशेष ।

अङ्गरक्षाविधौ काश्चिदुत्खातासिलता बभुः । सरस्य इव विभ्रस्तपाठीनाः सुरयोषितः ॥१७५॥
संममार्जुर्महीं काश्चिदाकीर्णां पुष्परेणुभिः । तद्गन्धासङ्गिनो भृङ्गानाधुनानाः स्तनांशुकैः ॥१७६॥
कुर्वन्ति स्मापराः सान्द्रचन्दनच्छटयोक्षिताम्[1] । क्षितिमार्द्रांशुकैरन्याः निर्समार्जुरतन्द्रिताः ॥१७७॥
कुर्वते [2]बलिविन्यासं रत्नचूर्णैः पुरोऽपराः । पुष्पैरुपहरन्त्यन्यास्तताम[?]मोदैर्द्रुशालिनाम्[3] ॥१७८॥
काश्चिद्दर्शितदिव्यानुभावाः [4]प्रच्छन्नविग्रहाः । नियोगैरुचितैरेनामनारतमुपाचरन् ॥१७९॥
प्रभातरलितां काश्चिद् दधानास्तनुयष्टिकाम् । सौदामिन्य इवानिन्युरुचितं रुचितं च यत् ॥१८०॥
काश्चिदन्तर्हिता[5] देव्यो देव्यै दिव्यानुभावतः । स्रजमंशुकमाहारं भूषां चास्यै समर्पयन् ॥१८१॥
अन्तरिक्षस्थिताः काश्चिदनालक्षितमूर्तयः । यत्नेन रक्ष्यतां देवीत्युच्चैर्गिरमुदाहरन्[6] ॥१८२॥
[7]गतेष्वंशुकसंधानमा[8] [9]सितेष्वासना[10] हृतिम् । [11]स्थितेषु परितः सेवां चक्रुरस्याः सुराङ्गनाः ॥१८३॥
काश्चिदुच्चिक्षिपु[12]र्ज्योतिस्तरला मणिदीपिकाः । निशामुखेषु[*] [13]हर्म्याग्राद् विधुन्वानास्तमोऽभितः ॥१८४॥
काश्चिन्नीराजयामासुरुचितैर्बलिकर्मभिः । [14]न्यास्थन्मन्त्राक्षरैः काश्चिदस्यै रक्षामुपाक्षिपन्[15] ॥१८५॥

कारण उस देवीके हाथपर अनेक भौंरे आकर गुंजार करते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो सुगन्धित द्रव्योंकी उत्पत्ति आदिका वर्णन करनेवाले गन्धशास्त्रकी युक्ति ही हो ॥१७४॥ माताकी अंग-रक्षाके लिए हाथमें नंगी तलवार धारण किये हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो जिनमें मछलियाँ चल रही हैं ऐसी सरसी (तलैया) ही हों ॥१७५॥ कितनी ही देवियाँ पुष्पकी परागसे भरी हुई राजमहलकी भूमिको बुहार रही थीं और उस परागकी सुगन्धसे आकर इकट्ठे हुए भौंरोंको अपने स्तन ढकनेके वस्त्रसे उड़ाती भी जाती थीं ॥१७६॥ कितनी ही देवियाँ आलस्यरहित होकर पृथिवीको गीले कपड़ेसे साफ कर रही थीं और कितनी ही देवियाँ घिसे हुए गाढ़े चन्दनसे पृथिवीको सींच रही थीं ॥१७७॥ कोई देवियाँ माताके आगे रत्नोंके चूर्णसे रंगावलीका विन्यास करती थीं—रंग-विरंगे चौक पूरती थीं, बेल-बूटा खींचती थीं और कोई सुगन्धि फैलानेवाले, कल्पवृक्षोंके फूलोंसे माताकी पूजा करती थीं—उन्हें फूलोंका उपहार देती थीं ॥१७८॥ कितनी ही देवियाँ अपना शरीर छिपाकर दिव्य प्रभाव दिखलाती हुई योग्य सेवाओंके द्वारा निरन्तर माताकी शुश्रूषा करती थीं ॥१७९॥ बिजलीके समान प्रभासे चमकते हुए शरीरको धारण करनेवाली कितनी ही देवियाँ माताके योग्य और अच्छे लगनेवाले पदार्थ लाकर उपस्थित करती थीं ॥१८०॥ कितनी ही देवियाँ अन्तर्हित होकर अपने दिव्य प्रभावसे माताके लिए माला, वस्त्र, आहार और आभूषण आदि देती थीं ॥१८१॥ जिनका शरीर नहीं दिख रहा है ऐसी कितनी ही देवियाँ आकाशमें स्थित होकर बड़े जोरसे कहती थीं कि माता मरुदेवीकी रक्षा बड़े ही प्रयत्नसे की जाये ॥१८२॥ जब माता चलती थीं तब वे देवियाँ उसके वस्त्रोंको कुछ ऊपर उठा लेती थीं, जब बैठती थीं तब आसन लाकर उपस्थित करती थीं और जब खड़ी होती थीं तब सब ओर खड़ी होकर उनकी सेवा करती थीं ॥१८३॥ कितनी ही देवियाँ रात्रिके प्रारम्भकालमें राजमहलके अग्रभागपर अतिशय चमकीले मणियोंके दीपक रखती थीं। वे दीपक सब ओरसे अन्धकारको नष्ट कर रहे थे ॥१८४॥ कितनी ही देवियाँ सायंकालके समय योग्य वस्तुओंके द्वारा माताकी आरती उतारती थीं, कितनी ही देवियाँ दृष्टिदोष दूर करनेके लिए उतारना उतारती थीं और कितनी ही

१. प्रोक्षिताम्, सिक्तामित्यर्थः । २. रङ्गबलिरचनाम् । ३. कल्पवृक्षाणाम् । ४. मनुष्यदेहधारिणः । ५. अन्तर्धानं गताः । ६. वदन्ति स्म । ७. गमनेषु । ८. वस्त्रप्रसरणम् । ९. उपवेशनेषु । १०. पीठानयनम् । ११. स्थानेषु । १२. उज्ज्वालयन्ति स्म । १३. प्रासादाग्रमारुह्य । १४. न्यस्यन्ति स्म । १५. निक्षिपन्ति स्मेत्यर्थः । *गुणक्षयम् द०, स०, म०, ट० । उपक्षणं रात्रिमुखे ।

नित्यजागरितैः काश्चित् निमेषालसलोचनाः[1] । [2]उपासांचक्रिरे[3] नक्तं तां देव्यो विधृतायुधाः ॥१८६॥
कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा । कथागोष्ठीभिरन्येद्युर्देव्यस्तस्यै धृतिं दधुः ॥१८७॥
कदाचिद् गीतगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा । कर्हिचिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पर्यु[4]पासत ॥१८८॥
काश्चित् प्रेक्षणगोष्ठीषु[5] सलीलानर्तितभ्रुवः । [6]वर्धमानलयैर्नेटु[7]साङ्गहारा सुराङ्गनाः ॥१८९॥
काश्चिन्नृत्तविनोदेन[8] रेजिरे कृतरेचकाः[9] । नभोरङ्गे[10] विलोलाङ्गयः सौदामिन्य इवोद्रुचः[11] ॥१९०॥
काश्चिदारचितैः स्थानैर्भुवि विक्षिप्तबाहवः । शिक्षमाणा इवानङ्गाद् धनुर्वेदं[12] जगज्जये ॥१९१॥
पुष्पाञ्जलिं किरन्त्येका[13] परितो रङ्गमण्डलम् । मदनग्रहमावेशं योक्तुकामेव लक्षिता ॥१९२॥
तदुरोजसरोजातमुकुलानि चकम्पिरे । [14]अनुनर्तितुमेतासामिव नृत्तं कुतूहलात् ॥१९३॥
अपाङ्गशरसन्धानैर्भ्रूलताचापकर्षणैः । [15]धनुर्गुणनिकेवासीत् नृत्तगोष्ठी मनोभुवः ॥१९४॥
स्मितमुद्भिन्नदन्तांशु पाठ्यं कलमनाकुलम् । सापाङ्गवीक्षितं चक्षुः सलयश्च[16] परिक्रमः ॥१९५॥
इतीदमन्यदप्यासां[17] धत्तेऽनङ्गशराङ्गताम् । किमङ्ग संगतं[18] भावै[19]राङ्गिकैरसतां[20] गतैः ॥१९६॥

देवियाँ मन्त्राक्षरोंके द्वारा उसका रक्षाबन्धन करती थीं ॥१८५॥ निरन्तरके जागरणसे जिनके नेत्र टिमकाररहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ रातके समय अनेक प्रकारके हथियार धारण कर माताकी सेवा करती थीं अथवा उनके समीप बैठकर पहरा देती थीं ॥१८६॥ वे देवांगनाएँ कभी जलक्रीड़ासे और कभी वनक्रीड़ासे, कभी कथा-गोष्ठीसे (इकट्ठे बैठकर कहानी आदि कहनेसे) उन्हें सन्तुष्ट करती थीं ॥१८७॥ वे कभी संगीतगोष्ठीसे, कभी वादित्रगोष्ठीसे और कभी नृत्यगोष्ठीसे उनकी सेवा करती थीं ॥१८८॥ कितनी ही देवियाँ नेत्रोंके द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट करनेवाली गोष्ठियोंमें लीलापूर्वक भौंह नचाती हुई और बढ़ते हुए लयके साथ शरीरको लचकाती हुई नृत्य करती थीं ॥१८९॥ कितनी ही देवियाँ नृत्यक्रीड़ाके समय आकाशमें जाकर फिरकी लेती थीं और वहाँ अपने चंचल अंगों तथा शरीरकी उत्कृष्ट कान्तिसे ठीक बिजलीके समान शोभायमान होती थीं ॥१९०॥ नृत्य करते समय नाट्य-शास्त्रमें निश्चित किये हुए स्थानोंपर हाथ फैलाती हुई कितनी ही देवियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जगत्को जीतनेके लिए साक्षात् कामदेवसे धनुर्वेद ही सीख रही हों ॥१९१॥ कोई देवी रंग-बिरंगे चौकके चारों ओर फूल बिखेर रही थी और उस समय वह ऐसी मालूम होती थी मानो चित्रशालामें कामदेवरूपी ग्रहको नियुक्त ही करना चाहती हो ॥१९२॥ नृत्य करते समय उन देवांगनाओंके स्तनरूपी कमलोंकी बोंड़ियाँ भी हिल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन देवांगनाओंके नृत्यका कौतूहलवश अनुकरण ही कर रही हों ॥१९३॥ देवांगनाओंकी उस नृत्यगोष्ठीमें बार-बार भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे और उनपर बार-बार कटाक्षरूपी बाण चढ़ाये जाते थे जिससे वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवकी धनुषविद्याका किया हुआ अभ्यास ही हो ॥१९४॥ नृत्य करते समय वे देवियाँ दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई मुसकराती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गाना गाती थीं, नेत्रोंसे कटाक्ष करती हुई देखती थीं और लयके साथ फिरकी लगाती थीं, इस प्रकार उन देवियोंका वह नृत्य तथा हाव-भाव आदि अनेक प्रकारके विलास, सभी कामदेवके बाणोंके सहायक बाण मालूम होते थे और रसिकताको प्राप्त हुई शरीरसम्बन्धी चेष्टाओंसे मिले हुए उनके शरीरका तो कहना ही क्या है—वह तो हरएक प्रकारसे

१. निमेषालस–निर्निमेष। २ सेवा चक्रुः। ३ रजन्याम्। ४ सेवा चक्रिरे। ५. प्रेक्षण–समुदायनृत्य। ६. तालवृद्धि। ७ अङ्गविक्षेपसहिता। ८. –विनोदेषु अ०, प०, म०, म०, द०, ल०। ९ कृतवल्गनाः। १० नभोभागे अ०, म०, द०, स०। ११ उद्गतप्रभा। १२. चापविद्याम्। १३ किरत्येका अ०, म०। १४. अनुवर्तितु–प०, द०, म०, ल०। १५ अभ्यास। १६ पादविक्षेप। १७. इतीदमन्ययाप्यासा प०, अ०, द०, स०। १८. संयुक्तं चेत्। १९ चेष्टितैः। २० रसिकत्वम्।

[1]चारिभिः करणैश्चित्रैः[2] साङ्गहारैश्च रेचकैः[3] । मनोऽस्याः सुरनर्तक्यश्चक्रुः संप्रेक्षणोत्सुकम् ॥१९७॥
काश्चित् संगीतगोष्ठीषु[4] दरोद्भिन्नस्मितैर्मुखैः । बभुः पद्मैरिवाब्जिन्यो विरलोद्भिन्नकेसरैः ॥१९८॥
काश्चिदोष्ठाग्रसंदष्टवेणवोऽणुभ्रुवो बभुः । मदनाग्निमिवाध्मातुं[5] कृतयत्नाः सफूत्कृतम् ॥१९९॥
वेणुध्मा[6] वैणवीर्यष्टीर्[7]मार्जन्त्यः करपल्लवैः । चित्रं पल्लवितांश्चक्रुः प्रेक्षकाणां मनोद्रुमान् ॥२००॥
संगीतकविधौ काश्चित् स्पृशन्त्यः[8] परिवादिनीः[9] । कराङ्गुलीभिरातेनुर्गानमामन्द्रमूर्च्छनाः ॥२०१॥
तन्त्र्यो मधुरमारेणु[10]स्तत्कराङ्गुलिताडिताः । अयं तान्त्रो[11] गुणः कोऽपि ताडनाद् याति यद्वशम् ॥२०२॥
वंशैः संदष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदम् । वीणालाबुभि[12]राश्लेषि घनं तत्स्तनमण्डलम् ॥२०३॥
मृदङ्गवादने काश्चिद् बभुरुत्क्षिप्तबाहवः । तत्कलाकौशले श्लाघां कर्तुकामा इवात्मनः ॥२०४॥
मृदङ्गास्तत्करस्पर्शात् तदा मन्द्रं विसस्वनुः । तत्कलाकौशलं तासामुत्कुर्वाणा[13] इवोच्चकैः ॥२०५॥

अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ता था ॥१९५-१९६॥ वे नृत्य करनेवाली देवियाँ अनेक प्रकारकी गति, तरह-तरहके गीत अथवा नृत्यविशेष, और विचित्र शरीरकी चेष्टासहित फिरकी आदिके द्वारा माताके मनको नृत्य देखनेके लिए उत्कण्ठित करती थीं ॥१९७॥ कितनी ही देवांगनाएँ संगीतगोष्ठियोंमें कुछ-कुछ हँसते हुए मुखोंसे ऐसी सुशोभित होती थीं जैसे कुछ-कुछ विकसित हुए कमलोंसे कमलिनियाँ सुशोभित होती हैं ॥१९८॥ जिनकी भौंहें बहुत ही छोटी-छोटी हैं ऐसी कितनी ही देवियाँ ओठोंके अग्रभागसे वीणा दबाकर बजाती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो फूँककर कामदेवरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए ही प्रयत्न कर रही हों ॥१९९॥ यह एक बड़े आश्चर्यकी बात थी कि वीणा बजानेवाली कितनी ही देवियाँ अपने हस्तरूपी पल्लवोंसे वीणाकी लकडीको साफ करती हुई देखनेवालोंके मनरूपी वृक्षोंको पल्लवित अर्थात् पल्लवोंसे युक्त कर रही थीं। (पक्षमें हर्षित अथवा श्रृंगार रससे सहित कर रही थीं।) भावार्थ—उन देवाङ्गनाओंके हाथ पल्लवोंके समान थे, वीणा बजाते समय उनके हाथरूपी पल्लव वीणाकी लकड़ी अथवा उसके तारोंपर पड़ते थे। जिससे वह वीणा पल्लवित अर्थात् नवीन पत्तोंसे व्याप्त हुई-सी जान पड़ती थी परन्तु आचार्यने यहाँपर वीणाको पल्लवित न बताकर देखनेवालोंके मनरूप वृक्षोंको पल्लवित बतलाया है जिससे विरोधमूलक अलंकार प्रकट हो गया है, परन्तु पल्लवित शब्दका हर्षित अथवा श्रृङ्गार रससे सहित अर्थ बदल देनेपर वह विरोध दूर हो जाता है। संक्षेपमें भाव यह है कि वीणा बजाते समय उन देवियोंके हाथों-की चंचलता, सुन्दरता और बजानेकी कुशलता आदि देखकर दर्शक पुरुषोंका मन हर्षित हो जाता था ॥२००॥ कितनी ही देवियाँ संगीतके समय गम्भीर शब्द करनेवाली वीणाओंको हाथ-की अँगुलियोंसे बजाती हुई गा रही थीं ॥२०१॥ उन देवियोंके हाथकी अँगुलियोंसे ताड़ित हुई वीणाएँ मनोहर शब्द कर रही थीं सो ठीक ही है वीणाका यह एक आश्चर्यकारी गुण है कि ताड़नसे ही वश होती है ॥२०२॥ उन देवांगनाओंके ओठोंको वंशों (बाँसुरी)के द्वारा डसा हुआ देखकर ही मानो वीणाओंके तूँबे उनके कठिन स्तनमण्डलसे आ लगे थे। भावार्थ—वे देवियाँ मुँहसे बाँसुरी और हाथसे वीणा बजा रही थीं ॥२०३॥ कितनी ही देवियाँ मृदंग बजाते समय अपनी भुजाएँ ऊपर उठाती थीं जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो उस कला-कौशलके विषयमें अपनी प्रशंसा ही करना चाहती हों ॥२०४॥ उस समय उन बजानेवाली देवियोंके हाथके स्पर्शसे वे मृदंग गम्भीर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो

---

१ चारुभिः द०, स० । चारिभिः गतिविशेषैः । २. पुष्पघटादिभि । ३ वल्गनैः । ४ दरोद्भिन्न –ईषदुद्भिन्न । ५. सधुक्षितुम् । ६. वैणविका । ७. वेणोरिमाः । ८. –ससृत्य अ०, स०, म०, ल० । ९ सप्ततन्त्री वीणा । 'तन्त्रीभि. सप्तभि परिवादिनी' इत्यभिधानात् । १०. ध्वनन्ति स्म । ११. औपध-सम्बन्धी तन्त्रीसम्बन्धी च । १२. अलावु–तुम्बी । –लाम्बुभि. प० । १३. उत्कर्षं कुर्वाणाः ।

मृदङ्गा[1] न वयं सत्यं पश्यतास्मान् हिरण्मयान्। इतीवारसित[2] चक्रुस्ते मुहुस्तत्कराहता ॥२०६॥
मुरवा[3] कुरवा[4] नैते वदनीया कृतश्रमम्। इतीव सस्वनुर्मन्द्रं पणवाद्या सुरानका ॥२०७॥
प्रभातमङ्गले काश्चित् शङ्खानाध्मासिषु.[5] पृथून्। [6]स्वकरोत्पीडनं सोढुमक्षमानिव सारवान्[7] ॥२०८॥
काश्चित् प्राबोधिकैस्तूर्यै. सममुत्तालतालकै.। जगु. कलं च मन्द्रं च मङ्गलानि सुराङ्गना ॥२०९॥
इति तत्कृतया देवी स वमौ परिचर्यया। त्रिजगच्छ्रीरिवैकध्यमु[8]पनीता कथंचन ॥२१०॥
दिक्कुमारीभिरित्यात्तसभ्रमं समुपासिता। तत्प्रभावैरिवाविष्टे.[9] सा बभार परां श्रियम् ॥२११॥
[10]अन्तर्वत्नीमथाभ्यर्णे नवमे मासि सादरम्। विशिष्टकाव्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तामित्यरञ्जयन् ॥२१२॥
[11]निगूढार्थक्रियापादै बिन्दुमात्राक्षरच्युतैः[12]। देव्यस्तां रञ्जयामासु श्लोकैरन्यैश्च कैश्चन ॥२१३॥
किमिन्दुरेको लोकेऽस्मिन् त्वयाम्ब मृदुरीक्षित। आछिनत्सि बलादस्य[13] यदशेषं कलाधनम् ॥२१४॥

ऊँचे स्वरसे उन बजानेवाली देवियोंके कला-कौशलको ही प्रकट कर रहे हों ॥२०५॥ उन देवियोंके हाथसे बार-बार ताड़ित हुए मृदंग मानो यही ध्वनि कर रहे थे कि देखो, हम लोग ,वास्तवमें मृदंग (मृत्+अङ्ग) अर्थात् मिट्टीके अङ्ग (मिट्टीसे बने हुए) नही हैं किन्तु सुवर्णके बने हुए है। भावार्थ–मृदंग शब्द रूढिसे ही मृदंग (वाद्यविशेष) अर्थको प्रकट करता है ॥२०६॥ उस समय पणव आदि देवोंके बाजे बड़ी गम्भीर ध्वनिसे बज रहे थे मानो लोगोंसे यही कह रहे थे कि हम लोग सदा सुन्दर शब्द ही करते है, बुरे शब्द कभी नहीं करते और इसीलिए बड़े परिश्रमसे बजाने योग्य है ॥२०७॥ प्रातःकालके समय कितनी ही देवियाँ बड़े-बड़े शंख बजा रही थीं और वे ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवियोंके हाथोंसे होनेवाली पीड़ाको सहन करनेके लिए असमर्थ होकर ही चिल्ला रहे हो ॥२०८॥ प्रातःकालमे माताको जगानेके लिए जो ऊँची तालके साथ तुरही बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवियाँ मनोहर और गम्भीर रूपसे मंगलगान गाती थीं ॥२०९॥ इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा की हुई सेवासे मरुदेवी ऐसी शोभायमान होती थीं मानो किसी प्रकार एकरूपताको प्राप्त हुई तीनों लोकोकी लक्ष्मी ही हो ॥२१०॥ इस तरह बड़े संभ्रमके साथ दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित हुई उस मरुदेवीने बड़ी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी मालूम पडती थी मानो शरीरमे प्रविष्ट हुए देवियोंके प्रभावसे ही उसने ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण की हो ॥२११॥

अथानन्तर, नौवाँ महीना निकट आनेपर वे देवियाँ नीचे लिखे अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट काव्य-गोष्ठियोंके द्वारा बड़े आदरके साथ गर्भिणी मरुदेवीको प्रसन्न करने लगी ॥२१२॥ जिनमें अर्थ गूढ है, क्रिया गूढ है, पाद (श्लोकका चौथा हिस्सा) गूढ है अथवा जिनमे बिन्दु छूटा हुआ है, मात्रा छूटी हुई या अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकोसे तथा कितने ही प्रकारके अन्य श्लोकोंसे वे देवियाँ मरुदेवीको प्रसन्न करती थीं ॥२१३॥ वे देवियाँ कहने लगीं कि हे माता, क्या तुमने इस ससारमे एक चन्द्रमाको ही कोमल (दुर्बल) देखा है जो इसके समस्त कलारूपी धनको जबरदस्ती छीन रही हो। भावार्थ—इस श्लोकमें व्याजस्तुति अलंकार है अर्थात् निन्दाके छलसे देवीकी स्तुति की गयी है। देवियोंके कहनेका अभिप्राय यह है कि आपके मुखकी कान्ति जैसे-जैसे बढती जाती है वैसे-वैसे ही चन्द्रमाकी कान्ति घटती जाती है अर्थात् आपके कान्तिमान् मुखके सामने चन्द्रमा कान्तिरहित मालूम होने लगा है। इससे जान पड़ता है कि आपने चन्द्रमाको दुर्बल समझकर उसके कलारूपी समस्त धनका अपहरण कर लिया

१. मृण्मयावयवा.। २ ध्वनितम्। ३ मुरजाः। सुरवा अ०, प०, स०, द०, ल०। ४ कुत्सितरवाः। ५. पूरयन्ति स्म। ६. तत्करोत्पीडन म०, ल०। ७ आरवेन सहितान्। ८. एकत्वम्। ९ प्रविष्टे। १० गर्भिणीम्। ११ अर्थाश्च क्रियाश्च पादाश्च अर्थक्रियापादा निगूढा अर्थक्रियापादा येषु तैः। १२ बिन्दुच्युतकमात्राच्युतकाक्षरच्युतकं। १३. यत् कारणात्।

मुखेन्दुना जितं नूनं[1] तवाब्जं[2] सोढुमक्षमम् । बिम्बमप्यैन्दवं साम्यात्[3] संकोचं यात्यदोऽनिशम्[4] ॥२१५॥
राजीवमलिभिर्जुष्टं सालकेन[5] मुखेन ते । जितं भीरुतयाद्यापि याति सांकोचनं[6] मुहुः ॥२१६॥
आजिघ्रन्मुहुरभ्येत्य त्वन्मुखं कमलास्थया[7] । नाब्जिनीं[8] समभ्येति सशङ्क इव षट्पदः ॥२१७॥
नाभिं[9] पार्थिवमन्वेति नलिनं नलिनानने । [10]त्वन्मुखाब्जमुपाघ्राय कृतार्थोऽयं मधुव्रतः ॥२१८॥
नाभेरभिमतो राजंस्त्वयि रक्तो न कामुकः । न कुतोऽप्यवरः[11] कान्त्या य सदोजोधरः[12] स कः ॥२१९॥

[प्रहेलिका]

क कीदृक् शस्यते रेखा तवाणुभ्रु सुविभ्रमे । करिणी च वदान्येन पर्यायेण करेणुका[13] ॥२२०॥

[एकालापकम्]

है ॥२१४॥ हे माता, आपके मुखरूपी चन्द्रमाके द्वारा यह कमल अवश्य ही जीता गया है क्योंकि इसीलिए वह सदा संकुचित होता रहता है। कमलकी इस पराजयको चन्द्रमण्डल भी नहीं सह सका है और न आपके मुखको ही जीत सका है इसलिए कमलके समान होनेसे वह भी सदा संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥२१५॥ हे माता, चूर्ण कुन्तलसहित आपके मुखकमलने भ्रमरसहित कमलको अवश्य ही जीत लिया है इसीलिए तो वह भयसे मानो आज तक बार-बार संकोचको प्राप्त होता रहता है ॥२१६॥ हे माता, ये भ्रमर तुम्हारे मुखको कमल समझ बार-बार सम्मुख आकर इसे सूँघते हैं और संकुचित होनेवाली कमलिनीसे अपने मरने आदिकी शंका करते हुए फिर कभी उसके सम्मुख नहीं जाते हैं। भावार्थ–आपका मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता है और कमलिनीका कमल रातके समय निमीलित हो जाता है। कमलके निमीलित होनेसे भ्रमरको हमेशा उसमें बन्द होकर मरनेका भय बना रहता है। आज उस भ्रमरको सुगन्ध ग्रहण करनेके लिए सदा प्रफुल्लित रहनेवाला आपका मुख कमलरूपी निर्बाध स्थान मिल गया है इसलिए अब वह लौटकर कमलिनीके पास नहीं जाता है ॥२१७॥ हे कमलनयनी! ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर ही कृतार्थ हो जाते हैं इसीलिए वे फिर पृथ्वीसे उत्पन्न हुए अन्य कमलके पास नहीं जाते अथवा ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूँघकर कृतार्थ होते हुए महाराज नाभिराजका ही अनुकरण करते हैं। भावार्थ–जिस प्रकार आपका मुख सूँघकर आपके पति महाराज नाभिराज सन्तुष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार ये भ्रमर भी आपका मुख सूँघकर सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥२१८॥ तदनन्तर वे देवियाँ मातासे पहेलियाँ पूछने लगीं। एकने पूछा कि हे माता, बताइए वह कौन पदार्थ है ? जो कि आपमें रक्त अर्थात् आसक्त है और आसक्त होनेपर भी महाराज नाभिराजको अत्यन्त प्रिय है, कामी भी नहीं है, नीच भी नहीं है, और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है। इसके उत्तरमें माताने कहा कि मेरा 'अधर'(नीचेका ओठ)ही है क्योंकि वह रक्त अर्थात् लाल वर्णका है, महाराज नाभिराजको प्रिय है, कामी भी नहीं है, शरीरके उच्च भागपर रहनेके कारण नीच भी नहीं है और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है * ॥२१९॥ किसी दूसरी देवीने पूछा कि हे पतली भौंहोंवाली और सुन्दर विलासोंसे युक्त माता, बताइए आपके शरीरके किस स्थानमें कैसी रेखा अच्छी समझी जाती है और हस्तिनीका दूसरा नाम क्या है ? दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिए।

१. अत्यर्थम् । २ कमल चन्द्रश्च । ३. चन्द्रमादृश्यात् अब्जसादृश्याच्च । ४ अब्जम् इन्दुबिम्बं च । ५. चूर्णकुन्तलसहितेन । ६. सङ्कोचन ल०, प०, म०, स०, द० । साङ्कोचनं सङ्कोचित्वम् । राजीवं भीरुतया अद्यापि साङ्कोचीनं यातीत्यर्थ । ७ कमलबुद्धया । ८. अब्जिन्या. अभिमुखम् । ९. पृथिव्या भवं नाभिराज च । १० त्वन्मुखाम्बुजमाघ्राय अ०, प०, ल० । ११. नीच. । १२ सतत तेजोधर' सामर्थ्याल्लभ्योऽधरः । १३. करिणी हस्ते सूक्ष्मरेखा च ।

*इस श्लोकमें अधर शब्द आया है इसलिए इसे 'अन्तर्लापिका' भी कह सकते हैं।

किमाहुः सरलोत्तुङ्ग[1] सच्छायतरुसंकुलम् । कलमाषिणि किं कान्तं तवाङ्गे सालकाननम्[2] ॥२२१॥

[एकालापकमेव]

[3]नयनानन्दिनीं रूपसंपदं ग्लानिमम्बिके । [4]आहाररतिमुत्सृज्य [5]नानाशानामृतं[6] सति[7] ॥२२२॥

[क्रियागोपितम्]

अधुना दरमुत्सृज्य केसरी गिरिकन्दरम्[9] । [10]समुत्पित्सुर्गिरेरग्रं सटाभारं[11] भयानकम् ॥२२३॥

अधुना[12] जगतस्तापमसुना गर्भजन्मना[13] । त्वं देवि जगतामेकपावनी भुवनाम्बिका ॥२२४॥

अधुनामरसर्गस्य[14] वर्द्धतेऽधिकमुत्सव । [15]अधुनामरसर्गस्य[16] दैत्यचक्रे घटामिति[17] ॥२२५॥

[गूढक्रियमिदं श्लोकत्रयम्]

माताने उत्तर दिया 'करेणुका*' । भावार्थ—पहले प्रश्नका उत्तर है 'करे+अणुका' अर्थात् हाथमें पतली रेखा अच्छी समझी जाती है और दूसरे प्रश्नका उत्तर है 'करेणुका' अर्थात् हस्तिनीका दूसरा नाम करेणुका है ॥२२०॥ किसी देवीने पूछा—हे मधुर-भाषिणी माता, बताओ कि सीधे, ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे भरे हुए स्थानको क्या कहते हैं ? और तुम्हारे शरीरमें सबसे सुन्दर अंग क्या है ? दोनोंका एक ही उत्तर दीजिए । माताने उत्तर दिया 'साल-कानन †' अर्थात् सीधे ऊँचे और छायादार वृक्षोंसे व्याप्त स्थानको 'साल-कानन' (सागौन वृक्षोंका वन) कहते हैं और हमारे शरीरमें सबसे सुन्दर अङ्ग 'सालकानन' (स+अलक +आनन) अर्थात् चूर्णकुन्तल [सुगन्धित चूर्ण लगानेके योग्य आगेके बाल—जुल्फें] सहित मेरा मुख है ॥२२१॥ किसी देवीने कहा—हे माता, हे सति, आप आनन्द देनेवाली अपनी रूप-सम्पत्तिको ग्लानि प्राप्त न कराइए और आहारसे प्रेम छोड़कर अनेक प्रकारका अमृत भोजन कीजिए [इस श्लोकमें 'नय' और 'अशान' ये दोनों क्रियाएँ गूढ हैं इसलिए इसे क्रियागुप्त कहते हैं] ॥२२२॥ हे माता, यह सिंह शीघ्र ही पहाड़की गुफाको छोड़कर उसकी चोटीपर चढ़ना चाहता है और इसलिए अपनी भयंकर सटाओं (गरदनपर-के बाल—अयाल) हिला रहा है । [इस श्लोकमें 'अधुनात्' यह क्रिया गूढ रखी गयी है इसलिए यह भी 'क्रियागुप्त' कहलाता है] ॥२२३॥ हे देवि, गर्भसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रके द्वारा आपने ही जगत्का सन्ताप नष्ट किया है इसलिए आप एकही, जगत्को पवित्र करनेवाली हैं और आप ही जगत्की माता हैं । [इस श्लोकमें 'अधुनाः' यह क्रिया गूढ है अत यह भी क्रियागुप्त श्लोक है] ॥२२४॥ हे देवि, इस समय देवोंका उत्सव अधिक बढ़ रहा है इसलिए मैं दैत्योंके चक्रमें अरवर्ग अर्थात् अरोंके समूहकी रचना बिलकुल बन्द कर देती हूँ । [चक्रके बीचमें जो खड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं उन्हें अर कहते हैं । इस श्लोकमें 'अधुनाम्' यह क्रिया गूढ है इसलिए यह भी क्रियागुप्त कह-

---

१ सरल ऋजु । २. अलकसहितमुखम् । प्रथमप्रश्नोत्तरपक्षे सालवनम् । ३ नेत्रोत्सवकरीम् । पक्षे नय प्रापय । न मा स्म । आनन्दिनीम् आनन्दकरीम् । ४ आहाररसमु—ब० । ५ बहुविधम् । ६. भुङ्क्ष्व । ७ पतिव्रते । ८ अधुना अद्य । पक्षे अधुनात् धुनाति स्म । दर भयं यथा भवति तथा । ९. गुहाम् । १० समुत्पतितुमिच्छुः । ११ केसरसमूहम् । १२. इदानीम् पक्षे धुनासि स्म । १३. गर्भार्भकेन । १४ —वर्गस्य ब० । अमरसमूहस्य । १५ अधुना अद्य अधुनाम् धुनोमि स्म । १६. अमरसर्गस्य देवसमूहस्य । पक्षे अरसर्गस्य चक्रस्य अराणां धाराणां सर्ग. सृष्टिर्यस्य तत् तस्य चक्रस्य । १७. घटनाम् ।

* यह एकालापक है । जहाँ दो या उससे भी अधिक प्रश्नोंका एक भी उत्तर दिया जाता है उसे एकालापक कहते हैं ।

† यह भी एकालापक है ।

[1]वटवृक्षः पुरोऽयं ते घनच्छायः[2] स्थितो महान्। इत्युक्तोऽपि न तं घर्मे[3] श्रितः कोऽपि वदाद्भुतम्॥२२६॥

[स्पष्टान्धकम्]

[4]मुक्ताहाररुचिः सोष्मा हरिचन्दनचर्चितः। आपाण्डुरुचिराभाति विरहीव तव स्तनः ॥२२७॥

[समानोपमम्]

जगतां जनितानन्दो[5] निरस्तदुरितेन्धनः। स[6] यः कनकसच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः ॥२२८॥

[गूढचतुर्थकम्]

जगज्जयी जितानङ्गः सतां[7] गतिरनन्तदृक्। तीर्थकृत्कृतकृत्यश्च जयतात्तनयः स ते ॥२२९॥

[[8]निरौष्ठ्यम्]

स ते कल्याणि कल्याणशतं संदर्श्य नन्दनः। यास्यत्यनागतिस्थानं[9] धृतिं[10] धेहि[11] ततः सति ॥२३०॥

[निरौष्ठ्यमेव]

लाता है] ॥२२५॥ कुछ आदमी कड़कती हुई धूपमें खड़े हुए थे उनसे किसीने कहा कि 'यह तुम्हारे सामने घनी छायावाला बड़ा भारी बड़का वृक्ष खड़ा है' ऐसा कहनेपर भी उनमें-से कोई भी वहाँ नही गया। हे माता, कहिए यह कैसा आश्चर्य है ? इसके उत्तरमें माताने कहा कि इस श्लोकमें जो 'वटवृक्षः' शब्द है उसकी सन्धि वटो+ऋक्षः' इस प्रकार तोड़ना चाहिए और उसका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'रे लड़के, तेरे सामने यह मेघके समान कान्तिवाला (काला) बड़ा भारी रीछ (भालू) बैठा है' ऐसा कहनेपर कड़ी धूपमें भी उसके पास कोई मनुष्य नहीं गया तो क्या आश्चर्य है [यह स्पष्टान्धक श्लोक है] ॥२२६॥ हे माता, आपका स्तन मुक्ताहाररुचि है अर्थात् मोतियोंके हारसे शोभायमान है, उष्णतासे सहित है, सफेद चन्दनसे चर्चित है और कुछ-कुछ सफेद वर्ण है इसलिए किसी विरही मनुष्यके समान जान पड़ता है क्योंकि विरही मनुष्य भी मुक्ताहाररुचि होता है, अर्थात् आहारसे प्रेम छोड़ देता है, काम-ज्वरसम्बन्धी उष्णतासे सहित होता है, शरीरका सन्ताप दूर करनेके लिए चन्दनका लेप लगाये रहता है और विरहकी पीड़ासे कुछ-कुछ सफेद वर्ण हो जाता है। [यह श्लेषोपमालंकार है] ॥२२७॥ हे माता, तुम्हारे संसारको आनन्द उत्पन्न करनेवाला, कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाला और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्ति धारण करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। [यह श्लोक गूढचतुर्थक कहलाता है क्योंकि इस श्लोकके चतुर्थ पादमें जितने अक्षर हैं वे सबके-सब पहलेके तीन पादोंमें आ चुके हैं जैसे 'जगतां जनितानन्दो निरस्तदुरितेन्धनः। संतप्तकनकच्छायो जनिता ते स्तनन्धयः॥'] ॥२२८॥ हे माता, आपका वह पुत्र सदा जयवन्त रहे जो कि जगत्को जीतनेवाला है, कामको पराजित करनेवाला है, सज्जनोंका आधार है, सर्वज्ञ है, तीर्थंकर है और कृतकृत्य है [यह निरौष्ठ्य श्लोक है क्योंकि इसमें ओठसे उच्चारण होनेवाले 'उकार, पवर्ग और उपध्मानीय' अक्षर नहीं हैं] ॥२२९॥ हे कल्याणि, हे पतिव्रते, आपका वह पुत्र सैकड़ों कल्याण दिखाकर ऐसे स्थानको (मोक्ष) प्राप्त करेगा जहाँसे पुनरागमन नहीं होता इसलिए आप सन्तोषको प्राप्त होओ [यह

---

१. वटवृक्षः न्यग्रोधपादपः। पक्षे वटो भो माणवक, ऋक्षः भल्लूकः। 'ऋक्षाच्छभल्लभल्लूकाः'। २ भूर्यनातपः पक्षे मेघच्छायः। ३. निदाघे। ४. मौक्तिकहारकान्तिः। पक्षे त्यक्ताशनरुचिः। ५ जनिता भविष्यति। 'जनिता ते स्तनन्धयः' इति चतुर्थः पादः प्रथमादित्रिपु पादेषु गूढमास्ते। ६. सन्तप्तकनकच्छायः द०, स०, म०, ल०। ७. सतां गतिः सत्पुरुषाणामाधारः। ८. ओष्ठस्पर्शनमन्तरेण पाठ्यम्। ९. मुक्तिस्थानम्। १०. सन्तोषं धर। ११. चेहि स०, म०, ल०।

द्वीपं नन्दीश्वरं देवा मन्दरागं च सेवितुम्। [1]सुदन्तीन्द्रैः समं यान्ति सुन्दरीभिः समुत्सुकाः ॥२३१॥
[त्रिन्दुमान्]

लसद्बिन्दुभिराभान्ति मुखैरमरवारणाः। [4]घटाघटनया व्योम्नि विचरन्तस्त्रिधा[5] स्रुतः ॥२३२॥
[बिन्दुच्युतकम्]

मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका। साम्बुजं क्वचिदुद्बिन्दुजलं [[6]चलन्] मकरदारुणम् ॥२३३॥
[बिन्दुच्युतकमेव]

श्लोक भी निरौष्ठ्य है ॥ २३० ॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली देवि, देखो, ये देव इन्द्रोंके साथ अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए बड़े उत्सुक होकर नन्दीश्वर द्वीप और पर्वतपर क्रीड़ा करनेके लिए जा रहे है। [यह श्लोक बिन्दुमान् है अर्थात् 'सुदतीन्द्रैः' की जगह 'सुदन्तीन्द्रैः' ऐसा दकारपर बिन्दु रखकर पाठ दिया है. इसी प्रकार 'नदीश्वरं'के स्थानपर बिन्दु रखकर 'नन्दीश्वरं' कर दिया है और 'मदरागं' की जगह बिन्दु रखकर 'मन्दरागं' कर दिया है इसलिए बिन्दुच्युत होनेपर इस श्लोकका दूसरा अर्थ इस प्रकार होता है, हे देवि, ये देवदन्ती अर्थात् हाथियोंके इन्द्रों (बड़े-बड़े हाथियों) पर चढ़कर अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये हुए मदरागं सेवितुं अर्थात् क्रीड़ा करनेके लिए उत्सुक होकर द्वीप और नदीश्वर (समुद्र)को जा रहे हैं।]॥२३१॥ हे माता, जिनके दो कपोल और एक सूँड़ इस प्रकार तीन स्थानोंसे मद झर रहा है तथा जो मेघोंकी घटाके समान आकाशमें इधर-उधर विचर रहे हैं ऐसे ये देवोंके हाथी जिनपर अनेक बिन्दु शोभायमान हो रहे हैं ऐसे अपने मुखोंसे बड़े ही सुशोभित हो रहे हैं। [यह बिन्दुच्युतक श्लोक है इसमें बिन्दु शब्दका बिन्दु हटा देने और घटा शब्दपर रख देनेसे दूसरा अर्थ हो जाता है, चित्रालंकारमें श और स में कोई अन्तर नहीं माना जाता, इसलिए दूसरे अर्थमें 'त्रिधा स्रुताः'की जगह 'त्रिधा श्रुताः' पाठ समझा जायेगा। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि 'हे देवि! दो, अनेक तथा बारह इस तरह तीन भेदरूप श्रुतज्ञानके धारण करनेवाले तथा घण्टानाद करते हुए आकाशमें विचरनेवाले ये श्रेष्ठदेव, ज्ञानको धारण करनेवाले अपने सुशोभित मुखसे बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं।]॥२३२॥ हे देवि, देवोंके नगरकी परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो कहीं तो लाल कमलोंकी परागसे लाल हो रहा है, कहीं कमलोंसे सहित है, कहीं उड़ती हुई जलकी छोटी-छोटी बूँदोंसे शोभायमान है और कहीं जलमें विद्यमान रहनेवाले मगर-मच्छ आदि जलजन्तुओंसे भयंकर है। [इस श्लोकमें जलके वाचक 'तोय' और 'जल' दो शब्द हैं इन दोनोंमें एक व्यर्थ अवश्य है इसलिए जल शब्दके बिन्दुको हटाकर 'जलमकरदारुणं' ऐसा पद बना लेते है जिसका अर्थ होता है जलमें विद्यमान मगरमच्छोंसे भयंकर। इस प्रकार यह भी बिन्दुच्युतक श्लोक है। परन्तु 'अलंकारचिन्तामणि'में इस श्लोकको इस प्रकार पढ़ा है 'मकरन्दारुणं तोयं धत्ते तत्पुरखातिका। साम्बुजं कचिदुद्बिन्दु चलन्मकरदारुणम्।' और इसे 'बिन्दुमान् बिन्दुच्युतक'का उदाहरण दिया है जो कि इस प्रकार घटित होता है—श्लोकके प्रारम्भमें 'मकरदारुण' पाठ था वहाँ बिन्दु देकर 'मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ कर दिया और अन्तमें 'चलन्मकरन्दारुणं' ऐसा पाठ था वहाँ बिन्दुको च्युत कर चलन्मकरदारुणं (चलते हुए मगर-

---

1 सुदति भो कान्ते। सुदन्तीन्द्रैरिति सबिन्दुकं पाठ्यम्। 2. उच्चारणकाले बिन्दुं संयोज्य अभिप्रायकथने त्यजेत्। उच्चारणकाले विद्यमानबिन्दुत्वात् बिन्दुमानित्युक्तम्। 3. पद्मकैः। 'पद्मकं बिन्दुजालकम्' इत्यभिधानात्। 4 घटाना समूहाना घटना तया। पक्षे घण्टासंघटनया। 5 त्रिमदस्राविणः। 6. चलन्मकर– द०, ट०। चलन्मकरन्दारुणमित्यत्र बिन्दुलोपः।

[1]समजं घातुकं वालं क्षणं नोपेक्षते हरि । का तु कं स्त्री हिमे वाञ्छेत् समजङ्घा तुकं वलम् ॥२३४॥

[[2]मात्राच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

जग्ले[3] कयापि सोत्कण्ठं[4] किमप्याकुल[5]मूर्च्छनम् । विरहेऽङ्गनया कान्तसमागमनिराशया ॥२३५॥

[व्यञ्जनच्युतकम्]

'''[6]क पञ्जरमध्यास्ते''''क परुषनिस्वन. ।' ''कः प्रतिष्ठा[7] जीवानां' क पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥२३६॥

[शुकः पञ्जरमध्यास्ते काक परुषनिस्वनः । लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥२३६॥

[अक्षरच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

मच्छोंसे भयंकर) ऐसा पाठ कर दिया है ।] ॥२३३॥ हे माता, सिंह अपने ऊपर घात करनेवाली हाथियोंकी सेनाकी क्षण-भरके लिए भी उपेक्षा नहीं करता और हे देवि, शीत ऋतुमें कौन-सी स्त्री क्या चाहती है ? माताने उत्तर दिया कि समान जंघाओंवाली स्त्री शीत ऋतुमें पुत्र ही चाहती है । [इस श्लोकमें पहले चरणके 'वालं' शब्दमें आकारकी मात्रा च्युत कर 'वलं' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका 'सेना' अर्थ होने लगता है और अन्तिम चरणके 'वलं' शब्दमें आकारकी मात्रा बढ़ाकर 'वालं' पाठ पढ़ना चाहिए जिससे उसका अर्थ पुत्र होने लगता है । इसी प्रकार प्रथम चरणमें 'समजं'के स्थानमें आकारकी मात्रा बढ़ाकर 'सामजं' पाठ समझना चाहिए जिससे उसका अर्थ 'हाथियोंको' होने लगता है। इन कारणोंसे यह श्लोक मात्राच्युतक कहलाता है ।] ॥२३४॥ हे माता, कोई स्त्री अपने पतिके साथ विरह होनेपर उसके समागमसे निराश होकर व्याकुल और मूर्च्छित होती हुई गद्गद स्वरसे कुछ भी खेदखिन्न हो रही है । [इस श्लोकमें जबतक 'जग्ले' पाठ रहता है और उसका अर्थ 'खेदखिन्न होना' किया जाता है तबतक श्लोकका अर्थ सुसंगत नहीं होता, क्योंकि पतिके समागमकी निराशा होनेपर किसी स्त्रीका गद्गद स्वर नहीं होता और न खेदखिन्न होनेके साथ 'कुछ भी' विशेषणकी सार्थकता दिखती है इसलिए 'जग्ले' पाठमें 'ल' व्यञ्जनको च्युत कर 'जगे' ऐसा पाठ करना चाहिए । उस समय श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा कि—हे देवि, कोई स्त्री पतिका विरह होनेपर उसके समागमसे निराश होकर स्वरोंके चढ़ाव-उतारको कुछ अव्यवस्थित करती हुई उत्सुकतापूर्वक कुछ भी गा रही है ।' इस तरह यह श्लोक 'व्यञ्जनच्युतक' कहलाता है] ॥२३५॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, पिंजरेमें कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवोंका आधार क्या है ? और अक्षरच्युत होनेपर भी पढ़ने योग्य क्या है ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने प्रश्नवाचक 'कः' शब्दके पहले एक-एक अक्षर और लगाकर उत्तर दे दिया और इस प्रकार करनेसे श्लोकके प्रत्येक पादमें जो एक एक अक्षर कम रहता था उसकी भी पूर्ति कर दी जैसे देवीने पूछा था 'कः पंजर मध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़ेमें कौन रहता है ? माताने उत्तर दिया 'शुकः पंजरमध्यास्ते' अर्थात् पिंजड़ेमें तोता रहता है। 'कः परुषनिस्वनः' कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? माताने उत्तर दिया 'काकः परुषनिस्वनः' अर्थात् कौवा कठोर शब्द करनेवाला है। 'कः प्रतिष्ठा जीवानाम्' अर्थात् जीवोंका आधार क्या है ? माताने उत्तर दिया 'लोकः प्रतिष्ठा जीवानाम्' अर्थात् जीवोंका आधार लोक है। और 'कः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरोंसे च्युत होनेपर भी

---

१. समज सामजम् । घातुकं हिंस्रकम् । का तुकं का स्त्री तुकम् । समजंघा समजं घातुकं बालम् । समजंघा तुकं वालमिति पदच्छेदः । समाने जङ्घे यस्याः सा । सम जङ्घा कम्वलमिति द्विस्थाने मात्रालोप । २. उच्चारणकाले मात्राच्युतिः अभिप्रायकथने मेलयेत् । यथा समजमित्यत्र सामजम् । ३ गानपक्षे लकारे लुप्ते जगे, गान चकार । तदितरपक्षे 'ग्लै हर्षक्षये' क्लेशं चकार । उच्चारणकाले व्यञ्जनं नास्ति । अभिप्रायकथने व्यञ्जनमस्ति । यथा जगे इत्यस्य जग्ले क्लेशं चकार । ४ गद्गदकण्ठम् । ५. ईषदाकुलस्वरविश्राम यथा भवति तथा । ६ 'कः सुपञ्जरमध्यास्ते कः सुपरुषनिःस्वनः । कः प्रतिष्ठा सुजीवानां कः [सु] पाठ्योऽक्षरच्युत ॥' प० । ७. आश्रयः । एतच्छ्लोकस्य प्रश्नोत्तरमुपरिमश्लोके द्रष्टव्यम् ।

के[1]··· मधुरारावा[2] के···[3]पुष्पशाखिनः । के··नोह्यते गन्ध के····नाखिलार्थदृक् ॥२३७॥
[केकिनो मधुरारावा. [4]केसरा पुष्पशाखिन । केतकेनोह्यते गन्ध [5]केवलेनाखिला[6]र्थदृक् ॥२३७॥]

[द्व्यक्षरच्युतकप्रश्नोत्तरम्]

[7]को मञ्जुलालापः[8] को विटपी जरन् । को···नृपतिर्वर्ज्यः को ···विदुषां मत ॥२३८॥
[कोकिलो मञ्जुलालाप कोटरी विटपी जरन् । कोपनो नृपतिर्वर्ज्य कोविदो विदुषां मत. ॥२३८॥]

[तदेव]

का[9] स्वरभेदेषु[10] का··· रुचिहा[11] रुजा । का रमयेत्कान्त का····तारनिस्वना[12] ॥२३९॥
[काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिहा रुजा । कामुकी[13] रमयेत्कान्त काहला तारनिस्वना ॥२३९॥]
[14]का कला स्वरभेदेषु का मता रुचिहा रुजा । का मुहू रमयेत्कान्त का हता तारनिस्वना ॥२४०॥

[एकाक्षरच्युतकेनो (एकाक्षरच्युतकदत्तकेनो)त्तरं तदेव]

पढने योग्य क्या है ? माताने उत्तर दिया कि 'श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः' अर्थात् अक्षरच्युत होनेपर भी श्लोक पढने योग्य है । [यह एकाक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३६॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, मधुर शब्द करनेवाला कौन है ? सिंहकी ग्रीवापर क्या होते हैं ? उत्तम गन्ध कौन धारण करता है और यह जीव सर्वज्ञ किसके द्वारा होता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर देते समय माताने प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दे दिया और ऐसा करनेसे श्लोकके प्रत्येक पादमें जो दो-दो अक्षर कम थे उन्हें पूर्ण कर दिया । जैसे माताने उत्तर दिया—मधुर शब्द करनेवाले केकी अर्थात् मयूर होते हैं, सिंहकी ग्रीवापर केसर होते हैं, उत्तम गन्ध केतकीका पुष्प धारण करता है, और यह जीव केवलज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ हो जाता है [यह द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३७॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, मधुर आलाप करनेवाला कौन है ? पुराना वृक्ष कौन है ? छोड़ देने योग्य राजा कौन है ? और विद्वानोंको प्रिय कौन है ? माताने पूर्व श्लोककी तरह यहाँ भी प्रश्नके साथ ही दो-दो अक्षर जोड़कर उत्तर दिया और प्रत्येक पादके दो-दो कम अक्षरोंको पूर्ण कर दिया । जैसे माताने उत्तर दिया-मधुर आलाप करनेवाला कोयल है, कोटरवाला वृक्ष पुराना वृक्ष है, क्रोधी राजा छोड़ देने योग्य है और विद्वानोंको विद्वान् हीं प्रिय अथवा मान्य है । [यह भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३८॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, स्वरके समस्त भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है ? शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट कर देनेवाला रोग कौन-सा है ? पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है ? और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाला कौन है ? इन सभी प्रश्नोंका उत्तर माताने दो-दो अक्षर जोडकर दिया जैसे कि स्वरके समस्त भेदोंमें वीणाका स्वर उत्तम है, शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला कामला (पीलिया) रोग है, कामिनी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाली भेरी है । [यह श्लोक भी द्व्यक्षरच्युत प्रश्नोत्तर जाति है] ॥२३९॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, स्वरके भेदोंमें उत्तम स्वर कौन-सा है ? कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला रोग कौन-सा है ? कौन-सी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और ताड़ित होनेपर गम्भीर

१. वद के मधुरारावा. वद के पुष्पशाखिनः । वद केनोह्यते गन्धो वद केनाखिलार्थदृक् ॥ प० । २ के मधुरारावाः एतच्छ्लोकेऽपि तथैव । ३ हरिकन्धरे अ०, ल० । ४ नागकेसराः । ५ केवलज्ञानेन । ६. सकलपदार्थदर्शी । ७ को मञ्जुलालाप एतस्मिन्नपि तथैव । 'प' पुस्तके प्रत्येकपादादौ वद' शब्दोऽधिको विद्यते । ८ मञ्जुलालापी द० । ९ 'प' पुस्तके प्रतिपादादौ 'वद' शब्दोऽधिको दृश्यते । १० स्वरभेदेषु का प्रशस्या । ११ कान्तिघ्ना । १२ उच्चस्वरा । एतस्मिन्नपि तथा । का कला स्वरभेदेष्विति श्लोकस्यप्रश्नेषु तृतीयतृतीयाक्षराण्यपनीय त्यक्त्वा काकली कलिभेदेष्विति श्लोकस्योत्तरेषु तृतीयतृतीयाक्षराण्यादाय तत्र मिलिते सत्युत्तरं भवति । १३. कामिनी अ०, प०, ल० । १४. 'अ' पुस्तके नास्त्येवाय [illegible]

का''''कः श्रयते नित्यं का''' कीं सुरतप्रियाम् । [1]का''''नने वदेदानीं च[2]'''रक्षरविच्युतम् ॥२४१॥
[कामुक. श्रयते नित्यं कामुकीं सुरतप्रियाम् । कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युतम् ॥२४१]
[एकाक्षरच्युतकपादम्]

तवाम्ब किं वसत्यन्तः[3] का नास्त्यविभवे त्वयि । का हन्ति जनमाघूनं[4] वदाद्यैर्व्यञ्जनैः पृथक्[5] ॥२४२॥
[तुक्[6] शुक्[7] रुक्[8]]

वराशनेषु को रुच्य को गम्भीरो जलाशयः । कः कान्तस्तव तन्वंगि वदादिव्यञ्जने पृथक् ॥२४३॥
[सूप. कूप भूपः]

क समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यम्ब को घटम् । [9]वृषान् दशति[10] क पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ॥२४४॥
[[11]पलाल , कुलाल', विलाल[12]]

सम्बोध्यसे कथं देवि किमस्त्यर्थे[13] क्रियापदम् । शोभा च कीदृशि[14] व्योम्नि भवतोद[15] निगद्यताम्॥२४५॥
['भवति', निह्नुतैकालापकम्]

तथा उच्च शब्द करनेवाला बाजा कौन-सा है ? इस श्लोकमें पहले ही प्रश्न हैं। माताने इस श्लोकके तृतीय अक्षरको हटाकर उसके स्थानपर पहले श्लोकका तृतीय अक्षर बोलकर उत्तर दिया [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक और एकाक्षरच्युतक है] ॥२४०॥ कोई देवी पूछती है कि हे माता, 'किसी वनमें एक कौआ संभोगप्रिय कागलीका निरन्तर सेवन करता है'। इस श्लोकमें चार अक्षर कम हैं उन्हें पूराकर उत्तर दीजिए। माताने चारों चरणोंमें एक-एक अक्षर बढ़ाकर उत्तर दिया कि हे कान्तानने, (हे सुन्दर मुखवाली), कामी पुरुष संभोगप्रिय कामिनीका सदा सेवन करता है [यह श्लोक एकाक्षरच्युतक है] ॥२४१॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता, तुम्हारे गर्भमें कौन निवास करता है ? हे सौभाग्यवती, ऐसी कौन-सी वस्तु है जो तुम्हारे पास नहीं है ? और बहुत खानेवाले मनुष्यको कौन-सी वस्तु मारती है ? इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसा दीजिए कि जिसमें अन्तका व्यञ्जन एक-सा हो और आदिका व्यञ्जन भिन्न-भिन्न प्रकारका हो। माताने उत्तर दिया 'तुक्' 'शुक्' 'रुक्' अर्थात् हमारे गर्भमें पुत्र निवास करता है, हमारे समीप शोक नहीं है और अधिक खानेवालेको रोग मार डालता है। [इन तीनों उत्तरोंका प्रथम व्यञ्जन अक्षर जुदा-जुदा है और अन्तिम व्यञ्जन सबका एक-सा है ॥२४२॥ किसी देवीने पूछा कि हे माता, उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला क्या है ? गहरा जलाशय क्या है ? और तुम्हारा पति कौन है ? हे तन्वंगि, इन प्रश्नोंका उत्तर ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें दीजिए जिनका पहला व्यंजन एक समान न हो। माताने उत्तर दिया कि 'सूप' 'कूप' और 'भूप', अर्थात् उत्तम भोजनोंमें रुचि बढ़ानेवाला सूप (दाल) है, गहरा जलाशय कुआँ है और हमारा पति भूप (राजा नाभिराज) है ॥२४३॥ किसी देवीने फिर कहा कि हे माता, अनाजमें-से कौन-सी वस्तु छोड़ दी जाती है ? घड़ा कौन बनाता है ? और कौन पापी चूहोंको खाता है ? इनका उत्तर भी ऐसे पृथक्-पृथक् शब्दोंमें कहिए जिनके पहले के दो अक्षर भिन्न-भिन्न प्रकारके हों। माताने कहा 'पलाल', 'कुलाल' और 'विडाल' अर्थात् अनाजमें-से पियाल छोड़ दिया जाता है, घड़ा कुम्हार बनाता है और बिलाव चूहोंको खाता है ॥२४४॥ कोई देवी फिर पूछती है कि हे देवी, तुम्हारा सम्बोधन क्या है ? सत्ता अर्थको कहनेवाला क्रियापद कौन-सा है ? और कैसे आकाशमें शोभा होती है ? माताने उत्तर दिया 'भवति', अर्थात् मेरा सम्बोधन भवति, (भवती शब्दका सम्बोधनका एकवचन) है, सत्ता अर्थको

१. कानन कुत्सितवदन । २. चर रतम् । पक्षे रतविशेषः । एतौ श्च्यर्थौ । एतच्छ्लोकार्थः उपरिम-श्लोके स्फुटं भवति । ३. गर्भे । ४. औदरिकम् । ५. भिन्नप्रथमव्यञ्जनैः । ६ पुत्रः । ७. शोकः । ८ रोगः । ९. मूषकान् । १०. भक्षयति । ११. निष्कृष्टधान्यम् । १२. मार्जार । १३ अस्तीत्यर्थो यस्य तत् । १४ कीदृशे द०, ल० । १५. भवति इति सम्बोध्यते । भवति इति क्रियापदम् । भवति भानि नक्षत्राण्यस्य सन्तीति भवत् तस्मिन् भवति ।

जिनमानम्रनाकौको नायकार्चितसत्क्रमम् । कमाहुः करिणं चाद्य[1] लक्षणं कीदृशं विदुः ॥२४६॥
['सुरवरद[2]', बहिर्लापिका]

भो केतकादिवर्णेन[3] संध्यादिसजुषांसुना[4] । शरीरमध्यवर्णेन[5] त्वं सिंहमुपलक्षय ॥२४७॥
['केसरी' अन्तर्लापिका]

क कीदृग् न नृपैर्दण्ड्यः कः खे भाति कुतोऽम्ब भीः । भीरोः कीदृग्निवेशस्ते ना[6] नागारविराजितः ॥२४८॥
[आदिविषममन्तरालापकं प्रश्नोत्तरम्]

कहनेवाला क्रियापद 'भवति' है (भू-धातुके प्रथम पुरुषका एकवचन) और भवति अर्थात् नक्षत्र सहित आकाशमें शोभा होती है (भवत् शब्दका सप्तमीके एकवचनमें भवति रूप बनता है) [इन प्रश्नोंका 'भवति' उत्तर इसी श्लोकमें छिपा है इसलिए इसे निह्नुतैकालापक' कहते हैं] ॥२४५॥ कोई देवी फिर पूछती है कि माता, देवोंके नायक इन्द्र भी अतिशय नम्र होकर जिनके उत्तम चरणोंकी पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवको क्या कहते हैं ? और कैसे हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए ? माताने उत्तर दिया 'सुरवरद' अर्थात् जिनेन्द्रदेवको 'सुरवरद'—देवोंको वर देनेवाला कहते हैं और सु-स्वर-रद अर्थात् उत्तम शब्द और दाँतोंवाले हाथीको उत्तम लक्षणवाला जानना चाहिए। [इन प्रश्नोंका उत्तर बाहरसे देना पड़ा है इसलिए इसे 'बहिर्लापिका' कहते हैं] ॥२४६॥ किसी देवीने कहा कि हे माता, केतकी आदि फूलोंके वर्णसे, सन्ध्या आदिके वर्णसे और शरीरके मध्यवर्ती वर्णसे तू अपने पुत्रको सिंह ही समझ। यह सुनकर माताने कहा कि ठीक है, केतकीका आदि अक्षर 'के' सन्ध्याका आदि अक्षर 'स*' और शरीरका मध्यवर्ती अक्षर 'री' इन तीनों अक्षरोंको मिलानेसे 'केसरी' यह सिंहवाचक शब्द बनता है इसलिए तुम्हारा कहना सच है। [इसे शब्दप्रहेलिका कहते हैं] ॥२४७॥ [किसी देवीने फिर कहा कि हे कमलपत्रके समान नेत्रोंवाली माता. 'करेणु' शब्दमें-से क्, र् और ण् अक्षर घटा देनेपर जो शेष रूप बचता है वह आपके लिए अक्षय और अविनाशी हो। हे देवि ! बताइए वह कौन-सा रूप है ? माताने कहा 'आयु', अर्थात् करेणुः शब्दमें-से क् र् और ण् व्यंजन दूर कर देनेपर अ+ए+उः ये तीन स्वर शेष बचते हैं। अ और ए के बीच व्याकरणके नियमानुसार सन्धि कर देनेसे दोनोंके स्थानमें 'ऐ' आदेश हो जायेगा। इसलिए 'ऐ+उः' ऐसा रूप होगा। फिर इन दोनोंके बीच सन्धि होकर अर्थात् 'ऐ' के स्थानमें 'आय्' आदेश करनेपर आय् +उः=आयुः ऐसा रूप बनेगा। तुम लोगोंने हमारी आयुके अक्षय और अविनाशी होनेकी भावना की है सो उचित ही है।] फिर कोई देवी पूछती है कि हे माता, कौन और कैसा पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय नहीं होता ? आकाशमें कौन शोभायमान होता है ? डर किससे लगता है और हे भीरु ! तेरा निवासस्थान कैसा है ? इन

---

१. प्रशस्तलक्षणम् । चोद्यल्लक्षणं ब०, प०, ल० । चोद्ढं लक्षणं व० । २. सुरेन्द्रः वरमभीष्टं ददातीति सुरवरदः तम् । गजपक्षे शोभना स्वरदा यस्य स सुरवरदः तम् । स्वनद्दन्तम् । ३. केतककुन्दनद्यावर्तादिवर्णेन । पक्षे केतकीशब्दस्यादिवर्णेन 'के' इत्यक्षरेण । ४. जुषा रागेण सहितः सजुट् सन्ध्या आदिर्यस्यासौ सन्ध्यादिसजुट् तेन । पक्षे सन्ध्याशब्दस्यादिवर्णं सकारं जुषते सेवते इति सन्ध्यासजुट् तेन सकारयुक्तेनेत्यर्थः । ५ शरीरमध्यप्रदेशगतरक्तवर्णेन । पक्षे शरीरशब्दस्य मध्यवर्ति 'री'त्यक्षरेण । ६. इतोऽग्रे त-चातिरिक्तेषु 'पुस्तकेषु निम्नाङ्कितः श्लोकोऽधिको दृश्यते—आमादयति यद्रूपं करेणुः करणैर्विना । तत्ते कमलपत्राक्षि भवत्यक्षयमव्ययम् । ७ नानागा विविधापराधः । 'आगोऽपराधो मन्तुः' आनागाः ना निर्दोषः पुमान् । रविः । आजितः सङ्ग्रामात् ।

* अनुस्वार और विसर्गोंका अन्तर रहनेपर चित्रालंकारका भंग नहीं होता ।

त्वत्तनौ काम्ब गम्भीरा राज्ञो[1] दोर्लम्ब आकुत[2]। कीदृक् किं नु विगाढव्यं[3] त्वं च श्लाघ्या कथं सती[4] ॥२४९॥

['नाभिराजानुगाधिकम्'[5] बहिरालापकमन्तविषमं प्रश्नोत्तरम्]

त्वां विनोदयितुं देवि प्राप्ता नाकालयादिमाः। नृत्यन्ति [6]करणैश्चित्रैर्नभोरङ्गे सुराङ्गनाः ॥२५०॥

त्वमम्ब रेचितं[7] पश्य नाटकं सुरसान्वितम्। [8]स्वमम्बरे चितं[9] वैश्य[10] पेटकं[11] सुरसारितम् ॥२५१॥

[गोमूत्रिका]

वसुधा राजते तन्वि परितस्त्वद्गृहाङ्गणम्। वसुधारानिपातेन दधतीव महानिधिम् ॥२५२॥

प्रश्नोंके उत्तरमें माताने श्लोकका चौथा चरण कहा 'नानागार-विराजितः'। इस एक चरणसे ही पहले कहे हुए सभी प्रश्नोंका उत्तर हो जाता है। जैसे, ना अनागाः, रविः, आजितः, नानागारविराजितः अर्थात् अपराधरहित मनुष्य राजाओंके द्वारा दण्डनीय नहीं होता, आकाशमें रवि (सूर्य) शोभायमान होता है, डर आजि (युद्ध) से लगता है और मेरा निवासस्थान अनेक घरोंसे विराजमान है। [यह आदि विषम अन्तरालापक श्लोक कहलाता है] ॥२४८॥ किसी देवीने फिर पूछा कि हे माता! तुम्हारे शरीरमें गम्भीर क्या है? राजा नाभिराजकी भुजाएँ कहाँतक लम्बी है? कैसी और किस वस्तुमें अवगाहन (प्रवेश) करना चाहिए? और हे पतिव्रते, तुम अधिक प्रशंसनीय किस प्रकार हो? माताने उत्तर दिया 'नाभिराजानुगाधिकं' (नाभिः, आजानु, गाधि-कं, नाभिराजानुगा-अधिकं)। श्लोकके इस एक चरणमें ही सब प्रश्नोंका उत्तर आ गया है जैसे, हमारे शरीरमें गम्भीर (गहरी) नाभि है, महाराज नाभिराजकी भुजाएँ आजानु अर्थात् घुटनों तक लम्बी हैं, गाधि अर्थात् कम गहरे कं अर्थात् जलमें अवगाहन करना चाहिए और मैं नाभिराजकी अनुगामिनी (आज्ञाकारिणी) होनेसे अधिक प्रशंसनीय हूँ। [यहाँ प्रश्नोंका उत्तर श्लोकमें न आये हुए बाहरके शब्दोंसे दिया गया है इसलिए यह बहिर्लापक अन्त विषम प्रश्नोत्तर है] ॥२४९॥ [इस प्रकार उन देवियोंने अनेक प्रकारके प्रश्न कर मातासे उन सबका योग्य उत्तर प्राप्त किया। अब वे चित्रबद्ध श्लोकों-द्वारा माताका मनोरंजन करती हुई बोलीं] हे देवि, देखो, आपको प्रसन्न करनेके लिए स्वर्गलोकसे आयी हुई ये देवियाँ आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक प्रकारके करणों (नृत्यविशेष)के द्वारा नृत्य कर रही हैं ॥२५०॥ हे माता, उस नाटकमें होनेवाले रसीले नृत्यको देखिए तथा देवोंके द्वारा लाया हुआ और आकाशमें एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओंका समूह भी देखिए।† [यह गोमूत्रिकाबद्ध श्लोक है।] ॥२५१॥ हे तन्वि! रत्नोंकी वर्षासे आपके घरके आँगनके चारों

१. बाहुलम्बः। २ कुतः आ सीमायें आङ्। कस्मात् पर्यन्त इत्यर्थं। ३. प्रवेष्टव्यम्। प्रगाढव्यम् द०। ४. पतिव्रता। सति म०, ल०। ५. नाभि· आजानु ऊरुपर्वपर्यन्तमिति यावत्। गाधिकं गाधि तलस्पर्शिप्रदेश अस्यास्तीति गाधि। गाधि च तत् कं जलं गाधिकं। 'कमंण· सलिलं पयः' इत्यभिधानात्। जानुदघ्न नाभिदघ्नानुजलाशयः। अधिक नाभिराजानुवर्तिनी चेत्। ६ अङ्गकरन्यासैः। ७. वलितम्। ८. आत्मीयम्। ९. निचितम्। १० वैश्याना सम्बन्धि समूहम्। ११. देवैं प्रापितम्।

†

त्व		व		चि		प		ना		के		र		न्वि		
	म		रे		तं		श्य		ट		सु		सा		तं	
त्व		त		न्वि		वै		पे		कं		र		रि		

त्वमम्ब रेचितं पश्य नाटकं सुरसान्वितम्।
स्वमम्बरे चितं वैश्यपेटकं सुरसारितम् ॥

वसुधारानिभे[1] नारात्[2] स्वर्गश्रीस्त्वामुपासितुम् । सेयमायाति पश्यैनां नानारत्नांशुचित्रिताम् ॥२५३॥
सुदेऽस्तु वसुधारा ते देवताशीस्तताम्बरा । स्तुतादेशे नमाताधा[3] वशीशे[4] [5]स्वस्वनस्तसु ॥२५४॥
इति ताभि.[6] प्रयुक्तानि दुष्कराणि[7] विशेषतः । जानाना सुचिरं भेजे सान्तर्वत्नी [8]सुखासिकाम् ॥२५५॥
निसर्गाच्च [9]धृतिस्तस्या परिज्ञानेऽभवत् परा । प्रज्ञामयं परं ज्योतिरुद्वहन्त्या निजोदरे ॥२५६॥
सा तदात्मीयगर्भान्तर्गतं [10]तेजोऽतिभासुरम् । दधानार्कांशुगर्भेव प्राची[11] प्राप परां रुचिम्[12] ॥२५७॥
सूचिता वसुधारोरुदीपेनाध.[13]कृतार्चिषा । निधिगर्भस्थलीवासौ रेजे राजीवलोचना ॥२५८॥

ओरकी भूमि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसी बड़े खजानेको ही धारण कर रही हो ॥२५२॥ हे देवि ! इधर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र पड़ती हुई यह रत्नधारा देखिए। इसे देखकर मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो रत्नधाराके छलसे यह स्वर्गकी लक्ष्मी ही आपकी उपासना करनेके लिए आपके समीप आ रही है ॥२५३॥ जिसकी आज्ञा अत्यन्त प्रशंसनीय है और जो जितेन्द्रिय पुरुषोंमें अतिशय श्रेष्ठ है ऐसी हे माता ! देवताओंके आशीर्वादसे आकाशको व्याप्त करनेवाली अत्यन्त सुशोभित, जीवोंकी दरिद्रताको नष्ट करनेवाली और नम्र होकर आकाशसे पड़ती हुई यह रत्नोंकी वर्षा तुम्हारे आनन्दके लिए हो [यह*अर्धभ्रम श्लोक है—इस श्लोकके तृतीय और चतुर्थ चरणके अक्षर प्रथम तथा द्वितीय चरणमें ही आ गये हैं।] ॥२५४॥ इस प्रकार उन देवियोंके द्वारा पूछे हुए कठिन-कठिन प्रश्नोंको विशेष रूपसे जानती हुई वह गर्भवती मरुदेवी चिरकाल तक सुखपूर्वक निवास करती रही ॥२५५॥ वह मरुदेवी स्वभावसे ही सन्तुष्ट रहती थी और जब उसे इस बातका परिज्ञान हो गया कि मैं अपने उदरमें ज्ञानमय तथा उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप तीर्थंकर पुत्रको धारण कर रही हूँ तब उसे और भी अधिक सन्तोष हुआ था ॥२५६॥ वह मरुदेवी उस समय अपने गर्भके अन्तर्गत अतिशय देदीप्यमान तेजको धारण कर रही थी इसलिए सूर्यकी किरणोंको धारण करनेवाली पूर्व दिशाके समान अतिशय शोभाको प्राप्त हुई थी ॥२५७॥ अन्य सब कान्तियोंको तिरस्कृत करनेवाली रत्नोंकी धारारूपी विशाल दीपकसे जिसका पूर्ण प्रभाव जान लिया गया है ऐसी वह कमलनयनी मरुदेवी किसी

१ व्याजेन । २. 'आराद्दूरसमीपयो' । ३. नताताघा द० । नखाताघा ब० । नभातादा ट० । भायाः भाव भाता ता दधातीति भाताधा । भानं दीप्तिः ताम् आदधातीति वा । ४. वशिना मुनीनाम् ईशः वशीश सर्वज्ञ स अस्यास्तीति वशीशा मरुदेवी तस्याः सम्बोधनम् वशीशे, वशिनो जिनस्य ईशा स्वामिनी तस्या सम्बोधन वशीशे । ५. सुष्ठु असुभिः प्राणै. अनस्त सूते या सा स्वस्वनस्तसूः तस्या. सम्बोधनं स्वस्वनस्तसु । ६ देवीभि । ७ दुष्करसंज्ञानि । ८. सुखास्थिताम् । ९. संतोषः । १०. तेज.पिण्डरूपार्भकम् । ११ पूर्वदिक् । १२ शोभाम् । १३. अध.कृत अधोमुख ।

*

सु	दे	स्तु	व	सु	धा	रा	ते
दे	व	ता	शी	स्त	ता	म्ब	रा
स्तु	ता	दे	शे	न	मा	ता	धा
व	शी	शे	स्व	स्व	न	स्त	सु

महासत्त्वेन तेनामौ गर्भस्थेन परां श्रियम् । बभार रत्नगर्भेव भूमिराकरगोचरा ॥२५९॥
स मातुरुदरस्थोऽपि नास्या. पीडामजीजनत् । दर्पणस्थोऽपि किं वह्निर्दहेत्तं प्रतिबिम्बित ॥२६०॥
त्रिवलीभङ्गुरं तस्यास्तथैवास्थात्तनूदरम् । तथापि ववृधे गर्भस्तेजसः प्राभवं हि तत् ॥२६१॥
नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचूचुकौ । न पाण्डुवदनं तस्या गर्भोऽप्यववृधदद्भुतम् ॥२६२॥
स्वामोद[1] मुखमेतस्याः राजाघ्रायैव सोऽतृपत् । मदालिरिव पद्मिन्याः पद्ममस्पष्टकेसरम् ॥२६३॥
सोऽस्माद् विशुद्धगर्भस्थस्त्रिबोधविमलाशय. । स्फटिकागारमध्यस्थ प्रदीप इव निश्चलः ॥२६४॥
कुशेशयशय[2] देवं सा दधानोदरेशयम्[3] । [4]कुशेशयशयेवासीन्मा[5]ननीया दिवौकसाम् ॥२६५॥
निगूढं च शची देवी सिषेवे किल साप्सराः । [6]मघोनाघविघाताय[7] [8]प्रहिता तां महासतीम् ॥२६६॥
सानंसीन्न[9] परं कंचित्[10] नम्यते स्म स्वयं जनैः । चान्द्री कलेव रुन्द्रश्रीर्देवीव च सरस्वती ॥२६७॥
बहुनात्र किमुक्तेन श्लाघ्या सैका जगत्त्रये । या [11]स्रष्टुर्जगतां स्रष्ट्री[12] बभूव भुवनाम्बिका ॥२६८॥

दीपकविशेपसे जाती हुई खजानेकी मध्यभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥२५८॥ जिसके भीतर अनेक रत्न भरे हुए हैं ऐसी रत्नोंकी खानिकी भूमि जिस प्रकार अतिशय शोभाको धारण करती है उसी प्रकार वह मरुदेवी भी गर्भमें स्थित महाबलशाली पुत्रसे अतिशय शोभा धारण कर रही थी ॥२५९॥ वे भगवान् ऋषभदेव माताके उदरमें स्थित होकर भी उसे किसी प्रकारका कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे सो ठीक ही है दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई अग्नि क्या कभी दर्पणको जला सकती है ? अर्थात् नहीं जला सकती ॥२६०॥ यद्यपि माता मरुदेवीका कृश उदर पहलेके समान ही त्रिवलियोंसे सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धिको प्राप्त होता गया सो यह भगवान्के तेजका प्रभाव ही था ॥२६१॥ न तो माताके उदरमें कोई विकार हुआ था, न उसके स्तनोंके अग्रभाग ही काले हुए थे और न उसका मुख ही सफेद हुआ था फिर भी गर्भ बढ़ता जाता था यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥२६२॥ जिस प्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनीके केसरको बिना छुए ही उसकी सुगन्ध मात्रसे सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवीके सुगन्धियुक्त मुखको सूँघकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे ॥२६३॥ मरुदेवीके निर्मल गर्भमें स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे विशुद्ध अन्तःकरणको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसा कि स्फटिक मणिके बने हुए घरके बीचमें रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है ॥२६४॥ अनेक देव-देवियाँ जिसका सत्कार कर रही हैं और जो अपने उदरमें नाभि-कमलके ऊपर भगवान् वृषभदेवको धारण कर रही है ऐसी वह मरुदेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान शोभायमान हो रही थी ॥२६५॥ अपने समस्त पापोंका नाश करनेके लिए इन्द्रके द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी भी अप्सराओंके साथ-साथ गुप्तरूपसे महासती मरुदेवीकी सेवा किया करती थी ॥२६६॥ जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमाकी कला और सरस्वती देवी किसीको नमस्कार नहीं करती किन्तु सब लोग उन्हें ही नमस्कार करते हैं इसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसीको नमस्कार नहीं करती थी, किन्तु संसारके अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे ॥२६७॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? इतना कहना ही बस है कि तीनों लोकोंमें वही एक प्रशंसनीय थी। वह जगत्के स्रष्टा अर्थात् भोगभूमिके बाद कर्मभूमिकी व्यवस्था करनेवाले श्रीवृषभदेवकी

---

१ शोभनगन्धम् । २. आदिब्रह्माणम् । ३. उदरे शेते इति उदरेशयस्तम् । जठरस्थमिति यावत् । ४. लक्ष्मीः । ५. पूज्या । ६. इन्द्रेण । ७. –विनाशाय म०, ल० । ८. प्रेषिता । ९. नमन्ति स्म । १०. अन्यं किमपि । ११. जनयितुः । १२. जनयित्री ।

दोधकवृत्तम्

सा [1]विभ्रमावभिरामतराङ्गी [2]श्रीमिलयासितमूर्तिरमूमि ।
श्रीभवने भुवनैकललामिन [3] श्रीभृति भूभृति तन्वति सेवाम् ॥२६९॥

मालिनी

अतिरुचिरतराङ्गी कल्पवल्लीव साभूत्
स्मितकुसुममनूनं दर्शयन्ती फलाय ।
नृपतिरपि तदास्या पार्श्ववर्ती रराजे
सुरतरुरिव तुङ्गो मङ्गलश्रीविभूष [4] ॥२७०॥

ललिततरमथास्या वक्त्रपद्मं सुगन्धि
स्फुरितदशनरोचिर्मञ्जरीकेसराढ्यम् ।
[5]वचनमधुरसाशासंसजद्राजहंसं
भृशमनयत बोधं बालभानुस्समुद्यन् ॥२७१॥

मुहुरमृतमिवास्या वक्त्रपूर्णेन्दुरुद्यद्-
वचनमसृजदुच्चैर्लोकचेतोऽभिनन्दी ।
नृपतिरपि सतृष्णस्त [6]त्पिपासन् [7] स रेमे
स्वजनकुमुदषण्डै [8] स्व [9] विभक्तं यथास्वम् ॥२७२॥

जननी थी इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोककी जननी थी ॥ २६८ ॥ इस प्रकार जो स्वभावसे ही मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली है, श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी उपासना करती हैं तथा अनेक प्रकारकी शोभा व लक्ष्मीको धारण करनेवाले महाराज भी स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी, तीनों लोकोंमें अत्यन्त सुन्दर श्रीभवनमें रहती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २६९ ॥ अत्यन्त सुन्दर अंगोंको धारण करनेवाली वह मरुदेवी मानो एक कल्पलता ही थी और मन्द हास्यरूपी पुष्पोंसे मानो लोगोंको दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगनेवाला है। तथा इसके समीप ही बैठे हुए मङ्गलमय शोभा धारण करनेवाले महाराज नाभिराज भी एक ऊँचे कल्पवृक्षके समान शोभायमान होते थे ॥ २७० ॥ उस समय मरुदेवीका मुख एक कमलके समान जान पड़ता था क्योंकि वह कमलके समान ही अत्यन्त सुन्दर था, सुगन्धित था और प्रकाशमान दाँतोंकी किरणमंजरीरूप केशरसे सहित था तथा वचनरूपी परागके रसकी आशासे उसमें अत्यन्त आसक्त हुए महाराज नाभिराज ही पास बैठे हुए राजहंस पक्षी थे। इस प्रकार उसके मुखरूपी कमलको उदित (उत्पन्न) होते हुए बालकरूपी सूर्यने अत्यन्त हर्षको प्राप्त कराया था ॥ २७१ ॥ अथवा उस मरुदेवीका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान था क्योंकि वह भी पूर्ण चन्द्रमाके समान सब लोगोंके मनको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाला था और चन्द्रमा जिस प्रकार अमृतकी सृष्टि करता है उसी प्रकार उसका मुख भी बार-बार उत्कृष्ट वचनरूपी अमृतकी सृष्टि करता था। महाराज नाभिराज उसके वचनरूपी अमृतको पीनेमें बड़े सतृष्ण थे इसलिए वे अपने परिवाररूपी कुमुद-समूहके द्वारा विभक्त कर दिये हुए अपने भागका इच्छानुसार पान करते हुए रमण करते थे। भावार्थ–मरुदेवीकी आज्ञा पालन

---

१ साभिवभा–म० । सातिवभा–ल० । २. श्रीह्रीधृत्यादिदेवीभि । ३. तिलके । ४ मङ्गलार्थ– । ५. मकरन्दरसवाञ्छा । ६ तद्वचनामृतम् । ७. पातुमिच्छन् । ८–खण्डै अ०, स०, म०, द०, ल० । ९. सविभक्त स० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याविष्कृतमङ्गला भगवती[1] देवीभिराचादरं
दध्रेऽन्तः परमोदयं त्रिभुवनेऽप्याश्चर्यभूतं[2] महः[3]।
राजैनं जिनभाविनं[4] सुतरविं पद्माकरस्यानुयन्[5]
साकाङ्क्षः [6]प्रतिपालयन् धृतिमधात् प्राप्तोदयां[7] भूयसीम् ॥२७३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्स्वर्गावतरणवर्णनं नाम द्वादशं पर्व ॥१२॥

करनेके लिए महाराज नाभिराज तथा उनका समस्त परिवार तैयार रहता था ॥ २७२ ॥ इस प्रकार जो प्रकटरूपसे अनेक मंगल धारण किये हुए हैं और अनेक देवियाँ आदरके साथ जिसकी सेवा करती हैं ऐसी मरुदेवी परम सुख देनेवाले और तीनों लोकोंमें आश्चर्य करनेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी तेजःपुञ्जको धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलोंसे सुशोभित तालाबके समान जिनेन्द्र होनेवाले पुत्ररूपी सूर्यकी प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकांक्षाके साथ परम सुख देनेवाले भारी धैर्यको धारण कर रहे थे ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीआर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहमें भगवान्के स्वर्गावतरणका वर्णन करनेवाला बारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

---

१. भाग्यवती । २. -ने साश्चर्य- ल०, म० । ३. तेजः । ४. भावी चासौ जिनश्च जिनभावी तम् । ५. पद्माकरमनुकुर्वन् । ६. प्रतीक्षमाणः । ७. प्राप्तोदया अ०, प०, स०, द०, ल० ।

त्रयोदशं पर्व

अथातो नवमासानामत्यये सुषुवे विभुम् । देवी देवीभिरुक्ताभिर्यथास्वं परिवारिता ॥१॥
प्राची[1] बन्धुमब्जाना सा लेभे[2] भास्वरं सुतम् । चैत्रे मास्यसिते[3] पक्षे नवम्यामुदये रवेः ॥२॥
विश्वे[4] ब्रह्ममहायोगे जगतामेकवल्लभम् । भासमानं[5] त्रिभिर्बोधैः शिशुमप्यशिशुं गुणैः ॥३॥
त्रिबोधकिरणोद्भासिबालार्कोऽसौ स्फुरद्द्युतिः । नाभिराजोदयाद्रीन्द्रादुदितो विबभौ विभुः ॥४॥
दिशः [6]प्रसत्तिमासेदु[7]रासीन्निर्मलमम्बरम् । गुणानामस्य वैमल्य[8]मनुकर्तुमिव प्रभोः ॥५॥
प्रजानां ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन् । अम्लानिकुसुमान्युच्चैर्मुमुचुः सुरभूरुहाः ॥६॥
[9]अनाहताः पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः । मृदुः सुगन्धिः शिशिरो मरुन्मन्दं तदा ववौ ॥७॥
प्रचचाल मही तोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः । उद्वेलो जलधिर्नूनमगमत् प्रमदं परम् ॥८॥
ततोऽबुद्ध सुराधीशः सिंहासनविकम्पनात् । प्रयुक्तावधिरुद्भूतिं[10] जिनस्य विजितैनसः ॥९॥
ततो जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतुः । तीर्थकृद्भाविभव्याब्जबन्धौ तस्मिन्नुदेयुषि ॥१०॥
तदासनानि देवानामकस्मात्[11] प्रचकम्पिरे । देवानुच्चासनेभ्योऽधः पातयन्तीव संभ्रमात् ॥११॥

अथानन्तर, ऊपर कही हुई श्री, ह्री आदि देवियाँ जिसकी सेवा करनेके लिए सदा समीपमें विद्यमान रहती हैं ऐसी माता मरुदेवीने नव महीने व्यतीत होनेपर भगवान् वृषभदेवको उत्पन्न किया ॥१॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय पूर्व दिशा कमलोंको विकसित करनेवाले प्रकाशमान सूर्यको प्राप्त करती है उसी प्रकार मायादेवी भी चैत्र कृष्ण नवमीके दिन सूर्योदयके समय उत्तराषाढ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोगमें मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे शोभायमान, बालक होनेपर भी गुणोंसे वृद्ध तथा तीनों लोकोंके एक मात्र स्वामी देदीप्यमान पुत्रको प्राप्त किया ॥ २-३ ॥ तीन ज्ञानरूपी किरणोंसे शोभायमान, अतिशय कान्तिका धारक और नाभिराजरूपी उदयाचलसे उदयको प्राप्त हुआ वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही शोभायमान होता था ॥४॥ उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छताको प्राप्त हुई थीं और आकाश निर्मल हो गया था। ऐसा मालूम होता था मानो भगवान्‌के गुणोंकी निर्मलताका अनुकरण करनेके लिए ही दिशाएँ और आकाश स्वच्छताको प्राप्त हुए हों ॥५॥ उस समय प्रजाका हर्ष बढ रहा था, देव आश्चर्यको प्राप्त हो रहे थे और कल्पवृक्ष ऊँचेसे प्रफुल्लित फूल बरसा रहे थे ॥६॥ देवोंके दुन्दुभि बाजे बिना बजाये ही ऊँचा शब्द करते हुए बज रहे थे और कोमल, शीतल तथा सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥७॥ उस समय पहाड़ोंको हिलाती हुई पृथिवी भी हिलने लगी थी मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो और समुद्र भी लहरा रहा था मानो परम आनन्दको प्राप्त हुआ हो ॥८॥ तदनन्तर सिंहासन कम्पायमान होनेसे अवधिज्ञान जोड़कर इन्द्रने जान लिया कि समस्त पापोंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवका जन्म हुआ ॥९॥ आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाले भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले श्री तीर्थंकररूपी सूर्यके उदित होते ही इन्द्रने उनका जन्माभिषेक करनेका विचार किया ॥१०॥ उस समय अकस्मात् सब देवोंके आसन कम्पित होने लगे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो उन देवोंको

---

१ पूर्वदिक् । २ लब्धवती । ३. कृष्णे । ४. उत्तराषाढनक्षत्रे । ५. शोभमानम् । ६. प्रसन्नताम् । ७ गता । ८ नैर्मल्यम् । ९ अताड्यमाना । १० उत्पत्तिम् । ११. आकस्मिकात् ।

शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः। सुरासुरगुरोर्जन्म भावयन्तीव विस्मयात् ॥१२॥
घण्टाकण्ठीरवध्वानभेरीशङ्खाः प्रदध्वनुः। कल्पेशज्योतिषां वन्यभावनानां च वेश्मसु ॥१३॥
तेषामुन्मिश्रवेलानामब्धीनामिव निःस्वनम्। श्रुत्वा बुबुधिरे जन्म विबुधा भुवनेशिनः ॥१४॥
ततः शक्राज्ञया देव पृतना[1] निर्ययुर्दिवः। तारतम्येन साध्वाना महाब्धेरिव वीचयः ॥१५॥
हस्त्यश्वरथगन्धर्वनर्तकीपत्तयो वृषाः। इत्यमूनि सुरेन्द्राणां महानीकानि निर्ययुः ॥१६॥
अथ सौधर्मकल्पेशो महैरावतदन्तिनम्। समारुह्य समं शच्या प्रतस्थे विबुधैर्वृतः ॥१७॥
ततः सामानिकास्त्रायस्त्रिंशाः[2] पारिषदामराः। आत्मरक्षैः समं लोकपालास्तं परिवव्रिरे ॥१८॥
दुन्दुभीनां महाध्वानैः सुराणां जयघोषणैः[3]। महानभूत्तदा ध्वानः सुरानीकेषु विस्फुरन् ॥१९॥
हसन्ति केचिन्नृत्यन्ति वल्गन्त्यास्फोटयन्त्यपि[4]। पुरो धावन्ति गायन्ति सुरास्तत्र प्रमोदिनः ॥२०॥
नभोऽङ्गणं तदा कृत्स्नमारुह्य त्रिदशाधिपाः। स्वैः स्वैर्विमानैराजग्मुर्वाहनैश्च[5] पृथग्विधैः ॥२१॥
तेषामापततां[6] यानविमानैराततं[7] नभः। त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥२२॥
नभःसरसि नाकीन्द्रदेहोद्योताच्छवारिणि। स्मेराण्यप्सरसां वक्त्राण्यातेनुः पङ्कजश्रियम् ॥२३॥

बड़े संभ्रमके साथ ऊँचे सिंहासनोंसे नीचे ही उतर रहे हों ॥११॥ जिनके मुकुटोंमें लगे हुए मणि कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे देवोंके मस्तक स्वयमेव नम्रीभूत हो गये थे और ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े आश्चर्यसे सुर, असुर आदि सबके गुरु भगवान् जिनेन्द्रदेवके जन्मकी भावना ही कर रहे हों ॥१२॥ उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंके घरोंमें क्रमसे अपने-आप ही घण्टा, सिंहनाद, भेरी और शंखोंके शब्द होने लगे थे ॥१३॥ उठी हुई लहरोंसे शोभायमान समुद्रके समान उन बाजोंका गम्भीर शब्द सुनकर देवोंने जान लिया कि तीन लोकके स्वामी तीर्थङ्कर भगवान्का जन्म हुआ है ॥१४॥ तदनन्तर महासागरकी लहरोंके समान शब्द करती हुई देवोंकी सेनाएँ इन्द्रकी आज्ञा पाकर अनुक्रमसे स्वर्गसे निकलीं ॥१५॥ हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नृत्य करनेवाली, पियादे और बैल इस प्रकार इन्द्रकी ये सात बड़ी-बड़ी सेनाएँ निकलीं ॥१६॥

तदनन्तर सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने इन्द्राणीसहित बड़े भारी (एक लाख योजन विस्तृत) ऐरावत हाथीपर चढ़कर अनेक देवोंसे परिवृत हो प्रस्थान किया ॥१७॥ तत्पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल जातिके देवोंने उस सौधर्म इन्द्रको चारों ओरसे घेर लिया अर्थात् उसके चारों ओर चलने लगे ॥१८॥ उस समय दुन्दुभि बाजोंके गम्भीर शब्दोंसे तथा देवोंके जय-जय शब्दके उच्चारणसे उस देवसेनामें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥१९॥ उस सेनामें आनन्दित हुए कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही विशाल शब्द कर रहे थे, कितने ही आगे दौड़ते थे, और कितने ही गाते थे ॥२०॥ वे सब देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनोंपर चढ़कर समस्त आकाशरूपी आँगनको व्याप्त कर आ रहे थे ॥२१॥ उन आते हुए देवोंके विमान और वाहनोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था मानो तिरसठ पटलवाले स्वर्गसे भिन्न किसी दूसरे स्वर्गकी ही सृष्टि कर रहा हो ॥ २२ ॥ उस समय इन्द्रके शरीरकी कान्तिरूपी स्वच्छ जलसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अप्सराओंके मन्द-मन्द हँसते हुए मुख, कमलोंकी

---

१ अनीकिनी। २. -निकास्त्रायस्त्रिंशत्पारि- स०, म०, ल०। सामानिकास्त्रायस्त्रिंशत्पारि -द०, प० अ०। सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पारि- ब०। ३. जयघोषकैः म० ल०। ४. गर्जन्ति। ५ नानाप्रकारैः। ६. आगच्छताम्। ७. व्याप्तम्।

नमोऽम्बुधौ सुराधीशपृतनाचलवीचिके । मकरा इव संरेजुरुत्कराः सुरवारणाः ॥२४॥
क्रमादथ सुरानीकान्यम्बरादचिराद् भुवम् । अवतीर्य पुरीं प्रापुरयोध्यां परमर्द्धिकाम्[1] ॥२५॥
तत्पुरं विष्वगावेष्ट्य तदास्थुः सुरसैनिकाः । राजाङ्गणं च संरुद्धमभूदिन्द्रैर्महोत्सवैः ॥२६॥
प्रसवागारमिन्द्राणी ततः प्राविशदुत्सवात् । तत्रापश्यत् कुमारेण सार्द्धं तां जिनमातरम् ॥२७॥
जिनमाता तदा शच्या दृष्टा सा सानुरागया । संध्ययेव हरित्प्राची[2] संगता बालभानुना ॥२८॥
मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुम् । जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते[3] स्मेति तां शची ॥२९॥
त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमङ्गला । महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी ॥३०॥
इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गी तां मायानिद्रयायुजत् । पुरो निधाय सा तस्या मायाशिशुमथापरम् ॥३१॥
जगद्गुरुं समादाय कराभ्यां सागमन्मुदम् । चूडामणिमिवोत्सर्पत्तेजसा व्याप्तविष्टपम्[4] ॥३२॥
तद्गात्रस्पर्शमासाद्य[5] सुदुर्लभमसौ तदा । मेने त्रिभुवनैश्वर्यं[6] स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥३३॥
मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्पृष्ट्वाघ्राय च तद्वपुः । परां प्रीतिमसौ भेजे हर्षविस्फारितेक्षणा ॥३४॥
ततः कुमारमादाय व्रजन्ती सा बभौ भृशम् । द्यौरिवार्कमभिव्याप्तनभसं भासुरांशुभिः ॥३५॥

शोभा विस्तृत कर रहे थे ॥२३॥ अथवा इन्द्रकी सेनारूपी चञ्चल लहरोंसे भरे हुए आकाशरूपी समुद्रमें ऊपरको सूँड़ किये हुए देवोंके हाथी मगरमच्छोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२४॥ अनन्तर वे देवोंकी सेनाएँ क्रम-क्रमसे बहुत ही शीघ्र आकाशसे जमीनपर उतरकर उत्कृष्ट विभूतियोंसे शोभायमान अयोध्यापुरीमें जा पहुँची ॥२५॥ देवोंके सैनिक चारों ओरसे अयोध्यापुरीको घेरकर स्थित हो गये और बड़े उत्सवके साथ आये हुए इन्द्रोंसे राजा नाभिराजका आँगन भर गया ॥२६॥ तत्पश्चात् इन्द्राणीने बड़े ही उत्सवसे प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और वहाँ कुमारके साथ-साथ जिनमाता मरुदेवीके दर्शन किये ॥२७॥ जिस प्रकार अनुराग (लाली) सहित सन्ध्या बालसूर्यसे युक्त पूर्व दिशाको बड़े ही हर्षसे देखती है उसी प्रकार अनुराग (प्रेम) सहित इन्द्राणीने जिनबालकसे युक्त जिनमाताको बड़े ही प्रेमसे देखा ॥२८॥ इन्द्राणीने वहाँ जाकर पहले कई बार प्रदक्षिणा दी फिर जगत्के गुरु जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया और फिर जिनमाताके सामने खड़े होकर इस प्रकार स्तुति की ॥२९॥ कि हे माता, तू तीनों लोकोंकी कल्याणकारिणी माता है, तू ही मंगल करनेवाली है, तू ही महादेवी है, तू ही पुण्यवती है और तू ही यशस्विनी है ॥३०॥ जिसने अपने शरीरको गुप्त कर रखा है ऐसी इन्द्राणीने ऊपर लिखे अनुसार जिनमाताकी स्तुति कर उसे मायामयी नींदसे युक्त कर दिया। तदनन्तर उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रखकर शरीरसे निकलते हुए तेजके द्वारा लोकको व्याप्त करनेवाले चूडामणि रत्नके समान जगद्गुरु जिनबालकको दोनों हाथोंसे उठाकर वह परम आनन्दको प्राप्त हुई ॥३१-३२॥ उस समय अत्यन्त दुर्लभ भगवान्के शरीरका स्पर्श पाकर इन्द्राणीने ऐसा माना था मानो मैंने तीनों लोकोंका समस्त ऐश्वर्य ही अपने अधीन कर लिया हो ॥३३॥ वह इन्द्राणी बार-बार उनका मुख देखती थी, बार-बार उनके शरीरका स्पर्श करती थी और बार-बार उनके शरीरको सूँघती थी जिससे उसके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो गये थे और वह उत्कृष्ट प्रीतिको प्राप्त हुई थी ॥३४॥ तदनन्तर जिनबालकको लेकर जाती हुई वह इन्द्राणी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो अपनी देदीप्यमान किरणोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाले सूर्यको

---

१. परमर्द्धिनीम् । २. दिक् । ३. स्तौति स्म । ४. भुवनम् । ५. प्राप्य । ६. स्वाधीनम् ।

तदा मङ्गलधारिण्यो दिक्कुमार्यः पुरो ययुः। त्रिजगन्मङ्गलस्यास्य समृद्धय इवोच्छिखाः ॥३६॥
छत्रं ध्वजं सकलशं चामरं सुप्रतिष्ठकम्। भृङ्गारं दर्पणं ताल[2]मित्याहुर्मङ्गलाष्टकम् ॥३७॥
स तदा मङ्गलानां च मङ्गलत्वं परं वहन्। स्वदीप्त्या दीपिकालोकान्[3] अरुण[4]त्तरुणांशुमान् ॥३८॥
ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात्। बालार्कमौदये[5] सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥३९॥
गीर्वाणेन्द्रस्तमिन्द्राण्याः करादादाय सादरम्। व्यलोकयत् स तद्रूपं संप्रीतिस्फारितेक्षणः ॥४०॥
त्वं देव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः। त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥४१॥
त्वामामनन्ति[6] सुधियः केवलज्ञानभास्वतः[7]। उदयाद्रिं मुनीन्द्राणामभिवन्द्यं महोन्नतिम् ॥४२॥
त्वया जगदिदं मिथ्याज्ञानान्धतमसावृतम्। प्रबोधं नेष्यते भव्यकमलाकरबन्धुना ॥४३॥
तुभ्यं नमोऽधिगुरवे नमस्तुभ्यं महाधिये। तुभ्यं नमोऽस्तु भव्याब्जबन्धवे गुणसिन्धवे ॥४४॥
त्वत्तः प्रबोधमिच्छन्तः प्रबुद्धभुवनत्रयात्। तव पादाम्बुजं देव मूर्ध्ना दध्मो धृतादरम् ॥४५॥
त्वयि प्रणयमाधत्ते मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका। त्वयि सर्वे गुणाः स्फार्तिं[8] यान्त्यब्धौ मणयो यथा ॥४६॥

लेकर जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा है ॥३५॥ उस समय तीनों लोकोंमें मंगल करनेवाले भगवान्‌के आगे-आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करनेवाली दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इकट्ठी हुई भगवान्‌की उत्तम ऋद्धियाँ ही हों ॥३६॥ छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, सुप्रतिष्ठक (मोंदरा-ठोना), झारी, दर्पण और ताड़का पंखा ये आठ मंगलद्रव्य कहलाते हैं ॥३७॥ उस समय मंगलोंमें भी मंगलपनेको प्राप्त करानेवाले और तरुण सूर्यके समान शोभायमान भगवान् अपनी दीप्तिसे दीपकोंके प्रकाशको रोक रहे थे। भावार्थ–भगवान्‌के शरीरकी दीप्तिके सामने दीपकोंका प्रकाश नहीं फैल रहा था ॥३८॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियोंसे सुशोभित उदयाचलके शिखरपर बाल सूर्यको विराजमान कर देती है उसी प्रकार इन्द्राणीने जिनबालकको इन्द्रकी हथेलीपर विराजमान कर दिया ॥३९॥ इन्द्र आदरसहित इन्द्राणीके हाथसे भगवान्‌को लेकर हर्षसे नेत्रोंको प्रफुल्लित करता हुआ उनका सुन्दर रूप देखने लगा ॥४०॥ तथा नीचे लिखे अनुसार उनकी स्तुति करने लगा—हे देव, आप तीनों जगत्‌की ज्योति हैं; हे देव, आप तीनों जगत्‌के गुरु हैं, हे देव, आप तीनों जगत्‌के विधाता हैं और हे देव, आप तीनों जगत्‌के स्वामी हैं ॥४१॥ हे नाथ, विद्वान् लोग, केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेके लिए आपको ही बड़े-बड़े मुनियोंके द्वारा वन्दनीय और अतिशय उन्नत उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥४२॥ हे नाथ, आप भव्य जीवरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं। मिथ्या ज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारसे ढका हुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रबोधको प्राप्त होगा ॥ ४३ ॥ हे नाथ, आप गुरुओंके भी गुरु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप महाबुद्धिमान् हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं और गुणोंके समुद्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे भगवन्, आपने तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए आपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए हम लोग आपके चरणकमलोंको बड़े आदरसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥ ४५ ॥ हे नाथ, मुक्तिरूपी लक्ष्मी उत्कण्ठित होकर आपमें स्नेह रखती है और जिस प्रकार समुद्रमें

---

१ इवोच्छ्रिता, अ०, स०, द०, ल०। २ तालवृन्तकम्। ३ दीपप्रकाशान्। ४. छादयति स्म। ५. उदयाद्रिसम्बन्धिनि। ६ वदन्ति। ७. सूर्यस्य। ८. वृद्धिम्। 'स्फायैङ् वृद्धौ' इति धातोः क्तिः। स्फोर्ति प०, अ०, द०, स०, द०।

स्तुत्वेति स तमारोप्य स्वमङ्कं सुरनायकः । हस्तमुच्चालयामास मेरुप्रस्थान[1]संभ्रमी ॥४७॥
जयेश नन्द वर्द्धस्व त्वमित्युच्चैर्गिरः सुराः । तदा कलकलं चक्रुर्बधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥४८॥
नभोऽङ्गणमथोत्पेतुरुच्चरज्जयघोषणाः । सुरचापानि तन्वन्तः प्रसरद्भूषणांशुभिः ॥४९॥
गन्धर्वारब्धसंगीता नेटुरप्सरसः पुरः । भ्रूपताका समुत्क्षिप्य नभोरङ्गे चलत्कुचाः ॥५०॥
इतोऽमुतः समाकीर्णं विमानैर्द्युसदां नभः । सरत्नैरुन्मिषन्नेत्रमिव[2] रेजे विनिर्मलम् ॥५१॥
सिता पयोधरा नीलैः करीन्द्रैः सितकेतनैः । सवलाकैर्विनीलाभ्रैः संगता इव रेजिरे ॥५२॥
महाविमानसंघट्टैः[3]क्षुण्णा जलधराः क्वचित् । [4]प्रणेशुर्महतां रोधान्नश्यन्त्येव जलात्मकाः[5] ॥५३॥
सुरेभकटदानाम्बुगन्धाकृष्टमधुव्रताः । [6]वनाभोगान् जहुर्लोकः सत्यमेव नवप्रियः ॥५४॥
अङ्गभाभिः[7] सुरेन्द्राणां तेजोऽर्कस्य पराहतम्[8] । [9]विलिल्ये क्वाप्यविज्ञातं लज्जामिव परां गतम् ॥५५॥
दिवाकरकराश्लेषं[10] विघटय्य[11] सुरेशिनाम् । देहोद्योता[12] दिशो भेजुर्भोग्या हि बलिनां स्त्रियः ॥५६॥

मणि वढते रहते है उसी प्रकार आपमें अनेक गुण बढ़ते रहते हैं ॥४६॥ इस प्रकार देवोंके अधिपति इन्द्रने स्तुति कर भगवान्‌को अपनी गोदमें धारण किया और मेरु पर्वतपर चलनेकी शीघ्रतासे इशारा करनेके लिए अपना हाथ ऊँचा उठाया ॥४७॥ हे ईश ! आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और आप सदा बढ़ते रहें इस प्रकार जोर-जोरसे कहते हुए देवोंने उस समय इतना अधिक कोलाहल किया था कि उससे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थीं ॥४८॥ तदनन्तर जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए और अपने आभूषणोंकी फैलती हुई किरणोंसे इन्द्रधनुषको विस्तृत करते हुए देव लोग आकाशरूपी आँगनमें ऊपरको ओर चलने लगे ॥४९॥ उस समय जिनके स्तन कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसी अप्सराएँ अपनी भौंहरूपी पताकाएँ ऊपर उठाकर आकाशरूपी रंगभूमिमें सबके आगे नृत्य कर रही थीं और गन्धर्वदेव उनके साथ अपना संगीत प्रारम्भ कर रहे थे ॥५०॥ रत्न-खचित देवोंने विमानोंसे जहाँ-तहाँ सभी ओर व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा शोभायमान होता था मानो भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए उसने अपने नेत्र ही खोल रखे हों ॥५१॥ उस समय सफेद बादल सफेद पताकाओंसहित काले हाथियोंसे मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो बगुला पक्षियोंसहित काले-काले बादलोंसे मिल रहे हों ॥५२॥ कहीं-कहींपर अनेक मेघ देवोंके बड़े-बड़े विमानोंकी टकरसे चूर-चूर होकर नष्ट हो गये थे सो ठीक ही है, क्योंकि जो जड़ (जल और मूर्ख) रूप होकर भी बड़ोंसे वैर रखते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥५३॥ देवोंके हाथियोंके गण्डस्थलसे झरनेवाले मदकी सुगन्धसे आकृष्ट हुए भौंरोंने वनके प्रदेशोंको छोड़ दिया था सो ठीक है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोग नवप्रिय होते हैं–उन्हें नयी-नयी वस्तु अच्छी लगती है ॥५४॥ उस समय इन्द्रोंके शरीरकी प्रभासे सूर्यका तेज पराहत हो गया था–फीका पड़ गया था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो लज्जाको प्राप्त होकर चुपचाप कहींपर जा छिपा हो ॥५५॥ पहले सूर्य अपने किरणरूपी हाथोंके द्वारा दिशारूपी अंगनाओंका आलिंगन किया करता था, किन्तु उस समय इन्द्रोंके शरीरोंका उद्योग सूर्यके उस आलिंगनको छुड़ाकर स्वयं दिशारूपी अंगनाओंके समीप जा पहुँचा था, सो ठीक ही है स्त्रियाँ बलवान् पुरुषोंके ही भोग्य होती हैं। भावार्थ–इन्द्रोंके शरीरको कान्ति सूर्यकी

१. गमन । 'प्रस्थानं गमनं गमः' इत्यमरः । २. विवृतचक्षुरिव । ३. मर्दिता. । ४. नष्टाः । ५. जडात्मकाः ल० । ६. वनभोगा– अ० । वनविस्तारान् । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमर. । ७. अङ्गनाभिः । ८ पराभूतम् । ९. निलीनमभूत् । १० आश्लेषम् आलिङ्गनम् । ११. मोचयित्वा । १२. उद्योता दीप्तय. ।

सुरेभरदनोद्भूतसरोम्बुजदलाश्रितम् । नृत्तमप्सरसां देवानकरोद् रसिकान् भृशम् ॥५७॥
शृण्वन्तः कलगीतानि किन्नराणां जिनेशिनः । गुणैर्विरचितान्यापुरमराः कर्णयोः फलम् ॥५८॥
वपुर्भगवतो दिव्यं पश्यन्तोऽनिमिषेक्षणाः । नेत्रयोरनिमेषाणां[1] फलं प्रापुस्तदामराः ॥५९॥
स्वाङ्कारोपं सितच्छत्रधृतिं चामरधूननम् । कुर्वन्तः स्वयमेवेन्द्राः [2]प्राहुरस्य स्म वैभवम् ॥६०॥
सौधर्माधिपतेरङ्कमध्यासीनमधीशिनम् । भेजे सितातपत्रेण तदैशानसुरेश्वरः ॥६१॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रनायकौ धर्मनायकम् । चामरैस्तं व्यधुन्वातां [3]बहुक्षीराब्धिवीचिभिः ॥६२॥
दृष्ट्वा तदातनीं[4] भूतिं[5] कुदृष्टिमरुतो[6] परे । सन्मार्गरुचिमातेनुरि[7]न्द्रप्रामाण्यमास्थिताः ॥६३॥
कृतं सोपानमामेरोरिन्द्रनीलैर्व्यराजत । भक्त्या खमेव सोपानपरिणाम[8]मिवाश्रितम् ॥६४॥
ज्योतिःपटलमुल्लङ्घ्य प्रययुः सुरनायकाः । अधस्तारकितां[9] वीथिं मन्यमानाः कुमुद्वतीम्[10] ॥६५॥
ततः प्रापुः सुराधीशा गिरिराजं तमुच्छ्रितम् । योजनानां सहस्राणि नवतिं च नवैव च ॥६६॥
[11]मकुटश्रीरिवाभाति चूलिका यस्य मूर्द्धनि । चूडारत्नश्रियं धत्ते [12]यस्यामृतु[13]विमानकम् ॥६७॥

कान्तिको फीका कर समस्त दिशाओंमें फैल गयी थीं ॥५६॥ ऐरावत हाथीके दाँतोंपर बने हुए सरोवरोंमें कमलदलोंपर जो अप्सराओंका नृत्य हो रहा था वह देवोंको भी अतिशय रसिक बना रहा था ॥५७॥ उस समय जिनेन्द्रदेवके गुणोंसे रचे हुए किन्नर देवोंके मधुर संगीत सुनकर देव लोग अपने कानोंका फल प्राप्त कर रहे थे—उन्हें सफल बना रहे थे ॥५८॥ उस समय टिमकाररहित नेत्रोंसे भगवान्का दिव्य शरीर देखनेवाले देवोंने अपने नेत्रोंके टिमकाररहित होनेका फल प्राप्त किया था। भावार्थ—देवोंकी आँखोंके कभी पलक नहीं झपते। इसलिए देवोंने बिना पलक झपाये ही भगवान्के सुन्दर शरीरके दर्शन किये थे। देव भगवान्के सुन्दर शरीरको पलक झपाये बिना ही देख सके थे यही मानो उनके वैसे नेत्रोंका फल था—भगवान्का सुन्दर शरीर देखनेके लिए ही मानो विधाताने उनके नेत्रोंकी पलकस्पन्द-टिमकाररहित बनाया था ॥५९॥ जिनबालकको गोदमें लेना, उनपर सफेद छत्र धारण करना और चमर ढोलना आदि सभी कार्य स्वयं अपने हाथसे करते हुए इन्द्र लोग भगवान्के अलौकिक ऐश्वर्यको प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उस समय भगवान्, सौधर्म इन्द्रकी गोदमें बैठे हुए थे, ऐशान इन्द्र सफेद छत्र लगाकर उनकी सेवा कर रहा था और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्गके इन्द्र उनकी दोनों ओर क्षीरसागरकी लहरोंके समान सफेद चमर ढोल रहे थे ॥६१-६२॥ उस समयकी विभूति देखकर कितने ही अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्रको प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्गमें श्रद्धा करने लगे थे ॥६३॥ मेरु पर्वत पर्यन्त नील मणियोंसे बनायी हुई सीढ़ियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो आकाश ही भक्तिसे सीढ़ीरूप पर्यायको प्राप्त हुआ हो ॥६४॥ क्रम-क्रमसे वे इन्द्र ज्योतिष-पटलको उल्लंघन कर ऊपरकी ओर जाने लगे। उस समय वे नीचे ताराओंसहित आकाशको ऐसा मानते थे मानो कुमुदिनियोंसहित सरोवर ही हो ॥६५॥ तत्पश्चात् वे इन्द्र निन्यानबे हजार योजन ऊँचे उस सुमेरु पर्वतपर जा पहुँचे ॥६६॥ जिसके मस्तकपर स्थित चूलिका मुकुटके समान सुशोभित होती है और

१. प्राप्तौ । २. ब्रुवन्ति स्म । ३. क्षीराब्धिवीचिसदृशैः । ४. तत्कालभवाम् । ५. सपदम् । ६ देवाः । ७. इन्द्रैर्विश्वासं गताः । ८. परिणमनम् । ९. संजाततारकाम् । १०. कुमुदानि प्रचुराणि यस्या सन्तीति कुमुद्वती । ११. मुकुट- प०, अ०, द०, ऋ० । १२. चूलिकायाम् । १३. -मृजु- प०, अ०, स०, म०, ऋ० ।

यो धत्ते स्वनितम्बेन भद्रशालवनं महत्। [1]परिधानमिवालीनं घनच्छायैर्महाद्रुमैः ॥६८॥
मेखलायामथाद्यायां [2]बिभर्ति नन्दनं वनम्। य [3]: कटीसूत्रदामेव[4] नानारत्नमयाङ्घ्रिपम् ॥६९॥
यश्च सौमनसोद्यानं बिभर्ति शुकसच्छवि। सपुष्पमुपसंव्यानमिव[5]ल्लसितपल्लवम् ॥७०॥
यस्यालङ्कुरुते कूट[6]पर्यन्तं पाण्डुकं वनम्। आहूतमधुपैः पुष्पैः दधानं शेखरश्रियम् ॥७१॥
यस्मिन् प्रतिवनं[7] दिक्षु चैत्यवेश्मानि भान्त्यलम्। हसन्तीव द्युसद्मानि [8]प्रोन्मिषन्मणिदीप्तिभिः ॥७२॥
हिरण्मयः समुत्तुङ्गो धत्ते यो मौलिविभ्रमम्। जम्बूद्वीपमहीभर्तुर्लवणाम्भोधिवाससः ॥७३॥
ज्योतिर्गणश्च सातत्यात्[9] यं पर्येति[10] महोदयम्। पुण्याभिषेकसंभारैः[11] पवित्रीकृतमर्हताम् ॥७४॥
आराधयन्ति यं नित्यं चारणाः पुण्यवाञ्छया। विद्याधराश्च मुदिताः जिनेन्द्रमिव सून्नतम् ॥७५॥
देवोत्तरकुरून् यश्च स्वपादगिरिभि[12]: सदा। आवृत्य पाति निर्बाधं तद्धि माहात्म्यमुन्नतेः ॥७६॥
यस्य कन्दरभागेषु निवसन्ति सुरासुराः। साङ्गनाः स्वर्गमुत्सृज्य नाकशोभापहासिषु ॥७७॥
यः पाण्डुकवनोद्देशे शुचीः स्फटिकनिर्मिताः। शिला बिभर्ति तीर्थेशामभिषेकक्रियोचिताः ॥७८॥

जिसके ऊपर सौधर्म स्वर्गका ऋतुविमान चूडामणिकी शोभा धारण करता है ॥ ६७ ॥ जो अपने नितम्ब भागपर (मध्यभागपर) घनी छायावाले बड़े-बड़े वृक्षोंसे व्याप्त भद्रशाल नामक महावनको ऐसा धारण करता है मानो हरे रंगकी धोती ही धारण किये हो ॥६८॥ उससे आगे चलकर अपनी पहली मेखलापर जो अनेक रत्नमयी वृक्षोंसे सुशोभित नन्दन वनको ऐसा धारण कर रहा है मानो उसकी करधनी ही हो ॥६९॥ जो पुष्प और पल्लवोंसे शोभायमान हरे रंगके सौमनस वनको ऐसा धारण करता है मानो उसका ओढ़नेका दुपट्टा ही हो ॥७०॥ अपनी सुगन्धिसे भौंरोंको बुलानेवाले फूलोंके द्वारा मुकुटकी शोभा धारण करता हुआ पाण्डुक वन जिसके शिखर पर्यन्तके भागको सदा अलंकृत करता रहता है ॥७१॥ इस प्रकार जिसके चारों वनोंकी प्रत्येक दिशामें एक-एक जिनमन्दिर चमकते हुए मणियोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो स्वर्गके विमानोंकी हँसी ही कर रहे हों ॥७२॥ जो पर्वत सुवर्णमय है और बहुत ही ऊँचा है इसलिए जो लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुए जम्बूद्वीपरूपी महाराजके सुवर्णमय मुकुटका सन्देह पैदा करता रहता है ॥७३॥ जो तीर्थंकर भगवान्‌के पवित्र अभिषेककी सामग्री धारण करनेसे सदा पवित्र रहता है और अतिशय ऊँचा अथवा समृद्धिशाली है इसीलिए मानो ज्योतिषी देवोंका समूह सदा जिसकी प्रदक्षिणा दिया करता है ॥७४॥ जो पर्वत जिनेन्द्रदेवके समान अत्यन्त उन्नत (श्रेष्ठ और ऊँचा) है इसीलिए अनेक चारण मुनि हर्षित होकर पुण्य प्राप्त करनेकी इच्छासे सदा जिसकी सेवा किया करते हैं ॥७५॥ जो देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको अपने समीपवर्ती पर्वतोंसे घेरकर सदा निर्बाधरूपसे उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्टताका यही माहात्म्य है ॥७६॥ स्वर्गलोककी शोभाकी हँसी करनेवाली जिस पर्वतकी गुफाओंमें देव और धरणेन्द्र स्वर्ग छोड़कर अपनी स्त्रियोंके साथ निवास किया करते हैं ॥७७॥ जो पाण्डुकवनके स्थानोंमें स्फटिक मणिकी बनी हुई और तीर्थंकरोंके अभिषेक

---

१ अधोंशुकम्। 'परिधानान्यधोंशुके' इत्यभिधानात्। २. बिभृते अ०, म०, द०, स०। बिभ्रते ल०। ३. यत्कटी–अ०, स०, द०। ४ काञ्चीदाम। ५. उत्तरीयवसनम्। –संव्यान–ल०। ६. चूलिकापर्यन्तभूमिम्। ७. प्रतिवन द०, म०। ८ दीप्यमान। ९ सततमेव सातत्य तस्मात्। १०. प्रदक्षिणीकरोति। ११. समूहैः। १२ गजदन्तपर्वतैः।

यस्तुङ्गो विबुधाराध्यः सततर्तुसमाश्रय[1]। सौधर्मेन्द्र इवाभाति संसेव्योऽप्सरसां[2] गणैः ॥७९॥
तमासाद्य सुराः प्रापुः प्रीतिमुच्चविशालिनम्। रामणीयकसंभूतिं[3] स्वर्गस्याधिदेवताम्[4] ॥८०॥
ततः परीत्य तं प्रीत्या सुरराजः सुरैः समम्। गिरिराजं जिनेन्द्रार्कं मूर्धन्यस्य न्यधान्मुदा ॥८१॥
तस्य प्रागुत्तराशायां[6] महती पाण्डुकाह्वया। शिलास्ति जिननाथानामभिषेकं बिभर्त्ति या ॥८२॥
शुचिः सुरभिरत्यन्तरामणीया[7] मनोहरा। पृथिवीवाष्टमी साधि या युक्तपरिमण्डला[8] ॥८३॥
शतायता[9] तदर्द्धं च विस्तीर्णाष्टोच्छ्रिता[10] मता। जिनैर्योजनमानेन सा शिलार्द्धेन्दुसंस्थितिः[11] ॥८४॥
क्षीरोदवारिभिर्भूयः क्षालिता या सुरोत्तमैः। शुचित्वस्य परां[12] काष्ठां संबिभर्ति सदोज्ज्वला ॥८५॥
शुचित्वान्महनीयत्वात् पवित्रत्वाच्च[13] भाति या। धारणाच्च जिनेन्द्राणां जिनमातेव निर्मला ॥८६॥
यस्यां पुष्पोपहारश्री[14] र्व्यज्यते जातु नाञ्जसा। [15]सावर्ण्यादमरोन्मुक्त[16] व्यक्तमुक्ताफलच्छविः ॥८७॥

क्रियाके योग्य निर्मल (पाण्डुकादि) शिलाओंको धारण कर रहा है ॥७८॥ और जो मेरु पर्वत सौधर्मेन्द्रके समान शोभायमान होता है क्योंकि जिस प्रकार सौधर्मेन्द्र तुंग अर्थात् श्रेष्ठ अथवा उदार है उसी प्रकार वह सुमेरु पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, सौधर्मेन्द्रकी जिस प्रकार अनेक विबुध (देव) सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मेरु पर्वतकी भी अनेक देव अथवा विद्वान् सेवा किया करते हैं, सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार सततर्तुसमाश्रय अर्थात् ऋतुविमानका आधार अथवा छहों ऋतुओंका आश्रय है और सौधर्मेन्द्र जिस प्रकार अनेक अप्सराओंके समूहसे सेवनीय है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत भी अप्सराओं अथवा जलसे भरे हुए सरोवरोंसे शोभायमान है॥७९॥ इस प्रकार जो ऊँचाईसे शोभायमान है, सुन्दरताकी खानि है और स्वर्गका मानो अधिष्ठाता देव ही है ऐसे उस सुमेरु पर्वतको पाकर देव लोग बहुत ही प्रसन्न हुए ॥८०॥

तदनन्तर इन्द्रने बड़े प्रेमसे देवोंके साथ-साथ उस गिरिराज सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर उसके मस्तकपर हर्षपूर्वक श्रीजिनेन्द्ररूपी सूर्यको विराजमान किया॥८१॥ उस मेरु पर्वतके पाण्डुक वनमें पूर्व और उत्तर दिशाके बीच अर्थात् ऐशान दिशामें एक बड़ी भारी पाण्डुक नामकी शिला है जो कि तीर्थंकर भगवान्‌के जन्माभिषेकको धारण करती है अर्थात् जिसपर तीर्थंकरोंका अभिषेक हुआ करता है ॥८२॥ वह शिला अत्यन्त पवित्र है, मनोज्ञ है, रमणीय है, मनोहर है, गोल है और अष्टमी पृथिवी सिद्धिशिलाके समान शोभायमान है ॥८३॥ वह शिला सौ योजन लम्बी है, पचास योजन चौड़ी है, आठ योजन ऊँची है और अर्ध चन्द्रमाके समान आकारवाली है ऐसा जिनेन्द्रदेवने माना है-कहा है ॥८४॥ वह पाण्डुकशिला सदा निर्मल रहती है। उसपर इन्द्रोंने क्षीरसमुद्रके जलसे उसका कई बार प्रक्षालन किया है इसलिए वह पवित्रताकी चरम सीमाको धारण कर रही है ॥८५॥ निर्मलता, पूज्यता, पवित्रता और जिनेन्द्रदेवको धारण करनेकी अपेक्षा वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेवकी माताके समान शोभायमान होती है ॥८६॥ वह शिला देवोंके द्वारा ऊपरसे छोड़े हुए मुक्ताफलोंके समान उज्ज्वल कान्तिवाली है और देव लोग जो उसपर पुष्प चढ़ाते हैं वे सदृशताके कारण उसीमें छिप

---

१ सततं षड्ऋतुसमाश्रय। २. जलभरितसरोवरसमूहैः। पक्षे स्वर्वेश्यासमूहैः। ३ उत्पत्तिम्। ४. -दैवतम् प०, मा०, म०, द०। स्वर्गस्येवाधिदैवतम् ल०। ५. न्यापयति स्म। ६. ऐशान्या दिशि। ७. -रमणीया ब०, प०, अ०, द०, स०। ८. योग्यपरिधिः। ९. शतयोजनदैर्घ्या। १० -ष्टोच्छ्रया स०। ११. संस्थानम्। [आकार इत्यर्थ.]। १२ परमोत्कर्षम्। १३ पवित्रं करोतीति पवित्रा तस्य भाव.। १४ प्रकटीक्रियते। १५ समानवर्णत्वात् १६ -मुक्ताच्य वतफलच्छवि.।

जिनानामभिषेकाय या धत्ते सिंहविष्टरम् । मेरोरिवोपरि परं परार्घ्यं मेरुमुच्चकैः ॥८८॥

तत्पर्यन्ते[1] च या धत्ते सुस्थिते दिव्यविष्टरे । [2]जिनाभिषेचने क्लृप्ते सौधर्मैशाननाथयोः ॥८९॥

नित्योपहाररुचिरा सुरैर्नित्यं कृतार्चना । नित्यमङ्गलसंगीतनृत्तवादित्रशोभिनी ॥९०॥

छत्रचामरभृङ्गारसुप्रतिष्ठकदर्पणम्[3] । कलशध्वजतालानि[4] मङ्गलानि बिभर्त्ति या ॥९१॥

यामला शीलमालेव मुनीनामभिसम्मता । जैनी तनुरिवात्यन्तभास्वरा सुरभिः शुचिः ॥९२॥

स्वयं धौतापि[5] या धौता[6] शतशः सुरनायकैः । क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ॥९३॥

यस्याः पर्यन्तदेशेषु [7]रत्नालोकैर्वितन्यते । परितः सुरचापश्रीरन्योऽन्यव्यतिषङ्गिभिः[8] ॥९४॥

तामावेष्ट्य सुरास्तस्थुर्यथास्वं[9] दिश्यनुक्रमात् । द्रष्टुकामा जिनस्यामूं जन्मकल्याणसंपदम् ॥९५॥

दिक्पालाश्च यथायोग्यदिग्विदिग्भागसंश्रिताः[10] । तिष्ठन्ति स्म निकायैः स्वैर्जिनोत्सवदिदृक्षया ॥९६॥

गगनाङ्गणमारुध्य[11] व्याप्य[12] मेरोरधित्यकाम्[13] । निवेशः सुरसैन्यानामभवत् पाण्डुके वने ॥९७॥

पाण्डुकं वनमारुद्धं समन्तात् सुरनायकैः । जहासेव दिवो लक्ष्मीं क्ष्मारुहां कुसुमोत्करैः ॥९८॥

जाते हैं—पृथक् रूपसे कभी भी प्रकट नहीं दिखते ॥ ८७ ॥ वह पाण्डुकशिला जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके लिए सदा बहुमूल्य और श्रेष्ठ सिंहासन धारण किये रहती है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मेरु पर्वतके ऊपर दूसरा मेरु पर्वत ही रखा हो ॥ ८८ ॥ वह शिला उस मुख्य सिंहासनके दोनों ओर रखे हुए दो सुन्दर आसनोंको और भी धारण किये हुए है। ये दोनों आसन जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करनेके लिए सौधर्म और ऐशान इन्द्रके लिए निश्चित रहते हैं ॥ ८९ ॥ देव लोग सदा उस पाण्डुकशिलाकी पूजा करते हैं, वह देवोंद्वारा चढ़ाई हुई सामग्रीसे निरन्तर मनोहर रहती है और नित्य ही मंगलमय संगीत, नृत्य, वादित्र आदिसे शोभायमान रहती है ॥ ९० ॥ वह शिला, छत्र, चमर, झारी, ठोना (मोंदरा), दर्पण, कलश, ध्वजा और ताड़का पंखा इन आठ मंगल द्रव्योंको धारण किये हुई है ॥ ९१ ॥ वह निर्मल पाण्डुकशिला शीलव्रतकी परम्पराके समान मुनियोंको बहुत ही इष्ट है और जिनेन्द्रदेवके शरीरके समान अत्यन्त देदीप्यमान, मनोज्ञ अथवा सुगन्धित और पवित्र है ॥९२॥ यद्यपि वह पाण्डुकशिला स्वयं धौत है अर्थात् श्वेतवर्ण अथवा उज्ज्वल है तथापि इन्द्रोंने क्षीरसागरके पवित्र जलसे उसका सैकड़ों बार प्रक्षालन किया है। वास्तवमें वह शिला पुण्य उत्पन्न करनेके लिए खानकी भूमिके समान है ॥ ९३ ॥ उस शिलाके समीपवर्ती प्रदेशोंमें चारों ओर परस्परमें मिले हुए रत्नोंके प्रकाशसे इन्द्रधनुषकी शोभाका विस्तार किया जाता है ॥९४॥ जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणककी विभूतिको देखनेके अभिलाषी देव लोग उस पाण्डुकशिलाको घेरकर सभी दिशाओंमें क्रम-क्रमसे यथायोग्य रूपसे बैठ गये ॥ ९५ ॥ दिक्पाल जातिके देव भी अपने-अपने समूह (परिवार) के साथ जिनेन्द्र भगवान्‌का उत्सव देखनेकी इच्छासे दिशा-विदिशामें जाकर यथायोग्य रूपसे बैठ गये ॥ ९६ ॥ देवोंकी सेना भी उस पाण्डुक वनमें आकाशरूपी आँगनको रोककर मेरु पर्वतके ऊपरी भागमें व्याप्त होकर जा ठहरी ॥९७॥ इस प्रकार चारों ओरसे देव और इन्द्रोंसे व्याप्त हुआ वह पाण्डुक वन ऐसा मालूम होता था मानो वृक्षोंके फूलोंके समूहसे स्वर्गकी शोभाकी हँसी ही उड़ा रहा हो ॥९८॥[2]

---

१. तदुभयपार्श्वयोः । २ जिनाभिषेकाय । हेतौ 'कर्मणा' इति सूत्रात् । ३ –दर्पणान् द०, म० । ४ तालवृन्त । ५ शुभ्रा शुद्धा च । ६. क्षालिता । ७. रत्नोद्योतैः । ८ परस्परसंयुक्तैः । ९ यथास्थानम् । १०. –माश्रिता प०, द० । ११. –मारुह्य प० । १२ वाप्य म० । १३. ऊर्ध्वभूमिम् ।

स्वस्थानाच्चलितः स्वर्गः सत्यमुद्वासित[1] स्तदा । मेरुस्तु स्वर्गतां प्राप धृतशाक्रेशवैभवः ॥९९॥
ततोऽभिषेचनं भर्तुः कर्तुमिन्द्रः प्रचक्रमे । निवेश्याधिशिलं सैंहे विष्टरे प्राङ्मुखं प्रभुम् ॥१००॥
नभोऽशेषं तदापूर्य सुरदुन्दुभयोऽध्वनन् । समन्तात् सुरनारीभिरारेभे नृत्यमूर्जितम् ॥१०१॥
महान् कालागुरूद्दाम[2] धूपधूमस्तदोद्गमात् । कलङ्क इव निर्धूतः पुण्यैः पुण्यजनाशयात् ॥१०२॥
विक्षिप्यन्ते स्म पुण्यार्घाः साक्षतोदकपुष्पकाः । शान्तिपुष्टिवपु[3]र्वर्चकामैर्विष्वक्पुण्यांशका इव ॥१०३॥
महामण्डपविन्यासस्तत्र चक्रे सुरेश्वरैः । यत्र त्रिभुवनं कृत्स्नमास्त स्माबाधितं मिथः ॥१०४॥
सुरानोकहसंभूता मालास्तत्रावलम्बिताः । रेजुर्भ्रमरसंगीतैर्गातुकामा इवेशिनम् ॥१०५॥
अथ प्रथमकल्पेन्द्रः प्रभोः प्रथममज्जने । प्रचक्रे कलशोद्धारं कृतप्रस्तावनाविधिः ॥१०६॥
ऐशानेन्द्रोऽपि रुन्द्रश्रीः सान्द्रचन्दनचर्चितम् । [4]प्रोद्दास्थत कलशं पूर्णं कलशोद्धारमन्त्रवित् ॥१०७॥
शेषैरपि च कल्पेन्द्रैः सानन्दजयघोषणैः । परिचारकता[5] भेजे यथोक्तपरिचर्यया ॥१०८॥
इन्द्राणीप्रमुखा देव्यः साप्सरःपरिवारिकाः । बभूवुः परिचारिण्यो मङ्गलद्रव्यसंपदा ॥१०९॥
शातकुम्भमयैः कुम्भैरम्भः क्षीराम्बुधेः शुचि । सुराः श्रेणीकृतास्तोषादानेतुं प्रसृतास्ततः ॥११०॥

उस समय ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थानसे विचलित होकर खाली हो गया है और इन्द्रका समस्त वैभव धारण करनेसे सुमेरु पर्वत ही स्वर्गपनेको प्राप्त हो गया है ॥ ९९ ॥ तदनन्तर सौधर्म स्वर्गका इन्द्र भगवान्‌को पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके पाण्डुक शिलापर रखे हुए सिंहासनपर विराजमान कर उनका अभिषेक करनेके लिए तत्पर हुआ ॥१००॥ उस समय समस्त आकाशको व्याप्त कर देवोंके दुन्दुभि बज रहे थे और अप्सराओंने चारों ओर उत्कृष्ट नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया था ॥ १०१ ॥ उसी समय कालागुरु नामक उत्कृष्ट धूपका धुआँ बड़े परिमाणमें निकलने लगा था और ऐसा मालूम होता था मानो भगवान्‌के जन्माभिषेकके उत्सवमें शामिल होनेसे उत्पन्न हुए पुण्यके द्वारा पुण्यात्मा जनोंके अन्तःकरणसे हटाया गया कलंक ही हो ॥१०२॥ उसी समय शान्ति, पुष्टि और शरीरकी कान्तिकी इच्छा करनेवाले देव चारों ओरसे अक्षत, जल और पुष्पसहित पवित्र अर्घ्य चढ़ा रहे थे जो कि ऐसे मालूम होते थे मानो पुण्यके अंश ही हों ॥ १०३ ॥ उस समय वहाँपर इन्द्रोंने एक ऐसे बड़े भारी मण्डपकी रचना की थी कि जिसमें तीनों लोकके समस्त प्राणी परस्पर बाधा न देते हुए बैठ सकते थे ॥ १०४ ॥ उस मण्डपमें कल्पवृक्षके फूलोंसे बनी हुई अनेक मालाएँ लटक रही थीं और उनपर बैठे हुए भ्रमर गा रहे थे। उन भ्रमरोंके संगीतसे वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवान्‌का यश ही गाना चाहती हों ॥ १०५ ॥

तदनन्तर प्रथम स्वर्गके इन्द्रने उस अवसरकी समस्त विधि करके भगवान्‌का प्रथम अभिषेक करनेके लिए प्रथम कलश उठाया ॥ १०६ ॥ और अतिशय शोभायुक्त तथा कलश उठानेके मन्त्रको जाननेवाले दूसरे ऐशानेन्द्रने भी सघन चन्दनसे चर्चित, भरा हुआ दूसरा कलश उठाया ॥ १०७॥ आनन्दसहित जय-जय शब्दका उच्चारण करते हुए शेष इन्द्र उन दोनों इन्द्रोंके कहे अनुसार परिचर्या करते हुए परिचारक (सेवक) वृत्तिको प्राप्त हुए ॥ १०८ ॥ अपनी-अपनी अप्सराओं तथा परिवारसे सहित इन्द्राणी आदि मुख्य-मुख्य देवियाँ भी मंगलद्रव्य धारण कर परिचर्या करनेवाली हुई थीं ॥१०९॥ तत्पश्चात् बहुत-से देव सुवर्णमय कलशोंसे क्षीरसागरका पवित्र जल लानेके लिए श्रेणीबद्ध होकर बड़े सन्तोषसे

१. शून्यीकृतः । २. –गरुद्दाम म०, ल० । ३. वर्चः तेज इत्यर्थः । ४. उद्धरण कृतवान् । प्रोदास्थात् म०, ल० । ५. परिवारकता प०, अ०, ल० ।

पूतं स्वायम्भुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितम् । नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ॥१११॥
मत्वेति नाकिभिर्नूनमनूनप्रमदोदयैः । पञ्चमस्यार्णवस्याम्भः स्नानीयमुपकल्पितम् ॥११२॥
अष्टयोजनगम्भीरैर्मुखे योजनविस्तृतैः । प्रारेभे काञ्चनैः कुम्भैः जन्माभिषवणोत्सवः ॥११३॥
महामाना विरेजुस्ते सुराणामुद्धृताः करैः । कलशाः [1]कल्मषोन्मेषमोषिणो विघ्नकाषिणः [2] ॥११४॥
प्रादुरासन्नभोभागे स्वर्णकुम्भा धृतार्णसः [3] । मुक्ताफलाञ्चितग्रीवाश्चन्दनद्रवचर्चिताः ॥११५॥
तेषामन्योन्यहस्ताग्रसंक्रान्तैर्जलपूरितैः । कलशैर्व्यानशे व्योम हैमैः सांध्यैरिवाम्बुदैः ॥११६॥
[4]विनिर्ममे बहून् बाहून् [5]तानादित्सु [6] शताध्वरः । स तैः [7] साभरणैर्भेजे [8] भूषणाङ्ग इवाङ्घ्रिपः ॥११७॥
दो सहस्रोद्धृतैः कुम्भैः रौक्मैर्मुक्ताफलाञ्चितैः । भेजे पुलोमजाजानिः [9] भाजनाङ्ग [10] द्रुमोपमाम् ॥११८॥
जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत् । तथा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥११९॥
सैषा धारा जिनस्याधिमूर्द्धं रेजे पतन्त्यपाम् । हिमाद्रेः शिरसीवोच्चैः [11] रच्छिन्नाम्बुर्द्युनिम्नगा ॥१२०॥
ततः कल्पेश्वरैः सर्वैः सम [12] धारा निपातिता । सन्ध्याभ्रैरिव सौवर्णैः कलशैरम्बुसंभृतैः ॥१२१॥

निकले ॥११०॥ 'जो स्वयं पवित्र है और जिसमें रुधिर भी क्षीरके समान अत्यन्त स्वच्छ है ऐसे भगवान्‌के शरीरका स्पर्श करनेके लिए क्षीरसागरके जलके सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है' ऐसा मानकर ही मानो देवोंने बड़े हर्षके साथ पाँचवे क्षीरसागरके जलसे ही भगवान्‌का अभिषेक करनेका निश्चय किया था ॥१११-११२॥ आठ योजन गहरे, मुखपर एक योजन चौड़े (और उदरमें चार योजन चौड़े) सुवर्णमय कलशोंसे भगवान्‌के जन्माभिषेकका उत्सव प्रारम्भ किया गया था ॥११३॥ कालिमा अथवा पापके विकासको चुरानेवाले, विघ्नोंको दूर करनेवाले और देवोंके द्वारा हाथों-हाथ उठाये हुए वे बड़े भारी कलश बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥११४॥ जिनके कण्ठभाग अनेक प्रकारके मोतियोंसे शोभायमान हैं, जो घिसे हुए चन्दनसे चर्चित हो रहे हैं और जो जलसे लबालब भरे हुए हैं ऐसे वे सुवर्ण-कलश अनुक्रमसे आकाशमें प्रकट होने लगे ॥११५॥ देवोंके परस्पर एकके हाथसे दूसरेके हाथमे जानेवाले और जलसे भरे हुए उन सुवर्णमय कलशोंसे आकाश ऐसा व्याप्त हो गया था मानो वह कुछ-कुछ लालिमायुक्त सन्ध्याकालीन बादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥११६॥ उन सब कलशोंको हाथमें लेनेकी इच्छासे इन्द्रने अपने विक्रिया-बलसे अनेक भुजाएँ बना लीं। उस समय आभूषण-सहित उन अनेक भुजाओंसे वह इन्द्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥११७॥ अथवा वह इन्द्र एक साथ हजार भुजाओं-द्वारा उठाये हुए और मोतियोंसे सुशोभित उन सुवर्णमय कलशोंसे ऐसा शोभायमान होता था मानो भाजनांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥११८॥ सौधर्मेन्द्रने जय-जय शब्दका उच्चारण कर भगवान्‌के मस्तकपर पहली जलधारा छोड़ी उसी समय जय जय जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवोंने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था ॥११९॥ जिनेन्द्रदेवके मस्तकपर पड़ती हुई वह जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो हिमवान् पर्वतके शिखरपर ऊँचेसे पड़ती हुई अखण्ड जल-वाली आकाशगंगा ही हो ॥१२०॥ तदनन्तर अन्य सभी स्वर्गोंके इन्द्रोंने सन्ध्या समयके बादलों-के समान शोभायमान, जलसे भरे हुए सुवर्णमय कलशोंसे भगवान्‌के मस्तकपर एक साथ जल-धारा छोड़ी। यद्यपि वह जलधारा भगवान्‌के मस्तकपर ऐसी पड़ रही थी मानो गंगा सिन्धु

---

१ छेदकालादिदोषप्राकट्यरहिता । २. विघ्ननाशका । विघ्नकर्षिण अ० । विघ्नकार्पिणः स०, म०, प० । ३ धृतजला । ४. विनिर्मितवान् ५ पुलःशान् । ६. स्वीकर्तुमिच्छुः । ७. बाहुभिः । ८ –भेजे अ०, प०, म०, स०, ल० । ९. पुलोमजा जाया यस्यासौ, इन्द्र इत्यर्थः । १०. भाजनाङ्गसमो–ल० । ११ –रच्छिन्नाम्बुद्यु–ब०, प० । १२ युगपत् ।

महानद्य इवापप्तन् धारा मूर्धनीशितुः । हेलयैव महिम्नासौ ताः[1] प्रत्यैच्छद् गिरीन्द्रवत् ॥१२२॥
विरेजुरच्छटा दूरमुच्चलन्त्यो[2] नभोऽङ्गणे । जिनाङ्गस्पर्शसंसर्गात् पापान्मुक्ता इवोर्ध्वगाः ॥१२३॥
काश्चनोच्चलिता व्योम्नि विबभुः शीकरच्छटाः । छटामिवामरावासप्राङ्गणेषु[3] तितांसवः ॥१२४॥
तिर्यग्विसारिणः केचित् स्नानाम्भश्शीकरोत्कराः । कर्णपूरश्रियं तेनुर्दिग्वधूमुखसङ्गिनीम् ॥१२५॥
निर्मले श्रीपतेरङ्गे पतित्वा[4] प्रतिबिम्बिताः । जलधाराः स्फुरन्ति स्म दिष्ट्यावृद्ध्येव[5] संगताः ॥१२६॥
गिरेरिव विभोमूर्ध्नि सुरेन्द्राभैर्निपातिताः । विरेजुर्निर्झराकारा धाराः क्षीरार्णवाम्भसाम् ॥१२७॥
तोषादिव समुत्पत्य भूयोऽपि निपतन्त्यधः । जलानि[6] जहसुर्नूनं[7] जडतां[8] स्वां स्वशीकरैः ॥१२८॥
स्वर्धुनीशीकरैः सार्धं स्पर्धां कर्तुमिवोर्ध्वगैः । शीकरैर्द्राक्[9] पुनाति स्म[10] स्वर्धामान्यमृतप्लवः[11] ॥१२९॥
पवित्रो भगवान् पूतैरङ्गैस्तदपुनाज्जलम्[12] । तत्पुनर्जगदेवेदम्[13] पावीद् व्याप्तदिङ्मुखम् ॥१३०॥
तेनाम्भसा सुरेन्द्राणां पृतना[14] प्लाविताः क्षणम् । लक्ष्यन्ते स्म पयोवार्धौ निमग्नाङ्ग्य इवाकुलाः ॥१३१॥
तदम्भः कलशास्यस्थैः सरोजैः सममापतत् । हंसैरिव परां कान्तिमवापाद्रीन्द्रमस्तके ॥१३२॥
अशोकपल्लवैः कुम्भैर्मुखमुक्तैस्ततं[15] पयः । सच्छायमभवत् कीर्णं विद्रुमाणामिवाङ्कुरैः ॥१३३॥

आदि महानदियाँ ही मिलकर एक साथ पड़ रही हों तथापि मेरु पर्वतके समान स्थिर रहनेवाले जिनेन्द्रदेव उसे अपने माहात्म्यसे लीलामात्रमें ही सहन कर रहे थे ॥१२१-१२२॥ उस समय कितनी ही जलकी बूँदें भगवान्‌के शरीरका स्पर्श कर आकाशरूपी आँगनमें दूर तक उछल रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो उनके शरीरके स्पर्शसे पापरहित होकर ऊपरको ही जा रही हों ॥१२३॥ आकाशमें उछलती हुई कितनी ही पानीकी बूँदें ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो देवोंके निवासगृहोंमें छींटे ही देना चाहती हों ॥१२४॥ भगवान्‌के अभिषेक जलके कितने ही छींटे दिशा-विदिशाओंमें तिरछे फैल रहे थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो दिशारूपी स्त्रियोंके मुखोंपर कर्णफूलोंकी शोभा ही बढ़ा रहे हों ॥१२५॥ भगवान्‌के निर्मल शरीरपर पड़कर उसीमें प्रतिबिम्बित हुई जलकी धाराएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो अपनेको बड़ा भाग्यशाली मानकर उन्हींके शरीरके साथ मिल गयी हों ॥१२६॥ भगवान्‌के मस्तकपर इन्द्रों-द्वारा छोड़ी हुई क्षीरसमुद्रके जलकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो किसी पर्वतके शिखरपर मेघों-द्वारा छोड़े हुए सफेद झरने ही पड़ रहे हों ॥१२७॥ भगवान्‌के अभिषेकका जल सन्तुष्ट होकर पहले तो आकाशमें उछलता था और फिर नीचे गिर पड़ता था। उस समय जो उसमें जलके बारीक छींटे रहते थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो अपनी मूर्खतापर हँस ही रहा हो ॥१२८॥ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह आकाशगंगाके जलबिन्दुओंके साथ स्पर्धा करनेके लिए ही मानो ऊपर जाते हुए अपने जलकणोंसे स्वर्गके विमानोंको शीघ्र ही पवित्र कर रहा था ॥१२९॥ भगवान् स्वयं पवित्र थे, उन्होंने अपने पवित्र अंगोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था और उस जलने समस्त दिशाओंमें फैलकर इस सारे संसारको पवित्र कर दिया था ॥१३०॥ उस अभिषेकके जलमें डूबी हुई देवोंकी सेना क्षण-भरके लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो क्षीरसमुद्रमें डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥१३१॥ वह जल कलशोंके मुखपर रखे हुए कमलोंके साथ सुमेरु पर्वतके मस्तकपर पड़ रहा था इसलिए ऐसी शोभाको प्राप्त हो रहा था मानो हंसोंके साथ ही पड़ रहा हो ॥१३२॥ कलशोंके मुखसे गिरे हुए अशोकवृक्षके लाल-लाल पल्लवोंसे व्याप्त हुआ वह स्वच्छ जल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो

---

१. प्रत्यग्रहीत् । २. –च्छलन्त्यो स०, द०, प०, अ० । ३. विस्तारं कर्तुमिच्छवः । ४ –तिपविन्निता म० । ५. दिष्ट्या वृद्ध्या भाग्यातिशयेन इत्यर्थः । दिष्टिवृद्धयैव प०, द० । ६. हसन्ति स्म । ७. इव । ८. जलता जडत्वं च । ९. झटिति । १०. स्वर्गगृहाणि [स्वर्गावधिपर्यन्तमित्यर्थः] । ११. क्षीरप्रवाहः । १२. पवित्रमकरोत् । १३. पुनाति स्म । १४. अवगाहीकृताः । १५. विस्तृतम् ।

स्फाटिके स्नानपीठे तत् स्वच्छशोभमभाज्जलम्। भर्तुः पादप्रसादेन[1] प्रसेदिवदिवाधिकम् ॥१३४॥
रत्नांशुभिः क्वचिद् व्याप्तं विचित्रैस्तद्बभौ पयः। चापमैन्द्रं द्रवीभूय पयोभावमिवागतम् ॥१३५॥
क्वचिन्महो[2]पलोत्सर्पत्प्रभाभिररुणीकृतम्। संध्याम्बुदद्रवच्छायां भेजे तत्पावनं[3] वनम् ॥१३६॥
हरिनीलोपलच्छायाततं क्वचिददो जलम्। तमो घनमिवैकत्र निलीनं समदृश्यत ॥१३७॥
क्वचिन्मरकताभीषु[4]प्रतानैरनुरञ्जितम्। हरितांशुकसच्छायमभवत् स्नपनोदकम् ॥१३८॥
तदम्बुशीकरैर्व्योम समाक्रामद्विराबभौ। जिनाङ्गस्पर्शसंतोषात् प्रहासमिव नाटयत् ॥१३९॥
स्नानाम्बुशीकराः केचि[5]दायुसीमविलङ्घिनः। [6]व्यात्युक्षीं स्वर्गलक्ष्म्येव कर्तुकामाश्चकासिरे ॥१४०॥
विष्वगुच्छलिताः काश्चिदच्छटा[7] रुद्धदिक्तटाः। [8]व्यावहासीमिवानन्दाद् दिग्वधूभिः समं व्यधुः[9] ॥१४१॥
दूरमुत्सारयन् स्वैरमासीनान् सुरदम्पतीन्। स्नानपूरः स पर्यन्ता[10]न्मेरोराशिश्रियद् द्रुतम् ॥१४२॥
उद्भारः[11] पयोवार्द्धेरापतन्मन्दरादधः। आभूतलं तदुन्मानं[12] मिमान इव दिद्युते ॥१४३॥
गुहामुखैरिवापीतः शिखरैरिव सात्कृतः[13]। कन्दरैरिव निष्ठ्यूतः[14] प्राध्नोन्मेरौ पयःप्लवः ॥१४४॥

मूँगाके अंकुरोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥१३३॥ स्फटिक मणिके बने हुए निर्मल सिंहासनपर जो स्वच्छ जल पड़ रहा था वह ऐसा मालूम होता था मानो भगवान्‌के चरणोंके प्रसादसे और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥१३४॥ कहींपर चित्र-विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा शोभायमान होता था, मानो इन्द्रधनुष ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥१३५॥ कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई कान्तिसे लाल-लाल हुआ वह पवित्र जल सन्ध्याकालके पिघले हुए बादलोंकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १३६ ॥ कहींपर इन्द्रनीलमणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानो किसी एक जगह छिपा हुआ गाढ़ अन्धकार ही हो ॥ १३७ ॥ कहींपर मरकतमणियों (हरे रंगके मणियों) की किरणोंके समूहसे मिला हुआ वह अभिषेकका जल ठीक हरे वस्त्रके समान हो रहा था ॥ १३८ ॥ भगवान्‌के अभिषेक जलके उड़ते हुए छींटोंसे आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान्‌के शरीरके स्पर्शसे सन्तुष्ट होकर हँस ही रहा हो ॥ १३९ ॥ भगवान्‌के स्नान-जलकी कितनी ही बूँदें आकाशकी सीमाका उल्लंघन करती हुई ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके साथ जल-क्रीड़ा (फाग) ही करना चाहती हों ॥ १४० ॥ सब दिशाओंको रोककर सब ओर उछलती हुई कितनी ही जलकी बूँदें ऐसी मालूम होती थीं मानो आनन्दसे दिशारूपी स्त्रियोंके साथ हँसी ही कर रही हों ॥१४१॥ वह अभिषेकजलका प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुए सुरदम्पतियों-को दूर हटाता हुआ शीघ्र ही मेरुपर्वतके निकट जा पहुँचा ॥१४२॥ और मेरु पर्वतसे नीचे भूमि तक पड़ता हुआ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरु पर्वतको खड़े नापसे नाप ही रहा हो ॥ १४३ ॥ उस जलका प्रवाह मेरु पर्वतपर ऐसा बढ़ रहा था मानो शिखरोंके द्वारा खकारकर दूर किया जा रहा हो, गुहारूप मुखोंके द्वारा पिया

---

१ प्रसन्नतावत्। २ पद्मरागमाणिक्यम्। ३. पवित्रं जलम्। ४. किरणसमूहैः। 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यभिधानात्। ५ आकाशावधिपर्यन्तम्। ६. अन्योन्यजलसेचनम्। ७. जलरेणवः। ८. अन्योन्यहसनम्। –व्यापहासी– अ०, प०, द०, स०। म० पुस्तके द्विविधः पाठः। ९ दधुः म०, द०। १०. परिसरान्। 'पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यभिधानात्। ११. जलप्रवाहः। १२. मेरोरुत्सेधप्रमाणम्। १३. सात्कारं कृत्वा निष्ठ्यूतः। सस्वनं दूरं निष्ठ्यूत इत्यर्थः। १४. अवृधत्। 'ऋधु वृद्धौ'।

किं [1]गौर्यस्त्रिदशैर्मुक्तो युक्ता मे स्वर्गताधुना । नूनमित्यकखीन्[2]मेरु दिव[3] स्नानाम्बुनिर्झरैः ॥१४५॥
[4]अह्वगीदखिलं व्योम ज्योतिश्चक्रं समस्थगीत् । [5]प्रोर्णवीन्मेरुमारुन्धन् क्षीरपूरः स रोदसी[6] ॥१४६॥
क्षणमक्षणनीयेषु[7] वनेषु कृतविश्रम । प्राप्तक्षण[8] इवान्यत्र व्याप[9] सोऽम्भःप्लव. क्षणात् ॥१४७॥
तरुषण्डनिरुद्धत्वादन्तर्वणमनुल्वण[10] । वयत्रीथीरतीत्यारात्[11] प्रससार महाप्लव ॥१४८॥
स बभासे पयःपूरः प्रसर्पन्नधिशैलराट्[12] । सितैरिवांशुकैरेनं[13] स्थगयन् स्थगिताम्बरः[14] ॥१४९॥
विष्वगद्रीन्द्रमूर्णित्वा[मूर्णुत्वा[15]]पयोऽर्णवजलप्लवः । [16]प्रवहन्नवह[17]च्छायां[18] स्व स्रवन्ती[19] पयःस्रुतेः॥१५०॥
[20]शब्दाद्वैतमिवातन्वन् कुर्वन् सृष्टिमिवाम्मयीम्[21] । [22]विललास पय पूरः प्रध्वनन्नद्रिकुक्षिषु[23] ॥१५१॥
विश्वगाप्लावितो मेरुर[24]पृप्लवैरामहीतलम् । अज्ञातपूर्वतां भेजे[25] मनसाज्ञायिनामपि ॥१५२॥

जा रहा हो और कन्दराओंके द्वारा बाहर उगला जा रहा हो ॥१४४॥ उस समय मेरु पर्वत-पर अभिषेक जलके जो झरने पड रहे थे उनसे ऐसा मालूम होता था मानो वह यह कहता हुआ स्वर्गको धिक्कार ही दे रहा हो कि अब स्वर्ग क्या वस्तु है ? उसे तो देवोंने भी छोड़ दिया है। इस समय समस्त देव हमारे यहाँ आ गये हैं इसलिए हमें ही साक्षात् स्वर्ग मानना योग्य है ॥ १४५ ॥ उस जलके प्रवाहने समस्त आकाशको ढक लिया था, ज्योतिष्पटलको घेर लिया था, मेरु पर्वतको आच्छादित कर लिया था और पृथिवी तथा आकाशके अन्तरालको रोक लिया था॥१४६॥ उस जलके प्रवाहने मेरु पर्वतके अच्छे वनोंमें क्षण-भर विश्राम किया और फिर सन्तुष्ट हुए के समान वह दूसरे ही क्षणमें वहाँसे दूसरी जगह व्याप्त हो गया ॥१४७॥ वह जलका बड़ा भारी प्रवाह वनके भीतर वृक्षोंके समूहसे रुक जानेके कारण धीरे-धीरे चलता था परन्तु ज्यों ही उसने वनके मार्गको पार किया त्यों ही वह शीघ्र ही दूर तक फैल गया ॥१४८॥ मेरु पर्वतपर फैलता और आकाशको आच्छादित करता हुआ वह जलका प्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेरु पर्वतको सफेद वस्त्रोंसे ढक ही रहा हो ॥१४९॥ सब ओरसे मेरु पर्वतको आच्छादित कर बहता हुआ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह आकाशगंगाके जलप्रवाहकी शोभा धारण कर रहा था ॥१५०॥ मेरु पर्वतकी गुफाओंमें शब्द करता हुआ वह जलका प्रवाह ऐसा मालूम होता था मानो शब्दाद्वैतका ही विस्तार कर रहा हो अथवा सारी सृष्टिको जलरूप ही सिद्ध कर रहा हो ॥ भावार्थ–शब्दाद्वैतवादियोंका कहना है कि संसारमें शब्द ही शब्द है शब्दके सिवाय और कुछ भी नहीं है। उस समय सुमेरुकी गुफाओंमे पड़ता हुआ जलप्रवाह भी भारी शब्द कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो शब्दाद्वैतवादका समर्थन ही कर रहा हो। ईश्वरसृष्टिवादियोंका कहना है कि यह समस्त सृष्टि पहले जलमयी थी, उसके बाद ही स्थल आदिकी रचना हुई है उस समय सब ओर जल-ही-जल दिखलाई पड़ रहा था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो वह सारी सृष्टिको जलमय ही सिद्ध करना चाहता हो ॥१५१॥ वह मेरु पर्वत ऊपरसे लेकर नीचे पृथिवीतल तक सभी ओर जलप्रवाहसे तर हो रहा था इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञानी देवोंको भी अज्ञात पूर्व मालूम होता था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था

१. स्वर्ग । २. हसति स्म । –मित्यकषीन्– प०, द० । –मित्यकषन्– अ०, स० । ३ स्वर्गम । ४. 'ह्वृ गे संवरणे' । ५. 'ऊर्णुञ् आच्छादने' । ६. द्यावापृथिव्यौ। ७ अहिंस्येषु। अच्छेद्येष्वित्यर्थ.। ८. प्राप्त-सन्तोष इव । ९. व्यानशे । १०. अनुत्कट. । ११. 'आराद् दूरसमीपयोः' । १२ मेरौ । १३. आच्छादयन् । १४. आच्छादिताकाशः । १५. छादयित्वा । १६. प्रवाहरूपेण गच्छन् । १७ धरति स्म । १८ स्व स्रवन्त्या अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । १९. गङ्गाजलप्रवाहस्य। २०. स्फोटवादम् । २१. –मिवाप्मयीम् म०, ल० । जलमयीन् । २२. लसति स्म । २३. –नन्नद्रिकुक्षिषु द०, म०, ल० । दीप्तगुहासु । २४ जलप्रवाहैः । २५. प्रत्यक्षज्ञानिनाम् ।

न मेरुरयमुत्फुल्लनमेरुतरुराजित । राजतो[1] गिरिरेष स्याद् उल्लसद्बिसपाण्डरः[2] ॥१५३॥
पीयूषस्येव राशिर्नु स्फाटिको नु शिलोच्चयः[3] । सुधाधवलितः किं नु प्रासादस्त्रिजगच्छ्रियः ॥१५४॥
वितर्कमिति तन्वानो गिरिराजे पयःप्लवः । व्यानशे[4] विश्वदिक्कान्तो दिक्कान्ताः स्नपयन्निव ॥१५५॥
ऊर्ध्वमुच्चलिताः केचित् शीकरा विश्वदिग्गताः[5] । श्वेतच्छत्रश्रियं मेरोरातेनुर्विधुनिर्मलाः ॥१५६॥
हारनीहारकह्लारकुमुदाम्भोजसत्त्विषः । प्रावर्त्तन्त पयःपूरा यशःपूरा इवार्हतः ॥१५७॥
गगनाङ्गणपुष्पोपहारा हारामलत्विषः । दिग्वधूकर्णपूरास्ते बभुः स्नपनाम्बुशीकराः ॥१५८॥
शीकरैराकिरन्नाकमालोकान्तविसर्पिभिः । ज्योतिर्लोकमनुप्राप्य जजृम्भे सोऽम्भसां प्लवः ॥१५९॥
स्नानपूरे निमग्नाङ्ग्यस्तारास्तरलरोचिषः । मुक्ताफलश्रियं भेजुर्विप्रकीर्णाः समन्ततः ॥१६०॥
तारकाः क्षणमध्यास्य स्नानपूरं विनिस्सृताः । पयोलवस्रुतो[6] रेजुः करकाणामिवालयः[7][8] ॥१६१॥
स्नानाम्भसि वभौ भास्वान् तत्क्षणं[9][10] कृतनिर्वृतिः । तप्तः पिण्डो महाँल्लौहः पानीयमिव पायितः ॥१६२॥
पयःपूरे वहत्यस्मिन् श्वेतभानु[11] र्व्यभाव्यत । जरद्धंस इवोढ[12] जडिमा [13]मन्थरं तरन् ॥१६३॥

जैसे उसे पहले कभी देखा ही न हो ॥१५२॥ उस समय वह पर्वत शोभायमान मृणालके समान सफेद हो रहा था और फूले हुए नमेरु वृक्षोंसे सुशोभित था इसलिए यही मालूम होता था कि वह मेरु नहीं है किन्तु कोई दूसरा चाँदीका पर्वत है ॥१५३॥ क्या यह अमृतकी राशि है? अथवा स्फटिकमणिका पर्वत है? अथवा चूनेसे सफेद किया गया तीनों जगत्की लक्ष्मीका महल है—इस प्रकार मेरु पर्वतके विषयमें वितर्क पैदा करता हुआ वह जलका प्रवाह सभी दिशाओंके अन्त तक इस प्रकार फैल गया मानो दिशारूपी स्त्रियोंका अभिषेक ही कर रहा हो ॥१५४-१५५॥ चन्द्रमाके समान निर्मल उस अभिषेकजलकी कितनी ही बूँदें ऊपरको उछलकर सब दिशाओंमें फैल गयी थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो मेरु पर्वतपर सफेद छत्रकी शोभा ही बढ़ा रही हों ॥१५६॥ हार, बर्फ, सफेद कमल और कुमुदोंके समान सफेद जलके प्रवाह सब ओर प्रवृत्त हो रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्के यशके प्रवाह ही हों ॥१५७॥ हारके समान निर्मल कान्तिवाले वे अभिषेकजलके छींटे ऐसे मालूम होते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें फूलोंके उपहार ही चढ़ाये गये हों अथवा दिशारूपी स्त्रियोंके कानोंके कर्णफूल ही हों ॥१५८॥ वह जलका प्रवाह लोकके अन्त तक फैलनेवाली अपनी बूँदोंसे ऊपर स्वर्ग तक व्याप्त होकर नीचेकी ओर ज्योतिष्पटल तक पहुँचकर सब ओर वृद्धिको प्राप्त हो गया था ॥१५९॥ उस समय आकाशमें चारों ओर फैले हुए तारागण अभिषेकके जलमें डूबकर कुछ चंचल प्रभाके धारक हो गये थे इसलिए बिखरे हुए मोतियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१६०॥ वे तारागण अभिषेकजलके प्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे बाहर निकल आये थे परन्तु उस समय भी उनसे कुछ-कुछ पानी चू रहा था इसलिए ओलोंकी पङ्क्तिके समान शोभायमान हो रहे थे ॥१६१॥ सूर्य भी उस जलप्रवाहमें क्षण-भर रहकर उससे अलग हो गया था, उस समय वह ठण्डा भी हो गया था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कोई तपा हुआ लोहेका बड़ा भारी गोला पानीमें डालकर निकाला गया हो ॥१६२॥ उस बहते हुए जलप्रवाहमें चन्द्रमा ऐसा मालूम होता था मानो ठण्डसे जड़ होकर (ठिठुरकर) धीरे-धीरे तैरता हुआ एक बूढ़ा हंस ही हो ॥१६३॥ उस समय ग्रहमण्डल भी चारों ओर फैले हुए जलके प्रवाहसे आकृष्ट होकर (खिंचकर) विपरीत गतिको प्राप्त हो गया था। मालूम होता है कि उसी कारणसे

---

१. रजतमयः। २ तद्विसपाण्डुर. अ०, प०, ल०, स० । बिसवद्धवलः। ३. पर्वतः। ४. विश्वदिक्पर्यन्तः। ५ -दिग्गता स० । ६. स्रवन्तः। ७. वर्षोपलानाम् । 'वर्षोपलस्तु करकः' इत्यभिधानात् । ८. पङ्क्तयः। ९. तत्क्षणात् प०, द० । १०. कृतसुख.। ११ चन्द्रः। १२. धृतजडत्वम् । १३. मन्दं मन्दम् ।

ग्रहमण्डलमाकृष्टं[1] पर्यस्तैः सलिलप्लवैः । [2]विपर्यस्तां गतिं भेजे [3]वक्रचारमिवाश्रितम् ॥१६४॥
[4]भगणः प्रगुणीभूत[5]किरणं जलविप्लुतम्[6] । सिषेवे पूषणं[7] मोहात् [8]प्रालेयांशुविशङ्कया ॥१६५॥
ज्योतिश्चक्रं क्षरज्ज्योतिः क्षीरपूरमनुभ्रमत् । वेलातिक्रमभीत्येव नास्थादेकमपि क्षणम् ॥१६६॥
ज्योतिःपटलमित्यासीत् स्नानौघैः[9] क्षणमाकुलम् । कुलालचक्रमाविद्धमिव तिर्यक्परिभ्रमत्[10] ॥१६७॥
पर्यापतद्भिरुत्संगाद् गिरेः स्वर्लोकधारिणः । विरलैः स्नानपूरैस्तैर्नृलोकः पावनीकृतः ॥१६८॥
निर्वापिता मही कृत्स्ना कुलशैलाः पवित्रिताः । कृता निरीतयो देशाः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥१६९॥
कृत्स्नामिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना । किं नाम स्नानपूरेण श्रेयः शेषितमङ्गिनाम् ॥१७०॥
अथ तस्मिन् महापूरे ध्वानापूरितदिङ्मुखे । प्रशान्ते शमिताशेषभुवनोष्मण्य[11] शेषतः ॥१७१॥
[12]रेचितेषु महामेरोः कन्दरेषु जलप्लवैः । प्रत्याश्वासमिवायाते मेरौ [13]सवनकानने ॥१७२॥
धूपेषु दह्यमानेषु सुगन्धीन्धनयोनिषु । ज्वलत्सु मणिदीपेषु [14]भक्तिमात्रोपयोगिषु ॥१७३॥
[15]पुण्यपाठान् पठत्सूच्चैः संपाठं[16] सुरवन्दिषु । गायन्तीषु सुकण्ठीषु किंनरीषु कलस्वनम् ॥१७४॥
जिनकल्याणसंबन्धि[17] मङ्गलोद्गीतिनिस्स्वने । कुर्वाणे विश्वगीर्वाण[18]लोकस्य श्रवणोत्सवम् ॥१७५॥

वह अब भी वक्रगतिका आश्रय लिये हुए है ॥१६४॥ उस समय जलमें डूबे हुए तथा सीधी और शान्त किरणोंसे युक्त सूर्यको भ्रान्तिसे चन्द्रमा समझकर तारागण भी उसकी सेवा करने लगे थे ॥१६५॥ सम्पूर्ण ज्योतिश्चक्र जलप्रवाहमें डूबकर कान्तिरहित हो गया था और उस जलप्रवाहके पीछे-पीछे चलने लगा था मानो अवसर चूक जानेके भयसे एक क्षण भी नहीं ठहर सका हो ॥१६६॥ इस प्रकार स्नानजलके प्रवाहसे व्याकुल हुआ ज्योतिष्पटल क्षण-भरके लिए, घुमाये हुए कुम्हारके चक्रके समान तिरछा चलने लगा था ॥१६७॥ स्वर्गलोकको धारण करनेवाले मेरु पर्वतके मध्य भागसे सब ओर पड़ते हुए भगवान्‌के स्नानजलने जहाँ-तहाँ फैल-कर समस्त मनुष्यलोकको पवित्र कर दिया था ॥१६८॥ उस जलप्रवाहने समस्त पृथिवी सन्तुष्ट (सुखरूप) कर दी थी, सब कुलाचल पवित्र कर दिये थे, सब देश अतिवृष्टि आदि ईतियोंसे रहित कर दिये थे, और समस्त प्रजा कल्याणसे युक्त कर दी थी। इस प्रकार समस्त लोकनाडीको पवित्र करते हुए उस अभिषेकजलके प्रवाहने प्राणियोंका ऐसा कौन-सा कल्याण बाकी रख छोड़ा था जिसे उसने न किया हो? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१६९-१७०॥

अथानन्तर अपने 'छलछल' शब्दोंसे समस्त दिशाओंको भरनेवाला, तथा समस्त लोककी उष्णता शान्त करनेवाला वह जलका बड़ा भारी प्रवाह जब बिलकुल ही शान्त हो गया ॥१७१॥ जब मेरु पर्वतकी गुफाएँ जलसे रिक्त (खाली) हो गयीं, जल और वनसहित मेरु पर्वतने कुछ विश्राम लिया ॥१७२॥ जब सुगन्धित लकड़ियोंकी अग्निमें अनेक प्रकारके धूप जलाये जाने लगे और मात्र भक्ति प्रकट करनेके लिए मणिमय दीपक प्रज्वलित किये गये ॥१७३॥ जब देवोंके वन्दीजन अच्छी तरह उच्च स्वरसे पुण्य बढ़ानेवाले अनेक स्तोत्र पढ रहे थे, मनोहर आवाजवाली किन्नरी देवियाँ मधुर शब्द करती हुई गीत गा रही थीं १७४॥ जब जिनेन्द्र भगवान्‌के कल्याणकसम्बन्धी मंगल गानेके शब्द समस्त देव लोगोंके कानोंका उत्सव

१ परितः क्षिप्तैः। २. विप्रकीर्णाम्। ३. वक्रगमनम्। ४. नक्षत्रसमूहः। ५. ऋजुभूतकरम्। ६. धौतम्। ७ सूर्यम्। ८. चन्द्रः। ९. स्नानजलप्रवाहैः। १०. –परिभ्रमम्। ११. उष्मे। १२. परित्यक्तेषु। १३. सजलवने। १४. जिनदेहदीप्तेः सकाशात् निजदीप्तेर्व्यर्थत्वात्। १५. प्रशस्यगद्य-पद्यादिमङ्गलान्। १६. सम्यक्पाठं यथा भवति तथा। १७. मङ्गलगीत। १८. जनस्य।

जिनजन्माभिषेकार्थं[1] प्रतिबद्धैर्निदर्शनैः[2] । [3]नाट्यवेदं प्रयुञ्जाने [4]सुरशैलूषपेटके ॥१७६॥
गन्धर्वारब्धसंगीतमृदङ्गध्वनिमूर्च्छिते[5] । दुन्दुभिध्वनिते मन्द्रे श्रोत्रानन्दं प्रतन्वति ॥१७७॥
कुचकुम्भैः सुरस्त्रीणां [6]कुङ्कुमाङ्कैरलंकृते । हाररोचिःप्रसूनौघकृतपुष्पोपहारके ॥१७८॥
मेरुरङ्गेऽप्सरोवृन्दे सलीलं परिनृत्यति । [7]करणैरङ्गहारैश्च[8] [9]सलयैश्च परिक्रमैः[10] ॥१७९॥
शृण्वत्सु मङ्गलोद्गीतीः सावधानं सुधाशिषु[11] । वृत्तेषु जनजल्पेषु जिनप्राभवशंसिषु ॥१८०॥
नान्दीतूर्यरवे विश्वगापूरयति रोदसी[12] । जयघोषप्रतिध्वानैः स्तुवान इव मन्दरे ॥१८१॥
सञ्चरत्खचरी[13]वक्त्रघर्माम्बुकणचुम्बिनि । [14]धुतोपान्तवने वाति मन्दं मन्द[15]नभस्वति ॥१८२॥
सुरदौवारिकैश्चित्रवेत्रदण्डधरैर्मुहुः । [16]सामाजिकजने विष्वक् [17]सार्यमाणे सहुङ्कृतम् ॥१८३॥
तत्समुत्सारणत्रासान्मूकीभावमुपागते । [18]अनियुक्तजने सद्यश्चित्रार्पित इव स्थिते ॥१८४॥
शुद्धाम्बुस्नपने निष्ठां[19] गते गन्धाम्बुभिः शुभैः । ततोऽभिषेक्तुमीशानं[20,21] शतयज्वा[22] प्रचक्रमे ॥१८५॥
[दशभिः कुलकम्]
श्रीमद्गन्धोदकैर्द्रव्यै[23]र्गन्धाहूतमधुव्रतैः । अभ्यषिञ्चद् विधानज्ञो विधातारं शताध्वरः ॥१८६॥
पूता गन्धाम्बुधारासावापतन्ती तनौ विभोः । तद्गन्धातिशयात् प्राप्तलज्जेवासीदवाङ्मुखी[24] ॥१८७॥

कर रहे थे ॥१७५॥ जब नृत्य करनेवाले देवोंका समूह जिनेन्द्रदेवके जन्मकल्याणकसम्बन्धी अर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उदाहरणोंके द्वारा नाट्यवेदका प्रयोग कर रहा था—नृत्य कर रहा था ॥१७६॥ जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए संगीत और मृदंगकी ध्वनिसे मिला हुआ दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द कानोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥१७७॥ जब केसर लगे हुए देवांगनाओंके स्तनरूपी कलशोंसे शोभायमान तथा हारोंकी किरणरूपी पुष्पोंके उपहारसे युक्त सुमेरु पर्वतरूपी रंगभूमिमें अप्सराओंका समूह हाथ उठाकर, शरीर हिलाकर और तालके साथ-साथ फिरकी लगाकर लीलासहित नृत्य कर रहा था ॥१७८-१७९॥ जब देव लोग सावधान होकर मंगलगान सुन रहे थे और अनेक जनोंके बीच भगवान्‌के प्रभावकी प्रशंसा करनेवाली बात-चीत हो रही थी ॥१८०॥ जब नान्दी, तुरही आदि बाजोंके शब्द सब ओर आकाश और पृथिवीके बीचके अन्तरालको भर रहे थे, जब जय-घोषणाकी प्रतिध्वनियोंसे मानो मेरु पर्वत ही भगवान्‌की स्तुति कर रहा था ॥ १८१॥ जब सब ओर घूमती हुई विद्याधरियोंके मुखके स्वेदजलके कणोंका चुम्बन करनेवाला वायु समीपवर्ती वनोंको हिलाता हुआ धीरे-धीरे बह रहा था ॥१८२॥ जब विचित्र बेत्रके दण्ड हाथमें लिये हुए देवोंके द्वारपाल सभाके लोगोंको हुंकार शब्द करते हुए चारों ओर पीछे हटा रहे थे ॥१८३॥ 'हमें द्वारपाल पीछे न हटा दें' इस डरसे कितने ही लोग चित्रलिखितके समान जब चुपचाप बैठे हुए थे ॥१८४॥ और जब शुद्ध जलका अभिषेक समाप्त हो गया था तब इन्द्रने शुभ सुगन्धित जलसे भगवान्‌का अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥१८५॥ विधिविधानको जाननेवाले इन्द्रने अपनी सुगन्धिसे भ्रमरोंका आह्वान करनेवाले सुगन्धित जलरूपी द्रव्यसे भगवान्‌का अभिषेक किया ॥१८६॥ भगवान्‌के शरीरपर पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी पवित्र धारा ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्‌के शरीरकी उत्कृष्ट सुगन्धिसे लज्जित होकर ही अधोमुखी (नीचेको

---

१. सम्बद्धैः । २ भूमिकाभिः । ३ नाट्यशास्त्रम् । ४. देवनर्तकवृन्दे । 'शैलालिनस्तु शैलूषजायाजीवा कृशाश्विनः' इत्यभिधानात् । बहुरूपाख्यनृत्यविशेषविधायिन इत्यर्थः । ५ मिश्रिते । ६ कुङ्कुमाक्तैः प०, द०, म०, ल० । ७ करन्यासैः । ८ अङ्गविक्षेपैः । ९ तालमानसहितैः । १० पादविन्यासैः । ११ देवेषु । १२ भूम्याकाशे । १३ सचरत्खेचरी– ल० । १४. धूनोपान्त– त०, ब०, म०, ल० । १५. पवने । १६. सभाजने । १७. उत्सार्यमाणे । १८ स्वैरमागत्य नियोगमन्तरेण स्थितजने । १९. निर्वाण पर्याप्तिमित्यर्थः । २० सर्वज्ञम् । २१. इन्द्रः । २२ प्रारेभे । श्लोकोऽयमर्हद्दासकविना स्वकीयपुरुदेवचम्पूकाव्यस्य पञ्चमस्तबकस्य एकादशतमश्लोकतां नीतः । २३ –र्दिव्यैः– त०, द० । २४. अधोमुखी ।

कनत्कनकभृङ्गारनालाद्धारा पतन्त्यसौ । रेजे भक्तिभरेणेव जिनमानन्तु[1]मुद्यता ॥१८८॥
विभोर्देहप्रभोत्सर्पैस्तडिदापिञ्जरस्तृता । सामाद् विभावसौ[2] दीप्ते प्रयुक्तेव घृताहुतिः ॥१८९॥
निसर्गसुरभिण्यङ्गे विभोरत्यन्तपावने । पतित्वा चरितार्था सा [3]स्वसादकृत तद्गुणान्[4] ॥१९०॥
सुगन्धिकुसुमैर्गन्धद्रव्यैरपि सुवासिता । साधादतिशयं कंचिद् विभोरङ्गेऽम्भसां ततिः ॥१९१॥
समस्ताः पूरयन्त्याशा जगदानन्ददायिनी । वसुधारेव धारासौ क्षीरधारा मुदेऽस्तु नः ॥१९२॥
या पुण्यास्रवधारेव सूते संपत्परम्पराम् । सास्मान्गन्धपयोधारा [5]धिनोत्वनिधनै[6]र्धनैः ॥१९३॥
या निशातासिधारेव विघ्नवर्गं विनिघ्नती[7] । पुण्यगन्धाम्भसां धारा सा शिवाय[8] सदास्तु नः ॥१९४॥
माननीया मुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी । साव्याद्[9] गन्धाम्बुधारास्मान् या स्म व्योमापगायते ॥१९५॥
तनुं भगवतः प्राप्य याता यातिपवित्रिताम् । पवित्रयतु नः स्वान्तं धारा गन्धाम्भसामसौ ॥१९६॥
कृत्वा गन्धोदकैरित्थमभिषेकं सुरोत्तमाः । जगतां शान्तये[10] शान्तिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥१९७॥
प्रचक्रुरुत्तमाङ्गेषु चक्रुः सर्वाङ्गसंगतम् । स्वर्गस्योपायनं चक्रुस्तद्गन्धाम्बु दिवौकसः ॥१९८॥
गन्धाम्बुस्नपनस्यान्ते जयकोलाहलैः समम् । [11]व्यात्युक्षीमसराश्चक्रुः सचूर्णैर्गन्धवारिभिः ॥१९९॥

मुख किये हुई) हो गयी हो ॥१८७॥ देदीप्यमान सुवर्णकी झारीके नालसे पड़ती हुई वह सुगन्धित जलकी धारा ऐसी शोभायमान होती थी मानो भक्तिके भारसे भगवान्‌को नमस्कार करनेके लिए ही उद्यत हुई हो ॥१८८॥ बिजलीके समान कुछ-कुछ पीले भगवान्‌के शरीरकी प्रभाके समूहसे व्याप्त हुई वह धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जलती हुई अग्निमें घीकी आहुति ही डाली जा रही हो ॥१८९॥ स्वभावसे सुगन्धित और अत्यन्त पवित्र भगवान्‌के शरीरपर पड़कर वह धारा चरितार्थ हो गयी थी और उसने भगवान्‌के उक्त दोनों ही गुण अपने अधीन कर लिये थे—ग्रहण कर लिये थे ॥१९०॥ यद्यपि वह जलका समूह सुगन्धित फूलों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित किया गया था तथापि वह भगवान्‌के शरीरपर कुछ भी विशेषता धारण नहीं कर सका था—उनके शरीरकी सुगन्धिके सामने उस जलकी सुगन्धि तुच्छ जान पड़ती थी ॥१९१॥ वह दूधके समान श्वेत जलकी धारा हम सबके आनन्दके लिए हो जो कि रत्नोंकी धाराके समान समस्त आशाओं (इच्छाओं और दिशाओं) को पूर्ण करनेवाली तथा समस्त जगत्‌को आनन्द देनेवाली थी ॥१९२॥ जो पुण्यास्रवकी धाराके समान अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाली है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम लोगोंको कभी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयरूपी धनसे सन्तुष्ट करे ॥१९३॥ जो पैनी तलवारकी धारके समान विघ्नोंका समूह नष्ट कर देती है ऐसी यह पवित्र सुगन्धित जलकी धारा सदा हम लोगोंके मोक्षके लिए हो ॥१९४॥ जो बड़े-बड़े मुनियोंको मान्य है, जो जगत्‌को एकमात्र पवित्र करनेवाली है और जो आकाशगंगाके समान शोभायमान है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबकी रक्षा करे ॥१९५॥ और जो भगवान्‌के शरीरको पाकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई है ऐसी वह सुगन्धित जलकी धारा हम सबके मनको पवित्र करे ॥१९६॥ इस प्रकार इन्द्र सुगन्धित जलसे भगवान्‌का अभिषेक कर जगत्‌की शान्तिके लिए उच्च स्वरसे शान्ति-मन्त्र पढ़ने लगे ॥१९७॥ तदनन्तर देवोंने उस गन्धोदकको पहले अपने मस्तकोंपर लगाया, फिर सारे शरीरमें लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जानेके लिए रख लिया ॥१९८॥ सुगन्धित जलका अभिषेक समाप्त होनेपर देवोंने जय-जय शब्दके कोलाहलके साथ-साथ चूर्ण मिले हुए सुगन्धित

---

१. नमस्कर्तुम् । २. अग्नौ । ३. स्वाधीनमकरोत् । ४. तदङ्गभोगन्ध्यसौकुमार्यादिगुणान् । ५. प्रीणयतु । ६. रत्नत्रयात्मकधनैः । ७. विनाशयन्ती । ८. नित्यसुखाय । ९. रक्षतु । १० शान्तिमन्त्रम् । ११. अन्योन्यजलसेचनम् ।

निर्वृत्ता[1]वभिषेकस्य [2]कृतावभृथमज्जनाः । परीत्य परमं ज्योतिरा[3]नर्चुर्भुवनार्चितम् ॥२००॥
गन्धैर्धूपैश्च दीपैश्च साक्षतैः कुसुमोदकैः । मन्त्रपूतैः फलैः सार्धैः सुरेन्द्रा विभुमीजिरे[4] ॥२०१॥
[5]कृतेष्टयः कृतानिष्टविघाताः कृतपौष्टिकाः । जन्माभिषेकमित्युच्चैर्नाकेन्द्राः [6]निरतिष्ठिपन् ॥२०२॥
इन्द्रेन्द्राण्यौ समं देवैः परमानन्ददायिनम् । क्षणं चूडामणिं मेरोः परीत्यैनं प्रणेमतुः ॥२०३॥
दिवोऽपप्तत्तदा पौष्पी वृष्टिर्जलकणैः समम् । मुक्तानन्दाश्रुबिन्दूनां श्रेणीव त्रिदिवश्रिया ॥२०४॥
रजः पटलमाधूय [7]सुरागसुमनोभवम् । मातरिश्वा ववौ मन्दं स्नानाम्भःशीकरान् किरन् ॥२०५॥
मज्योतिर्भगवान् मेरौ कुलशैलायिताः सुराः । क्षीरमेघायिताः कुम्भाः सुरनार्योऽप्सरायिताः[8] ॥२०६॥
शक्रः [9]स्नपयिताद्रीन्द्रः स्नानपीठी[10] सुराङ्गनाः । नर्तक्यः किङ्करा देवाः [11]स्नानद्रोणी पयोऽर्णवः ॥२०७॥
इति श्लाघ्यतमे मेरौ [12]निर्वृत्तः स्नपनोत्सवः । स यस्य भगवान् पूयात् पूतात्मा वृषभो जगत् ॥२०८॥

मालिनी

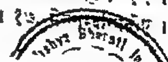
अथ पवनकुमाराः [13]स्वामिव [14]प्राज्यभक्तिं
दिशि दिशि विभजन्तो मन्दमन्दं [15]विचेरुः ।
मुमुचुरमृतगर्भाः सीकरासारधाराः
किल [16]जलदकुमारा मेरवीषु[17] स्थलीषु ॥२०९॥

जलसे परस्परमें फाग की अर्थात् वह सुगन्धित जल एक-दूसरेपर डाला ॥१९९॥ इस प्रकार अभिषेककी समाप्ति होनेपर सब देवोंने स्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योति-स्वरूप भगवान्‌की प्रदक्षिणा देकर पूजा की ॥२००॥ सब इन्द्रोंने मन्त्रोंसे पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, (नैवेद्य), दीप, धूप, फल और अर्घके द्वारा भगवान्‌की पूजा की ॥२०१॥ इस तरह इन्द्रोंने भगवान्‌की पूजा की, उसके प्रभावसे अपने अनिष्ट-अमंगलोंका नाश किया और फिर पौष्टिक कर्म कर बड़े समारोहके साथ जन्माभिषेककी विधि समाप्त की ॥२०२॥ तत्पश्चात् इन्द्र इन्द्राणीने समस्त देवोंके साथ परम आनन्द देनेवाले और क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतपर चूडामणिके समान शोभायमान होनेवाले भगवान्‌की प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया ॥२०३॥ उस समय स्वर्गसे पानीकी छोटी-छोटी बूँदोंके साथ फूलोंकी वर्षा हो रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्गकी लक्ष्मीके हर्षसे पड़ते हुए अश्रुओंकी बूँदें ही हों ॥२०४॥ उस समय कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे उत्पन्न हुए पराग-समूहको कँपाता हुआ और भगवान्‌के अभिषेक-जलकी बूँदोंको बरसाता हुआ वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥२०५॥ उस समय भगवान् वृषभदेव मेरुके समान जान पड़ते थे, देव कुलाचलोंके समान मालूम होते थे, कलश दूधके मेघोंके समान प्रतिभासित होते थे और देवियाँ जलसे भरे हुए सरोवरोंके समान आचरण करती थीं ॥२०६॥ जिनका अभिषेक करानेवाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत स्नान करनेका सिंहासन था, देवियाँ नृत्य करनेवाली थीं, देव किंकर थे और क्षीरसमुद्र स्नान करनेका कटाह (टब) था। इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरु पर्वतपर जिनका स्नपन महोत्सव समाप्त हुआ था वे पवित्र आत्मावाले भगवान् समस्त जगत्‌को पवित्र करें ॥२०७-२०८॥

अथानन्तर पवनकुमार जातिके देव अपनी उत्कृष्ट भक्तिको प्रत्येक दिशाओंमें वितरण करते हुए के समान धीरे-धीरे चलने लगे और मेघकुमार जातिके देव उस मेरु पर्वतसम्बन्धी भूमि-पर अमृतसे मिले हुए जलके छींटोंकी अखण्ड धारा छोड़ने लगे—मन्द-मन्द जलवृष्टि करने

---

१ परिसमाप्तौ । निवृत्ता– अ०, प०, स०, म०, ल० । २. विहितयजनमन्त्ररक्रियमाणस्नाना. । ३. अर्चयन्ति स्म । ४ पूजयामासुः । ५ विहितपूजाः । ६. निर्वर्तयन्ति स्म । ७ कल्पवृक्ष । ८. सरोवरायिताः । ९. स्नानकारी । १० स्नानपीठ अ०, स०, ल० । स्नानपीठ द० । ११. स्नानकटाहः । १२ निर्वर्तित । १३ आत्मीयाम् । १४ प्रभूताम् । १५ विचरन्ति स्म । १६. मेघकुमाराः । १७. मेरुसम्बन्धिषु ।



सपदि [1]विधुतकल्पानोकहैर्व्योमगङ्गा-
शिशिरतरतरङ्गोत्क्षेपदक्षैर्मरुद्भिः ।
तटवनमनुपुष्पाण्याहरद्भिः समन्तात्
[2]परगतिमिव कर्तुं बभ्रमे शैलभर्तुः ॥२१०॥
अनुचितमशिवानां[3] स्थातुमद्य त्रिलोक्यां
जनयति शिवमस्मिन्नुत्सवे विश्वभर्तुः ।
इति किल शिवमुच्चैर्घोषयन् दुन्दुभीनां
सुरकरनिहतानां शुश्रुवे मन्द्रनादः ॥२११॥
सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापप्तदुच्चै-
रमरकरविकीर्णा विश्वगाकृष्टभृङ्गा ।
जिनजनन[4]सपर्यालोकनार्थं समन्ता-
न्नयनततिरिवाविर्भाविता स्वर्गलक्ष्म्या ॥२१२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं यस्य सुरासुरैः प्रमुदितैर्जन्माभिषेकोत्सव-
श्चक्रे शक्रपुरस्सरैः सुरगिरौ क्षीरार्णवस्याम्बुभिः ।
नृत्यन्तीषु सुराङ्गनासु सलयं नानाविधैर्लास्यकैः[5]
स श्रीमान् वृषभो जगत्त्रयगुरुर्जीयाज्जिनः पावनः ॥२१३॥
[6]जन्मानन्तरमेव यस्य मिलितैर्देवासुराणां गणैः
नानायानविमानपत्तिनिवहव्यारुद्धरोदोऽङ्गणैः[7] ।
क्षीराब्धेः [8]समुपाहृतैः शुचिजलैः कृत्वाभिषेकं विभो-
र्मेरोर्मूर्धनि जातकर्म विदधे सोऽव्याज्जिनो [9]नोऽग्रिमः ॥२१४॥

लगे ॥२०९॥ जो वायु शीघ्र ही कल्पवृक्षोंको हिला रहा था, जो आकाशगंगाकी अत्यन्त शीतल तरङ्गोंके उड़ानेमें समर्थ था और जो किनारेके वनोंसे पुष्पोंका अपहरण कर रहा था ऐसा वायु मेरु पर्वतके चारों ओर घूम रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उसकी प्रदक्षिणा ही कर रहा हो ॥२१०॥ देवोंके हाथोंसे ताड़ित हुए दुन्दुभि बाजोंका गम्भीर शब्द सुनाई दे रहा था और वह मानो जोर-जोरसे यह कहता हुआ कल्याणकी घोषणा ही कर रहा था कि जब त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेवका जन्ममहोत्सव तीनों लोकोंमे अनेक कल्याण उत्पन्न कर रहा है तब यहाँ अकल्याणोंका रहना अनुचित है ॥२११॥ उस समय देवोंके हाथसे बिखरे हुए कल्पवृक्षोंके फूलोंकी वर्षा बहुत ही ऊँचेसे पड़ रही थी, सुगन्धिके कारण वह चारों ओरसे भ्रमरोंको खींच रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्के जन्मकल्याणककी पूजा देखनेके लिए स्वर्गकी लक्ष्मीने चारों ओर अपने नेत्रोंकी पङ्क्ति ही प्रकट की हो ॥२१२॥ इस प्रकार जिस समय अनेक देवांगनाएँ तालसहित नाना प्रकारकी नृत्यकलाके साथ नृत्य कर रही थीं उस समय इन्द्रादि देव और धरणेन्द्रोंने हर्षित होकर मेरु पर्वतपर क्षीरसागरके जलसे जिनके जन्माभिषेकका उत्सव किया था वे परम पवित्र तथा तीनों लोकोंके गुरु श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र सदा जयवन्त हों ॥२१३॥ जन्म होनेके अनन्तर ही नाना प्रकारके वाहन, विमान और पयादे आदिके द्वारा आकाशको रोककर इकट्ठे हुए देव और असुरोंके समूहने मेरु पर्वतके मस्तकपर लाये हुए क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक कर

---

१. कम्पित । २. प्रदक्षिणगमनम् । ३. अमङ्गलानाम् । ४. पूजा । ५. नाट्यकैः । ६. उत्पत्त्यनन्तरम् । ७. गगनाङ्गणैः । ८. उपानीतैः ९. वोऽग्रिमः प०, म०, ल० ।

सद्य. संहृतमौष्ण्यमुष्णकिरणैराम्रेडितं[1] शीकरै-
रैल्य शीतकरैरलं[2] डमुडुभिर्वृन्दोडुपै[3] क्रीडितम् ।
तारौघैस्तरलैस्तरद्भिरधिकं डिण्डीरपिण्डायितं
यस्मिन् मज्जनसंविधौ स जयताज्जैनो जगत्पावन: ॥२१५॥

सानन्दं त्रिदशेश्वरैः सचकितं देवीभिरुत्पुष्करैः
सत्रासं सुरवारणैः [4]प्रणिहितैराचादरं चारणैः ।
साशङ्कं गगनेचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्
मेरोर्मूर्ध्नि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भःप्लवः ॥२१६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे-
भगवज्जन्माभिषेकवर्णनं नाम
त्रयोदशं पर्व ॥१३॥



जन्मोत्सव किया था वे प्रथम जिनेन्द्र तुम सबकी रक्षा करें ॥२१४॥ जिनके जन्माभिषेकके समय सूर्यने शीघ्र ही अपनी उष्णता छोड़ दी थी, जलके छींटे बार-बार उछल रहे थे, चन्द्रमाने शीतलताको धारण किया था, नक्षत्रोंने बँधी हुई छोटी-छोटी नौकाओंके समान जहाँ-तहाँ क्रीड़ा की थी, और तैरते हुए चंचल ताराओंके समूहने फेनके पिण्डके समान शोभा धारण की थी वे जगत्को पवित्र करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा जयशील हों ॥ २१५ ॥ मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान्के जन्माभिषेकका वह जल-प्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रोंने बड़े आनन्दसे, देवियोंने आश्चर्यसे देवोंके हाथियोंने सूँड़ ऊँची उठाकर बड़े भयसे, चारण ऋद्धिधारी मुनियोंने एकाग्रचित्त होकर बड़े आदरसे और विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुए देखा था ॥ २१६ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध श्री भगवज्जिनसेनाचार्यविरचित त्रिषष्टि-
लक्षणमहापुराणसंग्रहमें भगवान्के जन्माभिषेकका वर्णन
करनेवाला तेरहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



१. द्विम्बितवनम् । २. धृतम् । ३. बद्धपालै सद्भि क्रीडितम् । 'उडुपं तु प्लव. कोल' इत्यभिधानात् । ४. अवधानपरैः, ध्यानस्थैरित्यर्थः ।

चतुर्दशं पर्व

अथाभिषेकनिर्वृत्तौ[1] शची देवी जगद्गुरोः । [2]प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत् कृतकौतुका[3] ॥१॥
तस्याभिषिक्तमात्रस्य दधतः पावनीं तनुम् । शुचिलग्नाम्बुमाजीम्म कणान् स्वच्छामलांशुकैः[4] ॥२॥
[5]स्वासन्नापाङ्गसंक्रान्तसितच्छायं विभोर्मुखम् । प्रमृष्टमपि सामार्जीद्[6] भूयो जलकणास्थया[7] ॥३॥
गन्धैः सुगन्धिभिः सान्द्रैरिन्द्राणी गात्रमीशितुः । अन्वलिम्पत लिम्पद्भिरिवामोदैस्त्रिविष्टपम् ॥४॥
गन्धेनामोदिना भर्तुः शरीरसहजन्मना । गन्धास्ते न्यक्कृता[8] एव सौगन्ध्येनापि[9] संश्रिताः ॥५॥
तिलकं च ललाटेऽस्य शची चक्रे किलादरात् । जगतां तिलकस्तेन किमलङ्क्रियते विभुः ॥६॥
मन्दारमालयोत्तंसं[10] इन्द्राणी विदधे विभोः । तयालंकृतमूर्द्धासौ कीर्त्येव व्यरुचद् भृशम् ॥७॥
जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि चूडामणिं न्यधात् । सतां मूर्धाभिषिक्तस्य[11] पौलोमी भक्तिनिर्भरा[12] ॥८॥
[13]अनञ्जितासिते भर्तुर्लोचने सान्द्रपक्ष्मणी । पुनरञ्जनसंस्कारमाचार इति लम्भिते[14] ॥९॥
कर्णावविद्धसच्छिद्रौ कुण्डलाभ्यां विरेजतुः । कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्द्वर्काभ्यामिवाश्रितौ ॥१०॥
हारिणा मणिहारेण कण्ठशोभा महत्यभूत् । मुक्तिश्रीकण्ठिकादाम[15] चारुणा त्रिजगत्पतेः ॥११॥

अथानन्तर, जब अभिषेककी विधि समाप्त हो चुकी तब इन्द्राणी देवीने हर्षके साथ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको अलंकार पहनानेका प्रयत्न किया ॥ १ ॥ जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे पवित्र शरीर धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवके शरीरमें लगे हुए जलकणोंको इन्द्राणीने स्वच्छ एवं निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥२॥ भगवान्‌के मुखपर, अपने निकटवर्ती कटाक्षोंकी जो सफेद छाया पड़ रही थी उसे इन्द्राणी जलकण समझती थी। अतः पोंछे हुए मुखको भी वह बार-बार पोंछ रही थी ॥ ३ ॥ अपनी सुगन्धिसे स्वर्ग अथवा तीनों लोकोंको लिप्त करनेवाले अतिशय सुगन्धित गाढ़े सुगन्ध द्रव्योंसे उसने भगवान्‌के शरीरपर विलेपन किया था ॥ ४ ॥ यद्यपि वे सुगन्ध द्रव्य उत्कृष्ट सुगन्धिसे सहित थे तथापि भगवान्‌के शरीरकी स्वाभाविक तथा दूर-दूर तक फैलनेवाली सुगन्धने उन्हें तिरस्कृत कर दिया था ॥५॥ इन्द्राणीने बड़े आदरसे भगवान्‌के ललाटपर तिलक लगाया परन्तु जगत्‌के तिलक-स्वरूप भगवान् क्या उस तिलकसे शोभायमान हुए थे ? ॥६॥ इन्द्राणीने भगवान्‌के मस्तकपर कल्पवृक्षके पुष्पोंकी मालासे बना हुआ मुकुट धारण किया था। उन मालाओंसे अलंकृतमस्तक होकर भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्तिसे ही अलंकृत किये गये हों ॥७॥ यद्यपि भगवान् स्वयं जगत्‌के चूड़ामणि थे और सज्जनोंमें सबसे मुख्य थे तथापि इन्द्राणीने भक्तिसे निर्भर होकर उनके मस्तक पर चूड़ामणि रत्न रखा था ॥८॥ यद्यपि भगवान्‌के सघन बरौनीवाले दोनों नेत्र अंजन लगाये बिना ही श्यामवर्ण थे तथापि इन्द्राणीने नियोग मात्र समझकर उनके नेत्रोंमें अंजनका संस्कार किया था ॥९॥ भगवान्‌के दोनों कान बिना वेधन किये ही छिद्रसहित थे, इन्द्राणीने उनमें मणिमय कुण्डल पहनाये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान्‌के मुखकी कान्ति और दीप्तिको देखनेके लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुँचे हों ॥१०॥ मोक्ष-लक्ष्मीके गलेके हारके समान अतिशय सुन्दर और मनोहर मणियोंके हारसे त्रिलोकीनाथ भगवान् वृषभदेवके

---

१. सम्पूर्णे सति । २. अलंकारविधाने । ३. विहितसन्तोषा । ४. श्लक्ष्णनिर्मलाम्बरैः । ५ निजनिकटकटाक्षसंक्रमण । ६. सामाक्षीत् प० । म० पुस्तके द्विविध । ७. अम्बुबिन्दुबुद्धया । ८. अधःकृता । न्यक्कृता अ०, द०, म०, ल० । ९. समानगन्धत्वेन । १०. शेखरम् । ११. श्रेष्ठस्य । १२. भक्त्यतिशया । १३. अञ्जनप्रक्षमन्तरेण कृष्णे । १४. प्रापिते । इति रञ्जिते स० । १५. कण्ठमाला ।

बाह्वोर्युग्मं च केयूरकटकाङ्गदभूषितम्। तस्य कल्पाङ्घ्रिपस्येव विटपद्वयमाबभौ ॥१२॥
रेजे मणिमयं दाम[1] किङ्किणीभिर्[2]विराजितम्। कटीतटेऽस्य कल्पाग[3]प्रारोहश्रियमुद्वहत् ॥१३॥
पादौ[4] गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य रेजतुः। वाचालितौ सरस्वत्या कृतसेवाविवादरात् ॥१४॥
लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोद्भूतो धाम्नां राशिरिवोच्छिखः। [6]भाग्यानामिव संघात[7]स्तदाभाद् भूषितो विभुः ॥१५॥
सौन्दर्यस्येव संदोहः सौभाग्यस्येव संनिधिः। गुणानामिव संवास[8] सालंकारो विभुर्बभौ ॥१६॥
निसर्गरुचिरं भर्तुर्वपुर्भ्रेजे[9] सभूषणम्। सालंकारं कवेः काव्यमिव सुश्लिष्टबन्धनम् ॥१७॥
प्रत्यङ्गमिति विन्यस्तैः पौलोम्या मणिभूषणैः। स रेजे कल्पशाखीव शाखोल्लासिविभूषणः ॥१८॥
इति प्रसाध्य[10] तं देवमिन्द्रोत्सङ्गगतं शची। स्वयं विस्मयमायासीत् पश्यन्ती रूपसंपदम् ॥१९॥
संक्रन्दनोऽपि तद्रूपशोभां द्रष्टुं तदातनीम्[11]। सहस्राक्षोऽभवन्नूनं स्पृहयालुरतृप्तिकः[12] ॥२०॥
तदा निमेषविमुखै[13]र्लोचनैस्तं सुरासुराः। ददृशुर्गिरिराजस्य शिखामणिमिव क्षणम् ॥२१॥
ततस्तं स्तोतुमिन्द्राद्याः [14]प्राक्रमन्त सुरोत्तमाः। वरस्यन् तीर्थकरत्वस्य प्राभवं तद्धि पुष्कलम्[15] ॥२२॥

कण्ठकी शोभा बहुत भारी हो गयी थी ॥११॥ बाजूबन्द, कड़ा, अनन्त (अणत) आदिसे शोभायमान उनकी दोनों भुजाएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो कल्पवृक्षकी दो शाखाएँ ही हों ॥१२॥ भगवान्‌के कटिप्रदेशमें छोटी-छोटी घण्टियों (बोरों) से सुशोभित मणिमयी करधनी ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कल्पवृक्षके अंकुर ही हों ॥१३॥ गोमुखके आकारके चमकीले मणियोंसे शब्दायमान उनके दोनों चरण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सरस्वती देवी ही आदरसहित उनकी सेवा कर रही हो ॥१४॥ उस समय अनेक आभूषणोंसे शोभायमान भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मीका पुंज ही प्रकट हुआ हो, ऊँची शिखावाली रत्नोंकी राशि ही हो अथवा भोग्य वस्तुओंका समूह ही हो ॥१५॥ अथवा अलंकारसहित भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो सौन्दर्यका समूह ही हो, सौभाग्यका खजाना ही हो अथवा गुणोंका निवासस्थान ही हो ॥१६॥ स्वभावसे सुन्दर तथा संगठित भगवान्‌का शरीर अलंकारोंसे युक्त होनेपर ऐसा शोभायमान होने लगा था मानो उपमा, रूपक आदि अलंकारोंसे युक्त तथा सुन्दर रचनासे सहित किसी कविका काव्य ही हो ॥१७॥ इस प्रकार इन्द्राणीके द्वारा प्रत्येक अंगमें धारण किये हुए मणिमय आभूपणोंसे वे भगवान् उस कल्पवृक्षके समान शोभायमान हो रहे थे जिसकी प्रत्येक शाखापर आभूपण सुशोभित हो रहे हैं ॥१८॥ इस तरह इन्द्राणीने इन्द्रकी गोदीमें बैठे हुए भगवान्‌को अनेक वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत कर जब उनकी रूप-सम्पदा देखी तब वह स्वयं भारी आश्चर्यको प्राप्त हुई ॥१९॥ इन्द्रने भी भगवान्‌के उस समयकी रूपसम्बन्धी शोभा देखनी चाही, परन्तु दो नेत्रोंसे देखकर सन्तुष्ट नहीं हुआ इसीलिए मालूम होता है कि वह द्व्यक्षसे सहस्राक्ष (हजारों नेत्रोंवाला) हो गया था—उसने विक्रिया शक्तिसे हजार नेत्र बनाकर भगवान्‌का रूप देखा था ॥२०॥ उस समय देव और असुरोंने अपने टिमकाररहित नेत्रोंसे क्षण-भरके लिए मेरु पर्वतके शिखामणिके समान सुशोभित होनेवाले भगवान्‌को देखा ॥२१॥ तदनन्तर इन्द्र आदि श्रेष्ठ देव उनकी स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है तीर्थंकर होनेवाले पुरुषका ऐसा ही अधिक प्रभाव होता है ॥२२॥

१ काञ्चीदाम। २ क्षुद्रघण्टिकाभिः। ३ कल्पाङ्क्ष– म०, ल०। ४ गोमुखवद्भासमानैः। ५ घर्घरैः। ६ भोग्यानामिव म०, ल०। ७ पुञ्जः। ८ आश्रयः। ९ –भ्रेजे प०, अ०, स०, द०। १० अलङ्कृत्य। ११. तत्कालभवाम्। १२ –रतृप्तक म०, ल०। १३. अनिमेषैः। १४. उपक्रमं चक्रिरे। १५. प्रभूतम्।

त्वं देव परमानन्दमस्माकं कर्त्तुमुद्गतः । किमु प्रबोधमायान्ति विनार्कात् कमलाकराः ॥२३॥
मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन् निपतन्तमिमं जनम् । त्वमुद्धर्त्तुमना धर्महस्तालम्बं प्रदास्यसि ॥२४॥
तव वाक्किरणैर्नूनमस्मच्चेतोगतं तमः । [1]पुरा प्रलीयते देव तमो भास्वत्करैरिव ॥२५॥
त्वमादिर्देवदेवानां त्वमादिर्जगतां गुरुः । त्वमादिर्जगतां स्रष्टा त्वमादिर्धर्मनायकः ॥२६॥
त्वमेव जगतां भर्त्ता त्वमेव जगतां पिता । त्वमेव जगतां त्राता[2] त्वमेव जगतां गति[3] ॥२७॥
त्वं पूतात्मा जगद्विश्वं [4]पुनासि परमैर्गुणैः । स्वयं धौतो[5] यथा लोकं धवलीकुरुते शशी ॥२८॥
त्वत्तः कल्याणमाप्स्यन्ति संसारामयलङ्घिताः[6] । उल्लाघिता[7] भवद्वाक्यभेषजैरमृतोपमैः ॥२९॥
त्वं पूतस्त्वं [8]पुनानोऽसि परं ज्योतिस्त्वमक्षरम्[9] । निर्दूय निखिलं क्लेशं यत्प्रापासि[10] परं पदम् ॥३०॥
[11]कूटस्थोऽपि न कूटस्थस्त्वमद्य प्रतिभासि न । त्वय्येव [12]स्फातिमेष्यन्ति यदमी योगजा[13] गुणाः ॥३१॥
अस्नातपूतगात्रोऽपि स्नपितोऽस्यद्य मन्दरे । पवित्रयितुमेवैतज् जगदेनोमलीमसम् ॥३२॥
युष्मज्जन्माभिषेकेण वयमेव न केवलम् । नीताः पवित्रतां मेरुः क्षीराब्धिस्तज्जलान्यपि[14] ॥३३॥

हे देव, हम लोगोंको परम आनन्द देनेके लिए ही आप उदित हुए हैं। क्या सूर्यके उदित हुए विना कभी कमलोंका समूह प्रबोधको प्राप्त होता है ? ॥२३॥ हे देव, मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकूपमें पड़े हुए इन संसारी जीवोंके उद्धार करनेकी इच्छासे आप धर्मरूपी हाथका सहारा देनेवाले हैं ॥२४॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके द्वारा उदय होनेसे पहले ही अन्धकार नष्टप्राय कर दिया जाता है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरणोंके द्वारा भी हम लोगोंके हृदयका अन्धकार नष्ट कर दिया गया है ॥२५॥ हे देव, आप देवोंके आदि देव है, तीनों जगत्के आदि गुरु है, जगत्के आदि विधाता हैं और धर्मके आदि नायक है ॥२६॥ हे देव, आप ही जगत्के स्वामी हैं, आप ही जगत्के पिता हैं, आप ही जगत्के रक्षक है, और आप ही जगत्के नायक हैं ॥२७॥ हे देव, जिस प्रकार स्वयं धवल रहनेवाला चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे समस्त लोकको धवल कर देता है उसी प्रकार स्वयं पवित्र रहनेवाले आप अपने उत्कृष्ट गुणोंसे सारे संसारको पवित्र कर देते हैं ॥२८॥ हे नाथ, संसाररूपी रोगसे दुःखी हुए ये प्राणी अमृतके समान आपके वचनरूपी ओषधिके द्वारा नीरोग होकर आपसे परम कल्याणको प्राप्त होंगे ॥२९॥ हे भगवन्, आप सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट कर इस तीर्थंकररूप परम पदको प्राप्त हुए हैं अतएव आप ही पवित्र हैं, आप ही दूसरोंको पवित्र करनेवाले हैं और आप ही अविनाशी उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं ॥ ३० ॥ हे नाथ, यद्यपि आप कूटस्थ हैं–नित्य हैं तथापि आज हम लोगोंको कूटस्थ नहीं मालूम होते क्योंकि ध्यानसे होनेवाले समस्त गुण आपमें ही वृद्धिको प्राप्त होते रहते है। भावार्थ—जो कूटस्थ (नित्य) होता है उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता अर्थात् न उनमें कोई गुण घटता है और न बढता है, परन्तु हम देखते हैं कि आपमें ध्यान आदि योगाभ्याससे होनेवाले अनेक गुण प्रति समय बढते रहते है, इस अपेक्षासे आप हमें कूटस्थ नहीं मालूम होते ॥३१॥ हे देव, यद्यपि आप विना स्नान किये ही पवित्र हैं तथापि मेरु पर्वतपर जो आपका अभिषेक किया गया है वह पापोंसे मलिन हुए इस जगत्को पवित्र करनेके लिए ही किया गया है ॥३२॥ हे देव, आपके जन्माभिषेकसे केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुए हैं किन्तु यह मेरु पर्वत, क्षीरसमुद्र तथा उन दोनोंके वन (उपवन और

---

१. पश्चात्काले । २ रक्षकः । ३ आधार । ४. पवित्र करोषि । ५. धवल. । ६ रोगाक्रान्ता । ७. व्याधिनिर्मुक्ताः । ८. पवित्रं कुर्वाण । ९ अनश्वरम् । १०. गमिष्यसि । 'लुट्' । ११ एकरूपतया कालव्यापी कूटस्थ , नित्य इत्यर्थः । १२. वृद्धिम् । स्फीति–अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । १३ योगत. ट० । ध्यानात् । १४ तद्वनान्यपि अ०, प०, स०, द०, ल० । म० पुस्तके द्विविध पाठ. ।

दिङ्मुखेषूल्लसन्ति स्म युष्मत्स्नानाम्बुशीकराः । जगदानन्दिनः सान्द्रा यशसामिव राशयः ॥३४॥
अविलिप्तसुगन्धिस्त्वमविभूषितसुन्दरः । [१]भक्तैरभ्यर्चितोऽस्माभिर्भूषणैः सानुलेपनैः ॥३५॥
लोकाधिकं दधद्धाम प्रादुरासीस्त्वमात्मभू[२] । [३]मेरोर्गर्भादिव क्ष्मायास्तव देव समुद्भव[४] ॥३६॥
सद्योजातश्रुतिं बिभ्रत् स्वर्गावतरणेऽच्युतः । त्वमद्य वामतां[५] धत्से कामनीयकमुद्वहन् ॥३७॥
यथा शुद्धाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । दीप्यतेऽधिकमेव त्वं जातकर्माभिसंस्कृतः ॥३८॥
आरामं[६] तस्य[७] पश्यन्ति न [८]तं पश्यन्ति केचन । [९]इत्यसद्[१०]यत्परं ज्योतिः प्रत्यक्षोऽसि त्वमद्य नः ॥३९॥
त्वामामनन्ति योगीन्द्राः पुराणपुरुषं पुरुम् । कविं पुराणमित्यादि पठन्तः स्तवविस्तरम् ॥४०॥
पूतात्मने नमस्तुभ्यं नमः ख्यातगुणाय ते । नमो भीतिभिदे[११] तुभ्यं गुणानामेकभूतये[१२] ॥४१॥
[१३]क्षमागुणप्रधानाय नमस्ते[१४] क्षितिमूर्त्तये । जगदाह्लादिने तुभ्यं नमोऽस्तु सलिलात्मने ॥४२॥

जल) भी पवित्रताको प्राप्त हो गये हैं ॥३३॥ हे देव, आपके अभिषेकके जलकण सब दिशाओंमें ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो संसारको आनन्द देनेवाला और घनीभूत आपके यशका समूह ही हो ॥३४॥ हे देव, यद्यपि आप बिना लेप लगाये ही सुगन्धित हैं और बिना आभूषण पहने ही सुन्दर हैं तथापि हम भक्तोंने भक्तिवश ही सुगन्धित द्रव्योंके लेप और आभूषणोंसे आपकी पूजा की है ॥३५॥ हे भगवन्, आप तेजस्वी हैं और संसारमें सबसे अधिक तेज धारण करते हुए प्रकट हुए हैं इसलिए ऐसे मालूम होते हैं मानो मेरु पर्वतके गर्भसे संसारका एक शिखामणि—सूर्य ही उदय हुआ हो ॥३६॥ हे देव, स्वर्गावतरणके समय आप 'सद्योजात' नामको धारण कर रहे थे, 'अच्युत' (अविनाशी) आप हैं ही और आज सुन्दरताको धारण करते हुए 'वामदेव' इस नामको भी धारण कर रहे हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं ॥३७॥ जिस प्रकार शुद्ध खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे अतिशय देदीप्यमान हो जाता है उसी प्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मसंस्कारके योगसे अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ॥३८॥ हे नाथ, यह जो ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि 'सब लोग परं ब्रह्मको शरीर आदि पर्याये ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कोई नहीं देख सकते' वह सब झूठ है क्योंकि पर ज्योतिःस्वरूप आप आज हमारे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे है ॥३९॥ हे देव, विस्तारसे आपकी स्तुति करनेवाले योगिराज आपको पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि मानते हैं ॥४०॥ हे भगवन्, आपकी आत्मा अत्यन्त पवित्र है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपके गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्म-मरणका भय नष्ट करनेवाले हैं और गुणोंके एकमात्र उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥४१॥ हे नाथ, आप क्षमा (पृथ्वी) के समान क्षमा (शान्ति) गुणको ही प्रधान रूपसे धारण करते हैं इसलिए क्षमा अर्थात् पृथिवीरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप जलके समान जगत्को आनन्दित करनेवाले हैं इसलिए जलरूपको

१ भावितर्क । २ स्वयंभू । ३. मेरोर्गर्भादिवोद्भूतो भुवनैकशिखामणिः अ०, प०, द०, स०, ल० । म० पुस्तके द्विविधः पाठः । ४. उत्पत्तिः । ५. पक्षे वक्रताम् । ६ शरीरादिपर्यायम् । ७ परब्रह्मण. । ८. परब्रह्मणम् । ९ मृषा । १० यस्मात् कारणात् । ११ विनाशकाय । १२. भूतये म०, द०, स०, ट० । म० पुस्तके 'भूनये' इत्यपि पाठ. । भूतये उत्पत्त्यै । १३. क्षान्तिगुणमुख्याय । हेतुगर्भितमेतद्विशेषणम् । १४. पृथिवीमूर्त्तये । अयमभिप्रायः— यथा क्षित्यां क्षमागुणो विद्यते तथैव तस्मिन्नपि क्षमागुणं विलोक्य गुणसाम्यात् क्षितिमूर्तिरित्युक्तम् । एवमष्टमूर्तिष्वपि यथायोग्यं योज्यम् ।

निसंगवृत्तये[1] तुभ्यं बिभ्रते पावनीं[2] तनुम् । नमस्तरस्विने[3] रुग्ण[4]महामोहमहोरुहे ॥४३॥
कर्मेन्धनदहे[5] तुभ्य नमः पावकमूर्त्तये । [6]पिशङ्गजटिलाङ्गाय समिद्धध्यानतेजसे ॥४४॥
[7]अरजोऽमलसंगाय नमस्ते गगनात्मने । [8]विभवेऽनाद्यनन्ताय महत्त्वावधये[9] परम् ॥४५॥
[10]सुयज्वने नमस्तुभ्यं सर्वक्रतुमयात्मने[11] । [12]निर्वाणदायिने तुभ्यं नम. शीतांशुमूर्त्तये ॥४६॥
नमस्तेऽनन्तबोधार्कादविनिर्मुक्तशक्तये[13] । तीर्थकृद्भाविने[14] तुभ्यं नम स्ताष्टमूर्त्तये[15] ॥४७॥
महाबल[16] नमस्तुभ्य ललिताङ्गाय[17] ते नम । श्रीमते वज्रजङ्घाय[18] धर्मतीर्थप्रवर्त्तिने ॥४८॥

धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥४२॥ आप वायुके समान परिग्रहरहित हैं, वेगशाली हैं और मोहरूपी महावृक्षको उखाड़नेवाले हैं इसलिए वायुरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४३॥ आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं, आपका शरीर कुछ लालिमा लिये हुए पीतवर्ण तथा पुष्ट है, और आपका ध्यानरूपी तेज सदा प्रदीप्त रहता है इसलिए अग्निरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४४॥ आप आकाशकी तरह पापरूपी धूलिकी संगतिसे रहित हैं, विभु हैं, व्यापक हैं, अनादि अनन्त हैं, निर्विकार हैं, सबके रक्षक हैं इसलिए आकाशरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥४५॥ आप याजकके समान ध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी साकल्यका होम करनेवाले हैं इसलिए याजकरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, आप चन्द्रमाके समान निर्वाण (मोक्ष अथवा आनन्द) देनेवाले हैं इसलिए चन्द्ररूपको धारण करनेवाले आपको नमस्कार हो ॥४६॥ और आप अनन्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यसे सर्वथा अभिन्न रहते हैं इसलिए सूर्यरूपको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। हे नाथ, इस प्रकार आप पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, याजक, चन्द्र और सूर्य इन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाले हैं तथा तीर्थंकर होनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कर हो। भावार्थ—अन्यमतावलम्बियोंने महादेवकी पृथ्वी, जल आदि आठ मूर्तियाँ मानी हैं, यहाँ आचार्यने ऊपर लिखे वर्णनसे भगवान् वृषभदेवको ही उन आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाला महादेव मानकर उनकी स्तुति की है॥४७॥ हे नाथ, आप महाबल अर्थात् अतुल्य बलके धारक हैं अथवा इस भवसे पूर्व दसवें भवमें महाबल विद्याधर थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप ललितांग हैं अर्थात् सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले अथवा नौवें भवमें ऐशान स्वर्गके ललितांग देव थे, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी तीर्थको प्रवर्तानेवाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ हैं अर्थात् वज्रके समान मजबूत जंघाओंको धारण करनेवाले हैं अथवा आठवें भवमें 'वज्रजंघ' नामके राजा थे ऐसे आपको नमस्कार

---

१. नि परिग्रहाय । २. पवित्राम् । पक्षे पवनसंबन्धिनीम् । ३. वेगिने वायवे वा । यथा वायु वेगयुक्त सन् वृक्षभङ्गं करोति तथाऽयमपि ध्यानगुणेन वेगयुक्त. सन् मोहमहीरुहभङ्गं करोति । ४. भग्नमहा–अ०, प०, स०, द०, ल० । रुग्णो भग्नो महामोहमहीरुड् वृक्षो येन स तस्मै तेन वायुमूर्तिरित्युक्त भवति । ५. कर्मेन्धनानि दहतीति कर्मेन्धनधक् तस्मै । ६. कपिलवर्णं । ७ पापरजोमलसंगरहिताय । ८. प्रभवे, पक्षे व्यापिने । ९ निर्विकाराय तायिने अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । १०. पूजकाय, आत्मने इत्यर्थं । ११. सकलपूजास्वरूपस्वभावाय । १२. नित्यसुखदायिने, पक्षे आह्लाददायिने । १३ अपृथक्कृता । १४. भावितीर्थंकराय । १५ क्षितिमूर्त्याद्यष्टमूर्तये । १६. भो अनन्तवीर्य, पक्षे महाबल इति विद्याधरराज । १७. मनोहरावयवाय, पक्षे ललिताङ्गनाम्ने । १८ वज्रवत् स्थिरे जङ्घे यस्यासौ तस्मै, पक्षे तन्नाम्ने ।

[1]नम स्तादार्य[2] ते शुद्धिश्रिते[3] श्रीधर[4] ते नमः। नमः सुविधये[5] तुभ्यमच्युतेन्द्र[6] नमोऽस्तु ते ॥४९॥
वज्रस्तम्भस्थिराङ्गाय नमस्ते वज्रनाभये[7]। सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थां सिद्धिमीयुषे ॥५०॥
[8]दशावतारचरमपरमौदारिकत्विषे। सूनवे नाभिराजस्य नमोऽस्तु परमेष्ठिने ॥५१॥
भवन्तमित्यभिष्टुत्य [9]नान्यदाशास्महे[10] वयम्। भक्तिस्त्वय्येव नो[11] भूयादलमन्यैर्मितैः फलैः ॥५२॥
इति स्तुत्वा सुरेन्द्रास्तं परमानन्दनिर्भराः[12]। अयोध्यागमने भूयो मतिं चक्रुः कृतोत्सवाः ॥५३॥
तथैव[13] प्रहता भेर्यस्तथैवाघोषितो जयः। तथैवैरावतेभेन्द्रस्कन्धारूढं व्यधुर्जिनम् ॥५४॥
महाकलकलैर्गीतैर्नृत्तैः सजयघोषणैः। गगनाङ्गणमुत्पत्य द्रागाजग्मुरमूं पुरीम् ॥५५॥

हो ॥४८॥ आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भवमें भोगभूमिज आर्य थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप दिव्य श्रीधर अर्थात् उत्तम शोभाको धारण करनेवाले हैं अथवा छठे भवमें श्रीधर नामके देव थे ऐसे आपके लिए नमस्कार हो, आप सुविधि अर्थात् उत्तम भाग्यशाली हैं अथवा पाँचवें भवमें सुविधि नामके राजा थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अच्युतेन्द्र अर्थात् अविनाशी स्वामी हैं अथवा चौथे भवमें अच्युत स्वर्गके इन्द्र थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ ४९ ॥ आपका शरीर वज्रके खम्भेके समान स्थिर है और आप वज्रनाभि अर्थात् वज्रके समान मजबूत नाभिको धारण करनेवाले हैं अथवा तीसरे भवमें वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो। आप सर्वार्थसिद्धिके नाथ अर्थात् सब पदार्थोंकी सिद्धिके स्वामी तथा सर्वार्थसिद्धि अर्थात् सब प्रयोजनोंकी सिद्धिको प्राप्त हैं अथवा दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धि विमानको प्राप्त कर उसके स्वामी थे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥५०॥ हे नाथ! आप दशावतारचरम अर्थात् सांसारिक पर्यायोंमें अन्तिम अथवा ऊपर कहे हुए महाबल आदि दश अवतारोंमें अन्तिम परमौदारिक शरीरको धारण करनेवाले नाभिराजके पुत्र वृषभदेव परमेष्ठी हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। भावार्थ–इस प्रकार श्लेषालंकारका आश्रय लेकर आचार्यने भगवान् वृषभदेवके दस अवतारोंका वर्णन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि अन्यमतावलम्बी श्रीकृष्ण विष्णुके दस अवतार मानते हैं। यहाँ आचार्यने दस अवतार बतलाकर भगवान् वृषभदेवको ही श्रीकृष्ण-विष्णु सिद्ध किया है ॥५१॥ हे देव, इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम लोग इसी फलकी आशा करते हैं कि हम लोगोंकी भक्ति आपमें ही रहे। हमें अन्य परिमित फलोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥५२॥ इस प्रकार परम आनन्दसे भरे हुए इन्द्रोंने भगवान ऋषभदेवकी स्तुति कर उत्सवके साथ अयोध्या चलनेका फिर विचार किया ॥५३॥ अयोध्यासे मेरु पर्वत तक जाते समय मार्गमें जैसा उत्सव हुआ था उसी प्रकार फिर होने लगा। उसी प्रकार दुन्दुभि बजने लगे, उसी प्रकार जय-जय शब्दका उच्चारण होने लगा और उसी प्रकार इन्द्रने जिनेन्द्र भगवान्‌को ऐरावत हाथीके कन्धेपर विराजमान किया ॥ ५४ ॥ वे देव बड़ा भारी कोलाहल, गीत, नृत्य और जय-जय शब्दकी घोषणा करते हुए आकाशरूपी आँगनको उलंघ कर शीघ्र ही अयोध्यापुरी आ पहुँचे ॥५५॥

---

१. नमोऽस्तु तुभ्यमार्याय दिव्यश्रीधर ते नमः अ०, प०, द०, स०, ल०। म० पुस्तके द्विविधः पाठः। २. पूज्य, पक्षे भोगभूमिजन। ३ दर्शनशुद्धिप्राप्ताय। ४. सपद्धर, पक्षे श्रीधरनामदेव। ५. शोभनदैवाय। शोभनभोग्यायेत्यर्थः। 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यभिधानात्, पक्षे सुविधिनामनृपाय। ६. अविनश्वरश्रेष्ठैश्वर्य, पक्षे अच्युतकल्पामरेन्द्र। ७ वज्रस्तम्भस्थिराङ्गत्वाद् वज्रनाभिर्यस्यासौ वज्रनाभिस्तस्मै। पक्षे वज्रनाभिचक्रिणे। ८. महाबलादिदशावतारेष्वन्त्यपरमौदारिकदेहमरीचये। ९. फलमाशास्महे वयम् अ०, प०, स०, द०, ल०। म० पुस्तके द्विविध पाठः। १० याचामहे। ११. अस्माकम्। १२ परमानन्दातिशयाः। १३. अयोध्यापुरान्निर्गत्य मेरुप्रस्थानसमये यथा वाद्यवादनादयो जातास्तथैव ते सर्वे इदानीमपि जाताः।

यावकाद् गगनोल्लङ्घिशिखरैः पृथुगोपुरैः । स्वर्गमाह्वयमानेव[2] पवनोच्छ्रितकेतनैः ॥५६॥
यस्यां[3] मणिमयी भूमिस्तारकाप्रतिबिम्बितैः[4] । दधे कुमुद्वतीलक्ष्मीमक्षुण्णां[5] क्षणदामुखे[6] ॥५७॥
या पताकाकरैर्दूरमुत्क्षिप्तैः पवनाहतैः । आजुहूषुरिव[7] स्वर्गवासिनोऽभूत् कुतूहलात् ॥५८॥
यस्यां मणिमयैर्हर्म्यैः कृतदम्पतिसंश्रयैः । आक्षिप्तेव सुराधीशविमानश्रीरसंभ्रमम्[8] ॥५९॥
यत्र सौधाग्रसलग्नैरिन्दुकान्तशिलातलैः[10] । चन्द्रपादाभिसंस्पर्शात् क्षरद्भिर्जलदायितम् ॥६०॥
या धत्ते स्म महासौधशिखरैर्मणिभासुरैः । सुरचापश्रियं दिक्षु विततां रत्नभामयीम् ॥६१॥
सरोजरागमाणिक्य[11]किरणैः क्वचिदम्बरम् । यत्र संध्याम्बुदच्छन्नमिवालक्ष्यत पाटलम् ॥६२॥
इन्द्रनीलोपलैः सौधकूटलग्नैर्विलङ्घितम्[12] । स्फुरज्ज्योतिषां चक्रं यत्र नालक्ष्यताम्बरे ॥६३॥
गिरिकूटतटानीव सौधकूटानि शारदाः । घना यत्राश्रयन्ति स्म सून्नतः कस्य नाश्रयः ॥६४॥
प्राकारवलयो यस्याश्चामीकरमयोऽद्युतत् । मानुषोत्तरशैलस्य श्रियं रत्नैरिवाहसन्[13] ॥६५॥
यत्खातिका महाम्भोधेर्लीलां[14] यादोभिरुद्धतैः । धत्ते स्म क्षुभितालोलकल्लोलावर्तभीषणा ॥६६॥
जिनप्रसवभूमित्वाद् या शुद्धाकरभूमिवत् । सूते स्म पुरुषानर्घ्यमहारत्नानि कोटिशः ॥६७॥

जिनके शिखर आकाशको उल्लंघन करनेवाले है और जिनपर लगी हुई पताकाएँ वायुके वेगसे फहरा रही है ऐसे गोपुर-दरवाजोंसे वह अयोध्या नगरी ऐसी शोभायमान होती थी मानो स्वर्गपुरीको ही बुला रही हो ॥ ५६ ॥ उस अयोध्यापुरीकी मणिमयी भूमि रात्रिके प्रारम्भ समयमें ताराओंका प्रतिबिम्ब पड़नेसे ऐसी जान पड़ती थी मानो कुमुदोंसे सहित सरसीकी अखण्ड शोभा ही धारण कर रही हो ॥ ५७ ॥ दूर तक आकाशमें वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे वह अयोध्या ऐसी मालूम होती थी मानो कौतूहलवश ऊँचे उठाये हुए हाथोंसे स्वर्गवासी देवोंको बुलाना चाहती हो ॥ ५८ ॥ जिनमें अनेक सुन्दर स्त्री-पुरुष निवास करते थे ऐसे वहाँके मणिमय महलोंको देखकर निःसन्देह कहना पड़ता था कि मानो उन महलोंने इन्द्रके विमानोंकी शोभा छीन ली थी अथवा तिरस्कृत कर दी थी ॥५९॥ वहाँपर चूना गचीके बने हुए बड़े-बड़े महलोंके अग्रभागपर सैकड़ों चन्द्रकान्तमणि लगे हुए थे, रातमें चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श पाकर उनसे पानी झर रहा था जिससे वे मणि मेघके समान मालूम होते थे ॥ ६० ॥ उस नगरीके बड़े-बड़े राजमहलोंके शिखर अनेक मणियोंसे देदीप्यमान रहते थे, उनसे सब दिशाओंमें रत्नोंका प्रकाश फैलता रहता था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह नगरी इन्द्रधनुष ही धारण कर रही हो ॥ ६१ ॥ उस नगरीका आकाश कहीं-कहीं पर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे कुछ-कुछ लाल हो रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो सन्ध्याकालके बादलोंसे आच्छादित ही हो रहा हो ॥६२॥ वहाँके राजमहलोंके शिखरोंमें लगे हुए देदीप्यमान इन्द्रनील-मणियोंसे छिपा हुआ ज्योतिश्चक्र आकाशमें दिखाई ही नहीं पडता था ॥६३॥ उस नगरीके राजमहलोंके शिखर पर्वतोंके शिखरोंके समान बहुत ही ऊँचे थे और उनपर शरद् ऋतुके मेघ आश्रय लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत (ऊँचा या उदार) होता है वह किसका आश्रय नहीं होता ? ॥६४॥ उस नगरीका सुवर्णका बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा शोभायमान हो रहा था मानो अपनेमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे सुमेरु पर्वतकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥६५॥ अयोध्यापुरीकी परिखा उद्धत हुए जलचर जीवोंसे सदा क्षोभको प्राप्त होती रहती थी और चञ्चल लहरों तथा आवर्तोंसे भयंकर रहती थी इसलिए किसी बड़े भारी समुद्रकी लीला धारण करती थी ॥६६॥ भगवान् वृषभदेवकी जन्मभूमि होनेसे

१. आभात् । २. स्पर्द्धमाना । (आकारयन्ती वा) 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' । ३. यस्या प०, ल० । ४ प्रतिबिम्बैः । ५. -मक्षुण्ण ल० । ६ रजनीमुखे । ७ आह्वातुमिच्छुः । ८. तिरस्कृता । ९ निराकुलं यथा भवति तथा । १०. -शिलाशतैः अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ११. पद्मराग । १२. आक्रान्तम् । १३ -रिवाहसत् प०, द०, स०, म०, ल० । १४. मकरादिजलजन्तुभिः ।

यस्याश्च बहिरुद्यानैरनेकानोकहाकुलैः । फलच्छा[1]यप्रदैः कल्पतरुच्छाया स्म लङ्घ्यते ॥६८॥
यस्याः पर्यन्तमावेष्ट्य स्थिता सा सरयूर्नदी । लसत्पुलिनसंसुप्तसारसा हंसनादिनी ॥६९॥
यां[2] प्राहुररिदुर्लङ्घ्यामयो[3]ध्यां [4]योधसंकुलाम् । विनीताखण्डमध्यस्था[5] या [6]तन्नाभिरिवाबभौ ॥७०॥
तामारुध्य पुरीं विष्वगनीकानि सुधाशिनाम् । तस्थुर्जगन्ति[7] तच्छोभामागतानीव वीक्षितुम् ॥७१॥
ततः कतिपयैर्देवैर्वृतमादाय देवराट् । प्रविवेश नृपागारं परार्ध्यश्रीपरम्परम् ॥७२॥
तत्रामरकृतानेक[8]विन्यासे श्रीगृहाङ्गणे । हर्यासने कुमारं तं सौधर्मेन्द्रो न्यवीविशत्[9] ॥७३॥
नाभिराजः समुद्भिन्नपुलकं गात्रमुद्वहन् । प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनम्[10] ॥७४॥
मायानिद्रामपाकृत्य देवी शच्या प्रबोधिता । देवीभिः सममैक्षिष्ट प्रहृष्टा जगतां पतिम् ॥७५॥
तेजःपुञ्जमिवोद्भूतं सापश्यत् स्वसुतं सती । [11]बालार्केन्द्रेण च [सा] तेन दिगैन्द्रीव विदिद्युते ॥७६॥
शच्या समं च नाकेशं तावद्राष्टां जगद्गुरो । पितरौ नितरां प्रीतौ परिपूर्णमनोरथौ ॥७७॥
ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः । विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरंशुकैश्च[12] महार्घकैः[13] ॥७८॥
तौ प्रीतः प्रशशंसेति सौधर्मेन्द्रः सुरैः समम् । युवां पुण्यधनौ[14] धन्यौ ययोर्लोकाग्रणीः सुतः ॥७९॥

वह नगरी शुद्ध खानिकी भूमिके समान थी और उसने करोड़ों पुरुषरूपी अमूल्य महारत्न उत्पन्न भी किये थे ॥६७॥ अनेक प्रकारके फल तथा छाया देनेवाले और अनेक प्रकारके वृक्षोंसे भरे हुए वहाँके बाहरी उपवनोंने कल्पवृक्षोंकी शोभा तिरस्कृत कर दी थी ॥६८॥ उसके समीपवर्ती प्रदेशको घेरकर सरयू नदी स्थित थी जिसके सुन्दर किनारोंपर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मनोहर शब्द कर रहे थे ॥६९॥ वह नगरी अन्य शत्रुओंके द्वारा दुर्लंघ्य थी और स्वयं अनेक योद्धाओंसे भरी हुई थी इसीलिए लोग उसे 'अयोध्या' (जिससे कोई युद्ध नहीं कर सके) कहते थे। उसका दूसरा नाम विनीता भी था और वह आर्यखण्डके मध्यमें स्थित थी इसलिए उसकी नाभिके समान शोभायमान हो रही थी ॥७०॥ देवोंकी सेनाएँ उस अयोध्यापुरीको चारों ओरसे घेरकर ठहर गयी थीं जिससे ऐसी मालूम होती थी मानो उसकी शोभा देखनेके लिए तीनों लोक ही आ गये हों ॥७१॥ तत्पश्चात् इन्द्रने भगवान् वृषभदेवको लेकर कुछ देवोंके साथ उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सुशोभित महाराज नाभिराजके घरमें प्रवेश किया ॥७२॥ और वहाँ जहाँपर देवोंने अनेक प्रकारकी सुन्दर रचना की है ऐसे श्रीगृहके आँगनमें बालकरूपधारी भगवान्‌को सिंहासनपर विराजमान किया ॥७३॥ महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान्‌को देखने लगे, उस समय उनका सारा शरीर रोमांचित हो रहा था, नेत्र प्रीतिसे प्रफुल्लित तथा विस्तृत हो रहे थे ॥७४॥ मायामयी निद्रा दूर कर इन्द्राणीके द्वारा प्रबोधको प्राप्त हुई माता मरुदेवी भी हर्षितचित्त होकर देवियोंके साथ-साथ तीनों जगत्‌के स्वामी भगवान् वृषभदेवको देखने लगी ॥७५॥ वह सती मरुदेवी अपने पुत्रको उदय हुए तेजके पुंजके समान देख रही थी और वह उससे ऐसी सुशोभित हो रही थी जैसी कि बालसूर्यसे पूर्व दिशा सुशोभित होती है ॥७६॥ जिनके मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके माता-पिता अतिशय प्रसन्न होते हुए इन्द्राणीके साथ-साथ इन्द्रको देखने लगे ॥७७॥ तत्पश्चात् इन्द्रने नाना-प्रकारके आभूषणों, मालाओं और बहुमूल्य वस्त्रोंसे उन जगत्पूज्य माता-पिताकी पूजा की ॥७८॥ फिर वह सौधर्म स्वर्गका इन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उन दोनोंकी इस प्रकार स्तुति करने लगा

१. शोभा अनातपो वा । २. यामाहु–अ०, स०, म०, । ३. अयुद्धदुर्गमाम्; हेतुगर्भितमिदं विशेषणम् । ४ भटसकीर्णाम् । ५. आर्यखण्डनाभि । ६. तदार्यखण्डनाभि । ७ जगत्त्रयम् । ८ अनेकरचनाविन्यासे । ९ स्थापयामास । १०. प्रीतिकरावलोकनम् । ११ बालार्केणेव सा तेन प०, द०, स०, म, ल० । १२ -रद्भुतैश्च अ०. स०, म०. ल० । १३. महामूल्यैः । १४ पुण्यधनौ ब०, अ०, प०, म०, द०, स०, ल० ।

युवामेव महाभागौ[1] युवां कल्याणभागिनौ। युवयोर्न तुला लोके युवामधि[2] गुरोर्गुरू[3] ॥८०॥
भो नाभिराज सत्यं त्वमुदयाद्रिर्महोदयः। देवी प्राच्येव[4] यज्ज्योति[5]र्युष्मत्त परमुद्बभौ ॥८१॥
देवधिष्ण्यमिवागारमि[6]दमाराध्यमद्य वाम्[7]। पूज्यौ युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः ॥८२॥
इत्यभिष्टुत्य तौ देवमर्पयित्वा च तत्करे। शताध्वरः क्षणं तस्थौ कुर्वंस्तामेव[8] संकथाम्[9] ॥८३॥
तौ शक्रेण यथावृत्तमावेदितजिनोत्सवौ। प्रमदस्य परां कोटिमारूढौ विस्मयस्य च ॥८४॥
जातकर्मोत्सवं भूयश्चक्रतुस्तौ शतक्रतोः[10]। लब्ध्वानुमतिमिद्धर्द्ध्यां समं पौरैर्धृतोत्सवैः ॥८५॥
सा केतुमालिकाकीर्णा[11] पुरी[12] साकेतसाह्वया। तदासीत् स्वर्गमाह्वातु[13] सा[14]कूतेवात्तकौतुका ॥८६॥
पुरी स्वर्गपुरीवासौ समाः पौरा दिवौकसाम्। [15]तदा सभृतनेपथ्या[16] पुरनार्योऽप्सर समाः ॥८७॥
धूपामोदैर्दिशो रुद्धा[17] पटवासैस्ततं[18] नभः। संगीतमुरव[19]ध्वानैर्दिक्चक्रं बधिरीकृतम् ॥८८॥
पुरवीथ्यस्तदाभूवन् रत्नचूर्णैरलंकृताः। निरुद्धातपसंपाता[20] प्रचलत्केतनांशुकैः ॥८९॥
चलत्पताकमाबद्धतोरणाञ्चितगोपुरम्। कृतोपशोभमारब्धसंगीतरवरुद्धदिक् ॥९०॥

कि आप दोनों पुण्यरूपी धनसे सहित हैं तथा बड़े ही धन्य हैं क्योंकि समस्त लोकमें श्रेष्ठ पुत्र आपके ही हुआ है ॥७९॥ इस संसारमें आप दोनों ही महाभाग्यशाली हैं, आप दोनों ही अनेक कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले हैं और लोकमें आप दोनोंकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है, क्योंकि आप जगत्‌के गुरुके भी गुरु अर्थात् माता-पिता हैं ॥८०॥ हे नाभिराज, सच है कि आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योंकि यह पुत्ररूपी परम ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है ॥८१॥ आज आपका यह घर हम लोगोंके लिए जिनालयके समान पूज्य है और आप जगत्पिताके भी माता-पिता हैं इसलिए हम लोगोंके सदा पूज्य हैं ॥८२॥ इस प्रकार इन्द्रने माता-पिताकी स्तुति कर उनके हाथोंमें भगवान्‌को सौंप दिया और फिर उन्हींके जन्माभिषेककी उत्तम कथा कहता हुआ वह क्षण-भर वहींपर खड़ा रहा ॥८३॥ इन्द्रके द्वारा जन्माभिषेककी सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही हर्ष और आश्चर्यकी अन्तिम सीमापर आरूढ़ हुए ॥८४॥ माता-पिताने इन्द्रकी अनुमति प्राप्त कर अनेक उत्सव करनेवाले पुरवासी लोगोंके साथ-साथ बड़ी विभूतिसे भगवान्‌का फिर भी जन्मोत्सव किया ॥८५॥ उस समय पताकाओंकी पङ्क्तिसे भरी हुई वह अयोध्यानगरी ऐसी मालूम होती थी मानो कौतुकवश स्वर्गको बुलानेके लिए इशारा ही कर रही हो ॥८६॥ उस समय वह अयोध्या नगरी स्वर्गपुरीके समान मालूम होती थी, नगरवासी लोग देवोंके तुल्य जान पड़ते थे और अनेक वस्त्राभूषण धारण किये हुई नगरनिवासिनी स्त्रियाँ अप्सराओंके समान जान पड़ती थीं ॥८७॥ धूपकी सुगन्धिसे सब दिशाएँ भर गयी थीं, सुगन्धित चूर्णसे आकाश व्याप्त हो गया था और संगीत तथा मृदंगोंके शब्दसे समस्त दिशाएँ बहरी हो गयी थीं ॥८८॥ उस समय नगरकी सब गलियाँ रत्नोंके चूर्णसे अलंकृत हो रही थीं और हिलती हुई पताकाओंके वस्त्रोंसे उनमें धूपका आना रुक गया था ॥८९॥ उस समय उस नगरमें सब स्थानोंपर पताकाएँ हिल रही थीं (फहरा रही थीं) जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह नगर नृत्य ही कर रहा हो। उसके गोपुर-दरवाजे बँधे हुए तोरणोंसे शोभायमान हो रहे थे जिससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने मुखकी सुन्दरता ही दिखला रहा हो, जगह-जगह वह नगर सजाया गया

---

१. महाभाग्यवन्तौ। २ जगत्त्रयगुरोः। ३. पितरौ। ४ यस्मात् कारणात्। ५. युवाभ्याम्। ६ देवतागृहम्। ७ युवयोः। ८. जन्माभिषेकसबन्धिनीम्। ९ सत्कथाम् अ०, स०, ल०। १० इन्द्रात्। ११. कार्णा–म०, ल०। १२. आह्वयेन सहिता साह्वया साकेतेति साह्वया साकेतसाह्वया। १३. स्पर्द्धां कर्तुम्। १४ साभिप्राया। १५ तदावभृत–प०। तदा संभृत–अ०। १६ अलकाराः। १७ पटवासचूर्णैः। १८. आच्छादितम्। १९. मुरज–स०, म०, ल०। २०. सम्पर्काः।

प्रनृत्यदिव सांमुख्यमिव[1] तद्दर्शयन् पुरम् । [2]मनेव्यमिवानन्दात् प्रजल्पदिव चाभवत् ॥९१॥
ततो गीतैश्च नृत्तैश्च [3]वादित्रैश्च समङ्गलैः । व्यग्र[4] पौरजनः सर्वोऽप्यासीदानन्दनिर्भरः ॥९२॥
न तदा कोऽप्यभूद् दीनो[5] न तदा कोऽपि दुर्विधः[6] । न तदा कोऽप्यपूर्णेच्छो[7] न तदा कोऽप्यकौतुकः ॥९३॥
सप्रमोदमयं विश्वमित्यातन्वन्महोत्सवः । यथा मेरौ तथैवास्मिन् पुरे सान्तःपुरेऽवृतत् ॥९४॥
दृष्ट्वा प्रमुदितं[8] तेषां[9] स्वं प्रमोदं प्रकाशयन् । सक्रन्दनो मनोवृत्तिमानन्दानन्दनाटके[10] ॥९५॥
नृत्तारम्भे महेन्द्रस्य सज्जः[11] संगीतविस्तरः । [12]गन्धर्वैस्तद्विधानज्ञै[13]र्भाण्डोपवहनादिभिः ॥९६॥
कृतानुकरणं[14] नाट्यं तच्चयोज्यं यथागमम्[15] । स चागमो महेन्द्राद्यैर्यथाम्नायं[16] मनुस्मृतः[17] ॥९७॥
वक्तृणा तत्प्रयोक्तृत्वे[18] लालित्यं[19] किमु वर्ण्यते । [20]पात्रान्तरेऽपि संक्रान्तं[21] यत् सतां चित्तरञ्जनम् ॥९८॥
ततः[22] श्रव्यं च दृश्यं च [23]तत्प्रयुक्तं महात्मनाम्[24] । [25]पाठ्यैर्नानाविधैश्चित्रै[26]राङ्गिकाभिनयैरपि ॥९९॥
विकृष्टः[27] कुतपन्यासो[28] मही सकुलभूधरा । रङ्गस्त्रिभुवनाभोगः[29] सहस्राक्षो महानटः[30] ॥१००॥

था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वस्त्राभूषण ही धारण किये हो और प्रारम्भ किये हुए संगीतके शब्दसे उस नगरकी समस्त दिशाएँ भर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह आनन्दसे बातचीत ही कर रहा हो अथवा गा रहा हो ॥९०-९१॥ इस प्रकार आनन्दसे भरे हुए समस्त पुरवासी जन गीत, नृत्य, वादित्र तथा अन्य अनेक मङ्गलकार्योंमें व्यग्र हो रहे थे ॥९२॥ उस समय उस नगरमें न तो कोई दीन रहा था, न निर्धन रहा था, न कोई ऐसा ही रहा था जिसकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई हों और न कोई ऐसा ही था जिसे आनन्द उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥९३॥ इस तरह सारे संसारको आनन्दित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वतपर हुआ था वैसा ही अन्तःपुरसहित इस अयोध्यानगरमें हुआ ॥ ९४ ॥ उन नगरवासियोंका आनन्द देखकर अपने आनन्दको प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करनेमें अपना मन लगाया ॥९५॥ ज्यों ही इन्द्रने नृत्य करना प्रारम्भ किया त्यों ही संगीत-विद्याके जाननेवाले गन्धर्वोंने अपने बाजे वगैरह ठीक कर विस्तारके साथ संगीत करना प्रारम्भ कर दिया ॥९६॥ पहले किसीके द्वारा किये हुए कार्यका अनुकरण करना नाट्य कहलाता है, वह नाट्य, नाट्यशास्त्रके अनुसार ही करनेके योग्य है और उस नाट्यशास्त्रको इन्द्रादि देव ही अच्छी तरह जानते हैं ॥९७॥ जो नाट्य या नृत्य शिष्य-प्रतिशिष्यरूप अन्य पात्रोंमें संक्रान्त होकर भी सज्जनोंका मनोरंजन करता रहता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करनेवाला ही करे तो फिर उसकी मनोहरताका क्या वर्णन करना है ? ॥९८॥ तत्पश्चात् अनेक प्रकारके पाठों और चित्र-विचित्र शरीरकी चेष्टाओंसे इन्द्रके द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषोंके देखने और सुनने योग्य था ॥९९॥ उस समय अनेक प्रकारके बाजे बज रहे थे, तीनों लोकोंमें फैली हुई कुलाचलोंसहित पृथिवी ही उसकी रंगभूमि थी, स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करनेवाला था, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्यके दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे, और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थोंकी सिद्धि तथा

---

१. सुमुखत्वम् । २ सालंकारम् । ३ वाद्यैः । ४ आसक्तः । ५ लुब्धः । ६. दरिद्रः । ७. असम्पूर्णवाञ्छः । ८ प्रमोदम् । ९ नाभिराजादीनाम् । १०. –मबध्नानन्दनाटके प०, द०, म० । आनन्द बबन्ध । 'अदु बन्धने' लिट् । ११. कृतप्रयत्नः । १२ गीतिः देवभेदैर्वा । १३. वाद्यधारणादिभिः । १४. पूर्वस्मिन् कृतस्यानुकरणमभिनयः । १५. नाट्यशास्त्रानतिक्रमेण । १६ सन्ततिमनतिक्रम्य । १७ ज्ञातः । १८ तन्नाट्यप्रयोक्तृत्वे । १९ ललितत्वम् । २० पात्रभेदेऽपि । २१. यत् नाट्यशास्त्रलालित्यं पात्रान्तरेऽपि संक्रान्तं चेत् । २२ ततः कारणात् । २३ नाट्यम् । २४. महात्मना द०, ट० । महेन्द्रेण । २५. गद्यपद्यादिभिः । २६. अङ्गजनिताभिनयैः । २७. विलिखितः, ताडित इत्यर्थः । २८ वाद्यानां न्यासः । 'कुतपोऽर्के गवि विप्रे वह्नावतिथौ च भागिनेये च । अस्त्री दिनाष्टमांशे कुशतिलयोः छागकम्बले वाद्ये ॥' इत्यभिधानात् । २९ त्रिलोकस्याभोगो विस्तारो यस्य सः । ३० महानर्तकः ।

प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो[1] जगद्गुरुः । फलं त्रिवर्गसंभूति[2] परमानन्द एव च ॥१०१॥
इत्येकशोऽपि संप्रीत्यै वस्तुजातमिदं सताम् । किमु तत्सर्वसंदोहः पुण्यैरेकत्र संगत. ॥१०२॥
कृत्वा समवतारं[3] तु त्रिवर्गफलसाधनम् । जन्माभिषेकसंबन्धं प्रा[4]युङ्क्तैनं तदा हरिः ॥१०३॥
तदा प्रयुक्तमन्यच्च रूपकं बहुरूपकम्[5] । [6]दशावतारसंदर्भमधिकृत्य जिनेशिनः ॥१०४॥
तत्प्रयोगविधौ पूर्वं पूर्वरङ्गं[7] समङ्गलम् । प्रारेभे मघवाघानां विघाताय [8]समाहितः ॥१०५॥
पूर्वरङ्गप्रसंगेन[9] पुष्पाञ्जलिपुरस्सरम् । ताण्डवारम्भमेवाग्रे[10][11] सुरग्रामहरोऽग्रहीत् ॥१०६॥
प्रयोज्य [12]नान्दीमन्तेऽस्या[13] विशन् रङ्गं बभौ हरिः । धृतमङ्गलनेपथ्यो[14][15] नाट्यवेदावतारवित्[16] ॥१०७॥
स रङ्गमवतीर्णोऽभाद् वैशाखस्थानमास्थित । लोकस्कन्ध इवोद्धूतो[17] मरुद्भिरभितो वृत ॥१०८॥
[18]मध्येरङ्गमसौ रेजे क्षिपन् पुष्पाञ्जलिं हरि. । [19]विभजन्निव पीताव[20]शेषनाट्यरसं स्वयम् ॥१०९॥
ललितोद्भटनेपथ्यो[21] लसन्नयनसन्ततिः । स रेजे कल्पशाखीव सप्रसून. सभूषण ॥११०॥
[22]पुष्पाञ्जलि पतन् रेजे मत्तालिभिरनुद्रुत.[23] । नेत्रौघ इव वृत्रघ्न[24][25] कल्माषितनभोऽङ्गण ॥१११॥

परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होना ही उसका फल था। इन ऊपर कही हुई वस्तुओंमें-से एक-एक वस्तु भी सज्जन पुरुषोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाली है फिर पुण्योदयसे पूर्वोक्त सभी वस्तुओं-का समुदाय किसी एक जगह आ मिले तो कहना ही क्या है ? ॥१००-१०२॥ उस समय इन्द्रने पहले त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) रूप फलको सिद्ध करनेवाला गर्भावतारसम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेकसम्बन्धी नाटक करना प्रारम्भ किया॥ १०३ ॥ तदनन्तर इन्द्रने भगवान्‌के महाबल आदि दशावतार सम्बन्धी वृत्तान्तको लेकर अनेक रूप दिखलाने-वाले अन्य अनेक नाटक करना प्रारम्भ किये ॥ १०४ ॥ उन नाटकोंका प्रयोग करते समय इन्द्रने सबसे पहले, पापोंका नाश करनेके लिए मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्वरंगका प्रारम्भ किया ॥१०५॥ पूर्वरंग प्रारम्भ करते समय इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण करते हुए सबसे पहले ताण्डव नृत्य प्रारम्भ किया ॥१०६॥ ताण्डव नृत्यके प्रारम्भमें उसने नान्दी मङ्गल किया और फिर नान्दी मंगल कर चुकनेके बाद रंग-भूमिमें प्रवेश किया। उस समय नाट्यशास्त्रके अवतारको जाननेवाला और मंगलमय वस्त्राभूषण धारण करनेवाला वह इन्द्र बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥१०७॥ जिस समय वह रंग-भूमिमें अवतीर्ण हुआ था उस समय वह वैशाख-आसनसे खड़ा हुआ था अर्थात् पैर फैलाकर अपने दोनों हाथ कमरपर रखे हुए था और चारों ओरसे मरुत् अर्थात् देवोंसे घिरा हुआ था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो मरुत् अर्थात् वातवलयोंसे घिरा हुआ लोकस्कन्ध ही हो ॥१०८॥ रंग-भूमिके मध्यमें पुष्पाञ्जलि बिखेरता हुआ वह इन्द्र ऐसा भला मालूम होता था मानो अपने पान करनेसे बचे हुए नाट्यरसको दूसरोंके लिए बाँट ही रहा हो ॥१०९॥ वह इन्द्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणोंसे शोभाय-मान था और उत्तम नेत्रोंका समूह धारण कर रहा था इसलिए पुष्पों और आभूषणोंसे सहित किसी कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहा था ॥११०॥ जिसके पीछे अनेक मदोन्मत्त भौंरे दौड़ रहे हैं ऐसी वह पड़ती हुई पुष्पाञ्जलि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशको चित्र-विचित्र

१. सभापति. । २. उत्पत्तिः । ३. गर्भावतारम् । ४ प्रयुक्तवान् । ५ भूमिकाम् । ६ महाबलादि । ७. पूर्वशुद्धचित्रमिति । 'यन्नाटचवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥' ८. अवधानपर । ९. पूर्वरङ्गविधानेन । १०. ललितभापणगर्भलास्य ताण्डव तस्यारम्भम् । ११ सुरश्रेष्ठ । १२. जर्जरपूजामङ्गल-पटहोच्चारणपुष्पाञ्जलिक्षेपणादिनान्दीविधिम् । १३. नान्द्याः । १४ मङ्गलालकार । १५ नाटचशास्त्रम् । १६.–वित् वत् म० पुस्तके द्वौ पाठौ । १७. देवैः । १८. रङ्गस्य मध्ये । १९ दिशि दिशि विभागीकुर्वन् । २०. पीतावशिष्ट नाटच—प०, अ०, ल०। २१. मनोज्ञोल्वणालङ्कारः । २२ अय श्लोकः पुरुदेवचम्पूकारेण स्वकीये पुरुदेवचम्पूप्रबन्धे पञ्चमस्तवकस्य चतुर्विंशतितमश्लोकता प्रापित. । २३ अनुगत । २४ वार्घ्नः अ०, प०, म०, द०, स०, ल० । २५. कर्बुरित ।

परितः परितस्तार[1] तारास्यं[2] नयनावली । रङ्गमारमप्रसोत्सर्पैः श्रितैर्जवनिकाश्रियम् ॥११२॥
सलयैः[3] पदविन्यासैः परितो रङ्गमण्डलम् । परिक्रामन्नसौ[4] रेजे विमान[5], इव काश्यपीम्[6] ॥११३॥
कृतपुष्पाञ्जलेरस्य ताण्डवारम्भसम्भ्रमे । पुष्पवर्षं दिवोऽमुञ्चन् सुरास्तद्भक्तितोषिताः[7] ॥११४॥
तदा पुष्करवाद्यानि[8] मन्द्रं दध्वनुरक्रमात्[9] । दिक्तटेषु प्रतिध्वानानातन्वानि कोटिशः ॥११५॥
वीणा मधुरमारेणुः[10] कलं वंशा[11] विसस्वनुः । [12]गेयान्यनुगतान्येषां समं तालैरराणिषुः[13] ॥११६॥
[14]उपवादकवाद्यानि परिवादकवादितैः[15] । बभूवुः सगतान्येव[16] सांगत्यं[17] हि सयोनिषु ॥११७॥
[18]काकलीकलमामन्द्रतारमूर्च्छनमुज्जगे । तदोपवीणयन्तीभिः[19] किन्नरीभिरनुल्बणम्[20] ॥११८॥
ध्वनद्भिर्मधुरं गांस[21] सबन्धं प्राप्य शिष्यवत् । कृतं वंशोचितं[22] वंशैः प्रयोगेष्वविवादिभिः[23] ॥११९॥
प्रयुज्य मघवा शुद्धं पूर्वरङ्गमनुक्रमात् । [24]करणैरङ्गहारैश्च[25] चित्रं प्रायुङ्क्त तं पुनः ॥१२०॥
चित्रैश्च रेचकैः[26] पादकटिकण्ठकराश्रितैः । ननाट ताण्डवं शक्रो दर्शयन् रसमूर्जितम् ॥१२१॥

करनेवाला इन्द्रके नेत्रोंका समूह ही हो ॥१११॥ इन्द्रके बड़े-बड़े नेत्रोंकी पङ्क्ति जवनिका (परदा) की शोभा धारण करनेवाली अपनी फैलती हुई प्रभासे रंगभूमिको चारों ओरसे आच्छादित कर रही थी ॥११२॥ वह इन्द्र तालके साथ-साथ पैर रखकर रंगभूमिके चारों ओर घूमता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो पृथिवीको नाप ही रहा हो ॥११३॥ जब इन्द्रने पुष्पाञ्जलि क्षेपण कर ताण्डव नृत्य करना प्रारम्भ किया तब उसकी भक्तिसे प्रसन्न हुए देवोंने स्वर्ग अथवा आकाशसे पुष्पवर्षा की थी ॥११४॥ उस समय दिशाओंके अन्तभाग तक प्रतिध्वनिको विस्तृत करते हुए पुष्कर आदि करोड़ों बाजे एक साथ गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे ॥११५॥ वीणा भी मनोहर शब्द कर रही थी, मनोहर मुरली भी मधुर शब्दोंसे बज रही थी और उन बाजोंके साथ-ही-साथ तालसे सहित संगीतके शब्द हो रहे थे ॥११६॥ वीणा बजानेवाले मनुष्य जिस स्वर वा शैलीसे वीणा बजा रहे थे, साथके अन्य बाजोंके बजानेवाले मनुष्य भी अपने-अपने बाजोंको उसी स्वर वा शैलीसे मिलाकर बजा रहे थे सो ठीक ही है एक-सी वस्तुओंमें मिलाप होना ही चाहिए ॥११७॥ उस समय वीणा बजाती हुई किन्नरदेवियाँ कोमल, मनोहर, कुछ-कुछ गम्भीर, उच्च और सूक्ष्मरूपसे गा रही थीं ॥११८॥ जिस प्रकार उत्तम शिष्य गुरुका उपदेश पाकर मधुर शब्द करता है और अनुमानादिके प्रयोगमें किसी प्रकारका वाद-विवाद नहीं करता हुआ अपने उत्तम वंश (कुल) के योग्य कार्य करता है उसी प्रकार वंशी आदि बाँसोंके बाजे भी मुखका सम्बन्ध पाकर मनोहर शब्द कर रहे थे और नृत्य-संगीत आदिके प्रयोगमें किसी प्रकारका विवाद (विरोध) नहीं करते हुए अपने वंश (बाँस) के योग्य कार्य कर रहे थे ॥११९॥ इस प्रकार इन्द्रने पहले तो शुद्ध (कार्यान्तरसे रहित) पूर्वरंग का प्रयोग किया और फिर करण (हाथोंका हिलाना तथा अङ्गहार (शरीरका मटकाना) के द्वारा विविधरूपमें उसका प्रयोग किया ॥१२०॥ वह इन्द्र पाँव, कमर, कण्ठ और हाथोंको अनेक प्रकारसे घुमाकर उत्तम रस दिखलाता हुआ ताण्डव नृत्य कर रहा था ॥१२१॥ जिस

१. 'स्तृञ् आच्छादने'। २ स्फुरती। ३. तालमानयुतैः। ४. परिभ्रमन्। ५ प्रमाणं कुर्वन्। ६ पृथ्वीम्। ७ इन्द्रभक्ति। ८. चर्मसबद्धमुखतूर्याणि। 'पुष्कर करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यभिधानात्। ९ युगपत्। १० कलवशा म०, ल०। ११ वाद्या। १२ प्रबन्धाः। १३. गानं चक्रुरित्यर्थः। १४ उप समीपे वदन्तीति उपवादकानि तानि च तानि वाद्यानि च उपवादकवाद्यानि। १५. वीणाशब्दैः। १६. सयुक्तानि। हृदयङ्गमानि वा। 'सगतं हृदयगमम्' इत्यभिधानात्। १७ समानधर्मवस्तु। १८ 'काकली तु कले सूक्ष्मे' इत्यमरः। १९. वीणया उपगायन्तीभिः। २० अनुत्कटं यथा भवति तथा। २१ मुखाज्जातम्। २२. वेणोरन्वयस्य चोचितम्। २३ विवादमकुर्वाद्भिः। २४ करन्यासैः। २५ अङ्गविक्षेपैः। २६. भ्रमणैः।

तस्मिन्बाहुसहस्राणि विकृत्य[1] प्रणिनृत्यति । धरा चरणविन्यासैः स्फुटन्तीव तदाचलत्[2] ॥१२२॥
कुलाचलाश्चलन्ति स्म तृणानामिव राशयः । अभूज्जलधिरुद्वेल प्रमदादिव निर्ध्वनन्[3] ॥१२३॥
लसद्बाहुर्महोदग्रविग्रहः सुरनायकः । कल्पांघ्रिप इवानर्त्तीच्चलदंशुकभूषणः ॥१२४॥
चलत्तन्मौलिरत्नांशुपरिवेषैर्नभःस्थलम्[4] । तदा त्रिदिद्युते विद्युत्सहस्रैरिव सन्ततम्[5] ॥१२५॥
विक्षिप्ता[6] बाहुविक्षेपैस्तारकाः परितोऽभ्रमन् । [7]भ्रमणाविद्धविच्छिन्नहारमुक्ताफलश्रिय ॥१२६॥
नृत्यतोऽस्य भुजोल्लासैः पयोदाः परिघट्टिताः । पयोलवच्युतो रेजुः शुचेव क्षरदश्रवः[8] ॥१२७॥
रेचकेऽस्य[9] चलन्मौलिप्रोच्छलन्मणिरीतयः[10] । [11]वेगाविद्धाः समं भ्रेमुरलातवलयायिताः ॥१२८॥
नृत्तक्षोभान्महीक्षोभे क्षुभिता जलराशयः । क्षालयन्ति स्म दिग्भित्तीः [12]प्रोच्चलज्जलशीकरैः ॥१२९॥
क्षणादेकः क्षणादनेकः क्षणाद् व्यापी क्षणादणुः । क्षणादारात् क्षणाद् दूरे क्षणाद् व्योम्नि क्षणाद् भुवि ॥१३०॥
इति प्रतन्वतात्मीयं सामर्थ्यं विक्रियोत्थितम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा ॥१३१॥
नेटुरप्सरसः शक्रभुजशाखासु सस्मिताः । सलीलभ्रूलतोत्क्षेपमङ्गहारैः[13] सचारिभिः[14] ॥१३२॥

समय वह इन्द्र विक्रियासे हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथिवी उसके पैरोंके रखनेसे हिलने लगी थी मानो फट रही हो, कुलपर्वत तृणोंकी राशिके समान चञ्चल हो उठे थे और समुद्र भी मानो आनन्दसे शब्द करता हुआ लहराने लगा था ॥१२२-१२३॥ उस समय इन्द्रकी चञ्चल भुजाएँ बड़ी ही मनोहर थीं, वह शरीरसे स्वयं ऊँचा था और चञ्चल वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिसकी शाखाएँ हिल रही हैं, जो बहुत ऊँचा है और जो हिलते हुए वस्त्र तथा आभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हो ॥१२४॥ उस समय इन्द्रके हिलते हुए मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके मण्डलसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो हजारों बिजलियों-से ही व्याप्त हो रहा हो ॥१२५॥ नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके विक्षेपसे बिखरे हुए तारे चारों ओर फिर रहे थे और ऐसे मालूम होते थे मानो फिरकी लगानेसे टूटे हुए हारके मोती ही हों ॥१२६॥ नृत्य करते समय इन्द्रकी भुजाओंके उल्लाससे टकराये हुए तथा पानीकी छोटी-छोटी बूँदोंको छोड़ते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे मानो शोकसे आँसू ही छोड़ रहे हों ॥१२७॥ नृत्य करते-करते जब कभी इन्द्र फिरकी लेता था तब उसके वेगके आवेशसे फिरती हुई उसके मुकुटके मणियोंकी पङ्क्तियाँ अलातचक्रकी नाईं भ्रमण करने लगती थीं ॥१२८॥ इन्द्रके उस नृत्यके क्षोभसे पृथिवी क्षुभित हो उठी थी, पृथिवीके क्षुभित होनेसे समुद्र भी क्षुभित हो उठे थे और उछलते हुए जलके कणोंसे दिशाओंकी भित्तियोंका प्रक्षालन करने लगे थे ॥१२९॥ नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षण-भरमें एक रह जाता था, क्षण-भरमें अनेक हो जाता था, क्षण-भरमें सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षण-भरमें छोटा-सा रह जाता था, क्षण-भरमें पास ही दिखाई देता था, क्षण-भरमें दूर पहुँच जाता था, क्षण-भरमें आकाशमें दिखाई देता था, और क्षण-भरमें फिर जमीनपर आ जाता था, इस प्रकार विक्रियासे उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्यको प्रकट करते हुए उस इन्द्रने उस समय ऐसा नृत्य किया था मानो इन्द्रजालका खेल ही किया हो ॥१३०-१३१॥ इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर मन्द-मन्द हँसती हुई अप्सराएँ लीलापूर्वक भौंहरूपी लताओंको चलाती हुई, शरीर हिलाती हुई और

१. विकुर्वणां कृत्वा । २. चलति स्म । ३. नितरां ध्वनन् । ४.–नभस्तलम् अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ५. विस्तृतम् । ६. विप्रकीर्णा । ७ प्रेरित । ८. गलदश्रुबिन्दव । ९. भ्रमणे । रेचकस्य ल० । १०. पङ्क्तयः । प्रवाहा । ११. वेगेनाताडिता । १२. प्रोच्छलज्जल–अ०, प०, द०, स०, ल० । १३. अङ्गविक्षेपैः । १४ पादन्यासभेदसहितैः ।

वर्द्धमानलयैः काश्चित् काश्चित् ताण्डवलास्यकैः[1] । ननृतुः सुरनर्त्तक्य चित्रैरभिनयैस्तदा ॥१३३॥
काश्चिदैरावतीं[2] पिण्डीमैन्द्रीं बद्ध्वामराङ्गना । प्रानर्तिषुः प्रवेशैश्च निष्क्रमैश्च[3] नियन्त्रिते ॥१३४॥
कल्पद्रुमस्य शाखासु कल्पवल्ल्य इवोद्गताः । रेजिरे सुरराजस्य बाहुशाखासु तास्तदा ॥१३५॥
स ताभिः सममारब्धरेचको[4] व्यरुचत्तराम् । चक्रान्दोल इव श्रीमान् चलन्मुकुटशेखरः ॥१३६॥
सहस्राक्षसमुत्फुल्लविकसत्पङ्कजाकरे । ता पद्मिन्य इवाभूवन् स्मेरवक्त्राम्बुजश्रियः ॥१३७॥
स्मितांशुभिर्विमिश्रानि[5] तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि[6] पद्मानि [7]प्लुतानीवामृतप्लवैः[8] ॥१३८॥
कुलशैलायितानस्य भुजानध्यास्य काश्चन । रेजिरे परिनृत्यन्त्यो[9] मूर्तिमत्य इव श्रियः ॥१३९॥
नेदुरैरावतालान[10]स्तम्भयष्टिममायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवापराः ॥१४०॥
हारमुक्ताफलेष्वन्याः संक्रान्तप्रतियातनाः[11] । ननृतुर्बहुरूपिण्यो विद्या इव विडौजसः ॥१४१॥
कराङ्गुलीषु शक्रस्य न्यस्यन्त्यः क्रमपल्लवान् । सलीलमनटन् काश्चित् सूचीनाट्यमिवाश्रिताः[12] ॥१४२॥
भ्रेमुः कराङ्गुलीरन्याः [13]सुपर्वाः श्लिष्टवेशिन । वंशयष्टीरिवारुह्य तदग्रार्पितनाभयः ॥१४३॥

सुन्दरतापूर्वक पैर उठाती रखती हुई (थिरक-थिरककर) नृत्य कर रही थीं ॥१३२॥ उस समय कितनी ही देवनर्तकियाँ वर्द्धमान लयके साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्यके साथ और कितनी ही अनेक प्रकारके अभिनय दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३३॥ कितनी देवियाँ बिजली-का और कितनी ही इन्द्रका शरीर धारण कर नाट्यशास्त्रके अनुसार प्रवेश तथा निष्क्रमण दिखलाती हुई नृत्य कर रही थीं ॥१३४॥ उस समय इन्द्रकी भुजारूपी शाखाओंपर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कल्पवृक्षकी शाखाओंपर फैली हुई कल्पलताएँ ही हों ॥१३५॥ वह श्रीमान् इन्द्र नृत्य करते समय उन देवियोंके साथ जब फिरकी लगाता था तब उसके मुकुटका सेहरा भी हिल जाता था और वह ऐसा शोभायमान होता था मानो कोई चक्र ही घूम रहा हो ॥१३६॥ हजार आँखोंको धारण करनेवाला वह इन्द्र फूले हुए विकसित कमलोंसे सुशोभित तालाबके समान जान पड़ता था और मन्द-मन्द हँसते हुए मुखरूपी कमलोंसे शोभायमान, भुजाओंपर नृत्य करनेवाली वे देवियाँ कमलिनियों-के समान जान पड़ती थीं ॥१३७॥ मन्द हास्यकी किरणोंसे मिले हुए उन देवियोंके मुख ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अमृतके प्रवाहमें डूबे हुए विकसित कमल ही हों ॥१३८॥ कितनी ही देवियाँ कुलाचलोंके समान शोभायमान उस इन्द्रकी भुजाओंपर आरूढ़ होकर नृत्य कर रही थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरीरधारिणी लक्ष्मी ही हो ॥१३९॥ ऐरावत हाथीके बाँधनेके खम्भेके समान लम्बी इन्द्रकी भुजाओंपर आरूढ होकर कितनी ही देवियाँ नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम थीं मानो कोई अन्य वीर-लक्ष्मी ही हों ॥१४०॥ नृत्य करते समय कितनी ही देवियोंका प्रतिबिम्ब इन्हींके हारके मोतियोंपर पड़ता था जिससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो इन्द्रकी बहुरूपिणी विद्या ही नृत्य कर रही हो ॥१४१॥ कितनी ही देवियाँ इन्द्रके हाथोंकी अँगुलियोंपर अपने चरण-पल्लव रखती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थीं और ऐसी मालूम होती थीं मानो सूचीनाट्य (सूईकी नोकपर किया जानेवाला नृत्य) ही कर रही हो ॥१४२॥ कितनी ही देवियाँ सुन्दर पर्वोंसहित इन्द्रकी अँगुलियोंके अग्रभाग-पर अपनी नाभि रखकर इस प्रकार फिरकी लगा रही थीं मानो किसी बाँसकी लकड़ीपर चढ़कर उसके अग्रभागपर नाभि रखकर मनोहर फिरकी लगा रही हो ॥१४३॥ देवियाँ इन्द्रकी

---

१ ताण्डवरूपनर्तनैः । २. शरीरम् । 'मधातप्रासयो पिण्डोद्वयोः पुंसि कलेवरे ।' इत्यभिधानात् । ३. निर्गमनैश्च । ४ भ्रमण । ५ युतानि । ६ विकसनशीलानि । ७ धौतानि । ८ प्रवाहैः । ९ परिनृत्यन्त्यो प०, म०, ल० । १० बन्धनस्तम्भ । ११ प्रतिबिम्बा । १२. आश्रिता । १३ सुग्रन्थी. ।

प्रतिबाह्वमरेन्द्रस्य सन्नटन्त्योऽमराङ्गना । सयत्नं संचरन्ति स्म [1]पञ्चयन्त्योऽक्षिसंकुलम् ॥१४४॥
स्फुटन्निव कटाक्षेपु कपोलेषु स्फुरन्निव । प्रसरन्निव पादेषु करेषु विलसन्निव ॥१४५॥
विहसन्निव वक्त्रेषु नेत्रेषु विकसन्निव । रज्यन्निवाङ्गरागेषु निमज्जन्निव नाभिषु ॥१४६॥
चलन्निव कटीदेशेषु मेखलासु स्खलन्निव । तदा नाट्यरसोऽङ्गेषु ववृधे वर्द्धितोत्सवः ॥१४७॥
प्रत्यङ्गममरेन्द्रस्य याश्चेष्टा नृत्यतोऽभवन् । ता एव तेषु पात्रेषु सविभक्ता इवारुचन् ॥१४८॥
[2]रसास्त एव ते[3] [4]भावास्तेऽनुभावास्तदिङ्गितम्[5] । अनुप्रवेशितो नूनमात्मा तेष्वमरेशिना ॥१४९॥
सोऽभात्स्वभुजदण्डेषु नर्त्तयन् सुरनर्त्तकी । [6]तास्त्वी. पुत्रिका यन्त्रफलकेष्विव यान्त्रिक[7] ॥१५०॥
ऊर्ध्वमुच्चलयन् व्योम्नि नटन्तीर्दर्शयन् पुन[8] । क्षणात्कुर्वन्नदृश्यास्ता सोऽभून्माहेन्द्रजालक. ॥१५१॥
इतश्चेत स्वदोर्जाले गूढं संचारयन् नटी । [9]सभवान् [10]हस्तसंचारमिवासीदाचरन् हरि ॥१५२॥
नर्तयन्नेकतो यूनो युवतीरन्यतो हरिः । भुजशाखासु सोऽनर्तीद् दर्शिताद्भुतविक्रिय ॥१५३॥
नेदुस्तद्भुजरङ्गेषु ते च ताश्च [11]परिक्रमैः । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्नाट्यवेदविदांवरः ॥१५४॥
[12]दीप्तोद्धतरसप्रायं नृत्य ताण्डवमेकत । सुकुमारप्रयोगाढ्य ललित लास्यमन्यत ॥१५५॥

प्रत्येक भुजापर नृत्य करती हुई और अपने नेत्रोंके कटाक्षोंको फैलाती हुई बड़े यत्नसे संचार कर रही थीं ॥१४४॥ उस समय उत्सवको बढ़ाता हुआ वह नाट्यरस उन देवियोंके शरीरमें खूब ही बढ़ रहा था और ऐसा मालूम होता था मानो उनके कटाक्षोंमें प्रकट हो रहा हो, कपोलोंमें स्फुरायमान हो रहा हो, पाँवोंमें फैल रहा हो, हाथोंमें विलसित हो रहा हो, मुखोंपर हँस रहा हो, नेत्रोंमें विकसित हो रहा हो, अंगरागमें लाल वर्ण हो रहा हो, नाभिमें निमग्न हो रहा हो, कटिप्रदेशोंपर चल रहा हो और मेखलाओंपर स्खलित हो रहा हो॥१४५-१४७॥ नृत्य करते हुए इन्द्रके प्रत्येक अंगमें जो चेष्टाएँ होती थीं वही चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रोंमें हो रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी चेष्टाएँ उन सबके लिए बाँट ही दी हों ॥१४८॥ उस समय इन्द्रके नृत्यमें जो रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ थीं वे ही रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाएँ अन्य सभी पात्रोंमें थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रने अपनी आत्माको ही उनमें प्रविष्ट करा दिया हो ॥१४९॥ अपने भुजदण्डोंपर देवनर्तकियोंको नृत्य कराता हुआ वह इन्द्र ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो किसी यन्त्रकी पटियोंपर लकड़ीकी पुतलियोंको नचाता हुआ कोई यान्त्रिक अर्थात् यन्त्र चलानेवाला ही हो ॥१५०॥ वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियोंको कभी ऊपर आकाशमें चलाता था, कभी सामने नृत्य करती हुई दिखला देता था और कभी क्षण-भरमें उन्हें अदृश्य कर देता था, इन सब बातोंसे वह किसी इन्द्रजालका खेल करनेवालेके समान जान पड़ता था ॥१५१॥ नृत्य करनेवाली देवियोंको अपनी भुजाओंके समूहपर गुप्तरूपसे जहाँ-तहाँ घुमाता हुआ वह इन्द्र हाथकी सफाई दिखलानेवाले किसी बाजीगरके समान जान पड़ता था ॥१५२॥ वह इन्द्र अपनी एक ओरकी भुजाओंपर तरुण देवोंको नृत्य करा रहा था और दूसरी ओरकी भुजाओंपर तरुण देवियोंको नृत्य करा रहा था तथा अद्भुत विक्रिया शक्ति दिखलाता हुआ अपनी भुजारूपी शाखाओंपर स्वयं भी नृत्य कर रहा था ॥ १५३ ॥ इन्द्रकी भुजारूपी रंगभूमिमें वे देव और देवांगनाएँ प्रदक्षिणा देती हुई नृत्य कर रही थीं इसलिए वह इन्द्र नाट्यशास्त्रके जाननेवाले सूत्रधारके समान मालूम होता था ॥ १५४ ॥ उस समय एक ओर तो दीप्त और उद्धत रससे भरा हुआ

---

१. विस्तारयन्त्यः । 'पचि विस्तारवचने' । वञ्चयन्त्यो–ब०, अ०, प०, स० । २ शृङ्गारादय । ३ ते एव भावाः चित्तसमुन्नतयः । ४. भावबोधका । ५. चित्तविकृति । ६. तरुसवन्धिपाञ्चालिका । 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदन्तादिभि॰ कृता' । ७ सूत्रधार. । ८. पुरः म०, ल० । ९ पूज्य । १०. हस्तसंचालनम् । ११ पदसचारैः । १२. दारुण ।

विभिन्नरसमित्युच्चैर्दर्शयन् नाट्यमद्भुतम्। [1]सामाजिकजने शक्र परां प्रीतिमजीजनत् ॥१५६॥
गन्धर्वनायकारब्धविविधातोद्यसंविधि[2]। आनन्दनृत्यमित्युच्चैर्मघवा निरवर्त्तयत् ॥१५७॥
[3]सकंसतालमुद्वेणु[4] [5]विततध्वनिसंकुलम्। [6]साप्सर सरस[7] नृत्तं तदुद्यानमिवाद्युतत् ॥१५८॥
नाभिराज. सम देव्या दृष्ट्वा तन्नाट्यमद्भुतम्। विसिस्मिये परां श्लाघां प्रापच्च सुरसत्तमैः ॥१५९॥
वृषभोऽयं जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धितम्। धर्मामृतमितीन्द्रास्तमकार्षुर्वृषभाह्वयम् ॥१६०॥
वृषो हि [8]भगवान् धर्मस्तेन यद्भाति तीर्थकृत्। ततोऽयं वृषभस्वामीत्याह्वा[9]स्तैनं पुरन्दर ॥१६१॥
स्वर्गावतरणे दृष्ट स्वप्नेऽस्य वृषभो यतः। जनन्या तदयं देवैराहूतो वृषभाख्यया ॥१६२॥
पुरुहूत. पुरुं देवमाह्वयन्नाख्ययानया। पुरुहूत इति ख्यातिं बभाराल्वर्थतां गताम् ॥१६३॥
[10]ततोऽस्य सवयोरूप[11]वेषान्सुरकुमारकान्। निरूप्य परिचर्यार्थे[12] दिवं जग्मुर्द्युनायका ॥१६४॥
धात्र्यो नियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मज्जने मण्डने स्तन्ये[13] सस्कारे क्रीडनेऽपि च ॥१६५॥

ताण्डव नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर सुकुमार प्रयोगोंसे भरा हुआ लास्य नृत्य हो रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न रसवाले, उत्कृष्ट और आश्चर्यकारक नृत्य दिखलाते हुए इन्द्रने सभाके लोगोंमें अतिशय प्रेम उत्पन्न किया था ॥१५६॥ इस प्रकार जिसमें श्रेष्ठ गन्धर्वोंके द्वारा अनेक प्रकारके बाजोंका बजाना प्रारम्भ किया गया था ऐसे आनन्द नामक नृत्यको इन्द्रने बड़ी सजधजके साथ समाप्त किया ॥१५७॥ उस समय वह नृत्य किसी उद्यानके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उद्यान काँस और ताल (ताड़) वृक्षोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी काँसेकी बनी हुई झाँझोंके तालसे सहित था, उद्यान जिस प्रकार ऊँचे-ऊँचे बाँसोंके फैलते हुए शब्दोंसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार वह नृत्य भी उत्कृष्ट बाँसुरियोंके दूर तक फैलनेवाले शब्दोंसे व्याप्त था, उद्यान जिस प्रकार अप्सर अर्थात् जलके सरोवरोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी अप्सर अर्थात् देवनर्तकियोंसे सहित था और उद्यान जिस प्रकार सरस अर्थात् जलसे सहित होता है उसी प्रकार वह नृत्य भी सरस अर्थात् शृङ्गार आदि रसोंसे सहित था ॥१५८॥ महाराज नाभिराज मरुदेवीके साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रोंके द्वारा की हुई प्रशंसाको प्राप्त हुए ॥१५९॥ ये भगवान् वृषभदेव जगत्-भरमें ज्येष्ठ हैं और जगत्‌का हित करनेवाले धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करेंगे इसलिए ही इन्द्रोंने उनका वृषभदेव नाम रखा था ॥१६०॥ अथवा वृष श्रेष्ठ धर्मको कहते हैं और तीर्थंकर भगवान् उस वृष अर्थात् श्रेष्ठ धर्मसे शोभायमान हो रहे हैं इसलिए ही इन्द्रने उन्हें 'वृषभ-स्वामी' इस नामसे पुकारा था ॥१६१॥ अथवा उनके गर्भावतरणके समय माता मरुदेवीने एक वृषभ देखा था इसलिए ही देवोंने उनका 'वृषभ' नामसे आह्वान किया था ॥१६२॥ इन्द्रने सबसे पहले भगवान् वृषभनाथको 'पुरुदेव' इस नामसे पुकारा था इसलिए इन्द्र अपने पुरुहूत (पुरु अर्थात् भगवान् वृषभदेवको आह्वान करनेवाला) नामको सार्थक ही धारण करता था ॥१६३॥ तदनन्तर वे इन्द्र भगवान्‌की सेवाके लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेषवाले देवकुमारोंको निश्चित कर अपने-अपने स्वर्गको चले गये ॥१६४॥ इन्द्रने आदरसहित भगवान्‌को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीरके संस्कार (तैल, कज्जल आदि लगाना) करने और क्रीडा करानेके कार्यमें अनेक देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥१६५॥

---

१ सभाजने। २ सामग्री। ३ कंसतालसहितम्। ४. उद्गतवासादि उन्नतवंशं च। ५. ततविततघ-
नशुषिरभेदेन चतुर्विधवाद्येषु विततशब्देन पटहादिकमुच्यते अमरसिंहे—ततमानद्धशब्देनोक्तम्—'आनद्धं मुरजादिकम्'
इति। पटहादिवाद्यध्वनिसंकीर्णम्, पक्षे पक्षिविस्तृतध्वनिसंकीर्णम्। ६. देवस्त्रीसहितम्, पक्षे जलभरितसरो-
वरसहितम्। साप्सर ल०। ७. शृङ्गारादिरसयुक्तम्। पक्षे रसयुक्तम्। ८. पूज्य.। ९ आह्वयति स्म।
१० अनन्तरम्। ११. समानप्रायरूपाभरणम्। १२. शुश्रूषार्थे। १३. स्तनधायिविधौ।

ततोऽसौ स्मितमातन्वन् संसर्पन्मणिभूमिषु । पित्रोर्मुदं ततानाद्ये वयस्यद्भुतचेष्टितः ॥१६६॥
जगदानन्दि नेत्राणामुत्सवप्रदमूर्जितम् । कलोज्ज्वलं तदस्यासीत् शैशवं शशिनो यथा ॥१६७॥
मुग्धस्मितमभूदस्य मुखेन्दौ चन्द्रिकामलम् । तेन पित्रोर्मनस्तोषजलधिर्ववृधेतराम् ॥१६८॥
पीठबन्धः[1] सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः । कीर्तिवल्ल्या विकासोऽस्य मुखे [2]मुग्धस्मयोऽभवत् ॥१६९॥
श्रीमन्मुखाम्बुजेऽस्यासीत् क्रमान्मन्मनभारती[3] । सरस्वतीव [4]तद्बाल्यमनुकर्तुं तदाश्रिता[5] ॥१७०॥
स्खलत्पदं शनैरिन्द्रनीलभूमिषु संचरन् । स रेजे वसुधां रक्तैरब्जैरुपहरन्निव[6] ॥१७१॥
[7]रत्नपांसुषु चिक्रीड स समं सुरदारकैः । पित्रोर्मनसि संतोषमातन्वँल्ललिताकृतिः ॥१७२॥
प्रजानां दधदानन्दं गुणैराह्लादिभिर्निजैः । कीर्तिज्योत्स्नापरीताङ्गः स बभौ बालचन्द्रमाः ॥१७३॥
बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वपुः । [8]कौमारं देवनाथानामर्चितस्य[9] महौजसः ॥१७४॥

तदनन्तर आश्चर्यकारक चेष्टाओंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपनी पहली अवस्था (शैशव अवस्था) में कभी मन्द-मन्द हँसते थे और कभी मणिमयी भूमिपर अच्छी तरह चलते थे, इस प्रकार वे माता-पिताका हर्ष बढा रहे थे ॥१६६॥ भगवान्‌की वह बाल्य अवस्था ठीक चन्द्रमाकी बाल्य अवस्थाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जगत्‌को आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार भगवानकी बाल्य अवस्था भी जगत्‌को आनन्द देनेवाली थी, चन्द्रमाकी बाल्य अवस्था जिस प्रकार नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था नेत्रोंको उत्कृष्ट आनन्द देनेवाली थी और चन्द्रमाकी बाल्यावस्था जिस प्रकार कला मात्रसे उज्ज्वल होती है उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था भी अनेक कलाओं-विद्याओंसे उज्ज्वल थी ॥१६७॥ भगवान्‌के मुखरूपी चन्द्रमापर मन्द हास्यरूपी निर्मल चाँदनी प्रकट रहती थी और उससे माता-पिताका सन्तोषरूपी समुद्र अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होता रहता था ॥१६८॥ उस समय भगवान्‌के मुखपर जो मनोहर मन्द हास्य प्रकट हुआ था वह ऐसा ज्ञात पड़ता था मानो सरस्वतीका गीतबन्ध अर्थात् संगीतका प्रथम राग ही हो, अथवा लक्ष्मीके हास्यकी शोभा ही हो अथवा कीर्तिरूपी लताका विकास ही हो ॥१६९॥ भगवान्‌के शोभायमान मुख-कमलसे क्रम-क्रमसे अस्पष्ट वाणी प्रकट हुई जो कि ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्‌की बाल्य अवस्थाका अनुकरण करनेके लिए सरस्वती देवी ही स्वयं आयी हो ॥१७०॥ इन्द्रनील मणियोंकी भूमिपर धीरे-धीरे गिरते-पड़ते पैरोंसे चलते हुए बालक भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पृथिवीको लाल कमलोंका उपहार ही दे रहे हों ॥१७१॥ सुन्दर आकारको धारण करनेवाले वे भगवान् माता-पिताके मनमें सन्तोषको बढाते हुए देव-बालकोंके साथ-साथ रत्नोंकी धूलिमें क्रीड़ा करते थे ॥ १७२ ॥ वे बाल भगवान् चन्द्रमाके समान शोभायमान होते थे, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचाता है उसी प्रकार वे भी अपने आह्लादकारी गुणोंसे प्रजाको आनन्द पहुँचा रहे थे और चन्द्रमाका शरीर जिस प्रकार चाँदनीसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार उनका शरीर भी कीर्तिरूपी चाँदनीसे व्याप्त था ॥ १७३ ॥ जब भगवान्‌की बाल्यावस्था व्यतीत हुई तब इन्द्रोंके द्वारा पूज्य और महाप्रतापी भगवान्‌का कौमार अवस्थाका शरीर बहुत ही सुन्दर

---

१ गीतबन्धः प०, द०, म०, ल० । अयं श्लोकः पुरुदेवचम्पूकाव्ये तत्कर्त्रा पञ्चमस्तबकस्य पञ्चविंशति-तमश्लोकस्थाने स्वकीयग्रन्थाङ्गता नीतः । २. दरहासः । ३ अव्यक्तवाक् । ४. कुमारस्य बाल्यम् । ५. तथा-श्रिता अ०, स०, द०, म० । यथाश्रिता प० । ६. उपहारं कुर्वन् । ७ रङ्गवल्लिरत्नधूलिषु । ८. कुमार-सबन्धि । ९. 'वृत सदाधारे' इति षष्ठी । देवेन्द्रैः पूजितस्य ।

वपुषो वृद्धिमन्वस्य[1] गुणा ववृधिरे विभोः । शशाङ्कमण्डलस्येव[2] कान्तिदीप्त्यादयोऽन्वहम् ॥१७५॥
वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम्[3] । जगत्[4] प्रीतिमातेनुः सस्मितं च[5] प्रजल्पितम् ॥१७६॥
कलाश्च सकलास्तस्य वृद्धौ वृद्धिमुपाययुः । इन्दोरिव जगच्चेतो नन्दनस्य[6] जगत्पतेः ॥१७७॥
मतिश्रुते सहोत्पन्ने ज्ञानं चावधिसंज्ञकम् । [7]ततोऽवोधि स निःशेषा विद्या लोकस्थितीरपि ॥१७८॥
विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम् । ननु जन्मान्तराभ्यासः [8]स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम् ॥१७९॥
कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम्[9] । क्रियासु कर्मठत्वं[10] च स भेजे शिक्षया विना ॥१८०॥
[11]वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत् । [12]येन विश्वस्य लोकस्य [13]वाचस्पत्यादभूद् गुरुः ॥१८१॥
पुराणः स कविर्वाग्मी गमकश्चेति [14]नोच्यते । कोष्ठबुद्ध्यादयो बोधा येन तस्य निसर्गजाः ॥१८२॥
क्षायिकं दर्शनं[15] तस्य चेतोऽमलमपाहरत् । वाग्मलं च निसर्गेण प्रसृतास्य सरस्वती ॥१८३॥
श्रुतं निसर्गतोऽस्यासीत् प्रसूतः[16] प्रशमः श्रुतात् । ततो[17] जगद्धितास्यासीत् चेष्टा सापालयत् प्रजाः ॥१८४॥
यथा यथास्य वर्धन्ते गुणांशा वपुषा समम् । तथा तथास्य जनता बन्धुता चागमन्मुदम् ॥१८५॥

हो गया ॥१७४॥ जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी वृद्धिके साथ-साथ ही उसके कान्ति, दीप्ति आदि अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं उसी प्रकार भगवान्‌के शरीरकी वृद्धिके साथ-साथ ही अनेक गुण प्रतिदिन बढ़ते जाते थे ॥१७५॥ उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मनोहर अवलोकन और मुसकाते हुए बातचीत करना यह सब संसारकी प्रीतिको विस्तृत कर रहे थे ॥१७६॥ जिस प्रकार जगत्‌के मनको हर्षित करनेवाले चन्द्रमाकी वृद्धि होनेपर उसकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार समस्त जीवोंके हृदयको आनन्द देनेवाले जगत्पति-भगवान्‌के शरीरकी वृद्धि होनेपर उनकी समस्त कलाएँ बढ़ने लगी थीं ॥१७७॥ मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ही ज्ञान भगवान्‌के साथ-साथ ही उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोककी स्थितिको अच्छी तरह जान लिया था ॥ १७८ ॥ वे भगवान् समस्त विद्याओंके ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएँ अपने-आप ही प्राप्त हो गयी थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तरका अभ्यास स्मरण-शक्तिको अत्यन्त पुष्ट रखता है ॥१७९॥ वे भगवान् शिक्षाके बिना ही समस्त कलाओंमें प्रशंसनीय कुशलताको, समस्त विद्याओंमें प्रशंसनीय चतुराईको और समस्त क्रियाओंमें प्रशंसनीय कर्मठता (कार्य करनेकी सामर्थ्य) को प्राप्त हो गये थे ॥ १८० ॥ वे भगवान् सरस्वतीके एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हें समस्त वाङ्मय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गये थे और इसलिए वे समस्त लोकके गुरु हो गये थे ॥ १८१ ॥ वे भगवान् पुराण थे अर्थात् प्राचीन इतिहासके जानकार थे, कवि थे, उत्तम वक्ता थे, गमक (टीका आदिके द्वारा पदार्थको स्पष्ट करनेवाले) थे और सबको प्रिय थे क्योंकि कोष्ठबुद्धि आदि अनेक विद्याएँ उन्हें स्वभावसे ही प्राप्त हो गयी थीं ॥१८२॥ उनके क्षायिक सम्यग्दर्शनने उनके चित्तके समस्त मलको दूर कर दिया था और स्वभावसे ही विस्तारको प्राप्त हुई सरस्वतीने उनके वचनसम्बन्धी समस्त दोषोंका अपहरण कर लिया था ॥ १८३ ॥ उन भगवान्‌के स्वभावसे ही शास्त्रज्ञान था, उस शास्त्रज्ञानसे उनके परिणाम बहुत ही शान्त रहते थे । परिणामोंके शान्त रहनेसे उनकी चेष्टाएँ जगत्‌का हित करनेवाली होती थीं और उन जगत्-हितकारी चेष्टाओंसे वे प्रजाका पालन करते थे ॥ १८४ ॥ ज्यों-ज्यों शरीरके साथ-साथ उनके गुण

१ अभिवृद्ध्या सह । 'महार्येऽनुना' इति द्वितीया । २ किरणतेज प्रमुखा । ३. आलोकनम् । ४ जगता– प०, द०, म०, ल०, । ५. प्रजल्पनम् । ६ आह्लादकरस्य । ७. ज्ञानत्रयात । ८. अभ्यासः संस्कार । ९ पटुत्वम् । १० कर्मशूरत्वम् । ११ वाग्जालम् । १२. वाङ्मयेन । १३ वाक्पतित्वात् । १४. चोच्यत– प०, द० । रोच्यते म०, अ० । न्च्यते ल० । १५. सम्यक्त्वम् । १६ उत्पन्न । १७. प्रशमत· ।

स पित्रोः परमानन्द बन्धुतायाश्च निर्वृतिम्[1]। जगज्जनस्य संप्रीतिं वर्द्धयन् समवर्द्धत ॥१८६॥
परमायुरथास्याभूत् चरमं बिभ्रतो वपुः। संपूर्णा पूर्वलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१८७॥
[2]दीर्घदर्शी सुदीर्घायुर्दीर्घबाहुश्च दीर्घदृक्[3]। स दीर्घसूत्रो[4] लोकानामभजत सूत्रधारताम् ॥१८८॥
कदाचिल्लिपिसंख्यान[5]गन्धर्वादिकलागमम्[6]। [7]स्वभ्यस्तपूर्वमभ्यस्यन् स्वयमभ्यासयत् परान् ॥१८९॥
[8]छन्दोऽवचित्यलङ्कारप्रस्तारादिविवेचनैः[9]। कदाचिद् भावयन् गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥१९०॥
कदाचित् पद[10]गोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा। [11]वावदूकैः समं कैश्चित् जल्पगोष्ठीभिरेकदा ॥१९१॥
कर्हिचिद् गीतगोष्ठीभिर्नृत्त[12]गोष्ठीभिरेकदा। कदाचिद् वाद्यगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥१९२॥
कर्हिचिद् बर्हिरूपेण नटतः सुरचेटकान्। नटयन् करतालेन लयमार्गानुयायिना ॥१९३॥
कांश्चिच्च शुकरूपेण समासादितविक्रियान्। संपाठ पाठयंश्लोकानश्लिष्ट[13]मधुराक्षरम् ॥१९४॥
हंसविक्रियया कांश्चित् कूजतो[14][15]मन्द्रगद्गदम्। [16]बिसभङ्गैः स्वहस्तेन दत्तैः समभावयन्मुहुः ॥१९५॥
गजविक्रियया कांश्चिद् दधतः कालभीं[17] दशाम्। [18]सान्त्वयन्मुहुरानाय्य[19] [राना[20]ध्य]करसा[21] क्रीडयन्मुदा

बढते जाते थे त्यों-त्यों समस्त जनसमूह और उनके परिवारके लोग हर्षको प्राप्त होते जाते थे ॥ १८५ ॥ इस प्रकार वे भगवान् माता-पिताके परम आनन्दको, बन्धुओंके सुखको और जगत्के समस्त जीवोंकी परम प्रीतिको बढाते हुए वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥१८६॥ चरम शरीरको धारण करनेवाले भगवान्‌की सम्पूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी ॥१८७॥ वे भगवान् दीर्घदर्शी थे, दीर्घ आयुके धारक थे, दीर्घ भुजाओंसे युक्त थे, दीर्घ नेत्र धारण करनेवाले थे और दीर्घ सूत्र अर्थात् दृढ विचारके साथ कार्य करनेवाले थे इसलिए तीनों ही लोकोंकी सूत्रधारता-गुरुत्वको प्राप्त हुए थे ॥१८८॥ भगवान् वृषभदेव कभी तो, जिनका पूर्वभवमें अच्छी तरह अभ्यास किया है ऐसे लिपि विद्या, गणित विद्या तथा संगीत आदि कलाशास्त्रोंका स्वयं अभ्यास करते थे और कभी दूसरोंको कराते थे ॥१८९॥ कभी छन्दशास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी प्रस्तार नष्ट उद्दिष्ट संख्या आदिका विवेचन और कभी चित्र खींचना आदि कला शास्त्रोंका मनन करते थे ॥ १९० ॥ कभी वैयाकरणोंके साथ व्याकरणसम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियोंके साथ काव्य विषयकी चर्चा करते थे और कभी अधिक बोलनेवाले वादियोंके साथ वाद करते थे ॥ १९१ ॥ कभी गीतगोष्ठी, कभी नृत्यगोष्ठी, कभी वादित्रगोष्ठी और कभी वीणागोष्ठीके द्वारा समय व्यतीत करते थे ॥ १९२ ॥ कभी मयूरोंका रूप धरकर नृत्य करते हुए देवकिंकरोंको लयके अनुसार हाथकी ताल देकर नृत्य कराते थे ॥१९३॥ कभी विक्रिया शक्तिसे तोतेका रूप धारण करनेवाले देवकुमारोंको स्पष्ट और मधुर अक्षरोंसे श्लोक पढाते थे ॥१९४॥ कभी हंसकी विक्रिया कर धीरे-धीरे गद्गद बोलीसे शब्द करते हुए हंसरूपधारी देवोंको अपने हाथसे मृणालके टुकड़े देकर सम्मानित करते थे ॥१९५॥ कभी विक्रियासे हाथियोंके बच्चोंका रूप धारण करनेवाले देवोंको सान्त्वना देकर या सूँड़में प्रहार कर उनके साथ आनन्दसे क्रीड़ा करते थे ॥१९६॥

१. सुखम्। २ सम्यग् विचार्य वक्ता। ३ विशालाक्ष। ४ स्थिरीभूय कार्यकारी इत्यर्थः। ५ गणितम्। –सख्यान प०, द०, म०, ल०। –मख्याना–अ०, स०। ६. कलाशास्त्रम्। ७. सुष्ठु पूर्वस्मिन् अभ्यस्तम्। ८. छन्दःप्रतिपादकशास्त्रम्। छन्दोऽवचिन्त्यालङ्कार–प०, ल०। ९. विवरणैः। १०. व्याकरणशास्त्रगोष्ठीभिः। ११. वाग्मिभिः। १२ –नृत्य–अ०। १३ व्यक्तम्। सुश्लिष्ट–प०। –नाश्लिष्ट–अ, ल०। १४. ध्वनिं कुर्वतः। १५. मन्द –अ०, स०, द०, ल०। १६ बिसखण्डैः। १७. कलभसम्बन्धिनीम्। १८ अनुनयन्। १९. –रानाय्य स०, प०, म०। रानाध्य द०। –रानाड्य म०, ल०। २०. संप्रार्थ्य। २१ शुण्डादण्डमानर्तयन्।

मणिकुट्टिमसंक्रान्तैः स्वैरेव प्रतिबिम्बकैः । [1]कृकवाकूयितान् कांश्चिद् योद्धुकामान् परामृशन्[2] ॥१९७॥
मल्लविक्रियया कांश्चिद् [3]युयुत्सूनमिद्रुह[4] । प्रोत्साहयन्कृतास्फोटवल्गनानभिनृत्यत[5] ॥१९८॥
[6]क्रौञ्चसारसरूपेण [7]तारक्रेङ्कारकारिणाम् । शृण्वन्ननुगत शब्दं केषांचित् श्रुतिपेशलम् ॥१९९॥
स्रग्विण. शुचिलिप्ताङ्गान् [7]समेतान् सुरदारकान् । दाण्डां क्रीडां समायोज्य नर्त्तयंश्च कदाचन ॥२००॥
अनारत च कुन्देन्दुमन्दाकिन्यप्छटामलम् । सुरवन्दिभिरुद्गीत स्व[9] समाकर्णयन् यश ॥२०१॥
[10]अतन्द्रितं च देवीभि. न्यस्यमानं गृहाङ्गणे । रत्नचूर्णैर्बलिं चित्रं सानन्दमवलोकयन् ॥२०२॥
सभावयन् कदाचिच्च प्रकृती[11] र्द्रष्टुमागता । [12]वीक्षितैर्मधुरै. स्निग्धै स्मितैः सादरभाषितै ॥२०३॥
कदाचिद् दीर्घिकाम्भस्सु समं सुरकुमारकैः । जलक्रीडाविनोदेन रममाण. [13]ससमदम् ॥२०४॥
सारव[14] जलमासाद्य [15]सारवं हंसकूजितै । [16]तारवैर्यन्त्रकै.[17] क्रीडन् जलास्फालकृतारवै.[18] ॥२०५॥
जलकेलिविधावेनं भक्त्या मेघकुमारका । भेजुर्धारागृहीभूय स्फुरद्धारा समन्ततः ॥२०६॥
कदाचिन्नन्दनस्पर्द्धितरुशोभाश्चिते वने । वनक्रीडां समातन्वन् वयस्यै[19] रन्वित सुरैः ॥२०७॥
वनक्रीडाविनोदेऽस्य विरजीकृतभूतला. । मन्द [20]दुधुवुरुद्यानपादपान् पवनामरा ॥२०८॥
इति कालोचिता क्रीडा[21] विनोदांश्च[22] स निर्विशन्[23] । आसांचक्रे[24] सुखं देव समं देवकुमारकै ॥२०९॥

कभी मुर्गोंका रूप धारण कर रत्नमयी जमीनमें पड़ते हुए अपने प्रतिबिम्बोंके साथ ही युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंको देखते थे या उनपर हाथ फेरते थे ॥१९७॥ कभी विक्रिया शक्तिसे मल्लका रूप धारण कर बैरके बिना ही मात्र क्रीड़ा करनेके लिए युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले गम्भीर गर्जना करते हुए और इधर-उधर नृत्य-सा करते हुए देवोंको प्रोत्साहित करते थे ॥१९८॥ कभी क्रौञ्च और सारस पक्षियोंका रूप धारण कर उच्च स्वरसे क्रेकार शब्द करते हुए देवोंके निरन्तर होनेवाले कर्णप्रिय शब्द सुनते थे ॥१९९॥ कभी माला पहने हुए, शरीरमें चन्दन लगाये हुए और इकट्ठे होकर आये हुए देवबालकोंको दण्ड क्रीड़ा (पड़गरका खेल) में लगाकर नचाते थे ॥२००॥ कभी स्तुति पढनेवाले देवोंके द्वारा निरन्तर गाये गये और कुन्द, चन्द्रमा तथा गङ्गा नदीके जलके छींटोंके समान निर्मल अपने यशको सुनते थे ॥२०१॥ कभी घरके आँगनमें आलस्यरहित देवियोंके द्वारा बनायी हुई रत्नचूर्णकी चित्रावलिको आनन्दके साथ देखते थे ॥ २०२ ॥ कभी अपने दर्शन करनेके लिए आयी हुई प्रजाका, मधुर और स्नेहयुक्त अवलोकनके द्वारा तथा मन्द हास्य और आदरसहित संभाषणके द्वारा सत्कार करते थे ॥२०३॥ कभी बावड़ियोंके जलमें देवकुमारोंके साथ-साथ आनन्दसहित जल-क्रीड़ाका विनोद करते हुए क्रीडा करते थे ॥२०४॥ कभी हंसोंके शब्दोंसे शब्दायमान सरयू नदीका जल प्राप्त कर उसमें पानीके आस्फालनसे शब्द करनेवाले लकड़ीके बने हुए यन्त्रोंसे जलक्रीड़ा करते थे ॥२०५॥ जलक्रीड़ाके समय मेघकुमार जातिके देव भक्तिसे धारागृह (फव्वारा) का रूप धारण कर चारों ओरसे जलकी धारा छोड़ते हुए भगवान्‌की सेवा करते थे ॥ २०६ ॥ कभी नन्दनवनके साथ स्पर्धा करनेवाले वृक्षोंकी शोभासे सुशोभित नन्दन वनमें मित्ररूप हुए देवोंके साथ-साथ वनक्रीडा करते थे ॥२०७॥ वनक्रीडाके विनोदके समय पवनकुमार जातिके देव पृथिवीको धूलिरहित करते थे और उद्यानके वृक्षोंको धीरे-धीरे हिलाते थे ॥२०८॥ इस प्रकार देवकुमारोंके

१ कृकवाकव इवाचरितान् । २ स्पृशन् । ३ योद्धुमिच्छून् । ४ परस्परमबाधकान् । ५ क्रुद् । ६ अत्युच्चै. स्वरभेद । ७ सम्मिलितान् । ८ दण्डसम्बन्धिक्रीडाम् । दण्डया–प०, द० । 'म०' पुस्तके द्विविध. पाठ ।९ आत्मीयम् । १० अजाड्य यथा भवति तथा । ११ प्रजापरिवारान् । १२ आलोकनैः । १३ समपदम् म० । १४ सरय्वा भवम् । सरयूनाम नद्या भवम् । 'देविकायां सरय्वां च भवेद् दाविकसारवे ।' १५ आरवेन सहितम् । १६ तरुभिर्निवृत्तैः । १७ द्रोण्यादिभि । १८ कृतस्वनैः । १९ मित्रैः । २० कम्पयन्ति स्म । २१ जलक्रीडादिका । २२ गजवाहित्वमान् । २३ अनुभवन् । २४ आस्ते स्म ।

मालिनी

इति [1]भुवनपतीनामर्चनीयोऽभिगम्य[2] सकलगुणमणीनामाकरः पुण्यमूर्तिः ।
सममरकुमारैर्निर्विशन् दिव्यभोगानरमत चिरमस्मिन् पुण्यगेहे[3] स देवः ॥२१०॥
प्रतिदिनममरेन्द्रोपाहृतान्[4] भोगसारान् सुरभिकुसुममालाचित्रभूषाम्बरादीन् ।
ललितसुरकुमारैरिङ्गितज्ञैर्वयस्यैः सममुपहितरागः[5] सोऽन्वभूत् पुण्यपाकात्[6] ॥२११॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स श्रीमान्नृसुरासुरार्चितपदो बालेऽप्यबालक्रियो[7] लीलाहार[8]विलासवेषचतुरामाबिभ्रदुच्चैस्तनुम् ।
सन्वालः प्रमदं[9] जगज्जनमनःप्रह्लादिभिर्वाक्करैर्बालेन्दुर्ववृधे शनैरमलिनः [10]कीर्त्युज्ज्वलच्चन्द्रिकः ॥२१२॥
ताराली[11]तरलां दधत् समुचितां वक्षस्स्थलासङ्गिनीं लक्ष्म्यान्दोलनवल्लरीमिव[12] ततां तां हारयष्टिं पृथुम् ।
[13]ज्योत्स्नामन्यमथांशुकं[14] परिदधत्काञ्चीकलापाञ्चितं[15] रेजेऽसौ सुरदारकैरुडुसमैः[16] क्रीडञ्जिनेन्दुर्भृशम् ॥२१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे
भगवज्जातकर्मोत्सववर्णनं नाम चतुर्दशं पर्व ॥१४॥

साथ अपने-अपने समयके योग्य क्रीड़ा और विनोद करते हुए भगवान् वृषभदेव सुखपूर्वक रहते थे ॥२०९॥ इस प्रकार जो तीन लोकके अधिपति–इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूज्य हैं, आश्रय लेने योग्य हैं, सम्पूर्ण गुणरूपी मणियोंकी खान हैं और पवित्र शरीरके धारक हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव महाराज नाभिराजके पवित्र घरमें दिव्य भोगते हुए देवकुमारोंके साथ-साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहे ॥२१०॥ वे भगवान् पुण्यकर्मके उदयसे प्रतिदिन इन्द्रके द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पोंकी माला, अनेक प्रकारके वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगोंका अपना अभिप्राय जाननेवाले सुन्दर देवकुमारोंके साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ॥ २११ ॥ जिनके चरण-कमल मनुष्य, सुर और असुरोंके द्वारा पूजित हैं, जो बाल्य अवस्थामें भी वृद्धोंके समान कार्य करनेवाले हैं, जो लीला, आहार, विलास और वेषसे चतुर, उत्कृष्ट तथा ऊँचा शरीर धारण करते हैं, जो जगत्के जीवोंके मनको प्रसन्न करनेवाले अपने वचनरूपी किरणोंके द्वारा उत्तम आनन्दको विस्तृत करते हैं, निर्मल हैं और कीर्तिरूपी फैलती हुई चाँदनीसे शोभायमान हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव बालचन्द्रमाके समान धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥२१२॥ ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल लक्ष्मीके झूलेकी लताके समान, समुचित, विस्तृत और वक्षःस्थलपर पड़े हुए बड़े भारी हारको धारण किये हुए तथा करधनीसे सुशोभित चाँदनी तुल्य वस्त्रोंको पहने हुए वे जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा नक्षत्रोंके समान देवकुमारोंके साथ क्रीड़ा करते हुए अतिशय सुशोभित होते थे ॥२१३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें
भगवज्जातकर्मोत्सववर्णन नामका चौदहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१ जगत्पतिपूजनीय । २ आश्रयणीय । ३ पवित्रगेहे । ४. उपानीतान् । ५ प्राप्तराग । ६ –पाकात् म० । ७ वृद्धव्यापार । ८. –हार– ल० । ९. सुमुदं ल० । १० कीर्त्युन्द्वलच्च– ल० । ११ तारानिकरवत् कान्त्या चञ्चलाम । १२ प्रेङ्खोलिकाग्जम् । १३ आत्मानं ज्योत्स्ना मन्यमानम् । १४. परिधानं कुर्वन् । १५. कलापान्वितम् अ०, द०, म० । १६ नक्षत्रसदृशैः ।

पञ्चदशं पर्व

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरम् । प्रकृत्यैव शशी कान्तः किं पुनः शरदागमे ॥१॥
निष्टप्तकनकच्छायं निःस्वेदं नीरजोऽमलम् । क्षीराच्छक्षतजं दिव्यसंस्थानं वज्रसंहतम्[1] ॥२॥
सौरूप्यस्य परां कोटिं दधानं सौरभस्य च । अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलंकृतम् ॥३॥
अप्रमेयमहावीर्यं[2] दधत् प्रियहितं वचः । कान्तमाविरभूदस्य रूपमप्राकृतं[3] प्रभोः[4] ॥४॥
[5]मकुटालंकृतं तस्य शिरो नीलशिरोरुहम् । [6]सुरेन्द्रमणिभिः कान्तं मेरोः शृङ्गमिवाबभौ ॥५॥
रुरुचे मूर्ध्नि मालास्य कल्पानोकहसंभवा । हिमाद्रेः कूटमावेष्ट्य पतन्तीवामरापगा ॥६॥
ललाटपट्टे विस्तीर्णे रुचिरस्य महत्यभूत् । वाग्देवीललिता क्रीड[7]स्थललीलां वितन्वती ॥७॥
भ्रूलते रेजतुर्भर्तुर्ललाटाद्रितटाश्रिते । [8]वागुरे मदनेणस्य[9] संरोधायेव[10] कल्पिते ॥८॥
नयनोत्पलयोरस्य कान्तिरानीलतारयोः[11] । आसीद् द्विरेफसंसक्तमहोत्पलदलश्रियो ॥९॥
मणिकुण्डलभूषाभ्यां कर्णावस्य रराजतुः । पर्यन्तौ गगनस्येव चन्द्रार्काभ्यामलंकृतौ ॥१०॥
मुखेन्दौ या द्युतिस्तस्य न सान्यत्र त्रिविष्टपे । अमृते या धृतिः[12] सा किं क्वचिदन्यत्र लक्ष्यते ॥११॥
स्मितांशुरुचिरं तस्य मुखमापाटलाधरम् । लसद्दलस्य पद्मस्य सफेनस्य श्रियं दधौ ॥१२॥

अनन्तर पूर्ण यौवन अवस्था होनेपर भगवान्‌का शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमा स्वभावसे ही सुन्दर होता है यदि शरद्‌ऋतुका आगमन हो जाये तो फिर कहना ही क्या है ? ॥१॥ उनका रूप बहुत ही सुन्दर और असाधारण हो गया था, वह तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाला था, पसीनासे रहित था, धूलि और मलसे रहित था, दूधके समान सफेद रुधिर, समचतुरस्र नामक सुन्दर संस्थान और वज्रवृषभनाराच-संहननसे सहित था, सुन्दरता और सुगन्धिकी परम सीमा धारण कर रहा था, एक हजार आठ लक्षणोंसे अलंकृत था, अप्रमेय था, महाशक्तिशाली था, और प्रिय तथा हितकारी वचन धारण करता था ॥२-४॥ काले-काले केशोंसे युक्त तथा मुकुटसे अलंकृत उनका शिर ऐसा सुशोभित होता था मानो नीलमणियोंसे मनोहर मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥५॥ उनके मस्तक-पर पड़ी हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला ऐसी अच्छी मालूम होती थी मानो हिमगिरिके शिखरोंको घेरकर ऊपरसे पड़ी हुई आकाशगंगा ही हो ॥६॥ उनके चौड़े ललाटपट्टपर-की भारी शोभा ऐसी मालूम होती थी मानो सरस्वती देवीके सुन्दर उपवन अथवा क्रीड़ा करनेके स्थलकी शोभा ही बढ़ा रही हो ॥७॥ ललाटरूपी पर्वतके तटपर आश्रय लेनेवाली भगवान्‌की दोनों भौंहरूपी लताएँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो कामदेवरूपी मृगको रोकनेके लिए दो पाश ही बनाये हों ॥८॥ काली पुतलियोंसे सुशोभित भगवान्‌के नेत्ररूपी कमलोंकी कान्ति, जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे कमलोंकी पाँखुरीके समान थी ॥९॥ मणियोंके बने हुए कुण्डल-रूपी आभूषणोंसे उनके दोनों कान ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो चन्द्रमा और सूर्यसे अलंकृत आकाशके दो किनारे ही हों ॥१०॥ भगवान्‌के मुखरूपी चन्द्रमामें जो कान्ति थी वह तीन लोकमें किसी भी दूसरी जगह नहीं थी सो ठीक ही है अमृतमें जो सन्तोष होता है वह क्या किसी दूसरी जगह दिखाई देता है ? ॥११॥ उनका मुख मन्दहाससे मनोहर था, और

---

१ संहननम् । २ अप्रमेय महावीर्य प०, द०, स०, ल० । ३ असाधारणम् । ४ विभोः स० । ५ मुकुटाल-अ०, प०, द०, ल० । ६ इन्द्रनीलमणिभिः । ७ उद्यान- । ८ मृगबन्धन्यौ । ९ स्मरहरिणस्य । १० सधारणाय । ११ आ समन्तान्नीलकनीनिकयोः । १२ सन्तोषः ।

दधेऽस्य नासिकोत्तुङ्गा श्रियमायति[1] शालिनीम् । [2]सरस्वत्यवताराय कल्पितेव प्रणालिका[3] ॥१३॥
धत्ते स्म रुचिरा रेखाः [4]कन्धरोऽस्यास्यसद्मन[5] । [6]उल्लिख्य घटितो धात्रा [7]रौक्मस्तम्भ इवैकक ॥१४॥
महानायकसंसक्तां[8] हारयष्टिमसौ दधे । वक्षसा गुणराजन्य[9]पृतनामिव संहताम्[10] ॥१५॥
[11]इन्द्रच्छन्दं महाहारमधत्तासौ स्फुरद्द्युति । वक्षसा सानुनाद्रीन्द्रो यथा [12]निर्झरसंकरम् ॥१६॥
हारेण हारिणा तेन तद्वक्षो रुचिमानशे । गङ्गाप्रवाहसंसक्तहिमाद्रितटसंभवाम् ॥१७॥
वक्षस्सरसि रम्येऽस्य हाररोचिश्छटाम्भसा । संभृते सुचिरं रेमे दिव्यश्रीकलहंसिका ॥१८॥
वक्ष श्रीगेहपर्यन्ते तस्यांसौ[13] श्रियमापतु । जयलक्ष्मीकृतावासौ तुङ्गौ अट्टालकाविव ॥१९॥
बाहू केयूरसंघट्ट[14]मसृणांसौ दधे विभुः । कल्पाङ्घ्रिपाविवाभीष्टफलदौ श्रीलताश्रितौ ॥२०॥
नखान्हे[15] सुखालोकान्[16] [17]सकराङ्गुलिसंश्रितान् । [18]दशावतारसम्भुक्तलक्ष्मीविभ्रमदर्पणान् ॥२१॥
[19]मध्येकायमसौ नाभिमदधन्नाभिनन्दनः । सरसीमिव सावर्त्तां लक्ष्मीहंसीनिषेविताम् ॥२२॥
[20]समेखलमधात् कान्ति जघनं तस्य सांशुकम् । नितम्बमिव भूभर्तुः[21] सतडिच्छरदम्बुदम् ॥२३॥

लाल-लाले अधरसे सहित था इसलिए फेनसहित पाँखुरीसे युक्त कमलकी शोभा धारण कर रहा था ॥१२॥ भगवान्‌की लम्बी और ऊँची नाक सरस्वती देवीके अवतरणके लिए बनायी गयी प्रणालीके समान शोभायमान हो रही थी ॥१३॥ उनका कण्ठ मनोहर रेखाएँ धारण कर रहा था। वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो विधाताने मुखरूपी घरके लिए उकेर कर एक सुवर्णका स्तम्भ ही बनाया हो ॥१४॥ वे भगवान् अपने वक्षःस्थलपर महानायक अर्थात् बीच-में लगे हुए श्रेष्ठ मणिसे युक्त जिस हारयष्टिको धारण कर रहे थे वह महानायक अर्थात् श्रेष्ठ सेनापतिसे युक्त, गुणरूपी क्षत्रियोंकी सुसंगठित सेनाके समान शोभायमान हो रही थी ॥१५॥ जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अपने शिखरपर पड़ते हुए झरने धारण करता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव अपने वक्षःस्थलपर अतिशय देदीप्यमान इन्द्रच्छद नामक हारको धारण कर रहे थे ॥ १६ ॥ उस मनोहर हारसे भगवान्‌का वक्षःस्थल गंगा नदीके प्रवाहसे युक्त हिमालय पर्वतके तटके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥ १७ ॥ भगवान्‌का वक्षःस्थल सरोवरके समान सुन्दर था। वह हारकी किरणरूपी जलसे भरा हुआ था और उसपर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसी चिरकाल तक क्रीड़ा करती थी ॥ १८ ॥ भगवान्‌का वक्षःस्थल लक्ष्मीके रहनेका घर था, उसके दोनों ओर ऊँचे उठे हुए उनके दोनों कन्धे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जयलक्ष्मीके रहनेकी दो ऊँची अटारी ही हों ॥१९॥ बाजूबन्दके संघट्टनसे जिनके कन्धे स्निग्ध हो रहे हैं और जो शोभारूपी लतासे सहित हैं ऐसी जिन भुजाओंको भगवान् धारण कर रहे थे वे अभीष्टफल देनेवाले कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥२०॥ सुख देने-वाले प्रकाशसे युक्त तथा सीधी अँगुलियोंके आश्रित भगवान्‌के हाथोंके नखोंको मैं समझता हूँ कि वे उनके महाबल आदि दस अवतारोंमें भोगी हुई लक्ष्मीके विलास-दर्पण ही थे ॥२१॥ महाराज नाभिराजके पुत्र भगवान् वृषभदेव अपने शरीरके मध्यभागमें जिस नाभिको धारण किये हुए थे वह लक्ष्मीरूपी हंसीसे सेवित तथा आवर्तसे सहित सरसीके समान सुशोभित हो रही थी ॥२२॥ करधनी और वस्त्रसे सहित भगवान्‌का जघनभाग ऐसी शोभा धारण

१ -मायाति-अ०, स० । २. श्रुतदेव्यवतरणाय । ३. प्रवेशद्वारम् । ४. ग्रीवा । ५ वक्त्रमन्दिर । ६. उत्कीर्य सघटितः । ७ सुवर्णमय । ८. महामध्यमणियुताम् । ९ गुणवद्राजपुत्रसेनाम् । गुणराजस्य ट० । १०. संयुक्ताम् । ११. एतन्नामक हारविशेषम् । १२ निर्झरप्रवाहम् । १३ भुजशिखरौ । १४. केयूरसम्मर्दन-कृतनयभुजशिखरौ ।१५ धृतवान् । १६ सुखप्रकाशान् । १७. सरलाङगुलि-अ०, स०, म० । १८ महाबला-दिदशावतारेष्वनुभुक्तलक्ष्मीविलासमुकुरान् । १९. शरीरस्य मध्ये । २०. काञ्चीदामसहितम् । २१. पर्वतस्य ।

त्रभारोरुद्वय धीरः कार्तस्वरविभास्वरम् । लक्ष्मीदेव्या इवान्दोलस्तम्भयुग्मकमुच्चकैः ॥२४॥
जङ्घे मदनमातङ्गदुर्लङ्घ्यार्गलविभ्रमे । लक्ष्म्येवोद्वर्तिते[1] भर्तु परां कान्तिमवापताम् ॥२५॥
पादारविन्दयोः कान्तिरस्य केनोपमीयते । त्रिजगच्छ्रीसमाश्लेषसौभाग्यमदशालिनो ॥२६॥
इत्यस्याविरभूत्[2] कान्तिरालकाग्र[3] नखाग्रतः[4] । नूनमन्यत्र नालब्ध सा[5] प्रतिष्ठां स्ववाञ्छिताम् ॥२७॥
निसर्गसुन्दरं तस्य वपुर्वज्रास्थिबन्धनम् । विषशस्त्राद्यभेद्यत्वं भेजे रुक्माद्रिसच्छवि[6] ॥२८॥
यत्र वज्रमयास्थीनि [7]वज्रैर्वलयितानि च । [8]वज्रनाराचभिन्नानि तत्संहननमीशितुः ॥२९॥
[9]त्रिदोषजा महातङ्का नास्य देहे न्यधुः[10] पदम् । मरुतां [11]चलिताद्रीणां ननु मेरुरगोचरः ॥३०॥
न जरास्य न खेदो वा नोपघातोऽपि जातुचित् । केवलं सुखसाद्भूतो[12] महीतल्पेऽमहीयत[13] ॥३१॥
तदस्य रुरुचे गात्रं परमौदारिकाह्वयम् । महाभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां मूलकारणम् ॥३२॥
[14]मानोन्मानप्रमाणानामन्यूनाधिकतां श्रितम् । संस्थानमाद्यमस्यासीच्चतुरस्रं[15] समन्ततः ॥३३॥

कर रहा था मानो बिजली और शरद् ऋतुके बादलोंसे सहित किसी पर्वतका नितम्ब (मध्यभाग) ही हो ॥ २३ ॥ धीर-वीर भगवान् सुवर्णके समान देदीप्यमान जिन दो ऊरुओं (घुटनोंसे ऊपरका भाग) को धारण कर रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी देवीके झूलाके दो ऊँचे स्तम्भ ही हों ॥२४॥ कामदेवरूपी हाथीके उल्लंघन न करने योग्य अर्गलोंके समान शोभायमान भगवान्की दोनों जंघाएँ इस प्रकार उत्कृष्ट कान्तिको प्राप्त हो रही थीं मानो लक्ष्मीदेवीने स्वयं उबटन कर उन्हें उज्ज्वल किया हो ॥२५॥ भगवान्के दोनों ही चरणकमल तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके आलिंगनसे उत्पन्न हुए सौभाग्यके गर्वसे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे, संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसके कि साथ उनकी उपमा दी जा सके ॥ २६ ॥ इस प्रकार पैरोंके नखके अग्रभागसे लेकर शिरके बालोंके अग्रभाग तक भगवान्के शरीरकी कान्ति प्रकट हो रही थी और ऐसी मालूम होती थी मानो उसे किसी दूसरी जगह अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए वह अनन्य गति होकर भगवान्के शरीरमें आ प्रकट हुई हो ॥ २७ ॥ भगवान्का शरीर स्वभावसे ही सुन्दर था, वज्रमय हड्डियोंके बन्धनसे सहित था, विष शस्त्र आदिसे अभेद्य था और इसीलिए वह मेरु पर्वतकी कान्तिको प्राप्त हो रहा था ॥ २८ ॥ जिस संहननमें वज्रमयी हड्डियाँ वज्रोंसे वेष्टित होती हैं और वज्रमयी कीलोंसे कीलित होती हैं, भगवान् वृषभदेवका वही वज्रवृषभनाराचसंहनन था ॥२९॥ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे उत्पन्न हुई व्याधियाँ भगवान्के शरीरमें स्थान नहीं कर सकी थीं सो ठीक ही है वृक्ष अथवा अन्य पर्वतोंको हिलानेवाली वायु मेरु पर्वतपर अपना असर नहीं दिखा सकती ॥ ३० ॥ उनके शरीरमें न कभी बुढ़ापा आता था, न कभी उन्हें खेद होता था और न कभी उनका उपघात (असमयमें मृत्यु) ही हो सकता था। वे केवल सुखके अधीन होकर पृथिवीरूपी शय्यापर पूजित होते थे ॥ ३१ ॥ जो महाभ्युदयरूप मोक्षका मूल कारण था ऐसा भगवान्का परमौदारिक शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥३२॥ भगवान्के शरीरका आकार, लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई आदि सब ओर हीनाधिकतासे रहित था, उनका समचतुरस्रसंस्थान था ॥ ३३ ॥

---

१. उत्तेजिते सत्कृते च । २ –रावालाग्र–अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । ३. अलकाग्रादारभ्य । ४ नखाग्रपर्यन्तम् । ५. आश्रयम् । ६ –सच्छविम् स० । ७. वज्रमयवेष्टनैर्वेष्टितानि । ८. वज्रनाराचकीलितानि । ९. वातपित्तश्लेष्मजा महाव्याधयः । १०. न्यधु प०, म० । ११. कम्पितवृक्षाणाम् । १२ भूशय्यायाम् । १३ पूज्योऽभूत् । 'महीङ् वृद्धौ पूजायाम् ।' १४ उत्सेधवलयविस्ताराणाम् । १५. समचतुरस्रम् ।

यथास्य रूपसंपत्तिस्तथा भोगैश्च पप्रथे। न हि कल्पाङ्घ्रिपोद्भूतिरनाभरणभासुरा ॥३४॥
लक्षणानि वपुर्भर्तुर्देहमाश्रित्य निर्मलम्। ज्योतिषामिव बिम्बानि मेरोर्मणिमयं तटम् ॥३५॥
विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्ज्वलः। शुभानि लक्षणान्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥३६॥
तानि श्रीवृक्षशङ्खाब्जस्वस्तिकाङ्कुशतोरणम्[1]। [2]प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनम् ॥३७॥
झषौ कुम्भौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरम्। विमानभवने[3] नागो[4] नरनार्यौ मृगाधिपः ॥३८॥
बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा। पुरं गोपुरमिन्द्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ॥३९॥
वेणुर्वीणा[5] मृदङ्गश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ[6]। स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥४०॥
उद्यानं फलितं[7] क्षेत्रं सुपक्वकलमाञ्चितम्। रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥४१॥
सुरभिः[8] सौरभेयश्च[9] चूडारत्नं महानिधिः। कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूवृक्षश्च[10] [11]पक्षिराट् ॥४२॥
[12]उडूनि तारका[13] सौधं ग्रहाः सिद्धार्थपादपः[14]। प्रातिहार्याण्यहार्याणि[15] मङ्गलान्यपराणि[16] च ॥४३॥
लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतम्। व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नवसंख्यया ॥४४॥
अभिरामं वपुर्भर्तुर्लक्षणैरभिरूर्जितैः। ज्योतिर्भिरिव संछन्नं गगनप्राङ्गणं बभौ ॥४५॥
लक्ष्मणां च ध्रुवं किंचिदस्त्यन्तर्लक्षणं शुभम्। [17]येन तैः[18] श्रीपतेरङ्गं स्पृष्टं लब्धमकल्मषम् ॥४६॥
लक्ष्मीर्निकामकठिने विरागस्य जगद्गुरोः। कथं कथमपि प्रापदवकाशं मनोगृहे ॥४७॥

भगवान् वृषभदेवकी जैसी रूप-सम्पत्ति प्रसिद्ध थी वैसी ही उनकी भोगोपभोगकी सामग्री भी प्रसिद्ध थी, सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षोंकी उत्पत्ति आभरणोंसे देदीप्यमान हुए बिना नहीं रहती ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार सुमेरु पर्वतके मणिमय तटको पाकर ज्योतिषी देवोंके मण्डल अतिशय शोभायमान होने लगते हैं उसी प्रकार भगवान्‌के निर्मल शरीरको पाकर सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुए लक्षण अतिशय शोभायमान होने लगे थे ॥ ३५ ॥ अथवा अनेक आभूषणोंसे उज्ज्वल भगवान् कल्पवृक्षकी शोभा धारण कर रहे थे और अनेक शुभ लक्षण उसपर लगे हुए फूलोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३६ ॥ श्रीवृक्ष, शङ्ख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, दो मीन, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, मनुष्य, स्त्रियाँ, सिंह, बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्त-पंखा, बाँसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दूकान, कुण्डलको आदि लेकर चमकते हुए चित्र-विचित्र आभूषण, फलसहित उपवन, पके हुए वृक्षोंसे सुशोभित खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूद्वीप, गरुड, नक्षत्र, तारे, राजमहल, सूर्यादिक ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, और आठ मंगलद्रव्य, इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जन भगवान्‌के शरीरमें विद्यमान थे ॥३७-४४॥ इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणोंसे व्याप्त हुआ भगवान्‌का शरीर ज्योतिषी देवोंसे भरे हुए आकाश-रूपी आँगनकी तरह शोभायमान हो रहा था ॥४५॥ चूँकि उन लक्षणोंको भगवान्‌का निर्मल शरीर स्पर्श करनेके लिए प्राप्त हुआ था इसलिए जान पड़ता है कि उन लक्षणोंके अन्तर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥ ४६ ॥ रागद्वेषरहित जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके अतिशय कठिन मनरूपी घरमें लक्ष्मी जिस प्रकार—बड़ी कठिनाईसे अवकाश पा सकी थी। भावार्थ—

---

१ –तोरणा द०, स०, । २. प्रकीर्णकं चामरम् । ३ सुरविमाननागालयौ । ४ गजः । ५ वंशः । ६. आपणः पण्यवीथी । ७. फलितं द०, ल० । ८. कामधेनुः । ९. वृषभः । १० जम्बूद्वीपः । ११ गरुडः । १२ नक्षत्राणि । १३. प्रकीर्णकतारकाः । १४.–द्विपाः म० । १५ स्वाभाविकानि । १६ –पराण्यपि द०, स० । १७. अन्तर्लक्षणेन । १८. लक्षणैः ।

सरस्वती प्रियास्यासीन् कीर्तिश्चाकल्पवर्तिनी । लक्ष्मीं तडिल्लतालोलां मन्दप्रेम्णैव सोऽवहत ॥४८॥

तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः[1] । आकृष्टा जनतानेत्रभृङ्गा[2] नान्यत्र रेमिरे ॥४९॥

नाभिराजोऽन्यदा दृष्ट्वा यौवनारम्भमीशितुः । [3]परिणाययितु देवमिति चिन्तां मनस्यधात् ॥५०॥

देवोऽयमतिकान्ताङ्गः कास्य स्याच्चित्तहारिणी । सुन्दरी मन्दरागेऽस्मिन् प्रारम्भो दुर्घटो ह्ययम् ॥५१॥

अपि चास्य महानस्ति [4]प्रारम्भस्तीर्थवर्त्तने । सोऽतिवर्त्तीत्र[5] गन्धेभो नियमात्प्रविशेद्वनम्[6] ॥५२॥

तथापि काललब्धिः स्याद् यावदस्य तपस्यितुम्[7] । तावत्कलत्रमुचित चिन्त्य [8]लोकानुरोधतः ॥५३॥

ततः पुण्यवती काचिदुचिताभिजना[9] वधू । कलहंसीव निष्पङ्कमस्यावसतु मानसम् ॥५४॥

इति निश्चित्य लक्ष्मीवान्नाभिराजोऽतिसम्भ्रमी । [10]समान्त्वमुपसृत्येदमवोचद्वदतां वरम् ॥५५॥

देव किंचिद् विवक्षामि[11] सावधानेमितः शृणु । त्वयोपकारो लोकस्य करणीयो जगत्पते ॥५६॥

हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि[12] । [13]निभमात्र त्वदुत्पत्तौ पितृम्मन्या[14] यतो वयम् ॥५७॥

भगवान् स्वभावसे ही वीतराग थे, राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करना अच्छा नहीं समझते थे ॥४७॥ भगवान्को दो स्त्रियाँ ही अत्यन्त प्रिय थीं–एक तो सरस्वती और दूसरी कल्पान्तकाल तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति। लक्ष्मी विद्युत्लताके समान चंचल होती है इसलिए भगवान् उसपर बहुत थोड़ा प्रेम रखते थे ॥४८॥ भगवान्के रूप-लावण्य, यौवन आदि गुणरूपी पुष्पोंसे आकृष्ट हुए मनुष्योंके नेत्ररूपी भौंरे दूसरी जगह कहीं भी रमण नहीं करते थे—आनन्द नहीं पाते थे ॥४९॥ किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवान्की यौवन अवस्थाका प्रारम्भ देखकर अपने मनमें उनके विवाह करनेकी चिन्ता इस प्रकार करने लगे ॥५०॥ कि यह देव अतिशय सुन्दर शरीरके धारक हैं, इनके चित्तको हरण करनेवाली कौन-सी सुन्दर स्त्री हो सकती है ? कदाचित् इनका चित्त हरण करनेवाली सुन्दर स्त्री मिल भी सकती है, परन्तु इनका विषयराग अत्यन्त मन्द है इसलिए इनके विवाहका प्रारम्भ करना ही कठिन कार्य है ॥५१॥ और दूसरी बात यह है कि इनका धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेमें भारी उद्योग है इसलिए ये नियमसे सब परिग्रह छोड़कर मत्त हस्तीकी नाईं वनमें प्रवेश करेंगे अर्थात् वनमें जाकर दीक्षा धारण करेंगे ॥५२॥ तथापि तपस्या करनेके लिए जबतक इनकी काललब्धि आती है तबतक इनके लिए लोकव्यवहारके अनुरोधसे योग्य स्त्रीका विचार करना चाहिए ॥५३॥ इसलिए जिस प्रकार हंसी निष्पंक अर्थात् कीचड़-रहित मानस (मानसरोवर) में निवास करती है उसी प्रकार कोई योग्य और कुलीन स्त्री इनके निष्पंक अर्थात् निर्मल मानस (मन)में निवास करे ॥५४॥ यह निश्चय कर लक्ष्मीमान् महाराज नाभिराज बड़े ही आदर और हर्षके साथ भगवान्के पास जाकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान्से शान्तिपूर्वक इस प्रकार कहने लगे कि ॥५५॥ हे देव, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ इसलिए आप सावधान होकर सुनिए। आप जगत्के अधिपति हैं इसलिए आपको जगत्का उपकार करना चाहिए ॥५६॥ हे देव, आप जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा हैं तथा स्वभू हैं अर्थात् अपने-आप ही उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि आपकी उत्पत्तिमें अपने-आपको पिता माननेवाले हम

---

१ पुष्पैः । २ जगता नेत्र–प०, द० । ३ विवाहयितुम् । ४. विवाहोपक्रम । ५ अतिक्रमणशीलः । विश्रृङ्खलतया वर्तमान इत्यर्थः । ६ तपोवनम् । ७ तपस्यन्तु प०, ल० । तप सिन्तु स०, अ० । तपस्कर्तुम् । ८. जनानुवर्तनात् । ९ योग्यकुलाः । १० सामसहितम् । 'सामसान्त्वमधो समौ' इत्यभिधानात् । अथवा सान्त्वम् अतिमधुरम् 'अत्यर्थमधुर सान्त्वं सगतं हृदयंगमम्' इत्यभिधानात् । ११. वक्तुमिच्छामि । १२ स्वयम्भूः । १३ व्याजमात्रम् । १४. पितृमन्या अ०, प०, म०, ल० ।

यथार्कस्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः । स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद्[1] भवानपि ॥५८॥
गर्भगेहे शुचौ मातुस्त्वं दिव्ये पद्मविष्टरे । निधाय स्वां[2] परां शक्तिमुद्भूतो [3]निष्कलोऽस्यतः ॥५९॥
गुरुब्रुवोऽहं [4]तद्देव त्वामित्यभ्यर्थये[5] विभुम् । मतिं विधेहि लोकस्य [6]सर्जनं प्रति संप्रति ॥६०॥
त्वामादिपुरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्तताम् । महतां मार्गवर्तिन्य प्रजाः सुप्रजसो[7] ह्यमूः ॥६१॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु । प्रजासन्ततिरेवं[8] हि [9]नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥
प्रजासन्तत्यविच्छेदे तनुते धर्मसन्ततिः । [10]मनुष्व मानवं[11] धर्मं ततो देवेममच्युत[12] ॥६३॥
देवेमं गृहिणां धर्मं विद्धि दारपरिग्रहम् । सन्तानरक्षणे यत्नः कार्यो हि गृहमेधिनाम्[13] ॥६४॥
त्वया गुरुर्मतोऽयं[14] चेत् जनैः[15] केनापि हेतुना । वचो नोल्लङ्घ्यमेवास्य नेष्टं हि गुरुलङ्घनम् ॥६५॥
इत्युदीर्य गिरं धीरो [16]व्यरंसीन्नाभिपार्थिवः । देवस्तु सस्मितं तस्य वचः प्रत्यैच्छदोमिति[17] ॥६६॥
किमेतत्पितृदाक्षिण्यं किं प्रजानुग्रहैषिता । [18]नियोगः कोऽपि वा तादृग् येनैच्छत्तादृशं वशी ॥६७॥
ततोऽस्यानुमतिं ज्ञात्वा[19] विशङ्को नाभिभूपतिः । महद्विवाहकल्याणमकरोत्परया मुदा ॥६८॥
सुरेन्द्रानुमतात् कन्ये सुशीले चारुलक्षणे । [20]सत्यौ सुरुचिराकारे [21]वरयामास नाभिराट् ॥६९॥

लोग छल मात्र है ॥५७॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेमें उदयाचल निमित्त मात्र है क्योंकि सूर्य स्वयं ही उदित होता है उसी प्रकार आपकी उत्पत्ति होनेमें हम निमित्त मात्र हैं क्योंकि आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं ॥५८॥ आप माताके पवित्र गर्भगृहमें कमलरूपी दिव्य आसनपर अपनी उत्कृष्ट शक्ति स्थापन कर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वास्तवमें शरीररहित हैं ॥५९॥ हे देव, यद्यपि मैं आपका यथार्थमें पिता नहीं हूँ, निमित्त मात्रसे ही पिता कहलाता हूँ तथापि मैं आपसे एक अभ्यर्थना करता हूँ कि आप इस समय संसारकी सृष्टिकी ओर भी अपनी बुद्धि लगाइए ॥६०॥ आप आदिपुरुष हैं इसलिए आपको देखकर अन्य लोग भी ऐसी ही प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम सन्तान होनेवाली है ऐसी यह प्रजा महापुरुषोंके ही मार्गका अनुगमन करती है ॥६१॥ इसलिए हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, आप इस संसारमें किसी इष्ट कन्याके साथ विवाह करनेके लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करनेसे प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होगा ॥६२॥ प्रजाकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होनेपर धर्मकी सन्तति बढ़ती रहेगी इसलिए हे देव, मनुष्योंके इस अविनाशीक विवाहरूपी धर्मको अवश्य ही स्वीकार कीजिए ॥६३॥ हे देव, आप इस विवाह कार्यको गृहस्थोंका एक धर्म समझिए क्योंकि गृहस्थोंको सन्तानकी रक्षामें प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए ॥६४॥ यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरु मानते हैं तो आपको मेरे वचनोंका किसी भी कारणसे उल्लंघन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरुओंके वचनोंका उल्लंघन करना इष्ट नहीं है ॥६५॥ इस प्रकार वचन कहकर धीर-वीर महाराज नाभिराज चुप हो रहे और भगवान्‌ने हँसते हुए 'ओम्' कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये अर्थात् विवाह कराना स्वीकृत कर लिया ॥६६॥ इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले भगवान्‌ने जो विवाह करानेकी स्वीकृति दी थी वह क्या उनके पिताकी चतुराई थी, अथवा प्रजाका उपकार करनेकी इच्छा थी अथवा वैसा कोई कर्मोंका नियोग ही था ॥६७॥ तदनन्तर भगवान्‌की अनुमति जानकर नाभिराजने निःशंक होकर बड़े हर्षके साथ विवाहका बड़ा भारी उत्सव किया ॥६८॥ महाराज नाभिराजने इन्द्रकी अनुमतिसे सुशील, सुन्दर लक्षणोंवाली, सती और मनोहर आकारवाली दो कन्याओंकी

१ अस्मत्तः । २ भवत्संबन्धिनीम् । ३ निःशरीरः, शरीररहित इत्यर्थः । ४. कारणात् । ५. प्रार्थये । ६ सृष्टिं । ७ सुपुत्रवत्यः । ८. एवं सति । ९. विच्छिन्ना न भविष्यति । १०. जानीहि । ११. मनुसबन्धिनम् । १२. देवैनमच्युतम् अ०, प०, द०, स० । देवेनमच्युतम् ल० । १३. गृहमेधिना द० । १४. पितेति मतः । १५. अहमित्यर्थः । १६. तूष्णीं स्थितः । १७ तथास्तु । ओमेवं परमं मते । १८ नियमेन कर्तव्यः । १९. मत्वा प०, द०, म०, ल०, । २०. पतिव्रते । २१. ययाचे ।

तन्व्यौ[1] कच्छमहाकच्छजाम्यौ[2] सौम्ये पतिंवरे[3]। यशस्वती[4] सुनन्दाख्ये स एवं[5] पर्यणीनयत् ॥७०॥
पुरुः पुरुगुणो देवः [6]परिणेतेति संभ्रमात्। परं कल्याणमातेनुः सुराः प्रीतिपरायणाः ॥७१॥
पश्यन्पाणिगृहीत्यौ[7] ते नाभिराजः सनाभिभिः[8]। समं समतुषत् प्रायः [9]लोकधर्मप्रियो जनः ॥७२॥
पुरुदेवस्य कल्याणे मरुदेवी तुतोष सा। दारकर्मणि पुत्राणां प्रीत्युत्कर्षो हि योषिताम् ॥७३॥
[10]दिष्ट्या स्म वर्द्धते देवी पुत्रकल्याणसंपदा। कलयेन्दोरिवाम्भोधिवेला कल्लोलमालिनी ॥७४॥
पुरोर्विवाहकल्याणे प्रीतिं भेजे जनोऽखिलः। [11]स्वभोगीनतया भोक्तु[12]र्भोगांल्लोको[13]ऽनुरुध्यते[14] ॥७५॥
प्रमोदाय नृलोकस्य न परं स महोत्सवः। स्वर्लोकस्यापि सप्रीतिमतनोद्दवीयसीम्[15] ॥७६॥
वरोरू चारुजङ्घे ते[16] मृदुपादपयोरुहे। [17]सुश्रोणिनाधरेणापि[18] कायेनाजयतां जगत् ॥७७॥
[19]वरारोहे तनूदर्यौ रोमराजिं[20] तनीयसीम्। अधत्तां कामगन्धेभमदस्रुति[21]मिवाग्रिमाम्[22] ॥७८॥
नाभिं कामरसस्यैककूपिकां बिभृतः स्म ते। रोमराजीलतामूलबद्धां[23] पालीमिवाम्भसः ॥७९॥

याचना की ॥६९॥ वे दोनों कन्याएँ कच्छ महाकच्छकी बहन थीं, बड़ी ही शान्त और यौवनवती थीं, यशस्वी और सुनन्दा उनका नाम था। उन्हीं दोनों कन्याओंके साथ नाभिराजने भगवान्‌का विवाह कर दिया ॥७०॥ श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेव विवाह कर रहे हैं इस हर्षसे देवोंने प्रसन्न होकर अनेक उत्तम-उत्तम उत्सव किये थे ॥७१॥ महाराज नाभिराज अपने परिवारके लोगोंके साथ, दोनों पुत्रवधुओंको देखकर भारी सन्तुष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि संसारी जनोंको विवाह आदि लौकिक धर्म ही प्रिय होता है ॥७२॥ भगवान् वृषभदेवके विवाहोत्सवमें मरुदेवी बहुत ही सन्तुष्ट हुई थी सो ठीक ही है, पुत्रके विवाहोत्सवमें स्त्रियोंको अधिक प्रेम होता ही है ॥७३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी कलासे लहरोंकी मालासे भरी हुई समुद्रकी वेला बढ़ने लगती है उसी प्रकार भाग्योदयसे प्राप्त होनेवाली पुत्रकी विवाहोत्सवरूप सम्पदासे मरुदेवी बढ़ने लगी थी ॥७४॥ भगवान्‌के विवाहोत्सवमें सभी लोग आनन्दको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है। मनुष्य स्वयं ही भोगोंकी तृष्णा रखते हैं इसलिए वे स्वामीको भोग स्वीकार करते देखकर उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं ॥७५॥ भगवान्‌का वह विवाहोत्सव केवल मनुष्यलोककी प्रीतिके लिए ही नहीं हुआ था, किन्तु उसने स्वर्गलोकमें भी भारी प्रीतिको विस्तृत किया था ॥७६॥ भगवान् वृषभदेवकी दोनों महादेवियाँ उत्कृष्ट ऊरुओं, सुन्दर जंघाओं और कोमल चरण-कमलोंसे सहित थीं। यद्यपि उनका सुन्दर कटिभाग अधर अर्थात् नीचा था (पक्षमें नाभिसे नीचे रहनेवाला था) तथापि उससे संयुक्त शरीरके द्वारा उन्होंने समस्त संसारको जीत लिया था ॥७७॥ वे दोनों ही देवियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं, उनका उदर कृश था और उस कृश उदरपर वे जिस पतली रोम-राजिको धारण कर रही थीं वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके मदकी अग्रधारा ही हो ॥७८॥ वे देवियाँ जिस नाभिको धारण कर रही थीं वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कामरूपी रसकी कूपिका ही हो

---

१ कृशाङ्ग्यौ। २ भगिन्यौ। ३. स्वयंवरे। ४ सरस्वती अ०, स०। ५ एते अ०, प०, म०, द०, ल०। ६ दारपरिग्रही भविष्यति। ७ विवाहिते। ८ बन्धुभिः। ९. लौकिकधर्म। १० आनन्देन। ११ स्वभोगहितत्वेन। १२ भर्तुः। १३. लोकेऽनु- प०। १४ अनुवर्तते। अनो रुध कामे दिवादि.। १५ भूयसीम्। १६. कन्ये। १७ शोभनजघनेन। १८ नाभेरध कायोऽधरकायस्तेन। ध्वनौ नीचेनापि कायेन। १९ उत्तमे, उत्तमस्त्रियौ। 'वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी।' इत्यभिधानात्। २० -राजी द०, स०। २१ मदप्रवाहम्। २२ श्रेष्ठाम्। २३ आलवालम्।

स्तनाब्जकुड्मले दीर्घरोमराज्येकनालके । ते पद्मिन्याविवाधत्तां नीलचूचुकषट्पदे ॥८०॥
[1]मुक्ताहारेण तन्नूनं[2] तपस्तेपे स्वनामजम्[3] । यतोऽवाप स तत्कण्ठकुचस्पर्शसुखामृतम् ॥८१॥
एकावल्या स्तनोपान्तस्पर्शिन्या ते विरेजतुः । सख्येव कण्ठसंगिन्या स्वच्छया [4]स्निग्धमुक्तया ॥८२॥
हारं नक्षत्रमालाख्यं ते स्तनान्तरलम्बिनम् । दधतुः कुचसंस्पर्शाद्धसन्तमिव रोचिषा ॥८३॥
मृदू भुजलते चार्व्या[5] वधिषातां सुसंहते । नखांशुकुसुमोद्भेदैः[6] दधाने हसितश्रियम् ॥८४॥
मुखेन्दुरेनयो कान्तिमधान्मुग्धस्मितांशुभिः । ज्योत्स्नालक्ष्मीं समातन्वन् जगतां कान्तदर्शनः ॥८५॥
सुपक्ष्मणी तयोर्नेत्रे रेजाते स्निग्धतारके[7] । यथोत्पले समुत्फुल्ले केसरालग्नषट्पदे ॥८६॥
[8]नामकर्मविनिर्माणरुचिरे सुभ्रुवोर्भ्रुवौ । चापयष्टिरनङ्गस्य [9]नानुयातुमलं तराम् ॥८७॥

अथवा रोमराजिरूपी लताके मूलमें चारों ओरसे बँधी हुई पाल ही हो ॥७९॥ जिस प्रकार कमलिनी कमलपुष्पकी बोंड़ियोंको धारण करती है उसी प्रकार वे देवियाँ स्तनरूपी कमलकी बोंड़ियोंको धारण कर रही थीं, कमलिनियोंके कमल जिस प्रकार एक नालसे सहित होते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमल भी रोमराजिरूपी एक नालसे सहित थे और कमलोंपर जिस प्रकार भौंरे बैठते हैं उसी प्रकार उनके स्तनरूपी कमलोंपर भी चूचुकरूपी भौंरे बैठे हुए थे। इस प्रकार वे दोनों ही देवियाँ ठीक कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥८०॥ उनके गलेमें जो मुक्ताहार अर्थात् मोतियोंके हार पड़े हुए थे, मालूम होता है कि उन्होंने अवश्य ही अपने नामके अनुसार (मुक्त+आहार) आहार-त्याग अर्थात् उपवासरूप तप तपा था और इसीलिए उन मुक्ताहारोंने अपने उक्त तपके फलस्वरूप उन देवियोंके कण्ठ और कुचके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी अमृतको प्राप्त किया था ॥८१॥

गलेमें पड़े हुए एकावली अर्थात् एक लड़के हारसे वे दोनों ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो किसी सखीके सम्बन्धसे ही शोभायमान हो रही हों, क्योंकि जिस प्रकार सखी स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके स्तनोंके समीपवर्ती भागका स्पर्श कर रही थी, सखी जिस प्रकार कण्ठसे संसर्ग रखती है अर्थात् कण्ठालिंगन करती है उसी प्रकार वह एकावली भी उनके कण्ठसे संसर्ग रखती थी अर्थात् कण्ठमें पड़ी हुई थी, सखी जिस प्रकार स्वच्छ अर्थात् कपटरहित-निर्मलहृदय होती है उसी प्रकार वह एकावली भी स्वच्छ—निर्मल थी और सखी जिस प्रकार स्निग्धमुक्ता होती है अर्थात् स्नेही पतिके द्वारा छोड़ी—भेजी जाती है, उसी प्रकार वह एकावली भी स्निग्धमुक्ता थी अर्थात् चिकने मोतियों-से सहित थी ॥८२॥ वे देवियाँ अपने स्तनोंके बीचमें लटकते हुए जिस नक्षत्रमाला अर्थात् सत्ताईस मोतियोंके हारको धारण किये हुई थीं वह अपनी किरणोंसे ऐसा मालूम होता था मानो स्तनोंका स्पर्श कर आनन्दसे हँस ही रहा हो ॥८३॥ वे देवियाँ नखोंकी किरणरूपी पुष्पों-के विकाससे हास्यकी शोभाको धारण करनेवाली कोमल, सुन्दर और सुसंगठित भुजलताओं-को धारण कर रही थीं ॥८४॥ उन दोनोंके मुखरूपी चन्द्रमा भारी कान्तिको धारण कर रहे थे, वे अपने सुन्दर मन्द हास्यकी किरणोंके द्वारा चाँदनीकी शोभा बढ़ा रहे थे, और देखनेमें संसारको बहुत ही सुन्दर जान पड़ते थे ॥८५॥ उत्तम बरौनी और चिकनी अथवा स्नेहयुक्त तारोंसे सहित उनके नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके केशरपर भ्रमर आ लगे हैं ऐसे फूले हुए कमल ही हों ॥८६॥ सुन्दर भौंहोंवाली उन देवियोंकी दोनों भौंहें नामकर्मके द्वारा इतनी सुन्दर बनी थीं कि कामदेवकी धनुपलता भी उनकी बराबरी

१ मौक्तिकहारेण । २ इव । ३ मुक्ताहारनामभवम् । ४. मसृणमुक्तया, पक्षे प्रियतमप्रेषितया । ५ अधत्तामित्यर्थः । ६. विकासैः । ७ कनीनिके । ८ नामकर्मकरण । नामकर्मणा विनिर्माणं तेन रुचिरे इत्यर्थः । ९ अनुकर्तुम् ।

नीलोत्पलवतंसेन[1] तत्कर्णौ दधतुः श्रियम्। मिथः प्रमित्सुने[2]वोच्चैरायतिं नयनाब्जयोः ॥८८॥

ते ललाटतटालम्बानलकान्[3] हतुर्भृशम्। सुवर्णपट्टपर्यन्तखचितेन्द्रोपलत्विषः ॥८९॥

[4]स्रस्तस्रक्कबरीबन्धस्तयोरुत्प्रेक्षितो जनैः। कृष्णाहिरिव शुक्लाहिं निगीर्य पुनरुद्गिरन्[5] ॥९०॥

इति स्वभावमधुरामाकृतिं भूषणोज्ज्वलाम्। दधाने दधतुर्लीलां कल्पवल्ल्यौ स्फुरत्त्विषौ ॥९१॥

दृष्ट्वैनयोरदो रूपं जनानामतिरित्यभूत्। एताभ्यां निर्जिता सत्यं स्त्रियम्मन्याः सुरस्त्रियः ॥९२॥

स ताभ्यां कीर्तिलक्ष्मीभ्यामिव रेजे [6]वरोत्तमः। ते च तेन महानद्यौ वार्द्धिनेव [7]समीयतुः ॥९३॥

सरूपे[8] सद्युती कान्ते ते मनो जह्रतुर्विभोः। मनोभुव इवाशेषं जिगीषोर्वैजयन्तिके ॥९४॥

तयोरपि मनस्तेन रञ्जितं भुवनेशिना। हारयष्ट्योरिवारक्त[9]मणिना मध्यमुद्युता ॥९५॥

बहुशो भग्नमानोऽपि [10]यत्पुरोऽस्य मनोभवः। चचार[11] गूढसंचार[12] कारणं तत्र चिन्त्यताम् ॥९६॥

नूनमेनं प्रकाशात्मा[13] व्यद्रष्टुं हृदिशयोऽक्षमः। अनङ्गतां तदा भेजे सोपाया हि जिगीषवः[14] ॥९७॥

नहीं कर सकती थीं ॥ ८७ ॥ उन महादेवियोंके कान नीलकमलरूपी कर्ण-भूषणोंसे ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो नेत्ररूपी कमलोंकी अतिशय लम्बाईको परस्परमें नापना ही चाहते थे ॥८८॥ वे देवियाँ अपने ललाट-तटपर लटकते हुए जिन अलकोंको धारण कर रही थीं वे सुवर्णपट्टकके किनारेपर जड़े हुए इन्द्रनीलमणियोंके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥ ८९ ॥ जिनपर-की पुष्पमालाएँ ढीली होकर नीचेकी ओर लटक रही थीं ऐसे उन देवियोंके केशपाशोंके विषयमें लोग ऐसी उत्प्रेक्षा करते थे कि मानो कोई काले साँप सफेद साँपको निगल-कर फिरसे उगल रहे हों ॥९०॥ इस प्रकार स्वभावसे मधुर और आभूषणोंसे उज्ज्वल आकृतिको धारण करनेवाली वे देवियाँ कान्तिमती कल्पलताओंकी शोभा धारण कर रही थीं ॥९१॥ इन दोनोंके उस सुन्दर रूपको देखकर लोगोंकी यही बुद्धि होती थी कि वास्तवमें इन्होंने अपने-आपको स्त्री माननेवाली देवाङ्गनाओंको जीत लिया है ॥९२॥ वरोंमें उत्तम भगवान् वृषभदेव उन देवियोंसे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो कीर्ति और लक्ष्मीसे ही शोभायमान हो रहे हों और वे दोनों भगवान्से इस प्रकार मिली थीं जिस प्रकारकी महानदियाँ समुद्रसे मिलती हैं ॥९३॥ वे देवियाँ बड़ी ही रूपवती थीं, कान्तिमती थीं, सुन्दर थीं और समस्त जगत्‌को जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी पताकाके समान थीं और इसीलिए ही उन्होंने भगवान् वृषभदेवका मन हरण कर लिया था ॥९४॥ जिस प्रकार बीचमें लगा हुआ कान्तिमान् पद्मराग-मणि हारयष्टियोंके मध्यभागको अनुरञ्जित अर्थात् लाल वर्ण कर देता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्ति या इच्छासे युक्त भगवान् वृषभदेवने भी उन देवियोंके मनको अनुरंजित—प्रसन्न कर दिया था ॥९५॥ यद्यपि कामदेव भगवान् वृषभदेवके सामने अनेक बार अपमानित हो चुका था तथापि वह गुप्त रूपसे अपना संचार करता ही रहता था। विद्वानोंको इसका कारण स्वयं विचार लेना चाहिए ॥९६॥ मालूम होता है कि कामदेव स्पष्टरूपसे भगवान्‌को बाधा देनेके लिए समर्थ नहीं था इसलिए वह उस समय शरीररहित अवस्थाको प्राप्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि विजयकी इच्छा करनेवाले पुरुष अनेक उपायोंसे सहित होते हैं—कोई-न-कोई

---

१ नीलोत्पलावतंसेन प०, ल०। २. प्रमातुमिच्छुना। ३. दधतुः। ४. गलित। ५. उद्गिलन् अ०, प०, द०, स०। ६ नरोत्तमः अ०, स०। ७. सगमीयतुः। ८ समानरूपे। ९ पद्मरागमाणिक्येन। १०. यस्मात् कारणात्। ११. चरति स्म। एतेन प्रभोर्माहात्म्यं व्यज्यते। तत्र तयोः सौभाग्यं व्यङ्ग्यम्। १२. –सञ्चारकारण– अ०, प०। १३. व्यक्तस्वरूप। १४ जेतुमिच्छवः।

अनङ्गत्वेन [1]तन्नूनमेनयो प्रविशन् वपु. । दुर्गाश्रित इवानङ्गो विध्यावैन स्वसायकै ॥९८॥
ताभ्यामिति समं भोगान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । कालो महानगादेकक्षणवद् सततक्षणै [2] ॥९९॥
अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वति । स्वप्नेऽपश्यन् मही ग्रस्तां मेरु सूर्यं च सोडुपम् ॥१००॥
सर. सहसमब्धि च [3]चलद्वीचिकमैक्षत । स्वप्नान्ते च व्यबुद्धासौ पठन् मागधनि स्वनै ॥१०१॥
त्व विबुध्यस्व कल्याणि कल्याणशतभागिनि । प्रबोधसमयोऽय ते सहाब्जिन्या धृतश्रिय ॥१०२॥
मुदे तवास्त्र भूयासुरिमे स्वप्नाः शुभावहा. । महीमेरूदधीन्द्वर्कसरोवरपुरस्सरा.[4] ॥१०३॥
नभस्सरोवरेऽन्विष्य[5] चिरं तिमिरशैवलम् । खेदादिवाधुनाभ्येति[6] शशिहंसोऽस्त[7]पादपम् ॥१०४॥
ज्योत्स्नाम्भसि चिर तीर्त्वा[8] ताराहस्यो नभो ह्रदे । नूनं [9]निलेतुमस्ताद्रे. शिखराण्याश्रयन्त्यमू ॥१०५॥
निद्राकषायितैर्नेत्रै. कोकीनां [10]सेर्ष्यमीक्षित. । तद्दृष्टिदूषितात्मेव विधुर्विच्छायतां गत. ॥१०६॥
प्रयाति यामिनी[11] यामा[12] निवान्वेतु पुरोगतान् । ज्योत्स्नांशुकेन संवेष्ट्य तारासर्वस्वमात्मनः ॥१०७॥
इतोऽस्तमेति शीतांशुरितो भास्वानुदीयते[13] । संसारस्येव वैचित्र्यमुपदेष्टुं समुद्यतौ ॥१०८॥

उपाय अवश्य करते है ॥९७॥ अथवा कामदेव शरीररहित होनेके कारण इन देवियोंके शरीरमें प्रविष्ट हो गया था और वहाँ किलेके समान स्थित होकर अपने बाणोंके द्वारा भगवान्को घायल करता था ॥ ९८ ॥ इस प्रकार उन देवियोंके साथ भोगोंको भोगते हुए जगद्गुरु भगवान वृषभदेवका बड़ा भारी समय निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे क्षण-भरके समान बीत गया था ॥ ९९ ॥

अथानन्तर किसी समय यशस्वती महादेवी राजमहलमें सो रही थी। सोते समय उसने स्वप्नमें ग्रसी हुई पृथिवी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमासहित सूर्य, हंससहित सरोवर तथा चञ्चल लहरोंवाला समुद्र देखा, स्वप्न देखनेके बाद मंगल-पाठ पढते हुए वन्दीजनोंके शब्द सुनकर वह जाग पड़ी ॥१००–१०१॥ उस समय बन्दीजन इस प्रकार मंगल-पाठ पढ रहे थे कि हे दूसरोंका कल्याण करनेवाली और स्वयं सैकड़ों कल्याणोंको प्राप्त होनेवाली देवि, अब तू जाग, क्योंकि तू कमलिनीके समान शोभा धारण करनेवाली है—इसलिए यह तेरा जागनेका समय है। भावार्थ—जिस प्रकार यह समय कमलिनीके जागृत-विकसित होनेका है, उसी प्रकार तुम्हारे जागृत होनेका भी है ॥१०२॥ हे मातः, पृथिवी, मेरु, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा और सरोवर आदि जो अनेक मंगल करनेवाले शुभ स्वप्न देखे है वे तुम्हारे आनन्दके लिए हों ॥ १०३ ॥ हे देवि, यह चन्द्रमारूपी हंस चिरकाल तक आकाशरूपी सरोवरमें अन्धकाररूपी शैवालको खोजकर अब खेदखिन्न होनेसे ही मानो अस्ताचलरूपी वृक्षका आश्रय ले रहा है अर्थात् अस्त हो रहा है ॥ १०४ ॥ ये तारारूपी हंसियाँ आकाशरूपी सरोवरमें चिरकाल तक तैरकर अब मानो निवास करनेके लिए ही अस्ताचलके शिखरोंका आश्रय ले रही है–अस्त हो रही है ॥ १०५ ॥ हे देवि, यह चन्द्रमा कान्तिरहित हो गया है, ऐसा मालूम होता है कि रात्रिके समय चकवियोंने निद्राके कारण लाल वर्ण हुए नेत्रोंसे इसे ईर्ष्याके साथ देखा है इसलिए मानो उनकी दृष्टिके दोषसे ही दूषित होकर यह कान्तिरहित हो गया है ॥ १०६ ॥ हे देवि, अब यह रात्रि भी अपने नक्षत्ररूपी धनको चाँदनीरूपी वस्त्रमें लपेटकर भागी जा रही है, ऐसा मालूम होता है मानो वह आगे गये हुए (बीते हुए) प्रहरोंके पीछे ही जाना चाहती हो ॥ १०७ ॥ इस ओर यह चन्द्रमा अस्त हो रहा है और इस ओर सूर्यका उदय हो रहा है, ऐसा जान पड़ता है मानो

---

१ वा नून– अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २ नित्योत्सवै । ३. चलवीचिक– अ०, प०, द०, म०, स०, ल०, । ४ –पुरोगमा प० । ५. –रेऽन्वीष्य ट० । अनुप्राप्य । ६ अभिगच्छति । ७ अस्तगिरिवृक्षम् । ८ तरणं कृत्वा । ९ वस्तुम् । १० ईर्ष्यया महितम् । ११. रजनी । १२. प्रहरान् । १३. 'ई गतौ' उदयनीत्यर्थः ।

तारका गगनाम्भोधौ मुक्ताफलनिभश्रियः । अरुणौर्वानलेनेमा[1] विलीयन्ते गतत्विषः ॥१०९॥
सरितां सैकतादेव चक्रवाको रुवन्[2] रुवन् । अन्विच्छति निजां कान्तां निशाविरहविक्लवः[3] ॥११०॥
अयं हंसयुवा हंस्या सुषुप्सति[4] समं सति[5] । मृणालशकलेनाङ्गं कण्डूयंश्चञ्चुलम्बिना ॥१११॥
अब्जिनीयमितो धत्ते विकसत्पङ्कजाननम् । इतश्च म्लानिमासाद्य नम्रास्येयं कुमुद्वती ॥११२॥
सरसां पुलिनेष्वेताः[6] कुरर्यः कुर्वते स्वनम्[7] । युष्मन्नूपुरसंवादि[8] तारं मधुरमेव च ॥११३॥
स्वनीडादुत्पतन्त्यद्य कृतकोलाहलस्वनाः । प्रभातमङ्गलानीव पठन्तोऽमी शकुन्तयः ॥११४॥
अप्राप्तस्त्रैणसंस्कारा[9] परिक्षीणदशा[10] इमे । काञ्चुकीयैः समं दीपा यान्ति कालेन मन्दताम् ॥११५॥
इतो निजगृहे देवि त्वन्मङ्गलविधित्सया[11] । कुब्जवामनिकाप्राय परिवारः प्रतीच्छति[12] ॥११६॥
विमुञ्च शयनं तस्मात् नदीपुलिनसंनिभम् । हंसीव राजहंसस्य[13] वल्लभा मानसाश्रया ॥११७॥
इत्युच्चैर्वन्दिवृन्देषु पठत्सु समयोचितम् । प्राबोधिकानकध्वानैः सा विनिद्राभवच्छनैः ॥११८॥
विमुक्तशयना चैषा कृतमङ्गलमज्जना । प्रष्टुकामा स्वदृष्टानां स्वप्नानां तत्त्वतः फलम् ॥११९॥

ये संसारकी विचित्रताका उपदेश देनेके लिए ही उद्यत हुए हों ॥१०८॥ हे देवि, आकाशरूपी समुद्रमें मोतियोंके समान शोभायमान रहनेवाले ये तारे सूर्यरूपी वड़वानलके द्वारा कान्ति-रहित होकर विलीन होते जा रहे हैं ॥१०९॥ रात-भर विरहसे व्याकुल हुआ यह चकवा नदीके बालूके टीलेपर स्थित होकर रोता-रोता ही अपनी प्यारी स्त्री चकवीको ढूँढ़ रहा है ॥११०॥ हे सति, इधर यह जवान हंस चोंचमें दबाये हुए मृणाल-खण्डसे शरीरको खुजलाता हुआ हंसीके साथ शयन करना चाहता है ॥१११॥ हे देवि, इधर यह कमलिनी अपने विकसित कमलरूपी मुखको धारण कर रही है और इधर यह कुमुदिनी मुरझाकर नम्रमुख हो रही है अर्थात् मुरझाये हुए कुमुदको नीचा कर रही है ॥११२॥ इधर तालाबके किनारोंपर ये कुरर पक्षियोंकी स्त्रियाँ तुम्हारे नूपुरके समान उच्च और मधुर शब्द कर रही है ॥११३॥ इस समय ये पक्षी कोलाहल करते हुए अपने-अपने घोंसलोंसे उड़ रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो प्रातः-कालका मंगल-पाठ ही पढ़ रहे हों ॥११४॥ इधर प्रातःकालका समय पाकर ये दीपक कंचुकियों (राजाओंके अन्तःपुरमें रहनेवाले वृद्ध या नपुंसक पहरेदारों) के साथ-साथ ही मन्दताको प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि जिस प्रकार कंचुकी स्त्रियोंके संस्कारसे रहित होते हैं उसी प्रकार दीपक भी प्रातःकाल होनेपर स्त्रियोंके द्वारा की हुई सजावटसे रहित हो रहे हैं और कंचुकी जिस प्रकार परिक्षीण दशा अर्थात् वृद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार दीपक भी परिक्षीण दशा अर्थात् क्षीण बत्तीवाले हो रहे हैं ॥११५॥ हे देवि, इधर तुम्हारे घरमें तुम्हारा मंगल करनेकी इच्छासे यह कुब्जक तथा वामन आदिका परिवार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ॥११६॥ इसलिए जिस प्रकार मानसरोवरपर रहनेवाली, राजहंस पक्षीकी प्रिय वल्लभा—हंसी नदीका किनारा छोड़ देती है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवके मनमें रहनेवाली और उनकी प्रिय वल्लभा तू भी शय्या छोड़ ॥११७॥ इस प्रकार जब वन्दीजनोंके समूह जोर-जोरसे मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब वह यशस्वती महादेवी जगानेवाले दुन्दुभियोंके शब्दोंसे धीरे-धीरे निद्रारहित हुई—जाग उठी ॥११८॥ और शय्या छोड़कर प्रातःकालका मंगलस्नान कर प्रीतिसे रोमांचितशरीर हो अपने देखे हुए स्वप्नोंका यथार्थ फल पूछनेके लिए संसारके प्राणियोंके हृदयवर्ती अन्धकारको

---

१ सूर्यसारथि । २ कूजन् कूजन् । ३ विह्वलः । ४. शयितुमिच्छति । ५. भो पतिव्रते । ६. उत्क्रोशाः । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यभिधानात् । ७ ध्वनिम् प० । ८ सदृशम् । ९. स्त्रीसंबन्धि । १०. परिक्षीणवर्तिकाः । परिनष्टवयस्काः । ११. विधातुमिच्छया । १२. पश्यति । आगच्छति वा तिष्ठति वा । १३. राजश्रेष्ठस्य राजहंसस्य च । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैः लोहितैः सिताः ।' इत्यमरः ।

प्रीतिकण्टकिता भेजे पद्मिनीवार्कमुद्गुचम् । प्राणनाथं जगत्प्राणिस्वान्तध्वान्तनुदं विभुम् ॥१२०॥
तमुपेत्य सुखासीना स्वोचिते भद्रविष्टरे । लक्ष्मीरिव रुचिं भेजे भर्तुरभ्यर्णवर्तिनी ॥१२१॥
सा पत्यै[1] स्वप्नमालां तां यथादृष्टं न्यवेदयत् । दिव्यचक्षुरसौ[2] देवस्तत्फलानीत्यभाषत ॥१२२॥
त्वं देवि पुत्रमाप्तासि[3] गिरीन्द्राच्चक्रवर्तिनम् । तस्य प्रतापितामर्कः शास्तीन्दुः कान्तिसंपदम् ॥१२३॥
सरोजाक्षि सरोदृष्टेरसौ पङ्कजवासिनीम् । वोढा[4] व्यूढोरसा पुण्यलक्षणाङ्कितविग्रहः ॥१२४॥
महीग्रसनत कृत्स्नां महीं सागरवाससम्[5] । प्रतिपालयिता देवि विश्वराट् तव पुत्रकः ॥१२५॥
सागराच्चरमाङ्गोऽसौ तरिता जन्मसागरम् । ज्यायान् पुत्रशतस्यायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥१२६॥
इति श्रुत्वा वचो भर्तुः सा तदा प्रमदोदयात् । ववृधे जलधेर्वेला यथेन्दौ समुदेष्यति ॥१२७॥
ततः सर्वार्थसिद्धिस्थो योऽसौ व्याघ्रचरः सुरः । सुबाहुरहमिन्द्रोऽतश्च्युत्वा तद्गर्भमावसत् ॥१२८॥
सा गर्भमवहद् देवी देवाद् दिव्यानुभावजम् । येन नासहतार्कं च समाक्रामन्तमम्बरे ॥१२९॥
सापश्यत् स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे । तत्र प्रातीपिकीं[6] स्वां च छायां नासोढ मानिनी ॥१३०॥
अन्तर्वत्नीमपश्यत् तां पतिरुत्सुकया दृशा । जलगर्भामिवाम्भोदमालां काले शिखावलः[7] १३१॥

दूर करनेवाले अतिशय प्रकाशमान और सबके स्वामी भगवान् वृषभदेवके समीप उस प्रकार पहुँची जिस प्रकार कमलिनी संसारके मध्यवर्ती अन्धकारको नष्ट करनेवाले और अतिशय प्रकाशमान सूर्यके सम्मुख पहुँचती है ॥११९-१२०॥ भगवान्के समीप जाकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासनपर सुखपूर्वक बैठ गयी। उस समय महादेवी साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१२१॥ तदनन्तर उसने रात्रिके समय देखे हुए समस्त स्वप्न भगवान्से निवेदन किये और अवधि-ज्ञानरूपी दिव्य नेत्र धारण करनेवाले भगवान्ने भी नीचे लिखे अनुसार उन स्वप्नोंका फल कहा कि ॥१२२॥ हे देवि, स्वप्नोंमें जो तूने सुमेरु पर्वत देखा है उससे मालूम होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा। सूर्य उसके प्रतापको और चन्द्रमा उसकी कान्तिरूपी सम्पदाको सूचित कर रहा है ॥१२३॥ हे कमलनयने, सरोवरके देखनेसे तेरा पुत्र अनेक पवित्र लक्षणोंसे चिह्नितशरीर होकर अपने विस्तृत वक्षःस्थलपर कमलवासिनी–लक्ष्मीको धारण करनेवाला होगा ॥१२४॥ हे देवि, पृथिवीका ग्रसा जाना देखनेसे मालूम होता है कि तुम्हारा वह पुत्र चक्रवर्ती होकर समुद्ररूपी वस्त्रको धारण करनेवाली समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥१२५॥ और समुद्र देखनेसे प्रकट होता है कि वह चरमशरीरी होकर संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाला होगा। इसके सिवाय इक्ष्वाकु-वंशको आनन्द देनेवाला वह पुत्र तेरे सौ पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ पुत्र होगा ॥१२६॥ इस प्रकार पतिके वचन सुनकर उस समय वह देवी हर्षके उदयसे ऐसी वृद्धिको प्राप्त हुई थी जैसी कि चन्द्रमाका उदय होनेपर समुद्रकी वेला वृद्धिको प्राप्त होती है ॥१२७॥

तदनन्तर राजा अतिगृद्धका जीव जो पहले व्याघ्र था, फिर देव हुआ, फिर सुबाहु हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वहाँसे च्युत होकर यशस्वती महादेवीके गर्भमें आकर निवास करने लगा ॥१२८॥ वह देवी भगवान् वृषभदेवके दिव्य प्रभावसे उत्पन्न हुए गर्भको धारण कर रही थी। यही कारण था कि वह अपने ऊपर आकाशमें चलते हुए सूर्यको भी सहन नहीं करती थी ॥१२९॥ वीर पुत्रको पैदा करनेवाली वह देवी अपने मुखकी कान्ति तलवाररूपी दर्पणमें देखती थी और अतिशय मान करनेवाली वह उस तलवारमें पड़ती हुई अपनी प्रतिकूल छायाको भी नहीं सहन कर सकती थी ॥१३०॥ जिस प्रकार वर्षाका समय आनेपर मयूर जलसे भरी हुई मेघमालाको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते हैं उसी प्रकार भगवान्

१ पुत्याय। २ अवधिज्ञानदृष्टिः। ३ 'लुटि'। लब्धा भविष्यसि। ४. विशालम्। ५. सागरवाससाम् ब०। ६. प्रतिकूलाम्। ७. मयूर.।

रत्नगर्भेव सा भूमिः फलगर्भेव वल्लरी । तेजोगर्भेव दिक्प्राची नितरां रुचिमानशे[1] ॥१३२॥

सा मन्दं गमनं भेजे मणिकुट्टिमभूमिषु । हंसीव नूपुरोदारशिञ्जानैर्मञ्जुभाषिणी ॥१३३॥

सावष्टम्भपदन्यासैर्मुद्रयन्तीव सा धराम् । स्वभुक्त्यै मन्थरं[2] यातमभजन् मणिभूमिषु ॥१३४॥

उदरेऽस्या वलीभङ्गो नादृश्यत यथा पुरा । अभङ्गं तत्सुतस्यैव दिग्जयं सूचयन्नसौ ॥१३५॥

नीलिमा तत्कुचाग्राग्रमास्पृशद् गर्भसंभवे । गर्भस्थोऽस्याः सुतोऽन्येषां निर्दहन्[3] नमुन्नतिम् ॥१३६॥

दोहदं परमोदात्तमाहारे मन्दिमा रुचे । सालसं गतमायासात्[4] स्रस्ताङ्गं शयनं भुवि ॥१३७॥

मुखमापाण्डु गण्डान्तं वीक्षणं[5] सालसेक्षितम् । आपाटलाधरं वक्त्रं मृत्स्नासुरभि गन्धि च ॥१३८॥

इत्यस्या गर्भचिह्नानि मनः पत्युररञ्जयन् । ववृधे च शनैर्गर्भो द्विषच्छक्तीररञ्जयन् ॥१३९॥

नवमासेष्वतीतेषु तदा सा सुषुवे सुतम् । प्राचीवार्कं स्फुरत्तेजःपरिवेषं[6] महोदयम् ॥१४०॥

शुभे दिने शुभे लग्ने योगे[7] दुरुदुराह्वये । सा प्रासोष्ट[8] सुताग्रण्यं स्फुरत्साम्राज्यलक्षणम् ॥१४१॥

वृषभदेव भी उस गर्भिणी यशस्वती देवीको बड़ी ही उत्सुक दृष्टिसे देखते थे ॥१३१॥ वह यशस्वती देवी, जिसके गर्भमें रत्न भरे हुए हैं ऐसी भूमिके समान, जिसके मध्यमे फल लगे हुए हैं ऐसी बेलके समान, अथवा जिसके मध्यमे सूर्यरूपी तेज छिपा हुआ है ऐसी पूर्व दिशाके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो रही थी ॥१३२॥ वह रत्नखचित पृथिवीपर हंसीकी तरह नूपुरोंके उदार शब्दोंसे मनोहर शब्द करती हुई मन्द-मन्द गमन करती थी ॥१३३॥ मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर स्थिरतापूर्वक पैर रखकर मन्दगतिसे चलती हुई वह यशस्वती ऐसी जान पड़ती थी मानो पृथिवी हमारे ही भोगके लिए है ऐसा मानकर उसपर मुहर ही लगाती जाती थी ॥१३४॥ उसके उदरपर गर्भावस्थासे पहलेकी तरह ही गर्भावस्थामें भी वलीभंग अर्थात् नाभिसे नीचे पड़नेवाली रेखाओंका भंग नहीं दिखाई देता था और उससे मानो यही सूचित होता था कि उसका पुत्र अभंग नाशरहित दिग्विजय प्राप्त करेगा (यद्यपि स्त्रियोंके गर्भावस्थामें उदरकी वृद्धि होनेसे वलीभंग हो जाता है परन्तु विशिष्ट स्त्री होनेके कारण यशस्वतीके वह चिह्न प्रकट नहीं हुआ था) ॥१३५॥ गर्भधारण करनेपर उसके स्तनोंका अग्रभाग काला हो गया था और उससे यही सूचित होता था कि उसके गर्भमें स्थित रहनेवाला बालक अन्य-शत्रुओं-की उन्नतिको अवश्य ही जला देगा—नष्ट कर देगा ॥१३६॥ परम उत्कृष्ट दोहला उत्पन्न होना, आहारमें रुचिका मन्द पड़ जाना, आलस्यसहित गमन करना, शरीरको शिथिल कर जमीनपर सोना, मुखका गालों तक कुछ-कुछ सफेद हो जाना, आलस-भरे नेत्रोंसे देखना, अधरोष्ठका कुछ सफेद और लाल होना और मुखसे मिट्टी-जैसी सुगन्ध आना। इस प्रकार यशस्वतीके गर्भके सब चिह्न भगवान् वृषभदेवके मनको अत्यन्त प्रसन्न करते थे और शत्रुओंकी शक्तियोंको शीघ्र ही विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे-धीरे बढ़ता जाता था ॥१३७-१३९॥ जिसका मण्डल देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण है और जिसका उदय बहुत ही बड़ा है ऐसे सूर्यको जिस प्रकार पूर्व दिशा उत्पन्न करती है उसी प्रकार नौ महीने व्यतीत होनेपर उस यशस्वती महादेवीने देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्रको उत्पन्न किया ॥१४०॥ भगवान् वृषभदेव-के जन्म समयमे जो शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ चन्द्रमा और शुभ नक्षत्र आदि पड़े थे वे ही शुभ दिन आदि उस समय भी पड़े थे, अर्थात् उस समय, चैत्र कृष्ण नवमीका दिन, मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धन राशिका चन्द्रमा और उत्तराषाढा नक्षत्र था। उसी दिन यशस्वती

---

१. –मानसे प०, अ०, ल० । २ गमनम् । –यात मणिकुट्टिमभूमिषु म०, ल० । ३. अहमेवं मन्ये । ४. गतमायासीत् प०, द०, ल० । ५. वीक्षित सालसेक्षणम् प०, अ०, द०, स०, ल० । ६. परिवेषमहोदयम् अ०, प०, म० । ७. योगेन्दुमपुराह्वये प०, म०, द० । योगे धुरधुराह्वये अ०, म० । ८. प्रासोष्ट म०, प०, ल० ।

आश्लिष्य पृथिवीं दोर्भ्यां यदसावुदपद्यत । ततोऽस्य सार्वभौमत्वं जगुर्नैमित्तिकास्तदा ॥१४२॥
सुतेन्दुनातिसौम्येन व्यद्युतच्छर्वरीव सा । बालार्केण पितुश्चासीद् दिवसस्येव दीप्तता ॥१४३॥
पितामहौ च तस्यास्तां प्रमोदं परमीयतुः । यथा सवेलो जलधिरुदये शशिनः शिशोः ॥१४४॥
तां तदा वर्धयामासुः पुण्याशीभिः पुरन्ध्रिकाः । सुखं प्रसूष्व पुत्राणां शतमित्यधिकोत्सवाः ॥१४५॥
तदानन्दमहाभेर्यः प्रहताः कोणकोटिभिः । दध्वनुर्ध्वनदम्भोदगम्भीरं नृपमन्दिरे ॥१४६॥
तुर्यपटहझल्लर्यः पणवास्तूणवास्तदा । सशङ्खकाहलास्तालाः प्रमदादिव सस्वनुः ॥१४७॥
तदा सुरभिरम्लानिरपतत् कुसुमोत्करः । दिवो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥१४८॥
मृदुर्मन्दममन्देन मन्दाररजसा ततः । ववावववावा[1] रजसामप्छटाशिशिरो मरुत् ॥१४९॥
जयेत्यमानुषी वाक् च जजृम्भे पथि वार्मुचाम् । जीवेति दिक्षु दिव्यानां[2] वाच पप्रथिरे भृशम् ॥१५०॥
वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारप्सत जिताप्सरः[3] । नर्तक्य' सुरनर्तक्यो[4] याभिरहेलया जिता ॥१५१॥
पुरवीथ्यस्तदा रेजुश्चन्दनाम्भश्छटोक्षिताः । कृताभिरुपशोभाभिः प्रहसन्त्यो दिवः श्रियम्[5] ॥१५२॥
रत्नतोरणविन्यासाः पुरे रेजुर्गृहे गृहे । इन्द्रचापतडिद्वल्ली ललितं दधतोऽम्बरे ॥१५३॥

महादेवीने सम्राट्के शुभ लक्षणोंसे शोभायमान ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न किया था ॥१४१॥ वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओंसे पृथिवीका आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था इसलिए निमित्तज्ञानियोंने कहा था कि वह समस्त पृथिवीका अधिपति—अर्थात् चक्रवर्ती होगा ॥१४२॥ वह पुत्र चन्द्रमाके समान सौम्य था इसलिए माता-यशस्वती उस पुत्ररूपी चन्द्रमासे रात्रिके समान सुशोभित हुई थी, इसके सिवाय वह पुत्र प्रातःकालके सूर्यके समान तेजस्वी था इसलिए पिता-भगवान् वृषभदेव उस बालकरूपी सूर्यसे दिनके समान देदीप्यमान हुए थे ॥१४३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर अपनी वेलासहित समुद्र हर्षको प्राप्त होता है उसी प्रकार पुत्रका जन्म होनेपर उसके दादा और दादी अर्थात् महारानी मरुदेवी और महाराज नाभिराज दोनों ही परम हर्षको प्राप्त हुए थे ॥१४४॥ उस समय अधिक हर्षित हुई पतिपुत्रवती स्त्रियाँ 'तू इसी प्रकार सैकड़ों पुत्र उत्पन्न कर' इस प्रकारके पवित्र आशीर्वादोंसे उस यशस्वती देवीको बढ़ा रही थीं ॥१४५॥ उस समय राजमन्दिरमें करोड़ों दण्डोंसे ताड़ित हुए आनन्दके बड़े-बड़े नगाड़े गरजते हुए मेघोंके समान गम्भीर शब्द कर रहे थे ॥१४६॥ तुरही, दुन्दुभि, झल्लरी, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि अनेक बाजे उस समय मानो हर्षसे ही शब्द कर रहे थे—बज रहे थे ॥१४७॥ उस समय सुगन्धित, विकसित, भ्रमण करते हुए भौंरोंसे सेवित और देवोंके हाथसे छोड़ा हुआ फूलोंका समूह आकाशसे पड़ रहा था—बरस रहा था ॥१४८॥ कल्पवृक्षके पुष्पोंके भारी परागसे भरा हुआ, धूलिको दूर करनेवाला और जलके छींटोंसे शीतल हुआ सुकोमल वायु मन्द-मन्द बह रहा था ॥१४९॥ उस समय आकाशमें जय-जय इस प्रकारकी देवोंकी वाणी बढ़ रही थी और देवियोंके 'चिरंजीव रहो' इस प्रकारके शब्द समस्त दिशाओंमें अतिशय रूपसे विस्तारको प्राप्त हो रहे थे ॥१५०॥ जिन्होंने अपने सौन्दर्यसे अप्सराओंको जीत लिया है और जिन्होंने अपनी नृत्यकलासे देवोंकी नर्तकियोंको अनायास ही पराजित कर दिया है ऐसी नृत्य करनेवाली स्त्रियाँ बढ़ते हुए तालके साथ नृत्य तथा संगीत प्रारम्भ कर रही थीं ॥१५१॥ उस समय चन्दनके जलसे सींची गयी नगरकी गलियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अपनी सजावटके द्वारा स्वर्गकी शोभाकी हँसी ही कर रही हों ॥१५२॥ उस समय आकाशमें इन्द्रधनुष और बिजलीरूपी लताकी सुन्दरताको धारण करते हुए रत्ननिर्मित तोरणोंको

---

१. 'ववौ + अवावा' इति छेदः । रजसामपनेता । २. देवानाम् । ३. क्रियाविशेषणम् । ४. याभिः नर्तकीभिः । ५. शोभाम् ।

कृतरङ्गवलौ रत्नचूर्णैर्भूमौ महोदराः । कुम्भा हिरण्मया रेजुः [2]रौक्माब्जपिहिताननाः ॥१५४॥
तस्मिन् नृपोत्सवे सासीत् पुरी सर्वैव सोत्सवा । यथाब्धिवृद्धौ सवृद्धिं याति वेलाश्रिता नदी ॥१५५॥
[3]न दीनोऽभूत्तदा कश्चित् [4]नदीनोदकभूयसीम् । दानधारां नृपेन्द्रेभे मुक्तधारं प्रवर्षति ॥१५६॥
इति प्रमोदमुत्पाद्य पुरे सान्तःपुरे परम् । वृषभाद्रेरसौ बालः प्रालेयद्युतिरुद्ययौ ॥१५७॥
[5]प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बन्धुता[6] तदा । तमाह्वद् भरतं भावि समस्तभरताधिपम् ॥१५८॥
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति[7] हासीज्जनास्पदम् । हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥१५९॥
स तन्वन्परमानन्दं बन्धुताकुमुदाकरे । धुन्वन् वैरिकुलध्वान्तमवृधद् बालचन्द्रमाः ॥१६०॥
स्त[8]नन्धयन्नसौ मातुः [9]स्तन्यं गण्डूषितं मुहुः । समुद्गिरन् यशो दिक्षु विभजन्निव विद्युते ॥१६१॥
स्मितैश्च हसितैर्मुग्धैः सर्पणैर्मणिभूमिषु । [10]मन्मनालपितैः पित्रोः स संप्रीतिमजीजनत् ॥१६२॥
तस्य वृद्धावभूद् वृद्धिर्गुणानां सहजन्मनाम् । [11]नूनं ते तस्य सोदर्याः[12]स्तद्वृद्ध्यनुविधायिनः ॥१६३॥
अन्नप्राशनचौलोपनयनादीननुक्रमात् । क्रियाविधीन् विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥१६४॥
ततः क्रमभुवो बाल्यकौमारान्तर्भुवो भिदाः । सोऽतीत्य यौवनावस्थां प्रापन्नानन्दिनीं दृशाम् ॥१६५॥

सुन्दर रचनाएँ घर-घर शोभायमान हो रही थीं ॥१५३॥ जहाँ रत्नोंके चूर्णसे अनेक प्रकारके बेलबूटोंकी रचना की गयी है ऐसी भूमिपर बड़े-बड़े उदरवाले अनेक सुवर्णकलश रखे हुए थे। उन कलशोंके मुख सुवर्णकमलोंसे ढके हुए थे इसलिए वे बहुत ही शोभायमान हो रहे थे ॥१५४॥ जिस प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसके किनारेकी नदी भी वृद्धिको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार राजाके घर उत्सव होनेसे वह समस्त अयोध्यानगरी उत्सवसे सहित हो रही थी ॥१५५॥ उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी हाथी समुद्रके जलके समान भारी दानकी धारा (सुवर्ण आदि वस्तुओंके दानकी परम्परा, पक्षमें– मदजलकी धारा) बरसा रहे थे इसलिए वहाँ कोई भी दरिद्र नहीं रहा था ॥१५६॥ इस प्रकार अन्तःपुरसहित समस्त नगरमें परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ वह बालकरूपी चन्द्रमा भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचलसे उदय हुआ था ॥१५७॥ उस समय प्रेमसे भरे हुए बन्धुओंके समूहने बड़े भारी हर्षसे, समस्त भरत-क्षेत्रके अधिपति होनेवाले उस पुत्रको 'भरत' इस नामसे पुकारा था ॥१५८॥ इतिहासके जाननेवालोंका कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवत् पर्वतसे लेकर समुद्र पर्यन्तका चक्रवर्तियोंका क्षेत्र उसी 'भरत' पुत्रके नामके कारण भारतवर्ष रूपसे प्रसिद्ध हुआ है ॥१५९॥ वह बालकरूपी चन्द्रमा भाई-बन्धुरूपी कुमुदोंके समूहमें आनन्दको बढ़ाता हुआ और शत्रुओंके कुलरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ बढ़ रहा था ॥१६०॥ माता यशस्वतीके स्तनका पान करता हुआ वह भरत जब कभी दूधके कुरलेको बार-बार उगलता था तब वह ऐसा देदीप्यमान होता था मानो अपना यश ही दिशाओंमें बाँट रहा हो ॥१६१॥ वह बालक मन्द मुसकान, मनोहर हास, मणिमयी भूमिपर चलना और अव्यक्त मधुर भाषण आदि लीलाओंसे माता-पिताके परम हर्षको उत्पन्न करता था ॥१६२॥ जैसे-जैसे वह बालक बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उसके साथ-साथ उत्पन्न हुए-स्वाभाविक गुण भी बढ़ते जाते थे, ऐसा मालूम होता था मानो वे गुण उसकी सुन्दरतापर मोहित होनेके कारण ही उसके साथ-साथ बढ़ रहे थे ॥ १६३ ॥ विधिको जाननेवाले भगवान् वृषभदेवने अनुक्रमसे अपने उस पुत्रके अन्नप्राशन (पहली बार अन्न खिलाना), चौल (मुण्डन) और उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार स्वयं किये थे ॥ १६४ ॥ तदनन्तर उस भरतने क्रम-क्रमसे होनेवाली बालक और कुमार अवस्थाके बीचके अनेक भेद व्यतीत कर नेत्रोंको आनन्द देनेवाली युवावस्था प्राप्त

---

१. कृतरङ्गावली अ०, प०, स०, द०, म०, ल० । २. हेमकमल । ३. दरिद्र. । ४. समुद्रोदकम् । ५. प्रमोदातिशयात् । ६. बन्धुसमूह । ७ इह काले । ८ पिबन् । ९. क्षीरम् । १० अव्यक्तवचनैः । ११. इव । १२ सहोदराः । सौन्दर्यात् म०, ल० ।

तदेव[1] पैतृकं यातं[2] समाक्रान्तत्रिविष्टपम् । तदेवास्य वपुर्दीप्तं तदेव हसितं स्मितम् ॥१६६॥
सैव वाणी कला सैव सा विद्या सैव च द्युतिः । तदेव शीलं विज्ञानं सर्वमस्य तदेव तत् ॥१६७॥
इति तन्मयतां[3] प्राप्तं पुत्रं दृष्ट्वा तदा प्रजा । आत्मा वै पुत्रनामासीदित्यगीषत सूनृतम् ॥१६८॥
पित्रा[4] व्याख्यातरूपादिगुणः प्रत्यक्षमन्मथः । स सम्मतः सतामासीत् स्वैर्गुणैरभि[5]रामिकैः ॥१६९॥
मनो[6]मनोऽर्पयन् प्रीतो मनुरेवोद्गतः सुतः । मनो मनोभवाकारः प्रजानामध्युवास सः ॥१७०॥
जयलक्ष्म्यानपायिन्या वपुरस्यातिभास्वरम् । पुञ्जीकृतमिवैकत्र क्षात्रं तेजो विदिद्युते ॥१७१॥
दिव्यमानुषतामस्य व्यापयद्वपुरूर्जितम् । तेजोमयैरिवारब्धमणुभिर्व्यद्युतत्तराम् ॥१७२॥
तस्योत्तमाङ्गमुत्तुङ्गमौलिरत्नांशुपेशलम् । सचूलिकमिवाद्रीन्द्रशिखरं भृशमद्युतत् ॥१७३॥
क्रमोन्नतं सुवृत्तं च शिरोऽस्य रुरुचेतराम् । धात्रा निवेशितं दिव्यमातपत्रमिव श्रियः ॥१७४॥
शिरोऽस्याकुञ्चित[7]स्निग्धविनीलैर्कैर्जमूर्द्धजम्[8] । विनीलरत्नविन्यस्तं शिरस्त्राणमिवारुचत्[9] ॥१७५॥
ऋज्वी मनोवचःकायवृत्तिमुद्वहतः प्रभोः । केशान्तानलिसङ्काशान् भेजे कुटिलता परम् ॥१७६॥
स्मेरं वक्त्राम्बुजं तस्य दशनाभीषुकेसरम् । बभौ सुरभिनिःश्वासपवनाहूतषट्पदम् ॥१७७॥

की ॥ १६५ ॥ इस भरतका अपने पिता भगवान् वृषभदेवके समान ही गमन था, उन्हींके समान तीनों लोकोंका उल्लंघन करनेवाला देदीप्यमान शरीर था और उन्हींके समान मन्द हास्य था ॥ १६६ ॥ इस भरतकी वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील और विज्ञान आदि सब कुछ वही थे जो कि उसके पिता भगवान् वृषभदेवके थे ॥१६७॥ इस प्रकार पिताके साथ तन्मयताको प्राप्त हुए भरत-पुत्रको देखकर उस समय प्रजा कहा करती थी कि पिताका आत्मा ही पुत्र नामसे कहा जाता है [आत्मा वै पुत्रनामासीद्] यह बात बिलकुल सच है ॥ १६८ ॥ स्वयं पिताके द्वारा जिसके रूपादि गुणोंकी प्रशंसा की गयी है, जो साक्षात् कामदेवके समान है ऐसा वह भरत अपने मनोहर गुणोंके द्वारा सज्जन पुरुषोंको बहुत ही मान्य हुआ था ॥१६९॥ वह भरत पन्द्रहवें मनु भगवान् वृषभनाथके मनको भी अपने प्रेमके अधीन कर लेता था इसलिए लोग कहा करते थे कि यह सोलहवाँ मनु ही उत्पन्न हुआ है और वह कामदेवके समान सुन्दर आकारवाला था इसलिए समस्त प्रजाके मनमें निवास किया करता था ॥१७०॥ उसका शरीर कभी नष्ट नहीं होनेवाली विजयलक्ष्मीसे सदा देदीप्यमान रहता था इसलिए ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी एक जगह इकट्ठा किया हुआ क्षत्रियोंका तेज ही हो ॥ १७१ ॥ 'यह कोई अलौकिक पुरुष है' ['मनुष्य रूपधारी देव है'] इस बातको प्रकट करता हुआ भरतका बलिष्ठ शरीर ऐसा शोभायमान होता था मानो वह तेज-रूप परमाणुओंसे ही बना हुआ हो ॥ १७२ ॥ अत्यन्त ऊँचे मुकुटमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे शोभायमान उसका मस्तक चूलिका सहित मेरुपर्वतके शिखरके समान अतिशय शोभायमान होता था ॥१७३॥ क्रम-क्रमसे ऊँचा होता हुआ उसका गोल शिर ऐसा अच्छा शोभायमान होता था मानो विधाताने [वक्षःस्थलपर रहनेवाली] लक्ष्मीके लिए छत्र ही बनाया हो ॥१७४॥ कुछ-कुछ टेढ़े, स्निग्ध, काले और एक साथ उत्पन्न हुए केशोंसे शोभायमान उसका मस्तक ऐसा जान पड़ता था मानो उसपर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई टोपी ही रखी हो ॥१७५॥ भरत अपने मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको बहुत ही सरल रखता था इसलिए जान पड़ता था कि उनकी कुटिलता उसके भ्रमरके समान काले केशोंके अन्त भागमें ही जाकर रहने लगी ॥१७६॥ दाँतोंकी किरणोंरूपी केशरसे सहित और सुगन्धित श्वासोच्छ्वासके पवन-द्वारा भ्रमरोंका आह्वान करनेवाला उसका प्रफुल्लित मुखकमल बहुत ही शोभायमान होता था ॥१७७॥

---

१ पितृसदृशम् । २. गमनम् । ३. पितृस्वरूपताम् । ४ पित्रा सह । ५. –राभिरामकैः अ०, प०, स०, द० । ६. पत्युः । ७. ईषद्वक्र । ८ युगपज्जातम् । ह्रस्वोन्नतरहिता इत्यर्थः । ९. रचितम् ।

मुखमस्य सुखालोकमखण्डपरिमण्डलम्। शशाङ्कमण्डलस्याधाल्लक्ष्मीं मक्षूणकान्तिकम्[1] ॥१७८॥
कर्णाभरणदी[2]प्रांशुपरिवेषेण विद्युते। मुखेन्दुरस्य दन्तांश[3]चन्द्रिकाममितः किरन् ॥१७९॥
रवौ दीप्तिर्विधौ कान्तिर्विकासश्च महोत्पले। इति व्यस्ता[4] गुणाः प्रापुस्तद्वक्त्रे[5] सहयोगिताम् ॥१८०॥
शशी परिक्षयी पद्मं सकोचं यात्यनुक्षपम्[6]। [7]सदाविकासि पूर्णं च तन्मुखं क्वोपमीयते ॥१८१॥
जितं सदा विकासिन्या तन्मुखाब्जस्य शोभया। प्रस्थितं वनवासाय[8] मन्ये वनजमुज्ज्वलम्[9] ॥१८२॥
[10]पट्टबन्धोचितस्यास्य ललाटस्या[11]हतद्युते। तिग्मांशोरंशवो नूनं [12]विनिर्माणाङ्गतां गताः ॥१८३॥
विलोक्य विलसत्कान्ती तत्कपोलौ हिमद्युतिः। स्वपराजयनिर्वेदाद् गतः शङ्के कलङ्किताम् ॥१८४॥
भ्रूलते ललिते तस्य लीलां दधतुरूर्जिताम्। वैजयन्त्याविवोत्क्षिप्ते मदनेन जगज्जये ॥१८५॥
मुखप्राङ्गणपुष्पोपहारः शारित[13]दिङ्मुखः। नेत्रोत्पलविकासोऽस्य पप्रथे प्रथयन् मुदम् ॥१८६॥
तरलापाङ्गभासास्य सश्रुतावपि लङ्घितौ। कर्णौ लोलात्मनां प्रायो नानुल्लङ्घ्योऽस्ति कश्चन ॥१८७॥

अथवा उसका मुख पूर्ण चन्द्रमण्डलकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डलके देखनेसे सुख होता है उसी प्रकार उसका मुख देखनेसे भी सबको सुख होता था जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड गोलाईसे सहित होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड गोलाईसे सहित था और जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमण्डल अखण्ड कान्तिसे युक्त होता है उसी प्रकार उसका मुख भी अखण्ड कान्तिसे युक्त था ॥१७८॥ चारों ओर दाँतोंकी किरणोंरूपी चाँदनीको फैलाता हुआ उसका मुखरूपी चन्द्रमा कर्णभूषणकी देदीप्यमान किरणोंके गोल परिमण्डलसे बहुत ही शोभायमान होता था ॥१७९॥ सूर्यमें दीप्ति, चन्द्रमामें कान्ति और कमलमें विकास इस प्रकार ये सब गुण अलग-अलग रहते हैं परन्तु भरतके मुखपर वे सब गुण सहयोगिताको प्राप्त हुए थे अर्थात् साथ-साथ विद्यमान रहते थे ॥१८०॥ चन्द्रमा क्षयसे सहित है और कमल प्रत्येक रात्रिमें संकोचको प्राप्त होता रहता है परन्तु उसका मुख सदा विकसित रहता था और कभी संकोचको प्राप्त नहीं होता था—पूर्ण रहता था इसलिए उसकी उपमा किसके साथ दी जाये ? उसका मुख सर्वथा अनुपम था ॥१८१॥ ऐसा मालूम होता है कि उसका मुखकमल सदा विकसित रहनेवाली लक्ष्मीसे मानो हार ही गया था अतएव वह वन अथवा जलमें निवास करनेके लिए प्रस्थान कर रहा था ॥१८२॥ पट्टबन्धके उचित और अतिशय कान्तियुक्त उसके ललाटके बननेमें अवश्य ही सूरजकी किरणें सहायक सिद्ध हुई थीं ॥१८३॥ शोभायमान कान्तिसे युक्त उसके दोनों कपोल देखकर चन्द्रमा अवश्य ही पराजित हो गया था और इसलिए ही मानो विरक्त होकर वह सकलंक अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥१८४॥ उसकी दोनों भौंहरूपी सुन्दर लताएँ ऐसी अच्छी शोभा धारण कर रही थीं मानो जगत्को जीतनेके समय कामदेवके द्वारा फहरायी हुई दो पताकाएँ ही हों ॥१८५॥ उसके नेत्ररूपी नील कमलोंका विकास मुखरूपी आँगनमें पड़े हुए फूलोंके उपहारके समान शोभायमान हो रहा था तथा समस्त दिशाओंको चित्र-विचित्र कर रहा था और इसीलिए वह आनन्दको विस्तृत कर अतिशय प्रसिद्ध हो रहा था ॥१८६॥ उसके चञ्चल कटाक्षोंकी आभाने श्रवणक्रियासे युक्त (पक्षमें उत्तम-उत्तम शास्त्रोंके ज्ञानसे युक्त) उसके दोनों कानोंका उल्लंघन कर दिया था सो ठीक ही है चञ्चल अथवा सतृष्ण हृदयवाले

१ –मक्षुण्ण– म०, ल०। २ –दीप्तांशु– अ०, म०, द०, स०। ३. दन्तांशु– द०, म०। दन्त. किरण। ४. पृथग्भूताः। ५. सहवासिताम्। ६ रात्रिं प्रति। ७ नित्यविकासि। ८. जलवासाय। ९. –मुद्विजत् स०, –मुद्गीजम् प०, अ०, म०, ल०। १०. 'पट्टबन्धाञ्चितस्यास्य' म० पुस्तके पाठान्तरम्। ११ हतद्युते द०, म०, म०। १२. उपादानकारणताम्। १३ सारितदिङ्मुख. ल०। पूरितदिङ्मुख अ०, स०, द०। शारित कर्बुरित।

दृगर्धवीक्षितैस्तस्य शरैरिव मनोभुवः । कामिन्यो हृदये विद्धा दधुः सद्योऽति[1] रक्तताम् ॥१८८॥
रत्नकुण्डलयुग्मेन गण्डपर्यन्तचुम्बिना । [2]प्रतिमानं [3]श्रुतार्थस्य विधित्सन्निव सोऽद्युतत् ॥१८९॥
मदनाग्नेरिवोद्‌बोधे[4] नालिका ललिताकृतिः । नासिकास्य बभौ किंचिन्नम्रा[5] शुक्तुण्डरुक् ॥१९०॥
बभौ पयःकणाकीर्णविद्रुमाङ्कुरसच्छविः । सिक्तस्तस्यामृतेनेव स्मितांशुच्छु[6]रितो[7]ऽधरः ॥१९१॥
कण्ठे हारलतारम्ये काप्यस्य श्रीरभूद् विभोः । प्रत्यग्रोद्भिन्नपुष्पौघ[8] कम्बुग्रीवोपमोचिता ॥१९२॥
कण्ठाभरणरत्नांशु[9]संभूतं तदुरःस्थलम् । रत्नद्वीपश्रियं दध्रे[10] हारवल्लीपरिष्कृतम् ॥१९३॥
स बभार भुजस्तम्भपर्यन्तपरिलम्बिनीम् । लक्ष्मीदेव्या इवान्दोलवल्लरीं हारवल्लरीम् ॥१९४॥
जयश्रीर्भुजयोरस्य बबन्ध प्रेमनिघ्नताम् । केयूरकोटिसंघट्टकिणीभूतांसपीठयोः ॥१९५॥
बाहुदण्डेऽस्य भूलोकमानदण्ड इवायते । कुलशैलास्थया नूनं तेने लक्ष्मीः परां [11]धृतिम् ॥१९६॥
शङ्खचक्रगदाकूर्मझषादिशुभलक्षणैः । रेजे हस्ततलं तस्य नभस्स्थलमिवोडुभिः ॥१९७॥
अंसावलम्बिना ब्रह्मसूत्रेणासौ दधे श्रियम् । हिमाद्रिरिव गाङ्गेन स्रोतसोत्संगसंगिना ॥१९८॥

प्रायः किसका उल्लंघन नहीं करते ? अर्थात् सभीका उल्लंघन करते हैं ॥ १८७॥ कामदेवके बाणोंके समान उसके अर्धनेत्रों (कटाक्षों) के अवलोकनसे हृदयमें घायल हुई स्त्रियाँ शीघ्र ही अतिशय रक्त हो जाती थीं । भावार्थ—जिस प्रकार बाणसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त खूनसे लाल-लाल हो जाती हैं उसी प्रकार उसके आधे खुले हुए नेत्रोंके अवलोकनसे घायल हुई स्त्रियाँ अतिशय रक्त अर्थात् अत्यन्त आसक्त हो जाती थीं ॥१८८॥ वह गालोंके समीप भाग तक लटकनेवाले रत्नमयी कुण्डलोंके जोड़ेसे ऐसा शोभायमान होता था मानो शास्त्र और अर्थकी तुलनाका प्रमाण ही करना चाहता हो ॥१८९॥ कुछ नीचेकी ओर झुकी हुई और तोतेकी चोंचके समान लालवर्ण उसकी सुन्दर नाक ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो कामदेवरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिए फूँकनेकी नाली ही हो ॥१९०॥ जिस प्रकार जलके कणोंसे व्याप्त हुआ मूँगाका अंकुर शोभायमान होता है उसी प्रकार मन्द हास्यकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका अधरोष्ठ ऐसा शोभायमान होता था मानो अमृतसे ही सींचा गया हो ॥१९१॥ राजकुमार भरतके हाररूपी लतासे सुन्दर कण्ठमें कोई अनोखी ही शोभा थी । वह नवीन फूले हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित शंखके कण्ठको उपमा देने योग्य हो रही थी ॥१९२॥ कण्ठाभरणमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे भरा हुआ उसका वक्षःस्थल हाररूपी वेलसे घिरे हुए रत्नद्वीपकी शोभा धारण कर रहा था ॥१९३॥ वह अपनी भुजारूप खंभोंके पर्यन्त भागमें लटकती हुई जिस हाररूपी लताको धारण कर रहा था वह ऐसी मालूम होती थी मानो लक्ष्मीदेवीके झूलाकी लता (रस्सी) ही हो ॥१९४॥ उसकी दोनों भुजाओंके कन्धोंपर बाजूबन्दके संघट्टनसे भट्टे पड़ी हुई थीं और इसलिए ही विजयलक्ष्मीने प्रेमपूर्वक उसकी भुजाओंकी अधीनता स्वीकृत की थी ॥१९५॥ उसके बाहुदण्ड पृथिवीको नापनेके दण्डके समान बहुत ही लम्बे थे और उन्हें कुलाचल समझकर उनपर रहनेवाली लक्ष्मी परम धैर्यको विस्तृत करती थी ॥१९६॥ जिस प्रकार अनेक नक्षत्रोंसे आकाश शोभायमान होता है उसी प्रकार शंख, चक्र, गदा, कूर्म और मीन आदि शुभ लक्षणोंसे उसका हस्त-तल शोभायमान था ॥१९७॥ कन्धेपर लटकते हुए यज्ञोपवीतसे वह भरत ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऊपर बहती हुई गंगा

---

१. अनुरागिता रुधिरता च । २. तुलाप्रमितिम् । ३ श्रुतं च अर्थं च श्रुतार्थं तस्य । ४. प्रकटीकरणनालिका । ५. नता । ६. व्याप्तः । ७ –च्छुरिताधरः स० । –स्फुरितोऽधरः प०, द० । ८. –पुष्पौघ– प०, अ०, म०, स० । ९ सहितम् । १०. दध्रे । ११. स्थितिम ।

हसन्निवाधरं कायमूर्ध्वकायोऽस्य दिद्युते । कटकाङ्गदकेयूरहाराद्यैः स्वैर्विभूषणैः ॥१९९॥
वर्णिते पूर्वकायेऽस्य कायो न्यावर्णितोऽधरः । अधोपरि तथाधश्च ननु श्रीः कल्पपादपे ॥२००॥
पुनरुक्तं तथाप्यस्य क्रियते वर्णनादरः । पङ्क्तिभेदे महान् दोषः स्यादित्युद्देशमात्रतः ॥२०१॥
लावण्यरसनिष्यन्दवाहिनीं नाभिकूपिकाम् । स बभारापतत्कामगन्धेभस्येव पद्धतिम् ॥२०२॥
स शाररसनोल्लासिदुकूलं जघनं दधौ । सेन्द्रचापशरन्मेघनितम्बमिव मन्दरः ॥२०३॥
पीवरौ स बभारोरू युक्तायामौ कनद्द्युती । मनोभुवेव विन्यस्तौ स्तम्भौ स्वे वासवेश्मनि ॥२०४॥
जङ्घे सुरुचिराकारे चारुकान्ती दधेऽधिराट् । उद्धर्त्य कणयेनेव घटिते चित्तजन्मना ॥२०५॥
तत्पदाम्बुजयोर्युग्ममध्युवासानपायिनी । लक्ष्मीर्भृङ्गाङ्गनेवाविर्भवदङ्गुलिपत्रकम् ॥२०६॥
तत्क्रमौ रेजतुः कान्त्या लक्ष्मीं जित्वाम्बुजन्मनः । प्रहासमिव तन्वानौ नखोद्योतैर्विसारिभिः ॥२०७॥
चक्रच्छत्रासिदण्डादिरत्नान्यस्य पदाब्जयोः । लग्नानि लक्षणव्याजात् पूर्वसेवामिव व्यधुः ॥२०८॥
समाक्रान्तधराचक्रं क्रमयोरेव विक्रमः । सर्वाङ्गीणस्तु केनास्य सोढपूर्वः स मानिनः ॥२०९॥

नदीके प्रवाहसे हिमालय सुशोभित रहता है ॥१९८॥ उसके शरीरका ऊपरी भाग कड़े, अनन्त, बाजूबन्द और हार आदि अपने-अपने आभूषणोंसे ऐसा देदीप्यमान हो रहा था मानो अपने अधोभागकी ओर हँस ही रहा हो ॥१९९॥ राजकुमार भरतके शरीरके ऊपरी भागका जैसा कुछ वर्णन किया गया है वैसा ही उसके नीचेके भागका वर्णन समझ लेना चाहिए क्योंकि कल्पवृक्षकी शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसके नीचे भी होती है ॥२००॥ यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार उसके अधोभागका वर्णन हो चुका है तथापि उद्देशके अनुसार पुनरुक्त रूपसे उसका वर्णन फिर भी किया जाता है क्योंकि वर्णन करते-करते समूहमें-से किसी एक भागका छोड़ देना भी बड़ा भारी दोष है ॥२०१॥ लावण्यरूपी रसके प्रवाहको धारण करनेवाली उसकी नाभिरूपी कूपिका ऐसी सुशोभित होती थी मानो आनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीका मार्ग ही हो ॥२०२॥ वह भरतश्रेष्ठ करधनीसे सुशोभित सफेद धोतीसे युक्त जघन भागको धारण कर रहा था जिससे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रधनुषसे सहित शरद्-ऋतुके बादलोंसे युक्त नितम्बभाग (मध्यभाग) को धारण करनेवाला मेरु पर्वत ही हो ॥२०३॥ उसके दोनों ऊरू अत्यन्त स्थूल और सुदृढ थे, उनकी लम्बाई भी यथायोग्य थी, और उनका वर्ण भी सुवर्णके समान पीला था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवने अपने मन्दिरमें दो खम्भे ही लगाये हों ॥२०४॥ उस भरतकी दोनों जंघाएँ भी अतिशय मनोहर आकारवाली और सुन्दर कान्तिकी धारक थीं तथा ऐसी मालूम होती थीं मानो कामदेवने उन्हें हथियारसे छीलकर गोल ही कर ली हो ॥२०५॥ उसके दोनों चरण प्रकट होते हुए अंगुलिरूपी पत्तोंसे सहित कमलके समान सुशोभित होते थे और उनमें कभी नष्ट नहीं होनेवाली लक्ष्मी भ्रमरीके समान सदा निवास करती थी ॥२०६॥ उसके दोनों ही पैर ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो अपनी कान्तिसे कमलकी शोभा जीतकर अपने फैलते हुए नखोंके प्रकाशसे उसकी हँसी ही कर रहे हों ॥२०७॥ उसके चरण-कमलोंमें चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नोंके चिह्न बने हुए थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो ये चौदह रत्न, लक्षणोंके छलसे भावी चक्रवर्तीकी पहलेसे ही सेवा कर रहे हों ॥२०८॥ केवल उसके चरणोंका पराक्रम समस्त पृथिवी-मण्डलपर आक्रमण करनेवाला था, फिर भला उस अभिमानी भरतके सम्पूर्ण शरीरका पराक्रम

---

१ प्रवाहः । २ रसकूपिकाम् म०, ल० । ३. मार्गम् । ४ शार नानावर्ण । साररसनो प०, अ०, ल० । ५ उत्तेजित कृत्वा । ६. आयुधविशेषेण । कनयेनेव अ० । ७. शोभाम् । ८. –कमलस्य । ९ गमनं पराक्रमश्च । १०. सर्वावयवसमुत्पन्न विक्रमः । ११ सोढ क्षमा । १२ मानितः द०, प०, म० ।

चरमाङ्गतयैवास्य वर्णितं बलमाङ्गिकम् । [1]सात्त्विकं तु बलं बाह्यैर्लिङ्गैर्दिग्विजयादिभिः ॥२१०॥
यद्बलं चक्रभृत्क्षेत्रवर्त्तिनां नृसुधाशिनाम् । ततोऽधिकगुणं तस्य बभूव भुजयोर्बलम् ॥२११॥
रूपानुरूपमेवास्य [2]बभूवे गुणसंपदा । गुणैर्विमुच्यते जातु नहि तादृग्विधं वपुः ॥२१२॥
यत्रा[3]कृतिर्गुणास्तत्र वसन्तीति न संशयः । यतोऽस्यानीदृगाकारो गुणैरेत्य स्वयं वृत ॥२१३॥
सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया[4] दमः । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः [5]सत्त्वानुषङ्गिणः ॥२१४॥
[6]वपुः कान्तिश्च दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता । कलाकुशलता चेति शरीरान्वयिनो गुणाः ॥२१५॥
निसर्गरुचिराकारो गुणैरेभिर्विभूषितः । स रेजे नितरां यद्वन्मणिः संस्कारयोगतः ॥२१६॥
[7]अप्राकृताकृतिर्दिव्यमनुष्यो महसां निधिः । लक्ष्म्याः पुञ्जोऽयमित्युच्चैर्बभूवाद्भुतचेष्टितः ॥२१७॥
रूपसंपदमित्युच्चैर्दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीम् । जनाः पुरातनीमस्य शशंसुः पुण्यसंपदम् ॥२१८॥
वपुरारोग्यमैश्वर्यं धनर्द्धिः कामनीयकम् । बलमायुर्यशो मेधा वाक्सौभाग्यं विदग्धता ॥२१९॥
इति यावान् जगत्यस्मिन् पुरुषार्थः[8] सुखोचितः । स सर्वोऽभ्युदयः पुण्यपरिपाकादिहाङ्गिनाम् ॥२२०॥
न विनाभ्युदयः पुण्यादस्ति कश्चन पुष्कलः । तस्मादभ्युदयं प्रेप्सुः पुण्यं संचिनुयाद् बुधः ॥२२१॥

कौन सहन कर सकता था ॥२०९॥ उसके शरीरसम्बन्धी बलका वर्णन केवल इतने ही से हो जाता है कि वह चरम शरीरी था अर्थात् उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाला था और उसके आत्मा सम्बन्धी बलका वर्णन दिग्विजय आदि बाह्य चिह्नोंसे हो जाता है ॥२१०॥ चक्रवर्तीके क्षेत्रमें रहनेवाले समस्त मनुष्य और देवोंमें जितना बल होता है उससे कईगुना अधिक बल चक्रवर्तीकी भुजाओंमें था ॥२११॥ उस भरतके रूपके अनुरूप ही उसमें गुणरूपी सम्पदा विद्यमान थी सो ठीक ही है क्योंकि गुणोंसे वैसा सुन्दर शरीर कभी नहीं छोड़ा जा सकता ॥२१२॥ 'जहाँ सुन्दर आकार है वहीं गुण निवास करते हैं' इस लोकोक्तिमें कुछ भी संशय नहीं है क्योंकि गुणोंने भरतके उपमारहित—सुन्दर शरीरको स्वयं आकर स्वीकृत किया था ॥२१३॥ सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, प्रज्ञा, उत्साह, दया, दम, प्रशम और विनय—ये गुण सदा उसकी आत्माके साथ-साथ रहते थे ॥२१४॥ शरीरकी कान्ति, दीप्ति, लावण्य, प्रिय वचन बोलना और कलाओंमें कुशलता ये उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण थे ॥२१५॥ जिस प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर मणि संस्कारके योगसे अत्यन्त सुशोभित हो जाता है उसी प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर आकारवाला भरत ऊपर लिखे हुए गुणोंसे और भी अधिक सुशोभित हो गया था ॥२१६॥ वह भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी असाधारण थी, वह तेजका खजाना था और उसकी सब चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली थीं इसलिए वह लक्ष्मीके अतिशय ऊँचे पुंजके समान शोभायमान होता था ॥२१७॥ दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उसकी उत्कृष्ट रूपसम्पदा देखकर लोग उसके पूर्वभव-सम्बन्धी पुण्यसंपदाकी प्रशंसा करते थे ॥२१८॥ सुन्दर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, सुन्दरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, सर्वप्रिय वचन और चतुरता आदि इस संसारमें जितना कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय कहलाता है और वह सब संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे प्राप्त होता है ॥२१९-२२०॥ पुण्यके बिना किसी भी बड़े अभ्युदयकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिए जो विद्वान् पुरुष अभ्युदय

---

१. आत्मनि भवं मनोजनितमित्यर्थः । २. गुणसंपद् बभूव । ३. स्वरूपत्वम् । ४. दयादमौ प० । ५. सत्त्वाविनाभाविनः । ६. वपुः पुष्टिः । ७. असाधारणाकृतिः । ८. पुरुषार्थसुखोचितः अ०, ब०, स० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्यानन्दपरम्परां प्रतिदिनं संवर्द्धयन् स्वैर्गुणैः पित्रोर्बन्धुजनस्य च प्रशमयँल्लोकस्य दुःखासिकाम् ।
नाभेयोदयभूधरादधरित[1]क्षोणीभरा [धरा] दुद्गतः[2] प्रालेयांशुरिवाबभौ भरतराड् भूलोकमुद्भासयन् ॥
श्रीमान् हेमशिलाघनैरपघनैः[3] प्रांशुः[4] प्रकृत्या गुरुः [5]पादाक्रान्तधरातलो गुरुभरं वोढुं क्षमायाः क्षमः ॥
हारं निर्झरचारुकान्तिमुरसा बिभ्रत्तटस्पर्द्धिना चक्राकोंदयभूधरः स रुरुचे मौलीद्धकूटोद्धुरः[6] ॥२२३॥
संपश्यन्नयनोत्सवं सुरुचिरं तद्वक्त्रमप्राकृतं सम्शृण्वन् कलनिक्वणं श्रुतिसुखं सप्रश्रयं तद्वचः ।
आश्लिष्यन् प्रणतोत्थितं मुहुरमुं स्वोत्संगमारोपयन् श्रीमान्नाभिसुतः परां धृतिमगाद् वत्स्यज्जिनश्रीर्विभुः[7] ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्कुमारकालयशस्वतीसुनन्दा-विवाहभरतोत्पत्तिवर्णनं नाम पञ्चदशं पर्व ॥१५॥

प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें पहले पुण्यका संचय करना चाहिए ॥२२१॥ इस प्रकार वह भरत चन्द्रमाके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने शीतलता, सुभगता आदि गुणोंसे सबके आनन्दकी परम्पराको बढाता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने दया, उदारता, नम्रता आदि गुणोंसे माता-पिता तथा भाईजनोंके आनन्दकी परम्पराको प्रतिदिन बढाता रहता था, चन्द्रमा जिस प्रकार लोगोंको दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता है उसी प्रकार वह भरत भी लोगोंकी दुःखमय परिस्थितिको शान्त करता था, चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त पर्वतोंको नीचा करनेवाले पूर्वाचलसे उदित होता है उसी प्रकार वह भरत भी समस्त राजाओंको नीचा दिखानेवाले भगवान् ऋषभदेवरूपी पूर्वाचलसे उदित हुआ था और चन्द्रमा जिस प्रकार समस्त भूलोकको प्रकाशित करता है उसी प्रकार भरत भी समस्त भूलोकको प्रकाशित करता था ॥२२२॥ अथवा वह भरत, चक्ररूपी सूर्यको उदय करनेवाले उदयाचलके समान सुशोभित होता था क्योंकि जिस प्रकार उदयाचल पर्वत सुवर्णमय शिलाओंसे सान्द्र अवयवोंसे शोभायमान होता है उसी प्रकार वह भरत भी सुवर्णके समान सुन्दर मजबूत शरीरसे शोभायमान था, जिस प्रकार उदयाचल ऊँचा होता है उसी प्रकार वह भरत भी ऊँचा (उदार) था, उदयाचल जिस प्रकार स्वभावसे ही गुरु-भारी होता है उसी प्रकार वह भरत भी स्वभावसे ही गुरु (श्रेष्ठ) था, उदयाचल पर्वतने जिस प्रकार अपने समीपवर्ती छोटे-छोटे पर्वतोंसे पृथ्वीतलपर आक्रमण कर लिया है उसी प्रकार भरतने भी अपने पाद अर्थात् चरणोंसे दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीतलपर आक्रमण किया था, उदयाचल जिस प्रकार पृथिवीके विशाल भारको धारण करनेके लिए समर्थ है उसी प्रकार भरत भी पृथिवीका विशाल भार धारण करनेके लिए (व्यवस्था करनेके लिए) समर्थ था, उदयाचल जिस प्रकार अपने तटभागपर निर्झरनोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता है उसी प्रकार भरत भी तटके साथ स्पर्धा करनेवाले अपने वक्षःस्थलपर हारोंकी सुन्दर कान्ति धारण करता था, और उदयाचल पर्वत जिस प्रकार देदीप्यमान शिखरोंसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार वह भरत भी अपने प्रकाशमान मुकुटसे सुशोभित रहता था ॥२२३॥ जिन्हें अरहन्त पदकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे भगवान् वृषभदेव, नेत्रोंको आनन्द देनेवाले, अत्यन्त सुन्दर और असाधारण भरतके मुखको देखते हुए, कानोंको सुख देनेवाले तथा विनयसहित कहे हुए उसके मधुर वचनोंको सुनते हुए, प्रणाम करनेके बाद उठे हुए भरतका बार-बार आलिंगन कर उसे अपनी गोदमें बैठाते हुए परम सन्तोषको प्राप्त होते थे ॥ २२४ ॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्का कुमारकाल, यशस्वती और सुनन्दाका विवाह तथा भरतकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१५॥

---

१ अध कृतभूपते. अधःकृतभूधराच्च । २ –क्षोणिधरादुद्गत प०, म०, ल० । ३. अवयवैः । ४. उन्नतः । ५. चरणाक्रान्तं प्रत्यन्तपर्वताक्रान्तं च । ६. अधिक । ७. प्रभुः स० ।

षोडशं पर्व

अथ क्रमाद् यशस्वत्या[1] जाताः स्रष्टुरिमे सुताः । अवतीर्य दिवो मूर्ध्नस्तेऽहमिन्द्राः पुरोहिता ॥१॥
पीठो वृषभसेनोऽभूत्[2] कनीयान् भरतेश्वरात् । महापीठोऽभवत्तस्य सोऽनन्तविजयोऽनुजः ॥२॥
विजयोऽनन्तवीर्योऽभूद् जयन्तोऽच्युतोऽभवत् । वैजयन्तो वीर इत्यासीद् वरवीरोपराजितः ॥३॥
इत्येकान्नशतं[3] पुत्रा बभूवुर्वृषभेशिन । भरतस्यानुजन्मानश्चरमाङ्गा महौजसः ॥४॥
ततो ब्राह्मीं यशस्वत्यां ब्रह्मा समुदपादयत् । कलामिवापराशायां[4] ज्यौत्स्नपक्षो[5]ऽमलां विधो ॥५॥
सुनन्दायां महाबाहुरहमिन्द्रो[6] दिवोऽग्रतः । च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत् कुमारोऽमरसन्निभ ॥६॥
वज्रजङ्घभवे यास्य[7] भगिन्यासीदनुन्दरी[8] । सा सुन्दरीत्यभूत् पुत्री वृषभस्यातिसुन्दरी ॥७॥
सुनन्दा सुन्दरीं पुत्रीं पुत्रं बाहुबलीशिनम् । लब्ध्वा रुचिं परां भेजे[9] प्राचीवार्कं सह त्विषा ॥८॥
तत्काल[10] कामदेवोऽभूद् युवा बाहुबली बली । रूपसम्पदमुत्तुङ्गां दधानोऽसुमतां मताम् ॥९॥
तस्य तद्रूपमन्यत्र समदृश्यत न क्वचित् । कल्पद्रुमात् किमन्यत्र दृश्यते हारिभूषणम् ॥१०॥

अथानन्तर पहले जिनका वर्णन किया जा चुका है ऐसे वे सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र स्वर्गसे अवतीर्ण होकर क्रमसे भगवान् वृषभदेवकी यशस्वती देवीमें नीचे लिखे हुए पुत्र उत्पन्न हुए ॥१॥ भगवान् वृषभदेवकी वज्रनाभि पर्यायमें जो पीठ नामका भाई था वह अब वृषभसेन नामका भरतका छोटा भाई हुआ। जो राजश्रेष्ठीका जीव महापीठ था वह अनन्तविजय नामका वृषभसेनका छोटा भाई हुआ ॥२॥ जो विजय नामका व्याघ्रका जीव था वह अनन्त-विजयसे छोटा अनन्तवीर्य नामका पुत्र हुआ, जो वैजयन्त नामका शूकरका जीव था वह अनन्तवीर्यका छोटा भाई अच्युत हुआ, जो वानरका जीव जयन्त था वह अच्युतसे छोटा वीर नामका भाई हुआ और जो नेवलाका जीव अपराजित था, वह वीरसे छोटा वरवीर हुआ ॥३॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके यशस्वती महादेवीसे भरतके पीछे जन्म लेनेवाले निन्यानवे पुत्र हुए, वे सभी पुत्र चरमशरीरी तथा बड़े प्रतापी थे॥४॥ तदनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष पश्चिम दिशामें चन्द्रमाकी निर्मल कलाको उत्पन्न (प्रकट) करता है उसी प्रकार ब्रह्मा-भगवान् आदिनाथने यशस्वती नामक महादेवीमें ब्राह्मी नामकी पुत्री उत्पन्न की ॥५॥ आनन्द पुरोहितका जीव जो पहले महाबाहु था और फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ था, वह वहाँसे च्युत होकर भगवान् वृषभदेवकी द्वितीय पत्नी सुनन्दाके देवके समान बाहुबली नामका पुत्र हुआ ॥६॥ वज्रजंघ पर्यायमें भगवान् वृषभदेवकी जो अनुन्धरी नामकी बहन थी वह अब इन्हीं वृषभदेवकी सुनन्दा नामक देवीसे अत्यन्त सुन्दरी सुन्दरी नामकी पुत्री हुई ॥७॥ सुन्दरी पुत्री और बाहुबली पुत्रको पाकर सुनन्दा महारानी ऐसी सुशोभित हुई थी जिस प्रकार कि पूर्व दिशा प्रभाके साथ-साथ सूर्यको पाकर सुशोभित होती है ॥८॥ समस्त जीवोंको मान्य तथा सर्वश्रेष्ठ रूपसम्पदाको धारण करनेवाला बलवान् युवा बाहुबली उस कालके चौबीस कामदेवोंमें-से पहला कामदेव हुआ था ॥९॥ उस बाहुबलीका जैसा रूप था वैसा अन्य कहीं नहीं दिखाई देता था, सो ठीक ही है उत्तम आभूषण

---

१ क्रमाद्यशस्तया द० । २. भरतस्यानुजः । ३. इत्येकोनशतं -अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । ४ शुक्ल । ५. -पक्षेऽमला म०, ल० । ६. सर्वार्थसिद्धितः । ७ वृषभस्य । ८ -दनुन्धरी प०, अ०, द०, स०, ल० । ९ लेभे ब०, अ०, द०, स० । १०. तत्काले काम- प०, द०, म०, ल० ।

कुञ्चितास्तस्य केशान्ता[2] विबभुर्भ्रमरत्विषः। मनोभुवः शिरस्त्राण[3]सूक्ष्मायो[4]वलयैः समाः ॥११॥
ललाटमष्टमीचन्द्रचारु तस्य दधे रुचिम्। धात्रेव राज्यपट्टस्य निवेशाय पृथूकृतम् ॥१२॥
कुण्डलद्वयसंशोभि तस्य वक्त्रमदीप्यत। सरोरुहमिवोपान्तवर्तिचक्राह्वयुग्मकम् ॥१३॥
नेत्रोत्पलद्वयेनास्य बभौ वक्त्रसरोरुहम्। स्मितांशु[5]सलिलोत्पीड लक्ष्म्यावासपवित्रितम् ॥१४॥
विजयच्छन्दहारेण वक्षस्स्थलविलम्बिना। सोऽधान्मरकताग्रस्य[6] श्रियं निर्झरशोभिनः ॥१५॥
तस्यांसौ वक्षसः प्रान्ते श्रियमातेनतुः पराम्। द्वीपस्थलस्य पर्यन्ते स्थितौ क्षुद्रनगाविव ॥१६॥
बाहू तस्य महाबाहोरधातां बलमूर्जितम्। यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य[7] महसां निधेः ॥१७॥
मध्येगात्रमसौ दध्रे [8]गम्भीरं नाभिमण्डलम्। कुलाद्रिरिव पद्माया[9] सेवनीयं महत्सरः ॥१८॥
कटीतटं बभावस्य कटिसूत्रेण वेष्टितम्। महाहिनेव विस्तीर्णं तटं मेरोर्महोन्नतेः ॥१९॥
कदलीस्तम्भनिर्भासा[10]वूरू तस्य विरेजतुः। लक्ष्मीकरतलाजस्र[11]स्पर्शादिव समुज्ज्वलौ ॥२०॥
शुशुभाते शुभे जङ्घे तस्य विक्रमशालिनः। भविष्यत्प्रतिमायोगतपःसिद्ध्यङ्गतां[12] गते ॥२१॥
क्रमौ मृदुतलौ तस्य लसदङ्गुलिसद्दलौ। रुचिं दधतुरारक्तौ रक्ताम्भोजस्य सश्रियः ॥२२॥

कल्पवृक्षको छोड़कर क्या कहीं अन्यत्र भी पाये जाते हैं ? ॥१०॥ उसके भ्रमरके समान काले तथा कुटिल केशोंके अग्रभाग कामदेवके शिरके कवचके सूक्ष्म लोहेके गोल तारोंके समान शोभायमान होते थे ॥११॥ अष्टमीके चन्द्रमाके समान सुन्दर उसका विस्तृत ललाट ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो ब्रह्माने राज्यपट्टको बाँधनेके लिए ही उसे विस्तृत बनाया हो ॥१२॥ दोनों कुण्डलोंसे शोभायमान उसका मुख ऐसा देदीप्यमान जान पड़ता था मानो जिसके दोनों ओर समीप ही चकवा-चकवी बैठे हों-ऐसा कमल ही हो ॥१३॥ मन्द हास्यकी किरणरूपी जलके पूरसे भरा हुआ तथा लक्ष्मीके निवास करनेसे अत्यन्त पवित्र उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलोंसे भारी सुशोभित होता था ॥१४॥ वह बाहुबली अपने वक्षःस्थलपर लटकते हुए विजयछन्द नामके हारसे निर्झरनों-द्वारा शोभायमान मरकतमणिमय पर्वतकी शोभा धारण करता था ॥१५॥ उसके वक्षःस्थलके प्रान्तभागमें विद्यमान दोनों कन्धे ऐसी शोभा बढा रहे थे मानो किसी द्वीपके पर्यन्त भागमें विद्यमान दो छोटे-छोटे पर्वत ही हों ॥१६॥ लम्बी भुजाओंको धारण करनेवाले और तेजके भाण्डारस्वरूप उस राजकुमारकी दोनों ही भुजाएँ उत्कृष्ट बलको धारण करती थीं और इसीलिए उसका बाहुबली नाम सार्थक हुआ था ॥१७॥ जिस प्रकार कुलाचल पर्वत अपने मध्यभागमें लक्ष्मीके निवास करने योग्य बड़ा भारी सरोवर धारण करता है उसी प्रकार वह बाहुबली अपने शरीरके मध्यभागमें गम्भीर नाभिमण्डल धारण करता था ॥१८॥ करधनीसे घिरा हुआ उसका कटिप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानो किसी बड़े सर्पसे घिरा हुआ अत्यन्त ऊँचे सुमेरु पर्वतका विस्तृत तट ही हो ॥१९॥ केलेके खम्भेके समान शोभायमान उसके दोनों ऊरु ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो लक्ष्मीकी हथेलीके निरन्तर स्पर्शसे ही अत्यन्त उज्ज्वल हो गये हों ॥२०॥ पराक्रमसे सुशोभित रहनेवाले उस बाहुबलीकी दोनों ही जंघाएँ शुभ थीं—शुभ लक्षणोंसे सहित थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो वह बाहुबली भविष्यत् कालमें जो प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसके सिद्ध करनेके लिए कारण ही हों ॥२१॥ उसके दोनों ही चरण लालकमलकी शोभा धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार कमल कोमल होता है उसी प्रकार उसके चरणोंके तलवे भी कोमल थे, कमलोंमें जिस प्रकार दल (पँखुरियाँ) सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उसके चरणोंमें अँगुलियाँरूपी दल

१ कुटिलीकृताः। २ केशाग्रा-म०, ल०। ३ शिर कवच। ४ लोहवलय। ५. जलकण-प्रचयम्। ६ पर्वतस्य। ७ तेजसाम्। ८ गभीरं म०, ल०। ९. लक्ष्म्या। १०. समानौ। ११. अनवरत। १२ कारणताम्।

इत्यसौ परमोदारं दधानश्चरमं वपुः । संमाति स्म कथं नाम मानिनीहृत्कुटीरके ॥२३॥
स्वप्नेऽपि तस्य तद्रूपमनन्यमनसोऽङ्गनाः । पश्यन्ति स्म मनोहारि निखातमिव[1] चेतसि ॥२४॥
मनोभवो मनोजश्च मनोभूर्मन्मथो[2]ऽङ्गजः । मदनोऽनन्यजश्चेति[3][4] व्याजह्रुस्तं तदाङ्गनाः ॥२५॥
सुमनोमञ्जरीबाणैरिक्षुधन्वा किलाङ्गजः । [5]जगत्संमोहकारीति क श्रद्दध्या[6]द्युक्तिकम् ॥२६॥
समा भरतराजेन राजन्याः[7] सर्व एव ते । विद्यया[8] कलया[9] दीप्त्या[10] कान्त्या सौन्दर्यलीलया[11] ॥२७॥
शतमेकोत्तरं पुत्रा भर्तुस्ते भरतादयः । क्रमात् प्रापुर्युवावस्थां मदावस्थामिव द्विपाः ॥२८॥
तद्यौवनमभूत्तेषु रमणीयतरं तदा । उद्यानपादपौघेषु वसन्तस्येव जृम्भितम्[12] ॥२९॥
स्मितांशुमञ्जरीः शुभ्राः [13]सताम्रान् पाणिपल्लवान् । भुजशाखाः फलोदग्रास्ते[14] दधुर्युवपार्थिवाः[15] ॥३०॥
ततामोदेन धूपेन वासितास्तच्छिरोरुहाः । गन्धान्धैरलिभिर्लीनैः कृताः[16] सोपचया इव ॥३१॥

सुशोभित थे, कमल जिस प्रकार लाल होते हैं उसी प्रकार उसके चरण भी लाल थे और कमलों-पर जिस प्रकार लक्ष्मी निवास करती है उसी प्रकार उसके चरणोंमें भी लक्ष्मी (शोभा) निवास करती थी ॥२२॥ इस प्रकार परम उदार और चरमशरीरको धारण करनेवाला वह बाहुबली मानिनी स्त्रियोंके हृदयरूपी छोटी-सी कुटीमें कैसे प्रवेश कर गया था ? भावार्थ–स्त्रियोंका हृदय बहुत ही छोटा होता है और बाहुबलीका शरीर बहुत ही ऊँचा (सवा पाँच-सौ धनुष) था इसके सिवाय वह चरमशरीरी वृद्ध, (पक्षमें उसी भवसे मोक्ष जानेवाला) था, मानिनी स्त्रियाँ चरम-शरीरी अर्थात् वृद्ध पुरुषको पसन्द नहीं करती हैं, इन सब कारणोंके रहते हुए भी उसका वह शरीर स्त्रियोंका मान दूर कर उनके हृदयमें प्रवेश कर गया यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥२३॥ जिनका मन दूसरी जगह नहीं जाकर केवल बाहुबलीमें ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियाँ स्वप्नमें भी उस बाहुबलीके मनोहर रूपको इस प्रकार देखती थीं मानो वह रूप उनके चित्तमें उकेर ही दिया गया हो ॥२४॥ उस समय स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि नामोंसे पुकारती थीं ॥२५॥ ईख ही जिसका धनुष है ऐसा कामदेव अपने पुष्पोंकी मंजरीरूपी बाणोंसे समस्त जगत्का संहार कर देता है, इस युक्तिरहित बातपर भला कौन विश्वास करेगा ? भावार्थ–कामदेवके विषयमें ऊपर लिखे अनुसार जो किंवदन्ती प्रसिद्ध है वह सर्वथा युक्तिरहित है, हाँ, बाहुबली-जैसे कामदेव ही अपने अलौकिक बल और पौरुषके द्वारा जगत्का संहार कर सकते थे ॥२६॥ इस प्रकार वे सभी राजकुमार विद्या, कला, दीप्ति, कान्ति और सुन्दरताकी लीलासे राजकुमार भरतके समान थे ॥२७॥ जिस प्रकार हाथी क्रम-क्रमसे मदावस्थाको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवके वे भरत आदि एक-सौ एक पुत्र क्रम-क्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥२८॥ जिस प्रकार बगीचेके वृक्षसमूहोंपर वसन्तऋतुका विस्तार अतिशय मनोहर जान पड़ता है उसी प्रकार उस समय उन राजकुमारों-में वह यौवन अतिशय मनोहर जान पड़ता था ॥२९॥ युवावस्थाको प्राप्त हुए वे सभी पार्थिव अर्थात् राजकुमार पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके समान थे क्योंकि वे सभी वृक्षोंके समान ही मन्दहास्यरूपी सफेद मंजरी, लाल वर्णके हाथरूपी पल्लव और फल देनेवाली ऊँची-ऊँची भुजारूपी शाखाओंको धारण करते थे ॥३०॥ जिसकी सुगन्धि सब ओर फैल रही है ऐसी धूपसे उन राजकुमारोंके शिरके बाल सुगन्धित किये जाते थे, उस सुगन्धिसे अन्ध

१. टङ्कोत्कीर्णमिव । २. मत् मानसं तन्मथ्नातीति मन्मथः । ३ –नन्यजश्चेव प० । ४. ब्रुवन्ति स्म । ५. जगत्संहार–म०, ल० । ६. विश्वास कुर्यात् । ७. सर्वे राजकुमारा. । ८. आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ता दण्डनीतिरूपया । ९ अक्षरगणितादिकया । १०. तेजसा । ११. शोभया । १२. जृम्भणम् । १३. सारुणान् । १४ उन्नता । १५. पार्थिवभूमिपाः । पक्षे युवपादपाः । १६. केशान्तरैः प यूकृता. ।

तन्मुखामोदमाघ्रातुमायान्ती भ्रमरावली । [1]सर्वाङ्गीणं तदामोदमन्वभूत् क्षणमाकुला ॥३२॥

रत्नकुण्डलयुग्मेन मकराङ्केण भूषितम् । कर्णद्वयं बभौ तेषां मदनेनेव चिह्नितम् ॥३३॥

नेत्रोत्पलद्वयं तेषामिषूकृत्य मनोभवः । भ्रूलताचापयष्टिभ्यां स्त्रीसृष्टिं वशमानयत् ॥३४॥

वपुर्दीप्तं मुखं कान्तं मधुरो नेत्रविभ्रमः । कर्णाभ्यर्णे[2]विश्रान्तनेत्रोत्पलवतंसिनौ ॥३५॥

भ्रुवौ सविभ्रमे शस्तं ललाटं नासिकाञ्चिता । कपोलावुपमातीतौ [3]वपोढितशशिश्रियौ ॥३६॥

[4]रक्तो रागरसेनेव पाटलो दशनच्छदः । स्वरो मृदङ्गनिर्घोषगम्भीरः श्रुतिपेशलः ॥३७॥

[5]सूत्रमार्गमनुप्रोतैः[6] जगच्चेतोऽभिनन्दिभिः । [7]कण्ठ्यैरिवाक्षरैः शुद्धैः[8] कण्ठो मुक्ताफलैर्वृतः ॥३८॥

वक्षो लक्ष्म्या परिष्वक्तमंसौ[9] च विजयश्रिया । [10]व्यायामकर्कशौ बाहू पीनावाजानुलम्बिनौ ॥३९॥

नाभिः शोभानिधानोर्वी चार्वी [11]निर्वापणी दृशाम् । तनुमध्यं जगन्मध्य[12]निर्विशेषमशोभत ॥४०॥

होकर भ्रमर आकर उन बालोंमें विलीन होते थे जिससे वे बाल ऐसे मालूम होते थे जिससे मानो वृद्धिसे सहित ही हो रहे हो ॥३१॥ उन राजकुमारोंके मुखकी सुगन्ध सूँघनेके लिए जो भ्रमरोंकी पंक्ति आती थी वह क्षण-भरके लिए व्याकुल होकर उनके समस्त शरीरसे व्याप्त हुई सुगन्धिका अनुभव करने लगती थी। भावार्थ—उनके समस्त शरीरसे सुगन्धि आ रही थी इसलिए 'मैं पहले किस जगहकी सुगन्धि ग्रहण करूँ' इस विचारसे भ्रमर क्षण भरके लिए व्याकुल हो जाते थे ॥३२॥ उन राजकुमारोंके दोनों कान मकरके चिह्नसे चिह्नित रत्नमयी कुण्डलोंसे अलंकृत थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवने उनपर अपना चिह्न ही लगा दिया हो ॥३३॥ कामदेवने उनके नेत्ररूपी कमलोंको बाण बनाकर और उनकी भौंहरूपी लताओंको धनुषकी लकड़ी बनाकर समस्त स्त्रियोंको अपने वशमें कर लिया था ॥३४॥ उनका शरीर देदीप्यमान था, मुख सुन्दर था, नेत्रोंका विलास मधुर था और कान समीपमें विश्राम करनेवाले नेत्ररूपी कमलोंसे सुशोभित थे ॥३५॥ उनकी भौंहें विलाससे सहित थीं, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका सुशोभित थी और उपमारहित कपोल चन्द्रमाकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाले थे ॥३६॥ उनके ओठ कुछ-कुछ लाल वर्णके थे मानो अनुरागके रससे ही लाल वर्णके हो गये हों और स्वर मृदंगके शब्दके समान गम्भीर तथा कानोंको प्रिय था ॥३७॥ उनके कण्ठ जिन मोतियोंसे घिरे हुए थे वे ठीक कण्ठसे उच्चारण होने योग्य अक्षरोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार अक्षर सूत्रमार्ग अर्थात् मूल ग्रन्थके अनुसार गुम्फित होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी सूत्रमार्ग अर्थात् धागामें पिरोये हुए थे, अक्षर जिस प्रकार जगत्के जीवोंके चित्तको आनन्द देनेवाले होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी उनके चित्तको आनन्द देनेवाले थे, अक्षर जिस प्रकार कण्ठस्थानसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोती भी कण्ठस्थानमें पड़े हुए थे, और अक्षर जिस प्रकार शुद्ध अर्थात् निर्दोष होते हैं उसी प्रकार वे मोती भी शुद्ध अर्थात् निर्दोष थे ॥३८॥ उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलिङ्गित था, कन्धे विजयलक्ष्मीसे आलिङ्गित थे और घुटनों तक लम्बी भुजाएँ व्यायामसे कठोर थीं ॥३९॥ उनकी नाभि शोभाके खजानेकी भूमि थी, सुन्दर थी और नेत्रोंको सन्तोष देनेवाली थी। इसी प्रकार उनका मध्यभाग अर्थात् कटिप्रदेश भी ठीक जगत्के मध्यभागके समान था ॥४०॥ जिनपर वस्त्र शोभायमान हो रहा

---

१ सर्वावयवेषु भवम्। २ समीप। ३ दूषिता। —वपोहित–अ०, स०, ल०। ४. रञ्जित। ५ सूत्रम्, पक्षे तन्तुम्। 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥' ६ ग्रथीकृतैः, पक्षे अनुग्रथितैः। ७ कण्ठयोग्यैः, पक्षे कण्ठभवैः। ८. कलङ्कादिदोषरहितैः, शब्दार्थादिदोषरहितैः। ९ आलिङ्गितम्। १०. शस्त्राभ्यासेन। ११ सुखकारिणी। १२. समानम्।

लसद्वसनमामुक्त[1]रशनं जघनं घनम् । [2]कायमानमिवानङ्गनृपतेः [3]कृतनिर्वृति ॥४१॥
पीनौ चारुरुचावूरू नारीजनमनोरमौ । जङ्घे विनिर्जितानङ्गनिषङ्ग[4]रुचिराकृती ॥४२॥
सर्वाङ्गसंगतां कान्तिमिवोच्चित्य[5][6]स्रुतामधः । [7]क्रमौ विनिर्मितौ लक्ष्म्या [8]न्यक्कृतारुणपङ्कजौ ॥४३॥
तेषां प्रत्यङ्गमत्युद्धा[9] शोभा स्वात्मगतैव या । तत्समुत्कीर्तनैवाल[10] [11]खल्वुक्त्वा वर्णनान्तरम् ॥४४॥
निसर्गरुचिराण्येषां वपूंषि मणिभूषणैः । भृशं रुरुचिरे पुष्पैर्वनानीव विकासिभिः ॥४५॥
तेषां विभूषणान्यासन् मुक्तारत्नमयानि वै । यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावल्यश्च नैकधा ॥४६॥
यष्टयः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकम् । प्रकाण्डकं च तरलप्रबन्धश्चेति पञ्चधा ॥४७॥
केषांचिच्छीर्षकं यष्टिः केषांचिदुपशीर्षकम् । अवघाटकमन्येषामपरेषां प्रकाण्डकम् ॥४८॥
तरलप्रतिबन्धश्च केषांचित् कण्ठ[12]भूषणम् । मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां[13] यष्टयोऽभवन्[14] ॥४९॥
[15]सूत्रमेकावली सैव यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा । [16]रत्नावली भवेत् सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥५०॥
[17]युक्तप्रमाणसौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः । सान्तरं ग्रथिता भूषा [18]भवेयुरपवर्तिका ॥५१॥

है और करधनी लटक रही है ऐसे उनके स्थूल नितम्ब ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी राजाके सुख देनेवाले कपड़ेके बने हुए तम्बू ही हों ॥४१॥ उनके ऊरु स्थूल थे, सुन्दर कान्तिके धारक थे और स्त्रीजनोंका मन हरण करनेवाले थे। उनकी जंघाएँ कामदेवके तरकशकी सुन्दर आकृतिको भी जीतनेवाली थीं ॥४२॥ अपनी शोभासे लाल कमलोंका भी तिरस्कार करनेवाले उनके दोनों पैर ऐसे जान पड़ते थे मानो समस्त शरीरमें रहनेवाली जो कान्ति नीचेकी ओर बहकर गयी थी उसे इकट्ठा करके ही बनाये गये हों ॥४३॥ इस प्रकार उन राजकुमारोंके प्रत्येक अंगमें जो प्रशंसनीय शोभा थी वह उन्हींके शरीरमें थी—वैसी शोभा किसी दूसरी जगह नहीं थी इसलिए अन्य पदार्थोंका वर्णन कर उनके शरीरकी शोभाका वर्णन करना व्यर्थ है ॥४४॥ उन राजकुमारोंके स्वभावसे ही सुन्दर शरीर मणिमयी आभूषणोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि खिले हुए फूलोंसे वन सुशोभित रहते हैं ॥४५॥ उन राजकुमारोंके यष्टि, हार और रत्नावली आदि, मोती तथा रत्नोंके बने हुए अनेक प्रकारके आभूषण थे ॥४६॥ उनमें-से यष्टि नामक आभूषण शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकाण्डक और तरलप्रबन्धके भेदसे पाँच प्रकारका होता है ॥४७॥ उन राजकुमारोंमें किन्हींके शीर्षक, किन्हींके उपशीर्षक, किन्हींके अवघाटक, किन्हींके प्रकाण्डक और किन्हींके तरलप्रतिबन्ध नामकी यष्टि कण्ठका आभूषण हुई थी। उनकी वे पाँचों प्रकारकी यष्टियाँ मणिमध्या और शुद्धाके भेदसे दो-दो प्रकारकी थीं। [जिसके बीचमें एक मणि लगा हो उसे मणिमध्या और जिसके बीचमें मणि नहीं लगा हो उसे शुद्धा यष्टि कहते हैं।] ॥४८–४९॥ मणिमध्यमा यष्टिको सूत्र तथा एकावली भी कहते हैं और यदि वही मणिमध्यमा यष्टि सुवर्ण तथा मणियोंसे चित्र-विचित्र हो तो उसे रत्नावली भी कहते हैं ॥५०॥ जो यष्टि किसी निश्चित प्रमाणवाले सुवर्णमणि, माणिक्य और मोतियोंके द्वारा

१. प्रतिबद्ध । २. पटकुटी । ३. विहितसुखम् । ४. इषुधि । ५. सगृह्य, सहृद्य । ६ स्यन्दमानाम् । ७. पादौ । ८. अधःकृत । ९ प्रशस्ता । १०. पर्याप्तम् । ११. [वचनेनालम्] अस्य पदस्योपरि सूत्रम् [अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः] पाणिनीयम् । १२ कण्ठाभरण–भूततरलप्रतिबन्धश्चेति यष्टि इदानी यष्टिविशेष-मुक्त्वा सामान्या द्विप्रकारा एवेति सूचयति । १३ कुमाराणाम् । १४. ता यष्टय मणिमध्याः शुद्धाश्चेति सामान्यत द्विधाभवन् । १५ या यष्टि मणिमध्यमा स्यात् सैव सूत्रमिति । एकावलीति च नामद्वयी स्यात् । १६ सैव सुवर्णेन मणिभिश्च चित्रिता चेत् रत्नावलीति नामा स्यात् । १७ योग्यप्रमाण । १८ द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिर्वा सुवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकै सान्तर यथा भवति तथा रचिता भूपा अप-वर्तिका भवेयुः ।

यष्टि. शीर्षकसंज्ञा स्यात् मध्यैकस्थूलमौक्तिका । मध्यैस्त्रिभिः क्रमस्थूलैः मौक्तिकैरुपशीर्षकम् ॥५२॥
प्रकाण्डकं क्रमस्थूलैः पञ्चभिर्मध्यमौक्तिकैः । मध्यादनुक्रमाद्धीनैः मौक्तिकैरवघाटकम् ॥५३॥
तरलप्रतिबन्धः स्यात् सर्वत्र सममौक्तिकैः[1] । [2]तथैव मणियुक्तानामूह्या [3]भेदास्त्रिधात्मनाम् ॥५४॥
हारो यष्टिकलापः[4] स्यात् स चैकादशधा मतः । इन्द्रच्छन्दादिभेदेन यष्टिसंख्याविशेषतः ॥५५॥
यष्टयोऽष्ट[5]सहस्रं तु यत्रेन्द्रच्छन्दसंज्ञकः । स हारः परमोदारः शक्रचक्रिजिनेशिनाम् ॥५६॥
तदर्द्धप्रमितो यस्तु विजयच्छन्दसंज्ञकः । सोऽर्द्धचक्रधरस्योक्तो[6] हारोऽन्येषु च केषुचित् ॥५७॥
शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीनां हार एव सः । एकाशीत्या भवेद् देवच्छन्दो मौक्तिकयष्टिभिः ॥५८॥
चतुःषष्ट्यार्धहारः स्याच्चतुःपञ्चाशता पुनः । भवेद् रश्मिकलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥५९॥
यष्टीनां सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका । शोभां नक्षत्रमालाया या हसन्ती स्वमौक्तिकैः ॥६०॥
चतुर्विंशत्यार्द्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वयः । भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्द्धेनार्द्धमाणवः ॥६१॥
इन्द्रच्छन्दादिहारास्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः । माणवाख्या विभूषाः [7]स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥६२॥

बीचमें अन्तर दे-देकर गूँथी जाती है उसे अपवर्तिका कहते है ॥५१॥ जिसके बीचमें एक बड़ा स्थूल मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं और जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे घटते हुए तीन मोती हों उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥५२॥ जिसके बीचमें क्रम-क्रमसे बढ़ते हुए पाँच मोती लगे हों उसे प्रकाण्डक कहते हैं, जिसके बीचमें एक बड़ा मणि हो और उसके दोनों ओर क्रम-क्रमसे घटते हुए छोटे-छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक कहते हैं ॥५३॥ और जिसमें सब जगह एक समान मोती लगे हों उसे तरलप्रतिबन्ध कहते हैं। ऊपर जो एकावली, रत्नावली और अपवर्तिका ये मणियुक्त यष्टियोंके तीन भेद कहे हैं उनके भी ऊपर लिखे अनुसार प्रत्येकके शीर्षक, उपशीर्षक आदि पाँच-पाँच भेद समझ लेना चाहिए ॥५४॥ यष्टि अर्थात् लड़ियोंके समूहको हार कहते हैं वह हार लड़ियोंकी संख्याके न्यूनाधिक होनेसे इन्द्रच्छन्द आदिके भेद-से ग्यारह प्रकारका होता है ॥५५॥ जिसमें एक हजार आठ लड़ियाँ हों उसे इन्द्रच्छन्द हार कहते है। वह हार सबसे उत्कृष्ट होता है और इन्द्र चक्रवर्ती तथा जिनेन्द्रदेवके पहननेके योग्य होता है ॥५६॥ जिसमें इन्द्रच्छन्द हारसे आधी अर्थात् पाँचसौ चार लड़ियाँ हों उसे विजय-च्छन्द हार कहते हैं। यह हार अर्धचक्रवर्ती तथा बलभद्र आदि अन्य पुरुषोंके पहनने योग्य कहा गया है ॥५७॥ जिसमें एक सौ आठ लड़ियाँ हो उसे हार कहते है और जिसमें मोतियों-की इक्यासी लड़ियाँ हो उसे देवच्छन्द कहते हैं ॥५८॥ जिसमें चौसठ लड़ियाँ हों उसे अर्धहार, जिसमें चौवन लड़ियाँ हो उसे रश्मिकलाप और जिसमें बत्तीस लड़ियाँ हों उसे गुच्छ कहते है ॥५९॥ जिसमें सत्ताईस लड़ियाँ हो उसे नक्षत्रमाला कहते हैं। यह हार अपने मोतियोंसे अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रोंकी मालाकी शोभाकी हँसी करता हुआ-सा जान पड़ता है ॥६०॥ मोतियोंकी चौबीस लड़ियोंके हारको अर्धगुच्छ, बीस लड़ियोंके हारको माणव और दश लड़ियों-के हारको अर्धमाणव कहते हैं ॥६१॥ ऊपर कहे हुए इन्द्रच्छन्द आदि हारोंके मध्यमें जब मणि लगा दिया जाता है तब उन नामोंके साथ माणव शब्द और भी सुशोभित होने लगता है अर्थात् इन्द्रच्छन्दमाणव, विजयच्छन्दमाणव आदि कहलाने लगते है ॥६२॥ जो एक शीर्षक हार है वह

---

१ सममौक्तिक प० । २. उक्तपञ्चप्रकारेण भेदाः । ३. मणियुक्तानामेकावलीरत्नावली-अपवर्तिका-नामपि शीर्षकादिपञ्चभेदा योज्याः । ४. समूहः । ५. अष्टोत्तरसहस्रमिति । ६ –स्योक्तया ब० । ७ माण-वाख्यपदोपपदा. ।

य [1]एकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात्परः । [2]इन्द्रच्छन्दाद्युपपदः स चैकादशभेदभाक् ॥६३॥
तथोपशीर्षकादीनामपि शुद्धात्मनां भिदा । तज्ज्ञाः शुद्धास्ततो [3]हाराः पञ्चपञ्चाशदेव हि ॥६४॥
भवेत् फलकहाराख्यो मणिमध्योऽर्द्धमाणवे[4] । त्रिहेमफलकः पञ्चफलको वा यदा तदा ॥६५॥
सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात् स मतो द्विधा । सोपानाख्यस्तु फलकैरौक्मैरन्यः[5] सरत्नकैः ॥६६॥
इत्यमूनि युगारम्भे [6]कण्ठोरोभूषणानि वै । स्रष्टासृजत् स्वपुत्रेभ्यो यथास्वं ते च तान्यधुः ॥६७॥
इत्याद्याभरणैः कण्ठ्यैरन्यैश्चान्यत्रभाविभिः । ते राजन्या व्यराजन्त ज्योतिर्गणमया इव ॥६८॥
तेषु तेजस्विनां धुर्यो भरतोऽर्क इवाद्युतत् । शशीव जगतः कान्तो युवा बाहुबली बभौ ॥६९॥
शेषाश्च ग्रहनक्षत्रतारागणनिभा बभुः । ब्राह्मी दीप्तिरिवैतेषामभूज्ज्योत्स्नेव सुन्दरी ॥७०॥
स तैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् वृषभो बभौ । ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरुर्महोदयः ॥७१॥
अथैकदा सुखासीनो भगवान् हरिविष्टरे । मनो व्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥७२॥
तावच्च पुत्रिके भर्तुर्ब्राह्मीसुन्दर्यभिष्टवे[7] । धृतमङ्गलनैपथ्ये[8] संप्राप्ते निकटं गुरोः ॥७३॥

शुद्ध हार कहलाता है। यदि शीर्षकके आगे इन्द्रच्छन्द आदि उपपद भी लगा दिये जायें तो वह भी ग्यारह भेदोंसे युक्त हो जाता है ॥६३॥ इसी प्रकार उपशीर्षक आदि शुद्ध हारोंके भी ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं। इस प्रकार सब हार पचपन प्रकारके होते हैं ॥६४॥ अर्धमाणव हारके बीचमें यदि मणि लगाया गया हो तो उसे फलकहार कहते हैं। उसी फलकहारमें जब सोनेके तीन अथवा पाँच फलक लगे हों तो उसके सोपान और मणिसोपानके भेदसे दो भेद हो जाते हैं। अर्थात् जिसमें सोनेके तीन फलक लगे हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें सोनेके पाँच फलक लगे हों उसे मणिसोपान कहते हैं। इन दोनों हारोंमें इतनी विशेषता है कि सोपान नामक हारमें सिर्फ सुवर्णके ही फलक रहते हैं और मणिसोपान नामके हारमें रत्नोंसे जड़े हुए सुवर्णके फलक रहते हैं। (सुवर्णके गोल दाने–गुरिया–को फलक कहते हैं) ॥६५-६६॥ इस प्रकार कर्मयुगके प्रारम्भमें भगवान् वृषभदेवने अपने पुत्रोंके लिए कण्ठ और वक्षःस्थलके अनेक आभूषण बनाये, और उन पुत्रोंने भी यथायोग्य रूपसे वे आभूषण धारण किये ॥६७॥ इस तरह कण्ठ तथा शरीरके अन्य अवयवोंमें धारण किये हुए आभूषणोंसे वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानो ज्योतिषी देवोंका समूह हो ॥६८॥ उन सब राजकुमारोंमें तेजस्वियोंमें भी तेजस्वी भरत सूर्यके समान सुशोभित होता था और समस्त संसारसे अत्यन्त सुन्दर युवा बाहुबली चन्द्रमाके समान शोभायमान होता था ॥६९॥ शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणके समान शोभायमान होते थे। उन सब राजपुत्रोंमें ब्राह्मी दीप्तिके समान और सुन्दरी चाँदनीके समान सुशोभित होती थी ॥७०॥ उन सब पुत्र-पुत्रियोंसे घिरे हुए सौभाग्यशाली भगवान् वृषभदेव ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरे हुए ऊँचे मेरु पर्वतकी तरह सुशोभित होते थे ॥७१॥

अथानन्तर किसी एक समय भगवान् वृषभदेव सिंहासनपर सुखसे बैठे हुए थे, कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओंके उपदेश देनेमें व्यापृत किया ॥७२॥ उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी पुत्रियाँ माङ्गलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट पहुँचीं ॥७३॥

---

१. एकः शीर्षको यस्मिन् सः शुद्धहार । २. इन्द्रच्छन्दाद्युपपद शीर्षकात् परः स हार इन्द्रच्छन्दशीर्षकहार इति यावत् । एवं शुद्धात्मनामुपशीर्षकादीनामेव इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकहार इति क्रमात् । शीर्षकादिषु पञ्चसु इन्द्रच्छन्दादिक प्रत्येकम् । एकादशधा ताडिते सति पञ्चपञ्चाशत् । ३. वेदेभ्यः । ४. केवलं मणिमध्यश्चेति । ५. अन्यः मणिसोपानः सरत्नैः रौक्मफलकैः स्यादिति । ६ कण्ठ. उरश्च । ७. अभि स्तवे । अभिलये इत्यर्थः । ८. मङ्गलालङ्कारे । –नैपथ्ये अ०, प०, द०, स०, म० ।

ते च [1]किंचिदिवोद्भिन्नस्तनकुड्मलशोभिनि । वयस्यनन्तरे बाल्याद् वर्तमाने मनोहरे ॥७४॥
मेधाविन्यौ [2]विनीते च सुशीले चारुलक्षणे । रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाघ्ये मानवती [3]जनैः ॥७५॥
[4]अधिक्षोणिपदन्यासैर्हंसीगतिविडम्बिभिः । रक्ताम्बुजोपहारस्य तन्वाने परित श्रियम् ॥७६॥
नखदर्पणसंक्रान्तस्वाङ्गच्छाया [5]पदेशतः । कान्त्या न्यक्कृत्य [6]दिक्कन्याः पद्भ्यां [7]कदर्थमिवोद्यते ॥७७॥
सलीलपदविन्यासरणन्नूपुरनिक्वणैः । शिक्षयन्त्याविवाहूय हंसीः स्वगतिविभ्रमम् ॥७८॥
चारूरू रुचिमज्जङ्घे [8]तत्कान्तिमति [9]रेकिणीम् । जनानां दृक्पथे स्वैरं विक्षिपन्त्याविवाभितः ॥७९॥
दधाने जघना [10]भोग काञ्चीतूर्यरवाञ्चितम् । सौभाग्यदेवतावासमिवांशुकवितानकम् ॥८०॥
लावण्यदेवतां यष्टुं [11]मनङ्गाध्व [12]र्युणा कृतम् । हेमकुण्डमिवानिम्नं दधत्यौ नाभिमण्डलम् ॥८१॥
वहन्त्यौ किंचिदुद्भूत [13]श्यामिकां रोमराजिकाम् । मनोभवगृहावेशधूपधूमशिखामिव ॥८२॥
तनुमध्ये कृशोदर्यावारक्तकरपल्लवे । मृदुबाहुलते किंचिदुद्भिन्नकुच [14]कुड्मले ॥८३॥
दधाने रुचिरं हारमाक्रान्तस्तनमण्डलम् । तदा [15]श्लेषसुखासङ्गात् [16]स्मयमानमिवांशुभिः ॥८४॥

वे दोनों ही पुत्रियाँ कुछ-कुछ उठे हुए स्तनरूपी कुड्मलोंसे शोभायमान और बाल्य अवस्थाके अनन्तर प्राप्त होनेवाली किशोर अवस्थामें वर्तमान थीं अतएव अतिशय सुन्दर जान पड़ती थीं ॥७४॥ वे दोनों ही कन्याएँ बुद्धिमती थीं, विनीत थीं, सुशील थीं, सुन्दर लक्षणोंसे सहित थीं, रूपवती थीं और मानिनी स्त्रियोंके द्वारा भी प्रशंसनीय थीं ॥७५॥ हंसीकी चालको भी तिरस्कृत करनेवाली अपनी सुन्दर चालसे जब वे पृथिवीपर पैर रखती हुई चलती थीं, तब वे चारों ओर लालकमलोंके उपहारकी शोभाको विस्तृत करती थीं ॥७६॥ उनके चरणोंके नखरूपी दर्पणोंमें जो उन्हींके शरीरका प्रतिबिम्ब पड़ता था उसके छलसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपनी कान्तिसे तिरस्कृत हुई दिक्कन्याओंको अपने चरणोंसे रौंदनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥७७॥ लीलासहित पैर रखकर चलते समय रुनझुन शब्द करते हुए उनके नूपुरोंसे जो सुन्दर शब्द होते थे उनसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो नूपुरोंके शब्दोंके बहाने हंसियोंको बुलाकर उन्हें अपनी गतिका सुन्दर विलास ही सिखला रही हों ॥७८॥ जिनके ऊरु अतिशय सुन्दर और जंघाएँ अतिशय कान्तियुक्त हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी बढ़ती हुई कान्तिको वे लोगोंके नेत्रोंके मार्गमें चारों ओर स्वयं ही फेंक रही हों ॥७९॥ वे पुत्रियाँ जिस स्थूल जघन भागको धारण कर रही थीं वह करधनी तथा अधोवस्त्रसे सुशोभित था और ऐसा मालूम होता था मानो करधनीरूपी तुरही बाजोंसे सुशोभित और कपड़ेके चँदोवासे युक्त सौभाग्य देवताके रहनेका घर ही हो ॥८०॥ वे कन्याएँ जिस गम्भीर नाभिमण्डलको धारण किए हुई थीं वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी यजमानने लावण्यरूपी देवताकी पूजाके लिए होमकुण्ड ही बनाया हो ॥८१॥ जिसमें कुछ-कुछ कालापन प्रकट हो चुका है ऐसी जिस रोमराजीको वे पुत्रियाँ धारण कर रही थीं वह ऐसी मालूम होती थी मानो कामदेवके गृह-प्रवेशके समय खेई हुई धूपके धूमकी शिखा ही हो ॥८२॥ उन दोनों कन्याओंका मध्यभाग कृश था, उदर भी कृश था, हस्तरूपी पल्लव कुछ-कुछ लाल थे, भुजलताएँ कोमल थीं और स्तनरूपी कुड्मल कुछ-कुछ ऊँचे उठे हुए थे ॥८३॥ वे पुत्रियाँ स्तनमण्डलपर पड़े हुए जिस मनोहर हारको धारण किए हुई थीं वह अपनी किरणोंसे ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो

१. किंचिदित्यर्थः । २. विनयपरे । ३. मान्यस्त्रीजनैः । ४ पृथिव्याम् । ५ व्याजतः । ६ लघु कृत्वा । न्यक्कृत– ल० । ७ कर्दयितुम् । ८ ऊरुजङ्घाकान्तिम् । ९. अत्युत्कटाम् । १०. विस्तीर्णम् । ११. पूजयितुम् । १२. याजकेन । १३ कृष्णवर्णाम् । १४ –कुड्मले द०, स०, म०, ल० । १५ तत्कुचमण्डलालिङ्गनसुखासक्तेः । १६. हसन्तम् ।

सुकण्ठ्यौ कोकिलालापनिर्हारिमधुरस्वरे । [1]ताम्राधरे [2]दरोद्भिन्नस्मितांशुरुचिरानने ॥८५॥
सुदत्यौ[3] ललितापाङ्गवीक्षिते सान्द्रपक्ष्मणी । मदनस्येव जैत्रास्त्रे दधाने नयनोत्पले ॥८६॥
कसत्कपोलसंक्रान्तैरलकप्रतिबिम्बकैः । ह्रेपयन्त्यावभिव्यक्तलक्ष्मण. शशिनः श्रियम् ॥८७॥
समाल्यं कबरीभारं धारयन्त्यौ तरङ्गितम् । स्वान्तः संक्रान्तगाङ्गौघ प्रवाहमिव यामुनम् ॥८८॥
इति प्रत्यङ्गसंगिन्या कान्त्या कान्ततमाकृती । सौन्दर्यस्येव सन्दोहमेकीकृत्य विनिर्मिते ॥८९॥
किमेते दिव्यकन्ये[4] स्तां किन्नु कन्ये फणीशिनाम् । दिक्कन्ये किमुत स्यातां किं वा सौभाग्यदेवते ॥९०॥
किमिमे श्रीसरस्वत्यौ किं वा [5]तदधिदेवते । किं स्या[6]त्तदवतारोऽयमेवंरूपः प्रतीयते ॥९१॥
लक्ष्म्याविमे जगन्नाथमहाब्धेः किमुद्गते । कल्याणभागिनी च स्याद् अनयोरियमाकृतिः ॥९२॥
इति संश्लाघ्यमाने ते जनैरुत्पन्नविस्मयैः । सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः ॥९३॥
प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके । प्रीत्या स्वमङ्कमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तके ॥९४॥
सप्रहासमुवाचैवमेतं[7] मन्ये सुरैः समम् । [8]यास्यथोऽद्यामरोद्यानं नैवमेते गताः सुराः ॥९५॥
इत्याक्रीड्य क्षणं भूयोऽप्येवमाख्यद् गिरांपतिः । युवां युवजरत्यौ स्थः[9] शीलेन विनयेन च ॥९६॥

स्तनोंके आलिंगनसे उत्पन्न हुए सुखकी आसक्तिसे हँस ही रहा हो ॥८४॥ उनके कण्ठ बहुत ही सुन्दर थे, उनका स्वर कोयलकी वाणीके समान मनोहर और मधुर था, ओठ ताम्रवर्ण अर्थात् कुछ-कुछ लाल थे, और मुख कुछ-कुछ प्रकट हुए मन्दहास्यकी किरणोंसे मनोहर थे ॥८५॥ उनके दाँत सुन्दर थे, कटाक्षों-द्वारा देखना मनोहर था, नेत्रोंकी बिरौनी सघन थी और नेत्ररूपी कमल कामदेवके विजयी अस्त्रके समान थे ॥८६॥ शोभायमान कपोलोंपर पड़े हुए केशोंके प्रतिबिम्बसे वे कन्याएँ, जिसमें कलंक प्रकट दिखायी दे रहा है ऐसे चन्द्रमाकी शोभाको भी लज्जित कर रही थीं ॥८७॥ वे मालासहित जिस केशपाशको धारण कर रही थीं वह ऐसा मालूम होता था मानो जिसके भीतर गंगा नदीका प्रवाह मिला हुआ है ऐसा यमुना नदीका लहराता हुआ प्रवाह ही हो ॥८८॥ इस प्रकार प्रत्येक अंगमें रहनेवाली कान्तिसे उन दोनोंकी आकृति अत्यन्त सुन्दर थी और उससे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो सौन्दर्यके समूहको एक जगह इकट्ठा करके ही बनायी गयी हों ॥८९॥ क्या ये दोनों दिव्य कन्याएँ हैं ? अथवा नाग-कन्याएँ हैं ? अथवा दिक्कन्याएँ हैं ? अथवा सौभाग्य देवियाँ हैं, अथवा लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं अथवा उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं ? अथवा उनका अवतार हैं ? अथवा क्या जगन्नाथ (वृषभदेव) रूपी महासमुद्रसे उत्पन्न हुई लक्ष्मी हैं ? क्योंकि इनकी यह आकृति अनेक कल्याणों-का अनुभव करनेवाली है इस प्रकार लोग बड़े आश्चर्यके साथ जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी उन दोनों कन्याओंने विनयके साथ भगवान्‌के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥९०—९३॥ दूरसे ही जिनका मस्तक नम्र हो रहा है ऐसी नमस्कार करती हुई उन दोनों पुत्रियोंको उठाकर भगवान्‌ने प्रेमसे अपनी गोदमें बैठाया, उनपर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूँघा और हँसते हुए उनसे बोले कि आओ, तुम समझती होगी कि हम आज देवोंके साथ अमरवनको जायेंगी परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि देव लोग पहले ही चले गए हैं ॥९४—९५॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेव क्षणभर उन दोनों पुत्रियोंके साथ क्रीड़ा कर फिर कहने लगे कि तुम अपने शील और विनयगुणके कारण युवावस्थामें भी वृद्धाके समान हो ॥९६॥

---

१. ताम्र अरुण । २. दर ईषत् । ३. शोभनदन्तवत्यौ । सुदन्त्यौ अ०, स० । ४. भवताम् । ५. श्रीसरस्वत्योरधिदेवते । ६ अधिदेवतयोरवतारः । ७ आगच्छतम् । लोटि मध्यमपुरुषः । ८. गमिष्यथ. । ९. भवथः ।

इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशम्। विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म [1]वामिदम् ॥९७॥
विद्यावान् पुरुषो लोके [2]सम्मतिं याति कोविदैः। नारी च [3]तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥९८॥
विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता। सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥९९॥
विद्या कामदुहा धेनुर्विद्या चिन्तामणिर्नृणाम्। [4]त्रिवर्गफलितां सूते विद्या सम्पत्परम्पराम् ॥१००॥
विद्या बन्धुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकम्। सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥१०१॥
[5]तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं[6] युवाम्। तत्सङ्ग्रहणकालोऽयं युवयोर्वर्ततेऽधुना ॥१०२॥
इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेम[7]पट्टके। अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं [8]सपर्यया ॥१०३॥
विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकाम्। उपादिशल्लिपिं[9] संख्यास्थानं[10] चाङ्कैरनुक्रमात् ॥१०४॥
ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीम्। सिद्धं नम इति व्यक्तमङ्गलां सिद्धमातृकाम् ॥१०५॥
अकारादिहकारान्तां शुद्धां मुक्तावलीमिव। स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीम् ॥१०६॥
[11]अयोगवाहपर्यन्तां सर्वविद्यासु संततां[12]। संयोगाक्षरसंभूतिं [13]नैकबीजाक्षरैश्चिताम् ॥१०७॥

तुम दोनोंका यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्यासे विभूषित किया जाये तो तुम दोनोंका यह जन्म सफल हो सकता है॥ ९७॥ इस लोकमें विद्यावान् पुरुष पण्डितोंके द्वारा भी सम्मानको प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पदको प्राप्त होती है॥९८॥ विद्या ही मनुष्योंका यश करनेवाली है, विद्या ही पुरुषोंका कल्याण करनेवाली है, अच्छी तरहसे आराधना की गयी विद्या देवता ही सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली है॥९९॥ विद्या मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु है, विद्या ही चिन्तामणि है, विद्या ही धर्म, अर्थ तथा काम रूप फलसे सहित सम्पदाओंकी परम्परा उत्पन्न करती है॥१००॥ विद्या ही मनुष्योंका बन्धु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही साथ-साथ जानेवाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाली है॥ १०१॥ इसलिए हे पुत्रियो, तुम दोनों विद्या ग्रहण करनेमें प्रयत्न करो क्योंकि तुम दोनोंके विद्या ग्रहण करनेका यही काल है॥१०२॥ भगवान् वृषभदेवने ऐसा कहकर तथा बार-बार उन्हें आशीर्वाद देकर अपने चित्तमें स्थित श्रुत देवताको आदरपूर्वक सुवर्णके विस्तृत पट्टेपर स्थापित किया, फिर दोनों हाथोंसे अ आ आदि वर्णमाला लिखकर उन्हें लिपि (लिखनेका) उपदेश दिया और अनुक्रमसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा उन्हें संख्याके ज्ञानका भी उपदेश दिया। भावार्थ– ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान्ने दाहिने हाथसे वर्णमाला और बायें हाथसे संख्या लिखी थी॥ १०३–१०४॥ तदनन्तर जो भगवान्के मुखसे निकली हुई है, जिसमें 'सिद्धं नमः' इस प्रकारका मंगलाचरण अत्यन्त स्पष्ट है, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर और व्यंजनके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त है, जो समस्त विद्याओंमें पायी जाती है, जिसमें अनेक संयुक्त अक्षरोंकी उत्पत्ति है, जो अनेक बीजाक्षरोंसे व्याप्त है और जो शुद्ध मोतियोंकी मालाके समान है ऐसी अकारको आदि लेकर हकार पर्यन्त तथा विसर्ग अनुस्वार जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यन्त समस्त शुद्ध अक्षरावलीको बुद्धिमती ब्राह्मी पुत्रीने धारण

---

१. युवयोः। २. समानम्। ३ विद्यावती। ४ त्रिवर्गरूपेण फलिताम्। ५. तत्कारणात्। ६ कुर्वाथाम्। ७ सुवर्णफलके। ८. पूजया। ९ लिविं ट०। लिपिम्। "लिपिताक्षरविन्यासे लिपिर्लिबिरुभे स्त्रियौ।" इत्यमरः। १० संख्याज्ञान अ०, प०, द०, स०, ल०। ११. हकारविसर्जनीया [अनुस्वारविसर्ग-जिह्वामूलीयोपध्मानीययमाः]। १२. अविच्छिन्नाम्। संगताम् अ०, प०, स०, म०,। १३. इत्यादि [इत्यादिभिः]।

[1] समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यतिसुन्दरी । सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥१०८॥
न विना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा । ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥१०९॥
सुमेधसावसंमोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् । वाग्देव्याविव निश्शेषं वाङ्मयं [2] ग्रन्थतोऽर्थतः ॥११०॥
[3] पदविद्यामधिच्छन्दोविचितिं [4] वागलंकृतिम् । त्रयीं समुदितामेतां तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥१११॥
तदा [5] स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभून्महत् । [6] यत्तत्परशताध्यायैरतिगम्भीरमब्धिवत् ॥११२॥
छन्दोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्तादिभेदांश्च षड्विंशतिमदीदृशत् ॥११३॥
प्रस्तारं नष्टमुद्दिष्टमेकद्वित्रिलघुक्रियाम् । संख्यामथाध्वयोगं च [7] व्याजहार गिरांपतिः ॥११४॥
उपमादीनलंकारांस्तन्मार्गं [8] द्वयविस्तरम् । दश [9] प्राणानलंकारसंग्रहे विभुरभ्यधात् ॥११५॥
अथैनयोः [10] पदज्ञान [11] दीपिकाभिः प्रकाशिताः । कलाविद्याश्च निश्शेषाः स्वयं परिणतिं ययुः ॥११६॥
इति [12] ह्यधीतनिश्शेषविद्ये ते गुर्वनुग्रहात् । वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः ॥११७॥

किया और अतिशय सुन्दरी सुन्दरीदेवीने इकाई दहाई आदि स्थानोंके क्रमसे गणित शास्त्रको अच्छी तरह धारण किया ॥१०५-१०८॥ वाङ्मयके बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले उन पुत्रियोंके लिए वाङ्मयका उपदेश दिया था ॥ १०९ ॥ अत्यन्त बुद्धिमती उन कन्याओंने सरस्वती देवीके समान अपने पिताके मुखसे संशय विपर्यय आदि दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ रूप समस्त वाङ्मयका अध्ययन किया था ॥ ११० ॥ वाङ्मयके जाननेवाले गणधरादि देव व्याकरण शास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकार शास्त्र इन तीनोंके समूहको वाङ्मय कहते हैं ॥ १११ ॥ उस समय स्वयम्भू अर्थात् भगवान् वृषभदेवका बनाया हुआ एक बड़ा भारी व्याकरण शास्त्र प्रसिद्ध हुआ था उसमें सौसे भी अधिक अध्याय थे और वह समुद्रके समान अत्यन्त गम्भीर था ॥११२॥ इसी प्रकार उन्होंने अनेक अध्यायोंमें छन्दशास्त्रका भी उपदेश दिया था और उसके उक्ता अत्युक्ता आदि छब्बीस भेद भी दिखलाये थे ॥ ११३ ॥ अनेक विद्याओंके अधिपति भगवान्ने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग छन्दशास्त्रके इन छह प्रत्ययोंका भी निरूपण किया था ॥ ११४ ॥ भगवान्ने अलंकारोंका संग्रह करते समय अथवा अलंकारसंग्रह ग्रन्थमें उपमा रूपक यमक आदि अलंकारोंका कथन किया था, उनके शब्दालंकार और अर्थालंकार रूप दो मार्गोंका विस्तारके साथ वर्णन किया था और माधुर्य ओज आदि दश प्राण अर्थात् गुणोंका भी निरूपण किया था ॥ ११५ ॥

अथानन्तर ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियोंकी पदज्ञान (व्याकरण-ज्ञान) रूपी दीपिकासे प्रकाशित हुई समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने आप ही परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हो गयी थीं ॥११६॥ इस प्रकार गुरु अथवा पिताके अनुग्रहसे जिनने समस्त विद्याएँ पढ ली है ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ सरस्वती देवीके अवतार लेनेके लिए पात्रताको प्राप्त हुई थीं। भावार्थ—वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयी थीं कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले

---

१. सम्यगवधारयति स्म । २. शब्दतः । ३. व्याकरणशास्त्रम् । ४ शब्दालंकारम् । ५ स्वायंभुवं नाम व्याकरणशास्त्रम् । ६. शतात् परे परश्शताः [शतात् पराणि अधिकानि परश्शतानि, परशब्देन समानार्थः । 'परशब्दोऽस्त्यन्त' इत्येके । राजदन्तादित्वात्पूर्वनिपात' । इत्यमोघावृत्तावुक्तम् । वर्चस्कादिषु नमस्कारादय इत्यत्र । इति टिप्पणपुस्तके 'परश्शता' इति शब्दोपरि टिप्पणी] । ७. मेरुप्रस्तारम् । ८. गौडविदर्भमार्गद्वयम् । ९. "श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः । तेषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥" १०. ब्राह्मी सुन्दर्योः । ११. व्याकरणशास्त्रपरिज्ञानप्रदीपिका । १२ इति ह्यधीत प०, अ०, द०, स० ।

पुत्राणां च यथाम्नायं विनया[1]दानपूर्वकम् । शास्त्राणि व्याजहारैवमा[2]नुपूर्व्या जगद्गुरुः ॥११८॥
भरतायार्थ[3] शास्त्रं च भरतं च समंग्रहम् । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥११९॥
विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहम् । गन्धर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्याया. परश्शतम् ॥१२०॥
अनन्तविजयायाख्यद् विद्यां चित्रकलाश्रिताम् । नानाध्यायशताकीर्णां [4]साकला सकला कलाः ॥१२१॥
विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोऽवधारितः[5] ॥१२२॥
कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणम् । [6]आयुर्वेदं धनुर्वेदं तन्त्रं चाश्वेभगोचरम् ॥१२३॥
तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे । व्याचख्यौ बहुधाम्नातैर[7]ध्यायैरतिविस्तृतैः ॥१२४॥
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्तासौ [8]स्वाः समन्वशिषत् [9]प्रजाः ॥१२५॥
समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीद्दीप्तिता विभो. । स्वभावभास्वरस्येव भास्वतः शरदागमे ॥१२६॥
सुतैरधीतनिःशेषविद्यैरद्युतदीशिता । किरणैरिव निर्मांशु[10]रासादितशरद्द्युतिः ॥१२७॥
पुत्रैरिष्टैः कलत्रैश्च वृतस्य भुवनेशिनः । महान् कालो व्यतीयाय[10] दिव्यैर्भोगैर्निरन्तरैः ॥१२८॥
ततः कुमारकालोऽस्य [11]कलितो मुनिसत्तमैः । विंशतिः पूर्वलक्षाणां पूर्यते स्म महाधियः ॥१२९॥

सकती थीं ॥११७॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रोंको भी विनयी बनाकर क्रमसे आम्नायके अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये ॥११८॥ भगवान्ने भरत पुत्रके लिए अत्यन्त विस्तृत–बड़े-बड़े अध्यायोंसे स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह (प्रकरण) सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया था ॥११९॥ स्वामी वृषभदेवने अपने पुत्र वृषभसेनके लिए जिसमें गाना बजाना आदि अनेक पदार्थोंका संग्रह है और जिसमें सौसे भी अधिक अध्याय हैं ऐसे गन्धर्व शास्त्रका व्याख्यान किया था ॥१२०॥ अनन्तविजय पुत्रके लिए नाना प्रकारके सैकड़ों अध्यायोंसे भरी हुई चित्रकला-सम्बन्धी विद्याका उपदेश दिया और लक्ष्मी या शोभासहित समस्त कलाओंका निरूपण किया ॥१२१॥ इसी अनन्तविजय पुत्रके लिए उन्होंने सूत्रधारकी विद्या तथा मकान बनानेकी विद्याका उपदेश दिया । उस विद्याके प्रतिपादक शास्त्रोंमें अनेक अध्यायोंका विस्तार था तथा उसके अनेक भेद थे ॥१२२॥ बाहुबली पुत्रके लिए उन्होंने कामनीति, स्त्री-पुरुषोंके लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदिके लक्षण जाननेके तन्त्र और रत्नपरीक्षा आदिके शास्त्र अनेक प्रकारके बड़े-बड़े अध्यायोंके द्वारा सिखलाये ॥१२३-१२४॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? संक्षेपमें इतना ही बस है कि लोकका उपकार करनेवाले जो-जो शास्त्र थे भगवान् आदिनाथने वे सब अपने पुत्रोंको सिखलाये थे ॥१२५॥ जिस प्रकार स्वभावसे देदीप्यमान रहनेवाले सूर्यका तेज शरद्ऋतुके आनेपर और भी अधिक हो जाता है उसी प्रकार जिन्होंने अपनी समस्त विद्याएँ प्रकाशित कर दी हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवका तेज उस समय भारी अद्भुत हो रहा था ॥१२६॥ जिन्होंने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसे पुत्रोंसे भगवान् वृषभदेव उस समय उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि शरद्ऋतुमें अधिक कान्तिको प्राप्त होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होता है ॥१२७॥ अपने इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेवका बहुत भारी समय निरन्तर अनेक प्रकारके दिव्य भोग भोगते हुए व्यतीत हो गया ॥१२८॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भोगोंका अनुभव करते हुए भगवान्का बीस लाख पूर्व वर्षोंका कुमारकाल पूर्ण हुआ था ऐसा उत्तम मुनिगण-

---

१. विनयोपदेशपुरस्सरम् । २ परिपाट्या । ३ नीतिशास्त्रम् । ४. सकलाः द० । ५. वैद्यशास्त्रम् । ६ कथितैः । ७. आत्मीयाः । ८. पुत्रान् । ९ शरद्द्युतिः द० । —व्याप्ततरुणभोभिः । १०. अतीतमभूत् । ११ कथितः ।

अत्रान्तरे महौषध्यो[1] दीप्तौषध्यश्च पादपाः । सर्वौषधयः कालाज्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥१३०॥
सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् [2]स्थितये नृणाम् । प्रायस्तान्यपि कालेन ययुर्विरलतां भुवि ॥१३१॥
[3]रसवीर्य[4]विपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यदा । तदातङ्का[5]दिबाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥१३२॥
[6]तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृताम् । नाभिराजमुपासेदुः प्रजा जीवितकाम्यया[7] ॥१३३॥
नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोऽन्तिकमुपाययुः । प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलिप्सया ॥१३४॥
अथ विज्ञापयामासुरित्युपेत्य सनातनम् । प्रजाः प्रजातसंत्रासा शरण्यं शरणाश्रिताः ॥१३५॥
वाञ्छन्त्यो जीविकां[8] देव त्वां वयं शरणं श्रिताः । [9]तन्नस्त्रायस्व[10] लोकेश तदुपाय[11] प्रदर्शनात् ॥१३६॥
विभो समूल[12]मुत्सन्ना [13]पितृकल्पा महाङ्घ्रिपाः । फलन्त्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना ॥१३७॥
क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वन्त्यस्मान्समुत्थिताः । न क्षमाः क्षणमप्येकं[14] प्राणितुं प्रोज्झिताशनाः ॥१३८॥
शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः । निराश्रयान्दुनोत्यद्य ब्रूहि नस्तत्प्रतिक्रियाम् ॥१३९॥
त्वा देवमादिकर्त्तारं कल्पांघ्रिपमिवोन्नतम् । समाश्रिताः कथं भीतेः पदं[15] स्याम वद विभो ॥१४०॥
[16]ततोऽस्माकं यथाद्य स्याज्जीविका निरुपद्रवा । तथोपदेष्टुमुद्योगं कुरु देव प्रसीद नः ॥१४१॥

धरदेवने गणना की है ॥१२९॥ इसी बीचमें कालके प्रभावसे महौषधि, दीप्तौषधि, कल्पवृक्ष तथा सब प्रकारकी ओषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थीं ॥१३०॥ मनुष्योंके निर्वाहके लिए जो बिना बोये हुए उत्पन्न होनेवाले धान्य थे वे भी कालके प्रभावसे पृथिवीमें प्रायः करके विरलताको प्राप्त हो गये थे—जहाँ कहीं कुछ-कुछ मात्रामें ही रह गये थे ॥१३१॥ जब कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदिसे रहित हो गये तब वहाँकी प्रजा रोग आदि अनेक बाधाओंसे व्याकुलताको प्राप्त होने लगी ॥१३२॥ कल्पवृक्षोंके रस, वीर्य आदिके नष्ट होनेसे व्याकुल मनोवृत्तिको धारण करती हुई प्रजा जीवित रहनेकी इच्छासे महाराज नाभिराजके समीप गयी ॥१३३॥ तदनन्तर नाभिराजकी आज्ञासे प्रजा भगवान् वृषभनाथके समीप गयी और अपने जीवित रहनेके उपाय प्राप्त करनेकी इच्छासे उन्हें मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगी ॥१३४॥ अथानन्तर अन्नादिके नष्ट होनेसे जिसे अनेक प्रकारके भय उत्पन्न हो रहे हैं और जो सबको शरण देनेवाले भगवान्की शरणको प्राप्त हुई है ऐसी प्रजा सनातन-भगवान्के समीप जाकर इस प्रकार निवेदन करने लगी कि ॥१३५॥ हे देव, हम लोग जीविका प्राप्त करनेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हुए हैं इसलिए हे तीन लोकके स्वामी, आप उसके उपाय दिखलाकर हम लोगोंकी रक्षा कीजिए ॥१३६॥ हे विभो, जो कल्पवृक्ष हमारे पिताके समान थे—पिताके समान ही हम लोगोंकी रक्षा करते थे वे सब मूलसहित नष्ट हो गये हैं और जो धान्य बिना बोये ही उत्पन्न होते थे वे भी अब नहीं फलते हैं ॥१३७॥ हे देव, बढ़ती हुई भूख प्यास आदिकी बाधाएँ हम लोगोंको दुखी कर रही हैं। अन्न-पानीसे रहित हुए हम लोग अब एक क्षण भी जीवित रहनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥१३८॥ हे देव, शीत, आतप, महावायु और वर्षा आदिका उपद्रव आश्रयरहित हम लोगोंको दुखी कर रहा है इसलिए आज इन सबके दूर करनेके उपाय कहिए ॥१३९॥ हे विभो, आप इस युगके आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्षके समान उन्नत हैं, आपके आश्रित हुए हम लोग भयके स्थान कैसे हो सकते हैं ? ॥१४०॥ इसलिए हे देव, जिस प्रकार हम लोगोंकी आजीविका निरुपद्रव हो जाये, आज उसी प्रकार उपदेश देनेका

१. दीप्तौषध्य॰। [एतद्रूपा॰ वृक्षा]। २. जीवनाय। ३. स्वादुः। ४. परिणनन। ५ सन्तापादि। ६. हानेः। ७ जीवितवाञ्छया। ८. जीवितम्। ९. तत् कारणात्। १०. रक्ष। ११ जीवितोपाय। १२. नष्टा। —मुच्छिन्नाः प०, द०। —मुच्छन्ना ल०। १३ पितृसदृशा। १४ जीवितुम्। १५ भवेम। १६. तत कारणात्।

श्रुत्वेति तद्वचो दीनं करुणाप्रेरिताशयः । मन[1]प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥१४२॥
पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता । साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजा. ॥१४३॥
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः । यथा ग्रामगृहादीनां[2] संस्त्यायाश्च[3] पृथग्विधाः ॥१४४॥
तथात्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरङ्गिनाम् । नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविकां प्रति ॥१४५॥
कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहाम् । ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥१४६॥
इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्त्युपायं क्षणं विभुः[4] । मुहुराश्वासयामास मा भैष्टेति तदा प्रजाः ॥१४७॥
अथानु[5]ध्यानमात्रेण विभो शक्रः सहामरैः । प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्[6]विभागतः ॥१४८॥
शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये । स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषूच्चैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥१४९॥
कृतप्रथममाङ्गल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम् । न्यवेशयत् पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥१५०॥
कोसलादीन् महादेशान् साकेतादिपुराणि च । सारामसीमनिगमान् खेटादींश्च न्यवेशयत् ॥१५१॥
देशाः सुकोसलावन्तीपुण्ड्रो[7]ड्राश्मकरम्यकाः । कुरुकाशीकलिङ्गाङ्गवङ्गसुह्माः समुद्रकाः ॥१५२॥
काश्मीरोशीनरानर्त[8]वत्सपञ्चालमालवाः । दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भाः कुरुजाङ्गलम्[9] ॥१५३॥

प्रयत्न कीजिए और हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिए ॥१४१॥ इस प्रकार प्रजाजनोंके दीन वचन सुनकर जिनका हृदय दयासे प्रेरित हो रहा है ऐसे भगवान् आदिनाथ अपने मनमें ऐसा विचार करने लगे ॥१४२॥ कि पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्रमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है उसीसे यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥१४३॥ वहाँ जिस प्रकार असि मषी आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णोंकी स्थिति है और जैसी ग्राम-घर आदिकी पृथक्-पृथक् रचना है उसी प्रकार यहाँपर भी होनी चाहिए। इन्हीं उपायोंसे प्राणियोंकी आजीविका चल सकती है। इनकी आजीविकाके लिए और कोई उपाय नहीं है ॥१४४-१४५॥ कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है, इसलिए यहाँ प्रजाको असि, मषी आदि छह कर्मोंके द्वारा ही आजीविका करना उचित है ॥१४६॥ इस प्रकार स्वामी वृषभदेवने क्षणभर प्रजाके कल्याण करनेवाली आजीविकाका उपाय सोचकर उसे बार बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ ॥१४७॥ अथानन्तर भगवान्के स्मरण करने मात्रसे देवोंके साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजाकी जीविकाके उपाय किये ॥१४८॥ शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्नके समय तथा सूर्य आदि ग्रहोंके अपने अपने उच्च स्थानोंमें स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान्के हर एक प्रकारकी अनुकूलता होनेपर इन्द्रने प्रथम ही मांगलिक कार्य किया और फिर उसी अयोध्या पुरीके बीचमें जिनमन्दिरकी रचना की। इसके बाद पूर्व दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओंमें भी यथाक्रमसे जिनमन्दिरोंकी रचना की ॥१४९-१५०॥ तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमासहित गाँव तथा खेड़ों आदिकी रचना की थी ॥१५१॥ सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल,

---

१ एकाग्र चकार। २. सन्निवेशाः। रचनाविशेष इत्यर्थः। ३. नानाविधा। ४. प्रभुः। ५ स्मरण। ६ विभागशः अ०, प०, द०, स० ट०। विभागात्। ७. पुण्ड्रोड्राः। ८ -वर्त- अ०, प०, द०। ९. कुरुजाङ्गलाः स०।

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोङ्कणा[1] । वनवासान्ध्रकर्णाटकोसलाश्चोलकेरला. ॥१५४॥
दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तका । विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवा ॥१५५॥
काम्बोजा[2] रट्टवाह्लीकतुरुष्कशककेकया । निवेशितास्तथान्येऽपि विभक्ता विषयास्तदा ॥१५६॥
[3]अदेवमातृका केचिद् विषया देवमातृकाः । परे[4] साधारणाः केचिद् यथास्वं ते निवेशिताः ॥१५७॥
अभूतपूर्वैरुद्भूतैर्भूरभात्तैर्जनास्पदैः[5] । दिव खण्डैरिवायातै कौतुकादवतीर्णतलम् ॥१५८॥
देशैः[6] साधारणानूपजाङ्गलैस्तैस्तता मही । रेजे[7] रजतभूमर्त्तु[8] राराद्[9] च पयोनिधे. ॥१५९॥
तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभवन् । स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥१६०॥
तदन्तरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः । लुब्धकारण्यचरक[10] पुलिन्दशवरादिभिः ॥१६१॥
मध्ये जनपदं रेजू राजधान्य परिष्कृता. । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभि ॥१६२॥
तानि[11] स्थानीयसंज्ञानि[12] दुर्गाण्यावृत्य सर्वतः । ग्रामादीनां निवेशोऽभूद्[13] यथाभिहितलक्षणाम्॥१६३॥
ग्रामावृतिपरिक्षेपमात्राः[14] स्युरुचिता[15] श्रयाः । शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः[16] सारामा सजलाशया ॥१६४॥
[17]ग्रामाः[ग्रामा'][18] कुलशतेनेष्टो[19] निकृष्टः समधिष्ठितः । [20]परस्तत्पञ्च[21] शत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीवलः १६५

दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय इन देशोंकी रचना की तथा इनके सिवाय उस समय और भी अनेक देशोंका विभाग किया ॥१५२-१५६॥ इन्द्रने उन देशोंमें-से कितने ही देश यथासम्भव रूपसे अदेवमातृक अर्थात् नदी-नहरों आदिसे सींचे जानेवाले, कितने ही देश देवमातृक अर्थात् वर्षाके जलसे सींचे जानेवाले और कितने ही देश साधारण अर्थात् दोनोंसे सींचे जानेवाले निर्माण किये थे ॥१५७॥ जो पहले नहीं थे नवीन ही प्रकट हुए थे ऐसे देशोंसे वह पृथिवीतल ऐसा सुशोभित होता था मानो कौतुकवश स्वर्गके टुकडे ही आये हों ॥१५८॥ विजयार्ध पर्वतके समीपसे लेकर समुद्र पर्यन्त कितने ही देश साधारण थे, कितने ही बहुत जलवाले थे और कितने ही जलकी दुर्लभतासे सहित थे, उन देशोंसे व्याप्त हुई पृथिवी भारी सुशोभित होती थी ॥ १५९ ॥ जिस प्रकार स्वर्गके धामों-स्थानोंकी सीमाओंपर लोकपाल देवोंके स्थान होते हैं उसी प्रकार उन देशोंकी अन्त सीमाओंपर भी सब ओर अन्तपाल अर्थात् सीमारक्षक पुरुषोंके किले बने हुए थे ॥ १६० ॥ उन देशोंके मध्यमें और भी अनेक देश थे जो लुब्धक, आरण्य, चरट, पुलिन्द तथा शबर आदि म्लेच्छ जातिके लोगोंके द्वारा रक्षित रहते थे ॥ १६१ ॥ उन देशोंके मध्यभागमें कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदिसे शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थीं ॥ १६२ ॥ जिनका दूसरा नाम स्थानीय है ऐसे राजधानीरूपी किलेको घेरकर सब ओर शास्त्रोक्त लक्षणवाले गाँवों आदिकी रचना हुई थी ॥१६३॥ जिनमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबोंसे सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं ॥१६४॥ जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा गाँव कहते हैं तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और

१.-कोङ्कणाः ब० । २. कम्बोजारट्ट-म० । ३ नदीमातृकाः । ४ नदीमातृकदेवमातृक- मिश्राः । ५. देशैः । ६. जलप्रायकर्दमप्रायैः । ७. विजयार्द्धस्य । ८ समीपात् । ९. समुद्रपर्यन्तम् । १०. -चरट प० द०, म०, ल० । ११ प्राक्तनपलोकोक्तराजधानीनामेव स्थानीयसञ्ज्ञानि । १२. स्थानीयसञ्ज्ञान्यावृत्य सर्वतस्तिष्ठन्तीति सम्बन्ध । १३. यथोक्तलक्षणानाम् । १४. मात्राभिरुचिता- अ०, स०, ल०, म० । १५. योग्यगृहाः । १६ आरामसहिताः । १७. ग्रामः द०, स०, म०, ल०, अ०, प०, ब० । १८, गृहशतेन । १९. जघन्यः । २०. उत्कृष्टः २१. गृह पञ्चशतेन ।

क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः । [1]सम्पन्नसस्यसुक्षेत्राः [2]प्रभूतयवसोदकाः ॥१६६॥
सरिद्गिरिदरी[3]गृष्टिक्षीरकण्टकशाखिनः । वनानि सेतवश्चेति तेषां सीमोपलक्षणम् ॥१६७॥
तत्कर्तृभोक्तृनियमो [4]योगक्षेमानुचिन्तनम् । विष्टिदण्डकराणां च निबन्धो [5]राजसाद्भवेत् ॥१६८॥
परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम् । नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ॥१६९॥
पुरमेवंविधं शस्तमुचितोद्देशसुस्थितम् । [6]पूर्वोत्तरप्लवाम्भस्कं [7]प्रधानपुरुषोचितम् ॥१७०॥
सरिद्गिरिभ्यां संरुद्धं [8]खेटमाहुर्मनीषिणः । केवलं गिरिसंरुद्धं खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥१७१॥
मडम्बमामनन्ति ज्ञाः [9]पञ्चग्रामशतीवृतम् । पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवतीर्यते ॥१७२॥
भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम् । संवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंचय इष्यते ॥१७३॥
[10]पुटभेदनभेदानामभीषां च क्वचित्क्वचित् । संनिवेशो[11]ऽभवत् पृथ्व्यां यथोद्देशमितोऽमुतः ॥१७४॥
शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया । राजधान्यास्तथा द्रोणमुखखर्वटयोः क्रमात् ॥१७५॥

जिसके किसान धनसम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं ॥१६५॥ छोटे गाँवोंकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवोंकी सीमा दो कोसकी होती है। इन गाँवोंके धानके खेत सदा सम्पन्न रहते हैं और इनमें घास तथा जल भी अधिक रहता है ॥१६६॥ नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान क्षीरवृक्ष अर्थात् थूवर आदिके वृक्ष, बबूल आदि कँटीले वृक्ष, वन और पुल ये सब उन गाँवोंकी सीमाके चिह्न कहलाते हैं अर्थात् नदी आदिसे गाँवोंकी सीमाका विभाग किया जाता है॥१६७॥ गाँवके बसाने और उपभोग करनेवालोंके योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तुके बनाने और पुरानी वस्तुकी रक्षा करनेके उपाय, वहाँके लोगोंसे बेगार कराना, अपराधियोंका दण्ड करना तथा जनतासे कर वसूल करना आदि कार्य राजाओंके अधीन रहते थे ॥१६८॥ जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकारसे सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबोंसे सहित हो, जो उत्तम रीतिसे अच्छे स्थानपर बसा हुआ हो, जिसमें पानीका प्रवाह पूर्व और उत्तरके बीचवाली ईशान दिशाकी ओर हो और जो प्रधान पुरुषोंके रहनेके योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है ॥१६९-१७०॥ जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं और जो केवल पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं ॥१७१॥ जो पाँच सौ गाँवोंसे घिरा हो उसे पण्डितजन मडम्ब मानते हैं और जो समुद्रके किनारे हो तथा जहाँपर लोग नावोंके द्वारा उतरते हैं—(आते-जाते हैं) उसे पत्तन कहते हैं ॥१७२॥ जो किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं और जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों वह संवाह कहलाता है ॥१७३॥ इस प्रकार पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अपने-अपने योग्य स्थानोंके अनुसार कहीं-कहींपर ऊपर कहे हुए गाँव नगर आदिकी रचना हुई थी ॥१७४॥ एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं, एक द्रोणमुखमें चार सौ गाँव होते हैं और एक खर्वटमें दो सौ गाँव होते हैं। दश गाँवोंके बीच जो एक बड़ा भारी गाँव होता है उसे संग्रह (जहाँपर हर एक वस्तुओंका संग्रह रखा जाता हो) कहते हैं। इसी प्रकार घोष तथा आकर आदिके लक्षणोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए अर्थात् जहाँपर बहुत

१ फलित। २ प्रचुरतृणजला। ३. श्मशानम्। –भृष्टि–प०, द०, म०, ल०। –सृष्टि– अ०, स०। ४ अलब्धलाभो योग, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तयोः चिन्तनम्। ५. नृपाधीनं भवेत्। ६ पूर्वोत्तरप्रवाहजलम्। 'नगरके मार्गका जल पूर्व और उत्तरमें बहे तो नगरनिवासियोंको लाभ है अथवा पूर्वोत्तरशब्दवाच्य ईशान दिशामें बहे तो नगरवासियोंको अत्यन्त लाभ है।' इति हिन्दीभाषाया स्पष्टोऽर्थः। ७. नृपादियोग्यम्। ८. खेड– म०, ल०। ९ पञ्चग्रामशतीपरिवेष्टितम्। १० पत्तनम्। ११. –भवेत् ब०, द०।

[1]दशग्राम्यास्तु मध्ये यो महान् ग्राम. स संग्रहः । तथा [2]घोषकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यताम् ॥१७६॥
[3]पुरां विभागमित्युच्चै. कुर्वन् गीर्वाणनायकः । तदा पुरन्दरख्यातिमगादन्वर्थतां गताम् ॥१७७॥
ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु स्रष्टुराज्ञया । जगाम कृतकार्यो गां[4] मघवानुज्ञया प्रभो. ॥१७८॥
असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च । कर्माणीमानि षोढा स्यु. प्रजाजीवनहेतव[5] ॥१७९॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात् । [6]उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरु ॥१८०॥
तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता । कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥
वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात् करकौशलम् । तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि[7] बहुधा स्मृतम् ॥१८२॥
उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा । क्षत्रिया वणिज शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥
क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् । वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः[8] ॥१८४॥
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्या स्यु ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पत । तत्रास्पृश्या प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्यु. [9]कर्तकादय. ॥१८६॥

घोष (अहीर) रहते हैं उसे घोष कहते है और जहाँपर सोने चाँदी आदिकी खान हुआ करती है उसे आकर कहते हैं ॥१७५-१७६॥ इस प्रकार इन्द्रने बड़े अच्छे ढंगसे नगर, गाँवों आदिका विभाग किया था इसलिए वह उसी समयसे पुरन्दर इस सार्थक नामको प्राप्त हुआ था॥१७७॥ तदनन्तर इन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे इन नगर, गाँव आदि स्थानोंमें प्रजाको बसाकर कृतकृत्य होता हुआ प्रभुकी आज्ञा लेकर स्वर्गको चला गया ॥१७८॥ असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजाकी आजीविकाके कारण हैं। भगवान् वृषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाके लिए इन्हीं छह कर्मों-द्वारा वृत्ति (आजीविका) करनेका उपदेश दिया था सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान् सरागी ही थे वीतराग नहीं थे। भावार्थ- सांसारिक कार्योंका उपदेश सराग अवस्थामें दिया जा सकता है ॥१७९-१८०॥ उन छह कर्मोंमें-से तलवार आदि शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मषिकर्म कहलाता है, जमीनको जोतना-बोना कृषिकर्म कहलाता है, शास्त्र अर्थात् पढ़ाकर या नृत्य-गायन आदिके द्वारा आजीविका करना विद्याकर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्तकी कुशलतासे जीविका करना शिल्पकर्म है वह शिल्पकर्म चित्र खींचना, फूल-पत्ते काटना आदिकी अपेक्षा अनेक प्रकारका माना गया है ॥१८१-१८२॥ उसी समय आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने तीन वर्णोंकी स्थापना की थी जो कि क्षतत्राण अर्थात् विपत्तिसे रक्षा करना आदि गुणोंके द्वारा क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते थे ॥१८३॥ उस समय जो शस्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए, जो खेती व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकारके थे—एक कारु और दूसरा अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे। कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं उनमें जो प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके अयोग्य कहते हैं और नाई

---

१. दशग्रामसमाहारस्य । २. "घोष आभीरपल्ली स्यात्" इत्यमरः । ३. नगराणाम् । ४ स्वर्गम् । ५. हेतवे अ०, म०, ल० । ६. उपादिशत् म०, ल० । ७ पत्रच्छेद्यादि अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ८. —जीविनः अ०, प०, म०, ब०, ल० । ९ 'शालिको मालिकश्चैव कुम्भकार'-स्तिलंतुद. । नापितश्चेति पञ्चामी भवन्ति स्पृश्यकारुका' ॥ रजकस्तक्षकश्चैवायस्कारो लोहकारकः । स्वर्णकारश्च पञ्चैते भवन्त्यस्पृश्यकारुका. ॥" [एतौ श्लोकौ 'द' पुस्तकेऽप्युल्लिखितौ] ।

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा [1]दधुरसंकरम्। विवाहजातिसंबन्धव्यवहारश्च [2]तन्मतम् ॥१८७॥
यावती जगती [3]वृत्तिरपापोपहता च या। सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता [4]सनातनः ॥१८८॥
युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः। ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥१८९॥
आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती। कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥१९०॥
कियत्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः। यदा सौस्थित्यमायाताः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥१९१॥
तदास्याविरभूद् द्यावापृथिव्योः प्राभवं महत्। आधिराज्येऽभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्वरम् ॥१९२॥
सुरैः कृतादरैर्दिव्यैः सलिलैरादिवेधसः। कृतोऽभिषेक इत्येव वर्णनास्तु किमन्यया ॥१९३॥
तथाप्यनूद्यते [5]किंचित् [6]तद्गतं वर्णनान्तरम्। सुप्रतीतमपि प्रायो यन्नावैति [7]पृथग्जनः ॥१९४॥
तदा किल जगद्विश्वं बभूवानन्दनिर्भरम्। दिवोऽ[8]वातारिषुर्देवाः पुरोधाय[9] पुरंदरम् ॥१९५॥
कृतोपशोभमभवत् पुरं साकेतसाह्वयम्। हर्म्याग्रभूमिकाबद्धकेतुमालाकुलाम्बरम् ॥१९६॥
तदानन्दमहाभेर्यः प्रणेदुर्नृपमन्दिरे। मङ्गलानि जगुर्वारनार्यो नेटुः सुराङ्गनाः ॥१९७॥
सुरवैतालिकाः [10]पेठु[11]रुत्साहान् सह मङ्गलैः। प्रचक्रुरमरास्तोषाज्जय जीवेति घोषणाम् ॥१९८॥

वगैरहको स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करनेके योग्य कहते हैं ॥१८४-१८६॥ उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मोंको यथायोग्य रूपसे करती थी। अपने वर्णकी निश्चित आजीविकाको छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करता था इसलिए उनके कार्योंमें कभी संकर (मिलावट) नहीं होता था। उनके विवाह, जाति सम्बन्ध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान् आदिनाथकी आज्ञानुसार ही होते थे ॥१८७॥ उस समय संसारमें जितने पापरहित आजीविकाके उपाय थे वे सब भगवान् वृषभदेवकी सम्मतिमें प्रवृत्त हुए थे सो ठीक है क्योंकि सनातन ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ही हैं ॥१८८॥ चूँकि युगके आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने इस प्रकार कर्मयुगका प्रारम्भ किया था इसलिए पुराणके जाननेवाले उन्हें कृतयुग नामसे जानते हैं ॥१८९॥ कृतकृत्य भगवान् वृषभदेव आषाढमासके कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन कृतयुगका प्रारम्भ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपने)को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे थे ॥१९०॥ इस प्रकार जब कितना ही समय व्यतीत हो गया और छह कर्मोंकी व्यवस्थासे जब प्रजा कुशलतापूर्वक सुखसे रहने लगी तब देवोंने आकर शीघ्र ही उनका सम्राट् पदपर अभिषेक किया उस समय उनका प्रभाव स्वर्गलोक और पृथिवीलोकमें खूब ही प्रकट हो रहा था ॥१९१-१९२॥ यद्यपि भगवान्के राज्याभिषेकका अन्य विशेष वर्णन करनेसे कोई लाभ नहीं है इतना वर्णन कर देना ही बहुत है कि आदरसे भरे हुए देवोंने दिव्यजलसे उन आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका अभिषेक किया था तथापि उसका कुछ अन्य वर्णन कर दिया जाता है क्योंकि प्रायः साधारण मनुष्य अत्यन्त प्रसिद्ध बातको भी नहीं जानते हैं ॥१९३-१९४॥ उस समय समस्त संसार आनन्दसे भर गया था, देवलोग इन्द्रको आगे कर स्वर्गसे अवतीर्ण हुए थे-उतरकर अयोध्यापुरी आये थे ॥ १९५ ॥ उस समय अयोध्यापुरी खूब ही सजायी गयी थी। उसके मकानोंके अग्रभागपर बाँधी गयी पताकाओंसे समस्त आकाश भर गया था ॥ १९६ ॥ उस समय राजमन्दिरमें बड़ी आनन्द-भेरियाँ बज रही थीं, वारस्त्रियाँ मंगलगान गा रही थीं और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं ॥१९७॥ देवोंके वन्दीजन मंगलोंके साथ-साथ भगवान्के पराक्रम पढ़ रहे थे और देवलोग सन्तोषसे

---

१ दधु- म०, ल०। २ तत्पुरुनाथमतं यथा भवति तथा। ३. जगतो वृत्ति- अ०, प०, स०, म०, द०। ४. नित्य। ५ उच्यते। ६. अभिषेकप्राप्तम्। ७ साधारणजन.। ८. अवतरन्ति स्म। ९. अग्रे कृत्वा। १०. घोषकाः ११. वीर्याणि।

प्रथमं पृथिवीमध्ये मृत्स्नारचितवेदिके । सुरशिल्पिसमारब्धपरार्ध्यानन्दमण्डपे ॥१९९॥
रत्नचूर्णचयन्यस्त[1]रङ्गवल्ल्युपचित्रिते । [2]प्रत्यग्रोद्भिन्नविक्षिप्तसुमनःप्रकराञ्चिते ॥२००॥
मणिकुट्टिमसंक्रान्तबिम्बमौक्तिकलम्बने । लसद्वितानकक्षौम[3]च्छायाचित्रितरङ्गके ॥२०१॥
धृतमङ्गलनाकस्त्रीरुद्धसंचारवर्तिनि [वर्त्मनि] । पर्यन्तनिहितानल्पमङ्गलद्रव्यसंपदि ॥२०२॥
सुरवारवधूहस्तविधूतचलचामरे । अन्योन्यहस्तसंक्रान्तनानास्नानपरिच्छदे[4] ॥२०३॥
सलीलपदविन्यासस्संचरन्नाककामिनी । रणन्नूपुरझंकारमुखरीकृतदिङ्मुखे ॥२०४॥
नृपाङ्गणमहीरङ्गे वृतमङ्गलसंग्रहे । निवेश्य प्राङ्मुखं देवमुचिते हरिविष्टरे ॥२०५॥
गन्धर्वारब्धसंगीतमृदङ्गामन्द्रनिःस्वने । त्रिविष्टपकुटीकोडमाक्रामति सदिक्तटम् ॥२०६
नृत्यन्नाकाङ्गनापाठ्य[6]निस्स्वनानुगतस्वरम् । गायन्तीषु यशो जिष्णो[7] किन्नरीषु [8]श्रवस्सुखम् ॥२०७॥
ततोऽभिषेचनं भर्तुः कर्तुमारेभिरे[9]ऽमराः । शातकुम्भविनिर्माणैः कुम्भैस्तीर्थाम्बुसंभृतैः ॥२०८॥
गङ्गासिन्ध्वोर्महानद्योरप्राप्य धरणीतलम् । प्रपाते हिमवत्कूटाद् यदम्बु समुपाहृतम् ॥२०९॥
यच्च गाङ्गं पयः स्वच्छं गङ्गाकुण्डात् समाहृतम् । सिन्धुकुण्डादुपानीतं सिन्धोर्यत्[10]कमपङ्ककम् ॥२१०॥
[11]शेषाणां साप्गानां च सलिलं यदनाविलम्[12] । [13]तत्तत्कुण्डतदापात[14]समासादितजन्मकम् ॥२११॥

'जय जीव', इस प्रकारकी घोषणा कर रहे थे ॥ १९८ ॥ राज्याभिषेकके प्रथम ही पृथिवीके मध्यभागमें जहाँ मिट्टीकी वेदी बनायी गयी थी और उस वेदीपर जहाँ देव-कारीगरोंने बहुमूल्य— श्रेष्ठ आनन्दमण्डप बनाया था, जो रत्नोंके चूर्णसमूहसे बनी हुई रंगावलीसे चित्रित हो रहा था, जो नवीन खिले हुए बिखरे गये पुष्पोंके समूहसे सुशोभित था, जहाँ मणियोंसे जड़ी हुई जमीनमें ऊपर लटकते हुए मोतियोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, जहाँ रेशमी वस्त्रके शोभायमान चँदोवाकी छायासे रंगभूमि चित्रित हो रही थी, जहाँ मंगल द्रव्योंको धारण करनेवाली देवांगनाओंसे आने-जानेका मार्ग रुक गया था, जहाँ समीपमें बड़े-बड़े मंगलद्रव्य रखे हुए थे, जहाँ देवोंकी अप्सराएँ अपने हाथोंसे चंचल चमर ढोल रही थीं, जहाँ स्नानकी सामग्रीको लोग परस्पर एक दूसरेके हाथमें दे रहे थे, जहाँ लीलापूर्वक पैर रखकर इधर-उधर चलती हुई देवांगनाओंके रुनझुन शब्द करते हुए नुपुरोंकी झनकारसे दशों दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं, और जहाँ अनेक मंगलद्रव्योंका संग्रह हो रहा था ऐसे राजमहलके आँगनरूपी रंगभूमिमें योग्य सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भगवान् वृषभदेवको बैठाया और जब गन्धर्व देवोंके द्वारा प्रारम्भ किए हुए संगीतके समय होनेवाला मृदंगका गम्भीर शब्द समस्त दिक्तटोंके साथ-साथ तीन लोकरूपी कुटीके मध्यमें व्याप्त हो रहा था तथा नृत्य करती हुई देवांगनाओंके पढ़े जानेवाले संगीतके स्वरमें स्वर मिलाकर किन्नर जातिकी देवियाँ कानोंको सुख देनेवाला भगवानका यश गा रही थीं उस समय देवोंने तीर्थोदकसे भरे हुए सुवर्णके कलशोंसे भगवान् वृषभदेवका अभिषेक करना प्रारम्भ किया ॥१९९-२०८॥ भगवान्के राज्याभिषेकके लिए गंगा और सिन्धु इन दोनों महानदियोंका वह जल लाया गया था जो हिमवत्पर्वतकी शिखरसे धारा रूपमें नीचे गिर रहा था तथा जिसने पृथिवीतलको छुआ तक भी नहीं था। भावार्थ— नीचे गिरनेसे पहले ही जो बरतनोंमें भर लिया गया था ॥२०९॥ इसके सिवाय गंगाकुण्डसे गंगा नदीका स्वच्छ जल लाया गया था और सिन्धुकुण्डसे सिन्धु नदीका निर्मल जल लाया गया था ॥२१०॥ इसी प्रकार ऊपरसे पड़ती हुई अन्य नदियोंका स्वच्छ जल भी उनके गिरनेके

१ रचित । २ नवविकसित । ३. दुकूल । ४. परिदरे । ५ मध्यम् । ६ गद्यपद्यादि । ७. जिनेन्द्रस्य । ८ श्रवणरमणीयम् यथा भवति तथा । ९. उपक्रमं चक्रिरे । १० जलम् । ११. रोहिद्रोहितास्यादीनाम् । १२ अकलुषम् । १३. तानि च तानि कुण्डानि । १४. सम्प्राप्तजननम् ।

श्रीदेवीभिर्यदानीतं पद्मादिसरसां पयः । हेमारविन्दकिञ्जल्कपुञ्जसञ्जातरञ्जनम् ॥२१२॥

यद्वारि [1]सारसं हारिकह्लारस्वादु[2] सोत्पलम् । यच्च [3]तन्मौक्तिकोद्गारं[4] सार [5]लावणसैन्धवम् ॥२१३॥

यास्ता नन्दीश्वरद्वीपे[6] वाप्यो नन्दोत्तरादयः । सुप्रसन्नोदकास्तासामापो याश्च विकल्मषाः ॥२१४॥

यच्चाम्भः संभृतं क्षीरसिन्धोर्नन्दीश्वरार्णवात् । स्वयंभूरमणाब्धेश्च दिव्यैः कुम्भैर्हिरण्मयैः ॥२१५॥

इत्याम्नातै[7]र्जलैरेभिरभिषिक्तो जगद्गुरुः । स्वयंपूतमरङ्गै[8]रपुनात् तानि केवलम् ॥२१६॥

सुरैरावर्जिता वारां धारा मूर्ध्नि विभोरभात् । राजलक्ष्म्या [9]निवेशोऽयमिति धारेव पातिता ॥२१७॥

चराचरगुरोर्मूर्ध्नि पतन्त्यो रेजुरच्छटाः । जगत्तापच्छिदः स्वच्छा गुणानामिव संपदः ॥२१८॥

सुरेन्द्रैरभिषिक्तस्य सलिलैः [10]सौरसैन्धवैः । निसर्गशुचिगात्रस्य पराशुद्धिरभूद् विभोः ॥२१९॥

नाकीन्द्राः क्षालयाञ्चक्रुः विभोर्नाङ्गानि केवलम् । प्रेक्षकाणां मनोवृत्तिं नेत्राण्यपि[11] घनान्यपि ॥२२०॥

नृत्यत्सुराङ्गनापाङ्गशरास्तस्मिन् प्लवेऽम्भसाम् । [12]पायिता [13]नु जलं तीव्रं यच्चेतांस्यभिदन्[14] नृणाम् ॥२२१॥

कुण्डोसे लाया गया था ॥ २११ ॥ श्री ह्री आदि देवियाँ भी पद्म आदि सरोवरोंका जल लायी थीं जो कि सुवर्णमय कमलोंकी केसरके समूहसे पीतवर्ण हो रहा था ॥ २१२ ॥ सायंकालके समय खिलनेवाले सुगन्धित कमलोंकी सुगन्धसे मधुर, अतिशय मनोहर और नील कमलों-सहित तालावोंका जल लाया गया था। जो बाहर प्रकट हुए मोतियोंके समूहसे अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसा लवणसमुद्रका जल भी लाया गया था ॥ २१३ ॥ नन्दीश्वर द्वीपमें जो अत्यन्त स्वच्छ जलसे भरी हुई नन्दोत्तरा आदि वापिकाएँ हैं उनका भी स्वच्छ जल लाया गया था ॥२१४॥ इसके सिवाय क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र तथा स्वयम्भूरमण समुद्रका भी जल सुवर्णके बने हुए दिव्य कलशोंमें भरकर लाया गया था ॥२१५॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए प्रसिद्ध जलसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका अभिषेक किया गया था। चूँकि भगवान्का शरीर स्वयं ही पवित्र था अतः अभिषेकसे वह क्या पवित्र होता ? केवल भगवान्ने ही अपने स्वयं पवित्र अंगोंसे उस जलको पवित्र कर दिया था ॥२१६॥ उस समय भगवान्के मस्तकपर देवोंके द्वारा छोड़ी हुई जलकी धारा ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो उस मस्तकको राज्यलक्ष्मीका आश्रय समझ कर ही छोड़ी गयी हो ॥ २१७ ॥ चर और अचर पदार्थोंके गुरु भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर पड़ती हुई जलकी छटाएँ ऐसी शोभायमान होती थीं मानो संसारका सन्ताप नष्ट करने-वाली और निर्मल गुणोंकी सम्पदाएँ ही हों ॥ २१८ ॥ यद्यपि भगवान्का शरीर स्वभावसे ही पवित्र था तथापि इन्द्रने गंगा नदीके जलसे उसका अभिषेक किया था इसलिए उसकी पवित्रता और अधिक हो गयी थी ॥ २१९ ॥ उस समय इन्द्रोंने केवल भगवान्के अंगोंका ही प्रक्षालन नहीं किया था किन्तु देखनेवाले पुरुषोंकी मनोवृत्ति, नेत्र और शरीरका भी प्रक्षालन किया था। भावार्थ-भगवान्का राज्याभिषेक देखनेमें मनुष्योंके मन, नेत्र तथा समस्त शरीर पवित्र हो गये थे ॥ २२० ॥ उस समय नृत्य करती हुई देवांगनाओंके कटाक्षरूपी बाण उस जलके प्रवाहमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे इसलिए ऐसे मालूम होते थे मानो उनपर तेज पानी रखा गया हो और इसलिए वे मनुष्योंके चित्तको भेदन कर रहे थे। भावार्थ—देवांगनाओंके कटाक्षोंसे देखनेवाले मनुष्योंके चित्त भिद जाते थे ॥ २२१ ॥ भगवान्के शरीरके संसर्गसे

---

१ मर.सवन्वि। २. मनोहरम्। ३ तत्समुद्र–मुक्ताफलशवलम्। ४. –तार म०, प०, ल०, ट०। –सार अ०। ५ लवणसिन्धो भवन्वि। ६. –द्वीपवाप्यो– प०, अ०, म०, द०, म०, ल० । ७ आहृतैः। ८ पवित्राण्यकरोत्। ९ आश्रय। १० सुरसिन्धुभवन्विभि·। ११ शरीराणि। १२. पान कारिता·। ["पानी चढाकर तीक्ष्णधार किये गये है।" इति हिन्दी]। १३. इव। १४ विदारयन्ति स्म।

जलैरनाविलैर्भर्तुरङ्गसंगात् पवित्रितैः। धराक्रान्ता ध्रुवं दिष्ट्या वर्द्धिता स्वामिसंपदा ॥२२२॥
कृताभिषेको रुरुचे भगवान् सुरनायकैः। हैमैः कुम्भैर्घनैः साध्यैः यथा मन्दरभूधरः ॥२२३॥
नृपा मूर्द्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरस्सराः। राजवद्राजसिंहोऽयमभ्यषिच्यत तैस्समम् ॥२२४॥
पौराश्च नलिनीपत्रपुटैः कुम्भैश्च मार्त्तिकैः। सारवेणाम्बुना चक्रुर्भर्तुः पादाभिषेचनम् ॥२२५॥
मागधाद्याश्च वन्येन्द्रास्त्रिज्ञानधरमार्चिचन्। नाथोऽस्मद्विषयस्येति प्रीताः पुण्याभिषेचनैः ॥२२६॥
पूतस्तीर्थाम्बुभिः स्नातः कषायसलिलैः पुनः। धौतो गन्धाम्बुभिर्दिव्यैः रस्नापि चरमं विभुः ॥२२७॥
कृतावगाहनो भूयो हेमस्नानीयकुण्डके। सुखोष्णैः सलिलैर्धाता सुखमज्जनमन्वभूत् ॥२२८॥
स्नानान्तोज्झितविक्षिप्तमाल्यांशुकविभूषणैः। भर्तुः गात्राङ्गसंस्पृष्टैर्दायैर्वासीद्धराङ्गना ॥२२९॥
सुस्नातमङ्गलान्युच्चैः पठत्सु सुरवन्दिषु। राज्यलक्ष्मीसमुद्वाहे स्नातः निरविशद् विभुः ॥२३०॥
अथ निर्वर्तितस्नानं कृतनीराजनं विभुम्। स्वर्भुवो भूषयामासुर्दिव्यैः स्रग्भूषणाम्बरैः ॥२३१॥

पवित्र हुई निर्मल जलसे समस्त पृथिवी व्याप्त हो गयी थी इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामी वृषभदेवकी राज्य-सम्पदासे सन्तुष्ट होकर अपने शुभ भाग्यसे बढ़ ही रही हो ॥ २२२ ॥ इन्द्र जब सुवर्णके बने हुए कलशोंसे भगवान्‌का अभिषेक करते थे तब भगवान् ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि सायंकालमें होनेवाले बादलोंसे मेरु पर्वत सुशोभित होता है ॥ २२३ ॥ नाभिराजको आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे उन सभीने 'सब राजाओंमें श्रेष्ठ यह वृषभदेव वास्तवमें राजाके योग्य हैं' ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था ॥२२४॥ नगरनिवासी लोगोंने भी किसीने कमलपत्रके बने हुए दोनेसे और किसीने मिट्टीके घड़ेसे सरयू नदीका जल लेकर भगवान्‌के चरणोंका अभिषेक किया था ॥ २२५ ॥ मागध आदि व्यन्तरदेवोंके इन्द्रोंने भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवकी 'यह हमारे देशके स्वामी हैं' ऐसा मानकर प्रीतिपूर्वक पवित्र अभिषेकके द्वारा पूजा की थी ॥ २२६ ॥ भगवान् वृषभदेवका सबसे पहले तीर्थजलसे अभिषेक किया था फिर कषाय जलसे अभिषेक किया गया और फिर सुगन्धित द्रव्योंसे मिले हुए सुगन्धित जलसे अन्तिम अभिषेक किया गया था ॥२२७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवान्‌ने कुछ-कुछ गरम जलसे भरे हुए स्नान करने योग्य सुवर्णके कुण्डमें प्रवेश कर सुखकारी स्नानका अनुभव किया था ॥२२८॥ भगवान्‌ने स्नान करनेके अन्तमें जो माला, वस्त्र और आभूषण उतारकर पृथिवीपर छोड़ दिये थे—डाल दिये थे उनसे वह पृथिवीरूपी स्त्री ऐसी मालूम होती थी मानो उसे स्वामीके शरीरका स्पर्श करनेवाली वस्तुएँ ही प्रदान की गयी हों। भावार्थ—लोकमें स्त्री पुरुष प्रेमवश एक दूसरेके शरीरसे छुए गये वस्त्राभूषण धारण करते हैं यहाँपर आचार्यने भी उसी लोकप्रसिद्ध बातको उत्प्रेक्षालंकारसे गुम्फित किया है ॥२२९॥ इस प्रकार जब देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे शुभस्नानसूचक मंगल-पाठ पढ़ रहे थे तब भगवान् वृषभदेवने राज्यलक्ष्मीको धारण करने अथवा उसके साथ विवाह करने योग्य स्नानको प्राप्त किया था ॥२३०॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक पूर्ण हो चुका है और जिनकी आरती की जा चुकी है ऐसे भगवान्‌को देवोंने स्वर्गसे लाये हुए माला, आभूषण और वस्त्र आदिसे अलंकृत किया ॥ २३१ ॥

१. सन्तोषेण। २. राजार्हम् यथा भवति तथा। ३. युगपत्। ४. मृत्तिकामयैः। ५. सरयूसंबन्धिना। ६. मागधवरतनुप्रमुखाः। ७ व्यन्तरेन्द्राः। ८. प्रीत्या प०, म०, द०, ल०। –द्रव्यैः– म०, ल०। १०. अस्नपयत्। ११. पश्चात्। १२. सुस्नातोज्झित– स०। १३ भर्तुः सकाशात्। १४. विवाहाद्युत्साहे देये द्रव्य दायः। दायैर्वासी– प०, म०, ल०। १५ सुस्नान। सुस्नात– प०, म०, द०, ल०। १६ विवाह। १७. अन्वभवत्। १८. देवाः।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत् प्रभो । महाम[1]कुटवद्धानामधिराड् भगवानिति ॥२३२॥
पट्टबन्धोऽस्य जगद्बन्धोर्ललाटे विनिवेशितः । बन्धनं राजलक्ष्म्या[2]स्विद्[3]गत्वर्या[4]स्थैर्यसाधनम् ॥२३३॥
स्रग्वी सदंशुकः कर्णद्वयोल्लसितकुण्डलः । दधानो[5]मकुटं मूर्ध्ना लक्ष्म्या क्रीडाचलायितम् ॥२३४॥
कण्ठे हारलतां बिभ्रत् कटिसूत्रं कटीतटे । ब्रह्मसूत्रो[6]पवीताङ्गः स गाङ्गौघमिवाद्रिराट् ॥२३५॥
कटकाङ्गदकेयूरभूषितायतदोर्युगः । पर्युल्लसन्महाशाखः कल्पशाखीव जङ्गमः ॥२३६॥
सनीलरत्ननिर्माणनूपुरावुद्वहन्क्रमौ । निलीनभृङ्गसंफुल्लरक्ततामरसश्रियौ ॥२३७॥
इति प्रत्यङ्गसंगिन्या बभौ भूषणसम्पदा । भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणाङ्ग[7]इवाङ्घ्रिपः ॥२३८॥
ततः सानन्दमानन्दनाटकं नाट्यवेदवित् । प्रयुज्यास्थायिका[8]रङ्गे प्रत्यगाद् गां[9] सहस्रगु[10] ॥२३९॥
व्रजन्तमनुजग्मुस्तं कृतकार्याः सुरासुराः । भगवत्पादसंसेवानियुक्तस्वान्तवृत्तयः ॥२४०॥
अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य संनिधौ । प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् ॥२४१॥
कृत्वादितः प्रजासर्गं[11] तद्[12]वृत्तिनियमं पुनः । स्वधर्मानतिवृत्त्यैव[13]नियच्छन्नन्वशात् प्रजाः ॥२४२॥

'महामुकुटवद्ध राजाओंके अधिपति भगवान् वृषभदेव ही हैं' यह कहते हुए महाराज नाभिराजने अपने मस्तकका मुकुट अपने हाथसे उतारकर भगवान्‌के मस्तकपर धारण किया था ॥२३२॥ जगत् मात्रके बन्धु भगवान् वृषभदेवके ललाटपर पट्टबन्ध भी रखा जो कि ऐसा मालूम होता था मानो यहाँ-वहाँ भागनेवाली-चंचल राज्यलक्ष्मीको स्थिर करनेवाला एक बन्धन ही हो ॥२३३॥ उस समय भगवान् मालाएँ पहने हुए थे, उत्तम वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके दोनों कानोंमें कुण्डल सुशोभित हो रहे थे। वे मस्तकपर लक्ष्मीके क्रीड़ाचलके समान मुकुट धारण किये हुए थे, कण्ठमें हारलता और कमरमें करधनी पहने हुए थे। जिस प्रकार हिमवान् पर्वत गंगाका प्रवाह धारण करता है उसी प्रकार वे भी अपने कन्धेपर यज्ञोपवीत धारण किये थे। उनकी दोनों लम्बी भुजाएँ कड़े, बाजूबन्द और अनन्त आदि आभूषणोंसे विभूषित थीं। उन भुजाओंसे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो शोभायमान बड़ी-बड़ी शाखाओंसे सहित चलता-फिरता कल्पवृक्ष ही हों। उनके चरण नीलमणिके बने हुए नूपुरोंसे सहित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनपर भ्रमर बैठे हुए हैं ऐसे खिले हुए दो लाल कमल ही हों। इस प्रकार प्रत्येक अंगमें पहने हुए आभूषणरूपी सम्पदासे आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष ही हों ॥२३४-२३८॥ तदनन्तर नाट्यशास्त्रको जाननेवाला इन्द्र उस सभारूपी रंगभूमिमें आनन्दके साथ आनन्द नामका नाटक कर स्वर्गको चला गया ॥२३९॥ जो अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं और जिनके चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के चरणोंकी सेवामें लगी हुई है ऐसे देव और असुर उस इन्द्रके साथ ही अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥२४०॥

अथानन्तर कर्मभूमिकी रचना करनेवाले भगवान् वृषभदेवने राज्य पाकर महाराज नाभिराजके समीप ही प्रजाका पालन करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार प्रयत्न किया ॥२४१॥ भगवान्‌ने सबसे पहले प्रजाकी सृष्टि (विभाग आदि) की फिर उसकी आजीविकाके नियम बनाये और फिर वह अपनी-अपनी मर्यादाका उल्लंघन न कर सके इस प्रकारके नियम बनाये।

---

१. मुकुट अ०, प०, स०, म०, ल०। २ इव। ३. गमनशीलायाः। ४ स्थिरत्वस्य कारणम्। ५. मुकुटं –अ०, प०, स०, म०, ल०। ६. वेष्टितशरीरः। ७. इवाङ्घ्रिप. प०। ८. सभारङ्गे। ९. स्वर्गम्। १० सहस्राक्षः। ११. सृष्टिम्। १२ वर्तनम्। १३. नियमयन्।

स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः । क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ॥२४३॥
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः । जलस्थलादियात्राभिस्तद्[1] वृत्तिर्वार्त्तया[2] [3]यतः ॥२४४॥
[4]न्यग्वृत्तिनियतां शूद्रां [5]पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा[6] तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ॥२४५॥
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः [7]स्रक्ष्यति द्विजान् । [8]अधीत्यध्यापने दानं [9]प्रतिच्छेज्येति तत्क्रिया ॥२४६॥
[10]शूद्रा शूद्रेण वोढव्या[11] नान्या तां[12] स्वां[13] च नैगमः[14] ।
[15]वहेत् [16]स्वां ते च[17] राजन्यः[18] स्वां[19] द्विजन्मा क्वचिच्च[20] ताः ॥२४७॥
स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत् । स पार्थिवैर्नियन्तव्यो[21] [22]वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥२४८॥
कृष्यादिकर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान् । कर्मभूमिरियं[23] तस्मात् तदासीत्तद्व्यवस्थया[24] ॥२४९॥

इस तरह वे प्रजाका शासन करने लगे ॥२४२॥ उस समय भगवान्‌ने अपनी दोनों भुजाओंमें शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्याका उपदेश दिया था, सो ठीक ही है, क्योंकि जो हाथोंमें हथियार लेकर सबल शत्रुओंके प्रहारसे निर्बलोंकी रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं ॥२४३॥ तदनन्तर भगवान्‌ने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्योंकी रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि जल स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है ॥२४४॥ हमेशा नीच (दैन्य) वृत्तिमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना बुद्धिमान् वृषभदेवने पैरोंसे ही की थी क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि करना ही उनकी अनेक प्रकारकी आजीविका है ॥२४५॥ इस प्रकार तीन वर्णोंकी सृष्टि तो स्वयं भगवान् वृषभदेवने की थी, उनके बाद भगवान् वृषभदेवके बड़े पुत्र महाराज भरत मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन कराते हुए ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे, स्वयं पढना, दूसरोंको पढाना, दान लेना तथा पूजा यज्ञ आदि करना उनके कार्य होंगे ॥२४६॥ [विशेष-वर्ण सृष्टिकी ऊपर कही हुई सत्य व्यवस्थाको न मानकर अन्य मतावलम्बियोंने जो यह मान रखा है कि ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, ऊरुओंसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए थे सो वह मिथ्या कल्पना ही है ।] वर्णोंकी व्यवस्था तबतक सुरक्षित नहीं रह सकती जबतक कि विवाहसम्बन्धी व्यवस्था न की जाये, इसलिए भगवान् वृषभदेवने विवाह व्यवस्था इस प्रकार बनायी थी कि शूद्र शूद्रकन्याके साथ ही विवाह करे, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी कन्याके साथ विवाह नहीं कर सकता । वैश्य वैश्यकन्या तथा शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, क्षत्रिय क्षत्रियकन्या, वैश्यकन्या और शूद्रकन्याके साथ विवाह करे, तथा ब्राह्मण ब्राह्मणकन्याके साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देशमें वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कन्याओंके साथ भी विवाह कर सकता है ॥२४७॥ उस समय भगवान्‌ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्णकी निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्णकी आजीविका करेगा वह राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करनेसे वर्णसंकीर्णता हो जायेगी अर्थात् सब वर्ण एक हो जायेंगे-उनका विभाग नहीं हो सकेगा ॥२४८॥ भगवान् आदिनाथने विवाह आदिकी व्यवस्था करनेके पहले ही असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मोंकी व्यवस्था कर दी थी। इसलिए उक्त छह कर्मोंकी

१. जीवनम् । २. कृषिपशुपालनवाणिज्यरूपया । ३. यतः कारणात् । ४. नीचवृत्तितत्परान् । ५. पादसंवाहनादौ । ६. सेवारूपा । ७. सर्जनं करिष्यति । ८. अध्ययन । ९. प्रत्यादान । १०. शूद्रस्त्री । ११. परिणेतव्या । १२. शूद्राम् । स्वा ता च अ०, प०, स०, ल० । १३ वैश्याम् । १४. वैश्य । १५. परिणयेत् । १६. क्षत्रियाम् । १७. शूद्रा वैश्या च । १८. क्षत्रियः । १९. ब्राह्मणीम् । २० शूद्रादितिस्रः । शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशःस्मृते । ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ इति मनुस्मृतौ २१. दण्ड्यः । २२. संकरः । २३. यस्मात् । २४. षट्कर्मव्यवस्थया ।

स्रष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा तद्योगक्षेमसाधनम् । प्रायुङ्क्त युक्तितो दण्डं हामाधिक्कारलक्षणम् ॥२५०॥
दुष्टानां निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्ययम् । न पुरासीत्क्रमो यस्मान् प्रजाः सर्वा[1] निरागसः ॥२५१॥
प्रजा दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमूः । ग्रस्यतेऽन्त:प्रदुष्टेन निर्बलो हि बलीयसा ॥२५२॥
दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति । युक्तदण्ड[2]धरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥२५३॥
पयस्विन्या[3] यथा क्षीरम[4]द्रोहेणोपजीव्यते[5] । प्रजाप्येवं धनं दोह्या नातिपीडाकरैः करैः ॥२५४॥
ततो दण्डधराने[6]तान् अनुमेने नृपान् प्रभुः । तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिन्तनम् ॥२५५॥
समाहूय महाभागान् हर्यकम्पनकाश्यपान् । सोमप्रभं च संमान्य सत्कृत्य च यथोचितम् ॥२५६॥
कृताभिषेचनानेतान् महामण्डलिकान् नृपान् । [7]चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान् व्यधाद् विभुः ॥२५७॥
सोमप्रभः प्रभोराप्तकुरुराजसमाह्वयः । कुरूणामधिराजोऽभूत् कुरुवंशशिखामणिः ॥२५८॥
हरिश्च हरिकान्ताख्यां दधानस्तदनुज्ञया । हरिवंशमलंचक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः ॥२५९॥
अकम्पनोऽपि सृष्टीशात् प्राप्तश्रीधरनामकः । नाथवंशस्य नेताभूत् प्रसन्ने भुवनेशिनि ॥२६०॥

व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी ॥२४९॥ इस प्रकार ब्रह्मा-आदिनाथने प्रजाका विभाग कर उनके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) की व्यवस्थाके लिए युक्तिपूर्वक हा, मा और धिक्कार इन तीन दण्डोंकी व्यवस्था की थी ॥ २५० ॥ दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना अर्थात् उन्हें दण्ड देना और सज्जन पुरुषोंका पालन करना यह क्रम कर्मभूमिसे पहले अर्थात् भोगभूमिमें नहीं था क्योंकि उस समय पुरुष निरपराध होते थे—किसी प्रकारका अपराध नहीं करते थे ॥ २५१ ॥ कर्मभूमिमें दण्ड देनेवाले राजाका अभाव होनेपर प्रजा मात्स्यन्यायका आश्रय करने लगेगी अर्थात् जिस प्रकार बलवान् मच्छ छोटे मच्छोंको खा जाते हैं उसी प्रकार अन्तरंगका दुष्ट बलवान् पुरुष, निर्बल पुरुषको निगल जायेगा ॥ २५२ ॥ यह लोग दण्डके भयसे कुमार्गकी ओर नहीं दौड़ेंगे इसलिए दण्ड देनेवाले राजाका होना उचित ही है और ऐसा राजा ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२५३॥ जिस प्रकार दूध देनेवाली गायसे उसे बिना किसी प्रकारकी पीड़ा पहुँचाये दूध दुहा जाता है और ऐसा करनेसे वह गाय भी सुखी रहती है तथा दूध दुहनेवालेकी आजीविका भी चलती रहती है उसी प्रकार राजाको भी प्रजासे धन वसूल करना चाहिए। वह धन अधिक पीड़ा न देनेवाले करों (टैक्सों) से वसूल किया जा सकता है। ऐसा करनेसे प्रजा भी दुखी नहीं होती और राज्यव्यवस्थाके लिए योग्य धन भी सरलतासे मिल जाता है ॥२५४॥ इसलिए भगवान् वृषभदेवने नीचे लिखे हुए पुरुषोंको दण्डधर (प्रजाको दण्ड देनेवाला) राजा बनाया है सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके योग और क्षेमका विचार करना उन राजाओंके ही अधीन होता है ॥ २५५ ॥ भगवान्ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महा भाग्यशाली क्षत्रियोंको बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया। तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामाण्डलिक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओंके अधिपति थे ॥ २५६-२५७ ॥ सोमप्रभ, भगवान्से कुरुराज नाम पाकर कुरुदेशका राजा हुआ और कुरुवंशका शिखामणि कहलाया ॥२५८॥ हरि, भगवान्की आज्ञासे हरिकान्त नामको धारण करता हुआ हरिवंशको अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंहके समान पराक्रमी था ॥ २५९ ॥ अकम्पन भी,

---

१. निर्दोषाः । २. दण्डकरः अ०, प०, म०, स०, द०, ल० । ३ क्षीरवद्धेनोः । ४. अनुपद्रवेण । ५ वर्त्यते । ६. वक्ष्यमाणान् । ७ चतुः सहस्रगणपरिवारान् ।

काश्यपोऽपि गुरोः प्राप्तमाघवाख्यः पतिर्विशाम्[१] । उग्रवंशस्य वंश्योऽभूत्[२] किन्नाप्यं[३] स्वामिसंपदा ॥२६१॥
तदा[४] कच्छमहाकच्छप्रमुखानपि भूभुजः । सोऽधिराजपदे देवः स्थापयामास सत्कृतान् ॥२६२॥
पुत्रानपि तथा योग्यं वस्तुवाहनसंपदा । भगवान् संविधत्ते[५] स्म तद्धि राज्योर्जने[६] फलम् ॥२६३॥
[७]आकानाच्च तदेक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम् । [८]इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसंमतः ॥२६४॥
गौः स्वर्गः स प्रकृष्टात्मा गौतमोऽभिमतः सताम् । स तस्मादागतो देवो गौतमश्रुतिमन्वभूत् ॥२६५॥
काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात् । जीवनोपायमननात् मनुः कुलधरोऽप्यसौ ॥२६६॥
विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा चेत्यादिनामभिः । प्रजास्तं [९]व्याहरन्ति स्म जगतां पतिमच्युतम् ॥२६७॥
त्रिषष्टिलक्षाः पूर्वाणां राज्यकालोऽस्य संमितः । [१०]स तस्य पुत्रपौत्रादिवृतस्याविदितोऽगमत् ॥२६८॥
स सिंहासनमायोध्यमध्यासीनो महाद्युतिः । सुखात्तुपनतां[११] पुण्यैः साम्राज्यश्रियमन्वभूत् ॥२६९॥

वसन्ततिलका

इत्थं सुरासुरगुरुर्गुरु[१२]पुण्ययोगाद्
भोगान् वितन्वति तदा सुरलोकनाथे ।

भगवान्‌से श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नतासे नाथवंशका नायक हुआ ॥ २६० ॥ और काश्यप भी जगद्गुरु भगवान्‌से मघवा नाम प्राप्तकर उग्रवंशका मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है। स्वामीकी सम्पदासे क्या नहीं मिलता है ? अर्थात् सब कुछ मिलता है ॥२६१॥ तदनन्तर भगवान् आदिनाथने कच्छ महाकच्छ आदि प्रमुख-प्रमुख राजाओंका सत्कार कर उन्हें अधिराजके पद-पर स्थापित किया ॥२६२॥ इसी प्रकार भगवान्‌ने अपने पुत्रोंके लिए भी यथायोग्य रूपसे महल, सवारी तथा अन्य अनेक प्रकारकी सम्पत्तिका विभाग कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि राज्यप्राप्तिका यही तो फल है ॥२६३॥ उस समय भगवान्‌ने मनुष्योंको इक्षुका रस संग्रह करनेका उपदेश दिया था इसलिए जगत्‌के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे ॥२६४॥ 'गो' शब्दका अर्थ स्वर्ग है जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन पुरुष 'गोतम' कहते हैं। भगवान् वृषभदेव स्वर्गोंमें सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धिसे आये थे इसलिए वे 'गौतम' इस नामको भी प्राप्त हुए थे ॥ २६५ ॥ 'काश्य' तेजको कहते हैं भगवान् वृषभदेव उस तेजके रक्षक थे इसलिए 'काश्यप' कहलाते थे उन्होंने प्रजाकी आजीविकाके उपायोंका भी मनन किया था इसलिए वे मनु और कुलधर भी कहलाते थे ॥२६६॥ इनके सिवाय तीनों जगत्‌के स्वामी और विनाशरहित भगवान्‌को प्रजा 'विधाता' 'विश्वकर्मा' और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामोंसे पुकारती थी ॥ २६७ ॥ भगवान्‌का राज्यकाल तिरसठ लाख पूर्व नियमित था सो उनका वह भारी काल, पुत्र-पौत्र आदि-से घिरे रहनेके कारण बिना जाने ही व्यतीत हो गया अर्थात् पुत्र-पौत्र आदिके सुखका अनुभव करते हुए उन्हें इस बातका पता भी नहीं चला कि मुझे राज्य करते समय कितना समय हो गया है ॥२६८॥ महादेदीप्यमान भगवान् वृषभदेवने अयोध्याके राज्यसिंहासनपर आसीन होकर पुण्योदयसे प्राप्त हुई साम्राज्यलक्ष्मीका सुखसे अनुभव किया था ॥२६९॥ इस प्रकार सुर और

---

१. नृणाम् । २. वंशश्रेष्ठः । ३. प्राप्यम् । ४. तथा अ०, प०, स०, म०, द०, ल० । ५. संविभागं करोति स्म । समृद्धानकरोदित्यर्थः । ६. राज्यार्जने ब०, द०, स०, म०, अ०, प०, ल० । ७. 'कै, गै, रै शब्दे' इति धातोर्निष्पन्नोय शब्द । वचनादित्यर्थः चीत्काररवात् । आकनात् द०, म०, ल० । ८. इक्षूनाकय-तीति इक्ष्वाकुः । ९. ब्रुवन्ति स्म । १०. सः कालः । ११. सम्प्राप्ताम् । १२. भूरिपुण्य ।

सौख्यैरगाद् धृति[1] मचिन्त्य[2] धृति स धीरः[3]
पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेन्द्राः ॥२७०॥
पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्याद्
बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः[4] ।
पुण्यं च दानदम[5] संयम[6] सत्य[7] शौच-[8]
[9]त्यागक्षमा[10]दिशुभचेष्टितमूल[11]मिष्टम् ॥२७१॥
पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः[12] ।
साम्राज्य[13]मैन्द्र[14]मपुन[15]र्भवभावनिष्ठम्
आर्हन्त्यमन्त्यरहिता[16]खिलसौख्यमग्र्यम् ॥२७२॥
तस्माद् बुधाः कुरुत धर्ममवाप्तुकामाः
स्वर्गापवर्गसुखमग्रमचिन्त्य[17]सारम् ।
प्राप्य[18] [19]सोऽभ्युदयभोगमनन्तसौख्य-
मानन्त्यमापयति धर्मफलं हि शर्म ॥२७३॥
दानं प्रदत्त[20] मुदिता मुनिपुङ्गवेभ्यः
पूजां कुरुध्वमुपलभ्य च तीर्थकृद्भ्यः ।
शीलानि पालयत पर्वदिनोपवासान्
[21]विस्मार्ष्ट मा स्म सुधियः सुखमीप्सवश्चेत् ॥२७४॥

असुरोंके गुरु तथा अचिन्त्य धैर्यके धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवको इन्द्र उनके विशाल पुण्यके संयोगसे भोगोपभोगकी सामग्री भेजता रहता था जिससे वे सुखपूर्वक सन्तोषको प्राप्त होते रहते थे। इसलिए हे पण्डितजन, पुण्योपार्जन करनेमें प्रयत्न करो ॥२७०॥ इस संसारमें पुण्यसे ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीजके बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्यके बिना सुख नहीं होता। दान देना, इन्द्रियोंको वश करना, संयम धारण करना, सत्य-भाषण करना, लोभका त्याग करना, और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओंसे अभिलषित पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ २७१ ॥ सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदिके उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्तीका साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहन्त पद और अन्तरहित समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाण पद इन सभीकी प्राप्ति एक पुण्यसे ही होती है इसलिए हे पण्डितजन, यदि स्वर्ग और मोक्षके अचिन्त्य महिमावाले श्रेष्ठ सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्म करो क्योंकि वह धर्म ही स्वर्गोंके भोग और मोक्षके अविनाशी अनन्त सुखकी प्राप्ति कराता है। वास्तवमें सुखप्राप्ति होना धर्मका ही फल है ॥२७२-२७३॥ हे सुधीजन, यदि तुम

१. सन्तोषम् । २. अचिन्त्यधैर्यं । ३. धियं रातीति धीरः । प्रकृष्टज्ञानीत्यर्थः । ४. अङ्कुराणि । ५. इन्द्रियनिग्रहः । ६. 'व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां क्रमेण धारणपालननिग्रहत्यागजया संयमः । [वदसमिदिकसायणं दडाणं तहिंदियाण पचण्हं । धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ]–जीवकाण्ड । ७ प्रशस्तजने साधुवचनम् । ८. प्रकर्षलोभनिवृत्ति । ९. बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यजनम् । १० दुष्टजनकृताक्रोश-प्रहसनावज्ञाताडनादिप्राप्तौ कालुष्याभावः क्षमा । ११. कारणम् । १२. गीः स० । १३. चक्रित्वम् । १४. इन्द्रपदम् । १५. पुनर्न भवतीत्यपुनर्भवं अपुनर्भवभावस्य निष्ठा निष्पत्तिर्यस्य तत् । १६. मोक्षसुखम् । १७ अचिन्त्यमाहात्म्यम् । १८. नीत्वा । १९. सः धर्मः । २० प्रदद्ध्वम् । 'दाण् दाने लोट्' । २१. मा विस्मरत ।

शार्दूलविक्रीडितम्

स श्रीमानिति नित्यभोगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रैर्निजै-
[1]रारूढप्रणयैस्तपा[2]हितधृतिः सिंहासनाध्यासितः।
शक्रार्केन्दुपुरस्सरैः सुरवरैर्व्यू[3]ढोल्लसच्छासनः
शास्ति स्माप्रतिशासनो भुवमिमामासिन्धुसीमां[4] जिनः ॥२७५॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीआदिपुराणसंग्रहे भगवत्साम्राज्यवर्णनं नाम षोडशं पर्व ॥१६॥

सुख प्राप्त करना चाहते हो तो हर्षित होकर श्रेष्ठ मुनियोंके लिए दान दो, तीर्थंकरोंको नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतोंका पालन करो और पर्वके दिनोंमें उपवास करना नहीं भूलो ॥२७४॥ इस प्रकार जो प्रशस्त लक्ष्मीके स्वामी थे, स्थिर रहनेवाले भोगोंका अनुभव करते थे, स्नेह रखनेवाले अपने पुत्र पौत्रोंके साथ सन्तोष धारण करते थे। इन्द्र सूर्य और चन्द्रमा आदि उत्तम-उत्तम देव जिनकी आज्ञा धारण करते थे, और जिनपर किसीकी आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे भगवान् वृषभदेव सिंहासनपर आरूढ होकर इस समुद्रान्त पृथिवीका शासन करते थे ॥२७५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण आदिपुराणसंग्रहमें भगवान्के साम्राज्यका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. घनस्नेह । २. प्राप्तसन्तोष । ३ व्यूढ धृत । ४. –मासिन्धुसीमं प०, द०, स० ।

सप्तदशं पर्व

अथान्येद्युर्महास्थानमध्यं नृपशतैर्वृतः । स सिंहासनमध्यास्त यथार्को नैषधं तटम् ॥१॥

तथासीनं च तं देवं [1]देवराट् पर्युपासि[2]तुम् । साप्सराः सहगन्धर्वैः स[3]पर्यमुपासदत् ॥२॥

ततो यथोचितं स्थानमध्या[4]सिष्टाधिविष्टरम् । जयन्नुदयमूर्धस्थमर्कमात्मीयतेजसा ॥३॥

[5]आरिराधयिषुर्देवं सुरराड् भक्तिनिर्भरः[6] । [7]प्रायूयुजत् सगन्धर्वं[8] नृत्यमाप्सरसं[9] तदा ॥४॥

तन्नृत्यं सुरनारीणां मनोऽस्यारञ्जयत् प्रभोः । स्फाटिको हि मणिः शुद्धोऽप्यादत्ते रागमन्यतः[10] ॥५॥

राज्यभोगात् कथं नाम विरज्येद् भगवानिति । [11]प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा प्रायुङ्क्त देवराट् ॥६॥

ततो नीलाञ्जना नाम ललिता सुरनर्तकी । रसभावलयोपेतं नटन्ती सपरिक्रमम्[12] ॥७॥

क्षणाददृश्यतां प्राप किलायुर्दीपसंक्षये । प्रभातरलितां मूर्तिं दधाना तडिदुज्ज्वलाम् ॥८॥

अथानन्तर किसी एक दिन सैकड़ों राजाओंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव विशाल सभामण्डपके मध्यभागमें सिंहासनपर ऐसे विराजमान थे, जैसे निषध पर्वतके तटभागपर सूर्य विराजमान होता है ॥१॥ उस प्रकार सिंहासनपर विराजमान भगवान्‌की सेवा करनेके लिए इन्द्र, अप्सराओं और देवोंके साथ, पूजाकी सामग्री लेकर वहाँ आया ॥२॥ और अपने तेजसे उदयाचलके मस्तकपर स्थित सूर्यको जीतता हुआ अपने योग्य सिंहासनपर जा बैठा ॥३॥ भक्तिविभोर इन्द्रने भगवान्‌की आराधना करनेकी इच्छासे उस समय अप्सराओं और गन्धर्वोंका नृत्य कराना प्रारम्भ किया ॥४॥ उस नृत्यने भगवान् वृषभदेवके मनको भी अनुरक्त बना दिया था सो ठीक ही है, अत्यन्त शुद्ध स्फटिकमणि भी अन्य पदार्थोंके संसर्गसे राग अर्थात् लालिमा धारण करता है ॥५॥ भगवान् राज्य और भोगोंसे किस प्रकार विरक्त होंगे यह विचारकर इन्द्रने उस समय नृत्य करनेके लिए एक ऐसे पात्रको नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गयी थी ॥६॥ तदनन्तर वह अत्यन्त सुन्दरी नीलांजना नामकी देवनर्तकी रस, भाव और लयसहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इतनेमें ही आयुरूपी दीपकके क्षय होनेसे वह क्षण-भरमें अदृश्य हो गयी। जिस प्रकार बिजलीरूपी लता देखते-देखते क्षण-भरमें नष्ट हो जाती है उसी प्रकार प्रभासे चंचल और बिजलीके समान उज्ज्वल मूर्तिको धारण करनेवाली वह देवी देखते-देखते ही क्षण-भरमें नष्ट हो गयी थी। उसके नष्ट होते ही इन्द्रने रसभंगके भयसे उस स्थानपर उसीके समान शरीरवाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्योंका-त्यों

---

१ इन्द्र । २ आराधयितुम् । ३. पूजया सहितं यथा भवति तथा । ४ अध्यास्ते स्म । ५ आराधयितुमिच्छुः । ६. अतिशयः । ७ प्रयोजयति स्म । ८. सगन्धर्वो प०, स०, द०, इ० । ९. अप्सरसामिदम् । १०. जपाकुसुमादेः । ११. पणष्टायुष्यावस्थम् । १२. पदचारिभिः सहितं यथा भवति तथा ।

सौदामिनी लतेवासौ दृष्टनष्टाभवत् क्षणात् । रसभङ्गभयादिन्द्रः संदधेऽन्यापरं वपुः ॥९॥
तदेव स्थानकं रम्यं सा भूमिः स परिक्रमः । तथापि भगवान् वेद तत्स्वरूपान्तरं तदा ॥१०॥
ततोऽस्य चेतसीत्यासीच्चिन्ता भोगाद् विरज्यतः । परां संवेगनिर्वेदभावनामुपजग्मुषः ॥११॥
अहो जगदिदं भङ्गि श्रीस्तडिद्वल्लरीचला । यौवनं वपुरारोग्यमैश्वर्यं च चलाचलम् ॥१२॥
रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं न्वत्र न विनश्वरम् ॥१३॥
संध्यारागनिभा रूपशोभा तारुण्यमुज्ज्वलम् । पल्लवच्छविवत् सद्यः परिम्लानिमुपाश्नुते ॥१४॥
यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि । विषवल्लीनिभा भोगसंपदो भङ्गि जीवितम् ॥१५॥
घटिकाजलधारेव गलत्यायुःस्थितिर्द्रुतम् । शरीरमिदमत्यन्तपूतिगन्धि जुगुप्सितम् ॥१६॥
निःसारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः । दुःखमेव महत्तस्मिन् सुखं काम्यति मन्दधीः ॥१७॥
नरकेषु यदेतेन दुःखमासेवितं महत् । तच्चेत्स्मर्येत कः कुर्याद् भोगेषु स्पृहयालुताम् ॥१८॥
नूनमार्तधियां भुक्ता भोगाः सर्वेऽपि देहिनाम् । दुःखरूपेण पच्यन्ते निरये निरयोदये ॥१९॥
स्वप्नजं च सुखं नास्ति नरके दुःखभूयसि । दुःखं दुःखानुबन्ध्येव यतस्तत्र दिवानिशम् ॥२०॥
ततो विनिःसृतो जन्तुस्तैरश्चं दुःखमायतम् । स्वसात्करोति मन्दात्मा नानायोनिषु पर्यटन् ॥२१॥

चलता रहा। यद्यपि दूसरी देवी खड़ी कर देनेके बाद भी वही मनोहर स्थान था, वही मनोहर भूमि थी और वही नृत्यका परिक्रम था तथापि भगवान् वृषभदेवने उसी समय उसके स्वरूपका अन्तर जान लिया था ॥७–१०॥ तदनन्तर भोगोंसे विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावनाको प्राप्त हुए भगवान्के चित्तमें इस प्रकार चिन्ता उत्पन्न हुई कि ॥११॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लताके समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल है ॥१२॥ रूप, यौवन और सौभाग्यके मदसे उन्मत्त हुआ अज्ञ पुरुष इन सबमें स्थिर बुद्धि करता है परन्तु उनमें कौन-सी वस्तु विनश्वर नहीं है? अर्थात् सभी वस्तुएँ विनश्वर हैं ॥१३॥ यह रूपकी शोभा सन्ध्या कालकी लालीके समान क्षणभरमें नष्ट हो जाती है और उज्ज्वल तारुण्य अवस्था पल्लवकी कान्तिके समान शीघ्र ही म्लान हो जाती है ॥१४॥ वनमें पैदा हुई लताओंके पुष्पोंके समान यह यौवन शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है, भोग सम्पदाएँ विषवेलके समान हैं और जीवन विनश्वर है ॥१५॥ यह आयुकी स्थिति घटीयन्त्रके जलकी धाराके समान शीघ्रताके साथ गलती जा रही है–कम होती जा रही है और यह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित तथा घृणा उत्पन्न करनेवाला है ॥१६॥ यह निश्चय है कि इस असार संसारमें सुखका लेश मात्र भी दुर्लभ है और दुःख बड़ा भारी है फिर भी आश्चर्य है कि मन्दबुद्धि पुरुष उसमें सुखकी इच्छा करते हैं ॥१७॥ इस जीवने नरकोंमें जो महान् दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाये तो फिर ऐसा कौन है, जो उन भोगोंकी इच्छा करे ॥१८॥ निरन्तर आर्तध्यान करनेवाले जीव जितने कुछ भोगोंका अनुभव करते हैं वे सब उन्हें अत्यन्त असाताके उदयसे भरे हुए नरकोंमें दुःखरूप होकर उदय आते हैं ॥१९॥ दुःखोंसे भरे हुए नरकोंमें कभी स्वप्नमें भी सुख प्राप्त नहीं होता क्योंकि वहाँ रात-दिन दुःख ही दुःख रहता है और ऐसा दुःख जो कि दुःखके कारणभूत असाता कर्मका बन्ध करनेवाला होता है ॥२०॥ उन नरकोंसे किसी तरह निकलकर यह मूर्ख जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण

१. संयोजयति स्म । २. बहुरूपम् । ३. पदचारिः । ४. विरक्ति गतस्य । ५. विनाशि । ६. -तडिद्वल्लरी -अ०, प०, द०, इ०, म०, स० । ७. पामरः । ८. त्वत्र द०, प० । तत्र ल० । ९. विनश्वरीम् द०, प० । १०. प्रतिमोपरि सुगन्धजलस्रवणार्थं धृतजलधारावत् । ११. सुखमिच्छत्यात्मनः । सुखकाम्यति ब० । १२. अयोदयान्निष्क्रान्ते शुभकर्मोदयरहिते इत्यर्थः । १३. दीर्घं भूयिष्ठमित्यर्थः । १४. स्वाधीनं करोति ।

पृथिव्यामप्सु वह्नौ च पवने सवनस्पतौ। बंभ्रम्यते महादुःखमश्नुवानो वताज्ञकः ॥२२॥
खननोत्तापनज्वालिज्वालाविध्यापनै[1]रपि। [2]घनाभिघातैश्छेदैश्च दुःखं तत्रैति दुस्तरम् ॥२३॥
सूक्ष्मवादरपर्याप्त[3]तद्विपक्षात्मयोनिषु। पर्यटत्यसकृज्जीवो घटीयन्त्रस्थितिं दधत् ॥२४॥
त्रसकायेष्वपि प्राणी वधवन्धोपरोधनैः। [4]दुःखासिकामवाप्नोति [5]सर्वावस्थानुयायिनीम् ॥२५॥
जन्मदुःखं ततो दुःख जरामृत्युस्ततोऽधिकम्। इति दुःखशतावर्ते जन्माब्धौ स निमग्नवान् ॥२६॥
क्षणान्नश्यन् क्षणाज्जीर्यन् क्षणाज्जन्म समाप्नुवन्। जन्ममृत्युजरातङ्कपङ्के मज्जति गौरिव ॥२७॥
अनन्तं कालमित्यज्ञस्तिर्यक्त्वे दुःखमश्नुते। दुःखस्य हि परं धाम तिर्यक्त्वं मन्वते जिनाः ॥२८॥
ततः कृच्छ्राद् विनिःसृत्य शिथिले दुष्कृते मनाक्। मनुष्यभावमाप्नोति कर्मसारथिचोदितः ॥२९॥
तत्रापि विविधं दुःख शारीरं चैव मानसम्। प्राप्नोत्यनिच्छुरेवात्मा निरुद्धः कर्मशत्रुभिः ॥३०॥
पराराधनदारिद्र्यचिन्ता शोकादिसम्भवम्। दुःख महन्मनुष्याणां प्रत्यक्षं[6]नरकायते ॥३१॥
शरीरशकटं दुःखदुर्भाण्डैः [7]परिपूरितम्। दिनैस्त्रिचतुरैरेव पर्यस्य[8]ति न संशयः ॥३२॥
[9]दिव्यभावे किलैतेषां सुखमात्वं शरीरिणाम्। तत्रापि त्रिदिवाद् पातः परं दुःखं दुरुत्तरम् ॥३३॥

करता हुआ तिर्यंच गतिके बड़े भारी दुःख भोगता है ॥२१॥ बड़े दुःखकी बात है कि यह अज्ञानी जीव पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंमें भारी दुःख भोगता हुआ निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥२२॥ यह जीव उन पृथिवीकायिक आदि पर्यायोंमें खोदा जाना, जलती हुई अग्निमें तपाया जाना, बुझाया जाना, अनेक कठोर वस्तुओंसे टकरा जाना, तथा छेदा-भेदा जाना आदिके कारण भारी दुःख पाता है॥२३॥ यह जीव घटीयन्त्रकी स्थितिको धारण करता हुआ सूक्ष्म बादर पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक अवस्थामें अनेक बार परिभ्रमण करता रहता है ॥२४॥ त्रस पर्यायमे भी यह प्राणी मारा जाना, बाँधा जाना और रोका जाना आदिके द्वारा जीवनपर्यन्त अनेक दुःख प्राप्त करता रहता है ॥२५॥ सबसे प्रथम इसे जन्म अर्थात् पैदा होनेका दुःख उठाना पड़ता है, उसके अनन्तर बुढ़ापाका दुःख और फिर उससे भी अधिक मृत्युका दुःख भोगना पड़ता है, इस प्रकार सैकड़ों दुःखरूपी भँवरसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें यह जीव सदा डूबा रहता है ॥२६॥ यह जीव क्षण-भरमें नष्ट हो जाता है, क्षण-भरमें जीर्ण (वृद्ध) हो जाता है और क्षण-भरमें फिर जन्म धारण कर लेता है इस प्रकार जन्म-मरण, बुढ़ापा और रोगरूपी कीचड़में गायकी तरह सदा फँसा रहता है ॥२७॥ इस प्रकार यह अज्ञानी जीव तिर्यंच योनिमें अनन्त कालतक दुःख भोगता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेव भी यही मानते है कि तिर्यंच योनि दुःखोंका सबसे बड़ा स्थान है ॥२८॥ तदनन्तर अशुभ कर्मोंके कुछ-कुछ मन्द होनेपर यह जीव उस तिर्यंच योनिसे बड़ी कठिनतासे बाहर निकलता है और कर्मरूपी सारथिसे प्रेरित होकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है ॥२९॥ वहाँपर भी यह जीव यद्यपि दुःखोंकी इच्छा नहीं करता है तथापि इसे कर्मरूपी शत्रुओंसे निरुद्ध होकर अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पड़ते हैं ॥३०॥ दूसरोंकी सेवा करना, दरिद्रता, चिन्ता और शोक आदिसे मनुष्योंको जो बड़े भारी दुःख प्राप्त होते हैं वे प्रत्यक्ष नरकके समान जान पड़ते हैं ॥३१॥ यथार्थमें मनुष्योंका यह शरीर एक गाड़ीके समान है जो कि दुःखरूपी खोटे बरतनोंसे भरी है इसमे कुछ भी संशय नहीं है कि यह शरीररूपी गाड़ी तीन चार दिनमें ही उलट जायेगी—नष्ट हो जायेगी ॥३२॥ यद्यपि देवपर्यायमें जीवोंको कुछ सुख प्राप्त होता है

१. अग्निज्वालाप्रशमनैः। २ मेघताडनैः। ३. सूक्ष्मबादरापर्याप्तः। ४. दुःखन्यताम्। ५ बाल्याद्यवस्थाऽनुयायिनीम्। ६. प्रत्यक्ष न–द०। ७. भाण्डैरतिपूरितम्। ८. प्रणश्यति। ९ देवत्वे।

तत्रापीष्टवियोगोऽस्ति न्यूनास्तत्रापि केचन । ततो मानसमेतेषां दुःखं दुःखेन लङ्घ्यते ॥३४॥
इति संसारचक्रेऽस्मिन् विचित्रैः परिवर्तनैः । दुःखमाप्नोति दुष्कर्मपरिपाकाद् वराककः ॥३५॥
[1]नारीरूपमयं यन्त्रमिदमत्यन्तपेलवम्[2] । पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतद्गतं लयम् ॥३६॥
रमणीयमिदं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वलम् । पतन्तस्तत्र नश्यन्ति पतङ्गा इव कामुकाः ॥३७॥
[3]कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना । नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥३८॥
यथेदमेवमन्यच्च भोगाङ्गं यत् किलाङ्गिनाम् । [4]भङ्गुरं नियतापायं केवलं तत्प्रलम्भकम्[5] ॥३९॥
किं किलाभरणैर्भारैः किं मलैरनुलेपनैः । उन्मत्तचेष्टितैर्नृत्तैरलं गीतैश्च शोचितैः[6] ॥४०॥
यद्यस्ति स्वगता शोभा किं किलालंकृतैः कृतम् । यदि नास्ति स्वतः शोभा भारैरेभिस्तथापि[7] किम् ॥४१॥
तस्माद्विग्धिगिदं रूपं धिक् संसारमसारकम् । [8]राज्यभोगं धिगस्त्वेनं धिग्धिगाकालिकीः[9] श्रियः ॥४२॥
इति निर्विद्य[10] भोगेभ्यो विरक्तात्मा सनातनः । मुक्तावुत्तिष्ठते[11] स्माशु काललब्धिमुपाश्रितः ॥४३॥
तदा [12]विशुद्धयस्तस्य हृदये पदमादधुः । मुक्तिलक्ष्म्येव [13]संदिष्टास्तत्सख्यः संमुखागताः ॥४४॥
तदास्य सर्वमप्येतत्[14] शून्यवत् प्रत्यभासत । मुक्त्यङ्गनासमासंगे परां चिन्तामुपेयुषः ॥४५॥

तथापि जब स्वर्गसे इसका पतन होता है तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है ॥३३॥ उस देवपर्यायमें भी इष्टका वियोग होता है और कितने ही देव अल्पविभूतिके धारक होते हैं जो कि अपनेसे अधिक विभूतिवालेको देखकर दुःखी होते रहते हैं इसलिए उनका मानसिक दुःख भी बड़े दुःखसे व्यतीत होता है ॥३४॥ इस प्रकार यह बेचारा दीन प्राणी इस संसार-रूपी चक्रमें अपने खोटे कर्मोंके उदयसे अनेक परिवर्तन करता हुआ दुःख पाता रहता है ॥३५॥ देखो, यह अत्यन्त मनोहर स्त्रीरूपी यन्त्र (नृत्य करनेवाली नीलांजनाका शरीर) हमारे साक्षात् देखते ही देखते किस प्रकार नाशको प्राप्त हो गया ॥३६॥ बाहरसे उज्ज्वल दिखने-वाले स्त्रीके रूपको अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उसपर पड़ते हैं और पड़ते ही पतंगोंके समान नष्ट हो जाते हैं-अशुभ कर्मोंका बन्ध कर हमेशाके लिए दुःखी हो जाते हैं ॥३७॥ इन्द्रने जो यह कपट नाटक किया है अर्थात् नीलांजनाका नृत्य कराया है सो अवश्य ही उस बुद्धि-मान्ने सोच-विचारकर केवल हमारे बोध करानेके लिए ही ऐसा किया है ॥३८॥ जिस प्रकार यह नीलांजनाका शरीर भंगुर था-विनाशशील था इसी प्रकार जीवोंके अन्य भोगोपभोगोंके पदार्थ भी भंगुर हैं, अवश्य नष्ट हो जानेवाले हैं और केवल धोखा देनेवाले हैं ॥३९॥ इसलिए भाररूप आभरणोंसे क्या प्रयोजन है, मैलके समान सुगन्धित चन्दनादिके लेपनसे क्या लाभ है, पागल पुरुषकी चेष्टाओंके समान यह नृत्य भी व्यर्थ है और शोकके समान ये गीत भी प्रयोजनरहित हैं ॥४०॥ यदि शरीरकी निजकी शोभा अच्छी है तो फिर अलंकारोंसे क्या करना है और यदि शरीरमें निजकी शोभा नहीं है तो फिर भारस्वरूप इन अलंकारोंसे क्या हो सकता है ? ॥४१॥ इसलिए इस रूपको धिक्कार है, इस असार संसारको धिक्कार है, इस राज्य-भोगको धिक्कार है और बिजलीके समान चंचल इस लक्ष्मीको धिक्कार है ॥४२॥ इस प्रकार जिनकी आत्मा विरक्त हो गयी है ऐसे भगवान् वृषभदेव भोगोंसे विरक्त हुए और काललब्धिको पाकर शीघ्र ही मुक्तिके लिए उद्योग करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्के हृदयमें विशुद्धियोंने अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मुक्ति-रूपी लक्ष्मीके द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही सामने आकर उपस्थित हुई हों ॥४४॥ उस

---

१ नीलाञ्जनारूप । २. निस्सारम् । चञ्चलम् । ३. कपट । ४. विनश्वरम् । ५. वञ्चकम् । ६. शोकैः । ७. तर्हि । ८. राज्यं भोगं अ०, प०, द०, स० । ९. विद्युदिव चञ्चला लक्ष्मीम् । १०. निर्वेदपरो भूत्वा । ११. उद्युक्तो बभूव । १२. विशुद्धिपरिणामाः । १३. प्रेषिताः । १४. जगत्त्रयम् ।

सौधर्मेन्द्रस्ततोऽबोधि गुरोरन्तःसमीहितम्[1] । प्रयुक्तावधिरीशस्य बोधिर्जातेति तत्क्षणम् ॥४६॥
प्रभोः प्रबोधमाधातुं[2] ततो लौकान्तिकामराः । पारनिष्क्रमणेज्यायै ब्रह्मलोकादवातरन्[3] ॥४७॥
ते च सारस्वतादित्यौ वह्निश्चारुण एव च । गर्दतोयः सतुषितोऽव्याबाधोऽरिष्ट एव च ॥४८॥
इत्यष्टधा निकायाख्याम्[4] दधाना विबुधोत्तमाः । प्राग्भवेऽभ्यस्तनिःशेषश्रुतार्थाः शुभभावनाः ॥४९॥
ब्रह्मलोकालयाः सौम्याः शुभलेश्या महर्द्धिकाः । तल्लोकान्तनिवासित्वाद् गता लौकान्तिकश्रुतिम् ॥५०॥
दिव्यहंसा विरेजुस्ते [5]शिवोरुपुलिनोत्सुकाः । परिनिष्क्रान्तिकल्याण[6]शरदागमशंसिनः ॥५१॥
सुमनोऽञ्जलयो मुक्ता बभुर्लौकान्तिकामरैः । विभोरुपासितुं पादौ स्वचित्तांशा इवार्पिताः ॥५२॥
तेऽभ्यर्च्य भगवत्पादौ प्रसूनैः सुरभूरुहाम् । ततः स्तुतिभिरर्थ्याभिः स्तोतुं प्रारेभिरे विभुम् ॥५३॥
मोहारिविजयोद्योगमधुना संविवित्सुना । भगवन् भव्यलोकस्य [7]बन्धुकृत्यं त्वयेहितम्[8] ॥५४॥
त्वं देव परमं ज्योतिस्त्वा[9]माहुः कारणं परम् । त्वमिदं विश्वमज्ञानप्रपातादुद्धरिष्यसि ॥५५॥
त्वयाद्य दर्शितं धर्मतीर्थमासाद्य [10]दुस्तरम् । भव्याः संसारभीमाब्धिमुत्तरिष्यन्ति[11] हेलया ॥५६॥
तव वागंशवो दीप्राः[12] द्योतयन्तोऽखिलं जगत् । भव्यपद्माकरे बोधमाधास्यन्ति[13] रवेरिव ॥५७॥

समय भगवान् मुक्तिरूपी अंगनाके समागमके लिए अत्यन्त चिन्ताको प्राप्त हो रहे थे इसलिए उन्हें यह सारा जगत् शून्य प्रतिभासित हो रहा था ॥४५॥ भगवान् वृषभदेवको बोध उत्पन्न हो गया है अर्थात् वे अब संसारसे विरक्त हो गए हैं ये जगद्गुरु भगवान्‌के अन्तःकरणकी समस्त चेष्टाएँ इन्द्रने अपने अवधिज्ञानसे उसी समय जान ली थीं ॥४६॥ उसी समय भगवान्‌को प्रबोध करानेके लिए और उनके तप कल्याणककी पूजा करनेके लिए लौकान्तिक देव ब्रह्मलोकसे उतरे ॥४७॥ वे लौकान्तिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकारके हैं। वे सभी देवोंमें उत्तम होते हैं। वे पूर्वभवमें सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं। उनकी भावनाएँ शुभ रहती हैं। वे ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्गमें रहते हैं, सदा शान्त रहते हैं, उनकी लेश्याएँ शुभ होती हैं, वे बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले होते हैं और ब्रह्मलोकके अन्तमें निवास करनेके कारण लौकान्तिक इस नामको प्राप्त हुए हैं ॥४८-५०॥ वे लौकान्तिक स्वर्गके हंसोंके समान जान पड़ते थे, क्योंकि वे मुक्तिरूपी नदीके तटपर निवास करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे थे और भगवान्‌के दीक्षाकल्याणकरूपी शरद् ऋतुके आगमनकी सूचना कर रहे थे ॥५१॥ उन लौकान्तिक देवोंने आकर जो पुष्पांजलि छोड़ी थी वह ऐसी मालूम होती थी मानो उन्होंने भगवान्‌के चरणोंकी उपासना करनेके लिए अपने चित्तके अंश ही समर्पित किए हों ॥५२॥ उन देवोंने प्रथम ही कल्पवृक्षके फूलोंसे भगवान्‌के चरणोंकी पूजा की और फिर अर्थसे भरे हुए स्तोत्रोंसे भगवान्‌की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥५३॥ हे भगवन्, इस समय जो आपने मोहरूपी शत्रुको जीतनेके उद्योगकी इच्छा की है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि आपने भव्यजीवोंके साथ भाईपनेका कार्य करनेका विचार किया है अर्थात् भाईकी तरह भव्य जीवोंकी सहायता करनेका विचार किया है ॥५४॥ हे देव, आप परम ज्योति स्वरूप हैं, सब लोग आपको समस्त कार्योंका उत्तम कारण कहते हैं और हे देव, आप ही अज्ञानरूपी प्रपातसे संसारका उद्धार करेंगे ॥५५॥ हे देव, आज आपके द्वारा दिखलाये हुए धर्मरूपी तीर्थको पाकर भव्यजीव इस दुस्तर और भयानक संसाररूपी समुद्रसे लीला मात्रमें पार हो जायेंगे ॥५६॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्यकी देदीप्यमान

---

१ अन्तरङ्गसमाधानम्। २ तदा म०, ल०। ३. अवतरन्ति स्म। ४. समुदायसंख्याम्। ५. मोक्षपृथुसैकत। ६ शरदारम्भ-प०, अ०, इ०, द०, स०। ७ बन्धुत्वम्। ८ चेष्टितम्। ९. त्वमेव कारणं इ०, अ०, स०। १० दुस्तरात् ल०, म। ११ भीमाब्धेरुत्त-ल०, म०। १२. दीप्ता ल०, म०। १३. करिष्यन्ति।

धातारमामनन्ति त्वां जेतारं कर्मविद्विषाम् । नेतारं धर्मतीर्थस्य त्रातारं च जगद्गुरुम् ॥५८॥
मोहपङ्के महत्यस्मिन् जगन्मग्नमशेषतः । धर्महस्तावलम्बेन त्वया [1]मङ्क्षूद्धरिष्यते ॥५९॥
त्वं स्वयंभूःस्वयंबुद्धसन्मार्गो मुक्ति[2]पद्धतिम् । [3]यत्प्रबोधयिता[4]स्यस्मानकस्मात्[5]करुणार्द्रधीः ॥६०॥
त्वं बुद्धोऽसि स्वयंबुद्धः त्रिबोधामललोचनः । यद्वेत्सि[6] स्वत एवाद्य मोक्षस्य पदवीं त्रयीम्[7] ॥६१॥
स्वयं प्रबुद्धसन्मार्गस्त्वं न बोध्योऽस्मदादिभिः । किन्त्वास्माको[8]नियोगोऽयं मुखरीकुरुतेऽद्य नः ॥६२॥
जगत्प्रबोधनोद्योगे न त्वमन्यैर्नियुज्यसे । भुवनोद्योतने किन्तु केनाप्युत्थाप्यतेंऽशुमान् ॥६३॥
अथवा बोधितोऽप्यस्मान् बोधयस्यपुनर्भव । बोधितोऽपि यथा दीपो भुवनस्योपकारकः ॥६४॥
सद्योजातस्त्वमाद्येऽभूः कल्याणे [9]वामतामतः । प्राप्तो[10]ऽनन्तरकल्याणे धत्से [11]सम्प्रत्यघोरताम्[12] ॥६५॥
भुवनस्योपकाराय कुरूद्योगं [13]त्वमीशितः । त्वां नवाब्दमिवासेव्य प्रीयन्तां भव्यचातकाः ॥६६॥

किरणें समस्त जगत्को प्रकाशित करती हुई कमलोंको प्रफुल्लित करती हैं उसी प्रकार आपके वचनरूपी देदीप्यमान किरणें भी समस्त संसारको प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करेंगी ॥५७॥ हे देव, लोग आपको जगत्का पालन करनेवाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले विजेता मानते हैं, धर्मरूपी तीर्थके नेता मानते हैं और सबकी रक्षा करनेवाले जगद्गुरु मानते हैं ॥५८॥ हे देव, यह समस्त जगत् मोहरूपी बड़ी भारी कीचड़में फँसा हुआ है इसका आप धर्मरूपी हाथका सहारा देकर शीघ्र ही उद्धार करेंगे ॥५९॥ हे देव, आप स्वयम्भू हैं, आपने मोक्षमार्गको स्वयं जान लिया है और आप हम सबको मुक्तिके मार्गका उपदेश देंगे इससे सिद्ध होता है कि आपका हृदय बिना कारण ही करुणासे आर्द्र है ॥६०॥ हे भगवन्, आप स्वयं बुद्ध हैं, आप मति-श्रुत और अवधि ज्ञानरूपी तीन निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाले हैं तथा आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता रूपी मोक्षमार्गको अपने आप ही जान लिया है इसलिए आप बुद्ध हैं ॥६१॥ हे देव, आपने सन्मार्गका स्वरूप स्वयं जान लिया है इसलिए हमारे-जैसे देवोंके द्वारा आप प्रबोध करानेके योग्य नहीं हैं तथापि हम लोगोंका यह नियोग ही आज हम लोगोंको वाचालित कर रहा है ॥६२॥ हे नाथ, समस्त जगत्को प्रबोध करानेका उद्योग करनेके लिए आपको कोई अन्य प्रेरणा नहीं कर सकता सो ठीक ही है क्योंकि समस्त जगत्को प्रकाशित करनेके लिए क्या सूर्यको कोई अन्य उकसाता है ? अर्थात् नहीं। भावार्थ-जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत्को प्रकाशित करनेके लिए स्वयं तत्पर रहता है उसी प्रकार समस्त जगत्को प्रबुद्ध करनेके लिए आप स्वयं तत्पर रहते हैं ॥६३॥ अथवा हे जन्म-मरणरहित जिनेन्द्र, आप हमारे-द्वारा प्रबोधित होकर भी हम लोगोंको उसी प्रकार प्रबोधित करेंगे जिस प्रकार जलाया हुआ दीपक संसारका उपकारक होता है अर्थात् सबको प्रकाशित करता है ॥६४॥ हे भगवन्, आप प्रथम गर्भकल्याणकमें सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही अवतार लेनेवाले कहलाये, द्वितीय-जन्मकल्याणकमें वामता अर्थात् सुन्दरताको प्राप्त हुए और अब उसके अनन्तर तृतीय-तपकल्याणकमें अघोरता अर्थात् सौम्यता-को धारण कर रहे हैं ॥६५॥ हे स्वामिन्, आप संसारके उपकारके लिए उद्योग कीजिए, ये

---

१. सपदि । २ मोक्षमार्गम् । ३ यत् कारणात् । ४ बोधयिष्यन्ति । ५. कारणमन्तरेण यतः स्वयंबुद्धसन्मार्गस्ततः । यत् यस्मात् कारणात् अस्मान् मुक्तिपद्धतिमकस्मात् प्रबोधयितासि तस्मात् करुणार्द्रधीः करुणाया कार्यदर्शनात् उपचारात् करुणार्द्रधीरित्युच्यते । मुख्यतः मोहनीयकार्यभूतायाः करुणाया अभावात् । ६. जानासि । ७. रत्नत्रयम् इत्यर्थः । ८. अस्मत्संबन्धी । किन्त्वस्माकं अ०, प०, इ०, स० । ९ मनोहरताम् । वामता मतः म०, ल० । १०. प्राप्तेऽनन्तर-म०, ल० । ११. परिनिष्क्रमणकल्याणे । १२. सुखकारि- । १३ [illegible]नाथ ।

तव धर्मामृतं स्रष्टुमेष कालः सनातनः । धर्मसृष्टिमतो देव विधातुं धातरर्हसि ॥६७॥
जय त्वमीश कर्मारीन् जय मोहमहासुरम् । परीषहभटान् दृप्तान् विजयस्व तपोबलात् ॥६८॥
उत्तिष्ठतां भवान् मुक्त्यै भुक्तैर्भोगैरलंतराम् । न स्वादान्तरमेषु स्याद् भूयोऽप्यनुभवेऽङ्गिनाम् ॥६९॥
इति लौकान्तिकैर्देवैः स्तुवानैरुपनायितः । परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद् धाता दृढीयसीम् ॥७०॥
तावतैव नियोगेन कृतार्थास्ते दिवं ययुः । हंसा इव नभोवीथीं द्योतयन्तोऽङ्गदीप्तिभिः ॥७१॥
तावच्च नाकिनो नैकविक्रियाः कम्पितासनाः । पुरोऽभूवन्[1] पुरोऽस्य[2] पुरोधाय पुरंदरम् ॥७२॥
नभोऽङ्गणमथारुध्य तेऽयोध्यां परितः पुरीम् । तस्थुः[3] स्ववाहनानीका नाकिनाथा निकायशः ॥७३॥
ततोऽस्य परिनिष्क्रान्तिमहाकल्याणसविधौ । महाभिषेकमिन्द्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवाम्बुभिः ॥७४॥
अभिषिच्य विभुं देवा भूषयाञ्चक्रुरादृताः । दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवैः[4] ॥७५॥
ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम् । भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं[5] व्यधादिदम् ॥७६॥
यौवराज्ये च तं बाहुबलिनं समतिष्ठिपत् । तदा राजन्वतीत्यासीत् पृथ्वी ताभ्यामधिष्ठिता[6] ॥७७॥
परिनिष्क्रान्तिराज्यानुसंक्रान्तिद्वितयोत्सवे । तदा स्वर्लोकभूलोकावास्तां[7] प्रमदनिर्भरौ[8] ॥७८॥

भव्यजीव रूपी चातक नवीन मेघके समान आपकी सेवा कर सन्तुष्ट हों ॥६६॥ हे देव, अनादि प्रवाहसे चला आया यह काल अब आपके धर्मरूपी अमृत उत्पन्न करनेके योग्य हुआ है इसलिए हे विधाता, धर्मकी सृष्टि कीजिए-अपने सदुपदेशसे समीचीन धर्मका प्रचार कीजिए ॥६७॥ हे ईश, आप अपने तपोबलसे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतिए, मोहरूपी महाअसुरको जीतिए और परीषहरूपी अहंकारी योद्धाओंको भी जीतिए ॥६८॥ हे देव, अब आप मोक्षके लिए उठिए-उद्योग कीजिए, अनेक बार भोगे हुए इन भोगोंको रहने दीजिए-छोड़िए क्योंकि जीवोंके बार-बार भोगनेपर भी इन भोगोंके स्वादमें कुछ भी अन्तर नहीं आता-नूतनता नहीं आती ॥६९॥ इस प्रकार स्तुति करते हुए लौकान्तिक देवोंने तपश्चरण करनेके लिए जिनसे प्रार्थना की है ऐसे ब्रह्मा-भगवान् वृषभदेवने तपश्चरण करनेमें—दीक्षा धारण करनेमें अपनी दृढ़ बुद्धि लगायी ॥ ७० ॥ वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोगसे कृतार्थ होकर हंसोंकी तरह शरीरकी कान्तिसे आकाशमार्गको प्रकाशित करते हुए स्वर्गको चले गये ॥ ७१ ॥ इतनेमें ही आसनोंके कम्पायमान होनेसे भगवान्के तप-कल्याणकका निश्चय कर देव लोग अपने-अपने इन्द्रोंके साथ अनेक विक्रियाओंको धारण कर प्रकट होने लगे ॥७२॥

अथानन्तर समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकायके देवोंके साथ आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करते हुए आये और अयोध्यापुरीके चारों ओर आकाशको घेरकर अपने-अपने निकायके अनुसार ठहर गये ॥ ७३ ॥ तदनन्तर इन्द्रादिक देवोंने भगवान्के निष्क्रमण अर्थात् तपःकल्याणक करनेके लिए उनका क्षीरसागरके जलसे महाभिषेक किया ॥७४॥ अभिषेक कर चुकनेके बाद देवोंने बड़े आदरके साथ दिव्य आभूषण, वस्त्र, मालाएँ और मलयागिरि चन्दनसे भगवान्का अलंकार किया ॥७५॥ तदनन्तर भगवान् वृषभदेवने साम्राज्य पदपर अपने बड़े पुत्र भरतका अभिषेक कर इस भारतवर्षको उनसे सनाथ किया ॥७६॥ और युवराज पदपर बाहुबलीको स्थापित किया। इस प्रकार उस समय यह पृथिवी उक्त दोनों भाइयोंसे अधिष्ठित होनेके कारण राजन्वती अर्थात् सुयोग्य राजासे सहित हुई थी ॥७७॥ उस समय भगवान् वृषभदेवका निष्क्रमणकल्याणक और भरतका राज्याभिषेक हो रहा था इन दोनों

---

१. पुरोऽभवन् प० । २. पुरोगस्य अ०, प० । ३. सवाहनानीका प०, अ०, इ०, स०, द०, म०, ल० । ४ गन्धैः । ५ तेन भरतेन सस्वामिकम् । ६ यासिता । ७. अभवताम् । 'अस् भुवि' लुङ् द्विवचनम् । ८ सन्तोषातिशयौ ।

भगवत्परिनिष्क्रान्तिकल्याणोत्सव एकतः । स्फीतर्द्धिरन्यतो यूनोः पृथ्वीराज्यार्पणक्षणः[1] ॥७९॥
बद्धकक्षस्तपोराज्ये सज्जो राजर्षिरेकतः । युवानावन्यतो राज्यलक्ष्म्युद्वाहे[2] कृतोद्यमौ ॥८०॥
एकतः शिबिकायाननिर्माणं सुरशिल्पिनाम् । [3]वास्तुवेदिभिरारब्धः परार्ध्यो मण्डपोऽन्यतः ॥८१॥
शचीदेव्यैकतो रङ्गवल्ल्यादिरचना कृता । देव्याऽन्यतो यशस्वत्या सानन्दं ससुनन्दया ॥८२॥
एकतो मङ्गलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिकाः । अन्यतः कृतनेपथ्या वारमुख्या [4]वरस्त्रियः ॥८३॥
[5]सुरवृन्दारकैः प्रीतैर्भगवानेकतो वृतः । क्षत्रियाणां सहस्रेण कुमारावन्यतो वृतौ ॥८४॥
पुष्पाञ्जलिः सुरैर्मुक्तः स्तुवानैर्भर्तुरेकतः । अन्यतः [6]साशिषः शेषाः [7] क्षिप्ताः पौरैर्युवेशिनोः ॥८५॥
एकतोऽप्सरसां नृत्तमस्पृष्टधरणीतलम् । सलीलपदविन्यासमन्यतो वारयोषिताम् ॥८६॥
एकतः सुरतूर्याणां प्रध्वानो रुद्धदिङ्मुखः । नान्दीपटहनिर्घोषप्रविजृ[8]म्भितमन्यतः ॥८७॥
एकतः किन्नरारब्धकलमङ्गलनिःक्वणः । अन्यतोऽन्तःपुरस्त्रीणां मङ्गलोद्गीतिनि[9]स्वनः ॥८८॥
एकतः सुरकोटीनां जयकोलाहलध्वनिः । पुण्यपाठककोटीनां संपाठध्वनिरन्यतः ॥८९॥

प्रकारके उत्सवोंके समय स्वर्गलोक और पृथिवीलोक दोनों ही हर्षनिर्भर हो रहे थे ॥ ७८ ॥ उस समय एक ओर तो बड़े वैभवके साथ भगवान्‌के निष्क्रमणकल्याणकका उत्सव हो रहा था और दूसरी ओर भरत तथा बाहुबली इन दोनों राजकुमारोंके लिए पृथिवीका राज्य समर्पण करनेका उत्सव किया जा रहा था ॥७९॥ एक ओर तो राजर्षि-भगवान् वृषभदेव तपरूपी राज्यके लिए कमर बाँधकर तैयार हुए थे और दूसरी ओर दोनों तरुण कुमार राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेके लिए उद्यम कर रहे थे ॥८०॥ एक ओर तो देवोंके शिल्पी भगवानको वनमें ले जानेके लिए पालकीका निर्माण कर रहे थे और दूसरी ओर वास्तुविद्या अर्थात् महल मण्डप आदि बनानेकी विधि जाननेवाले शिल्पी राजकुमारोंके अभिषेकके लिए बहुमूल्य मण्डप बना रहे थे ॥८१॥ एक ओर तो इन्द्राणी देवीने रंगावली आदिकी रचना की थी-रंगीन चौक पूरे थे और दूसरी ओर यशस्वती तथा सुनन्दा देवीने बड़े हर्षके साथ रंगावली आदिकी रचना की थी-तरह-तरहके सुन्दर चौक पूरे थे ॥८२॥ एक ओर तो दिक्कुमारी देवियाँ मंगल द्रव्य धारण किए हुई थीं और दूसरी ओर वस्त्राभूषण पहने हुई उत्तम वारांगनाएँ मंगल द्रव्य लेकर खड़ी हुई थीं ॥८३॥ एक ओर भगवान वृषभदेव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए श्रेष्ठ देवोंसे घिरे हुए थे और दूसरी ओर दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रिय-राजाओंसे घिरे हुए थे ॥८४॥ एक ओर स्वामी वृषभदेवके सामने स्तुति करते हुए देवलोग पुष्पांजलि छोड़ रहे थे और दूसरी ओर पुरवासीजन दोनों राजकुमारोंके सामने आशीर्वादके शेषाक्षत फेंक रहे थे ॥८५॥ एक ओर पृथिवीतलको विना छुए ही-अधर आकाशमें अप्सराओंका नृत्य हो रहा था और दूसरी ओर वारांगनाएँ लीलापूर्वक पद-विन्यास करती हुई नृत्य कर रही थीं ॥८६॥ एक ओर समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले देवोंके बाजोंके महान शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर नान्दी पटह आदि-मांगलिक बाजोंके घोर शब्द सब ओर फैल रहे थे ॥८७॥ एक ओर किन्नर जातिके देवोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए मनोहर मंगल गीतोंके शब्द हो रहे थे और दूसरी ओर अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मंगल गानोंकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥८८॥ एक ओर करोड़ों देवोंका जय जय ध्वनिका कोलाहल हो रहा था और दूसरी ओर पुण्यपाठ करनेवाले करोड़ों

---

१. राज्यसमर्पणोत्सवः । "क्षणोऽथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः ।" २. विवाहे । ३. गृहलक्षण ।
४. बहुस्त्रियः म०, ल० । बहुश्रियः ट० । श्रीदेवीसदृशः । 'सुपः प्राग्बहुर्वेति' ईषदपरिसमाप्तौ बहुप्रत्ययः ।
५. देवमुख्यैः । "वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ एके मुख्यान्यकेवलाः ।" इत्यमरः । ६. आशीर्भिः सहिताः । ७ शेषा-
क्षताः । ८. प्रविजृम्भणम् । ९. निःस्वपन ल० ।

इत्युच्चैरुत्सवद्वैतव्यग्रसुरनरव्रजम् । [1]परमानन्दसाद्भूतमभूत्तद्राजमन्दिरम् ॥९०॥
वितीर्णराज्यभारस्य विभोरधियुवेश्वरम्[2] । परिनिष्क्रमणोद्योगस्तदा जज्ञे निराकुलः ॥९१॥
शेषेभ्योऽपि स्वसूनुभ्यः संविभज्य महीमिमाम् । विभुर्विश्राणयामास[3] निर्मुमुक्षुरसंभ्रमी[4] ॥९२॥
सुरेन्द्रनिर्मितां दिव्यां शिबिकां स सुदर्शनाम् । सनाभीन्नाभिराजादीनापृच्छ्यारुक्षदक्षरः[5] ॥९३॥
सादरं च शचीनाथदत्तहस्तावलम्बनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढः शिबिकां [6]विभुः ॥९४॥
दीक्षाङ्गनापरिष्वङ्ग[7]परिवर्धितकौतुकः । प्रशय्यां नु[8] समारूढः स भाता शिबिकाछलात् ॥९५॥
स्रग्वी मलयजालिप्तदीप्तमूर्तिरलंकृतः । स रेजे शिबिकारूढस्तपोलक्ष्म्या वरोत्तमः ॥९६॥
परां विशुद्धिमारूढः प्राक् पश्चाच्छिबिकां विभुः । तदाकरोदिवाभ्यासं गुणश्रेण्यधिरोहणे ॥९७॥
पदानि सप्त तामूहुः शिबिकां प्रथमं नृपाः । ततो विद्याधरा निन्युर्व्योम्नि सप्तपदान्तरम् ॥९८॥
[9]स्कन्धाधिरोपितां कृत्वा ततोऽमूमविलम्बितम्[10] । सुरासुराः समुत्पेतुरारूढप्रमदोदयाः ॥९९॥
[11]पर्याप्तमिदमेवास्य प्रभोर्माहात्म्यशंसनम् । यत्तदा त्रिदिवाधीशा जाताः [12]युग्यकवाहिनः ॥१००॥

मनुष्योंके पुण्यपाठका शब्द हो रहा था ॥८९॥ इस प्रकार दोनों ही बड़े-बड़े उत्सवोंमें जहाँ देव और मनुष्य व्यग्र हो रहे हैं ऐसा वह राज-मन्दिर परम आनन्दसे व्याप्त हो रहा था—उसमें सब ओर हर्ष ही हर्ष दिखाई देता था ॥९०॥ भगवान्‌ने अपने राज्यका भार दोनों ही युवराजोंको समर्पित कर दिया था इसलिए उस समय उनका दीक्षा लेनेका उद्योग बिलकुल ही निराकुल हो गया था—उन्हें राज्यसम्बन्धी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रही थी ॥९१॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवान्‌ने सम्भ्रम-आकुलतासे रहित होकर अपने शेष पुत्रोंके लिए भी यह पृथिवी विभक्त कर बाँट दी थी ॥ ९२ ॥ तदनन्तर अक्षर-अविनाशी भगवान् , महाराज नाभिराज आदि परिवारके लोगोंसे पूछकर इन्द्रके द्वारा बनायी हुई सुन्दर सुदर्शन नामकी पालकीपर बैठे ॥९३॥ बड़े आदरके साथ इन्द्रने जिन्हें अपने हाथका सहारा दिया था ऐसे भगवान् वृषभदेव दीक्षा लेनेकी प्रतिज्ञाके समान पालकीपर आरूढ हुए थे ॥९४॥ दीक्षारूपी अंगनाके आलिंगन करनेका जिनका कौतुक बढ रहा है ऐसे भगवान् वृषभदेव उस पालकीपर आरूढ होते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो पालकीके छलसे दीक्षारूपी अंगनाकी श्रेष्ठ शय्यापर ही आरूढ हो रहे हों ॥९५॥ जो मालाएँ पहने हुए हैं, जिनका देदीप्यमान शरीर चन्दनके लेपसे लिप्त हो रहा है और जो अनेक प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पालकीपर आरूढ हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तपरूपी लक्ष्मीके उत्तम वर ही हों ॥९६॥ भगवान् वृषभदेव पहले तो परम विशुद्धतापर आरूढ हुए थे अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धताको प्राप्त हुए थे और बादमें पालकीपर आरूढ हुए थे इसलिए वे उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो गुणस्थानोंकी श्रेणी चढनेका अभ्यास ही कर रहे हों ॥९७॥ भगवान्‌की उस पालकीको प्रथम ही राजा लोग सात पैंड़ तक ले चले और फिर विद्याधर लोग आकाशमें सात पैंड़ तक ले चले ॥९८॥ तदनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवोंने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धोंपर रखी और शीघ्र ही उसे आकाशमें ले गये ॥९९॥ भगवान् वृषभदेवके माहात्म्यकी प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय देवोंके अधिपति इन्द्र भी

---

१ परमानन्दमयमित्यर्थः । २. युवेश्वरयोः । ३ ददौ । 'श्रण दाने' इति धातोः । ४ अनाकुलः स्थैर्यवान् दीक्षाग्रहणसम्भ्रमवान् भूत्वा प्राक्तनकार्यव्याकुलान्तःकरणो न भवतीत्यर्थः । ५. विनश्वरः । ६ प्रभुः अ०, प०, इ०, ग०, द०, म०, ल० । ७ आलिंगन । ८ इव । तु अ०, म० । ९ भुजशिखर । १०. आशु । ११ अलम् । १२ यानवाहकाः ।

तदा [1]विचकरुः पुष्पवर्षमामोदि गुह्यकाः[2] । ववौ मन्दाकिनीसीकराहार[3] शिशिरो मरुत् ॥१०१॥
प्रस्थानमङ्गलान्युच्चैः सपेठुः[4] सुरवन्दिनः । तदा प्रयाणभेर्यश्च विष्वगास्फालिताः[5] सुरैः ॥१०२॥
मोहारिविजयोद्योगसमयोऽयं जगद्गुरोः । इत्युच्चैर्घोषयामासुस्तदा शक्राज्ञयाऽमराः ॥१०३॥
जयकोलाहलं भर्तुरग्रे हृष्टाः सुरासुराः । तदा चक्रुर्नभोऽशेषमारुध्य प्रमदोदयात् ॥१०४॥
तदा मङ्गलसंगीतैः प्रकृतैर्जयघोषणैः । नभो महानकध्वानैराद्धं [6]शब्दसादभूत् ॥१०५॥
देहोद्योतस्तदेन्द्राणां नभः कृत्स्नमदिद्युतत् । दुन्दुभीनां च निर्ह्रादी ध्वनिर्विश्वमदिध्वनत् ॥१०६॥
सुरेन्द्रकरविक्षिप्तैः प्रचलद्भिरितोऽमुतः । तदा हंसायितं व्योम्नि चामराणां कदम्बकैः ॥१०७॥
ध्वनन्तीषु नभो व्याप्य सुरेन्द्रानककोटिषु । कोटिशः सुरचेटानां[7] करकोणाभिताडनैः ॥१०८॥
नटन्तीषु नभोरङ्गे सुरस्त्रीषु सविभ्रमम् । विचित्र[8]करणोपेत[9]तच्छत्रबन्धादिलाघवैः ॥१०९॥
गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् । श्रवःसुखं च हृद्यं च परिनि[10]ष्क्रमणोत्सवम् ॥११०॥
मङ्गलानि पठत्सूच्चैः सुरवं सुरवन्दिषु । तत्कालोचितमन्यच्च वचश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥१११॥
[11]भूतेषूद्भूतहर्षेषु चित्रकेतनधारिषु[12] । नानालास्यैः प्रधावत्सु [13]ससंघर्षमितोऽमुतः ॥११२॥

उनकी पालकी ले जानेवाले हुए थे अर्थात् इन्द्र स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे ॥१००॥ उस समय यक्ष जातिके देव सुगन्धित फूलोंकी वर्षा कर रहे थे और गंगानदीके जलकणोंको धारण करनेवाला शीतल वायु बह रहा था ॥१०१॥ उस समय देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे प्रस्थान समयके मंगल पाठ पढ़ रहे थे और देव लोग चारों ओर प्रस्थानसूचक भेरियाँ बजा रहे थे ॥१०२॥ उस समय इन्द्रकी आज्ञा पाकर समस्त देव जोर-जोरसे यही घोषणा कर रहे थे कि जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका मोहरूपी शत्रुको जीतनेके उद्योग करनेका यही समय है ॥१०३॥ उस समय हर्षित हुए सुर असुर जातिके सभी देव आनन्दकी प्राप्तिसे समस्त आकाशको घेरकर भगवान्के आगे जय जय ऐसा कोलाहल कर रहे थे ॥१०४॥ मंगलगीतों, बार-बार की गयी जय-घोषणाओं और बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्दोंसे सब ओर व्याप्त हुआ आकाश उस समय शब्दों-के अधीन हो रहा था अर्थात् चारों ओर शब्द ही शब्द सुनाई पड़ते थे ॥१०५॥ उस समय इन्द्रोंके शरीरकी प्रभा समस्त आकाशको प्रकाशित कर रही थी और दुन्दुभियोंका विपुल तथा मनोहर शब्द समस्त संसारको शब्दायमान कर रहा था ॥१०६॥ उस समय इन्द्रोंके हाथोंसे ढुलाये जानेके कारण इधर-उधर फिरते हुए चमरोंके समूह आकाशमें ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥१०७॥ जिस समय भगवान् पालकीपर आरूढ हुए थे उस समय करोड़ों देवकिंकरोंके हाथोंमें स्थित दण्डोंकी ताड़नासे इन्द्रोंके करोड़ों दुन्दुभि बाजे आकाशमें व्याप्त होकर बज रहे थे ॥१०८॥ आकाशरूपी आँगनमें अनेक देवांगनाएँ विलाससहित नृत्य कर रही थीं उनका नृत्य छत्रबन्ध आदिकी चतुराई तथा आश्चर्यकारी अनेक करणों-नृत्यभेदों-से सहित था ॥१०९॥ मनोहर कण्ठवाली किन्नर जातिकी देवियाँ अपने मधुर स्वरसे कानोंको सुख देनेवाले मनोहर और मधुर तपःकल्याणोत्सवका गान कर रही थीं-उस समयके गीत गा रही थीं ॥११०॥ देवोंके वन्दीजन उच्च स्वरसे किन्तु उत्तम शब्दोंसे मंगल पाठ पढ़ रहे थे तथा उस समयके योग्य और सबके मनको अनुरक्त करनेवाले अन्य पाठोंको भी पढ रहे थे ॥१११॥ जिन्हें अत्यन्त हर्ष उत्पन्न हुआ है और जो चित्र-विचित्र-अनेक प्रकारकी पताकाएँ

---

१. तदावचकरु अ०, प०, द०, स०, म०, ल० । किरन्ति स्म । २. देवभेदा । ३. -राहर' इ०, स० । ४. प्रपेठु. अ०, प०, इ०, स०, म०, द०, ल० । ५. ताडिता । ६. शब्दमयमभूदित्यर्थः । ७ किंकराणाम् । ८. करन्यास । ९. करणोपेतं द०, इ० । १०. परिनिष्क्रमणोत्सवम् अ० । ११. व्यन्तरदेवेषु । १२. -केतनहारिष प०, द०, म०, स० । १३ सम्मर्दसहितं यथा भवति तथा । सुसघर्प -प०, म०, ल० ।

शङ्खानाध्मातगण्डेषु [1]पिण्डीभूताङ्गयष्टिषु । सकाहलान्निलिम्पेषु पूरयत्स्वनुरागतः ॥११३॥
[2]अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु[3] पङ्कजव्यग्रपाणिषु । समं समङ्गलार्घाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् ॥११४॥
इत्यमीषु विशेषेषु प्रभवत्सु यथायथम् । संप्रमोदमयं विश्वमातन्वन्नद्भुतोदयः ॥११५॥
परार्घ्यरत्ननिर्माणं दिव्यं यानमधिष्ठितः । रत्नक्षोणीप्रतिष्ठस्य श्रियं मेरोर्विडम्बयन् ॥११६॥
कण्ठाभरणभाभारपरिवेषोपरक्तया[4] । मुखार्कभासा न्यक्कुर्वन्[5] ज्योतिर्ज्योतिर्गणेशिनाम् ॥११७॥
उत्तमाङ्गधृतेनोच्चैः मौलिना[6] विमणित्विषा । धुन्वानोऽग्नीन्द्रमौलीनां त्विषामाविष्कृतार्चिषाम् ॥११८॥
किरीटोत्सङ्गसङ्गिन्या सुमनःशेखरस्रजा । मनःप्रसादमात्मीयं मूर्ध्नेवोद्धृत्य दर्शयन् ॥११९॥
प्रसन्नया दृशोर्भासा प्रोल्लसन्त्या समन्ततः । दृग्विलासं सहस्राक्षे सांन्यासि[7]कमिवार्पयन् ॥१२०॥
तिरस्कृताधरच्छायैर्दरोद्भिन्नैः[8] स्मितांशुभिः । क्षालयन्निव निःशेषं रागदोषं स्वशुद्धिभिः ॥१२१॥
हारेण हारिणा चारुवक्षःस्थलविलम्बिना । विडम्बयन्निवाद्रीन्द्रं प्रान्तपर्यस्तनिर्झरम् ॥१२२॥

लिये हुए हैं ऐसे भूत जातिके व्यन्तर देव भीड़में धक्का देते तथा अनेक प्रकारके नृत्य करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ ११२ ॥ देव लोग बड़े अनुरागसे अपने गालोंको फुलाकर और शरीरको पिण्डके समान संकुचित कर तुरही तथा शंख बजा रहे थे ॥ ११३ ॥ हाथोंमें कमल धारण किये हुई लक्ष्मी आदि देवियाँ आगे-आगे जा रही थीं और बड़े आदरसे मंगल द्रव्य तथा अर्घ लेकर दिक्कुमारी देवियाँ उनके साथ-साथ जा रही थीं ॥ ११४ ॥ इस प्रकार जिस समय यथायोग्य रूपसे अनेक विशेषताएँ हो रही थीं उस समय अद्भुत वैभवसे शोभायमान भगवान् वृषभदेव समस्त संसारको आनन्दित करते हुए अमूल्य रत्नोंसे बनी हुई दिव्य पालकीपर आरूढ़ होकर अयोध्यापुरीसे बाहर निकले। उस समय वे रत्नमयी पृथ्वीपर स्थित मेरु पर्वतकी शोभाको तिरस्कृत कर रहे थे। गलेमें पड़े हुए आभूषणोंकी कान्तिके समूहसे उनके मुखपर जो परिधिके आकारका लाल-लाल प्रभामण्डल पड़ रहा था उससे उनका मुख सूर्यके समान मालूम होता था, उस मुखरूपी सूर्यकी प्रभासे वे उस समय ज्योतिषी देवोंके इन्द्र अर्थात् चन्द्रमाकी ज्योतिको भी तिरस्कृत कर रहे थे। जिससे मणियोंकी कान्ति निकल रही है ऐसे मस्तकपर धारण किये हुए ऊँचे मुकुटसे वे, जिनसे ज्वाला प्रकट हो रही है ऐसे अग्निकुमार देवोंके इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिको भी तिरस्कृत कर रहे थे। उनके मुकुटके मध्यमें जो फूलोंका सेहरा पड़ा हुआ था उसकी मालाओंके द्वारा मानो वे भगवान् अपने मनकी प्रसन्नताको ही मस्तकपर धारण कर लोगोंको दिखला रहे थे। उनके नेत्रोंकी जो स्वच्छ कान्ति चारों ओर फैल रही थी उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्रके लिए संन्यास धारण करनेके समय होनेवाला नेत्रोंका विलास ही अर्पित कर रहे हों अर्थात् इन्द्रको सिखला रहे हों कि संन्यास धारण करनेके समय नेत्रोंकी चेष्टाएँ इतनी प्रशान्त हो जाती हैं। कुछ-कुछ प्रकट होती हुई मुसकानकी किरणोंसे उनके ओठोंकी लाल-लाल कान्ति भी छिप जाती थी जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी विशुद्धिके द्वारा बाकी बचे हुए सम्पूर्ण रागको ही धो रहे हों। उनके सुन्दर वक्षःस्थलपर जो मनोहर हार पड़ा हुआ था उससे वे भगवान् जिसके किनारेपर निर्झरना पड़ रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतकी भी विडम्बना कर रहे थे। जिनमें कड़े बाजूबन्द आदि आभूषण चमक रहे हैं ऐसी अपनी भुजाओंकी शोभासे वे नागेन्द्रके फणमें लगे हुए रत्नोंकी कान्तिके समूहकी भर्त्सना कर रहे थे। करधनीसे घिरे हुए जघनस्थलकी शोभासे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो वेदिकासे घिरे हुए जम्बू द्वीपकी शोभा ही स्वीकृत कर रहे हों। ऊपरकी दोनों गाँठोंतक देदीप्य-

---

१ संकोचीभूत। २ पुरोगामिनीषु। ३. श्रीह्रीधृत्यादिषु। ४. उपरञ्जितया। ५. अध.कुर्वन्। न्यक्कुर्वन् प०, म०, ल०। ६. मुकुटेन। ७ निक्षेपार्हम्। 'न्यासार्पित-निक्षेप'। ८ प्रवृत्त।

भुजयोः शोभया [1]दीप्तकटकाङ्गदभूषया । निर्भर्त्सयन् फणीन्द्राणां फणारत्नरुचां चयम् ॥१२३॥
काञ्चीदामपरिक्षिप्तजघनस्थललीलया । स्वीकुर्वन् वेदिका रुद्धजम्बूद्वीपस्थलश्रियम् ॥१२४॥
[2]क्रमोपधानपर्यन्त[3]लुमत्पदनखांशुभिः । प्रसादांशैरिवाशेषं पुनानः प्रणतं जनम् ॥१२५॥
न्य[4]क्कृतार्करुचा स्वाङ्गदीप्त्या व्याप्तककुम्मुखः[5] । स्वेनौजसाधरीकुर्वन् सर्वान् गीर्वाणनायकान् ॥१२६॥
इति प्रत्यङ्गसङ्गिन्या नैःसङ्ग्योचितया श्रिया । [6]निर्वासयन्निवासङ्ग[7] चिरं कालोपलालितम् ॥१२७॥
विधृतेन सितच्छत्रमण्डलेनामलत्विषा । विधुनेवोपरिस्थेन सेव्यमानः [8]क्लमच्छिदा ॥१२८॥
प्रकीर्णकप्रतानेन [10]विधुतेनामरेश्वरैः । [11]जन्मोत्सवक्षणप्रोत्या क्षीरोदेनेव सेवितः ॥१२९॥
इत्याविष्कृतमाहात्म्यः सुरेन्द्रैः परितो वृतः । पुरुः पुराद् विनिष्क्रान्तः पौरैरित्यभिनन्दितः ॥१३०॥
व्रज सिद्ध्यै जगन्नाथ शिवः पन्थाः समस्तु ते । [12]निष्ठितार्थः पुनर्देव दृक्पथे नो[13] भवाचिरात् ॥१३१॥
नाथानाथं जनं त्रातुं नान्यस्त्वमिव कर्मठः[14] । तस्मादस्मत्परित्राणे[15] प्रणिधेहि[16] मनः पुनः ॥१३२॥
परानुग्रहकाराणि चेष्टितानि तव प्रभो । निर्व्यपेक्षं विहायास्मान् कोऽनुग्राहयस्त्वयापरः ॥१३३॥
इति श्लाघ्यं प्रसन्नं च [17]सानुतर्षं[18]सनाथनम् । कैश्चित् संजल्पितं पौरैराराात् प्रणतमूर्द्धभिः ॥१३४॥
अयं स भगवान् दूरं देवैरुत्क्षिप्य नीयते । न विद्मः कारणं [19]किन्नु क्रीडेयमथवेदृशी ॥१३५॥

मान होती हुई पैरोंकी किरणोंसे वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो नमस्कार करते हुए सम्पूर्ण लोगोंको अपनी प्रसन्नताके अंशोंसे पवित्र ही कर रहे हों। उस समय सूर्यकी कान्तिको भी तिरस्कृत करनेवाली अपने शरीरकी दीप्तिसे जिन्होंने सब दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने ओजसे समस्त इन्द्रोंको नीचा दिखा रहे थे। इस प्रकार प्रत्येक अंग-उपांगोंसे सम्बन्ध रखनेवाली वैराग्यके योग्य शोभासे वे ऐसे जान पड़ते मानो चिरकालसे पालन-पोषण की हुई परिग्रहकी आसक्तिको ही बाहर निकाल रहे हों। ऊपर लगे हुए निर्मल कान्तिवाले सफेद छत्रके मण्डलसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो क्लेशोंको दूर करनेवाला चन्द्रमा ही ऊपर आकर उनकी सेवा कर रहा हो। इन्द्रोंके द्वारा ढुलाये हुए चमरोंके समूहसे भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जन्मकल्याणकके क्षण-भरके प्रेमसे क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो। इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और अनेक इन्द्र जिन्हें चारों ओरसे घेरे हुए हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव अयोध्यापुरीसे बाहर निकले। उस समय नगरनिवासी लोग उनकी इस प्रकार स्तुति कर रहे थे ॥११५-१३०॥ हे जगन्नाथ, आप कार्यकी सिद्धिके लिए जाइए, आपका मार्ग कल्याणमय हो और हे देव, आप अपना कार्य पूरा कर फिर भी शीघ्र ही हम लोगोंके दृष्टिगोचर होइए ॥१३१॥ हे नाथ, अनाथ पुरुषोंकी रक्षा करनेके लिए आपके समान और कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए हम लोगोंकी रक्षा करनेमें आप अपना मन फिर भी लगाइए ॥१३२॥ हे प्रभो, आपकी समस्त चेष्टाएँ पुरुषोंका उपकार करनेवाली होती हैं, आप बिना कारण ही हम लोगोंको छोड़कर अब और किसका उपकार करेंगे ? ॥१३३॥ इस प्रकार कितने ही नगरनिवासियोंने दूरसे ही मस्तक झुकाकर प्रशंसनीय, स्पष्ट अर्थको कहनेवाले और कामनासहित प्रार्थनाके वचन कहे थे ॥ १३४ ॥ उस समय कितने ही नगरवासी परस्परमें ऐसा कह रहे थे कि देव लोग भगवान्‌को पालकी

---

१. दीप्त–द०, स०, इ०, ल०, म० । २. चरणकूर्पासससमीप । ३. पर्यन्तोल्लम–ल०, म०, द०. स०, इ० । ४. अध कृत । ५ ककुब्मुख. म०, प०, ल० । ६ निष्कामयन् प्रेषयन्निव । ७ परिग्रहम् आसक्ति वा । ८. प्रेषणकाले आलिंगनपूर्वकं प्रेषयन्ति तावच्चिरकालोपलालितानाभरणाद्यासंगात्तत्पूर्वक प्रेषयन्निव । ९. ग्लानि । १० विधूतेना–म०, ल० । ११. जन्माभिषेकसमय । १२ प्रत्यङ्गसंगतैराभरणैर्भातीत्यर्थ. । निष्पन्नप्रयोजनः सन् । १३. अस्माकम् । १४. कर्मशूरः । १५ परिरक्षणे । १६. एकाग्र कुरु । १७. वाञ्छासहितम् । सानुकर्षं अ०, स० । १८. प्रार्थनासहितम् । १९. किन्तु प०, अ०, म०, ल० ।

भवेदपि भवेदेतन्नीतो मेरुं पुराप्ययम् । प्रत्यानीतश्च नाकीन्द्रैर्जन्मोत्सवविधित्सया[1] ॥१३६॥
स एवाद्यापि वृत्तान्तो जात्वस्मद्भाग्यतो भवेत् । ततो न काचनास्माकं व्यथेत्यन्ये मिथोऽब्रुवन् ॥१३७॥
किमेष भगवान् भानुरास्थितः शिबिकामिमाम् । देदीप्यतेऽम्बरे भाभिः प्रतुदन्निव नो दृशः ॥१३८॥
धृतमौलिर्विभात्युच्चैस्तप्तचामीकरच्छविः । विभुर्मध्ये सुरेन्द्राणां कुलाद्रीणामिवाद्रिराट् ॥१३९॥
विभोर्मुखो[2]न्मुखीर्दृष्टीर्दधानोऽद्भुतविक्रियः । [3]कः [4]स्विदाज्ञातमस्याज्ञाकरः सोऽयं पुरंदरः ॥१४०॥
शिबिकावाहिनामेषामङ्गभासो महौजसाम् । समन्तात् प्रोल्लसन्त्येतास्तडितामिव रीतयः[5] ॥१४१॥
महत्पुण्यमहो भर्तुरवाङ्[6]मनसगोचरम् । पश्यतानिमिषानेतान् प्रणम्रानितोऽमुतः ॥१४२॥
इतो मधुरगम्भीरं ध्वनन्त्येते सुरानकाः । इतो मन्द्रं मृदङ्गानामुच्चैरुच्चरति ध्वनिः ॥१४३॥
इतो नृत्यमितो गीतमितः संगीत[7]मङ्गलम् । इतश्चामरसंघात इतश्चामरसंहतिः ॥१४४॥
सचारी किमयं स्वर्गः [8]साप्सरास्सविमानकः । किं वापूर्वमिदं चित्रं लिखितं व्योम्नि केनचित् ॥१४५॥
किमिन्द्रजालमेतत्स्यादुतास्मन्मतिविभ्रमः । अदृष्टपूर्वमाश्चर्यमिदमीदृग्न जातुचित् ॥१४६॥
इति कैश्चित्तदाश्चर्यं पश्यद्भिः प्राप्तविस्मयैः । स्वैरं संजल्पितं पौरैर्जल्पाकैः[9] सविकल्पकैः ॥१४७॥

पर सवार कर कहीं दूर ले जा रहे हैं परन्तु हम लोग इसका कारण नहीं जानते अथवा भगवान्‌की यह कोई ऐसी ही क्रीडा होगी अथवा यह भी हो सकता है कि पहले इन्द्र लोग जन्मोत्सव करनेकी इच्छासे भगवानको सुमेरु पर्वतपर ले गये थे और फिर वापस ले आये थे। कदाचित् हम लोगोंके भाग्यसे आज फिर भी वही वृत्तान्त हो इसलिए हम लोगोंको कोई दुःखकी बात नहीं है ॥१३५–१३७॥ कितने ही लोग आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि पालकीपर सवार हुए ये भगवान क्या साक्षात् सूर्य हैं क्योंकि ये सूर्यकी तरह ही अपनी प्रभाके द्वारा हमारे नेत्रोंको चकाचौंध करते हुए आकाशमें देदीप्यमान हो रहे हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार कुलाचलोंके बीच चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत शोभित होता है उसी प्रकार इन्द्रोंके बीच मुकुट धारण किये और तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण किये हुए भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥१३९॥ जो भगवानके मुखके सामने अपनी दृष्टि लगाये हुए है और जिसकी विक्रियाएँ अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं ऐसा यह कौन है ? हाँ, मालूम हो गया कि यह भगवान्‌का आज्ञाकारी सेवक इन्द्र है ॥१४०॥ इधर देखो, यह पालकी ले जानेवाले महातेजस्वी देवोंके शरीरकी प्रभा चारों ओर फैल रही है और ऐसी मालूम होती है मानो बिजलियोंका समूह ही हो ॥१४१॥ अहा, भगवानका पुण्य बहुत ही बड़ा है वह न तो वचनसे ही कहा जा सकता है और न मनसे ही उसका विचार किया जा सकता है। इधर-उधर भक्तिके भारसे झुके हुए-प्रणाम करते हुए इन देवोंको देखो ॥१४२॥ इधर ये देवोंके नगाड़े मधुर और गम्भीर शब्दोंसे बज रहे हैं और इधर यह मृदंगोंका गम्भीर तथा जोरका शब्द हो रहा है ॥१४३॥ इधर नृत्य हो रहा है, इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर संगीत मंगल हो रहा है, इधर चमर ढुलाये जा रहे हैं और इधर देवोंका अपार समूह विद्यमान है ॥१४४॥ क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है जो अप्सराओं और विमानोंसे सहित है अथवा आकाशमें यह किसीने अपूर्व चित्र लिखा है ॥१४५॥ क्या यह इन्द्रजाल है–जादूगरका खेल है अथवा हमारी बुद्धिका भ्रम है। यह आश्चर्य बिलकुल ही अदृष्टपूर्व है–ऐसा आश्चर्य हम लोगोंने पहले कभी नहीं देखा था ॥१४६॥ इस प्रकार अनेक विकल्प करनेवाले तथा बहुत बोलनेवाले नगर-

१ विधातुमिच्छया । २. अभिमुखी । ३ किं स्विदा–म०, ब०, प०, अ० । ४ 'स्वित् प्रश्ने वितर्के च' । ५. माला । ६ अवाङ् मानस–ब०, ल०, म० । ७. वाद्य । ८ साप्सरः सविमानकः अ०, स०, द०, म० । ९. वाचालः ।

यदा प्रभृति देवोऽयमवतीर्णो धरातलम्। तदा प्रभृति देवानां न [1]गत्यागतिविच्छिदा ॥१४८॥
नृत्यं नीलाञ्जनाख्यायाः पश्यतः सुरयोषितः। उदपादि विभोर्भोगवैराग्यमनिमित्तकम् ॥१४९॥
तत्कालो[2]पनतैर्मान्यैः सुरैर्लौकान्तिकाह्वयैः। बोधितस्यास्य वैराग्ये दृढमासञ्जितं[3] मनः ॥१५०॥
विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः। [4]सवस्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेऽधुना ॥१५१॥
मतङ्गज इव स्वैरविहारसुखलिप्सया। [5]प्रविविक्षुर्वनं देवः सुरैः प्रोत्साह्य नीयते ॥१५२॥
स्वाधीनं सुखमस्त्येव वनेऽपि वसतः प्रभोः। प्रजानां [6]क्षेमवृत्त्यै च पुत्रौ राज्ये निवेशितौ ॥१५३॥
[7]तदियं प्रस्तुता यात्रा भूयाद् भर्तुः सुखावहा। [8]दिष्ट्यायं वर्धतां लोको विषादं[9]मा स्म कश्चन ॥१५४॥
सुचिरं जीवताद्देवो जयतादभिनन्दतात्। [10]प्रत्यावृत्तः पुनश्चास्मान् अक्षता[11]त्माभिरक्षतात् ॥१५५॥
दीयतेऽद्य महादानं भरतेन महात्मना। विभोराज्ञां समासाद्य जगदाशाप्रपूरणम् ॥१५६॥
वितीर्णेनामुना भूयाद् [12]धृतिश्चामीकरेण[13] वः[14]। दीयन्तेऽश्वाः स[15]हायोग्यैरितश्चामीकरेणवः[16] ॥१५७॥
इत्युन्मुग्धैः प्रबुद्धैश्च जनालापैः पृथग्विधैः। श्लाघ्यमानः शनैर्नाथः पुरोपान्तं व्यतीयिवान् ॥१५८॥

निवासी लोग भगवानके उस आश्चर्य (अतिशय) को देखकर विस्मयके साथ यथेच्छ बातें कर रहे थे ॥१४७॥ अनेक पुरुष कह रहे थे कि जबसे इन भगवानने पृथिवी तलपर अवतार लिया है तबसे यहाँ देवोंके आने-जानेमें अन्तर नहीं पड़ता–बराबर देवोंका आना-जाना बना रहता है ॥१४८॥ नीलांजना नामकी देवांगनाका नृत्य देखते-देखते ही भगवानको बिना किसी अन्य कारणके भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हो गया है ॥१४९॥ उसी समय आये हुए माननीय लौकान्तिक देवोंने भगवानको सम्बोधित किया जिससे उनका मन वैराग्यमें और भी अधिक दृढ हो गया है ॥१५०॥ काम और भोगोंसे विरक्त हुए भगवान अपने शरीरमें भी निःस्पृह हो गये हैं अब वे महल सवारी तथा राज्य आदिको तृणके समान मान रहे हैं ॥१५१॥ जिस प्रकार अपनी इच्छानुसार विहार करने रूप सुखकी इच्छासे मत्त हाथी वनमें प्रवेश करता है उसी प्रकार भगवान वृषभदेव भी स्वातन्त्र्य सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे वनमें प्रवेश करना चाहते हैं और देव लोग प्रोत्साहित कर उन्हें ले जा रहे हैं ॥१५२॥ यदि भगवान् वनमें भी रहेंगे तो भी सुख उनके अधीन ही है और प्रजाके सुखके लिए उन्होंने अपने पुत्रोंको राज्य-सिंहासनपर बैठा दिया है ॥१५३॥ इसलिए भगवान्की प्रारम्भ की हुई यह यात्रा उन्हें सुख देनेवाली हो तथा ये लोग भी अपने भाग्यसे वृद्धिको प्राप्त हों, कोई विषाद मत करो ॥१५४॥ अक्षतात्मा अर्थात् जिनका आत्मा कभी भी नष्ट होनेवाला नहीं है ऐसे भगवान् वृषभदेव चिर कालतक जीवित रहें, विजयको प्राप्त हों, समृद्धिमान हों और फिर लौटकर हम लोगों-की रक्षा करें ॥१५५॥ महात्मा भरत आज विभुकी आज्ञा लेकर जगत्की आशाएँ पूर्ण करने-वाला महादान दे रहे हैं ॥१५६॥ इधर भरतने जो यह सुवर्णका दान दिया है उससे तुम सबको सन्तोष हो, इधर पलानोंसहित घोड़े दिये जा रहे हैं और इधर ये हाथी वितरण किये जा रहे हैं ॥१५७॥ इस प्रकार अजान और ज्ञानवान् सब ही अलग-अलग प्रकारके वचनों-द्वारा जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे भगवान वृषभदेवने धीरे-धीरे नगरके बाहर समीपवर्ती प्रदेशको पार किया ॥१५८॥

१. गत्यागम–प०, अ०, इ०, द०, म०, स०, ल०। गमनागमनविच्छिद। २ आगतैः। ३ संयोजितम्। ४ सवास्तुवाहनं प०, म०, द०, ल०। 'न वस्तु वाहनं' इत्यपि वचनं क्वचित्। ५. प्रवेशमिच्छुः। ६ क्षेमवृत्त्यै अ०, प०, इ०, द०, स०, म०, ल०। ७ तत् कारणात्। ८. सन्तोषेण। ९. लङ्, मा स्म योगादाङ्निषेधः। १०. व्यावृत्य गतः। ११. –त्माधिरक्ष–म०, ल०। १२. भृतिश्चामी–प०, द०। वृत्तिश्चामी–अ०, इ०, स०। १३ सुवर्णेन। १४. युष्माकम्। १५. पल्ययनैः परिमाणैरित्यर्थः। सहयोगै–म०, ल०। १६. दन्तिनः।

अथ सम्प्रस्थिते देवे देव्योऽमात्यैरधिष्ठिताः[1] । अनुप्रचेलुरीशानं शुचान्तर्बाष्पलोचनाः ॥१५९॥
लता इव परिम्लानगात्रशोभा विभूषणाः[2] । काश्चित् स्खलत्पदन्यासमनुजग्मुर्जगत्पतिम् ॥१६०॥
शोकानिलहताः काश्चिद् वेप[3]मानाङ्गयष्टयः । निपेतुर्धरणीपृष्ठे [4]मूर्च्छामीलितलोचनाः ॥१६१॥
क्व प्रस्थितोऽसि हा नाथ क्व गत्वास्मान् प्रतीक्षसे । कियद् दूरं च गन्तव्यमित्यन्या [5]मुमुहुर्मुहुः ॥१६२॥
हृदि [6]वेपथुमुत्कम्पं स्तनयोर्म्लानतां तनौ । वाचि गद्गदतामक्ष्णोर्बाष्पं चान्याः शुचा दधुः ॥१६३॥
अमङ्गलमल[7]ं बाले रुदित्वेति निवारिता । काचिदन्तर्निरुद्धाश्रु स्फुटन्तीव शुचाभवत् ॥१६४॥
प्रस्थानमङ्गल[8]ं भङ्क्तुमक्षमाः काप्युदश्रुदृक् । [9]शुचमन्तःप्रविष्टेव दृष्ट्वा स्वपुत्रिकाछलात् ॥१६५॥
गतिसंभ्रमविच्छिन्नहारच्युतार्कीर्णमौक्तिका । स्थूलानश्रुलवान् काश्चि[10]च्छन्न[11]तच्छद्मनामुचन् ॥१६६॥
विस्रस्तकबरीभारविगलत्कुसुमस्रजः । स्रस्तस्तनांशुकाः [12]साम्ना: काश्चिच्छोच्यां दशामधुः ॥१६७॥
[13]उत्क्षिप्य शिबिकास्वन्या निक्षिप्ताः शोकविक्लवाः[14] । कथंकथमपि प्राणैर्न व्ययुज्यन्त सान्त्विताः[15] ॥१६८॥
धीराः काश्चिदधीराक्ष्यो धीरिताः स्वामिसंपदा । विभुमन्वीयुरव्यग्रा राजपत्न्यः [16]शुचिव्रताः ॥१६९॥

अथानन्तर भगवान्‌के प्रस्थान करनेपर यशस्वती आदि रानियाँ मन्त्रियोंसहित भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोकसे उनके नेत्रोंमें आँसू भर रहे थे ॥१५९॥ लताओंके समान उनके शरीरकी शोभा म्लान हो गयी थी, उन्होंने आभूषण भी उतारकर अलग कर दिये थे और कितनी ही डगमगाते पैर रखती हुई भगवान्‌के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१६०॥ कितनी ही स्त्रियाँ शोकरूपी अग्निसे जर्जरित हो रही थीं, उनकी शरीरयष्टि कम्पित हो रही थी और नेत्र मूर्च्छासे निमीलित हो रहे थे इन सब कारणोंसे वे जमीनपर गिर पड़ी थीं ॥१६१॥ कितनी ही देवियाँ बार-बार यह कहती हुई मूर्च्छित हो रही थीं कि हा नाथ, आप कहाँ जा रहे हैं ? कहाँ जाकर हम लोगोंकी प्रतीक्षा करेंगे और अब आपको कितनी दूर जाना है ॥१६२॥ वे देवियाँ शोकसे हृदयमें धड़कनको, स्तनोंमें उत्कम्पको, शरीरमें म्लानताको, वचनोंमें गद्गदताको और नेत्रोंमें आँसुओंको धारण कर रही थीं ॥१६३॥ हे बाले, रोकर अमंगल मत कर इस प्रकार निवारण किये जानेपर किसी स्त्रीने रोना तो बन्द कर दिया था परन्तु उसके आँसू नेत्रोंके भीतर ही रुक गये थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो शोकसे फूट रही हो ॥१६४॥ कोई स्त्री प्रस्थानकालके मंगलको भंग करनेके लिए असमर्थ थी इसलिए उसने आँसुओंको नीचे गिरनेसे रोक लिया परन्तु ऐसा करनेसे उसके नेत्र आँसुओंसे भर गए थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नेत्रोंकी पुत्तलिकाके छलसे शोकके भीतर ही प्रविष्ट हो गयी हो ॥१६५॥ वेगसे चलनेके कारण कितनी ही स्त्रियोंके हार टूट गये थे और उनके मोती बिखर गये थे, उन बिखरे हुए मोतियोंसे वे ऐसी मालूम होती थीं मानो मोतियोंके छलसे आँसुओंकी बड़ी-बड़ी बूँदें ही छोड़ रही हों ॥१६६॥ कितनी ही स्त्रियोंके केशपाश खुलकर नीचेकी ओर लटकने लगे थे उनमें लगी हुई फूलोंकी मालाएँ नीचे गिरती जा रही थीं, उनके स्तनोंपर-के वस्त्र भी शिथिल हो गये थे और आँखोंसे आँसू बह रहे थे इस प्रकार वे शोचनीय अवस्थाको धारण कर रही थीं ॥१६७॥ कितनी ही स्त्रियाँ शोकसे अत्यन्त विह्वल हो गयी थीं इसलिए लोगोंने उठाकर उन्हें पालकीमें रखा था तथा अनेक प्रकारसे सान्त्वना दी थी, समझाया था। इसीलिए वे जिस किसी तरह प्राणोंसे वियुक्त नहीं हुई थीं-जीवित बची थीं ॥१६८॥ धीर वीर किन्तु चंचल नेत्रोंवाली कितनी ही राजपत्नियाँ अपने स्वामीके विभवसे ही (देवो

---

१ अमात्यैराश्रिता । २ विगतभूषणा । ३ कम्पमान । ४ इषन्मीलित । ५ मूर्च्छां गताः । ६ कम्पनम् । ७ अलं रुदित्वा रोदनेनालम् । ८ नाशितुम् । ९ शुचमन्तःप्रविष्टेव दृष्ट्वा द०, म०, ल० । १० गूढं यथा भवति तथा । ११. मौक्तिकव्याजेन । १२ अश्रुसहिता । १३ उद्धृत्य । १४ विह्वला । १५ प्रियवचनैः सन्तोषं नीताः । १६ पवित्र ।

प्रस्थानमङ्गले[1] जातं[2] नाभिजातं प्ररोदनम् । नाथः शनैरनुव्राज्यो मातर्मा स्म शुच गमः ॥१७०॥
त्वर्यतां[3] त्वर्यतां देवि शोकवेगोऽपवार्यताम्[4] । देवोऽयं नीयते देवै दिष्ट्यास्मद्दृष्टिगोचरे ॥१७१॥
इत्यन्तःपुरवृद्धाभिर्मुहुराश्वासिता सती । यशस्वती सुनन्दा च प्रतस्थे पादचारिणी ॥१७२॥
बहुनात्र किमुक्तेन[5] मुक्तसर्वपरिच्छदाः । देव्यो यथाश्रुतं[6] भर्त्तुरनुमार्गं प्रतस्थिरे ॥१७३॥
मा भूद् व्याकुलता काचित्[7] भर्तुरित्यनुयायिभिः[8] । रुद्धः सर्वावरोध[9]स्त्रीसार्थः कस्मिंश्चिदन्तरे ॥१७४॥
ब्रुवाणैर्भर्तुराज्ञेति राज्ञीवर्गो महत्तरैः । संरुद्धः सरितामोघः[10] प्रवृद्धोऽपि यथार्णवैः ॥१७५॥
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च निन्दन् सौभाग्यमात्मनः । न्यवृतत् प्राप्तनैराश्यो नृपवल्लभिकाजनः ॥१७६॥
महादेव्यौ तु[11] शुद्धान्तमुख्याभिः परिवारिते । भर्तुरिच्छानुवर्तिन्यावन्वयातां[12] सपर्यया ॥१७७॥
मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः ।[13] अनूचस्थौ तदा द्रष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवम् ॥१७८॥
समं पौरैरमात्यैश्च पार्थिवैश्च महान्वयैः । सानुजो भरताधीशो महद्‌ध्यां[14] गुरुमन्वयात् ॥१७९॥
नातिदूरं खमुत्पत्य जनानां दृष्टिगोचरे । यथोक्तैर्मङ्गलारम्भैः प्रस्थानमकरोत् प्रभुः ॥१८०॥
नातिदूरे पुरस्यास्य नात्यासन्नेऽतिविस्तृतम् । सिद्धार्थकवनोद्देशमभिप्राया[15] ज्जगद्गुरुः ॥१८१॥

द्वारा किये हुए सम्मानसे ही) सन्तुष्ट हो गयी थीं इसलिए वे पतिव्रताएँ बिना किसी आकुलताके भगवान्‌के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१६९॥ हे माता, यह भगवान्‌का प्रस्थानमंगल हो रहा है इसलिए अधिक रोना अच्छा नहीं, धीरे-धीरे स्वामीके पीछे-पीछे चलना चाहिए। शोक मत करो ॥१७०॥ हे देवि, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो, शोकके वेगको रोको, यह देखो देव लोग भगवान्‌को लिये जा रहे हैं अभी हमारे पुण्योदयसे भगवान् हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं—हम लोगोंको दिखाई दे रहे हैं ॥१७१॥ इस प्रकार अन्तःपुरकी वृद्ध स्त्रियोंके द्वारा समझायी गयी यशस्वती और सुनन्दा देवी पैदल ही चल रही थीं ॥१७२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन देवियोंने ज्यों ही भगवान्‌के जानेके समाचार सुने त्यों ही उन्होंने अपने छत्र चमर आदि सब परिकर छोड़ दिये थे और भगवान्‌के पीछे-पीछे चलने लगी थीं ॥१७३॥ भगवान्‌को किसी प्रकारकी व्याकुलता न हो यह विचारकर उनके साथ जानेवाले वृद्ध पुरुषोंने यह भगवान्‌की आज्ञा है, ऐसा कहकर किसी स्थानपर अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियोंके समूहको रोक दिया और जिस प्रकार नदियोंका बढ़ा हुआ प्रवाह समुद्रसे रुक जाता है उसी प्रकार वह रानियोंका समूह भी वृद्ध पुरुषों (प्रतीहारों) से रुक गया था ॥१७४-१७५॥ इस प्रकार रानियोंका समूह लम्बी और गरम साँस लेकर आगे जानेसे बिलकुल निराश होकर अपने सौभाग्यकी निन्दा करता हुआ घरको वापस लौट गया ॥ १७६ ॥ किन्तु स्वामीकी इच्छानुसार चलनेवाली यशस्वती और सुनन्दा ये दोनों ही महादेवियाँ अन्तःपुरकी मुख्य-मुख्य स्त्रियोंसे परिवृत होकर पूजाकी सामग्री लेकर भगवान्‌के पीछे-पीछे जा रही थीं ॥१७७॥ उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओंसे परिवृत होकर भगवान्‌के तपकल्याणका उत्सव देखनेके लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१७८॥ सम्राट् भरत भी नगरनिवासी, मन्त्री, उच्च वंशमें उत्पन्न हुए राजा और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१७९॥ भगवान्‌ने आकाशमें इतनी थोड़ी दूर जाकर कि जहाँसे लोग उन्हें अच्छी तरहसे देख सकते थे, ऊपर कहे हुए मंगलारम्भके साथ प्रस्थान किया ॥१८०॥ इस प्रकार जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अत्यन्त विस्तृत सिद्धार्थक नामके वनमें जा पहुँचे वह

---

१. जाते अ०, प०, इ०, स०, द०, म०, ल० । २ अमङ्गलम् । ३ गम्यताम् । ४ वेगोऽवधीर्यताम् प०, म०, द०, इ०, ल० । धार्यताम् अ०, स० । ५. त्यक्तच्छत्रचामरादिपरिकराः । ६. यथाकर्णितं तथा । ७. भर्तुःसकाशात् । ८ महत्तरच्छद्‌भिः । ९ अन्तःपुरस्त्रीसमूहः । १०. प्रवाहः । ११ अन्तःपुरमुख्याभिः । १२. अन्वगच्छताम् । १३. अन्वगच्छत् । १४ -मन्वगात् अ०, प०, म०, ल०, । १५ अन्वगच्छत् ।

ततः प्राप सुरेन्द्राणां पृतना व्याप्य रोदसी[1] । वयोरुतैरिवाह्वानं कुर्वत्सिद्धार्थकं वनम् ॥१८२॥
तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे सुरैः प्रागुपकल्पिते । प्रथीयसि शुचौ स्वस्मिन् परिणाम इवोन्नते ॥१८३॥
चन्द्रकान्तमये चन्द्रकान्तशोभावहासिनि । पुञ्जीभूत इवैकत्र स्वस्मिन् यशसि निर्मले ॥१८४॥
स्वभावभास्वरे रम्ये सुवृत्तपरिमण्डले । सिद्धक्षेत्र इव द्रष्टुं तां भूतिं भुवमागते ॥१८५॥
सुशीतलतरुच्छायानिरुद्धोष्णकरत्विषि । पर्यन्तशाखिशाखाग्रविगलत्कुसुमोत्करे ॥१८६॥
श्रीखण्डद्रवदत्ताच्छच्छटामङ्गलसंगते । शचीस्वहस्तविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥१८७॥
विशङ्कटपटीक्लृप्तविचित्रपटमण्डपे । मन्दानिलचलच्चित्रकेतुमालाततांबरे ॥१८८॥
समन्तादुच्चरद्धूपधूमामोदितदिङ्मुखे । पर्यन्तनिहितानल्पमङ्गलद्रव्यसंपदि ॥१८९॥
इत्यनल्पगुणे तस्मिन् शस्तवास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरद्देवः सुरैः क्ष्मामवतारितात् ॥१९०॥
धृतजन्माभिषेकर्द्धिः या शिला पाण्डुकाह्वया । पश्यतेन शिलापट्टे विभुस्तस्याः समस्मरत् ॥१९१॥
तत्र क्षणमिवासीनो यथास्वमनुशासनैः । विभुः समाजयामास सभां सनृसुरासुराम् ॥१९२॥

वन उस अयोध्यापुरीसे न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट ही था ॥१८१॥ तदनन्तर इन्द्रोंकी सेना भी आकाश और पृथिवीको व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वनमें जा पहुँची। उस वनमें अनेक पक्षी शब्द कर रहे थे इसलिए वह उनसे ऐसा मालूम होता था मानो इन्द्रोंकी सेनाको बुला ही रहा हो ॥१८२॥ उस वनमें देवोंने एक शिला पहलेसे ही स्थापित कर रखी थी। वह शिला बहुत ही विस्तृत थी, पवित्र थी और भगवान्‌के परिणामोंके समान उन्नत थी ॥१८३॥ वह चन्द्रकान्त मणियोंकी बनी हुई थी और चन्द्रमाकी सुन्दर शोभाकी हँसी कर रही थी इसलिए ऐसी मालूम होती थी मानो एक जगह इकट्ठा हुआ भगवान्‌का निर्मल यश ही हो ॥१८४॥ वह स्वभावसे ही देदीप्यमान थी, रमणीय थी और उसका घेरा अतिशय गोल था इसलिए वह ऐसी मालूम होती थी मानो भगवान्‌के तपःकल्याणककी विभूति देखनेके लिए सिद्धक्षेत्र ही पृथिवीपर उतर आया हो ॥१८५॥ वृक्षोंकी शीतल छायासे उसपर सूर्यका आतप रुक गया था और चारों ओर लगे हुए वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागसे उसपर फूलोंके समूह गिर रहे थे ॥१८६॥ वह शिला घिसे हुए चन्दन-द्वारा दिये गए मांगलिक छींटोंसे युक्त थी तथा उसपर इन्द्राणीने अपने हाथसे रत्नोंके चूर्णके उपहार खींचे थे-चौक वगैरह बनाये थे ॥१८७॥ उस शिलापर बड़े-बड़े वस्त्रों-द्वारा आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई अनेक रंगकी पताकाओंसे उसपर-का आकाश व्याप्त हो रहा था ॥१८८॥ उस शिलाके चारों ओर उठते हुए धूपके धुओंसे दिशाएँ सुगन्धित हो गयी थीं तथा उस शिलाके समीप ही अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं ॥१८९॥ इस प्रकार जिसमें अनेक गुण विद्यमान हैं तथा जो उत्तम घरके लक्षणोंसे सहित है ऐसी उस शिलापर, देवों-द्वारा पृथिवीपर रखी गयी पालकीसे भगवान् वृषभदेव उतरे ॥१९०॥ उस शिलापट्टको देखते ही भगवान्‌को जन्माभिषेककी विभूति धारण करनेवाली पाण्डुकशिलाका स्मरण हो आया ॥१९१॥ तदनन्तर भगवान्‌ने क्षण-भर उस शिलापर आसीन होकर मनुष्य, देव तथा धरणेन्द्रोंसे भरी हुई उस सभाको यथायोग्य उपदेशोंके द्वारा सम्मानित किया ॥१९२॥ वे भगवान् जगत्‌के बन्धु थे

---

१ द्यावापृथिव्यौ। २. पक्षिस्वनैः। ३. अतिभूयसि। ४ कान्तशोभा-मनोज्ञशोभा। शोभोपहासिनी, ल०, म०। ५ परिनिष्क्रमणकल्याणसम्पदम्। ६ स्वकरविरचितरत्नचूर्णरङ्गवली। ७ विशालवस्त्रकृतचित्र-पटीविशेषे। ८ उद्गच्छत्। ९ प्रशस्तगृहलक्षण। १०. तां पाण्डुशिलाम्। ११. इव पादपूरणे। १२. नियोगैः। १३ सम्भावयति स्म। 'समाज प्रीतिविनेपयोः'।

भूयोऽपि भगवानुच्चैर्गिरा मन्द्र[1]गभीरया[2] । आपप्रच्छे[3] जगद्बन्धुर्बन्धून्निःस्नेहबन्धनः ॥१९३॥
प्रशान्तेऽथ जनक्षोभे दूरं प्रोत्सारिते जने । संगीतमङ्गलारम्भे सुप्रयुक्ते[4] प्रगेतने[5] ॥१९४॥
[6]मध्येयवनिकं स्थित्वा सुरेन्द्रे परिचारिणि । सर्वत्र समतां सम्यग्भावयन् शुभभावनः ॥१९५॥
व्युत्सृष्टान्तर्बहिःसंगो [7]नैःसंग्ये कृतसंगरः[8] । वस्त्राभरणमाल्यानि व्यसृजन् मोहहानये ॥१९६॥
तदङ्गविरहाद्[9] भेजुर्विच्छायत्वं तदा भृशम् । [10]दीप्राण्याभरणानि प्राक् स्थानभ्रंशे हि का द्युतिः ॥१९७॥
दासीदासगवाश्वादि यत्किंचन[11] सचेतनम् । मणिमुक्ताप्रवालादि यच्च द्रव्यमचेतनम् ॥१९८॥
तत्सर्वं विभुर[12]त्याक्षीन्निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकम्[13] । [14]निष्परिग्रहतामुख्यामास्थाय[15] व्रतभावनाम् ॥१९९॥
ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः । केशानलु[16]ञ्चदाबद्धपल्यङ्कः पञ्चमुष्टिकम् ॥२००॥
[17]निर्लुच्य [18]बहुमोहाग्रवल्लरीः केशवल्लरीः । जातरूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे ॥२०१॥
कृत्स्नाद् विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमम् । व्रतगुप्तिसमित्यादीन् तद्भेदानाददे विभुः ॥२०२॥
चैत्रे मास्यसिते पक्षे सुमुहूर्ते शुभोदये । नवम्यामुत्तराषाढे[19] सायाह्ने[20] प्राव्रजद् विभुः[21] ॥२०३॥

और स्नेहरूपी बन्धनसे रहित थे। यद्यपि वे दीक्षा धारण करनेके लिए अपने बन्धुवर्गोंसे एक बार पूछ चुके थे तथापि उस समय उन्होंने फिर भी ऊँची और गम्भीर वाणी-द्वारा उनसे पूछा–दीक्षा लेनेकी आज्ञा प्राप्त की ॥१९३॥

तदनन्तर जब लोगोंका कोलाहल शान्त हो गया था, सब लोग दूर वापस चले गए थे, प्रातःकालके गम्भीर मंगलोंका प्रारम्भ हो रहा था और इन्द्र स्वयं भगवानकी परिचर्या कर रहा था तब जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह छोड़ दिया है और परिग्रहरहित रहनेकी प्रतिज्ञा की है, जो संसारकी सब वस्तुओंमें समताभावका विचार कर रहे हैं और जो शुभ भावनाओंसे सहित हैं ऐसे उन भगवान वृषभदेव यवनिकाके भीतर मोहको नष्ट करनेके लिए वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया ॥१९४–१९६॥ जो आभूषण पहले भगवान्के शरीरपर बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे वे ही आभूषण उस समय भगवान्के शरीरसे पृथक् हो जानेके कारण कान्तिरहित अवस्थाको प्राप्त हो गए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्थानभ्रष्ट हो जानेपर कौन-सी कान्ति रह सकती है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१९७॥ जिसमें निष्परिग्रहताकी ही मुख्यता है ऐसी व्रतोंकी भावना धारण कर, भगवान वृषभदेवने दासी, दास, गौ, बैल आदि जितना कुछ चेतन परिग्रह था और मणि, मुक्ता, मूँगा आदि जो कुछ अचेतन द्रव्य था उस सबका अपेक्षारहित होकर अपनी देवोंकी और सिद्धोंकी साक्षीपूर्वक परित्याग कर दिया था ॥ १९८–१९९ ॥ तदनन्तर भगवान् पूर्व दिशाकी ओर मुँह कर पद्मासनसे विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टियोंमें केश लोंच किया ॥ २०० ॥ धीर वीर भगवान वृषभदेवने मोहनीय कर्मकी मुख्यलताओंके समान बहुत-सी केशरूपी लताओंका लोंच कर दिगम्बर रूपके धारक होते हुए जिनदीक्षा धारण की ॥२०१॥ भगवान्ने समस्त पापारम्भसे विरक्त होकर सामायिक-चारित्र धारण किया तथा व्रत गुप्ति समिति आदि चारित्रके भेद ग्रहण किए ॥ २०२ ॥ भगवान वृषभदेवने चैत्र

---

१. मन्द्र शब्द । २. अर्थगम्भीरया । ३. मन्त्रोपमनयत् । ४. सुप्रगुप्ते इ०, अ०, स० । ५. प्रभात-समये । ६. यवनिकाया· मध्ये । ७ निःममत्वे । ८. कृतप्रतिज्ञ· । ९. वियोगाद् । १० दीप्ताण्या-म०, ल० । ११. यत्किंचिदविचेतनम् अ०, म०, इ०, म०, ल० । १२. त्यक्तवान् । १३. आत्मदेवसिद्धसाक्षिकम् । १४. निःपरिग्रहता प०, अ० । १५. आश्रित्य । १६ 'लुचि केशापनयने' । १७ निर्लुञ्च्य प०, अ०, द०, इ०, म०, ल० । लुञ्चनं कृत्वा । १८. मोहनीयाग्रवल्लरीसदृशा । १९. नक्षत्रे । २०. अपराह्णे । २१ प्राव्रजत्यभुः अ०, प०, द०, इ०, म०, ल०, स० ।

केशान् भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान् ।[1] प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्यां प्रीतमानसः ॥२०४॥
सितांशुकप्रतिच्छन्ने[2] पृथौ रत्नसमुद्गके[3] । स्थिता रेजुर्विभो: केशा यथेन्दोर्लक्ष्मलेशकाः ॥२०५॥
विभूत्तमाङ्गसंस्पर्शादिमे [4]मूर्धन्यतामिताः । स्थाप्याः समुचिते देशे कस्मिंश्चिदनुपद्रुते[5] ॥२०६॥
पञ्चमस्यार्णवस्यातिपवित्रस्य निसर्गतः । नीत्वोपायनतामेते स्थाप्यास्तस्य शुचौ जले ॥२०७॥
धन्याः केशा जगद्भर्तुर्येऽधिमूर्धमधिष्ठिताः । धन्योऽसौ क्षीरसिन्धुश्च यस्तानाप्स्यत्युपायनम् ॥२०८॥
इत्याकलय्य नाकेशाः केशानादाय सादरम् । विभूत्या परया नीत्वा क्षीरोदे तान्विचिक्षिपुः ॥२०९॥
महतां संश्रयान्नूनं यान्तीज्यां मलिना अपि । मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ता[7] श्रितैर्गुरुम् ॥२१०॥
वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना । तान्यप्यनन्यसामान्यां निन्युरत्युन्नतिं सुराः ॥२११॥
चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा । गुरोर्मतमजानाना स्वामिभक्त्यैव केवलम् ॥२१२॥
यदस्मै रुचितं भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः । इति प्रसन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिङ्गिनः ॥२१३॥
[8]छन्दानुवर्तनं भर्तुर्भृत्याचारः किलेत्यमी । भेजुः समौढ्यं नैर्ग्रन्थ्यं द्रव्यतो न तु भावतः ॥२१४॥
गरीयसीं गुरौ भक्तिमुच्चैराविश्चिकीर्षवः[10] । [11]तद्वृत्तिं विसरामासुः पार्थिवास्ते समन्वयाः[12] ॥२१५॥

मासके कृष्ण पक्षको नवमीके दिन सायंकालके समय दीक्षा धारण की थी। उस दिन शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ नक्षत्र था ॥२०३॥ भगवान्‌के मस्तकपर चिरकाल तक निवास करनेसे पवित्र हुए केशोंको इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर रत्नोंके पिटारेमें रख लिया था ॥२०४॥ सफेद वस्त्रसे परिवृत उस बड़े भारी रत्नोंके पिटारेमें रखे हुए भगवान्‌के काले केश ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चन्द्रमाके काले चिह्नके अंश ही हों ॥२०५॥ 'ये केश भगवान्‌के मस्तकके स्पर्शसे अत्यन्त श्रेष्ठ अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए इन्हें उपद्रवरहित किसी योग्य स्थानमें स्थापित करना चाहिए। पाँचवाँ क्षीरसमुद्र स्वभावसे ही पवित्र है इसलिए उसकी भेंट कर उसीके पवित्र जलमें इन्हें स्थापित करना चाहिए। ये केश धन्य हैं जो कि जगत्‌के स्वामी भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर अधिष्ठित हुए थे तथा यह क्षीरसमुद्र भी धन्य है जो इन केशोंको भेंटस्वरूप प्राप्त करेगा।' ऐसा विचारकर इन्द्रोंने उन केशोंको आदरसहित उठाया और बड़ी विभूतिके साथ ले जाकर उन्हें क्षीरसमुद्रमें डाल दिया ॥२०६-२०९॥ महापुरुषोंका आश्रय करनेसे मलिन (नीच) पुरुष भी पूज्यताको प्राप्त हो जाते हैं यह बात बिलकुल ठीक है क्योंकि भगवान्‌का आश्रय करनेसे मलिन (काले) केश भी पूजाको प्राप्त हुए थे ॥२१०॥ भगवान्‌ने जिन वस्त्र आभूषण तथा माला वगैरहका त्याग किया था देवोंने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी ॥२११॥ उसी समय चार हजार अन्य राजाओंने भी दीक्षा धारण की थी। वे राजा भगवान्‌का मत (अभिप्राय) नहीं जानते थे, केवल स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे ॥२१२॥ 'जो हमारे स्वामीके लिए अच्छा लगता है वही हम लोगोंको भी विशेष रूपसे अच्छा लगना चाहिए' बस, यही सोचकर वे राजा दीक्षित होकर द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे ॥२१३॥ स्वामीके अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकोंका काम है यह सोचकर ही वे मूढताके साथ मात्र द्रव्यकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए थे– नग्न हुए थे, भावोंकी अपेक्षा नहीं ॥२१४॥

बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए वे राजा, भगवान्‌में अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट करना

१ आददे। २. छादिते। ३ सघटके। ४. मान्यताम्। ५ अनुपद्रवे। ६ प्राप्स्यति। ७. पूजावाप्याश्रितैः–अ०, प०, इ०, द०, म०, ल०। ८. –व चोदिताः द०, इ०, म०, ल०। –व नोदिताः स०, प०, स०। ९ इच्छानुवर्तनम्। १०. प्रकटीकर्तुमिच्छव। ११. परमेश्वरवर्तनम्। १२ महान्वयाः प०, अ०, द०, म०, ल०, स०। समन्वयाः समाकुलचित्ताः।

गुरुः प्रमाणमस्माकमात्रिकामुत्रिकार्थयोः । इति कच्छादयो दीक्षां भेजिरे नृपसत्तमाः[1] ॥२१६॥
स्नेहात् केचित् परे मोहाद्[2] भयात् केचन पार्थिवाः । [3]तपस्यां संगिरन्ते स्म[4] पुरोधायादिवेधसम्॥२१७॥
स तैः परिवृतो रेजे विभुरव्यक्तसंयतैः । कल्पाङ्घ्रिप[5] इवोदग्रः परीतो बालपादपैः ॥२१८॥
स्वभावभास्वरं तेजस्तपोदीप्त्योपबृंहितम् । दधानः [6]शारदो [7]वार्को दिदीपेतितरां विभुः ॥२१९॥
जातरूपमिवोदारकान्तिकान्ततरं बभौ । जातरूपं प्रभोर्दीप्तं यथार्चिर्जातवेदसः[8] ॥२२०॥
ततः स भगवानादिदेवो देवैः कृतार्चनः । दीक्षावल्ल्या परिष्वक्तः[9] कल्पाङ्घ्रिप इवाबभौ ॥२२१॥
तदा भगवतो रूपमसरूपं[10] विभास्वरम् । पश्यन्नेत्रसहस्रेण नापत्तृप्तिं सहस्रदृक् ॥२२२॥
ततस्त्रिजगदीशानं परं ज्योतिर्गिरां पतिम् । [11]तुष्टास्तुष्टुवुरित्युच्चैः स्वःस्रष्ठाः[12] परमेष्ठिनम् ॥२२३॥
जगत्स्रष्टारमीशानमभीष्टफलदायिनम् । त्वामनिष्टविघाताय समभिष्टुमहे[13] वयम् ॥२२४॥
गुणास्ते गणनातीताः स्तूयन्तेऽस्मद्विधैः कथम् । भक्त्या तथापि तद्व्याजात्[14]न्मः[15] प्रोन्नतिमात्मनः ॥२२५॥
[16]बहिरन्तर्मलापायात् स्फुरन्तीश गुणास्तव । घनोपरोधनिर्मुक्तमूर्तेरिव रवेः कराः ॥२२६॥

चाहते थे इसलिए उन्होंने भगवान्-जैसी निर्ग्रन्थ वृत्तिको धारण किया था ॥२१५॥ इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी कार्योंमें हमें हमारे गुरु-भगवान् वृषभदेव ही प्रमाणभूत हैं यही विचारकर कच्छ आदि उत्तम राजाओंने दीक्षा धारण की थी ॥२१६॥ उन राजाओंमें-से कितने ही स्नेहसे, कितने ही मोहसे और कितने ही भयसे भगवान् वृषभदेवको आगे कर अर्थात् उन्हें दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हुए थे ॥२१७॥ जिनका संयम प्रकट नहीं हुआ है ऐसे उन द्रव्यलिंगी मुनियोंसे घिरे हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षोंसे घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्पवृक्ष ही हो ॥२१८॥ यद्यपि भगवान्-का तेज स्वभावसे ही देदीप्यमान था तथापि उस समय तपकी दीप्तिसे वह और भी अधिक देदीप्यमान हो गया था ऐसे तेजको धारण करनेवाले भगवान् उस सूर्यके समान अतिशय देदीप्यमान होने लगे थे जिसका कि स्वभावभास्वर तेज शरद् ऋतुके कारण अतिशय प्रदीप्त हो उठा है ॥२१९॥ जिस प्रकार अग्निकी ज्वालासे तपा हुआ सुवर्ण अतिशय शोभायमान होता है उसी प्रकार उत्कृष्ट कान्तिसे अत्यन्त सुन्दर भगवान्का नग्न रूप अतिशय शोभायमान हो रहा था ॥२२०॥ तदनन्तर देवोंने जिनकी पूजा की है ऐसे भगवान् आदिनाथ दीक्षारूपी लतासे आलिंगित होकर कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२१॥ उस समय भगवान्-का अनुपम रूप अतिशय देदीप्यमान हो रहा था । उस रूपको इन्द्र हजार नेत्रोंसे देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता था ॥२२२॥ तत्पश्चात् स्वर्गके इन्द्रोंने अतिशय सन्तुष्ट होकर तीनों लोकों-के स्वामी-उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप और वाचस्पति अर्थात् समस्त विद्याओंके अधिपति भगवान् वृषभदेवकी इस प्रकार जोर-जोरसे स्तुति की ॥२२३॥ हे स्वामिन्, आप जगत्के स्रष्टा हैं (कर्म-भूमिरूप जगत्की व्यवस्था करनेवाले हैं), स्वामी हैं-और अभीष्ट फलके देनेवाले हैं इसलिए हमलोग अपने अनिष्टोंको नष्ट करनेके लिए आपकी अच्छी तरहसे स्तुति करते हैं ॥२२४॥ हे भगवन्, हम-जैसे जीव आपके असंख्यात गुणोंकी स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं तथापि हम लोग भक्तिके वश स्तुतिके छलसे मात्र अपनी आत्माकी उन्नतिको विस्तृत कर रहे हैं ॥२२५॥ हे ईश, जिस प्रकार मेघोंका आवरण हट जानेसे सूर्यकी किरणें स्फुरित हो जाती हैं, उसी प्रकार

---

१. श्रेष्ठाः । २. अज्ञानात् । ३. तपसि । ४. प्रतिज्ञां कुर्वन्ति स्म । ५. कल्पाह्घ्रिप प०, अ० । ६. शरदीवार्कं अ० । शरदेवार्को इ०, प०, द०, स०, ल० । ७ इव । ८. अग्नेः । ९. आलिङ्गितः । १०. असदृशम् । ११. मुदिता । १२. स्वर्गश्रेष्ठा इन्द्रा इत्यर्थः । १३ स्तोत्रं कुर्महे । १४ स्तुतिव्याजात् । १५. विस्तारयामः । १६. द्रव्यभावकर्ममलम् ।

त्रिलोकपावनीं पुण्यां[1] जैनीं[2] श्रुतिमिवामलाम्। प्रव्रज्यां दधते[3] तुभ्यं नमः सार्वाय[4] शंभवे ॥२२७॥
[5]विध्यापितजगत्तापा जगतामेकपावनी। स्वर्धुनीव पुनीयान्नो दीक्षेयं पारमेश्वरी[6] ॥२२८॥
[7]सुवर्णा रुचिरा[8] हृद्या[9] रत्नैर्[10] भ्रैरलंकृता[11]। [12]रैधारेवामिनि[13] प्कान्ति: यौष्माकीय[14] धिनोति[15] नः॥२२९॥
[16]मुक्त्युत्तिष्ठ[17] मानस्त्वं तत्कालोपनतैः[18] सितैः[19]। प्रबुद्धः परिणामैः प्राक् पश्चाल्लौकान्तिकामरैः ॥२३०॥
परिनिष्क्रमणे योऽयमभिप्रायो जगत्सृजः। स ते यत स्वतो जातः[20] स्वयं बुद्धोऽस्यतो मुनेः ॥२३१॥
राज्यलक्ष्मीमसम्भोग्यामाकलय्य चलामिमाम्। क्लेशहानाय[21] निर्वाणदीक्षा त्वं प्रत्यपद्यथाः ॥२३२॥
स्नेहाला[22]नकमुन्मूल्य विशतोऽद्य वनं तव। न कश्चित् प्रतिरोधो[23]ऽभून्मदान्धस्येव दन्तिनः ॥२३३॥
स्वप्नसम्भोगनिर्भासा[24] भोगाः सम्पत्क्षणध्वरा[25]। जीवितं चलमित्याधास्त्वं[26] मनः शाश्वते पथि ॥२३४॥

द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी बहिरंग तथा अन्तरंग मलके हट जानेसे आपके गुण स्फुरित हो रहे हैं ॥२२६॥ हे भगवन्, आप जिनवाणीके समान मनुष्यलोकको पवित्र करनेवाली पुण्यरूप निर्मल जिनदीक्षाको धारण कर रहे हैं इसके सिवाय आप सबका हित करनेवाले हैं और सुख देनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२७॥ हे भगवन्, आपकी यह पारमेश्वरी दीक्षा गंगा नदीके समान जगत्त्रयका सन्ताप दूर करनेवाली है और तीनों जगत्को मुख्य रूपसे पवित्र करनेवाली है, ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगोंको सदा पवित्र करे ॥२२८॥ हे भगवन्, आपकी यह दीक्षा धनकी धाराके समान हम लोगोंको सन्तुष्ट कर रही है क्योंकि जिस प्रकार धनकी धारा सुवर्णा अर्थात् सुवर्णमय होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सुवर्णा अर्थात् उत्तम यशसे सहित है। धनकी धारा जिस प्रकार रुचिरा अर्थात् कान्तियुक्त-मनोहर होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् सम्यक्त्वभावको देनेवाली है (रुचिं श्रद्धां राति ददातीति रुचिरा) धनकी धारा जिस प्रकार हृद्या अर्थात् हृदयको प्रिय लगती है, उसी प्रकार यह दीक्षा भी हृद्या अर्थात् संयमीजनोंके हृदयको प्रिय लगती है और धनकी धारा जिस प्रकार देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत होती है उसी प्रकार यह दीक्षा भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी देदीप्यमान रत्नोंसे अलंकृत है ॥ २२९ ॥ हे भगवन्, मुक्तिके लिए उद्योग करनेवाले आप तत्कालीन अपने निर्मल परिणामोंके द्वारा पहले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकान्तिक देवोंने तो नियोगवश पीछे आकर प्रतिबोधित किया था ॥ २३० ॥ हे मुनिनाथ, जगत्की सृष्टि करनेवाले आपका, दीक्षा धारण करनेके विषयमें जो यह अभिप्राय हुआ है वह आपको स्वयं ही प्राप्त हुआ है इसलिए आप स्वयम्बुद्ध हैं ॥ २३१ ॥ हे नाथ, आप इस राज्यलक्ष्मीको भोगके अयोग्य तथा चंचल समझकर ही क्लेश नष्ट करनेके लिए निर्वाणदीक्षाको प्राप्त हुए हैं ॥ २३२ ॥ हे भगवन्, मत्त हस्तीकी तरह स्नेहरूपी खूँटा उखाड़कर वनमें प्रवेश करते हुए आपको आज कोई भी नहीं रोक सकता है ॥ २३३ ॥ हे देव, ये भोग स्वप्नमें भोगे हुए भोगोंके समान हैं, यह सम्पदा नष्ट हो जानेवाली है और यह जीवन भी चंचल है यही

---

१ पवित्राम्। २ आगमम् ३ दधानाय। ४ सर्वप्राणिहितोपदेशकाय। ५ निर्वापित। ६. परमेश्वरस्येयम्। ७. क्षत्रियादिवर्णा, पक्षे शोभनकान्तिमती च। सुवर्णरुचिता द०, म०, इ०, स०, ल०। ८ नेत्रहारिणी। ९ मनोहारिणी। १० रत्नत्रयैः। ११. दीप्तैः—अ०, म०, स०, ल०। १२. रत्नवृष्टिः। १३ परिनिष्क्रमणम्। १४. युष्मत्सम्बन्धिनी। १५. प्रीणाति। १६. मोक्षार्थम्। १७. उद्योगं कुर्वाणः। १८ उपागतैः। १९ शुद्धैः। २०. यातः अ०, प०, द०, स०, म०, ल०। २१ नाशाय। २२. बन्धस्तम्भम्। २३. प्रतिबन्धकः। २४. समानाः। २५ विनाशशीला। २६. करोषि।

अवधूय चलां लक्ष्मीं निर्धूय स्नेहबन्धनम्। धनं रज इवोद्धूय मुक्त्या संगंस्यते[1] भवान् ॥२३५॥
राज्यलक्ष्म्याः[2] परिम्लानिं मुक्तिलक्ष्म्याः परां मुदम्। प्रव्यञ्जयं[3] स्तपोलक्ष्म्यामासजस्त्वं[4] विना रतेः ॥२३६॥
राज्यश्रियां विरक्तोऽसि संरक्तोऽसि तपःश्रियाम्। [5]मुक्तिश्रियां च सोत्कण्ठो [6]गतैवं ते विरागता ॥२३७॥
ज्ञात्वा हेयमुपेयं[7] च हित्वा हेयमिवाखिलम्। उपादेयमुपादित्सो[8] कथं ते समदर्शिता ॥२३८॥
पराधीनं सुखं हित्वा सुखं स्वाधीनमीप्सतः[9]। त्यक्त्वाल्पां विपुलां चर्द्धिं वाञ्छतो विरतिः क्व ते ॥२३९॥
[10]आमनन्त्यात्मविज्ञानं योगिनां हृदयं[11] परम्। कीदृक् तवात्मविज्ञानमात्मवत्पश्यतः परान् ॥२४०॥
तथा परिचरन्त्येते यथा[12] पूर्वं सुरासुराः। त्वामुपास्ते[13] च गूढं श्रीः [14]कुतस्त्यस्ते तपःस्मयः[15] ॥२४१॥
नैस्संगीमास्थि[16]तश्चर्यां सुखानुबन्ध[17]मपस्यहन्[18]। सुखीति कृतिभिर्दृष्ट त्व तथाप्यभिलप्यसे ॥२४२॥
[19]ज्ञानशक्तित्रयीमूढ्वा [20]बिभित्सोः कर्मसाधनम्[21]। जिगीषुवृत्त[22]मद्यापि तपोराज्ये तवास्त्यदः ॥२४३॥
[23]मोहान्धतमसध्वंसे बोधितां[24] ज्ञानदीपिकाम्। त्वमादायचरो[25] नैव[26] क्लेशापाते[27]ऽवर्मीदनि ॥२४४॥

विचार कर आपने अविनाशी मोक्षमार्गमें अपना मन लगाया है ॥२३४॥ हे भगवन्, आप चंचल लक्ष्मीको दूर कर स्नेहरूपी बन्धनको तोड़कर और धनको धूलिकी तरह उड़ाकर मुक्तिके साथ जा मिलेंगे ॥ २३५ ॥ हे भगवन्, आप रतिके बिना ही अर्थात् वीतराग होनेपर भी राजलक्ष्मीमें उदासीनताको और मुक्तिलक्ष्मीमें परम हर्षको प्रकट करते हुए तपरूपी लक्ष्मीमें आसक्त हो गये हैं, यह एक आश्चर्यकी बात है ॥२३६॥ हे स्वामिन्, आप राजलक्ष्मीमें विरक्त हैं, तपरूपी लक्ष्मीमें अनुरक्त हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मीमें उत्कण्ठासे सहित हैं इससे मालूम होता है कि आपकी विरागता नष्ट हो गयी है। भावार्थ–यह व्याजोक्ति अलंकार है–इसमें ऊपरसे निन्दा मालूम होती है परन्तु यथार्थमें भगवान्‌की स्तुति प्रकट की गयी है ॥२३७॥ हे भगवन्, आपने हेय और उपादेय वस्तुओंको जानकर छोड़ने योग्य समस्त वस्तुओंको छोड़ दिया है और उपादेयको आप ग्रहण करना चाहते हैं ऐसी दशामें आप समदर्शी कैसे हो सकते हैं ? (यह भी व्याजस्तुति अलंकार है) ॥ २३८ ॥ आप पराधीन सुखको छोड़कर स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहते हैं तथा अल्प विभूतिको छोड़कर बड़ी भारी विभूतिको प्राप्त करना चाहते हैं ऐसी हालतमें आपका विरति–पूर्ण त्याग कहाँ रहा ? (यह भी व्याजस्तुति है) ॥ २३९ ॥ हे नाथ ! योगियोंका आत्मज्ञान मात्र उनके हृदयको जानता है परन्तु आप अपने समान परपदार्थोंको भी जानते हैं इसलिए आपका आत्मज्ञान कैसा है ? ॥२४०॥ हे नाथ, समस्त सुर और असुर पहलेके समान अब भी आपकी परिचर्या कर रहे हैं और यह लक्ष्मी भी गुप्त रीतिसे आपकी सेवा कर रही है तब आपके तपका भाव कहाँसे आया ? अर्थात् आप तपस्वी कैसे कहलाये ? ॥२४१॥ हे भगवन्, यद्यपि आपने निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण कर सुख प्राप्त करनेका अभिप्राय भी नष्ट कर दिया है तथापि कुशल पुरुष आपको ही सुखी कहते हैं ॥ २४२ ॥ हे प्रभो, आप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानरूपी तीनों शक्तियोंको धारण कर कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको खण्डित करना चाहते हैं इसलिए इस तपश्चरणरूपी राज्यमें आज भी आपका विजिगीषुभाव अर्थात् शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा विद्यमान है ॥ २४३ ॥ हे ईश,

१. घटिष्यते। २. राजलक्ष्म्याम्। ३. प्रव्यक्तीकुर्वन्। ४. आसक्तोऽभूः। ५. मुक्तिलक्ष्म्याम् म० ल०। ६. ज्ञाता नष्टा वा। ७ उपादेयम्। ८. उपादातुमिच्छो.। ९. वाञ्छत। १०. कथयन्ति। ११ स्वरूपं रहस्यं च। १२ राज्यकाले। १३. आराधयति। १४. कुत.आगत। १५ तपोऽहंकार। १६ आश्रित। १७. सुखानुबन्धम्। १८. हंसि स्म। १९. मतिश्रुतावधिज्ञानशक्तित्रयम्, पक्षे प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयम्। २०. भेत्तुमिच्छो.। २१. ज्ञानावरणादिकर्मसेनाम्, पक्षे योद्धुमारब्धादिसेनाम्। २२ वृत्ति.। २३. मोहनीयनीडान्धकारनाशार्थम्। २४. ज्वलिताम्। २५. गच्छन्। २६. नेश अ०, प०, इ०, द०, म०, स०, ल०। चरन्नेश ल०। २७. कूटावपाते।

भट्टारक[1] वरीभृष्टिः[2] कर्मणामष्टतयस्य या । तां प्रति प्रज्वलत्येषा त्वद्ध्यानाग्निशिखोच्छिखा ॥२४५॥
दृष्टतत्त्व[3] वरीवृश्चिः कर्माष्टकवनस्य या । तत्रोत्क्षिप्ता कुठारीयं रत्नत्रयमयी त्वया ॥२४६॥
ज्ञानवैराग्यसंपत्तिस्तवैषानन्यगोचरा । विमुक्तिसाधनायालं भक्तानां च भवोच्छिदे[4] ॥२४७॥
इति स्वार्थां[5] परार्थां च बोधसंपदमर्जिताम् । दधतेऽपि नमस्तुभ्यं विरागाय गरीयसे ॥२४८॥
इत्यभिष्टुत्य नाकीन्द्राः प्रतिजग्मुः स्वमास्पदम् । तद्गुणानुस्मृतिं पूतामाधाय स्वेन चेतसा ॥२४९॥
ततो भरतराजोऽपि गुरुं भक्तिभरानतः । पूजयामास लक्ष्मीवान् उच्चावचवचःस्रजा[6] ॥२५०॥

मालिनीच्छन्दः

अथ भरतनरेन्द्रो रुन्द्रभक्त्या मुनीन्द्रं समधिगतसमाधिं[7] सावधानं स्वसाध्ये ।
सुरभिसलिलधारागन्धपुष्पाक्षतार्घैः[8] रयजत[9] जितमोहं सप्रदीपैश्च धूपैः ॥२५१॥
परिणतफलभेदैराम्रजम्बूकपित्थैः[10] पनसलकुचमोचैः[11] दाडिमैर्मातुलिङ्गैः[12] ।
क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नारिकेलैश्च रम्यैः गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥२५२॥
कृतचरणसपर्यो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना धरणिनिहित[13] जानुः प्रोद्गतानन्दबाष्पः ।
प्रणतिमनुतोच्चैर्मौलिमाणिक्यरश्मिप्रविमलसलिलौघैः क्षालयन्भर्तुरङ्घ्री ॥२५३॥

आप मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिए प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपकको लेकर चलते हैं इसलिए आप क्लेशरूपी गढ़ेमें पड़कर कभी भी दुःखी नहीं होते ॥२४४॥ हे भट्टारक, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी जो यह बड़ी भारी भट्ठी बनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्निकी ऊँची शिखा खूब जल रही है ॥२४५॥ हे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञ देव, जो यह हरा-भरा आठों कर्मोंका वन है उसे नष्ट करनेके लिए आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाड़ी उठायी है ॥२४६॥ हे भगवन्, किसी दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली आपकी यह ज्ञान और वैराग्यरूपी सम्पत्ति ही आपको मोक्ष प्राप्त करानेके लिए तथा शरणमें आये हुए भक्त पुरुषोंका संसार नष्ट करनेके लिए समर्थ साधन है ॥२४७॥ हे प्रभो, इस प्रकार आप निज परका हित करनेवाली उत्कृष्ट ज्ञानरूपी सम्पत्तिको धारण करनेवाले हैं तो भी परम वीतराग हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२४८॥ इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र लोग भगवान्‌के गुणोंकी पवित्र स्मृति अपने हृदयमें धारण कर अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥२४९॥ तदनन्तर लक्ष्मीवान् महाराज भरतने भी भक्तिके भारसे अतिशय नम्र होकर अनेक प्रकारके वचनरूपी मालाओंके द्वारा अपने पिताकी पूजा की अर्थात् सुन्दर शब्दोंद्वारा उनकी स्तुति की ॥२५०॥ तत्पश्चात् उन्हीं भरत महाराजने बड़ी भारी भक्तिसे सुगन्धित जलकी धारा, गन्ध, पुष्प, अक्षत, दीप, धूप और अर्घ्यसे समाधिको प्राप्त हुए (आत्मध्यानमें लीन) और मोक्षप्राप्तिरूप अपने कार्यमें सदा सावधान रहनेवाले, मोहनीय कर्मके विजेता मुनिराज भगवान् वृषभदेवकी पूजा की ॥२५१॥ तथा जिनकी लक्ष्मी बहुत ही विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल, बड़हल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियोंके सुन्दर गुच्छे और नारियलोंसे भगवान्‌के चरणोंकी पूजा की थी ॥२५२॥ इस प्रकार जो भगवान्‌के चरणोंकी पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथिवीपर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रोंसे हर्षके आँसू निकल रहे हैं ऐसे राजा भरतने अपने उत्कृष्ट मुकुटमें लगे हुए मणियोंकी किरणरूप स्वच्छ जलके

---

१. पूज्य । २. भ्रस्ज पाके, अग्निपाक । ३. 'ओव्रश्चू छेदने' । अतिशयेन छेदनम् । ४ भवच्छिदे म०, ल० । ५ स्वप्रयोजनाम् । ६. नानाप्रकार । ७. संप्राप्तध्यानम् । ८. पूजाद्रव्यैः । ९. अपूजयत् । १० पनस । ११. कदली । १२. मातुलिङ्गैः अ०, प०, द० स०, म०, इ०, ल० । १३. निक्षिप्त ।

स्तुतिभिरनुगतार्थालंक्रियाश्लाघिनीभिः प्रकटितगुरुभक्तिः कल्मषध्वंसिनीभिः ।
सममवनिपपुत्रैः स्वानुजन्मानुयातो भरतपतिरुदारश्रीरयोध्योन्मुखोऽभूत् ॥२५४॥
अथ सरसिजबन्धौ मन्दमन्दायमानैः परिमृशति कराग्रैः पश्चिमाशाङ्गनास्यम् ।
धुवति मरुति मन्दं प्रोल्लसत्केतुमालां प्रभुरविशदलङ्घ्यां स्वामिवाज्ञामयोध्याम् ॥२५५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रस्थो गुरुमादरात् परिचरन् दूरादुदारोदयः कुर्वन् सर्वजनोपकारकरणीं वृत्तिं स्वराज्यस्थिताम् ।
तन्वानः प्रमदं समाभिषु गुरून् संभावयन् सादरं मात्रीं चक्रधरो धरां चिरमपादेकातपत्राङ्किताम् ॥२५६॥
इत्थं निष्क्रमणे गुरोः समुचितं कृत्वा सपर्याविधिं प्रत्यावृत्य पुरीं निजामनुगतो राजाधिराजोऽनुजैः ।
प्रातः प्रातरनूत्थितो नृपगणैर्भक्त्या गुरोः संस्मरन् दिक्चक्रं विधुतारिचक्रमभुनक् पूर्वं यथासौ जिनः ॥२५७

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहे
भगवत्परिनिष्क्रमणं नाम सप्तदशं पर्व ॥१७॥

समूहसे भगवान्‌के चरणकमलोंका प्रक्षालन करते हुए भक्तिसे नम्र हुए अपने मस्तकसे उन्हीं भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार किया ॥२५३॥ जिन्होंने उत्तम-उत्तम अर्थ तथा अलंकारोंसे प्रशंसा करने योग्य और पापोंको नष्ट करनेवाली अनेक स्तुतियोंसे गुरुभक्ति प्रकट की है और जो बड़ी भारी विभूतिसे सहित है ऐसे राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ अयोध्याके सम्मुख हुए ॥२५४॥

अथानन्तर जब सूर्य अपनी मन्द-मन्द किरणोंके अग्रभागसे पश्चिम दिशारूपी स्त्रीके मुखका स्पर्श कर रहा था और वायु शोभायमान पताकाओंके समूहको धीरे-धीरे हिला रहा था तब अपनी आज्ञाके समान उल्लंघन करनेके अयोग्य अयोध्यापुरीमें महाराज भरतने प्रवेश किया ॥२५५॥ जो बड़े भारी अभ्युदयके धारक हैं और जो भावी चक्रवर्ती हैं ऐसे राजा भरत उसी अयोध्यापुरीमें रहकर दूरसे ही आदरपूर्वक भगवान् वृषभदेवकी परिचर्या करते थे, उन्होंने अपने राज्यमें सब मनुष्योंका उपकार करनेवाली वृत्ति (आजीविका) का विस्तार किया था, वे अपने भाइयोंको सदा हर्षित रखते थे और गुरुजनोंका आदरसहित सम्मान करते थे। इस प्रकार वे केवल एक छत्रसे चिह्नित पृथिवीका चिर काल तक पालन करते रहे ॥२५६॥ इस प्रकार राजाधिराज भरत तपकल्याणकके समय भगवान् वृषभदेवकी यथोचित पूजा कर छोटे भाइयोंके साथ-साथ अपनी अयोध्यापुरीमें लौटे और वहाँ जिस प्रकार पहले जिनेन्द्रदेव भगवान् वृषभनाथ दिशाओंका पालन करते थे उसी प्रकार वे भी प्रतिदिन प्रातःकाल राजाओंके समूहके साथ उठकर भक्तिपूर्वक गुरुदेवका स्मरण करते हुए शत्रुमण्डलको नष्ट कर समस्त दिशाओंका पालन करने लगे ॥२५७॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें
भगवान्‌के तप-कल्याणकका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१७॥

---

१. अनुगतः । २. वाति सति । ३. परमेश्वरम् । ४ अतिशयात् । ५. स्थिताम् प०, म० । स्थितिम् द० । ६ नाभिराजादीन् । ७. 'पा रक्षणे' अपालयत् । ८ प्रत्यागत्य । ९. गुरु ध्यायन् । १० पालयति स्म ।

अष्टादशं पर्व

अथ काय ममुत्सृज्य तपोयोगे समाहित. । [1]वाचयमत्वमास्थाय[2] तस्थौ विश्वेड् विमुक्तये ॥१॥

[3]षण्मासानशनं धीरः प्रतिज्ञाय महाधृति.[4] । [5]योगैकाग्र्यनिरुद्धान्तर्बहि-करण[6]विक्रिय ॥२॥

[7]वितस्त्यन्तरपादाग्र [8]तत्र्यंशान्तरपार्ष्णिकम् । समम्रृज्वागत स्थानमास्थाय[9] रचितस्थिति. ॥३॥

कठिनेऽपि शिलापट्टे न्यस्तपादपयोरुह । लक्ष्म्योपढौकित[10] गूढमास्थित. पद्मविष्टरम् ॥४॥

किमप्यन्तर्गत जल्पन्नव्यक्ताक्षरमक्षरः[11] । निगूढनिर्झरारावगुञ्जद्गुह इवाचलः ॥५॥

सुप्रसन्नोज्ज्वलां मूर्ति प्रलम्बितभुजद्वयाम् । प्रशमस्येव परा मूर्ति दधानो ध्यानसिद्धये ॥६॥

शिर. शिरोरुहापायात् सुव्यक्तपरिमण्डलम् । रोचि[12]ष्णूष्णीष[13]मुष्णांशुमण्डलस्पर्द्धि धारयन् ॥७॥

भ्रूभङ्गमपापाङ्ग[14]वीक्षण स्तिमितेक्षणम्[15] । बिभ्राणो मुखमक्लिष्टं सुश्लिष्टदशनच्छदम् ॥८॥

सुगन्धिमुखनि.श्वासगन्धाहूतैरलिव्रजै । बहिर्निष्कासिताशुद्ध[16]लेश्याशैरिव लक्षित. ॥९॥

अथानन्तर समस्त लोकके अधिपति भगवान् वृषभदेव शरीरसे ममत्व छोड़कर तथा तपोयोगमे सावधान हो मौन धारणकर मोक्षप्राप्तिके लिए स्थित हुए ॥१॥ योगोंकी एकाग्रता-से जिन्होंने मन तथा बाह्य इन्द्रियोंके समस्त विकार रोक दिये हैं ऐसे धीर-वीर महासन्तोषी भगवान् छह महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा कर स्थित हुए थे ॥२॥ वे भगवान् सम, सीधी और लम्बी जगहमे कायोत्सर्ग धारण कर खड़े हुए थे। उस समय उनके दोनो पैरोंके अग्र भागमे एक वितस्ति अर्थात् बारह अंगुलका और एड़ियोंमे चार अंगुलका अन्तर था ॥३॥ वे भगवान् कठिन शिलापर भी अपने चरणकमल रखकर इस प्रकार खड़े हुए थे मानो लक्ष्मीके द्वारा लाकर रखे हुए गुप्त पद्मासनपर ही खड़े हों ॥४॥ वे अक्षर अर्थात् अविनाशी भगवान् भीतर-ही-भीतर अस्पष्ट अक्षरोंसे कुछ पाठ पढ रहे थे जिससे ऐसे मालूम होते थे मानो जिसकी गुफाएँ भीतर छिपे हुए निर्झरनोंके शब्दसे गूँज रही है ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥५॥ जिसमे दोनों भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी अत्यन्त प्रसन्न और उज्ज्वल मूर्तिको धारण करते हुए वे भगवान् ऐसे मालूम होते थे मानो ध्यानकी सिद्धिके लिए प्रशमगुणकी उत्कृष्ट मूर्ति ही धारण कर रहे हों ॥६॥ केशोंका लोंच हो जानेसे जिसका गोल परिमण्डल अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था, जिसका ब्रह्मद्वार अतिशय देदीप्यमान था और जो सूर्यके मण्डलके साथ स्पर्द्धा कर रहा था, ऐसे शिरको वे भगवान् धारण किये हुए थे ॥७॥ जो भौहोंके भंग और कटाक्ष अवलोकनसे रहित था, जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल थे और ओठ खेदरहित तथा मिले हुए थे ऐसे सुन्दर मुखको भगवान् धारण किये हुए थे ॥८॥ उनके मुखपर सुगन्धित निःश्वास-की सुगन्धसे जो भ्रमरोंके समूह उड रहे थे वे ऐसे मालूम होते थे मानो अशुद्ध (कृष्ण नील

---

१. मौनित्वम् । २ आश्रित्य । ३ षड्मासा-ब० । ४. सन्तोष । ५ ध्यानान्यवृत्तिप्रतिबन्धितमनश्चक्षुरादीन्द्रियव्यापार । ६ बहि.करण-ब०, अ०, प० । ७ द्वादशाङ्गुलान्तर । 'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलम्' इत्यभिधानात् । ८ चतुरङ्गुलान्तर । ९ आश्रित्य । १०. उपनीतम् । ११ नित्य । १२ प्रकाशनशीलम् । १३ उष्णीषो नाम ब्रह्मद्वारस्थो ग्रन्थिविशेष । 'भाग्यातिशयसम्भूतिज्ञापन मस्तकाग्रजम् । तेजोमण्डलमुष्णीषमामनन्ति मनीषिण ।' १४ अपगतकटाक्षेक्षणम् । १५ स्थिरदृष्टिम् । १६ कृष्णाद्यशुभलेश्या ।

प्रलम्बितमहाबाहुर्दीप्र[1]प्रोत्तुङ्गविग्रहः । कल्पाङ्घ्रिप[2] इवाभाग्र[3]शाखाद्वयपरिष्कृतः ॥१०॥
अलक्ष्येणातपत्रेण तपोमाहात्म्यजन्मना । कृतच्छायोऽप्य[4]नर्थित्वादकृतेच्छ[5] परिच्छदे ॥११॥
पर्यन्ततरुशाखाग्रैर्मन्दानिलविधूनितैः । प्रकीर्णकैरिवायत्त[6]विधूतैर्विधुतक्लमः[7] ॥१२॥
दीक्षानन्तरसुद्भूतमनःपर्ययबोधनः । चतुर्ज्ञानधरः श्रीमान् सान्तर्दीप इवालयः ॥१३॥
चतुर्भिरूर्जितैर्बोधैरमात्यैरिव चर्चितम्[8] । विलोकयन् विभुः कृत्स्नं परलोकगतागतम्[9] ॥१४॥
यदैवं स्थितवान् देवः पुरुः परमनिःस्पृहः । तदामीषां[10] नृपर्षीणां धृतेः[11] क्षोभो महानभूत् ॥१५॥
मासाद्वि[12] त्राश्च नो[13] यावत्तावत्ते मुनिमानिनः । परीषहमहावातैर्भग्नाः सद्यो धृतिं[14] जहुः ॥१६॥
अशक्ताः पदवीं गन्तुं गुरोरतिगरीयसीम् । त्यक्त्वाभिमानमित्युच्चैर्जजल्पुस्ते परस्परम् ॥१७॥
अहो[15] धैर्यमहो स्थैर्यमहो जङ्घाबलं प्रभोः । को नामैवमिमं मुक्त्वा कुर्यात् साहसमीदृशम् ॥१८॥
कियन्तमथवा कालं तिष्ठेदेवमतन्द्रितः । सोढ्वा बाधाः क्षुधाद्युत्थाः गिरीन्द्र इव निश्चलः ॥१९॥

आदि) लेश्याओंके अंश ही बाहरको निकल रहे हों ॥९॥ उनकी दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ नीचेकी ओर लटक रही थीं और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊँचा था इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभागमें स्थित दो ऊँची शाखाओंसे सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो ॥१०॥ तपश्चरणके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए अलक्षित (किसीको नहीं दिखनेवाले) छत्रने यद्यपि उनपर छाया कर रखी थी तो भी उसकी अभिलाषा न होनेसे वे उससे निर्लिप्त ही थे–अपरिग्रही ही थे। ॥११॥ मन्द-मन्द वायुसे जो समीपवर्ती वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग हिल रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बिना यत्नके डुलाये हुए चमरोंसे उनका क्लेश ही दूर हो रहा हो ॥१२॥ दीक्षाके अनन्तर ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था इसलिए मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानोंको धारण करनेवाले श्रीमान् भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके भीतर दीपक जल रहे हैं ऐसा कोई महल ही हो ॥१३॥ जिस प्रकार कोई राजा मन्त्रियोंके द्वारा चर्चा किये जानेपर परलोक अर्थात् शत्रुओंके सब प्रकारके आना-जाना आदिको देख लेता है–जान लेता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेव भी अपने सुदृढ चार ज्ञानोंके द्वारा सब जीवोंके परलोक अर्थात् पूर्वपरपर्यायसम्बन्धी आना-जाना आदिको देख रहे थे–जान रहे थे ॥१४॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेव जब परम निःस्पृह होकर विराजमान थे तब कच्छ महाकच्छ आदि राजाओंके धैर्यमें बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न होने लगा–उनका धैर्य छूटने लगा ॥१५॥ दीक्षा धारण किये हुए दो तीन माह भी नहीं हुए थे कि इतनेमें ही अपनेको मुनि माननेवाले उन राजाओंने परीषहरूपी वायुसे भग्न होकर शीघ्र ही धैर्य छोड़ दिया था ॥१६॥ गुरुदेव–भगवान् वृषभदेवके अत्यन्त कठिन मार्गपर चलनेमें असमर्थ हुए वे कल्पित मुनि अपना-अपना अभिमान छोड़कर परस्परमें जोर-जोरसे इस प्रकार कहने लगे ॥१७॥ कि, अहा आश्चर्य है भगवान्‌का कितना धैर्य है, कितनी स्थिरता है और इनकी जंघाओंमें कितना बल है ? इन्हें छोड़कर और दूसरा कौन है जो ऐसा साहस कर सके ? ॥१८॥ अब यह भगवान् इस तरह आलस्यरहित होकर क्षुधा आदिसे उत्पन्न हुई बाधाओंको सहते हुए निश्चल पर्वतकी तरह और कितने समय तक खड़े रहेंगे ॥१९॥

---

१ दीप्त–म०, ल० । २ कल्पाङ्घ्रिप इवा– । ३. इवोच्चाग्र–अ०, म०, ल० । अवनतशाखाद्वयालंकृत । ४ वाञ्छारहितत्वात् । ५ दधतेच्छ. म०, ल० । ६. विधुतै म०, ल० । ७ विनाशितश्रमः । ८. निरूपितम् । ९. उत्तरगतिगमनागमनम्, पक्षे शत्रुजनगमनागमनम् । १० कच्छादीनाम् । ११. धैर्यस्य । १२ द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रा । १३. न भवन्ति । १४. धैर्यम् । १५. मनोबलम् ।

तिष्ठेदेकं दिनं द्वे वा कामं त्रिचतुराणि वा । परं [1]मासावधेस्तिष्ठन्नस्मान् क्लेशयतामिता ॥२०॥
कामं तिष्ठतु वा भुक्त्वा पीत्वा निर्वाप्य[2] नः पुनः । [3]अनाश्वान्[4]प्रतीकारः तिष्ठन्निष्ठां[5] करोति नः ॥२१॥
साध्यं किमथवोद्दिश्य तिष्ठे[6]दूर्ध्वंजुरीशिता । षाड्गुण्ये[7] पठितो नैष गुणः कोऽपि महीक्षिताम्[8] ॥२२॥
अनेकोपद्रवाकीर्णे वनेऽस्मिन् रक्षया विना । तिष्ठन् नीतिविद् भर्ता रक्ष्यो ह्यात्मा प्रयत्नतः ॥२३॥
प्रायः प्राणेषु निर्विण्णो[9] देहमुत्स्रष्टु[10]मीहते । निर्विण्णा[11] वयमेतेन तपसा प्राणहारिणा ॥२४॥
वन्यैः[12] [13]कशिपुभिस्तावत् कन्दमूलफलादिभिः । प्राणयात्रां[14] करिष्यामो यावद्योगावधिर्गुरोः ॥२५॥
इति दीनतरं केचिन्निर्व्यपेक्षास्तपोविधौ । ब्रुवाणाः कातरा दीनां वृत्तिं प्रत्युन्मुखाः स्थिताः ॥२६॥
परे परापरज्ञा[15] तं परितोऽभ्यर्णवर्तिनः । इति कर्तव्यतामूढाः तस्थुरन्तश्चलाचलाः[16] ॥२७॥
शयाने शयितं भुक्तं भुञ्जाने तिष्ठति स्थितम् । गते गच्छति राज्यस्थे तपःस्थेऽप्याश्रितं[17] तपः ॥२८॥

हम समझते थे कि भगवान् एक दिन, दो दिन अथवा ज्यादासे-ज्यादा तीन चार दिन तक खड़े रहेंगे परन्तु यह भगवान् तो महीनों पर्यन्त खड़े रहकर हम लोगोंको क्लेशित (दुःखी) कर रहे हैं ॥२०॥ अथवा यदि स्वयं भोजन पान कर और हम लोगोंको भी भोजन पान आदिसे सन्तुष्ट कर फिर खड़े रहते तो अच्छी तरह खड़े रहते, कोई हानि नहीं थी परन्तु यह तो बिलकुल ही उपवास धारण कर भूख-प्यास आदिका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते और इस प्रकार खड़े रहकर हम लोगोंका नाश कर रहे हैं ॥२१॥ अथवा न जाने किस कार्यके उद्देश्यसे भगवान् इस प्रकार खड़े हुए हैं। राजाओंके जो सन्धि, विग्रह आदि छह गुण होते हैं उनमें इस प्रकार खड़े रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढ़ा है ॥२२॥ अनेक उपद्रवोंसे भरे हुए इस वनमें अपनी रक्षाके बिना ही जो भगवान् खड़े हुए हैं उससे ऐसा मालूम होता है कि यह नीतिके जानकार नहीं हैं क्योंकि अपनी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥२३॥ भगवान् प्रायः प्राणोंसे विरक्त होकर शरीर छोड़नेकी चेष्टा करते हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करनेवाले इस तपसे ही खिन्न हो गये हैं ॥२४॥ इसलिए जबतक भगवान्के योगकी अवधि है अर्थात् जबतक इनका ध्यान समाप्त नहीं होता तबतक हम लोग वनमें उत्पन्न हुए कन्द, मूल, फल आदिके द्वारा ही अपनी प्राणयात्रा (जीवन निर्वाह) करेंगे ॥२५॥ इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्यासे उदासीन होकर अत्यन्त दीन वचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करनेके लिए तैयार हो गये ॥२६॥ हमें क्या करना चाहिए इस विषयमें मूर्ख रहनेवाले कितने ही मुनि पूर्वापर (आगा-पीछा) जाननेवाले भगवान्के चारों ओर समीप ही खड़े हो गये और अपने अन्तःकरणको कभी निश्चल तथा कभी चंचल करने लगे। भावार्थ–कितने ही मुनि समझते थे कि भगवान् पूर्वापरके जाननेवाले हैं इसलिए हम लोगोंके पूर्वापरका भी विचार कर हम लोगोंसे कुछ-न-कुछ अवश्य कहेंगे ऐसा विचारकर उनके समीप ही उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उस समय जब वे भगवान्के गुणोंकी ओर दृष्टि डालते थे तब उन्हें कुछ धैर्य प्राप्त होता था और जब अपनी दीन अवस्थापर दृष्टि डालते थे तब उनकी बुद्धि चंचल हो जाती थी–उनका धैर्य छूट जाता था ॥२७॥ वे मुनि परस्परमें कह रहे थे कि जब भगवान् राज्यमें स्थित थे अर्थात् राज्य करते थे तब हम उनके सो जानेपर सोते थे, भोजन कर चुकनेपर भोजन करते थे, खड़े होनेपर खड़े रहते थे और गमन करनेपर गमन करते थे तथा अब जब भगवान् तपमें स्थित हुए अर्थात् जब

१. बहुमासम् (?)। २. सन्तर्प्य। ३ अनशनवान्। ४. –न्नि प्रतीकारः अ०, प०। ५. नाशम्। ६ ऊर्ध्वजानुः। –दूर्ध्वज यीशिता अ०। ७. सन्धिविग्रहयानासनद्वैधाश्रयलक्षणे। ८ क्षत्रियाणाम्। ९. विरक्त। १० त्यक्तुम्। ११ विरक्ताः। १२. वनभवैः। १३ अशनाच्छादनैः। 'कशिपुर्भोजनाच्छादौ'। १४. प्राणप्रवृत्तिम्। १५ पूर्वापरविदम्। १६. अन्तरङ्गे चञ्चलाः। १७. आश्रितम्।

मृत्याचारोऽयमस्माभिः पूर्वं सर्वोऽप्यनुष्ठितः । कालः कुलाभिमानस्य [1]गतोऽत्र प्राणसंकटे ॥२९॥
वने [2]प्रवसतोऽस्माभिर्न भुक्तं [3]जीवन प्रभो[4] । यावच्छक्ताः स्थितास्तावदशक्ताः किं नु कुर्महे ॥३०॥
मिथ्या[5] कारयते योगं गुरु[6]रस्मासु निर्दयः । स्पर्धां कृत्वा सहैतेन मर्तव्यं किमशक्तकैः[7] ॥३१॥
अनिवर्ती गुरुः सोऽयं कोऽस्यान्वेतुं पदं[8] क्षमः । देवः स्वच्छन्दचार्येष न देवचरितं चरेत् ॥३२॥
[9]कच्चिज्जीवति मे माता कच्चिज्जीवति मे पिता । कच्चिन्[10]स्मरन्ति नः कान्ताः कच्चिन्नः सुस्थिताः प्रजाः[11]
इति स्वान्तगतं केचिद्[12]च्छोद्य[13] स्थातुमक्षमाः । अच्छ[14]त्र्य गुरो पादौ प्रणता[15] गमनोत्सुकाः ॥३४॥
अहो गुरुरयं धीरः किमप्युद्दिश्य कारणम् । जितात्मा[16] त्यक्तराज्यश्रीः पुनः संयोक्ष्यते तया ॥३५॥
यद्वायमद्य वा श्वो वा योगं संहृत्य धीरधीः । निजराज्यश्रिया भूयो योक्ष्यते वदतां वरः ॥३६॥
तदास्मान्स्वामिकार्येऽस्मिन् भग्नोत्साहान् कृतच्छलान् [17]निर्वासयेदसत्कृत्य कुर्याद्वा [18]वीतसंपदः ॥३७॥
भरतो वा गुरुं त्यक्त्वा गतानस्मान् विकर्षयेत् । [19]तद्यावद्योगनिष्पत्तिर्विमोक्ष्यावत्सहामहे ॥३८॥

इन्होंने तपश्चरण करना प्रारम्भ किया तब हम लोगोंने तप भी धारण किया। इस प्रकार सेवकका जो कुछ कार्य है वह सब हम पहले कर चुके हैं परन्तु हमारे कुलाभिमानका वह समय आज हमारे प्राणोंको संकट देनेवाला बन गया है अथवा इस प्राणसंकटके समय हमारे कुलाभिमानका वह काल नष्ट हो गया है ॥२८-२९॥ जबसे भगवान्‌ने वनमें प्रवेश किया है तबसे हमने जल भी ग्रहण नहीं किया है। भोजन पानके बिना ही जबतक हम लोग समर्थ रहे तबतक खड़े रहे परन्तु अब सामर्थ्यहीन हो गये हैं इसलिए क्या करें ॥३०॥ मालूम होता है कि भगवान् हमपर निर्दय हैं–कुछ भी दया नहीं करते, वे हमसे झूठमूठ ही तपस्या कराते हैं, इनके साथ बराबरीकी स्पर्धा कर क्या हम असमर्थ लोगोंको मर जाना चाहिए? ॥३१॥ ये भगवान् अब घरको नहीं लौटेंगे, इनके पदका अनुसरण करनेके लिए कौन समर्थ है? ये स्वच्छन्दचारी हैं इसलिए इनका किया हुआ काम किसीको नहीं करना चाहिए ॥३२॥ क्या मेरी माता जीवित हैं, क्या मेरे पिता जीवित हैं, क्या मेरी स्त्री मेरा स्मरण करती है और क्या मेरी प्रजा अच्छी तरह स्थित है? ॥३३॥ इस प्रकार वहाँ ठहरनेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग अपने मनकी बात स्पष्ट रूपसे कहकर घर जानेकी इच्छासे बार-बार भगवान्‌के सम्मुख जाकर उनके चरणोंको नमस्कार करते थे ॥३४॥ कोई कहते थे कि अहा, ये भगवान् बड़े ही धीर-वीर हैं इन्होंने अपनी आत्माको भी वश कर लिया है और इन्होंने किसी-न-किसी कारणको उद्देश्य कर राज्य-लक्ष्मीका परित्याग किया है इसलिए फिर भी उससे युक्त होंगे अर्थात् राज्यलक्ष्मी स्वीकृत करेंगे ॥३५॥ स्थिर बुद्धिको धारण करनेवाले और बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव जब आज या कल अपना योग समाप्त कर अपनी राज्यलक्ष्मीसे पुनः युक्त होंगे तब भगवान्‌के इस कार्यमें जिन्होंने अपना उत्साह भग्न कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगोंको अप-मानित कर अवश्य ही निकाल देंगे और सम्पत्तिरहित कर देंगे अर्थात् हम लोगोंकी सम्पत्तियाँ हरण कर लेंगे ॥३६-३७॥ अथवा यदि हम लोग भगवान्‌को छोड़कर जाते हैं तो भरत महाराज हम लोगोंको कष्ट देंगे इसलिए जबतक भगवान्‌का योग समाप्त होता है तबतक हम लोग

---

१. गतोऽय म०, ल०। २. प्रविशतो–म०, ल०। ३ अशनपानादि। ४. प्रभोः सकाशात्। ५. ईर्ष्ययेत्यर्थः। ६. प्रभुर–म०, ल०। ७. असमर्थैरस्माभिः। ८. पदवीम्। ९. 'कच्चित् किंचन संशये' इति धनंजयः। कच्चित् इष्टप्रश्ने। 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः। १०. स्मरति न कान्ता प०। किंचित् स्मरति मे कान्ता ब०। कच्चित् स्मरति मे कान्ता म०, ल०। ११. पुत्राः। १२ दृढमभिधाय। नञ्छेत्यव्ययेन समासे ल्यब् भवति। १३ वस्तुम्। १४ अभिमुखं गत्वा। अनुव्रज्य प०, म०, ल०। १५ प्रणताः सन्तः। १६. जितेन्द्रियः। १७. निष्कासयेत्। १८. विगतः। १९. तत्कारणात्।

भगवानयमद्यश्वः सिद्धयोगो भवेद् ध्रुवम्। सिद्धयोगः कृतक्लेशानस्मानभ्युपपत्स्यते[1] ॥३९॥
गुरोर्वा गुरुपुत्राद्वा पीडैवं नैव जातु नः। पूजासत्कारलाभैश्च प्रीतः सम्प्रीणयेत् स नः ॥४०॥
इति धीरतया केचिदन्तःक्षोभेऽप्यनातुराः[2]। धीरयन्तोऽपि नात्मानं शेकुः स्थापयितुं स्थितौ ॥४१॥
अभिमानधनाः केचिद् भूयोऽपि स्थातुमुद्यताः। पतित्वाप्यवशा भूमौ सस्मरुर्गुरुपादयोः ॥४२॥
इत्युच्चावचसंजल्पैः[3] संकल्पैश्च पृथग्विधैः[4]। विरज्यन्तः तपःक्लेशाज्जीविकायां[5] मतिं व्यधुः ॥४३॥
[6]मुखोन्मुखा विमोहान्धदृष्टयः पृष्ठतोमुखाः। अशक्त्या लज्जया [7]चान्ये भेजिरे स्खलितां गतिम् ॥४४॥
[8]अनापृच्छ्य गुरुं केचित् केचिदापृच्छ्य योगिनम्। परीत्य प्रणताः[9] प्राणयात्रायां मतिमादधुः ॥४५॥
केचित्त्वमेव शरणं नान्या गतिरिहास्ति नः। इति ब्रुवाणा विद्राणाः[10] प्राणत्राणे[11] मतिं व्यधुः ॥४६॥
[12]अपत्रपिष्णवः केचिद् वेपमानप्रतीककाः[13]। गुरोः पराङ्मुखीभूय जाता व्रतपराङ्मुखाः ॥४७॥
पादयोः पतिताः केचित् परित्रायस्व नः प्रभो। [14]क्षुत्क्षामानद्य नः क्षमस्वेति ब्रुवन्तोऽन्तर्हिता गुरोः ॥४८॥

यहीं सब कुछ सहन करें ॥३८॥ यह भगवान् अवश्य ही आज या कलमें सिद्धयोग हो जायेंगे अर्थात् इनका योग सिद्ध हो जायेगा और योगके सिद्ध हो चुकनेपर अनेक क्लेश सहन करनेवाले हम लोगोंको अवश्य ही अंगीकृत करेंगे – किसी न किसी तरह हमारी रक्षा करेंगे ॥३९॥ ऐसा करनेसे हम लोगोंको न तो कभी भगवानसे कोई पीड़ा होगी और न उनके पुत्र भरतसे ही। किन्तु प्रसन्न होकर वे दोनों ही पूजा-सत्कार और धनादिके लाभसे हम लोगोंको सन्तुष्ट करेंगे ॥४०॥ इस प्रकार कितने ही मुनि अन्तरंगमें क्षोभ रहते हुए भी धीरताके कारण दुःखी नहीं हुए थे और कितने ही पुरुष आत्माको धैर्य देते हुए भी उसे उचित स्थितिमें रखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥४१॥ अभिमान ही है धन जिनका ऐसे कितने ही पुरुष फिर भी वहाँ रहनेके लिए तैयार हुए थे और निर्बल होनेके कारण परवश जमीनपर पड़कर भी भगवान्‌के चरणोंका स्मरण कर रहे थे ॥४२॥ इस प्रकार राजा अनेक प्रकारके ऊँचे-नीचे भाषण और संकल्प-विकल्प कर तपश्चरणसम्बन्धी क्लेशसे विरक्त हो गये और जीविकामें बुद्धि लगाने लगे अर्थात् उपाय सोचने लगे ॥४३॥ कितने ही लोग अशक्त होकर भगवान्‌के मुखके सम्मुख देखने लगे और कितने ही लोगोंने लज्जाके कारण अपना मुख पीछेकी ओर फेर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे स्खलित गतिको प्राप्त हुए अर्थात् क्रम-क्रमसे जानेके लिए तत्पर हुए ॥४४॥ कितने ही लोग योगिराज भगवान् वृषभदेवसे पूछकर और कितने ही बिना पूछे ही उनकी प्रदक्षिणा देकर और उन्हें नमस्कार कर प्राणयात्रा (आजीविका) के उपाय सोचने लगे ॥४५॥ हे देव, आप ही हमें शरणरूप हैं इस संसारमें हम लोगोंकी और कोई गति नहीं है, ऐसा कहकर भागते हुए कितने ही पुरुष अपने प्राणोंकी रक्षामें बुद्धि लगा रहे थे—प्राणरक्षाके उपाय विचार रहे थे ॥४६॥ जिनके प्रत्येक अंग थरथर काँप रहे हैं ऐसे कितने ही लज्जावान पुरुष भगवान्‌से पराङ्मुख होकर व्रतोंसे पराङ्मुख हो गये थे अर्थात् लज्जाके कारण भगवान्‌के पाससे दूसरी जगह जाकर उन्होंने व्रत छोड़ दिये थे ॥४७॥ कितने ही लोग भगवानके चरणोंपर पड़कर कह रहे थे कि "हे प्रभो! हमारी रक्षा कीजिए, हम लोगोंका शरीर भूखसे बहुत ही कृश हो गया है अतः अब हमें क्षमा कीजिए" इस प्रकार कहते हुए वहाँसे अन्तर्हित

१ पालयिष्यति।—नभ्युपपत्स्यते प०। २ अनाकुला। क्षोभेऽपि नातुराः। ३ नानाप्रकार। ४. नानाविधैः। ५ जीविते। ६ मुखस्याभिमुखम्। ७ चान्ये ल०, म०। ८ अभिज्ञाप्य। ९ प्राणप्रवृत्तौ। १० पलायमानाः। ११ रक्षणे। १२ लज्जाशीलाः। 'लज्जा शीलोऽपत्रपिष्णुः' धानात्। १३ कम्पमानशरीराः। १४ कृशाः।

अहो कुमृषयो[1] भग्ना महर्षेर्गन्तुमक्षमाः । पदवीं तामनालीढामन्यैः सामान्यमर्त्यकैः ॥४९॥
किं महादन्तिनो भारं निर्वोढुं कलभाः क्षमाः । पुंगवैर्वा धरं[2] कृष्टं कर्षेयु[3] किमु दम्यकाः[4] ॥५०॥
ततः परीषहैर्भग्नाः फलान्याहर्तुमिच्छवः । प्रसस्रु[5]र्वनषण्डेषु[6] सरस्सु च पिपासिताः ॥५१॥
[7]फलेग्रहीनिमान् दृष्ट्वा पिपासूंश्च[8] स्वयं [9]ग्रहैः । [10]न्यषेधन्[11]नैवमाहृध्वमिति तान् वनदेवताः ॥५२॥
इदं रूपमदीनानामर्हतां चक्रिणामपि । निषेव्यं कातरत्वस्य पदं माकार्ष्ट बालिशाः ॥५३॥
इति तद्वचनाद् भीतास्तद्रूपेण तथेहितुम् । नानाविधानिमान् वेषान् जगृहुर्दीनचेष्टिताः ॥५४॥
केचिद् वल्कलिनो भूत्वा फलान्या[12]दन् पपुः पयः । परिधाय परे जीर्णं कौपीनं चक्रुरीप्सितम् ॥५५॥
अपरे भस्मनोद्गुण्ठ्य स्वान् देहान् जटिनोऽभवन् । एकदण्डधराः केचित्केचिच्चासंस्त्रिदण्डिनः ॥५६॥
प्राणैरार्त्तास्तदेत्यादिवेषैर्वृत्तिरे चिरम् । वन्यैः कशिपुभिः स्वच्छैर्जलैः कन्दादिभिश्च ते ॥५७॥
भरताद् बिभ्यतां तेषां देशत्यागः स्वतोऽभवत् । ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कृतोटजाः[13] ॥५८॥
तदाऽऽसंस्तापसाः पूर्वं परिव्राजश्च केचन । पाषण्डिनां ते[14] प्रथमे[15] बभूवुर्मोहदूषिताः ॥५९॥
पुष्पोपहारैः सजलैर्भर्तुः पादावयक्षत[16] । न देवतान्तरं तेषामासीन्मुक्त्वा स्वयम्भुवम् ॥६०॥

हो गये थे–अन्यत्र चले गये थे ॥४८॥ खेद है कि जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे भगवान्‌के उस मार्गपर चलनेके लिए असमर्थ होकर वे सब खोटे ऋषि तपस्या से भ्रष्ट हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बड़े हाथीके बोझको क्या उसके बच्चे भी धारण कर सकते हैं ? अथवा बड़े बैलों-द्वारा खींचे जाने योग्य बोझको क्या छोटे बछड़े भी खींच सकते हैं ? ॥४९-५०॥ तदनन्तर परीषहोंसे पीड़ित हुए वे लोग फल लानेकी इच्छासे वनखण्डोंमें फैलने लगे और प्याससे पीड़ित होकर तालावोंपर जाने लगे ॥५१॥ उन लोगोंको अपने ही हाथसे फल ग्रहण करते और पानी पीते हुए देखकर वन-देवताओंने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो। हे मूर्खो, यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ अरहन्त तथा चक्रवर्ती आदिके द्वारा भी धारण करने योग्य है इसे तुम लोग कातरताका स्थान मत बनाओ। अर्थात् इस उत्कृष्ट वेषको धारण कर दीनोंकी तरह अपने हाथसे फल मत तोड़ो और न तालाब आदिका अप्रासुक पानी पीओ ॥५२-५३॥ वनदेवताओंके ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेषमें वैसा करने-से डर गये इसलिए उन दीन चेष्टावाले भ्रष्ट तपस्वियोंने नीचे लिखे हुए अनेक वेष धारण कर लिये ॥५४॥ उनमें-से कितने ही लोग वृक्षोंके वल्कल धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे और कितने ही लोग जीर्ण-शीर्ण लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे ॥५५॥ कितने ही लोग शरीरको भस्मसे लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एकदण्डको धारण करनेवाले और कितने ही तीन दण्डको धारण करनेवाले साधु बन गये थे ॥५६॥ इस प्रकार प्राणोंसे पीड़ित हुए वे लोग उस समय ऊपर लिखे अनुसार अनेक वेष धारणकर वनमें होनेवाले वृक्षोंकी छालरूप वस्त्र, स्वच्छ जल और कन्द मूल आदिके द्वारा बहुत समय तक अपनी वृत्ति (जीवन निर्वाह) करते रहे ॥५७॥ वे लोग भरत महाराजसे डरते थे इसलिए उनका देशत्याग अपने आप ही हो गया था अर्थात् वे भरतके डरसे अपने-अपने नगरोंमें नहीं गये थे किन्तु झोंपड़े बनाकर उसी वनमें रहने लगे थे ॥५८॥ वे लोग पाखण्डी तपस्वी तो पहलेसे ही थे परन्तु उस समय कितने ही परिव्राजक हो गये थे और मोहोदयसे दूषित होकर पाखण्डियोंमें मुख्य हो गये थे ॥५९॥ वे लोग जल और फूलोंके उपहारसे भगवान्‌के चरणों-

१. कुत्सिता ऋषयः। २. धृतम्। ३. वहेयुरिति यावत्। ४ वत्सतराः। ५. प्रसरन्ति स्म। ६. वनखण्डेषु अ०। ७. फलानि स्वीकुर्वाणान्। ८. पातुमिच्छून्। ९ निजस्वीकारैः। १०. निवारयन्ति स्म। ११. –वन्नैव– प०, अ०। १२. भक्षयन्ति स्म। १३. कृतपर्णशाला। 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यभिधानात्। १४. तु प्रथमे अ०। १५. मुख्याः। १६. पूजयन्ति स्म।

मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्[1]भूयमास्थितः[2]। मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभाषितैः ॥६१॥
[3]तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्रं[4] तन्त्रं च कापिलम्[5]। [6]येनायं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥६२॥
इति तेषु तथाभूतां वृत्तिमाश्रितेष्वनु सः। तपस्यन् धीबलोपेतस्तथैवास्थान्महामुनिः ॥६३॥
स मेरुरिव निष्कम्पः सोऽक्षोभ्यो जलराशिवत्। स वायुरिव निःसंगो निर्लेपोऽम्बरवत् प्रभुः ॥६४॥
तपस्तापेन तीव्रेण देहोऽस्य व्यद्युतत्तराम्। निष्टप्तस्य सुवर्णस्य ननु छायान्तरं भवेत् ॥६५॥
गुप्तयो [7]गुप्तिरस्यासन्नङ्गत्राणं[8] च संयमः। गुणाश्च सैनिका जाताः कर्मशत्रून्[9] जिगीषतः ॥६६॥
तपोऽनशनमाद्यं स्याद् द्वितीयमवमोदरम्। तृतीयं वृत्तिसंख्यानं रसत्यागश्चतुर्थकम् ॥६७॥
पञ्चमं [10]तनुसंतापो विविक्तशयनासनम्। षष्ठमित्यस्य बाह्यानि तपांस्यासन् महाधृतेः ॥६८॥
प्रायश्चित्तादिभेदेन षोढैवाभ्यन्तरं तपः। तत्रास्य ध्यान एवासीत् परं तात्पर्यमीशितुः ॥६९॥
व्रतानि पञ्च पञ्चैव समित्याख्याः प्रयत्नकाः। [11]पञ्च चेन्द्रियसंरोधाः षोढावश्यकमिष्यते ॥७०॥
केशलोचश्च भूशय्या दन्तधावनमेव च। अचेलत्वमथास्नानं स्थितिभोजनमप्यदः ॥७१॥
एकभुक्तं च तस्यासन् गुणा मौलाः पदातयः। तेष्वस्य महती शुद्धिरभूत् ध्यानविशुद्धितः[12] ॥७२॥

की पूजा करते थे। स्वयम्भू भगवान् वृषभदेवको छोड़कर उनके अन्य कोई देवता नहीं था ॥६०॥ भगवान् वृषभदेवका नाती मरीचिकुमार भी परिव्राजक हो गया था और उसने मिथ्या शास्त्रोंके उपदेशसे मिथ्यात्वकी वृद्धि की थी ॥६१॥ योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारम्भमें उसीके द्वारा कहे गये थे, जिनसे मोहित हुआ यह जीव सम्यग्ज्ञानसे पराङ्मुख हो जाता है ॥६२॥ इस प्रकार जब कि वे द्रव्यलिङ्गी मुनि ऊपर कही हुई अनेक प्रकारकी प्रवृत्तिको प्राप्त हो गये तब बुद्धि बलसे सहित महामुनि भगवान् वृषभदेव उसी प्रकार तपस्या करते हुए विद्यमान रहे थे ॥६३॥ वे प्रभु मेरुपर्वतके समान निष्कम्प थे, समुद्रके समान क्षोभरहित थे, वायुके समान परिग्रहरहित थे और आकाशके समान निर्लेप थे ॥ ६४ ॥ तपश्चरणके तीव्र तापसे भगवान्का शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो गया था सो ठीक ही है, तपाये हुए सुवर्णकी कान्ति निश्चयसे अन्य हो ही जाती है ॥६५॥ कर्मरूपी शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्की मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ ही किले आदिके समान रक्षा करनेवाली थीं, संयम ही शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच था और सम्यग्दर्शन आदि गुण ही उनके सैनिक थे ॥६६॥

पहला उपवास, दूसरा अवमौदर्य, तीसरा वृत्तिपरिसंख्यान, चौथा रसपरित्याग, पांचवाँ कायक्लेश और छठवाँ विविक्तशय्यासन यह छह प्रकारके बाह्य तप महा धीर-वीर भगवान् वृषभदेवके थे ॥६७-६८॥ अन्तरङ्ग तप भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यानके भेदसे छह प्रकारका ही है। उनमें-से भगवान् वृषभदेवके ध्यानमें ही अधिक तत्परता रहती थी अर्थात् वे अधिकतर ध्यान ही करते रहते थे ॥६९॥ पाँच महाव्रत, समिति नामक पाँच सुप्रयत्न, पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, पृथिवीपर सोना, दातौन नहीं करना, नग्न रहना, स्नान नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिनमें एक बार ही भोजन करना इस प्रकार अट्ठाईस मूल गुण भगवान् वृषभदेवके विद्यमान थे जो कि उनके पदातियों अर्थात् पैदल चलनेवाले सैनिकोंके समान थे। ध्यानकी विशुद्धताके कारण भगवान्के इन

---

१ परिव्राजकत्वम्। २ आश्रितः। ३ तेन मरीचिना प्रथमोपदिष्टम्। ४ ध्यानशास्त्रम्। ५ सांख्यम्। ६ शास्त्रेण। ७ नगररक्षणम्। ८ कवचम्। ९ कर्मशत्रून् अ०, स०, ल०। १०. कायक्लेशः। ११ पञ्चैवेन्द्रिय– अ०, प०, स०, द०। १२ ध्यानविशुद्धयः द०, प०, अ०, स०, द०।

महानशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम् । शरीरो[1]पचयस्त्विद्धः[2] तथैवास्थादहो धृतिः[3] ॥७३॥
नानाशुषो[4]ऽप्यभूद् भर्तुः स्वल्पोऽप्यङ्गे परिश्रमः । निर्माणातिशयः[5] कोऽपि दिव्यः स[6] हि महात्मनः ॥७४॥
संस्कारविरहात् केशा जटीभूतास्तदा विभोः । [7]नूनं तेऽपि तपःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः ॥७५॥
मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रु[8] पवनोद्धताः । ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥७६॥
तत्तपोऽतिशयात्तस्मिन् काननेऽभूत् परा द्युतिः । नक्तं दिवा च बालार्कतेजसेवाततान्तिके ॥७७॥
शाखाः पुष्पफलानम्राः शाखिनां तत्र कानने । बभुर्भगवतः पादौ नमन्त्य इव भक्तितः ॥७८॥
तस्मिन् वने वनलता भृङ्गसङ्गीतनिःस्वनैः । [9]उपवीणितमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥७९॥
पर्यन्तवर्तिनः क्ष्माजा गलद्भिः कुसुमैः स्वयम् । पुष्पोपहारमातन्वन्निव भक्त्यास्य पादयोः ॥८०॥
मृगशावाः पदोपान्तं स्वैरमध्यासिता मुनेः । तदाश्रमस्य शान्तत्वमाचख्युः सासिनिद्रिताः[10] ॥८१॥
मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहाः संहतवृत्तयः[11] । बभूवुर्गजयूथेन माहात्म्यं तद्धि योगजम् ॥८२॥
कण्टकालग्नबालाग्राश्चमरीश्च सरीसृजाः[12] । नखैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकम्पमभोचयन् ॥८३॥
[13]प्रस्नुवाना महाव्याघ्रीरुपेत्य मृगशावकाः । [14]स्तनजनन्यास्थया स्वैरं पीत्वा स्म सुखमासते ॥८४॥

गुणोंमें बहुत ही विशुद्धता रहती थी ॥७०-७२॥ यद्यपि भगवान्‌ने छह महीनेका महोपवास तप किया था तथापि उनके शरीरका उपचय पहलेकी तरह ही देदीप्यमान बना रहा था। इससे कहना पड़ता है कि उनकी धीरता बड़ी ही आश्चर्यजनक थी। ॥७३॥ यद्यपि भगवान् बिलकुल ही आहार नहीं लेते थे तथापि उनके शरीरमें रंचमात्र भी परिश्रम नहीं होता था। वास्तवमें भगवान् वृषभदेवकी शरीररचना अथवा उनके निर्माण नामकर्मका ही वह कोई दिव्य अतिशय था ॥७४॥ उस समय भगवान्‌के केश संस्काररहित होनेके कारण जटाओंके समान हो गये थे और वे ऐसे मालूम होते थे मानो तपस्याका क्लेश सहन करनेके लिए ही वैसे कठोर हो गये हों ॥७५॥ वे जटाएँ वायुसे उड़कर महामुनि भगवान् वृषभदेवके मस्तकपर दूर तक फैल गयी थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो ध्यानरूपी अग्निसे तपाये हुए जीवरूपी स्वर्णसे निकली हुई कालिमा ही हो ॥७६॥ भगवान्‌के तपश्चरणके अतिशयसे उस विस्तृत वनमें रात-दिन ऐसी उत्तम कान्ति रहती थी जैसी कि प्रातःकालके सूर्यके तेजसे होती है ॥७७॥ उस वनमें पुष्प और फलके भारसे नम्र हुई वृक्षोंकी शाखाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिसे भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार ही कर रही हों ॥७८॥ उस वनमें लताओंपर बैठे हुए भ्रमर संगीतके समान मधुर शब्द कर रहे थे जिससे वे वनलताएँ ऐसी मालूम होती थीं मानो भक्तिपूर्वक वीणा बजाकर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका यशोगान ही कर रही हों ॥७९॥ भगवान्‌के समीपवर्ती वृक्षोंसे जो अपने आप ही फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते थे मानो भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें फूलोंका उपहार ही विस्तृत कर रहे हों अर्थात् फूलोंकी भेंट ही चढ़ा रहे हों ॥८०॥ भगवान्‌के चरणोंके समीप ही अपनी इच्छानुसार कुछ-कुछ निद्रा लेते हुए जो हरिणोंके बच्चे बैठे हुए थे वे उनके आश्रमकी शान्तता बतला रहे थे ॥८१॥ सिंह हरिण आदि जन्तुओंके साथ वैरभाव छोड़कर हाथियोंके झुण्डके साथ मिलकर रहने लगे थे सो यह सब भगवान्‌के ध्यानसे उत्पन्न हुई महिमा ही थी ॥८२॥ अहा, कैसा आश्चर्य था कि जिनके बालोंके अग्रभाग काँटोंमें उलझ गये थे और जो उन्हें बार-बार सुलझानेका प्रयत्न करती थीं ऐसी चमरी गायोंको बाघ बड़ी दयाके साथ अपने नखोंसे छुड़ा रहे थे अर्थात् उनके बाल सुलझा कर उन्हें जहाँ-तहाँ जानेके लिए स्वतन्त्र कर रहे थे ॥८३॥ हरिणोंके बच्चे दूध देती हुई बाघनियोंके पास जाकर और उन्हें अपनी माता समझ इच्छानुसार दूध पीकर सुखी

१. पुष्टिः । २. दीप्तः । ३. सन्तोषः । ४. अनशनवृत्तिनः । ५. शरीरवर्गणातिशयः । ६. अपरिश्रमः । ७. इव । ८. 'सृ गतौ' लिट् । ९. वीणया उपगीयते स्म । १०. ईषन्निद्रिताः । ११. युक्तप्रवृत्तयः । १२. पुनःपुनर्मार्जनं कुर्वन्तः । १३. क्षीरं क्षरन्तीः । १४. निजमातृबुद्ध्या ।

पदयोरस्य वन्येभाः समुत्फुल्लं सरोरुहम् । ढौकयामासुरासीत्तप:शक्तिरहो परा ॥८५॥
बभौ राजीवमारक्तं करिणा पुष्कराश्रितम्[1] । पुष्करश्रियमाम्रेडी[2] कुर्वद्भर्तुरुपासने[3] ॥८६॥
प्रशमस्य विभोरङ्गात् विसर्पन्त इवांशका.[4] । [5]प्रसह्य वशमानिन्युरवशानपि तान् मृगान् ॥८७॥
अनाशुषोऽपि नास्यासीत् क्षुद्वाधा भुवनेशिनः । मनोपभावनोत्कर्षाज्जयद्गृद्धिं मगृध्नुना[7] ॥८८॥
चलन्ति स्म तदेन्द्राणामासनान्यस्य योगत[8] । चित्रं हि महता धैर्यं जगदाकम्पकारणम् ॥८९॥
इति षण्मासनि[9]र्वर्त्यप्रतिमायोगमापुष[10] । स काल. क्षणवद्भर्तुरगमद् धैर्यशालिन ॥९०॥
अत्रान्तरे किलायाता[11] कुमारौ सुकुमारकौ । सूनू कच्छमहाकच्छनृपयोर्निकट गुरोः ॥९१॥
नमिश्च विनमिश्चेति प्रतीतौ भक्तिनिर्भरौ । भगवत्पादसमेवा कर्तुकामौ भुवेशिनौ ॥९२॥
भोगेषु सतृषावेतौ प्रसीदेति कृतानतौ । पदद्वयेऽस्य सलग्नौ भेजतुर्ध्यानविघ्नताम् ॥९३॥
त्वयेश पुत्रनप्तृभ्य. संविभक्तमभूदिदम् । साम्राज्य विस्मृतावावामतो[12] भोगान् प्रयच्छ नौ ॥९४॥
इत्येवमनुबध्नन्तौ युक्तायुक्तानभिज्ञकौ । तौ तदा जलपुष्पार्घैरु[13]पासामासतुर्विभुम् ॥९५॥
तत. स्वासनकम्पेन[15] तदज्ञासीत्[16] फणीश्वर. । धरणेन्द्र इति ख्यातिमुद्वहन् भावनामर' ॥९६॥

होते थे ॥८४॥ अहा, भगवान्‌के तपश्चरणकी शक्ति बड़ी ही आश्चर्यकारक थी कि वनके हाथी भी फूले हुए कमल लाकर उनके चरणोंमे चढ़ाते थे ॥८५॥ जिस समय वे हाथी फूले हुए कमलों-द्वारा भगवान्‌की उपासना करते थे उस समय उनके सूँड़के अग्रभागमे स्थित लाल कमल ऐसे सुशोभित होते थे मानो उनके पुष्कर अर्थात् सूँड़के अग्रभागकी शोभाको दूनी कर रहे हों ॥८६॥ भगवान्‌के शरीरसे फैलती हुई शान्तिकी किरणोंने कभी किसीके वश न होनेवाले सिंह आदि पशुओंको भी हठात् वशमे कर लिया था ॥८७॥ यद्यपि त्रिलोकीनाथ भगवान् उपवास कर रहे थे-कुछ भी आहार नहीं लेते थे तथापि उन्हे भूखकी बाधा नहीं होती थी, सो ठीक ही है, क्योंकि सन्तोषरूप भावनाके उत्कर्षसे जो अनिच्छा उत्पन्न होती है वह हरएक प्रकारकी इच्छाओं (लम्पटता) को जीत लेती है ॥८८॥ उस समय भगवान्‌के ध्यानके प्रताप से इन्द्रोंके आसन भी कम्पायमान हो गये थे। वास्तवमें यह भी एक बड़ा आश्चर्य है कि महापुरुषोंका धैर्य भी जगत्‌के कम्पनका कारण हो जाता है ॥८९॥ इस तरह छह महीनेमे समाप्त होनेवाले प्रतिमा योगको प्राप्त हुए और धैर्यसे शोभायमान रहनेवाले भगवान्‌का वह लम्बा समय भी क्षणभरके समान व्यतीत हो गया ॥९०॥ इसीके बीचमे महाराज कच्छ, महाकच्छके लड़के भगवान्‌के समीप आये थे। वे दोनों लड़के बहुत ही सुकुमार थे, दोनों ही तरुण थे, नमि तथा विनमि उनका नाम था और दोनों ही भक्तिसे निर्भर होकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना चाहते थे ॥९१-९२॥ वे दोनो ही भोगोपभोगविषयक तृष्णासे सहित थे इसलिए हे भगवन्, 'प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहते हुए वे भगवान्‌को नमस्कार कर उनके चरणोंमे लिपट गये और उनके ध्यानमे विघ्न करने लगे ॥९३॥ हे स्वामिन्, आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रोंके लिए बाँट दिया है। बाँटते समय हम दोनोंको भुला ही दिया-इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए ॥९४॥ इस प्रकार वे भगवान्‌से बार-बार आग्रह कर रहे थे, उन्हे उचित-अनुचितका कुछ भी ज्ञान नहीं था और वे दोनों उस समय जल, पुष्प तथा अर्घ्यसे भगवान्‌की उपासना कर रहे थे ॥९५॥ तदनन्तर धरणेन्द्र नामको धारण करनेवाले, भवनवासियोंके अन्तर्गत नागकुमार देवोंके इन्द्रने अपना आसन कम्पायमान होनेसे नमि, विनमिके इस समस्त वृत्तान्तको जान लिया ॥९६॥ अवधिज्ञानके द्वारा इन

१. हस्ताग्राश्रितम् । २ द्विगुणीकुर्वत् । ३ आराधने । ४. अशा । ५ बलात्कारेण । ६ काक्षाम् । ७. अनभिलाषिणा । ८ ध्यानत । ९ अतिव्याप्य । १० गमस्य । -मीयुष प० । ११ आगतौ । १२. अस्मात् कारणात् । १३ आवयो । १४ आराधना चक्रतु । १५ ध्यानविघ्नत्वम् । १६ बुबुधे ।

ज्ञात्वा चावधिबोधेन तत्सर्वं संविधानकम् । ससंभ्रममथोत्थाय सोऽन्तिकं भर्तुरागमत् ॥९७॥
ससर्प यः समुद्भिद्य भुवः प्राप्तः स तत्क्षणात् । समैक्षिष्ट मुनिं दूरान्महामेरुमिवोन्नतम् ॥९८॥
समिद्धया तपोदीप्त्या ज्वलद्भासुरविग्रहम् । निवातनिश्चलं दीपमिव योगे समाहितम् ॥९९॥
कर्माहुतीर्महाध्यानहुताशे[1] दग्धुमुद्यतम् । सुयज्वानमिवा[2]हेयदयापत्नीपरिग्रहम् ॥१००॥
महोदयमुदग्राङ्गं सुवंशं मुनिकुञ्जरम् । रुद्धं तपोमहालानस्तम्भे सद्व्रतरज्जुभिः ॥१०१॥
अकम्प्रस्थितिमुत्तुङ्गमहासत्त्वैरुपासितम् । महाद्रिमिव बिभ्राणं क्षमाभरसहं वपुः ॥१०२॥
योगान्त[3]र्निभृतात्मानमतिगम्भीरचेष्टितम् । [4]निवातस्तिमितस्याब्धेर्न्यक्कुर्वाणं गभीरताम् ॥१०३॥

समस्त समाचारोंको जानकर वह धरणेन्द्र बड़े ही संभ्रमके साथ उठा और शीघ्र ही भगवान्‌के समीप आया ॥९७॥ वह उसी समय पूजाकी सामग्री लिये हुए, पृथिवीको भेदन कर भगवान्‌के समीप पहुँचा । वहाँ उसने दूरसे ही मेरु पर्वतके समान ऊँचे मुनिराज वृषभदेवको देखा ॥९८॥ उस समय भगवान ध्यानमें लवलीन थे और उनका देदीप्यमान शरीर अतिशय बढ़ी हुई तपकी दीप्तिसे प्रकाशमान हो रहा था इसलिए वे ऐसे मालूम होते थे मानो वायु-रहित प्रदेशमें रखे हुए दीपक ही हों ॥९९॥ अथवा वे भगवान् किसी उत्तम यज्वा अर्थात् यज्ञ करनेवालेके समान शोभायमान हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अग्निमें आहुतियाँ जलानेके लिए तत्पर रहता है उसी प्रकार भगवान् भी महाध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी आहुतियाँ जलानेके लिए उद्यत थे । और जिस प्रकार यज्ञ करनेवाला अपनी पत्नीसे सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी कभी नहीं छोड़ने योग्य दयारूपी पत्नीसे सहित थे ॥१००॥ अथवा वे मुनिराज एक कुञ्जर अर्थात् हाथीके समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसी प्रकार भगवान् भी महोदय अर्थात् बड़े भारी ऐश्वर्यसे सहित थे । हाथीका शरीर जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी ऊँचा था, हाथी जिस प्रकार सुवंश अर्थात् पीठकी उत्तम रीढ़से सहित होता है उसी प्रकार भगवान् भी सुवंश अर्थात् उत्तम कुलसे सहित थे और हाथी जिस प्रकार रस्सियों-द्वारा खम्भेमें बँधा रहता है उसी प्रकार भगवान् भी उत्तम व्रतरूपी रस्सियों-द्वारा तपरूपी बड़े भारी खम्भेमें बँधे हुए थे ॥१०१॥ वे भगवान् सुमेरु पर्वतके समान उत्तम शरीर धारण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत अकम्पायमान रूपसे खड़ा है उसी प्रकार उनका शरीर भी अकम्पायमान रूपसे (निश्चल) खड़ा था, मेरु पर्वत जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार उनका शरीर भी ऊँचा था, सिंह, व्याघ्र आदि बड़े-बड़े क्रूर जीव जिस प्रकार सुमेरु पर्वतकी उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ रहते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े क्रूर जीव शान्त होकर भगवान्‌के शरीरकी भी उपासना करते थे अर्थात् उनके समीपमें रहते थे, अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार इन्द्र आदि महासत्त्व अर्थात् महाप्राणियोंसे उपासित होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी इन्द्र आदि महासत्त्वोंसे उपासित था अथवा सुमेरु पर्वत जिस प्रकार महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़तासे उपासित होता है, उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी महासत्त्व अर्थात् बड़ी भारी दृढ़ता (धीर-वीरता) से उपासित था, और सुमेरु पर्वत जिस प्रकार क्षमा अर्थात् पृथिवीके भारको धारण करनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार भगवान्‌का शरीर भी क्षमा अर्थात् शान्तिके भारको धारण करनेमें समर्थ था ॥१०२॥ उस समय भगवान्‌ने अपने अन्तःकरणको ध्यानके भीतर निश्चल कर लिया था तथा उनकी चेष्टाएँ अत्यन्त गम्भीर थीं इसलिए वे वायुके न चलनेसे निश्चल हुए समुद्रकी गम्भीरताको

१ अग्नौ । २ अत्याज्यदयास्त्रीस्वीकारम् । ३. अन्तर्लीन । ४. निर्वात-प० ।

परीषहमहावातैरक्षोभ्यमजलाशयम्। दोषग्राहैरसंस्पृष्टमपूर्वमिव वारिधिम् ॥१०४॥
सादरं च समासाद्य पश्यन् भगवतो वपुः। विसिस्मिये तपोलक्ष्म्या [1]परिरब्धमधीद्धया[2] ॥१०५॥
परीत्य प्रणतो भक्त्या स्तुत्वा च स जगद्गुरुम्। कुमाराविति सोपायमवदत् संवृताकृतिः[3] ॥१०६॥
युवां युवानौ दृश्येथे सायुधौ विकृताकृती। तपोवनं च पश्यामि प्रशान्तमिदमूर्जितम् ॥१०७॥
क्वेदं तपोवनं शान्तं क्व युवां भीषणाकृती। प्रकाशतमसोरेष सङ्गमो नन्वसंगतः ॥१०८॥
अहो निन्द्यतरा भोगा यैरस्थानेऽपि योजयेत्[4]। प्रार्थनामर्थिनां का वा युक्तायुक्तविचारणा ॥१०९॥
प्रवाञ्छथो युवां भोगान् देवोऽयं भोगनिःस्पृहः। [5]तद्वां शिलातलेऽम्भोजवाञ्छा [6]विस्मीयतेऽद्य नः ॥११०॥
सस्पृहः स्वयमन्यांश्च सस्पृहानेव मन्यते। को नाम स्पृहयेद्धीमान् भोगान् [7]पर्यन्ततापिनः ॥१११॥
[8]आपातमात्ररम्याणां भोगानां वशगः पुमान्। महानप्यर्थिता[9]दोषात् सद्यस्तृण[10]लघुर्भवेत् ॥११२॥
युवां चेद्भोगकामयन्तौ[11] व्रजतं भरतान्तिकम्। स हि साम्राज्यधौरेयो[12] वर्तते नृपपुङ्गवः ॥११३॥

भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥१०३॥ अथवा भगवान् किसी अनोखे समुद्रके समान जान पड़ते थे क्योंकि उपलब्ध समुद्र तो वायुसे क्षुभित हो जाता है परन्तु वे परीषहरूपी महावायुसे कभी भी क्षुभित नहीं होते थे, उपलब्ध समुद्र तो जलाशय अर्थात् जल है आशयमें (मध्यमें) जिसके ऐसा होता है परन्तु भगवान् जडाशय अर्थात् जड (अविवेक युक्त) है आशय (अभिप्राय) जिनका ऐसे नहीं थे, उपलब्ध समुद्र तो अनेक मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंसे भरा रहता है परन्तु भगवान् दोषरूपी जल-जन्तुओंसे छुए भी नहीं गये थे ॥१०४॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके समीप वह धरणेन्द्र बड़े ही आदरके साथ पहुँचा और अतिशय बढ़ी हुई तपरूपी लक्ष्मीसे आलिङ्गित हुए भगवानके शरीरको देखता हुआ आश्चर्य करने लगा ॥१०५॥ प्रथम ही उस धरणेन्द्रने जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की और फिर अपना वेश छिपाकर वह उन दोनों कुमारोंसे इस प्रकार सयुक्तिक वचन कहने लगा ॥१०६॥ हे तरुण पुरुषो, ये हथियार धारण किये हुए तुम दोनों मुझे विकृत आकार-वाले दिखलाई दे रहे हो और इस उत्कृष्ट तपोवनको अत्यन्त शान्त देख रहा हूँ ॥१०७॥ कहाँ तो यह शान्त तपोवन, और कहाँ भयंकर आकारवाले तुम दोनों ? प्रकाश और अन्ध-कारके समान तुम्हारा समागम क्या अनुचित नहीं है ? ॥१०८॥ अहो, यह भोग बड़े ही निन्दनीय हैं जो कि अयोग्य स्थानमें भी प्रार्थना कराते हैं अर्थात् जहाँ याचना नहीं करनी चाहिए वहाँ भी याचना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि याचना करनेवालोंको योग्य अयोग्यका विचार ही कहाँ रहता है। ॥१०९॥ यह भगवान् तो भोगोंसे निःस्पृह है और तुम दोनों उनसे भोगों-की इच्छा कर रहे हो सो तुम्हारी यह शिलातलसे कमलकी इच्छा आज हम लोगोंको आश्चर्य-युक्त कर रही है। भावार्थ–जिस प्रकार पत्थरकी शिलासे कमलोंकी इच्छा करना व्यर्थ है उसी प्रकार भोगोंकी इच्छासे रहित भगवान्से भोगोंकी इच्छा करना व्यर्थ है ॥११०॥ जो मनुष्य स्वयं भोगोंकी इच्छासे युक्त होता है वह दूसरोंको भी वैसा ही मानता है, अरे, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अन्तमें सन्ताप देनेवाले इन भोगोंकी इच्छा करता हो ॥१११॥ प्रारम्भ मात्रमें ही मनोहर दिखाई देनेवाले भोगोंके वश हुआ पुरुष चाहे जितना बड़ा होनेपर भी याचना-रूपी दोषसे शीघ्र ही तृणके समान लघु हो जाता है ॥११२॥ यदि तुम दोनों भोगोंको चाहते हो तो भरतके समीप जाओ क्योंकि इस समय वही साम्राज्यका भार धारण करनेवाला है और

---

१ आलिङ्गितम्। २. अत्यर्थं प्रवृद्धया। ३ आकारान्तरेणाच्छादितनिजाकारः। ४ अर्थीत्यध्याहार.। ५ तत्कारणात्। वा युवयोः। ६ विस्म करोति। ७. परिणमनकाल। ८. अनुभवमात्रम्। ९. याच्ञा। १० तृणवल्लघु। ११. भोगमिच्छन्तौ। १२. धुरन्धर.।

भगवांस्त्यक्तरागादिसङ्गो देहेऽपि निःस्पृहः । कुतो [1]वामसुना दद्याद् भोगान् भोगस्पृहावतोः ॥११४॥
ततोऽलमुपरुद्ध्यैन[2] देवं मुक्त्यर्थमुद्यतम् । भुक्तिकामौ[3] युवां यात[4] भरतं पर्युपासितुम् ॥११५॥
इति तद्वचनस्यान्ते कुमारौ प्रत्यवोचताम् । परकार्येषु वः कास्था[5] तूष्णीं यात महाधियः ॥११६॥
यदत्र युक्तमन्यद्वा[6] जानीमस्तद्द्वयं वयम् । अनभिज्ञा भवन्तोऽत्र[7] साधयन्तु यथेहितम् ॥११७॥
वर्षीयांसो[8] यवीयांस[9] इति भेदो वयस्कृतः । न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये न यून्यपचयो धियः ॥११८॥
वयसः परिणामेन[10] धियः प्रायेण मन्दिमा । कृतात्मनां[11] वयस्याद्ये ननु मेधा विवर्धते ॥११९॥
नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशान्तरम्[12] । नवोऽपीन्दुर्जनाह्लादी दहत्यग्निर्जरन्नपि ॥१२०॥
अपृष्टः कार्यमाचष्टे यः स धृष्टतरो मतः । न [13]पिपृच्छिषिता यूयमावाभ्यां कार्यमीदृशम् ॥१२१॥
अपृष्टकार्यनिर्देशैः[14] [15]व्यलीकानिष्टचाटुभिः[16] । छलयन्ति खला[17] लोकं न सद्वृत्ता भवद्विधाः ॥१२२॥
[18]नासृष्टभाषिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्टकारिणी । नान्योपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेऽपि धीमताम् ॥१२३॥

वही श्रेष्ठ राजा है ॥११३॥ भगवान् तो राग, द्वेष आदि अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग कर चुके हैं और अपने शरीरसे भी निःस्पृह हो रहे हैं, अब यह भोगोंकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको भोग कैसे दे सकते हैं? ॥११४॥ इसलिए, जो केवल मोक्ष जानेके लिए उद्योग कर रहे हैं ऐसे इन भगवानके पास धरना देना व्यर्थ है। तुम दोनों भोगोंके इच्छुक हो अतः भरतकी उपासना करनेके लिए उसके पास जाओ ॥११५॥ इस प्रकार जब वह धरणेन्द्र कह चुका तब वे दोनों नमि, विनमि कुमार उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे कि दूसरेके कार्योंमें आपकी यह क्या आस्था (आदर, बुद्धि) है? आप महा बुद्धिमान् हैं, अतः यहाँसे चुपचाप चले जाइए ॥११६॥ क्योंकि इस विषयमें जो योग्य अथवा अयोग्य है उन दोनोंको हम लोग जानते हैं परन्तु आप इस विषयमें अनभिज्ञ हैं इसलिए जहाँ आपको जाना है जाइए ॥११७॥ ये वृद्ध हैं और ये तरुण हैं यह भेद तो मात्र अवस्थाका किया हुआ है। वृद्धावस्थामें न तो कुछ ज्ञानकी वृद्धि होती है और न तरुण अवस्थामें बुद्धिका कुछ ह्रास ही होता है, बल्कि देखा ऐसा जाता है कि अवस्थाके पकनेसे वृद्धावस्थामें प्रायः बुद्धिकी मन्दता हो जाती है और प्रथम अवस्थामें प्रायः पुण्यवान् पुरुषोंकी बुद्धि बढ़ती रहती है ॥११८-११९॥ न तो नवीन-तरुण अवस्था दोष उत्पन्न करनेवाली है और न वृद्ध अवस्था गुण उत्पन्न करनेवाली है क्योंकि चन्द्रमा नवीन होनेपर भी मनुष्योंको आह्लादित करता है और अग्नि जीर्ण (बुझनेके सम्मुख) होनेपर भी जलाती ही है ॥१२०॥ जो मनुष्य विना पूछे ही किसी कार्यको करता है वह बहुत ढीठ समझा जाता है। हम दोनों ही इस प्रकारका कार्य आपसे पूछना नहीं चाहते फिर आप व्यर्थ ही बीचमें क्यों बोलते हैं ॥१२१॥ आप-जैसे निन्द्य आचरणवाले दुष्ट पुरुष विना पूछे कार्योंका निर्देश कर तथा अत्यन्त असत्य और अनिष्ट चापलूसीके वचन कहकर लोगोंको ठगा करते हैं ॥१२२॥ बुद्धिमान् पुरुषोंकी जिह्वा कभी स्वप्नमें भी अशुद्ध भाषण नहीं करती, उनकी चेष्टा कभी दूसरोंका अनिष्ट नहीं करती और न उनकी स्मृति ही दूसरोंका विनाश करनेके लिए कभी कठोर

१. युवयोः । २. उपरोधेनालम् । 'निषेधेऽलं खल्वोः क्त्वा वेति वर्तते ।' निषेधे वर्तमानयोरलं खलु इत्येतयोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा प्रत्ययो वा भवतीति वचनात् । यथाप्राप्तं च । अलंकृत्वा । खलुकृत्वा । अलं बाले रुदित्वा । अलं बाले रोदनेन । अलंखलाविति किम् ? मा भावि नार्यो रुदितेन । निषेध इति किम् ? अलंकारः सिद्धः खलु । ३. भोगकामौ । ४. गच्छतम् । ५. यत्न । ६. अयुक्तम् । ७. अस्मद्विषये । ८. वृद्धाः । ९. युवानः । १० परिपाकेन । ११ कृतः शस्त्रादिना निष्पन्न आत्मा बुद्धिर्येषां ते कृतात्मानस्तेषाम्, 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । १२. वार्धक्यम् । १३. न प्रष्टुमिष्टा । १४ उपदेशैः । १५ असत्य । १६. चाटुवादैः । १७ लोकानसद्वृत्ता प० । १८. अशुद्ध ।

विदिताखिलवेद्यानां[1] नोपदेशो भवादृशाम्। न्यायोऽस्मदादिभिः सन्तो यतो न्यायैकजीविकाः ॥१२४॥
शान्तो वयोऽनुरूपोऽयं वेषः सौम्येयमाकृतिः। वचः प्रसन्नमूर्जस्वि[2] व्याचष्टे वः प्रबुद्धताम् ॥१२५॥
बहिःस्फुरत्किमप्यन्तर्गूढं तेजो जनातिगम्। महानुभावतां वक्ति वपुरप्राकृतं[3] च वः ॥१२६॥
इत्यभिव्यक्तवैशिष्ट्या भवन्तो भद्रशीलकाः। कार्येऽस्मदीये मुह्यन्ति न विद्मः किं नु कारणम् ॥१२७॥
गुरुप्रसादनं श्लाघ्यमावाभ्यां फलमीप्सितम्। यूयं तत्प्रतिबन्धारः[4] परकार्येषु शीतलाः ॥१२८॥
परेषां वृद्धिमालोक्य नन्वसूयति[5] दुर्जनः। युष्मादृशां तु महतां सतां प्रत्युत[6] सा मुदे ॥१२९॥
वनेऽपि वसतो भर्तुः प्रभुत्वं किं परिच्युतम्। पादमूले जगद् विश्वं यस्याद्यापि चराचरम् ॥१३०॥
कल्पानोकहमुत्सृज्य को नामान्यं महीरुहम्। सेवेत पटुधीरीप्सन् फलं[7] विपुलमूर्जितम्[8] ॥१३१॥
महाब्धिमथवा हित्वा रत्नार्थी किमु संश्रयेत्। पल्वलं[9] शुष्कशैवालं शाल्यर्थी वा पलालकम्[10] ॥१३२॥
भरतस्य गुरोश्चापि किमु नास्त्यन्तरं महत्। गोष्पदस्य समुद्रेण समकक्ष्यत्वमस्ति वा[11] ॥१३३॥

होती है ॥१२३॥ जिन्होंने जानने योग्य सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लिया है ऐसे आप-सरीखे बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए हम बालकों-द्वारा न्यायमार्गका उपदेश दिया जाना योग्य नहीं है क्योंकि जो सज्जन पुरुष होते हैं वे एक न्यायरूपी जीविकासे ही युक्त होते हैं अर्थात् वे न्यायरूप प्रवृत्तिसे ही जीवित रहते हैं ॥१२४॥ आयुके अनुकूल धारण किया हुआ आपका यह वेष बहुत ही शान्त है, आपकी यह आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी प्रसादगुणसे सहित तथा तेजस्वी हैं और आपकी बुद्धिमत्ताको स्पष्ट कह रहे हैं ॥१२५॥ जो अन्य साधारण पुरुषोंमें नहीं पाया जाता और जो बाहर भी प्रकाशमान हो रहा है ऐसा आपका यह भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय तेज तथा अद्भुत शरीर आपकी महानुभावताको कह रहा है। भावार्थ—आपके प्रकाशमान लोकोत्तर तेज तथा असाधारण दीप्तिमान शरीरके देखनेसे मालूम होता है कि आप कोई महापुरुष हैं ॥१२६॥ इस प्रकार जिनकी अनेक विशेषताएँ प्रकट हो रही हैं ऐसे आप कोई भद्रपरिणामी पुरुष हैं परन्तु फिर भी आप जो हमारे कार्यमें मोहको प्राप्त हो रहे हैं सो उसका क्या कारण है? यह हम नहीं जानते ॥१२७॥ गुरु-भगवान् वृषभदेवको प्रसन्न करना सब जगह प्रशंसा करने योग्य है और यही हम दोनोंका इच्छित फल है अर्थात् हम लोग भगवान्को ही प्रसन्न करना चाहते हैं परन्तु आप उसमें प्रतिबन्ध कर रहे हैं—विघ्न डाल रहे हैं इसलिए जान पड़ता है कि आप दूसरोंका कार्य करनेमें शीतल अर्थात् उद्योगरहित हैं—आप दूसरोंका भला नहीं होने देना चाहते ॥१२८॥ दूसरोंकी वृद्धि देखकर दुर्जन मनुष्य ही ईर्ष्या करते हैं। आप-जैसे सज्जन और महापुरुषोंको तो बल्कि दूसरोंकी वृद्धिसे आनन्द होना चाहिए ॥१२९॥ भगवान् वनमें निवास कर रहे हैं इससे क्या उनका प्रभुत्व नष्ट हो गया है? देखो, भगवान्के चरणकमलोंके मूलमें आज भी यह चराचर विश्व विद्यमान है ॥१३०॥ आप जो हम लोगोंको भरतके पास जानेकी सलाह दे रहे हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो बड़े-बड़े बहुत-से फलोंकी इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्षको छोड़कर अन्य सामान्य वृक्षकी सेवा करेगा ॥१३१॥ अथवा रत्नोंकी चाह करनेवाला पुरुष महासमुद्रको छोड़कर, जिसमें शेवाल भी सूख गयी है ऐसे किसी अल्प सरोवर (तलैया) की सेवा करेगा अथवा धानकी इच्छा करनेवाला पियालका आश्रय करेगा? ॥१३२॥ भरत और भगवान् वृषभदेवमें क्या बड़ा

---

१ पदार्थानाम्। २ तेजस्वी। ३. असाधारणम्। ४. अस्मदभीष्टप्रतिनिरोधकाः। ५ ईर्ष्यां करोति। ६ प्रवृद्धिः। ७ भूयिष्ठम्। ८. उपर्युपरि प्रवर्धमानम्। ९ अल्पसरः। १० 'पलालोऽस्त्री स निष्फलः।' ११ किम्।

स्वच्छाम्भःकलिता लोके किं न सन्ति जलाशयाः । चातकस्याग्रहः[1] कोऽपि यद्वाञ्छत्यम्बुदात्पयः ॥१३४॥
तदुन्नतेरिदं वित्त[2] वृत्तं[3] यद्विपुलं फलम् । वाञ्छन्ति[4] परमोदारं स्थानमाश्रित्य मानिनः ॥१३५॥
इत्यदीनतरां वाचं श्रुत्वाहीन्द्रः कुमारयोः । नितरां सोऽतुषच्चित्ते श्लाघ्यं धैर्यं हि मानिनाम् ॥१३६॥
अहो महेच्छता[5] यूनोरहो गाम्भीर्यमेतयोः । अहो गुरौ परा भक्तिरहो श्लाघ्या स्पृहानयोः ॥१३७॥
इति प्रीतस्तदात्मीयं दिव्यं रूपं प्रदर्शयन् । पुनरित्यवदत् प्रीतिलतायाः कुसुमं वचः ॥१३८॥
युवां युवजरन्तौ[6] स्थस्तुष्टो वां[7] धीरचेष्टितैः । अहं हि धरणो नाम फणिनां पतिरग्रिमः ॥१३९॥
मां वित्त[8] किंकरं भर्तुः पातालस्वर्गवासिनम् । युवयोर्भोगभागित्वं विधातुं समुपागतम् ॥१४०॥
आदिष्टो[9]ऽस्म्यहमीशेन कुमारौ भाक्तिकाविमौ । भोगैरिष्टैर्नियुङ्क्ष्वेति[10] द्रुतं[11] तेनागतोऽस्म्यहम् ॥१४१॥
[12]तदुत्तिष्ठतमापृच्छ्य[13] भगवन्तं जगत्सृजम्[14] । युवयोर्भोगमद्याहं दास्यामि गुरुदेशिताम् ॥१४२॥
इत्यस्य वचनात् प्रीतौ कुमारौ तमवोचताम् । सत्यं गुरुः प्रसन्नो नौ[15] भोगान् दित्सति[16] वाञ्छितान् ॥१४३॥
तद् ब्रूहि धरणाधीश यत्सत्यं मतमीशितुः । गुरोर्मताद्विना भोगा नावयोरभिसम्मताः ॥१४४॥

भारी अन्तर नहीं है ? क्या गोष्पदकी समुद्रके साथ बराबरी हो सकती है ? ॥१३३॥ क्या लोकमें स्वच्छ जलसे भरे हुए अन्य जलाशय नहीं हैं जो चातक पक्षी हमेशा मेघसे ही जलकी याचना करता है। यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय हठ नहीं है ॥१३४॥ इसलिए अभिमानी मनुष्य जो अत्यन्त उदार स्थानका आश्रय कर किसी बड़े भारी फलकी वांछा करते हैं सो इसे आप उनकी उन्नतिका ही आचरण समझें ॥१३५॥ इस प्रकार वह धरणेन्द्र नमि, विनमि दोनों कुमारोंके अदीनतर अर्थात् अभिमानसे भरे हुए वचन सुनकर मनमें बहुत ही सन्तुष्ट हुआ सो ठीक ही है क्योंकि अभिमानी पुरुषोंका धैर्य प्रशंसा करने योग्य होता है ॥१३६॥ वह धरणेन्द्र मन-ही-मन विचार करने लगा कि अहा, इन दोनों तरुण कुमारोंकी महेच्छता (महाशयता) कितनी बड़ी है, इनकी गम्भीरता भी आश्चर्य करनेवाली है, भगवान् वृषभदेवमें इनकी श्रेष्ठ भक्ति भी आश्चर्यजनक है और इनकी स्पृहा भी प्रशंसा करने योग्य है। इस प्रकार प्रसन्न हुआ धरणेन्द्र अपना दिव्य रूप प्रकट करता हुआ उनसे प्रीतिरूपी लताके फूलोंके समान इस प्रकार वचन कहने लगा ॥१३७-१३८॥ तुम दोनों तरुण होकर भी वृद्धके समान हो, मैं तुम लोगोंकी धीर-वीर चेष्टाओंसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ, मेरा नाम धरण है और मैं नागकुमार जातिके देवोंका मुख्य इन्द्र हूँ ॥१३९॥ मुझे आप पाताल स्वर्गमें रहनेवाला भगवान्‌का किंकर समझें तथा मैं यहाँ आप दोनोंको भोगोपभोगकी सामग्रीसे युक्त करनेके लिए ही आया हूँ ॥१४०॥ ये दोनों कुमार बड़े ही भक्त हैं इसलिए इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगोंसे युक्त करो। इस प्रकार भगवान्‌ने मुझे आज्ञा दी है और इसलिए मैं यहाँ शीघ्र आया हूँ ॥१४१॥ इसलिए जगत्‌की व्यवस्था करनेवाले भगवान्‌से पूछकर उठो। आज मैं तुम दोनोंके लिए भगवान्‌के द्वारा बतलायी हुई भोगसामग्री दूँगा ॥१४२॥ इस प्रकार धरणेन्द्रके वचनोंसे वे कुमार बहुत ही प्रसन्न हुए और उससे कहने लगे कि सचमुच ही गुरुदेव हमपर प्रसन्न हुए हैं और हम लोगोंको मनवांछित भोग देना चाहते हैं ॥१४३॥ हे धरणेन्द्र, इस विषयमें भगवान्‌का जो सत्य मत हो वह हम लोगोंसे कहिए क्योंकि भगवान्‌के मत अर्थात् सम्मतिके बिना हमें भोगोपभोग

---

१. अम्बुदात् पयो वाञ्छति य स कोऽप्याग्रहोऽस्ति । २. जानीत । ३ वर्तनम् । ४. वाञ्छन्तीति यत् । ५. महाशयता । 'महेच्छस्तु महाशय' इत्यभिधानात् । ६. भवत । ७. युवयोः । ८. जानीतम् । ९. आज्ञापितः । १० नियोजय । ११ कारणेन । १२. तत् कारणात् । १३. पृष्ट्वा । १४. जगत्कर्तारम् । १५. आवयोः । १६. दातुमिच्छति ।

इत्युक्तवन्तौ प्रत्याय्य[1] सोपायं फणिनां पतिः । भगवन्तं प्रणम्याशु युवानावनयत् समम् ॥१४५॥
स ताभ्यां फणिनां भर्ता रेजे गगनमुत्पतन् । युतस्तापप्रकाशाभ्यामिव भास्वान् महोदयः ॥१४६॥
बभौ फणिकुमाराभ्यामिव ताभ्यां समन्वितः । प्रश्रयप्रशमाभ्यां वा[2] युक्तो योगीव योगिराट् ॥१४७॥
स व्योममार्गमुत्पत्य विमानमधिरोप्य तौ । द्राक् प्राप विजयार्द्धाद्रिं भूदेव्या हसितोपमम् ॥१४८॥
स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवम् । मध्ये भारतवर्षस्य स्थितं तन्मानदण्डवत् ॥१४९॥
विराजमानमुत्तुङ्गैर्नानारत्नांशुचित्रितैः । [3]मकुटैरिव कूटैः स्वैः स्वैरमारुद्धखाङ्गणैः ॥१५०॥
निपतन्निर्झरारावैरापूरितगुहामुखम् । [4]व्याजुहूषुमिवात्यन्तं[5] विश्रान्त्यै सुरदम्पतीन् ॥१५१॥
महद्भिरचलोदग्रैः[6] संचरद्भिरितोऽमुतः । घनाघनैर्घनध्वानैः[7] विष्वगारुद्धमेखलम् ॥१५२॥
स्फुरच्चामीकरप्रस्थैर्दीप्तैरुष्णांशुरश्मिभिः । ज्वलद्दावानलाशङ्कां जनयन्तं नभोजुषाम् ॥१५३॥
क्षरद्भिः शिखरोपान्ताद्[8]व्यायताद् गुरुनिर्झरैः[9] । घनैर्जर्जरितैरारादारब्ध[10]बहुनिर्झरम् ॥१५४॥
[11]नूनमामोदलोभेन प्रोत्फुल्ला वनवल्लरीः । विनीलैरंशुकैर्विष्वक् विदधानमलिच्छलात् ॥१५५॥

की सामग्री इष्ट नहीं है ॥१४४॥ इस प्रकार कहते हुए कुमारोंको युक्तिपूर्वक विश्वास दिलाकर धरणेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर उन्हें शीघ्र ही अपने साथ ले गया ॥१४५॥ महान् ऐश्वर्यको धारण करनेवाला वह धरणेन्द्र उन दोनों कुमारोंके साथ आकाशमें जाता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो ताप और प्रकाशके साथ उदित होता हुआ सूर्य ही हो ॥१४६॥ अथवा जिस प्रकार विनय और प्रशम गुणसे युक्त हुआ कोई योगिराज सुशोभित होता है उसी प्रकार नागकुमारोंके समान उन दोनों कुमारोंसे युक्त हुआ वह धरणेन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥१४७॥ वह दोनों राजकुमारोंको विमानमें बैठाकर तथा आकाशमार्गका उल्लंघन कर शीघ्र ही विजयार्ध पर्वतपर जा पहुँचा, उस समय वह पर्वत पृथ्वीरूपी देवीके हास्यकी उपमा धारण कर रहा था ॥१४८॥

वह विजयार्ध पर्वत अपने पूर्व और पश्चिमकी कोटियोंसे लवण समुद्रमें अवगाहन (प्रवेश) कर रहा था और भरतक्षेत्रके बीचमें इस प्रकार स्थित था मानो उसके नापनेका एक दण्ड ही हो ॥१४९॥ वह पर्वत ऊँचे, अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र और अपनी इच्छानुसार आकाशांगणको घेरनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो मुकुटोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥१५०॥ पड़ते हुए निर्झरोंके शब्दोंसे उसकी गुफाओंके मुख आपूरित हो रहे थे और उनमें ऐसा मालूम होता था मानो अतिशय विश्राम करनेके लिए देव-देवियोंको बुला ही रहा हो ॥१५१॥ उसकी मेखला अर्थात् बीचका किनारा पर्वतके समान ऊँचे, यहाँ-वहाँ चलते हुए और गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े-बड़े मेघों-द्वारा चारों ओरसे ढका हुआ था ॥१५२॥ देदीप्यमान सुवर्णके बने हुए और सूर्यकी किरणोंसे सुशोभित अपने किनारोंके द्वारा वह पर्वत देव और विद्याधरोंको जलते हुए दावानलकी शंका कर रहा था ॥१५३॥ उस पर्वतके शिखरोंके समीप भागसे जो लम्बी धारवाले बड़े-बड़े झरने पड़ते थे उनसे मेघ जर्जरित हो जाते थे और उनसे उस पर्वतके समीप ही बहुत-से निर्झरने बनकर निकल रहे थे ॥१५४॥ उस पर्वतपरके वनोंमें अनेक लताएँ फूली हुई थीं और उनपर भ्रमर बैठे हुए थे, उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो सुगन्धिके लोभसे वह उन वनलताओं-

---

१ विश्वासं नीत्वा । २ अथवा । ३ मुकुटै–अ०, प० । ४ व्याह्वातुमिच्छुम् । ५ नितान्तं प्रसन्नम् । ६ पर्वतवदुन्नतैः । ७ बहलनिस्वनैः । ८ आगतात् । निर्गतादित्यर्थः । –द्व्यायतै–अ०, म०, ल० । ९ स्थूलजलप्रवाहैः । १० निर्मै । ११ इव ।

लताभवनविश्रान्तकिन्नरोद्गीतिनिःस्वनैः । सदा रम्यान् वनोद्देशान् दधानमधिमेखलम्[1] ॥१५६॥
लतागृहान्त[2]राबद्धदोलारूढन[3]भश्चरीः । वनाधिदेवताशङ्क्या[4] वहन्तं वनवीथिषु ॥१५७॥
संचरत्खचरीवक्त्रपङ्कजैः [5]प्रतिबिम्बितैः । प्रोद्वहन्तं महानीलस्थलीरूढाब्जिनी[6] श्रियः ॥१५८॥
विचरत्खचरीचारुचरणालक्तकारुणाः । कृतार्चा[7] इव रक्ताब्जैर्दधतं स्फाटिकीः स्थलीः ॥१५९॥
विदूरलङ्घिनो धीरध्वनितानमलच्छवीन् । निर्झरानिव बिभ्राणं मृगेन्द्रानधिकन्दरम्[8] ॥१६०॥
[9]अध्युपत्यकमारूढप्रणयान् सुरदम्पतीन् । सम्भोगान्ते कृतातोद्य विनोदान् दधत मिथः ॥१६१॥
श्रेणीद्वयं वितत्य[10] स्वं[11] पक्षद्वयमिवायतम् । विद्याधराधिवसतो[12] धारयन्तं पुरीः[13] पराः ॥१६२॥
[14]अध्यधित्यकमाबद्धकेतनैरिव निर्झरान् । दधद्भिः शिखरैः खाग्रं लङ्घयन्तमिवोच्छ्रितैः ॥१६३॥
अच्छिन्नधारमाच्छे[15]दाश्रित्रैः शिखरस्रुतैः । जगन्नाडीमिवोन्मातुं विधृतायतदण्डकम् ॥१६४॥
चन्द्रकान्तोपलैश्चन्द्रकरामर्शादनुक्षपम्[16] । क्षरद्भिर्दावभीत्येव सिञ्चन्तं स्वतटद्रुमान् ॥१६५॥

को चारों ओरसे काले वस्त्रोंके द्वारा ढक ही रहा हो ॥१५५॥ वह पर्वत अपनी मेखलापर ऐसे प्रदेशोंको धारण कर रहा था जो कि लताभवनोंमें विश्राम करनेवाले किन्नर देवोंके मधुर गीतोंके शब्दोंसे सदा सुन्दर रहते थे ॥१५६॥ उस पर्वतपर वनकी गलियोंमें लतागृहोंके भीतर पड़े हुए झूलोंपर झूलती हुई विद्याधरियाँ वनदेवताओंके समान मालूम होती थीं ॥१५७॥ उस पर्वतपर जो इधर-उधर घूमती हुई विद्याधरियोंके मुखरूपी कमलोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीलमणिकी जमीनमें जमी हुई कमलिनियोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥१५८॥ वह पर्वत स्फटिकमणिकी बनी हुई उन प्राकृतिक भूमियोंको धारण कर रहा था जो कि इधर-उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके सुन्दर चरणोंमें लगे हुए महावरसे लाल वर्ण होनेके कारण ऐसी जान पड़ती थीं मानो लाल कमलोंसे उनकी पूजा ही की गयी हो ॥१५९॥ वह पर्वत अपनी गुफाओंमें निर्झरनोंके समान सिंहोंको धारण कर रहा था क्योंकि वे सिंह निर्झरनोंके समान ही विदूरलंघी अर्थात् दूर तक लाँघनेवाले, गम्भीर शब्दों-से युक्त और निर्मल कान्तिके धारक थे ॥१६०॥ वह पर्वत अपनी उपत्यका अर्थात् समीपकी भूमिपर सदा ऐसे देव-देवियोंको धारण करता था जो परस्पर प्रेमसे युक्त थे और सम्भोग करनेके अनन्तर वीणा आदि बाजे बजाकर विनोद किया करते थे ॥१६१॥ उस पर्वतकी उत्तर और दक्षिण ऐसी दो श्रेणियाँ थीं जो कि दो पंखोंके समान बहुत ही लम्बी थीं और उन श्रेणियोंमें विद्याधरोंके निवास करनेके योग्य अनेक उत्तम-उत्तम नगरियाँ थीं ॥१६२॥ उस पर्वतके शिखरोंपर जो अनेक निर्झरने बह रहे थे उनसे वे शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके ऊपरी भागपर पताकाएँ ही फहरा रही हों और ऐसे-ऐसे ऊँचे शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो आकाशके अग्रभागका उल्लंघन ही कर रहा हो ॥१६३॥ शिखरसे लेकर जमीन तक जिनकी अखण्ड धारा पड़ रही है ऐसे निर्झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो लोकनाडीको नापनेके लिए उसने एक लम्बा दण्ड ही धारण किया हो ॥१६४॥ चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे जिनसे प्रत्येक रात्रिको पानीकी धारा बहने लगती है ऐसे चन्द्रकान्तमणियों-के द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने किनारेके वृक्षोंको ही सींच

---

१. श्रेण्याम् । २. मध्यरचितप्रेङ्खलाऽधिरूढ । ३ दोलारूढा नभ- अ०, प० । ४. सदृशा. ।
५. प्रतिबिम्बकैः अ०, म०, ल०, स० । ६. धृत । ७. कृतोपहाराः । ८. कन्दरे तटे । ९ आसन्नभूमो ।
उपत्यका अद्रेरासन्ना भूमि. । १० विस्तृत्य प्रसार्येत्यर्थ । ११. आत्मीयम् । १२. अधिवास । १३. पुरीवरा
व० । १४. सानुमध्ये । १५. आ अवधे. । आ भूमिभागादित्यर्थ । १६ रात्रौ ।

शशिकान्तोपलैरिन्दुं तारका कुमुदोत्करैः । [1]उडूनि निर्झरच्छेदैः [2]न्यक्कृत्येवोच्चकैः स्थितम् ॥१६६॥
सितैर्घनैस्तटी शुभ्रः श्रयद्भिरनिलाहतैः [3]। कृतोपचयमारूढवना [4]भोगैर्घनात्यये ॥१६७॥
प्रोत्तुङ्गो मेरुरेकान्तान्नैसमद्धस्स [5]धृतायति: [6]। इति तोषादिवोन्मुक्त [7]प्रहासं निर्झरारवैः ॥१६८॥
सुविशुद्धोऽहमामूलादाश्रृङ्गं रजतोच्चय [8]। शुद्धाः कुलाद्रयो नैवमितीवाविष्कृतोन्नतिम् ॥१६९॥
खचरैः सह संवन्धाद् गंगासिन्ध्वोरधः स्थितेः । जित्वेव [9]कुलकुत्कीलान् बिभ्राणं विजयार्द्धताम् [10]॥१७०॥
अचलस्थितिमुत्तुङ्गं [11]शुद्धिभाजं जगद्गुरुम् [12]। जिनेन्द्रमिव नाकीन्द्रैः शश्वदाराध्यमादरात् ॥१७१॥
[13]अक्षरत्वादभेद्यत्वादलङ्घ्यत्वान्महोन्नतेः । गुरुत्वाच्च जगद्धातुरा [14]तन्वानमनुक्रियाम् [15]॥१७२॥

रहा हो ॥१६५॥ वह पर्वत चन्द्रकान्तमणियोसे चन्द्रमाको, कुमुदोके समूहसे ताराओंको और निर्झरनोंके छींटोंसे नक्षत्रोंको नीचा दिखाकर ही मानो बहुत ऊँचा स्थित था ॥१६६॥ शरद् ऋतुमे जब कभी वायुसे टकराये हुए सफेद बादल वन-प्रदेशोंको व्याप्त कर उसके सफेद किनारोंपर आश्रय लेते थे तब उन बादलोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो कुछ बढ गया हो ॥१६७॥ उस पर्वतपर जो निर्झरनोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानो सुमेरु पर्वत केवल ऊँचा ही है हमारे समान लम्बा नहीं है इसी सन्तोषसे मानो जोरका शब्द करता हुआ हँस रहा हो ॥१६८॥ मै बहुत ही शुद्ध हूँ और जड़से लेकर शिखर तक चाँदी-चाँदीका बना हुआ हूँ, अन्य कुलाचल मेरे समान शुद्ध नहीं हैं, यह समझकर ही मानो उसने अपनी ऊँचाई प्रकट की थी ॥१६९॥ उस पर्वतका विद्याधरोंके साथ सदा संसर्ग रहता था और गंगा तथा सिन्धु नामकी दोनों नदियाँ उसके नीचे होकर बहती थीं। इन्हीं कारणोंसे उसने अन्य कुलाचलोंको जीत लिया था तथा इसी कारणसे वह विजयार्ध इस सार्थक नामको धारण कर रहा था। भावार्थ–अन्य कुलाचलोंपर विद्याधर नहीं रहते हैं और न उनके नीचे गंगा सिन्धु ही बहती हैं बल्कि हिमवत् नामक कुलाचलके ऊपर बहती है। इन्हीं विशेषताओंसे मानो उसने अन्य कुलाचलोंपर विजय प्राप्त कर ली थी और इस विजयके कारण ही उसका विजयार्ध (विजय+आ+ऋद्धः) ऐसा सार्थक नाम पडा था ॥१७०॥ इन्द्र लोग निरन्तर उस पर्वतकी जिनेन्द्रदेवके समान आराधना करते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अचल स्थित हैं अर्थात् निश्चल मर्यादाको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अचल स्थित था अर्थात् सदा निश्चल रहनेवाला था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव उत्तुङ्ग अर्थात् उत्तम हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी उत्तुङ्ग अर्थात् ऊँचा था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार शुद्धिभाक् हैं अर्थात् राग, द्वेष आदि कर्म विकारसे रहित होनेके कारण निर्मल हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी शुद्धिभाक् था अर्थात् धूलि, कंटक आदिसे रहित होनेके कारण स्वच्छ था और जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव जगत्के गुरु हैं इसी प्रकार वह पर्वत भी जगत्मे श्रेष्ठ अथवा उसका गौरव स्वरूप था ॥१७१॥ अथवा वह पर्वत जगत्के विधातात्मा जिनेन्द्रदेवका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अक्षर अर्थात् विनाशरहित है उसी प्रकार वह पर्वत भी प्रलय आदिके न पड़नेसे विनाशरहित था, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव अभेद्य हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी अभेद्य था अर्थात् वज्र आदि

---

१ नक्षत्राणि। २ अधःकृत्य। ३ –रनिलाहतैः। ४ विस्तार। ५. सर्वथा। ६ वृतायाम। ७ कृतप्रहसनम्। ८ रजतपर्वत। ९. कुलपर्वतान्। १० विजयेन ऋद्धः प्रवृद्धः विजयार्द्ध तस्य भावस्ताम्। पृषोदरादिगणत्वात्। ११ नैर्मल्य, पक्षे विशुद्धपरिणाम। १२ जगति गुरुम्, पक्षे त्रिजगद्गुरुम्। १३ अनश्वरत्वात्। १४. जिनेश्वरस्य। १५ अनुकृतिम्।

[1]दिग्जयप्रसवागारं दधानं [2]तद् गुहाद्वयम् । सुसंवृतं[3] सुगुप्तं च गूढान्तर्गर्भनिर्गमम् ॥१७३॥

कूटैर्नवभिरुत्तुङ्गैर्भूदेव्या [4]मकुटोपमैः । विराजमानमानीलवनालीपरिधानकम्[5] ॥१७४॥

[6]पृथुं पञ्चाशतं मूले तदर्धं च समुच्छ्रितम् । [7]तत्तुर्यमवगाढं[8] गां[9] षिड्भयोजनमानतः ॥१७५॥

महीतलाद्दशोत्पत्य [10] त्रिंशद्योजनविस्तृतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं दशोत्पत्य दशविस्तृतमग्रतः ॥१७६॥

क्वचिदुन्नतमाविम्नं क्वचित् समतलं क्वचित् । [11]क्वचिदुच्चावचग्रावस्थपुटं दधत् तटम् ॥१७७॥

क्वचिद् [12]भ्रष्णकरोत्तप्तरत्नग्रावाग्रगोचरात् । अपसर्पत् कपिव्रातकृतकोलाहलाकुलम् ॥१७८॥

क्वचित् कण्ठीरवारावत्रस्तानेकपयूथपम् । [13]कलकण्ठीकलालापवाचालितवनं क्वचित् ॥१७९॥

क्वचिच्छिखीमुखो[14]द्गीर्णकेकारावविभीषितैः[15] । सर्पैः सत्रासमारब्ध[16]कान्तारान्तविलान्तरम् ॥१८०॥

से उसका भेदन नहीं हो सकता था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अलंघ्य है अर्थात् उनके सिद्धान्तों-का कोई खण्डन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह पर्वत भी अलंघ्य अर्थात् लाँघनेके अयोग्य था, जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार महोन्नत अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा था और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार जगत्‌के गुरु हैं उसी प्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ अथवा भारी था ॥१७२॥ वह विजयार्ध, चक्रवर्तीके दिग्विजय करनेके लिए प्रसूतिगृहके समान दो गुफाएँ धारण करता था क्योंकि जिस प्रकार प्रसूतिगृह ढका हुआ और सुरक्षित होता है उसी प्रकार वे गुफाएँ भी ढकी हुई और देवों-द्वारा सुरक्षित थीं तथा जिस प्रकार प्रसूतिगृहके भीतरका मार्ग छिपा हुआ होता है उसी प्रकार उन गुफाओंके भीतर जानेका मार्ग भी छिपा हुआ था ॥१७३॥ वह पर्वत ऊँचे-ऊँचे नौ कूटोंसे शोभायमान था जो कि पृथिवी देवीके मुकुटके समान जान पड़ते थे और उसके चारों ओर जो हरे-हरे वनोंकी पंक्तियाँ शोभायमान थीं वे उस पर्वतके नील वस्त्रोंके समान मालूम होती थीं ॥१७४॥ वह बड़े योजनके प्रमाणसे मूल भागमें पचास योजन चौड़ा था, पचीस योजन ऊँचा था और उससे चौथाई अर्थात् छह सौ पचीस योजन पृथ्वीके नीचे गड़ा हुआ था ॥१७५॥ पृथ्वीतलसे दस योजन ऊपर जाकर वह तीस योजन चौड़ा था और उससे भी दस योजन ऊपर जाकर अग्रभागमें सिर्फ दस योजन चौड़ा रह गया था ॥१७६॥ इसका किनारा कहीं ऊँचा था, कहीं नीचा था, कहीं सम था और कहीं ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे विषम था ॥१७७॥ कहीं-कहीं उस पर्वतपर लगे हुए रत्नमयी पाषाण सूर्यकी किरणोंसे बहुत ही गरम हो गये थे इसलिए उसके आगेके प्रदेशसे वानरोंके समूह हट रहे थे जिससे वह पर्वत उन वानरों-द्वारा किये हुए कोलाहलसे आकुल हो रहा था। ॥१७८॥ उस पर्वतपर कहीं तो सिंहोंके शब्दोंसे अनेक हाथियोंके झुण्ड भयभीत हो रहे थे और कहीं कोयलोंके मधुर शब्दोंसे वन वाचालित हो रहे थे ॥१७९॥ कहीं मयूरोंके मुखसे निकली हुई केका वाणीसे भयभीत हुए सर्प बड़े दुःखके साथ वनोंके भीतर अपने-अपने बिलोंमें घुस

---

१. दिग्जयसूतिकागृहम् । २. प्रसिद्धम् । ३. सुप्रच्छन्नम् । ४ मुकुटो- अ०, प०, म०, ल० । ५. अधोऽशुकम् । ६ विष्कम्भमित्यर्थः । ७. तदुन्नतेश्चतुर्थांशभागम्, क्रोशाधिकषड्योजनमिति यावत् । ८. प्रविष्टम् । ९ पृथिवीम् । १०. दशयोजनमुत्क्रम्य । ११ नानाप्रकारपाषाणैर्विषमोन्नतम् । १२. सूर्यकिरण-संतप्तसूर्यकान्तशिलाग्रप्रदेशात् । १३. कोकिला । १४ मयूरमुखोद्भूत । १५. भीति नीतैः । १६. मामृष्ट इति ... पुस्तकयोः पाठान्तरम् ।

चामीकरमय[1]प्रस्थच्छाया संश्रयिणीर्मृगीः । हिरण्मयीरिवारूढ[2]तच्छाया दधतं क्वचित् ॥१८१॥
क्वचिद् विचित्ररत्नांशुरचितेन्द्रधनुर्लताम् । दधानमनिलोद्धूतां ततां कल्पलतामिव ॥१८२॥
क्वचिच्च विचरद्दिव्यकामिनीनूपुरारवैः । रमणीयसरस्तीरं हंसीविरुतमूर्च्छितैः[3] ॥१८३॥
क्वचिद्[4]विचतुरक्रीडामाचरद्भिरनेकपैः । सलिलान्दोलितालानैरालोलितवनद्रुमम् ॥१८४॥
क्वचित् पुलिनसंसुप्तसारसीरुतमूर्च्छितैः[5] । कलहंसीकलक्वाणैर्वाचालितसरोजलम् ॥१८५॥
क्वचित् क्रुद्धाहि[6]सूत्कारैः श्वसन्तमिव हेलया । क्वचिच्च चमरीयूथैर्हसन्तमिव निर्मलैः ॥१८६॥
गुहानिलैः क्वचिद्व्यक्तमुच्छ्वसन्तमिवायतम्[7] । क्वचिच्च पवनाधूतैर्घूर्णन्तमिव[8] पादपैः ॥१८७॥
निभृत[9] चिन्तयन्तीभिरिष्टकामुकसंगमम् । [10]विजने [11]खचरस्त्रीभिः मूकीभूतमिव क्वचित् ॥१८८॥
क्वचिच्च [12]चटुलोड्डच्च[13]च्चञ्चरीककलस्वनैः । [14]किमप्यारब्धसंगीतमिव व्यायतमूर्च्छनम् ॥१८९॥
कदम्बामोदसंवादिसुरभिश्वसितैर्मुखैः । तरुणार्ककरस्पर्शाद् विबुधैरिव पङ्कजैः ॥१९०॥

रहे थे ॥१८०॥ कहीं उस पर्वतपर सुवर्णमय तटोंकी छायामें हरिणियाँ बैठी हुई थीं उनपर उन सुवर्णमय तटोंकी कान्ति पड़ती थी जिससे वे हरिणियाँ सुवर्णकी बनी हुई-सी जान पड़ती थीं ॥१८१॥ कहीं चित्र-विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी लता बन रही थी और वह ऐसी मालूम होती थी मानो वायुसे उड़कर चारों ओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥१८२॥ कहीं देवांगनाएँ विहार कर रही थीं, उनके नूपुरोंके शब्द हंसिनियोंके शब्दोंसे मिलकर बुलन्द हो रहे थे और उनसे तालाबोंके किनारे बड़े ही रमणीय जान पड़ते थे ॥१८३॥ कहीं लीला मात्रमें अपने खूँटोंको उखाड़ देनेवाले बड़े-बड़े हाथी चतुराईके साथ एक विशेष प्रकारकी क्रीड़ा कर रहे थे और उससे उस पर्वतपर-के वनोंके वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥१८४॥ कहीं किनारेपर सोती हुई सारसियोंके शब्दोंमें कलहंसिनियों (बतख) के मनोहर शब्द मिल रहे थे और उनसे तालाबका जल शब्दायमान हो रहा था ॥१८५॥ कहीं क्रुपित हुए सर्प शू-शू शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो क्रीड़ा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो, और कहीं निर्मल सुरागायोंके झुण्ड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो ॥१८६॥ कहीं गुफासे निकलती हुई वायुके द्वारा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो प्रकट रूपसे लम्बी साँस ही ले रहा हो और कहीं पवनसे हिलते हुए वृक्षोंसे ऐसा मालूम होता था मानो वह झूम ही रहा हो ॥१८७॥ कहीं उस पर्वतपर एकान्त स्थानमें बैठी हुई विद्याधरोंकी स्त्रियाँ अपने इष्टकामी लोगोंके समागमका खूब विचार कर रही थीं जिससे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो चुप ही हो रहा हो ॥१८८॥ और कहीं चंचलतापूर्वक उड़ते हुए भौरोंके मनोहर शब्द हो रहे थे और उनसे वह पर्वत ऐसा मालूम होता था मानो उसने जिसकी आवाज बहुत दूर तक फैल गयी है ऐसे किसी अलौकिक संगीतका ही प्रारम्भ किया हो ॥१८९॥

उस पर्वतपर-के वनोंमें अनेक तरुण विद्याधरियाँ अपने-अपने तरुण विद्याधरोंके साथ विहार कर रही थीं। उन विद्याधरियोंके मुख कदम्ब पुष्पकी सुगन्धिके समान सुगन्धित श्वाससे सहित थे और जिस प्रकार तरुण अर्थात् मध्याह्नके सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमल

---

१. सानु । २ धृतचामीकरच्छाया । ३. मिश्रितैः । ४. विशेषेण चतुर । ५. ध्वनिसम्मिश्रैः । ६.–फूत्कारैः प० । –सूत्कारैः म०, ल० । ७ दीर्घं यथा भवति तथा । ८ भ्रमन्तम् । ९ संवृतावयवं यथा भवति तथा । १०. एकान्तस्थाने । ११. खेचर–म०, ल० । १२. श्लाघ्य । १३. उद्गच्छन् । १४. ईषत् ।

नेत्रैर्मधुमदाताम्रैरिन्दीवरदलायतैः[1] । मदनस्यैव जैत्रास्त्रैः[2] सालसापाङ्गवीक्षितैः ॥१९१॥

[3]अरालैरालिनीलाभैः केशैर्गतिविसंस्थुलैः[4] । विस्रस्तकबरीबन्धवि[5]गलत्पुष्पदामकैः ॥१९२॥

जितेन्दुकान्तिभिः कान्तैः कपोलैरलकाङ्कितैः[6] । मदनस्य [7]सुसंमृष्टैरालेख्य[8]फलकैरिव ॥१९३॥

अधरैः पक्वबिम्बाभैः स्मितांशुभिरनुद्रुतैः[9] । सिक्तैर्जलकणैर्द्वित्रैरिव[10] विद्रुमभङ्गकैः[11] ॥१९४॥

परिणाहिभिरुत्तुङ्गैः[12] सुवृत्तैस्तनमण्डलैः । स्रस्तांशुकस्फुटालक्ष्यलसन्नखपदाङ्कनैः[13] ॥१९५॥

[14]हरिचन्दनसंमृष्टैर्हारज्योत्स्नोपहारितैः । कुचनर्तनरङ्गाभैः [15]प्रेक्षणीयैरुरोगृहैः ॥१९६॥

नखोज्ज्वलैस्ताम्रतलैः सलीलान्दोलितैर्भुजैः । सपुष्पपल्लवोल्लासिलताविटपकोमलैः[16] ॥१९७॥

तनूदरैः कृशैर्मध्यैस्त्रिवलीभङ्गशोभिभिः । नाभिवल्मीकनिरस[17]त्पद्रोमालीकालभोगिभिः ॥१९८॥

लसद्दुकूलवसनैर्विपुलैर्जघनस्थलैः । सकाञ्चीबन्धनैः कामनृपकारालयायितैः ॥१९९॥

खिल जाते हैं उसी प्रकार अपने तरुण पुरुषरूपी सूर्यके हाथोंके स्पर्शसे खिले हुए थे–प्रफुल्लित थे। उनके नेत्र मद्यके नशासे कुछ-कुछ लाल हो रहे थे, वे नील कमलके दलके समान लम्बे थे, आलस्यके साथ कटाक्षावलोकन करते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो कामदेवके विजयशील अस्त्र ही हों ॥१९०–१९१॥ उनके केश भी कुटिल थे, भ्रमरोंके समान काले थे, चलने-फिरनेके कारण अस्त-व्यस्त हो रहे थे और उनकी चोटीका बन्धन भी ढीला हो गया था जिससे उसपर लगी हुई फूलोंकी मालाएँ गिरती चली जाती थीं। उनके कपोल भी बहुत सुन्दर थे, चन्द्रमाकी कान्तिको जीतनेवाले थे और अलक अर्थात् आगेके सुन्दर काले केशोंसे चिह्नित थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो अच्छी तरह साफ किये हुए कामदेवके लिखनेके तख्ते ही हों। उनके अधरोष्ठ पके हुए बिम्बफलके समान थे और उनपर मन्द हास्यकी किरणें पड़ रही थीं जिससे वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो जलकी दो-तीन बूँदोंसे सींचे गये मूँगाके टुकड़े ही हों। उनके स्तनमण्डल विशाल ऊँचे और बहुत ही गोल थे, उनका वस्त्र नीचेकी ओर खिसक गया था इसलिए उनपर सुशोभित होनेवाले नखोंके चिह्न साफ-साफ दिखाई दे रहे थे। उनके वक्षःस्थलरूपी घर भी देखने योग्य–अतिशय सुन्दर थे क्योंकि वे सफेद चन्दनके लेपसे साफ किये गये थे, हाररूपी चाँदनीके उपहारसे सुशोभित हो रहे थे और स्तनोंके नाचनेकी रंगभूमिके समान जान पड़ते थे। जिनके नख उज्ज्वल थे, हथेलियाँ लाल थीं, और जो लीलासहित इधर-उधर हिलाई जा रही थीं। उनकी भुजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो फूल और नवीन कोपलोंसे शोभायमान किसी लताकी कोमल शाखाएँ ही हों। उनका उदर बहुत कृश था, मध्य भाग पतला था और वह त्रिवलिरूपी तरंगोंसे सुशोभित हो रहा था। उनकी नाभिमें-से जो रोमावली निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो नाभिरूपी बामीसे रोमावलीरूपी काला सर्प ही निकल रहा हो। उनका जघन स्थल भी बहुत बड़ा था, वह रेशमी वस्त्रसे सुशोभित था और करधनीसे सहित था इसलिए ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी राजाका कारागार ही हो। उन विद्याधरियोंके चरण लाल कमलके समान थे, वे डगमगाती

---

१. 'दलायितैः', इत्यपि क्वचित् पाठः। २. आलस्येन सहित। ३. वक्रैः। ४. चलद्भिः। ५. श्लथ। ६. –'रलकाञ्चितैः' इत्यपि पाठः। ७. सम्मार्जितैः। ८. लेखितुं योग्य। ९. अनुगतैः। १०. द्वौ वा त्रयो वा द्वित्रा तैः। ११. प्रवालखण्डकैः। १२. विशालवद्भिः। १३. नखरेखालक्ष्मैः। १४ श्रीखण्डद्रवसम्मार्जितैः, हरिचन्दनानुलिप्तैरित्यर्थः। १५. दर्शनीयैः। १६ शाखा। १७. निर्गच्छत्।

स्खलद्गतिवशादुच्चैरारणन्मणिनूपुरैः । चरणैररुणाम्भोजैरिव व्यक्तालिझङ्कृतैः ॥२००॥
सलीलमन्थरैर्यातैः[2] जितहंसीपरिक्रमैः[3] । श्वसितैः सकुचोत्कम्पैर्व्यञ्जितान्तर्गतक्लमैः[4] ॥२०१॥
समं युवभिरारूढनवयौवनकर्कशाः । विचरन्तीर्वनान्तेषु दधान खचरीः क्वचित् ॥२०२॥
अलकालीलसद्भृङ्गास्तन्वीः कोमलविग्रहाः । लतानुकारिणीरूढस्मितपुष्पोद्गमश्रिय ॥२०३॥
प्रसूनरचिताकल्पाः वतंसीकृतपल्लवाः । कुसुमावचये[8] सक्ताः[9] सञ्चरन्तीरितस्ततः ॥२०४॥
वनलक्ष्मीरिव व्यक्तलक्षणा वनजेक्षणाः । धारयन्तमनूद्यानं[10] विद्याधरवधूः क्वचित् ॥२०५॥
तमित्यद्रीन्द्रमुद्भूतमाहात्म्यं भुवनातिगम् । जिनाधिपमिवासाद्य कुमारौ[11] धृतिमापतुः ॥२०६॥

हरिणीच्छन्दः

धुततटवनाभोगा भागीरथी[12] तटवेदिका परिसर[13] सरोवीची[14] भेदादुपोढपयःकणाः ।
वनकरिकटादाकृष्टालिव्रजा मरुतो गिरेरुपवनभुवो[15] यूनोरध्वश्रमं[16] व्यपनिन्यिरे ॥२०७॥

हुई चलती थीं इसलिए उनके मणिमय नूपुरोंसे रुनझुन शब्द हो रहा था और जिससे ऐसा मालूम होता था मानो उनके चरणरूपी लाल कमल भ्रमरोंकी झंकारसे झङ्कृत ही हो रहे हों। वे विद्याधरियाँ लीलासहित धीरे-धीरे जा रही थीं, उनकी चालने हंसिनियोंकी चालको भी जीत लिया था, चलते समय उनका श्वास भी चल रहा था जिससे उनके स्तन कम्पायमान हो रहे थे और उनके अन्तःकरणका खेद प्रकट हो रहा था। इस प्रकार प्राप्त हुए नव यौवनसे सुदृढ विद्याधरियाँ अपने तरुण प्रेमियोंके साथ उस पर्वतके वनोंमें कहीं-कहींपर विहार कर रही थीं ॥१९२-२०२॥ वह पर्वत अपने प्रत्येक वनमें कहीं-कहीं अकेली ही फिरती हुई विद्याधरियोंको धारण कर रहा था, वे विद्याधरियाँ ठीक लताके समान जान पड़ती थीं क्योंकि जिस प्रकार लताओंपर भ्रमर सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उनके मस्तकपर भी केशरूपी भ्रमर शोभायमान थे, लताएँ जिस प्रकार पतली होती हैं उसी प्रकार वे भी पतली थीं, लताएँ जिस प्रकार कोमल होती हैं उसी प्रकार उनका शरीर भी कोमल था और लताएँ जिस प्रकार पुष्पोंकी उत्पत्तिसे सुशोभित होती हैं उसी प्रकार वे भी मन्द हास्यरूपी पुष्पोत्पत्तिकी शोभासे सुशोभित हो रही थीं। उन्होंने फूलोंके आभूषण और पत्तोंके कर्णफूल बनाये थे तथा वे इधर-उधर घूमती हुई फूल तोड़नेमें आसक्त हो रही थीं। उनके नेत्र कमलोंके समान थे तथा और भी प्रकट हुए अनेक लक्षणोंसे वे वनलक्ष्मीके समान मालूम होती थीं ॥२०३-२०५॥ इस प्रकार जिसका माहात्म्य प्रकट हो रहा है और जो तीनों लोकोंका अतिक्रमण करनेवाला है ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान उस गिरिराजको पाकर वे नमि, विनमि राजकुमार अतिशय सन्तोषको प्राप्त हुए ॥२०६॥ जिसने तटवर्ती वनोंके विस्तारको कम्पित किया है, जिसने गङ्गा नदीके तटसम्बन्धी वेदीके समीपवर्ती तालाबकी लहरोंको भेदन कर अनेक जलकी बूँदें धारण कर ली हैं और जिसने अपनी सुगन्धिके कारण वनके हाथियोंके गण्डस्थलसे भ्रमरोंके समूह अपनी ओर खींच लिये हैं ऐसे उस पर्वतके उपवनोंमें उत्पन्न हुए वायुने उन दोनों तरुण कुमारोंके

---

१ मन्दैः । २ गमनैः । ३ पदन्यासैः । ४ व्यक्तीकृत । 'व्यञ्जिताङ्गतक्लमैः' इत्यपि पाठः । ५ श्रमैः । ६. प्रकटीभूत । ७ 'ललद्' इत्यपि क्वचित् पाठः । चलद् । ८ कुसुमोपचये । ९ आसक्ताः । १०. उद्यानमुद्यानं प्रति । ११ सन्तोषम् । १२. गङ्गा । १३ पर्यन्तभूः परिसरः । १४. भेदनात् । १५. उपवने जाताः । १६. परिहरन्ति स्म ।

मालिनीच्छन्दः

मदकलकलकण्ठी डिण्डिमारावरम्या
मधुरविरुतभृङ्गीमङ्गलोद्गीतिहृद्याः ।
परिधृतकुसुमार्घाः संपतद्भिर्मरुद्भिः
फणिपतिमिव दूरात् प्रत्युदीयु[1]र्वनान्ताः ॥२०८॥
रजतगिरिमहीन्द्रो नातिदूरादुदारं
प्रसवभवनमेकं विश्वविद्यानिधीनाम्[2] ।
जिनमिव भुवनान्तर्व्यापि[3]कीर्तिं प्रपश्यन्
अमदमधि[4]मरन्तः[5] सार्द्धमाभ्यां युवाभ्याम् ॥२०९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे धरणेन्द्रविजयार्धोपगमनं नामाष्टादशं पर्व ॥१८॥

मार्गका सब परिश्रम दूर कर दिया था ॥२०७॥ उस पर्वतके वन प्रदेशोंसे प्रचलित हुआ पवन दूर-दूरसे ही धरणेन्द्रके समीप आ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उस पर्वतके वनप्रदेश ही धरणेन्द्रके सम्मुख आ रहे हों क्योंकि वे वनप्रदेश मदोन्मत्त सुन्दर कोयलोंके शब्दरूपी वादित्रोंकी ध्वनिसे शब्दायमान हो रहे थे, भ्रमरियोंके मधुर गुञ्जाररूपी मङ्गलगानोंसे मनोहर थे और पुष्परूपी अर्घ धारण कर रहे थे ॥२०८॥ इस प्रकार जो बहुत ही उदार अर्थात् ऊँचा है, जो समस्त विद्यारूपी खजानोंकी उत्पत्तिका मुख्य स्थान है और जिसकी कीर्ति समस्त लोकके भीतर व्याप्त हो रही है, ऐसे जिनेन्द्रदेवके समान सुशोभित उस विजयार्ध पर्वतको समीपसे देखता हुआ वह धरणेन्द्र उन दोनों राजकुमारोंके साथ-साथ अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२०९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें धरणेन्द्रका विजयार्ध पर्वतपर जाना आदिका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१८॥

---

१. अभिमुखमाययु. । २ विद्याधराणाम् । ३. -व्याप्ति- ब० । ४ अधात् । ५. मनसि ।

एकोनविंश पर्व

अथास्य मेखलामाद्यामवतीर्णः फणीश्वरः । तयोर्व्योमचरेन्द्राणां लोकं[1] व्यावर्णयन् अदीदृशत्[2] ॥१॥

अयं गिरिरसंभूष्णु[3] नूनमूर्ध्वं महत्तया । वितत्य[4] तिर्यगात्मानमवगाढो[5] महार्णवम् ॥२॥

श्रेण्यौ सदानपायिन्यौ भूभृतोऽस्य विराजतः । देव्याविव महाभोग[6]संपन्ने विधृतायती[7] ॥३॥

योजनानि दशोत्पत्य[8] गिरेरस्याधिमेखलम्[9] । विद्याधरनिवासोऽयं भाति स्वर्गैक[10]देशवत् ॥४॥

विद्याधरा विभान्त्यस्मिन् श्रेणीद्वयमधिष्ठिताः[11] । स्वर्गादिव समागत्य कृतवासाः सुधाशनाः[12] ॥५॥

विद्याधराधिवासोऽयं धत्तेऽस्मल्लोकविभ्रमम्[13] । निषेवितो महाभोगैः[14] फणीन्द्रैरिव खेचरैः ॥६॥

[15]पातालस्वर्गलोकस्य स्मरत्यद्य स्मराम्यहम् । नागकन्या इव प्रेक्ष्याः[16] पश्यन् खचरकन्यकाः ॥७॥

नात्र प्रतिभयं[17] तीव्रं स्वचक्रपरचक्रजम् । नेतयो[18] नैव रोगादिबाधाः सन्तीह जातुचित् ॥८॥

अथानन्तर वह धरणेन्द्र उस विजयार्ध पर्वतकी पहली मेखलापर उतरा और वहाँ उसने दोनों राजकुमारोंके लिए विद्याधरोंका वह लोक इस प्रकार कहते हुए दिखलाया ॥१॥ कि ऐसा मालूम होता है मानो यह पर्वत बहुत भारी होनेके कारण इससे अधिक ऊपर जानेके लिए समर्थ नहीं था इसीलिए इसने अपने-आपको इधर-उधर दोनों ओर फैलाकर समुद्रमें जाकर मिला दिया है ॥२॥ यह पर्वत एक राजाके समान सुशोभित है और कभी नष्ट न होनेवाली इसकी ये दोनों श्रेणियाँ महादेवियोंके समान सुशोभित हो रही हैं क्योंकि जिस प्रकार महादेवियाँ महाभोग अर्थात् भोगोपभोगकी विपुल सामग्रीसे सहित होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी महाभोग (महा आभोग) अर्थात् बड़े भारी विस्तारसे सहित हैं और जिस प्रकार महादेवियाँ आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यको धारण करनेवाली होती हैं उसी प्रकार ये श्रेणियाँ भी आयति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाली हैं ॥३॥ पृथिवीसे दस योजन ऊँचा चढ़कर इस पर्वतकी प्रथम मेखलापर यह विद्याधरोंका निवासस्थान है जो कि स्वर्गके एक खण्डके समान शोभायमान हो रहा है ॥४॥ इस पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले विद्याधर ऐसे मालूम होते हैं मानो स्वर्गसे आकर देव लोग ही यहाँ निवास करने लगे हों ॥५॥ यह विद्याधरोंका स्थान हम लोगोंके निवासस्थानका सन्देह कर रहा है क्योंकि जिस प्रकार हम लोगों (धरणेन्द्रों) का स्थान महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े फणोंको धारण करनेवाले नागेन्द्रोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार यह विद्याधरोंका स्थान भी महाभोग अर्थात् बड़े-बड़े भोगोपभोगोंको धारण करनेवाले विद्याधरोंके द्वारा सेवित है ॥ ६ ॥ नागकन्याओंके समान सुन्दर इन विद्याधर कन्याओंको देखता हुआ सचमुच ही आज मैं पातालके स्वर्गलोकका अर्थात् भवनवासियोंके निवासस्थानका स्मरण कर रहा हूँ ॥७॥ यहाँ न तो अपने राजाओंसे उत्पन्न हुआ तीव्र भय है और न शत्रु राजाओंसे उत्पन्न होनेवाला तीव्रभय है, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियाँ भी यहाँ नहीं होती हैं और न यहाँ रोग आदिसे उत्पन्न होनेवाली कभी कोई बाधा ही होती है॥८॥

---

१. कुमारौ । २ वर्णयति स्म । ३ अनाद्यनिधन । ४ विस्तृत्य । ५. प्रविष्ट । ६. परिपूर्णता, पक्षे सुख । ७ धृतदैर्घ्ये, पक्षे धृतश्रियौ । ८ उत्क्रम्य । ९. श्रेण्याम् । १० स्वर्गैकखण्डवत् ल०, म० । ११. आश्रिता । १२. 'सुधाशिन' इत्यपि पाठ । १३. विलासम् । १४. महासुखैः, पक्षे महाफणैः । १५ भवनामरलोकस्य । १६ दर्शनीया । १७. भीति । १८. अतिवृष्ट्यादयः ।

प्रारम्भे चापवर्गे[1] च तुर्यकालस्य[2] या स्थितिः । महाभारतवर्षेऽस्मिन् नाम्नोत्कर्षापकर्षतः[3] ॥९॥
परा[4] स्थितिर्नृणां[5] पूर्वकोटिवर्षशतान्तरे । उत्सेधहानिरासप्तारत्निः[6] पञ्चधनुःशतात् ॥१०॥
कर्मभूमिनियोगो यः स सर्वोऽप्यत्र पुष्कलः[7] । विशेषस्तु महाविद्या ददत्येषां[8] समीप्सितम् ॥११॥
महाप्रज्ञप्तिविद्याद्याः सिद्ध्यन्तीह खगेशिनाम् । विद्याः कामदुघायास्ताः फलिष्यन्तीप्सितं फलम् ॥१२॥
[9]कुलजात्याश्रिता[10] विद्यास्तपोविद्याश्च ता द्विधा । कुलाम्नायागताः पूर्वा यत्नेनाराधिता पराः ॥१३॥
तासामाराधनोपायः[11] सिद्धायतनसंनिधौ । अन्यत्र वाशुचौ देशे द्वीपाद्रिपुलिनादिके ॥१४॥
संपूज्य शुचिवेषेण विद्यादेवव्रताश्रितैः[12] । महोपवासैराराध्या नित्यार्चनपुरःसरं ॥१५॥
सिद्ध्यन्ति विधिनानेन महाविद्या नभोजुषाम् । [13]पुरश्चरणनित्यार्चाजपहोमाद्यनुक्रमात् ॥१६॥
सिद्धविद्यैस्ततः सिद्धप्रतिमार्चनपूर्वकम् । विद्याफलानि भोग्यानि वियद्गमनखुल्लुभिः[14] ॥१७॥

इस महाभरत क्षेत्रमें अवसर्पिणी कालसम्बन्धी चतुर्थ कालके प्रारम्भमें मनुष्योंकी जो स्थिति होती है वही यहाँके मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति होती है और उस चतुर्थ कालके अन्तमें जो स्थिति होती है वही यहाँकी जघन्य स्थिति होती है। इसी प्रकार चतुर्थ कालके प्रारम्भमें जितनी शरीरकी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँकी उत्कृष्ट ऊँचाई होती है और चतुर्थ कालके अन्तमें जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ जघन्य ऊँचाई होती है। इसी नियमसे यहाँकी उत्कृष्ट आयु एक करोड़ वर्ष पूर्वकी और जघन्य सौ वर्षकी होती है तथा शरीरकी उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथकी होती है, भावार्थ–यहाँपर आर्यखण्डकी तरह छह कालों-का परिवर्तन नहीं होता किन्तु चतुर्थ कालके आदि अन्तके समान परिवर्तन होता है ॥९–१०॥ कर्मभूमिमें वर्षा, सरदी, गरमी आदि ऋतुओंका परिवर्तन तथा असि, मषि आदि छह कर्मरूप जितने नियोग होते हैं वे सब यहाँ पूर्ण रूपसे होते हैं किन्तु यहाँ विशेषता इतनी है कि महाविद्याएँ यहाँके लोगोंको इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥११॥ यहाँ विद्याधरोंको जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध होती हैं वे इन्हें कामधेनुके समान यथेष्ट फल देती रहती हैं ॥१२॥ वे विद्याएँ दो प्रकारकी हैं — एक तो ऐसी हैं जो कुल (पितृपक्ष) अथवा जाति (मातृ-पक्ष) के आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपस्यासे सिद्ध की जाती हैं। इनमें-से पहले प्रकार-की विद्याएँ कुल-परम्परासे ही प्राप्त हो जाती हैं और दूसरे प्रकारकी विद्याएँ यत्नपूर्वक आराधना करनेसे प्राप्त होती हैं ॥१३॥ जो विद्याएँ आराधनासे प्राप्त होती हैं उनकी आराधना करने-का उपाय यह है कि सिद्धायतनके समीपवर्ती अथवा द्वीप, पर्वत या नदीके किनारे आदि किसी अन्य पवित्र स्थानमें पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए विद्याकी अधिष्ठातृ देवताकी पूजा करे तथा नित्य पूजापूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओंकी आराधना करे। इस विधिसे तथा तपश्चरण नित्यपूजा जप और होम आदि अनुक्रमके करनेसे विद्याधरोंको वे महाविद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं ॥१४–१६॥ तदनन्तर जिन्हें विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करते हैं और

---

१. अवसाने । २ चतुर्थकालस्य । ३. उत्कृष्टजघन्यत । ४. अवमानोत्कृष्टायुः । ५. क्रमेण पूर्व-कोटिवर्षशतभेदौ । ६ अरत्निसप्तकपर्यन्तम् । ७. सपूर्ण । ८. विद्याधराणाम् । ९. वनादि । १० अभि-यादि । ११. सिद्धकूटचैत्यालयसमीपे । १२ ब्रह्मचर्यव्रत । १३. पूर्वसेवा । १४. प्रतीतं ।

यथा विद्या फलान्येषां भोग्यानीह खगेशिनाम् । तथैव स्वैरसंभोग्याः सस्यादिफलसंपदः ॥१८॥
सस्यान्यकृष्टपच्यानि वाप्यः सोत्फुल्लपङ्कजाः[1] । ग्रामाः संसक्तसीमानः सारामाः सफलद्रुमाः ॥१९॥
सरत्नसिकता नद्यो हंसाध्यासितसैकताः[2] । दीर्घिका पुष्करिण्याद्याः स्वच्छतोया जलाशयाः ॥२०॥
रमणीया वनोद्देशाः पुंस्कोकिलकलस्वनैः । लताः कुसुमिता गुञ्जद्भृङ्गीसंगीतसंगताः ॥२१॥
चन्द्रकान्तशिलाबद्धसोपानाः सलतागृहाः । खचरीजनसंभोग्याः सेव्याश्च कृतकाद्रयः ॥२२॥
रम्याः पुराकरग्रामसनिवेशाश्च[3] विस्तृताः । सरित्सरोवरारामशालीक्षुवनमण्डनाः ॥२३॥
स्त्रीपुंस[4] सृष्टिरत्रत्या[5] रत्यनङ्गानुकारिणी । समग्रभोगसंपत्त्या स्वर्भोगेष्वप्यनुत्सुका ॥२४॥
एवंप्राया[6] विशेषा ये नृणां संप्रीतिहेतवः । स्वर्गेऽप्यसुलभास्तेऽमी सन्त्येवात्र पदे पदे ॥२५॥
इति रम्यतरानेष[7] विशेषान् खचरोचितान् । धत्ते स्वमङ्कमारोप्य कौतुकादिव भूधरः ॥२६॥
श्रेण्योरथैनयोरुक्तशोभासंपन्निधानयोः । पुराणां [8]संनिवेशोऽयं लक्ष्यतेऽत्यन्तसुन्दरः ॥२७॥
पृथक्पृथगुभे श्रेण्यौ दशयोजनविस्तृते । [9]अनुपर्वतदीर्घत्वमायते चापयोनिधेः ॥२८॥
विष्कम्भादिकृतः श्रेण्योः न भेदोऽस्तीह कश्चन । आयामस्तूत्तरश्रेण्यां धत्ते साभ्यधिकां मितिम् ॥२९॥

फिर विद्याओंके फलका उपभोग करते हैं ॥१७॥ इस विजयार्ध गिरिपर ये विद्याधर लोग जिस प्रकार इन विद्याओंके फलोंका उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे धान्य आदि फल सम्पदाओं-का भी अपनी इच्छानुसार उपभोग करते हैं ॥१८॥ यहाँपर धान्य विना बोये ही उत्पन्न होते हैं, यहाँकी बावड़ियाँ फूले हुए कमलोंसे सहित हैं, यहाँके गाँवोंकी सीमाएँ एक दूसरेसे मिली हुई रहती हैं, उनमें बगीचे रहते हैं और वे सब फले हुए वृक्षोंसे सहित होते हैं ॥१९॥ यहाँकी नदियाँ रत्नमयी बालूसे सहित हैं, बावड़ियों तथा पोखरियोंके किनारे सदा हंस बैठे रहते हैं, और जलाशय स्वच्छ जलसे भरे रहते हैं ॥२०॥ यहाँके वनप्रदेश कोकिलोंकी मधुर कूजनसे मनोहर रहते हैं और फूली हुई लताएँ गुंजार करती हुई भ्रमरियोंके संगीतसे संगत होती हैं ॥२१॥ यहाँपर ऐसे अनेक कृत्रिम पर्वत बने हुए हैं जो चन्द्रकान्तमणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे युक्त हैं, लतागृहोंसे सहित हैं, विद्याधरियोंके सम्भोग करने योग्य हैं और सबके सेवन करने योग्य हैं ॥२२॥ यहाँके पुर, खानें और गाँवोंकी रचना बहुत ही सुन्दर है, वे बहुत ही बड़े हैं और नदी, तालाब, बगीचे, धानके खेत तथा ईखोंके वनोंसे सुशोभित रहते हैं ॥२३॥ यहाँकी स्त्री और पुरुषोंकी सृष्टि रति और कामदेवका अनुकरण करनेवाली है तथा वह हरएक प्रकारके भोगोपभोगकी सम्पदासे भरपूर होनेके कारण स्वर्गके भोगोंमें भी अनुत्सुक रहती है ॥२४॥ इस प्रकार मनुष्योंकी प्रसन्नताके कारणस्वरूप जो-जो विशेष पदार्थ हैं वे सब भले ही स्वर्गमें दुर्लभ हों परन्तु यहाँ पद-पदपर विद्यमान रहते हैं ॥२५॥ इस प्रकार यह पर्वत विद्याधरोंके योग्य अतिशय मनोहर समस्त विशेष पदार्थोंको मानो कौतूहलसे ही अपनी गोदमें लेकर धारण कर रहा है ॥२६॥

जो ऊपर कही हुई शोभा और सम्पत्तिके निधान (खजाना) स्वरूप हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियोंपर यह नगरोंकी बहुत ही सुन्दर रचना दिखाई देती है ॥२७॥ ये दोनों श्रेणियाँ पृथक्-पृथक् दस योजन चौड़ी हैं और पर्वतकी लम्बाईके समान समुद्र पर्यन्त लम्बी हैं ॥२८॥ इन दोनों श्रेणियोंमें चौड़ाई आदिका किया हुआ तो कुछ भी अन्तर नहीं है परन्तु उत्तर श्रेणीकी

---

१. सोत्पलपङ्कजाः । २. पुलिनाः । ३. रचनाविशेषाः । ४ 'स्त्रीपुंस सृष्टि' इत्यपि पाठः । ५. अत्र विजयार्द्धे भवा । ६ एवमाद्याः । ७ रम्यतराशेष- ल०, म० । ८ रचना । ९ यावत् पर्वतदैर्घ्यत्वम् ।

स्वर्गावासापहासीनि पुराण्यत्र चकासति । दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पञ्चाशत् षष्टिरेव च ॥३०॥
विद्याधरा वसन्त्येषु नगरेषु महर्द्धिषु । स्वपुण्योपार्जितान् भोगान् भुञ्जानाः स्वर्गिणो यथा ॥३१॥
इत. किं नामितं नाम्ना पुरं भाति पुरो दिशि । सौधैरभ्रङ्कषैः स्वर्गमिवास्प्रष्टुं समुद्यतैः ॥३२॥
ततः किन्नरगीताख्यं पुरमिद्धर्द्धि लक्ष्यते । यस्योद्यानानि सेव्यानि गीतैः किन्नरयोषिताम् ॥३३॥
नरगीतं विभातीतः पुरमेतन्महर्द्धिकम् । सदा प्रमुदिता यत्र नरा नार्यश्च सोत्सवाः ॥३४॥
बहुकेतुकमेतच्च प्रोल्लसद्बहुकेतुकम् । केतुबाहुभिराह्वातुमस्मानिव समुद्यतम् ॥३५॥
पुण्डरीकमिदं यत्र पुण्डरीकवनेष्वमी । हंसाः कलरुतैर्मन्द्रं स्वनन्ति [1]श्रोतृहारिभिः ॥३६॥
सिंहध्वजमिदं सैंहैर्ध्वजैः सौधाग्रवर्तिभिः । निरुणद्धि [2]सुरेभाणां मार्गं सिंहविशङ्किनाम् ॥३७॥
श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततैः । सौधाग्रवर्तिभिर्दूराज्झषकेतु[3]मिवाह्वयत् ॥३८॥
गरुडध्वजसंज्ञं च [4]पुरमाराद्विराजते । [5]गरुडग्रावनिर्माणैः सौधाग्रैर्ग्रस्तखाङ्गणम् ॥३९॥
श्रीप्रभं [6]श्रीप्रभोपेतं श्रीधरं च पुरोत्तमम् । भातीदं द्वयमन्योन्यस्पर्धयेव श्रियं श्रितम् ॥४०॥
लोहार्गलमिदं लौहैरर्गलैरतिदुर्गमम् । अरिंजयं च जित्वारीन् हसतीव स्वगोपुरैः ॥४१॥

लम्बाई दक्षिण श्रेणीकी लम्बाईसे कुछ अधिकता रखती है ॥२९॥ इन्हीं दक्षिण और उत्तर श्रेणियोंमें क्रमसे पचास और साठ नगर सुशोभित हैं। वे नगर अपनी शोभासे स्वर्गके विमानोंकी भी हँसी उड़ाते हैं ॥३०॥ बड़ी विभूतिको धारण करनेवाले इन नगरोंमें विद्याधर लोग निवास करते हैं और देवोंकी तरह अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं ॥३१॥ इधर यह पूर्व दिशामें १ किन्नामित नामका नगर है जो कि मानो स्वर्गको छूनेके लिए ही ऊँचे बढ़े हुए गगनचुम्बी राजमहलोंसे सुशोभित हो रहा है ॥३२॥ वह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला २ किन्नरगीत नामका नगर दिखाई दे रहा है जिसके कि उद्यान किन्नर जातिकी देवियोंके गीतोंसे सदा सेवन करने योग्य रहते हैं ॥३३॥ इधर यह बड़ी विभूतिको धारण करनेवाला ३ नरगीत नामका नगर शोभायमान है, जहाँके कि स्त्री-पुरुष सदा उत्सव करते हुए प्रसन्न रहते हैं ॥३४॥ इधर यह अनेक पताकाओंसे सुशोभित ४ बहुकेतुक नामका नगर है जो कि ऐसा मालूम होता है मानो पताकारूपी भुजाओंसे हम लोगोंको बुलानेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥३५॥ जहाँ सफेद कमलोंके वनोंमें ये हंस कानोंको अच्छे लगनेवाले मनोहर शब्दों-द्वारा सदा गम्भीर रूपसे गाते रहते हैं ऐसा यह ५ पुण्डरीक नामका नगर है ॥३६॥ इधर यह ६ सिंहध्वज नामका नगर है जो कि महलोंके अग्रभागपर लगी हुई सिंहके चिह्नसे चिह्नित ध्वजाओंके द्वारा सिंहकी शंका करनेवाले देवोंका मार्ग रोक रहा है ॥३७॥ इधर यह ७ श्वेतकेतु नामका नगर सुशोभित हो रहा है जो कि महलोंके अग्रभागपर फहराती हुई बड़ी-बड़ी सफेद ध्वजाओंसे ऐसा मालूम होता है मानो दूरसे कामदेवको ही बुला रहा हो ॥३८॥ इधर यह समीपमें ही, गरुड़मणिसे बने हुए महलोंके अग्रभागसे आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करता हुआ ८ गरुडध्वज नामका नगर शोभायमान हो रहा है ॥३९॥ इधर ये लक्ष्मीकी शोभासे सुशोभित ९ श्रीप्रभ और १० श्रीधर नामके उत्तम नगर हैं, ये दोनों नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो इन्होंने परस्परकी स्पर्धासे ही इतनी अधिक शोभा धारण की हो ॥ ४० ॥ जो लोहेके अर्गलोंसे अत्यन्त दुर्गम है ऐसा यह ११ लोहार्गल नामका नगर है और यह १२ अरिंजय नगर है जो कि अपने गोपुरोंके द्वारा ऐसा मालूम होता है मानो

---

१. श्रोत्रहारिभि· अ०, प०, स० । २. सुरेन्द्राणा ल०, म०, स० । ३. कामम् । ४. समीपे । ५ गरुडोद्गारमणिनिर्मितै. । ६. लक्ष्मीशोभासहितम् ।

वज्रार्गलं च वज्राढ्यं विमातीतः पुरद्वयम् । वज्राकरैः समीपस्थैः समुन्मीषदिवान्वहम् ॥४२॥
इदं पुरं विमोचाख्यं पुरमेतत् पुरं जयम्[1] । एताभ्यां निर्जित[2] नूनमधोऽगात् फणिनां जगत् ॥४३॥
शकटादिमुखी चैव पुरी भाति चतुर्मुखी । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गैर्लंङ्घयन्तीव खाङ्गणम् ॥४४॥
बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का च नामतः । नगर्यो भुवनस्येव त्रयस्य मिलिताः श्रियः ॥४५॥
रथनूपुरपूर्वं च चक्रवालाह्वयं पुरम् । उक्तानां वक्ष्यमाणानां पुरां[3] च तिलकायते ॥४६॥
राजधानीयमेतस्यां विद्याभृच्चक्रवर्तिनः । निवसन्ति परां लक्ष्मीं भुञ्जानाः [4]सुकृतोदयात् ॥४७॥
मेखलाग्रपुरं रम्यमितः क्षेमपुरी पुरी । अपराजितमेतत् स्यात् कामपुष्पमितः पुरम् ॥४८॥
गगनादिचरीयं सा विनेयादिचरी पुरी । परं शुक्र[5]पुरं चैत[6]त् त्रिंशत्संख्यानपूरणम् ॥४९॥
संजयन्ती जयन्ती च विजया वैजयन्त्यपि । क्षेमंकरं च चन्द्राभं सूर्याभं चातिभास्वरम् ॥५०॥
[7]रतिचित्रमहद्धेमत्रिमेघोपपदानि वै । कूटानि स्युर्विचित्रादि[8]कूटं वैश्रवणादि[9] च ॥५१॥
सूर्यचन्द्रपुरे चामू नित्योद्योतिन्यनुक्रमात् । विमुखी नित्यवाहिन्यौ सुमुखी चैव पश्चिमा ॥५२॥
नगर्यो दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशत्सङ्ख्यया मिताः । प्राकारगोपुरोत्तुङ्गाः [10]खातामिस्तिसृमिर्वृताः ॥५३॥

शत्रुओंको जीतकर हँस ही रहा हो ॥४१॥ इस ओर ये १३ वज्रार्गल और १४ वज्राढ्य नामके दो नगर सुशोभित हो रहे हैं जो कि अपने समीपवर्ती हीरेकी खानोंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो प्रतिदिन बढ ही रहे हों ॥४२॥ इधर यह १५ विमोच नामका नगर है और इधर यह १६ पुरञ्जय नामका नगर है । ये दोनों ही नगर ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो भवनवासी देवोंका लोक इनसे पराजित होकर ही नीचे चला गया हो ॥४३॥ इधर यह १७ शकटमुखी नगरी है और इधर यह १८ चतुर्मुखी नगरी सुशोभित हो रही है । यह चतुर्मुखी नगरी अपने ऊँचे-ऊँचे चारों गोपुरोंसे ऐसी मालूम होती है मानो आकाशरूपी आँगनका उल्लंघन ही कर रही हो ॥४४॥ यह १९ बहुमुखी, यह २० अरजस्का और यह २१ विरजस्का नामकी नगरी है । ये तीनों ही नगरियाँ ऐसी मालूम होती हैं मानो तीनों लोकोंकी लक्ष्मी ही एक जगह आ मिली हों ॥४५॥ जो ऊपर कहे हुए और आगे कहे जानेवाले नगरोंमें तिलकके समान आचरण करता है ऐसा यह २२ रथनूपुरचक्रवाल नामका नगर है ॥४६॥ यह नगर इस श्रेणीकी राजधानी है, विद्याधरोंके चक्रवर्ती (राजा) अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुई उत्कृष्ट लक्ष्मीका उपभोग करते हुए इसमें निवास करते हैं ॥४७॥ इधर यह मनोहर २३ मेखलाग्र नगर है, यह २४ क्षेमपुरी नगरी है, यह २५ अपराजित नगर है और इधर यह २६ कामपुष्प नामका नगर है ॥४८॥ यह २७ गगनचरी नगरी है, यह २८ विनयचरी नगरी है और यह २९ चक्रपुर नामका नगर है । यह ३० संख्याको पूर्ण करनेवाली ३० संजयन्ती नगरी है, यह ३१ जयन्ती, यह ३२ विजया और यह ३३ वैजयन्तीपुरी है । यह ३४ क्षेमङ्कर, यह ३५ चन्द्राभ और यह अतिशय देदीप्यमान ३६ सूर्याभ नामका नगर है ॥४९-५०॥ यह ३७ रतिकूट, यह ३८ चित्रकूट, यह ३९ महाकूट, यह ४० हेमकूट, यह ४१ मेघकूट, यह ४२ विचित्रकूट और यह ४३ वैश्रवणकूट नामका नगर है ॥५१॥ ये अनुक्रमसे ४४ सूर्यपुर, ४५ चन्द्रपुर और ४६ नित्योद्योतिनी नामके नगर हैं । यह ४७ विमुखी, यह ४८ नित्यवाहिनी, यह ४९ सुमुखी और यह ५० पश्चिमा नामकी नगरी है ॥५२॥ इस प्रकार दक्षिण-श्रेणीमें ५० नगरियाँ हैं, इन नगरियोंके कोट और गोपुर (मुख्य दरवाजे) बहुत ऊँचे हैं तथा प्रत्येक, नगरी तीन-तीन

१ जयपुरम् । २. निर्जित सत् । ३. पुराणाम् । ४. स्वकृतोदयात् ल०, म० । ५ चक्रपुरं म०, ल० । शक्रपुर अ० । ६ चैव प० । चेतस् ब० । ७. इतश्चित्र– त०, ब० । ८. चित्रकूटमहत्कूटहेमकूटमेघकूटानीत्यर्थः । ९ वैश्रवणकूटम् । वैश्रवणादिकम् । १०. खातिकाभि ।

तिसृणामपि खातानामन्तरं [1]दण्डसम्मितम्। दण्डाश्चतुर्दशैकस्या द्वाभ्यो [2]ह्यूनोऽन्ययोर्द्वयोः ॥५४॥
[3]विष्कम्भादवगा[4]ढास्ताः [5]पादोनं [6]वार्द्धमेव वा[7]। त्रिभाग[8]मूलास्ता ज्ञेया मूलाग्रा[9] चतुरस्त्रिकाः ॥५५॥
रत्नोपलैराहिताः[10] स्वर्णेष्टकचिताश्च ताः। [11]तौयान्तिक्यः परीवाहयुक्ता[12] वा निर्मलोदकाः ॥५६॥
पद्मोत्पल[13]वतंसिन्यो [14]यादोदोर्घट्टनक्षमाः। महाब्धिभिरिव स्पर्धां कुर्वाणास्तुङ्गवीचिभिः ॥५७॥
चतुर्दण्डान्तरश्चातो[15] वप्रः[16] षड्धनुरुच्छ्रितः। स्वर्णपांसूपलैश्छन्नः[17] स्वोत्सेधाद्द्विश्च विस्तृतः ॥५८॥
तम्[18] धूलीचयमिच्छन्ति[19] तथा मञ्चक[20]पृष्ठकम्। [21]कुम्भकुक्षिसमाकारं [22]गोक्षुरक्षोदनिस्तलम् ॥५९॥
वप्रस्योपरि सालोऽभूद् विष्कम्भाद्[23] द्विगुणोच्छ्रितः। [24]चतुर्विंशतिमुद्विद्धो धनुषां तलमूलतः[25] ॥६०॥
[26]मुरजैः कपि[27]शीर्षैश्च रचिताग्रः समन्ततः। चित्रहैमेष्टकचितः क्वचिद् रत्नशिलामयः ॥६१॥

परिखाओंसे घिरी हुई हैं ॥५३॥ इन तीनों परिखाओंका अन्तर एक-एक दण्ड अर्थात् धनुष प्रमाण है तथा पहली परिखा चौदह दण्ड चौड़ी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दण्ड चौड़ी है ॥५४॥ ये परिखाएँ अपनी-अपनी चौड़ाईसे क्रमपूर्वक पौनी, आधी और एकतिहाई गहरी हैं अर्थात् पहली परिखा साढ़े दस धनुष, दूसरी छह धनुष और तीसरी सवा तीन धनुषसे कुछ अधिक गहरी है। ये सभी परिखाएँ नीचेसे लेकर ऊपर तक एक-सी चौड़ी हैं ॥५५॥ वे परिखाएँ सुवर्णमयी ईंटोंसे बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणोंसे जड़ी हुई हैं, उनमें ऊपर तक पानी भरा रहता है और वह पानी भी बहुत स्वच्छ रहता है। वे परिखाएँ जलके आने-जानेके परीवाहोंसे भी युक्त हैं ॥५६॥ उन परिखाओंमें जो लाल और नीले कमल हैं वे उनके कर्णाभरण-से जान पड़ते हैं, वे जलचर जीवोंकी भुजाओंके आघात सहनेमें समर्थ हैं और अपनी ऊँची लहरोंसे ऐसी मालूम होती हैं मानो बड़े-बड़े समुद्रोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रही हों ॥५७॥ इन परिखाओंसे चार दण्डके अन्तर (फासला) पर एक कोट है जो कि सुवर्णकी धूलिके बने हुए पत्थरोंसे व्याप्त है, छह धनुष ऊँचा है और बारह धनुष चौड़ा है ॥५८॥ इस कोटका ऊपरी भाग अनेक कंगूरोंसे युक्त है। वे कंगूरे गायके खुरके समान गोल हैं और घड़ेके उदरके समान बाहरकी ओर उठे हुए आकारवाले हैं ॥ ५९॥ इस धूलि कोटिके आगे एक परकोटा है जो कि चौड़ाईसे दूना ऊँचा है। इसकी ऊँचाई मूल भागसे ऊपर तक चौबीस धनुष है अर्थात् यह बारह धनुष चौड़ा और चौबीस धनुष ऊँचा है ॥६०॥ इस परकोटेका अग्रभाग मृदंग तथा बन्दरके शिरके आकारके कंगूरोंसे बना हुआ है, यह परकोटा चारों ओरसे अनेक प्रकारकी सुवर्णमयी ईंटोंसे

---

१ त्रिखातिकानामन्तरं प्रत्येकमेकैकदण्डप्रमाणं भवति। २. अपरयोर्द्वयो खातिकयोः क्रमेण दण्डद्वयो न्यूनं कर्त्तव्यं। ३. व्यासमाश्रित्य त्रिखातिका। बाह्यादारभ्य चतुर्दश। द्वादशदशप्रमाणव्यासा भवन्तीत्यर्थः। ४. अगाधा। ५. खातिका। ६. निजनिजव्यासचतुर्थांशरहितावगाढा। ७. अथवा। निजनिजव्यासार्द्धविगाढा भवन्तीति भाव। ८. निजनिजव्यासस्य तृतीयो भागो मूले यासां ता। ९. मूले अग्रे च समानव्यासा इत्यर्थ। १०. घटिताः। ११. तोयस्यान्त तोयान्त। तोयान्तमर्हन्तीति तौयान्तिक्यः। अथवा तोयान्तेन दीव्यन्तीति तौयान्तिक्य। आकण्ठपरिपूर्णजला इत्यर्थ। १२. जलोच्छ्वाससहिता। 'जलोच्छ्वास परीवाह' इत्यभिधानात्। १३. पद्मोत्पलावतंसिन्यो-प०। १४. जलजन्तुभुजास्फालनसहा। १५ खातिकाभ्यन्तरे। १६. प्राकारस्याधिष्ठानमित्यर्थ। १७ निजोत्सेधाद् द्विगुणव्यास इत्यर्थ। १८. वप्रस्योपरिमभागम्। १९. आमनन्ति। २०. 'पृष्ठनामान तदग्रभागसंज्ञेत्यर्थ। २१. कुम्भपार्श्वसदृश। २२ ईषत्शुष्ककर्दमप्रदेशनिक्षिप्तगोक्षुरस्याधो यथा वर्तुल भवति तथा वर्तुलमित्यर्थः। २३. निजव्यासद्विगुणोन्नत। २४. धनुषा चतुर्विंशतिदण्डोत्सेध इति यावत्। एते विष्कम्भा द्वादशदण्डा इत्युक्तम्। २५. अधिष्ठानमूलात् आरभ्य। २६. मर्दलाकारशिखरैः। २७. 'कपिशीर्षं तु सालाग्रम्'।

विष्कम्भ[1]चतुरस्राश्च तत्राट्टालकपङ्क्तयः । त्रिंशदर्धं च दण्डानां रुन्द्राश्च द्विगुणोच्छ्रिताः[2] ॥६२॥

त्रिंश[3]द्दण्डान्तराश्चैता मणिहेमविचित्रिताः । उत्सेधसदृशारोह[4]सोपाना गगनस्पृशः ॥६३॥

द्वयोरट्टालयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणम् । पञ्चाशद्धनुरुत्सेधं तदर्धमपि विस्तृतम् ॥६४॥

गोपुराट्टालयोर्मध्ये त्रिधा[5]नुष्कावगाहनम् । इन्द्रकोशमभूत् सापि[6]धानैर्युक्तं गवाक्षकैः ॥६५॥

तदन्तरेषु राजन्ते सुस्था देवपथा[7]स्तथा । त्रिहस्तविस्तृताः पार्श्वे तच्चतुर्गुणमायताः ॥६६॥

इत्युक्तखातिकावप्रप्राकारैः परितो वृताः । विभासन्ते नगर्योऽमूः परिधा[8]नैरिवाङ्गनाः ॥६७॥

चतुष्का[9]णां सहस्रं स्याद् वीथ्यस्त[10]द्द्वादशाहतम् । द्वाराण्येक[11]सहस्रं तु महान्ति क्षुद्रकाणि वै ॥६८॥

तदर्धं[12]तद्द्विशत्यग्रिमाणि द्वाराणि तानि च । सकवाटानि राजन्ते नेत्राणीव[13]पुरश्रियः ॥६९॥

पूर्वापरेण रुन्द्राः स्युर्योजनानि नवैव ताः । दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादश प्राङ्मुखाः स्थिताः ॥७०॥

राजगेहादिविस्तारमासां को नाम वर्णयेत् । ममापि नागराजस्य यत्र मोमुह्यते मतिः ॥७१॥

ग्रामाणां कोटिरेका स्यात् परिवारः पुरं प्रति । तथा खेटमडम्बादिनिवेशाश्च[14] पृथग्विधाः[15] ॥७२॥

व्याप्त है और कहीं-कहींपर रत्नमयी शिलाओंसे भी युक्त है ॥६१॥ उस परकोटापर अट्टालिकाओंकी पंक्तियाँ बनी हुई है जो कि परकोटाकी चौडाईके समान चौड़ी है, पन्द्रह धनुष लम्बी हैं और उससे दूनी अर्थात् तीस धनुष ऊँची हैं ॥६२॥ ये अट्टालिकाएँ तीस-तीस धनुषके अन्तरसे बनी हुई है, सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र हो रही है, इनकी ऊँचाईके अनुसार चढनेके लिए सीढियाँ बनी हुई हैं और ये सभी अपनी ऊँचाईसे आकाशको छू रही है ॥६३॥ दो-दो अट्टालिकाओंके बीचमें एक-एक गोपुर बना हुआ है उसपर रत्नोंके तोरण लगे हुए हैं। ये गोपुर पचास धनुष ऊँचे और पचीस धनुष चौड़े हैं ॥६४॥ गोपुर और अट्टालिकाओंके बीचमें तीन-तीन धनुष विस्तारवाले इन्द्रकोश अर्थात् बुरज बने हुए है। बुरज किवाड़सहित झरोखोंसे युक्त हैं ॥६५॥ उन बुरजोंके बीचमें अतिशय स्वच्छ देवपथ बने हुए हैं जो कि तीन हाथ चौड़े और बारह हाथ लम्बे हैं ॥६६॥ इस प्रकार ऊपर कही हुई परिखा, कोट और परकोटा इनसे घिरी हुई वे नगरियाँ ऐसी सुशोभित होती हैं मानो वस्त्र पहने हुई स्त्रियाँ ही हों ॥६७॥ इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीमें एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियाँ हैं और छोटे-बड़े सब मिलाकर एक हजार दरवाजे हैं ॥६८॥ इनमें-से आधे अर्थात् पाँच सौ दरवाजे किवाड़सहित हैं और वे नगरीकी शोभाके नेत्रोंके समान सुशोभित होते हैं। इन पाँच सौ दरवाजोंमें भी दो सौ दरवाजे अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥६९॥ ये नगरियाँ पूर्वसे पश्चिम तक नौ योजन चौड़ी हैं और दक्षिणसे उत्तर तक बारह योजन लम्बी हैं। इन सभी नगरियोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर है ॥७०॥ इन नगरियोंके राजभवन आदिके विस्तार वगैरहका वर्णन कौन कर सकता है ? क्योंकि जिस विषयमें मुझ धरणेन्द्रकी बुद्धि भी अतिशय मोहको प्राप्त होती है तब औरकी बात ही क्या है ? ॥७१॥ इन नगरियोंमें-से प्रत्येक नगरीके प्रति एक-एक करोड़

---

१. व्यासमानचतुरस्राः । त्रिंशदर्धम् पञ्चदशदण्डप्रमाणव्यासा इत्यर्थः । २. तद्व्यासद्विगुणोत्सेधाः । ३. द्वयोरट्टालकयोर्मध्ये त्रिंशद्दण्डा अन्तरा यासां ताः । ४. आरोहणनिमित्त । ५ चापत्रय । त्रिधनुष्का म०, ल० । ६ कवाटसहितैः । ७ भेर्याकाररचनाविशेषाः । ८. अधोंऽशुकैः । ९ चतुःपथमध्यस्थितजनाश्रयणयोग्यमण्डपविशेषाणाम् । १०. तत्सहस्रं द्वादशगुणितं चेत्, द्वादशसहस्रवीथ्यो भवन्तीति भावः । ११. द्वाराण्येक सहस्रं तु प० । १२. तेषु द्वारेषु शतद्वयश्रेष्ठानि राजगमनागमनयोग्यानि द्वाराणि भवन्ति । १३. पुरश्रियाः इति क्वचित् पाठः । १४. रचना । १५. नानाप्रकाराः ।

अकृष्टपच्यैः कलमैः धान्यैरन्यैश्च सम्भृता[1]। पुण्ड्रेक्षुवनसंछन्नसीमानो निगमाः सदा ॥७३॥
पुराणमन्तरं चात्र स्यात् पञ्चनवतं[2] शतम्। प्रमाणयोजनोद्दिष्टं मानमाप्तैर्निदर्शितम्[3] ॥७४॥
पुराणि दक्षिणश्रेण्यां यथैतानि तथैव वै। भवेयुरुत्तरश्रेण्यामपि तानि समृद्धिभिः ॥७५॥
किन्त्वन्तरं पुराणां स्यात् तत्रैकैकं प्रमाणतः। योजनानां[4] शतं चाष्ट सप्ततिश्चैव साधिका ॥७६॥
तेषां च नामनिर्देशो भवेदयमनुक्रमात्। पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् षष्टितमं[5] पुरम् ॥७७॥
अर्जुनी वारुणी चैव सकैलासा च वारुणी। विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणि शशिप्रभे[6] ॥७८॥
वंशालं[7] पुष्पचूलं च हंसगर्भं बलाहकौ। शिवंकरं च श्रीहर्म्यं चमरं शिवमन्दिरम् ॥७९॥
[8]वसुमत्कं वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं परम्। शत्रुंजयं ततः केतुमालाख्यं च भवेत् पुरम् ॥८०॥
सुरेन्द्रकान्तमन्यत् स्यात्ततो गगननन्दनम्। अशोकान्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥८१॥
अलका तिलकाख्या च [9]तिलकान्तं तथाम्बरम्। मन्दिरं कुमुदं कुन्दमतो गगनवल्लभम् ॥८२॥
द्युभूमितिलके पुर्यौ पुरं गन्धर्वसाह्वयम्। मुक्ताहारः[10]सनिमिषं चाग्निज्वालमतः परम् ॥८३॥
महाज्वालं च विज्ञेयं श्रीनिकेतो जयाह्वयम्। श्रीवासो मणिवज्राख्यं भद्राश्वं सभनञ्जयम्[11] ॥८४॥
गोक्षीरफेनमक्षोभ्यं[12]गिर्यादिशिखराह्वयम्। धरणी धारणी[13] दुर्गं दुर्धराख्यं सुदर्शनम् ॥८५॥
[14]महेन्द्राख्यपुरं चैव पुरं विजयसाह्वयम्। सुगन्धिनी च[15]वज्रार्धतरं रत्नाकराह्वयम् ॥८६॥
भवेद्[16]रत्नपुरं चान्त्यमुत्तरस्यां पुराणि वै। श्रेण्यां स्वर्गपुरश्रीणि भान्त्येतानि महान्त्यलम् ॥८७॥

गाँवोंका परिवार है तथा खेट मडम्ब आदिकी रचना जुदी-जुदी है ॥७२॥ वे गाँव बिना बोये पैदा होनेवाले शाली चावलोंसे तथा और भी अनेक प्रकारके धानोंसे सदा हरे-भरे रहते हैं तथा उनकी सीमाएँ पौंडा और ईखोंके वनोंसे सदा ढकी रहती हैं ॥७३॥ इस विजयार्ध पर्वत-पर बसे हुए नगरोंका अन्तर भी सर्वज्ञ देवने प्रमाण योजनाके नापसे १९५ योजन बतलाया है ॥७४॥ जिस प्रकार दक्षिण श्रेणीपर इन नगरोंकी रचना बतलायी है ठीक उसी प्रकार उत्तर श्रेणीपर भी अनेक विभूतियोंसे युक्त नगरोंकी रचना है ॥७५॥ किन्तु वहाँपर नगरोंका अन्तर प्रमाणयोजनसे कुछ अधिक एक सौ अठहत्तर योजन है ॥७६॥ पश्चिम दिशासे लेकर साठवें नगर तक उन नगरोंके नाम अनुक्रमसे इस प्रकार हैं–॥७७॥ १ अर्जुनी, २ वारुणी, ३ कैलास-वारुणी, ४ विद्युत्प्रभ, ५ किलिकिल, ६ चूडामणि, ७ शशिप्रभा, ८ वंशाल, ९ पुष्पचूड, १० हंस-गर्भ, ११ बलाहक, १२ शिवंकर, १३ श्रीहर्म्य, १४ चमर, १५ शिवमन्दिर, १६ वसुमत्क, १७ वसुमती, १८ सिद्धार्थक, १९ शत्रुञ्जय, २० केतुमाला, २१ सुरेन्द्रकान्त, २२ गगननन्दन, २३ अशोका, २४ विशोका, २५ वीतशोका, २६ अलका, २७ तिलका, २८ अम्बरतिलक, २९ मन्दिर, ३० कुमुद, ३१ कुन्द, ३२ गगनवल्लभ, ३३ द्युतिलक, ३४ भूमितिलक, ३५ गन्धर्वपुर, ३६ मुक्ताहार, ३७ निमिष, ३८ अग्निज्वाल, ३९ महाज्वाल, ४० श्रीनिकेत, ४१ जय, ४२ श्रीनिवास, ४३ मणिवज्र, ४४ भद्राश्व, ४५ भवनंजय, ४६ गोक्षीर, ४७ फेन, ४८ अक्षोभ्य, ४९ गिरिशिखर, ५० धरणी, ५१ धारण, ५२ दुर्ग, ५३ दुर्धर, ५४ सुदर्शन, ५५ महेन्द्रपुर, ५६ विजयपुर, ५७ सुगन्धिनी, ५८ वज्रपुर, ५९ रत्नाकर और ६० चन्द्रपुर। इस प्रकार उत्तर श्रेणीमें ये बड़े-बड़े साठ नगर सुशोभित हैं इनकी शोभा स्वर्गके नगरोंके समान है ॥७८–८७॥

---

१. भरिता। २. पञ्चनवत्यधिकशतम्। ३. निदेशितम्। ४. साधिकाष्टसप्ततिसहितम्। ५. षष्टिम्। षष्टे. पूरणं षष्टितमम्। ६ शिखिप्रभे इति क्वचित् पाठ। ७. पुष्पचूडं च अ०। ८. वसुमुक्त प०। ९. अम्बर-तिलकम्। १०. नैमिषम्। ११. भवनञ्जयम् अ०। १२. गिरिशिखरम्। १३. धारणं ल०, म०। १४. माहेन्द्रा-ख्य ल०, म०, द०। १५. वज्राख्यं पर ल०, म०, द०। १६. चन्द्रपुरं म०, ल०।

पुराणीन्द्रपुराणीव सौधानि [1]स्वर्विमानतः । प्रति प्रतिपुरं व्यस्त[2]विभवं प्रतिवैभवम् ॥८८॥
नराः सुरकुमाराभा नार्यश्चाप्सरसां समाः । सर्वर्तुविषयान् भोगान् भुञ्जतेऽमी यथोचितम् ॥८९॥

द्रुतविलम्बितच्छन्दः

इति पुराणि पुराणकवीशिनामपि वचोभिरवाक्यनुतीन्ययम् ।
दधदधित्यकया[3] गिरिरुच्चकैः द्युवसतेः[4] श्रियमाह्वयते ध्रुवम् ॥९०॥
गिरिरयं गुरुभिः शिखरैर्दिवं प्रविपुलेन तलेन च भूतलम् ।
दधदुपान्तचरैः खचरोरगैः प्रथयति त्रिजगच्छ्रियमेकतः ॥९१॥
निधुवनानि[5] वनान्तलतालयैः[6] मृदितपल्लवसंस्तरणाततैः ।
पिशुनयत्युप[7]भोगसुगन्धिभिर्गिरिरयं गगनेचरयोषिताम् ॥९२॥
इह सुरासुरकिन्नरपन्नगा नियतमस्य तटेषु महीभृतः ।
प्रविवसन्ति समं प्रमदाजनैः [8]स्वरुचितैरुचितैश्च रतोत्सवैः ॥९३॥
[9]सुरसिषेविषितेषु निषेदुषीः[10] सरिदुपान्तलताभवनेष्वमूः ।
प्रणयकोपविजिह्म[11]मुखीर्वधूरनुनयन्ति सदात्र नभश्चराः ॥९४॥

ये नगर इन्द्रपुरीके समान हैं और बड़े-बड़े भवन स्वर्गके विमानोंके समान हैं। यहाँका प्रत्येक नगर शोभाकी अपेक्षा दूसरे नगरसे पृथक् ही मालूम होता है तथा हरएक नगरका वैभव भी दूसरे नगरके वैभवकी अपेक्षा पृथक् मालूम होता है अर्थात् यहाँके नगर एकसे-एक बढ़कर हैं ॥८८॥ यहाँके मनुष्य देवकुमारोंके समान हैं और स्त्रियाँ अप्सराओंके तुल्य हैं। ये सभी स्त्री-पुरुष अपने-अपने योग्य छहों ऋतुओंके भोग भोगते हैं ॥८९॥ इस प्रकार यह विजयार्ध पर्वत ऐसे-ऐसे श्रेष्ठ नगरोंको धारण कर रहा है कि बड़े-बड़े प्राचीन कवि भी अपने वचनों-द्वारा जिनकी स्तुति नहीं कर सकते। इसके सिवाय यह पर्वत अपने ऊपरकी उत्कृष्ट भूमिसे ऐसा मालूम होता है मानो स्वर्गकी लक्ष्मीको ही बुला रहा हो ॥९०॥

यह पर्वत अपने बड़े-बड़े शिखरोंसे स्वर्गको धारण कर रहा है, अपने विस्तृत तलभागसे अधोलोकको धारण कर रहा है और समीपमें ही घूमनेवाले विद्याधर तथा धरणेन्द्रोंसे मध्यलोककी शोभा धारण कर रहा है। इस प्रकार यह एक ही जगह तीनों लोकोंकी शोभा प्रकट कर रहा है ॥९१॥ जिनमें कोमल पल्लवोंके बिछौने बिछे हुए हैं और जो उपभोगके योग्य चन्दन, कपूर आदिसे सुगन्धित है। वनके मध्यमें बने हुए लता-गृहोंसे यह पर्वत विद्याधरियोंकी रतिक्रीडाको प्रकट कर रहा है ॥९२॥ इस पर्वतके किनारोंपर देव, असुरकुमार, किन्नर और नागकुमार आदि देव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ अपनेको अच्छे लगनेवाले तथा अपने-अपने योग्य संभोग आदिका उत्सव करते हुए नियमसे निवास करते रहते हैं ॥९३॥ इस पर्वतपर देवोंके सेवन करने योग्य नदियोंके किनारे बने हुए लता-गृहोंमें बैठी हुई तथा प्रणय कोपसे जिनके मुख कुछ मलिन अथवा कुटिल हो रहे हैं ऐसी अपनी स्त्रियोंको विद्याधर लोग सदा मनाते रहते हैं–

---

१. स्वर्गविमानाना प्रतिनिधय । २. व्यत्यासितविभवप्रतिवैभवम् । एकस्मिन्नगरे यो विभवो भवत्यन्यस्मिन्नगरे तद्विभवाधिक प्रतिवैभवमस्तीत्यर्थः । ३ श्रेण्या । ४. स्वर्गावासलक्ष्मीम् । ५. व्यवायानि रतानीत्यर्थ । ६ मर्दितकिसलयशय्याविस्तृतैः । ७. उपभोगयोग्यश्रीखण्डकर्पूरादिसुगन्धिभिः । ८ आत्मनामभीष्टैः । ९ अमरैर्निषेवितुमिष्टेषु । १० न्यिनवती । ११ वक्र ।

इह मृणालनियोजितबन्धनैरिह [1]वतंससरोरुहताडनैः ।
इह [2]मुखासवसेचनकैः प्रियान् विमुखयन्ति रते कुपिताः स्त्रियः ॥९५॥
क्वचिदनङ्गनिवेश[3] इवामरीललितनर्तनगीतमनोहरः ।
मदकलध्वनिकोकिलडिण्डिमैः क्वचिदनङ्गजयोत्सवविभ्रमः[4] ॥९६॥
क्वचिदुपो[5]ढपयःकणशीतलैः धुतसरोजवनैः पवनैः सुखः[6] ।
मदकलालिकुलाकुलपादपैरुपवनैरतिरम्यतरः क्वचित् ॥९७॥
क्वचिदनेक[7]पयूथनिषेवितः क्वचिदनेक[8]पतत्पतगाततः ।
क्वचिदनेक[9]परार्घ्यमणिद्युतिच्छुरितराजतसानुविराजितः ॥९८॥
क्वचिदकाण्ड[10]विनर्तितकेकिभिर्घननिभैर्हरिनीलतटैर्युतः ।
क्वचिदकालकृतो[11]षसविप्लवैः परिगतोऽरुणरत्नशिलातटैः[12] ॥९९॥
क्वचन काञ्चनभित्तिपराहतै[13]रविकरैरभिदीपितकाननः ।
नभसि संचरतां जनयत्ययं गिरिरुदीर्ण[14]दवानलसंशयम् ॥१००॥
इति विशेषपरम्परयान्वहं परिगतो[15] गिरिरेष सुरेशिनाम् ।
अपि मनः[16] परिवर्धितकौतुकं वितनुते किमुताम्बरचारिणाम् ॥१०१॥

प्रसन्न करते रहते हैं ॥९४॥ इधर ये कुपित हुई स्त्रियाँ अपने पतियोंको मृणालके बन्धनोंसे बाँधकर रति-क्रीडासे विमुख कर रही हैं, इधर कानोंके आभूषण-स्वरूप कमलोंसे ताडना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर मुखकी मदिरा ही थूककर उन्हें रति-क्रीडासे पराङ्मुख कर रही हैं ॥९५॥ यह पर्वत कहींपर देवांगनाओंके सुन्दर नृत्य और गीतोंसे मनोहर हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेवका निवासस्थान ही हो और कहींपर मदोन्मत्त कोयलोंके मधुर शब्दरूपी नगाड़ोंसे युक्त हो रहा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानो कामदेवके विजयोत्सवका विलास ही हो ॥९६॥ कहीं तो यह पर्वत जलके कणोंको धारण करनेसे शीतल और कमलवनोंको कम्पित करनेवाली वायुसे अतिशय सुखदायी मालूम होता है और कहीं मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त वृक्षोंवाले बगीचोंसे अतिशय सुन्दर जान पड़ता है ॥९७॥ यह पर्वत कहीं तो हाथियोंके झुण्डसे सेवित हो रहा है, कहीं उड़ते हुए अनेक पक्षियोंसे व्याप्त हो रहा है और कहीं अनेक प्रकारके श्रेष्ठ मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त चाँदीके शिखरोंसे सुशोभित हो रहा है ॥९८॥ यह पर्वत कहींपर नीलमणियोंके बने हुए किनारोंसे सहित है इसके वे किनारे मेघके समान मालूम होते हैं जिससे उन्हें देखकर मयूर असमयमें ही (वर्षा ऋतुके बिना ही) नृत्य करने लगते हैं। और कहीं लाल-लाल रत्नोंकी शिलाओंसे युक्त है, इसकी वे रत्नशिलाएँ अकालमें ही प्रातःकालकी लालिमा फैला रही हैं ॥९९॥ कहींपर सुवर्णमय दीवालोंपर पड़कर लौटती हुई सूर्यकी किरणोंसे इस पर्वतपरका वन अतिशय देदीप्यमान हो रहा है जिससे यह पर्वत आकाशमें चलनेवाले विद्याधरोंको दावानल लगानेका सन्देह उत्पन्न कर रहा है ॥१००॥ इस प्रकार अनेक विशेषताओंसे सहित यह पर्वत रात-दिन इन्द्रोंके मनको भी बढ़ते हुए कौतुकसे युक्त करता रहता है अर्थात् क्रीडा करनेके लिए इन्द्रों

---

१. कर्णपूर । २ मधुगण्डूषसेचनै । ३. आश्रय । ४ विलासः । ५ धृत । ६. सुखकर । ७ गज । ८. विविधोद्गच्छत्पक्षिविस्तृत । ९ विविधोत्कृष्टरत्नकान्तिमिश्रितरजतमयनितम्बशोभित । १० अकाल । ११. उप सवन्त्रिबालातपपूरै । 'प्रात , प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुष प्रत्युषसी अपि, इत्यभिधानात्। १२ शिलातलैः अ०, प०, म०, ल०, द० । १३. प्रत्युद्गतैरित्यर्थ । १४. उद्गत । १५. युत । १६ अपि पुन ल०, म० ।

सुरसरिज्जलसिक्त[1]तटद्रुमो जलदचुम्बितसानुवनोदयः ।
मणिमयैः शिखरैः [2]खचरोषितैर्विजयते गिरिरेष [3]सुराचलान् ॥१०२॥
सुरनदीसलिलप्लुतपादपैस्तटवनैः [4]कुसुमाञ्चितमूर्द्धभिः ।
मुखरितालिभिरेष महाचलो विहसतीव सुरोपवनश्रियम् ॥१०३॥
इयमितः सु[5]रसिन्धुरपां छटाः प्रकिरतीह विभाति पुरो दिशि ।
वहति सिन्धुरितश्च महानदी मुखरिता कलहंसकलस्वनैः ॥१०४॥
हिमवतः शिरसः किल निःसृते [6]सकमलालयतः सरिताविमे ।
शुचितयास्य तु पादमुपाश्रिते शुचिरलङ्घ्यतरो हि [7]वृथोन्नतेः ॥१०५॥
इह [8]सदैव [9]सदैवविचेष्टितैः [10]सुकृतिनः [11]कृतिनः खचराधिपाः ।
कृतनयास्तनया इव सत्पितुः समुपयान्ति फलान्यमुतो गिरेः ॥१०६॥
क्षितिरकृष्टपचेलिमसस्यसूः खनिरयत्नजरत्नविशेषसूः ।
इह वनस्पतयश्च सदोन्नता दधति पुष्पफलर्द्धिमकालजाम् ॥१०७॥
सरसि सारसहंसविकूजितैः कुसुमितासु लतास्वलिनिःस्वनैः ।
उपवनेषु च कोकिलनिक्वणैर्हृदि[12]शयोऽत्र सदैव विनिद्रितः[13] ॥१०८॥

का भी मन ललचाता रहता है तब विद्याधरोंकी तो बात ही क्या है ? ॥१०१॥ जिसके किनारे-पर उगे हुए वृक्ष गङ्गा नदीके जलसे सींचे जा रहे हैं और जिसके शिखरोंपरके वन मेघोंसे चुम्बित हो रहे हैं ऐसा यह विजयार्ध पर्वत विद्याधरोंसे सेवित अपने मणिमय शिखरों-द्वारा मेरु पर्वतों को भी जीत रहा है ॥१०२॥ जिनके वृक्ष गंगा नदीके जलसे सींचे हुए हैं, जिनके अग्रभाग फूलोंसे सुशोभित हो रहे हैं और जिनमें अनेक भ्रमर शब्द कर रहे हैं ऐसे किनारेके उपवनोंसे यह पर्वत ऐसा मालूम होता है मानो देवोंके उपवनोंकी शोभाकी हँसी ही कर रहा हो ॥१०३॥ इधर यह पूर्व दिशाकी ओर जलके छींटोंकी वर्षा करती हुई गंगा नदी सुशोभित हो रही है और इधर यह पश्चिमकी ओर कलहंस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान सिन्धु नदी बह रही है ॥१०४॥ यद्यपि यह दोनों ही गंगा और सिन्धु नदियाँ हिमवत् पर्वतके मस्तकपरके पद्म-नामक सरोवरसे निकली हैं तथापि शुचिता अर्थात् पवित्रताके कारण (पक्षमें शुक्लताके कारण) इस विजयार्धके पाद अर्थात् चरणों (पक्षमें प्रत्यन्तपर्वत) की सेवा करती हैं सो ठीक है क्योंकि जो पवित्र होता है उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पवित्रताके सामने ऊँचाई व्यर्थ है। भावार्थ—गंगा और सिन्धु नदी हिमवत् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकल कर गुहाद्वारसे विजयार्ध पर्वतके नीचे होकर बहती है। इसी बातका कविने आलंकारिक ढंग-से वर्णन किया है। यहाँ शुचि और शुक्ल शब्द श्लिष्ट हैं ॥ १०५ ॥ जिस प्रकार नीतिमान् पुत्र श्रेष्ठ पितासे मनवाञ्छित फल प्राप्त करते हैं उसी प्रकार पुण्यात्मा, कार्यकुशल और नीति-मान् विद्याधर अपने भाग्य और पुरुषार्थके द्वारा इस पर्वतसे सदा मनवाञ्छित फल प्राप्त किया करते हैं ॥१०६॥ यहाँकी पृथ्वी विना बोये ही धान्य उत्पन्न करती रहती है, यहाँकी खानें विना प्रयत्न किये ही उत्तम-उत्तम रत्न पैदा करती हैं और यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष भी असमयमें उत्पन्न हुए पुष्प और फलरूप सम्पत्तिको सदा धारण करते रहते हैं ॥१०७॥ यहाँके सरोवरोंपर सारस और हंस पक्षी सदा शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और उपवनोंमें कोयलें शब्द करती रहती हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ कामदेव

१. 'तटीद्रुमो' इति क्वचित् पाठः । २. विद्याधराश्रितैः । ३ कुलाचलान् द० । ४ कुसुमाचित ब० । ५. गंगा । ६ पद्मसरोवरमहितात् । ७ वृथा उन्नतिर्यस्य तत्मकाशात् । वृथोन्नति ल० । ८. अनारतमेव । ९. पुण्यसहित । १० पुण्यवन्तः । ११ कुशलाः । १२ मदनः । १३ विगतनिद्रः ।

कमलिनीवनरेणुविकर्षिभिः[1] कुसुमितोपवनद्रुमधूननैः[2]।
[3]धृतिमुपैति सदा खचरीजनो रतिपरि[4]श्रमनुन्निरिहानिलैः ॥१०९॥

हरिरितः प्रतिगर्जति कानने करिकुलं वनमुज्झति तद्भयात्।
परिगलत्कवलं च मृगीकुलं गिरिनिकुञ्जतला[5]दपसर्पति ॥११०॥

सरसि हंसवधूरियमुत्सुका कमलरेणुविपिञ्जरमञ्जसा।
समनुयाति न कोकविशङ्किनी [6]सहचरं गलदश्रु विरौति च ॥१११॥

इयमितो बत कोककुटुम्बिनी[7] कमलिनीनवपत्रतिरोहितम्।
अनवलोक्य मुहुः सहचारिणं[8] भ्रमति दीनरुतैः परितः सरः ॥११२॥

इह शरद्घनमल्पकमाश्रितं मणितटं सुरखेचरकन्यकाः।
लघुतया [9]सुखहार्यमितस्ततः प्रचलयन्ति नयन्ति च कर्षणं[10] ॥११३॥

[11]असुमतां [12]सुमताम्भसमाततां धृत[13]घनान्तघनामिव वीचिभिः।
[14]ततवनान्तवनाममरापगां वहति सानुभिरेष महाचलः ॥११४॥

[15]असुतरां सुतरां[16] पृथुमम्भसा[17] पतिमितां विमितान्त[18]लतावनाम्।
[19]अनुगतां [20]नु गतां स्वतटोपमां वहति सिन्धुमयं धरणीधरः ॥११५॥

सदा ही जागृत रहा करता हो ॥१०८॥ जो कमलवनके परागको खींच रहा है, जो उपवनोंके फूले हुए वृक्षोंको हिला रहा है और जो संभोगजन्य परिश्रमको दूर कर देनेवाला है ऐसे वायुसे यहाँकी विद्याधरियाँ सदा सन्तोषको प्राप्त होती रहती हैं ॥१०९॥ इधर इस वनमें यह सिंह गरज रहा है उसके भयसे यह हाथियोंका समूह वनको छोड़ रहा है और जिनके मुखसे ग्रास भी गिर रहा है ऐसा यह हरिणियोंका समूह भी पर्वतके तलागृहोंसे निकलकर भागा जा रहा है ॥११०॥ इधर तालाबके किनारे यह उत्कण्ठित हुई हंसिनी, जो कमलके परागसे बहुत शीघ्र पीला पड़ गया है ऐसे अपने साथी-प्रिय हंसको चकवा समझकर उसके समीप नहीं जाती है और अश्रु डालती हुई रो रही है ॥१११॥ इधर यह चकवी कमलिनीके नवीन पत्रोंसे छिपे हुए अपने साथी–चकवाको न देखकर बार-बार दीन शब्द करती हुई तालाबके चारों ओर घूम रही है ॥११२॥ इधर इस पर्वतके मणिमय किनारेपर यह शरद्ऋतुका छोटा-सा बादल आ गया है, हलका होनेके कारण इसे सब कोई सुखपूर्वक ले जा सकता है और इसीलिए ये देव तथा विद्याधरोंकी कन्याएँ इसे इधर-उधर चलाती हैं और खींचकर अपनी-अपनी ओर ले जाती हैं ॥११३॥ जो सब जीवोंको अतिशय इष्ट है, जो बहुत बड़ी है, जो अपनी लहरोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो उसने शरद्ऋतुके बादल ही धारण किये हों और जिसका जल वनोंके अन्तभाग तक फैल गया है ऐसी गंगा नदीको भी यह महापर्वत अपने निचले शिखरों पर धारण कर रहा है ॥११४॥ और, जो अतिशय विस्तृत है जो कठिनतासे पार होने योग्य है, जो लगातार समुद्र तक चली गयी है जिसने लताओंके वनको जलसे आर्द्र कर दिया है तथा जो अपने किनारेकी उपमाको प्राप्त है ऐसी सिन्धु नदीको भी यह पर्वत धारण कर रहा

---

१. स्वीकुर्वाणैः। २. धूनकं इत्यपि पाठः। ३. संतोषम्। ४. खेदविनाशकैः। ५.–कुञ्जकुला– इत्यपि पाठः। ६. प्रियतमं हंसम्। ७. चक्रवाकस्त्री। ८, प्रियकोकम्। ९. सुखेन प्रापणीयम्। १०. आकर्षणं। ११. प्राणिनाम्। १२. सुष्ठुसम्मतजलाम्। १३. शरत्कालमेघाम्। १४. विस्तृतवनमध्यजलाम्। १५. दुस्तराम्। १६. नितराम्। १७ समुद्रगताम्। १८. आर्द्रितसमीपवल्लीवनाम्। १९. अनुगस्य भाव अनुगता ताम्। २०. नु स्वता ल०, म०। नु इव।

इति यद्देव यद्देव निरूप्यते बहुविशेषगुणेऽत्र नगाधिपे ।
किमु[1] तद्देव तद्देव सुखावहं हृदयहारि दृशा च विलोभनम्[2] ॥११६॥

इन्द्रवज्रा

धत्तेऽस्य सानौ कुसुमाचितेयं नीलावनालीपरिधानलक्ष्मीम्[3] ।
शृङ्गाग्रलग्ना च सिताभ्रपङ्क्तिः [4]संव्यानलीलामियमातनोति ॥११७॥

उपेन्द्रवज्रा

[5]तिरस्करिण्येव सिताभ्रपङ्क्त्या [6]परिष्कृतान्तेऽस्य निकुञ्जदेशे ।
मणिप्रभोत्सर्पहृतान्धकारे समं रमन्ते खचरैः खचर्यः ॥११८॥

वंशस्थवृत्तम्

शरद्[7]घनस्योपरि सुस्थिते घने वितानतां तन्वति खेचराङ्गनाः ।
कृतालयास्तत्र[8] चिरं रिरंसया घनातपेऽप्यह्नि न जानते क्लमम् ॥११९॥
समुल्लसन्नीलमणिप्रभाप्लुतान् शरद्घनान् कालघनायितान्[9] ।
विलोक्य हृष्टोऽत्र स्वनन्[10] शिखावलः[11] प्रनृत्यति व्याततबर्हमुन्मदः ॥१२०॥

रुचिरावृत्तम्

सितान् घनानिह तटमाश्रितानिमान् स्थलास्थया समुपागताः खगाङ्गनाः ।
दुकूलसंस्तरण[13] इवातिविस्तृते विशायिका[14] मुपरचयन्ति तत्तले ॥१२१॥

हैं ॥११५॥ इस प्रकार अनेक विशेष गुणोंसे सहित इस पर्वतपर जिसे देखो वही सुख देनेवाला, हृदयको हरण करनेवाला और आँखोंको लुभानेवाला जान पड़ता है ॥११६॥

इस पर्वतके नीचले शिखरोंपर जो फूलोंसे व्याप्त हरी-हरी वनकी पंक्ति दिखाई दे रही है वह इस पर्वतकी धोतीकी शोभा धारण कर रही है और शिखरके अग्रभागपर जो सफेद-सफेद बादलोंकी पंक्ति लग रही है वह इसकी पगड़ीकी शोभा बढ़ा रही है ॥११७॥ जिनका अन्तभाग परदाके समान सफेद बादलोंकी पंक्तिसे ढका हुआ है और मणियोंकी प्रभाके प्रसारसे जिनका सब अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे इस पर्वतके लतागृहोंमें विद्याधरियाँ विद्याधरोंके साथ क्रीड़ा कर रही हैं ॥११८॥ इस पर्वतके ऊपर शरद्‌ऋतुका मोटा बादल चँदोवाकी शोभा बढाता हुआ हमेशा स्थिर रहता है इसलिए विद्याधरियाँ चिरकाल तक रमण करनेकी इच्छासे वहींपर अपना घर-सा बना लेती हैं और गरमीके दिनोंमें भी गरमीका दुःख नहीं जानतीं ॥११९॥ ये शरद्‌ऋतुके बादल भी चमकते हुए इन्द्रनीलमणियोंकी प्रभामें डूबकर काले बादलोंके समान हो रहे हैं, इन्हें देखकर ये मयूर हर्षित हो रहे हैं और उन्मत्त होकर शब्द करते हुए पूँछ फैलाकर सुन्दर नृत्य कर रहे हैं ॥१२०॥ इधर ये विद्याधरोंकी स्त्रियाँ पर्वतके किनारेमें मिले हुए सफेद बादलोंको स्थल समझकर उनके पास पहुँची हैं और उनपर इस प्रकार शय्या बना रही हैं मानो बिछे हुए किसी लम्बे-चौड़े रेशमकी जाजमपर ही बना रही

१ किमुत । २ लोभकरम् । ३ अधोंऽशुकशोभाम् । ४. उत्तरीयविलासम् । ५ यवनिकया । 'प्रतिसीरा यवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा' इत्यभिधानात् । ६. वेष्टित । ७. शरद्घनेऽस्योपरि ल०, म० । ८ मेघद्वयमध्ये । ९. कृष्णमेघ इवाचरितान् । १०. ध्वनन् । ११. केकी । १२. विस्तृतपिच्छं यथा भवति तथा । १३ शय्यायाम् । १४. शयनम् ।

सरस्तटं कलरुतसारसाकुलं वनद्विपे विशति सितच्छदावली[1] ।
नभोभिया समुपगतात्र लक्ष्यते नभः श्रियः पृथुतरहारयष्टिवत् ॥१२२॥
क्वचिद्धरिन्म[2]णितटरोचिषां चयैः परिष्कृतं[3] वपुरिह तिग्मदीधिते ।
सरोजिनी हरितपलाश[4]शङ्कया नभश्चरैरुपतटमीक्ष्यते मुहुः ॥१२३॥
क्वचिद्वनद्विरदकपोलघट्टनैः क्षतत्वचो वनतरवः सरस्तटे ।
रुदन्ति[5] नु च्युतकुसुमाश्रुबिन्दवो निलीनषट्पदकरुणस्वरान्विताम्[6] ॥१२४॥
इतः कलं कमलवनेषु रूयते मदोद्धुरध्वनिकलहंससारसैः ।
इतश्च कोकिलकलनादमूर्च्छितं[7] मनोहरं शिखिविरुतं प्रतायते[8] ॥१२५॥
इतः शरद्घनघनकालमेघयोर्यदृच्छया घन इव संनिधिर्भवन् ।
[9]मुखोन्मुखप्रहितकरः प्रवर्तते सितासितद्विरदनयोरयं रणः ॥१२६॥
वनस्थलीमनिलविलोलितद्रुमामिमामितः कुसुमरजोऽवगुण्ठिताम्[10] ।
अलक्षिता[11]मधिगम[12]यत्यलिव्रजः समाव्रजन् परिमललोलुपोऽभितः ॥१२७॥
इतो वनं वनगजयूथसेवितं[13] विभाव्यते मदजलसिक्तपादपम् ।
समापतन्मदकलभृङ्गमालिकासमाकुलद्रुम[14]लतमन्तरा[15]न्तरा ॥१२८॥

हो ॥१२१॥ इधर, मनोहर शब्द करते हुए सारस पक्षियोंसे व्याप्त तालावोंके किनारोंपर ये जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं जिससे ये हंसोंकी पंक्तियाँ श्रावण मासके डरसे आकाशमें उड़ी जा रही हैं और ऐसी दिखाई देती हैं मानो आकाशरूपी लक्ष्मीके हारकी लड़ियाँ ही हों ॥१२२॥ इधर यह सूर्यका बिम्ब हरे-हरे मणियोंके बने हुए किनारोंकी कान्तिके समूहसे आच्छादित हो गया है इसलिए ये विद्याधर इसे कमलिनीका हरा पत्ता समझकर पर्वतके इसी किनारेकी ओर बार-बार देखते हैं ॥१२३॥ कहींपर सरोवरके किनारे जंगली हाथियोंके कपोलोंकी रगड़से जिनकी छाल गिर गयी है ऐसे वनके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो फूलरूपी आँसुओंकी बूँदें डालते हुए और उनके भीतर बैठे हुए भ्रमरोंकी गुंजारके बहाने करुणाजनक शब्द करते हुए रो ही रहे हों ॥१२४॥ इधर कमलवनोंमें मदके कारण जिनके शब्द उत्कट हो गये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं और इधर कोयलोंके मनोहर शब्दोंसे बढ़ा हुआ मयूरोंका मनोहर शब्द विस्तृत हो रहा है ॥१२५॥ इधर इस वनमें शरद्‌ऋतुके-से सफेद बादल और वर्षाऋतुके-से काले बादल स्वेच्छासे मिल रहे हैं और ऐसे जान पड़ते हैं मानो सफेद और काले दो हाथी एक-दूसरेके मुँहके सामने सूँड चलाते हुए युद्ध ही कर रहे हों ॥१२६॥ इधर वायुसे जिसके वृक्ष हिल रहे हैं और जो फूलोंकी परागसे बिलकुल ढकी हुई है ऐसी यह वनकी भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगन्धिका लोलुपी और चारों ओरसे आता हुआ यह भ्रमरोंका समूह इसे दिखला रहा है ॥१२७॥ इधर, जो अनेक जंगली हाथियोंके झुण्डोंसे सेवित है जिसके वृक्ष उन हाथियोंके मदरूपी जलसे सींचे गये हैं और जिसके वृक्ष तथा लताएँ बीच-बीचमें पड़ते हुए और मदसे मनोहर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त

---

१. हंसावली । २. मरकतरत्नम् । 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भं हरिन्मणि' इत्यभिधानात् । ३. वेष्टितम् । विम्बितम् । ४. पत्र । 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यभिधानात् । ५ इव । ६. करुणस्वरान्विता, करुणस्वनान्विता इति च पाठ । ७ मिश्रितम् । ८ प्रतन्यते ल०, म० । ९ मुखाभिमुखस्थापितदण्ड. । १०. आच्छादिताम् । ११.-मपि गम-द० । १२. ज्ञापयति । १३. अनुमीयते । १४. द्रुमकुलमन्तरान्तरे द०, प० । द्रुमलतमन्तरान्तरे म०, ल० । १५. मध्ये मध्ये ।

पुष्पिताग्रावृत्तम्

इह खगवनिता नितान्तरम्याः सुरभिसरोजवना वनान्तवीथीः।
परिहितरसनैः[1] शनैः श्रयन्ते जितपुलिनैर्जघनैर्वरैः सुदन्त्यः[2] ॥१२९॥
सरसकिसलयप्रसूनक्लृप्तिं[3] वितरितुं[4] वनानि [5]नूनमस्मिन्।
[6]द्रुतमित इत इत्यमूः खगस्त्रीरलिविरुतैरपि[7] राममाह्वयन्ति ॥१३०॥
कुसुमितवनषण्डमध्यमेता तरुगहनेन[8] घनीकृतान्धकारम्।
[9]स्वतनुरुचिविधूतदृष्टिरोधाः खगवनिता बहुदीपिका[10] विशन्ति ॥१३१॥
कुसुमरसपिपासया निलीनैरलिभिरनारतमारुवद्भिः[11] रासाम्।
युवतिकरजलून[12] पल्लवानामनुरुदितं[13] नु[14] वितन्यते लतानाम् ॥१३२॥
कुसुमरचितभूषणावतंसाः कुसुमरजःपरिपिञ्जरस्तनान्ताः।
कुसुमशरशरायितायताक्ष्यः तदपचिताय[15] विमान्त्यमूः खचर्यः ॥१३३॥

वसन्ततिलकम्

ताः संचरन्ति कुसुमापचये तरुण्यः सक्ता[16] वनेषु ललितभ्रुविलोलनेत्राः।
तन्व्यो नखोरुकिरणोद्[17]गममञ्जरीका व्यालोलषट्पदकुला इव हेमवल्ल्यः ॥१३४॥

हो रही हैं ऐसा यह वन कितना सुन्दर सुशोभित हो रहा है ॥१२८॥ इधर, जो सुगन्धित कमलोंके वनोंसे सहित हैं और जो अतिशय मनोहर जान पड़ती हैं ऐसी इन वनकी गलियोंमें ये सुन्दर दाँतोंवाली विद्याधरोंकी स्त्रियाँ करधनी पहने हुए और नदियोंके किनारेके बालूके टीलोंको जीतनेवाले अपने बड़े-बड़े जघनों (नितम्बों) से धीरे-धीरे जा रही हैं ॥१२९॥ इधर, इस पर्वतपरके वन सरस पल्लव और पुष्पोंकी रचना मानो बाँट देना चाहते हैं इसीलिए वे भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंके बहाने 'इधर इस वृक्षपर आओ, इधर इस वृक्षपर आओ' इस प्रकार निरन्तर इन विद्याधरियोंको बुलाते रहते हैं ॥१३०॥ इधर वृक्षोंकी सघनतासे जिसमें खूब अन्धकार हो रहा है, ऐसे फूले हुए वनके मध्यभागमें अपने शरीरकी कान्तिसे दृष्टिको रोकनेवाले अन्धकारको दूर करती हुई ये विद्याधरियाँ साथमें अनेक दीपक लेकर प्रवेश कर रही हैं ॥१३१॥ इधर, इन तरुण स्त्रियोंने अपने नाखूनोंसे इन लताओंके नवीन-कोमल पत्ते छेद दिये हैं इसलिए फूलोंका रस पीनेकी इच्छासे इन लताओंपर बैठे और निरन्तर गुंजार करते हुए इन भ्रमरोंके द्वारा ऐसा जान पड़ता है मानो इन लताओंके रोनेका शब्द ही फैल रहा हो ॥१३२॥ इधर, जिन्होंने फूलोंके कर्णभूषण बनाकर पहिने हैं, फूलोंकी परागसे जिनके स्तनमण्डल पीले पड़ गये हैं और जिनकी बड़ी-बड़ी आँखें कामदेवके बाणके समान जान पड़ती हैं ऐसी ये विद्याधरियाँ फूल तोड़नेके लिए इस पर्वतपर इधर-उधर जा रही हैं ॥१३३॥ जिनकी भौंहें सुन्दर हैं, नेत्र अतिशय चंचल हैं, नखोंकी किरणें निकली हुई मंजरियोंके समान हैं और जो फूल तोड़नेके लिए वनोंमें तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियाँ जहाँ-

---

१ परिक्षिप्तकाञ्चीदामैः। २. शोभना दन्ता यासां ताः। ३. रचनाम्। ४ विस्तारयितुमिच्छूनि। ५. इव। ६ द्रुममित ल०, म०, द०। द्रुवमित इत्यपि क्वचित्। ७. अनवरतमित्यर्थः। ८. दुर्गमेन। ९ निजदेहकान्तिनिर्धूतान्धकाराः। १० दीपिकासदृशाः। ११. आ समन्तात् ध्वनद्भिः। १२ नखच्छेदित। १३. अनुगतरोदनम्। १४. इव। तु प०, अ०, ल०, म०। १५ पुष्पादाने पुष्पापचये इत्यर्थः। १६. आसक्ताः। १७ पुष्प।

पुष्पिताग्रावृत्तम्

मृदुतरपवने वने प्रफुल्लत् कुसुमितमालति[1] कातिकान्तपार्श्वे ।
मरुदयमधुना [2] धुनोति वीथीरवनिरुहां मलिनालिनामथुष्मिन् ॥१३५॥

वसन्ततिलकम्

आधूतकल्पतरुवीथिरतो नमस्वान् मन्दारसान्द्ररजसा सुरभिकृताशः ।
मत्तालिकोकिलरुतानि हरन्समन्तादावाति पल्लवपुटानि शनैर्विभिन्दन् ॥१३६॥

पुष्पिताग्रावृत्तम्

धृतकमलवने वने[3] तरङ्गानुपरचयन्मकरन्दगन्धबन्धुः[4] ।
अयमतिशिशिरः शिरस्तरूणां सकुसुममास्पृशतीह गन्धवाहः ॥१३७॥

अपरवक्त्रम्

मृदित[5] मृदुलताग्रपल्लवैः वलयितनिर्झरशीकरोत्करैः ।
अनुवनमिह[6] नीयतेऽनिलैः कुसुमरजो विधुतं वितानताम् ॥१३८॥
चलवलयरवैर्[7] वाततैः अनुगतनूपुरहारिझङ्कृतैः ।
[8] सुपरिगममिहाम्बरेचरीरत[9] मतिवर्ति[10] वनेषु किन्नरैः ॥१३९॥

चम्पकमालावृत्तम्

अत्र वनान्ते पत्रिगणोऽयं[11] श्रोत्रहरं नः कूजति चित्रम् ।
[12] सन्निपताकं नृत्यति नूनं[13] तत्तवनादैर्मत्तशिखण्डी[14] ॥१४०॥

तहाँ ऐसी घूम रही हैं मानो निकली हुई मंजरियोंसे सुशोभित और चंचल भ्रमरोंके समूहसे युक्त सोनेकी लताएँ ही हों ॥ १३४ ॥ जिसमें मन्द-मन्द वायु चल रहा है, फूल खिले हुए हैं और फूली हुई मालतीसे जिसके किनारे अतिशय सुन्दर हो रहे हैं ऐसे इस वनमें इस समय यह वायु काले-काले भ्रमरोंसे युक्त वृक्षोंकी पंक्तिको हिला रहा है ॥१३५॥ इधर, जिसने कल्प-वृक्षोंकी पंक्तियाँ हिलायी हैं, जिसने मन्दार जातिके पुष्पोंकी सान्द्र परागसे दिशाएँ सुगन्धित कर दी हैं, जो मदोन्मत्त भ्रमरों और कोयलोंके शब्द हरण कर रहा है और जो नवीन कोमल पत्तोंको भेद रहा है ऐसा वायु धीरे-धीरे सब ओर बह रहा है ॥१३६॥

इधर, जो कमलवनोंको धारण करनेवाले जलमें लहरें उत्पन्न कर रहा है, फूलोंके रस-की सुगन्धिसे सहित है और अतिशय शीतल है ऐसा यह वायु फूले हुए वृक्षोंके शिखरका सब ओरसे स्पर्श कर रहा है ॥१३७॥ जिसने कोमल लताओंके ऊपरके नवीन पत्तोंको मसल डाला है और जिसमें निर्झरनोंके जलकी बूँदोंका समूह मण्डलाकार होकर मिल रहा है ऐसा यह वायु अपने द्वारा उड़ाये हुए फूलोंके परागको चँदोवाकी शोभा प्राप्त करा रहा है। भावार्थ—इस वनमें वायुके द्वारा उड़ाया हुआ फूलोंका पराग चँदोवाके समान जान पड़ता है ॥१३८॥ इस वनमें होनेवाली विद्याधरियोंकी अतिशय रतिक्रीड़ाको किन्नर लोग चारों ओर फैले हुए चंचल कंकणोंके शब्दोंसे और उनके साथ होनेवाले नूपुरोंकी मनोहर झंकारोंसे सहज ही जान लेते हैं ॥१३९॥ इधर यह पक्षियोंका समूह इस वनके मध्यमें हम लोगोंके कानोंको आनन्द देनेवाला तरह-तरहका शब्द कर रहा है और इधर यह उन्मत्त हुआ मयूर विस्तृत शब्द करता हुआ

---

१. जातिः । 'सुमना मालती जातिः ।' २. कम्पयति । धुनाति इति क्वचित् । ३. जले । ४. पुष्परज परिमलयुक्तमित्यर्थः । ५ मर्दित । ६. वने । ७ अत्र समन्तात् विस्तृतैः । ८. सुज्ञानम् । ९. कामक्रीडाम् । १०. अतिमात्रवर्तनं यस्य । ११. पक्षी । १२. करणविशेषयुक्तम् । सपिच्छभारम् । १३. तत्कूजनवीणादि-वाद्यरवैः । १४. मयूर ।

अस्य महाद्रेरनुतटमेषा राजति नानाद्रुमवनराजी ।
[1]पश्यतमेनामनिलविधूतैर्नर्तितुकामामिव विटपैः स्वैः ॥१४१॥

उपजातिः

कूजद्‌द्विरेफा वनराजिरेषा प्रोद्‌गातुकामेव महीध्रमेनम् ।
पुष्पाञ्जलिं विक्षिपतीव विश्वग्विकीर्यमाणैः सुमनःप्रतानैः ॥१४२॥
वनद्रुमाः षट्पदचौरवृन्दैर्विलुप्यमानप्रसवार्थसाराः ।
[2]चोकूयमाना इव भान्त्यमुष्मिन् समुच्चरत्कोकिलकूजितेन ॥१४३॥

भुजङ्गप्रयातम्

महाद्रेरमुष्य स्थलीः [3]कालधौतीरुपेत्य स्फुटं नृत्यतां बर्हिणानाम् ।
प्रतिच्छायया[4] तन्यते व्यक्तमस्मिन् समुत्फुल्लनीलाब्जषण्डस्य लक्ष्मीः ॥१४४॥

पुष्पिताग्रा

अतुलितमहिमा हिमावदातद्युतिरनतिक्रमणीयपुण्यमूर्तिः ।
रजतगिरिरयं विलङ्घिताब्धिः [5]सुरसरिदोघ इवावभाति पृथ्व्याम् ॥१४५॥

मौक्तिकमाला

अस्य महाद्रेरनुतटमुच्चैः प्रेक्ष्य[6] विनीलामुपवनराजीम् ।
नृत्यति हृष्टो जलदविशङ्की बर्हिगणोऽयं विरचितबर्हः ॥१४६॥

एक प्रकारका विशेष नृत्य कर रहा है ॥१४०॥ इस महापर्वतके किनारे-किनारे नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वनकी पंक्ति सुशोभित हो रही है। देखो, यह वायुके द्वारा हिलते हुए अपने वृक्षोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो नृत्य ही करना चाहती हो ॥१४१॥ जिसमें अनेक भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसी यह वनोंकी पंक्ति ऐसी मालूम होती है मानो इस पर्वतका यश ही गाना चाहती हो और जो इसके चारों ओर फूलोंके समूह बिखरे हुए हैं उनसे यह ऐसी जान पड़ती है मानो इस पर्वतको पुष्पाञ्जलि ही दे रही हो ॥१४२॥ इस वनके वृक्षोंपर बैठे हुए भ्रमर पुष्परसका पान कर रहे हैं और कोयलें मनोहर शब्द कर रही हैं जिससे ऐसा मालूम होता है मानो भ्रमररूपी चोरोंके समूहने इन वन-वृक्षोंका सब पुष्प-रसरूपी धन लूट लिया है और इसीलिए वे बोलती हुई कोयलोंके शब्दोंके द्वारा मानो हल्ला ही मचा रहे हों ॥१४३॥ इस पर्वतके चाँदीके बने हुए प्रदेशोंपर आकर जो मयूर खूब नृत्य कर रहे हैं उनके पड़ते हुए प्रतिबिम्ब इस पर्वतपर खिले हुए नीलकमलोंके समूहकी शोभा फैला रहे हैं। भावार्थ—चाँदीकी सफेद जमीनपर पड़े हुए मयूरोंके प्रतिबिम्ब ऐसे जान पड़ते हैं मानो पानीमें नील कमलोंका समूह ही फूल रहा हो ॥१४४॥ इसका माहात्म्य अनुपम है, इसकी कान्ति बर्फके समान अतिशय स्वच्छ है, इसकी पवित्र मूर्तिका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता अथवा यह किसीके भी द्वारा उल्लंघन न करने योग्य पुण्यकी मूर्ति है और इसने स्वयं समुद्र तक पहुँचकर उसे तिरस्कृत कर दिया है इन सभी कारणोंसे यह चाँदीका विजयार्ध पर्वत पृथिवीपर गंगा नदीके प्रवाहके समान सुशोभित हो रहा है ॥१४५॥ इस महापर्वतके प्रत्येक ऊँचे तटपर लगी हुई हरी-हरी वनपंक्तिको देखकर इन मयूरोंको मेघोंकी शंका हो रही है जिससे वे हर्षित हो-

---

१ विलोकयतम् । २. भृशं ध्वनन्त । ३. रजतमयी । 'कलधौतं रूप्यहेम्नो' इत्यभिधानात् । ४ प्रतिबिम्बेन । ५. 'त' पुस्तके चतुर्थपादो नास्ति । ६. दृष्ट्वा ।

वसन्ततिलकम्

अस्यानुसानु सुरपन्नगखेचराणामा[1]क्रीडनान्युपवनानि विभान्त्यमूनि ।
नानालतालयसरःसिकतोच्च[2]यानि नित्यप्रवालकुसुमोज्ज्वलपादपानि ॥१४७॥

मौक्तिकमाला

अस्य महाद्रेरुपतटम्[3]च्छन् मूर्च्छति[4] नानामणिकिरणौघैः ।
चित्रितमूर्तिर्वियति[5] [6]पतङ्गः चित्र[7]पतङ्गच्छविमिह धत्ते ॥१४८॥

पृथ्वीवृत्तम्

मणिद्युतिततान्तरैः[8] प्रमुदितोरगव्यन्तरैर्निरुद्धरविमण्डलैः [9]स्थगितविश्वदिङ्मण्डलैः ।
[10]मरुद्गतिनिवारिभिः सुरवधूमनोहारिभिर्विभाति शिखरैर्घनैर्गिरिरयं नभोलङ्घनैः ॥१४९॥

चामरवृत्तम्

एष भीषणो[11] महाहिरस्य कन्दराद्गिरेरीषदुन्मि[12]षन्पयोनिधेरिवायत[13]स्तिमिः ।
[14]काषपेषितान्तिकस्थलस्थगुल्मपादपोरोषफू[15]त्कृतोष्मणा दहत्युपान्तकाननम् ॥१५०॥

छन्दः (?)

रत्नालोकैः[16] [17]कृतपरभागे तटभागे सन्ध्यारागे प्रसरति सान्द्रारुणरागे ।
रौप्योद्दीप्ता[18] [19]प्रकृतिविरुद्धामपि धत्ते प्रेक्ष्यां[20] लक्ष्मीं कनकमयाद्रेरयमद्रिः ॥१५१॥

पूँछ फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ॥१४६॥ जिनमें देव नागेन्द्र और धरणेन्द्र सदा क्रीडा किया करते हैं, जिनमें नाना प्रकारके लतागृह, तालाब और बालूके टीले (क्रीड़ाचल) बने हुए हैं और जिनके वृक्ष कोमल पत्ते तथा फूलोंसे निरन्तर उज्ज्वल रहते हैं ऐसे ये उपवन इस पर्वतके प्रत्येक शिखर पर सुशोभित हो रहे हैं ॥१४७॥ इधर, यह सूर्य चलता-चलता इस महापर्वतके किनारे आ गया है और वहाँ अनेक प्रकारके मणियोंके किरणसमूहसे चित्र-विचित्र होनेके कारण आकाशमें किसी अनेक रङ्गवाले पक्षीकी शोभा धारण कर रहा है ॥१४८॥ जिनके मध्यभाग रत्नोंकी कान्तिसे व्याप्त हो रहे हैं, जिनमें नागकुमार और व्यन्तर जातिके देव प्रसन्न होकर क्रीड़ा करते हैं, जिन्होंने सूर्यमण्डलको भी रोक लिया है, जिन्होंने सब दिशाएँ आच्छादित कर ली हैं, जो वायुकी गतिको भी रोकनेवाले हैं, देवांगनाओंके मनको हरण करते हैं और आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं ऐसे बड़े-बड़े सघन शिखरोंसे यह पर्वत कैसा सुशोभित हो रहा है ॥१४९॥ इधर देखो, जिस प्रकार कोई महामत्स्य समुद्रमें-से धीरे-धीरे निकलता है उसी प्रकार इस पर्वतकी गुफामें-से यह भयंकर अजगर धीरे-धीरे निकल रहा है। इसने अपने शरीरसे समीपवर्ती लता, छोटे-छोटे पौधे और वृक्षोंको पीस डाला है तथा यह क्रोधपूर्वक की गयी फूत्कार की गरमीसे समीपवर्ती वनको जला रहा है ॥१५०॥ इधर इस पर्वतके किनारेपर अनेक प्रकार के रत्नोंके प्रकाशसे मिली हुई संध्याकालकी गहरी ललाई फैल रही है जिससे यह रूपामय होनेपर भी अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध सुवर्णमय मेरु पर्वतकी दर्शनीय शोभा धारण कर रहा है

---

१. आ समन्तात् क्रीडनं एषा तानि । २. पुलिनानि । ३. गच्छन् । ४. व्याप्ते सति । ५. आकाशे । ६. सूर्य., पक्षी । ७. सूर्यः, चित्रपक्षी (मकर इति यावत्) । ८. विस्तृतान्तरालैः । ९. आच्छादित । १०. मेघ । ११. भयंकर. । १२. उद्गच्छन् । १३. दीर्घमत्स्यः । १४ कषणचूर्णित । काय म०, ल०, द०, अ०, प० । १५. रोषफूत्कृतोष्मणा ल०, म० । रोषमुक्तफूत्कृतो प०, अ० । १६. उद्योतैः । १७. विहितशोभे । १८ दीप्ता अ०, ल० । १९. स्वरूप । २०. दर्शनीयाम् ।

प्रहर्षिणी

उद्धूतः[1] परुषतरेण[2] वायुनोच्चैर्बभ्रुर्[3] नभसि परिस्फुरन्ननल्पः ।
अस्याद्रेरुपतटमासन[4]: परागः संधत्ते कनककृतातपत्रलीलाम् ॥१५२॥

वसन्ततिलकम्

एताः क्षरन्मदजला[5] विकटगण्डभित्तिकण्डूयनव्यतिकरार्दित[6]गण्डशैलाः ।
[7]भग्नद्रुमास्तटभुवो धरणी[8]भृतोऽस्य संसूचयन्ति पदवीर्वनवारणानाम् ॥१५३॥

भुजङ्गप्रयातम्

इहामी मृगौघा वनान्तस्थलान्ते स्फुरद्[9]घोणमाघ्राय[10] तृण्यामगण्याम् ।
यदेवात्र तृण्य[11] तृणं यच्च हृद्यं तदेवात्र कुञ्जे जिघ[12]त्सन्त्यमुष्मिन् ॥१५४॥

उपजातिः

यद्यत्तटं यद्विधरत्नजातं संप्राप्तनिर्माणमिहाचलेन्द्रे ।
तत्तत्समासाद्य मृगास्तदाभां भजन्ति जात्यन्तरतामिवेता:[13] ॥१५५॥

उपेन्द्रवज्रा

हरि[14]न्मणीनां विततान् मयूखान् तृणा[15]स्थयास्वाद्य मृगीगणोऽयम् ।
अलब्धकामस्तदुपा[16]न्तभाञ्जि तृणानि[17] सत्यान्यपि नोपयुङ्क्ते ॥१५६॥

॥१५१॥ इधर देखो, इस पर्वतके किनारेके समीप लगे हुए असन जातिके वृक्षोंका बहुत-सा पीले रंगका पराग तीव्र वेगवाले वायुके द्वारा ऊँचा उड़-उड़कर आकाशमें छाया हुआ है और सुवर्णके बने हुए छत्रकी शोभा धारण कर रहा है ॥१५२॥ इधर, झरते हुए मदजलसे भरे हुए हाथियोंके गण्ड-स्थल खुजलानेसे जिनकी छोटी-छोटी चट्टानें अस्त-व्यस्त हो गयी हैं और वृक्ष टूट गये हैं ऐसी इस पर्वतके किनारेकी भूमियाँ मदोन्मत्त हाथियोंका मार्ग सूचित कर रही हैं। भावार्थ—चट्टानों और वृक्षोंको टूटा-फूटा हुआ देखनेसे मालूम होता है कि यहाँसे अच्छे-अच्छे मदोन्मत्त हाथी अवश्य ही आते-जाते होंगे ॥१५३॥ इधर देखो, इस पर्वतके लता-गृहोंमें और वनके भीतरी प्रदेशोंमें ये हरिणोंके समूह नाक फुला-फुलाकर बहुत-से घासके समूह-को सूँघते हैं और उसमें जो घास अच्छी जान पड़ती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥१५४॥ इधर देखो, इस पर्वतका जो-जो किनारा जिस-जिस प्रकारके रत्नोंका बना हुआ है ये हरिण आदि पशु उन-उन किनारेपर जाकर उसी-उसी प्रकारकी कान्तिको प्राप्त हो जाते हैं और ऐसे मालूम होने लगते हैं मानो इन्होंने किसी दूसरी ही जातिका रूप धारण कर लिया हो ॥१५५॥ इधर, यह हरिणियोंका समूह हरे रंगके मणियोंकी फैली हुई किरणोंको घास समझकर खा रहा है परन्तु उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता इसलिए धोखा खाकर पास हीमें लगी हुई सच-

---

१. कम्पितः २. निष्ठुरवेगेण । ३. आपिङ्गलः । 'बभ्रुः स्यात् पिङ्गलेऽपि च' इत्यभिधानात् । ४ असनस्य सम्बन्धी । ५ आर्द्रित । ६. कपोलस्थलनिघर्षणव्याज । ७. रुग्ण इति क्वचित् । ८. गिरे । ९ स्फुरन्नासिकं यथा भवति तथा । १०. तृणसंहतिम् । ११. भक्षणीयम् । १२. अत्तुमिच्छन्ति । १३. प्राप्ता. । मिवैते प०, म०, ल० । १४. मरकतरत्नाम् । १५. तृणबुद्ध्या । १६. तन्मरकतशिलासमीप भजन्तीति तदुपान्तभाञ्जि । १७. सत्यस्वरूपाणि ।

शालिनी

गायन्तीनां किन्नरीणां वनान्ते शृण्वद्गीतं हारिणं[1] हारि[2]यूथम् ।
अर्धग्रस्तोत्सृष्टनिर्यत्तृणाग्रग्रासं[3] किंचिन्मीलिताक्षं तदास्ते ॥१५७॥
[4]यात्यन्तर्द्धिं[5] ब्रध्न[6]बिम्बे महीध्रस्यास्योत्संगे किं गतोऽस्तं पतङ्गः[7] ।
इत्याशङ्काव्याकुलाभ्येति भीतिं [8]प्राक्सायाह्नात् कोककान्तो[9]पकान्तम् ॥१५८॥

उपेन्द्रवज्रा

सदा प्रफुल्ला वितता नलिन्यः सदात्र तन्वन्ति रवानलिन्यः ।
क्षरन्मदाः सन्ततमेव नागाः[10] सदा च रम्याः फलिनो वनागाः[11] ॥१५९॥

वसन्ततिलकम्

अस्यानुमानु[12] वनराजिरियं विनीला धत्ते श्रियं नगपतेः शरदभ्रभासः[13] ।
[14]शाटी विनीलरुचिर[15]प्रति[16]पाण्डुकान्तेर्नीलाम्बरस्य[17] रचितेव नितम्बदेशे ॥१६०॥

छन्दः (?)

बिभ्रच्छ्रेणीद्वितयविभागे वनषण्डं भाति श्रीमानयममलनीध्नो विधुविध्रः[18] ।
वेगाविद्धं[19] रुचिरसिताभ्रोज्ज्वलमूर्तिः पर्यन्तस्थं घनमिव नीलं सुरदन्ती ॥१६१॥

मालिनी

सुरभिकुसुमरेणूनाकिरन्विश्वदिक्कं परिमलमिलितालिव्यक्तझङ्कारहृद्यः ।
प्रतिवनमिह शैले वाति मन्दं नभस्वान् [20]प्रतिविहितनभोगस्त्रै[21]णसंभोगखेदः ॥१६२॥

मुखकी घासको भी नहीं खा रहा है ॥१५६॥ इधर वनके मध्यमें गाती हुई किन्नर जातिकी देवियोंका सुन्दर संगीत सुनकर यह हरिणोंका समूह आधा चबाये हुए तृणोंका ग्रास मुँहसे बाहर निकालता हुआ और नेत्रोंको कुछ-कुछ बन्द करता हुआ चुपचाप खड़ा है ॥१५७॥ इधर यह सूर्यका बिम्ब इस पर्वतके मध्य शिखरकी ओटमें छिप गया है इसलिए सूर्य क्या अस्त हो गया, ऐसी आशंकासे व्याकुल हुई चकवी सायंकालके पहले ही अपने पतिके पास खड़ी-खड़ी भयको प्राप्त हो रही है ॥१५८॥ इस पर्वतपर कमलिनियाँ खूब विस्तृत हैं और वे सदा ही फूली रहती हैं, इस पर्वतपर भ्रमरियाँ भी सदा गुंजार करती रहती हैं, हाथी सदा मद झराते रहते हैं और यहाँके वनोंके वृक्ष भी सदा फूले-फले हुए मनोहर रहते हैं ॥१५९॥ यह पर्वत शरत् ऋतुके बादलके समान अतिशय स्वच्छ है। इसके शिखरपर लगी हुई यह हरी-भरी वन की पंक्ति ऐसी शोभा धारण कर रही है मानो बलभद्रके अतिशय सफेद कान्तिको धारण करनेवाले नितम्ब भागपर नीले रंगकी धोती ही पहनायी हो ॥१६०॥ यह सुन्दर पर्वत चन्द्रमा के समान स्वच्छ है और दोनों ही श्रेणियोंके बीचमें हरे-हरे वनोंके समूह धारण कर रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो मनोहर और सफेद मेघके समान उज्ज्वल मूर्तिसे सहित तथा वायुके वेगसे आकर दोनों ओर समीपमें ठहरे हुए काले-काले मेघोंको धारण करनेवाला ऐरावत हाथी ही हो ॥१६१॥ जो सुगन्धित फूलोंकी परागको सब दिशाओंमें फैला रहा है, जो सुगन्धिके कारण इकट्ठे हुए भ्रमरोंकी स्पष्ट झंकारसे मनोहर जान पड़ता है और जो विद्याधरियोंके सम्भोगजनित खेदको दूर कर देता है ऐसा वायु इस पर्वतके प्रत्येक वनमें धीरे-धीरे बहता

---

१. हरिणानामिदम् । २. मनोज्ञम् । ३. प्रथमकवलम् । ४ याति सति । ५. पिधानम् । ६. रवि । ७. तरणिः । ८. अपराह्णात् प्रागेव । ९. प्रियतमसमीपे । १०. करिणः । ११. वनवृक्षाः । १२ सानौ । १३. मेघरुच' । १४. वस्त्र । १५ रुचिरा —अ० । १६ असमानधवलशरीरदीधितेः । १७. बलभद्रस्य । १८. चन्द्रवद्धवलः । 'वीध्रं तु विमलार्थकम्' इत्यभिधानात् । १९. वेगेन सबद्धम् । २०. चिकित्सित वा निराकृत । २१ स्त्रीसमूह ।

सुरयुवतिसमाजस्यास्य[1] च स्त्रीजनस्य प्रकृति[2]कृतमियत् स्यादन्तरं[3] व्यक्तरूपम् ।
[4]स्तिमितनयनमैन्द्रं[5] स्त्रैणमेतत्तु[6] लीलावलितललितलोलापाङ्गवीक्षाविलासम् ॥१६३॥

वसन्ततिलकम्

अत्रायमुन्मदमधुव्रतसेव्यमान-गण्डस्थलो गजपतिर्वनमाविहान[7]ः ।
दृष्ट्वा हिरण्मयतटीर्गिरिमतु[8]रस्य-दावानलप्रतिमयाद्[9] वनमुज्जहाति ॥१६४॥

जलधरमाला

अत्रानीलं मणितटमुच्चैः पश्यन् मेघाशङ्की नटति कलापी[10] हृष्टः ।
[11]केकाः कुर्वन्विरचितवर्हाटोपो लोकस्तत्त्वं[12] गणयति नार्थी मूढः ॥१६५॥

पुष्पिताग्रा

सरसि कलममी रुवन्ति हंसास्तरुषु च कोकिलषट्पदाः स्वनन्ति ।
फलनमितशिखाश्च पादपौघा चल[13]विटपैर्भुवनाह्वयन्त्यनङ्गम् ॥१६६॥

स्वागता

मन्थरं[14] व्रजति काननमध्यादेष वाजिवदनः[15] सहकान्तः[16] ।
संस्पृशन् स्तनतटं दयितायास्तत्सु[17]खानुभवमीलितनेत्रः ॥१६७॥
एष सिंहचमरीमृगकोटीः सानुभिर्वहति निर्मलमूर्तिः ।
सन्ततीरिव यशोविसरस्य स्वस्य[18] लोध्रधवला रजताद्रिः ॥१६८॥

रहता है ॥१६२॥ देवांगनाओं तथा इस पर्वतपर रहनेवाली स्त्रियोंके बीच प्रकृतिके द्वारा किया हुआ स्पष्ट दीखनेवाला केवल इतना ही अन्तर है कि देवांगनाओंके नेत्र टिमकारसे रहित होते हैं और यहाँकी स्त्रियोंके नेत्र लीलासे कुछ-कुछ टेढ़े सुन्दर और चंचल कटाक्षोंके विलाससे सहित होते हैं ॥१६३॥ इधर देखो, जिसके गण्डस्थलपर अनेक उन्मत्त भ्रमर मँडरा रहे हैं ऐसा यह वनमें प्रवेश करता हुआ हाथी इस गिरिराजके सुवर्णमय तटोंको देखकर दावानलके डरसे वनको छोड़ रहा है ॥१६४॥ इधर, नीलमणिके बने हुए ऊँचे किनारेको देखता हुआ यह मयूर मेघकी आशंकासे हर्षित हो मधुर शब्द करता हुआ पूँछ उठाकर नृत्य कर रहा है सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख स्वार्थी जन सचाईका विचार नहीं करते हैं ॥१६५॥ इधर तालाबोंमें ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं और वृक्षोंपर कोयल तथा भ्रमर शब्द कर रहे हैं। इधर फलोंके बोझसे जिनकी शाखाएँ नीचेकी ओर झुक गयी हैं ऐसे ये वृक्ष अपनी हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे मालूम होते हैं मानो कामदेवको ही बुला रहे हों ॥१६६॥ इधर अपनी स्त्रीके स्तन-तटका स्पर्श करता हुआ और उस सुखके अनुभवसे कुछ-कुछ नेत्रोंको बन्द करता हुआ यह किन्नर अपनी स्त्रीके साथ-साथ वनके मध्यभागसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥१६७॥ यह विजयार्ध पर्वत अपने शिखरोंपर निर्मल शरीरवाले करोड़ों सिंह, करोड़ों चमरी गायें और करोड़ों मृगोंको धारण कर रहा है और उन सबसे ऐसा मालूम होता है मानो लोध्रवृक्षके समान सफेद अपने यशसमूह-

---

१. विजयार्धसंबन्धिनः । २. स्वभावविहितम् । ३. भेदः । ४. स्थिरदृष्टि । ५. इन्द्रसंबन्धिस्त्रीसमूह । ६. एतत्स्त्रैणम् विद्याधरसंबन्धी स्त्रीसमूहः । ७. आगच्छन् । 'वोहाङ् गतौ' इति धातुः । ८. भीतेः । ९. त्यजति । १०. मयूरः । ११. ध्वनीः । केकां ब० । १२. स्वरूपम् । १३. चलविटपा इत्यपि क्वचित् । चलशाखाः । १४ मन्दम् । १५. किन्नरः । 'स्यात् किन्नरः किंपुरुषस्तुरंगवदनो मयुः' इत्यभिधानात् । १६ स्त्रीसहितः । १७ स्तनस्पर्शनसुख । १८. (पुष्पविशेष) परागः ।

यास्य सानुषु धृतिर्विबुधानां राजतेषु[1] वनितानुगतानाम् ।
सा न नाकवसतौ[2] न हिमाद्रौ नापि मन्दरगिरेस्तटभागे ॥१६९॥

वसन्ततिलकम्

गण्डोपलं[3] वनकरीन्द्रकपोलकाष[4]संक्रान्तदानसलिल[5]प्लुतमत्र शैले ।
पश्यन्नयं द्विपविशङ्किमना मृगेन्द्रो भूयोऽभिहन्ति[6] नखैर्विलिखत्युपान्तम् ॥१७०॥
सिंहोऽयमत्र गहने[7] शनकैर्विबुद्धो व्याजृम्भते शिखरमुत्पतितुं कृतेच्छः ।
तन्वन् गिरेरधिगुहा[8]मुखमट्टहासलक्ष्मीं शरच्छशिधरामलदेहकान्तिः ॥१७१॥

मन्दाक्रान्ता

रन्ध्रादद्रेरयमजगरः[9] सामिकर्षन् स्वमङ्गं
पुञ्जीभूतो गुरुरिव गिरेरान्त्रभारो[10] निकुञ्जे ।
रुद्धश्वासं वदनकुहरं[11] व्याददात्यापतद्भि-[12]
र्वन्यैः सत्त्वैः किल बिलधिया क्षुत्प्रतीकारमिच्छुः ॥१७२॥

पृथ्वी

अयं जलनिधेर्जलं स्पृशति सानुभिर्वारिधि-
स्तटानि शिशिरीकरोति गिरिभर्तुरस्यान्वहम् ।
मरुद्विधुतवीचिशीकरशतै रजस्तोरिथतैः
महाननुपगतं[13] जनं शिशिरयत्य[14]नुष्णाशयः ॥१७३॥

की सन्ततिको ही धारण कर रहा हो ॥१६८॥ अपनी-अपनी देवांगनाओंके साथ विहार करते हुए देवोंको इस पर्वतके रजतमयी शिखरोंपर जो सन्तोष होता है वह उन्हें न तो स्वर्गमें मिलता है, न हिमवान् पर्वतपर मिलता है और न सुमेरु पर्वतके किसी तटपर ही मिलता है ॥१६९॥

इधर देखो, जो जंगली हाथियोंके गण्डस्थलोंको रगड़से लगे हुए मद-जलसे तर-बतर हो रहा है, ऐसे इस पहाड़पर-की गोल चट्टानको यह सिंह हाथी समझ रहा है इसीलिए यह उसे देख-कर बार-बार उसपर प्रहार करता है और नाखूनोंसे समीपकी भूमिको खोदता है ॥१७०॥ इधर इस वनमें शरद्ऋतुके चन्द्रमाके समान निर्मल शरीरकी कान्तिको धारण करता हुआ तथा इस पर्वतके गुफारूपी मुखपर अट्टहासकी शोभा बढाता हुआ यह सिंह धीरे-धीरे जागकर जमु-हाई ले रहा है और पर्वतके शिखरपर छलांग मारनेकी इच्छा कर रहा है ॥१७१॥ इधर यह लतागृहमें अजगर पड़ा हुआ है, यह पर्वतके बिलमें-से अपना आधा शरीर बाहर निकाल रहा है और ऐसा जान पड़ता है मानो एक जगह इकट्ठा हुआ पहाड़की अँतड़ियोंका बड़ा भारी समूह ही हो। इसने श्वास रोककर अपना मुँहरूपी बिल खोल रखा है और उसे बिल समझ कर उसमें पड़ते हुए जंगली जीवोंके द्वारा यह अपनी क्षुधाका प्रतिकार करना चाहता है ॥१७२॥ यह पर्वत अपने लम्बे फैले हुए शिखरोंसे समुद्रके जलका स्पर्श करता है और यह समुद्र वायु-से कम्पित होकर निरन्तर उठती हुई लहरोंकी अनेक छोटी-छोटी बूँदोंसे प्रतिदिन इस गिरि-राजके तटोंको शीतल करता रहता है सो ठीक ही है क्योंकि जिनका अन्तःकरण शीतल अर्थात् शान्त होता है ऐसे महापुरुष समीपमें आये हुए पुरुषको शीतल अर्थात् शान्त करते ही हैं ॥१७३॥

१. रजतमयेषु । २. स्वर्गालये । ३. स्थूलपाषाणम् । ४. कर्षणघर्षण । ५. आर्द्रित । ६. अभिताडयति । ७. शनै. । ८. गुहामुखे । ९. अर्द्धं निर्गमयन् । १० पुरीतत्समूह । ११. विवृणोति । १२. आगच्छद्भिः । १३. आश्रितम् । १४. शैत्ययुक्तहृदयः ।

छन्दः (?)

गङ्गासिन्धू हृदयमिवास्य स्फुटमङ्गे भित्त्वा याता[1] रसिकत्वात्[2] तटभागम् ।
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा पवनविधूतोर्मिकरैः स्वैर्भेद्यं स्त्रीणां ननु महतामप्युरु चेतः ॥१७४॥
सानूनस्य द्रुतमुपयान्ती घनसारात्[3] सारासारा[4] जलदघटेयं समसारान्[5] ।
तारातारा[6] धरणिधरस्य स्वरसारा साराद् व्यक्ति मुहुरुपयाति स्तनितेन ॥१७५॥

मत्तमयूरम्

सारासारा[7] सारसमाला सरसीयं सारं कूजत्यत्र वनान्ते सुरकान्ते[8] ।
सारासारा[9] नीरदमाला नभसीयं तारं[10] मन्द्रं[11] निस्वनतीतः स्वनसारा[12] ॥१७६॥
श्रित्वास्याद्रेः सारमणीद्धं[13] तटभागं सारं[14] तारं[15] चारुतरागं[16] रमणीयम् ।
संभोगान्ते गायति कान्तं[17] रमयन्ती सा रन्तारं[18] चारुतरागं[19] [20]रमणीयम् ॥१७७॥

पुष्पिताग्रा

इह खचरवधूर्नितम्बदेशे ललितलतालयसंश्रिता सहेशाः[21] ।
प्रणयपरवशाः समिद्धदीप्तीर्ह्रियमुपयान्ति विलोक्य सिद्धनार्यः[22] ॥१७८॥

ये गंगा और सिन्धु नदियाँ रसिक अर्थात् जलसहित और पक्षमें शृंगार रससे युक्त होनेके कारण इस पर्वतके हृदयके समान तटको विदीर्ण कर तथा वायुके द्वारा हिलती हुई तरंगों-रूपी अपने हाथोंसे बार-बार स्पर्श कर चली जा रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका बड़ा भारी हृदय भी स्त्रियोंके द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥१७४॥ जिसकी जल-वर्षा बहुत ही उत्कृष्ट है, जो मुक्ताफल अथवा नक्षत्रोंके समान अतिशय निर्मल है और जिसकी गर्जना भी उत्कृष्ट है ऐसी यह मेघोंकी घटा, अधिक मजबूत तथा जिसके सब स्थिर अंश समान हैं ऐसे इस विजयार्ध पर्वतके शिखरोंके समीप यद्यपि बार-बार और शीघ्र-शीघ्र आती है तथापि गर्जनाके द्वारा ही प्रकट होती है। भावार्थ–इस विजयार्ध पर्वतके सफेद शिखरोंके समीप छाये हुए सफेद-सफेद बादल जबतक गरजते नहीं हैं तबतक दृष्टिगोचर नहीं होते ॥१७५॥ इधर देवोंसे मनोहर वनके मध्यभागमें तालाबके बीच इधर-उधर श्रेष्ठ गमन करनेवाली यह सारस पक्षियोंकी पंक्ति उच्च स्वरसे शब्द कर रही है और इधर आकाशमें जोरसे बरसती और शब्द करती हुई यह मेघोंकी माला उच्च और गम्भीर स्वरसे गरज रही है ॥ १७६ ॥ रमण करनेके योग्य, श्रेष्ठ निर्मल और सुन्दर शरीरवाले अपने पतिको प्रसन्न करनेवाली कोई स्त्री संभोगके बाद इस पर्वतके श्रेष्ठमणियोंसे देदीप्यमान तटभागपर बैठकर जिसके अवान्तर अंग अतिशय सुन्दर हैं, जो श्रेष्ठ हैं, ऊँचे स्वरसे सहित हैं और बहुत मनोहर हैं ऐसा गाना गा रही है ॥ १७७ ॥ इधर इस पर्वतके मध्यभागपर सुन्दर लतागृहोंमें बैठी हुई पतिसहित प्रेमके परवश और देदीप्यमान कान्तिकी धारक विद्याधरियोंको देखकर सिद्ध-

---

१. आगच्छताम् । –यातो प० ।–याती म०, ल० । २. जलरूपतया रागितया च । ३. अधिकबलात् । ४, उत्कृष्टवेगवद्वर्षति । ५ समानस्थिरावयवान् । ६ तारा या आयामवती तारा । निर्मला तारा । तारा इति पक्षे अतिनिर्मला स्वरसाराशब्देनोत्कृष्टा । ७. गमनागमनवती । ८. अमरैर्मनोहरे । ९ अधिकोत्कृष्टा वेगवद्वर्षवती वा । १० उच्चं यथा भवति तथा । ११. गम्भीरम् । १२. निर्घोषोत्कृष्टा । १३. उत्कृष्टरत्नप्रवृद्धम् । १४. स्थिरम् । १५. गभीरम् उज्ज्वलं वा । १६. कान्ततरवृक्षम् । १७. प्रियतमम् । १८. रमणशीलम् । १९. अभीतरागम् व्यक्तरागम् । २०. स्त्री । २१. प्रियतमसहिताः । २२. देवभेदस्त्रिय. ।

वसन्ततिलकम्

श्रीमानयं नृसुरखेचरचारणानां सेव्यो जगत्त्रयगुरुर्विधु[1]वीध्रकीर्तिः ।
तुङ्गः शुचिर्भरतसंश्रित[2]पादमूलः पायाद् युवां पुरुरिवानवमो[3] महीध्रः ॥१७९॥

इत्थं गिरः फणिपतौ सनयं[4] ब्रुवाणे तौ तं गिरीन्द्रमभिनन्द्य[5] कृतावतारौ[6] ।
प्राविक्षतां सममनेन[7] पुरं परार्ध्यमुत्तुङ्गकेतुरथनूपुरचक्रवालम् ॥ १८० ॥

तत्राधिरोप्य परिविष्टरमीशितारौ युष्माकमित्यभि[8]दधत्खचरान्समस्तान् ।
राज्याभिषेकमनयोः प्रचकार धीरो विद्याधरीकरधृतैः पृथुहेमकुम्भैः ॥१८१॥

भर्ता नमिर्भवतु संप्रति दक्षिणस्याः श्रेण्या दिवः शतमखोऽधिपतिर्यथैव ।
श्रेण्यां भवेद्विनमिरप्यवनम्यमानो विद्याधरैरवहितै[9]श्चिरमुत्तरस्याम् ॥१८२॥

जातिके देवोंकी स्त्रियाँ लज्जित हो रही हैं ॥ १७८ ॥ यह विजयार्ध पर्वत भी वृषभ जिनेन्द्रके समान है क्योंकि जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र श्रीमान् अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् शोभासे सहित है। जिस प्रकार वृषभ-जिनेन्द्र मनुष्य देव विद्याधर और चारण ऋद्धि-धारी मुनियोंके द्वारा सेवनीय हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी उनके द्वारा सेवनीय है अर्थात् वे सभी इस पर्वतपर विहार करते हैं। वृषभ-जिनेन्द्र जिस प्रकार तीनों जगत्के गुरु हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तीनों जगत्में गुरु अर्थात् श्रेष्ठ है। जिस प्रकार वृषभजिनेन्द्र चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कीर्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी चन्द्र-तुल्य उज्ज्वल कीर्तिका धारक है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार तुंग अर्थात् उदार हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी तुंग अर्थात् ऊँचा है, वृषभजिनेन्द्र जिस प्रकार शुचि अर्थात् पवित्र हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी शुचि अर्थात् शुक्ल है तथा जिस प्रकार वृषभ-जिनेन्द्रके पादमूल अर्थात् चरणकमल भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं उसी प्रकार इस पर्वत के पादमूल अर्थात् नीचेके भाग भी दिग्विजयके समय गुफामें प्रवेश करनेके लिए भरत चक्रवर्तीके द्वारा आश्रित हैं अथवा इसके पादमूल भरत क्षेत्रमें स्थित हैं। इस प्रकार भगवान् वृषभजिनेन्द्रके समान अतिशय उत्कृष्ट यह विजयार्ध पर्वत तुम दोनोंकी रक्षा करे ॥१७९॥

इस प्रकार युक्तिसहित धरणेन्द्रके वचन कहनेपर उन दोनों राजकुमारोंने भी उस गिरिराजकी प्रशंसा की और फिर उस धरणेन्द्रके साथ-साथ नीचे उतरकर अतिशय-श्रेष्ठ और ऊँची-ऊँची ध्वजाओंसे सुशोभित रथनूपुरचक्रवाल नामके नगरमें प्रवेश किया ॥१८०॥ धरणेन्द्रने वहाँ दोनोंको सिंहासनपर बैठाकर सब विद्याधरोंसे कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धीर-वीर धरणेन्द्रने विद्याधरियोंके हाथोंसे उठाये हुए सुवर्णके बड़े-बड़े कलशोंसे इन दोनोंका राज्याभिषेक किया ॥ १८१ ॥ राज्याभिषेकके बाद धरणेन्द्रने विद्याधरोंसे कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्गका अधिपति है उसी प्रकार यह नमि अब दक्षिण श्रेणीका अधिपति हो और अनेक सावधान विद्याधरोंके द्वारा नमस्कार किया गया यह विनमि चिरकाल तक

---

१. चन्द्रवन्निर्मल। २. भरतक्षेत्रे संश्रितप्रत्यन्तपर्वतमूल। पक्षे भरतराजेन ससेवितपादमूल। ३. अनवमः न विद्यते अवमः अवमाननं यस्य स सुन्दर इत्यर्थः। ४. सहेतुकम्। ५. प्रशस्य। ६. *विहिताव-तरणौ*। ७. फणिराजेन। ८. ब्रुवत्। ९. सावधानैः। -

देवो जगद्गुरुरसौ वृषभोऽनुमत्य[1] श्रीमानिमौ प्रहितवान्[2] जगतां विधाता ।
[3]तेनानयोः खचरभूपतयोऽनुरागादाज्ञां वहन्तु शिरसेत्यवदत् फणीन्द्रः ॥१८३॥
तत्पुण्यतो[4] गुरुवियोगनिरूपणाच्च नागाधिभर्तुरुचितादनुशासनाच्च ।
ते तत्तथैव खचराः [5]प्रतिपेदिरे द्राक् कार्यं हि सिद्ध्यति महद्भिरधिष्ठितं[6] यत् ॥१८४॥
गान्धार[7]पन्नगपदोपपदे च विद्ये दत्वा फणा[8]वदधिपो विधिवत्स ताभ्याम् ।
धीरो विसर्ज्य नयविद्विनतौ कुमारौ स्वावासमेव च जगाम कृतस्वकार्यः ॥१८५॥

मालिनी

अथ गतवति तस्मिन्नागराजेऽगराजे रति[9]मधिकमधत्तां[10] तौ युवानौ युवानौ[11] ।
मुहुरुपहृत[12]नानानूनभोगैर्नभोगैर्मुकुलित[13]करमौलिव्यक्तमाराध्यमानौ ॥१८६॥
[14]नियतिमिव खगाद्रेर्मेखलां तामलङ्घ्यां [15]सुकृतिजननिवासात्नाकानुकाराम् ।
जिनसमवसृतिं वा[16] विश्वलोकाभिनन्द्यां नमिविनमिकुमारावध्य[17]वात्तामुदारात्ताम् ॥१८७॥

मन्दाक्रान्ता

विद्यासिद्धिं [18]विधिनियमितां भावयन्तौ नयन्तौ विद्यावृद्धैः सममभिमतामर्थ[19]सिद्धिं प्रसिद्धिम् ।
विद्याधीनान् षड्ऋतुसुखदान्निर्विशन्तौ च भोगान् तौ तत्रादौ [20]स्थितिमभजतां खेचरैः संविभक्ताम् ॥

उत्तर-श्रेणीका अधिपति रहें। कर्मभूमिरूपी जगत्को उत्पन्न करनेवाले जगद्गुरु श्रीमान् भगवान् वृषभदेवने अपनी सम्मतिसे इन दोनोंको यहाँ भेजा है इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेमसे मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें॥१८२-१८३॥ उन दोनोंके पुण्यसे तथा जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी आज्ञाके निरूपणसे और धरणेन्द्रके योग्य उपदेशसे उन विद्याधरोंने वह सब कार्य उसके कहे अनुसार ही स्वीकृत कर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंके द्वारा हाथमें लिया हुआ कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाता हैं॥१८४॥ इस प्रकार नयोंको जाननेवाले धीर-वीर धरणेन्द्रने उन दोनोंको गान्धारपदा और पन्नगपदा नामकी दो विद्याएँ दीं और फिर अपना कार्य पूरा कर विनयसे झुके हुए दोनों राजकुमारोंको छोड़कर अपने निवासस्थानपर चला गया॥१८५॥ तदनन्तर धरणेन्द्रके चले जानेपर नाना प्रकारके सम्पूर्ण भोगोपभोगोंको बार-बार भेंट करते हुए विद्याधर लोग हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर स्पष्ट रूपसे जिनकी सेवा करते हैं ऐसे वे दोनों कुमार उस पर्वतपर बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे॥१८६॥ जो अपने-अपने भाग्यके समान अलंघनीय है, पुण्यात्मा जीवोंका निवास होनेके कारण जो स्वर्गका अनुकरण करती है तथा जो जिनेन्द्र भगवान्के समवसरणके समान सब लोगोंके द्वारा वन्दनीय है ऐसी उस विजयार्ध पर्वतकी मेखलापर वे दोनों राजकुमार सुखसे रहने लगे थे॥१८७॥ जिन्होंने स्वयं विधिपूर्वक अनेक विद्याएँ सिद्ध की हैं और विद्यामें चढ़े-बढ़े पुरुषोंके साथ मिलकर अपने अभिलषित अर्थको सिद्ध किया है ऐसे वे दोनों ही कुमार विद्याओंके अधीन प्राप्त होनेवाले तथा छहों ऋतुओंके सुख देनेवाले भोगोंका उपभोग करते हुए उस पर्वतपर विद्याधरोंके द्वारा विभक्त की हुई स्थितिको प्राप्त हुए थे। भावार्थ-यद्यपि वे जन्मसे विद्याधर नहीं थे तथापि वहाँ जाकर उन्होंने स्वयं अनेक विद्याएँ सिद्ध कर ली थीं

१ अनुमतिं कृत्वा। २ प्रेरितवान्। ३. तेन कारणेन। ४ स्वत्पुण्यतः स्वत्कुमारयोः सुकृतात्। ५ अनुमेदिरे। ६. आश्रितम्। ७. गान्धारविद्या पन्नगविद्या चेति द्वे विद्ये। ८. फणीश्वर। ९. रतोपम्। १० -मधात्ता प०, अ०, द०, ल०, म०। ११ सम्पर्कं कुर्वाणौ। 'यु मिश्रणे'। १२. प्राप्त। १३ कुड्मलित, हस्तघटितमकुटं यथा भवति तथा। १४ विधिम्। १५. पुण्यवज्जन, पक्षे सुरजन। १६. इव। १७. अधिवसति स्म। १८ विधान। १९ प्रयोजनम्। २०. मर्यादाम्।

आज्ञामूहुः खचरनरपाः[1] सन्नतैरुत्तमाङ्गैर्यूनोः सेवामनुनयपरामेनयोराचरन्तः ।
क्वेमौ जातौ क्व च पदमिदं न्यक्कृतारातिचक्रं खे खेन्द्राणां[2] घटयति नृणां पुण्यमेवात्मनीनम्[3] ॥१८९॥

मालिनी

नमिरनमयदुच्चैर्भोगसंपत्प्रतीतान् गगनचरपुरीन्द्रान् दक्षिणश्रेणिभाजः ।
विनमिरपि विनम्रानातनोति स्म विश्वान् खचरपुरवरेशानुत्तरश्रेणिभाज. ॥१९०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

ताविथ्यं प्रविभज्य राजतनयौ वैद्याधरीं[4] तां श्रियं
भुञ्जानौ विजयार्धपर्वततटे निष्कण्टकं तस्थतुः ।
पुण्यादित्यनयोर्विभूतिरभवल्लोकेशपादाश्रितोः[5]
पुण्यं तेन[6] कुरुध्वमभ्युदयदां लक्ष्मीं समाशंसव.[7] ॥१९१॥
नत्वा देवमिमं चराचरगुरुं त्रैलोक्यनाथार्चितं
भक्तौ तौ सुखमापतुः समुचितं विद्याधराधीश्वरौ ।
तस्मादादिगुरुं प्रणम्य शिरसा भक्त्यार्चयन्त्वङ्गिनो
वाञ्छन्तः सुखमक्षयं जिनगुणप्राप्तिं च नैश्रेयसीम् ॥१९२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
नमिविनमिराज्यप्रतिष्ठापनं नामैकोनविंशतितमं पर्व ॥१९॥

और दूसरे विद्यावृद्ध मनुष्योंके साथ मिलकर वे अपना अभिलषित कार्य सिद्ध कर लेते थे इसलिए विद्याधरोंके समान ही भोगोपभोग भोगते हुए रहते थे ॥१८८॥ इन दोनों कुमारोंको प्रसन्न करनेवाली सेवा करते हुए विद्याधर लोग अपना-अपना मस्तक झुकाकर उन दोनोंकी आज्ञा धारण करते थे। गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्, ये नमि और विनमि कहाँ तो उत्पन्न हुए और कहाँ उन्हें समस्त शत्रुओंको तिरस्कृत करनेवाला यह विद्याधरोंके इन्द्रका पद मिला। यथार्थमें मनुष्यका पुण्य ही सुखदायी सामग्रीको मिलाता रहता है ॥१८९॥ नमि कुमारने बड़ी-बड़ी भोगोपभोगकी सम्पदाओंको प्राप्त हुए दक्षिण श्रेणीपर रहनेवाले समस्त विद्याधर नगरियोंके राजाओंको वशमें किया था और विनमिने उत्तरश्रेणीपर रहनेवाले समस्त विद्याधर नगरियोंके राजाओंको नम्रीभूत किया था ॥१९०॥

इस प्रकार वे दोनों ही राजकुमार विद्याधरोंकी उस लक्ष्मीको विभक्त कर विजयार्ध पर्वतके तटपर निष्कंटक रूपसे रहते थे। हे भव्य जीवो, देखो, भगवान् वृषभदेवके चरणोंका आश्रय लेनेवाले इन दोनों कुमारोंको पुण्यसे ही उस प्रकारकी विभूति प्राप्त हुई थी इसलिए जो जीव स्वर्ग आदिकी लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते हैं वे एक पुण्यका ही संचय करें ॥१९१॥ चर और अचर जगत्के गुरु तथा तीन लोकके अधिपतियों-द्वारा पूजित भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर ही दोनों भक्त विद्याधरोंके अधीश्वर होकर उचित सुखको प्राप्त हुए थे इसलिए जो भव्य जीव मोक्षरूपी अविनाशी सुख और परम कल्याणरूप जिनेन्द्र भगवान्के गुण प्राप्त करना चाहते हैं वे आदिगुरु भगवान् वृषभदेवको मस्तक झुकाकर प्रणाम करें और उन्हींकी भक्तिपूर्वक पूजा करें ॥१९२॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्री महापुराणसंग्रहमें नमि-विनमिकी राज्यप्राप्तिका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१९॥

---

१. खचरतनयाः अ० । २. शून्ये खेटेन्द्राणाम् प०, द० । ३. आत्महितं वस्तु । ४. विद्याधरसम्बन्धिनीम् । ५. परमेश्वरचरणाश्रितयोः । ६. कारणेन । ७. इच्छव. ।

विंशं पर्व

प्रपूर्यन्ते स्म षण्मासास्तस्याथो योगधारिणः । गुरोर्मेरोरिवाचिन्त्यमाहात्म्यस्याचलस्थितेः ॥१॥
ततोऽस्य मतिरित्यासीद् [1] यतिचर्याप्रबोधने । कायस्थित्यर्थनिर्दोषविश्वाणान्वेषणं [2] प्रति ॥२॥
अहो भग्ना महावंशा बतामी नवसंयताः । सन्मार्गस्यापरिज्ञानात् सद्योऽमीभिः परीषहैः ॥३॥
मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये । कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना ॥४॥
न केवलमयं कायः कर्शनीयो [3] मुमुक्षुभिः । नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च [4] वल्भनैः [5] ॥५॥
वशे यथा स्युरक्षाणि नोत [6] [7] धावन्त्यनूत्पथम् [8] । तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥६॥
दोषनिर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः । प्राणसन्धारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः [9] ॥७॥
कायक्लेशो मतस्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता । संक्लेशे ह्यसमाधानं मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥८॥
सिद्ध्यै संयमयात्राया [10] [11] स्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः । ग्राह्यो निर्दोष आहारो [12] रसासंगाद् विनर्षिभिः ॥९॥
भगवानिति निश्चिन्वन् योगं संहृत्य [13] धीरधीः । प्रचचाल महीं कृत्स्नां चालयन्निव विक्रमैः [14] ॥१०॥

अथानन्तर–जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है और जो मेरु पर्वतके समान अचल स्थितिको धारण करनेवाले हैं ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको योग धारण किये हुए जब छह माह पूर्ण हो गये ॥१॥ तब यतियोंकी चर्या अर्थात् आहार लेनेकी विधि बतलानेके उद्देश्यसे शरीरकी स्थितिके अर्थ निर्दोष आहार ढूँढ़नेके लिए उनकी इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई–वे ऐसा विचार करने लगे ॥२॥ कि बड़े दुःखकी बात है कि बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए ये नवदीक्षित साधु समीचीन मार्गका परिज्ञान न होनेके कारण इन क्षुधा आदि परीषहोंसे शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये ॥३॥ इसलिए अब मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए और सुखपूर्वक मोक्षकी सिद्धिके लिए शरीरकी स्थिति अर्थ आहार लेनेकी विधि दिखलाता हूँ ॥४॥ मोक्षाभिलाषी मुनियोंको यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मनचाहे भोजनोंसे इसे पुष्ट ही करना चाहिए ॥५॥ किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वशमें रहें और कुमार्गकी ओर न दौड़ें उस प्रकार मध्यम वृत्तिका आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए ॥६॥ वात, पित्त और कफ आदि दोष दूर करनेके लिए उपवास आदि करना चाहिए तथा प्राण धारण करनेके लिए आहार ग्रहण करना भी जैन-शास्त्रोंमें दिखलाया गया है ॥७॥ कायक्लेश उतना ही करना चाहिए जितनेसे संक्लेश न हो। क्योंकि संक्लेश हो जानेपर चित्त चंचल हो जाता है और मार्गसे भी च्युत होना पड़ता है ॥८॥ इसलिए संयमरूपी यात्राकी सिद्धिके लिए शरीरकी स्थिति चाहनेवाले मुनियोंको रसोंमें आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए ॥९॥ इस प्रकार निश्चय करनेवाले धीर-वीर भगवान् वृषभदेव योग समाप्त कर अपने चरण-निक्षेपों (डगों) के द्वारा मानो समस्त पृथ्वीको कम्पायमान करते हुए विहार करने लगे ॥१०॥

---

१ यत्याचार। २ भोजनगवेषणम्। ३ कृशीकरणीयः। ४ मुखप्रियैः। ५ आहारैः। ६ उत अथवा। नो विधावन्त्यनूत्पथम् ल, म०। ७ गच्छन्ति। ८ उन्मार्गं प्रति। ९. परमागमे प्रतिपादितः। १० प्रापणायाः। ११ तत् कारणात्। १२. स्वादासक्तिमन्तरेण। १३ परिहृत्य। १४ पदन्यासैः।

तदा भट्टारके याति[1] महामेराविवोन्नते । धरणी पादविन्यासान्[2] प्रत्यैच्छदनुकम्पिनी ॥११॥
[3]धात्री पदभराक्रान्ता[4] संन्यमंक्ष्यदधस्तले । नाभविष्यत्प्रयत्नश्चेत्तपसोर्याश्रिते[5] विभो ॥१२॥
ततः पुराकरग्रामान्[6] समडम्वान् सखर्वडान् । सखेटान् विजहारोच्चैः स श्रीमान् जङ्गमाद्रिवत् ॥१३॥
यतो यतः पद धत्ते[7] मौनी चर्या[8] स्म संश्रित. । ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमन्त्येत्य[9] सम्भ्रमात् ॥१४॥
प्रसीद देव किं कृत्यमिति केचिज्ज[10] गुर्गिरम् । [11]तूष्णीम्भावं व्रजन्तं च केचित्तमनुवव्रजु.[12] ॥१५॥
परे परार्ध्यरत्नानि समानीय पुरो[13] न्यधु । इत्यूचुश्च प्रसीदैनामिज्यां प्रतिगृहाण नः ॥१६॥
वस्तुवाहनकोटीश्च विभो. केचिदढौकयन्[14] । भगवांस्तास्वनर्थित्वात्[15] तूष्णीकां[16] विजहार सः ॥१७॥
केचित् स्रग्वस्त्रगन्धादीनानयन्ति स्म सादरम् । भगवन् परिधत्स्वेति[17] पटल्यां सह भूषणैः ॥१८॥
केचित् कन्याः समानीय रूपयौवनशालिनीः । परिणाययितुं देवमुद्यता धिग्विमूढताम् ॥१९॥
केचिन्मज्जनसामग्र्या संश्रित्यो[18] पारुधन् विभुम् । परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे[19] ॥२०॥

जिस समय महामेरुके समान उन्नत भगवान् वृषभदेव विहार कर रहे थे उस समय कम्पायमान हुई यह पृथिवी उनके चरणकमलोंके निक्षेपको स्वीकृत कर रही थी ॥११॥ यदि उस समय भगवान् वृषभदेवने ईर्यासमितिसे युक्त तपश्चरण धारण करनेमें प्रयत्न न किया होता तो सचमुच ही यह पृथिवी उनके चरणोंके भारसे दबकर अधोलोकमें डूब गयी होती। भावार्थ–भगवान् ईर्यासमितिसे गमन करनेके कारण धीरे-धीरे पैर रखते थे इसलिए पृथ्वीपर उनका अधिक भार नहीं पड़ता था ॥१२॥ तदनन्तर चलते हुए पर्वतके समान उन्नत और शोभायमान भगवान् वृषभदेवने अनेक नगर, ग्राम, मडम्ब, खर्वट और खेटोंमें विहार किया था ॥१३॥ मुनियोंकी चर्याको धारण करनेवाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे वहीं-वहींके लोग प्रसन्न होकर और बड़े संभ्रमके साथ आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥१४॥ उनमें-से कितने ही लोग कहने लगते थे कि हे देव, प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है तथा कितने ही लोग चुपचाप जाते हुए भगवान्के पीछे-पीछे जाने लगते थे ॥१५॥ अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवान्के सामने रखते थे और कहते थे कि देव, प्रसन्न होइए और हमारी इस पूजाको स्वीकृत कीजिए ॥१६॥ कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ और करोड़ों प्रकारकी सवारियाँ भगवान्के समीप लाते थे परन्तु भगवान्को उन सबसे कुछ भी प्रयोजन नहीं था इसलिए वे चुपचाप आगे विहार कर जाते थे ॥१७॥ कितने ही लोग माला, वस्त्र, गन्ध और आभूषणोंके समूह आदरपूर्वक भगवान्के समीप लाते थे और कहते थे कि हे भगवन्, इन्हें धारण कीजिए ॥१८॥ कितने ही लोग रूप और यौवनसे शोभायमान कन्याओंको लाकर भगवान्के साथ विवाह करानेके लिए तैयार हुए थे सो ऐसी मूर्खताको धिक्कार हो ॥१९॥ कितने ही लोग स्नान करनेकी सामग्री लाकर भगवान्को घेर लेते थे और कितने ही लोग भोजनकी सामग्री सामने रखकर प्रार्थना करते थे कि विभो, मैं स्नान

---

१ आगच्छति सति । २ स्वीकृतवती । पादविक्षेपसमये पाणितलं प्रसार्य पादौ धृतवतीति भाव । ३ चलनवती, घ्ननी कृपावती । ४ अधिक निमज्जनमकरिष्यत् तर्हि पाताले निमज्जतीत्यर्थः । 'टुमस्जो शुद्धौ' । लृङ् । सत्यमङ्क्ष्य–द०, ल०, म० । ५ ईर्यासमित्याश्रिते । ६ समटम्बान् सखर्वटान् ल०, म०, द० । ७. मुनिसंबन्धिनीम् । ८. वर्तनाम् । ९ आगत्य । १० ऊचु । ११. तूष्णीमित्यर्थः । १२ सह गच्छन्ति स्म । १३. गुरोरग्रे न्यस्यन्ति स्म । १४ प्रापयामासु । १५ अनभिलाषित्वात् । १६ स्वार्थे कप्रत्ययात्, तूष्णीमित्यर्थ. । तूष्णीकं द०, प०, स० । १७ पटल्या अ०, प०, द०, ल०, म० । १८ प्रार्थयन्ति स्म । १९ पूजयामासु ।

विभो भोजनमानीतं प्रसीदोपविशासने । समं मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने ॥२१॥
एषोऽञ्जलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः । इत्येकेऽभ्यर्थिषत[1] मुग्धा विभुमज्ञाततत्क्रमाः ॥२२॥
केचित् पादानुपादाय तत्पांशुस्पर्शपावनैः । प्रणतैर्मस्तकैर्नाथमनाथिषत[2] भुक्तये ॥२३॥
इदं खाद्यमिदं स्वाद्यमिदं भोज्यं[3] पृथग्विधम् । मुहुर्मुहुरिदं पेयं[4] हृद्यमाप्यायनं[5] तनोः ॥२४॥
तैरित्यभ्यर्थ्यमानोऽपि[6] [7]सम्भ्रान्तैरलमिज्ञकैः । [8]न कल्प्यमिति मन्वानस्तूष्णीमेवापससृवान्[9] ॥२५॥
विभोर्निगूढचर्यस्य मतं[10] ज्ञातुमनीश्वराः[11] । केचित् कर्तव्यतामूढाः स्थिताश्चित्रेष्विवार्पिताः ॥२६॥
सपुत्रदारैरन्यैश्च [12]पदालग्नैरुदश्रुभिः । [13]क्षणविघ्निततच्चर्यो भूयोऽपि विजहार सः ॥२७॥
इत्यस्य परमां चर्यां चरतोऽज्ञातचर्यया । जगदाश्चर्यकारिण्या मासाः षडपरे ययुः ॥२८॥
ततः संवत्सरे पूर्णे पुरं [14]हास्तिनसाह्वयम् । कुरुजाङ्गलदेशस्य ललामं[15] वाससाद सः ॥२९॥
तस्य पाता[16] [17]तदासीच्च कुरुवंशशिखामणिः । सोमप्रभः प्रसन्नात्मा[18] सोमसौम्याननो नृपः ॥३०॥
तस्यानुजः कुमारोऽभूच्छ्रेयान् श्रेयान्गुणोदयैः । रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्त्या[19] स भानुमान् ॥३१॥

की सामग्रीके साथ-साथ भोजन लाया हूँ, प्रसन्न होइए, इस आसनपर बैठिए और स्नान तथा भोजन कीजिए ॥२०-२१॥ चर्याकी विधिको नहीं जाननेवाले कितने ही मूर्ख लोग भगवान्से ऐसी प्रार्थना करते थे कि हे भगवन्, हम लोग दोनों हाथ जोड़ते हैं, प्रसन्न होइए और हमें अनुगृहीत कीजिए ॥२२॥ कितने ही लोग भगवान्के चरण-कमलोंको पाकर और उनकी धूलिके स्पर्शसे पवित्र हुए अपने मस्तक झुकाकर भोजन करनेके लिए उनसे बार-बार प्रार्थना करते थे ॥२३॥ और कहते थे कि हे भगवन्, यह खाद्य पदार्थ है, यह स्वाद्य पदार्थ है, यह जुदा रखा हुआ भोज्य पदार्थ है, और यह शरीरको सन्तुष्ट करनेवाला, अतिशय मनोहर बार-बार पीने योग्य पेय पदार्थ है इस प्रकार संभ्रान्त हुए कितने ही अज्ञानी लोग भगवान्से बार-बार प्रार्थना करते थे परन्तु 'ऐसा करना उचित नहीं है' यही मानते हुए भगवान् चुपचाप वहाँसे आगे चले जाते थे ॥२४-२५॥ जिनकी चर्याकी विधि अतिशय गुप्त है ऐसे भगवान्के अभिप्रायको जाननेके लिए असमर्थ हुए कितने ही लोग क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इस विषयमें मूढ होकर चित्रलिखितके समान निश्चल ही खड़े रह जाते थे ॥२६॥ अन्य कितने ही लोग आँखोंसे आँसू डालते हुए अपने पुत्र तथा स्त्रियोंसहित भगवान्के चरणोंमें आ लगते थे जिससे क्षण-भरके लिए भगवान्की चर्यामें विघ्न पड़ जाता था परन्तु विघ्न दूर होते ही वे फिर भी आगेके लिए विहार कर जाते थे ॥२७॥ इस प्रकार जगत्को आश्चर्य करनेवाली गूढ चर्यासे उत्कृष्ट चर्या धारण करनेवाले भगवान्के छह महीने और भी व्यतीत हो गये ॥२८॥ इस तरह एक वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् वृषभदेव कुरुजांगल देशके आभूषणके समान सुशोभित हस्तिनापुर नगरमें पहुँचे ॥२९॥ उस समय उस नगरके रक्षक राजा सोमप्रभ थे। राजा सोमप्रभ कुरुवंशके शिखामणिके समान थे, उनका अन्तःकरण अतिशय प्रसन्न था और मुख चन्द्रमाके समान सौम्य था ॥३०॥ उनका एक छोटा भाई था जिसका नाम श्रेयान्सकुमार था। वह श्रेयान्सकुमार गुणोंकी वृद्धिसे श्रेष्ठ था, रूपसे कामदेवके समान था, कान्तिसे चन्द्रमा

---

१ सत्कारपूर्वकं प्रार्थितवन्तः । 'इष इच्छायाम्' ण्यन्तात् लुङ् । २. प्रार्थयामासुः । अनाथिषत इत्यपि क्वचित् । ३. भोक्तुं योग्यम् । ४. पातुं योग्यम् । ५. सन्तृप्तिकारकम् । ६. प्रार्थ्यमानः । ७. इतस्ततः परिभ्रमद्भिः । ८. न कृत्यम् । ९. अपसरति स्म । गतवानित्यर्थः । १०. अभिप्रायम् । ११. असमर्थाः । १२ पादालग्नैः–ल०, म०, अ० । पादलग्नैः–प०, द० । १३. सा चासौ चर्या च तच्चर्या क्षणं विघ्निता तच्चर्या यस्य । १४. हास्तिनमित्याह्वयेन सहितम् । १५. 'ललाम च ललामं च भूषावालध्वजिषु ।' तिलकमित्यर्थः । १६ पालकः । १७. तत्काले । १८. प्रसन्नबुद्धिः । १९. तेजसा ।

धनदेवचरो योऽसावहमिन्द्रो दिवश्च्युतः। स श्रेयानित्यभूच्छ्रेयः[1] प्रजानां श्रेयसां निधिः ॥३२॥
सोऽदर्शद् भगवत्यस्यां पुरि संनिधिमेष्यति[2]। शर्वर्याः पश्चिमे यामे स्वप्नानेतान् शुभावहान् ॥३३॥
सुमेरुमैक्षतोत्तुङ्गं हिरण्मयमहातनुम्। कल्पद्रुमं च शाखाग्रलम्बि भूषणभूषितम् ॥३४॥
सिंहं संहार[3] सध्याभ[4]केसरोद्ध[5]रकन्धरम्। शृङ्गाग्रलग्नमृत्स्नं च वृषभं कूलमुद्रुजम्[6] ॥३५॥
सूर्येन्दू भुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती। [7]सरस्वन्तमपि प्रोच्चैर्वीचिं[8]रत्नाचितार्णसम् ॥३६॥
अष्टमङ्गलधारीणि भूतरूपाणि[9] चाग्रतः[10]। सोऽपश्यद् भगवत्पाददर्शनैकफलानिमान् ॥३७॥
सप्रश्रयमथासाद्य प्रभाते प्रीतमानसः। सोमप्रभाय तान् स्वप्नान् यथादृष्टं न्यवेदयत् ॥३८॥
ततः पुरोधाः[11] कल्याणं फलं तेषाममाषत। प्रसरद्दशनज्योत्स्नाप्रधौतककुबन्तरः ॥३९॥
मेरुसन्दर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः। मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटम् ॥४०॥
तद्गुणोन्नतिमन्ये च स्वप्नाः संसूचयन्त्यमी। तस्यानुरूपविनयैर्महान् पुण्योदयोऽद्य नः ॥४१॥
प्रशंसां जगति ख्यातिमनल्पां लाभसंपदम्। प्राप्स्यामो नात्र सन्दिह्मः[12] कुमारश्चात्र[13] तत्त्ववित्[14] ॥४२॥

के समान था और दीप्तिसे सूर्यके समान था ॥३१॥ जो पहले धनदेव था और फिर अहमिन्द्र हुआ था वह स्वर्गसे चय कर प्रजाका कल्याण करनेवाला और स्वयं कल्याणोंका निधिस्वरूप श्रेयान्सकुमार हुआ था ॥३२॥ जब भगवान् इस हस्तिनापुर नगरके समीप आनेको हुए तब श्रेयान्सकुमारने रात्रिके पिछले पहरमें नीचे लिखे स्वप्न देखे ॥३३॥ प्रथम ही सुवर्णमय महा शरीरको धारण करनेवाला और अतिशय ऊँचा सुमेरु पर्वत देखा, दूसरे स्वप्नमें शाखाओंके अग्रभागपर लटकते हुए आभूषणोंसे सुशोभित कल्पवृक्ष देखा, तीसरे स्वप्नमें प्रलयकाल-सम्बन्धी सन्ध्याकालके मेघोंके समान पीली-पीली अयालसे जिसकी ग्रीवा ऊँची हो रही है ऐसा सिंह देखा, चौथे स्वप्नमें जिसके सींगके अग्रभागपर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारा उखाड़ता हुआ बैल देखा, पाँचवे स्वप्नमें जिनकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान हो रही है और जो जगत्-के नेत्रोंके समान है ऐसे सूर्य और चन्द्रमा देखे, छठे स्वप्नमें जिसका जल बहुत ऊँची उठती हुई लहरों और रत्नोंसे सुशोभित हो रहा है ऐसा समुद्र देखा तथा सातवें स्वप्नमें अष्टमंगल द्रव्य धारण कर सामने खड़ी हुई भूत जातिके व्यन्तर देवोंकी मूर्तियाँ देखीं। इस प्रकार भगवान्-के चरणकमलोंका दर्शन ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुए सात स्वप्न श्रेयान्स-कुमारने देखे ॥३४-३७॥ तदनन्तर जिसका चित्त अतिशय प्रसन्न हो रहा है ऐसे श्रेयान्स-कुमारने प्रातःकालके समय विनयसहित राजा सोमप्रभके पास जाकर उनसे रात्रिके समय देखे हुए वे सब स्वप्न ज्योंके-त्यों कहे ॥३८॥ तदनन्तर जिसकी फैलती हुई दाँतोंकी किरणोंसे सब दिशाएँ अतिशय स्वच्छ हो गयीं हैं ऐसे पुरोहितने उन स्वप्नोंका कल्याण करनेवाला फल कहा ॥३९॥ वह कहने लगा कि हे राजकुमार, स्वप्नमें मेरुपर्वतके देखनेसे यह प्रकट होता है कि जो मेरुपर्वतके समान अतिशय उन्नत (ऊँचा अथवा उदार) है और मेरुपर्वतपर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव आज अवश्य ही अपने घर आयेगा ॥४०॥ और ये अन्य स्वप्न भी उन्हींके गुणोंकी उन्नतिको सूचित करते हैं। आज उन भगवान्के योग्य की हुई विनयके द्वारा हम लोगोंके बड़े भारी पुण्यका उदय होगा ॥ ४१ ॥ आज हम लोग जगत्में बड़ी भारी प्रशंसा प्रसिद्धि और लाभसम्पदाको प्राप्त होंगे—इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है और कुमार

---

१. आश्रयणीय। २. समीपमागमिष्यति सति। ३. प्रलयकाल.। ४. संध्याभ्र-द०, ल०, म०। ५. उत्कट, भयंकर। ६. तटं खनन्तम्। ७. समुद्रम्। 'सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यभिधानात्। ८. रत्नाकीर्ण-जलम्। ९. व्यन्तरदेवतारूपाणि। १०. पुर। ११. पुरोहितः। १२. सन्देहं न कुर्मः। १३ अस्मिन् विषये। १४. यथास्वरूपवेदी।

इति तद्वचनात् प्रीतौ तौ तत्सकथया स्थितौ । यावत्तावत्स योगीन्द्रः प्राविशद्धास्तिनं पुरम् ॥४३॥
तदा कोलाहलो भूयानभूत्तत्संदिदृक्षया । इतस्ततश्च मिलतां[1] पौराणां मुखनि गृत ॥४४॥
भगवानादिकर्तास्मान् प्रपालयितुमागतः । पश्यामोऽत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तित. ॥४५॥
वनप्रदेशाद् भगवान् प्रत्यावृत्त. सनातनः । अनुगृहीतुमेवास्मानित्यूचुः केचनोचितम् ॥४६॥
केचित् परापर[2]ज्ञस्य सदर्शनसमुत्सुकाः । पौरास्त्यक्तान्यकर्तव्याः [3]सद्धावुरितोऽमुतः ॥४७॥
अयं स भगवान् दूराल्लक्ष्यते [4]प्रांशुविग्रहः । गिरीन्द्र इव निष्टप्त[5]जात्यकाञ्चनसच्छविः ॥४८॥
श्रूयते यः श्रुतश्रुत्या[6] जगदेकपितामह. । स नः सनातनो दिष्टया यात. प्रत्यक्षसंनिधिम् ॥४९॥
दृष्टेऽस्मिन्[7] सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन् सफले श्रुती । स्मृतेऽस्मिन् जन्तुरज्ञोऽपि व्रजत्यन्तःपवित्रताम् ॥५०॥
सर्वसंगविनिर्मुक्तो [8]दीप्रप्रोत्तुङ्गविग्रहः । [9]घनरोधविनिर्मुक्तो भाति भास्वानिव प्रभुः ॥५१॥
इदमाश्चर्यमाश्चर्यं यदेष जगतां पति. । विहरत्येवमेकाकी त्यक्तसर्वपरिच्छद.[10] ॥५२॥
अथवा श्रुतमस्माभिः [11]स्वाधीनसुखकाम्यया । करीव यूथपो[12] नाथो वनं प्रस्थित[13]वानिति ॥५३॥

श्रेयान्स भी स्वयं स्वप्नोंके रहस्यको जाननेवाले हैं ॥४२॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोंसे प्रसन्न हुए वे दोनों भाई स्वप्न अथवा भगवान्की कथा कहते हुए बैठे ही थे कि इतनेमें ही योगिराज भगवान् वृषभदेवने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥४३॥ उस समय भगवान्के दर्शनोंकी इच्छासे जहाँ-तहाँसे आकर इकट्ठे हुए नगरनिवासी लोगोंके मुखसे निकला हुआ बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥४४॥ कोई कह रहा था कि आदिकर्ता भगवान् वृषभदेव हम लोगोंका पालन करनेके लिए यहाँ आये हैं, चलो, जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥४५॥ कितने ही लोग ऐसे उचित वचन कह रहे थे कि सनातन भगवान् केवल हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही वन-प्रदेशसे वापिस लौटे हैं ॥४६॥ इस लोक और परलोकको जाननेवाले भगवान्के दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हुए कितने ही नगरनिवासी जन अन्य सब काम छोड़कर इधरसे उधर दौड रहे थे ॥४७॥ कोई कह रहा था कि जिनका शरीर सुमेरु पर्वतके समान अतिशय ऊँचा है और जिनकी कान्ति तपाये हुए उत्तम सुवर्णके समान अतिशय देदीप्यमान है ऐसे ये भगवान् दूरसे ही दिखाई देते हैं ॥४८॥ संसारका कोई एक पितामह है ऐसा जो हम लोग केवल कानोंसे सुनते थे वे ही सनातन पितामह भाग्यसे आज हम लोगोंके प्रत्यक्ष हो रहे हैं-हम उन्हें अपनी आँखोंसे भी देख रहे हैं ॥४९॥ इन भगवान्के दर्शन करनेसे नेत्र सफल हो जाते हैं, इनका नाम सुननेसे कान सफल हो जाते हैं और इनका स्मरण करनेसे अज्ञानी जीव भी अन्तःकरणकी पवित्रताको प्राप्त हो जाते हैं ॥५०॥ जिन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है और जिनका अतिशय ऊँचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है ऐसे ये भगवान् मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥५१॥ यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान् तीन लोकके स्वामी होकर भी सब परिग्रह छोड़कर इस तरह अकेले ही विहार करते हैं ॥५२॥ अथवा जो हम लोगोंने पहले सुना था कि भगवान्ने स्वाधीन सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे झुण्डकी रक्षा करनेवाले हाथीके समान वनके लिए प्रस्थान किया है सो वह इस समय सत्य मालूम होता है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान्

१. 'मिल सघाते' । २. पूर्वापरवेदिन । ३. वेगेन गच्छन्ति स्म । ४ उन्नतशरीर. । ५. उत्तमसुवर्ण । ६ श्रवणपरम्परया । ७. परमेश्वरे । ८ दीप्त-ल०, म० । ९ बहुजनोपरोध, पक्षे मेघाच्छादन । १०. परिकर । ११ स्वायत्तसुखवाञ्छया । १२ यूथनाथ । १३ गतवान् ।

तत्सत्यमधुना स्वैरं मुक्तसङ्गो निरम्बरः । [2]अव्यथो विहरत्येवमेककः[3] परमेश्वरः ॥५४॥

यथास्वं विहरन् देशानस्मद्भाग्यादिहागतः । वन्द्यः पूज्योऽभि[4]गम्यश्चेत्येके श्लाघ्यं वचो जगुः ॥५५॥

चेटि बालकमादाय स्तन्यं पायय याम्यहम् । द्रष्टुं भगवतः पादाविति काचित्[5] व्यभाषत ॥५६॥

प्रसाधनमिदं तावदास्तां मे सहमज्जनम् । पूतैर्दृष्टिजलैर्भर्तुः स्नास्यामीत्यपरा जगुः ॥५७॥

भगवन्मुखबालार्कदर्शनान्नो मनोऽम्बुजम् । चिरं प्रबोधमायातु पश्यामोऽद्य जगद्गुरुम् ॥५८॥

खलु भुक्त्वा[6] [7]लघूत्तिष्ठ गृहाणार्घ[8]मिमं सखि । पूजयामो जगत्पूज्यं गत्वेत्यन्या जगौ गिरम् ॥५९॥

स्नानाशनादिसामग्रीमवमत्य[9] पुरोगताम् । गता एव तदा पौराः प्रभुं द्रष्टुं [10]पुरोगतम् ॥६०॥

गतानुगतिकाः केचित् केचिद् भक्तिमुपागताः । परे कौतुकसाद्भूता[11] कृतेशं द्रष्टुमुद्यताः ॥६१॥

इति नानाविधैर्जल्पैः संकल्पैश्च हिरुक्कृतैः[12] । समीक्षाञ्चक्रिरे[13] पौरा दूरात् प्रणामानताः ॥६२॥

अहंपूर्वमहंपूर्वमित्युपैतैः[14] समन्ततः । तदा रुद्धमभूत् पौरैः पुरमाराजमन्दिरात्[15] ॥६३॥

स तु संवेगवैराग्यसिद्ध्यै बद्धपरिच्छदः । जगत्कायस्वभावादितत्त्वानुध्यान[16]मामनन्[17] ॥६४॥

समस्त परिग्रह और वस्त्र छोड़कर बिना किसी कष्टके इच्छानुसार अकेले ही विहार कर रहे हैं ॥५३-५४॥ ये भगवान् अपनी इच्छानुसार अनेक देशोंमें विहार करते हुए हम लोगोंके भाग्यसे ही यहाँ आये हैं इसलिए हमें इनकी वन्दना करनी चाहिए, पूजा करनी चाहिए और इनके सम्मुख जाना चाहिए, इस प्रकार कितने ही लोग प्रशंसनीय वचन कह रहे थे ॥५५॥ उस समय कोई स्त्री अपनी दासीसे कह रही थी कि हे दासी, तू बालकको लेकर दूध पिला, मैं भगवान्-के चरणोंका दर्शन करनेके लिए जाती हूँ ॥५६॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नान-की सामग्री और यह आभूषण पहननेकी सामग्री दूर रहे मैं तो भगवान् के दृष्टिरूपी पवित्र जलसे स्नान करूँगी ॥५७॥ भगवान्के मुखरूपी बालसूर्यके दर्शनसे हमारा यह मनरूपी कमल चिरकाल तक विकासको प्राप्त रहे, चलो, आज जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके दर्शन करें ॥५८॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि, भोजन करना बन्द कर, जल्दी उठ और यह अर्घ हाथमें ले, चलकर जगत्पूज्य भगवान्की पूजा करें ॥५९॥ उस समय नगरनिवासी लोग सामने रखी हुई स्नान और भोजनकी सामग्रीको दूर कर आगे जानेवाले भगवान्के दर्शनके लिए जा रहे थे ॥६०॥ कितने ही लोग अन्य लोगोंको जाते हुए देखकर उनकी देखादेखी भगवान्-के दर्शन करनेके लिए उद्यत हुए थे। कितने ही भक्तिवश और कितने ही कौतुकके अधीन हो जिनेन्द्रदेवको देखनेके लिए तत्पर हुए थे ॥६१॥ इस प्रकार नगरनिवासी लोग परस्परमें अनेक प्रकारकी बातचीत और आदरसहित अनेक संकल्प-विकल्प करते हुए जगत्की रक्षा करनेवाले भगवान्को दूरसे ही नमस्कार कर उनके दर्शन करने लगे ॥६२॥ 'मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ' इस प्रकार विचार कर चारों ओरसे आये हुए नगरनिवासी लोगोंके द्वारा वह नगर उस समय राजमहल तक खूब भर गया था ॥६३॥ उस समय नगरमें यह सब हो रहा था परन्तु भगवान् संवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिए कमर बाँधकर संसार और शरीर-के स्वभावका चिन्तवन करते हुए प्राणिमात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनयी जीवोंपर क्रमसे

---

१ वनम् । प्रस्थितवानिति श्रुतम् । २ अबाध । ३ एकाकी । ४ अभिमुखं गन्तुं योग्य । ५ काचि-दभाषत प० । ६. भोजनेनालम् । ७ शीघ्रम् । ८. पूजाद्रव्यम् । ९ अवज्ञां कृत्वा । १०. अग्रे स्थितमित्यर्थ । पुरोगताम् अग्रगामित्वम् । ११. आश्चर्याधीना. । १२. पृथक्कृतैः । हिरुङ् नानार्थवर्जने । कृतशुभभावना-दिपरिकरैः । हि सत्कृतैः प० । स्वहितात्कृतैः अ० । १३. ददृशुः । १४. संभूतैः । १५. राजभवनपर्यन्तम् । १६. अनुस्मरणम् । १७. अभ्यासं कुर्वन् ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थान्यनुभावयन्।[1] सत्त्वसद्गुणोत्कृष्ट[2]क्लिष्टानिष्टानुशिष्टिषु[3] ॥६५॥
युगप्रमितमध्वानं पश्यन्नातिविलम्बितम्। नातिद्रुतं च विन्यस्यन् पदं गन्धेभलीलया ॥६६॥
तथाप्यस्मिञ्जनाकीर्णे शून्यारण्यकृतास्थया[4]। [5]निर्व्यग्रो भगवांश्चान्द्री[6] [7]चर्यामाश्रित्य पर्यटन् ॥६७॥
गेहं गेहं यथायोग्यं प्रविशन् राजमन्दिरम्। प्रवेष्टुकामो ह्यगमत् सोऽयं धर्मः सनातनः ॥६८॥
ततः सिद्धार्थनामैत्य द्रुतं दौवारपालकः। भगवत्संनिधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥६९॥
अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा नृपः। सान्तःपुरौ ससेनान्यौ सामात्यावुदतिष्ठताम्[8] ॥७०॥
प्रत्युद्गम्य[9] ततो भक्त्या यावद्राजाङ्गणाद् बहिः। दूरादवनतौ भर्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥७१॥
सार्घ्यं[10] पाद्य[11] [12]निवेद्याङ्घ्र्योः परीत्य च जगद्गुरुम्। तौ परं जग्मतुस्तोषं निधाविव गृहागते ॥७२॥
तौ देवदर्शनात् प्रीतौ गात्रे[13] पुलकमूहतुः। मलयानिलसंस्पर्शाद् भूरुहावङ्कुरं यथा ॥७३॥
भगवन्मुखसंप्रेक्षाविकसन्मुखपङ्कजौ। विबुद्धकमलौ प्रावस्तनौ[14] पद्माकराविव ॥७४॥
प्रमोदनिर्भरौ भक्तिभरानमितमस्तकौ। प्रश्रयप्रशमौ मूर्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥७५॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाका विचार करते हुए चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र मदोन्मत्त हाथी-जैसी लीलापूर्वक पैर रखते हुए, और मनुष्योंसे भरे हुए नगरको शून्य वनके समान जानते हुए निराकुल होकर चान्द्रीचर्याका आश्रय लेकर विहार कर रहे थे अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा धनवान् और निर्धन–सभी लोगोंके घरपर अपनी चाँदनी फैलाता है उसी प्रकार भगवान् भी राग-द्वेषसे रहित होकर निर्धन और धनवान् सभी लोगोंके घर आहार लेनेके लिए जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक घरमें यथायोग्य प्रवेश करते हुए भगवान् राजमन्दिरमें प्रवेश करनेके लिए उसके सम्मुख गये सो आश्चर्य कहते हैं कि राग-द्वेषरहित हो समतावृत्ति धारण करना ही सनातन-सर्वश्रेष्ठ प्राचीन धर्म है ॥६४-६८॥

तदनन्तर सिद्धार्थ नामके द्वारपालने शीघ्र ही जाकर अपने छोटे भाई श्रेयान्सकुमारके साथ बैठे हुए राजा सोमप्रभके लिए भगवान्के समीप आनेके समाचार कहे ॥६९॥ सुनते ही राजा सोमप्रभ और तरुण राजकुमार श्रेयान्स, दोनों ही, अन्तःपुर, सेनापति और मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही उठे ॥७०॥ उठकर वे दोनों भाई राजमहलके आँगन तक बाहर आये और दोनोंने ही दूरसे नम्रीभूत होकर भक्तिपूर्वक भगवान्के चरणोंको नमस्कार किया ॥७१॥ उन्होंने भगवान्के चरणकमलोंमें अर्घसहित जल समर्पित किया, अर्थात् जलसे पैर धोकर अर्घ चढ़ाया, जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और यह सब कर वे दोनों ही इतने सन्तुष्ट हुए मानो उनके घर निधि ही आयी हो ॥७२॥ जिस प्रकार मलयानिलके स्पर्शसे वृक्ष अपने शरीरपर अंकुर धारण करने लगते हैं उसी प्रकार भगवान्के दर्शनसे हर्षित हुए वे दोनों भाई अपने शरीरपर रोमांच धारण कर रहे थे ॥७३॥ भगवान्का मुख देखकर जिनके मुखकमल विकसित हो उठे हैं ऐसे वे दोनों भाई ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनमें कमल फूल रहे हों ऐसे प्रातःकालके दो सरोवर ही हों ॥७४॥ उस समय वे दोनों हर्षसे भरे हुए थे और भक्तिके भारसे दोनोंके मस्तक नीचेकी ओर झुक रहे थे इसलिए ऐसे सुशोभित होते थे मानो

---

१ सत्त्ववर्ग। २. क्लेशित। ३. अशिक्षितेषु। ४ विहितबुद्ध्या। ५ निराकुल। ६ चन्द्रसवन्धिनीम्। चन्द्रवन्मन्दामित्यर्थः। ७ गतिम्। ८. उत्तिष्ठतः स्म। ९ सम्मुखं गत्वा। १० रत्नादिपदार्थम्। ११ पादाय वारि। 'पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यभिधानात्। १२. समर्प्य। १३. रोमाञ्चम्। १४ प्रातःकाले संजातौ।

भगवच्चरणोपान्ते तौ तदा भजतु. श्रियम्। सौधर्मैशानकल्पेशौ विभुं द्रष्टुमिवागतौ ॥७६॥
पर्यन्तवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भर्ता स्म राजते। महामेरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥७७॥
संप्रेक्ष्य भगवद्रूपं श्रेयाञ्जातिस्मरोऽभवत्। ततो[1] दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्युत. ॥७८॥
श्रीमती वज्रजङ्घादिवृत्तान्तं सर्वमेव तत्। तदा चरणयुग्माय दत्त दान च सोऽध्यगात्[2] ॥७९॥
[3]सती गोचार[4]वेलेयं दानयोग्या मुनीशिनाम्। तेन[5] भत्रे ददे[6] दानमिति निश्चित्य पुण्यधी. ॥८०॥
श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नवभिरन्वितः। [7]प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान् दानादि[8]तीर्थकृत् ॥८१॥
श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता। क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥८२॥
श्रद्धास्तिक्य[9]मनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः। भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादर.[10] ॥८३॥
विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं[11] देयासक्तिरलुब्धता। क्षमा तितिक्षा[12] ददतस्त्याग. सद्व्ययशीलता ॥८४॥
इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि[13]। व्यपेतश्च निदानादेर्दोषान्निश्रेयसोद्यत. ॥८५॥
प्रतिग्रहण[14]मत्युच्चै स्थानेऽस्य[15] विनिवेशनम्। पादप्रधावनं[16] चार्चा[17] नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी[18] ॥८६॥

मूर्तिधारी विनय और शान्ति ही हों ॥७५॥ भगवान्के चरणोंके समीप वे दोनो ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्के दर्शन करनेके लिए आये हुए सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इन्द्र ही हों ॥७६॥ दोनों ओर खड़े हुए सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमारके बीचमें स्थित भगवान् वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निषध और नील पर्वतके बीचमें खड़ा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥७७॥

भगवान्का रूप देखकर श्रेयान्सकुमारको जातिस्मरण हो गया जिससे उसने अपने पूर्व पर्यायसम्बन्धी संस्कारोंसे भगवान्के लिए आहार देनेकी बुद्धि की ॥७८॥ उसे श्रीमती और वज्रजंघ आदिका वह समस्त वृत्तान्त याद हो गया तथा उसी भवमें उन्होंने जो चारण ऋद्धिधारी दो मुनियोंके लिए आहार दिया था उसका भी उसे स्मरण हो गया ॥७९॥ यह मुनियोंके लिए दान देने योग्य प्रातःकालका उत्तम समय है ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धिवाले श्रेयान्सकुमारने भगवान्के लिए आहार दान दिया ॥८०॥ दानके आदि तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले श्रेयान्सकुमारने श्रद्धा आदि सातों गुणसहित और पुण्यवर्धक नवधा भक्तियोंसे सहित होकर भगवान्के लिए दान दिया था ॥८१॥ श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षुब्धता, क्षमा और त्याग ये दानपति अर्थात् दान देनेवालेके सात गुण कहलाते हैं ॥८२॥ श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धिको कहते है, आस्तिक्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धाके न होनेपर दान देनेमें अनादर हो सकता है। दान देनेमें आलस्य नहीं करना सो शक्ति नामका गुण है, पात्रके गुणोंमें आदर करना सो भक्ति नामका गुण है ॥८३॥ दान देने आदिके क्रमका ज्ञान होना सो विज्ञान नामका गुण है, दान देनेकी शक्तिको अलुब्धता कहते है, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और उत्तम द्रव्य दानमे देना सो त्याग है ॥८४॥ इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे हुए सात गुणोंसे सहित और निदान आदि दोषोंसे रहित होकर पात्ररूपी सम्पदामें दान देता है वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥८५॥ मुनिराजका पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि और आहार

१. जातिस्मरणतः। २ 'इक् स्मरणे'। 'गैत्योः इणिको लुङि गा भवति' इति गादेशः। अस्मरत्। ३. समीचीना। ४ अशनवेला। ५. कारणेन। ६. ददौ अ०, प०। ७. ददौ। ८ प्रथमदानतीर्थकृदित्यर्थः। ९. अस्ति पुण्यपापपरलोकादिकमिति बुद्धिर्यस्याऽसौ आस्तिक तस्य भाव आस्तिक्यम्। १०. पात्रगुणप्रीतिः। ११. देयवस्तुपु अनासक्ति। देयशक्ति प०, द०। १२. क्षान्तिः। १३. पात्रसमृद्धचा सत्याम्। १४. स्थापनम्। १५. पात्रस्य। १६. प्रक्षालनम्। १७. अर्चनम्। १८ मनोवाक्कायसंबन्धिनी।

विशुद्धिश्चा[१]शनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम्। स तानि कुशलो भेजे पूर्वसंस्कारचोदितः[२] ॥८७॥
दृष्टश्चायं[३] विशिष्टश्चेत्यसौ[४] तुष्टिं परां श्रितः। ददे भगवते दानं प्रासुकाहारकल्पितम् ॥८८॥
सतोषो याचनापायो नै संग्य स्वप्रभावता[५]। इति मत्वा गुणान् पाणिपात्रेणाहारमिच्छते ॥८९॥
[६]तुष्टिर्विशिष्टपीठादिसंप्राप्तावन्यथा द्विषि[७]। असंयमश्च सत्येवमिति स्थित्वाशनैषिणे ॥९०॥
कायासुखतितिक्षार्थं[८] सुखासक्तेश्च हानये। धर्मप्रभावनार्थं च कायक्लेशमुपेयुषे[९] ॥९१॥
नैष्किञ्चन्यप्रधान[१०] यत् पर निर्वाणकारणम्। हिंसारक्षण[११] याञ्चादिदोषैरस्पृष्टमूर्जितम् ॥९२॥
[१२]अशक्यं प्रार्थनीयञ्चरहितं च[१३] समीयुषे। जातरूपं यथाजातमविकारमविप्लवम् ॥९३॥
तैलादेर्याचन तस्य लाभालाभद्वये सति। रागद्वेषद्वया[१४] संगः केशजप्राणिहिंसनम् ॥९४॥
इत्यादिदोषसद्भावादस्नानव्रतधारिणे। हायनान[१५] शनेऽप्यङ्गे पुष्टि दीप्ति[१६] च बिभ्रते ॥९५॥
क्षुर[१७] क्रियायां तद्योग्य[१८] साधनार्जनरक्षणे। तदपाये च चिन्ता स्यात् केशोत्पाटमितीच्छते ॥९६॥
पञ्चभि. समिता[१९] यास्मै त्रिभिर्गुप्ताय तायिने[२०]। महाव्रताय महते निर्मोहाय निराशिषे[२१] ॥९७॥

की विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देनेवालेके यह नौ प्रकारका पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती हैं। अतिशय चतुर श्रेयान्सकुमारने पूर्वपर्यायके संस्कारोंसे प्रेरित होकर व सभी भक्तियाँ की थी ॥८६-८७॥ ये भगवान् अतिशय इष्ट तथा विशिष्ट पात्र हैं ऐसा विचार कर परम सन्तोपको प्राप्त हुए श्रेयान्सकुमारने भगवान्‌के लिए प्रासुक आहारका दान दिया था ॥८८॥ जो भगवान् सन्तोष रखना, याचनाका अभाव होना, परिग्रहका त्याग करना, और अपने आपकी प्रधानता रहना आदि अनेक गुणोंका विचार कर पाणिपात्रसे ही अर्थात् अपने हाथोंसे ही आहार ग्रहण करते थे। उत्तम आसन मिलनेसे सन्तोप होगा, यदि उत्तम आसन नहीं मिला तो द्वेष होगा और ऐसी अवस्थामें असंयम होगा ऐसा विचार कर जो भगवान् खड़े होकर ही भोजन करते थे। शरीरसम्बन्धी दुःख सहन करनेके लिए, सुखकी आसक्ति दूर करनेके लिए और धर्मकी प्रभावनाके लिए जो भगवान् कायक्लेशको प्राप्त होते थे। जिसमें अकिंचनताकी ही प्रधानता है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है, हिंसा, रक्षा और याचना आदि दोष जिसे छू भी नहीं सकते हैं, जो अत्यन्त वलवान् हैं, साधारण मनुष्य जिसे धारण नहीं कर सकते, जिसे कोई प्राप्त नहीं करना चाहता, और जो तत्कालमें उत्पन्न हुए बालकके समान निर्विकार तथा उपद्रवरहित हैं ऐसे नग्न-दिगम्बर रूपको जो भगवान् धारण करते थे। तैल आदिकी याचना करना, उसके लाभ और अलाभसे राग-द्वेपका उत्पन्न होना, और केशोंमें उत्पन्न होनेवाले जूँ आदि जीवोंकी हिंसा होना इत्यादि अनेक दोषोंका विचार कर जो भगवान् अस्नान व्रतको धारण करते थे अर्थात् कभी स्नान नहीं करते थे। एक वर्ष तक भोजन न करनेपर भी जो शरीरमें पुष्टि और दीप्तिको धारण कर रहे थे। यदि क्षुरा आदिसे बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन क्षुरा आदि लेने पड़ेंगे, उनकी रक्षा करनी पड़ेगी और उनके खो जानेपर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथसे ही केशलोंच करते थे। जो भगवान् पाँचों इन्द्रियोंको वश कर लेनेसे शान्त थे, तीनों गुप्तियोंसे सुरक्षित थे, सबकी

---

१ एपणाशुद्धिरित्यर्थः। २ पूर्वभवसंस्कारप्रेरितः। ३ देव। ४. श्रेयान्। ५ आत्मैव प्रधानत्वम्। ६. सन्तोपः। ७ द्वेप। ८. शरीरसुखमहनार्थम्। ९. गताय। १० नास्ति किंचन यस्यासावकिंचनः तस्य भावः तत् प्रधान यस्य तत्। ११ याञ्चा। १२. अन्यैरनुष्ठातुमशक्यम्। १३ प्राप्तवते। रहितं च समुपेयुषे प०, द०। रहित च समीयुषे इत्यपि क्वचित्। १४ सयोगः। १५ सवत्सरोपवासेऽपि। १६. तेजः। १७ मुण्डन। १८ शस्त्रादि। १९. शमिता ल०, म०। २० पालकाय। २१ इच्छारहिताय।

संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽभयदायिने । [1]सर्वीयज्ञानदानाय[2] सार्वाय प्रभविष्णवे[3] ॥९८॥
दातुराहारदानस्य महानिस्तार[4]कात्मने । त्रिजगत्सर्वभूतानां हितार्थं मार्गदेशिने ॥९९॥
श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या[5] च सादरम् । रसमिक्षोरदात् प्रासु[6]मुत्तानीकृतपाणये ॥१००॥
पुण्ड्रेक्षुरसधारान्तां भगवत्पाणिपात्रके । स समावर्जयन् रेजे पुण्यधारामिवामलाम् ॥१०१॥
रत्नवृष्टिरथापप्तदम्बरादमरेशिनाम् । करैर्मुक्तामहादानफलस्येव परम्परा ॥१०२॥
तदापप्तद्दिवो देवकरैर्मुक्तालिसंकुला । वृष्टिः सुमनसां[7] दृष्टिमालेव त्रिदिवौकसाम् ॥१०३॥
नेदु.[8] सुरानका मन्द्रं वधिरीकृतविष्टपाः । संचचार मरुच्छीतः सुरभिर्मान्द्यसुन्दर ॥१०४॥
प्रोच्चचार महाध्वानो[9] देवानां प्रीतिमीयुषाम्[10] । अहो दानमहो पात्रमहो दातेति खाङ्गणे ॥१०५॥
कृतार्थतरमात्मानं मेने तद् भ्रातृयुग्मकम् । कृतार्थोऽपि [11]विभुर्यस्मा[12]त् पुनात् स्व[13] गृहाङ्गणम् ॥१०६॥
दानानुमोदनात् पुण्यं परोऽपि बहवोऽभजन् । यथासाद्य परं [14]रत्नं स्फटिकस्तद्रुचिं भजेत् ॥१०७॥
कारणं परिणामः स्याद् बन्धने पुण्यपापयो. । बाह्यं तु कारणं प्राहुराप्ताः कारणकारणम्[15] ॥१०८॥

रक्षा करनेवाले थे, महाव्रती थे, महान् थे, मोहरहित थे और इच्छारहित थे। जो संयम रूप क्रियासे सब प्राणियोंके लिए अभय दान देनेवाले थे, सबका हित करनेवाले थे, सर्वहितकारी ज्ञान-दान देनेमें समर्थ थे। जो आहार-दान देनेवालेका शीघ्र ही संसार-सागरसे पार करनेवाले थे, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंका हित करनेके लिए मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले थे और जिन्होंने अपने दोनों हाथ उत्तान किये थे अर्थात् दोनों हाथोंको सीधा मिलाकर अंजली (खोवा) बनायी थी ऐसे भगवान् वृषभदेवके लिए श्रेयान्सकुमारने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमतीके साथ-साथ आदरपूर्वक ईखके प्रासुक रसका आहार दिया था ॥८९-१००॥ वह राजकुमार श्रेयान्स भगवान्‌के पाणिपात्रमें पुण्यधाराके समान उज्ज्वल पौंड़े और ईखके रसकी धारा छोड़ता हुआ बहुत अच्छा सुशोभित हो रहा था॥१०१॥ तदनन्तर आकाशसे महादानके फलकी परम्पराके समान देवोंके हाथसे छोड़ी हुई रत्नोंकी वर्षा होने लगी ॥१०२॥ उसी समय देवोंके हाथोंसे छोड़ी हुई और भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त फूलोंकी वर्षा आकाशसे होने लगी। वह फूलोंकी वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवोंके नेत्रोंकी माला ही हो॥१०३॥ उसी समय समस्त लोकको वधिर करनेवाले देवोंके नगाड़े गम्भीर शब्द करने लगे और मन्द-मन्द गमन करनेसे सुन्दर शीतल तथा सुगन्धित वायु चलने लगा ॥१०४॥ उसी समय प्रीतिको प्राप्त हुए देवोंका 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र, और धन्य यह दाता' इस प्रकार बड़ा भारी शब्द आकाशरूपी आँगनमें हो रहा था ॥१०५॥ उस समय उन दोनों भाइयोंने अपने-आपको बहुत ही कृतकृत्य माना था क्योंकि कृतकृत्य हुए भगवान् वृषभदेवने स्वयं उनके घरके आँगनको पवित्र किया था ॥१०६॥ उस दानकी अनुमोदना करनेसे और भी बहुत-से लोग परम पुण्यको प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि स्फटिक मणि किसी अन्य उत्कृष्ट रत्नको पाकर उसकी कान्तिको प्राप्त होता ही है ॥१०७॥ यदि यहाँ कोई आशंका करे कि अनुमोदना करनेसे पुण्यकी प्राप्ति किस प्रकार होती है तो उसका समाधान यह है कि पुण्य और पापके बन्ध होनेमें केवल जीवके परिणाम ही कारण हैं बाह्य कारणोंको तो जिनेन्द्र देवने केवल कारणका कारण अर्थात्

---

१. सर्वजनहितोपदेशकाय । २. दानस्य ल०, द० । ३. समर्थाय । ४. समारसमुद्रतारकः । ५ सोमप्रभभार्यया । ६. प्रासुकम् । ७. पुष्पाणाम् । ८. ध्वनन्ति स्म । ९. महान् ध्वानो द०, ल० । १०. प्राप्तवताम् । ११. तीर्थंकर. । १२ कारणात् । १३. अस्मदीयम् । १४. अन्यम् । १५. कारणस्य कारणम् । परिणामस्य कारणं वस्तु ।

परिणामः प्रधानाङ्गं यतः पुण्यस्य साधने । मतं[1] तत्रोऽनुमन्तॄणामा[2] शिष्टस्तत्फलोदयः[3] ॥१०९॥
कृत्वा तनुस्थितिं धीमान् योगीन्द्रो जातु कौतुकी । प्रणतावभिनन्द्यैतौ[4] भ्रातरौ प्रस्थितो[5] वनम् ॥११०॥
भगवन्तमनुव्रज्य[6] व्रजन्तं किंचिदन्तरम् । स श्रेयान् कुरुशार्दूलो[7] न्यवृतन्निभृतं पुनः ॥१११॥
निरपेक्षं व्रजन्तं तं भगवन्तं वनान्तरम् । परावर्त्य मुखं किंचिद्[8] वीक्षमाणावनुक्षणम् ॥११२॥
तदुन्मुखीं दृशं चेतोवृत्तिं च तमनूत्थिताम् । यावद्दृग्गोचरस्तावन्निवर्तयितुमक्षमौ ॥११३॥
सकथां तद्गतामेव प्रस्तुवानौ[9] मुहुर्मुहुः । स्तुवानौ तद्गुणान् भूयो मन्वानौ स्वां[10] कृतार्थताम् ॥११४॥
भगवत्पादसंस्पर्शपूतां क्ष्मां व्यक्तलक्षणैः । तत्पदैरङ्कितां प्रीत्या[11] निध्यायन्तौ कृतानती ॥११५॥
सुभ्राता[12] कुरुनाथोऽयं कृतार्थः सुकृती[13] कृती[14] । यस्यायमीदृशो भ्राता जातो जातमहोदयः ॥११६॥
श्रेयानयं बहुश्रेयान् प्रज्ञा यस्येयमीदृशी । पौरैरित्युन्मुखैरारात् कीर्त्यमानगुणोत्करौ ॥११७॥
शूर्पोन्मेयानि[15] रत्नानि महावीथीष्वितस्ततः । सचिन्वानान् यथाकाममानन्दन्तौ[16] पृथग्जनान् ॥११८॥
[17]उच्चावचसुरोन्मुक्तरत्नग्रावततान्तरम्[18] । [19]क्रान्त्वा नृपाङ्गणं कृच्छ्राज्जनैराशासितौ[20] मुहुः ॥११९॥

शुभ अशुभ परिणामोंका कारण कहा है । जब कि पुण्यके साधन करनेमें जीवोंके शुभ परिणाम ही प्रधान कारण माने जाते हैं तब शुभ कार्यकी अनुमोदना करनेवाले जीवोंको भी उस शुभ फलकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥१०८-१०९॥ इस प्रकार महाबुद्धिमान् योगिराज भगवान् वृषभदेव शरीरकी स्थितिके अर्थ आहार-ग्रहण कर और जिन्हें एक प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो अतिशय नम्रीभूत हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंको हर्षित कर पुनः वनकी ओर प्रस्थान कर गये ॥११०॥ कुरुवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ और श्रेयान्स कुछ दूर तक वनको जाते हुए भगवान्‌के पीछे-पीछे गये और फिर रुक-रुककर वापिस लौट आये ॥१११॥ वे दोनों ही भाई अपना मुख फिराकर निरपेक्ष रूपसे वनको जाते हुए भगवान्‌को क्षण-क्षणमें देखते जाते थे ॥११२॥ जबतक वे भगवान् आँखोंसे दिखाई देते रहे तबतक वे दोनों भाई भगवान्‌की ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको और उन्हींके पीछे गयी हुई अपनी चित्तवृत्तिको लौटानेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे ॥११३॥ जो बार-बार भगवान्‌की ही कथा कह रहे थे, बार-बार उन्हींके गुणोंकी स्तुति कर रहे थे, अपने-आपको कृतकृत्य मान रहे थे, जो भगवान्‌के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हुई तथा अनेक लक्षणोंसे सुशोभित और उन्हीं-के चरणोंसे चिह्नित भूमिको नमस्कार करते हुए बड़े प्रेमसे देख रहे थे। जिसके यह ऐसा महान् पुण्य उपार्जन करनेवाला भाई हुआ है ऐसा यह कुरुवंशियोंका स्वामी राजा सोमप्रभ ही उत्तम भाईसे सहित है, कृतकृत्य है, पुण्यात्मा है और कुशल है तथा जिसकी ऐसी उत्तम बुद्धि है ऐसा यह श्रेयान्सकुमार अनेक कल्याणोंसे सहित है इस प्रकार सामने जाकर पुर-वासीजन जिनके गुणोंके समूहका वर्णन कर रहे थे। बड़ी-बड़ी गलियोंमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए सूर्यके समान तेजस्वी रत्नोंको इकट्ठे करनेवाले साधारण जनसमूहको जो आनन्दित कर रहे थे। देवोंके द्वारा वर्षाये हुए रत्नरूपी पाषाणोंसे जिसका मध्यभाग ऊँचा-नीचा

---

१. कारणात् । २. अनुमतिं कृतवताम् । ३. तत्ज्ञानफलम् । ४. संतोष नीत्वा । – नन्द्यैनौ प०, द० । ५ गतौ । ६ अनुगम्य । ७. कुरुवंशश्रेष्ठ । सोमप्रभ इत्यर्थः । ८ किंचिदोक्षमाणा – ल० । ९ प्रकृतं कुर्वाणौ । १० स्वकृतार्थताम् ल०, म० । ११ विलोकयन्तौ । विध्यायन्तौ ल०, अ० । १२. शोभनो भ्राता यस्य । १३ पुण्यवान् । १४ कुशल । १५. प्रस्फोटनप्रमेयानि । 'प्रस्फोटन शूर्पमस्त्री' इत्यभिधानात् । १६. साधारणजनान् । १७ नानाप्रकार । १८ विस्तृतावकाशम् । १९. अतिक्रम्य । २०. प्रशमितावित्यर्थः ।

पुरं परार्ध्यशोभाभिः गतमन्यामिवाकृतिम् । प्राविक्षतां घनानन्दं[1] प्रेक्ष्यमाणौ[2] कुरुध्वजौ[3] ॥१२०॥
तपोवनमथो भेजे भगवान् कृतपारणः । जगज्जनतया सम्यगभिष्टुतमहोदयः ॥१२१॥
अहो[4] श्रेय इति[5] [6]श्रेयस्तच्छ्रेयश्चेत्यभूत्तदा । श्रेयो[7] यशोमयं विश्वं सदानं हि यशःप्रदम् ॥१२२॥
तदादि[8] तदुपज्ञं[9] तद्दानं जगति पप्रथे । ततो विस्मयमासेदुः भरताद्या नरेश्वराः ॥१२३॥
कथं भर्तुरभिप्रायो विदितोऽनेन मौनिनः । कलयन्निति[10] चित्तेन भरतेशो[11] विसिस्मिये ॥१२४॥
सुराश्च विस्मयन्ते स्म ते संभूय समागताः । प्रतीता कुरुराजं तं पूजयामासुरादरात् ॥१२५॥
ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि[12] सादरम् । महादानपते ब्रूहि कथं ज्ञातमिदं त्वया ॥१२६॥
अदृष्टपूर्वं लोकेऽस्मिन् दानं कोऽर्हति[13] वेदितुम् । भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः ॥१२७॥
त्वं दानतीर्थकृच्छ्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि । ततस्त्वामिति पृच्छामि यत्सत्यं कथयाद्य मे ॥१२८॥
इत्यसौ तेन संपृष्टः श्रेयान् प्रत्यब्रवीदिदम् । दशनांशुकलापेन ज्योत्स्नां तन्वन्निवान्तरे[14] ॥१२९॥
रुजाहरमिवासाद्य सामयः[15] परमौषधम् । पिपासितो[16] वा स्वच्छाम्बुकलितं[17] सोत्पलं सरः ॥१३०॥

हो गया है ऐसे राजांगणको बड़ी कठिनाईसे उल्लंघन कर भीतर पहुँचे हुए अनेक लोग बार-बार जिनकी प्रशंसा कर रहे हों और जिन्हें नगर-निवासी जन बड़े आनन्दसे देख रहे थे ऐसे उन दोनों कुरुवंशी भाइयोंने उत्कृष्ट सजावटसे अन्य आकृतिको प्राप्त हुएके समान सुशोभित होनेवाले नगरमें प्रवेश किया ॥११४-१२०॥

अथानन्तर–संसारके सभी लोग उत्तम प्रकारसे जिनके बड़े भारी अभ्युदयकी प्रशंसा करते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव पारणा करके वनको चले गये ॥१२१॥ उस समय 'अहो कल्याण, ऐसा कल्याण, और उस प्रकारका कल्याण' इस तरह समस्त संसार राजकुमार श्रेयान्सके यशसे भर गया था सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दान यशको देनेवाला होता ही है ॥१२२॥ संसारमें दान देनेकी प्रथा उसी समयसे प्रचलित हुई और दान देनेकी विधि भी सबसे पहले राजकुमार श्रेयान्सने ही जान पायी थी। दानकी इस विधिसे भरत आदि राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ था ॥१२३॥ महाराज भरत अपने मनमें यही सोचते हुए आश्चर्य कर रहे थे कि इसने मौन धारण करनेवाले भगवान्‌का अभिप्राय कैसे जान लिया ॥१२४॥ देवोंको भी उससे बड़ा आश्चर्य हुआ था, जिन्हें श्रेयान्सपर बड़ा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवोंने एक साथ आकर बड़े आदरसे उसकी पूजा की थी ॥१२५॥ तदनन्तर महाराज भरतने आदरसहित राजकुमार श्रेयान्ससे पूछा कि हे महादानपते, कहो तो सही तुमने भगवान्‌का यह अभिप्राय किस प्रकार जान लिया ॥१२६॥ इस संसारमें पहले कभी नहीं देखी हुई इस दानकी विधिको कौन जान सकता है ? हे कुरुराज, आज तुम हमारे लिए भगवान्‌के समान ही पूज्य हुए हो ॥१२७॥ हे राजकुमार श्रेयान्स, तुम दान-तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले हो, और महापुण्यवान् हो इसलिए मैं तुमसे यह सब पूछ रहा हूँ कि जो सत्य हो वह आज मुझसे कहो ॥१२८॥ इस प्रकार महाराज भरत-द्वारा पूछे गये श्रेयान्सकुमार अपने दाँतोंकी किरणोंके समूहसे बीचमें चाँदनीको फैलाते हुएके समान नीचे लिखे अनुसार उत्तर देने लगे ॥१२९॥ कि जिस प्रकार रोगी मनुष्य रोगको दूर करनेवाली किसी उत्कृष्ट ओषधिको पाकर प्रसन्न होता है अथवा प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे भरे हुए और कमलोंसे

---

१. विहितसंतोषं यथा भवति तथा । २. प्रेक्षमाणौ द० । ३. कुरुमुख्यौ । ४. आश्चर्यश्रेयोऽभूत् । ५. ईदृक्श्रेयोऽभूत् । ६. तादृक्श्रेयोऽभूत् । ७. 'श्रेयः प्रकर्षेण ख्याति' इति विश्वम् । यशोमयं श्रेयोऽभूत् । ८. तत्कालमादि कृत्वा । ९. तेन श्रेयोराजेन प्रथमोपक्रान्तम् । १०. विचारयन् । ११. आश्चर्यं करोति स्म । १२. पृच्छ्यते स्म । १३. समर्थो भवति । १४ मध्ये । १५. व्याधिसहितः । १६. तृषितः । १७. युक्तम् ।

दृष्ट्वा भागवतं[1] रूपं परं प्रीतोऽस्म्यनन्तरं[2] मम । जातिस्मरत्वमुद्भूतं[3] तेनाबुधि[4] गुरोर्मतम् ॥१३१॥
अहं हि श्रीमती नाम वज्रजङ्घभवे विभोः । विदेहे पुण्डरीकिण्यामभूवं प्राणवल्लभा ॥१३२॥
समं भगवतानेन बिभ्रता वज्रजङ्घताम् । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानमभून्मया ॥१३३॥
विशुद्धतरमुत्सृष्टकलङ्कं ख्यातिकारणम् । महादानं च काव्यं च पुण्याल्लभ्यमिदं द्वयम् ॥१३४॥
[5]का चेद्दानस्य संशुद्धिः शृणु भो भरताधिप । [6]अनुग्रहार्थं [7]स्वस्यातिसर्गो[8] दानं त्रिशुद्धिकम्[9] ॥१३५॥
दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा । शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥१३६॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यदः । [10]नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥१३७॥
दाता श्रद्धादिभिर्युक्तो गुणैः पुण्यस्य साधनैः । देयमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितम् ॥१३८॥
पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टो गुणवान् भवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैर्भेद[11]मुपेयिवत्[12] ॥१३९॥
जघन्यं शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् । सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥१४०॥
सद्दृष्टिः शीलसंपन्नः पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव[13] पात्रमसौ मतः ॥१४१॥

सुशोभित तालाबको देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार भगवान्के उत्कृष्ट रूपको देखकर मैं अतिशय प्रसन्न हुआ था और इसी कारण मुझे जातिस्मरण हो गया था जिससे मैंने भगवान्का अभिप्राय जान लिया था ॥१३०-१३१॥ पूर्वभवमें जब भगवान् वज्रजंघकी पर्यायमें थे तब विदेह-क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें मैं इनकी श्रीमती नामकी प्रिय स्त्री हुआ था ॥१३२॥ उस समय वज्रजंघकी पर्यायको धारण करनेवाले इन भगवान्के साथ-साथ मैंने दो चारणमुनियोंके लिए दान दिया था ॥ १३३ ॥ अतिशय विशुद्ध, दोषरहित और प्रसिद्धिका कारण ऐसा महादान देना और काव्य करना ये दोनों ही वस्तुएँ बड़े पुण्यसे प्राप्त होती हैं ॥१३४॥ हे भरत-क्षेत्रके स्वामी भरत महाराज, दानकी विशुद्धिका कुछ थोड़ा-सा वर्णन आप भी सुनिए–स्व और परके उपकारके लिए मन-वचन-कायकी विशुद्धतापूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥१३५॥ दान देनेवाले (दाता) की विशुद्धता दानमें दी जानेवाली वस्तु तथा दान लेनेवाले पात्रको पवित्र करती है। दी जानेवाली वस्तुकी पवित्रता देनेवाले और लेनेवालेको पवित्र करती है और इसी प्रकार लेनेवालेकी विशुद्धि देनेवाले पुरुषको तथा दी जानेवाली वस्तुको पवित्र करती है इसलिए जो दान नौ प्रकारकी विशुद्धतापूर्वक दिया जाता है वही अनेक फल देनेवाला होता है। भावार्थ–दान देनेमें दाता, देय और पात्रकी शुद्धिका होना आवश्यक है ॥१३६-१३७॥ पुण्य प्राप्तिके कारण स्वरूप, श्रद्धा आदि गुणोंसे सहित पुरुष दाता कहलाता है और आहार, ओषधि, शास्त्र तथा अभयसे चार प्रकारकी वस्तुएँ देय कहलाती हैं ॥१३८॥ जो रागादि दोषोंसे छुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणोंसे सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है, वह पात्र जघन्य, मध्यम और उत्तमके भेदसे तीन प्रकारका होता है। हे राजन्, यह सब मैंने पूर्वभवके स्मरणसे जाना है ॥१३९॥ जो पुरुष मिथ्यादृष्टि है परन्तु मन्दकषाय होनेसे व्रत, शील आदिका पालन करता है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदिकी भावनासे रहित सम्यग्दृष्टि है वह मध्यम पात्र कहा जाता है ॥१४०॥ जो व्रत, शील आदिसे सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत, शील आदि

---

१ भगवतः सवन्धि । २ अनन्तरम् । ३. जातिस्मरणेन । ४. जानामि स्म । ५ काचिद् दानस्य सशुद्धि अ० । काचिद् दानस्य संशुद्धिम् ल० । ६. स्वपरोपकाराय । ७. धनस्य । ८. त्याग । ९. मनोवाक्काय-शुद्धिमत् । १०. नवसंख्या । ११. भेदैरिदमुपेयिवान् ल०, अ०, म० । १२. प्राप्तम् । १३. अपात्रमित्यर्थः ।

कुमानुषत्वमाप्नोति[1] जन्तुर्ददपात्रके । अशोधितमिवालाबु तद्धि दानं[2] प्रदूषयेत् ॥१४२॥
आमपात्रे यथाक्षिप्तं[3] मङ्क्षु क्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि[4] स्वं तच्च[5] नाशयेत् ॥१४३॥
पात्रं तस्मात्[6] वजज्ञेयं विशुद्धगुणधारणात् । यानपात्रमिवाभीष्टदेशे[7] संप्रापकं च यत् ॥१४४॥
न हि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत् परम् । तथा कर्मभराक्रान्तो दोषवान्नैव तारकः ॥१४५॥
ततः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्वहन् । कायस्थित्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥१४६॥
न वाञ्छन् बलमायुर्वा स्वादं[8] वा देहपोषणम् । केवलं प्राणधृत्यर्थं संतुष्टो ग्रासमात्रया ॥१४७॥
पात्रं भवेद् गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः । तस्मै दत्तं पुना[9]त्यन्नमपुनर्जन्मकारणम् ॥१४८॥
[10]तदुदाहरणं दृष्ट[11]मिदमेव महोदयम् । महत्त्वे दानपुण्यस्य पञ्चा[12]श्चर्यमिहापि यत् ॥१४९॥
[13]ततो भरत[14]राजर्षे दानं देयमनुत्तरम् । प्रसरिष्यन्ति[15] पात्राणि भगवत्तीर्थसंनिधौ ॥१५०॥
तेभ्यः श्रेयान्[16]यथाचख्यौ स्व[17]भर्तुर्भवविस्तरम् । ततः सदस्या[18]स्ते सर्वे सद्दानरुचयोऽभवन् ॥१५१॥

से रहित मिथ्यादृष्टि है वह पात्र नहीं माना गया है अर्थात् अपात्र है ॥१४१॥ जो मनुष्य अपात्रके लिए दान देता है वह कुमनुष्य योनि (कुभोगभूमि) में उत्पन्न होता है क्योंकि जिस प्रकार बिना शुद्धि की हुई तूँबी अपनेमें रखे हुए दूध आदिको दूषित कर देती है उसी प्रकार अपात्र अपने लिए दिये हुए दानको दूषित कर देता है ॥१४२॥ जिस प्रकार कच्चे बरतनमें रखा हुआ ईखका रस अथवा दूध स्वयं नष्ट हो जाता है और उस बरतनको भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया हुआ दान स्वयं नष्ट हो जाता है–व्यर्थ जाता है और लेनेवाले पात्रको भी नष्ट कर देता है–अहंकारादिसे युक्त बनाकर विषय-वासनाओंमें फँसा देता है ॥१४३॥ जो अनेक विशुद्ध गुणोंको धारण करनेसे पात्रके समान हो वही पात्र कहलाता है। इसी प्रकार जो जहाजके समान इष्ट स्थानमें पहुँचानेवाला हो वही पात्र कहलाता है ॥१४४॥ जिस प्रकार लोहेकी बनी हुई नाव समुद्रसे दूसरेको पार नहीं कर सकती (और न स्वयं ही पार हो सकती है) इसी प्रकार कर्मोंके भारसे दबा हुआ दोषवान् पात्र किसीको संसार-समुद्रसे पार नहीं कर सकता (और न स्वयं ही पार हो सकता है) ॥१४५॥ इसलिए, जो मोक्षके साधनस्वरूप दिगम्बर वेषको धारण करते हैं, जो शरीरकी स्थिति और ज्ञानादि गुणोंकी सिद्धिके लिए आहारकी इच्छा करते हैं, जो बल, आयु, स्वाद अथवा शरीरको पुष्ट करनेकी इच्छा नहीं करते, जो केवल प्राणधारण करनेके लिए थोड़े-से ग्रासोंसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, और जो निज तथा परको तारनेवाले हैं ऐसे ऊपर लिखे हुए गुणोंसे सहित मुनिराज ही पात्र हो सकते हैं उनके लिए दिया हुआ आहार अपुनर्भव अर्थात् मोक्षका कारण है ॥१४६–१४८॥ दानरूपी पुण्यके माहात्म्यको प्रकट करनेके लिए सबसे बड़ा और पुष्ट उदाहरण यही है कि मैंने दानके माहात्म्यसे ही पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये हैं ॥ १४९ ॥ इसलिए हे राजर्षि भरत, हम सबको उत्तम दान देना चाहिए। अब भगवान् वृषभदेवके तीर्थके समय सब जगह पात्र फैल जायेंगे। भावार्थ–भगवान्के सदुपदेशसे अनेक मनुष्य मुनिव्रत धारण करेंगे, उन सभीके लिए हमें आहार आदि दान देना चाहिए ॥१५०॥ राजकुमार श्रेयान्सने उन सब सदस्योंके लिए अपने स्वामी भगवान् वृषभदेवके पूर्वभव विस्तारके साथ कहे जिससे उन सबके उत्तम दान देनेमें रुचि उत्पन्न

१. कुभोगभूमिमनुष्यत्वम् । २. दुष्टो भवति । ३. सपदि । ४. दत्तद्रव्यम् । ५. पात्रमपि । ६. भाजनवत् । ७.–देशस– ब०, प० । ८. रुचिम् । ९. पवित्रयति । १०. ननूदाहरणं अ०, प०, द०, ल० । ११. परिपूर्णम् । १२.–पञ्चाश्चर्यं ममापि यत् अ०, प०, ल०, द० । १३. ततः कारणात् । १४. भो भरतराज । १५. प्रसृतानि भविष्यन्ति । १६.–यानयाचख्यौ ल० । १७. स्वस्य भर्ता च स्वभर्तारौ तयोर्भवविस्तरस्तम् । १८. सभ्याः ।

इति प्रह्लादिनीं वाचं तस्य पुण्यानुबन्धिनीम् । शुश्रुवान् भरताधीशः परां प्रीतिमवाप सः ॥१५२॥
प्रीतः संपूज्य तं भूयः[1] परं[2] सौहार्दमुद्वहन् । गुरोर्गुणाननुध्यायन् प्रत्यगात् स स्वमालयम् ॥१५३॥
भगवानथ संजात[3]बलवीर्यो महाधृतिः । भेजे परं तपोयोग योगविज्जैन[4]कल्पितम् ॥१५४॥
मोहान्धतमसध्वंसकल्पा[5] सन्मार्गदर्शिनी । दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोधदीपिका ॥१५५॥
गुणान् गुणास्थया[6] पश्येद्दोषान् दोषधियापि यः । हेयोपादेयवित् स स्यात् क्वाज्ञस्य गतिरीदृशी ॥१५६॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानात् गुणागुणविभागवित् । गुणेष्वासजति[7] स्मासौ हित्वा दोषानशेषत ॥१५७॥
सावद्यविर[8]तिं कृत्स्नामूरी[9]कृत्य प्रबुद्धधीः । [10]तद्भेदान् पालयामास व्रतसंज्ञाविशेषितान् ॥१५८॥
दयाङ्गनापरिष्वङ्गः[11] सत्ये नित्यानुरक्तता । अस्तेयव्रततात्पर्यं ब्रह्मचर्यैकतानता[12] ॥१५९॥
परिग्रहेष्वना[13]संगो विकाला[14]शनवर्जनम् । व्रतान्यमूनि तत्सिद्ध्यै[15] भावयामास भावनाः । १६०॥
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्या[16] कायनियन्त्रणे । [17]विष्वाणसमितिश्चेति प्रथमव्रतभावनाः ॥१६१॥

हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार आनन्द उत्पन्न करनेवाले और पुण्य बढ़ानेवाले श्रेयान्सके वचन सुनकर भरत महाराज परमप्रीतिको प्राप्त हुए ॥१५२॥ अतिशय प्रसन्न हुए महाराज भरतने राजा सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमारका खूब सम्मान किया, उनपर बड़ा स्नेह प्रकट किया और फिर गुरुदेव-वृषभनाथके गुणोंका चिन्तवन करते हुए अपने घरके लिए वापिस गये ॥१५३॥

अथानन्तर आहार ग्रहण करनेसे जिनके बल और वीर्यकी उत्पत्ति हुई है जो महा धीर-वीर और योगविद्याके जाननेवाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए उत्कृष्ट तपोयोगको धारण करने लगे ॥१५४॥ इनके मनरूपी मन्दिरमें मोहरूपी सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला, समीचीन मार्ग दिखलानेवाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था ॥१५५॥ जो पुरुष गुणोंको गुण-बुद्धिसे और दोषोंको दोष-बुद्धिसे देखता है अर्थात् गुणोंको गुण और दोषोंको दोष समझता है वही हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओंका जानकार हो सकता है। अज्ञानी पुरुषकी ऐसी अवस्था कहाँ हो सकती है ? ॥१५६॥ वे भगवान् तत्त्वोंका ठीक-ठीक परिज्ञान होनेसे गुण और दोषोंके विभागको अच्छी तरह जानते थे इसलिए वे दोषोंको पूर्ण रूपसे छोड़कर केवल गुणोंमें ही आसक्त रहते थे ॥१५७॥

अतिशय बुद्धिमान् भगवान् वृषभदेवने पापरूपी योगोंसे पूर्ण विरक्ति धारण की थी तथा उसके भेद जो कि व्रत कहलाते हैं उनका भी वे पालन करते थे ॥१५८॥ दयारूपी स्त्रीका आलिंगन करना, सत्यव्रतमें सदा अनुरक्त रहना, अचौर्यव्रतमें तत्पर रहना, ब्रह्मचर्यको ही अपना सर्वस्व समझना, परिग्रहमें आसक्त नहीं होना और असमयमें भोजनका परित्याग करना, भगवान् इन व्रतोंको धारण करते थे और उनकी सिद्धिके लिए निरन्तर नीचे लिखी हुई भावनाओंका चिन्तवन करते थे ॥१५९-१६०॥ मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, कायनियन्त्रण अर्थात् देखभाल कर किसी वस्तुका रखना-उठाना और विष्वाणसमिति अर्थात् आलोकितपानभोजन ये पाँच प्रथम-अहिंसा, व्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६१॥ क्रोध

१. भूप ल० । २. सुहृदयत्वम् । ३ आहारजनिता शक्ति । ४. जिनाना संबन्धि कल्प जिनकल्पस्तत्र भवम् । ५ समृद्धा । 'कल्पा सज्जा निरामया' इत्यभिधानात् । ६ गुणबुद्ध्या । ७. आसक्तो भवति स्म । ८. निवृत्तिम् । ९ अंगीकृत्य । १०. सावद्यविरतिभेदान् । ११. आलिङ्गनम् । १२. अनन्यवृत्तिता । 'एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्रैकायनावपि' इत्यभिधानात् । १३. अनासक्तिः । १४ रात्रिभोजनम् । १५. व्रतसिद्ध्यर्थम् । १६. ईर्यासमिति कायगुप्तिरित्यर्थ । १७ एषणासमिति ।

क्रोधलोभभयत्यागा हास्यासंग[1]विसर्जनम् । सूत्रानुगा[2] च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः ॥१६२॥
[3]मितोचिता[4]भ्यनुज्ञात[5]ग्रहणान्य[6]ग्रहोऽन्यथा[7] । संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः ॥१६३॥
स्त्री[8]कथालोकसंसर्गप्राग्रतस्मृतयोजनाः । [9]वर्ज्या वृष्य[10]रसेनामा चतुर्थव्रतभावनाः ॥१६४॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेषु सचित्ताचित्तवस्तुषु । इन्द्रियार्थेष्वना[11]संगो [12]नैस्संग्यव्रतभावनाः ॥१६५॥
धृतिमत्ता[13] क्षमावत्ता [14]ध्यानयोगैकतानता । परीषहैरसङ्गश्च व्रतानां भावनोत्तरा ॥१६६॥
भावनासंस्कृतान्येवं व्रतान्ययमपालयत् । [15]क्षालने [16]स्वागसां सर्वप्रजानामनुपालकः ॥१६७॥
[17]समातृकापदान्येवं सहोत्तरपदानि[18] च । व्रतानि भावनीयानि मनीषिभिरतन्द्रितम् ॥१६८॥
यानि कान्यपि शल्यानि गर्हितानि जिनागमे । व्युत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशल्यो [19]विहरेन्मुनिः ॥१६९॥
इति[20] स्थविरकल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजितः । यथागममिहो[21]चित्य[22] जैनः[23] कल्पोऽनुगम्य[24]ताम् ॥१७०॥

लोभ, भय और हास्यका परित्याग करना तथा शास्त्रके अनुसार वचन कहना ये पाँच द्वितीय सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६२॥ परिमित-थोड़ा आहार लेना, तपश्चरणके योग्य आहार लेना, श्रावकके प्रार्थना करनेपर आहार लेना, योग्यविधिके विरुद्ध आहार नहीं लेना तथा प्राप्त हुए भोजन-पानमें सन्तोष रखना ये पाँच तृतीय अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६३॥ स्त्रियोंकी कथाका त्याग, उनके सुन्दर अंगोपांगोंके देखनेका त्याग, उनके साथ रहनेका त्याग, पहले भोगे हुए भोगोंके स्मरणका त्याग और गरिष्ठ रसका त्याग इस प्रकार ये पाँच चतुर्थ ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥१६४॥ जिनके बाह्य आभ्यन्तर इस प्रकार दो भेद हैं ऐसे पाँचों इन्द्रियोंके विषयभूत सचित्त अचित्त पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग करना सो पाँचवें परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ॥१६५॥ धैर्य धारण करना, क्षमा रखना, ध्यान धारण करनेमें निरन्तर तत्पर रहना और परीषहोंके आनेपर मार्गसे च्युत नहीं होना ये चार उक्त व्रतोंकी उत्तर भावनाएँ हैं ॥१६६॥ समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले भगवान् वृषभदेव अपने पापोंको नष्ट करनेके लिए ऊपर लिखी हुई भावनाओंसे सुसंस्कृत (शुद्ध) ऐसे व्रतोंका पालन करते थे ॥१६७॥ इसी प्रकार अन्य बुद्धिमान् मनुष्योंको भी आलस्य छोड़कर मातृकापद अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त तथा चौरासी लाख उत्तरगुणोंसे सहित अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतोंका पालन करना चाहिए ॥१६८॥ इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जो निन्दनीय माया मिथ्यात्व और निदान ऐसी तीन शल्य कही हैं उन सबको छोड़कर और निःशल्य होकर ही मुनियोंको विहार करना चाहिए ॥१६९॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करना स्थविर कल्प है, इसे जिनकल्पमें भी लगा लेना चाहिए। आगमानुसार स्थविर कल्प धारण कर जिनकल्प धारण करना चाहिए। भावार्थ-ऊपर कहे हुए व्रतोंका पालन करते हुए मुनियोंके साथ रहना, उपदेश देना, नवीन शिष्योंको दीक्षा देना आदि स्थविरकल्प कहलाता है और व्रतोंका पालन करते हुए अकेले रहना, हमेशा आत्मचिन्तवनमें ही लगे रहना जिनकल्प कहलाता

---

१ हास्यस्यासक्तेस्त्याग । -विवर्जनम् अ०, प०, द०, ल० । २ परमागमानुगता वाक् । ३. परिमित । ४. स्वयोग्य । ५. दात्रनुमतिप्रार्थित । ६ अस्वीकारः । ७. उक्तप्रकारादितरप्रकारेण । ८ स्त्रीकथालापतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणतत्संसर्गपूर्वरतानुस्मरणयोजना । ९. त्याज्या । १०. वीर्यवर्द्धनकरक्षीरादिरसेन सह । ११. अनासक्तिः । १२ निःपरिग्रहव्रत । १३ धैर्यवत्त्वम् । १४ ध्यानयोजनानन्यवृत्तिता । १५. प्रक्षालननिमित्तम् । १६. निजकर्मणाम् । १७. अष्टप्रवचनमातृकापदसहितानि । पञ्चसमितित्रिगुप्तीना प्रवचनमातृकेति संज्ञा । १८. उत्तरगुणसहितानि । षट्त्रिंशद्गुणयुक्तानीत्यर्थ । १९. आचरेत् । २० सकलज्ञानिरहितकाल । २१ स्थविरकल्पे । २२. संगृह्य । -मिहोपेत्य ल० । २३. जिनकल्प. । जिनकल्पो-ट०,अ०,स० । २४. अनुज्ञायताम् ।

[1]अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकाह्वये । चरन्त्येकयमे[2] प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचनाः ॥१७१॥
छेदोपस्थापनाभेदप्रपञ्चोऽन्योन्य[3]योगिनाम् । दर्शितस्तै[4]र्यथाकालं बलायुर्ज्ञानवीक्षया[5] ॥१७२॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविशेषितम् । चारित्रं संयम[6]त्राणं पञ्चधोक्तं जिनाधिपैः ॥१७३॥
ततः संयमसिद्ध्यर्थं स तपो द्वादशात्मकम् । ज्ञानधै[7]र्यबलोपेतश्चचार परमः पुमान् ॥१७४॥
ततोऽनशनमत्युग्रं तेपे दीप्ततया मुनिः । अवमोदर्यमप्येकसि[8]क्थाद्यात्याचरत्तपः ॥१७५॥
कदाचिद् वृत्तिसंख्यानं तपोऽतप्त स दुर्द्धरम् । वीथीचर्यादयो यस्य विशेषा बहुभेदकाः ॥१७६॥
रसत्यागं तपो घोरं तेपे नित्यमतन्द्रितः । क्षीरसर्पिर्गुडादीनि परित्यज्याग्रिमः पुमान् ॥१७७॥
त्रिषु[9] कालेषु योगी सन्नसौ कायमचिक्लिशत्[10] । कायस्य निग्रहं प्राहुः तपः परमदुश्चरम् ॥१७८॥
निगृहीतशरीरेण[11] निगृहीतान्यसंशयम् । चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥१७९॥
मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्म[12]क्षयसाधनम् । [13]ततोऽनन्तसुखावाप्तिः ततः[14] कायं प्रकर्शयेत्[15] ॥१८०॥

है। तीर्थंकर भगवान् जिनकल्पी होते हैं और यही वास्तवमें उपादेय हैं। साधारण मुनियोंको यद्यपि प्रारम्भ अवस्थामें स्थविरकल्पी होना पड़ता है परन्तु उन्हें भी अन्तमें जिनकल्पी होनेके लिए उद्योग करते रहना चाहिए ॥१७०॥ मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इस प्रकार चार ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले तीर्थंकर परमदेव प्रायः प्रतिक्रमणरहित एक सामायिक नामके चारित्रमें ही रत रहते हैं। भावार्थ–तीर्थंकर भगवान्‌के किसी प्रकारका दोष नहीं लगता इसलिए उन्हें प्रतिक्रमण-छेदोपस्थापना चारित्र धारण करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे केवल सामायिक चारित्र ही धारण करते हैं ॥१७१॥ परन्तु उन्हीं तीर्थंकर देवने बल, आयु और ज्ञानकी हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियोंके लिए यथाकाल छेदोपस्थापना चारित्रके अनेक भेद दिखलाये हैं–उनका निरूपण किया है ॥१७२॥ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यकी विशेषतासे संयमकी रक्षा करनेवाला चारित्र भी जिनेन्द्रदेवने पाँच प्रकारका कहा है। भावार्थ–चारित्रके पाँच भेद हैं–१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तपआचार और ५ वीर्याचार ॥१७३॥ तदनन्तर ज्ञान, धैर्य और बलसे सहित परम पुरुष-भगवान् वृषभदेवने संयमकी सिद्धिके लिए बारह प्रकारका तपश्चरण किया था ॥१७४॥ अतिशय उग्र तपश्चरणको धारण करनेवाले वे वृषभदेव मुनिराज अनशन नामका अत्यन्त कठिन तप तपते थे और एक सीथ (कण) आदिका नियम लेकर अवमौदर्य (ऊनोदर) नामक तपश्चरण करते थे ॥१७५॥ वे भगवान् कभी अत्यन्त कठिन वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप तपते थे जिसके कि वीथी, चर्या आदि अनेक भेद हैं ॥१७६॥ इसके सिवाय वे आदिपुरुष आलस्यरहित हो दूध, घी, गुड़ आदि रसोंका परित्याग कर नित्य ही रस-परित्याग नामका घोर तपश्चरण करते थे ॥१७७॥ वे योगिराज वर्षा, शीत और ग्रीष्म इस प्रकार तीनों कालोंमें शरीरको क्लेश देते थे अर्थात् कायक्लेश नामका तप तपते थे। वास्तवमें गणधर देवने शरीरके निग्रह करने अर्थात् कायक्लेश करनेको ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है ॥१७८॥ क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि शरीरका निग्रह होनेसे चक्षु आदि सभी इन्द्रियोंका निग्रह हो जाता है और इन्द्रियोंका निग्रह होनेसे मनका निरोध हो जाता है अर्थात्

---

१. नियमरहिते । २. एकव्रते । ३ चतुर्ज्ञानधरजिनादन्ययोगिनाम् । ४. चतुर्ज्ञानधरजैनैः । ५ आलोकनेन । ६. संयमरक्षणम् । ७. मनोबलम् । ८ सिक्थादीन्या–प०, अ०, द० । ९. हेमन्तग्रीष्मप्रावृट्कालेषु । १० 'क्लिशि क्लेशे' इत्यस्मात् अकरोत् । ११. निगृहीतशरीरेण पुरुषेण । १२ कर्मक्षयहेतुम् । १३. कर्मक्षयात् । १४. तस्मात् कारणात् । १५. प्रकर्षेण कृशीकुर्यात् ।

गर्भात् प्रभृत्यसौ देवो ज्ञानत्रितयमुद्वहन् । दीक्षानन्तरमेवाप्तमनःपर्ययबोधनः ॥१८१॥

तथाप्युग्रं तपोऽतप्त सेद्धव्ये[1] ध्रुवभाविनि[2] । [3]स ज्ञानलोचनो धीरः सहस्रं [4]वार्षिकं परम् ॥१८२॥

[5]तेनाभीष्टं मुनीन्द्राणां कायक्लेशाह्वयं तपः । तपोऽङ्गेषु प्रधानाङ्गमुत्तमाङ्गमिवाङ्गिनाम् ॥१८३॥

[6]तत्तदातप्त योगीन्द्रः सोढाशेषपरीषहः । तपस्तुदुस्सहतरं परं निर्वाणसाधनम् ॥१८४॥

कर्मेन्धनानि निर्दग्धुमुद्यतः स तपोऽग्निना । दिदीपे नितरां धीरः[7] प्रज्वलन्निव पावकः ॥१८५॥

असंख्यातगुणश्रेण्या[8] धुन्वन् कर्मतमोघनम् । तपोदीप्त्यातिदीप्ताङ्गः सोऽंशुमानिव दिद्युते ॥१८६॥

शय्यास्य विजने देशे जागरूकस्य[9] योगिनः । कदाचिदासनं चासीच्छुचौ निर्जन्तुकान्तरे[10] ॥१८७॥

न शिश्ये जागरूकोऽसौ नासीनश्चाभवद्भृशम् । प्रयतो विजहारोर्वीं [11]व्यक्तभुक्तिर्जितेन्द्रियः ॥१८८॥

संकल्प-विकल्प दूर होकर चित्त स्थिर हो जाता है । मनका निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेका साधन है और समस्त कर्मोंका क्षय हो जानेसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होती है इसलिए शरीरको कृश करना चाहिए ॥१७९-१८०॥ यद्यपि वे भगवान् वृषभदेव मति, श्रुत-अवधि और मनःपर्यय इन तीन ज्ञानोंको गर्भसे ही धारण करते थे और मनःपर्यय ज्ञान उन्हें दीक्षाके बाद ही प्राप्त हो गया था इसके सिवाय सिद्धत्व पद उन्हें अवश्य ही प्राप्त होनेवाला था तथापि सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले धीर-वीर भगवान्ने हजार वर्ष तक अतिशय उत्कृष्ट और उग्र तप तपा था इससे मालूम होता है कि महामुनियोंको कायक्लेश नामका तप अतिशय अभीष्ट है-उसे वे अवश्य करते हैं। जिस प्रकार प्राणियोंके शरीरमें मस्तक प्रधान होता है उसी प्रकार कायक्लेश नामका तप समस्त बाह्य तपश्चरणोंमें प्रधान होता है ॥१८१-१८३॥ इसीलिए उस समय समस्त परीषहोंको सहन करनेवाले योगिराज भगवान् वृषभदेव मोक्षका उत्तम साधन और अतिशय कठिन कायक्लेश नामका तप तपते थे ॥१८४॥ तपरूपी अग्निसे कर्मरूपी इन्धनको जलानेके लिए तैयार हुए वे धीर-वीर भगवान् प्रज्वलित हुई अग्निके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१८५॥ उस समय वे असंख्यात गुणश्रेणी निर्जराके द्वारा कर्मरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर रहे थे और उनका शरीर तपश्चरणकी कान्तिसे अतिशय देदीप्यमान हो रहा था इसलिए वे ठीक सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१८६॥ सदा जागृत रहनेवाले इन योगिराजकी शय्या निर्जन एकान्त स्थानमें ही होती थी और जब कभी आसन भी पवित्र तथा निर्जीव स्थानमें ही होता था । सदा जागृत रहनेवाले और इन्द्रियोंको जीतनेवाले वे भगवान् न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर बहुत बैठते ही थे किन्तु भोगोपभोगका त्याग कर प्रयत्नपूर्वक अर्थात् ईर्यासमितिका पालन करते हुए समस्त पृथिवीमें विहार करते रहते थे । भावार्थ-भगवान् सदा जागृत रहते थे इसलिए उन्हें शय्याकी नित्य आवश्यकता नहीं पड़ती थी परन्तु जब कभी विश्रामके लिए लेटते भी थे तो किसी पवित्र और एकान्त स्थानमें ही शय्या लगाते थे । इसी प्रकार विहारके अतिरिक्त ध्यान आदिके समय एकान्त और पवित्र स्थानमें ही आसन लगाते थे । कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् विविक्तशय्यासन नामका तपश्चरण करते थे

---

१. स्वयं साध्ये सति । साधितुं योग्ये । सिद्धत्वे प०, ल०, द०, म० । २. नित्ये । निमित्तसप्तमी । ३. सज्ज्ञान-ल०, म० । ४. वर्षसंबन्धि । ५. तेन कारणेन । ६. कायक्लेशम् । ७. वीर. इ० । ८. प्रतिसमयमसंख्यातगुणितक्रमेण कर्मणां निर्जरागुणश्रेणिस्तया । ९. जागरणशीलस्य । १०. अवकाशे । ११. 'व्यक्तभुक्त-जितेन्द्रिय.' इत्यपि क्वचित् पाठ ।

इति बाह्यं तपः षोढा चरन् परमदुश्चरम्। आभ्यन्तरं च षड्भेदं तपो भेजे स योगिराट् ॥१८९॥
प्रायश्चित्तं तपस्तस्मिन् मुनौ निरतिचारके। चरितार्थमभूत्[1] किं नु भानोरस्त्यान्तरं[2] तमः ॥१९०॥
प्रश्रयश्च[3] तदास्यासीत् प्रश्रितोऽन्तर्निलीनताम्। विनेता[4] विनयं कस्य स कुर्यादग्रिमः पुमान् ॥१९१॥
अथवा प्रश्रयी सिद्धानसौ भेजे सिषित्सया[5]। नमः सिद्धेभ्य इत्येव यतो दीक्षामुपायत[6] ॥१९२॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यगुणेषु च। यथार्हं विनयोऽस्यासीद् यतमानस्य[7] तत्त्वतः ॥१९३॥
वैयावृत्यं च तस्यासीन्मार्गव्यापृति[8] मात्रकम्। भगवान् परमेष्ठी[10] हि क्वान्यत्र व्यापृतो[11] भवेत् ॥१९४॥
इदमत्र तु तात्पर्यं प्रायश्चित्तादिके त्रये। तपस्यस्मिन्नियन्तृत्वं[12] न नियम्य[13]त्वमीशितुः ॥१९५॥

॥१८७-१८८॥ इस प्रकार वे योगिराज अतिशय कठिन छह प्रकारके बाह्य तपश्चरणका पालन करते हुए आगे कहे जानेवाले छह प्रकारके अन्तरंग तपका भी पालन करते थे ॥१८९॥ निरतिचार प्रवृत्ति करनेवाले मुनिराज वृषभदेवमें प्रायश्चित्त नामका तप चरितार्थ अर्थात् कृतकार्य हो चुका था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यके बीचमें भी क्या कभी अन्धकार रहता है ? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ–अतिचार लग जानेपर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता है। भगवान्के कभी कोई अतिचार लगता ही नहीं था अर्थात् उनका चारित्र सदा निर्मल रहता था इसलिए यथार्थमें उनके निर्मल चारित्रमें ही प्रायश्चित्त तप कृतकृत्य हो चुका था। जिस प्रकार कि सूर्यका काम अन्धकारको नष्ट करना है जहाँ अन्धकार होता है वहाँ सूर्यको अपना प्रकाश-पुञ्ज फैलानेकी आवश्यकता होती है परन्तु सूर्यके बीचमें अन्धकार नहीं होता इसलिए सूर्य अपने विषयमें चरितार्थ अथवा कृतकृत्य होता है ॥१९०॥

इसी प्रकार इनका विनय नामका तप भी अन्तर्निलीनताको प्राप्त हुआ था अर्थात् उन्हींमें अन्तर्भूत हो गया था क्योंकि वे प्रधान पुरुष सबको नम्र करनेवाले थे फिर भला वे किसकी विनय करते ? अथवा उन्होंने सिद्ध होनेकी इच्छासे विनयी होकर सिद्ध भगवान्की आराधना की थी क्योंकि 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी। अथवा यथार्थ प्रवृत्ति करनेवाले भगवान्की ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्य आदि गुणोंमें यथायोग्य विनय थी इसलिए उनके विनय नामका तप सिद्ध हुआ था ॥१९१-१९३॥ रत्नत्रय रूप मार्गमें व्यापार करना ही उनका वैयावृत्त्य तप कहलाता था क्योंकि वे परमेष्ठी भगवान् रत्नत्रयको छोड़कर और किसमें व्यापृत्ति (व्यापार) करते ? भावार्थ–दीन-दुःखी जीवोंकी सेवामें व्याप्त रहनेको वैयावृत्य कहते हैं परन्तु यह शुभ कषायका तीव्र उदय होते ही हो सकता है। भगवान्की शुभकषाय भी अतिशय मन्द हो गयी थी इसलिए उनकी प्रवृत्ति बाह्य व्यापारसे हटकर रत्नत्रय रूप मार्गमें ही रहती थी। अतः उसीकी अपेक्षा उनके वैयावृत्य तप सिद्ध हुआ था ॥१९४॥ यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वामी वृषभदेवके इन प्रायश्चित्त, विनय और वैयावृत्त्य नामक तीन तपोंके विषयमें केवल नियन्तापन ही था अर्थात् वे इनका दूसरोंके लिए उपदेश देते थे, स्वयं किसीके नियम्य नहीं थे अर्थात् दूसरोंसे उपदेश ग्रहण कर इनका पालन नहीं करते थे। भावार्थ—भगवान् इन तीनों तपोंके स्वामी थे न कि अन्य मुनियोंके

---

१ कृतार्थम्। २ रस्यन्तरं इ०। ३. विनय। ४. जनान् विनयवत् कुर्वन्नित्यर्थः। ५. सेद्धुमिच्छया। ६. 'अयि गतौ' इति धातु उपागमत् स्वीकृतवानित्यर्थः। ७. प्रयत्नं कुर्वाणस्य। ८ रत्नत्रयव्यापारमात्रकम्। ९ व्यावृत्ति इ०, स०, प०, ल०। -व्यावृत्ति–अ०, द०। १०. परं पदे तिष्ठतीति। ११. वैयावृत्यकृत.। व्यावृतो इ०, अ०, प०, स०, ल०। १२. नायकत्वम्। १३. नेयत्वम्।

यावान् धर्ममयः सर्गस्तं[1] कृत्स्नं स सनातनः । युगादौ प्रथयामास स्वानुष्ठानैर्निदर्शनैः[2] ॥१९६॥
[3]स्वधीतिनोऽपि तस्यासीत् स्वाध्यायः शुद्धये धियः । [4]सौवाध्यायिकतां[5] प्रापन् यतोऽद्यत्वेऽपि[6] संयताः ॥१९७॥
न बाह्याभ्यन्तरे चास्मिन् तपसि द्वादशात्मनि[7] । न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ॥१९८॥
स्वाध्यायेऽभिरतो भिक्षुर्निभृतः संवृतेन्द्रियः । भवेदेकाग्रधीर्धीमान् विनयेन समाहितः ॥१९९॥
विविक्तेषु वनाद्र्यद्रिकुञ्जप्रेतवनादिषु । मुहुर्व्युत्सृष्टकायस्य व्युत्सर्गाख्यमभूत्तपः ॥२००॥
देहाद् विविक्त[8]मात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः । व्युत्सर्गं स तपो भेजे स्वस्मिन् गात्रेऽपि निःस्पृहः ॥२०१॥
ततो व्युत्सर्गपूर्वोऽस्य [9]ध्यानयोगोऽभवद् विभोः । मुनिर्व्युत्सृष्टकायो हि स्वामी सद्ध्यानसंपदः ॥२०२॥
ध्यानाभ्यासं ततः[10] कुर्वन् योगी सुनिवृतो भवेत्[11] । शेषः[12] परिकरः सर्वो ध्यानमेवोत्तमं तपः ॥२०३॥

समान पालन करते हुए इनके अधीन रहते थे ॥१९५॥ इस संसारमें जो कुछ धर्म-सृष्टि थी सनातन भगवान् वृषभदेवने वह सब उदाहरणस्वरूप स्वयं धारण कर इस युगके आदिमें प्रसिद्ध की थी। भावार्थ–भगवान् धार्मिक कार्योंका स्वयं पालन करके ही दूसरोंके लिए उपदेश देते थे ॥१९६॥ यद्यपि भगवान स्वयं अनेक शास्त्रों (द्वादशाङ्ग) के जाननेवाले थे तथापि वे बुद्धिकी शुद्धिके लिए निरन्तर स्वाध्याय करते थे क्योंकि इन्हींका स्वाध्याय देखकर मुनि लोग आज भी स्वाध्याय करते हैं। भावार्थ–यद्यपि उनके लिए स्वाध्याय करना अत्यावश्यक नहीं था क्योंकि वे स्वाध्यायके विना भी द्वादशाङ्गके जानकार थे तथापि वे अन्य साधारण मुनियोंके हितके लिए स्वाध्यायकी प्रवृत्ति चलाना चाहते थे इसलिए स्वयं भी स्वाध्याय करते थे। उन्हें स्वाध्याय करते देखकर ही अन्य मुनियोंमें स्वाध्यायकी परिपाटी चली थी जो कि आजकल भी प्रचलित है ॥१९७॥ बाह्य और आभ्यन्तर भेदसहित बारह प्रकारके तपश्चरणमें स्वाध्यायके समान दूसरा तप न तो है और न आगे ही होगा ॥१९८॥ क्योंकि विनयसहित स्वाध्यायमें तल्लीन हुआ बुद्धिमान् मुनि मनके संकल्प-विकल्प दूर हो जानेसे निश्चल हो जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं और उसकी चित्त-वृत्ति किसी एक पदार्थके चिन्तवनमें ही स्थिर हो जाती है। भावार्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनिको ध्यानकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है ॥१९९॥ वनके प्रदेश, पर्वत, लतागृह और श्मशानभूमि आदि एकान्त प्रदेशोंमें शरीरसे ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग करनेवाले भगवान्के व्युत्सर्ग नामका पाँचवाँ तपश्चरण भी हुआ था ॥२००॥ वे भगवान् आत्माको शरीरसे भिन्न देखते थे और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंका पालन करते थे। इस प्रकार अपने शरीरमें भी निःस्पृह रहनेवाले भगवान् व्युत्सर्ग नामक तपका अच्छी तरह पालन करते थे ॥२०१॥ तदनन्तर स्वामी वृषभदेवके व्युत्सर्गतपश्चरणपूर्वक ध्यान नामका तप भी हुआ था, सो ठीक ही है शरीरसे ममत्व छोड़ देनेवाला मुनि ही उत्तम ध्यानरूपी सम्पदाका स्वामी होता है ॥२०२॥ योगिराज वृषभदेव ध्यानाभ्यासरूप तपश्चरण करते हुए ही कृतकृत्य हुए थे क्योंकि ध्यान ही उत्तम तप कहलाता है उसके सिवाय बाकी सब उसीके साधन मात्र कहलाते हैं। भावार्थ—सबसे उत्तम तप ध्यान ही है क्योंकि कर्मोंकी साक्षात् निर्जरा ध्यानसे ही होती है। शेष ग्यारह प्रकारके तप ध्यानके सहायक कारण हैं ॥२०३॥

---

१. कृत्स्नं ल०, म०। २. –निदेशनैः अ०, इ०, स०। ३. सुष्ठु अधीतमनेनेति स्वधीती तस्य। ४. स्वाध्यायप्रवृत्तताम्। ५. प्राप्ताः। ६. इदानीन्तनकालेऽपि। ७. द्वादशात्मके ल०, इ०, म०, द०, अ०, प०। ८. भिन्नम्। ९ ध्यानयोजनम्। १० तपः ल०। ११. सुनिवृतोऽभवत् ल०, म०, अ०, स०। सुनिभृतो भवेत् इ०। सुनिभृतोऽभवत् प०, द०। १२. ध्यानादन्यदेकादशविधं तपः।

मनोऽक्षग्रामकायानां तपनात् सन्निरोधनात्। तपो निरुच्यते तज्ज्ञैस्तद्विधं द्वादशात्मकम् ॥२०४॥
विपुलां निर्जरामिच्छन् महोदर्कं[1] च संवरम्। यतते स्म तपस्यस्मिन् द्विषड्भेदे विदांवरः ॥२०५॥
सगुप्तिसमितिं धर्मं सानुप्रेक्षं क्षमादिकम्। परीषहांजयन् सम्यक्चारित्रं चाचरच्चिरम् ॥२०६॥
ततो दिध्यासुनानेन[2] योग्या देशाः सिषेविरे। विविक्ता रमणीया ये विमुक्ता रागकारणैः ॥२०७॥
गुहापुलिनगिर्यग्रजीर्णोद्यानवनादयः। नात्युष्णशीतसम्पाता[3] देशाः [4]साधारणाश्च ये ॥२०८॥
कालश्च नातिशीतोष्ण[5]भूयिष्ठो जनतासुखः। भावश्च ज्ञानवैराग्यधृतिक्षान्त्यादिलक्षणः ॥२०९॥
[6]द्रव्याण्यप्यनुकूलानि यानि संक्लेशहानये[7]। प्रसविष्णूनि[8] तानीशः[9] सिषेवे ध्यानसिद्धये ॥२१०॥
कदाचिद् गिरिकुञ्जेषु[10] कदाचिद् गिरिकन्दरे[11]। कदाचिच्चाद्रिशृङ्गेषु दध्यावध्यात्मतत्त्ववित् ॥२११॥
[12]कर्हिचिद् बर्हिणारावरम्योपान्तेषु हारिषु। गिर्यग्रेषु शिलापट्टान[13][14]ध्यास्ताध्यात्मशुद्धये ॥२१२॥
अगो[15]ष्पदेष्वरण्येषु कदाचिदनुप[16]द्रुते। निर्जन्तुके वि[17]विक्ते च स्था[18]ण्डिलेऽस्थात् समाधये ॥२१३॥

मन इन्द्रियोंका समूह और काय इनके तपन तथा निग्रह करनेसे ही तप होता है ऐसा तपके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं और वह तप अनशन आदिके भेदसे बारह प्रकारका होता है ॥२०४॥ विद्वानोंमें अतिशय श्रेष्ठ वे भगवान् कर्मोंकी बड़ी भारी निर्जरा और उत्तम फल देनेवाले संवरकी इच्छा करते हुए इन बारह प्रकारके तपोंमें सदा प्रयत्नशील रहते थे ॥२०५॥ वे भगवान् परीषहोंको जीतते हुए गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि धर्म और सम्यक् चारित्रका चिरकाल तक पालन करते रहे थे। भावार्थ—गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र इन पाँच कारणोंसे नवीन आते हुए कर्मोंका आस्रव रुककर संवर होता है। जिनेन्द्र देवने इन पाँचों ही कारणोंको चिरकाल तक धारण किया था ॥२०६॥ तदनन्तर ध्यान-धारण करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान् ध्यानके योग्य उन-उन प्रदेशोंमें निवास करते थे जो कि एकान्त थे, मनोहर थे और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली सामग्रीसे रहित थे ॥२०७॥ जहाँ न अधिक गरमी पड़ती हो और न अधिक शीत ही होता हो जहाँ साधारण गरमी-सर्दी रहती हो अथवा जहाँ समान रूपसे सभी आ-जा सकते हों ऐसे गुफा, नदियोंके किनारे, पर्वतके शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यानके योग्य क्षेत्र कहलाते हैं। इसी प्रकार जिसमें न बहुत गरमी और न बहुत सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियोंको दुखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यानके योग्य काल कहलाता है। ज्ञान, वैराग्य, धैर्य और क्षमा आदि भाव ध्यानके योग्य भाव कहलाते हैं और जो पदार्थ क्षुधा आदिसे उत्पन्न हुए संक्लेशको दूर करनेमें समर्थ हैं ऐसे पदार्थ ध्यानके योग्य द्रव्य कहलाते हैं। स्वामी वृषभदेव ध्यानकी सिद्धिके लिए अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल और भावका ही सेवन करते थे। ॥२०८-२१०॥ अध्यात्म तत्त्वको जाननेवाले वे भगवान् कभी तो पर्वतपरके लतागृहोंमें, कभी पर्वतकी गुफाओंमें और कभी पर्वतके शिखरोंपर ध्यान लगाते थे ॥२११॥ वे भगवान् अध्यात्मकी शुद्धिके लिए कभी तो ऐसे-ऐसे सुन्दर पहाड़ोंके शिखरोंपर पड़े हुए शिलातलोंपर आरूढ़ होते थे कि जिनके समीप भाग मयूरोंके शब्दोंसे बड़े ही मनोहर हो रहे थे ॥२१२॥ कभी-कभी समाधि (ध्यान) लगानेके लिए वे भगवान् जहाँ गायोंके खुरों तकके चिह्न नहीं थे ऐसे अगम्य वनोंमें उपद्रवशून्य जीवरहित

१ महोत्तरफलम्। २ ध्यातुमिच्छुना। ३. संप्राप्तिः। ४. न पराधीनाः। सर्वैः सेव्या इत्यर्थः। ५. अत्यर्थशीतोष्णबाहुल्यरहितः। ६. आहारादीनि। ७. संक्लेशविनाशाय। ८. उत्पादकानि। ९. प्रभुः। १०. लतादिपिहितोदरे प्रदेशे। ११ दर्याम्। १२. कदाचित्। १३. शिलापट्टेषु। १४. अध्यास्ते स्म। १५. मानरहितेषु, अगोगम्येषु वा : 'गोष्पदं गोखुरश्वभ्रे नानगोगम्यदेशेऽपि' इत्यभिधानात्। १६. उपद्रवरहिते। १७ पूते। १८. शुद्धपाषाणभूमौ।

कदाचित् प्रान्तपर्यस्त[1]निर्झरैस्ततशीकरैः । कृतशैत्ये नगोत्सङ्गे सोऽगाद् योगैक[2]तानताम् ॥२१४॥
[3]नक्तं नक्त[4]ञ्चरैर्भीमैः स्वैरमारब्धताण्डवे । पितृवनोपान्ते ध्यायन् सोऽस्थात् कदाचन ॥२१५॥
कदाचिन्निम्नगातीरे शुचिसैकतचारुणि । कदाचिच्च सरस्तीरे वनोद्देशेषु हारिषु ॥२१६॥
मनोव्या[5]क्षेपहीनेषु देशेष्वन्येषु च क्षमी । ध्यानाभ्यासमसौ कुर्वन् विजहार महीमिमाम् ॥२१७॥
मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान् प्रविहरन् शनैः । पुरं पुरिमतालाख्यं सुधीरन्येद्युरासदत् ॥२१८॥
नात्यासन्नविदूरेऽ[6]स्मादुद्याने शकटाह्वये । [7]शुचौ निराकुले रम्ये विवि[8]क्तेऽस्थाद् विजन्तुके ॥२१९॥
न्यग्रो[9]धपादपस्याधः शिलापट्टं शुचिं पृथुम् । सोऽध्यासीनः समाधानमधाद्[10]ध्यानाय शुद्धधीः ॥२२०॥
[11]तत्र पूर्वमुखं स्थित्वा कृतप[12]ल्यङ्कबन्धनः । ध्याने प्रणिदधौ चित्तं लेश्याशुद्धिं परां दधत् ॥२२१॥
चेतसा सोऽभिसं[13]धाय परं [14]पदमनुत्तरम् । दधौ सिद्धगुणानष्टौ प्रागेव सुविशुद्धधीः ॥२२२॥
सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानमनन्तं वीर्यमद्भुतम् । सौक्ष्म्या[15]वगाह्या[16]व्याबाधाः सहागुरुलघुत्वकाः ॥२२३॥

और एकान्त विषम भूमिपर विराजमान होते थे ॥२१३॥ कभी-कभी पानीके छींटे उड़ाते हुए समीपमें बहनेवाले निर्झरनोंसे जहाँ बहुत ठण्ड पड़ रही थी ऐसे पर्वतके ऊपरी भागपर वे ध्यानमें तल्लीनताको प्राप्त होते थे ॥२१४॥ कभी-कभी रातके समय जहाँ अनेक राक्षस अपनी इच्छानुसार नृत्य किया करते थे ऐसी श्मशान भूमिमें वे भगवान् ध्यान करते हुए विराजमान होते थे ॥२१५॥ कभी शुक्ल अथवा पवित्र बालूसे सुन्दर नदीके किनारेपर, कभी सरोवरके किनारे, कभी मनोहर वनके प्रदेशोंमें और कभी मनकी व्याकुलता न करनेवाले अन्य कितने ही देशोंमें ध्यानका अभ्यास करते हुए उन क्षमाधारी भगवान्ने इस समस्त पृथिवीमें विहार किया था ॥२१६-२१७॥ मौनी, ध्यानी और मानसे रहित वे अतिशय बुद्धिमान् भगवान् धीरे-धीरे अनेक देशोंमें विहार करते हुए किसी दिन पुरिमताल नामके नगरके समीप जा पहुँचे ॥२१८॥ उसी नगरके समीप एक शकट नामका उद्यान था जो कि उस नगरसे न तो अधिक समीप था और न अधिक दूर ही था। उसी पवित्र, आकुलतारहित, रमणीय, एकान्त और जीवरहित वनमें भगवान् ठहर गये ॥२१९॥ शुद्ध बुद्धिवाले भगवान्ने वहाँ ध्यानकी सिद्धिके लिए वटवृक्षके नीचे एक पवित्र तथा लम्बी-चौड़ी शिलापर विराजमान होकर चित्तकी एकाग्रता धारण की ॥२२०॥ वहाँ पूर्व दिशाकी ओर मुख कर पद्मासनसे बैठे हुए तथा लेश्याओंकी उत्कृष्ट शुद्धिको धारण करते हुए भगवान्ने ध्यानमें अपना चित्त लगाया ॥२२१॥

अतिशय विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने सबसे पहले सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-पदमें अपना चित्त लगाया और सिद्ध परमेष्ठीके आठ गुणोंका चिन्तवन किया ॥२२२॥ अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त और अद्भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये आठ सिद्धपरमेष्ठीके गुण कहे गये हैं, सिद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालोंको इन गुणोंका अवश्य ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल

---

१ व्याप्त । २. ध्यानैकाग्रतानताम् । ३. रात्रौ । ४. राक्षसैः । ५. व्याकुल । ६ अस्मात् पुरात् । ७. 'पुमांश्चान्यतोऽन्यणि'ति सूत्रेण पुंवद्भावः । ८. विजने । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यभिधानात् । ९ वट । १०. साधात् इति पाठे अकरोत् । अधादिति पाठे धरति स्म । ११. शिलापट्टे । १२. -पर्यङ्क-ल०, म०, द०, स०, अ० । १३. अभिप्रायगतं कृत्वा । १४. अक्षयस्थानम् । १५. सूक्ष्मत्व । १६. अवगाहित्व ।

प्रोक्ताः सिद्धगुणा ह्यष्टौ ध्येयाः सिद्धिमभीप्सुना । [1]द्रव्यतः क्षेत्रतः[2] कालाद्[3] भावतश्[4]च तथा[5] परे॥२२४॥
गुणैर्द्वादश[6]भिर्युक्तो मुक्तः सूक्ष्मो निरञ्जनः । स ध्येयो योगिभिर्व्यक्तो नित्यः शुद्धो मुमुक्षुभिः ॥२२५॥
ततो दध्यावनुप्रेक्षा [7]दिध्यासुर्धर्म्यमुत्तमम्[8] । पारि[9]कर्मितास्तस्य शुभा[10] द्वादशभावनाः ॥२२६॥
तासां नामस्वरूपं च पूर्वमेवानुवर्णितम् । ततो धर्म्यमसौ ध्यानं प्रपेदे धीद्ध[11]शुद्धिकः ॥२२७॥
आज्ञाविचयमाद्यं तदपाय[12]विचय तथा । विपाक[13]विचयं चान्यत् संस्थानविचयं परम् ॥२२८॥
स्वनामव्यक्ततत्त्वा[14]नि धर्म्यध्यानानि सोऽध्यगात्[15] । यतो महत्तमं पुण्यं स्वर्गाग्रसुखसाधनम् ॥२२९॥
क्षालितागःपरागस्य विरागस्यास्य योगिनः । प्रमादः क्वाप्यभून्नैत[16]स्तदा[17]ज्ञानादिशक्तिभिः॥२३०॥
ज्ञानादिपरिणामेषु परां शुद्धिमुपेयुषः । लेशतोऽप्यस्य नाभूवन् दुर्लेश्याः क्लेशहेतवः ॥२३१॥
तदा ध्यानमयी शक्तिः स्फुरन्ती ददृशे विभोः । मोहारिनाशपिशुना महोल्केव[18] विजृम्भिता ॥२३२॥

तथा भावकी अपेक्षा उनके और भी चार साधारण गुणोंका चिन्तवन करना चाहिए। इस तरह जो ऊपर कहे हुए बारह गुणोंसे युक्त है, कर्मबन्धनसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं, निरञ्जन हैं-रागादि भाव कर्मोंसे रहित है, व्यक्त हैं, नित्य हैं और शुद्ध है ऐसे सिद्ध भगवान्का मोक्षाभिलाषी मुनियोंको अवश्य ही ध्यान करना चाहिए ॥२२३-२२५॥ पश्चात् उत्तम धर्मध्यानकी इच्छा करनेवाले भगवान्ने अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन किया क्योंकि शुभ बारह अनुप्रेक्षाएँ ध्यानकी परिवार अवस्थाको ही प्राप्त हैं अर्थात् ध्यानका ही अंग कहलाती हैं ॥२२६॥ उन बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम और स्वरूपका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। तदनन्तर बुद्धिकी अतिशय विशुद्धिको धारण करनेवाले भगवान् धर्मध्यानको प्राप्त हुए ॥२२७॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इस प्रकार धर्मध्यानके चार भेद हैं। जिनका स्वरूप अपने नामसे प्रकट हो रहा है ऐसे ऊपर कहे हुए चारों धर्मध्यान जिनेन्द्रदेवने धारण किये थे क्योंकि उनसे स्वर्ग लोकके श्रेष्ठ सुखोंके कारणस्वरूप बड़े भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥२२८-२२९॥ जिनका पापरूपी पराग (धूलि) धुल गया है और राग-द्वेष आदि विभाव नष्ट हो गये हैं ऐसे योगिराज वृषभदेवके अन्तःकरणमें उस समय ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियोंके कारण किसी भी जगह प्रमाद नहीं रह सका था। भावार्थ-धर्मध्यानके समय जिनेन्द्रदेव प्रमादरहित हो 'अप्रमत्त संयत' नामके सातवें गुणस्थानमें विद्यमान थे ॥२३०॥ ज्ञान आदि परिणामोंमें परम विशुद्धताको प्राप्त हुए जिनेन्द्रदेवके क्लेश उत्पन्न करनेवाली अशुभ लेश्याएँ अंशमात्र भी नहीं थीं। भावार्थ-उस समय भगवान्के शुक्ल लेश्या ही थी ॥२३१॥ उस समय देदीप्यमान हुई भगवान्की ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई देती थी मानो मोहरूपी शत्रुके नाशको सूचित करनेवाली चढी हुई बड़ी भारी उल्का ही हो ॥२३२॥

---

१. द्रव्यमाश्रित्य चेतनत्वादय । २ क्षेत्रमाश्रित्य असंख्यातप्रदेशित्वादय । ३. कालमाश्रित्य त्रिकालं व्यापित्वादय । ४. भावमाश्रित्य परिणामिकादय । ५ साधारणगुणा । ६ सम्यक्त्वाद्यष्टौ, द्रव्याश्रयतश्चत्वार इति द्वादशगुणैः । ७ ध्यातुमिच्छु । ८ –धर्ममुत्तमम् ल०, म० । धमादपेतम् । ९. परिकरत्वम् । १०. शुद्धा इत्यपि क्वचित् । ११ धिय इद्धा प्रवृद्धा शुद्धिर्यस्य स । १२ आज्ञा आगमस्तद्गदितवस्तुविचारो विचयः सोऽस्त्यास्तीति । अपायविचय कर्मणाम् । १३ शुभाशुभकर्मोदयजनितसुखदु खभेदप्रभेदचिन्ता । १४. स्वरूपाणि । १५. ध्यायति स्म । १६ इत प्राप्त । –प्यभून्नान्तस्तदा इ०, द०, ल०, म०, अ०, प०, स० । १७ ज्ञान-सम्यक्त्वचारित्र । १८ नक्षत्रपात ।

आरचय्य तदा कृत्स्नं [1]विशुद्धिबलमग्रतः[2] । निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविभागेन त्रिधा कृतम् ॥२३३॥
कृतान्तः [3]शुद्धिरुद्धूत[4]कृतान्तकृतविक्रियः । [5]उत्तस्थे सर्वसामग्र्यो [6]मोहारिपृतनाजये ॥२३४॥
शिरस्त्राणं[7] तनुत्रं च[8] तस्यासीत् संयमद्वयम्[9] । जैत्रमस्त्रं च सद्ध्यानं मोहारातिं बिभित्सतः[10] ॥२३५॥
बलव्यसनरक्षार्थं[11] ज्ञानामात्याः पुरस्कृताः । विशुद्धपरिणामश्च सैनापत्ये[12] नियोजितः ॥२३६॥
गुणाः सैनिकतां[13] नीता दुर्भेदा[14] ध्रुवयोधिनः[15] । तेषां[16] हन्तव्यपक्षे च रागाद्याः प्रतिचक्रिताः[17] ॥२३७॥
इत्यायोजितसैन्यस्य जयोद्योगे जगद्गुरोः । गुणश्रेणिबलादीर्णं[18] [19]कर्मसैन्यं[20] नु शल्कशः[21] ॥२३८॥
यथा यथोत्तराशुद्धिरास्कन्दति[22] तथा तथा । कर्मसैन्यस्थितेर्भङ्गः संजातश्च रसक्षयः[23] ॥२३९॥

जिस प्रकार कोई राजा अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मन्त्री आदिको शुद्ध कर–उनकी जाँचकर अपनी सेनाके जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन भेद करता है और उनको आगे कर मरणभयसे रहित हो सब सामग्रीके साथ शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिए उठ खड़ा होता है उसी प्रकार भगवान् वृषभदेवने भी अपनी अन्तःप्रकृति अर्थात् मनको शुद्ध कर—संकल्प-विकल्प दूर कर अपनी विशुद्धिरूपी सेनाके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद किये और फिर उस तीनों प्रकारकी विशुद्धिरूपी सेनाको आगे कर यमराज-द्वारा की हुई विक्रिया (मृत्यु-भय) को दूर करते हुए सब सामग्रीके साथ मोहरूपी शत्रुकी सेना अर्थात् मोहनीय कर्मके अट्ठाईस अवान्तर भेदोंको जीतनेके लिए तत्पर हो गये ॥२३३-२३४॥ मोहरूपी शत्रुको भेदन करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्ने इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम रूप दो प्रकारके संयमको क्रमसे शिरकी रक्षा करनेवाला टोप और शरीरकी रक्षा करनेवाला कवच बनाया था तथा उत्तम ध्यानको जयशील अस्त्र बनाया था ॥२३५॥ विशुद्धिरूपी सेनाकी आपत्तिसे रक्षा करनेके लिए उन्होंने ज्ञानरूपी मन्त्रियोंको नियुक्त किया था और विशुद्ध परिणामको सेनापतिके पदपर नियुक्त किया था ॥२३६॥ जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो निरन्तर युद्ध करनेवाले थे ऐसे गुणोंको उन्होंने सैनिक बनाया तथा राग आदि शत्रुओंको उनके हन्तव्य पक्षमें रखा ॥२३७॥ इस प्रकार समस्त सेनाकी व्यवस्था कर जगद्गुरु भगवान्ने ज्यों ही कर्मोंके जीतनेका उद्योग किया त्यों ही भगवान्की गुण-श्रेणी निर्जराके बलसे कर्मरूपी सेना खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होने लगी ॥२३८॥ ज्यों-ज्यों भगवान्की विशुद्धि आगे-आगे बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों कर्मरूपी सेनाका भंग और रस अर्थात् फल देनेकी शक्ति

---

१. परिणामशक्ति । पक्षे विश्वासहेतुभूतसैन्यं च । २. प्रथम पुरोभागे च । ३. विहितान्तःकरणशुद्धिः । पक्षे कृतसेनान्तःशुद्धिः । ४. उद्धूता निरस्ता कृतान्तेन यमेन कृता विक्रिया विकारो येनासौ । ५. उद्दीप्तो-ऽभूत् । उत्तस्थौ द०, ल०, प०, इ०, स०, ल०, म० । ६. मोहनीयशत्रुसेनाविजयार्थम् । ७. शिरःकवचम् । ८. कवचम् । वर्म दंशनम् । 'उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । ९. इन्द्रियसंयम-प्राणिसंयमद्वयम् । उपेक्षासंयमापहृतसंयमद्वयं वा । १०. भेत्तुमिच्छतः । ११. विशुद्धशक्तेर्भ्रंशपरिहारार्थम् । पक्षे सेनाभ्रंशपरिहारार्थम् । १२. सेनापतित्वे । १३. सेनाचरत्वम् । १४. दुःखेन भेद्याः । १५. नियमेन योद्धारः । १६. भटानाम् । १७. रचिताः । १८. विदारितं गलितं वा । १९. गुणसेनाभिः । २०. इव । २१. खण्डशः । 'शल्कं शकलवल्कले' इत्यभिधानात् । २२. गच्छति, वर्द्धते । २३. शक्तिक्षयः, पक्षे हर्षक्षयः ।

परप्रकृति[1] संक्रान्तिः स्थितेर्भेदो रसच्युतिः[2] । [3]निर्जराश्च गुणश्रेण्या तद्वर्गान् कर्मवैरिणाम् ॥२४०॥

अन्तः[4]प्रकृतिसंक्षोभं मूलोद्वर्तं च[5] कर्मणाम् । योगशक्त्या स योगीन्द्रो विजिगीषुरिवातनोत् ॥२४१॥

भूयोऽप्रमत्ततां प्राप्य भावयन् शुद्धिमुद्धुराम्[6] । आरुक्षत् क्षपकश्रेणीं निश्रेणीं मोक्षसद्मनः ॥२४२॥

अथ प्रवृत्तकरणमप्रमादेन भावयन् । अपूर्वकरणो[7] भूत्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् ॥२४३॥

[8]तत्राद्यं शुक्लमापूर्य ध्यानेद्ध्या[9] नतिशुद्धिकः । मोहराजबलं कृत्स्नमपातयदसाध्वसः ॥२४४॥

[10]अङ्गरक्षानिवास्याष्टौ कषायान्निरपिपेष[11] सः । वेद[12]शक्तीस्ततस्तिस्रो नो कषायाह्वयान्भटान् ॥२४५॥

ततः सञ्ज्वलनक्रोधं महानायकमग्रहम्[13] । मानमप्यस्य पाश्चात्य[14] मायां लोभं च बादरम् ॥२४६॥

[15]प्रमृथैतान्[16] महाध्यानरङ्गे चारित्रसद्ध्वजः । निशातज्ञाननिस्त्रिंशो दयाकवचवर्मितः[17] ॥२४७॥

का विनाश होता जाता था ॥२३९॥ उस समय भगवान्‌के कर्मरूपी शत्रुओंमें परप्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था अर्थात् कर्मोंकी एक प्रकृति अन्य प्रकृति रूप बदल रही थी, उनकी स्थिति घट रही थी, रस अर्थात् फल देनेकी शक्ति क्षीण हो रही थी और गुण-श्रेणी निर्जरा हो रही थी ॥२४०॥ जिस प्रकार कोई विजयाभिलाषी राजा शत्रुओंकी मन्त्री आदि अन्तरङ्ग प्रकृतिमें क्षोभ पैदा करता है और फिर शत्रुओंको जड़से उखाड़ देता है उसी प्रकार योगिराज भगवान् वृषभदेवने भी अपने योगबलसे पहले कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंमें क्षोभ उत्पन्न किया था और फिर उन्हें जड़सहित उखाड़ फेकनेका उपक्रम किया था अथवा मूल प्रकृतियोंमें उद्वर्तन (उद्वेलन आदि संक्रमणविशेष) किया था ॥२४१॥ तदनन्तर उत्कृष्ट विशुद्धिकी भावना करते हुए भगवान् अप्रमत्त अवस्थाको प्राप्त होकर मोक्षरूपी महलकी सीढ़ीके समान क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए ॥२४२॥ प्रथम ही उन्होंने प्रमादरहित हो अप्रमत्तसंयत नामके सातवें गुणस्थानमें अधःकरणकी भावना की और फिर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थानमें प्राप्त हुए ॥२४३॥ वहाँ उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नामका पहला शुक्लध्यान धारण किया और उसके प्रवाहसे विशुद्धि प्राप्त कर निर्भय हो मोहरूपी राजाकी समस्त सेनाको पछाड़ दिया ॥२४४॥ प्रथम ही उन्होंने मोहरूपी राजाके अंगरक्षकके समान अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी आठ कषायोंको चूर्ण किया फिर नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और पुरुषवेद ऐसे तीन प्रकारके वेदोंको तथा नौ कषाय नामके हास्यादि छह योद्धाओंको नष्ट किया था ॥२४५॥ तदनन्तर सबसे मुख्य और सबके आगे चलनेवाले सञ्ज्वलन क्रोधको, उसके बाद मानको, मायाको और बादर लोभको भी नष्ट किया था। इस प्रकार इन कर्म-शत्रुओंको नष्ट कर महाध्यानरूपी रंगभूमिमें चारित्ररूपी ध्वज फहराते हुए ज्ञानरूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए और दयारूपी कवचको धारण किये हुए महायोद्धा भगवान्‌ने अनिवृत्ति अर्थात् जिससे पीछे नहीं हटना पड़े ऐसी नवम गुणस्थान रूप

---

१ अप्रशस्तानां बन्धोज्झितानां प्रकृतीनां द्रव्यस्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणं सजातीयप्रकृतिषु संक्रमणम्। पक्षे शत्रुनेनासंक्रमणम्। २. अनुभागहानिः, पक्षे हर्षक्षयः। ३ निर्जरा। ४. भावकर्म, पक्षे आप्तबलम्। ५ मूलप्रकृतिमर्दनम्, पक्षे मूलबलमर्दनम्। ६. –मुत्तराम् म०। ७ अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती भूत्वा। ८. गुणस्थाने। ९ ज्ञानदीप्त्या। –ध्यानात्तशुद्धिकः द०, प०, अ०, इ०, स०, ल०, म०। १० मोहराजस्याङ्गरक्षकान्। ११. चूर्णीचकार। १२. पुवेदादिशक्तीः, पक्षे प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीः। १३. दुर्ग्राह्यम्। –मग्रगम् द०, इ०, अ०, प०, ल०, म०। १४. पश्चाद्भवम्। १५. चूर्णीकृत्य। प्रमृद्यैतान् ल०, म०, इ०, द०, स०। १६ सञ्ज्वलनक्रोधादिचतुर। १७. सज्ज। 'सन्नद्धो वर्मितः सज्जो दंशितो व्यूढकण्टकः।' इत्यभिधानात्

जग्राह जयभूमिं[1] तामनिवृत्तिं[2] महाभटः । भटानां ह्यनिवृत्तीनां परकीयं[3] न चाग्रतः ॥२४८॥

करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽर्थपदानि[4] वै । ज्ञेयान्यमूनि[5] सूत्रार्थसद्भावज्ञैरनुक्रमात् ॥२४९॥

करणाः परिणामा ये विभक्ताः प्रथमक्षणे[6] । ते भवेयुर्द्वितीये[7] यस्मिन् क्षणेऽन्ये[8] च पृथग्विधाः ॥२५०॥

द्वितीयक्षणसंबन्धिपरिणामकदम्बकम् । तच्चान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात्[9] ॥२५१॥

ततश्चाधः प्रवृत्ताख्यं करणं तन्निरुच्यते[10] । अपूर्वकरणेनैवं[11] ते ह्यपूर्वाः प्रतिक्षणम् ॥२५२॥

करणे त्वनिवृत्ता[12]ख्ये न निवृत्ति[13]रिहाङ्गिनाम् । परिणामैर्मिथस्ते हि समभावाः प्रतिक्षणम् ॥२५३॥

[14]तत्राद्ये[15] करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । [16]हापयेत् केवलं शुद्धयन् बन्धं स्थित्यनुभागयोः ॥२५४॥

अपूर्वकरणेऽप्येवं किं तु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादग्रं गुणश्रेण्यां[17] कुर्वन् संक्रम[18]निर्जरे ॥२५५॥

तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः पटिष्ठधीः[19] । अकृत्वा[20]न्तरमुच्छिन्द्यात् कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥२५६॥

अनिवृत्ति नामकी जयभूमि प्राप्त की सो ठीक ही है क्योंकि पीछे नहीं हटनेवाले शूर-वीर योद्धाओंके आगे शत्रुकी सेना आदि नहीं ठहर सकती ॥२४६-२४८॥ अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका यथार्थ स्वरूप प्रकट करनेके लिए आगमके यथार्थ भावको जाननेवाले गणधरादि देवोंने जो ये अर्थसहित पद कहे हैं वे अनुक्रमसे जानने योग्य हैं अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥२४९॥ अधःप्रवृत्तिकरणके प्रथम क्षणमें जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षणमें होते हैं तथा इसी दूसरे क्षणमें पूर्व परिणामोंसे भिन्न और भी परिणाम होते हैं। इसी प्रकार द्वितीय क्षणसम्बन्धी परिणामोंका जो समूह है वही तृतीय क्षणमें होता है तथा उससे भिन्न जातिके और भी परिणाम होते हैं, यही क्रम चतुर्थ आदि अन्तिम समय तक होता है इसीलिए इस करणका अधःप्रवृत्तिकरण ऐसा सार्थक नाम कहा जाता है। परन्तु अपूर्वकरणमें यह बात नहीं है क्योंकि वहाँ प्रत्येक अपूर्व ही परिणाम होते रहते हैं इसलिए इस करणका भी अपूर्वकरण यह सार्थक नाम है। अनिवृत्तिकरणमें जीवोंकी निवृत्ति अर्थात् विभिन्नता नहीं होती क्योंकि इसके प्रत्येक क्षणमें रहनेवाले सभी जीव परिणामोंकी अपेक्षा परस्परमें समान ही होते हैं इसलिए इस करणका भी अनिवृत्तिकरण यह सार्थक नाम है ॥२५०-२५३॥ इन तीनों करणोंमें-से प्रथम करणमें स्थिति घात आदिका उपक्रम नहीं होता, किन्तु इसमें रहनेवाला जीव शुद्ध होता हुआ केवल स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्धको कम करता रहता है ॥२५४॥ दूसरे अपूर्वकरणमें भी यही व्यवस्था है किन्तु विशेषता इतनी है कि इस करणमें रहनेवाला जीव गुण-श्रेणीके द्वारा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धका संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनोंके अग्रभागको नष्ट कर देता है ॥२५५॥ इसी प्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरणमें प्रवृत्ति करनेवाला कर्मरूपी अतिशय बुद्धिमान् जीव भी परिणामोंकी विशुद्धिमें अन्तर न डालकर सोलह और आठ शत्रुओंको उखाड़ फेंकता है ॥२५६॥

---

१. जयस्थानम् । २ अनिवृत्तिकरणस्थानम् । –मनिवर्ती महा अ०, प०, द०, इ०, स० । –मनिवृत्ति-महा ब० । ३. परबलम् । ४. अर्थमनुगतानि पदानि । ५. वक्ष्यमाणानि । ६. प्रथमे क्षणे प०, द०, म०, ल० । ७. द्वितीयोऽस्मिन् प०, इ० । ८ अपरमपि । ९ अध प्रवृत्तकरणचरमसमयपर्यन्तम् । १०. निरुक्तिरूपेण निगद्यते । ११. अध प्रवृत्तिकरणलक्षणवत् परिणामा । १२. –वृत्त्याख्ये ल०, म०, । १३. भेदः । १४. अधःप्रवृत्तादित्रये । १५. अध.प्रवृत्तकरणे । १६ हापना हानिं कुर्यात् । १७. गुणश्रेण्यो द०, इ० । १८. प्रशस्तानां बन्धोज्झितानां प्रकृतीनां द्रव्यस्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणैः बन्ध्यमानसजातीयप्रवृत्तिषु सक्रमणं गुणसक्रम । १९. अतिशयेन पटुर्धी. । २०. अकृत्वान्तर प० ।

गत्योरथाद्ययोर्नाम[1] प्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धित्रिकं चा[2]स्थेद् घातेनैकेन योगिराट् ॥२५७॥
ततोऽष्टौ च कषायांस्तान् हन्यादध्यात्मतत्त्ववित् । पुन. कृतान्तरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥२५८॥
अश्वकर्णक्रियाकृष्टिकरणादिश्च यो विधिः[3] । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसाम्परायत्वसंश्रय ॥२५९॥
सूक्ष्मीकृतं ततो लोभं जयन्मोहं व्यजेष्ट सः । कर्षितो ह्यरिरुग्रोऽपि सुजयो विजिगीषुणा ॥२६०॥
तीव्रं ज्वलन्नसौ श्रेणीरङ्गे मोहारिनिर्जयात् । ज्येष्ठो मल्ल इवावल्गन् मुनिरप्रतिमल्लक ॥२६१॥
ततः क्षीणकषायत्वमक्षीणगुणसंग्रहः । प्राप्य तत्र रजोशेषमधुनात् स्नातको[4] भवन्[5] ॥२६२॥
ज्ञानदर्शन[6]वीर्यादिविघ्ना ये केचिदुद्धताः । तानशेषान् द्वितीयेन शुक्लध्यानेन चिच्छिदे ॥२६३॥
चतस्रः कटुका[7] कर्मप्रकृतीर्ध्यानवह्निना । निर्दहन् मुनिरुद्भूतकैवल्योऽभूत् स विश्वदृक् ॥२६४॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यविरतिः[8] शुद्धदर्शनम् । दानलाभौ च भोगोपभोगावानन्त्यमाश्रिताः ॥२६५॥

अथानन्तर योगिराज भगवान् वृषभदेवने नरक और तिर्यञ्चगतिमें नियमसे उदय आनेवाली नामकर्मकी तेरह (१ नरकगति, २ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, ३ तिर्यग्गति, ४ तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी, ५ एकेन्द्रिय जाति, ६ द्वीन्द्रियजाति, ७ त्रीन्द्रियजाति, ८ चतुरिन्द्रिय जाति, ९ आतप, १० उद्योत, ११ स्थावर, १२ सूक्ष्म और १३ साधारण) और स्त्यानगृद्धि आदि तीन (१ स्त्यानगृद्धि, २ निद्रानिद्रा और ३ प्रचलाप्रचला) इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंको एक ही प्रहारसे नष्ट किया ॥२५७॥ तदनन्तर अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले भगवान्ने आठ कषायों (अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणसम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) को नष्ट किया और फिर कुछ अन्तर लेकर शेष बची हुई (नपुंसक वेद, स्त्री वेद, पुरुष वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध, मान और माया) प्रकृतियोंको भी नष्ट किया ॥२५८॥ अश्वकर्ण क्रिया और कृष्टिकरण आदि जो कुछ विधि होती है वह सब भगवान्ने इसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें की और फिर वे सूक्ष्मसाम्पराय नामके दसवें गुणस्थानमें जा पहुँचे ॥२५९॥ वहाँ उन्होंने अतिशय सूक्ष्म लोभको भी जीत लिया और इस तरह समस्त मोहनीय कर्मपर विजय प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि वलवान् शत्रु भी दुर्बल हो जानेपर विजिगीषु पुरुष-द्वारा अनायास ही जीत लिया जाता है ॥२६०॥ उस समय क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमिमें मोहरूपी शत्रुके नष्ट हो जानेसे अतिशय देदीप्यमान होते हुए मुनिराज वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे किसी कुश्तीके मैदानसे प्रतिमल्ल (विरोधी मल्ल) के भाग जानेपर विजयी मल्ल सुशोभित होता है ॥२६१॥ तदनन्तर अविनाशी गुणोंका संग्रह करनेवाले भगवान् क्षीणकषाय नामके बारहवें गुण-स्थानमें प्राप्त हुए। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मकी धूलि उड़ा दी अर्थात् उसे बिलकुल ही नष्ट कर दिया और स्वयं स्नातक अवस्थाको प्राप्त हो गये ॥२६२॥ तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जो कुछ उद्धत प्रकृतियाँ थीं उन सबको उन्होंने एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानसे नष्ट कर डाला और इस प्रकार वे मुनिराज ध्यानरूपी अग्निके द्वारा अतिशय दुःखदायी चारों घातिया कर्मोंको जलाकर केवलज्ञानी हो लोकालोकके देखनेवाले सर्वज्ञ हो गये ॥२६३-२६४॥ इस प्रकार समस्त जगत्को प्रकाशित करते हुए और भव्य जीवरूपी

१. नरकद्विकतिर्यक्द्विकविकलत्रयोद्योतातपैकेन्द्रियसाधारणसूक्ष्मस्थावराः । २. प्रतिक्षिपेत् । ३. विधेः ब०, अ० । ४. समाप्तवेद, सम्पूर्णज्ञान इत्यर्थ । ५. स्नातकोऽभवत् द०, ल०, म०, इ० । ६. निद्रा, ज्ञानावरणादिपञ्चकम्, दर्शनावरणचतुष्कम्, निद्रा, प्रचला, अन्तरायपञ्चकञ्चेति षोडश । ७. घातिकर्माणीत्यर्थ । ८. चारित्राणि ।

नवकेवललब्धीस्ता जिनभास्वान् सुर्नारिव । स भेजे जगदुद्भासी भव्याम्भोजानि बोधयन् ॥२६६॥
इति ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेन्धनचयो जिनः । बभावुद्भूतकैवल्यविभवो[1] विभवोद्भवः[2] ॥२६७॥
फाल्गुने मासि तामिस्रपक्षस्यैकादशीतिथौ । उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुदभूद् विभोः ॥२६८॥

मालिनीच्छन्दः

भगवति जितमोहे केवलज्ञानलक्ष्म्या
स्फुरति सति सुरेन्द्राः प्राणमन्भक्तिभारात् ।
नभसि जयनिनादो विश्वदिक्कं जजृम्भे
सुरपटहरवैश्चारुद्धमासीत् खरन्ध्रम् ॥२६९॥
सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापप्तदुच्चै-
र्भ्रमरमुखरितद्यौः शारयन्ती[3] दिगन्तान् ।
[4]विरलमवतरद्भिर्नाकभाजां विमानै-
र्गगनजलधिरुद्यन्नौरिवाभूत् समन्तात् ॥२७०॥
मदकलरुतभृङ्गैरन्वितः स्वः स्रवन्त्याः[5]
शिशिरतरतरङ्गानास्पृशन्मातरिश्वा ।
धुतसुरभिवनान्तःपद्मकिञ्जल्कबन्धु-
र्मृदुतरमभितो वान्[6] व्यानशे दिङ्मुखानि ॥२७१॥

कमलोंको प्रफुल्लित करते हुए वे वृषभ-जिनेन्द्ररूपी सूर्य किरणोंके समान अनन्त ज्ञान दर्शन, वीर्य, चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोग इन अनन्त नौ लब्धियोंको प्राप्त हुए ।।२६५-२६६।। इस प्रकार जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मरूपी ईंधनके समूहको जला दिया है, जिनके केवलज्ञानरूपी विभूति उत्पन्न हुई है और जिन्हें समवसरणका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे वे जिनेन्द्र भगवान् बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ।।२६७।। फाल्गुन मासके कृष्ण पक्षकी एकादशीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें भगवान्‌को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ।।२६८।। मोहनीय कर्मको जीतनेवाले भगवान् वृषभदेव ज्यों ही केवलज्ञान-रूपी लक्ष्मीसे देदीप्यमान हुए त्यों ही समस्त देवोंके इन्द्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत हो गये अर्थात् उन्होंने भगवान्‌को सिर झुकाकर नमस्कार किया, आकाशमें सभी ओर जय-जय शब्द बढ़ने लगा और आकाशका विवर देवोंके नगाड़ोंके शब्दोंसे व्याप्त हो गया ।।२६९।। उसी समय भ्रमरोंके शब्दोंसे आकाशको शब्दायमान करती हुई तथा दिशाओंके अन्तको संकुचित करती हुई कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षा बड़े ऊँचेसे होने लगी और विरल-विरल रूपसे उतरते हुए देवोंके विमानोंसे आकाशरूपी समुद्र ऐसा हो गया मानो उसमें चारों ओर नौकाएँ ही तैर रही हों ।।२७०।। उसी समय मदसे मनोहर शब्द करनेवाले भ्रमरोंसे सहित, गङ्गा नदीकी अत्यन्त शीतल तरङ्गोंका स्पर्श करता हुआ और हिलते हुए सुगन्धित वनके मध्य भागमें स्थित कमलोंकी परागसे भरा हुआ वायु चारों ओर धीरे-धीरे बहता हुआ दिशाओंमें व्याप्त हो

---

१. केवलज्ञानसंपत्ति. । २. समवसरणबहिर्भूतीनाम् उद्भवो यस्य । ३. नानावर्णान् कुर्वन्ती । ४. तत्र, तत्र व्याप्तं यथा भवति तथा । ५. सुरनिम्नगायाः । ६. वातीति वान् ।

युगपदथ [1]नमस्तोऽनभ्रि[2]ताद् वृष्टिपातो
[3]विरजयति तदा स्म प्राङ्गणं लोकनाड्याः ।
समवसरणभूमेः शोधना येन विष्वग्
विततसलिलबिन्दुर्विश्वभर्तुर्जिनेशः[4] ॥२७२॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं तदा त्रिभुवने प्रमदं वितन्वन्
उद्भूतकेवलरविर्वृषभोदयाद्रेः ।
आसीज्जगज्जनहिताय जिनाधिपत्य-
[5]प्रख्यापकः सपदि तीर्थकरानुभावः[6] ॥२७३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्कैवल्योत्पत्तिवर्णनं नाम विंशतितमं पर्व ॥२०॥

रहा था ॥२७१॥ जिस समय यह सब हो रहा था उसी समय आकाशसे बादलोंके बिना ही होनेवाली मन्द-मन्द वृष्टि लोकनाड़ीके आँगनको धूलिरहित कर रही थी। उस वृष्टिकी बूँदें चारों ओर फैल रही थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जगत्‌के स्वामी वृषभ-जिनेन्द्रके समवसरणकी भूमिको शुद्ध करनेके लिए ही फैल रही हों ॥२७२॥ इस प्रकार उस समय भगवान् वृषभदेवरूपी उदयाचलसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञानरूपी सूर्य जगत्‌के जीवोंके हितके लिए हुआ था। वह केवलज्ञानरूपी सूर्य तीनों लोकोंमें आनन्दको विस्तृत कर रहा था, जिनेन्द्र भगवान्‌के आधिपत्यको प्रसिद्ध कर रहा था और उनके तीर्थंकरोचित प्रभावको बतला रहा था ॥२७३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्‌के कैवल्योत्पत्तिका वर्णन करनेवाला बीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२०॥

---

१. गगनात् । २. मेघरहितात् । ३. मेघरहितं करोति स्म । ४. जिनेन्द्रस्य । ५. प्रत्यायकः प० । ६. तीर्थकरनामकर्मानुभावः ।

एकविंशं पर्व

अथात:[1] श्रेणिको नम्रो मुनिं पप्रच्छ गौतमम् । भगवन् योद्धुमिच्छामि त्वत्तो ध्यानस्य विस्तरम् ॥१॥
किमस्य लक्षणं योगिन् के[2] भेदाः किं च निर्वचः । किं[3] स्वामिकं कियत्कालं किं हेतु[4] फलमप्यदः[5] ॥२॥
कोऽस्य भावो भवेत् किं वा स्यादधिष्ठानमीशितः[6] । भेदानां कानि नामानि कश्चै[7] षामर्थनिश्चयः ॥३॥
किमालम्बनमेतस्य[8] बलाधानं च किं भवेत् । तदिदं सर्वमेवाहं बुभुत्से[9] वदतां वर ॥४॥
परं साधनमाम्नातं ध्यानं मोक्षस्य साधने । [10]ततोऽस्य[11] भगवन् ब्रूहि तत्त्वं गोप्यं[12] यतीशिनाम्[13] ॥५॥
इति पृष्टवते तस्मै भगवान् गौतमोऽब्रवीत् । प्रसरद्दशनाभीषु[14] जलस्नापितवत्तनुः ॥६॥
यत्कर्मक्षपणे साध्ये साधनं परमं तपः । तत्ते[15] ध्यानाह्वयं सम्यगनुशास्मि यथाश्रुतम्[16] ॥७॥
ऐकाग्र्येण[17] निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं वज्रकं[18] यस्य भवेदान्तर्मु[19] हूर्ततः ॥८॥
स्थिरमध्यव[20] सानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम्[21] । [22]सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥९॥
छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनाम् । योगास्रवस्य[23] संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥१०॥

अथानन्तर—श्रेणिक राजाने नम्र होकर महामुनि गौतम गणधरसे पूछा कि हे भगवन्, मैं आपसे ध्यानका विस्तार जानना चाहता हूँ ॥१॥ हे योगिराज, इस ध्यानका लक्षण क्या है ? इसके कितने भेद हैं ? इसकी निरुक्ति (शब्दार्थ) क्या है ? इसके स्वामी कौन हैं ? इसका समय कितना है ? इसका हेतु क्या है ? और इसका फल क्या है ? ॥२॥ हे स्वामिन्, इसका भाव क्या है ? इसका आधार क्या है ? इसके भेदोंके क्या-क्या नाम हैं ? और उन सबका क्या-क्या अभिप्राय है ? ॥३॥ इसका आलम्बन क्या है और इसमें बल पहुँचानेवाला क्या है ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ, यह सब मैं जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ मोक्षके साधनोंमें ध्यान ही सबसे उत्तम साधन माना गया है इसलिए हे भगवन्, इसका यथार्थ स्वरूप कहिए जो कि बड़े-बड़े मुनियोंके लिए भी गोप्य है ॥५॥ इस प्रकार पूछनेवाले राजा-श्रेणिकसे भगवान् गौतमगणधर अपने दाँतोंकी फैलती हुई किरणोंरूपी जलसे उसके शरीरका अभिषेक करते हुए कहने लगे ॥ ६ ॥ कि हे राजन्, जो कर्मोंके क्षय करनेरूप कार्यका मुख्य साधन है ऐसे ध्यान नामके उत्कृष्ट तपका मैं तुम्हारे लिए आगमके अनुसार अच्छी तरह उपदेश देता हूँ ॥७॥

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तुमें जो चित्तका निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंके अधिकसे-अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ॥८॥ जो चित्तका परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चञ्चल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं ॥९॥ यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तकके होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देवके भी योगके बल

---

१. अथ । २. किम्भेदाः त०, द० । ३. कीदृक् स्वामी यस्य तत् । ४. कीदृशे हेतुफले यस्य तत् । ५. ध्यानम् । ६. भो स्वामिन् । ७. नाम्नाम् । ८. बलजृम्भणम् । ९. बोद्धुमिच्छामि । १०. कारणात् । ११. ध्यानस्य । १२. रक्षणीयम् । गेयं अ० । १३. यतीशिनाम् प० । १४. किरण । १५. तव । १६. आगमानुसारेण । १७. अनन्यमनोवृत्त्या । १८. वज्रवृषभनाराचसंहननस्य । १९. अन्तर्मुहूर्तपर्यन्तम् । २०. परिणामः । २१. चञ्चलम् । २२. सविचारा । २३. कायवाङ्मनःकर्मरूपास्रवस्य ।

धीव[1]लायत्तवृत्तित्वाद् ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते । [2]यथार्थमभि[3]सधानादपध्या[4]नमतो[5]ऽन्यथा[6] ॥११॥
योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधःस्वान्तनिग्रहः । अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः[7] स्मृता बुधैः ॥१२॥
ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यानं करणसाधनम्[8] । ध्यायतीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातन्त्र्यसंभवात् ॥१३॥
भावमात्राभिधित्सायां [9]ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते । शक्तिभेदाज्ज्ञतत्त्व[10]स्य युक्तमेकत्र[11] तत्[12]त्रयम् ।१४।
यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः । तथाप्येकाग्रसंदृष्टो[13] धत्ते बोधादि[14]व्यपदेशताम् ॥१५॥

से होनेवाले आस्रवका निरोध करनेके लिए उपचारसे माना जाता है ॥१०॥ ध्यानके स्वरूपको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुष ध्यान उसीको कहते हैं जिसकी वृत्ति अपने बुद्धि-बलके अधीन होती है क्योंकि ऐसा ध्यान ही यथार्थमें ध्यान कहा जा सकता है इससे विपरीत ध्यान अपध्यान कहलाता है ॥११॥ योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धिकी चञ्चलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मनको वशमें करना, और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्माके स्वरूपमें लीन होना आदि सब ध्यानके ही पर्यायवाचक शब्द हैं-ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१२॥ आत्मा जिस परिणामसे पदार्थका चिन्तवन करता है उस परिणामको ध्यान कहते हैं यह करण-साधनकी अपेक्षा ध्यान शब्दकी निरुक्ति है। आत्माका जो परिणाम पदार्थोंका चिन्तवन करता है उस परिणामको ध्यान कहते है यह कर्तृ-वाच्यकी अपेक्षा ध्यान शब्दकी निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मा रूप कर्ताके परतन्त्र होनेसे करण कहलाता था वही अब स्वतन्त्र होनेसे कर्ता कहा जा सकता है। और भाव-वाच्यकी अपेक्षा करनेपर चिन्तवन करना ही ध्यानकी निरुक्ति है। इस प्रकार शक्तिके भेदसे ज्ञान-स्वरूप आत्माके एक ही विषयमें तीन भेद होना उचित ही है। भावार्थ-व्याकरणमें कितने ही शब्दोंकी निरुक्ति करण-साधन, कर्तृसाधन और भावसाधनकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारसे की जाती है। जहाँ करणकी मुख्यता होती है उसे करण-साधन कहते है, जहाँ कर्ताकी मुख्यता है उसे कर्तृ-साधन कहते हैं और जहाँ क्रियाकी मुख्यता होती है उसे भाव-साधन कहते हैं। यहाँ आचार्यने आत्मा, आत्माके परिणाम और चिन्तवन रूप क्रियामें नय विवक्षासे भेदाभेद रूपकी विवक्षा कर एक ही ध्यान शब्दकी तीनों साधनों-द्वारा निरुक्ति की है, जिस समय आत्मा और परिणाममें भेद-विवक्षा की जाती है उस समय आत्मा जिस परिणामसे ध्यान करे वह परिणाम ध्यान कहलाता है ऐसी करणसाधनसे निरुक्ति होती है। जिस समय आत्मा और परिणाममें अभेद विवक्षा की जाती है उस समय जो परिणाम ध्यान करे वही ध्यान कहलाता है, ऐसी कर्तृ-साधनसे निरुक्ति होती है और जहाँ आत्मा तथा उसके प्रदेशोंमें होनेवाली ध्यान रूप क्रिया में अभेद माना जाता है उस समय ध्यान करना ही ध्यान कहलाता है ऐसी भावसाधनसे निरुक्ति सिद्ध होती है ॥१३-१४॥ यद्यपि ध्यान ज्ञानकी ही पर्याय है और ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थोंको ही विषय करनेवाला है तथापि एक जगह एकत्रित रूपसे देखा जानेके कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप-व्यवहारको भी धारण कर लेता है। भावार्थ—स्थिर रूपसे पदार्थको जानना ध्यान कहलाता है इसलिए ध्यान ज्ञानकी एक पर्याय विशेष है। आत्माके जो प्रदेश ज्ञान रूप हैं वे ही प्रदेश दर्शन, सुख और वीर्य रूप भी हैं इसलिए एक ही जगह रहनेके कारण ध्यानमें दर्शन सुख आदिका भी व्यवहार किया जाता है ॥ १५ ॥

---

१. कायबल । २ ध्यानलक्षणयुक्तम् । ३ अभिप्रायमाश्रित्य । ४. चिन्तादिरूपम् । ५. उक्तलक्षण-ध्यानात् । ६ धीबलायत्तवृत्तिभावाज्जातम् । ७ ध्यानपर्याया. । ८. करणव्युत्पत्त्या निष्पन्नम् । ९ सत्तामात्रमभिधातुमिच्छाया सत्याम् । १०. आत्मस्वरूपस्य । ११ ध्याने । १२. करणकर्तृभावसाधनाना त्रयम् । १३ सबद्धो भूत्वा । -मदृष्टो ल०, प० । -सदिष्टो द० । १४. एव इत्यर्थः । -वाच्यताम् ल०, म०, द० ।

हर्षामर्षादिवत् सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधितः । प्रकाशते विभिन्नात्मा[1] कथंचित् स्तिमितात्मकः ॥१६॥
ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितम् । विनात्मात्मीयसंकल्पादौदासीन्ये निवेशितम् ॥१७॥
अथवा ध्येयमध्यात्म[2]तत्त्वं मुक्ते[3]तरात्मकम् । तत्तत्त्वचिन्तनं ध्यातुरुपयोग[4]स्य शुद्धये ॥१८॥
उपयोगविशुद्धौ च बन्धहेतून् [5]व्युदस्यत । संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशयम् ॥१९॥
मुमुक्षोर्ध्यातुकामस्य सर्वमालम्बनं जगत् । यद्यद्यथास्थितं वस्तु तथा तत्तद्व्यव[6]स्यतः ॥२०॥
किमत्र बहुना यो यः कश्चिद्[7] भावः सपर्ययः । स सर्वोऽपि यथान्यायं[8] ध्येयकोटिं विगाहते ॥२१॥
शुभाभिसन्धि[9]तो ध्याने स्यादेवं ध्येयकल्पना । प्रीत्यप्रीत्यभिसंधानादसद्ध्याने विपर्ययः[10] ॥२२॥
भवत्वद्दिरयतत्त्वज्ञो वैपरीत्येन भावयन् । प्रीत्यप्रीती समाधाय[11] संक्लिष्टं ध्यानमृच्छति ॥२३॥

जिस प्रकार सुख तथा क्रोध आदि भाव चैतन्यके ही परिणाम कहे जाते है परन्तु वे उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होते हैं—अनुभवमें आते है इसी प्रकार अन्तःकरणका संकोच करने रूप ध्यान भी यद्यपि चैतन्य (ज्ञान) का परिणाम बतलाया गया है तथापि वह उससे भिन्न रूप होकर प्रकाशमान होता है । भावार्थ—पर्याय और पर्यायीमें कथंचिद् भेदकी विवक्षा कर यह कथन किया गया है ॥१६॥ जगत्के समस्त तत्त्व जो जिस रूपसे अवस्थित हैं और जिनमें यह मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा संकल्प न होनेसे जो उदासीन रूपसे विद्यमान हैं वे सब ध्यानके आलम्बन (विषय) हैं। भावार्थ—ध्यानमें उदासीन रूपसे समस्त पदार्थोंका चिन्तवन किया जा सकता है ॥१७॥ अथवा संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेदवाले आत्म तत्त्वका चिन्तवन करना चाहिए क्योंकि आत्मतत्त्वका चिन्तवन ध्यान करनेवाले जीवके उपयोगकी विशुद्धिके लिए होता है ॥१८॥ उपयोगकी विशुद्धि होनेसे यह जीव बन्धके कारणोंको नष्ट कर देता है, बन्धके कारण नष्ट होनेसे उसके संवर और निर्जरा होने लगती है तथा संवर और निर्जराके होनेसे इस जीवको निःसन्देह मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है ॥१९॥ जो-जो पदार्थ जिस-जिस प्रकारसे अवस्थित हैं उसको उसी-उसी प्रकारसे निश्चय करनेवाले तथा ध्यानकी इच्छा रखनेवाले मोक्षाभिलाषी पुरुषके यह समस्त संसार आलम्बन है । भावार्थ—राग-द्वेषसे रहित होकर किसी भी वस्तुका ध्यान कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ॥२०॥ अथवा इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है संक्षेपमें इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस संसारमें अपनी-अपनी पर्यायों सहित जो-जो पदार्थ हैं वे सब आम्नायके अनुसार ध्येय कोटिमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उन सभीका ध्यान किया जा सकता है ॥२१॥ इस प्रकार जो ऊपर ध्यान करने योग्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है वह सब शुभ पदार्थका चिन्तवन करनेवाले ध्यानमें ही समझना चाहिए । यदि इष्ट अनिष्ट वस्तुओंका चिन्तवन किया जायेगा तो वह असद्ध्यान कहलायेगा और उसमें ध्येयकी कोई कल्पना नहीं की जाती अर्थात् असद्ध्यानका कुछ भी विषय नहीं है—कभी असद्ध्यान नहीं करना चाहिए ॥२२॥ जो मनुष्य तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं समझता वह विपरीत भावसे अतद्रूप वस्तुको भी तद्रूप चिन्तवन करने लगता है और पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर केवल संक्लेश सहित ध्यान धारण

---

१. वैभिन्नात्मा इति क्वचित् । २. आत्मतत्त्वम् । ३. मुक्तजीवसंसारजीवस्वरूपम् । ४. ज्ञानस्य । ५. निरस्यतः पुंस । —नुदस्तः ल०, म० । ६. निश्चिन्वत । ७. पदार्थ । ८. यथाप्रमाणम् । यथाम्नायं ल०, म०, द०, अ०, इ०, स० । ९. शुभाभिप्रायमाश्रित्य । शुभाभिसन्धिनि ल०, म०, द० । १०. ध्येयकल्पना भवतीत्यर्थः । ११. आश्रित्य ।

संकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टतां नयेत्[1] । रागद्वेषौ ततस्ताभ्यां बन्धं दुर्मोचमश्नुते ॥२४॥
संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुतर्षिणी[2] । सैव[3] दुष्प्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥२५॥
तस्मात्तदाशयशुद्ध्यर्थमिष्टा तत्त्वार्थभावना । ज्ञानशुद्धिरतस्तस्यां ध्यानशुद्धिरुदाहृता ॥२६॥
प्रशस्तमप्रशस्तं च ध्यानं संस्मर्यते द्विधा । शुभाशुभाभिसंधानात् प्रत्येकं तद्द्वयं द्विधा ॥२७॥
चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णितम् । आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति विकल्पतः ॥२८॥
हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्धनम् । उत्तरं द्वितयं ध्यानमुपादेयं तु योगिनाम् ॥२९॥
तेषामन्तर्भिदा[4] वक्ष्ये लक्ष्म निर्वचनं तथा । [5]बलाधानमधिष्ठानं कालभावफलान्यपि ॥३०॥
ऋते भवमथार्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम् । [6]इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानासात[7]हेतुकम् ॥३१॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणम्[8] । अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ॥३२॥
निदानं भोगकाङ्क्षोत्थं संक्लिष्टस्यान्यभोगतः । स्मृत्यन्वाहरणं चैव[9] वेदनार्तस्य तत्क्षये ॥३३॥

करता है ॥२३॥ संकल्प-विकल्पके वशीभूत हुआ मूर्ख प्राणी पदार्थोंको इष्ट-अनिष्ट समझने लगता है उससे उसके राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग-द्वेषसे जो कठिनतासे छूट सके ऐसे कर्मबन्धको प्राप्त होता है ॥२४॥ विषयोंमें तृष्णा बढ़ानेवाली जो मनकी प्रवृत्ति है वह संकल्प कहलाती है उसी संकल्पको दुष्प्रणिधान कहते हैं और दुष्प्रणिधानसे अपध्यान होता है ॥२५॥ इसलिए चित्तकी शुद्धिके लिए तत्त्वार्थकी भावना करनी चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थकी भावना करनेसे ज्ञानकी शुद्धि होती है और ज्ञानकी शुद्धि होनेसे ध्यानकी शुद्धि होती है ॥२६॥ शुभ और अशुभ चिन्तवन करनेसे वह ध्यान प्रशस्त तथा अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका स्मरण किया जाता है। उस प्रशस्त तथा अप्रशस्त ध्यानमें-से भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं। भावार्थ—जो ध्यान शुभ परिणामोंसे किया जाता है उसे प्रशस्त ध्यान कहते हैं और जो अशुभ परिणामोंसे किया जाता है उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। प्रशस्त ध्यानके धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं तथा अप्रशस्त ध्यानके आर्त और रौद्र ऐसे दो भेद हैं ॥२७॥ इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्ने वह ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका वर्णन किया है ॥२८॥ इन चारों ध्यानोंमें-से पहलेके दो अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान छोड़नेके योग्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं और संसारको बढ़ानेवाले हैं तथा आगेके दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुनियोंको भी ग्रहण करने योग्य हैं ॥२९॥ अब इन ध्यानोंके अन्तर्भेद, उनके लक्षण, उनकी निरुक्ति, उनके बलाधान, आधार, काल, भाव और फलका निरूपण करेंगे ॥३०॥

जो ऋत अर्थात् दुःखमें हो वह पहला आर्तध्यान है वह चार प्रकारका होता है—पहला इष्ट वस्तुके न मिलनेसे, दूसरा अनिष्ट वस्तुके मिलनेसे, तीसरा निदानसे और चौथा रोग आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ॥३१॥ किसी इष्ट वस्तुके वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए बार-बार चिन्तवन करना सो पहला आर्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए निरन्तर चिन्तवन करना सो दूसरा आर्तध्यान है ॥३२॥ भोगोंकी आकांक्षासे जो ध्यान होता है वह तीसरा निदान नामका आर्तध्यान कहलाता है। यह ध्यान दूसरे पुरुषोंकी भोगोपभोगकी सामग्री देखनेसे संक्लिष्ट चित्तवाले जीवके होता है और किसी वेदनासे पीडित मनुष्यका उस वेदनाको नष्ट करनेके लिए जो बार-बार चिन्तवन

१ इष्टानिष्टनयनात् । २ वाञ्छावती । ३ दुष्टचिन्ता । ४ प्रणिधान अ०, प० । ४ अवान्तरभेदान् । – नन्तर्भिदा ल०, म०, इ०, अ०, प०, स० । ५ बलजृम्भणम् । ६ इष्टवियोगहेतुकमनिष्टसंयोगहेतुकं निदानहेतुकम् असाताहेतुकमिति । ७ – नासात्तहे – ल०, म० । ८ वाञ्छा । ९. स्मृत्यविच्छिन्नप्रवर्तनम् । चिन्ताप्रबन्धमित्यर्थः ।

ऋते विना मनोज्ञार्थाद् भवमिष्टवियोगजम् । निदान[1]प्रत्ययं चैवमप्राप्तेष्टार्थचिन्तनात् ॥३४॥
ऋतेऽप्यु[2]पगतेऽनिष्टे प्रथमार्तं द्वितीयकम् । भवेच्चतुर्थमप्येवं[3] वेदनोपगमोद्भवम् ॥३५॥
प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने[4] । निदानवेदना[5]पायविषये चानुचिन्तने[6] ॥३६॥
इत्युक्तमार्तमार्तात्मचिन्त्यं ध्यानं चतुर्विधम् । प्रमादाधिष्ठितं तत्तु[7] षड्[8]गुणस्थानसंश्रितम् ॥३७॥
अप्रशस्ततमं [9]लेश्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितम् । अन्तर्मुहूर्तकालं [10]तदप्रशस्तावलम्बनम् ॥३८॥
क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद् भावस्तिर्यग्गति फलम् । तस्माद् दुर्ध्यानमार्ताख्यं हेयं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥३९॥
मूर्च्छा[11] कौशील्य[12] कैनाश्य[13] कौसीद्या[14]न्यतिगृध्नुता[15] । भयोद्वे[16]गानुशोकाश्च लिङ्गा[17]न्यार्ते स्मृतानि वै ॥४०॥
बाह्यं च लिङ्गमार्तस्य गात्रग्ला[18]निर्विवर्णता । हस्तन्यस्तकपोलत्व [19]साश्रुतान्यच्च तादृशम् ॥४१॥
प्राणिनां रोदनाद्[20] रुद्र क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृण । पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम् ॥४२॥

होता है वह चौथा आर्त्तध्यान कहलाता है ॥३३॥ इष्ट वस्तुओंके विना होनेवाले दुःखके समय जो ध्यान होता है वह इष्टवियोगज नामका पहला आर्तध्यान कहलाता है, इसी प्रकार प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थके चिन्तवनसे जो आर्तध्यान होता है वह निदानप्रत्यय नामका दूसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥३४॥ अनिष्ट वस्तुके संयोगके होनेपर जो ध्यान होता है वह अनिष्टसंयोगज नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है और वेदना उत्पन्न होनेपर जो ध्यान होता है वह वेदनोपगमोद्भव नामका चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३५॥ इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए, अनिष्ट वस्तुकी अप्राप्तिके लिए, भोगोपभोगकी इच्छाके लिए और वेदना दूर करनेके लिए जो बार-बार चिन्तवन किया जाता है उसी समय ऊपर कहा हुआ चार प्रकारका आर्तध्यान होता है ॥३६॥ इस प्रकार आर्त अर्थात् पीड़ित आत्मावाले जीवोंके द्वारा चिन्तवन करने योग्य चार प्रकारके आर्तध्यानका निरूपण किया। यह कषाय आदि प्रमादसे अधिष्ठित होता है और प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान तक होता है ॥३७॥ यह चारों प्रकारका आर्तध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण, नील और कापोत लेश्याका आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और आलम्बन अशुभ है ॥३८॥ इस आर्तध्यानमें क्षायोपशमिक भाव होता है और तिर्यञ्च गति इसका फल है इसलिए यह आर्त नामका खोटा ध्यान कल्याण चाहनेवाले पुरुषों-द्वारा छोड़ने योग्य है ॥३९॥ परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यन्त लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्तध्यानके चिह्न हैं ॥४०॥ इसी प्रकार शरीरका क्षीण हो जाना, शरीरकी कान्ति नष्ट हो जाना, हाथोंपर कपोल रखकर पश्चात्ताप करना, आँसू डालना तथा इसी प्रकार और और भी अनेक कार्य आर्तध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥४१॥ इस प्रकार आर्तध्यानका वर्णन पूर्ण हुआ, अब रौद्र ध्यानका निरूपण करते हैं—जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवोंमें निर्दय कहलाता

---

१ निदानहेतुकम्। २ अनिष्टे वस्तुनि समागते इति भाव । ह्युपगते ल०, म०। ३ द्वितीयार्तध्यानोक्तप्रकारेण। ४. मनोज्ञार्थप्राप्तौ। स्मृतियोजनम्। ५ निदानं च वेदनापायश्च निदानवेदनापायौ निदानवेदनापायौ विषयो ययोस्ते निदानवेदनापायविषये। ६ निदानानुचिन्तनं वेदनापायानुचिन्तनमित्यर्थः। ७ ध्यानम्। ८. षड्गुणस्थानसंश्रितमित्यनेन किंस्वामिकमिति पदं व्याख्यातम्। ९. लेश्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितमित्यनेन बलाधानमुक्तम्। १० अप्रशस्तपरिणामावलम्बनम्। अनेन किमालम्बनमिति पद प्रोक्तम्। ११. परिग्रह०। १२ कुशीलत्व। १३ लुब्धत्व अथवा कृतघ्नत्व। १४. आलस्य। १५ अत्यभिलाषिता। १६. इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेग । चित्तचलन। १७ चिह्नानि। १८. गात्रम्लानि. ८०। शरीरशोषणम्। १९ बाष्पवारिसहितम्। २०. रोदनकारित्वात्।

हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम् । षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुणभूमिकम् ॥४३॥

प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपो[1]द्बलबृंहितम् । अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव[2] इष्यते ॥४४॥

वधबन्धाभि[3]संधानमङ्गच्छेदोपतापने । [4]दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः ॥४५॥

हिंसानन्दं समाधाय[5] हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः । हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हन्यान्न वा परान् ॥४६

सिक्थमत्स्यः किलैकोऽसौ स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । महामत्स्यसमान्दोषानवाप स्मृतिदोषतः ॥४७॥

पुरा किलारविन्दाख्यः प्रख्यातः खचराधिपः । रुधिरस्नानरौद्राभिसंधि[6] श्वाभ्रीं[7] विवेश सः ॥४८॥

[8]अनानृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथा । निसर्गहिंस्रता[9] चेति लिङ्गान्यस्य[10] स्मृतानि वै ॥४९॥

मृषानन्दो मृषावादैरतिसन्धानचिन्तनम्[11] । वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद्[12] द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥५०॥

है ऐसे पुरुषमें जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते है यह रौद्रध्यान भी चार प्रकारका होता है ॥४२॥ हिंसानन्द अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना, मृषानन्द अर्थात् झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, स्तेयानन्द अर्थात् चोरी करनेमें आनन्द मानना और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें ही रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद है। यह ध्यान छठे गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है ॥४३॥ यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल-तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है ॥४४॥ मारने और बाँधने आदिकी इच्छा रखना, अंग-उपांगोंको छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदिको विद्वान् लोग हिंसानन्द नामका आर्तध्यान कहते हैं ॥४५॥ जीवोंपर दया न करने-वाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नामके रौद्रध्यानको धारण कर पहले अपने-आपका घात करता है पीछे अन्य जीवोंका घात करे अथवा न करे। भावार्थ–अन्य जीवोंका मारा जाना उनके आयु कर्मके अधीन है परन्तु मारनेका संकल्प करनेवाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होनेसे अपने आत्माकी हिंसा अवश्य कर लेता है अर्थात् अपने क्षमा आदि गुणोंको नष्ट कर भाव हिंसाका अपराधी अवश्य हो जाता है ॥४६॥ स्वयंभूरमण समुद्रमें जो तन्दुल नामका छोटा मत्स्य रहता है वह केवल स्मृतिदोषसे ही महामत्स्यके समान दोषोंको प्राप्त होता है। भावार्थ–राघव मत्स्यके कानमें जो तन्दुल मत्स्य रहता है वह यद्यपि जीवोंकी हिंसा नहीं कर पाता है केवल बड़े मत्स्यके मुखविवरमें आये हुए जीवोंको देखकर उसके मनमें उन्हें मारनेका भाव उत्पन्न होता है तथापि वह उस भाव-हिंसाके कारण मरकर राघव मत्स्यके समान ही सातवें नरकमें जाता है ॥४७॥ इसी प्रकार पूर्वकालमें अरविन्द नामका प्रसिद्ध विद्याधर केवल रुधिरमें स्नान करने रूप रौद्र ध्यानसे ही नरक गया था ॥४८॥ क्रूर होना, हिंसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिंसाकी ही कथा करना और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये है ॥४९॥ झूठ बोलकर लोगोंको धोखा देनेका चिन्तवन करना सो मृषानन्द नामका दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना

---

१. सहाय । २ क्षायोपशमिकभावः । –भावमिष्यते ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, द० । ३ अभिप्राय । ४. बाह्यलिङ्गोपलक्षितवधबन्धादिनैष्ठुर्यम् । ५. अवलम्ब्य । ६. अभिप्राय । ७ नरकगतिम् । ८. अनृशस्य हि सो –ल०, म०, द०, प० । न नृशंसः अनृशंसः अनृशंसस्य भाव आनृशस्यम् अनानृशंस्यम्, अक्रौर्यम् । 'नृशसो घातुकः क्रूर' इत्यर्थ । ९. स्वभावहिंसनशीलता । १० रौद्रस्य । ११ अतिवञ्चनम् । १२. ध्यानम् ।

स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम् । भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थार्जनादिषु ॥५१॥
प्रतीतलिङ्गमेवैतद् रौद्रध्यानद्वयं भुवि । नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरम् ॥५२॥
बाह्यं तु लिङ्गमस्याहुर्भ्रूभङ्गं मुखविक्रियाम्[1] । प्रस्वेदमङ्गकं पञ्च नेत्रयोश्चातिताम्रताम् ॥५३॥
प्रयत्नेन विनैवैतदसद्ध्या[2]नद्वयं भवेत् । अनादिवासनोद्भूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥५४॥
ध्यानद्वयं विसृज्याद्यमस[3]त्संसारकारणम् । [4]यदोत्तरं द्वयं ध्यानं मुनिनाभ्यसिसिष्यते[5] ॥५५॥
[6]तदेदं परिकर्मेष्टं देशा[7]वस्थाद्युपाश्रयम् । बहिःसामग्र्यधीनं हि फलमत्र द्वयात्मकम्[8] ॥५६॥
शून्यालये श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि[9] वा । सरित्पुलिनगिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ॥५७॥
शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातके । नात्युष्णशिशिरे नापि प्रवृद्धतरमारुते ॥५८॥
विमुक्तवर्षसंबाधे[10] सूक्ष्मजन्त्वनुपद्रुते । [11]जलसंपातनिर्मुक्ते मन्दमन्दनभस्वति ॥५९॥
पल्यङ्कमासनं बद्ध्वा सुनिविष्टो महीतले । समम्रृज्वायतं[12] बिभ्रद्गात्रमस्तब्ध[13]वृत्तिकम् ॥६०॥
स्वपर्यङ्के करं वामं न्यस्योत्तानतलं पुनः । तस्योपरीतरं[14] पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥६१॥

आदि इसके बाह्य चिह्न हैं ॥५०॥ दूसरेके द्रव्यके हरण करने अर्थात् चोरी करनेमें अपना चित्त लगाना-उसीका चिन्तवन करना सो स्तेयानन्द नामका तीसरा रौद्रध्यान है और धनके उपार्जन करने आदिका चिन्तवन करना सो संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है। (संरक्षणानन्दका दूसरा नाम परिग्रहानन्द भी है) ॥५१॥ स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द इन दोनों रौद्रध्यानोंके बाह्य चिह्न संसारमें प्रसिद्ध हैं। गणधरदेवने इस रौद्रध्यानका फल अतिशय कठिन नरकगतिके दुःख प्राप्त होना बतलाया है ॥५२॥ भौंह टेढ़ी हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कँपने लगना और नेत्रोंका अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं ॥५३॥ अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न होनेवाले ये दोनों (आर्त और रौद्र) ध्यान विना प्रयत्नके ही हो जाते हैं इसलिए मुनियोंको इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिए ॥५४॥ संसारके कारणस्वरूप पहले कहे हुए दोनों खोटे ध्यानोंका परित्याग कर मुनि लोग अन्तके जिन दो ध्यानोंका अभ्यास करते हैं वे उत्तम हैं, देश तथा अवस्था आदिकी अपेक्षा रखते हैं, बाह्य सामग्रीके अधीन हैं और इन दोनोंका फल भी गौण तथा मुख्यकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥५५-५६॥ अध्यात्मके स्वरूपको जाननेवाला मुनि, सूने घरमें, श्मशानमें, जीर्ण वनमें, नदीके किनारे, पर्वतके शिखरपर, गुफामें, वृक्षकी कोटरमें अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेशमें, जहाँ आतप न हो, अतिशय गरमी और सर्दी न हो, तेज वायु न चलता हो, वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवोंका उपद्रव न हो, जलका प्रपात न हो और मन्द-मन्द वायु बह रही हो, पर्यंक आसन बाँधकर पृथिवीतलपर विराजमान हो, उस समय अपने शरीरको सम सरल और निश्चल रखे, अपने पर्यंकमें बाँया हाथ इस प्रकार रखे कि जिससे उसकी हथेली ऊपरकी ओर हो, इसी प्रकार दाहिने हाथको भी बाँया हाथपर रखे, आँखोंको न तो अधिक खोले ही और न अधिक बन्द ही रखे, धीरे-धीरे

१. विकारम्। २. आर्तरौद्रद्वयम्। ३. असाधु। ४, यदुत्तरं ल०, म०, इ०, अ०, स०। ५ अभ्यसितुमिच्छति। ६. तदिदं ल०, म०, इ०, अ०, स०। ७ देशासनभेदादिवक्ष्यमाणलक्षण। ८. निश्चयव्यवहारात्मकम्। अथवा मुख्यामुख्यात्मकम्। ९. पुराणोद्याने। १०. संबन्धे ल०, म०। ११ जनसंपातद०, इ०। १२. समम्रृज्वागति अ०, इ०। सममृज्वायति प०, ल०, म०। १३. प्रयत्नपरवृत्तिकम्। १४. दक्षिणहस्तम्।

नात्युन्मिषन्न चात्यन्तं निमिषन्मन्दमुच्छ्वसन् । दन्तैर्दन्ताग्रसंधानपरो धीरो [1]निरुद्धधीः ॥६२॥
हृदि मूर्ध्नि ललाटे वा नाभेरूर्ध्वं परत्र[2] वा । स्वाभ्यासवशतश्चित्तं निधायाध्यात्मविन्मुनिः ॥६३॥
ध्यायेद् द्रव्यादियाथात्म्यमागमार्थानुसारतः । परीषहोत्थिता बाधाः सहमानो निराकुलः ॥६४॥
[3]प्राणायामेऽतितीव्रे स्यादवश[4]स्याकुलं मनः । व्याकुलस्य समाधानभङ्गान्न ध्यानमत्र ॥६५॥
अपि व्युत्सृ[5]ष्टकायस्य समाधिप्रतिपत्तये[6] । मन्दोच्छ्वासनिमेषादिवृत्तेर्नास्ति निषेधनम् ॥६६॥
[7]समावस्थितकायस्य स्यात् समाधानमङ्गिनः । दुःस्थिताङ्गस्य तद्भङ्गाद् भवेदाकुलता धियः ॥६७॥
ततो यथोक्तपल्यङ्कलक्षणासनमास्थितः । ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी [8]व्याक्षेपमुत्सृजन् ॥६८॥
[9]पल्यङ्क इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः । समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ॥६९॥
[10]विसंस्थुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः । तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ॥७०॥
वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम् । कायोत्सर्गश्च [11]पर्यङ्कस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥७१॥
[12]तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः । प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥७२॥

उच्छ्वास ले, ऊपर और नीचेकी दोनों दाँतोंकी पंक्तियोंको मिलाकर रखे और धीर-वीर हो मनकी स्वच्छन्द गतिको रोके। फिर अपने अभ्यासके अनुसार मनको हृदयमें, मस्तकपर, ललाटमें, नाभिके ऊपर अथवा और भी किसी जगह रखकर परीषहोंसे उत्पन्न हुई बाधाओंको सहता हुआ निराकुल हो आगमके अनुसार जीव-अजीव आदि द्रव्योंके यथार्थस्वरूपका चिन्तवन करे ॥५७–६४॥ अतिशय तीव्र प्राणायाम होनेसे अर्थात् बहुत देर तक श्वासोच्छ्वासके रोक रखनेसे इन्द्रियोंको पूर्ण रूपसे वशमें न करनेवाले पुरुषका मन व्याकुल हो जाता है। जिसका मन व्याकुल हो गया है उसके चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है और ऐसा होनेसे उसका ध्यान भी टूट जाता है। इसलिए शरीरसे ममत्व छोडनेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धिके लिए मन्द-मन्द उच्छ्वास लेना और पलकोंके लगने, उघड़ने आदिका निषेध नहीं है ॥६५–६६॥ ध्यानके समय जिसका शरीर समरूपसे स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है उसके समाधान अर्थात् चित्तकी स्थिरता रहती है और जिसका शरीर विषम रूपसे स्थित है उसके समाधानका भंग हो जाता है और समाधानके भंग हो जानेसे बुद्धिमें आकुलता उत्पन्न हो जाती है इसलिए मुनियोंको ऊपर कहे हुए पर्यंक आसनसे बैठकर और चित्तकी चञ्चलता छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥६७–६८॥ ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिको पर्यंक आसनके समान कायोत्सर्ग आसन करनेकी भी आज्ञा है। कायोत्सर्गके समय शरीरके समस्त अंगोंको सम रखना चाहिए और आचार शास्त्रमें कहे हुए बत्तीस दोषोंका बचाव करना चाहिए ॥६९॥ जो मनुष्य ध्यानके समय विषम (ऊँचे-नीचे) आसनसे बैठता है उसके शरीरमें अवश्य ही पीडा होने लगती है, शरीरमें पीड़ा होनेसे मनमें पीड़ा होती है और मनमें पीड़ा होनेसे आकुलता उत्पन्न हो जाती है। आकुलता उत्पन्न होनेपर कुछ भी ध्यान नहीं किया जा सकता इसलिए ध्यानके समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं इनके सिवाय बाकी सब विषम अर्थात् दुःख करनेवाले आसन हैं ॥७०–७१॥ ध्यान करनेवाले मुनिके प्रायः इन्हीं दो आसनोंकी प्रधानता रहती है और उन दोनोंमें भी

१ निरुद्धमनः । २ कण्ठादौ । ३ योगनिग्रहे, आनस्य प्राणस्य दैर्घ्ये । ४ अनधीनस्य । ५ त्यक्तशरीरममकारस्य । ६ निश्चयाय । ७ समानस्थितशरीरस्य । ८ कार्यान्तरव्यासङ्गम् । ९ [illegible] ल०, म०, इ० । १० विषमोन्नतासनस्थस्य, अथवा वज्रवीरासनकुक्कुटासनादिविषमासन[illegible] । [illegible] ल०, म० । ११ कायोत्सर्गपर्यङ्काभ्याम् । १२ कायोत्सर्गपर्यङ्कासनद्वयस्यैव ।

वज्रकाया महासत्त्वाः[1] सर्वावस्थान्तरस्थिताः[2] । श्रूयन्ते ध्यानयोगेन[3] संप्राप्ताः पदमव्ययम् ॥७३॥
बाहुल्यापेक्षया तस्मादवस्था[4]द्वयसंगरः । सक्तानां तूपसर्गाद्यैस्तद्वै[5]चित्र्यं न [6]दुष्यति ॥७४॥
देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी । तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वा[7]सित्वाधिशय्य वा ॥७५॥
देशादिनियमोऽप्येवं प्रायो[8]वृत्तिव्यपाश्रयः । कृतात्मनां[9] तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ॥७६॥
स्त्रीपशुक्लीबसंसक्तरहितं[10] विजनं मुनेः । [11]सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥७७॥
वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः । बाहुल्यादिन्द्रियार्थानां जातु[12] व्यग्रीभवेन्मनः ॥७८॥

पर्यंक आसन अधिक सुखकर माना जाता है ॥७२॥ आगममें ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है और जो महाशक्तिशाली हैं ऐसे पुरुष सभी आसनोंसे विराजमान होकर ध्यानके बलसे अविनाशी पद (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं ॥७३॥ इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनोंका निरूपण असमर्थ जीवोंकी अधिकतासे किया गया है। जो उपसर्ग आदिके सहन करनेमें अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियोंके लिए अनेक प्रकारके आसनोंके लगानेमें दोष नहीं है। भावार्थ–वीरासन, वज्रासन, गोदोहासन, धनुरासन आदि अनेक आसन लगानेसे कायक्लेश नामक तपकी सिद्धि होती अवश्य है पर हमेशा तप शक्तिके अनुसार ही किया जाता है। यदि शक्ति न रहते हुए भी ध्यानके समय दुःखकर आसन लगाया जाये तो उससे चित्त चंचल हो जानेसे मूल तत्त्व-ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकेगी इसलिए आचार्यने यहाँपर अशक्त पुरुषोंकी बहुलता देख कायोत्सर्ग और पर्यंक इन्हीं दो सुखासनोंका वर्णन किया है परन्तु जिनके शरीरमें शक्ति है, जो निषद्या आदि परीषहोंके सहन करनेमें समर्थ हैं उन्हें विचित्र-विचित्र प्रकारके आसनोंके लगानेका निषेध भी नहीं किया है। आसन लगाते समय इस बातका स्मरण रखना आवश्यक है कि वह केवल बाह्य प्रदर्शनके लिए न हो किन्तु कायक्लेश तपश्चरणके साथ-साथ ध्यानकी सिद्धिका प्रयोजन होना चाहिए। क्योंकि जैन शास्त्रोंमें मात्र बाह्य प्रदर्शनके लिए कुछ भी स्थान नहीं है और न उस आसन लगानेवालेके लिए कुछ आत्मलाभ ही होता है ॥७४॥

अथवा शरीरकी जो-जो अवस्था (आसन) ध्यानका विरोध करनेवाली न हो उसी-उसी अवस्थामें स्थित होकर मुनियोंको ध्यान करना चाहिए। चाहे तो वे बैठकर ध्यान कर सकते हैं, खड़े होकर ध्यान कर सकते हैं और लेटकर भी ध्यान कर सकते हैं ॥७५॥ इसी प्रकार देश आदिका जो नियम कहा गया है वह भी प्रायोवृत्तिको लिये हुए है अर्थात् हीन शक्तिके धारक ध्यान करनेवालोंके लिए ही देश आदिका नियम है, पूर्ण शक्तिके धारण करनेवालोंके लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यानके साधन हैं ॥७६॥ जो स्थान स्त्री, पशु और नपुंसक जीवोंके संसर्गसे रहित हो या एकान्त हो वही स्थान मुनियोंके सदा निवास करनेके योग्य होता है और ध्यानके समय तो विशेष कर ऐसा ही स्थान योग्य समझा जाता है ॥७७॥ जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदिमें निवास करते हैं और निरन्तर विषयोंको देखा करते हैं ऐसे मुनियोंका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है

---

१. महामनोबला. । २.–स्थिरा ट० । सर्वासनान्तरस्थिरा । ३. ध्यानयोजनेन । ४ कायोत्सर्गपर्यङ्का-सनद्वयप्रतिज्ञा । ५. तत्कायोत्सर्गविरहासनादिविचित्रता । ६. दुष्टो न भवति । ७. उपविश्य । ८. प्रचुरवृत्ति-समाश्रय । ९. निश्चितात्मनाम् । १० संसर्गरहित रागिजनरहित वा । ११. ध्यानरहितसर्वकालेऽपि । १२. कदाचित् ।

ततो [2]विविक्तशायित्वं वने वासश्च योगिनाम् । इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ॥७९॥
इत्यमुष्यां व्यवस्थायां सत्यां धीरास्तु केचन । विहरन्ति जनाकीर्णे [3]शून्ये च समदर्शिनः ॥८०॥
न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षणः कालपर्ययः । नियतोऽस्यास्ति [4]दिध्यासोस्तद्ध्यानं[5] सार्वकालिकम् ॥८१॥
[6]यद्देशकालचेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः[7] । सिद्धाः[8] सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति[9] नात्र [10]तन्नियमोऽस्त्यतः ॥८२
यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात् । स कालः स च देशः स्याद् ध्यानावस्था च सा मता ॥८३
प्रोक्ता ध्यातुरवस्थेयमिदानीं[11] तस्य लक्षणम् । ध्येयं ध्यानं फलं चेति [12]वाच्यमेतच्चतुष्टयम् ॥८४॥
वज्रसंहननं कायमुद्वहन् बलवत्तमम् । ओघ[13]शूरस्तपोयोगे स्वभ्यस्तश्रुतविस्तरः ॥८५॥
दूरोत्सारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन् । लेश्याविशुद्धिमालम्ब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ॥८६॥
प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः । [14]सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ॥८७॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

॥७८॥ इसलिए मुनियोंको एकान्त स्थानमें ही शयन करना चाहिए और वनमें ही रहना चाहिए। यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ॥७९॥ यद्यपि मुनियोंके निवास करनेके लिए यह साधारण व्यवस्था कही गयी है तथापि कितने ही समदर्शी धीर-वीर मुनिराज मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदि तथा वन आदि शून्य (निर्जन) स्थानोंमें विहार करते हैं ॥८०॥ इसी प्रकार ध्यान करनेके इच्छुक धीर-वीर मुनियोंके लिए दिन-रात और सन्ध्याकाल आदि काल भी निश्चित नहीं है अर्थात् उनके लिए समयका कुछ भी नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सभी समयमें उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान इच्छानुसार सभी समयोंमें किया जा सकता है ॥८१॥ क्योंकि सभी देश, सभी काल और सभी चेष्टाओं (आसनों) में ध्यान धारण करनेवाले अनेक मुनिराज आज तक सिद्ध हो चुके हैं, अब हो रहे हैं और आगे भी होते रहेंगे इसलिए ध्यानके लिए देश, काल और आसन वगैरहका कोई खास नियम नहीं है ॥८२॥ जो मुनि जिस समय, जिस देशमें और जिस आसनसे ध्यानको प्राप्त हो सकता है उस मुनिके ध्यानके लिए वही समय, वही देश और वही आसन उपयुक्त माना गया है ॥८३॥ इस प्रकार यह ध्यान करनेवालेकी अवस्थाका निरूपण किया। अब ध्यान करनेवालेका लक्षण, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्यान और ध्यानका फल ये चारों ही पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं ॥८४॥

जो वज्रवृषभनाराचसंहनन नामक अतिशय बलवान् शरीरका धारक है, जो तपश्चरण करनेमें अत्यन्त शूर-वीर है, जिसने अनेक शास्त्रोंका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है, जिसने आर्त और रौद्र नामके खोटे ध्यानोंको दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओंसे बचता रहता है, जो लेश्याओंकी विशुद्धताका अवलम्बन कर प्रमादरहित अवस्थाका चिन्तवन करता है, जो बुद्धिके पारको प्राप्त हुआ है अर्थात् जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबलसे सहित है, शास्त्रोंके अर्थका आलम्बन करनेवाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहों-

१ कारणात् । २ एकान्तप्रदेशे । ३ जनभरितप्रदेशे । ४ ध्यातुमिच्छोः । ५. तद्धनम् म०, ल० । ६. यस्मात् कारणात् । ७. समाधानयुक्ताः । ८ सिद्धपरमेष्ठिनो बभूवुरित्यर्थः । ९. सिद्धा भविष्यन्ति । १० तद्देशकालादिनियमः । ११ आसनभेदः । १२ वक्तव्यम् । १३ समूहे शूरः । मुनिसमूहे शूरः । सपरसमृद्ध इत्यर्थः । उग्रसूर ल०, म०, द० । उग्रसूर. इ० । १४. आगमार्थाश्रयः ।

अपि चोद्भूतसंवेगः प्राप्तनिर्वेदभावनः । वैराग्यभावनोत्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकान्[1] ॥८८॥
[2]सज्ज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमो[3]घनः । विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ॥८९॥
क्रियानिःश्रेयसोदर्का प्रपद्योज्झितदुष्क्रियः । प्रोद्गतः करणीयेषु[4] व्युत्सृष्टाकरणीयकः ॥९०॥
व्रतानां प्रत्य[5]नीका ये दोषा हिंसानृतादयः । तानशेषान्निराकृत्य व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥९१॥
स्वैरुदार[6]तरैः क्षान्तिमार्दवार्जवलाघवैः[7] । कषायवैरिणस्तीव्रान् क्रोधादीन् विनिवर्तयन् ॥९२॥
अनित्यानशुचीन् दुःखान् पश्यन् भावा[8]ननात्मकान्[9] । वपुरायुर्बलारोग्ययौवनादिविकल्पितान् ॥९३॥
समुत्सृज्य चिरा[10]भ्यस्तान् भावान्[11] रागादिलक्षणान् । भावयन् ज्ञानवैराग्यभावनाः प्रागभाविताः ॥९४॥
भावनाभिरसंमूढो[12] मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत्[13] । ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्योपगताश्च ताः ॥९५॥
[14]वाचनापृच्छने[15] सानुप्रेक्षणं[16] परिवर्तनम्[17] । सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥९६॥
संवेग[18][19]प्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः । आस्तिक्य[20]मनु[21]कम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः ॥९७॥

को सह लिया है ऐसे उत्तम मुनिको ध्याता कहते हैं ॥८५-८७॥ इसके सिवाय जिसके संसारसे भय उत्पन्न हुआ है, जिसे वैराग्यकी भावनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो वैराग्य-भावनाओंके उत्कर्षसे भोगोपभोगको सामग्रीको अतृप्ति करनेवाली देखता है, जिसने सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट कर दिया है, जिसने विशुद्ध सम्यग्दर्शनके द्वारा गाढ मिथ्यात्वरूपी शल्यको निकाल दिया है, जिसने मोक्षरूपी फल देनेवाली उत्तम क्रियाओंको प्राप्त कर समस्त अशुभ क्रियाएँ छोड़ दी हैं, जो करने योग्य उत्तम कार्योंमें सदा तत्पर रहता है, जिसने नहीं करने योग्य कार्योंका परित्याग कर दिया है, हिंसा, झूठ आदि जो व्रतोंके विरोधी दोष हैं उन सबको दूर कर जिसने व्रतोंकी परम शुद्धिको प्राप्त किया है, जो अत्यन्त उत्कृष्ट अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव और लाघव रूप धर्मोंके द्वारा अतिशय प्रबल क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायरूपी शत्रुओंका परिहार करता रहता है। जो शरीर, आयु, बल, आरोग्य और यौवन आदि अनेक पदार्थोंको अनित्य, अपवित्र, दुःखदायी तथा आत्मस्वभाव-से अत्यन्त भिन्न देखा करता है, जिनका चिरकालसे अभ्यास हो रहा है ऐसे राग, द्वेष आदि भावोंको छोड़कर जो पहले कभी चिन्तवनमें न आयी हुई ज्ञान तथा वैराग्य रूप भावनाओं-का चिन्तवन करता रहता है और जो आगे कही जानेवाली भावनाओंके द्वारा कभी मोहको प्राप्त नहीं होता ऐसा मुनि ही ध्यानमें स्थिर हो सकता है। जिन भावनाओंके द्वारा वह मुनि मोहको प्राप्त नहीं होता वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्यकी भावनाएँ कहलाती हैं ॥८८-९५॥

जैन शास्त्रोंका स्वयं पढना, दूसरोंसे पूछना, पदार्थके स्वरूपका चिन्तवन करना, श्लोक आदि कण्ठ करना तथा समीचीन धर्मका उपदेश देना ये पाँच ज्ञानकी भावनाएँ जाननी चाहिए ॥९६॥ संसारसे भय होना, शान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढताओंका त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनाएँ जानने-

१. अतृप्तिकरान् । २ सज्ञान-द०, इ० । सज्ञान-ल०, म० । ३ तमोबाहुल्यम् । ४ कर्तुं योग्येषु । ५. प्रतिकूलाः । ६. अत्युत्तमैः । ७. शौचैः । ८ पर्यायरूपानर्थान् । ९. आत्मस्वरूपादन्यान् । १०. अनादिवासितान् । ११ पर्यायान् । १२. अक्षुभितः । १३. स्थिरो भवेत् ल०, म० । १४. पठनम् । १५. प्रश्न । १६. विचारनहितम् । चानुप्रेक्षणम् ल०, म० । १७. परिचिन्तनम् । १८. संसारभीरुत्वम् । १९. रागादीनां विगमः । २०. अविनश्वरत्वमतिः । २१. आत्मसमत्वकृपा ।

ईर्यादिविषया[1] यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः । परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना[2] ॥९८॥
विषयेष्वनभिष्वंग कायतत्त्वानुचिन्तनम् । जगत्स्वभावचिन्त्येति वैराग्यस्थैर्यभावनाः ॥९९॥
एवं भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसंपदि । तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धियः ॥१००॥
स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा । नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षणः ॥१०१॥
श्रुतेन[3] विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः । प्रबुद्धधीरधःश्रेण्या[4] धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥१०२॥
स एवं लक्षणो ध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलाम्[5] । क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्टं[6] ध्यानमृच्छति[7] ॥१०३॥
आद्यसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रितः । त्रिभिराद्यैर्भजेच्छ्रेणीमितरां श्रुततत्त्ववित् ॥१०४॥
[8]किंचिद्दृष्टिमुपावर्त्य[9] बहिरर्थकदम्बकात् । स्मृतिमात्मनि संधाय ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१०५॥
हृषीकाणि तदर्थेभ्यः[10] प्रत्याहृत्य ततो मनः । संहृत्य[11] धियमव्यग्रां धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥१०६॥
ध्येयमध्यात्मतत्त्वं[12] स्यात् पुरुषार्थोपयोगि[13] यत् । पुरुषार्थश्च निर्मोक्षो[14] भवेत्तत्साधनानि[15] च ॥१०७॥

के योग्य है ॥९७॥ चलने आदिके विषयमें यत्न रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पाँच समितियोंका पालन करना, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करना तथा परीषहोंको सहन करना ये चारित्रकी भावनाएँ जानना चाहिए ॥९८॥ विषयोंमें आसक्त न होना, शरीरके स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना, और जगत्के स्वभावका विचार करना ये वैराग्यको स्थिर रखनेवाली भावनाएँ हैं ॥ ९९ ॥ इस प्रकार ऊपर कही हुई भावनाओंका चिन्तवन करनेवाले, तत्त्वोंको जाननेवाले और राग-द्वेषसे रहित मुनिकी बुद्धि ज्ञान और चारित्र आदि सम्पदामें स्थिर हो जाती है ॥१००॥ यदि ध्यान करनेवाला मुनि चौदह पूर्वका जाननेवाला हो, दस पूर्वका जाननेवाला हो अथवा नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त कहलाता है ॥ १०१ ॥ इसके सिवाय अल्प-श्रुत ज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणीके पहले-पहले धर्मध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है ॥१०२॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित ध्यान करनेवाला मुनि ध्यानकी बहुत-सी सामग्री प्राप्त कर उपशम अथवा क्षपक श्रेणीमें उत्कृष्ट ध्यानको प्राप्त होता है। भावार्थ–उत्कृष्ट ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है और वह उपशम अथवा क्षपकश्रेणीमें ही होता है ॥१०३॥ श्रुतज्ञानके द्वारा तत्त्वोंको जाननेवाला मुनि पहले वज्रवृषभनाराचसंहननसे सहित होनेपर ही क्षपकश्रेणीपर चढ़ सकता है तथा दूसरी उपशम श्रेणीको पहलेके तीन संहननों (वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच) वाला मुनि भी प्राप्त कर सकता है ॥१०४॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि बाह्य पदार्थोंके समूहसे अपनी दृष्टिको कुछ हटाकर और अपनी स्मृतिको अपने-आपमें ही लगाकर ध्यान करे ॥ १०५ ॥ प्रथम तो स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको उनके स्पर्श आदि विषयोंसे हटावे और फिर मनको मनके विषयसे हटाकर स्थिर बुद्धिको ध्यान करने योग्य पदार्थमें धारण करे–लगावे ॥१०६॥

जो पुरुषार्थका उपयोगी है ऐसा अध्यात्मतत्त्व ध्यान करने योग्य है। मोक्ष प्राप्त होना ही पुरुषार्थ कहलाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र उसके साधन कहलाते

१. ईर्या आदयो विषयाः येषां ते यत्नाः । पञ्चसमितय इत्यर्थः । २. चारित्रम् । ३. असम्पूर्णश्रुतेनापि युत इत्यर्थः । ४ श्रेणिद्वयादधः । असंयतादिचतुर्गुणस्थानेषु धर्म्यध्यानस्य ध्याता भवतीत्यर्थः । ५ सम्पूर्णाम् । ६. शुक्लध्यानम् । ७. गच्छति । ८. अन्तर्दृष्टिम्, ज्ञानदृष्टिमित्यर्थः । ९ समीपे वर्तयित्वा । १० इन्द्रियविषयेभ्य । ११. लयं नीत्वा । १२ आत्मस्वरूपम् । १३. उपकारि । १४. कर्मणां निरवशेषक्षयः । १५. तन्निर्मोक्षसाधनानि सम्यग्दर्शनादीनि च ।

अहं[1] ममास्रवो[2] बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः। कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा[3] ॥१०८॥

[4]षट्तयद्रव्यपर्यायियाथात्म्यस्यानुचिन्तनम्। यतो[5] ध्यानं ततो ध्येयः[6] कृत्स्नः षड्द्रव्यविस्तरः ॥१०९॥

नयप्रमाणजीवादिपदार्था न्यायभासुराः[7]। जिनेन्द्रवक्त्रप्रसृता ध्येया सिद्धान्तपद्धतिः[8] ॥११०॥

श्रुतमर्थाभिधानं च[9] [10]प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा। तस्मिन् ध्येये जगत्तत्त्वं ध्येयतामेति कात्स्न्यर्तः ॥१११॥

अथवा पुरुषार्थस्य परां [11]काष्ठामधिष्ठितः। परमेष्ठी जिनो ध्येयो [12]निष्ठितार्थो निरञ्जनः ॥११२॥

स[13] हि कर्ममलापायात् शुद्धिमात्यन्तिकीं श्रितः। सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातृणां[14] भावसिद्धये ॥११३॥

क्षायिकानन्तदृग्बोधसुखवीर्यादिभिर्गुणैः। युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः ॥११४॥

अमूर्तो [15]निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्यानगोचरः[16]। किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृतिः ॥११५॥

निःश्रेयसार्थिभिर्भव्यैः प्राप्तनिःश्रेयसः स हि। ध्येयः श्रेयस्करः सार्वः[17] [18]सर्वदृक् सर्वभाव[19]वित् ॥११६॥

हैं। ये सब भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१०७॥ मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा तथा कर्मोंका क्षय होने रूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं अथवा इन्हीं सात तत्त्वोंमें पुण्य और पाप मिला देनेपर नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य है ॥१०८॥ क्योंकि छह नयोंके द्वारा ग्रहण किये हुए जीव आदि छह द्रव्यों और उनकी पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपका बार-बार चिन्तवन करना ही ध्यान कहलाता है, इसलिए छह द्रव्योंका समस्त विस्तार भी ध्यान करने योग्य है ॥१०९॥ नय, प्रमाण, जीव, अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्यायसे देदीप्यमान होनेवाली तथा जिनेन्द्रदेवके मुखसे प्रकट हुई सिद्धान्तशास्त्रोंकी परिपाटी भी ध्यान करने योग्य है अर्थात् जैन शास्त्रोंमें कहे गये समस्त पदार्थ ध्यान करनेके योग्य हैं ॥११०॥ शब्द, अर्थ और ज्ञान इस प्रकार तीन प्रकारका ध्येय कहलाता है। इस तीन प्रकार-के ध्येयमें ही जगत्के समस्तपदार्थ ध्येयकोटिको प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ–जगत्के समस्त पदार्थ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों भेदोंमें विभक्त हैं इसलिए शब्द, अर्थ और ज्ञानके ध्येय (ध्यान करने योग्य) होनेपर जगत्के समस्त पदार्थ ध्येय हो जाते हैं ॥१११॥ अथवा पुरुषार्थकी परम काष्ठाको प्राप्त हुए, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, कृतकृत्य और रागादि कर्ममलसे रहित सिद्ध परमेष्ठी ध्यान करने योग्य है ॥ ११२ ॥ क्योंकि वे सिद्ध परमेष्ठी कर्म-रूपी मलके दूर हो जानेसे अविनाशी विशुद्धिको प्राप्त हुए हैं और रोगादि क्लेशोंसे रहित हैं इसलिए ध्यान करनेवाले पुरुषोंको अपने भावोंकी शुद्धिके लिए उनका अवश्य ही ध्यान करना चाहिए। ॥११३॥ वे सिद्ध भगवान् कर्मोंके क्षयसे होनेवाले अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे सहित हैं और उनके यथार्थस्वरूपको केवल योगी लोग ही जान सकते हैं। यद्यपि वे सूक्ष्म हैं तथापि उनके लक्षण प्रकट है ॥ ११४ ॥ यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीर हैं तथापि योगी लोगोंके ध्यानके विषय हैं अर्थात् योगी लोग उनका ध्यान करते हैं। उनका आकार अन्तिम शरीरसे कुछ कम केवल जीव प्रदेशरूप है ॥११५॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको उन्हींसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। वे स्वयं कल्याण रूप हैं, कल्याण करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले है, सर्वदर्शी है और सब पदार्थोंको जाननेवाले

---

१. आत्मा। २. मम संबन्धि ममकारः। जीवाजीवावित्यर्थः। अहं ममेत्येतद्द्वयमव्ययपदम्। ३ पुण्य-पापसहिता एते नवपदार्थाः। ४ षड्नय अ०, प०, ल०। षड्रूप द०। षट्प्रकार। ५. यस्मात् कारणात्। ६. ध्येयं ल०, इ०, म०। ७. सप्तभङ्गिरूपविचारैर्भास्वरा। ८ वचनरचनाः। ९ शब्दः। १०. ज्ञानम्। ११. अवस्थाम्। १२ कृतकृत्यः। १३ जिन। १४–शुद्धये अ०, प०, नि०, म०, द०, इ०, स०। १५. अशरीरः। १६. ध्येयगो-ल०, म०, द०, प०। १७. सर्वहितः। १८. सर्वदर्शी। १९ पदार्थ।

स साकारोऽप्यनाकारो निराकारोऽपि साकृतिः । [1]स्वसात्कृताखिलज्ञेयः सुज्ञानां[2] ज्ञानचक्षुषाम् ॥११७॥
मणिदर्पणसंक्रान्तच्छायात्मेव[3] स्फुटाकृतिम्[4] । दधज्जीवघनाकारममूर्तोऽप्यचलस्थितिः[5] ॥११८॥
वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो[6] भव्यानां भवविच्छिदे । विच्छिन्नबन्धनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥११९॥
अथवा स्नातकावस्थां[7] प्राप्तो घातिव्यपायतः । जिनोऽर्हन् केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमयं वपुः ॥१२०॥
रागाद्यविद्या[8] जयनाज्जिनोऽर्हन् घातिनां हतेः । स्वात्मोपलब्धितः सिद्धो बुद्धस्त्रैलोक्यबोधनात् ॥१२१॥
त्रिकालगोचरानन्तपर्यायो[9]पचितार्थदृक् । विश्वज्ञो विश्वदर्शी च विश्वसाद्भूतचिद्गुणः ॥१२२॥
केवली केवलालोकविशालामललोचनः । घातिकर्मक्षयाद्आविर्भूतानन्तचतुष्टयः ॥१२३॥
द्विष[10]ड्भेदगणाकीर्णां सभावनिमधिष्ठितः । प्रातिहार्यैरभिव्यक्तत्रिजगत्प्राभवो विभुः ॥१२४॥

अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥११६॥ वे भगवान् साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। यद्यपि उन्होंने जगत्के समस्त पदार्थोंको अपने अधीन कर लिया है अर्थात् वे जगत्के समस्त पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उन्हें ज्ञानरूप नेत्रोंके धारण करनेवाले ही जान सकते हैं। भावार्थ—वे सिद्ध भगवान् कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार होते हैं इसलिए साकार कहलाते हैं परन्तु उनका वह आकार इन्द्रियज्ञानगम्य नहीं है इसलिए निराकार भी कहलाते हैं। शरीररहित होनेके कारण स्थूलदृष्टि पुरुष उन्हें यद्यपि देख नहीं पाते हैं इसलिए वे निराकार हैं, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव कुछ कम अन्तिम शरीरके आकार परिणत हुए उनके असंख्य जीव प्रदेशोंको स्पष्ट जानते हैं इसलिए साकार भी कहलाते हैं। यद्यपि वे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं परन्तु उन्हें संसारके सभी लोग नहीं जान सकते, वे मात्र ज्ञानरूप नेत्रके द्वारा ही जाने जा सकते हैं ॥११७॥ रत्नमय दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान उनका आकार अतिशय स्पष्ट है। यद्यपि वे अमूर्तिक हैं तथापि चैतन्यरूप घनाकारको धारण करनेवाले हैं और सदा स्थिर हैं ॥११८॥ यद्यपि वे भगवान् स्वयं वीतराग हैं तथापि ध्यान किये जानेपर भव्य जीवोंके संसारको अवश्य नष्ट कर देते हैं। कर्मोंके बन्धनको छिन्न-भिन्न करनेवाले उन सिद्ध भगवान्का वह उस प्रकारका एक स्वाभाविक गुण ही समझना चाहिए ॥११९॥ अथवा घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जो स्नातक अवस्थाको प्राप्त हुए हैं और जो तेजोमय परमौदारिक शरीरको धारण किये हुए हैं ऐसे केवलज्ञानी अर्हन्त जिनेन्द्र भी ध्यान करने योग्य हैं ॥१२०॥ राग आदि अविद्याओंको जीत लेनेसे जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो अर्हन्त (अरिहन्त) कहलाते हैं शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे जो सिद्ध कहलाते हैं और त्रैलोक्यके समस्त पदार्थोंको जाननेसे जो बुद्ध कहलाते हैं, जो तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त पदार्थोंको देखते हैं इसलिए विश्वदर्शी (सबको देखनेवाले) कहलाते हैं और जो अपने ज्ञानरूप चैतन्य गुणसे संसारके सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विश्वज्ञ (सर्वज्ञ) कहलाते हैं। जो केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञान ही जिनका विशाल और निर्मल नेत्र है, तथा घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिनके अनन्तचतुष्टय प्रकट हुआ है, जो बारह प्रकारके जीवोंके समूहसे भरी हुई सभाभूमि (समवसरण) में विराजमान हैं, अष्ट प्रातिहार्योंके द्वारा जिनकी तीनों जगत्की प्रभुता प्रकट हो रही है, जो

---

१ स्वाधीनीकृतनिखिलज्ञेयपदार्थः । २ सुज्ञातो ल०, म० । शोभनज्ञानः अथवा सुज्ञाता । ३. छायास्वरूपमिव । ४. स्फुटाकृतिः द०, ल०, म०, प० । ५. अमूर्तोऽपीत्यत्र परमतकथितचार्वाकवादीनाममूर्तत्वचरणात्मकत्वनिरासार्थमचलस्थितिरित्युक्तम् । ६. –ध्यातो भव्या– द०, ल०, म०, अ०, प० । ७. परिपूर्णज्ञानपरिणतिम् । ८. अज्ञान । ९ गुणपर्यायवद्द्रव्यम् । १० द्वादशभेद ।

नियताकृतिरप्येष विश्वरूपः स्वचिद्गुणैः। संक्रान्ताशेषविज्ञेयप्रतिबिम्बानुकारतः ॥१२५॥
विश्वव्यापी स विश्वार्थव्यापि विज्ञानयोगतः। विश्वास्यो विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणिः ॥१२६॥
संसारसागराद् दूरमुत्तीर्णः सुखसाद्भवः। विधूतसकलक्लेशो विच्छिन्नभवबन्धनः ॥१२७॥
निर्भयश्च निराकाङ्क्षो निराबाधो निराकुलः। निर्व्यपेक्षो निरातङ्को नित्यो निष्कर्मकल्मषः ॥१२८॥
नवकेवललब्ध्यादिगुणाराद्धघपुष्टरः। अभेद्यसंहतिर्वज्रशिलोत्कीर्ण इवाचलः ॥१२९॥
स एवं लक्षणो ध्येयः परमात्मा परः पुमान्। परमेष्ठी परं तत्त्वं परमज्योतिरक्षरम् ॥१३०॥
साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः। विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम् ॥१३१॥
प्रशस्तप्रणिधानं यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि। तद्ध्यानमुक्तं मुक्त्यङ्गं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥१३२॥

सर्वसामर्थ्यवान् हैं, जो यद्यपि निश्चित आकारवाले हैं तथापि अपने चैतन्यरूप गुणोंके द्वारा प्रतिबिम्बित हुए समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब रूप होनेसे विश्वरूप हैं अर्थात् संसारके सभी पदार्थोंके आकार धारण करनेवाले हैं, जो समस्त पदार्थोंमें व्याप्त होनेवाले केवलज्ञानके सम्बन्धसे विश्वव्यापी कहलाते हैं, समवसरण-भूमिमें चारों ओर मुख देखनेके कारण जो विश्वास्य (विश्वतोमुख) कहलाते हैं, संसारके सब पदार्थोंको देखनेके कारण जो विश्वतश्चक्षु (सब ओर हैं नेत्र जिनके ऐसे) कहलाते हैं, तथा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण जो समस्त लोकके शिखामणि कहलाते हैं, जो संसाररूपी समुद्रसे शीघ्र ही पार होनेवाले हैं, जो सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश नष्ट हो गये हैं और जिनके संसाररूपी बन्धन कट चुके हैं, जो निर्भय हैं, निःस्पृह हैं, बाधारहित हैं, आकुलतारहित हैं, अपेक्षारहित हैं, नीरोग हैं, नित्य हैं, और कर्मरूपी कालिमासे रहित हैं; क्षायिक, ज्ञान, दर्शन, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ केवललब्धि आदि अनेक गुणोंसे जिनका शरीर अतिशय उत्कृष्ट है, जिनका कोई भेदन नहीं कर सकता और जो वज्रकी शिलामें उकेरे हुए अथवा वज्रकी शिलाओंसे व्याप्त हुए पर्वतके समान निश्चल हैं—स्थिर हैं, इस प्रकार जो ऊपर कहे हुए लक्षणोंसे सहित हैं, परमात्मा हैं, परम पुरुष रूप हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्त्वस्वरूप हैं, परमज्योति (केवलज्ञान) रूप हैं और अविनाशी हैं ऐसे अर्हन्तदेव ध्यान करने योग्य हैं ॥१२१-१३०॥ अभीतक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थोंका वर्णन किया गया है वे सब धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान इन दोनों ही ध्यानोंके साधारण ध्येय हैं अर्थात् ऊपर कहे हुए पदार्थोंका दोनों ही ध्यानोंमें चिन्तवन किया जा सकता है। इन दोनों ध्यानोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे ही परस्परमें विशेषता समझनी चाहिए। भावार्थ—धर्म्यध्यानकी अपेक्षा शुक्लध्यानमें विशुद्धिके अंश बहुत अधिक होते हैं, धर्म्य ध्यान चौथे गुणस्थानसे लेकर श्रेणी चढ़नेके पहले-पहले तक ही रहता है और शुक्लध्यान श्रेणियोंमें ही होता है। इन्हीं सब बातोंसे उक्त दोनों ध्यानोंमें विशेषता रहती है ॥१३१॥ जो किसी एक ही वस्तुमें परिणामोंकी स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्तिका कारण होता है। वह ध्यान धर्म्यध्यान और

---

१ सलग्न। २. नि शेषज्ञेयवस्तु। ३. विश्वतोमुख। ४. सुखाधीनभूतः। सुखसाद्भवन् ल०, म०, द०। ५ धनादिवाञ्छारहितः। ६. किमप्यनपेक्ष्य भक्ताना सुखकारीत्यर्थः। ७ कर्ममलरहित.। ८. अतिशय-वपुः 'अतिशयार्थे तरप् भवति'। ९. अभेद्यशरीरः। १० सकषायस्वरूपा अकषायस्वरूपा च विशुद्धिः। अथवा परिणाम', स्वामी कर्ता विशुद्धिश्च स्वामी च तयोर्भेदात्। ११ ध्यानविशेषः। १२. परिणाम.।

[1]तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते । धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादि[2]त्रयात्मकम् ॥१३३॥
तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकम् । चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नाय[3]वेदिभिः ॥१३४॥
तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते । [4]दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयांशे [5]गतिः श्रुतेः[6] ॥१३५॥
श्रुतिः सूनृतमाज्ञाप्तवचो वेदाङ्गमागमः । आम्नायश्चेति पर्यायैः सोऽधिगम्यो मनीषिभिः ॥१३६॥
अनादिनिधनं सूक्ष्मं सद्भू[7]तार्थप्रकाशनम् । पुरुषार्थोपदेशित्वाद् यद्भूतहितमूर्जितम् ॥१३७॥
अजय्यममित [8]तीर्थ्यैरनालीढमहोदयम् । महानुभावमर्थौघ[9]गाढं गम्भीरशासनम्[10] ॥१३८॥
परं प्रवचनं [11]सूक्ष्ममाप्तोपज्ञमनन्यथा[12] । मन्यमानो मुनिर्ध्यायेद् भावानाज्ञाविभावितान्[13] ॥१३९॥
जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञां योगी योगविदां वरः । ध्यायेद्धर्मास्तिकायादीन् भावान् सूक्ष्मान् यथागमम् ॥१४०॥
आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः । [14]तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिन्तनम् ॥१४१॥

शुक्ल ध्यानके भेदसे दो प्रकारका होता है॥१३२॥ उन दोनोंमें-से जो ध्यान धर्मसे सहित होता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप है वही धर्म कहलाता है। भावार्थ—वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं और जिस ध्यानमें वस्तुके स्वभावका चिन्तवन किया जाता है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥१३३॥ आगमकी परम्पराको जाननेवाले ऋषियोंने उस धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय इस प्रकार चार भेद माने हैं॥१३४॥ उनमें-से अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थको विषय करनेवाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानके विषयसे रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थमें एक आगमकी ही गति होती है। भावार्थ—संसारमें कितने ही पदार्थ ऐसे हैं जो न तो प्रत्यक्षसे जाने जा सकते हैं और न अनुमानसे ही। ऐसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान सिर्फ आगमके द्वारा ही होता है अर्थात् आप्त प्रणीत आगममें ऐसा लिखा है इसलिए ही वे माने जाते हैं॥ १३५॥ श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्त वचन, वेदांग, आगम और आम्नाय इन पर्यायवाचक शब्दोंसे बुद्धिमान् पुरुष उस आगमको जानते हैं॥१३६॥ जो आदि और अन्तसे रहित है, सूक्ष्म है, यथार्थ अर्थको प्रकाशित करनेवाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थका उपदेशक होनेके कारण संसारके समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, युक्तियोंसे प्रबल है, जो किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता, जो अपरिमित है, परवादी लोग जिसके माहात्म्यको छू भी नहीं सकते है, जो अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव अजीव आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है, जिसका शासन अतिशय गंभीर है, जो परम उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्तके द्वारा कहा हुआ है ऐसे प्रवचन अर्थात् आगमको सत्यार्थ रूप मानता हुआ मुनि आगममें कहे हुए पदार्थोंका ध्यान करे॥१३७-१३९॥ योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ योगी जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ धर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थोंका आगममें कहे अनुसार ध्यान करे ॥१४०॥ इस प्रकारके ध्यान करनेको आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहते हैं। अब आगे अपायविचय नामके धर्म्यध्यानका वर्णन किया जाता है। तीन प्रकारके संताप आदिसे भरे हुए संसाररूपी समुद्रमें जो प्राणी पड़े हुए है उनके अपायका चिन्तवन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है। भावार्थ—यह संसाररूपी समुद्र मानसिक,

१ ध्यानद्वये। २ उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपम्। ३. परमागमवेदिभिः। ४. प्रत्यक्षानुमानरहिते। ५. अवगमनम्। ६ आगमस्य। ७ सत्यस्वरूप। ८ परवादिभिः। ९. तलस्पर्शरहितम्। १०. आज्ञा। ११. सूक्ष्म प०, ल०, म०, द०, इ०। १२ विपरीताभावेन। १३ आगमेन ज्ञातान्। १४ जातिजरामरणरूप, अथवा रागद्वेषमोहरूप, अथवा आधिदैविक दैवमधिकृत्य प्रवृत्तम्, आधिभौतिकं भूतग्राममधिकृत्य प्रवृत्तम्, आध्यात्मिकरूपम् आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तम्।

तदपा यप्रतीकारचि[2]न्तोपायानुचिन्तनम् । अत्रैवान्तर्गतं ध्ये[3]यमनुप्रेक्षादिलक्षणम् ॥१४२॥
शुभाशुभविभक्तानां कर्मणां परिपाकतः[4] । भवावर्तस्य वैचित्र्यमभि[5]संदधतो मुनेः ॥१४३॥
विपाकविचयं धर्म्यमामनन्ति कृता[6]गमाः । विपाकश्च द्विधाम्नातः कर्मणामाप्तसू[7]क्तिषु ॥१४४॥
यथाकालमुपायाच्च फलप[8]क्तिर्वनस्पतेः । यथा तथैव कर्मापि फलं दत्ते शुभाशुभम् ॥१४५॥
मूलोत्तरप्रकृत्यादिबन्धस[9]त्त्वाद्युपाश्रयः । कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य [10]द्रव्यादिसन्निधिम् ॥१४६॥
[11]यतश्च [12]तद्विपाकज्ञस्तदपायाय[13] चेष्टते । [14]ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥१४७॥
संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम् । तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वान् [15]वीक्षणलक्षितम्[16] ॥१४८॥
द्वीपाब्धिवलयानद्रीन् सरितश्च सरांसि च । विमानभवनव्यन्तरावासनरकक्षितीः ॥१४९॥
त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् । भावान् मुनिरनुध्यायेत् संस्थानविचयोपगः[17] ॥१५०॥
जीवभेदांश्च तत्रत्यान्[18] ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च [19]तद्गुणान् ॥१५१॥

वाचनिक, कायिक अथवा जन्म-जरा-मरणसे होनेवाले, तीन प्रकारके सन्तापोंसे भरा हुआ है। इसमें पड़े हुए जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। उनके दुःखका बार-बार चिन्तवन करना सो अपायविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१४१॥ अथवा उन अपायों (दुःखों) के दूर करनेकी चिन्तासे उन्हें दूर करनेवाले अनेक उपायोंका चिन्तवन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दश धर्म आदिका चिन्तवन करना इसी अपायविचय नामके धर्म्यध्यानमें शामिल समझना चाहिए ॥१४२॥ शुभ और अशुभ भेदोंमें विभक्त हुए कर्मोंके उदयसे संसाररूपी आवर्तकी विचित्रताका चिन्तवन करनेवाले मुनिके जो ध्यान होता है उसे आगमके जाननेवाले गणधरादि देव विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान मानते हैं। जैन शास्त्रोंमें कर्मोंका उदय दो प्रकारका माना गया है। जिस प्रकार किसी वृक्षके फल एक तो समय पाकर अपने आप पक जाते हैं और दूसरे किन्हीं कृत्रिम उपायोंसे पकाये जाते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपने शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं अर्थात् एक तो स्थिति पूर्ण होनेपर स्वयं फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले ही अपना फल देने लगते हैं ॥१४३-१४५॥ मूल और उत्तर प्रकृतियोंके बन्ध तथा सत्ता आदिका आश्रय लेकर द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंका उदय अनेक प्रकारका होता है ॥१४६॥ क्योंकि कर्मोंके विपाक (उदय) को जाननेवाला मुनि उन्हें नष्ट करनेके लिए प्रयत्न करता है इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनियोंको मोक्षके उपायभूत इस विपाकविचय नामके धर्म्यध्यानका अवश्य ही चिन्तवन करना चाहिए ॥१४७॥ लोकके आकारका बार-बार चिन्तवन करना तथा लोकके अन्तर्गत रहनेवाले जीव अजीव आदि तत्त्वोंका विचार करना सो संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१४८॥ संस्थानविचय धर्म्यध्यानको प्राप्त हुआ मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ-साथ द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, सरोवर, विमानवासी, भवनवासी तथा व्यन्तरोंके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियाँ आदि पदार्थोंका भी शास्त्रानुसार चिन्तवन करे ॥१४९-१५०॥ इसके सिवाय उस लोकमें रहनेवाले संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार वाले जीवोंके भेदोंका जानना, कर्ता-

१. तापत्रयाद्यपायप्रतीकार। २ चिन्तो ल०, म०, इ०, अ०, प०, स०। ३. ज्ञेयम्। ४. संजातस्य इति शेष.। ५. ध्यायत.। अपि ल०, म०। ६. संपूर्णागमाः। ७. परमागमेषु। ८. पाक.। ९. सत्ताद्युपा- इ०। १०. द्रव्यक्षेत्रकालभाव। ११. यस्मात् कारणात्। १२. कर्मणामुदयवित् पुमान्। १३. कर्मापायाय। १४. ततः कारणात्। १५. विचार। १६. लक्षणम् ल०, म०, द०, अ०, स०। १७. संस्थानविचयश। १८. तत्र त्रिजगति भवान्। १९. जीवगुणान। यद्गुणान् ल०।

तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरम् । भवाब्धिं व्यसनावर्तं दोषयादः[1] कुलाकुलम् ॥१५२॥
सज्ज्ञाननावा संतार्यमतार्यं ग्रन्थिकात्मभिः[2] । अपारमतिगम्भीरं ध्यायेदध्यात्मविद् यतिः ॥१५३॥
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तर । [3]नयभङ्गशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥१५४॥
[4]तदप्रमत्ततालम्बं स्थितिमान्तर्मुहूर्तिकीम् । दधानमप्रमत्तेषु परां[5] कोटिमधिष्ठितम् ॥१५५॥
सद्दृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि[6] कृतस्थिति । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्बल[7] बृंहितम् ॥१५६॥
क्षायोपशमिकं भावं स्वसात्कृत्य विजृम्भितम् । महोदर्कं[8] महाप्रज्ञैर्महर्षिभिरुपासितम् ॥१५७॥
[9]वस्तुधर्मानुयायित्वात् प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकम् । धर्म्यं ध्यानमनुध्येयं यथोक्तध्येयविस्तरम् ॥१५८॥
प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता[10] । सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा[11] रुचिः ॥१५९॥
भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्मस्यान्तर्गतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभभावनाः ॥१६०॥

पना, भोक्तापना और दर्शन आदि जीवोंके गुणोंका भी ध्यान करे ॥१५१॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि इस संसाररूपी समुद्रका भी ध्यान करे जो कि जीवोंके स्वयं किये हुए कर्मोंके माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरोंसे भरा हुआ है, दोषरूपी जल-जन्तुओंसे व्याप्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी नावसे तैरनेके योग्य है, परिग्रही साधु जिसे कभी नहीं तैर सकते, जिसका पार नहीं है और जो अतिशय गम्भीर है ॥१५२-१५३॥ अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? नयोंके सैकड़ों भंगोंसे भरा हुआ जो कुछ आगमका विस्तार है वह सब अन्तरात्माकी शुद्धिके लिए ध्यान करने योग्य है ॥१५४॥ यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलम्बन कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और प्रमादरहित (सप्तम-गुणस्थानवर्ती) जीवोंमें ही अतिशय उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ॥१५५॥ इसके सिवाय अतिशय शुद्धिको धारण करनेवाला और पीत, पद्म तथा शुक्ल ऐसी तीन शुभ लेश्याओंके बलसे वृद्धिको प्राप्त हुआ यह धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार सम्यग्दर्शनसे सहित चौथे गुणस्थानमें तथा शेषके पाँचवें और छठे गुणस्थानमें भी होता है। भावार्थ—इन गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान हीनाधिक भावसे रहता है। धर्म्यध्यान धारण करनेके लिए कमसे-कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका श्रद्धान और निर्णय नहीं होता। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीवोंके जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते हैं ॥१५६॥ यह धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावोंको स्वाधीन कर बढ़ता है। इसका फल भी बहुत उत्तम होता है और अतिशय बुद्धिमान् महर्षि लोग भी इसे धारण करते हैं ॥१५७॥ वस्तुओंके धर्मका अनुयायी होनेके कारण जिसे धर्म्यध्यान ऐसा सार्थक नाम प्राप्त हुआ है और जिसमें ध्यान करने योग्य पदार्थोंका ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यानका बार-बार चिन्तवन करना चाहिए ॥१५८॥ प्रसन्नचित्त रहना, धर्मसे प्रेम करना, शुभ योग रखना, उत्तम शास्त्रोंका अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा (शास्त्रका कथन) तथा स्वकीय ज्ञानसे एक प्रकारकी विशेष रुचि (प्रीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना ये धर्म्यध्यानके बाह्य चिह्न हैं और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकारकी शुभ भावनाएँ उसके

---

१. जलजन्तुसमूह । २. परिग्रहवद्भिः । ३ नयभेद– । ४. धर्म्यध्यानम् । ५ परमप्रकर्षम् । ६ असंयतदेशसंयतप्रमत्तेषु । ७ सहायविजृम्भितम् । ८ महाप्राज्ञैः– ल०, म०, द०, इ०, प० । ९. वस्तुयथास्वरूप । १० शुभपरिणाम । ११. आज्ञा नान्यथावादिनो जिना इति श्रद्धानम् । अधिगम प्रवचनपरिज्ञानम् ताभ्यां जाता रुचिः ।

बाह्यं च लिङ्गमङ्गानां संनिवेशः[1] पुरोदितः। प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यताम् ॥१६१॥
फलं ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरैनसाम्। शुभकर्मोदयोद्भूतं सुखं च विबुधेशिनाम् ॥१६२॥
स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिं[2] फलमस्य प्रचक्षते[3]। साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्तिः पारम्पर्यात् परं पदम् ॥१६३॥
ध्यानेऽप्युपरते[4] धीमानभीक्ष्णं[5] भावयेन्मुनिः। सानुप्रेक्षाः शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥१६४॥
इत्युक्तलक्षणं धर्म्यं मगधाधीश निश्चिनु। शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यङ्गमङ्गिनाम्[6] ॥१६५॥
कषायमलविश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम्। [7]उपेयिवदिदं ध्यानं सान्तर्भेदं[8] निबोध मे[9] ॥१६६॥
शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये[10] तद्द्विधोदितम्। छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं[11] केवलिनां मतम् ॥१६७॥
द्विधाद्यं[12] स्यात् पृथक्त्वादि[13] वीचारान्तवितर्कणम्। [14]तथैकत्वाद्यवीचारपदान्तं च वितर्कणम् ॥१६८॥
इत्याद्यस्य भिदे[15] स्यातामन्वर्थां[16] श्रुतिमाश्रिते। तदर्थव्यक्तये चैतत् तन्नामद्वयनिर्वचः ॥१६९॥
पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः। सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयम् ॥१७०॥

अन्तरङ्ग चिह्न है ॥१५९-१६०॥ पहले कहा हुआ अङ्गोंका सन्निवेश होना अर्थात् पहले जिन पर्यङ्क आदि आसनोंका वर्णन कर चुके हैं उन आसनोंको धारण करना, मुखकी प्रसन्नता होना और दृष्टिका सौम्य होना आदि सब भी धर्म्यध्यानके बाह्य चिह्न समझना चाहिए ॥१६१॥ अशुभ कर्मोंकी अधिक निर्जरा होना और शुभ कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र आदिका सुख प्राप्त होना यह सब इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥१६२॥ अथवा स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होना इस धर्म्यध्यानका फल कहा जाता है। इस धर्म्यध्यानसे स्वर्गकी प्राप्ति तो साक्षात् होती है परन्तु परम पद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति परम्परासे होती है ॥१६३॥ ध्यान छूट जानेपर भी बुद्धिमान् मुनिको चाहिए कि वह संसारका अभाव करनेके लिए अनुप्रेक्षाओंसहित शुभ फल देनेवाली उत्तम-उत्तम भावनाओंका चिन्तवन करे ॥१६४॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मगधाधीश, इस प्रकार जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसे इस धर्म्यध्यानका तू निश्चय कर-उसपर विश्वास ला। अब आगे शुक्लध्यानका निरूपण करूँगा जो कि जीवोंके मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥१६५॥ कषायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको प्राप्त हुआ है ऐसे इस शुक्लध्यानका अवान्तर भेदोंसे सहित वर्णन करता हूँ सो तू उसे मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥१६६॥ वह शुक्ल ध्यान शुक्ल और परम शुक्लके भेदसे आगममें दो प्रकारका कहा गया है, उनमेंसे पहला शुक्लध्यान तो छद्मस्थ मुनियोंके होता है और दूसरा परम शुक्लध्यान केवली भगवान् (अरहन्तदेव) के होता है ॥१६७॥ पहले शुक्लध्यानके दो भेद हैं, एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कवीचार ॥१६८॥ इस प्रकार पहले शुक्लध्यानके जो ये दो भेद हैं. वे सार्थक नामवाले हैं। इनका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए दोनों नामोंकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति-शब्दार्थ) इस प्रकार समझना चाहिए ॥१६९॥ जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रके पदोंका पृथक्-पृथक् रूपसे वीचार अर्थात् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं। भावार्थ-जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पृथक्-पृथक् संक्रमण होता रहे अर्थात् अर्थको छोड़कर व्यंजन (शब्द) का और व्यंजनको छोड़कर अर्थका चिन्तवन होने लगे अथवा इसी प्रकार मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका परिवर्तन होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते

---

१. पल्यङ्कादि। २. सप्राप्ति. इ०। ३. प्रवक्ष्यते इ०। ४ सम्पूर्णे सति। ५ मुहुर्मुहुः। ६. मोक्षकारणम्। ७. प्राप्तम्। ८. मध्ये भेदम्। ९. निबोध जानीहि, मे मम संबन्धि ध्यानम्। निबोधये इति पाठे ज्ञापयामि। १०. परमागमे। ११. शुक्लम्। १२ शुक्लम्। १३. पृथक्त्ववितर्कवीचारम्। १४. एकत्ववितर्कावीचारम्। १५. भेदौ। १६. संज्ञाम्।

एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राविचरिष्णुता[1]। सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥१७१॥
पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते। [2]अर्थव्यञ्जनयोगानां [3]वीचारः संक्रमो मतः ॥१७२॥
अर्थादर्थान्तरं गच्छन् व्यञ्जनाद्[4] व्यञ्जनान्तरम्। योगाद्योगान्तरं गच्छन् ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥१७३॥
[5]त्रियोगः [6]पूर्वविद् यस्माद् ध्यायत्येन[7]न्मुनीश्वरः। सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमम् ॥१७४॥
ध्येयमस्य श्रुतस्कन्धवार्धेर्वागर्थविस्तरः। फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥१७५॥
इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात्। अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं व्रजेत् ॥१७६॥
शब्दाच्छब्दान्तरं [8]यायाद् योगं योगान्तरादपि। सवीचारमिदं तस्मात् सवितर्कं च लक्ष्यते ॥१७७॥
[9]वागर्थरत्नसंपूर्णं नय[10]भङ्गतरङ्गकम्। प्रसृत[11]ध्यानगम्भीरं [12]पदवाक्यमहाजलम् ॥१७८॥
[13]उत्पादादित्रयोद्वेलं सप्तभङ्गीबृहद्ध्वनिम्। पूर्वपक्षवशायातमतयादःकुलाकुलम्[14] ॥१७९॥

हैं ॥१७०॥ जिस ध्यानमें वितर्कके एकरूप होनेके कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं ॥१७१॥ अनेक प्रकारताको पृथक्त्व समझो, श्रुत अर्थात् शास्त्रको वितर्क कहते हैं और अर्थ व्यंजन तथा योगोंका संक्रमण (परिवर्तन) वीचार माना गया है ॥१७२॥ इन्द्रियोंको वश करनेवाला मुनि, एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक शब्दसे दूसरे शब्दको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस पहले पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके शुक्लध्यानका चिन्तवन करता है ॥१७३॥ क्योंकि मन, वचन, काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाले और चौदह पूर्वोके जाननेवाले मुनिराज ही इस पहले शुक्लध्यानका चिन्तवन करते हैं इसलिए ही यह पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार कहा जाता है ॥१७४॥ श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जितना विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय है और मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम होना इसका फल है। भावार्थ– यह शुक्लध्यान उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें होता है। उपशमश्रेणीवाला मुनि इस ध्यानके प्रभावसे मोहनीय कर्मका उपशम करता है और क्षपक श्रेणीमें आरूढ हुआ मुनि इस ध्यानके प्रतापसे मोहनीय कर्मका क्षय करता है इसलिए सामान्य रूपसे उपशम और क्षय दोनों ही इस ध्यानके फल कहे गये हैं ॥१७५॥ यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कन्धरूपी महासमुद्रसे कोई एक पदार्थ लेकर उसका ध्यान करता हुआ किसी दूसरे पदार्थको प्राप्त हो जाता है अर्थात् पहले ग्रहण किये हुए पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका ध्यान करने लगता है। एक शब्दसे दूसरे शब्दको प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त हो जाता है इसीलिए इस ध्यानको सवीचार और सवितर्क कहते हैं ॥१७६-१७७॥ जो शब्द और अर्थरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, जिसमें अनेक नयभंगरूपी तरंग उठ रही हैं, जो विस्तृत ध्यानसे गम्भीर है, जो पद और वाक्यरूपी अगाध जलसे सहित है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके द्वारा उद्वेल (ज्वार-भाटाओंसे सहित) हो रहा है, स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि सप्त भंग ही जिसके विशाल शब्द (गर्जना) हैं,

१ अविचारशीलता। २ व्यक्ति। ३ मनोवाक्कायकर्म। ४ शब्दाच्छब्दान्तरम्। ५ मनोवाक्कायकर्मवान्। ६ पूर्वश्रुतवेदी। ७. शुक्लध्यानम्। —ध्यायेतन्मुनीश्वरः द०। ८ गच्छेत्। ९ शब्द। १०. नयविकल्प। ११ ऋषिगणमुखप्रसृतशब्देन गम्भीरम्। प्रसृतध्यान— ल०, म०। १२ 'वर्णसमुदायः पदम्'। 'पदकदम्बकं वाक्यम्'। १३ उत्पादव्ययध्रौव्यत्रय—। १४ बौद्धादिमतजलचरसमूह।

[1]कृतावतारसुद्‌बोधयानपात्रैर्महर्द्धिभिः । गणाधीशमहा[2]सार्थवाहैश्चारित्रकेतनैः ॥१८०॥
[3]नयोपनयसंपातमहावातविघूर्णितम् । रत्नत्रयमयैर्द्वी[4]पैरवगाढमनेकधा ॥१८१॥
श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः । ध्यायेत् पृथक्त्वसत्तर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम्[5] ॥१८२॥
प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु[6] च । यथाम्नायमिदं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ॥१८३॥
द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः[7] । प्रक्षीणमोहनीयस्य [8]पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः[9] ॥१८४॥
सवितर्कमवीचारमेकत्व[10] ध्यानमर्जितम् । ध्यायत्यस्तकषायोऽसौ घातिकर्माणि शातयन्[11] ॥१८५॥
फलमस्य भवेद् घातित्रितयप्रक्षयोद्भवम् । कैवल्यं प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिरक्षरणम् ॥१८६॥
ततः पूर्वविदामाद्ये शुक्ले श्रेण्योर्यथायथम् । विज्ञेये ह्येकयोगानां[12] [13]यथोक्तफलयोगिनी ॥१८७॥

जो पूर्वपक्ष करनेके लिए आये हुए अनेक परमतरूपी जलजन्तुओंसे भरा हुआ है, बड़ी-बड़ी सिद्धियोंके धारण करनेवाले गणधरदेवरूपी मुख्य व्यापारियोंने चारित्ररूपी पताकाओंसे सुशोभित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा जिसमें अवतरण किया है, जो नय और उपनयोंके वर्णनरूप महावायुसे क्षोभित हो रहा है और जो रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीपोंसे भरा हुआ है, ऐसे श्रुतस्कन्धरूपी महासागरमें अवगाहन कर महामुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानका चिन्तवन करे। भावार्थ–ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनिराज ही प्रथम शुक्लध्यानको धारण कर सकते हैं ॥१७८-१८२॥ यह ध्यान प्रशान्तमोह अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थान, क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान और उपशमक तथा क्षपक इन दोनों प्रकारकी श्रेणियोंके शेष आठवें, नौवें तथा दसवें गुणस्थानमें भी हीनाधिक रूपसे होता है ऐसा बुद्धिमान् महर्षि लोग मानते हैं ॥१८३॥

दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यानके समान ही जानना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वोंका जाननेवाला हो, जिसका आत्मतेज अपरिमित हो और जो तीन योगोंमें-से किसी एक योगका धारण करनेवाला हो ऐसे महामुनिका ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥१८४॥ जिसकी कषाय नष्ट हो चुकी है और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि सवितर्क अर्थात् श्रुतज्ञानसहित और अवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन तथा योगोंके संक्रमणसे रहित दूसरे एकत्ववितर्क नामके बलिष्ठ शुक्लध्यानका चिन्तवन करता है ॥१८५॥ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाला अविनाशीक ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञानका उत्पन्न होना ही इस शुक्लध्यानका फल है ॥१८६॥ इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार फलको देनेवाले पहलेके दोनों शुक्लध्यान ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वके जाननेवाले और तीन तथा तीनमेंसे किसी एक योगका अवलम्बन करनेवाले मुनियोंके दोनों प्रकारकी श्रेणियोंमें यथायोग्य रूपसे होते हैं। भावार्थ–पहला शुक्लध्यान उपशम अथवा क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानमें ही होता है। पहला शुक्लध्यान तीनों योगोंको धारण करनेवालेके होता है परन्तु दूसरा शुक्लध्यान एक योगको धारण करनेवालेके ही होता है, भले ही

---

१. अवतरणम् । २. महासार्थवाहो बृहच्छ्रेष्ठी एषां महासार्थवाहास्तैः । ३ नयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक । उपनय नैगमादि । संपात संप्राप्ति । ४ वडवाग्निनिवासकुण्डैः । ५. प्रथमम् । ६ अपूर्वकरणानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायेषु । ७ मनोवाक्कायेष्वेकत्वमयोगत । ८. पूर्वश्रुतवेदिन । ९. उपमारहिततेजस । १०.-मेकत्व-ध्यान–अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ११ निपातयन् । १२. त्रियोगानामेकयोगानाम् । पुंसामित्यर्थः । १३. पूर्वोक्तफलस्थयोगो ययोस्ते ।

[1]स्नातकः कर्मवैकल्यात् कैवल्यं पदमापिवान्। स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुषः ॥१८८॥
स हि योगनिरोधार्थमुद्यतः केवली जिनः। समुद्घातविधिं पूर्वमाविः कुर्यान्निसर्गतः ॥१८९॥
दण्डमुच्चैः कवाटं च प्रतरं लोकपूरणम्। चतुर्भिः समयैः कुर्वंल्लोकमापूर्य तिष्ठति ॥१९०॥
तदा सर्वगतः सार्वः सर्ववित् पूरको भवेत्। [2]तदन्ते रे[3]चकावस्थामधितिष्ठन्महीयते ॥१९१॥
जगदापूर्य विश्वज्ञः समयात् प्रतरं श्रितः। ततः [4]कवाटदण्डं च क्रमेणैवोपसंहरन् ॥१९२॥
तत्राघातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहन्त्यसौ। अनुभागस्य चानन्तान् भागानशुभकर्मणाम् ॥१९३॥
पुनरन्तर्मुहूर्तेन निरुन्धन् योगमास्रवम्। कृत्वा वाङ्[5]मनसे सूक्ष्मे [6]काययोगव्यपाश्रयात् ॥१९४॥
सूक्ष्मीकृत्य पुनः काययोगं च तदु[7]पाश्रयम्। ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानं [8]प्रतिपातपराङ्मुखम् ॥१९५॥
ततो निरुद्धयोगः [9]सन्नयोगी विगतास्रवः। समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति[10] तदा भजेत् ॥१९६॥
अन्तर्मुहूर्तमातन्वन् तद्ध्यानमतिनिर्मलम्। विधु[11]ताशेषकर्मांशो जिनो नि[12]र्वात्यनन्तरम् ॥१९७॥

वह एक योग तीन योगोंमें-से कोई भी हो ॥१८७॥ घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनों प्रकारके परम शुक्लध्यानोंका स्वामी होता है। भावार्थ—परम शुक्लध्यान केवली भगवान्‌के ही होता है ॥१८८॥ वे केवलज्ञानी जिनेन्द्रदेव जब योगोंका निरोध करनेके लिए तत्पर होते हैं तब वे उसके पहले स्वभावसे ही समुद्‌घातकी विधि प्रकट करते हैं ॥१८९॥ पहले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राजू ऊँचे दण्डके आकार होते हैं, दूसरे समयमें किवाड़के आकार होते हैं, तीसरे समयमें प्रतर रूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकमें भर जाते हैं। इस प्रकार वे चार समयमें समस्त लोकाकाशको व्याप्त कर स्थित होते हैं ॥१९०॥ उस समय समस्त लोकमें व्याप्त हुए, सबका हित करनेवाले और सब पदार्थोंको जाननेवाले वे केवली जिनेन्द्र पूरक कहलाते हैं। उसके बाद वे रेचक अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् आत्माके प्रदेशोंका संकोच करते हैं और यह सब करते हुए वे अतिशय पूज्य गिने जाते हैं ॥१९१॥ वे सर्वज्ञ भगवान् समस्त लोकको पूर्ण कर उसके एक-एक समय बाद ही प्रतर अवस्थाको और फिर क्रमसे एक-एक समय बाद संकोच करते हुए कपाट तथा दण्ड अवस्थाको प्राप्त होकर स्वशरीरमें प्रविष्ट हो जाते हैं ॥१९२॥ उस समय वे केवली भगवान् अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट कर देते हैं और इसी प्रकार अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्तिके भी अनन्त भाग नष्ट कर देते हैं ॥१९३॥ तदनन्तर अन्तर्मुहूर्तमें योगरूपी आस्रवका निरोध करते हुए काययोगके आश्रयसे वचनयोग और मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं और फिर काययोगको भी सूक्ष्म कर उसके आश्रयसे होनेवाले सूक्ष्म क्रियापाति नामक तीसरे शुक्लध्यानका चिन्तवन करते हैं ॥१९४-१९५॥ तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका बिलकुल ही निरोध हो गया है ऐसे वे योगिराज हरप्रकारके आस्रवोंसे रहित होकर समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामके चौथे शुक्लध्यानको प्राप्त होते हैं ॥१९६॥ जिनेन्द्र भगवान् उस अतिशय निर्मल चौथे शुक्लध्यानको अन्तर्मुहूर्त तक धारण करते हैं और फिर समस्त कर्मोंके अंशोंको नष्ट कर निर्वाण अवस्थाको प्राप्त

---

१. सम्पूर्णज्ञानी। २. लोकपूरणानन्तरे। ३. उपसंहारावस्थाम्। ४. कवाटं दण्डं च प०, द०, ल०, म०, इ०, स०। कपाटदण्ड च अ०,। ५ वाक् च मनश्च वाङ्मनसे ते। (चिन्त्योऽय प्रयोग.) वाङ्मनसी ल०, म०। ६. बादरकाययोगाश्रयात्। तमाश्रित्य इत्यर्थ.। ७ वाङ्मनसमूदमीकरणे आश्रयभूतं बादरकाययोगमित्यर्थः। ८ स्वकालपर्यन्तविनाशरहितम्। ९. – योगः योगी स विगतास्रव ल०, म०। १०. नाशरहितम्। ११ विधूता ल०, म०। १२. मुक्तो भवति।

त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमे[1] क्षणे । द्वासप्ततिरुपान्ते[2] स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥१९८॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथाव्यक्तो मुक्तो लोकान्तमावसन् ॥१९९॥
[3]ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात् [4]समयेनैव नीरजाः । लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥२००॥
तत्र कर्ममलापायात् शुद्धिरात्यन्तिकी मता । शरीरापायतोऽनन्तं भवेत् सुखमतीन्द्रियम् ॥२०१॥
निष्कर्मा विधुताशेषसांसारिकसुखासुखः । चरमाङ्गात् किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः[5] ॥२०२॥
अमूर्तोऽप्ययमन्त्या[6]ङ्गसमाकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः [7]परामृशन् ॥२०३॥
शारीरमानसाशेषदुःखबन्धनवर्जितः । [8]निर्द्वन्द्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वितः ॥२०४॥
अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा[9] सिद्धः [10]सुखायते ॥२०५॥
कृतार्थो निष्ठिताः सिद्धाः[11] कृतकृत्या निरामयाः । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्याया[12] [13]सिद्धिमापुषाम्[13] ।
तेषामतीन्द्रियं सौख्यं दुःखप्रक्षयलक्षणम् । तदेव हि परं प्राहुः सुखमानन्त्यवेदिनः[14] ॥२०७॥

हो जाते हैं ॥१९७॥ इन अयोगी परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें बहत्तर और अन्तिम समयमें तेरह कर्मप्रकृतियोंका नाश होता है ॥१९८॥ वे जिनेन्द्रदेव चौदहवें गुणस्थानके अनन्तर लेपरहित, शरीररहित, शुद्ध, अव्याबाध, रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होते हुए लोकके अन्तभागमें निवास करते हैं ॥१९९॥ कर्मरूपी रजसे रहित होनेके कारण जिनकी आत्मा अतिशय शुद्ध हो गयी है ऐसे वे सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेके कारण एक समयमें ही लोकके अन्तभागको प्राप्त हो जाते हैं और वहाँपर चूड़ामणि रत्नके समान सुशोभित होने लगते हैं ॥२००॥ जो हर प्रकारके कर्मोंसे रहित हैं, जिन्होंने संसार सम्बन्धी सुख और दुःख नष्ट कर दिये हैं, जिनके आत्मप्रदेशोंका आकार अन्तिम शरीरके तुल्य है और परिमाण अन्तिम शरीरसे कुछ कम है, जो अमूर्तिक होनेपर भी अन्तिम शरीरका आकार होनेके कारण उपचारसे साँचेके भीतर रुके हुए आकाशकी उपमाको प्राप्त हो रहे हैं, जो शरीर और मनसम्बन्धी समस्त दुःखरूपी बन्धनोंसे रहित हैं, द्वन्द्वरहित हैं, क्रियारहित हैं, शुद्ध हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सहित हैं, जिनके आत्मप्रदेशोंका समुदाय भेदन करने योग्य नहीं है, जो लोकके शिखरपर मुख्य शिरोमणिके समान सुशोभित हैं, जो ज्योतिस्वरूप हैं, और जिन्होंने अपने शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लिया है ऐसे वे सिद्ध भगवान् अनन्त काल तक सुखी रहते हैं ॥२०१-२०५॥ कृतार्थ, निष्ठित, सिद्ध, कृतकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरञ्जन ये सब मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाचक शब्द हैं, ॥२०६॥ उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके क्षयसे होनेवाला अतीन्द्रिय सुख होता है और

---

१. चरमक्षणे ट० । सातासातयोरन्यतमम् १, मनुष्यगति १, पञ्चेन्द्रियनामकर्म १, सुभग १, त्रस १, बादर १, पर्याप्तक १, आदेय १, यशस्कीर्ति १, तीर्थंकरत्व १, मनुष्यायु १, उच्चैर्गोत्र १, मनुष्यानुपूर्व्य १, इति त्रयोदश कर्मांशा प्रक्षीणा बभूवुः । २. द्विचरमसमये शरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसंघातपञ्चकसंस्थानषट्कसंहननषट्काङ्गोपाङ्गत्रयवर्णपञ्चकगन्धद्वयरसपञ्चकस्पर्शाष्टकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरदेवगतिदेवगत्यानुपूर्वीप्रशस्त–विहायोगति–अप्रशस्तविहायोगति–दुर्भगनिर्माण–अयशस्कीर्ति–अनादेय–प्रत्येक–प्रत्येकापर्याप्ता गुरुलघूपघाता परघातोच्छ्वासा सत्त्वरूपवेदनीयनीचैर्गोत्राणि इति द्वासप्ततिकर्मांशा नष्टा बभूवुः । ३ ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वात् । ४. एकसमयेन । ५ चरमाङ्गाकृतिः । ६. चरमाङ्गसमाकारग्राहकात् । ७. अनुकुर्वन् । ८. निःपरिग्रहः । ९. स्वस्वरूप । १०. सुखमनुभवति, सुखरूपेण परिणमत इत्यर्थः । ११. निष्पन्नाः । १२. स्वात्मोपलब्धिम् । सिद्धिमीयुषाम् प०, ल०, म०, द०, इ०, स० । शुद्धिमीयुषाम् अ० । १३. प्राप्तवताम् । १४. केवलज्ञानिनः ।

क्षुधादिवेदनाभावान्नैषां विषयकामिता[1] । किमु सेवेत भैषज्यं स्वस्थावस्थः सुधीः पुमान् ॥२०८॥
न तत्सुखं परद्रव्यसंबन्धादुपजायते । नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवम्[2] ॥२०९॥
[3]स्वास्थ्यं चेत्सुखमेतेषामनन्तोऽस्त्यानन्त्यमाश्रितम् । [4]ततोऽन्यच्चेत सुखं नाम न किंचिद् भुवनोदरे॥२१०॥
सकलक्लेशनिर्मुक्ता निर्मोहो निरुपद्रवः । केनामी बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्यात्यन्तिकं सुखम् ॥२११॥
इद ध्यानफलं प्राहुरानन्त्यमृषिपुङ्गवाः । तदर्थं हि तपस्यन्ति मुनयो वातवल्कलाः[5] ॥२१२॥
यद्वद् वाताहता सद्यो विलीयन्ते घनाघनाः । तद्वत्कर्मघना यान्ति लयं ध्यानानिलाहताः ॥२१३॥
सर्वाङ्गीण विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते[6] । तद्वत्कर्मविष कृत्स्नं ध्यानशक्त्यापसार्यते ॥२१४॥
ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषा परिकरा मताः । ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥२१५॥
इति ध्यानविधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिप । तदा[7] विबुद्धमस्यासीत्तमोऽपायान्मनोऽम्बुजम् ॥२१६॥

यथार्थमें केवली भगवान् उस अतीन्द्रिय सुखको ही उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥२०७॥ क्षुधा आदि वेदनाओंका अभाव होनेसे उनके विषयोंकी इच्छा नहीं होती सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो स्वस्थ होनेपर भी ओषधियोंका सेवन करता हो ॥२०८॥ जो सुख पर-पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है वह सुख नहीं है, किन्तु जो शुद्ध आत्मासे उत्पन्न होता है, नित्य है, अविनाशी है और क्षयरहित है वही वास्तवमें उत्तम सुख है ॥२०९॥ यदि स्वास्थ्य (समस्त इच्छाओंका अपनी आत्मामें ही समावेश रहना-इच्छाजन्य आकुलताका अभाव होना) ही सुख कहलाता है तो वह अनन्त सुख सिद्ध भगवानके रहता ही है और यदि स्वास्थ्यके सिवाय किसी अन्य वस्तुका नाम सुख है तो वह सुख लोकके भीतर कुछ भी नहीं है। भावार्थ-विषयोंकी इच्छा अर्थात् आकुलताका न होना ही सुख कहलाता है सो ऐसा सुख सिद्ध परमेष्ठीके सदा विद्यमान रहता है। इसके सिवाय यदि किसी अन्य वस्तुका नाम सुख माना जाये तो वह सुख नामका पदार्थ लोकमें किसी जगह भी नहीं है ऐसा समझना चाहिए ॥२१०॥ वे सिद्ध भगवान् समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिए वे किसके द्वारा बाधित हो सकते हैं-उन्हें कौन बाधा पहुँचा सकता है अर्थात् कोई नहीं। इसीलिए उनका सुख अन्तरहित कहा जाता है ॥२११॥ ऋषियोंमें श्रेष्ठ गणधरादि देव इस अनन्त सुखको ही ध्यानका फल कहते हैं और उसी सुखके लिए ही मुनि लोग दिगम्बर होकर तपश्चरण करते हैं ॥२१२॥ जिस प्रकार वायुसे टकराये हुए मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी वायुसे टकराये हुए कर्मरूपी मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं। भावार्थ-उत्तम ध्यानसे ही कर्मोंका क्षय होता है ॥२१३॥ जिस प्रकार मन्त्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यानकी शक्तिसे समस्त कर्मरूपी विष दूर हटा दिया जाता है ॥२१४॥ बाकीके ग्यारह तप एक ध्यानके ही परिकर-सहायक माने गये हैं इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवोंको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करनेमें ही प्रयत्न करना चाहिए ॥२१५॥ इस प्रकार ध्यानकी विधि सुनकर मगधेश्वर राजा श्रेणिक बहुत ही सन्तुष्ट हुए, और उस समय अज्ञानरूपी अन्धकारके नष्ट हो जानेसे उनका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित हो उठा था ॥२१६॥

---

१. विषयैषिता । २ सुखम् । ३. स्वस्वरूपावस्थायित्वम् । ४. भुवन । ५ दिगम्बरा । वास्तवल्कलाः ल०, इ० । ६. निरस्यते । ७ विकसितम् । ८ अज्ञान ।

ततस्तमृषयो भक्त्या गौतमं कृतवन्दनाः। पप्रच्छुरिति योगीन्द्रं योगध्यानि[1] कानिचित् ॥२१७॥
भगवन्[2] योगशास्त्रस्य तत्त्वं[3] त्वत्तः श्रुतं मुहुः। इदानीं बोद्धुमिच्छामस्त[4]द्दिगन्तरशोधनम् ॥२१८॥
[5]तदस्य ध्यानशास्त्रस्य यास्ता विप्रतिपत्तयः[6]। निराकुरुष्व ता देव भास्वानिव तमस्ततीः ॥२१९॥
ऋद्धिप्राप्तेर्ऋषिस्त्वं हि[7] त्वं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः। अनगारोऽस्य सगग्वाद् यतिः श्रेणीद्वयोन्मुखः ॥२२०॥
ततो भागवतादीनां[8] योगानामभिभूतये[9]। ब्रूहि नो योगबीजानि[10] हेत्वाज्ञाभ्यां[11] यथाश्रुतम् ॥२२१॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवान् स्माह गौतमः। यत्पृष्टं योगतत्त्वं वः[12] कथयिष्यामि तत्स्फुटम् ॥२२२॥
षड्भेद[13]योगवादी यः[14] सोऽनुयोज्यः[15] समाहितैः। योगः कः किं समाधानं[16] प्राणायामश्च कीदृशः ॥२२३॥
का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः। किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य[17] कीदृशः ॥
कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः। स[18] शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ॥२२५॥
यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्या[19]धानमञ्जसा। स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ॥२२६॥
प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभभावनः। धारणा श्रुतनिर्दिष्टबीजानामवधारणम् ॥२२७॥

तदनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दना करनेवाले ऋषियोंने योगिराज गौतम गणधरसे नीचे लिखे अनुसार और भी कुछ ध्यानके भेद पूछे ॥२१७॥ कि हे भगवन्, हम लोगोंने आपसे योगशास्त्रका रहस्य अनेक बार सुना है, अब इस समय आपसे अन्य प्रकारके ध्यानोंका निराकरण जानना चाहते हैं ॥२१८॥ हे देव, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारके समूहको नष्ट कर देता है उसी प्रकार आप भी इस ध्यानशास्त्रके विषयमें जो कुछ भी विप्रतिपत्तियाँ (बाधाएँ) हैं उन सबको नष्ट कर दीजिए ॥२१९॥ हे स्वामिन्, अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त होनेसे आप ऋषि कहलाते हैं, आप अनेक पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले मुनि हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण आप अनगार कहलाते हैं और दोनों श्रेणियोंके सम्मुख हैं इसलिए यति कहलाते हैं ॥२२०॥ इसलिए भागवत आदिमें कहे हुए योगोंका पराभव (निराकरण) करनेके लिए युक्ति और शास्त्रके अनुसार आपने जैसा सुना है वैसा ही हम लोगोंके लिए योग (ध्यान) के समस्त बीजों (कारणों अथवा बीजाक्षरों) का निरूपण कीजिए ॥२२१॥ इस प्रकार उन ऋषियोंके ये वाक्य सुनकर भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने जो योगशास्त्रका तत्त्व अथवा रहस्य पूछा है उसे मैं स्पष्ट रूपसे कहूँगा ॥२२२॥

जो छह प्रकारसे योगोंका निरूपण करता है ऐसे योगवादीसे विद्वान् पुरुषोंको पूछना चाहिए कि योग क्या है ? समाधान क्या है ? प्राणायाम कैसा है ? धारणा क्या है ? आध्यान (चिन्तवन) क्या है ? ध्येय क्या है ? स्मृति कैसी है ? ध्यानका फल क्या है ? ध्यानके बीज क्या हैं ? और इसका प्रत्याहार कैसा ? है ॥२२३-२२४॥ योगके जाननेवाले विद्वान् काय, वचन और मनकी क्रियाको योग मानते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो भेदोंको प्राप्त होता है ॥ २२५ ॥ उत्तम परिणामोंमें जो चित्तका स्थिर रखना है वही यथार्थमें समाधि या समाधान कहलाता है अथवा पंच परमेष्ठियोंके स्मरणको भी समाधि कहते है ॥२२६॥ मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रोंमें बतलाये हुए बीजाक्षरोंका अवधारण करना धारणा

---

१. ध्यानभेदान्। २. ध्यान। ३. स्वरूपम्। ४. योगमार्गान्तरनिराकरणम्। ५. तत् कारणात्। ६. प्रतिकूला। ७. हि पादपूरणे। ८. वैष्णवादीनाम्। ९ ध्यानानाम्। १० ध्याननिमित्तानि। ११. युक्त्यागमपरमागमाभ्याम्। १२. च ल०, म०, अ०। १३. संयोगः, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय., समवायः, समवेतसमवाय., विशेषणविशेष्यभावश्चेति षड्प्रकारयोगान् वदतीति। १४. योगः। १५. प्रष्टव्यः। १६ समाधिः। १७. योगस्य। योगादेर्वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितत्वात् तन्न तव सम्भवतीति स्वमतं प्रतिष्ठापयितुमाह। १८. योगः। १९ धारणा।

आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिन्तनैः । ध्येयं स्यात् परमं[1] तत्त्वमवाङ्मनसगोचरम् ॥२२८॥
स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता । गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम् ॥२२९॥
फलं यथोक्त[3] वीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात् । प्रत्याहारस्तु[4] तस्योपसंहृतौ[5] चित्तनिर्वृतिः ॥२३०॥
[6]अकारादिहकारान्तरेफमध्यान्तविन्दुकम् । ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति[7] ॥२३१॥
षडक्षरात्मकं बीजमिवार्हद्भ्यो नमोऽस्त्विति । ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हन्त्यमनन्तगुणमृच्छति ॥२३२॥
नमः सिद्धेभ्य इत्येतद्‌शार्थस्तवनाक्षरम् । जपन्नभ्येपु मव्यात्मा स्वेष्टान् कामानवाप्स्यति ॥२३३॥
अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसंस्मृत्य पुनर्दुःखं न पश्यति ॥२३४॥
यत्षोडशाक्षरं[9] बीजं सर्वबीजपदान्वितम् । तत्त्ववित्तदनुध्यायन् ध्रुवमेष[10] मुमुक्षते ॥२३५॥
[11]पञ्चब्रह्ममयैर्मन्त्रैः [12]सकलीकृत्यनिष्कलम्[13] । परं तत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्म[14] तत्त्ववित् ॥२३६॥
योगिनः परमानन्दो योऽस्य स्याच्चित्त[15] निर्वृते । स एवैश्वर्य[16] पर्यन्तो योगजाः किमुतर्द्धयः[17] ॥२३७॥

कहलाती है ॥२२७॥ अनित्यत्व आदि भावनाओंका बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचनके अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥२२८॥ जीव आदि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका स्मरण करना स्मृति कहलाती है अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है ॥२२९॥ ध्यानका फल ऊपर कहा जा चुका है, बीजाक्षर आगे कहे जायेंगे और मनकी प्रवृत्तिका संकोच कर लेनेपर जो मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥२३०॥ जिसके आदिमें अकार है अन्तमें हकार है मध्यमें रेफ है और अन्तमें विन्दु है ऐसे अर्हं इस उत्कृष्ट बीजाक्षरका ध्यान करता हुआ मुमुक्षु पुरुष कभी भी दुःखी नहीं होता ॥२३१॥ अथवा 'अर्हद्भ्यो नमः' अर्थात् 'अर्हन्तोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार छह अक्षरवाला जो बीजाक्षर है उसका ध्यान कर मोक्षाभिलाषी मुनि अनन्त गुणयुक्त अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त होता है ॥२३२॥ अथवा जप करने योग्य पदार्थोंमें-से 'नमः सिद्धेभ्यः' अर्थात् 'सिद्धोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सिद्धोंके स्तवन स्वरूप पाँच अक्षरोंका जो भव्य जीव जप करता है वह अपने इच्छित पदार्थोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥२३३॥ अथवा 'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' अर्थात् 'अरहन्त परमेष्ठीके लिए नमस्कार हो' यह जो आठ अक्षरवाला परमबीजाक्षर है उसका चिन्तवन करके भी यह जीव फिर दुःखोंको नहीं देखता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥२३४॥ तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' अर्थात् 'अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु इन पाँचों परमेष्ठियोंके लिए नमस्कार हो' इस प्रकार सब बीज पदोंसे सहित जो सोलह अक्षरवाला बीजाक्षर है उसका ध्यान करनेवाला तत्त्वज्ञानी मुनि अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३५॥ अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इस प्रकार पंचब्रह्मस्वरूप मन्त्रोंके द्वारा जो योगिराज शरीररहित परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित कल्पना कर उसका बार-बार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता है ॥२३६॥ ध्यान करनेवाले योगीके चित्तके सन्तुष्ट होनेसे जो परम आनन्द होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है फिर योगसे होनेवाली अनेक ऋद्धियोंका तो कहना ही क्या है ? भावार्थ–ध्यानके प्रभावसे हृदयमें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वही ध्यानका सबसे उत्कृष्ट फल है और अनेक

१. आत्मतत्त्वम् । २ अवाङ्मानस ल०, म० । ३ धर्म्यध्यानादौ प्रोक्तम् । ४. योगस्य । ५. चित्तप्रसाद, प्रसन्नता । ६. अकारादि इत्यनेन वाक्येन अर्हम् इति बीजपदं ज्ञातव्यम् । ७. सक्लिष्टो न भवति । ८ पञ्चाक्षरबीजम् । ९ 'अर्हंतसिद्धआइरियउवज्झायसाहू' इति । १० मोक्तुमिच्छति । ११. पंचपरमेष्ठिस्वरूपै । १२ सशरीरीकृत्य । १३ अशरीरम् । आत्मानम् । १४. परब्रह्मस्वरूपवेदी । १५. चित्तप्रसादाद् । १६. ऐश्वर्यपरमावधिः । १७ अत्यल्पा इत्यर्थः ।

अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयम् । भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा[1] मुनिर्निर्वाति[2] योगवित् ॥२३८॥
बीजान्येतान्यजानानो[3] नाममात्रेण मन्त्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबन्धनैः ॥२३९॥
नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभि[4]मानिनाम् । [5]नित्यश्चेदवि[6]कार्यत्वान्न ध्येयध्यानसंगतिः ॥२४०॥
[7]सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छाद्यसंभवात् । प्रागेवास्य[8] न दिध्यासा[9] दूरात्तत्त्वानुचिन्तनम् ॥२४१॥
तस्मि[10]न्वृत्तौ कुतो ध्यानं[11] कुतस्त्यो वा फलोदयः । बन्धमोक्षाद्यधिष्ठाना[12] प्रक्रियाप्यफला ततः[13] ।२४२।
क्षणिकानां च चित्तानां सन्ततौ कानुभा[14]वना । ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र[15] दुर्घटा ॥२४३॥
[16]सन्तानान्तरवत्तस्मा[17]न्न दिध्यासादिसंभवः । न[18] ध्यानं न च निर्मोक्षो[19] नाप्य[20]स्याष्टाङ्गभावना[21] ॥२४४॥

ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना गौण फल है ।।२३७।। योगको जाननेवाला मुनि अणिमा आदि गुणोंसे युक्त तथा उत्कृष्ट उदयसे सुशोभित इन्द्र आदिके ऐश्वर्यका इसी संसारमें उपभोग करता है और बादमें कर्मबन्धनसे छूटकर निर्वाण स्थानको प्राप्त होता है ।।२३८।। इन ऊपर कहे हुए बीजोंको न जानकर जो नाम मात्रसे ही मन्त्रवित् (मन्त्रोंको जाननेवाला) कहलाता है और झूठे अभिमानसे दग्ध होता है वह सदा कर्मरूपी बन्धनोंसे बँधता रहता है ।।२३९।। अब यहाँसे अन्य मतावलम्बी लोगोंके द्वारा माने गये योगका निराकरण करते हैं–योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको भी यथार्थ योग माननेवालोंके मतमें जीव पदार्थ नित्य है ? अथवा अनित्य ? यदि नित्य है तो वह अविकार्य अर्थात् विकार (परिणमन) से रहित होगा और ऐसी अवस्थामें उसके ध्येयके ध्यानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा। इसके सिवाय नित्य जीवके सुख-दुःखका अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणमनोंका होना भी असम्भव है इसलिए जब इस जीवके सर्वप्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती तब तत्त्वोंका चिन्तन तो दूर ही रहा । और तत्त्व-चिन्तनके बिना ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्यानके बिना फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? और उसके बिना बन्ध तथा मोक्षके कारणभूत समस्त क्रियाकलाप भी निष्फल हो जाते हैं ।।२४०–२४२।। यदि जीवको अनित्य माना जाये तो क्षण-क्षणमें नवीन उत्पन्न होनेवाली चित्तोंकी सन्ततिमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकेगी क्योंकि इस क्षणिक वृत्तिमें अपने-द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थोंका स्मरण होना अशक्य है। भावार्थ–यदि जीवको सर्वथा अनित्य माना जाये तो ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती क्योंकि ध्यान करनेवाला जीव क्षण-क्षणमें नष्ट होता रहता है । यदि यह कहो कि जीव अनित्य है किन्तु वह नष्ट होते समय अपनी सन्तान छोड़ जाता है इसलिए कोई बाधा नहीं आती परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीवका निरन्वय नाश हो जाता है तब यह उसकी सन्तान है, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता और किसी तरह उसकी सन्तान है ऐसा व्यवहार मान भी लिया जाये तो 'सब क्षणिक है' इस

---

१. कर्ममलैर्मुक्त्वा । २. मुक्तो भवति । ३. नाममात्राणि द० । ४. अयोगे योगबुद्धि योगाभिमानः तद्वता योगानाम् । ५. सर्वथा नित्य· । ६. अपरिणामित्वात् । ध्येयध्यानसयोगाभावमेव प्रतिपादयति । ७. सुखदुःखानुभवनमनुभूतार्थे स्मृतिरिति वचनात्, स्मरणमपि सुखाभिलाषिप्रभृतिकम् , नित्यस्यासभवात् । ८. सर्वथानित्यजीवतत्त्वस्य । ९. ध्यातुमिच्छा । १०. तत्त्वानुचिन्तनाभावे । ११. कुत आगत· । १२. शुभाशुभकर्मविवरणम् । १३. कारणात् । १४. सामर्थ्यम् । १५ क्षणिकरूपचित्ते । १६. देवदत्तचित्तसन्तान प्रति यज्ञदत्तचित्तसन्तानवत् । १७. कारणात् । १८. दिध्यासाद्यभावात् ध्यानमपि न संभवति । १९. ज्ञानाभावात् मोक्षोऽपि न संभवति । २० मोक्षस्य । २१ सम्यक्त्वसंज्ञा, सज्ञिवाक्कायकर्मान्तव्यायामस्मृतिरूपाणामष्टाङ्गाना भावनापि न सभवति । चार्वाकमते ध्यानं न संगच्छत इत्याह ।

[1]तत्पुद्गलवादेऽपि देह[2]पुद्गलतत्त्वयोः । [3]तत्त्वान्यत्वाद्यवक्तव्यसंगराद्ध्यातुरस्थितेः[4] ॥२४५॥
दिध्यासापूर्विकाध्यानप्रवृत्तिर्नात्र[5] युज्यते । न चासतः[6] खपुष्पस्य काचिद् गन्धादिकल्पना ॥२४६॥
[7]विज्ञप्तिमात्रवादे च[8] ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः[9] । ततो निर्विषयाज्ञप्तिः क्वात्मानं[10] बिभृयात् कथम् ॥२४७॥

नियममें जीवकी सन्तानोंका समुदाय भी क्षणिक ही होगा इसलिए उस दशामें भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता। इसके सिवाय ध्यान उस पदार्थका किया जाता है जिसका पहले कभी अनुभव प्राप्त किया हो, परन्तु क्षणिक पक्षमें अनुभव करनेवाला जीव और अनुभूत पदार्थ दोनों ही नष्ट हो जाते हैं अतः पुनः स्मरण कौन करेगा और किसका करेगा इन सब आपत्तियोंको लक्ष्य कर ही आचार्य महाराजने कहा है कि क्षणिकैकान्त पक्षमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती।

जिस प्रकार एक पुरुषके द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण दूसरे पुरुषको नहीं हो सकता क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है इसी प्रकार अनुभव करनेवाले मूलभूत जीवके नष्ट हो जानेपर उसके द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थका स्मरण उनकी सन्तान प्रतिसन्तानको नहीं हो सकता क्योंकि मूल पदार्थका निरन्वय नाश माननेपर सन्तान प्रतिसन्तानके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता। अनुभूत पदार्थके स्मरणके बिना ध्यान करनेकी इच्छाका होना असम्भव है, ध्यानकी इच्छाके बिना ध्यान नहीं हो सकता, और ध्यानके बिना उसके फलस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। तथा सम्यक्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि इन आठ अंगोंकी भावना भी नहीं हो सकती। इसलिए जीवको अनित्य माननेसे भी ध्यान-(योग) की सिद्धि नहीं हो सकती ॥२४३-२४४॥ इसी प्रकार पुद्गलवाद आत्माको पुद्गलरूप माननेवाले वात्सीपुत्रियोंके मतमें देह और पुद्गलतत्त्वके भेद-अभेद और अवक्तव्य पक्षोंमें ध्याताकी सिद्धि नहीं हो पाती। अतः ध्यानकी इच्छापूर्वक ध्यानप्रवृत्ति नहीं बन सकती। सर्वथा असत् आकाशपुष्पमें गन्ध आदिकी कल्पना नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि पुद्गलरूप आत्मा यदि देहसे भिन्न है तो पृथक् आत्मतत्त्व सिद्ध हो जाता है। यदि अभिन्न है तो देहात्मवादके दूषण आते हैं। यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूपका निर्णय नहीं हो सकता और उसे 'अवक्तव्य' इस शब्दसे भी नहीं कह सकेंगे। ऐसी दशामें ध्यानकी इच्छा प्रवृत्ति आदि नहीं बन सकते। इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादियोंके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि संसारमें विज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है। परन्तु उनके इस सिद्धान्तमें विज्ञानका कुछ भी विषय शेष नहीं रहता। इसलिए विषयके अभावमें विज्ञान स्व-स्वरूपको कहाँ धारण कर सकेगा? भावार्थ-विज्ञान उसीको कहते हैं जो किसी ज्ञेय (पदार्थ) को जाने परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी विज्ञानको छोड़कर और किसी पदार्थकी सत्ता स्वीकृत नहीं करते इसलिए ज्ञेय (जानने योग्य)-पदार्थोंके बिना

१. जीवभूतचतुष्टयवादे भूतचतुष्टयसमष्टिरेव नान्यो जीव इति वादे। तथा अ०, प०, ल०, म०, द०, इ०, स०। तथेति पाठान्तरमिति 'त' पुस्तकस्यापि टिप्पण्या लिखितम्। २ देहि ब०। ३. एकत्वनानात्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादीनामवक्तव्यप्रतिज्ञाया। ४. अभावात्। ५. भूतचतुष्टयवादे। ६. अविद्यमानस्य गगनारविन्दस्य। अयं धातुरस्थिते दृष्टान्तः। ७. विज्ञानाद्वैतवादिनो ध्यानं न संगच्छत इत्या ।देऽपि द०। ९. विषय.। १०. स्वम्। ज्ञानमित्यर्थः।

[1]तदभावे च न ध्यानं न ध्येयं[2] मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुता[3]शादौ सत्यर्थे चार्थभासनम् ॥२४८॥
[4]नैरात्म्यवादपक्षेऽपि किं तु केन प्रमीयते । कच्छपा[5]ङ्गरुहै[6]स्तत् स्यात् खपुष्पापीड[7]बन्धनम् ॥२४९॥
ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या[8] विकल्पद्वययोजना । अनादे[9]याप्रहेयातिशये स्यान्नौ[10] न किंचन[11] ॥२५०॥
मुक्तात्मनोऽपि चैत[12]न्यविरहाल्लक्षण[13]क्षतेः । न ध्येयं कापिलानां स्यान्निर्गुणत्वाच्च[14] खाब्जवत्[15] ॥२५१॥

निर्विषय विज्ञानस्वरूप लाभ नहीं कर सकता अर्थात् विज्ञानका अभाव हो जाता है ॥२४५-२४७॥ और विज्ञानका अभाव होनेपर न ध्यान, न ध्येय, और न मोक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दीपक, सूर्य, अग्नि आदि प्रकाशक और घट, पट आदि प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य) पदार्थोंके रहते हुए ही पदार्थोंका प्रकाशन हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं। भावार्थ-जिस प्रकार प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों प्रकारके पदार्थोंका सद्भाव होनेपर ही वस्तुतत्त्वका प्रकाश हो पाता है उसी प्रकार विज्ञान और विज्ञेय दोनों प्रकारके पदार्थोंका सद्भाव होनेपर ही ध्यान, ध्येय और मोक्ष आदि वस्तुओंकी सत्ता सिद्ध हो सकती है परन्तु विज्ञानाद्वैतवादी केवल प्रकाशक अर्थात् विज्ञानको ही मानते हैं प्रकाश्य अर्थात् विज्ञेय-पदार्थोंको नहीं मानते और युक्तिपूर्वक विचार करनेपर उनके उस विज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो पाती ऐसी दशामें ध्यानकी सिद्धि तो दूर ही रही ॥२४८॥ इसी प्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे शून्यवादी बौद्धोंके मतमें भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब सब कुछ शून्यरूप ही है तब कौन किसको जानेगा-कौन किसका ध्यान करेगा, उनके इस मतमें ध्यानकी कल्पना करना कछुएके बालोंसे आकाशके फूलोंका सेहरा बाँधनेके समान है। भावार्थ-शून्यवादी लोग न तो ध्यान करनेवाले आत्माको मानते हैं और न ध्यान करने योग्य पदार्थको ही मानते हैं ऐसी दशामें उनके यहाँ ध्यानकी कल्पना ठीक उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कि कछुएके बालोंके द्वारा आकाशके फूलोंका सेहरा बाँधा जाना ॥२४९॥ इसके सिवाय शून्यवादियोंके मतमें ध्येयतत्त्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि ध्येयतत्त्वमें दो प्रकारके विकल्प होते हैं, एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य। जब शून्यवादी मूलभूत किसी पदार्थको ही नहीं मानते तब उसमें हेय और उपादेयका विकल्प किस प्रकार किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता ॥२५०॥ सांख्य मुक्तात्माका स्वरूप चैतन्यरहित मानते हैं परन्तु उनकी इस मान्यतामें चैतन्यरूप लक्षणका अभाव होनेसे आत्मारूप लक्ष्यकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणोंका अभाव होनेसे आकाशकमलकी सिद्धि नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार चैतन्यरूप विशेष गुणोंका अभाव होनेसे मुक्तात्माकी भी सिद्धि

१. ज्ञानाभावे । २. नाध्यानम् इत्यपि पाठः । अध्यान ध्यानाभावे सति । ३. अग्नि । आदिशब्देन रत्नादि । शून्यवादे ध्यानं नास्तीत्यर्थ । ४ शून्यवाद । ५. कूर्मशरीररोमभि । ६. नैरात्म्यम् । ७. शेखर । सर्वं शून्यमिति वदतो ध्यानावलम्बनं किंचिदपि नास्तीति भाव. । ८ आदेयं प्रहेयमिति योजना नेतव्या प्रष्टव्या इति भावः । ९. अनादेयमप्रहेयमिति शून्यवादिना परिहारो दत्त. एतस्मिन्नन्तरे कापिल स्वमतं प्रतिष्ठापयितुकाम आह । एव चेत् अनादेयाप्रहेयातिशये अनादेयाप्रयुक्तातिशये । १० अपरिणामिनि नित्ये वस्तुनि । ध्यानं सभवति इत्युक्ते सति सिद्धान्ती समाचष्टे । ११. किंचिदपि ध्येयध्यानादिकं न स्यात् तदेव आह । १२. चैतन्यविरहात् न केवल संसारिणो बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतेत् । इत्यर्थस्याभावात् मुक्तात्म-नोऽपीति । १३ ध्यानविषयीभवच्चैतन्यात्मकलक्षणस्य क्षयात् । १४. चेतयत इति चेतना इत्यस्य गुणा-भावाच्च । १५ यथा गगनारविन्द सौरभादिगुणाभावात् स्वयमपि न दृश्यते तद्वत् ।

[1]सुषुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येव ब्रुवाणकः[2]। [3]सुषुप्सत्येष मूढात्मा ध्येयतत्त्वविचारणे ॥२५२॥
शेषेष्वपि [4]प्रवादेषु न ध्यानध्येयनिर्णयः। एकान्तदोषदुष्टत्वाद् द्वैता[5]द्वैतादिवादिनाम् ॥२५३॥
नित्यानित्यात्मकं जीवतत्त्वमभ्युपगच्छताम्[6]। ध्यानं स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनाम् ॥२५४॥
विरुद्ध[7]धर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत्। इति चेन्नार्पणा[8]भेदादविरोधप्रसिद्धितः ॥२५५॥
नित्यो [9]द्रव्यार्पणादात्मा[10] न पर्यायमिदा[11]र्पणात्। अनित्यः पर्ययोत्पादविनाशैर्व्ध्यस्तो न तु ॥२५६॥
देवदत्तः पिता च स्यात् पुत्रश्चैवार्पणावशात्। [12]विपक्षेतरयोर्योगः स्याद् वस्तुन्युभयात्मनि[13] ॥२५७॥
जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरद्बोधसंपदाम्। युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदम् ॥२५८॥
जिनो मोहारिविजयादाप्तः स्याद् वीतधीमलः। वाचस्पतिरसौ वाग्मिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥२५९॥

नहीं हो सकती, और ऐसी दशामें वह मुक्तात्मा ध्येय भी नहीं कहला सकता तथा ध्येयके विना ध्यान भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥२५१॥ जो सांख्यमतावलम्बी ऐसा कहते हैं कि मुक्त जीव गाढ निद्रामें सोये हुए पुरुषके समान अचेत रहता है, मालूम होता है कि वे ध्येय-तत्त्वका विचार करते समय स्वयं सोना चाहते हैं अर्थात् अज्ञानी बने रहना चाहते हैं इस तरह सांख्यमतमें ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥२५२॥ इसी प्रकार द्वैतवादी तथा अद्वैत-वादी लोगोंके जो मत शेष रह गये हैं वे सभी एकान्तरूपी दोषसे दूषित हैं इसलिए उन सभीमें ध्यान और ध्येयका कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता है ॥२५३॥ इसलिए जीवतत्त्वको नित्य और अनित्य दोनों ही रूपसे माननेवाले स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य एकान्तवादी लोगोंके मतमें नहीं हो सकती ॥२५४॥ कदाचित् यहाँ कोई कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मोंका आधार नहीं हो सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि विवक्षाके भेदसे वैसा कहनेमें कोई विरोध नहीं आता। यदि एक ही विवक्षासे दोनों विरुद्ध धर्म कहे जाते तो अवश्य ही विरोध आता परन्तु यहाँ अनेक विवक्षाओंसे अनेक धर्म कहे जाते हैं इसलिए कोई विरोध नहीं मालूम होता। जीवतत्त्व द्रव्यकी विवक्षासे नित्य है न कि पर्यायके भेदोंकी विवक्षासे भी। इस प्रकार वही जीवतत्त्व पर्यायोंके उत्पाद और विनाशकी अपेक्षा अनित्य है न कि द्रव्यकी अपेक्षासे भी। जिस प्रकार एक ही देवदत्त विवक्षाके वशसे पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है उसी प्रकार एक ही वस्तु विवक्षाके वशसे नित्य तथा अनित्य दोनों रूप ही होती है। देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है इसी प्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुमें दोनों विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं परन्तु उनका समावेश विवक्षा और अविवक्षाके वशसे ही होता है ॥२५५-२५७॥ इसलिए जैन शास्त्रोंके अभ्याससे जिनकी ज्ञान-रूपी सम्पदा सभी ओर फैल रही है ऐसे स्याद्वादी लोगोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य मिथ्यादृष्टियोंके मतमें नहीं ॥२५८॥ भगवान् अरहन्त देवने मोहरूपी शत्रुपर विजय प्राप्त कर ली है इसलिए वे जिन कहलाते हैं उनकी बुद्धिका समस्त मल नष्ट हो गया है इसलिए वे आप्त कहलाते हैं और उन्होंने अपने वचनों-द्वारा सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गका उपदेश

---

१ भृशं निद्रावशगतसदृशः। २. कुत्सितं ब्रुवाणः सांख्यः। ३. स्वपितुमिच्छति। ४ परमतेषु। ५. सर्वथाऽभेदवादिनामादिशब्दादनुक्तानामपि शून्यवादिनाम्। ६ अनुमन्त्रिणाम्। ७. शीतोष्णवत् नित्या-नित्यरूपयोरिति। ८ 'सिंहो माणवक' इत्यर्पणाभेदात्। ९. द्रव्यनिरूपणात्। १० द्रव्यार्पणाच्चात्मा द०, ल०, म०। ११ भेद। १२ नित्यानित्ययो। १३ नित्यानित्यात्मनि।

स्यादर्हन्नरिघातादिगुणैरपरगोचरैः[1] । बुद्धस्त्रैलोक्यविश्वार्थबोधनाद् विश्वभुद्विभुः[2] ॥२६०॥
स विष्णुश्च[3] विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयंकरः । शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परममक्षरम्[4] ॥२६१॥
इत्यन्वर्थानि नामानि यस्य लोकेशिनः प्रभोः । विदुषां हृदयेष्वाप्तबुद्धिं कर्तुमलंतराम्[5] ॥२६२॥
यस्य रूपमधिज्योतिः[6] रनम्बरविभूषणम् । [7]शास्ति कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षणम् ॥२६३॥
निरायुधत्वान्निर्भूतभयक्रोधमकोपनात् । अरक्तनयनं सौम्यं सदा प्रहसितायितम्[8] ॥२६४॥
रागाद्यशेषदोषाणां निर्जयादतिमानुषम्[9] । मुखाब्जं यस्य [10]शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ॥२६५॥
स एवाप्तो जगद्व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः । तदुपज्ञमतो[11] ध्यानं श्रेय[12] श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥२६६॥

मालिनीछन्दः

इति गदति[13] गणेन्द्रे ध्यानतत्त्वं[14] महर्द्धौ
मुनिसदसि मुनीन्द्राः [15]प्रातुषन्भक्तिभाजः ।

दिया है इसलिए वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥२५९॥ अन्य किसीमें नहीं पाये जानेवाले, राग-द्वेष आदि कर्मशत्रुओंको घात करना आदि गुणोंके कारण वे अर्हत् अथवा अरिहन्त कहलाते हैं। तीन लोकके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण वे बुद्ध कहलाते हैं और वे समस्त जीवोंकी रक्षा करनेवाले है इसलिए विभु कहलाते हैं ॥२६०॥ इसी प्रकार वे समस्त संसारमें व्याप्त होनेसे 'विष्णु', कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे 'विजिष्णु', शान्ति करनेसे 'शंकर', सब जीवोंको अभय देनेसे 'अभयंकर', आनन्दरूप होनेसे 'शिव' आदि अन्तरहित होनेके कारण 'सनातन', कृतकृत्य होनेके कारण 'सिद्ध', केवलज्ञानरूप होनेसे 'ज्योति', अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित होनेके कारण 'परम' और अविनाशी होनेसे 'अक्षर' कहलाते है ॥२६१॥ इस प्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम है वही अरहन्तदेव विद्वानोंके हृदयमें आप्तबुद्धि करनेके लिए समर्थ है अर्थात् विद्वान् पुरुष उन्हें ही आप्त मान सकते है ॥२६२॥ जिनका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित होनेपर भी अतिशय प्रकाशमान है और जिनका कटाक्षरहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है ॥२६३॥ शस्त्ररहित होनेके कारण जो भय और क्रोधसे रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल नहीं हैं, जो सदा सौम्य और मन्द मुसकानसे पूर्ण रहता है, राग आदि समस्त दोषोंके जीत लेनेसे जो समस्त अन्य पुरुषोंके मुखोंसे बढ़कर है ऐसा जिनका मुखकमल ही विद्वानोंके लिए उत्तम शासकपनाका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान् लोग जिनका मुख-कमल देखकर ही जिन्हें उत्तम शासक समझ लेते हैं ॥२६४–२६५॥ इसके सिवाय जिनके ज्ञान और वैराग्यका वैभव समस्त जगत्में फैला हुआ है ऐसे अरहन्तदेव ही आप्त हैं। यह ध्यानका स्वरूप उन्हींके द्वारा कहा हुआ है इसलिए कल्याण चाहनेवालोंके लिए कल्याणस्वरूप है ॥२६६॥

इस प्रकार बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरने जब मुनियोंकी सभामें ध्यानतत्त्वका निरूपण किया तब भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही

१. अन्येषामविषयैः । २. विश्वं बोधयतीति । ३. वेवेष्टि इति, ज्ञानरूपेण लोकालोक वेवेष्टि इति विष्णुरित्यर्थः । ४ अविनश्वरम् । ५. अतिशयेन समर्थानि । ६. अधिक ज्योतिस्तेजो यस्य तत् । ७. उपदिशति । ८. प्रहसितासितम् ब० । ९. मानुषमतीतम्, दिव्यमित्यर्थं । १०. शिक्षकत्वम् । ११. सर्वज्ञेन प्रथममुपक्रान्तम् । १२. श्रेयणीयम् । १३. वदति सति । १४. स्वरूपम् । १५. तुष्टवन्तः ।

घनपुलकितमूर्तिगात्रमाविर्मुखाब्जं
[1]द्दिनकरकरयोगाद्वाकरा[2]वाम्बुजानाम् ॥२६७॥

स्तुतिमुखरमुखास्ते योगिनो योगिमुख्य
[3]क्षणमिव जिनसेनाधीश्वरं[4] तं प्रणुत्य ।

[5]प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हन्त्यलक्ष्मीं
समधिगतसमग्रज्ञानधाम्न[6] स्वधाम्नः[7] ॥२६८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नाम एकविंशं पर्व ॥२१॥

सन्तुष्ट हुए। उनके शरीर हर्षसे रोमांचित हो उठे और जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे कमलोंका समूह प्रफुल्लित हो जाता है उसी प्रकार हर्षसे उनके मुखकमल भी प्रफुल्लित हो गये थे ॥२६७॥ अथानन्तर स्तुति करनेसे जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं ऐसे उन सभी योगियोंने योगियोंमें मुख्य और जिनसेनाधीश्वर अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्की चार संघरूपी सेनाके अथवा आचार्य जिनसेनके स्वामी गौतमगणधरकी थोड़ी देर तक स्तुति कर, जिन्हें समस्त ज्ञानका तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मस्वरूपमें ही स्थिर हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवकी आर्हन्त्य लक्ष्मीको सुननेके लिए चित्त स्थिर किया ॥२६८॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें ध्यानतत्त्वका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२१॥

---

१. किरणसंयोगात् । २ वा इव । ३ क्षणपर्यन्तमित्यर्थः । ४. जिनसेनाचार्यस्वामिनम्, अथवा जिनस्य सेना जिनसेना समवसरणस्थभव्यसन्ततिस्तस्या अधीश्वरस्तम् । ५. अवधानयुक्तमकार्षुः । ६ ज्ञानतेजसः । ७. स्वात्मैव धाम स्थानं यस्य तस्य स्वस्वरूपादवस्थितस्येत्यर्थः ।

द्वाविंशं पर्व

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे । त्रिलोक्यामभवत् क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवात्यया[1] ॥१॥

तदा प्रक्षुभिताम्भोधि[2] वेलाध्वानानुकारिणी । घण्टा मुखरयामास[3] जगत्कल्पामरेशिनाम् ॥२॥

ज्योतिर्लोके महान्सिंहप्रणादोऽभूत् समुत्थितः । येनाशु[4] विमदीभावमन्वापन्सुरवारणाः ॥३॥

दध्वान[5] ध्वनदम्भोद[6] ध्वनितानि तिरोदधन्[7] । वैयन्तरेषु[8] गेहेषु महानानकनिःस्वनः ॥४॥

शंखः [9]शं खचरैः[10] सार्द्धं यूयमेत जिघृक्षवः[11] । इतीव घोषयन्नुच्चैः फणीन्द्रभवनेऽध्वनत्[12] ॥५॥

विष्टराण्यमरेशानामशनैः[13] प्रचकम्पिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥६॥

[14]पुष्करैः स्वैरथोत्क्षिप्तपुष्करार्घाः[15] सुरद्विपाः । ननृतुः पर्वतोदग्रा महाहिभिरिवाद्रयः ॥७॥

पुष्पाञ्जलिमिवातेनुः समन्तात् सुरभूरुहाः । चलच्छाखाकरैर्दीर्घैर्विगलत्कुसुमोत्करैः ॥८॥

दिशः प्रसत्तिमासेदुः बभ्राजे व्यभ्रमम्बरम् । विरजीकृतभूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥९॥

अथानन्तर जब जिनेन्द्र भगवान्‌ने घातिया कर्मोंपर विजय प्राप्त की तब समस्त संसारका सन्ताप नष्ट हो गया—सारे संसारमें शान्ति छा गयी और केवलज्ञानकी उत्पत्तिरूप वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥१॥ उस समय क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रकी लहरोंके शब्दका अनुकरण करता हुआ कल्पवासी देवोंका घण्टा समस्त संसारको वाचालित कर रहा था ॥ २ ॥ ज्योतिषी देवोंके लोकमें बड़ा भारी सिंहनाद हो रहा था जिससे देवताओंके हाथी भी मदरहित अवस्थाको प्राप्त हो गये थे ॥ ३ ॥ व्यन्तर देवोंके घरोंमें नगाड़ोंके ऐसे जोरदार शब्द हो रहे थे जो कि गरजते हुए मेघोंके शब्दोंको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ४ ॥ 'भो भवनवासी देवो, तुम भी आकाशमें चलनेवाले कल्पवासी देवोंके साथ-साथ भगवान्‌के दर्शनसे उत्पन्न हुए सुख अथवा शान्तिको ग्रहण करनेके लिए आओ' इस प्रकार जोर-जोरसे घोषणा करता हुआ शंख भवनवासी देवोंके भवनोंमें अपने आप शब्द करने लगा था ॥ ५ ॥ उसी समय समस्त इन्द्रोंके आसन भी शीघ्र ही कम्पायमान हो गये थे मानो जिनेन्द्रदेवको घातिया कर्मोंके जीत लेनेसे जो गर्व हुआ था उसे वे सहन करनेके लिए असमर्थ होकर ही कम्पायमान होने लगे थे ॥ ६ ॥ जिन्होंने अपनी-अपनी सूड़ोंके अग्रभागोंसे पकड़कर कमलरूपी अर्घ ऊपरको उठाये हैं और जो पर्वतोंके समान ऊँचे हैं ऐसे देवोंके हाथी नृत्य कर रहे थे तथा वे ऐसे मालूम होते थे मानो बड़े-बड़े सर्पोंसहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥ ७ ॥ अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओंरूपी हाथोंसे चारों ओर फूल बरसाते हुए कल्पवृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्‌के लिए पुष्पांजलि ही समर्पित कर रहे हों ॥ ८ ॥ समस्त दिशाएँ प्रसन्नताको प्राप्त हो रही थीं, आकाश मेघोंसे रहित होकर सुशोभित हो रहा था और जिसने पृथ्वीलोकको धूलिरहित

---

१ वायुसमूहेन । पाशादेश्च य' इति सूत्रात् समूहार्थे यप्रत्ययः । २. –म्भोधेर्वेला अ०, ल०, म० । ३. वाचाल चकार । ४. मदरहितत्वम् । ५ ध्वनति स्म । ६ मेघरवाणि । ७ आच्छादयन् । ८. व्यन्तरसम्बन्धिषु । ९ सुखम् । १० खेचरैः ल०, म० । शाखचरैः ट० । शाखचरैः कल्पवासिभिः । भो भवनवासिन, यूयम् एत आगच्छत । ११ गृहीतुमिच्छवः । १२. ध्वनति स्म । १३. शीघ्रम् । १४ हस्ताग्रैः । १५. उद्धृतशतपत्रपूजाद्रव्याः ।

इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद् भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णेन्दुर्जगदब्धिमवीवृधत्[1] ॥१०॥

चिह्नैरमीभिरह्नाय[2] सुरेन्द्रोऽबोधि सावधिः । वैभव[3] भुवनव्यापि[4] वै भवध्वंसिवैभवम्[5] ॥११॥

अथोत्थायासनादाशु प्रमोदं परमुद्वहन् । तद्भरादिव नम्रोऽभून्नतमूर्धा शचीपतिः ॥१२॥

किमेतदिति पृच्छन्तीं[6] पौलोमीमतिसंभ्रमात् । हरिः प्रबोधयामास विभोः कैवल्यसंभवम् ॥१३॥

प्रयाणपटहेषूच्चैः प्रध्वनत्सु शताध्वरः । भर्तुः कैवल्यपूजायै[7] निश्चक्राम सुरैर्वृतः ॥१४॥

ततो वलाहकाकारं[8] विमानं कामगाह्वयम्[9] । चक्रे वलाहको[10] देवो जम्बूद्वीपप्रमान्वितम्[11] ॥१५॥

मुक्तालम्बनसंशोभि[12] तदाभाद् रत्ननिर्मितम् । तोषात्प्रहासमातन्वदिव[13] किङ्किणिकास्वनैः ॥१६॥

शारदाभ्रमिवादभ्रं[14] श्वेतिताखिलदिङ्मुखम् । [15]नागदत्ताभियोग्येशो[16] नागमैरावतं व्यधात् ॥१७॥

ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनम् । हरिवाहः[17] सहैशानः प्रतस्थे सपुलोमजः[18] ॥१८॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदामराः । सात्मरक्षजगत्पालाः सानीकाः सप्रकीर्णकाः ॥१९॥

कर दिया है ऐसी ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी ।।९।। इस प्रकार संसारके भीतर अकस्मात् आनन्दको विस्तृत करता हुआ केवलज्ञानरूपी पूर्ण चन्द्रमा संसाररूपी समुद्रको बढ़ा रहा था अर्थात् आनन्दित कर रहा था ।।१०।। अवधिज्ञानी इन्द्रने इन सब चिह्नोंसे संसारमें व्याप्त हुए और संसारको नष्ट करनेवाले, भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी वैभवको शीघ्र ही जान लिया था । ।।११।। तदनन्तर परम आनन्दको धारण करता हुआ इन्द्र शीघ्र ही आसनसे उठा और उस आनन्दके भारसे ही मानो नतमस्तक होकर उसने भगवान्‌के लिए नमस्कार किया था ।।१२।। 'यह क्या है' इस प्रकार बड़े आश्चर्यसे पूछती हुई इन्द्राणीके लिए भी इन्द्रने भगवान्‌के केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समाचार बतलाया था ।।१३।। अथानन्तर जब प्रस्थानकालकी सूचना देनेवाले नगाड़े जोर-जोरसे शब्द कर रहे थे तब इन्द्र अनेक देवोंसे परिवृत होकर भगवान्‌के केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिए निकला ।।१४।। उसी समय वलाहकदेवने एक कामग नामका विमान बनाया जिसका आकार वलाहक अर्थात् मेघके समान था और जो जम्बूद्वीपके प्रमाण था ।।१५।। वह विमान रत्नोंका बना हुआ था और मोतियोंकी लटकती हुई मालाओंसे सुशोभित हो रहा था तथा उसपर जो किंकिणियोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सन्तोषसे हँस ही रहा हो ।।१६।। जो आभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य था ऐसे नागदत्त नामके देवने विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावत हाथी बनाया । वह हाथी शरद्‌ऋतुके बादलोंके समान सफेद था, बहुत बड़ा था और उसने अपनी सफेदीसे समस्त दिशाओंको सफेद कर दिया था ।।१७।। तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने अपनी इन्द्राणी और ऐशान इन्द्रके साथ-साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुए उस दिव्यवाहनपर आरूढ़ होकर प्रस्थान किया ।।१८।। सबसे आगे किल्विषिक जातिके देव जोर-जोरसे सुन्दर नगाड़ोंके शब्द करते जाते थे और उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक और

---

१. वर्धयति स्म । २ सपदि । ३ विगतो भव. विभव. विभवे भवं वैभवम् । संसारच्युतौ जातमिति यावत् । ४. स्फुटम् । ५ पुरुपरमेश्वरवैभवम् । ६ शचीम् । ७ निर्गच्छति स्म । ८. मेघाकारम् । ९. कामकाह्वयम् ल०, म०, इ० । कामुकाह्वयम् द० । १०. वलाहकनामा । ११ प्रमाणान्वितम् । १२. तदभावात् ल०, म०, द०, इ०, अ०, ब०, स० । १३. क्षुद्रघण्टिका । १४ पृथुलम् । १५. वाहनदेवमुख्य. । १६. गजम् । १७ इन्द्र । १८. इन्द्राणीसहित ।

सुरः किल्बिषिकेषूच्चैरातन्वत्स्वानकस्वनान् । स्वैरं स्वैर्वाहनैः शक्रं व्रजन्तमनुवव्रजुः ॥२०॥
अप्सरस्सु नटन्तीषु गन्धर्वातोद्यवादनैः । [1]किन्नरेषु च गायत्सु चचाल सुरवाहिनी ॥२१॥
इन्द्रादीनामथैतेषां लक्ष्म किंचिदनू[2]द्यते । [3]इन्दनादणिमाद्यष्टगुणैरिन्द्रो ह्यनन्यजैः ॥२२॥
आज्ञैश्वर्याद् विनान्यैस्तु गुणैरिन्द्रेण संमिताः[4] । सामानिका भवेयुस्ते शक्रेणापि गुरूकृताः ॥२३॥
पितृमातृगुरुप्रख्याः संमतास्ते सुरेशिनाम् । लभन्ते सममिन्द्रैश्च [5]सत्कारं मान्यतोचितम् ॥२४॥
त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः । पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवौकि[6]नाम् ॥२५॥
भवाः परिषदीत्यासन् सुराः पारिषदाह्वयाः । ते[7] पीठमर्दसदृशाः सुरेन्द्रैरुप[8]लालिताः ॥२६॥
आत्मरक्षाः शिरोर[9]क्षसमानाः प्रोद्यतासयः[10] । विभवायैव [11]पर्यन्ते पर्यटन्त्यमरेशिनाम् ॥२७॥
लोकपालास्तु लोकान्तपालका दुर्गपालवत्[12] । पदात्यादीन्यनीकानि दण्डकल्पानि [13] सप्त वै ॥२८॥
पौरजानपदप्रख्याः[14] सुरा ज्ञेयाः प्रकीर्णकाः । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमाः ॥२९॥
मताः [15]किल्विषमस्त्येषामिति किल्बिषिकामराः । बाह्याः[16] प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धयः ॥३०॥

प्रकीर्णक जातिके देव अपनी-अपनी सवारियोंपर आरूढ़ हो इच्छानुसार जाते हुए सौधर्मेन्द्रके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१९-२०॥ उस समय अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व देव बाजे बजा रहे थे और किन्नरी जातिकी देवियाँ गीत गा रही थीं, इस प्रकार वह देवोंकी सेना बड़े वैभवके साथ जा रही थी ॥२१॥ अब यहाँपर इन्द्र आदि देवोंके कुछ लक्षण लिखे जाते हैं—अन्य देवोंमें न पाये जानेवाले अणिमा महिमा आदि गुणोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हों उन्हें इन्द्र कहते हैं ॥२२॥ जो आज्ञा और ऐश्वर्यके बिना अन्य सब गुणोंसे इन्द्रके समान हों और इन्द्र भी जिन्हें बड़ा मानता हो वे सामानिकदेव कहलाते हैं ॥२३॥ ये सामानिक जातिके देव इन्द्रोंके पिता माता और गुरुके तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यताके अनुसार इन्द्रोंके समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं ॥२४॥ इन्द्रोंके पुरोहित मन्त्री और अमात्यों (सदा साथमें रहनेवाले मन्त्री) के समान जो देव होते हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये देव एक-एक इन्द्रकी सभामें गिनतीके तैंतीस-तैंतीस ही होते हैं ॥२५॥ जो इन्द्रकी सभामें उपस्थित रहते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। ये पारिषद जातिके देव इन्द्रोंके पीठमर्द अर्थात् मित्रोंके तुल्य होते हैं और इन्द्र उनपर अतिशय प्रेम रखता है ॥२६॥ जो देव अंगरक्षकके समान तलवार ऊँची उठाकर इन्द्रके चारों ओर घूमते रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। यद्यपि इन्द्रको कुछ भय नहीं रहता तथापि ये देव इन्द्रका वैभव दिखलानेके लिए ही उसके पास ही पास घूमा करते हैं ॥२७॥ जो दुर्गरक्षकके समान स्वर्गलोककी रक्षा करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं और सेनाके समान पियादे आदि जो सात प्रकारके देव हैं उन्हें अनीक कहते हैं (हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, बैल, गन्धर्व और नृत्य करनेवाली देवियाँ यह सात प्रकारकी देवोंकी सेना है) ॥२८॥ नगर तथा देशोंमें रहनेवाले लोगोंके समान जो देव हैं उन्हें प्रकीर्णक जानना चाहिए और जो नौकर-चाकरोंके समान हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥२९॥ जिनके किल्बिष अर्थात् पापकर्मका उदय हो उन्हें किल्बिषिक देव कहते हैं। ये देव अन्त्यजोंकी तरह अन्य देवोंसे बाहर रहते है। उनके जो कुछ थोड़ा-सा पुण्यका उदय होता

१. किन्नरीषु ल०, म० । २. अनुवक्ष्यते । ३. परमैश्वर्यात् । ४. समानीकृताः । ५. इतरसुरं कृत॰ सत्कारम् । ६. नाकेशिनाम् । ७. उपनायकभेदसधानकारिपुरुषसदृश इत्यर्थः । ८.-रतिलालिताः ल०, म० । ९. अङ्गरक्षसदृशाः । अथवा सेवकसमानाः । १०. प्रोद्यतखड्गाः । ११. पर्यन्तात् । १२. सीमान्तवर्तिदुर्गपाल-सदृशा इत्यर्थः । १३. सेनासदृशानि । १४. समानाः । १५ पापम् । १६. चाण्डालादिबाह्यप्रजावत् ।

एकैकस्मिन्निकाये[1] स्युर्दश भेदा सुरास्त्विमे[2] । व्यन्तरा ज्योतिषश्चायस्त्रिंशलोकपवर्जिताः[3] ॥३१॥
[4]इन्द्रस्तस्बेरम कीदृगिति चेद् सोऽनुवर्ण्यते । तुङ्गवंशो महावर्ष्मा सुवृत्तोन्नतमस्तकः ॥३२॥
बह्वाननो बहुरदो[5]बहुदोर्विपुलासनः[6] । [7]लक्षणैर्व्यञ्जनैर्युक्त [8]सात्त्विको [9]जवनो बली[10] ॥३३॥
कामग[11] कामरूपी च शूर सद्वृत्तकन्धर । [12]समसंबन्धनो धुर्यो[13] मधुस्निग्धरदेक्षणः[14] ॥३४॥
[15]तिर्यग्लोलायतस्थूलसमवृत्तर्जुसत्करः । स्निग्धाताम्रपृथुस्रोतो[16] दीर्घाङ्गुलिसपुष्कर[17] ॥३५॥
वृत्तगात्रापर[18] स्थेयान्[19] दीर्घमेह[20]नवालधिः । व्यूढोरस्को[21] महाध्वानकर्णः[22] सत्कर्णपल्लवः ॥३६॥
अर्धेन्दुनिभसुश्लिष्टविद्रुमाभनखोत्करः । [23]सच्छायस्ताम्रताल्वास्यः शैलोदग्रो महाकटः[24] ॥३७॥
वराहजघन [25]श्रीमान् दीर्वोष्ठो दुन्दुभिस्वन । सुगन्धिदीर्घनिःश्वासः सोऽमितायुः[26] कृशोदरः[27] ॥३८॥

है उसीके अनुरूप उनके थोडी-सी ऋद्धियाँ होती हैं ॥३०॥ इस प्रकार प्रत्येक निकायमें ये ऊपर कहे हुए दश-दश प्रकारके देव होते हैं परन्तु व्यन्तर और ज्योतिषीदेव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपालभेदसे रहित होते है ॥३१॥ अब इन्द्रके ऐरावत हाथीका भी वर्णन करते हैं—उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी बहुत ऊँची थी, उसका शरीर बहुत बड़ा था, मस्तक अतिशय गोल और ऊँचा था। उसके अनेक मुख थे, अनेक दाँत थे, अनेक सूँड़े थीं, उसका आसन बहुत बड़ा था, वह अनेक लक्षण और व्यंजनोंसे सहित था, शक्तिशाली था, शीघ्र गमन करनेवाला था, बलवान् था, वह इच्छानुसार चाहे जहाँ गमन कर सकता था, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकता था, अतिशय शूरवीर था। उसके कन्धे अतिशय गोल थे, वह सम अर्थात् समचतुरस्र संस्थानका धारी था, उसके शरीरके बन्धन उत्तम थे, वह धुरन्धर था, उसके दाँत और नेत्र मनोहर तथा चिकने थे। उसकी उत्तम सूँड नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई चञ्चल, लम्बी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोल और सीधी थी, पुष्कर अर्थात् सूँड़का अग्रभाग चिकना और लाल था, उसमें बड़े-बड़े छेद थे और बड़ी-बड़ी अंगुलियोंके समान चिह्न थे। उसके शरीरका पिछला हिस्सा गोल था, वह हाथी अतिशय गम्भीर और स्थिर था, उसकी पूँछ और लिंग दोनों ही बड़े थे, उसका वक्षःस्थल बहुत ही चौड़ा और मजबूत था, उसके कान बड़ा भारी शब्द कर रहे थे, उसके कानरूपी पल्लव बहुत ही मनोहर थे। उसके नखोंका समूह अर्ध चन्द्रमाके आकारका था, अंगुलियोंमें खूब जड़ा हुआ था और मूँगाके समान कुछ-कुछ लाल वर्णका था, उसकी कान्ति उत्तम थी। उसका मुख और तालु दोनों ही लाल थे, वह पर्वतके समान ऊँचा था, उसके गण्डस्थल भी बहुत बड़े थे। उसके जघन सुअरके समान थे, वह अतिशय लक्ष्मीमान् था, उसके ओठ बड़े-बड़े थे, उसका शब्द दुन्दुभी शब्दके समान था, उच्छ्वास सुगन्धित तथा दीर्घ था, उसकी आयु अपरिमित

---

१ चतुर्निकायेषु एकैकस्मिन्निकाये । २. सुरा इमे ल०, म०, इ०, अ० । ३ त्रायस्त्रिंशै लोकपालैश्च रहिताः । ४. 'ऐन्द्र' इति पाठान्तरम् । ऐन्द्र- इन्द्रसम्बन्धी । ५. बहुकर । ६ पृथुस्कन्धप्रदेश । 'आसनः स्कन्धदेश' स्याद्' इत्यभिधानात् । ७. सूक्ष्मशुभचिह्न । ८. आत्मशक्तिक । ९ वेगी । 'तरस्वित् त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जव' इत्यभिधानात् । १०. कायबलवान् । ११ स्वेच्छानुगामी । १२ समानदेहबन्धन । समः सबन्धनो ल०, म० । १३ धुरन्धर । १४ क्षौद्रवन्मसृण । १५ तिर्यग्लोकायत–अ०, इ० । तिर्यग्दोलोयित–ब० । १६. अरुणविपुलकरान्तरा । 'प्रवाहेन्द्रियगजकरान्तरेषु स्रोतः' इत्यभिधानात् । पृथुस्रोता. इ० । १७. आयताङ्गुलिद्वययुतकराग्रः । स्निग्धं चिक्कणम् आताम्र पृथु स्रोतो यस्य तत् दीर्घाङ्गुलि समं पुष्कर शुण्डाग्रं दीर्घाङ्गुलिसपुष्करम्, स्निग्धाताम्रपृथुस्रोत दीर्घाङ्गुलिसपुष्कर यस्य सः इति 'द' टीकायाम् । १८ वर्तुलापरकाय । १९ स्थिरतरः । २० मेढ्र । २१ विशालवक्ष स्थल । २२. महाध्वनियुतश्रवण । अतएव सत्कर्णपल्लव । २३ प्रशस्तवर्णः । २४ कपाल । २५ शोभावान् । २६. दीर्घायुष्यः । २७. कृतादर. ।

अन्वर्थवेदी[1] कल्याण.[2] कल्याणप्रकृति.[3] शुभः[4] । अयोनिज. सुजातश्च[5] सप्तधा[6] सुप्रतिष्ठितः ॥३९॥
मदनिर्झरसंसिक्तकर्णचामरलम्बिनीः । मदस्रुतीरिवाबिभ्रद्परा पट्पदावली ॥४०॥
मुखैर्बहुभिराकीर्णो गजराजः स्म राजते । सेव्यमान इवायातैर्भक्त्या विश्वैरनेकपैः ॥४१॥

[दशभिः कुलकम्]

अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाछलेन यः । वहन्मुहुरिवारुच्या[7] पल्लवान् कवलीकृतान् ॥४२॥
मृदङ्गमन्द्रनिर्घोषैः कर्णतालाभिताडनैः । [8]सालिवीणारवैर्हृद्यैरारब्धातोद्यविभ्रमः ॥४३॥
करं सुदीर्घनिःश्वासं [9]मदवेणीं च यो वहन् । सनिर्झरस्य सशयोः[10] विभर्ति स्म गिरेः श्रियम् ॥४४॥
दन्तालग्नैर्मृणालैर्यो राजते स्मायतैर्भृशम् । [11]प्रारोहैरिव दन्तानां शशाङ्कशकलामलैः ॥४५॥
पद्माकर इव श्रीमान् दधानः पुष्करश्रियम् । कल्पद्रुम इव [12]प्रांशु[13]र्दानार्थिभिरुपासित· ॥४६॥

थी और उसका सभी कोई आदर करता था। वह सार्थक शब्दार्थका जाननेवाला था, स्वयं मङ्गलरूप था, उसका स्वभाव भी मङ्गलरूप था, वह शुभ था, बिना योनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति उत्तम थी अथवा उसका जन्म सबसे उत्तम था, वह पराक्रम, तेज, बल, शूरता, शक्ति, संहनन और वेग इन सात प्रकारकी प्रतिष्ठाओंसे सहित था। वह अपने कानोंके समीप बैठी हुई उन भ्रमरोंकी पंक्तियोंको धारण कर रहा था जो कि गण्डस्थलोंसे निकलते हुए मदरूपी जलके निर्झरनोंसे भींग गयी थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो मदकी दूसरी धाराएँ ही हों। इस प्रकार अनेक मुखोंसे व्याप्त हुआ वह गजराज ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भक्तिपूर्वक आये हुए संसारके समस्त हाथी ही उसकी सेवा कर रहे हों ॥३२-४१॥ उस हाथीका तालु अशोकवृक्षके पल्लवके समान अतिशय लाल था। इसलिए वह ऐसा जान पड़ता था मानो लाल-लाल तालुकी छायाके बहानेसे खाये हुए पल्लवोंको अच्छे न लगनेके कारण बार-बार उगल ही रहा हो ॥४२॥ उस हाथीके कर्णरूपी तालोंको ताड़नासे मृदङ्गके समान गम्भीर शब्द हो रहा था और वहींपर जो भ्रमर बैठे हुए थे वे वीणाके समान शब्द कर रहे थे, उन दोनोंसे वह हाथी ऐसा जान पड़ता था मानो उसने बाजा बजाना ही प्रारम्भ किया हो ॥४३॥ वह हाथी, जिससे बड़ी लम्बी श्वास निकल रही है ऐसी शुण्ड तथा मद-जलकी धाराको धारण कर रहा था और उन दोनोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो निर्झरने और सर्पसे सहित किसी पर्वतकी ही शोभा धारण कर रहा हो ॥४४॥ इसके दाँतोंमें जो मृणाल लगे हुए थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो चन्द्रमाके टुकड़ोंके समान उज्ज्वल दाँतोंके अँकुरोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥४५॥ वह शोभायमान हाथी एक सरोवरके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभा धारण करता है उसी प्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूँड़के अग्रभागकी शोभा धारण कर रहा था, अथवा वह हाथी एक ऊँचे कल्पवृक्षके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्ष दान अर्थात् अभिलषित वस्तुओंकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा उपासित होता है उसी प्रकार वह हाथी भी दान अर्थात् मदजलके

---

१. अनुगतसाक्षरवेदी । २. मङ्गलमूर्ति । ३. स्वभावः । ४. श्रेयोवान् । ५ शोभनजाति 'जातस्तु कुलजे बुधे ।' ६. सप्तविधमदाविष्ट. । ७. –रिवारुच्यान् द०, म० । –रिवारुच्यम् ल०, म० । ८. अलिवीणा-रवसहितैः । ९. मदधाराम् । १०. अजगरसहितस्य । ११. शिफाभिः । १२. उन्नत । १३. पक्षे भ्रमरैः ।

रेजे [1]सहेमकक्ष्योऽसौ हेमवल्लीवृताद्रिवत् । नक्षत्रमालयाश्लिष्ट[2]शरदम्बरविभ्रमः ॥४७॥

[षड्भिः कुलकम्]

[3]ग्रैवेयमालया कण्ठं स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालावृतस्याद्रेर्नितम्बस्य श्रियं दधौ ॥४८॥

घण्टाद्वयेन रेजेऽसौ सौवर्णेन निनादिना । सुराणामवबोधाय [4]जिनार्चामिव घोषयन् ॥४९॥

जम्बूद्वीपविशालोरुकायश्रीः स सरोवरान् । कुलाद्रीनिव वभ्रेऽसौ रदानायामशालिनः ॥५०॥

श्वैतिम्ना[5] वपुषः श्वेतद्वीपलक्ष्मीमुवाह सः । चलत्कैलासशैलाभः प्रक्षरन्मदनिर्झरः ॥५१॥

इति व्यावर्णितारोह[6]परिणाह[7]वपुर्गुणम् । गजानीकेश्वरश्चक्रे महैरावतदन्तिनम् ॥५२॥

तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽद्युतत्तराम् । पद्माकर इवोत्फुल्लपङ्कजो गिरिमस्तके ॥५३॥

द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्यास्यं च रदाष्टकम् । [8]सरः प्रतिरदं [9]तस्मिन्नब्जिन्येका सरः प्रति ॥५४॥

द्वात्रिंशच्च सवास्तस्यां[10] तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवाना नर्तक्यस्तत्प्रमाः पृथक् ॥५५॥

नृत्यन्ति सलयं स्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रुवः । [11]पश्चाच्चित्तद्रुमेषूच्चैर्न्यस्यन्त्यः [12]प्रमदाङ्कुरान् ॥५६॥

अभिलाषी भ्रमरोंके द्वारा उपासित (सेवित) हो रहा था ॥४६॥ उसके वक्षःस्थल-पर सोनेकी साँकल पड़ी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्णमयी लताओंसे ढका हुआ पर्वत ही हो और गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पड़ी हुई थी जिससे वह अश्विनी आदि नक्षत्रोंकी मालासे सुशोभित शरदृऋतुके आकाशकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था ॥४७॥ जो गलेमें पड़ी हुई मालासे शब्दायमान हो रहा है ऐसे कण्ठको धारण करता हुआ वह हाथी पक्षियोंकी पङ्क्तिसे घिरे हुए किसी पर्वतके नितम्ब भाग (मध्य भाग) की शोभा धारण कर रहा था ॥४८॥ वह हाथी शब्द करते हुए सुवर्णमयी दो घण्टाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो देवोंको बतलानेके लिए जिनेन्द्रदेवकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥४९॥ उस हाथीका शरीर जम्बूद्वीपके समान विशाल और स्थूल था तथा वह कुलाचलों-के समान लम्बे और सरोवरोंसे सुशोभित दाँतोंको धारण कर रहा था इसलिए वह ठीक जम्बूद्वीपके समान जान पड़ता था ॥५०॥ वह हाथी अपने शरीरकी सफेदीसे श्वेत द्वीपकी शोभा धारण कर रहा था और झरते हुए मदजलके निर्झरनोंसे चलते-फिरते कैलास पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था ॥५१॥ इस प्रकार हाथियोंकी सेनाके अधिपति देवने जिसके विस्तार आदिका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा बड़ा भारी ऐरावत हाथी बनाया ॥५२॥ जिस प्रकार किसी पर्वतके शिखरपर फूले हुए कमलोंसे युक्त सरोवर सुशोभित होता है उसी प्रकार उस ऐरावत हाथीपर आरूढ हुआ इन्द्र भी अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥५३॥ उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ-आठ दाँत थे, एक-एक दाँतपर एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवरमें एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनीमें बत्तीस-बत्तीस कमल थे, एक-एक कमलमें बत्तीस-बत्तीस दल थे और उन लम्बे-लम्बे प्रत्येक दलोंपर, जिनके मुखरूपी कमल मन्द हास्यसे सुशोभित हैं, जिनकी भौंहें अतिशय सुन्दर हैं और जो दर्शकोंके चित्तरूपी वृक्षोंमें आनन्दरूपी अंकुर उत्पन्न करा रही हैं ऐसी बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ लय-

---

१. हेममयवरत्रामहित । २ परिवेष्टित । ३ कण्ठभूषा । ४ जिनपूजाम् । ५ अतिशुभ्रत्वेन । ६. उत्सेधविशाल । ७ चतुर्गुणम् द०, प०, ल०, स०, म०, ल० । 'इ०' पुस्तकेऽपि पार्श्वे 'चतुर्गुणम्' इति पाठान्तरं लिखितम् । ८. एकैकसरोवरः । ९ सरसि । १० अब्जिन्याम् । ११. प्रेक्षकाना मनोवृक्षेषु । १२. प्रक्षिपन्त्यः । कुर्वन्त्य इति यावत् ।

तासां सहास्य[1] शृङ्गाररससभावलयान्वितम्। पश्यन्तः [2]कैशिकीप्रायं नृत्तं पिप्रियिरे सुराः ॥५७॥
प्रयाणे सुरराजस्य नेट्टुरप्सरसः पुरः। रक्तकण्ठाश्च किन्नर्यो [3]जगुर्जिनपतेर्जयम् ॥५८॥
ततो द्वात्रिंश[4]दिन्द्राणां पृतना बहुकेतनाः। [5]प्रससुर्विलसच्छत्रचामराः प्रततामराः[6] ॥५९॥
अप्सरःकुङ्कुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके। तद्वक्त्रपङ्कजच्छन्ने लसत्तन्नयनोत्पले ॥६०॥
नभःसरसि हारांशुच्छन्नवारिणि हारिणि। चलन्तश्चामरापीडा[7] हंसायन्ते स्म नाकिनाम् ॥६१॥
इन्द्रनीलमयाहार्य[8]रुचिभिः क्वचिन्नाततम्। श्यामाभां[9] बिभराभास[10]धौतासिनिभमम्बरम् ॥६२॥
पद्मरागरुचा व्याप्तं क्वचिद्व्योमतलं बभौ[11]। सान्ध्यं रागमिवाबिभ्रदनुरञ्जितदिङ्मुखम् ॥६३॥
क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रान्तमभात्क्षमः। स शैवलमिवाम्भोधेर्जलं पर्यन्तसंश्रितम् ॥६४॥
देवाभरणमुक्तौघशबलं[12] सहविद्रुमम्[13]। भेजे पयोमुचां वर्त्म विनीलं जलधेः श्रियम् ॥६५॥
तन्व्यः सुरुचिराकारा लसदंशुकभूषणाः। तदामरस्त्रियो रेजुः कल्पवल्ल्य इवाम्बरे ॥६६॥

सहित नृत्य कर रही थीं ॥५४–५६॥ जो हास्य और शृंगाररससे भरा हुआ था, जो भाव और लयसे सहित था तथा जिसमें कैशिकी नामक वृत्तिका ही अधिकतर प्रयोग हो रहा था ऐसे अप्सराओंके उस नृत्यको देखते हुए देवलोग बड़े ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५७॥ उस प्रयाणके समय इन्द्रके आगे अनेक अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं और जिनके कण्ठ अनेक राग रागिनियोंसे भरे हुए हैं ऐसी किन्नरी देवियाँ जिनेन्द्रदेवके विजयगीत गा रही थीं ॥५८॥ तदनन्तर जिनमें अनेक पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनमें छत्र और चमर सुशोभित हो रहे थे, और जिनमें चारों ओर देव ही देव फैले हुए थे ऐसी बत्तीस इन्द्रोंकी सेनाएँ फैल गयीं ॥५९॥

जिसमें अप्सराओंके केसरसे रँगे हुए स्तनरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोड़े निवास कर रहे हैं, जो अप्सराओंके मुखरूपी कमलोंसे ढका हुआ है, जिसमें अप्सराओंके नेत्ररूपी नीले कमल सुशोभित हो रहे हैं और जिसमें उन्हीं अप्सराओंके हारोंकी किरणरूप ही स्वच्छ जल भरा हुआ है ऐसे आकाशरूपी सुन्दर सरोवरमें देवोंके ऊपर जो चमरोंके समूह ढोले जा रहे थे वे ठीक हंसोंके समान जान पड़ते थे ॥६०–६१॥ स्वच्छ तलवारके समान सुशोभित आकाश कहीं-कहींपर इन्द्रनीलमणिके बने हुए आभूषणोंकी कान्तिसे व्याप्त होकर अपनी निराली ही कान्ति धारण कर रहा था ॥६२॥ वही आकाश कहींपर पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हो रहा था जिससे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो समस्त दिशाओंको अनुरंजित करनेवाली सन्ध्याकालकी लालिमा ही धारण कर रहा हो ॥६३॥ कहींपर मरकतमणिकी छायासे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो शैवालसे सहित और किनारेपर स्थित समुद्रका जल ही हो ॥६४॥ देवोंके आभूषणोंमें लगे मोतियोंके समूहसे चित्र-विचित्र तथा मूँगाओंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश समुद्रकी शोभाको धारण कर रहा था ॥६५॥ जो शरीरसे पतली हैं, जिनका आकार सुन्दर है और जिनके वस्त्र तथा आभूषण अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी देवांगनाएँ उस समय

१. हास्यसहित। २ लज्जासहितशृङ्गारविशेषादिकम्। ३. गायन्ति स्म। ४ कल्पेन्द्रा द्वादश, भवनेन्द्रा दश, व्यन्तरेन्द्रा अष्ट, ज्योतिष्केन्द्रौ द्वाविति द्वात्रिंशदिन्द्राणाम्। ५. प्रतस्थिरे। ६. विस्तृतसुराः। ७. समूहाः। ८. आभरणकान्तिभिः। ९. निजकान्तिम्। १०. उत्तेजितमण्डलाग्रसङ्काशम्। ११. अभात्। १२. मौक्तिकनिकरेण नानावर्णम्। १३. प्रवालसहितम्।

स्मेरवक्त्राम्बुजा रेजुर्नयनोत्पलराजिताः । सरस्य इव लावण्यरसापूर्णाः सुराङ्गनाः ॥६७॥
तासां स्मेराणि वक्त्राणि पद्मबुद्ध्यानुधावताम् । रेजे मधुलिहां माला धनुर्ज्येव मनोभुवः ॥६८॥
हाराश्रितस्तनोपान्ता रेजुरप्सरसस्तदा । दधाना इव निर्मोकममलच्छायं स्तनांशुकम् ॥६९॥
सुरानकमहाध्वानैः[1] पूजावेलां[2] परां दधत् । प्रचरद्देवकल्लोलो बभौ देवागमाम्बुधिः ॥७०॥
ज्योतिर्मय इवैतस्मिन् जाते सृष्ट्यन्तरे भृशम् । ज्योतिर्गणा ह्रियेवासन् विच्छायत्वादलक्षिताः ॥७१॥
तदा दिव्याङ्गनारूपैर्हयहस्त्यादिवाहनैः । [3]उच्चावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटश्रियम् ॥७२॥
[4]देवाङ्गद्युतिविद्युद्भिस्तदाभरणरोहितैः[5] । सुरेभनीलजीमूतैर्व्योमाधात् प्रावृषः श्रियम् ॥७३॥
इत्यापतत्सु[6] देवेषु समं यानविमानकैः । [7]सजानिषु तदा स्वर्गश्चिरादुद्वासितो[8] बत[9] ॥७४॥
समारुध्य नभोऽशेषमित्यायातैः सुरासुरैः । जगत्प्रादुर्भवद्दिव्यस्वर्गान्तरमिवारुचत् ॥७५॥
सुरैर्दूरादथालोकि विभोरास्थानमण्डलम् । सुरशिल्पिभिरारब्धपरार्ध्यरचनाशतम् ॥७६॥

आकाशमें ठीक कल्पलताओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥६६॥ उन देवाङ्गनाओंके कुछ-कुछ हँसते हुए मुख कमलोंके समान थे, नेत्र नील कमलके समान सुशोभित थे और स्वयं लावण्य-रूपी जलसे भरी हुई थीं इसलिए वे ठीक सरोवरोंके समान शोभायमान हो रही थीं ॥६७॥ कमल समझकर उन देवांगनाओंके मुखोंकी ओर दौड़ती हुई भ्रमरोंकी माला कामदेवके धनुषकी डोरीके समान सुशोभित हो रही थी ॥६८॥ जिनके स्तनोंके समीप भागमें हार पड़े हुए हैं ऐसी वे देवांगनाएँ उस समय ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो साँपकी काँचलीके समान कान्तिवाली चोली ही धारण कर रही हों ॥६९॥ उस समय वह देवोंका आगमन एक समुद्रके समान जान पड़ता था क्योंकि समुद्र जिस प्रकार अपनी गरजनासे वेला अर्थात् ज्वार-भाटाको धारण करता है उसी प्रकार वह देवोंका आगमन भी देवोंके नगाड़ोंके बड़े भारी शब्दोंसे पूजा-वेला अर्थात् भगवान्‌की पूजाके समयको धारण कर रहा था, और समुद्रमें जिस प्रकार लहरें उठा करती हैं उसी प्रकार उस देवोंके आगमनमें इधर-उधर चलते हुए देवरूपी लहरें उठ रही थीं ॥७०॥ जिस समय वह प्रकाशमान देवोंकी सेना नीचेकी ओर आ रही थी उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो ज्योतिषी देवोंकी एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिए ही ज्योतिषी देवोंके समूह लज्जासे कान्तिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥७१॥ उस समय देवांगनाओंके रूपों और ऊँचे-नीचे हाथी, घोड़े आदिकी सवारियोंसे वह आकाश एक चित्रपटकी शोभा धारण कर रहा था ॥७२॥ अथवा उस समय वह आकाश देवोंके शरीरकी कान्तिरूपी बिजली, देवोंके आभूषणरूपी इन्द्रधनुष और देवोंके हाथीरूपी काले बादलोंसे वर्षाऋतुकी शोभा धारण कर रहा था ॥७३॥ इस प्रकार जब सब देव अपनी-अपनी देवियोंसहित सवारियों और विमानोंके साथ-साथ आ रहे थे तब खेदकी बात थी कि स्वर्गलोक बहुत देर तक शून्य हो गया था ॥७४॥ इस प्रकार उस समय समस्त आकाशको घेरकर आये हुए सुर और असुरोंसे यह जगत् ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उत्पन्न होता हुआ कोई दूसरा दिव्य स्वर्ग ही हो ॥७५॥

अथानन्तर जिसमें देवरूपी कारीगरोंने सैकड़ों प्रकारकी उत्तम-उत्तम रचनाएँ की हैं

१ -ध्वानैः अ०, स०, ल०, इ०, द०, प० । २ कालम् । ३ नानाप्रकारैः । ४. सुरकायकान्ति । ५ ऋजुसुरचापैः । 'इन्द्रायुधं शक्रधनुस्तदेव ऋजुरोहितम्' इत्यभिधानात् । ६ आगच्छत्सु । ७ स्त्रीसहितेषु । ८. शून्यीकृतः । ९. -सितोऽभवत् अ०, प०, ल०, इ० द० ।

द्विषड्योजनविस्तारमभू[1]दास्थानमीशितुः । हरिनीलमहारत्नघटितं विलसत्तलम् ॥७७॥
सुरेन्द्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमङ्गलादर्शविभ्रमम् ॥७८॥
आस्थानमण्डलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत् । सुत्रामा [2]सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य [3]कर्मठः ॥७९॥
तथाप्यनू[4]द्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चयः[5] । श्रुतेन[6] येन संप्रीतिं भजेद् भव्यात्मनां मनः ॥८०॥
तस्य[7] पर्यन्तभूभागमलंचक्रे स्फुरद्द्युतिः । धूलीसालपरिक्षेपो[8] रत्नपांसुभिराचितः ॥८१॥
धनुरैन्द्रमिवोद्भासिवलयाकृतिमुद्वहत् । सिषेवे तां महीं विष्वग्धूलीसालापदेशतः[9] ॥८२॥
कटीसूत्रश्रियं तन्वन् धूलीसालपरिच्छदः[10] । परीयाय[11] जिनास्थानभूमिं तां वलयाकृतिः ॥८३॥
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभः क्वचिच्चामीकरच्छविः । क्वचिद् विद्रुमसच्छायः [12]सोऽद्युतद् रत्नपांसुभिः ॥८४॥
क्वचिच्छुक[13]च्छदच्छायैर्मणिपांसुभिरुच्छिखैः । स रेजे [14]नलिनीबालपलाशैरिव सान्तवः[15] ॥८५॥
चन्द्रकान्तशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रियं दधत् । जनानामकरोच्चित्रमनुरक्ततरं[16] मनः ॥८६॥

ऐसा भगवान् वृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥७६॥ जो बारह योजन विस्तारवाला है और जिसका तलभाग अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसा इन्द्रनील मणियोंसे बना हुआ वह भगवान्‌का समवसरण बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ७७ ॥ इन्द्रनील मणियोंसे बना और चारों ओरसे गोलाकार वह समवसरण ऐसा जान पड़ता था मानो तीन जगत्‌की लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥७८॥ जिस समवसरणके बनानेमें सब कामोंमें समर्थ इन्द्र स्वयं सूत्रधार था ऐसे उस समवसरणकी वास्तविक रचनाका कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं, फिर भी उसकी शोभाके समूहका कुछ थोड़ा-सा वर्णन करता हूँ क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥७९-८०॥ उस समवसरणके बाहरी भागमें रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ एक धूलीसाल नामका घेरा था जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान थी और जो अपने समीपके भूभागको अलंकृत कर रहा था ॥८१॥ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो अतिशय देदीप्यमान और वलय (चूड़ी) का आकार धारण करता हुआ इन्द्रधनुष ही धूलीसालके बहानेसे उस समवसरण भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥८२॥ कटिसूत्रकी शोभाको धारण करता हुआ और वलयके आकारका वह धूलीसालका घेरा जिनेन्द्रदेवके उस समवसरणको चारों ओरसे घेरे हुए था ॥८३॥ अनेक प्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बना हुआ वह धूलीसाल कहीं तो अंजनके समूहके समान काला-काला सुशोभित हो रहा था, कहीं सुवर्णके समान पीला-पीला लग रहा था और कहीं मूँगाकी कान्तिके समान लाल-लाल भासमान हो रहा था ॥८४॥ जिसकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे, तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी मणियोंकी धूलिसे कहीं-कहीं व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो कमलिनीके छोटे-छोटे नये पत्तोंसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥८५॥ वह कहीं-कहींपर चन्द्रकान्तमणिके चूर्णसे बना हुआ था और चाँदनीकी शोभा धारण कर रहा था फिर भी लोगोंके चित्तको अनुरक्त अर्थात् लाल-लाल कर रहा था यह भारी आश्चर्यकी बात

१. – मभादास्थान म०, ल० । २. शिल्पाचार्य । ३. कर्मशूरः । ४. अनुवक्ष्यते । ५. शोभासंग्रहः । ६. आकर्णनेन । ७. समवसरणस्थलस्य । ८ वलयः । ९. व्याजात् । १०. परिकरः । ११. परिवेष्टयति स्म । १२. धूलीशालः । १३. कीरपक्ष । १४. कमलकोमलपत्रैः । १५. सम्यग्विस्तृत । १६ तीव्रानुरागसहितम्, ध्वनावरुणिमाक्रान्तम् ।

स्फुरन्मरकताम्भोजरागालोकै[1] कलम्बितैः[2] । क्वचिदिन्द्रधनुर्लक्ष्मीं खाङ्गणे गणयन्निव[3] ॥८७॥
क्वचित्पद्मोजरागेन्द्रनीलालोकैः[4] परिष्कृतः[5] । [6]परागसात्कृतैर्भर्त्रा[7] कामक्रोधांशकैरिव ॥८८॥
क्वचित्क चित्तजन्मासौ क्वासौ जाल्मो[8] विलोक्यताम् । निर्दाह्योऽस्माभिरित्युच्चैर्ध्यानाग्निज्वालानिवोत्थितः॥
विभाव्यते स्मयः[9] प्रोच्चैर्ज्वलन्[10] रौक्मै रजश्चयैः । यश्चोच्चावचरत्नांशुजालैर्जटिलयन्नभः ॥९०॥
चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा [11]मकरास्योढरत्नमाला विरेजिरे ॥९१॥
ततोऽन्तरन्तरं[12] किंचिद् गत्वा हाटकनिर्मिताः । रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तम्भाः समुच्छ्रिताः ॥९२॥
चतुर्गोपुरसंबद्धसालत्रितयवेष्टिताम् । जगतीं जगतीनाथस्नपनाम्बुपवित्रिताम् ॥९३॥
हैमषोडशसोपानां स्वमध्यार्पितपीठिकाम् । [13]न्यस्तपुष्पोपहारार्चामर्च्यां[14] नृसुरदानवैः ॥९४॥
अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तम्भा नभोलिहः । ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तम्भयन्त्याशु दुर्दृशाम्[15] ॥९५॥
नभःस्पृशो महामाना[16] घण्टाभिः परिवारिताः । सचामरध्वजा रेजुः स्तम्भास्ते दिग्गजायिता ॥९६॥

थी (परिहार पक्षमें–अनुरागसे युक्त कर रहा था) ॥८६॥ कहींपर परस्परमें मिली हुई मरकतमणि और पद्मरागमणिकी किरणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमें इन्द्रधनुषकी शोभा ही बढा रहा हो ॥८७॥ कहींपर पद्मरागमणि और इन्द्रनीलमणिके प्रकाशसे व्याप्त हुआ वह धूलीसाल ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के द्वारा चूर्ण किये गये काम और क्रोधके अंशोंसे ही बना हो ॥८८॥ कहीं-कहींपर सुवर्णकी धूलिके समूहसे देदीप्यमान होता हुआ वह धूलीसाल ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो 'वह धूर्त कामदेव कहाँ छिपा है उसे देखो, वह हमारे-द्वारा जलाये जानेके योग्य है' ऐसा विचारकर ऊँची उठी हुई अग्निका समूह हो। इसके सिवाय वह छोटे-बड़े रत्नोंकी किरणावलीसे आकाशको भी व्याप्त कर रहा था ॥ ८९-९० ॥ इस धूलीसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णमय खम्भोंके अग्रभागपर अवलम्बित चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे, उन तोरणोंमें मत्स्यके आकार बनाये गये थे और उनपर रत्नोंकी मालाएँ लटक रही थीं ॥९१॥ उस धूलीसालके भीतर कुछ दूर जाकर गलियोंके बीचो-बीचमें सुवर्णके बने हुए और अतिशय ऊँचे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे। भावार्थ–चारों दिशाओंमें एक-एक मानस्तम्भ था ॥९२॥ जिस जगतीपर मानस्तम्भ थे वह जगती चार-चार गोपुरद्वारोंसे युक्त तीन कोटोंसे घिरी हुई थी, उसके बीचमें एक पीठिका थी। वह पीठिका तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी, उसपर चढनेके लिए सुवर्णकी सोलह सीढियाँ बनी हुई थीं, मनुष्य देव-दानव आदि सभी उसकी पूजा करते थे और उसपर सदा पूजाके अर्थ पुष्पोंका उपहार रखा रहता था, ऐसी उस पीठिकापर आकाशको स्पर्श करते हुए वे मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे जो दूरसे दिखाई देते ही मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट कर देते थे ॥ ९३-९५ ॥ वे मानस्तम्भ आकाशका स्पर्श कर रहे थे, महाप्रमाणके धारक थे, घण्टाओंसे घिरे हुए थे, और चमर तथा ध्वजाओंसे सहित थे इसलिए ठीक दिग्गजोंके समान

---

१ पद्मरागकान्तिभिः । २. मिश्रितैः । ३. 'गुणयन्निव' इति पाठान्तरम् । द्विगुणीकुर्वन्निव । वर्धयन्निवेत्यर्थः । ४ किरणैः । ५. अलंकृतः । ६. चूर्णीकृतैः । ७ सर्वज्ञेन । ८. नीचः । 'विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः । विहीनो पशवो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः ।' इत्यभिधानात् । अथवा 'असमीक्ष्यकारी ।' 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यभिधानात् । तथा हि–'चिरप्रव्रजितः स्थविरः श्रुतपारगः । तपस्वीति यतो नास्ति गणनाविषमायुधे' इत्युक्तत्वात् असमीक्ष्यकारीति वचनं व्यक्तं भवति । ९. गर्वः । १०. सौवर्णैः । ११. मकरमुखधृत, मकरालङ्कारकीर्तिमुखधृत इत्यर्थः । १२. अभ्यन्तरे । १३ रचित । १४ पूजाम् । १५ मिथ्यादृष्टीनाम् । १६ महाप्रमाणाः ।

दिक्चतुष्टयमाश्रित्य रेजे स्तम्भचतुष्टयम्। त[1]द्व्याजादिवो[2]द्भूतं जिनानन्तचतुष्टयम् ॥९७॥
हिरण्मयीर्जिनेन्द्रार्च्यास्तेषां [3]बुध्नप्रतिष्ठिताः। देवेन्द्राः पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥९८॥
नित्यातोद्य[4]महावाद्यैर्नित्यसंगीतमङ्गलैः। नृत्तैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तम्भाः स्म मान्यमी ॥९९॥
पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखलम्। पीठं तन्मूर्ध्नि सद्[5]बुध्ना मानस्तम्भाः प्रतिष्ठिताः ॥१००॥
हिरण्मयाङ्गाः प्रोत्तुङ्गा मूर्ध्नि च्छत्रत्रयाङ्किताः। सुरेन्द्रनिर्मितत्वाच्च प्राप्तेन्द्र[6]ध्वजरूढिकाः ॥१०१॥
मानस्तम्भान्महामान[7]योगात्त्रैलोक्यमाननात्[8]। अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ॥१०२॥
स्तम्भपर्यन्तभूभागमलंचक्रुः सहोत्पलाः। प्रसन्नसलिला वाप्यो भव्यानामिव शुद्धयः[9] ॥१०३॥
वाप्यस्ता रेजिरे फुल्लकमलोत्पलसंपदः। भक्त्या जैनीं श्रियं द्रष्टुं भुवेवोद्घाटिता[10] दृशः ॥१०४॥
निलीनालिकुले रेजुरुत्पलैस्ता[11] विकस्वरैः[12]। महोत्पलैश्च[13] संछन्नाः[14]साञ्जनैरिव लोचनैः ॥१०५॥
दिशं प्रति चतस्रस्ता रस्ताः[15] काञ्चीरिवाकुलाः। दधति स्म शकुन्तानां सन्ततीः स्वतटाश्रिताः ॥१०६॥

सुशोभित हो रहे थे क्योंकि दिग्गज भी आकाशका स्पर्श करनेवाले, महाप्रमाणके धारक, घण्टाओंसे युक्त तथा चमर और ध्वजाओंसे सहित होते हैं ॥९६॥ चार मानस्तम्भ चार दिशाओंमें सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो उन मानस्तम्भोंके छलसे भगवान्के अनन्तचतुष्टय ही प्रकट हुए हों ॥९७॥ उन मानस्तम्भोंके मूल भागमें जिनेन्द्र भगवान्की सुवर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान थीं जिनकी इन्द्र लोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करते हुए पूजा करते थे ॥९८॥ वे मानस्तम्भ निरन्तर बजते हुए बड़े-बड़े बाजोंसे निरन्तर होनेवाले मङ्गलमय गानों और निरन्तर प्रवृत्त होनेवाले नृत्योंसे सदा सुशोभित रहते थे ॥९९॥ ऊपर जगतीके बीचमें जिस पीठिकाका वर्णन किया जा चुका है उसके मध्यभागमें तीन कटनीदार एक पीठ था। उस पीठके अग्रभागपर ही वे मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे, उनका मूल भाग बहुत ही सुन्दर था, वे सुवर्णके बने हुए थे, बहुत ऊँचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे, इन्द्रके द्वारा बनाये जानेके कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ हो गया था। उनके देखनेसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका सब मान नष्ट हो जाता था, उनका परिमाण बहुत ऊँचा था और तीन लोकके जीव उनका सम्मान करते थे इसलिए विद्वान् लोग उन्हें सार्थक नामसे मानस्तम्भ कहते थे ॥१००-१०२॥ जो अनेक प्रकारके कमलोंसे सहित थीं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ था और जो भव्य जीवोंकी विशुद्धताके समान जान पड़ती थीं ऐसी बावड़ियाँ उन मानस्तम्भोंके समीपवर्ती भूभागको अलंकृत कर रही थीं ॥१०३॥ जो फूले हुए सफेद और नीले कमलरूपी सम्पदासे सहित थीं ऐसी वे बावड़ियाँ इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी लक्ष्मीको देखनेके लिए पृथ्वीने अपने नेत्र ही उघाड़े हों ॥१०४॥ जिनपर भ्रमरोंका समूह बैठा हुआ है ऐसे फूले हुए नीले और सफेद कमलोंसे ढँकी हुई वे बावड़ियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो अंजनसहित काले और सफेद नेत्रोंसे ही ढँक रही हों ॥१०५॥ वे बावड़ियाँ एक एक दिशामें चार-चार थीं और उनके किनारेपर पक्षियोंकी शब्द करती हुई पंक्तियाँ बैठी हुई थीं जिनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उन्होंने शब्द करती हुई

---

१. मानस्तम्भचतुष्टयम्। २. मानस्तम्भव्याजात्। ३. मूल। बुध्नं प्रतिष्ठिता ल०, म०। ४ ताड्यमान। ५. सन्मूलाः। ६. इन्द्रध्वजसंज्ञया प्राप्तप्रसिद्धय.। ७. महाप्रमाणयोगात्। ८. पूजात्। ९. विशुद्धिपरिणामाः। १०. उन्मीलिता.। ११. वाप्यः। १२. विकसनशीलैः। १३ सिताम्भोजे। १४ भक्ज्जलैः। १५. कलयाः।

बभुस्ता मणिसोपानाः स्फटिकोच्चतटीभुवः । भुवः[1] प्रसृतलावण्यरसाः[2] कुल्या इव श्रुताः[3] ॥१०७॥
द्विरेफगुञ्जनैर्मञ्जु गायन्त्यो वार्हतो गुणान् । नृत्यन्त्य इव जैनेशजयतोषान्महोर्मिभि. ॥१०८॥
कुर्वन्त्यो[4] वा जिनस्तोत्रं चक्रवाकविकूजितैः । सतोषं दर्शयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणात् ॥१०९॥
नन्दोत्तरादिनामान.[5] सरस्यस्तास्तटश्रितैः । पादप्रक्षा[6]लनाकुण्डै. बभु सप्रसवा[7] इव ॥११०॥
स्तोकान्तरं ततोऽतीत्य तां महीमम्बुजैश्चिता । परिवव्रेऽन्तरा[8] वीथीं वीथीं च जलखातिका ॥१११॥
स्वच्छाम्बुसम्भृता रेजे सा खाता[9] पावनी[10] नृणाम् । [11]सुरापगेव तद्रूपा[12] विभु सेवितुमाश्रिता ॥११२॥
[13]संक्रान्ताशेषतार[14]र्क्षप्रतिबिम्बाम्बरश्रियम् । बाधात्स्फटिकसन्द्रा[15] वशुचिभि. सलिलैर्भृशा ॥११३॥
सा स्म रत्नतटैर्धत्ते पक्षिमाला कलस्वनाम् । तरङ्गकरसंधाया रसनामिव [16]सद्रुचिम् ॥११४॥
यादोदोर्घट्टनोद्भूतैस्तरङ्गै. पवनाहतै. । प्रनृत्यन्तीव सा रेजे तोषाज्जिनजयोत्सवे ॥११५॥

ढोली करधनी ही धारण की हो ॥१०६॥ उन वावड़ियोंमें मणियोंकी सीढ़ियाँ लगी हुई थीं, उनके किनारेकी ऊँची उठी हुई जमीन स्फटिकमणिकी बनी हुई थी और उनमें पृथिवीसे निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इस प्रकार वे प्रसिद्ध वावडियाँ कृत्रिम नदीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१०७॥ वे वावड़ियाँ भ्रमरोंकी गुंजारसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरहसे अरहन्त भगवान्‌के गुण ही गा रही हों, उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की विजयसे सन्तुष्ट होकर नृत्य ही कर रही हों, चकवा-चकवियोंके शब्दोंसे ऐसी जान पडती थीं मानो जिनेन्द्रदेवका स्तवन ही कर रही हों, स्वच्छ जल धारण करनेसे ऐसी जान पडती थीं मानो सन्तोष ही प्रकट कर रही हों, और किनारेपर वने हुए पाँव धोनेके कुण्डोंसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अपने-अपने पुत्रोंसे सहित ही हों, इस प्रकार नन्दोत्तरा आदि नामोंको धारण करनेवाली वे वावडियाँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥१०८-११०॥ उन वावडियोंसे थोड़ी ही दूर आगे जानेपर प्रत्येक वीथी (गली) को छोडकर जलसे भरी हुई एक परिखा थी जो कि कमलोंसे व्याप्त थी और समवसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए थी ॥१११॥ स्वच्छ जलसे भरी हुई और मनुष्योंको पवित्र करनेवाली वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो परिखाका रूप धरकर आकाशगंगा ही भगवान्‌की सेवा करनेके लिए आयी हो ॥११२॥ वह परिखा स्फटिकमणिके निष्यन्दके समान स्वच्छ जलसे भरी हुई थी और उसमें समस्त तारा तथा नक्षत्रोंका प्रतिबिम्ब पड रहा था, इसलिए वह आकाशकी शोभा धारण कर रही थी ॥११३॥ वह परिखा अपने रत्नमयी किनारोंपर मधुर शब्द करती हुई पक्षियोंकी माला धारण कर रही थी जिससे ऐसी जान पडती थी मानो लहरोंरूपी हाथोंसे पकड़ने योग्य, उत्तम कान्तिवाली करधनी ही धारण कर रही हो ॥११४॥ जलचर जीवोंकी भुजाओंके संघट्टनसे उठी हुई और वायु-द्वारा ताड़ित हुई लहरोंसे वह परिखा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्‌के विजयो-

१. भूतलात् । २ कृत्रिमा सरित् । ३. प्रसिद्धा । स्रुताः द० । ४ इव । ५. नन्दोत्तरा नन्दा नन्दवती नन्दघोषा इति चतस्रो वाप्य पूर्वमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु प्रदक्षिणक्रमेण स्युः । विजया वैजयन्ती जयन्त्यपराजिता इति चतस्र दक्षिणमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु तथा स्यु । शोका सुप्रतिबुद्धा कुमुदा पुण्डरीका इति चतस्र पश्चिममानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु प्रदक्षिणक्रमेण स्यु. । हृदयानन्दा महानन्दा सुप्रबुद्धा प्रभकरीति चतस्र उत्तरमानस्तम्भस्य पूर्वादिदिक्षु स्यु । ६ एकैका वापी प्रति पादप्रक्षालनार्थकुण्डद्वयम् । ७ सपुत्रा । ८ वीथिवीथ्योर्मध्ये, मार्गद्वयमध्ये इत्यर्थ । 'हाधिक्समयानिकषा' इत्यादि सूत्रेण द्वितीया । ९ खातिका । १०. पवित्रीकुर्वती । ११ आकाशगगा । १२ खातिकारूपा । १३. मल्लम । १४. तारकानक्षत्र । १५. द्रवम् । १६. सद्रुचम् ल०, म० ।

[1]वीच्यन्तर्वलितोद्वृत्तशफरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽभ्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमान् ॥११६॥

नूनं सुराङ्गनानेत्रविलासैस्ताः पराजिताः । [2]शफर्यो वीचिमालासु ह्रियेवान्त[3]र्दधुर्मुहुः ॥११७॥

तदभ्य[4]न्तरभूभागं [5]पर्यष्कृत लतावनम् । वल्लीगुल्मद्रुमोद्भूतसर्वर्तुकु[6]सुमाचितम् ॥११८॥

पुष्पवल्ल्यो व्यराजन्त यत्र पुष्पस्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीलां सुनारीणां नाटयन्त्य इव स्फुटम् ॥११९॥

भ्रमरैर्मञ्जुगुञ्जद्भिरावृतान्ता[7] विरेजिरे । यत्रानिलपटच्छन्नविग्रहा इव वीरुधः ॥१२०॥

अशोकलतिका यत्र दधुरातान्रपल्लवान् । स्पर्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकरपल्लवैः ॥१२१॥

यत्र मन्दानिलोद्धूत[8]किञ्जल्का[9]स्तरमम्बरम् । धत्ते स्म पटवासानां[10] पिञ्जरीकृतदिङ्मुखाम् ॥१२२॥

प्रतिप्रसवमासीनमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रतम् । विडम्बयदिवाभाति[11] यत्सहस्राक्षविभ्रमम् ॥१२३॥

सुमनोमञ्जरीपुञ्जात् किञ्जल्कं सान्द्रमाहरन् । यत्र गन्धवहो मन्दं वाति स्मान्दोलयँल्लताः ॥१२४॥

यत्र क्रीडाद्रयो रम्याः सशय्याश्च लतालयाः । धृतये स्म सुरस्त्रीणां कल्पन्ते[12] शिशिरानिलाः ॥१२५॥

त्सवमें सन्तोषसे नृत्य ही कर रही हो ॥११५॥ लहरोंके भीतर घूमते-घूमते जब कभी ऊपर प्रकट होनेवाली मछलियोंके समूहसे भरी हुई वह परिखा ऐसी जान पड़ती थी मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासों (कटाक्षों) का अभ्यास ही कर रही हो ॥११६॥ जो मछलियाँ उस परिखाकी लहरोंके बीचमें बार-बार डूब रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे पराजित होकर ही लज्जावश लहरोंमें छिप रही थीं ॥११७॥ उस परिखाके भीतरी भू-भागको एक लतावन घेरे हुए था, वह लतावन लताओं, छोटी-छोटी झाड़ियों और वृक्षोंमें उत्पन्न हुए सब ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित हो रहा था ॥११८॥ उस लतावनमें पुष्परूपी हास्यसे उज्ज्वल अनेक पुष्पलताएँ सुशोभित हो रही थीं जो कि स्पष्टरूपसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवांगनाओंके मन्द हास्यका अनुकरण ही कर रही हों ॥११९॥ मनोहर गुंजार करते हुए भ्रमरोंसे जिनका अन्त भाग ढका हुआ है ऐसी उस वनकी लताएँ इस भाँति सुशोभित हो रही थीं मानो उन्होंने अपना शरीर नील वस्त्रसे ही ढक लिया हो ॥१२०॥ उस लतावनकी अशोक लताएँ लाल-लाल नये पत्ते धारण कर रही थीं। और उनसे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अप्सराओंके लाल-लाल हाथरूपी पल्लवोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रही हों ॥१२१॥ मन्द-मन्द वायुके द्वारा उड़ी हुई केशरसे व्याप्त हुआ और जिसने समस्त दिशाएँ पीली-पीली कर दी है ऐसा वहाँका आकाश सुगन्धित चूर्ण (अथवा चँदोवे) की शोभा धारण कर रहा था ॥ १२२ ॥ उस लतावनमें प्रत्येक फूलपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमर बैठे हुए थे जिनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो हजार नेत्रोंको धारण करनेवाले इन्द्रके विलासकी विडम्बना ही कर रहा हो ॥ १२३ ॥ फूलोंकी मंजरियोंके समूहसे सघन परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस लतावनमें धीरे-धीरे बह रहा था ॥ १२४ ॥ उस लतावनमें बने हुए मनोहर क्रीड़ा पर्वत, शय्याओंसे सुशोभित लतागृह और ठण्डी-ठण्डी हवा देवांगनाओंको

---

१ वीचिमध्ये वक्रेण वलितोद्वात । २. मत्स्याः । ३. तिरोभूताः । ४. खातिकाभ्यन्तर । ५. अलंकरोति स्म । ६. कुसुमाञ्चितम् द०, म० । ७. पर्यन्त । ८.–द्धूतैः किञ्जल्कैस्ततमम्बरम् द०, प०, अ०, स० । ९. केसरव्याप्तम् । १० शोभाम् । ११ लतावनम् । १२. समर्था भवन्ति ।

वल्ली[1] कुसुमिता यत्र स्पृशन्ति स्म मधुव्रताः। रजस्वला अपि प्रायः क्व शौचं मधु[2]पायिनाम् ॥१२६॥
लताभवनमध्यस्था [3]हिमानीस्पर्शशीतला। चन्द्रकान्तशिला यत्र [4]विश्रमायामरेशिनाम् ॥१२७॥
ततोऽध्वानमतीत्यान्तः कियन्तमपि तां महीम्[5]। प्रकारः प्रथमो वप्रे निषधाभो हिरण्मयः ॥१२८॥
रुरुचेऽसौ महान् सालः क्षितिं तां परितः स्थित[6]। यथाऽसौ चक्रवालाद्रिर्नृलोकाध्युषितां भुवम् ॥१२९॥
नूनं सालनिभेनैत्य[7] सुरचापपरःशतम्[8]। तामलङ्कुरुते स्म क्ष्मां पिञ्जरीकृतखाङ्गणम् ॥१३०॥
यस्योपरितले लग्ना सुव्यक्ता मौक्तिकावली। तारातति्रियं किंस्विदित्याशङ्कास्पदं नृणाम् ॥१३१॥
क्वचिद्विद्रुमसंघात. पद्मरागांशुरञ्जित। यस्मिन् सांध्यघनच्छायमाविष्कर्तुमलंतराम् ॥१३२॥
क्वचिन्नवघ[9]नच्छाय[10]क्वचिच्छाड्वलसच्छविः। क्वचिच्च सुरगोपाभो[11] विद्युदापिञ्जरः क्वचित् ॥१३३॥
क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितेन्द्रशरासन.। घनकालस्य वैदग्धी स सालोऽल व्यडम्बयत् ॥१३४॥

बहुत ही सन्तोष पहुँचाती थी ॥१२५॥ उस वनमें अनेक कुसुमित अर्थात् फूली हुई और रजस्वला अर्थात् परागसे भरी हुई लताओंका मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि मधुपायी अर्थात् मद्य पीनेवालोंके पवित्रता कहाँ हो सकती है। भावार्थ–जिस प्रकार मधु (मदिरा) पान करनेवाले पुरुषोंके पवित्र और अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं रहता, वे रजोधर्मसे युक्त ऋतुमती स्त्रीका भी स्पर्श करने लगते हैं, इसी प्रकार मधु (पुष्परस) का पान करनेवाले उन भ्रमरोंके भी पवित्र-अपवित्रका कुछ भी विचार नहीं था, क्योंकि वे ऊपर कही हुई कुसुमित और रजस्वला लतारूपी स्त्रियोंका स्पर्श कर रहे थे। यथार्थमें कुसुमित और रजस्वला लताएँ अपवित्र नहीं होतीं। यहाँ कविने श्लेष और समासोक्ति अलंकारकी प्रधानतासे ही ऐसा वर्णन किया है ॥१२६॥ उस वनके लतागृहोंके बीचमे पड़ी हुई वर्फके समान शीतल स्पर्शवाली चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ इन्द्रोंके विश्रामके लिए हुआ करती थीं ॥१२७॥ उस लतावनके भीतरकी ओर कुछ मार्ग उल्लंघन कर निषध पर्वतके आकारका सुवर्णमय पहला कोट था जो कि उस समवसरण भूमिको चारों ओरसे घेरे हुए था ॥१२८॥ उस समवसरणभूमिके चारों ओर स्थित रहनेवाला वह कोट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मनुष्यलोककी भूमिके चारों ओर स्थित हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥१२९॥ उस कोटको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करनेवाला सैकड़ों इन्द्रधनुषोंका समूह ही कोटके बहानेसे आकर उस समवसरणभूमिको अलंकृत कर रहा हो ॥१३०॥ उस कोटके ऊपरी भागपर स्पष्ट दिखाई देते हुए जो मोतियोंके समूह जड़े हुए थे वे क्या यह ताराओंका समूह है, इस प्रकार लोगोंकी शंकाके स्थान हो रहे थे ॥१३१॥ उस कोटमे कहीं-कहीं जो मूँगाओंके समूह लगे हुए थे वे पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे और भी अधिक लाल हो गये थे और सन्ध्याकालके बादलोंकी शोभा प्रकट करनेके लिए समर्थ हो रहे थे ॥१३२॥ वह कोट कहीं तो नवीन मेघके समान काला था, कहीं घासके समान हरा था, कहीं इन्द्रगोपके समान लाल-लाल था, कहीं बिजलीके समान पीला-पीला था और कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इन्द्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था। इस प्रकार वह वर्षाकालकी शोभाकी विडम्बना कर रहा था ॥१३३–१३४॥ वह कोट कहीं तो

---

१. परागवती। ध्वनौ ऋतुमती। २. मधुपानाम्। ध्वनौ मद्यपायिनाम्। ३. हिमसंहति.। ४. विश्रामाया अ०, म०, ल०। ५. वल्लीवनभूमिम्। ६ मानुषोत्तरपर्वत। ७. व्याजेन। ८. बहुशतम्। ९. प्रावृड्मेघ। १० हरित। ११. इन्द्रगोपकान्ति। इन्द्रगोप इति प्रावृट्कालभवत्रसविशेष।

क्वचिद् द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवृत्तिभि.[1] । निचित क्वचिदुद्देशे[2] शुकैर्हंसैश्च बर्हिणै. ॥१३५॥
विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिथुनै. क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरन्तश्च चित्रितः ॥१३६॥
हसन्निवोन्मिषद्रत्नमयूखनिवहैः क्वचित । क्वचित्सिंहरवान् कुर्वन्निवोत्सर्पत्प्रतिध्वनि ॥१३७॥
[3]दीप्राकारः स्फुरद्रत्नरुचिरा[4]रुद्धखाङ्गणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स सालो व्यरुचत्तराम् ॥१३८॥
महान्ति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये । [5]राजतानि खगेन्द्राद्रे[6] शृङ्गाणीव स्पृशन्ति खम् ॥१३९॥
ज्योत्स्नं[7]मन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूमानि[8] चकासिरे । प्रहासमिव तन्वन्ति निर्जित्य त्रिजगच्छ्रियम्॥१४०॥
पद्मरागमयैरुच्चै शिखरैर्व्योमलङ्घिभि. । दिश पल्लवयन्तीव प्रसरैः शोणरोचिषाम् ॥१४१॥
जगद्गुरोर्गुणानत्र[9] गायन्ति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वन्ति नृत्यन्ति केचि[10]दाविर्भवत्स्मिताः ॥१४२॥
शतमष्टोत्तरं तेषु मङ्गलद्रव्यसंपदः । भृङ्गारकलशाब्दाद्याः प्रत्येकं गोपुरेष्वभान् ॥१४३॥
रत्नाभरणभाभारपरिपिञ्जरिताम्बराः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसङ्ख्या बभासिरे ॥१४४॥
स्वभावभास्वरे भर्तुर्देहे स्वानवकाशताम् । मत्वेवाभरणान्यास्थुरुद्बद्धान्यत्रुतोरणम् ॥१४५॥

युगल रूपसे बने हुए हाथी-घोड़े और व्याघ्रोंके आकारसे व्याप्त हो रहा था, कहीं तोते, हंस और मयूरोंके जोड़ोंसे उद्भासित हो रहा था, कहीं अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुए मनुष्य और स्त्रियोंके जोड़ोंसे सुशोभित हो रहा था, कहीं भीतर और बाहरकी ओर बनी हुई कल्पलताओंसे चित्रित हो रहा था, कहींपर चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे हँसता हुआ-सा जान पड़ता था और कहींपर फैलती हुई प्रतिध्वनिसे सिंहनाद करता हुआ-सा जान पड़ता था ॥१३५-१३७॥ जिसका आकार बहुत ही देदीप्यमान है, जिसने अपने चमकीले रत्नोंकी किरणोंसे आकाशरूपी आँगनको घेर लिया है और जो निषध कुलाचलके साथ ईर्ष्या करनेवाला है ऐसा वह कोट बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥१३८॥ उस कोटके चारों दिशाओंमें चाँदीके बने हुए चार बड़े-बड़े गोपुरद्वार सुशोभित हो रहे थे जो कि विजयार्ध पर्वतके शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥ चाँदनीके समूहके समान निर्मल, ऊँचे और तीन-तीन खण्डवाले वे गोपुरद्वार ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस ही रहे हों ॥१४०॥ वे गोपुरद्वार पद्मरागमणिके बने हुए और आकाशको उल्लंघन करनेवाले शिखरोंसे सहित थे तथा अपनी फैलती हुई लाल-लाल किरणोंके समूहसे ऐसे जान पड़ते थे मानो दिशाओंको नये-नये कोमल पत्तोंसे युक्त ही कर रहे हों ॥१४१॥ इन गोपुर-दरवाजोंपर कितने ही गानेवाले देव जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवके गुण गा रहे थे, कितने ही उन्हें सुन रहे थे और कितने ही मन्द-मन्द मुसकाते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१४२॥ उन गोपुर-दरवाजोंमें-से प्रत्येक दरवाजेपर भृंगार-कलश और दर्पण आदि एक सौ आठ मङ्गलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥१४३॥ तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभूषणोंकी कान्तिके भारसे आकाशको अनेक वर्णका करनेवाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥१४४॥ उन प्रत्येक तोरणोंमें जो आभूषण बँधे हुए थे वे ऐसे जान पडते थे मानो स्वभावसे ही सुन्दर भगवान्के शरीरमें अपने

---

१. -वर्तिभि प०, द० । २. प्रदेशे । ३ दीप्ताकार ल० । ४. रुचिमंरुद्ध-अ० । ५ रजतमयानि । ६. विजयार्द्धगिरे. । ७ ज्योत्स्नाशब्दात् परान्मन्यतेर्धातो 'कर्तुश्च' इति खप्रत्यय., पुन खित्यरुद्विषतश्चान-व्ययस्य' इति यम्, ह्रस्व. । अनव्ययस्याजन्तस्य खिदन्त उत्तरपदे ह्रस्वादेशो भवति । 'दिवादेः श्यः' इति श्यः । ८. त्रिभूमिकानि । त्रितलानि इत्यर्थ. । ९. गोपुरेषु । १०. केचित् स्माविभवत्स्मिताः द०, इ०, प०, ल०, म० ।

निधयो नवशङ्खाद्यास्तद्द्वारोपान्तमेविनः[1] । शशंसुः प्राभवं[2] जैनं भुवनत्रितयातिगम् ॥१४६॥
त्रिजगत्प्रभुणा नूनं विमोहेनावधीरिताः[3] । बहिर्द्वारं स्थिता दूरान्निधयस्तं सिषेविरे ॥१४७॥
[4]तेषामन्तर्महावीथ्या उभयोर्भागयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं दिक्षु प्रत्येकं चतसृष्वपि ॥१४८॥
तिसृभिर्भूमिभिर्नाट्यमण्डपौ तौ विरेजतुः । [5]त्रिमुक्तेस्त्र्यात्मकं मार्गं [6]नृणां वक्तुमिवोद्यतौ ॥१४९॥
हिरण्मयमहास्तम्भौ शुम्भत्स्फटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखराल्ढनभोभागौ विरेजतुः ॥१५०॥
नाट्यमण्डपरङ्गेषु नृत्यन्ति स्मामरस्त्रियः । शतह्रदा[7] इवामग्नमूर्तयः स्वप्रभाह्रदे ॥१५१॥
गायन्ति जिनराजस्य विजयं ताः स्म सहिमताः[8] । [9]तमेवाभिनयन्त्योऽमूः चिक्षिपुः पौष्पमञ्जलिम् ॥१५२॥
समं वीणानिनादेन मृदङ्गध्वनिरुच्चरन् । व्यतनोत् प्रावृडारम्भशङ्कां तत्र शिखण्डिनाम् ॥१५३॥
शरदभ्रनिभे तस्मिन् द्वितये नाट्यशालयोः । विद्युद्विलासमातेनुर्नृत्यन्त्यः सुरयोषितः ॥१५४॥
किन्नराणां कलक्वाणैः सोद्गानैरुपवीणितैः[10] । तत्रासक्तिं परां भेजुः प्रेक्षिणां चित्तवृत्तयः ॥१५५॥
ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः । धूपधूमैर्व्यरुन्धातां प्रसरद्भिर्नभोङ्गणम् ॥१५६॥

लिए अवकाश न देखकर उन तोरणोंमें ही आकर बँध गये हों ॥१४५॥ उन गोपुरद्वारोंके समीप प्रदेशोंमें जो शंख आदि नौ निधियाँ रखी हुई थीं वे जिनेन्द्र भगवान्‌के तीनों लोकोंको उल्लंघन करनेवाले भारी प्रभावको सूचित कर रही थीं ॥१४६॥ अथवा दरवाजेके बाहर रखी हुई वे निधियाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो मोहरहित, तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् जिनेन्द्रदेवने उनका तिरस्कार कर दिया था इसलिए दरवाजेके बाहर स्थित होकर दूरसे ही उनकी सेवा कर रही हों ॥१४७॥ उन गोपुरदरवाजोंके भीतर जो बड़ा भारी रास्ता था उसके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं, इस प्रकार चारों दिशाओंके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें दो-दो नाट्यशालाएँ थीं ॥१४८॥ वे दोनों ही नाट्यशालाएँ तीन-तीन खण्डकी थीं और उनसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो लोगोंके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन भेदवाला मोक्षका मार्ग ही बतलानेके लिए तैयार खड़ी हों ॥१४९॥ जिनके बड़े-बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए हैं, जिनकी दीवालें देदीप्यमान स्फटिक मणिकी बनी हुई हैं और जिन्होंने अपने रत्नोंके बने हुए शिखरोंसे आकाशके प्रदेशको व्याप्त कर लिया है ऐसी वे दोनों नाट्यशालाएँ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥१५०॥ उन नाट्यशालाओंकी रङ्गभूमिमें ऐसी अनेक देवाङ्गनाएँ नृत्य कर रही थीं, जिनके शरीर अपनी कान्तिरूपी सरोवरमें डूबे हुए थे और जिससे वे बिजलीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१५१॥ उन नाट्यशालाओंमें इकट्ठी हुई वे देवांगनाएँ जिनेन्द्रदेवकी विजयके गीत गा रही थीं और उसी विजयका अभिनय करती हुई पुष्पाञ्जलि छोड़ रही थीं ॥१५२॥ उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ-साथ जो मृदंगकी आवाज उठ रही थी वह मयूरोंको वर्षाऋतुके प्रारम्भ होनेकी शंका उत्पन्न कर रही थी ॥१५३॥ वे दोनों ही नाट्यशालाएँ शरद्ऋतुके बादलोंके समान सफेद थीं इसलिए उनमें नृत्य करती हुई वे देवाङ्गनाएँ ठीक बिजलीकी शोभा फैला रही थीं ॥१५४॥ उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव उत्तम संगीतके साथ-साथ मधुर शब्दोंवाली वीणा बजा रहे थे जिससे देखनेवालोंकी चित्तवृत्तियाँ उनमें अतिशय आसक्तिको प्राप्त हो रही थीं ॥ १५५ ॥ उन नाट्यशालाओंसे कुछ आगे चलकर गलियोंके दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे जो कि फैलते हुए धूपके धुएँसे आकाशरूप आँगनको व्याप्त कर रहे

---

१ कालमहाकालपाण्डुमाणवशङ्खनैसर्पपद्मपिङ्गलनानारत्नाश्चेति । २. प्रभुत्वम् । ३ अवज्ञीकृताः । ४. गोपुराणाम् । ५ त्रैरूप्यम्, रत्नत्रयमिति यावत् । ६. नृणा द०, ल०, म०, प०, अ० । ७ विद्युतः । ८. सगताः । ९. विजयमेव । १०. वीणया उपगीतैः ।

तद्धूपधूमसंरुद्धं नभो वीक्ष्य नभोजुषः । प्रावृट्पयोधराशङ्कामकालेऽपि व्यतानिषुः ॥१५७॥

दिशः सुरभयन्धूपो मन्दानिलवशोत्थितः । स रेजे पृथिवीदेव्या मुखामोद इवोच्छ्वसन्[1] ॥१५८॥

तदामोदं समाघ्राय श्रेणयो मधुलेहिनाम् । दिशां मुखेषु विततां वितेनुरलकश्रियम् ॥१५९॥

इतो धूपघटामोदमितश्च सुरयोषिताम् । सुगन्धिमुखनिश्वासमलिनो [2]जघ्रुराकुलाः ॥१६०॥

मन्द्रध्वानैर्मृदङ्गानां स्वनयिष्णु[3] विडम्बिभिः । पतन्त्या पुष्पवृष्ट्या च सदात्रासीद् घनागमः ॥१६१॥

तत्र वीथ्यन्तरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नन्दनाद्या वनश्रेण्यो विभुं द्रष्टुमिवागताः ॥१६२॥

अशोकसप्तपर्णाह्वचम्पकाम्रमहीरुहाम् । वनानि तान्यधुस्तोषादिवोच्चैः कुसुमस्मितम् ॥१६३॥

वनानि तरुभिश्चित्रैः फलपुष्पोपशोभिभिः । जिनस्यार्घ्यमिवोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥१६४॥

वनेषु तरवस्तेषु रेजिरे पवनाहतैः । शाखाकरैर्मुहुर्नृत्यं तन्वाना इव संमदात् ॥१६५॥

[4]सच्छायाः [5]सफलास्तुङ्गा[6] जननिर्वृतिहेतवः । सुराजान इवाभूवंस्ते द्रुमाः [7]सुखशीतलाः ॥१६६॥

पुष्पामोदसमाहूतैः मिलितैरलिनां कुलैः । गायन्त इव गुञ्जद्भिर्जिनं रेजुर्वनद्रुमाः ॥१६७॥

थे ॥१५६॥ उन धूपघटोंके धुएँसे भरे हुए आकाशको देखकर आकाशमें चलनेवाले देव अथवा विद्याधर असमयमें ही वर्षाऋतुके मेघोंकी आशंका करने लगे थे ॥१५७॥ मन्द-मन्द वायुके वशसे उड़ा हुआ और दिशाओंको सुगन्धित करता हुआ वह धूप ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उच्छ्वास लेनेसे प्रकट हुई पृथिवी देवीके मुखकी सुगन्धि ही हो ॥१५८॥ उस धूपकी सुगन्धिको सूँघकर सब ओर फैली हुई भ्रमरोंकी पङ्क्तियाँ दिशारूपी स्त्रियोंके मुखपर फैले हुए केशोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥१५९॥ एक ओर उन धूपघटोंसे सुगन्धि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखसे सुगन्धित निश्वास निकल रहा था सो व्याकुल हुए भ्रमर दोनोंको ही सूँघ रहे थे ॥१६०॥ वहाँपर मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाले मृदंगोंके शब्दोंसे तथा पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे सदा वर्षाकाल विद्यमान रहता था ॥१६१॥ धूपघटोंसे कुछ आगे चलकर मुख्य गलियोंके बगलमें चार-चार वनकी वीथियाँ थीं जोकि ऐसी जान पड़ती थीं मानो नन्दन आदि वनोंकी श्रेणियाँ ही भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए आयी हों ॥१६२॥ वे चारों वन अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आमके वृक्षोंके थे, उन सबपर फूल खिले हुए थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सन्तोषसे हँस ही रहे हों ॥१६३॥ फल और फूलोंसे सुशोभित अनेक प्रकारके वृक्षोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जगद्गुरु जिनेन्द्रदेवके लिए अर्घ लेकर ही खड़े हों ॥ १६४ ॥ उन वनोंमें जो वृक्ष थे वे पवनसे हिलती हुई शाखाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हर्षसे हाथ हिला-हिलाकर बार-बार नृत्य ही कर रहे हों ॥ १६५ ॥ अथवा वे वृक्ष, उत्तम छायासे सहित थे, अनेक फलोंसे युक्त थे, तुंग अर्थात् ऊँचे थे, मनुष्योंके सन्तोषके कारण थे, सुख देनेवाले और शीतल थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओंके समान जान पड़ते थे क्योंकि उत्तम राजा भी उत्तम छाया अर्थात् आश्रयसे सहित होते हैं, अनेक फलोंसे युक्त होते हैं, तुंग अर्थात् उदारहृदय होते हैं, मनुष्योंके सुखके कारण होते हैं और सुख देनेवाले तथा शान्त होते हैं ॥१६६॥ फूलोंकी सुगन्धिसे बुलाये हुए और इसीलिए आकर इकट्ठे हुए तथा मधुर गुंजार करते हुए भ्रमरोंके समूहसे वे वृक्ष ऐसे सुशो-

---

१. निर्गच्छन् । २. आघ्रायन्ति स्म । ३. मेघ । ४. सुराजपक्षे कान्तिसहिता । ५. पुष्पफलसहिताः । ६. उन्नताः, इतरजनेभ्योऽधिका इत्यर्थः । ७. द्रुमपक्षे सुखः शीतल शीतगुणो येषां ते सुखशीतला. । सुराजपक्षे सुखेन शीतला शीतीभूता इत्यर्थ ।

क्वचिद्विरलमुन्मुक्तकुसुमास्ते महीरुहाः । पुष्पोपहारमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥१६८॥
क्वचिद्विरुवतां[1] ध्वानैरलिनां मदमञ्जुभिः[2] । मदनं तर्जयन्तीव वनान्यासन् समन्ततः ॥१६९॥
पुंस्कोकिलकलक्वाणैराह्वयन्तीव सेवितुम् । जिनेन्द्रममराधीशान् वनानि विबभुस्तराम् ॥१७०॥
पुष्परेणुभिराकीर्णा वनस्याधस्तले मही । सुवर्णरजसास्तीर्णं[3] तलेवासीन्मनोहरा ॥१७१॥
इत्यमूनि वनान्यासन्नतिरम्याणि पादपैः । यत्र पुष्पमयी वृष्टिर्नर्तुपर्यायमैक्षत ॥१७२॥
न रात्रिर्न दिवा तत्र[5] तरुभिर्भास्वरैर्भृशम् । तरुभ्योऽथ्यादिवाबिभ्यत्संजहार[6] करान् रविः ॥१७३॥
अन्त[7]र्वणं क्वचिद्वाप्यस्त्रिकोणाश्चतुरस्रिकाः । [8]स्नातोत्तीर्णामरस्त्रीणां स्तनकुङ्कुमपिञ्जराः ॥१७४॥
पुष्करिण्य[9] क्वचिच्चासन् क्वचिच्च कृतकाद्रयः । क्वचिद्रम्याणि हर्म्याणि क्वचिदाक्रीडमण्डपाः ॥१७५॥
क्वचित्प्रेक्षागृहाण्यासन्[10] चित्रशालाः क्वचित्क्वचित् । एकशाला द्विशालाद्या महाप्रासादपङ्क्तयः ॥१७६॥
क्वचिच्च शाद्वला[11] भूमिरिन्द्रगोपैस्तता क्वचित् । सरांस्यतिमनोज्ञानि सरितश्च ससैकताः ॥१७७॥

भित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवका गुणगान ही कर रहे हों ॥१६७॥ कहीं-कहीं विरलरूपसे वे वृक्ष ऊपरसे फूल छोड़ रहे थे जिनसे ऐसे मालूम होते थे मानो जगद्गुरु भगवान्‌के लिए भक्तिपूर्वक फूलोंकी भेंट ही कर रहे हों ॥१६८॥ कहीं-कहींपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरोंके मद-मनोहर शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो चारों ओरसे कामदेवकी तर्जना ही कर रहे हों ॥१६९॥ उन वनोंमें कोयलोंके जो मधुर शब्द हो रहे थे उनसे वे वन ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुला रहे हों ॥१७०॥ उन वनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथ्वी फूलोंके परागसे ढकी हुई थी जिससे वह ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानो उसका तलभाग सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रहा हो ॥१७१॥ इस प्रकार वे वन वृक्षोंसे बहुत ही रमणीय जान पड़ते थे, वहाँपर होनेवाली फूलोंकी वर्षा ऋतुओंके परिवर्तनको कभी नहीं देखती थी अर्थात् वहाँ सदा ही सब ऋतुओंके फूल फूले रहते थे ॥१७२॥ उन वनोंके वृक्ष इतने अधिक प्रकाशमान थे कि उनसे वहाँ न तो रातका ही व्यवहार होता था और न दिनका ही। वहाँ सूर्यकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो पाता था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर ही सूर्यने अपने कर अर्थात् किरणों (पक्षमें हाथों) का संकोच कर लिया हो ॥१७३॥ उन वनोंके भीतर कहींपर तिखूँटी और कहींपर चौखूँटी बावड़ियाँ थीं तथा वे बावड़ियाँ स्नान कर बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंपर लगी हुई केसरके घुल जानेसे पीली-पीली हो रही थीं ॥१७४॥ उन वनोंमें कहीं कमलोंसे युक्त छोटे-छोटे तालाब थे, कहीं कृत्रिम पर्वत बने हुए थे और कहीं मनोहर महल बने हुए थे और कहीं पर क्रीड़ा-मण्डप बने हुए थे ॥१७५॥ कहीं सुन्दर वस्तुओंके देखनेके घर (अजायब-घर) बने हुए थे, कहीं चित्रशालाएँ बनी हुई थीं, और कहीं एक खण्डकी तथा कहीं दो तीन आदि खण्डोंकी बड़े-बड़े महलोंकी पंक्तियाँ बनी हुई थीं ॥१७६॥ कहीं हरी-हरी घाससे युक्त भूमि थी, कहीं इन्द्रगोप नामके कीड़ोंसे व्याप्त पृथ्वी थी, कहीं अतिशय मनोज्ञ तालाब थे और कहीं उत्तम बालूके किनारोंसे सुशोभित नदियाँ बह रही थीं ॥ १७७॥

---

१. ध्वनताम् । २. मनोहरैः । ३. आच्छादिता । ४. ऋतुना परिक्रमवृत्तिम् । ५. वने । ६. आ समन्तात् भस्यन् । भयपूर्विका निवृत्ति कुर्वन् वा । ७ वनमध्ये । ८. स्नात्वा निर्गत । स्नानोत्तीर्णा ल०, द०, इ० । ९. दीर्घिका । १० चित्रोपलक्षित–। ११. हरिता ।

हारि मेदु[1]रमुन्निद्रकुसुमं [2]सश्रि कामदम्। सुकलत्रमिवासीत्तत् सेव्यं वनचतुष्टयम् ॥१७८॥
अपास्तातपसंबन्धं [3]विकसत्पल्लवाञ्चितम्। [4]पयोधरस्पृगाभासि तत्स्त्रीणामुत्तरीयवत् ॥१७९॥
बभासे वनमाशोकं शोकापनुदमङ्गिनाम्। रागं वमदिवात्मीयमारक्तैः पुष्पपल्लवैः ॥१८०॥
पर्णानि सप्त बिभ्राणं वनं साप्त[5]च्छदं बभौ। सप्तस्था[6]नानि [7]वामतुं दर्शयत्प्रति[8]पर्व यत् ॥१८१॥
चाम्पकं वनमत्राभात् सुमनोभरभूषणम्। वनं दीपाङ्गवृक्षाणां विभुं भक्तु[9]मिवागताम् ॥१८२॥
[10]कम्रमाम्रवनं रेजे कलकण्ठीकलस्वनैः। स्तुवानमिव भक्त्यैनमीशानं[11] पुण्यशासनम्[12] ॥१८३॥
अशोकवनमध्येऽभूदशोकानोकहो महान्। हैमं[13] त्रिमेखलं पीठं समुत्तुङ्गमधिष्ठितः ॥१८४॥
चतुर्गोपुरसंबद्धत्रिसालपरिवेष्टितः। छत्रचामरभृङ्गारकलशाद्यैरुपस्कृतः ॥१८५॥
जम्बूद्वीपस्थलीमध्ये भाति जम्बूद्रुमो यथा। तथा वनस्थलीमध्ये स बभौ चैत्यपादपः ॥१८६॥

वे चारों ही वन उत्तम स्त्रियोंके समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि वे वन भी उत्तम स्त्रियोंके समान ही मनोहर थे, मेदुर अर्थात् अतिशय चिकने थे, उन्निद्रकुसुम अर्थात् फूले हुए फूलोंसे सहित (पक्षमें ऋतुधर्मसे सहित) थे, सश्री अर्थात् शोभासे सहित थे, और कामद अर्थात् इच्छित पदार्थोंके (पक्षमें कामके) देनेवाले थे ॥ १७८ ॥ अथवा वे वन स्त्रियोंके उत्तरीय (ओढ़नेकी चूनरी) वस्त्रके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र आतपकी बाधाको नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन वनोंने भी आतपकी बाधाको नष्ट कर दिया था, स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार उत्तम पल्लव अर्थात् अंचलसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वे वन भी पल्लव अर्थात् नवीन कोमल पत्तोंसे सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियोंका उत्तरीय वस्त्र जिस प्रकार पयोधर अर्थात् स्तनोंका स्पर्श करता है उसी प्रकार वे वन भी ऊँचे होनेके कारण पयोधर अर्थात् मेघोंका स्पर्श कर रहे थे ॥१७९॥ उन चारों वनोंमें-से पहला अशोक वन जो कि प्राणियोंके शोकको नष्ट करनेवाला था, लाल रंगके फूल और नवीन पत्तोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने अनुराग (प्रेम) का ही वमन कर रहा हो ॥१८०॥ प्रत्येक गाँठ पर सात-सात पत्तोंको धारण करनेवाले सप्तच्छद वृक्षोंका दूसरा वन भी सुशोभित हो रहा था जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वृक्षोंके प्रत्येक पर्वपर भगवान्‌के सज्जातित्व सद्‌गृहस्थत्व पारिव्राज्य आदि सात परम स्थानोंको ही दिखा रहा हो ॥१८१॥ फूलोंके भारसे सुशोभित तीसरा चम्पक वृक्षोंका वन भी सुशोभित हो रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌की सेवा करनेके लिए दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंका वन ही आया हो ॥१८२॥ तथा कोयलोंके मधुर शब्दोंसे मनोहर चौथा आमके वृक्षोंका वन भी ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पवित्र उपदेश देनेवाले भगवान्‌की भक्तिसे स्तुति ही कर रहा हो ॥१८३॥ अशोक वनके मध्य भागमें एक बड़ा भारी अशोकका वृक्ष था जो कि सुवर्णकी बनी हुई तीन कटनीदार ऊँची पीठिकापर स्थित था ॥१८४॥ वह वृक्ष, जिनमें चार-चार गोपुरद्वार बने हुए हैं ऐसे तीन कोटोंसे घिरा हुआ था तथा उसके समीपमें ही छत्र, चमर, भृङ्गार और कलश आदि मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥ १८५ ॥ जिस प्रकार जम्बूद्वीपकी मध्यभूमिमें जम्बू वृक्ष सुशोभित होता है उसी प्रकार उस अशोकवनकी मध्यभूमिमें वह अशोक नामक चैत्यवृक्ष सुशो-

१. स्निग्धम्। २. शोभासहितम्। ३. पक्षे वस्त्रपर्यन्ताञ्चितम्। ४. मेघ, पक्षे कुच। ५. सप्तच्छदसंबन्धि। ६. 'सज्जाति सद्‌गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता। साम्राज्यं परमार्हन्त्य निर्वाणं चेति पञ्चधा॥' इति सप्त परमस्थानानि। ७ इव। ८. प्रतिग्रन्थि। ९. भजनाय। १०. मनोहरम्। ११. प्रभुम्। १२. पवित्राज्ञम्। १३. सौवर्णम्।

शाखाग्रव्याप्तविश्वाशः[1] स रेजेऽशोकपादपः। अशोकमयमेवेदं जगत्कर्तुमिवोद्यतः ॥१८७॥
सुरभीकृतविश्वाशैः कुसुमैः स्थगिताम्बरः। सिद्धाध्वानमिवारुन्धन्[2] रेजेऽसौ चैत्यपादपः ॥१८८॥
गारुडोपलनिर्माणैः[3] पत्रैश्चित्रैश्चितोऽभितः। पद्मरागमयैः पुष्पस्तबकैः परितो वृतः ॥१८९॥
हिरण्मयमहोदग्रशाखो वज्रेद्धबुध्नकः[4]। कलालिकुलझङ्कारैस्तर्जयन्निव मन्मथम् ॥१९०॥
सुरासुरनरेन्द्रान्तरक्षेमालानविग्रहः[5]। स्वप्रभापरिवेषेण द्योतिताखिलदिङ्मुखः ॥१९१॥
रणदालम्बिघण्टाभिर्बधिरीकृतविश्वभूः[6][7]। भूर्भुवःस्वर्जयं[8] भर्तुः प्रतोषादिव घोषयन् ॥१९२॥
ध्वजांशुकपरामृष्टनिर्मेघघनपद्धतिः[9][10]। जगज्जनाङ्गसंलग्नमार्गः[11] परिमृजन्निव ॥१९३॥
मूर्ध्ना छत्रत्रयं बिभ्रन्मुक्तालम्बनभूषितम्। विभोस्त्रिभुवनैश्वर्यं विना वाचेव दर्शयन् ॥१९४॥
भेजिरे[12] बुध्नभागेऽस्य प्रतिमा दिक्चतुष्टये। जिनेश्वराणामिन्द्राद्यैः समवाप्ताभिषेचनाः ॥१९५॥
गन्धस्रग्धूपदीपार्घ्यैः फलैरपि सहाक्षतैः। तत्र नित्यार्चनं देवा जिनार्चानां[13] वितेनिरे ॥१९६॥

भित हो रहा था ॥१८६॥ जिसने अपनी शाखाओंके अग्रभागसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रखा है ऐसा वह अशोक वृक्ष ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥१८७॥ समस्त दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले फूलोंसे जिसने आकाशको व्याप्त कर लिया है ऐसा वह चैत्यवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सिद्ध-विद्याधरोंके मार्गको ही रोक रहा हो ॥१८८॥ वह वृक्ष नीलमणियोंके बने हुए अनेक प्रकारके पत्तोंसे व्याप्त हो रहा था और पद्मराग मणियोंके बने हुए फूलोंके गुच्छोंसे घिरा हुआ था ॥१८९॥ सुवर्णकी बनी हुई उसकी बहुत ऊँची-ऊँची शाखाएँ थीं, उसका देदीप्यमान भाग वज्रका बना हुआ था तथा उसपर बैठे हुए भ्रमरोंके समूह जो मनोहर झंकार कर रहे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवको तर्जना ही कर रहा हो ॥१९०॥ वह चैत्यवृक्ष सुर, असुर और नरेन्द्र आदिके मनरूपी हाथियोंके बाँधनेके लिए खंभेके समान था तथा उसने अपने प्रभामण्डलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर रखा था ॥१९१॥ उसपर जो शब्द करते हुए घंटे लटक रहे थे उनसे उसने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी थीं और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था कि भगवान्‌ने अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोकमें जो विजय प्राप्त की है सन्तोषसे मानो वह उसकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१९२॥ वह वृक्ष ऊपर लगी हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे पोंछ-पोंछकर आकाशको मेघरहित कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारी जीवोंकी देहमें लगे हुए पापोंको ही पोंछ रहा हो ॥१९३॥ वह वृक्ष मोतियोंकी झालरसे सुशोभित तीन छत्रोंको अपने सिरपर धारण कर रहा था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको बिना वचनोंके ही दिखला रहा हो ॥१९४॥ उस चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें जिनेन्द्रदेवकी चार प्रतिमाएँ थीं जिनका इन्द्र स्वयं अभिषेक करते थे ॥१९५॥ देव लोग वहाँपर विराजमान उन जिनप्रतिमाओंकी गन्ध, पुष्पोंकी माला,

---

१. निखिलदिक्। २ देवपथं मेघपथमित्यर्थः। "पिशाचो गुह्यको सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।" ३. मरकतरत्न। ४ दीप्तमूल। ५. मनइन्द्रियगजबन्धनस्तम्भमूर्तिः। ६ स्वनत्। ७ निखिलभूमिः। ८ भूलोकनागलोकस्वर्गलोकजयम्। ९. संमार्जित। १०. मेघमार्ग। ११. सम्मार्जयन्। १२ मूलप्रदेशे। १३ जिनप्रतिमानाम्।

क्षीरोदोदकधौताङ्गीरमलास्ता हिरण्मयीः । प्रणिपत्यार्हतामर्चा [1]प्रानर्चुर्नृसुरासुराः ॥१९७॥
स्तुवन्ति स्तुतिभिः केचिदर्थ्याभिः[2] प्रणमन्ति च । स्मृत्वावधार्य[3] गायन्ति केचित्स्म सुरसत्तमाः ॥१९८॥
यथाशोकस्तथान्येऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूरुहाः । वने स्वे स्वे सजातीया जिनबिम्बेद्धबुध्नकाः ॥१९९॥
अशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकश्चूत एव च । चत्वारोऽमी वनेष्वासन् प्रोत्तुङ्गाश्चैत्यपादपाः ॥२००॥
चैत्याधिष्ठितबुध्नत्वादूढत[4]न्नामरूढयः । शाखिनोऽमी विभान्ति स्म सुरेन्द्रैः प्राप्तपूजनाः ॥२०१॥
[5]फलैरलंकृता दीप्राः [6]स्वपादाक्रान्तभूतलाः । पार्थिवाः[7] सत्यमेवैते पार्थिवाः[8] पत्रसंभृताः[9] ॥२०२॥
प्रव्यञ्जितानुरागाः स्वैः पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसादं दर्शयन्तोऽन्तर्विभुं भेजुरिमं द्रुमाः ॥२०३॥
तरूणामेव [10]तावच्चेदीदृशो विभवोदय । किमस्ति वाच्यमीशस्य विभवेऽनीदृशात्मनः ॥२०४॥

धूप, दीप, फल और अक्षत आदिसे निरन्तर पूजा किया करते थे ॥१९६॥ क्षीरसागरके जलसे जिनके अंगोंका प्रक्षालन हुआ है और जो अतिशय निर्मल हैं ऐसी सुवर्णमयी अरहंतकी उन प्रतिमाओंको नमस्कार कर मनुष्य, सुर और असुर सभी उनकी पूजा करते थे ॥१९७॥ कितने ही उत्तम देव अर्थसे भरी हुई स्तुतियोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही उनके गुणोंका स्मरण कर तथा चिन्तवन कर गान करते थे ॥१९८॥ जिस प्रकार अशोकवनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष है उसी प्रकार अन्य तीन वनोंमें भी अपनी-अपनी जातिका एक-एक चैत्यवृक्ष था और उन सभीके मूलभाग जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाओंसे देदीप्यमान थे ॥१९९॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए चारों वनोंमें क्रमसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नामके चार बहुत ही ऊँचे चैत्यवृक्ष थे ॥२००॥ मूलभागमें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा विराजमान होनेसे जो 'चैत्यवृक्ष' इस सार्थक नामको धारण कर रहे हैं और इन्द्र जिनकी पूजा किया करते हैं ऐसे वे चैत्यवृक्ष बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२०१॥ पार्थिव अर्थात् पृथिवीसे उत्पन्न हुए वे वृक्ष सचमुच ही पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी—राजाके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार राजा अनेक फलोंसे अलंकृत होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी अनेक फलोंसे अलंकृत थे, राजा जिस प्रकार तेजस्वी होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी (देदीप्यमान) थे, राजा जिस प्रकार अपने पाद अर्थात् पैरोंसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त किया करते हैं (समस्त पृथिवीमें अपना यातायात रखते हैं) उसी प्रकार वे वृक्ष भी अपने पाद अर्थात् जड़ भागसे समस्त पृथिवीको आक्रान्त कर रहे थे (समस्त पृथिवीमें उनकी जड़ें फैली हुई थीं) और राजा जिस प्रकार पत्र अर्थात् सवारियोंसे भरपूर रहते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥२०२॥ वे वृक्ष अपने पल्लव अर्थात् लाल-लाल नयी कोंपलोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) ही प्रकट कर रहे हों और फूलोंके समूहसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हृदयकी प्रसन्नता ही दिखला रहे हों—इस प्रकार वे वृक्ष भगवान्‌की सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ जब कि उन वृक्षोंका ही ऐसा बड़ा भारी माहात्म्य था तब उपमारहित भगवान् वृषभदेवके केवलज्ञानरूपी विभवके विषयमें कहना ही क्या है—वह तो सर्वथा

---

१. अर्चयन्ति स्म । २. अर्थादनपेताभि । ३. -वधाय ट० । ४ चैत्यवृक्षनामप्रसिद्धय । ५. पक्षे इष्टफलैः । ६. स्वपादैराक्रान्त भूतलं यैस्ते, पक्षे स्वपादेष्वाक्रान्त भूतल येषा ते । ७. पृथिव्या ईशा. पार्थिवाः पृथ्वीमया वा । ८. पृथिव्या भवा पार्थिवा , वृक्षा इत्यर्थ. । ९. पक्षे वाहनसभृता । 'पत्र वाहनपर्णयोः' इत्यभिधानात् । १०. तावांश्चे द०, ल०, अ०, स० ।

ततो वनानां पर्यन्ते बभूव वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गैरारुद्धगगनाङ्गणा ॥२०५॥
काञ्चीयष्टिर्वनस्यैव सा बभौ वनवेदिका । चामीकरमयी रत्नैः खचिताङ्गी समन्ततः ॥२०६॥
सा बभौ वेदिकोदग्रा सचर्या[1] समया वनम्[2] । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावनम् ॥२०७॥
सुगुप्ताङ्गी[3] सतीयासौ रुचिरा सूत्रपा[4] वनम् । परीयाय[5] श्रुतं जैन सद्धीर्वा सूत्रपावनम्[6] ॥२०८॥
घण्टाजालानि लम्बानि[7] मुक्तालम्बनकानि च । पुष्पस्रजश्च रेजुरमुष्यां गोपुरं प्रति ॥२०९॥
राजतानि[8] बभुस्तस्या गोपुराण्यष्टमङ्गलैः । संगीतातोद्यनृत्तैश्च रत्नाभरणतोरणैः ॥२१०॥
ततः परमलञ्चक्रुर्विविधा ध्वजपङ्क्तयः । महीं वीथ्यन्तरालस्थां हेमस्तम्भाग्रलम्बिता ॥२११॥
सुस्थास्ते मणिपीठेषु ध्वजस्तम्भाः स्फुरद्रुचः । विरेजुर्जगतां मान्याः सुराजान इवोन्नताः ॥२१२॥

अनुपम ही था ॥२०४॥ उन वनोंके अन्तमें चारों ओर एक-एक वनवेदी थी जो कि ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर-द्वारोंसे आकाशरूपी आँगनको रोक रही थी ॥२०५॥ वह सुवर्णमयी वनवेदिका सब ओरसे रत्नोंसे जड़ी हुई थी जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उस वनकी करधनी ही हो ॥२०६॥ अथवा वह वनवेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊँची थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार सचर्या अर्थात् उत्तम चारित्रसे सहित होती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षासे सहित थी और भव्य जीवोंकी बुद्धि जिस प्रकार समयावनं (समय+अवनं संश्रित्य) अर्थात् आगमरक्षाका आश्रय कर प्रवृत्त रहती है उसी प्रकार वह वनवेदिका भी समया वनं (वनं समया संश्रित्य) अर्थात् वनके समीप भागका आश्रय कर प्रवृत्त हो रही थी ॥२०७॥ अथवा वह वनवेदिका सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सती अर्थात् समीचीन थी, रुचिरा अर्थात् देदीप्यमान थी, सूत्रपा अर्थात् सूत्र (डोरा) की रक्षा करनेवाली थी–सूतके नापसे बनी हुई थी–कहीं ऊँची-नीची नहीं थी, और वनको चारों ओरसे घेरे हुए थी इसलिए किसी सत्पुरुषकी बुद्धिके समान जान पड़ती थी क्योंकि सत्पुरुषकी बुद्धि भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित होती है–पापाचारोंसे अपने शरीरको सुरक्षित रखती है, सती अर्थात् शंका आदि दोषोंसे रहित होती है, रुचिरा अर्थात् श्रद्धागुण प्रदान करनेवाली होती है, सूत्रपा अर्थात् आगमकी रक्षा करनेवाली होती है और सूत्रपावनं अर्थात् सूत्रोंसे पवित्र जैनशास्त्रको घेरे रहती है–उन्हींके अनुकूल प्रवृत्ति करती है ॥२०८॥ उस वेदिकाके प्रत्येक गोपुर-द्वारमें घण्टाओंके समूह लटक रहे थे, मोतियोंकी झालर तथा फूलोंकी मालाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥२०९॥ उस वेदिकाके चाँदीके बने हुए चारों गोपुर-द्वार अष्टमंगलद्रव्य, संगीत, बाजोंका बजना, नृत्य तथा रत्नमय आभरणोंसे युक्त तोरणोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे ॥२१०॥ उन वेदिकाओंसे आगे सुवर्णमय खम्भोंके अग्रभागपर लगी हुई अनेक प्रकारकी ध्वजाओंकी पंक्तियाँ महावीथीके मध्यकी भूमिको अलंकृत कर रही थीं ॥२११॥ वे ध्वजाओंके खम्भे मणिमयी पीठिकाओंपर स्थिर थे, देदीप्यमान कान्तिसे युक्त थे, जगन्मान्य थे और अतिशय ऊँचे थे इसलिए किन्हीं उत्तम राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि उत्तम राजा भी मणिमय आसनोंपर स्थित होते हैं–बैठते

---

१ सवप्रा । २ वनस्य समीपम् । 'हाधिक्समया' इत्यादि सूत्रेण द्वितीया । सचर्या सच्चारित्रा । समयावनं सिद्धान्तरक्षणम् । 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः ।' इत्यभिधानात् । ३. सुरक्षिताङ्गी । ४. सूत्रं रक्षन्ति । सूत्रपातस्य आपातत्वात्, निम्नोन्नतत्वादिदोषरहित इत्यर्थः, पक्षे सूत्रमागमं पालयन्ति, आगमप्रतिपादितचारित्रं पालयन्तीत्यर्थः । ५. परिववे । ६. सूत्रेण पवित्रीकरणक्षमम् । ७. मौक्तिकदामानि । ८ रजतमयानि ।

अष्टाशीत्यङ्गुलान्येषां रुन्द्रत्वं परिकीर्तितम् । पञ्चविंशतिकोदण्डान्यमीषामन्तरं विदुः ॥२१३॥
सिद्धार्थचैत्य[1]वृक्षाश्च प्राकारवनवेदिकाः । स्तूपाः सतोरणा मानस्तम्भाः स्तम्भाश्च कैतवाः[2] ॥२१४॥
प्रोक्तास्तीर्थकृदुत्सेधादुत्सेधेन द्विषड्गुणाः[3] । दैर्ध्यानुरूपमेतेषां रौन्द्र्यमाहुर्मनीषिणः ॥२१५॥
वनानां स्वगृहाणां च पर्वतानां तथैव च । भवेदुन्नतिरेषैव वर्णितागमकोविदैः ॥२१६॥
भवेयुर्गिरयो रुन्द्राः स्वोत्सेधादष्टमगुणम् । स्तूपानां रौन्द्र्यमुच्छ्रायात्[4] सातिरेकं[5] चिदो[6] विदुः ॥२१७॥
उशन्ति वेदिकादीनां स्वोत्सेधस्य चतुर्थकम् । [7]पार्थवं परमज्ञानमहाकूपारपारगाः ॥२१८॥
स्रग्वस्त्रसहसानाब्ज[8]हंसवीन[9]मृगेशिनाम् । वृषभेभेन्द्रचक्राणां ध्वजाः स्युर्दशभेदकाः ॥२१९॥
अष्टोत्तरशतं ज्ञेयाः प्रत्येकं पालिकेतनाः[10] । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरङ्गास्तोयधेरिव ॥२२०॥
पवनान्दोलितस्तेषां केतूनामंशुकोत्करः । [11]व्याजुहूपुरिवाभासीद्[12] जिनेज्यायै नरामरान् ॥२२१॥
स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यो[13] ललम्बिरे । भव्यानां सौमनस्याय[14] कल्पितास्त्रिदिवाधिपैः ॥२२२॥
श्लक्ष्णांशुकध्वजा रेजुः पवनान्दोलितोत्थिताः । व्योमाम्बुधेरिवोद्भूतास्तरङ्गास्तुङ्गमूर्तयः ॥२२३॥
बर्हिध्वजेषु बर्हालिं[15] लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुर्ग्रस्तांशुकाः सर्पबुद्ध्येव ग्रस्तकृत्तयः[16] ॥२२४॥

हैं, देदीप्यमान कान्तिसे युक्त होते हैं, जगत्मान्य होते हैं–संसारके लोग उनका सत्कार करते हैं और अतिशय उन्नत अर्थात् उदारहृदय होते हैं ॥२१२॥ उन खम्भोंकी चौड़ाई अट्ठासी अंगुल कही गयी है और उनका अन्तर पचीस-पचीस धनुष प्रमाण जानना चाहिए ॥२१३॥ सिद्धार्थवृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वनवेदिका, स्तूप, तोरणसहित मानस्तम्भ और ध्वजाओंके खम्भे ये सब तीर्थंकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुने ऊँचे होते हैं और विद्वानोंने इनकी चौड़ाई आदि इनकी लम्बाईके अनुरूप बतलायी है ॥२१४-२१५॥ इसी प्रकार आगमके जानने-वाले विद्वानोंने वन, वनके मकान और पर्वतोंकी भी यही ऊँचाई बतलायी है अर्थात् ये सब भी तीर्थंकरके शरीरसे बारह गुने ऊँचे होते हैं ॥२१६॥ पर्वत अपनी ऊँचाईसे आठ गुने चौड़े होते हैं और स्तूपोंका व्यास विद्वानोंने अपनी ऊँचाईसे कुछ अधिक बतलाया है ॥२१७॥ परमज्ञानरूपी समुद्रके पारगामी गणधर देवोंने वनवेदियोंकी चौड़ाई वनकी ऊँचाईसे चौथाई बतलायी है ॥२१८॥ ध्वजाओंमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्रके चिह्न थे इसलिए उनके दस भेद हो गये थे ॥२१९॥ एक-एक दिशामें एक-एक प्रकारकी ध्वजाएँ एक सौ आठ एक सौ आठ थीं, वे ध्वजाएँ बहुत ही ऊँची थीं और समुद्रकी लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥२२०॥ वायुसे हिलता हुआ उन ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेके लिए मनुष्य और देवोंको बुलाना ही चाहता हो ॥२२१॥ मालाओंके चिह्नवाली ध्वजाओंपर फूलोंकी बनी हुई दिव्यमालाएँ लटक रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो भव्य-जीवोंका सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलानेके लिए ही इन्द्रोंने उन्हें बनाया हो ॥२२२॥ वस्त्रोंके चिह्नवाली ध्वजाएँ महीन और सफेद वस्त्रोंकी बनी हुई थीं तथा वे वायुसे हिल-हिलकर उड़ रही थीं जिससे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो आकाशरूपी समुद्रकी उठती हुई बड़ी ऊँची लहरें ही हों ॥२२३॥ मयूरोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो मयूर बने हुए थे वे लीलापूर्वक अपनी पूँछ फैलाये हुए थे और साँपकी बुद्धिसे वस्त्रोंको निगल रहे थे जिससे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो

---

१. सिद्धार्थवृक्षा वक्ष्यन्ते चैत्यवृक्षा उक्ता । २ केतुसम्बन्धिनः । ३. द्वादशगुणा इत्यर्थः । ४ –मुच्छ्रि- तेर्व्यास सातिरेक इ०, अ० । ५ साधिकम् । ६. सम्यग्ज्ञानिनः । ७ पृथुत्वम् । ८ मयूर । ९. गरुड । १०. श्रेणिध्वजा. । ११. व्याह्वानमिच्छु । १२. बभौ । १३. सुमनोभि कुसुमै कृता । १४. सुमनस्कृताय । १५. पिच्छसमूहम् । १६. ग्रस्तनिर्मोका. ।

पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रदलमस्तरैः[1] । नभ सरसि फुल्लानि सरोजानीव रेजिरे ॥२२५॥
अध: प्रतिमया[2] तानि सक्रान्तानि महीतले । भ्रमरान् मोहयन्ति स्म पद्मबुद्ध्यानु[3]पातिनः ॥२२६॥
तेषां[4] तदातनीं[5] शोभां दृष्ट्वा नान्यत्र भाविनीम् । कञ्जान्युत्सृज्य कार्त्स्न्येन लक्ष्मीस्तेषु पदं दधे ॥२२७॥
हंसध्वजेष्व[6]भुर्हंसाश्चञ्च्वा[7] ग्रसितवासस: । निजां[8]प्रस्तारयन्तो वा द्रव्यलेश्यां तदात्मना ॥२२८॥
गरुत्मद्ध्वजदण्डाग्राण्यध्यासीना विनायका[9] । रेजुः स्वैः पक्षविक्षेपैर्लिलङ्घयिषवो नु[10] खम् ॥२२९॥
बभुर्नीलमणिक्ष्मास्था गरुडाः[11] प्रतिमागता: । समाक्रष्टुमिवाहीन्द्रान् प्रविशन्तो रसातलम् ॥२३०॥
मृगेन्द्रकेतनाग्रेषु मृगेन्द्राः क्रमदित्सया[12] । कृतयत्ना विरेजुस्ते जेतुं वा[13] सुरसामजान् ॥२३१॥
स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलम्बीनि रेजिरे । गजेन्द्रकुम्भसंभेदात् सञ्चितानि यशांसि वा ॥२३२॥
[14]उक्षा: शृङ्गाग्रसंसक्तलम्बमानध्वजांशुकाः । रेजुर्विपक्षजित्येन[15] सलब्धजयकेतनाः ॥२३३॥
उत्पुष्करैः करैरूढ[16]ध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरीन्द्रा इव कूटाग्रनिपतत्पृथुनिर्झरा ॥२३४॥

साँपकी काँचली ही निगल रहे हों ॥२२४॥ कमलोंके चिह्नवाली ध्वजाओमें जो कमल बने हुए थे वे अपने एक हजार दलोंके विस्तारसे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी सरोवरमें कमल ही फूल रहे हों ॥२२५॥ रत्नमयी पृथ्वीपर उन ध्वजाओंमें बने हुए कमलोंके जो प्रतिविम्ब पड़ रहे थे वे कमल समझकर उनपर पड़ते हुए भ्रमरोंको भ्रम उत्पन्न करते थे ॥२२६॥ उन कमलोंकी दूसरी जगह नहीं पायी जानेवाली उस समयकी शोभा देखकर लक्ष्मीने अन्य समस्त कमलोंको छोड़ दिया था और उन्हींमें अपने रहनेका स्थान बनाया था। भावार्थ—वे कमल बहुत ही सुन्दर थे इसलिए ऐसे जान पड़ते थे मानो लक्ष्मी अन्य सब कमलोंको छोड़कर उन्हींमें रहने लगी हो ॥२२७॥ हंसोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिह्न बने हुए थे वे अपने चोंचसे वस्त्रको ग्रस रहे थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो उसके बहाने अपनी द्रव्यलेश्याका ही प्रसार कर रहे हों ॥२२८॥ जिन ध्वजाओंमें गरुड़ोंके चिह्न बने हुए थे उनके दण्डोंके अग्रभागपर बैठे हुए गरुड़ अपने पंखोंके विक्षेपसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो आकाशको ही उल्लंघन करना चाहते हों ॥२२९॥ नीलमणिमयी पृथ्वीमें उन गरुडोंके जो प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे उनसे वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो नागेन्द्रोंको खींचनेके लिए पाताललोकमें ही प्रवेश कर रहे हों ॥२३०॥ सिंहोंके चिह्नवाली ध्वजाओंके अग्रभागपर जो सिंह बने हुए थे वे छलांग भरनेकी इच्छासे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवोंके हाथियोंको जीतनेके लिए ही प्रयत्न कर रहे हैं ॥२३१॥ उन सिंहोंके मुखोंपर जो बड़े-बड़े मोती लटक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो बड़े-बड़े हाथियोंके मस्तक विदारण करनेसे इकट्ठे हुए यश ही लटक रहे हों ॥२३२॥ बैलोंकी चिह्नवाली ध्वजाओंमें, जिनके सींगोंके अग्रभागमें ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे बैल बने हुए थे और वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो शत्रुओंको जीत लेनेसे उन्हें विजयपताका ही प्राप्त हुई हो ॥२३३॥ हाथीकी चिह्नवाली ध्वजाओंपर जो हाथी बने हुए थे वे अपनी ऊँची उठी हुई सूँडोंसे पताकाएँ धारण कर रहे थे और उनसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके शिखरके अग्रभागसे बड़े-बड़े निझरने पड़ रहे हैं ऐसे बड़े पर्वत ही हों ॥२३४॥ और चक्रोंके चिह्नवाली ध्वजाओंमें जो चक्र बने

१. समूहैं । २ प्रतिबिम्बेन । ३. अनुगच्छतः । ४. पद्मध्वजानाम् । ५. तत्कालभवाम् । ६ बभु । ७. श्रोट्या । ८ प्रसारयन्तो ल० । ९ वीना नायका गरुडा इत्यर्थः । १०. इव । ११. प्रतिबिम्बेनागताः । १२. पादविक्षेपेच्छया । १३. इव । १४ वृषाः प०, अ०, ल०, द०, इ० । १५. जयेन । १६. धृत ।

चक्रध्वजाः सहस्रारैश्चक्रैरुत्सर्पदंशुभिः । वभुर्भानुमता[1] सार्द्धं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥२३५॥
नमः परिमृजन्तो वा श्लिष्यन्तो वा दिगङ्गनाः । भुवमास्फालयन्तो वा स्फूर्जन्ति स्म महाध्वजाः॥२३६॥
इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता वभुः । विभोस्त्रिभुवनेशित्वं शंसन्तोऽनन्यगोचरम् ॥२३७॥
दिश्येकस्यां ध्वजाः सर्वे सहस्रं स्यादशीतियुक् । चतस्रृष्वथ[2] ते दिक्षु शून्य[3]द्विकत्रिकसागराः ॥२३८॥
ततोऽनन्तरमेवान्तर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमानर्जुननिर्माणो द्वितीयोऽप्यद्वितीयकः ॥२३९॥
पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीर्भुवो नूनं पुञ्जीभूता तदात्मना ॥२४०॥
तेष्वामर[4]णविन्यस्ततोरणेषु परा द्युतिः । तेने निधिभिरुद्भूतैः कुबेरैश्वर्यहासिनी ॥२४१॥
शेषो विधिरशेषोऽपि सालेनाद्येन वर्णितः । पौनरुक्त्यमयान्ना[5] तस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः ॥२४२॥
अत्रापि पूर्ववद्देध्यं द्वितयं नाट्यशालयोः । तद्वद्धूपघटीद्वन्द्वं महावीथ्युभयान्तयोः ॥२४३॥
ततो वीथ्यन्तरेष्वस्यां कक्ष्या[6]यां कल्पभूरुहाम् । नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्वनमासीत् प्रभास्वरम् ॥२४४॥
कल्पद्रुमाः समुत्तुङ्गाः सच्छायाः फलशालिनः । नानास्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायन्ते स्म संपदा ॥२४५॥

हुए थे उनमें हजार-हजार आरियाँ थीं तथा उनकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं, मानो सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेके लिए ही तैयार हुई हों ॥२३५॥ इस प्रकार वे महाध्वजाएँ ऐसी फहरा रही थीं मानो आकाशको साफ ही कर रही हों, अथवा दिशारूपी स्त्रियोंको आलिंगन ही कर रही हों अथवा पृथिवीका आस्फालन ही कर रही हों ॥२३६॥ इस प्रकार मोहनीय कर्मको जीत लेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजाएँ अन्य दूसरी जगह नहीं पाये जानेवाले भगवान्के तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट करती हुई बहुत ही सुशोभित हो रही थीं ॥२३७॥ एक-एक दिशामें वे सब ध्वजाएँ एक हजार अस्सी थीं और चारों दिशाओंमें चार हजार तीन सौ बीस थीं ॥२३८॥

उन ध्वजाओंके अनन्तर ही भीतरके भागमें चाँदीका बना हुआ एक बड़ा भारी कोट था, जो कि बहुत ही सुशोभित था और अद्वितीय अनुपम होनेपर भी द्वितीय था अर्थात् दूसरा कोट था ॥२३९॥ पहले कोटके समान इसके भी चाँदीके बने हुए चार गोपुर-द्वार थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वे गोपुर-द्वारोंके बहानेसे इकट्ठी हुई पृथिवीरूपी देवीके हास्यकी शोभा ही हों ॥२४०॥ जिनमें अनेक आभरणसहित तोरण लगे हुए हैं ऐसे उन गोपुर-द्वारोंमें जो निधियाँ रखी हुई थीं वे कुबेरके ऐश्वर्यकी भी हँसी उड़ानेवाली बड़ी भारी कान्तिको फैला रही थीं ॥२४१॥ उस कोटकी और सब विधि पहले कोटके वर्णनके साथ ही कही जा चुकी है, पुनरुक्ति दोषके कारण यहाँ फिरसे उसका विस्तारके साथ वर्णन नहीं किया जा रहा है ॥२४२॥ पहलेके समान यहाँ भी प्रत्येक महावीथीके दोनों ओर दो नाट्यशालाएँ थीं और दो धूपघट रखे हुए थे ॥२४३॥ इस कक्षामें विशेषता इतनी है कि धूपघटोंके बाद गलियोंके बीचके अन्तरालमें कल्पवृक्षोंका वन था, जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिके फैलनेसे देदीप्यमान हो रहा था ॥२४४॥ उस वनके वे कल्पवृक्ष बहुत ही ऊँचे थे, उत्तम छायावाले थे, फलोंसे सुशोभित थे और अनेक प्रकारकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे सहित थे इसलिए अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पड़ते

---

१. सूर्येण । २. ध्वजाः । ३. विंशत्युत्तरत्रिशताधिकचतुःसहस्राणि । ४. आभरणानां विन्यस्तं विन्यासो येषां तोरणानां तानि आभरणविन्यस्ततोरणानि येषां गोपुराणां तानि तथोक्तानि तेषु । ५ -न्नात्र प०, द०, ल० । ६. कोष्ठे ।

देवोदक्कुरवो नूनमागताः सवितुं जिनम् । दशप्रभेदैः स्वैः कल्पतरुभिः श्रेणि[1]सात्कृतैः ॥२४६॥
फलान्याभरणान्येषामंशुकानि च पल्लवाः । स्रज शाखाग्रलम्बिन्यो महाप्रारोहयष्टयः ॥२४७॥
तेषामधःस्थलच्छायामध्यासीनाः सुरोरगाः । स्वावासेषु धृतिं हित्वा चिरं तत्रैव रेमिरे ॥२४८॥
ज्योतिष्का ज्योतिरङ्गेषु दीपाङ्गेषु च कल्पजाः । भावनेन्द्राः स्रगङ्गेषु यथायोग्यां धृतिं दधुः ॥२४९॥
स्रग्वि साभरणं भास्वदंशुकं [2]पल्लवाधरम् । [3]ज्वलद्दीप वनं कान्तं [4]वधूवरमिवाबभौ ॥२५०॥
[5]अन्तर्वणमथाभूवन्निह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धार्थाधिष्ठिता[6]धीद्धबुध्ना ब्रध्ना[7] इवोद्रुचः ॥२५१॥
चैत्यद्रुमेषु पूर्वोक्ता वर्णनात्रापि योज्यताम् । किं तु कल्पद्रुमा एते संकल्पितफलप्रदाः ॥२५२॥

थे क्योंकि राजा भी बहुत ऊँचे अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ अथवा उदार होते हैं, उत्तम छाया अर्थात् कान्तिसे युक्त होते हैं, अनेक प्रकारकी वस्तुओंकी प्राप्तिरूपी फलोंसे सुशोभित होते हैं और तरह-तरहकी माला, वस्त्र तथा आभूषणोंसे युक्त होते हैं ॥२४५॥ उन कल्पवृक्षोंको देखकर ऐसा मालूम होता था मानो अपने दस प्रकारके कल्पवृक्षोंकी पङ्क्तियोंसे युक्त हुए देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवान्‌की सेवा करनेके लिए आये हों ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान जान पड़ते थे, नवीन कोमल पत्ते वस्त्रोंके समान मालूम होते थे और शाखाओंके अग्रभागपर लटकती हुई मालाएँ बड़ी-बड़ी जटाओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥२४७॥ उन वृक्षोंके नीचे छायातलमें बैठे हुए देव और धरणेन्द्र अपने-अपने भवनोंमें प्रेम छोड़कर वहींपर चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते थे ॥२४८॥ ज्योतिष्कदेव ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंमें, कल्पवासी देव दीपाग जातिके कल्पवृक्षोंमें और भवनवासियोंके इन्द्र मालांग जातिके कल्पवृक्षोंमें यथायोग्य प्रीति धारण करते थे। भावार्थ—जिस देवको जो वृक्ष अच्छा लगता था वे उसीके नीचे क्रीड़ा करते थे ॥२४९॥ वह कल्पवृक्षोंका वन वधूवरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार वधूवर मालाओंसे सहित होते हैं उसी प्रकार वह वन भी मालाओंसे सहित था, वधूवर जिस प्रकार आभूषणोंसे युक्त होते हैं उसी प्रकार वह वन भी आभूषणोंसे युक्त था, जिस प्रकार वधूवर सुन्दर वस्त्र पहिने रहते हैं उसी प्रकार उस वनमें सुन्दर वस्त्र टँगे हुए थे, जिस प्रकार वर-वधूके अधर (ओठ) पल्लवके समान लाल होते हैं उसी प्रकार उस वनके पल्लव (नये पत्ते) लाल थे। वर-वधूके आस-पास जिस प्रकार दीपक जला करते हैं उसी प्रकार उस वनमें भी दीपक जल रहे थे और वर-वधू जिस प्रकार अतिशय सुन्दर होते हैं उसी प्रकार वह वन भी अतिशय सुन्दर था। भावार्थ—उस वनमें कहीं मालांग जातिके वृक्षोंपर मालाएँ लटक रही थीं, कहीं भूषणांग जातिके वृक्षोंपर भूषण लटक रहे थे, कहीं वस्त्रांग जातिके वृक्षोंपर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र टँगे हुए थे, कहीं उन वृक्षोंमें नये-नये, लाल-लाल पत्ते लग रहे थे, और कहीं दीपांग जातिके वृक्षोंपर अनेक दीपक जल रहे थे ॥२५०॥ उन कल्पवृक्षोंके मध्यभागमें सिद्धार्थ वृक्ष थे, सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाओंसे अधिष्ठित होनेके कारण उन वृक्षोंके मूल भाग बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे और उन सबसे वे वृक्ष सूर्यके समान प्रकाशमान हो रहे थे ॥२५१॥ पहले चैत्यवृक्षोंमें जिस शोभाका वर्णन किया गया है वह सब इन सिद्धार्थवृक्षोंमें भी लगा लेना चाहिए किन्तु विशेषता इतनी ही है

१ पङ्क्तीकृतैः २ पल्लवानि आ समन्तात् धरतीति, पक्षे पल्लवमिवाधरं यस्य तत्। ३. ज्वलद्दीपाङ्गम्। ४ वधूश्च वरश्च वधूवरम्। ५. वनमध्ये। ६. अधिकदीप्र। ७. आदित्याः।

क्वचिद् वाप्यः क्वचिन्नद्यः क्वचित् सैकतमण्डलम् । क्वचित्सभागृहादीनि बभुरत्र वनान्तरे ॥२५३॥
वनवीथीमिमामन्तर्वव्रेऽसौ वनवेदिका । कल[1]धौतमयी तुङ्गचतुर्गोपुरसंगता ॥२५४॥
तत्र तोरणमाङ्ग[2]ल्यसंपदः पूर्ववर्णिताः । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोन्मानान्यमुत्र च ॥२५५॥
प्रतोलीं[3] तामथोल्लङ्घ्य परतः [4]परिवीथ्यभूत्[5] । प्रासादपङ्क्तिर्विविधा निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥२५६॥
हिरण्मयमहास्तम्भा वज्राधिष्ठानबन्धनाः । चन्द्रकान्तशिलाकान्तभित्तयो रत्नचित्रिताः ॥२५७॥
सहर्म्या द्वितलाः[6] केचित् केचिच्च त्रिचतुस्तलाः । चन्द्रशालायुजः[7] केचिद् वलभिच्छन्दशोभिनः ॥२५८॥
प्रासादास्ते स्म राजन्ते स्वप्रभामग्नमूर्तयः । नभोलिहानाः कूटाग्रैर्ज्योत्स्नयेव विनिर्मिताः ॥२५९॥
[8]कूटागारसभागेहप्रेक्षाशालाः[9] क्वचिद् विभुः । सशय्याः [10]सासनास्तुङ्गसोपानाः श्वेतिताम्बराः[11] ॥२६०॥
तेषु देवाः सगन्धर्वाः सिद्धा[12] विद्याधराः सदा । पन्नगाः किन्नरैः सार्धमरमन्त कृतादराः ॥२६१॥
केचिद् गानेषु वादित्रवादने[13] केचिदुद्यताः । संगीतनृत्यगोष्ठीभिर्विभुमाराधयन्नमी ॥२६२॥

कि ये कल्पवृक्ष अभिलषित फलके देनेवाले थे ॥२५२॥ उन कल्पवृक्षोंके वनोंमें कहीं बावड़ियाँ, कहीं नदियाँ, कहीं बालूके ढेर और कहीं सभागृह आदि सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥ उन कल्पवृक्षोंकी वनवीथीको भीतरकी ओर चारों तरफसे वनवेदिका घेरे हुए थी, वह वनवेदिका सुवर्णकी बनी हुई थी, और चार गोपुर-द्वारोंसे सहित थी ॥२५४॥ उन गोपुर-द्वारोंमें तोरण और मंगलद्रव्यरूप सम्पदाओंका वर्णन पहले ही किया जा चुका है तथा उनकी लम्बाई चौड़ाई आदि भी पहलेके समान ही जानना चाहिए ॥२५५॥ उन गोपुर-द्वारोंके आगे भीतरकी ओर बड़ा लम्बा-चौड़ा रास्ता था और उसके दोनों ओर देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियाँ थीं ॥२५६॥ जिनके बड़े बड़े खम्भे सुवर्णके बने हुए हैं, जिनके अधिष्ठान-बन्धन अर्थात् नींव वज्रमयी हैं, जिनकी सुन्दर दीवालें चन्द्रकान्तमणियोंकी बनी हुई हैं और जो अनेक प्रकारके रत्नोंसे चित्र-विचित्र हो रहे हैं ऐसे वे सुन्दर मकान कितने ही दो खण्डके थे, कितने ही तीन खण्डके और कितने ही चार खण्डके थे, कितने ही चन्द्रशालाओं (मकानोंके ऊपरी भाग) से सहित थे तथा कितने ही अट्टालिका आदिसे सुशोभित थे ॥२५७-२५८॥ जो अपनी ही प्रभामें डूबे हुए हैं ऐसे वे मकान अपने शिखरोंके अग्रभागसे आकाशका स्पर्श करते हुए ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चाँदनीसे ही बने हों ॥२५९॥ कहींपर कूटागार (अनेक शिखरोंवाले अथवा झूला देनेवाले मकान), कहींपर सभागृह और कहींपर प्रेक्षागृह (नाट्यशाला अथवा अजायबघर) सुशोभित हो रहे थे, उन कूटागार आदिमें शय्याएँ बिछी हुई थीं, आसन रखे हुए थे, ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ लगी हुई थीं और उन सबने अपनी कान्तिसे आकाशको सफेद-सफेद कर दिया था ॥२६०॥ उन मकानोंमें देव, गन्धर्व, सिद्ध (एक प्रकारके देव), विद्याधर, नागकुमार और किन्नर जातिके देव बड़े आदरके साथ सदा क्रीड़ा किया करते थे ॥२६१॥ उन देवोंमें कितने ही देव तो गानेमें उद्यत थे और कितने ही बाजा बजानेमें तत्पर थे इस प्रकार वे देव संगीत और

---

१. सुवर्ण । २. मङ्गल । ३. गोपुरम् । ४. विथ्या. परितः । ५. वीथ्यभात् ल० । ६. द्विभूमिकाः । ७. शिरोगृह । 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इत्यभिधानात् । ८. बहुशिखरयुक्तगृहम् । ९. नाट्यशालाः । १०. सपीठाः । ११. धवलिताकाशा । १२. देवभेदाः । १३. वाद्यताडन ।

वीथीनां मध्यभागेऽत्र स्तूपा नव समुद्ययुः । पद्मरागमयोत्तुङ्गवपुषः खाग्रलङ्घिनः ॥२६३॥
जनानुरागास्ताद्रूप्य[1]मापन्ना इव ते बभुः । सिद्धार्हत्प्रतिबिम्बौघैरभितश्चित्रमूर्तयः ॥२६४॥
स्वोन्नत्या गगनाभोगं[2] रुन्धानाः स्म विभान्त्यमी । स्तूपा विद्याधराराध्याः प्राप्तेज्या मेरवो यथा ॥२६५॥
स्तूपाः समुच्छ्रिता रेजुराराध्याः सिद्धचारणैः[3] । ताद्रूप्यमिव बिभ्राणा नवकेवललब्धयः ॥२६६॥
स्तूपानामन्तरेष्वेषां रत्नतोरणमालिकाः । बभुरिन्द्र[4]धनुर्मय्य इव चित्रितखाङ्गणाः ॥२६७॥
सच्छत्राः सपताकाश्च सर्वमङ्गलसंभृताः । राजान इव रेजुस्ते स्तूपाः कृतजनोत्सवाः ॥२६८॥
तत्राभिषिच्य जैनेन्द्रीरर्चाः कीर्तितपूजिताः[5] । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्या मुदमयासिषुः[6] ॥२६९॥
स्तूपहर्म्यावलीरुद्धां भुवमुल्लङ्घ्य तां ततः । नभःस्फटिकसालोऽभूज्[7]जातं खमिव तन्मयम्[8] ॥२७०॥
विशुद्धपरिणामत्वाज्जिनपर्यन्तसेवनात् । भव्यात्मेव बभौ सालस्तुङ्गः सद्वृत्ततान्वितः ॥२७१॥

नृत्य आदिकी गोष्ठियोंद्वारा भगवान्‌की आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥ महावीथियोंके मध्यभागमें नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे, जो कि पद्मरागमणियोंके बने हुए बहुत ऊँचे थे और अपने अग्रभागसे आकाशका उल्लंघन कर रहे थे ॥ २६३ ॥ सिद्ध और अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमाओंके समूहसे वे स्तूप चारों ओरसे चित्र-विचित्र हो रहे थे और ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मनुष्योंका अनुराग ही स्तूपोंके आकारको प्राप्त हो गया हो ॥२६४॥ वे स्तूप ठीक मेरु पर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार मेरु पर्वत अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए है उसी प्रकार वे स्तूप भी अपनी ऊँचाईसे आकाशको घेरे हुए थे, जिस प्रकार मेरु पर्वत विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य है उसी प्रकार वे स्तूप भी विद्याधरोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत पूजाको प्राप्त है उसी प्रकार वे स्तूप भी पूजाको प्राप्त थे ॥२६५॥ सिद्ध तथा चारण मुनियोंके द्वारा आराधना करने योग्य वे अतिशय ऊँचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्तूपोंका आकार धारण करती हुई भगवान्‌की नौ केवललब्धियाँ ही हों ॥२६६॥ उन स्तूपोंके बीचमें आकाशरूपी आँगनको चित्र-विचित्र करनेवाले रत्नोंके अनेक वन्दनवार बँधे हुए थे जो कि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो इन्द्रधनुषके ही बँधे हुए हों ॥२६७॥ उन स्तूपोंपर छत्र लगे हुए थे, पताकाएँ फहरा रही थीं, मंगलद्रव्य रखे हुए थे और इन सब कारणोंसे वे लोगोंको बहुत ही आनन्द उत्पन्न कर रहे थे इसलिए ठीक राजाओंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि राजा लोग भी छत्र-पताका और सब प्रकारके मंगलोंसे सहित होते हैं तथा लोगोंको आनन्द उत्पन्न करते रहते हैं ॥ २६८ ॥ उन स्तूपोंपर जो जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाएँ विराजमान थीं भव्यलोग उनका अभिषेक कर उनकी स्तुति और पूजा करते थे तथा प्रदक्षिणा देकर बहुत ही हर्षको प्राप्त होते थे ॥२६९॥

उन स्तूपों और मकानोंकी पंक्तियोंसे घिरी हुई पृथ्वीको उल्लंघन कर उसके कुछ आगे आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिका बना हुआ कोट था जो कि ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आकाश ही उस कोटरूप हो गया हो ॥ २७० ॥ अथवा विशुद्ध परिणाम (परिणमन) होनेसे और जिनेन्द्र भगवान्‌के समीप ही सेवा करनेसे वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि भव्यजीव भी विशुद्ध परिणामों (भावों) का धारक होता है और जिनेन्द्र भगवान्‌के समीप रहकर ही उनकी सेवा करता है । इसके सिवाय वह कोट भव्य जीवके समान ही तुङ्ग अर्थात् ऊँचा (पक्षमें श्रेष्ठ) और सद्वृत्त अर्थात् सुगोल

---

१. स्तूपस्वरूपवत्त्वम् । २. विस्तारम् । ३. चारणमुनिभिः, देवभेदैश्च । ४. इन्द्रधनुर्भिर्निवृत्ताः । ५. कीर्तिताश्च पूजिताश्च । ६. प्राप्तवन्त । ७. –सालोऽभाज्जातं ल० । ८. सालमयम् ।

खगेन्द्रैरुपसेव्यत्वात्तुङ्गत्वादचलत्वतः । रूप्याद्रिरिव ताद्रूप्यमापन्नः [1]पर्यगाद् विभुम् ॥२७२॥
दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदशिश्रियन् । पद्मरागमयान्युच्चैर्भव्यरागमयानि वा[2] ॥२७३॥
ज्ञेया पूर्ववदत्रापि मङ्गलद्रव्यसंपदः । द्वारोपान्ते च निधयो ज्वलद्गम्भीरमूर्तयः ॥२७४॥
सतालमङ्गलच्छत्रचामरध्वजदर्पणाः । सुप्रतिष्ठकभृङ्गारकलशाः प्रतिगोपुरम् ॥२७५॥
गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन् सुराः । क्रमात् सालत्रये द्वाःस्था[3] भौम[4]भावनकल्पजाः ॥२७६॥
ततः खस्फाटिकात् सालादापीठान्तं समायताः । भित्तयः षोडशाभूवन् महावीथ्यन्तराश्रिताः ॥२७७॥
नभःस्फटिकनिर्माणाः प्रसरन्निर्मलत्विषः । साद्यपीठतटालग्ना ज्योत्स्नायन्ते स्म भित्तयः ॥२७८॥
शुचयो दर्शिताशेषवस्तुबिम्बा महोदयाः । भित्तयस्ता जगद्भर्तुरधिविद्या[5] इवाबभुः ॥२७९॥
तासामुपरि विस्तीर्णो रत्नस्तम्भैः समुद्धृतः । वियत्स्फटिकनिर्माणः सश्रीः श्रीमण्डपोऽभवत् ॥२८०॥
सत्यं श्रीमण्डपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः । नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥२८१॥

(पक्षमें सदाचारी) था ॥२७१॥ अथवा वह कोट बड़े-बड़े विद्याधरोंके द्वारा सेवनीय था, ऊँचा था, और अचल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो विजयार्ध पर्वत ही कोटका रूप धारण कर भगवान्‌की प्रदक्षिणा दे रहा हो ॥२७२॥ उस उत्तम कोटकी चारों दिशाओं-में चार ऊँचे गोपुर-द्वार थे जो पद्मरागमणिके बने हुए थे, और ऐसे मालूम पड़ते थे मानो भव्य जीवोंके अनुरागसे ही बने हों ॥ २७३ ॥ जिस प्रकार पहले कोटके गोपुर-द्वारोंपर मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं उसी प्रकार इन गोपुर-द्वारोंपर भी मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ जानना चाहिए। और पहलेकी तरह ही इन गोपुर-द्वारोंके समीपमें भी देदीप्यमान तथा गम्भीर आकारवाली निधियाँ रखी हुई थीं ॥ २७४ ॥ प्रत्येक गोपुर-द्वारपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक (ठौना), भृङ्गार और कलश ये आठ-आठ मङ्गल द्रव्य रखे हुए थे ॥ २७५ ॥ तीनों कोटोंके गोपुर-द्वारोंपर क्रमसे गदा आदि हाथमें लिये हुए व्यन्तर भवनवासी और कल्पवासी देव द्वारपाल थे। भावार्थ—पहले कोटके दरवाजोंपर व्यन्तर देव पहरा देते थे, दूसरे कोटके दरवाजोंपर भवनवासी पहरा देते थे और तीसरे कोटके दरवाजोंपर कल्पवासी देव पहरा दे रहे थे। ये सभी देव अपने-अपने हाथोंमें गदा आदि हथियारोंको लिये हुए थे ॥ २७६ ॥ तदनन्तर उस आकाशके समान स्वच्छ स्फटिक-मणिके कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी और महावीथियों (बड़े-बड़े रास्तों) के अन्त-रालमें आश्रित सोलह दीवालें थीं। भावार्थ—चारों दिशाओंकी चारों महावीथियोंके अगल बगल दोनों ओर आठ दीवालें थीं और दो-दोके हिसाबसे चारों विदिशाओंमें भी आठ दीवालें थीं इस प्रकार सब मिलाकर सोलह दीवालें थीं। ये दीवालें स्फटिक कोटसे लेकर पीठ पर्यन्त लम्बी थीं और बारह सभाओंका विभाग कर रही थीं ॥ २७७ ॥ जो आकाशस्फटिकसे बनी हुई हैं, जिनकी निर्मल कान्ति चारों ओर फैल रही है और जो प्रथम पीठके किनारे तक लगी हुई हैं ऐसी वे दीवालें चाँदनीके समान आचरण कर रहीं थीं ॥ २७८ ॥ वे दीवालें अतिशय पवित्र थीं, समस्त वस्तुओंके प्रतिबिम्ब दिखला रहीं थीं और बड़े भारी ऐश्वर्यके सहित थीं इसलिए ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानो जगत्‌के भर्ता भगवान् वृषभदेवकी श्रेष्ठ विद्याएँ हों ॥ २७९ ॥ उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खम्भोंसे खड़ा हुआ और आकाशस्फटिकमणिका बना हुआ बहुत बड़ा भारी शोभायुक्त श्रीमण्डप बना हुआ था ॥ २८० ॥ वह श्रीमण्डप वास्तवमें श्रीमण्डप था क्योंकि वहाँपर परमेश्वर भगवान् वृषभदेवने मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंके समीप तीनों लोकोंकी

---

१ प्रदक्षिणामकरोत्। २. इव। ३. द्वारपालका। ४. भौम—व्यन्तर। भावन-भवनवासी। ५.ज्ञानातिशयाः।

यो बभावम्बरस्यान्ते[1] विम्बितान्या[2] म्बरोपमः । त्रिजगज्जनतास्थानसंग्रहाप्तमहाविभव:[3] ॥२८२॥
यस्योपरितले मुक्ता गुह्यकैः[4] कुसुमोत्कराः । विदधुस्तारकाशंकामधोभाजां नृणां हृदि ॥२८३॥
यत्र मत्तरु[5] वद्भृंगसंसूच्याः कुसुमस्रजः । न म्लानिमीयुर्जैनांघ्रिच्छायाशैत्याश्रयादिव ॥२८४॥
नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । विरुतै[6] रगमद् व्यक्तिं यत्र[7] साम्यादलक्षिता ॥२८५॥
योजनप्रमिते[8] यस्मिन् सम्ममुर्नृसुरासुराः । स्थिताः सुखमसंबाधमहो माहात्म्यमीशितुः ॥२८६॥
यस्मिन् शुचिमणिप्रान्तमुपेता[10] हंससन्ततिः । [11] गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते[12] स्म विकूजितैः ॥२८७॥
यद्भित्तयः स्वसंक्रान्तजगत्त्रितयबिम्बिकाः । चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छ्रीदर्पणश्रियः[13] ॥२८८॥
[14] यदुत्सर्पत्प्रभाजालजलस्नपितमूर्तयः । तीर्थावगाहनं[15] चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥२८९॥

श्री (लक्ष्मी) स्वीकृत की थी ॥२८१॥ तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान दे सकनेके कारण जिसे बड़ा भारी वैभव प्राप्त हुआ है ऐसा वह श्रीमण्डप आकाशके अन्तभागमें ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रतिबिम्बित हुआ दूसरा आकाश ही हो। भावार्थ—उस श्रीमण्डप-का ऐसा अतिशय था कि उसमें एक साथ तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, और वह अतिशय ऊँचा तथा स्वच्छ था ॥२८२॥ उस श्रीमण्डपके ऊपर यक्षदेवोंके द्वारा छोड़े हुए फूलोंके समूह नीचे बैठे हुए मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका कर रहे थे ॥२८३॥ उस श्रीमण्डपमें मदोन्मत्त शब्द करते हुए भ्रमरोंके द्वारा सूचित होनेवाली फूलोंकी मालाएँ मानो जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंकी छायाकी शीतलताके आश्रयसे ही कभी म्लानताको प्राप्त नहीं होती थीं–कभी नहीं मुरझाती थीं। भावार्थ—उस श्रीमण्डपमें स्फटिकमणिकी दीवालोंपर जो सफेद फूलोंकी मालाएँ लटक रही थीं वे रंगकी समानताके कारण अलगसे पहचानमें नहीं आती थीं परन्तु उनपर शब्द करते हुए जो काले-काले मदोन्मत्त भ्रमर बैठे हुए थे उनसे ही उनकी पहचान होती थी। वे मालाएँ सदा हरी-भरी रहती थीं–कभी मुरझाती नहीं थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के चरण-कमलोंकी शीतल छायाका आश्रय पाकर ही नहीं मुरझाती हों ॥२८४॥ उस श्रीमण्डपमें नील कमलोंके उपहारोंपर बैठी हुई भ्रमरोंकी पंक्ति रंगकी सदृशताके कारण अलगसे दिखाई नहीं देती थी केवल गुंजारशब्दोंसे प्रकट हो रही थी ॥२८५॥ अहा, जिनेन्द्र भगवान्‌का यह कैसा अद्भुत माहात्म्य था कि केवल एक योजन लम्बे-चौड़े उस श्रीमण्डपमें समस्त मनुष्य, सुर और असुर एक-दूसरेको बाधा न देते हुए सुखसे बैठ सकते थे ॥२८६॥ उस श्रीमण्डपमें स्वच्छ मणियोंके समीप आया हुआ हंसोंका समूह यद्यपि उन मणियोंके समान रंगवाला ही था–उन्हींके प्रकाशमें छिप गया था तथापि वह अपने मधुर शब्दोंसे प्रकट हो रहा था ॥२८७॥ जिनकी शोभा जगत्‌की लक्ष्मीके दर्पणके समान है ऐसी श्रीमण्डपकी उन दीवालोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उन प्रतिबिम्बोंसे वे दीवालें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो उनमें अनेक प्रकारके चित्र ही खींचे गये हों ॥२८८॥ उस श्रीमण्डपकी फैलती हुई कान्तिके समुदायरूपी जलसे जिनके शरीर नहलाये जा रहे हैं ऐसे देव और दानव ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥२८९॥

---

१. –स्यान्ते ल०, द०, इ० । २. अपरव्योमसदृश । ३ विभुत्वम् । ४. देवैः । ५. ध्वनत् । ६. रवैः । ७. वर्णसादृश्यात् । ८. पीठसहितैकयोजनप्रमाणे । ९ स्फटिकरत्नप्रान्तम् । १० प्राप्ता. । ११ शुभ्रगुणसाम्य । १२. प्रकटीक्रियते स्म । १३. मुकुरशोभा । १४. लक्ष्मीमण्डप । १५ मज्जनम् ।

तद्रुद्धक्षेत्र[1]मध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैडूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखरायिता ॥२९०॥
तत्र षोडशसोपानमार्गाः स्युः षोडशान्तराः[2] । महादिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशेषु च विस्तृताः ॥२९१॥
तां पीठिकामलंचक्रुरष्टमङ्गलसंपदः । धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशु[3]भिर्यक्षमूर्धभिः ॥२९२॥
सहस्राराणि तान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे । भानुबिम्बानि वोद्यन्ति पीठिकोदयपर्वतात् ॥२९३॥
द्वितीयमभवत् पीठं तस्योपरि हिरण्मयम् । दिवाकरकरस्पर्धिवपुरुद्योतिताम्बरम् ॥२९४॥
तस्योपरितले रेजुर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोत्तुङ्गाः सुरेशामभिसम्मताः ॥२९५॥
चक्रेभवृषभाम्भोजवस्त्रसिंहगरुत्मताम् । माल्यस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥२९६॥
नूनं पापपरागस्य सम्मार्जनमिव ध्वजाः । कुर्वन्ति स्म मरुद्धूतस्फुरदंशुकजृम्भि[4]तैः ॥२९७॥
तस्योपरि स्फुरद्रत्नरोचिर्ध्वस्ततमस्तति । तृतीयमभवत् पीठं सर्वरत्नमयं पृथु ॥२९८॥
त्रिमेखलमदः पीठं परार्ध्यमणिनिर्मितम् । बभौ मेरुरिवोपास्यै भर्तुस्तादृग्यमाश्रितः ॥२९९॥
स चक्रश्चक्रवर्तीव सध्वजः सुरदन्तिवत् । मर्ममूर्तिर्महामेरुरिव पीठाद्रिरुद्बभौ ॥३००॥
पुष्पप्रकरमाघ्रातुं निलीना यत्र षट्पदाः । हेमच्छायासमाक्रान्ताः [5]सौवर्णा इव रेजिरे ॥३०१॥

उसी श्रीमण्डपसे घिरे क्षेत्रके मध्यभागमें स्थित पहली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणिकी बनी हुई थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो कुलाचलका शिखर ही हो ॥२९०॥ उस पीठिकापर सोलह जगह अन्तर देकर सोलह जगह ही बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। चार जगह तो चार महादिशाओं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें चार महावीथियोंके सामने थीं और बारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक प्रवेशद्वार पर थीं ॥२९१॥ उस पीठिकाको अष्ट मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ और यक्षोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंपर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे ॥२९२॥ जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे हजार-हजार आराओंवाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके बिम्ब ही हों ॥२९३॥ उस प्रथम पीठिकापर सुवर्णका बना हुआ दूसरा पीठ था, जो सूर्यकी किरणोंके साथ स्पर्धा कर रहा था और आकाशको प्रकाशमान बना रहा था ॥२९४॥ उस दूसरे पीठके ऊपर आठ दिशाओंमें आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रोंको स्वीकृत आठ लोकपाल ही हों ॥२९५॥ चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और मालाके चिह्नसे सहित तथा सिद्ध भगवान्के आठ गुणोंके समान निर्मल वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं ॥२९६॥ वायुसे हिलते हुए देदीप्यमान वस्त्रोंकी फटकारसे वे ध्वजाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पापरूपी धूलिका सम्मार्जन ही कर रही हों अर्थात् पापरूपी धूलिको झाड़ ही रही हों ॥२९७॥ उस दूसरे पीठपर तीसरा पीठ था जो कि सब प्रकारके रत्नोंसे बना हुआ था, बड़ा भारी था और चमकते हुए रत्नोंकी किरणोंसे अन्धकारके समूहको नष्ट कर रहा था ॥२९८॥ वह पीठ तीन कटनियोंसे युक्त था तथा श्रेष्ठ रत्नोंसे बना हुआ था इसलिए ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उस पीठका रूप धरकर सुमेरु पर्वत ही भगवान्की उपासना करनेके लिए आया हो ॥२९९॥ वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित था इसलिए चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था, ध्वजासहित था इसलिए ऐरावत हाथीके समान मालूम होता था और सुवर्णका बना हुआ था इसलिए महामेरुके समान सुशोभित हो रहा था ॥३००॥ पुष्पोंके समूहको सूँघनेके लिए जो भ्रमर उस पीठपर बैठे हुए थे उनपर सुवर्णकी छाया पड़ रही

---

१. तल्लक्ष्मीमण्डपावरुद्धक्षेत्रमध्ये स्थिता । २. षोडशस्तराः ल०, द० । षोडशच्छदाः । ३. उन्नतैः ।
४. जृम्भणैः । ५. सुवर्णमया. ।

अधरीकृतनिःशेषभुवनं भासुरद्युति । जिनस्येव वपुर्भाति यत् स्म देवासुरार्चितम् ॥२०२॥

ज्योतिर्गणपरीतत्वात् सर्वोत्तरतयापि तत् । न्यक्कुरुते श्रियं मेरोर्धारणाच्च जगद्गुरोः ॥२०३॥

ईदृक्त्रिमेखलं पीठमस्योपरि जिनाधिपः । त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥२०४॥

नभःस्फटिकसालस्य मध्यं योजनसम्मितम् । वनत्रयस्य रुन्द्रत्वं ध्वजरुद्धावनेरपि ॥२०५॥

प्रत्येकं योजनं ज्ञेयं धूलीसालाच्च खातिका । गत्वा योजनमेकं स्याज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥२०६॥

नभःस्फटिकसालात्तु स्यादाराद् वनवेदिका । योजनार्धं तृतीयांशः साक्षात् पीठं तदर्धगम् ॥२०७॥

क्रोशार्धं पीठमूर्धन्यः स्याद् विष्कम्भो मेखलेऽपरे । प्रत्येकं धनुषां रुन्द्रे स्यातामर्धाष्टमं शतम् ॥२०८॥

क्रोशं रुन्द्रा महावीथ्यो भित्तयः स्वोच्छ्रितेर्मिताः । रौन्द्र्येणाष्टमभागेन प्राङ्निर्णीता तदुच्छ्रितिः ॥२०९॥

थी जिससे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सुवर्णके ही बने हों ॥२०१॥ जिसने समस्त लोकको नीचा कर दिया है, जिसकी कान्ति अतिशय देदीप्यमान है और जो देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित है ऐसा वह पीठ जिनेन्द्र भगवान्के शरीरके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्के शरीरने भी समस्त लोकोंको नीचा कर दिया था, उसकी कान्ति भी अतिशय देदीप्यमान थी, और वह भी देव तथा धरणेन्द्रोंके द्वारा पूजित था ॥२०२॥ अथवा वह पीठ सुमेरु पर्वतकी शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ज्योतिर्गण अर्थात् ज्योतिषी देवोंके समूहसे घिरा हुआ है उसी प्रकार वह पीठ भी ज्योतिर्गण अर्थात् किरणोंके समूहसे घिरा हुआ था, जिस प्रकार सुमेरुपर्वत सर्वोत्तर अर्थात् सब क्षेत्रोंसे उत्तर दिशामें है उसी प्रकार वह पीठ भी सर्वोत्तर अर्थात् सबसे उत्कृष्ट था, और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत (जन्माभिषेकके समय) जगद्गुरु जिनेन्द्र भगवान्को धारण करता है उसी प्रकार वह पीठ भी (समवसरण भूमिमें) जिनेन्द्र भगवान्को धारण कर रहा था ॥३०३॥ इस प्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसके ऊपर विराजमान हुए जिनेन्द्र भगवान् ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे कि तीन लोकके शिखरपर विराजमान हुए सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते हैं ॥२०४॥ आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणियोंसे बने हुए तीसरे कोटके भीतरका विस्तार एक योजन प्रमाण था, इसी प्रकार तीनों वन (लतावन, अशोक आदिके वन और कल्पवृक्ष वन) तथा ध्वजाओंसे रुकी हुई भूमिका विस्तार भी एक-एक योजन प्रमाण था और परिखा भी धूलीसालसे एक योजन चल कर थी, यह सब विस्तार जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है ॥२०५-२०६॥ आकाशस्फटिकमणियोंसे बने हुए कोटसे कल्पवृक्षोंके वनकी वेदिका आधा योजन दूर थी और उसी सालसे प्रथमपीठ पाव योजन दूरीपर था ॥२०७॥ पहले पीठके मस्तकका विस्तार आधे कोशका था, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पीठकी मेखलाएँ भी प्रत्येक साढ़ेसात सौ धनुष चौड़ी थीं ॥२०८॥ महावीथियों अर्थात् गोपुरद्वारोंके सामनेके बड़े-बड़े रास्ते एक-एक कोश चौड़े थे और सोलह दीवालें अपनी ऊँचाईसे आठवें भाग चौड़ी

१ तेजोराशि, पक्षे ज्योतिष्कसमूह । २ सर्वोत्कृष्टतया, पक्षे सर्वोत्तरदिक्स्थतया । ३ अध करोति स्म । ४, आकाशस्फटिकसालवलयाभ्यन्तरवर्तिप्रदेशः । पीठसहित. सर्वोऽप्येकयोजनमित्यर्थ । ५ वल्लीवनाशोकाद्युपवनकल्पवृक्षवनमिति वनत्रयस्य । ६. ध्वजभूमेरपि प्रत्येकमेकयोजनप्रमारुन्द्र स्यात् । ७. धूलीसालादारभ्य खातिकापर्यन्तमेकयोजनमित्यर्थ । ८. पश्चाद्भागे । पुनराकाशस्फटिकशालादन्तः । ९. तद्योजनस्यार्द्धक्रोश गत्वा प्रथमपीठ भवतीति भाव । १०. दण्डसहस्रम् । ११. तृतीयपीठस्य । १२. विशालः । १३. प्रथमद्वितीयमेखले । १४. पञ्चाशदधिकसप्तशतम्, चापप्रमितरुन्द्रे स्याताम् । १५. सिद्धार्थचैत्यवृक्षादिना निश्चिता । १६. तद्भित्तीनामुन्नति ।

अष्टदण्डोच्छ्रिता ज्ञेया जगती[1] पीठमादिमम् । द्वितीयं च तदर्धेन[2] मितोच्छ्रायं विदुर्बुधाः ॥३१०॥
तावदुच्छ्रितमन्त्यं च पीठं सिंहासनोन्नतिः । धनुरेकमिहाम्नातं धर्मचक्रस्य चोच्छ्रितिः ॥३११॥
इत्युक्तेन विभागेन जिनस्यास्थायिका स्थिता । तन्मध्ये [3]तदवस्थानमितः[4] शृणुत मन्मुखात् ॥३१२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्गणनायके निगदति व्यक्तं जिनास्थायिकां
प्रव्यक्तैर्मधुरैर्वचोभिरुचितैस्तत्त्वार्थसंबोधिभिः ।
[5]बुद्धान्तःकरणो विकासि वदनं बभ्रे नृप. श्रेणिकः
प्रीतः प्रातरिवाब्जिनीवनचयः प्रोन्मीलितं पङ्कजम् ॥३१३॥
[6]सभ्याः [7]सभ्यतमामसभ्य[8]कुमतध्वान्तच्छिदं भारतीं
श्रुत्वा तामपवाङ्मलां[9] गणभृतः श्रीगौतमस्वामिनः ।
सार्द्धं योगिभिरागमन्[10] जिनपतौ प्रीतिं स्फुरल्लोचनाः
प्रोत्फुल्लाः कमलाकरा इव रवेरासाद्य दीप्तिश्रियम् ॥३१४॥

मालिनीच्छन्दः

स जयति जिननाथो यस्य कैवल्यपूजां
[11]विततनिपुणदामादद्भुतश्रीर्महेन्द्रः ।

थीं । उन दीवालोंकी ऊँचाईका वर्णन पहले कर चुके हैं–तीर्थंकरोंके शरीरकी ऊँचाईसे बारह-गुनी ॥३०९॥ प्रथम पीठरूप जगती आठ धनुष ऊँची जाननी चाहिए और विद्वान् लोग द्वितीय पीठको उससे आधा अर्थात् चार धनुष ऊँचा जानते हैं ॥३१०॥ इसी प्रकार तीसरा पीठ भी चार धनुष ऊँचा था, तथा सिंहासन और धर्मचक्रकी ऊँचाई एक धनुष मानी गयी है ॥३११॥ इस प्रकार ऊपर कहे अनुसार जिनेन्द्र भगवान्‌की समवसरण सभा बनी हुई थी। अब उसके बीचमें जो जिनेन्द्र भगवान्‌के विराजमान होनेका स्थान अर्थात् गन्धकुटी बनी हुई थी उसका वर्णन भी मेरे मुखसे सुनो ॥३१२॥

इस प्रकार जब गणनायक गौतम स्वामीने अतिशय स्पष्ट, मधुर, योग्य और तत्त्वार्थके स्वरूपका बोध करानेवाले वचनोंसे जिनेन्द्र भगवान्‌की समवसरण-सभाका वर्णन किया तब जिस प्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंका समूह प्रफुल्लित कमलोंको धारण करता है उसी प्रकार जिसका अन्तःकरण प्रबोधको प्राप्त हुआ है ऐसे श्रेणिक राजाने अपने प्रफुल्लित मुखको धारण किया था अर्थात् गौतम स्वामीके वचन सुनकर राजा श्रेणिकका मुखरूपी कमल हर्षसे प्रफुल्लित हो गया था ॥३१३॥ मिथ्यादृष्टियोंके मिथ्यामतरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाली, अतिशय योग्य और वचनसम्बन्धी दोषोंसे रहित गणधर गौतम स्वामीकी उस वाणीको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग मुनियोंके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्‌में परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे, उस समय उन सभी सभासदोंके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो रहे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यकी किरणरूपी लक्ष्मीका आश्रय पाकर फूले हुए कमलोंके समूह ही हों ॥३१४॥ जिनके केवलज्ञानकी उत्तम पूजा करनेका अभिलाषी तथा अद्भुत विभूतिको

१. प्रथमपीठरूपा जगती । २. चतुर्दण्डेन । ३. जिनस्यावस्थानम् । ४. इतः परम् । ५. प्रबुद्ध । ६. सभायोग्याः । ७. प्रशस्ततमाम् । ८. असतां मिथ्यादृशां कुमत । ९. अपगतवचनदोषाम् । १०. आ समन्तात् प्राप्तवन्तः । ११. विततनितुमिच्छुः ।

समममरनिकायैरेत्य दूराद् प्रणम्रः

समवसरणभूमिं पिप्रिये प्रेक्षमाणः ॥३१५॥

किमयममरसर्गः[1] किं नु [2]जैनानुभावः

किमुत नियतिरेषा किं [3]स्विदैन्द्रः प्रभावः ।

इति विततवितर्कैः कौतुकाद् वीक्ष्यमाणा

जयति सुरसमाजैर्भर्तुरास्थानभूमिः ॥३१६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व ॥२२॥

धारण करनेवाला इन्द्र चारों निकायोंके देवोंके साथ आकर दूरसे ही नम्रीभूत हुआ था और समवसरण भूमिको देखता हुआ अतिशय प्रसन्न हुआ था ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥३१५॥ क्या यह देवलोककी नयी सृष्टि है ? अथवा यह जिनेन्द्र भगवान्‌का प्रभाव है, अथवा ऐसा नियोग ही है, अथवा यह इन्द्रका ही प्रभाव है । इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्क करते हुए देवोंके समूह जिसे बड़े कौतुकके साथ देखते थे ऐसी वह भगवान्‌की समवसरण भूमि सदा जयवन्त रहे ॥३१६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें
समवसरणका वर्णन करनेवाला बाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२२॥

---

१ सृष्टि· । २ जैनोऽनुभाव प०, अ०, द०, इ० । अनुभावः सामर्थ्यम् ।३. उत ।

त्रयोविंशं पर्व

अथ त्रिमेखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृते । स्फुरन्मणिविभाजालरचितामरकार्मुके ॥१॥
सुरेन्द्रकरविक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि । [1]हसतीव घनापायस्फु[2]रत्तारकमम्बरम् ॥२॥
चलच्चामरसंघातप्रतिबिम्बनिभागतैः[3] । हंसैरिव सरोबुद्ध्या सेव्यमानतटे[4] पृथौ ॥३॥
मार्तण्डमण्डलच्छायाप्रस्पर्धिनि महर्द्धिके । स्वर्धुनीफेननीकाशैः स्फटिकैर्घटिते क्वचित् ॥४॥
पद्मरागसमुत्सर्पन्मयूखैः क्वचिदास्तृते[5] । जिनपादतलच्छायाशोणिम्ने[6]वानुरञ्जिते ॥५॥
शुचौ स्निग्धे मृदुस्पर्शे जिनाङ्घ्रिस्पर्शपावने । पर्यन्तरचितानेकमङ्गलद्रव्यसंपदि ॥६॥
तत्र गन्धकुटीं [7]पृथ्वीं तुङ्गशालोपशोभिनीम् । [8]रराड् निवेशयामास स्वर्विमानातिशायिनीम् ॥७॥
त्रिमेखलाङ्किते पीठे सैषा गन्धकुटी बभौ । नन्दनादि[9]वनश्रेणीत्रयाद्[10] वोपरि चूलिका ॥८॥
यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिवमूर्धनि । तथा गन्धकुटी दीप्रा[11] पीठस्याधितलं[12] बभौ ॥९॥
नानारत्नप्रभोत्सर्पैस्तत्कूटैस्ततमम्बरम् । सचित्रमिव भाति स्म सेन्द्रचापमिवाथवा ॥१०॥

अथानन्तर–जो देदीप्यमान मणियोंकी कान्तिके समूहसे अनेक इन्द्रधनुषोंकी रचना कर रहा है, जो स्वयं इन्द्रके हाथोंसे फैलाये हुए पुष्पोंके समूहसे सुशोभित हो रहा था और उससे जो ऐसा जान पड़ता है मानो मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिसमें तारागण चमक रहे हैं ऐसे शरद्ऋतुके आकाशकी ओर हँस ही रहा हो; जिसपर ढुरते हुए चमरोंके समूहसे प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे और उनसे जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बड़े भारी तलभागकी सेवा कर रहे हों; जो अपनी कान्तिसे सूर्यमण्डलके साथ स्पर्द्धा कर रहा था; बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त था, और कहीं-कहींपर आकाश-गंगाके फेनके समान स्फटिकमणियोंसे जड़ा हुआ था; जो कहीं-कहींपर पद्मरागकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणतलकी लाल-लाल कान्तिसे ही अनुरक्त हो रहा हो; जो अतिशय पवित्र था, चिकना था, कोमल स्पर्शसे सहित था, जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र था और जिसके समीपमें अनेक मंगलद्रव्यरूपी सम्पदाएँ रखी हुई थीं ऐसे उस तीन कटनीदार तीसरे पीठके विस्तृत मस्तक अर्थात् अग्रभाग-पर कुबेरने गन्धकुटी बनायी। वह गन्धकुटी बहुत ही विस्तृत थी, ऊँचे कोटसे शोभायमान थी और अपनी शोभासे स्वर्गके विमानोंका भी उल्लंघन कर रही थी ॥१-७॥ तीन कटनियोंसे चिह्नित पीठपर वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही था मानो नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन इन तीन वनोंके ऊपर सुमेरु पर्वतकी चूलिका ही सुशोभित हो रही हो ॥८॥ अथवा जिस प्रकार स्वर्गलोकके ऊपर स्थित हुई सर्वार्थसिद्धि सुशोभित होती है उसी प्रकार उस पीठके ऊपर स्थित हुई वह अतिशय देदीप्यमान गन्धकुटी सुशोभित हो रही थी ॥९॥ अनेक प्रकारके रत्नोंकी कान्तिको फैलानेवाले उस गन्धकुटीके शिखरोंसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो अनेक चित्रोंसे सहित ही हो रहा हो अथवा इन्द्रधनुषोंसे युक्त ही

---

१. हसतीति हसन् तस्मिन् । २. –स्फुरत्तारक –ल०, म० । ३. व्याजादागतैः । ४. –तले ल०, इ०, द०, स०, म०, अ०, प० । ५. आवृते । ६. अरुणत्वेन । ७. पीवराम् । ८. धनद. । ९ नन्दनसौमनसपाण्डुक-वनश्रेणित्रयात् । १०. इव । ११. दीप्ता प०, द०, ल० । १२. उपरि तले ।

योत्तुङ्गैः शिखरैर्बद्धजयकेतनकोटिभिः । भुजशाखाः प्रसार्येव नभोगानाजुहूषत[1] ॥११॥
त्रिभिस्तलैरुपेतायाः भुवनत्रितयश्रियः । प्रतिमेव बभौ [2]व्योमसरोमध्येऽम्बुबिम्बिता ॥१२॥
स्थूलैर्मुक्तामयै[3]र्जालैर्लम्बमानैः समन्ततः । महाब्धिभिरिवानीतैर्योपायनशतैरभात् ॥१३॥
हैमैर्जालैः क्वचित् स्थूलैरायतैर्या विदिद्युते । कल्पाङ्घ्रिपोद्भवैर्दीप्रैः[4] प्रारोहै[5]रिव लम्बितैः ॥१४॥
रत्नाभरणमालाभिर्लम्बिताभिरितोऽमुतः । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव [6]प्रहितोपायनर्द्धिभिः ॥१५॥
स्रग्भिराकृष्टगन्धान्धमाद्यन्मधुपकोटिभिः । जिनेन्द्रमिव [7]तुष्टूषुरभाद् या मुखरीकृता ॥१६॥
स्तुवत्सुरेन्द्रसंदृ[8]ब्धगद्यपद्यस्तवस्वनैः । सरस्वतीव भाति स्म या विभुं स्तोतुमुद्यता ॥१७॥
रत्नालोकैर्विसर्पद्भिर्या वृत्ताङ्गी व्यराजत । जिनेन्द्राङ्गप्रभालक्ष्म्या घटितेव महाद्युतिः ॥१८॥
या प्रोत्सर्पद्भिराहूतमदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्दिशामिवायामं प्रमि[9]त्सुस्तततधूमकैः ॥१९॥
गन्धैर्गन्धमयीवासीत् सृष्टिः पुष्पमयीव च । पुष्पैर्धूपमयीवाभाद् धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥२०॥
सुगन्धिधूपनिःश्वासा सुमनोमालभारिणी । नानाभरणदीप्ताङ्गी या वधूरिव दिद्युते ॥२१॥

हो रहा हो ॥ १० ॥ जिनपर करोड़ों विजयपताकाएँ बँधी हुई हैं ऐसे ऊँचे शिखरोंसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने हाथोंको फैलाकर देव और विद्याधरोंको ही बुला रही हो ॥११॥ तीनों पीठोंसहित वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागमें जलमें प्रतिबिम्बित हुई तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही हो ॥१२॥ चारों ओर लटकते हुए बड़े-बड़े मोतियोंकी झालरसे वह गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बड़े-बड़े समुद्रोंने उसे मोतियोंके सैकड़ों उपहार ही समर्पित किये हों ॥१३॥ कहीं-कहींपर वह गन्धकुटी सुवर्णकी बनी हुई मोटी और लम्बी जालीसे ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले लटकते हुए देदीप्यमान अंकुरोंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥१४॥ जो स्वर्गकी लक्ष्मीके द्वारा भेजे हुए उपहारोंके समान जान पड़ती थी ऐसी चारों ओर लटकती हुई रत्नमय आभरणोंकी मालासे वह गन्धकुटी बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥१५॥ वह गन्धकुटी पुष्पमालाओंसे खिंचकर आये हुए गन्धसे अन्धे करोड़ों मदोन्मत्त भ्रमरोंसे शब्दायमान हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति ही करना चाहती हो ॥१६॥ स्तुति करते हुए इन्द्रके द्वारा रचे हुए गद्य-पद्यरूप स्तोत्रोंके शब्दोंसे शब्दायमान हुई वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान्का स्तवन करनेके लिए उद्यत हुई सरस्वती हो ॥१७॥ चारों ओर फैलते हुए रत्नोंके प्रकाशसे जिसके समस्त अंग ढके हुए हैं ऐसी वह देदीप्यमान गन्धकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्के शरीरकी लक्ष्मीसे ही बनी हो ॥१८॥ जो अपनी सुगन्धिसे बुलाये हुए मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रहा है और जिसका धुआँ चारों ओर फैल रहा है ऐसी सुगन्धित धूपसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो दिशाओंकी लम्बाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगन्धिसे वह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती थी मानो सुगन्धिसे ही बनी हो, सब दिशाओंमें फैले हुए फूलोंसे ऐसी मालूम होती थी मानो फूलोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैलते हुए धूपसे ऐसी प्रतिभासित हो रही थी मानो धूपसे ही बनी हो ॥२०॥ अथवा वह गन्धकुटी स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्रीका निःश्वास सुगन्धित होता है उसी प्रकार उस गन्धकुटीमें जो धूपसे सुगन्धित वायु बह रहा था वही उसके सुगन्धित निःश्वासके समान था। स्त्री जिस प्रकार

---

१. आह्वयन्ति स्म । २ आकाशसरोवरजलमध्ये । ३. दामभिरित्यर्थः । ४ दीप्तैः ल०, प०, द० । ५. शिफाभिः । ६. प्रेषित । ७. स्तोतुमिच्छुः । ८. रचित । ९ प्रमातुमिच्छुः ।

धूपगन्धैर्जिनेन्द्राङ्गसौगन्ध्यबहुलीकृतैः । सुरभीकृतविश्वाश्या[1] याधाद् गन्धकुटीश्रुतिम्[2] ॥२२॥
गन्धानामिव या सूतिर्भासां[3] [4]येवाधिदेवता । शोभानां [5]प्रसवक्ष्मेव या लक्ष्मीमधिकां दधे ॥२३॥
धनुषां षट्शतीमेषा[6] विस्तीर्णा यावदायता । विष्कम्भात्[7] साधिकोच्छ्राया मानोन्मानप्रमान्विता ॥२४॥

विद्युन्मालावृत्तम्

[8]तस्या मध्ये सैंहं पीठं नानारत्नव्राताकीर्णम् । मेरोः शृङ्गं न्यक्कुर्वाणं[9] चक्रे शक्रादेशाद्[10] [11]वित्तेट् ॥२५॥
भानुह्रेपि[12] श्रीमद्धैमं तुङ्गं भक्त्या जिष्णुं[13] भक्तुम्[14] । मेरुः शृङ्गं[15] स्वं वा[16] निन्ये पीठव्याजाद् दीप्रं[17] भासा

समानिकावृत्तम्

यत्प्रसर्पदंशुदष्टदिङ्मुखं महर्द्धिभासि । चारुरत्नसारमूर्ति भासते स्म नेत्रहारि ॥२७॥
पृथुप्रदीप्तदेहकं स्फुरत्प्रभाप्रतानकम् । परार्घ्यरत्नभासुरं सुराद्रिहासि[18] यद् बभौ ॥२८॥

फूलोंकी माला धारण करती है उसी प्रकार वह गन्धकुटी भी जगह-जगह मालाएँ धारण कर रही थी, और स्त्रीके अंग जिस प्रकार नाना आभरणोंसे देदीप्यमान होते हैं उसी प्रकार उस गन्धकुटीके अंग (प्रदेश) भी नाना आभरणोंसे देदीप्यमान हो रहे थे ॥२१॥ भगवान्‌के शरीरकी सुगन्धिसे बढ़ी हुई धूपकी सुगन्धिसे उसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं इसलिए ही वह गन्धकुटी इस सार्थक नामको धारण कर रही थी ॥२२॥ अथवा वह गन्धकुटी ऐसी शोभा धारण कर रही थी मानो सुगन्धिको उत्पन्न करनेवाली ही हो, कान्तिकी अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी ही हो और शोभाओंको उत्पन्न करनेवाली भूमि ही हो ॥२३॥ वह गन्धकुटी छह सौ धनुष चौड़ी थी, उतनी ही लम्बी थी और चौड़ाईमें कुछ अधिक ऊँची थी इस प्रकार वह मान और उन्मानके प्रमाणसे सहित थी ॥ २४ ॥ उस गन्धकुटीके मध्यमें धनपतिने एक सिंहासन बनाया था जो कि अनेक प्रकारके रत्नोंके समूहसे जड़ा हुआ था और मेरु पर्वतके शिखरको तिरस्कृत कर रहा था ॥ २५ ॥ वह सिंहासन सुवर्णका बना हुआ था, ऊँचा था, अतिशय शोभायुक्त था और अपनी कान्तिसे सूर्यको भी लज्जित कर रहा था तथा ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवा करनेके लिए सिंहासनके बहानेसे सुमेरु पर्वत ही अपने कान्तिसे देदीप्यमान शिखरको ले आया हो ॥ २६ ॥ जिससे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशाएँ व्याप्त हो रही थीं, जो बड़े भारी ऐश्वर्यसे प्रकाशमान हो रहा था, जिसका आकार लगे हुए सुन्दर रत्नोंसे अतिशय श्रेष्ठ था और जो नेत्रोंको हरण करनेवाला था ऐसा वह सिंहासन बहुत ही शोभायमान हो रहा था ॥ २७ ॥ जिसका आकार बहुत बड़ा और देदीप्यमान था, जिससे कान्तिका समूह निकल रहा था, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे प्रकाशमान था और जो अपनी शोभासे मेरु पर्वतकी भी हँसी करता था ऐसा वह सिंहासन बहुत अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ २८ ॥

---

१. विश्वाशा ल०, म० । विश्व जगत् । अश्यांम् अर्थादनपेताम् । २. संज्ञाम् । ३. कान्तीनाम् ।
४. गन्धकुटी । ५. उत्पत्ति । ६. सैषा ल०, म० । ७. विष्कम्भा किञ्चिदधिकोत्सेधा । ८. गन्धकुट्याः ।
९. अधःकुर्वाणम् । १०. शासनात् । ११. धनदः । १२ भानुं ह्रेपयति लज्जयति । १३. सर्वज्ञम् ।
१४. भजनाय । १५. आत्मीयम् । १६. इव । १७. दीप्तं ल०, म० । १८. सुराद्रिं हसतीत्येवं शीलम् ।

अनुष्टुप्

विष्टरं तदलंचक्रे भगवानादितीर्थकृत्। चतुर्भिरङ्गुलैः स्वेन महिम्ना स्पृष्टतत्तलः ॥२९॥

तत्रासीनं तमिन्द्राद्याः परिचेरु[1] र्महेज्यया। पुष्पवृष्टिं प्रवर्षन्तो नमोमार्गाद् घना इव ॥३०॥

अपप्तत्कौसुमी वृष्टिः प्रोर्णुवाना[2] नमोऽङ्गणम्। दृष्टिमालेव मत्तालिमाला वाचालिता नृणाम् ॥३१॥

द्विषड्यो[3]जनभूभागमामुक्ता[4] सुरवारिदैः। पुष्पवृष्टिः पतन्ती सा व्यधाच्चित्रं रजस्ततम्[5] ॥३२॥

चित्रपदावृत्तम्

वृष्टिरसौ कुसुमानां तुष्टिकरी प्रमदानाम्[6]। दृष्टिततीरनुकृत्य न्यपतदस्य पदान्ते ॥३३॥

षट्पदवृन्दविकीर्णैः पुष्परजोभिरुपेता। वृष्टिरमर्त्यविसृष्टा सौमनसी[7] रुरुचेऽसौ ॥३४॥

शीतलैर्वारिभिर्गाङ्गैरार्द्रिता कौसुमी वृष्टिः। षड्भ्रमैराकुलापप्तत् पत्युरग्रे ततामोदा ॥३५॥

भुजगशिशुभृतावृत्तम्

मरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः। मरुदुपविधुताः शाखाश्चिरमधृत महाशोकः ॥३६॥

मदकलविरुतैर्भृङ्गैरपि परपुष्टविहङ्गैः। स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिक्कुरुते स्म ॥३७॥

प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव उस सिंहासनको अलंकृत कर रहे थे। वे भगवान् अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊँचे अधर विराजमान थे उन्होंने उस सिंहासनके तलभागको छुआ ही नहीं था ॥२९॥ उसी सिंहासनपर विराजमान हुए भगवान्‌की इन्द्र आदि देव बड़ी-बड़ी पूजाओं-द्वारा परिचर्या कर रहे थे और मेघोंकी तरह आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥३०॥ मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे शब्दायमान तथा आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करती हुई पुष्पोंकी वर्षा ऐसी पड़ रही थी मानो मनुष्योंके नेत्रोंकी माला ही हो ॥३१॥ देवरूपी बादलों-द्वारा छोड़ी जाकर पड़ती हुई पुष्पोंकी वर्षाने बारह योजन तकके भूभागको पराग (धूलि) से व्याप्त कर दिया था, यह एक भारी आश्चर्यकी बात थी। भावार्थ—यहाँ पहले विरोध मालूम होता है क्योंकि वर्षासे तो धूलि शान्त होती है न कि बढ़ती है परन्तु जब इस बातपर ध्यान दिया जाता है कि वह पुष्पोंकी वर्षा थी और उसने भूभागको पराग अर्थात् पुष्पोंके भीतर रहनेवाले केशरके छोटे-छोटे कणोंसे व्याप्त कर दिया था तब वह विरोध दूर हो जाता है यह विरोधाभास अलंकार कहलाता है ॥३२॥ स्त्रियोंको सन्तुष्ट करनेवाली वह फूलोंकी वर्षा भगवान्‌के समीपमें पड़ रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो स्त्रियोंके नेत्रोंकी सन्तति ही भगवान्‌के समीप पड़ रही हो ॥३३॥ भ्रमरोंके समूहोंके द्वारा फैलाये हुए फूलोंके परागसे सहित तथा देवोंके द्वारा बरसायी वह पुष्पोंकी वर्षा बहुत ही अधिक शोभायमान हो रही थी ॥३४॥ जो गंगा नदीके शीतल जलसे भीगी हुई है, जो अनेक भ्रमरोंसे व्याप्त है और जिसकी सुगन्धि चारों ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवान्‌के आगे पड रही थी ॥३५॥

भगवान्‌के समीप ही एक अशोक वृक्ष था जो कि मरकतमणिके बने हुए हरे-हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलोंसे सहित था तथा मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई शाखाओं-को धारण कर रहा था ॥३६॥ वह अशोकवृक्ष मदसे मधुर शब्द करते हुए भ्रमरों और कोयलोंसे समस्त दिशाओंको शब्दायमान कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो

---

१. परिचर्या चक्रिरे, सेवा चक्रुरित्यर्थः। २. आच्छादयन्ती। ३. द्वादशयोजनप्रमितभूभागं व्याप्य। ४. आ समन्तान्मुक्ता। ५. विस्तृतम्। ६. स्त्रीणाम्। ७. सुमनसां कुसुमानां संबन्धिनी।

रुक्मवतीवृत्तम्

व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वैर्नृत्तमथासौ कर्तुमिवाग्रे ।
पुष्पसमूहैरञ्जलिमिद्धं भर्तुरकार्षीद् व्यक्तमशोकः ॥३८॥

पणववृत्तम्

रेजेऽशोकतरुरसौ रुन्धन्मार्गं व्योमचरमहेशानाम्[1] ।
तन्वन्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वन् शोकमयमसो ध्वान्तम् ॥३९॥

उपस्थितावृत्तम्

सर्वा हरितो[2] विटपैस्ततैः संमार्ष्टुमिवोद्यतर्धारसौ ।
[3]व्याप्यद्धिकचैः कुसुमोत्करैः पुष्पोपहृ[4]तिं विदधद्द्रुमः ॥४०॥

मयूरसारिणीवृत्तम्

वज्रमू[5]लबद्धरत्न[6]बुध्नं सज्जपा[7]भरत्नचित्रसूनम् ।
मत्तकोकिलालिसेव्यमेनं चक्रुरग्र्यमङ्घ्रिपं सुरेशाः ॥४१॥

छन्द (?)

छत्रं धवलं रुचिमत्कान्त्या चा[8]न्द्रीमजयद्रुचिरां लक्ष्मीम् ।
त्रेधा रुद्धे शशभृन्नूनं सेवां विदधज्जगतां पत्युः ॥४२॥
छत्राकारं दधदिव चान्द्रं बिम्बं शुभ्रं छत्रत्रितयमदो बाभा[9]सत ।
मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वैश्चक्रे सुत्रामवचनतो रैराट्[10] ॥४३॥

भगवान्‌की स्तुति ही कर रहा हो ॥३७॥ वह अशोकवृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखारूपी भुजाओंके चलानेसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के आगे नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌के आगे देदीप्यमान पुष्पाञ्जलि ही प्रकट कर रहा हो ॥३८॥ आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तारवाली शाखाओंको फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ॥३९॥ फूले हुए पुष्पोंके समूहसे भगवान्‌के लिए पुष्पोंका उपहार समर्पण करता हुआ वह वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो उन फैली हुई शाखाओंसे दिशाओंको साफ करनेके लिए ही तैयार हुआ हो ॥४०॥ जिसकी जड़ वज्रकी बनी हुई थी, जिसका मूल भाग रत्नोंसे देदीप्यमान था, जिसके अनेक प्रकारके पुष्प जपापुष्पकी कान्तिके समान पद्मरागमणियोंके बने हुए थे और जो मदोन्मत्त कोयल तथा भ्रमरोंसे सेवित था ऐसे उस वृक्षको इन्द्रने सब वृक्षोंमें मुख्य बनाया था ॥४१॥ भगवान्‌के ऊपर जो देदीप्यमान सफेद छत्र लगा हुआ था उसने चन्द्रमाकी लक्ष्मीको जीत लिया था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेके लिए तीन रूप धारण कर चन्द्रमा ही आया हो ॥४२॥ वे तीनों सफेद छत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छत्रका आकार धारण करनेवाले चन्द्रमाके बिम्ब ही हों, उनमें जो मोतियोंके समूह लगे हुए थे वे किरणोंके समान जान पड़ते थे इस प्रकार उस छत्र-त्रितयको कुबेरने इन्द्रकी आज्ञासे बनाया था ॥४३॥

---

१. गगनचरमहाप्रभूणाम् । २. दिशः । ३ व्याप्नोति स्म । ४. उपहारम् । ५. अङ्घ्रि । ६. मूलोपरिभागम् । ७. प्रशस्तजपाकुसुमसमानरागमयविचित्रप्रसूनम् । ८ चन्द्रसंबन्धिनीम् । ९. भृश विराजमानम् । १०. कुबेरः ।

इन्द्रवज्रावृत्तम्

रत्नैरनेकैः रचितं परार्घ्यैरुद्यद्दिनेशश्रियमाह्वयद्भिः ।
छत्रत्रयं तद्रुरुचेऽति[1] वीध्रं चन्द्रार्कसंपर्कविनिर्मितं वा ॥४४॥
सन्मौक्तिकं[2] वार्द्धिजलायमानं सश्रीकमिन्दुद्युतिहारि हारि ।
छत्रत्रयं तल्लसदिन्द्रवज्र[3] दध्रे परां कान्तिमुपेत्य नाथम् ॥४५॥

वंशस्थवृत्तम्

किमेष हासस्तनुते जगच्छ्रियः किमु प्रमोदल्लसितो यशोगणः ।
उत स्मयो[4] धर्मनृपस्य निर्मलो जगत्त्रयानन्दकरो नु चन्द्रमाः ॥४६॥
इति प्रतर्कं जनतामनस्वदो वितन्वदिद्धा[5] तपवारणत्रयम् ।
बभौ विभोर्मोहविनिर्जयार्जितं यशोमयं बिम्बमिव त्रिधास्थितम् ॥४७॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

पयः पयोधेरिव वीचिमाला[6] प्रकीर्णकानां ममितिः समन्तात् ।
जिनेन्द्रपर्यन्तनिषेविपक्षकरोत्करैराविरभूद् विभूता ॥४८॥

उपजातिवृत्तम्

पीयूष[7] शल्कैरिव निर्मिताङ्गी[8] चान्द्रैरिवांशैर्घटिताऽमलश्रीः ।
जिनाङ्घ्रिपर्यन्तमुपेत्य[9] भेजे प्रकीर्णकाली गिरिनिर्झरामाम्[10] ॥४९॥

वह छत्रत्रय उदय होते हुए सूर्यकी शोभाकी हँसी उड़ानेवाले अनेक उत्तम-उत्तम रत्नोंसे जड़ा हुआ था तथा अतिशय निर्मल था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रमा और सूर्यके सम्पर्क (मेल) से ही बना हो ॥४४॥ जिसमें अनेक उत्तम मोती लगे हुए थे, जो समुद्रके जलके समान जान पड़ता था, बहुत ही सुशोभित था, चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाला था, मनोहर था और जिसमें इन्द्रनील मणि भी देदीप्यमान हो रहे थे ऐसा वह छत्रत्रय भगवान्‌के समीप आकर उत्कृष्ट कान्तिको धारण कर रहा था ॥४५॥ क्या यह जगत्‌रूपी लक्ष्मीका हास फैल रहा है? अथवा भगवान्‌का शोभायमान यशरूपी गुण है? अथवा धर्मरूपी राजाका मन्द हास्य है? अथवा तीनों लोकोंमें आनन्द करनेवाला कलकरहित चन्द्रमा है, इस प्रकार लोगोंके मनमें तर्क-वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह देदीप्यमान छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मोहरूपी शत्रुको जीत लेनेसे इकट्ठा हुआ तथा तीन रूप धारण कर ठहरा हुआ भगवान्‌के यशका मण्डल ही हो ॥४६-४७॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके हाथोंके समूहोंसे जो चारों ओर चमरोंके समूह दुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसागरके जलके समूह ही हों ॥४८॥ अत्यन्त निर्मल लक्ष्मीको धारण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो अमृतके टुकड़ोंसे ही बना हो अथवा चन्द्रमाके अंशोंसे ही रचा गया हो तथा वही चमरोंके समूह भगवान्‌के चरणकमलोंके समीप पहुँचकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी पर्वतसे झरते हुए निर्झर ही हों ॥४९॥

---

१. नितरां धवलम् । २ प्रशस्तमौक्तिकत्वादिति हेतुगर्भितमिदम् । ३ विलसदिन्द्रनीलमाणिक्यवज्रो यस्य । ४ हासः । ५. दीप्तं । ६ चामराणाम् । ७ खण्डैः । ८ चन्द्रसम्बन्धिभिः । ९ भ्रेजे द० । १० -निर्झराभा द०, ल०, इ० ।

जितेन्द्रमामेवितुमागतेयं दिवापगा स्यादिति तर्क्यमाणा ।
पङ्क्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः सलीलं परिवीजितानाम् ॥५०॥
जैनी किमङ्गद्युतिरुद्व्रजन्ती[1] किमिन्दुभासां[2] ततिरापतन्ती[3] ।
इति स्म शङ्कां तनुते पतन्ती सा चामराली शरदिन्दुशुभ्रा ॥५१॥
सुधामलाङ्गी रुचिरा विरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसन्ती ।
क्षीरोदफेनावलीरुच्चलन्ती मरुद्विधूतेव [4]समिद्धकान्तिः ॥५२॥
लक्ष्मीं परामाप परा पतन्ती शशाङ्कपीयूषसमानकान्तिः ।
[5]सिषेविषुस्तं जिनमाव्रजन्ती[6] पयोधिवेलेव सुचामराली ॥५३॥

उपेन्द्रवज्रावृत्तम्

पतन्ति हंसाः किमु मेघमार्गात् किमुत्पतन्तीश्वरतो यशांसि ।
विशङ्क्यमानानि सुरैरितीशः[7] पेतुः समन्तात् सितचामराणि ॥५४॥

उपजातिः

यक्षैरुदक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः ।
न्यक्षेपि भर्तुर्विततां वलक्षा[8] तरङ्गमालेव मरुद्भिरब्धेः ॥५५॥
जितेन्द्रभक्त्या सुरनिम्नगेव [9]तद्व्याजमेत्याम्बरतः पतन्ती ।
सा निर्बभौ चामरपङ्क्तिरुच्चैर्ज्योत्स्नेव भव्योरुकुमुद्वतीनाम् ॥५६॥

यक्षोंके द्वारा लीलापूर्वक चारों ओर ढुराये जानेवाले निर्मल चमरोंकी वह पङ्क्ति बड़ी ही सुशोभित हो रही थी और लोग उसे देखकर ऐसा तर्क किया करते थे मानो यह आकाशगङ्गा ही भगवान्की सेवाके लिए आयी हो ॥५०॥ शरद्ऋतुके चन्द्रमाके समान सफेद पड़ती हुई वह चमरोंकी पंक्ति ऐसी आशंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवान्के शरीरकी कान्ति ही ऊपरको जा रही है अथवा चन्द्रमाकी किरणोंका समूह ही नीचेकी ओर पड रहा है ॥५१॥ अमृतके समान निर्मल शरीरको धारण करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान वह ढुरती हुई चमरोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो वायुसे कम्पित तथा देदीप्यमान कान्तिको धारण करनेवाली हिलती हुई और समुद्रके फेनकी पंक्ति ही हो ॥५२॥ चन्द्रमा और अमृतके समान कान्तिवाली ऊपरसे पड़ती हुई वह उत्तम चमरोंकी पंक्ति बड़ी उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त हो रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेकी इच्छासे आती हुई क्षीर-समुद्रकी वेला ही हो ॥५३॥ क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं अथवा भगवान्का यश ही ऊपरको जा रहा है इस प्रकार देवोंके द्वारा शंका किये जानेवाले वे सफेद चमर भगवान्के चारों ओर ढुराये जा रहे थे ॥५४॥

जिस प्रकार वायु समुद्रके आगे अनेक लहरोंके समूह उठाता रहता है उसी प्रकार कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले चतुर यक्ष भगवान्के आगे लीलापूर्वक विस्तृत और सफेद चमरोंके समूह उठा रहे थे अर्थात् ऊपरकी ओर ढोर रहे थे ॥५५॥ अथवा वह ऊँची चमरोंकी पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो उन चमरोंका बहाना प्राप्त कर जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिवश आकाशगंगा ही आकाशसे उतर रही हो अथवा भव्य जीवरूपी कुमुदिनियोंको विकसित करनेके लिए चाँदनी ही नीचेकी ओर आ रही हो ॥५६॥

---

१. उद्गच्छन्ती । २. मयूखानाम् । ३. आ समन्तात् पतन्ती । ४. समृद्ध । ५. सेवितुमिच्छुः । ६. आगच्छन्ती । ७. प्रभो । ८. प्रभोरुपरि । ९. धवला । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यभिधानात् । १०. चामरव्याज ।

इत्यात्ततोषैः स्फुरदक्षयक्षैः प्रवीज्यमानानि शशाङ्कभांसि[2] ।
रेजुर्जगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्धां वितन्वन्त्यधिचामराणि[3] ॥५७॥
लसत्सुधाराशिविनिर्मलानि तान्यप्रमेयद्युतिकान्तिभाञ्जि ।
विभोर्जगत्प्राभवमद्वितीयं शशंसुरुच्चैश्चमरीरुहाणि ॥५८॥
लक्ष्मीसमालिङ्गितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिह्नं दधतो जिनेशः[4] ।
प्रकीर्णकानाममितद्युतीनां[5] धीन्द्राश्चतुःषष्टिमुदाहरन्ति[6] ॥५९॥
जिनेश्वराणामिति चामराणि प्रकीर्तितानीह सनातनानाम् ।
अर्धार्धमानानि भवन्ति तानि[7] चक्रेश्वराद् यावदसौ सुराजा ॥६०॥

तोटकवृत्तम्

सुरदुन्दुभयो मधुरध्वनयो निनदन्ति सदा स्म नभोविवरे ।
जलदागमशङ्किभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः ॥६१॥
पणवस्तुणवैः कलमन्द्ररुतैः सहकाहलशङ्खमहापटहैः ।
ध्वनिरुत्ससृजे ककुभां विवरं मुखरं विदधत् पिदधच्च नभः ॥६२॥
घनकोणहताः सुरपाणविकैः[8] कुपिता इव ते सुसदां पटहाः ।
ध्वनिमुत्ससृजुः[9] किमहो बटराः[10] परिताडयथेति[11] विसृष्टगिरः ॥६३॥

इस प्रकार जिन्हें अतिशय संतोष प्राप्त हो रहा है और जिनके नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्षोंके द्वारा ढुराये जानेवाले वे चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिके धारक चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो भगवान्‌के गुणसमूहोंके साथ स्पर्धा ही कर रहे हों ॥५७॥ शोभायमान अमृतकी राशिके समान निर्मल और अपरिमित तेज तथा कान्तिको धारण करनेवाले वे चमर भगवान् वृषभदेवके अद्वितीय जगत्‌के प्रभुत्वको सूचित कर रहे थे ॥५८॥ जिनका वक्षःस्थल लक्ष्मीसे आलिंगित है और जो श्रीवृक्षका चिह्न धारण करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्रदेवके अपरिमित तेजको धारण करनेवाले उन चमरोंकी संख्या विद्वान् लोग चौसठ बतलाते हैं ॥५९॥ इस प्रकार सनातन भगवान् जिनेन्द्रदेवके चौसठ चमर कहे गये हैं और वे ही चमर चक्रवर्तीसे लेकर राजा पर्यन्त आधे-आधे होते हैं अर्थात् चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रीके सोलह, मण्डलेश्वरके आठ, अर्धमण्डलेश्वरके चार, महाराजके दो और राजाके एक चमर होता है ॥६०॥ इसी प्रकार उस समय वर्षाऋतुकी शंका करते हुए मदोन्मत्त मयूर जिनका मार्ग बड़े प्रेमसे देख रहे थे ऐसे देवोंके दुन्दुभी मधुर शब्द करते हुए आकाशमें बज रहे थे ॥६१॥ जिनका शब्द अत्यन्त मधुर और गम्भीर था ऐसे पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि बाजे समस्त दिशाओंके मध्यभागको शब्दायमान करते हुए तथा आकाशको आच्छादित करते हुए शब्द कर रहे थे ॥६२॥ देवरूप शिल्पियोंके द्वारा मजबूत दण्डोंसे ताड़ित हुए वे देवोंके नगाड़े जो शब्द कर रहे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कुपित होकर स्पष्ट शब्दोंमें

---

१. स्फुरितेन्द्रिय । २ शशाङ्कस्य भा इव भा येषां ते । ३. अधिकचामराणि । ४. जिनेश्वरस्य । ५. गणधरादय । विज्ञा ल०, इ०, म० । ६ ब्रुवन्ति । ७. चक्रेश्वरादारभ्य असौ सुराजा यावत् अयं श्रेणिको यावत् श्रेणिकपर्यन्तमर्द्धार्द्धानि भवन्तीत्यर्थः । ८ पणववादनशीलैः । ९. त्यक्तवन्तः । १०. स्थूलाः । ११. ताडनं कुरुथ ।

ध्वनिरम्बुमुचां किमयं स्फुरति क्षुभितोऽब्धिरुतस्फुरदूर्मिरवः ।
कृततर्कमिति प्रसरन् जयतात् सुरतूर्यरवो जिनमतु रसौ ॥६४॥
प्रभया परितो जिनदेहभुवा[1] जगती सकला [2]समवादिसृतेः ।
[3]रुरुचे [4]ससुरासुरमर्त्यजनाः किमिवाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः ॥६५॥
तरुणार्करुचिं नु[5] तिरोदधती सुरकोटिमहांसि[6] नु निर्धुनती ।
जगदेकमहोद[7]यमासृजति प्रथते स्म तदा जिनदेहरुचिः ॥६६॥
जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददृशुः ।
स्वभवान्तरसप्तकमात्तमुदो जगतो [8]बहु मङ्गलदर्पणके ॥६७॥
विधुमाशु विलोक्य नु विश्वसृजो गतमातपवारणतां त्रितयीम् ।
रविरि[9]द्धवपु स पुराणकविं समशिश्रियदङ्गविभानिभतः[10] ॥६८॥

यही कह रहे हों कि अरे दुष्टो, तुम लोग जोर-जोरसे क्यों मार रहे हो ॥६३॥ क्या यह मेघोंकी गर्जना है ? अथवा जिसमें उठती हुई लहरें शब्द कर रही है ऐसा समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? इस प्रकार तर्क-वितर्क कर चारों ओर फैलता हुआ भगवान्के देवदुन्दुभियोंका शब्द सदा जयवन्त रहे ॥६४॥ सुर, असुर और मनुष्योंसे भरी हुई वह समवसरणकी समस्त भूमि जिनेन्द्रभगवान्के शरीरसे उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्के ऐसे तेजमें आश्चर्य ही क्या है ॥६५॥ उस समय वह जिनेन्द्रभगवान्के शरीरकी प्रभा मध्याह्नके सूर्यकी प्रभाको तिरोहित करती हुई-अपने प्रकाशमें उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवोंके तेजको दूर हटाती हुई, और लोकमें भगवान्का बड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥६६॥ अमृतके समुद्रके समान निर्मल और जगत्को अनेक मंगल करनेवाले दर्पणके समान, भगवान्के शरीरकी उस प्रभा (प्रभामंडल) में सुर, असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भव देखते थे ॥६७॥ 'चन्द्रमा शीघ्र ही भगवान्के छत्रत्रयकी अवस्थाको प्राप्त हो गया है' यह देखकर ही मानो अतिशय देदीप्यमान सूर्य भगवान्के शरीरकी प्रभाके छलसे पुराण कवि भगवान् वृषभदेवकी सेवा करने लगा था। भावार्थ—भगवान्का छत्रत्रय

१. जिनदेहजनितया । २. समवसरणस्य । समवसरणस्तोत्रे समवसरणभूमीनामेकादशाना विस्तारो यथाक्रमं 'स्वम्बचतुर्विशाशो द्वयोश्चतुर्षु द्विताद्वितार्ध च । अर्द्धं त्रित्रिद्व्यष्टमभागा पञ्चसु तथा परेर्द्धं च' ॥ स्वशब्देनात्र वृषभादितीर्थंकराणा समवसरणभूमयो भण्यन्ते । तच्चतुर्विंशतिभागे । ह्रासादिचैतन्यभूमिक । भातिकयो' वल्लीवनादिषु चतुर्षु चतुर्विंशभाग एव द्विगुण तदर्द्ध भवनभूमिविस्तारः । भवनभूमिविस्तारादर्द्ध गणभूमिविस्तार । तत्त्रिद्व्यष्टमभागो द्वयोस्तथान्ये । गणभूमिविस्तार अष्टमभागो द्वयोः पीठयोः प्रत्येक विस्तारः। गणभूमिद्व्यष्टमभागः । अन्त्यपीठादूर्ध्वपर्यन्त विस्तार । आदितीर्थंकरापेक्षया एकादशभूमीना विस्तारा' क्रमेण लिख्यन्ते । योजनं २ खा–शित्र–१–उप–१ ध्वज–१ कल्प–१ भवनभू ३ गुण ४ पीठदण्डा. । ३. रुरुचे रुरुचे इति 'प' पुस्तके द्विविध पाठः । ४. सुरासुरमर्त्यजनैः सहिताः । ५. नु वितर्के । ६. तेजांसि । ७. महोमय ८०। अद्वितीयतेजोमयम् । ८. मङ्गलदर्पणसदृशे । ९ दीप्त– । १०. देहप्रभाव्याजात् ।

दोधकवृत्तम्

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानु[1]कृतिर्निरगच्छत् ।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्न[2] न्नद्युतदेष यथैव तमोऽरिः ॥६९॥
[3]एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट[4] बहूश्च कुभाषाः ।
[5]अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥७०॥
एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् ।
पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥७१॥
एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा [6]यद्यदुपाहितमस्य[7] विभासम्[8] ।
स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते [9]विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥७२॥
देवकृतो[10] ध्वनिरि[11]त्यसदेतद् देवगुणस्य तथा[12] विहतिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥७३॥

शालिनीवृत्तम्

इत्थंभूतां[13] देवराड्विश्वभर्तुर्भक्त्या देवैः कारयामास भूतिम् ।
दिव्यास्थानीं[14] [15]देवराजोपसेव्यामध्यास्तैनां[16] श्रीपतिर्विश्वदृश्वा ॥७४॥

चन्द्रमाके समान था और प्रभामण्डल सूर्यके समान था ॥६८॥ भगवान्‌के मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी ॥६९॥ यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे समस्त मनुष्योंकी भाषाओं और अनेक कुभाषाओंको अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगोंका अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वोंका बोध करा रही थी ॥७०॥ जिस प्रकार एक ही प्रकारका जलका प्रवाह वृक्षोंके भेदसे अनेक रसवाला हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञदेवकी वह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके भेदसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥७१॥ अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकारका होता है तथापि उसके पास जो-जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं वह अपनी स्वच्छतासे अपने आप उन-उन पदार्थोंके रंगोंको धारण कर लेता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान्‌की उत्कृष्ट दिव्यध्वनि भी यद्यपि एक प्रकारकी होती है तथापि श्रोताओंके भेदसे वह अनेक रूप धारण कर लेती है ॥७२॥ कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है परन्तु उनका वह कहना मिथ्या है क्योंकि वैसा माननेपर भगवान्‌के गुणका घात हो जायेगा अर्थात् वह भगवान्‌का गुण नहीं कहलायेगा, देवकृत होनेसे देवोंका कहलायेगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर-रूप ही है क्योंकि अक्षरोंके समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं होता ॥७३॥

इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् वृषभदेवकी ऐसी विभूति इन्द्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे करायी थी, और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके अधिपति सर्वज्ञदेव इन्द्रोंके द्वारा सेवनीय

---

१ अनुकारी । २ हन्तीति घ्नन् । ३ एकप्रकारः । ४. अन्तर्नयति स्म । ५ अज्ञानम् । ६. समीपमागतम् । ७. उपाहितद्रव्यस्य । ८ कान्तिम् । ९. विश्वज्ञानिनः । १० सर्वज्ञकृतः । ११ असत्यम् । १२ तथा सति । १३. इन्द्र । १४. समवसृतिम् । १५ इन्द्रसेवनीयाम् । १६ अधितिष्ठति स्म ।

वातोर्मिवृत्तम्

देवः साक्षात्सकलं वस्तुतत्त्वं विद्वान् विद्वज्जनतावन्दिताङ्घ्रिः ।
हैमं पीठं हरिभिर्ध्यात्तवक्त्रैरूढं भेजे जगतां बोधनाय ॥७५॥

भ्रमरविलसितम्

दृष्ट्वा देवाः समवसृतिमहीं चक्रुर्भक्त्या[2] परिगतिमुचिताम् ।
त्रिः[3] संभ्रान्ताः प्रमुदितमनसो देवं द्रष्टुं विविशुरथ सभाम् ॥७६॥

रथोद्धतावृत्तम्

व्योममार्गपरिरोधिकेतनैः[4] संमिमार्जिषुमिवाखिलं नभः ।
धूलिसालवलयेन वेष्टितां सन्तता[5]मरधनुर्वृतामिव ॥७७॥
स्तम्भशब्द[6]परमानवाग्मितान् या स्म धारयति खाग्रलङ्घिनः ।
स्वर्गलोकमिव सेवितुं विभुं व्याजु[7]हूषुरमलाग्रकेतुभिः ॥७८॥

स्वागतावृत्तम्

स्वच्छवारिशिशिराः सरसीश्च या विभर्ति[8] विकसितोत्पलनेत्राः ।
द्रष्टुमीशमसुरा[9]न्तकमुच्चैर्नेत्रपङ्क्तिमिव संघटयन्ती ॥७९॥
खातिकां जलविहङ्गविरावैरुन्नतैश्च विततोर्मिकरौघैः ।
या दधे जिनमुपासितुमिन्द्रान् आजुहूषुरिव निर्मलतोयाम् ॥८०॥

उस समवसरण भूमिमें विराजमान हुए थे ॥७४॥ जो समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं और अनेक विद्वान् लोग जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं ऐसे वे भगवान् वृषभदेव जगत्के जीवोंको उपदेश देनेके लिए मुँह फाड़े सिंहोंके द्वारा धारण किये हुए सुवर्णमय सिंहासन पर अधिरूढ़ हुए थे ॥७५॥ इस प्रकार समवसरण भूमिको देखकर देव लोग बहुत ही प्रसन्न-चित्त हुए, उन्होंने भक्तिपूर्वक तीन बार चारों ओर फिरकर उचित रीतिसे प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर भगवान्के दर्शन करनेके लिए उस सभाके भीतर प्रवेश किया ॥७६॥ जो कि आकाशमार्गको उल्लंघन करनेवाली पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त आकाशको झाड़कर साफ ही करना चाहती हो और धूलीसालके घेरेसे घिरी होनेके कारण ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो निरन्तर इन्द्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥७७॥ वह सभा आकाशके अग्रभागको भी उल्लंघन करनेवाले चार मानस्तम्भोंको धारण कर रही थी तथा उन मानस्तम्भोंपर लगी हुई निर्मल पताकाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान्की सेवा करनेके लिए स्वर्गलोकको ही बुलाना चाहती हो ॥७८॥ वह सभा स्वच्छ तथा शीतल जलसे भरी हुई तथा नेत्रोंके समान प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त अनेक सरोवरियोंको धारण किये हुए थी और उनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जन्म जरा मरणरूपी असुरोंका अन्त करनेवाले भगवान् वृषभदेवका दर्शन करनेके लिए नेत्रोंको पंक्तियाँ ही धारण कर रही हो ॥७९॥ वह समवसरण भूमि निर्मल जलसे भरी हुई, जलपक्षियोंके शब्दोंके शब्दायमान तथा ऊँची उठती हुई बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे युक्त परिखाको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो लहरोंके समूहरूपी हाथ ऊँचे उठाकर जलपक्षियोंके

---

१ विस्तृत । २ परिचर्याम् । ३. त्रिः प्रदक्षिण कृतवन्त. । ४ सम्मार्ष्टुमिच्छुम् । ५. विस्तृताम् । ६. मानस्तम्भानित्यर्थः । ७. आह्वातुमिच्छु । ८. विभर्ति स्म । ९ असून् प्राणान् रात्यादत्त इत्यसुरः यमः तस्यान्तकस्तम् ।

वृत्तावृत्तम्

बहुविधव[1]नलतिकाकान्त मदमधुकरविरुतातोद्यम् ।
वनमुपवहति च वल्लीनां स्मितमिव कुसुमचितं या स्म ॥८१॥

सैनिकावृत्तम्

सालमाद्यमुच्चगोपुरोद्गमं सविभर्ति भासुरं स्म हैमनम्[2] ।
[3]हैमनार्कसौम्यदीप्तिमुन्नतिं भर्तुरक्षरैर्विनैव या प्रदर्शिका ॥८२॥

छन्दः (?)

शरद्घनसमश्रियौ नर्तकी तडिद्विलसिते नृते[4] शालिके ।
दधाति रुचिरे स्म [5]योपासितुं जिनेन्द्रमिव [6]भक्तिसंभाजिता ॥८३॥

वंशस्थवृत्तम्

[7]घटीद्वन्द्वमुपात्तधूपकं[8] बभार या द्विस्तनयुग्मसन्नि[9]भम् ।
जिनस्य नृत्यै श्रुतदेवता स्वयं तथा स्थितेव[10] त्रिजगच्छ्रिया समम् ॥८४॥

इन्द्रवंशावृत्तम्

रम्यं वनं भृङ्गसमूहसेवितं वभ्रे चतु[11]ष्कंस्यमुपात्तकान्तिकम् ।
[12]वासो विनीलं परिधाय[13] तन्निभाद्[14] [15]वरेण्यमाराधयितुं स्थितेव या ॥८५॥

शब्दोंके बहाने भगवान्‌की सेवा करनेके लिए इन्द्रोंको ही बुलाना चाहती हो ॥८०॥ वह भूमि अनेक प्रकारकी नवीन लताओंसे सुशोभित, मदोन्मत्त भ्रमरोंके मधुर शब्दरूपी बाजोंसे सहित तथा फूलोंसे व्याप्त लताओंके वन धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो मन्द-मन्द हँस ही रही हो ॥८१॥ वह भूमि ऊँचे-ऊँचे गोपुर-द्वारोंसे सहित देदीप्यमान सुवर्णमय पहले कोटको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो भगवान् वृषभदेवकी हेमन्तऋतुके सूर्यके समान अतिशय सौम्य दीप्ति और उन्नतिको अक्षरोंके विना ही दिखला रही हो ॥८२॥ वह समवसरणभूमि प्रत्येक महावीथीके दोनों ओर शरद्ऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ और नृत्य करनेवाली देवांगनाओंरूपी बिजलियोंसे सुशोभित दो-दो मनोहर नृत्यशालाएँ धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्‌की उपासना करनेके लिए ही उन्हें धारण कर रही हो ॥८३॥ वह भूमि नाट्यशालाओंके आगे दो-दो धूपघट धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवाके लिए तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके साथ-साथ सरस्वती देवी ही वहाँ बैठी हों और वे घट उन्हींके स्तनयुगल हों ॥८४॥ वह भूमि भ्रमरोंके समूहसे सेवित और उत्तम कान्तिको धारण करनेवाले चार सुन्दर वन भी धारण कर रही थी और उनसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन वनोंके बहानेसे नील वस्त्र पहनकर भगवान्

---

१. नवलतिका ल० । २ हेमनिर्मितम् । ३ हेमन्तजातार्कस्य । ४. नृत्यस्य । ५. समवसृति । ६ भक्तिसंस्कृता । ७ धूपघटीयुगलम् । चतुर्थमिति । ८ धूमकम्, इत्यपि पाठः । ९ स्तनयुग्मद्वयसमानम् । १० समवसृत्याकारेण स्थितेव । ११ अशोकसप्तच्छदकल्पवृक्षचूतमिति । १२ वस्त्रम् । १३ परिधान विधाय । १४. वनव्याजात् । १५. सर्वज्ञम् ।

पुष्पवृत्तम्

उपवनसरसीनां [1]बालपद्मैर्द्युयुवतिमुखशोभामाहसन्ती ।
अधृत च वनवेदीं रत्नदीप्रां युवतिरिव कटीस्थां मेखलां या ॥८६॥

जलोद्धतगतिवृत्तम्

ध्वजाम्बरलताम्बरैः [2]परिगता [3]यका ध्वजनिवेश[4]नैर्दशतयैः[5] ।
जिनस्य महिमानमारचयितुं नभोङ्गणमिवामृ[6]जत्यतिवशौ ॥८७॥
खमिव सतारं कुसुमाढ्यं या वनमतिरम्यं सुरभूजानाम् ।
सह वनवेद्या परतः सालाद् व्यरुचद्विवोढ्वा सुकृतारामम् ॥८८॥
अधृत च यस्मात्परतो दीप्रं स्फुरदुरुरत्नं [7]भवनाभोगम् ।
मणिमयदेहालव च स्तूपान् [8]भुवनविजित्यायिव बद्धेच्छा ॥८९॥
स्फटिकमयं या रुचिरं सालं प्रवितनभूतिः [9]खमणिसुभित्तीः ।
[10]उपरितलं च त्रिजगद्ग्राहि व्यधृत पराध्यं सदनं लक्ष्म्याः ॥९०॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

समं [11]देववर्यैः पराध्योरुशोभां प्रपश्यंस्तथैनां महीं विस्मिताक्षः ।
प्रविष्टो महेन्द्रः प्रणष्टप्रमोहं जिनं द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥९१॥

की आराधना करनेके लिए ही खड़ी हो ॥८५॥ जिस प्रकार कोई तरुण स्त्री अपने कटि भागपर करधनी धारण करती है उसी प्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुए छोटे-छोटे कमलोंसे स्वर्गरूपी स्त्रीके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह समवसरण भूमि रत्नोंसे देदीप्यमान वनवेदिकाको धारण कर रही थी ॥८६॥ ध्वजाओंके वस्त्रोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाली दस प्रकारकी ध्वजाओंसे सहित वह भूमि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्‌की महिमा रचनेके लिए आकाशरूपी आँगनको साफ ही कर रही हो ॥८७॥ ध्वजाओंकी भूमिके बाद द्वितीयकोटके चारों ओर वनवेदिका सहित कल्पवृक्षोंका अत्यन्त मनोहर वन था, वह फूलोंसे सहित था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सहित आकाश ही हो। इस प्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस वनको धारण कर वह समवसरणभूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥८८॥ उस वनके आगे वह भूमि, जिसमें अनेक प्रकारके चमकते हुए बड़े-बड़े रत्न लगे हुए हैं ऐसे देदीप्यमान मकानोंको तथा मणियोंसे बने हुए नौ-नौ स्तूपोंको धारण कर रही थी और इससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो जगत्‌को जीतनेके लिए ही उसने इच्छा की हो ॥८९॥ उसके आगे वह भूमि स्फटिक मणिके बने हुए सुन्दर कोटको, अतिशय विस्तारवाली आकाशस्फटिकमणिकी बनी हुई दीवालोंको और उन दीवालोंके ऊपर बने हुए, तथा तीनों लोकोंके लिए अवकाश देने वाले अतिशय श्रेष्ठ श्रीमण्डपको धारण कर रही थी। ऐसी समवसरण सभाके भीतर इन्द्रने प्रवेश किया था* ॥९०॥ इस प्रकार अतिशय उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरण भूमिको देखकर जिसके नेत्र विस्मयको प्राप्त हुए हैं ऐसा वह सौधर्म स्वर्गका इन्द्र मोहनीय कर्मको

---

१. ईषद्विकचकमलपद्मैः । २. परिवृता । ३. या । ४. रचनाभिः । ध्वजस्थानैर्वा । ५ दशप्रकारैः । ६. सम्मार्जनं कुर्वति । ७. भवनभूमिविस्तारम् । प्रासादविस्तारमित्यर्थः । ८ भुवनविजयाय । ९ आकाशस्फटिक । १०. स्फटिकभित्युपरिमभागे लक्ष्म्याः सदनं लक्ष्मीमण्डपमित्यर्थः । ११. ईशानादीन्द्रैः महर्द्धिकदेवैश्च ।

* इन सब श्लोकोंका क्रिया सम्बन्ध पिछले छिहत्तरवें श्लोकसे है ।

अथापश्यदुच्चैर्ज्वलत्पीठमूर्ध्नि स्थितं देवदेवं चतुर्वक्त्रशोभम् ।
सुरेन्द्रैर्नरेन्द्रैर्मुनीन्द्रैश्च वन्द्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्यम् ॥९२॥
शरच्चन्द्रबिम्बप्रतिस्पर्धि वक्त्रं शरज्ज्योत्स्नयेव स्वकान्त्यातिकान्तम् ।
नवोत्फुल्लनीलाब्जसंशोभि नेत्रं सरः साब्जनीलोत्पलं व्याहसन्तम् ॥९३॥
ज्वलद्भासुराङ्गं स्फुरद्भानुबिम्बप्रतिद्वन्द्वि देहप्रभाब्धौ निमग्नम् ।
समुत्तुङ्गकायं सुराराधनीयं महामेरुकल्पं सुचामीकराभम् ॥९४॥
विशालोरुवक्षःस्थलस्थात्मलक्ष्म्या जगद्भर्तृभूय विनोक्त्या ब्रुवाणम् ।
निराहार्यवेषं निरस्तोरुभूषं निरक्षावबोधं निरुद्धात्मरोधम् ॥९५॥
सहस्रांशुदीप्रप्रभामध्यभाजं चलच्चामरौघैः सुरैर्वीज्यमानम् ।
ध्वनद्दुन्दुभिध्वाननिर्घोषरम्यं चलद्वीचिवेलं पयोधिं यथैव ॥९६॥
सुरोन्मुक्तपुष्पैस्ततप्रान्तदेशं महाशोकवृक्षाश्रितोत्तुङ्गमूर्तिम् ।
स्वकल्पद्रुमोद्यानमुक्तप्रसूनस्ततान्तं सुराद्रिं रुचा ह्रेपयन्तम् ॥९७॥

नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रभगवान्‌के दर्शनोंकी इच्छासे बड़ी भारी विभूतिपूर्वक उत्तम-उत्तम देवोंके साथ-साथ भीतर प्रविष्ट हुआ ॥९१॥

अथानन्तर—जो ऊँची और देदीप्यमान पीठिकाके ऊपर विराजमान थे, देवोंके भी देव थे, चारों ओर दीखनेवाले चार मुखोंकी शोभासे सहित थे, सुरेन्द्र नरेन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय थे, *जगत्‌की सृष्टि और संहारके मुख्य कारण थे। जिनका मुख शरद्‌ऋतुके चन्द्रमाके साथ स्पर्धा कर रहा था, जो शरद्‌ऋतुकी चाँदनीके समान अपनी कान्तिसे अतिशय शोभायमान थे, जिनके नेत्र नवीन फूले हुए नील कमलोंके समान सुशोभित थे और उनके कारण जो सफेद तथा नील-कमलोंसे सहित सरोवरकी हँसी करते हुए-से जान पड़ते थे। जिनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और देदीप्यमान था, जो चमकते हुए सूर्यमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाली अपने शरीरकी प्रभारूपी समुद्रमें निमग्न हो रहे थे, जिनका शरीर अतिशय ऊँचा था, जो देवोंके द्वारा आराधना करने योग्य थे, सुवर्ण-जैसी उज्ज्वल कान्तिके धारण करनेवाले थे और इसीलिए जो महामेरुके समान जान पड़ते थे। जो अपने विशाल वक्षःस्थलपर स्थित रहनेवाली अनन्तचतुष्टयरूपी आत्मलक्ष्मीसे शब्दोंके बिना ही तीनों लोकोंके स्वामित्वको प्रकट कर रहे थे, जो कवलाहारसे रहित थे, जिन्होंने सब आभूषण दूर कर दिये थे, जो इन्द्रिय ज्ञानसे रहित थे, जिन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्मोंको नष्ट कर दिया था। जो सूर्यके समान देदीप्यमान रहनेवाली प्रभाके मध्यमें विराजमान थे, देवलोग जिनपर अनेक चमरोंके समूह ढुरा रहे थे, बजते हुए दुन्दुभिबाजोंके शब्दोंसे जो अतिशय मनोहर थे और इसीलिए जो शब्द करती हुई अनेक लहरोंसे युक्त समुद्रकी वेला (तट) के समान जान पड़ते थे। जिनके समीपका प्रदेश देवोंके द्वारा वर्षाये हुए फूलोंसे व्याप्त हो रहा था, जिनका ऊँचा शरीर बड़े भारी अशोकवृक्षके आश्रित था—उसके नीचे स्थित था और इसीलिए जिसका समीप प्रदेश अपने कल्पवृक्षोंके उपवनों-द्वारा छोड़े हुए फूलोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतको अपनी कान्तिके द्वारा लज्जित कर रहे थे। और जो चमकते हुए

---

१ वर्णाश्रमादिकारणदण्डनीत्यादिविध्यो । २ प्रतिस्पर्द्धि । ३. जगत्पतित्वम् । ४. वस्त्रादिरहिताकारम् । जातरूपधरमित्यर्थः । ५. अतीन्द्रियज्ञानम् । ६. निरस्तज्ञानावरणादिकम् । ७ प्रभामण्डल । ८ दिव्यध्वनि ।

* मोक्षमार्गरूपी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले और पापरूपी सृष्टिको संहार करनेवाले थे।

प्रविस्तारिशुभ्रातपत्रत्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनाध्व[1] सुस्थितेन ।
स्वमाहात्म्यमैश्वर्यमुद्यद्यशश्च स्फुटीकर्तुमीशं तमीशानमाद्यम् ॥९८॥
प्रदृश्याथ दूरान्नतस्वोत्तमाङ्गाः सुरेन्द्राः प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु ।
किरीटाग्रभाजां स्रजां मालिकाभिर्जिनेन्द्राङ्घ्रियुग्मं स्फुटं प्रार्चयन्तः ॥९९॥
तदार्हत्प्रणामे समुत्फुल्लनेत्रा सुरेन्द्राः विरेजुः शुचिस्मेरवक्त्राः ।
समं वा[2] सरोभिः सपद्मोत्पलैः स्वैः कुलक्ष्माधरेन्द्राः सुराद्रिं भजन्तः ॥१००॥
शची चाप्सरोऽशेषदेवीसमेता जिनाङ्घ्र्योः प्रणामं चकारार्चयन्ती ।
स्ववक्त्रोरुपद्मैः स्वनेत्रोत्पलैश्च [3]प्रसन्नैश्च [4]भावप्रसूनैरनूनैः ॥१०१॥
जिनस्याङ्घ्रिपद्मौ नखांशुप्रतानैः सुरानास्पृशन्तौ समेत्याधिमूर्धम्[5] ।
स्रजाम्लानमूर्त्या स्वशेषां[6] पवित्रां[7] शिरस्यार्पिपेतां[8] मिवानुगृहीतुम् ॥१०२॥
जिनेन्द्राङ्घ्रिभासा पवित्रीकृतं ते [9]स्वमूहुः सुरेन्द्राः प्रणम्यातिभक्त्या ।
नखांशुप्रतानाम्बुलब्धाभिषेकं समुत्तुङ्गमत्युत्तमं चोत्तमाङ्गम् ॥१०३॥

मोतियोंसे सुशोभित आकाशमें स्थित अपने विस्तृत तथा धवल छत्रत्रयसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपना माहात्म्य ऐश्वर्य और फैलते हुए उत्कृष्ट यशको ही प्रकट कर रहे हों ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके उस सौधर्मेन्द्रने दर्शन किये ॥ ९२-९८ ॥ दर्शन कर दूरसे ही जिन्होंने अपने मस्तक नम्रीभूत कर लिये हैं ऐसे इन्द्रोंने जमीनपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया, प्रणाम करते समय वे इन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने मुकुटोंके अग्रभागमें लगी हुई मालाओंके समूहसे जिनेन्द्र भगवान्के दोनों चरणोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥ उन अरहन्त भगवान्को प्रणाम करते समय जिनके नेत्र हर्षसे प्रफुल्लित हो गये और मुख सफेद मन्द हास्यसे युक्त हो रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो जिनमें सफेद और नील कमल खिले हुए हैं ऐसे अपने सरोवरोंके साथ-साथ कुलाचलपर्वत सुमेरु पर्वतकी ही सेवा कर रहे हों ॥१००॥ उसी समय अप्सराओं तथा समस्त देवियोंसे सहित इन्द्राणीने भी भगवान्के चरणोंको प्रणाम किया था, प्रणाम करते समय वह इन्द्राणी ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने प्रफुल्लित हुए मुखरूपी कमलोंसे, नेत्ररूपी नील कमलोंसे और विशुद्ध भावरूपी बहुत भारी पुष्पोंसे भगवान्की पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरणोंके समूहसे देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्पर्श कर रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो कभी म्लान न होनेवाली मालाके बहानेसे अनुग्रह करनेके लिए उन देवोंके मस्तकोंपर शेषाक्षत ही अर्पण कर रहे हों ॥१०२॥ वे इन्द्र लोग, अतिशय भक्तिपूर्वक प्रणाम करते समय जो जिनेन्द्रभगवान्के चरणोंकी प्रभासे पवित्र किये गये हैं तथा उन्हींके नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे जिन्हें अभिषेक प्राप्त हुआ है ऐसे अपने उन्नत और अत्यन्त उत्तम मस्तकोंको धारण कर रहे थे। भावार्थ- प्रणाम करते समय इन्द्रोंके मस्तकपर जो भगवान्के चरणोंकी प्रभा पड़ रही थी उससे वे उन्हें अतिशय पवित्र मानते थे, और जो नखोंकी कान्ति पड़ रही थी उससे उन्हें ऐसा समझते थे मानो उनका जलसे अभिषेक ही किया गया हो इस प्रकार वे अपने उत्तमांग अर्थात् मस्तकको वास्तवमें उत्तमांग अर्थात् उत्तम अंग मानकर ही धारण कर रहे थे ॥१०३॥

१. अन्यैरसंधार्यमाणसदाकाशस्थितेन । २. इव । ३. प्रशान्तस्वभाव-अ० । ४. परिणामकुसुमैः । ५. मस्तके । ६. निजसिद्धशेषाम् । ७. शिरःस्वार्पिपेनाम् इ० । शिरःस्वार्पिपानाम् ल०, द० । ८. अर्पितवन्तौ । ९. आत्मीयम् ।

नखांशूत्करव्याजमव्याजशोभं पुलोमात्मजा साप्सरा भक्तिनम्रा ।
स्तनोपान्तलग्नं समूहे[1]ऽशुके तद्ग्रहासायमानं लसन्मुक्तिलक्ष्म्याः ॥१०४॥
प्रणामक्षणे ते सुरेन्द्रा विरेजुः स्वदेवीसमेता ज्वलद्भूषणाङ्गाः ।
महाकल्पवृक्षाः समं कल्पवल्ली[2]समित्येव भक्त्या जिनं सेवमानाः ॥१०५॥
अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेन्द्राः स्वहस्तैर्जिनस्याङ्घ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः ।
[3]सगन्धैः समाल्यैः सधूपैः सदीपैः सदिव्याक्षतैः [4]प्राज्यपीयूषपिण्डैः ॥१०६॥
पुरोरङ्गवल्ल्या तते[5] भूमिभागे सुरेन्द्रोपनीता बभौ सा सपर्या[6] ।
शुचिद्रव्यसंपत्समस्तेव भर्तुः पदोपास्तिमिच्छु[7] श्रिता तच्छलेन[8] ॥१०७॥
शची रत्नचूर्णैर्बलिं[9] भर्तुरग्रे तता[10] नोन्मयूख[11]प्ररोहैर्विचित्राम् ।
मृदुस्निग्धचित्रै[12]रनेकप्रकारैः सुरेन्द्रायुधानामिव श्लक्ष्णचूर्णैः ॥१०८॥
ततो नीरधारां शुचिं स्वानुकारां लसद्रत्नभृङ्गारनालस्रुतां ताम् ।
निजां स्वान्तवृत्तिप्रसन्नामिवाच्छां जिनोपाङ्घ्रि[13] संपातयामास भक्त्या ॥१०९॥
[14]स्वरुद्भूतगन्धैः सुगन्धीकृताशैर्भ्रमद्भृङ्गमालाकृतारावहृद्यैः ।
जिनाङ्घ्री स्मरन्ती विभोः पादपीठं समानर्च[15] भक्त्या तदा शक्रपत्नी ॥११०॥

इन्द्राणी भी जिस समय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उस समय देदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्तम हास्यके समान आचरण करनेवाला और स्वभावसे ही सुन्दर भगवान्‌के नखोंकी किरणोंका समूह उसके स्तनोंके समीप भागमें पड़ रहा था और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो सुन्दर वस्त्र ही धारण कर रही हो ॥१०४॥ अपनी-अपनी देवियोंसे सहित तथा देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित थे वे इन्द्र प्रणाम करते ऐसे जान पड़ते थे मानो कल्पलताओंके साथ बड़े-बड़े कल्पवृक्ष ही भगवान्‌की सेवा कर रहे हों ॥१०५॥

अथानन्तर इन्द्रोंने बड़े सन्तोषके साथ खड़े होकर श्रद्धायुक्त हो अपने ही हाथोंसे गन्ध, पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिण्डों-द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंकी पूजा की ॥१०६॥ रंगावलीसे व्याप्त हुई भगवान्‌के आगेकी भूमिपर इन्द्रोंके द्वारा लायी वह पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उसके छलसे संसारकी समस्त द्रव्य-रूपी सम्पदाएँ भगवान्‌के चरणोंकी उपासनाकी इच्छासे ही वहाँ आयी हों ॥१०७॥ इन्द्राणीने भगवान्‌के आगे कोमल चिकने और सूक्ष्म अनेक प्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मण्डल बनाया था, वह मण्डल ऊपरकी ओर उठती हुई किरणोंके अंकुरोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही बना हो ॥१०८॥ तदनन्तर इन्द्राणीने भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणोंके समीपमें देदीप्यमान रत्नोंके भृंगारकी नालसे निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी। वह जलधारा इन्द्राणीके समान ही पवित्र थी और उसीकी मनो-वृत्तिके समान प्रसन्न तथा स्वच्छ थी ॥१०९॥ उसी समय इन्द्राणीने जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणोंका स्मरण करते हुए भक्तिपूर्वक जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी थीं, तथा जो फिरते हुए भ्रमरोंकी पंक्तियों-द्वारा किये हुए शब्दोंसे बहुत ही मनोहर जान पड़ती थी ऐसी स्वर्गलोकमें

---

१. वहति स्म । २. कल्पलतासमूहेन । ३. सुगन्धैः ल० । ४. भूरि । ५. विस्तृते । ६ पूजा । ७. पादपूजाम् । ८. इन्द्रकृतपूजाव्याजेन । ९. रङ्गवलिम् । १०. विस्तारितवती । ११. किरणाङ्कुरैः । १२. सूक्ष्मैः अ०, प०, ल०, द०, इ० । १३ अङ्घ्रिसमीपे । १४. स्वर्गजात । १५. अर्चयति स्म ।

स्यधान्मौक्तिकौघैर्विभोस्तण्डुलेज्यां[1] स्वचित्तप्रसादैरिव स्वच्छभाभिः ।
तथाम्लानमन्दारमालाशतैश्च प्रभोः पादपूजामकार्षीत् प्रहर्षात् ॥१११॥
ततो रत्नदीपैर्जिनाङ्गद्युतीनां प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः ।
जिनार्कं शची प्रार्चिचद्भक्तिनिघ्ना[2] न भक्ता हि युक्तं विदन्त्यप्ययुक्तम् ॥११२॥
ददौ[3] धूपमिद्धं च पीयूषपिण्डं महास्थालसंस्थं[4] ज्वलद्दीपदीपम् ।
सतारं[5] शशाङ्कं समाश्लिष्टराहुं जिनाङ्घ्र्यब्जयोर्वा समीपं प्रपन्नम्[6] ॥११३॥
फलैरप्यनल्पैस्वतामोदहृद्यैर्ध्वनद्भृङ्गयूथैरुपास्यमानः ।
जिनं गातुकामैरिवातिप्रमोदात् फलायार्चयामास सुत्रामजाया ॥११४॥
इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितेऽर्हन् किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः ।
विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि[7] नासौ फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजीति[8] ॥११५॥
अथोच्चैः सुरेशा गिरामीशितारं जिनं स्तोतुकामाः प्रहृष्टान्तरङ्गाः ।
वचस्सून[9] मालामिमां चित्रवर्णां समुच्चिक्षिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्वैः ॥११६॥

उत्पन्न हुई सुगन्धसे भगवान्‌के पादपीठ (सिंहासन)की पूजा की थी ॥११०॥ इसी प्रकार अपने चित्तकी प्रसन्नताके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवान्‌की अक्षतोंसे होनेवाली पूजा की तथा कभी नहीं मुरझानेवाली कल्पवृक्षके फूलोंकी सैकड़ों मालाओंसे बड़े हर्षके साथ भगवान्‌के चरणोंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर भक्तिके वशीभूत हुई इन्द्राणीने जिनेन्द्र भगवान्‌के शरीरकी कान्तिके प्रसारसे जिनका निजी प्रकाश मन्द पड़ गया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा की थी सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुष योग्य अथवा अयोग्य कुछ भी नहीं समझते । भावार्थ–यह कार्य करना योग्य है अथवा अयोग्य, इस बातका विचार भक्तिके सामने नहीं रहता। यही कारण था कि इन्द्राणीने जिनेन्द्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकों-द्वारा की थी ॥११२॥ तदनन्तर इन्द्राणीने धूप तथा जलते हुए दीपकोंसे देदीप्यमान और बड़े भारी थालमें रखा हुआ, सुशोभित अमृतका पिण्ड भगवान्‌के लिए समर्पित किया, वह थालमें रखा हुआ धूप तथा दीपकोंसे सुशोभित अमृतका पिण्ड ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सहित और राहुसे आलिंगित चन्द्रमा ही जिनेन्द्र-भगवान्‌के चरणकमलोंके समीप आया हो ॥११३॥ तदनन्तर जो चारों ओर फैली हुई सुगन्धिसे बहुत ही मनोहर थे और जो शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूहोंसे सेवनीय होनेके कारण ऐसे जान पड़ते थे मानो भगवान्‌का यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंके द्वारा इन्द्राणीने बड़े भारी हर्षसे भगवान्‌की पूजा की थी ॥११४॥ इसी प्रकार देवोंने भी भक्तिपूर्वक अर्हन्त भगवान्‌की पूजा की थी परन्तु कृतकृत्य भगवान्‌को इन सबसे क्या प्रयोजन था ? वे यद्यपि वीतराग थे न किसीसे सन्तुष्ट होते थे और न किसीसे द्वेष ही करते थे तथापि अपने भक्तोंको इष्टफलोंसे युक्त कर ही देते थे यह एक आश्चर्यकी बात थी ॥११५॥

अथानन्तर–जिन्हें समस्त विद्याओंके स्वामी जिनेन्द्रभगवान्‌की स्तुति करनेकी इच्छा हुई ऐसे वे बड़े-बड़े इन्द्र प्रसन्नचित्त होकर अपने भक्तिरूपी हाथोंसे चित्र-विचित्र वर्णोंवाली इस वचनरूपी पुष्पोंकी मालाको अर्पित करने लगे–नीचे लिखे अनुसार भगवान्‌की

---

१. अक्षतपुञ्जपूजाम् । २. भक्त्यधीना । ३. ददे द०, इ० । ४. महाभाजनस्थम् । ५. तारकासहितम् । ६. प्राप्तम् । ७. द्वेष करोति । ८. भृशं युनक्ति । ९ वाक्प्रसनमालाम् ।

प्रमिताक्षरावृत्तम्

जिननाथसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यताः स्म गुणरत्ननिधेः ।
[1]विधियोऽपि मन्दवचसोऽपि ननु त्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफलम् ॥११७॥
[2]मतिशक्तिसारकृतवाग्विभवस्त्वयि भक्तिमेव वयमातनुम. ।
अमृताम्बुधेर्जलमलं न पुमानखिलं प्रपातुमिति किं न पिबेत् ॥११८॥
क्व वयं जडाः क्व च गुणाम्बुनिधिस्तव देव [3]पाररहितः परम ।
इति [4]जानतोऽपि जिन सम्प्रति [5]नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुरुते ॥११९॥
गणभृद्भिरप्यगणितानणून् स्तव सद्गुणान्वयममीष्टुमहे ।
किल चित्रमेतदथवा प्रभुतां तव संश्रित किमिव नेशिशिषुः[6] ॥१२०॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

तदियमीडिडिषन्[7] विदधाति नस्त्वयि निरूढतरा जिननिश्चला ।
प्रसृतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽद्य ततो वयमुद्यताः ॥१२१॥
त्वमसि विश्वदगीश्वर विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः ।
त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥१२२॥

स्तुति करने लगे ॥११६॥ कि हे जिननाथ, यह निश्चय है कि आपके विषयमें की हुई भक्ति ही इष्ट फल देती है इसीलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नोंके खजानेस्वरूप आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हो रहे हैं॥ ११७॥ हे भगवन्, जिन्हें बुद्धिकी सामर्थ्यसे कुछ वचनोंका वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग केवल आपकी भक्ति ही कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृतके समुद्रका सम्पूर्ण जल पीनेके लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्यके अनुसार थोड़ा भी नहीं पीये ? अर्थात् अवश्य पीये ॥ ११८॥ हे देव, कहाँ तो जड़बुद्धि हम लोग, और कहाँ आपका पापरहित बड़ा भारी गुणरूपी समुद्र। हे जिनेन्द्र, यद्यपि इस बातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगोंको वाचालित कर रही है ॥११९॥ हे देव, यह आश्चर्यकी बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरोंके द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं उनकी हम स्तुति कर रहे हैं अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुताको प्राप्त हुआ है वह क्या करनेके लिए समर्थ नहीं है ? अर्थात् सब कुछ करनेमे समर्थ है ॥ १२० ॥ इसलिए हे जिनेन्द्र, आपके विषयमे उत्पन्न हुई अतिशय निगूढ, निश्चल और अपरिमित गुणोंका उदय करनेवाली विशाल भक्ति ही हम लोगोंको स्तुति करनेके लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आज आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुए हैं ॥१२१॥ हे ईश्वर, आप समस्त संसारके जाननेवाले हैं, कर्मभूमिरूप संसारकी रचना करनेवाले है, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, अविनाशी हैं, और हे देव, आपका उपदेश जगत्के समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, इसीलिए हे जिनेन्द्र, आप हम सबकी स्तुतिको स्वीकृत

---

१. विगतमतय । २. मतिशक्त्यनुसार। ३. अन्तरहित । ४. जानन्तीति जानन्त. तान् । ५ अस्मान्। ६. भृश समर्था अभूवन् । ७. ईडितुमिच्छन् ।

तव जिनार्क विभान्ति गुणांशवः सकलकर्मकलङ्कविनिःसृताः।
घनवियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भासुरभानवः[1] ॥१२३॥
गुणमणींस्त्वमनन्ततयान्वितान् जिन समुद्वहसेऽतिविनिर्मलान्।
जलधिरात्मगभीरजलाश्रितानिव मणीनमलाननणुत्विषः ॥१२४॥
त्वमिनसंसृतिवल्लरिकामिमामतिततामुरुदुःखफलप्रदाम्।
जननमृत्युजराकुसुमाचितां शमकरैर्भगवन्नुदपीपटः[2][3] ॥१२५॥

तामरसवृत्तम्

जिनवरमोहमहापृतनेशान् प्रबलतरांश्चतुरस्तु[4] कषायान्।
निशिततपोमयतीव्रमहासि[5] प्रहतिभिराशुतरामजयस्त्वम् ॥१२६॥
मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्यं विरतिमयी[6] शितहेतितति स्ते।
समरमरं विनिपातयति स्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः[7] ॥१२७॥
जितमदनस्य तवेश महत्त्वं वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञम्।
न विकृतिभाग न कटाक्षनिरीक्षा परमविकारमनाभरणोद्धम्[8][9] ॥१२८॥
[10]प्रविकुरुते हृदि यस्य मनोजः स विकुरुते स्फुटरागपरागः[11]।
विकृतिरनङ्गजितस्तव नाभूद् विभवभवान्भुवनैकगुरुस्तत्[12] ॥१२९॥

कीजिए ॥१२२॥ हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, जिस प्रकार बादलोंके हट जानेसे अतिशय निर्मल सूर्यकी देदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसी प्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके हट जानेसे प्रकट हुई आपकी गुणरूपी किरणें अतिशय सुशोभित हो रही हैं ॥१२३॥ हे जिनेन्द्र, जिस प्रकार समुद्र अपने गहरे जलमें रहनेवाले निर्मल और विशाल कान्तिके धारक मणियोंको धारण करता है उसी प्रकार आप अतिशय निर्मल अनन्तगुणरूपी मणियोंको धारण कर रहे हैं ॥१२४॥ हे स्वामिन्, जो अत्यन्त विस्तृत है, बड़े-बड़े दुःखरूपी फलोंको देनेवाली है, और जन्म-मृत्यु तथा बुढ़ापारूपी फूलोंसे व्याप्त है ऐसी इस संसाररूपी लताको हे भगवन्, आपने अपने शान्त परिणामरूपी हाथोंसे उखाड़कर फेंक दिया है ॥ १२५ ॥ हे जिनवर, आपने मोहकी बड़ी भारी सेनाके सेनापति तथा अतिशय शूर-वीर चार कषायोंको तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और बड़ी तलवारके प्रहारोंसे बहुत शीघ्र जीत लिया है ॥१२६॥ हे भगवन्, जो किसीके द्वारा जीता न जा सके और जो दिखाई भी न पड़े ऐसे कामदेवरूपी शत्रुको आपके चारित्ररूपी तीक्ष्ण हथियारोंके समूहने मार गिराया है इसलिए तीनों लोकोंमें आप ही सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं ॥१२७॥ हे ईश्वर, जो न कभी विकारभावको प्राप्त होता है, न किसीको कटाक्षोंसे देखता है, जो विकाररहित है और आभरणोंके बिना ही सुशोभित रहता है ऐसा यह आपका सुन्दर शरीर ही कामदेवको जीतनेवाले आपके माहात्म्यको प्रकट कर रहा है ॥१२८॥ हे संसार-रहित जिनेन्द्र, कामदेव जिसके हृदयमें प्रवेश करता है वह प्रकट हुए रागरूपी परागसे युक्त होकर अनेक प्रकारकी विकारयुक्त चेष्टाएँ करने लगता है परन्तु कामदेवको जीतनेवाले आपके कुछ भी विकार नहीं पाया जाता है इसलिए आप तीनों लोकोंके मुख्य गुरु हैं ॥१२९॥

---

१. किरणाः । २. उपशमहस्तैः । पक्षे सूर्यकिरणैः । ३. उत्पाटयसि स्म । विनाशयसि स्मेत्यर्थः । ४. चतुष्कम् । ५. प्रभृतिभि–ल०, द० । असितोमरादिभिः । ६. निशितायुध । ७. अतिशयेन गुरुः । ८. न विकारकारि । ९. प्रशस्तम् । १०. विकारं करोति । ११. रागधूलिः । १२. कारणात् ।

स किल विनृत्यति गायति वल्गत्यपलापति[1] प्रहसत्यपि मूढः ।
मदनवशो जितमन्मथ ते तु प्रशमसुखं वपुरेव निराह[2] ॥१२०॥

नवमालिनीवृत्तम्

विरहितमानमत्सर तवेदं वपुरपराग[3] मस्तकलिपङ्कम् ।
तव भुवनेश्वरत्वमपराग प्रकटयति स्फुटं[4] निकृतिविहीनम् ॥१२१॥
तव [5]वपुराभिलसकलशोभासमुदयमस्तवस्त्रमपि रम्यम् ।
अतिरुचिरस्य रत्नमणिराशेरपवरण[6] किमिष्टमुरुदीप्तेः ॥१२२॥
[7]स्विदिरहितं विहीनमलदोषं सुरभितरं सुलक्षणघटितं ते ।
[8]क्षतजवियुक्तमस्ततिमिरौघं व्यपगतधातु वज्रघन[9] संधि ॥१२३॥
समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवागनिमेषपरिहीनम् ।
वपुरिदमच्छदिव्यमणिदीप्रं त्वमसि ततोऽधि[10]देवपदभागी ॥१२४॥
इदमतिमानुषं तव शरीरं सकलविकारमोहमदहीनम् ।
प्रकटयतीश ते भुवनलङ्घि[11] प्रभुतम वैभवं कनककान्ति ॥१२५॥

प्रमुदितवदनावृत्तम्

स्पृशति नहि भवन्तमागस्व[12] यः किमु [13]दिनपमभिद्रवेत्तामसम्[14] ।
वितिमिर[15] समवान्[16] जगत्साधने[17] ज्वलदुरुमहमा प्रदीपायते ॥१२६॥

हे कामदेवको जीतनेवाले जिनेन्द्र, जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश हुआ करता है वह नाचता है, गाता है, इधर-उधर घूमता है, सत्य बातको छिपाता है और जोर-जोरसे हँसता है परन्तु आपका शरीर इन सब विकारोंसे रहित है इसलिए यह शरीर ही आपके शान्तिसुखको प्रकट कर रहा है ॥१२०॥ हे मान और मात्सर्यभावसे रहित भगवन्, कर्मरूपी धूलिसे रहित, कलहरूपी पंकको नष्ट करनेवाला, रागरहित और छलरहित आपका वह शरीर 'आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं' इस बातको स्पष्टरूपसे प्रकट कर रहा है ॥१२१॥ हे नाथ, जिसमें समस्त शोभाओंका समुदाय मिल रहा है ऐसा यह आपका शरीर वस्त्ररहित होनेपर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि विशाल कान्तिको धारण करनेवाले अतिशय देदीप्यमान रत्न मणियोंकी राशिको वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है ? अर्थात् नहीं लगता ॥१२२॥ हे भगवन्, आपका यह शरीर पसीनासे रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यन्त सुगन्धित है, उत्तम लक्षणोंसे सहित है, रक्तरहित है, अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाला है, धातुरहित है, वज्रमयी मजबूत सन्धियोंसे युक्त है, समचतुरस्रसंस्थानवाला है, अपरिमित शक्तिका धारक है, प्रिय और हितकारी वचनोंसे सहित है, निमेषरहित है, और स्वच्छ दिव्य मणियोंके समान देदीप्यमान है इसलिए आप देवाधिदेव पदको प्राप्त हुए हैं ॥१२३-१२४॥ हे स्वामिन्, समस्त विकार, मोह और मदसे रहित तथा सुवर्णके समान कान्तिवाला आपका यह लोकोत्तर शरीर संसारको उल्लंघन करनेवाली आपकी अद्वितीय प्रभुताके वैभवको प्रकट कर रहा है ॥१२५॥ हे अन्धकारसे रहित जिनेन्द्र, पापोंका समूह कभी आपको छूता भी नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि क्या अन्धकारका समूह भी कभी

---

१. अपलाप करोति । २. नितरामाह । ३. न विद्यते परागो धूलिर्यत्र अपगतरजसमित्यर्थं । ४. कपट । ५. आयुजत् । ६. आच्छादनम् । ७ स्वेद । ८. रुधिररहितम् । ९. निविड । १०. अधिक । ११ अतिशय-प्रभो । १२. अघसमूह. । १३. 'तपनमभि' इति वा पाठ इति 'त' पुस्तके टिप्पण्यां लिखितम् । १४. गच्छेत् । १५. भो विगताज्ञानान्धकार । १६. पूज्य । १७. जगत्ससिद्धौ । 'जगत्सदने' अ०, प०, छन्दोभङ्गादशुद्धः पाठ । जगत्सद्मनि इ० ।

जलधरमालावृत्तम्

रैधारा ते द्युम्न[1] मवतारेऽपप्त[2] न्नाकेशानां[3] पद्धतिमशेषां रुध्वा ।
स्वर्गादारात् कनकमयी वा सृष्टिं तन्वानासौ भुवनकुटीरस्यान्तः ॥१३७॥
रैधारैरावतकरदीर्घा रेजे रे[4] जेतारं[5] भजत जना इत्येवम् ।
मूर्तीभूता तव जिनलक्ष्मीर्लोके संबोधं वा सपदि समातन्वाना ॥१३८॥
त्वत्संभूतौ सुरकरमुक्ता व्योम्नि[6] पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा संरेजे ।
मत्तालीनां कलरुतमातन्वाना नाकस्त्रीणां नयनततिर्वा यान्ती ॥१३९॥
मेरोः श्रृङ्गे समजनि दुग्धाम्भोधेः स्वच्छाम्भोभिः कनकघटैर्गम्भीरैः ।
माहात्म्यं ते जगति वितन्वन्भावि[7] स्वर्धौरे[8] यैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥१४०॥
त्वां निष्क्रान्तौ मणिमययानारूढं वोढुं सज्जा[9] वयमिति नैतच्चित्रम् ।
आनिर्वाणान्नियतममी गीर्वाणाः[10] किंकुर्वाणा ननु जिन कल्याणे ते ॥१४१॥
त्वं धातासि त्रिभुवनभर्तास्यत्वे[11] कैवल्यार्के स्फुटमुदितेऽस्मिन्दीप्रे[12] ।
तस्माद्देवं[13] जननजरातङ्कारिं त्वां नक्षमो[14] गुणनिधिमग्र्यं लोके ॥१४२॥

सूर्यके सम्मुख जा सकता है ? अर्थात् नहीं जा सकता। हे नाथ, आप इस जगत्‌रूपी घरमें अपने देदीप्यमान विशाल तेजसे प्रदीपके समान आचरण करते हैं ॥१३६॥ हे भगवन्, आपके स्वर्गसे अवतार लेनेके समय (गर्भकल्याणकके समय) रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे शीघ्र ही इस जगत्‌रूपी कुटीके भीतर पड़ रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त सृष्टिको सुवर्णमय ही कर रही हो ॥१३७॥ हे जिनेन्द्र, ऐरावत हाथीकी सूँड़के समान लम्बायमान वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आपकी लक्ष्मी ही मूर्ति धारण कर लोकमें शीघ्र ही ऐसा सम्बोध फैला रही हो कि अरे मनुष्यो, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले इन जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवा करो ॥१३८॥ हे भगवन् , आपके जन्मके समय आकाशसे देवोंके हाथोंसे छोड़ी गयी अत्यन्त सुगन्धित और मदोन्मत्त भ्रमरोंकी मधुर गुञ्जारको चारों ओर फैलाती हुई जो फूलोंकी वृष्टि हुई थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो देवांगनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥१३९॥ हे स्वामिन्, इन्द्रोंने मेरुपर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुए सुवर्णमय गम्भीर (गहरे) घड़ोंसे जगत्‌में आपका माहात्म्य फैलानेवाला आपका बड़ा भारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥ हे जिन, तपकल्याणकके समय मणिमयी पालकीपर आरूढ हुए आपको ले जानेके लिए हम लोग तत्पर हुए थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि निर्वाण पर्यन्त आपके सभी कल्याणकोंमें ये देव लोग किंकरोंके समान उपस्थित रहते हैं ॥१४१॥ हे भगवन् , इस देदीप्यमान केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होनेपर यह स्पष्ट प्रकट हो गया है कि आप ही धाता अर्थात् मोक्षमार्गकी सृष्टि करनेवाले हैं और आप ही तीनों लोकके स्वामी हैं। इसके सिवाय आप जन्मजरारूपी रोगोंका अन्त करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं और लोकमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए हे देव, आपको हम

---

१. स्वर्गावतरणे । २ पतति स्म । ३. खाङ्गणम् । ४. अहो । ५. जयशीलम् । ६. व्योम्न ल० । ७. स्वामिन् ल०, द०, इ० । ८. स्वर्लोकमुख्यै. । ९. सन्नद्धाः । १० किङ्करा । ११. इदानीम् । १२. दीप्ते ल० । १३. जननजरान्तकातीतं द०, इ० । १४. भृशं पुनःपुनर्वा नमामः ।

प्रहर्षिणीवृत्तम्

त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ता त्वं स्रष्टा भुवनपितामहस्त्वमेव ।
त्वां ध्यायन्नमृतिसुखं प्रयाति जन्तुस्त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात्[1] ॥१४३॥

रुचिरावृत्तम्

परं पदं परमसुखोदयास्पदं विवित्सव[2]श्शिवमिह योगिनोऽजरम् ।
त्वयोदितं जिन परमागमाक्षरं विचिन्वते[3] भवविलयाय सद्धियः ॥१४४॥
त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वते परां धृतिं[4] प्रमदपरम्परायुजः ।
त एव[5] संसृतिलतिकां प्रतायिनीं[6] दहन्त्यलं स्मृतिदहनार्चिषा भृशम् ॥१४५॥

मत्तमयूरवृत्तम्

वातोद्धूताः क्षीरपयोधेरिव वीचीरालोक्ये[7]माश्चामरपङ्क्तीर्भवदीयाः ।
पीयू[8]षांशोर्दीप्तिसन्त[9]तीरिव शुभ्रा मोमुच्यन्ते संसृतिभाजो भवबन्धात् ॥१४६॥
सैंहं पीठं स्वा[10]द्युतिमिद्धामतिभानुं[11] तन्वानं तद्भाति विभोस्ते पृथु तुङ्गम् ।
मेरोः शृङ्गं वा मणिनद्धं[12] सुरसेव्यं[13] न्यक्कुर्वाणं लोकमशेषं स्वमहिम्ना ॥१४७॥

मञ्जुभाषिणीवृत्तम्

महितोदयस्य शिवमार्गदेशिनः सुरशिल्पिनिर्मितमदोऽर्हतस्तव ।
[14]प्रथते सितातपनिवारणत्रयं शरदिन्दुबिम्बमिव कान्तिमत्तया ॥१४८॥

लोग बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१४२॥ हे नाथ, इस संसारमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही स्वामी हैं, आप ही स्रष्टा हैं और आप ही जगत्के पितामह हैं। आपका ध्यान करनेवाला जीव अवश्य ही मृत्युरहित सुख अर्थात् मोक्षसुखको प्राप्त होता है इसलिए हे भगवन्, आज आप इन तीनों लोकोंको नष्ट होनेसे बचाइए–इन्हें ऐसा मार्ग बतलाइए जिससे ये जन्म-मरणके दुःखोंसे बच कर मोक्षका अनन्त सुख प्राप्त कर सकें ॥१४३॥ हे जिनेन्द्र, परम सुखकी प्राप्तिके स्थान तथा अविनाशी उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को जाननेकी इच्छा करनेवाले उत्तम बुद्धिमान् योगी संसारका नाश करनेके लिए आपके द्वारा कहे हुए परमागमके अक्षरोंका चिन्तवन करते हैं ॥१४४॥ हे जिनराज, जो मनुष्य आपके द्वारा बतलाये हुए मार्गमें परम सन्तोष धारण करते हैं अथवा आनन्दकी परम्परासे युक्त होते हैं वे ही इस अतिशय विस्तृत संसाररूपी लताको आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे बिलकुल जला पाते हैं ॥१४५॥ हे भगवन्, वायुसे उठी हुई क्षीरसमुद्रकी लहरोंके समान अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके समूहके समान सुशोभित होनेवाली आपकी इन सफेद चमरोंकी पंक्तियोंको देखकर संसारी जीव अवश्य ही संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥१४६॥ हे विभो, सूर्यको भी तिरस्कृत करनेवाली और अतिशय देदीप्यमान अपनी कान्तिको चारों ओर फैलाता हुआ, अत्यन्त ऊँचा, मणियोंसे जड़ा हुआ, देवोंके द्वारा सेवनीय और अपनी महिमासे समस्त लोकोंको नीचा करता हुआ यह आपका सिंहासन मेरु पर्वतके शिखरके समान शोभायमान हो रहा है ॥१४७॥ जिनका ऐश्वर्य अतिशय उत्कृष्ट है और जो मोक्ष-मार्गका उपदेश देनेवाले हैं ऐसे आप अरहन्त देवका यह देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया

---

१ संसाराब्धौ पतनात् । २. वेत्तुमिच्छवः । ३. विचारयन्ति । ४. सन्तोषम् । ५. ते भव्या एव । ६ विस्तृताम् । ७. दृष्ट्वा । ८. चन्द्रस्य । ९. दीप्तिसन्ततिः । १०. निजकान्तिम् । ११. अतिक्रान्तभानुम् । १२ मणिबद्धम् । १३. अध: कुर्वाणम् । १४ प्रकटीकरोति ।

छन्दः (?)

वृक्षोऽशोको मरकतरुचिरस्कन्धो भाति श्रीमानयमतिरुचिराः शाखाः ।
बाहूकृत्य स्फुटमिव नटित[1] तन्वन्वातोद्धूतः कलरुतमधुकृन्मालः[2] ॥१४९॥
पुष्पाकीर्णो नृसुरमुनिवरैः कान्तो मन्दं मन्दं मृदुतरपवना[3] धूतः ।
सच्छायोऽयं विहत[4] नृशुगशोकोऽग्र्यो भाति श्रीमांस्त्वमिव हि जगतां श्रेयः[5] ॥१५०॥

असम्बाधावृत्तम्

व्याप्ताकाशां वृष्टि[6] मलिकुलरुतोद्गीतां पौष्पीं देवास्त्वां प्रतिभुवनगृहस्याग्रात् ।
मुञ्चन्त्येते दुन्दुभिमधुररवैः सार्द्धं प्रावृड्जीमूतान्[7] स्तनितमुखरितान् जित्वा ॥१५१॥

अपराजितावृत्तम्

स्वदमरपटहैर्विशङ्क्य[8] घनागमं पटुजलदघटानिरुद्धनभोङ्गणम् ।
विरचितरुचिरकलापसुमन्थरा[8] मदकलमधुना रुवन्ति[9] [10]शिखावलाः ॥१५२॥

गया छत्रत्रय अपनी कान्तिसे शरद्ऋतुके चन्द्रमण्डलके समान सुशोभित हो रहा है ॥१४८॥ हे भगवन्, जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे अतिशय देदीप्यमान हो रहा है और जिसपर मधुर शब्द करते हुए भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह शोभायमान तथा वायुसे हिलता हुआ आपका अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी अत्यन्त देदीप्यमान शाखाओंको भुजा बनाकर उनके द्वारा स्पष्ट नृत्य ही कर रहा हो ॥१४९॥ अथवा अत्यन्त सुकोमल वायुसे धीरे-धीरे हिलता हुआ यह अशोकवृक्ष आपके ही समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिस प्रकार आप देवोंके द्वारा बरसाये हुए पुष्पोंसे आकीर्ण अर्थात् व्याप्त हैं उसी प्रकार यह अशोकवृक्ष भी पुष्पोंसे आकीर्ण है, जिस प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज आपको चाहते हैं—आपकी प्रशंसा करते हैं उसी प्रकार मनुष्य देव और बड़े-बड़े मुनिराज इस अशोकवृक्षको भी चाहते हैं, जिस प्रकार पवनकुमार देव मन्द-मन्द वायु चलाकर आपकी सेवा करते हैं उसी प्रकार इस वृक्षकी भी सेवा करते हैं—यह मन्द-मन्द वायुसे हिल रहा है, जिस प्रकार आप सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिके धारक हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् छांहरीका धारक है-इसकी छाया बहुत ही उत्तम है, जिस प्रकार आप मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करते हैं उसी प्रकार यह वृक्ष भी मनुष्य तथा देवोंका शोक नष्ट करता है और जिस प्रकार आप तीनों लोकोंके श्रेय अर्थात् कल्याणरूप है उसी प्रकार यह वृक्ष भी तीनों लोकोंमें श्रेय अर्थात् मंगलरूप हैं ॥१५०॥ हे भगवन्, ये देव लोग, वर्षाकालके मेघोंकी गरजनाके शब्दोंको जीतनेवाले दुन्दुभि बाजोंके मधुर शब्दोंके साथ-साथ जिसने समस्त आकाशको व्याप्त कर लिया है और जो भ्रमरोंकी मधुर गुंजारसे गाती हुई-सी जान पड़ती है ऐसी फूलोंकी वर्षा आपके सामने लोकरूपी घरके अग्रभागसे छोड़ रहे हैं ॥१५१॥ हे भगवन्, आपके देव-दुन्दुभियोंके कारण बड़े-बड़े मेघोंकी घटाओंसे आकाशरूपी आँगनको रोकनेवाली वर्षाऋतुकी शंका कर ये मयूर इस समय अपनी सुन्दर पूँछ फैलाकर मन्द-मन्द

१. नटनम् । २. भ्रमरपंक्तिः । ३ पवनोद्धूतः ल०, इ० । ४ नृशुक् नरशोक. । विहितनृसुराशोको ल०, इ०, अ०, स० । ५. श्रयणीयः । ६. मलिकुल ल०, म० । ७. मेघरववाचालितान् । ८. बर्हमन्दगमना र ९. ध्वनन्ति । १०. मयूरा. ।

प्रहरणकलिकावृत्तम्

तव जिन ततदेहरुचिशरवणे[1] चमररुहततिः सितविहग[2]रुचिम् ।
इयमनुतनुते[3] रुचिरतरतनुर्मणिमुकुटसमिद्धरुचिसुरधुता ॥१५३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती ।
तत्त्वावबोधमचिरात् कुरुते बुधानां स्याद्वादनीति[4]विहतान्धमतान्धकारा ॥१५४॥
प्रक्षालयत्यखिलमेव मनोमलं नस्त्वद्भारतीमयमिदं शुचिपुण्यमम्बु ।
तीर्थं तदेव हि विनेयजनाजवञ्ज[5]वावारसन्तरणवर्त्म भवत्प्रणीतम् ॥१५५॥
त्वं सर्वग सकलवस्तु[6]गतावबोधस्त्वं सर्वविद्प्रमितविश्वपदार्थसार्थः ।
त्वं सर्वजिद्विदितमन्मथमोहशत्रुस्त्वं सर्वदृङ्निखिलभावविशेषदर्शी ॥१५६
त्वं तीर्थकृत्सकलपापमलापहारिसद्धर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः ।
त्वं मन्त्रकृन्निखिलपापविषापहारिपुण्यश्रुति[7]प्रवरमन्त्रविधानचुञ्चुः[8] ॥१५७॥
त्वामामनन्ति मुनयः पुरुषं पुराणं त्वां प्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयर्द्धिम् ।
तस्माद्भवान्तक भवन्तमचिन्त्ययोगं योगीश्वरं जगदु[9]पास्यमुपास्महे[10] स्म ॥१५८॥

गमन करते हुए मदसे मनोहर शब्द कर रहे हैं ॥ १५२ ॥ हे जिनेन्द्र, मणिमय मुकुटोंको देदीप्यमान कान्तिको धारण करनेवाले देवोंके द्वारा ढोरी हुई तथा अतिशय सुन्दर आकारवाली यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कान्तिरूपी सरोवरमें सफेद पक्षियों (हंसों)-की शोभा बढा रही है ॥१५३॥ हे भगवन्, जिसमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुए हैं, जो समस्त भाषाओंका निदर्शन करती है अर्थात् जो अतिशय विशेषके कारण समस्त भाषाओं-रूप परिणमन करती है और जिसने स्याद्वादरूपी नीतिसे अन्यमतरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ऐसी आपकी यह दिव्यध्वनि विद्वान् लोगोंको शीघ्र ही तत्त्वोंका ज्ञान करा देती है ॥१५४॥ हे भगवन्, आपकी वाणीरूपी यह पवित्र पुण्य जल हम लोगोंके मनके समस्त मलको धो रहा है, वास्तवमे यही तीर्थ है और यही आपके द्वारा कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजनोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका मार्ग है ॥१५५॥ हे भगवन्, आपका ज्ञान संसार-की समस्त वस्तुओं तक पहुँचा है-समस्त वस्तुओंको जानता है इसलिए आप सर्वग अर्थात् व्यापक है, आपने ससारके समस्त पदार्थोंके समूह जान लिये हैं इसलिए आप सर्वज्ञ हैं, आपने काम और मोहरूपी शत्रुको जीत लिया है इसलिए आप सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप संसारके समस्त पदार्थोंको विशेषरूपसे देखते है इसलिए आप सर्वदृक् अर्थात् सबको देखनेवाले हैं ॥१५६॥ हे भगवन्, आप समस्त पापरूपी मलको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मरूपी तीर्थके द्वारा जीवोंको निर्मल करनेके लिए सदा तत्पर रहते हैं इसलिए आप तीर्थङ्कर हैं और आप समस्त पापरूपी विषको अपहरण करनेवाले पवित्र शास्त्ररूपी उत्तम मन्त्रके बनानेमें चतुर हैं इसलिए आप मन्त्रकृत् हैं ॥१५७॥ हे भगवन्, मुनि लोग आपको ही पुराण पुरुष अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पक्षमें ब्रह्मा) मानते हैं, आपको ही ऋषियोंके ईश्वर और अक्षय ऋद्धिको धारण करनेवाले अच्युत अर्थात् अविनाशी (पक्षमें विष्णु) कहते हैं तथा आपको ही अचिन्त्य योगको धारण करनेवाले, और समस्त जगत्के उपासना करने योग्य

---

१. सरसि । २. हंस । ३. अनुकरोति । ४ नय । ५. संसारसमुद्रोत्तरण । ६. सकलपदार्थप्राप्त-ज्ञानत्वात् उपर्यप्येव योज्यम् । ७. आगम । ८. प्रतीत (समर्थ.) । ९. जगदाराध्यम् । १०. आराधयाम स्म ।

तुभ्यं नमः सकलघातिमलव्यपायसंभूतकेवलमयामललोचनाय।
तुभ्यं नमो दुरितबन्धनशृङ्खलानां छेत्त्रे[1] भवार्गलभिदे[2] जिनकुञ्जराय ॥१५९॥
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्यं नमः परमनिर्वृतिकारणाय।
तुभ्यं नमोऽधिगुरवे[3] गुरवे गुणौघैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्त्रयाय ॥१६०॥
इत्युच्चकैः स्तुतिमुदारगुणानुरागादस्माभिरीश रचितां त्वयि चित्रवर्णाम्।
देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूतां पादार्पितां स्रजमिवानुगृहाण चार्वीम् ॥१६१॥
त्वामीड्[4] महे जिन भवन्तमनुस्मरामस्त्वां कुड्मलीकृतकरा प्रणमाम नाम।
त्वत्संस्तुतावुपचितं यदिहाद्य पुण्यं तेनास्तु भक्तिरमला त्वयि नः प्रसन्ना ॥१६२॥
इत्थं सुरासुरनरोरगयक्षसिद्धगन्धर्वचारण[5]गणैस्समभिद्धबोधा।
द्वात्रिंशदिन्द्रवृषभा[6] वृषभाय तस्मै चक्रुर्नमः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥१६३॥
स्तुत्वेति तं जिनमजं जगदेकबन्धुं भक्त्या नतोरुमुकुटैरमरैः सहेन्द्राः।
धर्मप्रिया[7] जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमभजन् जिनसम्मुखास्याः ॥१६४॥

योगीश्वर अर्थात् मुनियोंके अधिपति (पक्षमें महेश) कहते है इसलिए हे संसारका अन्त करनेवाले जिनेन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप आपकी हम लोग भी उपासना करते हैं ॥१५८॥ हे नाथ, समस्त घातियाकर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जिनके केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र उत्पन्न हुआ है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो। जो पापबन्धरूपी सांकलको छेदनेवाले हैं, संसाररूपी अर्गलको भेदनेवाले हैं और कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनोंमें हाथीके समान श्रेष्ठ हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥१५९॥ हे भगवन्, आप तीनों लोकोंके एक पितामह हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप परम निर्वृति अर्थात् मोक्ष अथवा सुखके कारण हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप गुरुओंके भी गुरु हैं तथा गुणोंके समूहसे भी गुरु अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए भी आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आपने समस्त तीनों लोकोंको जान लिया है इसलिए भी आपको नमस्कार हो ॥१६०॥ हे ईश, आपके उदार गुणोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णों (अक्षरों अथवा रंगों) वाली उत्तम स्तुति की है इसलिए हे देव, हे परमेश्वर, हम सबपर प्रसन्न होइए और भक्तिसे पवित्र तथा चरणोंमें अर्पित की हुई सुन्दर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिए ॥१६१॥ हे जिनेन्द्र, आपकी स्तुति कर हम लोग आपका बार-बार स्मरण करते हैं, और हाथ जोड़कर आपको नमस्कार करते हैं। हे भगवन्, आपकी स्तुति करनेसे आज यहाँ हम लोगोंको जो कुछ पुण्यका संचय हुआ है उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रसन्नरूप भक्ति हो ॥ १६२ ॥ इस प्रकार जिनका ज्ञान अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसे मुख्य-मुख्य बत्तीस इन्द्रोंने, (भवनवासी १०, व्यन्तर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व और चारणोंके समूहके साथ-साथ सैकड़ों स्तुतियों-द्वारा मस्तक झुकाते हुए उन भगवान् वृषभदेवके लिए नमस्कार किया ॥ १६३ ॥ इस प्रकार धर्मसे प्रेम रखनेवाले इन्द्र लोग, अपने बड़े-बड़े मुकुटोंको नम्रीभूत करनेवाले देवोंके साथ-साथ फिर कभी उत्पन्न नहीं होनेवाले और जगत्के एकमात्र बन्धु जिनेन्द्रदेवकी स्तुति कर समवसरण भूमिसे जिनेन्द्र भगवान्की ओर मुखकर उन्हींके चारों ओर यथायोग्यरूपसे बैठ गये ॥१६४॥

---

१. छेदकाय। २. भेदकाय। ३. अधिकगुरवे। ४. '–मीड्म हे' इति 'छ' पुस्तकगतो पाठोऽशुद्धः। ५. स्तुतिपाठक। ६. इन्द्रश्रेष्ठाः। ७. जिनपतेः समन्तात्।

देहे जिनस्य जयिनः[1] कनकावदाते रेजुस्तदा भृशममी सुरदृष्टिपाताः ।
[2]कल्पाङ्घ्रिपाङ्ग इव मत्तमधुव्रतानामोघाः प्रसूनमधुपानपिपासितानाम् ॥१६५॥

इन्दुवदनावृत्तम्

कुञ्जरकराभभुजमिन्दुसमवक्त्रं कुञ्चितमितस्थितशिरोरुहकलापम् ।
मन्दरतटाभपृथुवक्षसमधीशं तं जिनमवेक्ष्य दिविजाः प्रमदमीयुः ॥१६६॥

शशिकला, मणिगणकिरणो वा वृत्तम्

विकसितसरसिजदलनिभनयन करिकरसुरुचिरभुजयुगममलम् ।
जिनवपुरतिशयरुचियुतममरा निदध्युरतिधृति[3] विमुकुलनयना ॥१६७॥
विधुरुचिहरचमररुहपरिगतं मनसिजशरशतनिपतनविजयि ।
जिनवरवपुरवधुतसकलमल नि[4]पपुरमृतमिव शुचि सुरमधुपाः ॥१६८॥
कमलदलविलसदनि[5]मिषनयनं प्रहसित[6]निभमुखमतिशयसुरभि ।
सुरनरपरिवृढनयनसुखकर व्यरुचदधिकरुचि जिनवृषभवपुः ॥१६९॥
जिनमुखशतदलमनिमिषनयनभ्रमरमतिसुरभि विधुतविधुरुचि ।
मनसिजहिमहतिविरहितमतिरुक्[7] पपुरविदितधृति[8] सुरयुवतिदृशः ॥१७०॥

उस समय घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रभगवान्के सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरपर जो देवोंके नेत्रोंके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे वे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूह ही हों ॥१६५॥ जिनकी भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जिनका मुख चन्द्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह टेढ़ा, परिमित (वृद्धिसे रहित) और स्थित (नहीं फड़नेवाला) है और जिनका वक्ष स्थल मेरुपर्वतके तटके समान है ऐसे देवाधिदेव जिनेन्द्रभगवान्को देखकर वे देव बहुत ही हर्षित हुए थे ॥१६६॥ जिसके नेत्र फूले हुए कमलके दलके समान हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ हाथीकी सूँड़के समान हैं, जो निर्मल है, और जो अत्यन्त कान्तिसे युक्त है ऐसे जिनेन्द्रभगवान्के शरीरको वे देव लोग बड़े भारी सन्तोषसे नेत्रोंको उघाड़-उघाड़कर देख रहे थे ॥१६७॥ जो चन्द्रमाकी कान्तिको हरण करनेवाले चमरोंसे घिरा हुआ है, जो कामदेवके सैकड़ों बाणोंके निपातको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल नष्ट कर दिये हैं और जो अतिशय पवित्र है ऐसे जिनेन्द्रदेवके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे ॥१६८॥ जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदलके समान सुशोभित हो रहे थे, जिसका मुख हँसते हुएके समान जान पड़ता था, जो अतिशय सुगन्धिसे युक्त था, देव और मनुष्योंके स्वामियोंके नेत्रोंको सुख करनेवाला था, और अधिक कान्तिसे सहित था ऐसा भगवान् वृषभदेवका वह शरीर बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१६९॥ जिसपर टिमकाररहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुए हैं, जो अत्यन्त सुगन्धित है जिसने चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत कर दिया है, जो कामदेवरूपी हिमके आघातसे रहित है और जो अतिशय कान्तिमान् है ऐसे भगवान्के मुखरूपी कमलको देवांगनाओंके नेत्र असन्तुष्टरूपसे पान कर रहे थे। भावार्थ–

---

१ जयशीलस्य । २. कल्पवृक्षशरीरे यथा । ३. सन्तोषविकसित । ४. पानं चक्रुः, पीतवन्तः । ५. निमिषरहित । ६ हसनमद्दृश । ७ अधिकान्ति । ८. जिनमुखदर्शनात् पूर्वमेव विकसन्त्य पानाय इत्यभिप्राय । अविज्ञातसन्तोष यथा ।

विजितकमलदलविलसदसदृशदृशं सुरयुवतिनयनमधुकरततवपुषम् ।
वृषभमजरमजममरपतिसुमहितं नमत परम[1]मतममितरुचिमृषिपतिम् ॥१७१॥

मालिनीवृत्तम्

सरसिजनिभवक्त्रं पद्मकिञ्जल्कगौरं[2] कमलदलविशालव्यायतास्पन्दिनेत्रम् ।
सरसिरुहसमानामोदमच्छायमच्छस्फटिकमणिविभासि श्रीजिनस्याङ्गमीडे ॥१७२॥
नयनयुगमताम्रं वक्ति कोपव्यपायं भ्रुकुटिरहितमास्यं शान्ततां[3] यस्य शास्ति ।
मदनजयमपाङ्गालोकनापायसौम्यं प्रकटयति यदङ्गं तं जिनं नन्न[4]मीमि ॥१७३॥

ऋषभगजविलसितवृत्तम्

गात्रमनङ्गभङ्गकृदतिसुरभिरुचिरं नेत्रमताम्रमत्यमलतररुचिविसरम् ।
वक्त्रमदष्टसद्दशन[5]वसनमिव हसद्यस्य विभाति तं जिनमथनमत[6] सुधियः ॥१७४॥
सौम्यवक्त्रममलकमलदलनिभदृशं हेमपुञ्जसदृशवपुषमृषभमृषिपम् ।
रक्तपद्मरुचिमृदमलमृदुपदयुगं सन्न[7]तोऽस्मि परमपुरुषमपरुष[8]गिरम् ॥१७५॥

भगवान्का मुखकमल इतना अधिक सुन्दर था कि देवांगनाएँ उसे देखते हुए सन्तुष्ट ही न हो पाती थीं ॥१७०॥ जिनके अनुपम नेत्र कमलदलको जीतते हुए सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरसे व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इन्द्रोंके द्वारा पूजित हैं, अतिशय इष्ट हैं अथवा जिनका मत अतिशय उत्कृष्ट है, जिनकी कान्ति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी है ऐसे भगवान् वृषभदेवको हे भव्य जीवो, तुम सब नमस्कार करो ॥१७१॥ मैं श्रीजिनेन्द्रभगवान्के उस शरीरकी स्तुति करता हूँ जिसका कि मुख कमलके समान है, जो कमलकी केशरके समान पीतवर्ण है, जिसके टिमकाररहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और लम्बे हैं, जिसकी सुगन्धि कमलके समान थी, जिसकी छाया नहीं पड़ती और जो स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा था ॥१७२॥ जिनके ललाईरहित दोनों नेत्र जिनके क्रोधका अभाव बतला रहे हैं, भौहोंकी टेढाईसे रहित जिनका मुख जिनकी शान्तताको सूचित कर रहा है और कटाक्षावलोकनका अभाव होनेसे सौम्य अवस्थाको प्राप्त हुआ जिनका शरीर जिनके कामदेवकी विजयको प्रकट कर रहा है ऐसे उन जिनेन्द्रभगवान्को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥१७३॥ हे बुद्धिमान् पुरुषो, जिनका शरीर कामदेवको नष्ट करनेवाला अतिशय सुगन्धित और सुन्दर है, जिनके नेत्र ललाईरहित तथा अत्यन्त निर्मल कान्तिके समूहसे सहित हैं, और जिनका मुख ओंठोंको डसता हुआ नहीं है तथा हँसता हुआ-सा सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभजिनेन्द्रको नमस्कार करो ॥१७४॥ जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर सुवर्णके पुञ्जके समान है, जो ऋषियोंके स्वामी हैं, जिनके निर्मल और कोमल चरणोंके युगल लाल कमलकी कान्ति धारण करते हैं, जो परम पुरुष हैं और जिनकी वाणी अत्यन्त कोमल है ऐसे श्री वृषभ

---

१. उत्कृष्टशासनम् । २. पीतवर्ण । ३. शान्तता ट० । शिक्षकत्वम् । ४ भृशं नमामि । ५ प्रशस्ता-धरम् । ६. नमस्कारं कुरुत । ७. सम्यक् प्रणतोऽस्मि । ८. कोमलवाचम् ।

वाणिनीवृत्तम्

स जयति यस्य पादयुगलं जयत्पङ्कजं विलसति पद्मगर्भ[1]मधिशय्य सल्लक्षणम् ।
मनसिजरागमर्दनसहं[2] जगत्प्रीणनं सुरपतिमौलिशेखरगलद्रज पिञ्जरम् ॥१७६॥

हरिणीवृत्तम्

जयति वृषभो यस्योत्तुङ्गं विभाति महासनं हरिपरिधृतं रत्नानद्धं परिस्फुरदंशुकम्[3] ।
अधरितजगन्मेरोर्लीलां विडम्बयदुच्चकैर्नतसुरकिरीटाग्र[4]ग्रावद्युतीरिव तर्जयत् ॥१७७॥

शिखरिणीवृत्तम्

समग्रां[5]वैदग्धीं सकलश[6]शभृन्मण्डलगतां सितच्छत्रं भाति त्रिभुवनगुरोर्यस्य विहसत् ।
जयत्येष श्रीमान् वृषभजिनराण्णिर्जितरिपुर्नमद्देवेन्द्रोद्यन्मुकुटमणिघृष्टा[7]ङ्घ्रिकमलः ॥१७८॥

पृथ्वीवृत्तम्

जयत्ययमरनायकैरसकृदर्चिताङ्घ्रिद्वय. सुरोत्करकराधुतैश्चमरजोत्करैर्वीजित ।
गिरीन्द्रशिखरे गिरीन्द्र इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोधिशुचिवारिभि शशिकराङ्कुरस्पर्धिभिः ॥१७९॥

वंशपत्रपतितवृत्तम्

यस्य समुज्ज्वला गुणगणा इव रुचिरतरा भान्त्यभितो मयूखनिवहा गुणसलिलनिधे[8] ।
विश्व जनीनचारुचरितः सकलजगदिनः[9] सोऽवतु[10] भव्यपङ्कजरविर्वृषभजिनविभु ॥१८०॥

जिनेन्द्रको मैं अच्छी तरह नमस्कार करता हूँ ॥१७५॥ जिनके चरण-युगल कमलोंको जीतनेवाले हैं, उत्तम-उत्तम लक्षणोंसे सहित हैं, कामसम्बन्धी रागको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, जगत्को सन्तोष देनेवाले हैं, इन्द्रके मुकुटके अग्रभागसे गिरती हुई मालाके परागसे पीले-पीले हो रहे है और कमलके मध्यमें विराजमान कर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त हों ॥१७६॥ जो बहुत ऊँचा है, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ है, रत्नोंसे जड़ा हुआ है, चारों ओर चमकती हुई किरणोंसे सहित है, संसारको नीचा दिखला रहा है, मेरुपर्वतकी शोभाको खूब विडम्बना कर रहा है और जो नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी कान्तिकी तर्जना करता-सा जान पड़ता है ऐसा जिनका बड़ा भारी सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥१७७॥ तीनों लोकोंके गुरु ऐसे जिन भगवान्का सफेद छत्र पूर्ण चन्द्रमण्डलसम्बन्धी समस्त शोभाको हँसता हुआ सुशोभित हो रहा है जिन्होंने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है जिनके चरणकमल नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्यमान मुकुटोंमे लगे हुए मणियोंसे घर्षित हो रहे हैं और जो अन्तरङ्ग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे सहित हैं ऐसे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७८॥ इन्द्रोंने जिनके चरण-युगलकी पूजा अनेक बार की थी, जिनपर देवोंके समूहने अपने हाथसे हिलाये हुए अनेक चमरोंके समूह ढुराये थे और देवोंने मेरु पर्वतपर दूसरे मेरु पर्वतके समान स्थित हुए जिनका, चन्द्रमाकी किरणोंके अंकुरोंके साथ स्पर्धा करनेवाले क्षीरसागरके पवित्र जलसे अभिषेक किया था वे श्री ऋषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१७९॥ गुणोंके समुद्रस्वरूप जिन भगवान्के उज्ज्वल और अतिशय देदीप्यमान किरणोंके समूह गुणोंके समूहके समान चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका सुन्दर चरित्र समस्त जीवोंका हित

---

१. कमलमध्ये स्थित्वेत्यर्थ । २ समर्थम् । ३ किरणम् । ४ – किरीटा अ०, स० । ५. सौन्दर्यम् । ६. सम्पूर्णचन्द्रबिम्ब । ७. घर्षित । ८ सकलजनहित । ९. जगत्पति. । १० रक्षतु ।

मन्दाक्रान्तावृत्तम्

यस्याशोकश्चलकिसलयश्चित्रपत्रप्रसूनो भाति श्रीमान् मरकतमयस्कन्धबन्धोज्ज्वलाङ्गः ।
सान्द्रच्छायः सकलजनताशोकविच्छेदनेच्छः सोऽयं श्रीशो जयति वृषभो भव्यपद्माकरार्कः ॥१८१॥

कुसुमितलतावेल्लितावृत्तम्

जीयाज्जैनेन्द्रः सुरुचिरतनुः श्रीरशोकाङ्घ्रिपो यो वातोद्धूतैः स्वैः प्रचलविटपैर्नित्यपुष्पोपहारम्[1] ।
तन्वन्व्याप्ताशः परभृतरुवातोद्यसंगीतहृद्यो नृत्यच्छाखाग्रैर्जिनमिव भजन्भाति भक्त्येव भव्यः ॥१८२॥

मन्दाक्रान्तावृत्तम्

यस्यां पुष्पप्रततिममराः पातयन्ति द्युमूर्ध्नः प्रीता नेत्रप्रततिमिव तां लोलमत्तालिजुष्टाम् ।
वातोद्धूतैर्ध्वजविततिभिर्व्योमसम्मार्जती वा भाति श्रेयः समवसृतिभूः साचिरं नस्तनोतु ॥१८३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यस्मिन्मग्नरुचिर्विभाति नितरां रत्नप्रभाभास्वरे[2]
भास्वान्सालवरो जयत्यमलिनो धूलीमयोऽसौ विभोः ।
स्तम्भाः कल्पतरुप्रभा[3] मरुचयो मानाधिकाश्चोद्ध्वजा[4]
जीयासुर्जिनभर्तुरस्य गगनप्रोल्लङ्घिनो भास्वराः ॥१८४॥

करनेवाला है, जो सकल जगत्के स्वामी हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे श्री वृषभ जिनेन्द्र देव हम-सबकी रक्षा करें ॥१८०॥ जिसके पल्लव हिल रहे हैं, जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके हैं, जो उत्तम शोभासे सहित है, जिसका स्कन्ध मरकतमणियोंसे बना हुआ है, जिसका शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही सघन है, और समस्त लोगोंका शोक नष्ट करनेकी जिसको इच्छा है ऐसा जिनका अशोक-वृक्ष सुशोभित हो रहा है और जो भव्य जीवरूपी कमलोंके समूहको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं ऐसे वे बहिरंग और अन्तरंग लक्ष्मीके अधिपति श्री वृषभ जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥१८१॥ जिसका शरीर अतिशय सुन्दर है, जो वायुसे हिलती हुई अपनी चंचल शाखाओंसे सदा फूलोंके उपहार फैलाता रहता है, जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जो कोयलोंके मधुर शब्दरूपी गाने-बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई शाखाओंके अग्रभागसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करते हुए भव्यके समान सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्री जिनेन्द्रदेवका शोभायुक्त अशोकवृक्ष सदा जयवन्त रहे ॥१८२॥ जिस समवसरणकी भूमिमें देव लोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंकी पंक्तिके समान चंचल और उन्मत्त भ्रमरोंसे सेवित फूलोंकी पंक्ति आकाशके अग्रभागसे छोड़ते हैं अर्थात् पुष्पवर्षा करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई अपनी ध्वजाओंकी पंक्तिसे आकाशको साफ करती हुई-सी सुशोभित होती है ऐसी वह समवसरणभूमि चिरकाल तक हम सबके कल्याणको विस्तृत करे ॥१८३॥ रत्नोंकी प्रभासे देदीप्यमान रहनेवाले जिस धूलीसालमें सूर्य निमग्नकिरण होकर अत्यन्त शोभायमान होता है ऐसा वह भगवान्का निर्मल धूलीसाल सदा जयवन्त रहे तथा जो कल्पवृक्षसे भी अधिक कान्तिवाले हैं जिनपर ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही हैं, जो आकाशको उल्लंघन कर रही हैं, और जो अतिशय देदीप्यमान हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवके

---

१. शाखाभिः । २. -भासुरो द०, ल०, प० । -भासुरे इ०, अ०, प० । ३. कल्पवृक्षप्रभामदहृततेजस । ४. ऊर्ध्वगतध्वजा ।

वाप्यो रत्नतटाः प्रसन्नसलिला नीलोत्पलैरातता
गन्धान्धभ्रमरारवैर्मुखरिता भान्ति स्म यास्ताः स्तुमः ।
तां चापि [1]स्फुटपुष्पहासरुचिरां प्रोद्यत्प्रवालांकुरां
वल्लीनां वनवीथिकां तमपि च प्राकारमाद्य विभोः ॥१८५॥
प्रोद्यद् विद्रुमसन्निभैः किसलयैरारञ्जयद् यद्दिशो
भात्युच्चैः पवनाहतैश्च विटपैर्नर्तितु वोद्यतम् ।
रक्ताशोक[3]वनादिकं वनमदश्चैत्यद्रुमैरङ्कितं
वन्देऽहं [4]समवादिकां सृतिमिमां जैनीं [5]चतुष्काश्रिताम् ॥१८६॥
रक्ताशोकवनं वनं च रुचिमत्सप्तच्छदानामदः
चूतानामपि नन्दनं पर[6]तरं यच्चम्पकानां वनम् ।
तच्चैत्यद्रुममण्डितं भगवतो वन्दामहे वन्दितं
देवेन्द्रैर्विनयानतेन शिरसा श्रीजैनबिम्बाङ्कितम् ॥१८७॥

छन्दः (?)

प्राकारात्परतो विभाति रुचिरा हरिवृषगरुडैः श्रीमन्माल्यगजाम्बरैश्च शिखिभिः प्रकटितमहिमा ।
हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्ध्वजवसनततिः यातामप्यमरार्चितामभितुमः पवनविलुलिताम् ॥१८८

ये मानस्तम्भ भी सदा जयवन्त रहें ॥१८४॥ जिनके किनारे रत्नोंके बने हुए हैं, जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, जो नील कमलोंसे व्याप्त हैं, और जो सुगन्धिसे अन्धे भ्रमरोंके शब्दोंसे शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही है मैं उन बावड़ियोंकी स्तुति करता हूँ, तथा जो फूले हुए पुष्परूपी हाससे सुन्दर है और जिसमें पल्लवोंके अंकुर उठ रहे हैं ऐसे लतावनकी भी स्तुति करता हूँ। और इसी प्रकार भगवान्के उस प्रसिद्ध प्रथम कोटकी भी स्तुति करता हूँ ॥१८५॥ जो देदीप्यमान मूँगाके समान अपने पल्लवोंसे समस्त दिशाओंको लाल-लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी ऊँची शाखाओंसे नृत्य करनेके लिए तत्पर हुएके समान जान पड़ते हैं, जो चैत्यवृक्षोंसे सहित हैं, जो जिनेन्द्र भगवान्की समवसरणभूमिमें प्राप्त हुए हैं और जिनकी संख्या चार है ऐसे उन रक्त अशोक आदिके वनोंकी भी मैं वन्दना करता हूँ ॥१८६॥ जो चैत्यवृक्षोंसे मण्डित हैं, जिनमें श्री जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाएँ विराजमान हैं, और इन्द्र भी विनयके कारण झुके हुए अपने मस्तकोंसे जिनकी वन्दना करते हैं ऐसे, भगवान्के लाल अशोकवृक्षोंका वन, यह देदीप्यमान सप्तपर्णवृक्षोंका वन, वह आम्रवृक्षोंका वन और वह अतिशय श्रेष्ठ चम्पक-वृक्षोंका वन, इन चारों वनोंकी हम वन्दना करते हैं ॥१८७॥ जो अतिशय सुन्दर हैं, जो सिंह, बैल, गरुड़, शोभायमान माला, हाथी, वस्त्र, मयूर और हंसोंके चिह्नोंसे सहित हैं, जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जो देवताओंके द्वारा भी पूजित हैं और जो वायुसे हिल रही हैं ऐसी जो कोटके आगे देदीप्यमान ध्वजाओंके वस्त्रोंकी पंक्तियाँ सुशोभित

१. विकसित । २. विकास । ३. अशोकसप्तच्छदादिचतुर्वनम् । ४. समवसृतिम् । ५ चतुष्ट्वाश्रिताम् ट० । वनचतुष्टयेन तोष कृत्वा श्रिताम् । ६ उत्कृष्टतरम् ।

सुवदनावृत्तम्

यद्दूराद्व्योममार्गं कलुषयति दिशां प्रान्तं स्थगयति प्रोत्सर्पद् धूपधूमैः सुरभयति जगद्विश्वं द्रुततरम् ।
तन्नः सद्धूपकुम्भद्वयमुरुमनसः प्रीतिं घटयतु श्रीमन्नाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालत्रयगतम् ॥१८९॥

छन्दः (?)

पुष्पपल्लवोज्ज्वलेषु कल्पपादपोरुकाननेषु हारिषु श्रीमदिन्द्रवन्दिताः स्वबुध्नसुस्थितेद्धसिद्धबिम्बका द्रुमाः ।
सन्ति तानपि प्रणौम्यमूं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपङ्क्तिमप्यमूं समग्ररत्नविग्रहां जिनेन्द्रबिम्बिनीम् ॥१९०॥

स्रग्धरा

वीथीं कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृतिं तामतीत्य स्थिता या
शुभ्रा प्रासादपङ्क्तिः स्फटिकमणिमयः सालवर्यस्तृतीयः ।
भर्तुः श्रीमण्डपश्च त्रिभुवनजनतासंश्रयाप्तप्रभावः
पीठं चोद्यत्त्रिभूमं[1] श्रियमनु[2] तनुताद् गन्धकुट्याश्रितं नः ॥१९१॥
मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा ।
सालः कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च
प्राकारः स्फाटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥१९२॥

होती हैं उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥१८८॥ जो फैलते हुए धूपके धुएँसे आकाश-मार्गको मलिन कर रहे हैं जो दिशाओंके समीप भागको आच्छादित कर रहे हैं और जो समस्त जगत्को बहुत शीघ्र ही सुगन्धित कर रहे हैं ऐसे प्रत्येक दिशाके दो-दो विशाल तथा उत्तम धूप-घट हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें, इसी प्रकार तीनों कोटोंसम्बन्धी, शोभा-सम्पन्न दो-दो मनोहर नाट्यशालाएँ भी हमारे मनमें प्रीति उत्पन्न करें ॥१८९॥ फूल और पल्लवोंसे देदीप्यमान और अतिशय मनोहर कल्पवृक्षोंके बड़े-बड़े वनोंमें लक्ष्मीधारी इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय तथा जिनके मूलभागमें सिद्ध भगवान्की देदीप्यमान प्रतिमाएँ विराजमान हैं ऐसे जो सिद्धार्थ वृक्ष हैं मैं प्रसन्नचित्त होकर उन सभीकी स्तुति करता हूँ, उन सभीको नमस्कार करता हूँ और उन सभीका स्मरण करता हूँ, इसके सिवाय जिनका समस्त शरीर रत्नोंका बना हुआ है और जो जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंसे सहित हैं ऐसे स्तूपोंकी पंक्तिका भी मैं प्रसन्नचित्त होकर स्तवन, नमन तथा स्मरण करता हूँ ॥१९०॥ वनकी वेदीसे घिरी हुई कल्पवृक्षोंके वनोंकी पंक्तिके आगे जो सफेद मकानोंकी पंक्ति है उसके आगे स्फटिकमणिका बना हुआ जो तीसरा उत्तम कोट है, उसके आगे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेका प्रभाव रखनेवाला जो भगवान्का श्रीमण्डप है और उसके आगे जो गन्धकुटीसे आश्रित तीन कटनीदार ऊँचा पीठ है वह सब हम लोगोंकी लक्ष्मीको विस्तृत करे ॥१९१॥ संक्षेपमें समवसरणकी रचना इस प्रकार है— सबसे पहले (धूलीसालके बाद) चारों दिशाओंमें चार मानस्तम्भ हैं, मानस्तम्भोंके चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) है, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे

---

१. त्रिभूमिकम् । त्रिमेखलमित्यर्थः । २. करोतु ।

देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो वा [1]नियतिमनुसर[2]न्नुत्तराशामुखो वा
यामध्यास्ते स्म पुण्यां समवसृतिमहीं तां परीत्याध्यवात्सुः[3] ।
प्रादक्षिण्येन धीन्द्रा[4] द्युयु[5]वतिगणिनी नृस्त्रियस्त्रिश्च[6] देव्यो
देवाः सेन्द्राश्च मर्त्याः पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥१९३॥
योगीन्द्रा रुन्द्रबोधा विबुधयुवतयः सार्यिका राजपत्न्यो
ज्योतिर्वन्येशकन्या[7] भवनजवनिता भावना व्यन्तराश्च ।
ज्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरवृषभास्तिर्यगौघैः सहामी
कोष्ठेपूक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्राः ॥१९४॥
प्रादुःष्य[8]द्वाङ्मयूखैर्विघटिततिमिरो धूतसंसाररात्रि-
स्तत्संध्या[9]संधिकल्पां मुहुरपघटयन् [10]क्षैणमोहीमवस्थाम् ।
सज्ज्ञानोद्यत्सादि[11] प्रतिनियत[12]नयोद्वेगसप्ति[13]प्रयुक्त-
स्याद्वादस्यन्दनस्थो भृशमथ रुरुचे भव्यबन्धुर्जिनार्कः ॥१९५॥

दूसरा अशोक आदिका वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओंकी पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिकासहित कल्पवृक्षोंका वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपोंके बाद मकानोंकी पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिकमणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियोंको बारह सभाएँ हैं तदनन्तर पीठिका है और पीठिकाके अग्रभागपर स्वयम्भू भगवान् अरहन्तदेव विराजमान हैं॥१९२॥ अरहन्तदेव स्वभावसे ही पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख कर जिस समवसरणभूमिमे विराजमान होते हैं उसके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे क्रमपूर्वक १ बुद्धिके ईश्वर गणधर आदि मुनिजन, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ-मनुष्योंकी स्त्रियाँ, ४ भवनवासिनी देवियाँ, ५. व्यन्तरणी देवियाँ, ६ ज्योतिष्किणी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिष्क देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और १२ पशु इन बारह गणोंके बैठने योग्य बारह सभाएँ होती हैं ॥१९३॥ उनमें-से पहले कोठेमें अतिशय ज्ञानके धारक गणधर आदि मुनिराज, दूसरेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनाएँ, तीसरेमें आर्यिकासहित राजाओंकी स्त्रियाँ तथा साधारण मनुष्योंकी स्त्रियाँ, चौथेमें ज्योतिष देवोंकी देवांगनाएँ, पाँचवेमें व्यन्तर देवोंकी देवांगनाएँ, छठेमें भवनवासी देवोंकी देवांगनाएँ, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमे व्यन्तरदेव, नवेंमें ज्योतिषी देव, दसवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य और बारहवेंमे पशु बैठते हैं। ये सब ऊपर कहे हुए कोठोंमे भक्तिभारसे नम्रीभूत होकर जिनेन्द्र भगवान्‌के चारों ओर बैठा करते हैं ॥१९४॥

तदनन्तर जिन्होंने प्रकट होते हुए वचनरूपी किरणोंसे अन्धकारको नष्ट कर दिया है, संसाररूपी रात्रिको दूर हटा दिया है और उस रात्रिकी सन्ध्या सन्धिके समान क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थानकी अवस्थाको भी दूर कर दिया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम सारथिके द्वारा वशमें किये हुए सात नयरूपी वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए स्याद्वादरूपी रथपर

१ स्वभावं । २. अनुगच्छन् । ३. अधिवास कुर्वन्ति स्म । ४. गणधरादिमुनय । ५. कल्पवासिस्त्री । ६. भवनत्रयदेव्यः । ७ ज्योतिष्कव्यन्तरदेव्यः । ८. प्रकटीभवत्स्याद्वादवाक्किरणैं । ९. तद्रात्रेः सध्यायाः संधिः संबन्धस्तेन कल्पा सदृशाम्, प्रात कालसंध्यामित्यर्थः । १०. क्षीणमोहसंबन्धिनीम् । क्षीणमोहाम् इ० । ११ सारथि । १२. प्रतिनियमित । १३. वेगवत्तुरग ।

इत्युच्चैः सगृहीतां समवसृतिमहीं धर्मचक्राधिभर्तु-
र्भव्यात्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना।
जैनीं लक्ष्मीमचिन्त्यां सकलगुणमयीं प्राप्नुतेऽसौ महर्द्धिं
चूडाभिर्नाकभाजां मणिमुकुटजुषामर्चितां स्रग्धराभिः[1] ॥१९६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशं पर्व ॥२३॥

सवार है और जो भव्य जीवोंके बन्धु है ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥ इस प्रकार ऊपर जिसका संग्रह किया गया है ऐसी, धर्मचक्रके अधिपति जिनेन्द्र भगवान्की इस समवसरणभूमिका जो भव्य जीव भक्तिसे मस्तक झुकाकर स्तुतिसे मुखको शब्दायमान करता हुआ स्मरण करता है वह अवश्य ही मणिमय मुकुटोंसे सहित देवोंके मालाओंको धारण करनेवाले मस्तकोंके द्वारा पूज्य, समस्त गुणोंसे भरपूर और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त जिनेन्द्र भगवान्की लक्ष्मी अर्थात् अर्हन्त अवस्थाकी विभूतिको प्राप्त करता है ॥१९६॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणके संग्रहमें समवसरणविभूतिका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२३॥

---

१. मालधारिणीभिः।

चतुर्विंशतितमं पर्व

स जीयाद् वृषभो मोहविषसुप्त[1]मिदं जगत् । [2]पटविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठिपत्[3] ॥१॥

श्रीमान् भरतराजर्षिर्बुबुधे युगपत्त्रयम् । गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिं च[4] सुतचक्रयोः ॥२॥

[5]धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः । काञ्चुकीयात् सुतोत्पत्तिं विदामास[6] तदा विभुः ॥३॥

पर्याकुल इवासीच्च क्षणं तद्यौग[7]पद्यतः । किमत्र प्रागनुष्ठेयं संविधा[8]नमिति प्रभुः ॥४॥

त्रिवर्गफलसंभूतिरक्रमोपनता[9] मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति त्रयी ॥५॥

तत्र धर्मफलं तीर्थं पुत्रः स्यात् कामजं फलम् । अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फलं चक्रं प्रभास्वरम् ॥६॥

अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलम्[10] । यतो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः ॥७॥

कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोऽनुबन्धि यत् । महाफलं च तद्देवसेवा प्राथमकल्पिकी[11] ॥८॥

निश्चिचायेति राजेन्द्रो गुरुपूजनमादितः । अहो धर्मात्मनां[12] चेष्टा प्रायः श्रेयोऽनुबन्धिनी[13] ॥९॥

सानुजन्मा समेतोऽन्तःपुरपौरपुरोगमैः[14] । प्राज्यामिज्यां पुरोधाय[15] सज्जोऽभूद् गमनं प्रति ॥१०॥

जिनके ज्ञानने पटविद्या अर्थात् विष दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुए इस समस्त जगत्को शीघ्र ही उठा दिया था–जगा दिया था वे श्रीवृषभदेव भगवान् सदा जयवन्त रहें ॥१॥ अथानन्तर राज्यलक्ष्मीसे युक्त राजर्षि भरतको एक ही साथ नीचे लिखे हुए तीन समाचार मालूम हुए कि पूज्य पिताको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्तःपुरमें पुत्रका जन्म हुआ है और आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ है ॥२॥ उस समय भरत महाराजने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञान होनेका समाचार, आयुधशालाकी रक्षा करनेवाले पुरुषसे चक्ररत्न प्रकट होनेका वृत्तान्त, और कंचुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेका समाचार मालूम किया था ॥३॥ ये तीनों ही कार्य एक साथ हुए हैं । इनमें-से पहले किसका उत्सव करना चाहिए यह सोचते हुए राजा भरत क्षण-भरके लिए व्याकुल-से हो गये ॥४॥ पुण्यतीर्थ अर्थात् भगवान्को केवलज्ञान उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और चक्ररत्नका प्रकट होना ये तीनों ही धर्म, अर्थ, काम तीन वर्गके फल मुझे एक साथ प्राप्त हुए हैं ॥५॥ इनमें-से भगवान्के केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्रका होना कामका फल है और देदीप्यमान चक्रका प्रकट होना अर्थ प्राप्त करानेवाले अर्थ पुरुषार्थका फल है ॥६॥ अथवा यह सभी धर्मपुरुषार्थका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥७॥ सब कार्योंमें सबसे पहले धर्मकार्य ही करना चाहिए क्योंकि वह कल्याणोंको प्राप्त करानेवाला है और बड़े-बड़े फल देनेवाला है इसलिए सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान्की पूजा ही करनी चाहिए ॥८॥ इस प्रकार राजाओंके इन्द्र भरत महाराजने सबसे पहले भगवान्की पूजा करनेका निश्चय किया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी चेष्टाएँ प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥९॥ तदनन्तर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अन्तःपुरकी स्त्रियाँ

---

१. अनिश्चयज्ञानमुपेतम् । २. विषापहरणविद्या । ३. उत्थापयति स्म । ४ उत्पत्तिम् । ५. धर्माधिकारिणः । ६. बुबुधे । ७. तेषामेककालीनत्वतः । ८ सामग्रीम् । ९ युगपदागता । १०. सम्पूर्णम् । ११. प्रथम कर्तव्या । १२. धर्मबुद्धिमताम् । १३ पुण्यानुबन्धिनी ल० । १४. महत्तरैः । १५. अग्रे कृत्वा ।

गुरौ भक्तिं परां तन्वन् कुर्वन् धर्मप्रभावनाम् । स भूत्या परयोत्तस्थे[1] भगवद्वन्दनाविधौ ॥११॥
अथ सेनाम्बुधेः क्षोभमातन्वन्नब्धिनिःस्वनः । आनन्दपटहो मन्द्रं दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥१२॥
[2]प्रतस्थेऽथ महाभागो वन्दारुर्भरताधिपः । जिनं हस्त्यश्वपादातरथ[3]कड्यावृतोऽभितः ॥१३॥
रेजे प्रचलिता सेना [4]ततानकपृथुध्वनिः । वेलेव वारिधेः [5]प्रेङ्खदसङ्ख्यध्वजवीचिका ॥१४॥
[6]तया परिवृतः प्राप स जिनास्थानमण्डलम् । प्रसर्पत्प्रभया दिक्षु जितमार्तण्डमण्डलम् ॥१५॥
परीत्य पूजयन् मानस्तम्भान्[7]सोऽत्यैत्ततः परम् । खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१६॥
द्वितीयं सालमुत्क्रम्य[8] ध्वजात् कल्पद्रुमावलिम् । स्तूपान् प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
ततो दौवारिकैर्देवैः संभ्राम्यद्भिः प्रवेशितः । श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं[9] सोऽपश्यत् स्वर्गजित्वरीम्[10] ॥१८॥
ततः प्रदक्षिणीकुर्वन् धर्मचक्रचतुष्टयम् । लक्ष्मीवान् पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१९॥
ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् । सोऽर्चयामास संप्रीतिः[11] पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥२०॥
मध्ये[12] गन्धकुटीद्धर्द्धि परार्ध्ये हरिविष्टरे । उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्षत ॥२१॥

और नगरके मुख्य-मुख्य लोगोंके साथ पूजाकी बड़ी भारी सामग्री लेकर जानेके लिए तैयार हुए ॥१०॥ गुरुदेव भगवान् वृषभदेवमें उत्कृष्ट भक्तिको बढ़ाते हुए और धर्मकी प्रभावना करते हुए महाराज भरत भगवान्की वन्दनाके लिए उठे ॥११॥

तदनन्तर जिनका शब्द समुद्रकी गर्जनाके समान है ऐसे आनन्दकालमें बजनेवाले नगाड़े सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ फैलाते हुए और दिशाओंको शब्दायमान करते हुए गम्भीर शब्द करने लगे ॥१२॥ अथानन्तर–जो महाभाग्यशाली है, जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेका अभिलाषी है, भरतक्षेत्रका स्वामी है और चारों ओरसे हाथी-घोड़े पदाति तथा रथोंके समूहसे घिरा हुआ है ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥१३॥ उस समय वह चलती हुई सेना समुद्रकी वेलाके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि सेनामें जो नगाड़ोंका शब्द फैल रहा था वही उसकी गर्जनाका शब्द था और फहराती हुई असंख्यात ध्वजाएँ ही लहरोंके समान जान पड़ती थीं ॥१४॥ इस प्रकार सेनासे घिरे हुए महाराज भरत, दिशाओंमें फैलती हुई प्रभासे जिसने सूर्यमण्डलको जीत लिया है ऐसे भगवान्के समवसरणमें जा पहुँचे ।'१५॥ वे सबसे पहले समवसरण भूमिकी प्रदक्षिणा देकर मानस्तम्भोंकी पूजा करते हुए आगे बढ़े, वहाँ क्रम-क्रमसे परिखा, लताओंके वन, कोट, चार वन और दूसरे कोटको उल्लंघन कर ध्वजाओंको, कल्पवृक्षोंकी पंक्तियोंको, स्तूपोंको और मकानोंके समूहको देखते हुए आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥१६–१७॥ तदनन्तर सम्भ्रमको प्राप्त हुए द्वारपाल देवोंके द्वारा भीतर प्रवेश कराये हुए भरत महाराजने स्वर्गको जीतनेवाली श्रीमण्डपकी शोभा देखी ॥१८॥ तदनन्तर अतिशय शोभायुक्त भरतने प्रथम पीठिकापर पहुँचकर प्रदक्षिणा देते हुए चारों ओर धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥१९॥ तदनन्तर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर स्थित भगवान्की ध्वजाओंकी पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्योंसे पूजा की ॥२०॥ तदनन्तर उदयाचल पर्वतके शिखरपर स्थित सूर्यके समान गन्धकुटीके बीचमें महामूल्य-श्रेष्ठ सिंहासनपर स्थित और अनेक देदीप्यमान

---

१. उद्यतोऽभूत् । उद्योगं करोति स्मेत्यर्थः । २. चचाल । ३. रथसमूहः । ४ विस्तृत । ५. चलत् । ६. सेनया । ७ – नत्यैत्ततः ल० । अत्यैत् अतिक्रान्तवान् । ८. अतिक्रम्य । ९ सौन्दर्यम् । १०. जयशीलाम् । ११. संप्रीत ब०, ल०, द०, इ० । १२. गन्धकुट्या मध्ये ।

चलच्चामरसंघातवीज्यमानमहातनुम् । प्रपतन्निर्झरं मेरुमिव चामीकरच्छविम् ॥२२॥

महाशोकतरोर्मूले छत्रत्रितयसंश्रितम् । [1]त्रिधाभूतावधृद्भासिवलाहकमिवाद्रिपम् ॥२३॥

पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भ्राजितं प्रभुम् । कल्पद्रुमप्रगलितप्रसूनमिव मन्दरम् ॥२४॥

नभो व्यापिभिरुद्घोषं सुरदुन्दुभिनिःस्वनैः । प्रसरद्वेलमम्भोधिमिव वातविघूर्णितम् ॥२५॥

धीरध्वानं प्रवर्षन्तं धर्मामृतमतर्कितम् । आह्लादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्य[2]मिवाम्बुदम् ॥२६॥

स्वदेहविसरज्ज्योत्स्नासलिलक्षालिताखिलम्[3] । क्षीराब्धिमध्यसद्वृद्धमिव भूध्रं हिरण्मयम् ॥२७॥

सोऽन्व[4]कप्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं जगद्गुरुम् । इयाज[5] यायजूकाना[6] ज्यायान्प्राज्यै[7]र्ज्यया प्रभुम् ॥२८॥

पूजान्ते प्रणिपत्येशं महीनिहित[8]जान्वसौ । वच प्रसूनमालाभिरि[9]त्यानर्च गिरां पतिम् ॥२९॥

त्वं ब्रह्मा परमज्योतिस्त्वं प्रभूष्णुरजोऽरजा[10] । त्वमादिदेवो देवानामधिदेवो महेश्वरः ॥३०॥

त्वं स्रष्टा त्वं विधातासि त्वमीशानः पुरुः पुमान्[11] । त्वमादिपुरुषो विश्वेट्[12] विश्वराड् विश्वतोमुखः ॥

ऋद्धियोंको धारण करनेवाले जिनेन्द्र वृषभदेवको देखा ॥२१॥ ढुरते हुए चमरोंके समूहसे जिनका विशाल शरीर संवीज्यमान हो रहा है और जो सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाले हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर निर्झरने पड़ रहे है ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२२॥ वे भगवान् बड़े भारी अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसपर तीन रूप धारण किये हुए चन्द्रमासे सुशोभित मेघ छाया हुआ है ऐसा पर्वतोंका राजा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३॥ वे भगवान् चारों ओरसे पुष्पवृष्टिके समूहसे सुशोभित थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिसके चारों ओर कल्पवृक्षोंसे फल गिरे हुए हैं ऐसा सुमेरु पर्वत ही हो ॥२४॥ आकाशमें व्याप्त होनेवाले देवदुन्दुभियोंके शब्दोंसे भगवान्के समीप ही बड़ा भारी शब्द हो रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी लहरें किनारे तक फैल रही हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥ जिसका शब्द अतिशय गम्भीर है और जो जगत्के समस्त प्राणियोंको आनन्दित करनेवाला है ऐसे सन्देहरहित धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते हुए भगवान् वृषभदेव ऐसे जान पड़ते थे मानो गरजता हुआ और जलवर्षा करता हुआ वर्षाऋतुका बादल ही हो ॥२६॥ अपने शरीरकी फैलती हुई प्रभारूपी जलसे जिन्होंने समस्त प्रभाको प्रक्षालित कर दिया है, वे भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो क्षीरसमुद्रके बीचमें बढ़ा हुआ सुवर्णमय पर्वत ही हो ॥२७॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे युक्त और जगत्के गुरु स्वामी वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्कृष्ट सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥२८॥ पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घुटने जमीनपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान् वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर वचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी इस प्रकार पूजा की अर्थात् नीचे लिखे अनुसार स्तुति की ॥२९॥

हे भगवन्, आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप हैं, समर्थ हैं, जन्मरहित हैं, पापरहित हैं, मुख्यदेव अथवा प्रथम तीर्थंकर हैं, देवोंके भी अधिदेव और महेश्वर हैं ॥३०॥ आप ही

---

१ त्रैरूप्येण चन्द्रेणोद्भासितमेघम् । २. प्रावृषि भवम् । ३. प्रक्षालितसकलपदार्थम् । ४ अनुकूलो भूत्वा पश्चाद्वा । ५ पूजयामास । ६ इज्याशीलानाम् । 'इज्याशीलो यायजूकः' इत्यभिधानात् । ७. भूरिपूजया । ८. मह्यां निक्षिप्तं जानु यस्मिन् कर्मणि । ९. वक्ष्यमाणप्रकारेण । १०. कर्मरजोरहित । ११ पुनातीति पुमान् । १२. विश्वस्मिन् राजते इति ।

विश्वव्यापी जगद्भर्ता विश्वदृग्विश्वभुग्[1] विभुः । विश्वतोऽक्षिमय[2] ज्योतिर्विश्वयोनिर्वियोनिकः ॥३२॥
हिरण्यगर्भो[3] भगवान् वृषभो वृषभध्वजः । परमेष्ठी[4] परं तत्त्वं परमात्मात्म[5]भूरसि ॥३३॥
त्वमिनस्त्वमधिज्योति[6]स्त्वमीशस्त्वमयोनिजः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं त्वमच्युतः ॥३४॥
त्वमक्षर[7]स्त्वमक्षय्यस्त्वमनक्षोऽस्यनक्षरः[8] । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयंभूः स्वयंप्रभः ॥३५॥
त्वं शंभुः शंभवः शंयुः[9] शंवदः[10] शंकरो हरः । हरिर्मोहासुरारिश्च तमोऽरिर्भव्यभास्करः ॥३६॥
पुराणः कविराद्यस्त्वं योगी योगविदां वरः । त्वं शरण्यो वरेण्योऽग्र्यस्त्वं पूतः पुण्यनायकः ॥३७॥
त्वं योगात्मा[11] सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरुद्धवः[12] । सूक्ष्मो निरंजनः कञ्जसंजातो[13] जिनकुंजरः ॥३८॥
छन्दो[14]विच्छन्दसां[15] कर्ता वेदविद्वदतां[16] वरः । वाचस्पतिरधर्मारिर्धर्मादिर्धर्मनायकः ॥३९॥

स्रष्टा है, विधाता हैं, ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, पवित्र करनेवाले है, आदि पुरुष हैं, जगत्के ईश हैं, जगत्में शोभायमान हैं और विश्वतोमुख अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥३१॥ आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगत्के भर्ता हैं, समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं, सबकी रक्षा करनेवाले हैं, विभु हैं, सब ओर फैली हुई आत्मज्योतिको धारण करनेवाले हैं, सबकी योनिस्वरूप हैं–सबके ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले है और स्वयं अयोनिरूप है–पुनर्जन्मसे रहित हैं ॥३२॥ आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा है, भगवान् हैं, वृषभ हैं, वृषभ चिह्नसे युक्त हैं, परमेष्ठी हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं, और आत्मभू–अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं ॥३३॥ आप ही स्वामी हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं, ईश्वर हैं, अयोनिज–योनिके बिना उत्पन्न होनेवाले हैं, जरा-रहित हैं, आदिरहित हैं, अन्तरहित हैं और अच्युत हैं॥३४॥ आप ही अक्षर अर्थात् अविनाशी हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षय होनेके अयोग्य है, अनक्ष अर्थात् इन्द्रियोंसे रहित है, अनक्षर अर्थात् शब्दागोचर हैं, विष्णु अर्थात् व्यापक हैं, जिष्णु अर्थात् कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, विजिष्णु अर्थात् सर्वोत्कृष्ट स्वभाववाले हैं, स्वयम्भू अर्थात् स्वयं बुद्ध हैं, और स्वयम्प्रभ अर्थात् अपने-आप ही प्रकाशमान हैं—असहाय, केवलज्ञानके धारक है ॥३५॥ आप ही शम्भु हैं, शम्भव हैं, शंयु–सुखी है, शंवद हैं—सुख या शान्तिका उपदेश देनेवाले हैं, शंकर हैं–शान्तिके करनेवाले है, हर हैं, मोहरूपी असुरके शत्रु हैं, अज्ञानरूप अन्धकारके अरि हैं और भव्य जीवोंके लिए उत्तम सूर्य हैं ॥३६॥ आप पुराण हैं–सबसे पहलेके हैं, आद्य कवि है, योगी है, योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अग्रेसर है, पवित्र हैं, और पुण्यके नायक हैं ॥३७॥ आप योगस्वरूप हैं–ध्यानमय है, योगसहित हैं–आत्मपरिष्पन्दसे सहित हैं, सिद्ध हैं–कृतकृत्य हैं, बुद्ध है–केवलज्ञानसे सहित हैं, सांसारिक उत्सवोंसे रहित हैं, सूक्ष्म हैं–छद्मस्थज्ञानके अगम्य है, निरंजन है–कर्मकलंकसे रहित हैं, गर्भमें कमलकर्णिकापर उत्पन्न हुए हैं अतः ब्रह्मरूप हैं और जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥३८॥ आप द्वादशांगरूप वेदोंके जाननेवाले हैं, द्वादशांगरूप वेदोंके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वचनोंके स्वामी हैं,

---

१. विश्वज्ञः । विश्वभुग् अ०, प०, स०, ल०, इ०, द०, । २ आत्मस्वरूपज्योति । ३. हिरण्य गर्भे यस्य । ४. परमेष्ठिपदस्थितः । ५. आत्मना भवतीति । ६. अधिकज्योतिः । ७. न क्षरतीति अक्षरः, नित्य । ८. न विद्यते क्षरो नाशो यस्मात् । ९ सुखयोजकः । १०. शं सुखं वदतीति । ११. ध्यानस्वरूपः । १२. विवाह्युत्सवरहितः । उत्कृष्टभर्तृरहितः । १३. सहस्रदलकर्णिकोपरि प्रादुर्भूतः । १४. छन्द इति ग्रन्थ-विशेषज्ञः । १५. छन्दःशब्देनात्र वेदो द्वादशाङ्गलक्षणो भण्यते । १६. आगमज्ञः ।

त्वं जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहा[1] रहाः[2] । धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिशुम्भनः[3] ॥४०॥
त्वं हि[4] भव्याब्जिनीबन्धुस्त्वं हविर्भुक्[5] त्वमध्वरः[6] । त्वं मखाङ्गं[7] मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव[8] च ॥४१॥
[9]यज्वाज्यं च त्वमिज्या च पुण्यो गण्यो गुणाकरः । त्वमपारि[10]रपारश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥४२॥
उत्तमोऽनुत्तरो[11] ज्येष्ठो गरिष्ठः[12] स्थेष्ठ[13] एव च । त्वमणीयान्[14] महीयांश्च[15] स्थवीयान्[16] गरिमास्पदम् ॥
महान् महीयितो[17] मह्यो[18] भूष्णुः स्थास्नु[19]रनश्वरः । जित्वरो[20]ऽनित्वरो[21] नित्यः शिवः[22] शान्तो भवान्तकः
त्वं हि ब्रह्मविदां[23] ध्येयस्त्वं हि ब्रह्मपदेश्वरः । त्वां नाममालया देवमित्यभिष्टुमहे वयम् ॥४५॥
अष्टोत्तरशतं नाम्नामित्यनुध्याय चेतसा । त्वामीडे नीडमीडानां[24] प्रातिहार्याष्टकप्रभुम् ॥४६॥
तवायं प्रचलच्छाखस्तुङ्गोऽशोकमहाद्रुमः । स्वच्छायासंश्रितान् पाति त्वत्तः शिक्षामिवाश्रितः ॥४७॥

अधर्मके शत्रु हैं, धर्मोंमें प्रथम धर्म हैं और धर्मके नायक हैं ॥३९॥ आप जिन हैं, कामको जीतनेवाले हैं, अर्हन्त हैं-पूज्य हैं, मोहरूप शत्रुको नष्ट करनेवाले हैं, अन्तरायरहित हैं, धर्मकी ध्वजा हैं, धर्मके अधिपति हैं, और कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करनेवाले हैं ॥४०॥ आप भव्यजीवरूपी कमलिनियोंके लिए सूर्यके समान हैं, आप ही अग्नि हैं, यज्ञकुण्ड हैं, यज्ञके अंग हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, होम करनेवाले हैं और होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥४१॥ आप ही यज्वा हैं-यज्ञ करनेवाले हैं, आज्य हैं-घृतरूप हैं, पूजारूप हैं, अपरिमित पुण्यस्वरूप हैं, गुणोंकी खान हैं, शत्रुरहित हैं, पाररहित हैं, और मध्यरहित होकर भी मध्यम हैं। भावार्थ—भगवान् निश्चयनयकी अपेक्षा अनादि और अनन्त हैं जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य भी नहीं होता। इसलिए भगवान्के लिए यहाँ कविने अमध्य अर्थात् मध्यरहित कहा है परन्तु साथ ही 'मध्यम' भी कहा है। कविकी इस उक्तिमें यहाँ विरोध आता है परन्तु जब मध्यम शब्दका 'मध्ये मा अनन्तचतुष्टयलक्ष्मीर्यस्य सः'—जिसके बीचमें अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी है, ऐसा अर्थ किया जाता है तब वह विरोध दूर हो जाता है। यह विरोधाभास अलंकार है ॥४२॥ हे भगवन्, आप उत्तम होकर भी अनुत्तम हैं (परिहार पक्षमें 'नास्ति उत्तमो यस्मात्सः'—जिससे बढ़कर और दूसरा नहीं है) ज्येष्ठ हैं, सबसे बड़े गुरु हैं, अत्यन्त स्थिर हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अत्यन्त बड़े हैं, अत्यन्त स्थूल हैं और गौरवके स्थान हैं ॥४३॥ आप बड़े हैं, क्षमा गुणसे पृथिवीके समान आचरण करनेवाले हैं, पूज्य हैं, भवनशील (समर्थ) हैं, स्थिर स्वभाववाले हैं, अविनाशी हैं, विजयशील हैं, अचल हैं, नित्य हैं, शिव हैं, शान्त हैं, और संसारका अन्त करनेवाले हैं ॥४४॥ हे देव, आप ब्रह्मविद् अर्थात् आत्मस्वरूपके जाननेवालोंके ध्येय हैं-ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपद-आत्माकी शुद्ध पर्यायके ईश्वर हैं। इस प्रकार हम लोग अनेक नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥४५॥ हे भगवन्, इस प्रकार आपके एक सौ आठ नामोंका हृदयसे स्मरण कर मैं आठ प्रातिहार्योंके स्वामी तथा स्तुतियोंके स्थानभूत आपकी स्तुति करता हूँ ॥४६॥ हे भगवन्, जिसकी शाखाएँ अत्यन्त चलायमान हो रही हैं ऐसा यह ऊँचा अशोक महावृक्ष अपनी

---

१. अरीन् हन्तीति अरिहा। २. रहस्यरहितः। 'रह-शब्देनान्तरायो भण्यते' 'विरहितरहस्कृतेभ्यः' इत्यत्र तथा व्याख्यानात्। ३. घातक। ४. पादपूरणे। हि—द०, स०, ल०, म०, प०, अ०, इ०। ५. वह्निः। ६. यागः। ७. यजनकारणम्। ८. होतव्यद्रव्यम्। ९. पूजकः। १०. अपगतारिः। ११. न विद्यते उत्तरः श्रेष्ठो यस्मात्। १२. अतिशयेन गुरुः। १३. अतिशयेन स्थिरः। १४. अतिशयेन अणुः। १५. अतिशयेन महान्। १६. अतिशयेन स्थूलः। १७. क्षमया महीवाचरितः। १८. पूज्यः। १९. स्थिरतरः। २०. जयशीलः। २१. गमनशीलतारहितः। २२. शिवं सुखमस्यास्तीति। २३. आत्मशालिनाम्। २४. स्तुतीनाम्।

तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य[1] वीजिताः। निर्धुनन्तीव निर्व्याजमागोगोमक्षिका नृणाम् ॥४८॥
त्वामापतन्ति परितः सुमनोऽञ्जलयो दिवः। तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाश्रुबिन्दवः ॥४९॥
छत्रत्रितयमाभाति सूच्छ्रितं जिन तावकम्। मुक्ताजालपरिभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितम् ॥५०॥
तव हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्भवद्भरम्[2]। कृतयत्नैरिवोद्वोढुं न्य[3]ग्भूयोढ मृगाधिपैः ॥५१॥
तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः। पुण्याभिषेकसम्भारं[4] लम्भयद्भि[5]रिवाभितः ॥५२॥
तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः। मोहान्धतमसं धुन्वन्[6]स्वज्ञानार्कांशुकोपमः ॥५३॥
प्रातिहार्याण्यहार्याणि[7] तवामूनि चकासति। लक्ष्मी हंस्याः समाक्रीडपुलिनानि शुचीनि वा ॥५४॥
नमो विश्वात्मने तुभ्यं तुभ्यं विश्वसृजे नमः। स्वयंभुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धिपर्ययैः ॥५५॥
ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः[8] शुद्धदर्शनम्। दानादिलब्धयश्चेति [9]क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥५६॥

छायामें आये हुए जीवोंकी इस प्रकार रक्षा करता है मानो इसने आपसे ही शिक्षा पायी हो ।।४७।। यक्षोंके द्वारा ऊपर उठाकर ढोले गये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पड़ते हैं मानो बिना किसी छलके मनुष्योंके पापरूपी मक्खियोंको ही उड़ा रहे हों ।।४८।। हे नाथ, आपके चारों ओर स्वर्गसे जो पुष्पाञ्जलियोंकी वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्ग-लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी हुई हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें ही हों ।।४९।। हे जिनेन्द्र, मोतियोंके जालसे सुशोभित और अतिशय ऊँचा आपका यह छत्रत्रितय ऐसा जान पड़ता है मानो लक्ष्मीका क्रीडास्थल ही हो ।।५०।। हे भगवन्, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आप समस्त लोकका भार धारण करनेवाले हैं-तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपका बोझ उठानेके लिए सिंहोंने प्रयत्न किया हो, परन्तु भारकी अधिकतासे कुछ झुककर ही उसे धारण कर सके हों ।।५१।। हे भगवन्, आपके शरीरकी प्रभाका विस्तार इस समस्त सभाको व्याप्त कर रहा है और उससे ऐसा जान पड़ता है मानो वह समस्त जीवोंको चारों ओरसे पुण्यरूप जलके अभिषेकको ही प्राप्त करा रहा हो ।।५२।। हे प्रभो, आपके दिव्य वचनोंका प्रसार (दिव्यध्वनिका विस्तार) मोहरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट करता हुआ जगत्के जीवोंका मन पवित्र कर रहा है इसलिए आप सम्यग्-ज्ञानरूपी किरणोंको फैलानेवाले सूर्यके समान हैं ।।५३।। हे भगवन्, इस प्रकार पवित्र और किसीके द्वारा हरण नहीं किये जा सकने योग्य आपके ये आठ प्रातिहार्य ऐसे देदीप्यमान हो रहे हैं मानो लक्ष्मीरूपी हंसीके क्रीड़ा करने योग्य पवित्र पुलिन (नदीतट) ही हों ।।५४।। हे प्रभो, ज्ञानकी अपेक्षा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं अथवा आपकी आत्मामें संसारके समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाली नौ लब्धियोंसे आप स्वयंभू हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ।।५५।। हे नाथ, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र और क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य ये आपकी नौ क्षायिकशुद्धियाँ कही

---

१. उद्धृत्य। २ भवतो भरम्। ३. अधोभूत्वा। ४. समूहम्। ५. प्रापयद्भिः। ६. त्वं ज्ञाना–ल०, द०, इ०, अ०, प०, स०, म०। ७. सहज्ञानीयर्थः। ८. चारित्रम्। ९. क्षये भवाः।

ज्ञानमप्रतिघं[1] विश्वं पर्यच्छै[2]त्सीत्तवाक्रमात्[3]। त्रयं ह्यावरणादेतद्व्य[4]वधिः करणं[5] क्रमः[6] ॥५७॥
चित्रं[7] जगदिदं चित्रं[8] त्वयाबोधि यदक्रमात्। अक्रमोऽपि क्वचिच्छ्लाघ्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥५८॥
इन्द्रियेषु समग्रेषु तव सत्स्वप्यतीन्द्रियम्। ज्ञानमासीदचिन्त्या हि योगिनां प्रभुशक्तयः ॥५९॥
यथा ज्ञानं तथैवाभूत् क्षायिकं तव दर्शनम्। [9]ताभ्यां युगपदेवासीदुपयोग[10]स्तवाद्भुतम् ॥६०॥
तेन त्वं विश्वविज्ञेय[11]व्यापिज्ञानगुणा[12]द्भुतः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयसे ॥६१॥
विश्वं विजानतोऽपीश[13] यत्तेनास्ता[14] श्रमक्लमौ। अनन्तवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्यं परिस्फुटम् ॥६२॥
रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव। [15]विरतिः सुखमात्मोत्थं व्यनक्त्यात्यन्तिकं विभो ॥६३॥
विरतिः[16] सुखमिष्टं चेत् सुखं त्वय्येव केवलम्। नो चेन्नैवासुखं नाम किंचिदत्र जगत्त्रये ॥६४॥

जाती हैं ॥५६॥ हे भगवन्, आपका बाधारहित ज्ञान समस्त संसारको एक साथ जानता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यवधान होना, इन्द्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं परन्तु आपका ज्ञानावरण कर्म बिलकुल ही नष्ट हो गया है इसलिए निर्बाधरूपसे समस्त संसारको एक साथ जानते हैं ॥५७॥ हे प्रभो, यह एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि आपने इस अनेक प्रकारके जगत्को एक साथ जान लिया अथवा कहीं-कहीं बड़े पुरुषोंका आश्रय पाकर क्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय समझा जाता है ॥५८॥ हे विभो, समस्त इन्द्रियोंके विद्यमान रहते हुए भी आपका ज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंका योगी लोग भी चिन्तवन नहीं कर सकते है ॥५९॥ हे भगवन्, जिस प्रकार आपका ज्ञान क्षायिक है उसी प्रकार आपका दर्शन भी क्षायिक है और उन दोनोंसे एक साथ ही आपके उपयोग रहता है यह एक आश्चर्यकी बात है। भावार्थ-संसारके अन्य जीवोंके पहले दर्शनोपयोग होता है बादमें ज्ञानोपयोग होता है परन्तु आपके दोनों उपयोग एक साथ ही होते है ॥६०॥ हे देव, आपका ज्ञानगुण संसारके समस्त पदार्थोंमे व्याप्त हो रहा है, आप आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग आपको सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी कहते हैं ॥६१॥ हे ईश, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं फिर भी आपको कुछ भी परिश्रम और खेद नहीं होता है। यह आपके अनन्त बलकी शक्तिका प्रकट दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥६२॥ हे विभो, चित्तको कलुषित करनेवाले राग आदि विभाव भावोंके नष्ट हो जानेसे जो आपके सम्यक्चारित्र प्रकट हुआ है वह आपके विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाले सुखको प्रकट करता है ॥६३॥ यदि विषय और कषायसे विरक्त होना ही सुख माना जाये तो वह सुख केवल आपमें ही माना जायेगा और यदि विषय कषायसे विरक्त न होनेको सुख माना जाये तो फिर यही मानना पड़ेगा कि तीनों लोकोंमें दुःख है ही नहीं। भावार्थ—निर्वृत्ति अर्थात् आकुलताके अभावको सुख कहते हैं, विषय-कषायोंमें प्रवृत्ति करते हुए आकुलताका अभाव नहीं होता इसलिए उनमें वास्तविक सुख नहीं

१. विघ्नरहित। 'प्रतिघः प्रतिघाते च रोषे च प्रतिघो मतः।' २ परिच्छिनत्ति स्म, निश्चयमकरोदित्यर्थः। ३. युगपदेव। क्रमकरणव्यवधानमन्तरेणेत्यर्थः। ४ व्यवधानम्। ५. इन्द्रियम्। ६. परिपाटी। ७ नानाप्रकारम्। ८. तदाश्चर्यम्। ९. ज्ञानदर्शनाभ्याम्। १०. परिच्छित्तिः (सकलपदार्थपरिज्ञानम्)। ११. विश्वव्यापी विज्ञेयव्यापी। १२ सकलपदार्थव्यापिज्ञानगुणेनात्मज्ञानान्तमाश्चर्यवानित्यर्थः। १३. यस्मात् कारणात्। यत्ते न स्त –द०, ल०, म०, अ०, स०। १४. अभवताम्। १५ विरतिः निस्पृहता। विरतिः निवृत्तिः। १६. विरतिः सुखमितीष्टं चेत्तर्हि केवलं सुखं त्वय्येवास्ति, नान्यस्मिन्, नो चेत् विरतिः सुखमिति नेष्टम् अविवृत्तिरेव सुखमिति चेत्तर्हि किंचिदसुखं नास्त्येव।

[1]प्रसन्नकलुषं तोयं यथेह स्वच्छतां व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्दमापायाद्दृक्[2]शुद्धिस्ते तथा मता ॥६५॥
सत्योऽपि लब्धयः [3]शेषास्त्वयि नार्थक्रिया[4]कृतः । कृतकृत्ये बहिर्द्रव्यसंबन्धो हि निरर्थकः ॥६६॥
एवं प्राया गुणा नाथ भवतोऽनन्तधा मता. । तानहं लेशतोऽपीश न स्तोतुमलमल्पधीः ॥६७॥
तदास्तां[6] ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितम् । पुनाति नस्ततो[7] देव त्वन्नामोद्देशतः[8] श्रिताः ॥६८॥
हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्मयी । गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत्तदाद्भुता[9] ॥६९॥
वृषभोऽसि सुरैर्वृष्टरत्नवर्षः स्वसम्भवे । [10]जन्माभिषिक्तये मेरुं [11]सृष्टवान्वृषभोऽप्यसि ॥७०॥
अशेषज्ञेयसंक्रान्तज्ञानमूर्तिर्यतो भवान् । अतः सर्वगतं प्राहुस्त्वां देव परमर्षयः ॥७१॥
त्वयीत्यादीनि नामानि [12]बिभ्रत्यन्वर्थतां यतः । ततोऽसि त्वं जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठी सनातन. ॥७२॥
त्वद्भक्तिचोदितामेनां मामिकां धियमक्षम । धर्तुं स्तुतिपथे तेऽद्य प्रवृत्तोऽस्म्येव[13] मक्षर[14] ॥७३॥

है परन्तु आप विषय-कषायोंसे निवृत्त हो चुके हैं–आपकी तद्विषयक आकुलता दूर हो गयी है इसलिए वास्तविक सुख आपमें ही है। यदि विषयवासनाओंमें प्रवृत्ति करते रहनेको सुख कहा जाये तो फिर सारा संसार सुखी-ही-सुखी कहलाने लगे क्योंकि संसारके सभी जीव विषयवासनाओंमें प्रवृत्त हो रहे हैं परन्तु उन्हें वास्तविक सुख प्राप्त हुआ नहीं मालूम होता इसलिए सुखका पहला लक्षण ही ठीक है और वह सुख आपको ही प्राप्त हैं ॥६४॥ हे भगवन्, जिस प्रकार कलुष–मल अर्थात् कीचड़के शान्त हो जानेसे जल स्वच्छताको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचड़के नष्ट हो जानेसे आपका सम्यग्दर्शन भी स्वच्छताको प्राप्त हुआ है ॥६५॥ हे देव, यद्यपि दान, लाभ आदि शेष लब्धियाँ आपमें विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि कृतकृत्य पुरुषके बाह्य पदार्थोंका संसर्ग होना बिलकुल व्यर्थ होता है ॥६६॥ हे नाथ, ऐसे-ऐसे आपके अनन्तगुण माने गये हैं, परन्तु हे ईश, अल्पबुद्धिको धारण करनेवाला मैं उन सबकी लेशमात्र भी स्तुति करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥६७॥ इसलिए हे देव, आपके गुणोंका स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोग केवल नाम लेकर ही आपके आश्रयमें आये हैं ॥६८॥ हे नाथ, आपके गर्भावतरणके समय आश्चर्य करनेवाली हिरण्यमयी अर्थात् सुवर्णमयी वृष्टि हुई थी इसलिए लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥६९॥ आपके जन्मके समय देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिए आप वृषभ कहलाते हैं और जन्माभिषेकके लिये आप सुमेरुपर्वतको प्राप्त हुए थे इसलिये आप ऋषभ भी कहलाते हैं ॥७०॥ हे देव, आप संसारके समस्त जानने योग्य पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी मूर्तिरूप हैं इसलिए बड़े-बड़े ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं ॥७१॥ हे भगवन्, ऊपर कहे हुए नामोंको आदि लेकर अनेक नाम आपमें सार्थकताको धारण कर रहे हैं इसलिए आप जगज्ज्येष्ठ (जगत्‌में सबसे बड़े), परमेष्ठी और सनातन कहलाते हैं ॥७२॥ हे अविनाशी, आपकी भक्तिसे प्रेरित हुई अपनी इस बुद्धिको मैं स्वयं धारण करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका इसलिए ही आज आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। भावार्थ–योग्यता न रहते हुए भी मात्र भक्तिसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति कर रहा हूँ ॥७३॥

---

१. प्रशान्त–ल०, इ०, द०, प०, अ०, स०, म० । २. दर्शन । ३. वीर्यादय । ४ अर्थक्रियाकारिण्यः, ५. एवमादयः । ६. तिष्ठतु । ७ कारणात् । ८. नामसंकीर्तनमात्रत । ९ –त्तदाद्भुता– ब०, द०, ल०, इ०, म०, अ०, स०, प० । १०. अभिषेकाय । ११. गतवान् । १२. धारयन्ते । १३. प्रवृत्तोऽस्म्यहमक्षर –इ०, म० । १४. अविनश्वर ।

त्वयोपदर्शितं मार्गमुपास्य शिवमीप्सितः । त्वां देवमित्युपासीनान् प्रसीदानुगृहाण नः ॥७४॥
भवन्तमित्यमिष्टुत्य विष्टपातिगवैभवम् । त्वय्येव भक्तिमकृशां प्रार्थये नान्यदर्थये[2] ॥७५॥
स्तुवन्तं[3] सुरसङ्घातैर्वीक्षितो विस्मितेक्षणैः । श्रीमण्डपं प्रविश्यास्मिन्नध्युवासोचितं सदः ॥७६॥
ततो निभृतमासीने प्रबुद्धकरकुड्मले । सदःपद्माकरे भर्तुः[4] प्रबोधमभिलाषुके ॥७७॥
प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना । विज्ञापनमकारीत्थं तत्त्वजिज्ञासुना[5] गुरोः ॥७८॥
भगवन् बोद्धुमिच्छामि[6] कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफलं चापि कीदृक् तत्त्वविदां वर ॥७९॥
तत्प्रश्नावसिताविरथं[7] भगवानादितीर्थकृत् । तत्त्वं[8] प्रपञ्चयामास गम्भीरतरया गिरा ॥८०॥
प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काप्यभूत् । दर्पणे किमु भावानां विक्रियास्ति प्रकाशने ॥८१॥
ताल्वोष्ठमपरिस्पन्दि नच्छायान्तरमानने । अस्पृष्टकरणा[9] वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः ॥८२॥
स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद्[10] ध्वनिसन्निभः । प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात् ॥८३॥

हे प्रभो, आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्गकी उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले और देव मानकर आपकी ही उपासना करनेवाले हम लोगोंपर प्रसन्न होइए और अनुग्रह कीजिए ॥७४॥ हे भगवन्, इस प्रकार लोकोत्तर वैभवको धारण करनेवाले आपकी स्तुति कर हम लोग यही चाहते हैं कि हम लोगोंको बड़ी भारी भक्ति आपमें ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते ॥७५॥

इस प्रकार स्तुति कर चुकनेपर जिसे देवोंके समूह आश्चर्यसहित नेत्रोंसे देख रहे थे ऐसे महाराज भरत श्रीमण्डपमें प्रवेश कर वहाँ अपनी योग्य सभामें जा बैठे ॥७६॥ तदनन्तर भगवान्से प्रबोध प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला वह सभारूपी सरोवर जब हाथरूपी कुड्मल जोड़कर शान्त हो गया–जब सब लोग तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये तब भगवान् वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयसे मस्तक झुकाकर प्रीतिपूर्वक ऐसी प्रार्थना की ॥७७–७८॥ हे भगवन्, तत्त्वोंका विस्तार कैसा है ? मार्ग कैसा है ? और उसका फल भी कैसा है ? हे तत्त्वोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ, मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ ॥७९॥ इस प्रकार भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवने अतिशय गम्भीर वाणीके द्वारा तत्त्वोंका विस्तारके साथ विवेचन किया ॥८०॥ कहते समय भगवान्के मुखकमलपर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ था सो ठीक है, क्योंकि पदार्थोंको प्रकाशित करते समय क्या दर्पणमें कुछ विकार उत्पन्न होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥८१॥ उस समय भगवान्के न तो तालु, ओठ आदि स्थान ही हिलते थे और न उनके मुखकी कान्ति ही बदलती थी। तथा जो अक्षर उनके मुखसे निकल रहे थे उन्होंने प्रयत्नको छुआ भी नहीं था—इन्द्रियोंपर आघात किये बिना ही निकल रहे थे ॥८२॥ जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवान्के मुखसे इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार कि किसी पर्वतकी गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि निकलती है ॥८३॥

---

१. सेवमानान् । २. प्रार्थयेऽहम् । ३. स्तुत्यवसाने । ४. भर्तुः सकाशात् । ५. तत्त्वं ज्ञातुमिच्छुना । तत्त्व जिज्ञासुना- ल०, द०, इ । ६ श्रोतु-द०, ल० । ७ प्रश्नावमाने । ८ विस्तारयामास । ९ इन्द्रिय-प्रयत्नरहिता इत्यर्थ । १०. प्रतिध्वानरवः ।

विवक्षा[1]मन्तरेणास्य [2]विविक्तासीत् सरस्वती । मही[3]यसामचिन्त्या हि योगजा[4] शक्तिसंपदः ॥८४॥
आयुष्मन् शृणु तत्त्वार्थान् वक्ष्यमाणाननुक्रमात् । जीवादीन् कालपर्यन्तान् सप्रभेदान् सपर्ययान् ॥८५॥
जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्य[5] तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानाङ्गमेतद्धि विद्धि [6]सिद्ध्यङ्गमङ्गिनाम् ॥८६॥
तदेकं तत्त्वसामान्याज्जीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराजीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥८७॥
जीवो मुक्तश्च संसारी संसार्यात्मा द्विधा मतः । भव्योऽभव्यश्च साजीवास्ते चतुर्धा[7] विभाविताः॥८८॥
मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तामूर्तात्मकः परः[8] । इति वा तस्य तत्त्वस्य चातुर्विध्यं विनिश्चितम् ॥८९॥
पञ्चास्तिकायभेदेन तत्तत्त्वं पञ्चधा स्मृतम् । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपर्ययाः ॥९०॥
त एव[9] कालसंयुक्ताः षोढा तत्त्वस्य भेदकाः । इत्यनन्तो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरैषिणाम्[10] ॥९१॥
चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥९२॥
गुणवान् कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रज्या[11]स्वभावकः । परिण[12]न्तोपसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥९३॥

भगवान्‌की वह वाणी बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि योगबलसे उत्पन्न हुई महापुरुषोंकी शक्तिरूपी सम्पदाएँ अचिन्तनीय होती हैं—उनके प्रभुत्वका कोई चिन्तवन नहीं कर सकता ॥८४॥ भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन्, जिनका स्वरूप आगे अनुक्रमसे कहा जायेगा, ऐसे भेद-प्रभेदों तथा पर्यायोंसे सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंको तू सुन ॥८५॥ जीव आदि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप ही तत्त्व कहलाता है, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञानका अंग अर्थात् कारण है और यही जीवोंकी मुक्तिका अंग है ॥८६॥ वह तत्त्व सामान्य रीतिसे एक प्रकारका है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकारका है तथा जीवोंके संसारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद करनेसे संसारी जीव, मुक्त जीव और अजीव इस प्रकार तीन भेदवाला भी कहा जाता है ॥८७॥ संसारी जीव दो प्रकारके माने गये हैं—एक भव्य और दूसरा अभव्य, इसलिए मुक्त जीव, भव्य जीव, अभव्य जीव और अजीव इस तरह वह तत्त्व चार प्रकारका भी माना गया है ॥८८॥ अथवा जीवके दो भेद हैं एक मुक्त और दूसरा संसारी, इसी प्रकार अजीवके भी दो भेद हैं एक मूर्तिक और दूसरा अमूर्तिक, दोनोंको मिला देनेसे भी तत्त्वके चार भेद निश्चित किये गये हैं ॥८९॥ पाँच अस्तिकायोंके भेदसे वह तत्त्व पाँच प्रकारका भी स्मरण किया है। अपनी-अपनी पर्यायोंसहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते है ॥९०॥ उन्हीं पाँच अस्तिकायोंमें कालके मिला देनेसे तत्त्वके छह भेद भी हो जाते है, इस प्रकार विस्तारपूर्वक जाननेकी इच्छा करनेवालोंके लिए तत्त्वोंका विस्तार अनन्त भेदवाला हो सकता है ॥९१॥ जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखनेकी शक्ति पायी जाये उसे जीव कहते है, वह अनादि निधन है अर्थात् द्रव्य-दृष्टिकी अपेक्षा न तो वह कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। इसके सिवाय वह ज्ञाता है–ज्ञानोपयोगसे सहित है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोगसे युक्त है, कर्ता है–द्रव्यकर्म और कर्मोंको करनेवाला है, भोक्ता है–ज्ञानादि गुण तथा शुभ-अशुभ कर्मोंके फलको भोगनेवाला है और शरीरके प्रमाणके बराबर है–सर्वव्यापक और अणुरूप नहीं है ॥९२॥ वह अनेक गुणोंसे युक्त है, कर्मोंका सर्वथा नाश हो जानेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है और वह

१ वक्तुमिच्छया विना । २. निश्चिता । ३ अतिशयेन महताम् । ४ ध्यानजाता । ५ निश्चयस्वरूपम् । ६. मोक्षकारणम् । ७. भव्यसंसारी, अभव्यसंसारी, मुक्तः, अजीवश्चेति । ८. अजीवः । ९ ते पञ्चास्तिकाया एव । १०. विस्तरमिच्छताम् । ११ ऊर्ध्वगमन । १२. परिणमनशीलः ।

तस्येमे मार्गणोपाया[1] गत्याद्य उदाहृताः । चतुर्दशगुणस्थानै सो[2]ऽत्र मृग्यः[3] सदादिभि[4] ॥९४॥
गतीन्द्रिये च कायश्च योगवेदकषायकाः । ज्ञानसंयमदृग्लेश्या भव्यसम्यक्त्वसञ्ज्ञिन ॥९५॥
समभाहारकेण स्यु· मार्गणस्थानकानि वै । [5]सोऽन्वेष्य[6]स्तेषु सत्सङ्ख्याद्यनु[7]योगैर्विशेषतः ॥९६॥
[8]सत्सङ्ख्याक्षेत्रसस्पर्शकालभावान्तरैरयम् । बहुत्वा[9]ल्पत्वतश्चात्मा[10] मृग्य· स्यात् स्मृतिचक्षुषाम्[11] ॥९७॥
स्युरिमेऽधिगमोपाया[12] जीवस्याधिगमः पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपै· अवसेयो[13] मनीषिभि· ॥९८॥
[14]तस्यौपशमिको भावः क्षायिको मिश्र एव च । स्व[15]तत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि ॥९९॥
निश्चितो यो गुणैरेभि· स जीव इति लक्ष्यताम् । द्वेधा तस्योपयोग· स्याज्ज्ञानदर्शनभेदत· ॥१००॥
ज्ञानमष्टतयं[16] ज्ञेयं दर्शनं च[17] चतुष्टयम् । साकारं ज्ञानमुद्दिष्टमनाकारं च दर्शनम् ॥१०१॥
भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया[18] । सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शनम् ॥१०२॥

दीपकके प्रकाशकी तरह संकोच तथा विस्ताररूप परिणमन करनेवाला है। भावार्थ—नाम-कर्मके उदयसे उसे जितना छोटा बड़ा शरीर प्राप्त होता है वह उतना ही संकोच विस्तार रूप हो जाता है ॥९३॥ उस जीवका अन्वेषण करनेके लिए गति आदि चौदह मार्गणाओंका निरूपण किया गया है। इसी प्रकार चौदह गुणस्थान और सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा भी वह जीवतत्त्व अन्वेषण करनेके योग्य है। भावार्थ—मार्गणाओं, गुणस्थानों और सत्-संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा जीवका स्वरूप समझा जाता है ॥९४॥ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व संज्ञित्व और आहारक ये चौदह मार्गणास्थान है। इन मार्गणास्थानोंमें सत्संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेषरूपसे जीवका अन्वेषण करना चाहिए—उसका स्वरूप जानना चाहिए ॥९५-९६॥ सिद्धान्तशास्त्ररूपी नेत्रको धारण करनेवाले भव्य जीवोंको सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव, अन्तर, अल्प-बहुत्व इन आठ अनुयोगोंके द्वारा जीवतत्त्वका अन्वेषण करना चाहिए ॥९७॥ इस प्रकार ये जीवतत्त्वके जाननेके उपाय हैं। इनके सिवाय विद्वानोंको प्रमाण नय और निक्षेपोंके द्वारा भी जीवतत्त्वका निश्चय करना चाहिए—उसका स्वरूप जानकर दृढ़ प्रतीति करना चाहिए ॥९८॥ औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके निजतत्त्व कहलाते हैं, इन गुणोंसे जिसका निश्चय किया जाये उसे जीव जानना चाहिए। उस जीवका उपयोग ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है ॥९९-१००॥ इन दोनों प्रकारके उपयोगोंमें-से ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका और दर्शनोपयोग चार प्रकारका जानना चाहिए। जो उपयोग साकार है अर्थात् विकल्पसहित पदार्थको जानता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं और जो अनाकार है—विकल्परहित पदार्थको जानता है उसे दर्शनोपयोग कहते हैं ॥१०१॥ घट-पट आदिकी व्यवस्था लिये हुए किसी वस्तुके भेदग्रहण करनेको आकार कहते हैं और सामान्यरूप ग्रहण करनेको अनाकार कहते हैं। ज्ञानोपयोग वस्तुको भेदपूर्वक ग्रहण करता है इसलिए वह साकार—सविकल्पक उपयोग कहलाता है और दर्शनोपयोग

---

१. विचारोपाया । २ तत्त्वविचारविषये । ३. विचार्यं । ४. सत्सख्याक्षेत्रादिभि । ५. जीव । ६ अन्वेष्टु योग्य. । विचार्य इत्यर्थं । ७. प्रश्नै. । विचारैरित्यर्थ । ८. सदित्यस्तित्वनिदश: । सख्या भेदगणना । क्षेत्र वर्तमानकालविषयो निवास· । सस्पर्श त्रिकालगोचरम् तत्क्षेत्रमेव । कालः वर्तनालक्षण । भावः औपशमिकादिलक्षण अन्तर विरहकालः । ९. अन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तित. । १०. एतैरयमात्मा मृग्य विचारणीय. । ११. आगमचक्षुषाम् । १२. विज्ञानोपाया. । १३ निश्चेय. । १४. जीवस्य । १५. स्वस्वभाव । १६. मतिज्ञानादिपञ्चक कुमतिकुश्रुतिविभङ्गाश्चेत्यष्टप्रकारम् । १७. चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनमिति । १८. प्रतिविषयनियत्या ।

जीव प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा । पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥१०३॥
यतो जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्धः स्ताद्भूतपूर्वतः[1][2] ॥१०४॥
प्राणा दशास्य सन्तीति प्राणी जन्तुश्च जन्मभाक् । क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते[3] ॥१०५॥
पुरुषः पुरु[4] भोगेषु शयनात् परिभाषितः । पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते ॥१०६॥
भवेष्वतति[5] सातत्याद् एतीत्यात्मा निरुच्यते । सोऽन्तरात्माष्टकर्मान्तर्वर्तित्वादभिलप्यते ॥१०७॥
ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः । पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्णेयो[6]ऽन्यैश्च तद्विधैः ॥१०८॥
शाश्वतोऽयं भवेज्जीवः पर्यायास्तु पृथक् पृथक् । मृद्द्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्तिविपत्तयः[7] ॥१०९॥
अभूत्वाभाव उत्पादो भूत्वा चाभवनं व्ययः । ध्रौव्यं तु तादवस्थ्यं[8] स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥११०॥
एवं धर्माणमात्मानमजानानाः कुदृष्टयः । बहुधात्र विमन्वाना[9] विवदन्ते[10] परस्परम् ॥१११॥

वस्तुको सामान्यरूपसे ग्रहण करता है इसलिए वह अनाकार–अविकल्पिक उपयोग कहलाता है ॥१०२॥ जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीवके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥१०३॥ चूँकि यह जीव वर्तमान कालमें जीवित है, भूतकालमें भी जीवित था और अनागत कालमें भी अनेक जन्मोंमें जीवित रहेगा इसलिए इसे जीव कहते हैं। सिद्ध भगवान् अपनी पूर्वपर्यायोंमें जीवित थे इसलिए वे भी जीव कहलाते हैं ॥१०४॥ पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्‍वास ये दस प्राण इस जीवके विद्यमान रहते हैं इसलिए यह प्राणी कहलाता है, यह बार-बार अनेक जन्म धारण करता है इसलिए जन्तु कहलाता है, इसके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ॥१०५॥ पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगोंमें शयन अर्थात् प्रवृत्ति करनेसे यह पुरुष कहा जाता है और अपने आत्माको पवित्र करता है। इसलिए पुमान् भी कहा जाता है ॥१०६॥ यह जीव नर-नारकादि पर्यायोंमें अतति अर्थात् निरन्तर गमन करता रहता है इसलिए आत्मा कहलाता है और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अन्तर्वर्ती होनेसे अन्तरात्मा भी कहा जाता है ॥१०७॥ यह जीव ज्ञानगुणसे सहित है इसलिए ज्ञ कहलाता है और इसी कारण ज्ञानी भी कहा जाता है, इस प्रकार यह जीव ऊपर कहे हुए पर्याय शब्दों तथा उन्हींके समान अन्य अनेक शब्दोंसे जाननेके योग्य है ॥१०८॥ यह जीव नित्य है परन्तु उसकी नर-नारकादि पर्यायें जुदी-जुदी हैं। जिस प्रकार मिट्टी नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसका उत्पाद और विनाश होता रहता है उसी प्रकार यह जीव नित्य है परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा उसमें भी उत्पाद और विनाश होता रहता है। भावार्थ–द्रव्यत्व सामान्यकी अपेक्षा जीव द्रव्य नित्य है और पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। एक साथ दोनों अपेक्षाओंसे यह जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है ॥१०९॥ जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, किसी पर्यायका उत्पाद होकर नष्ट हो जाना व्यय कहलाता है और दोनों पर्यायोंमें तदवस्थ होकर रहना ध्रौव्य कहलाता है, इस प्रकार यह आत्मा उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणोंसे सहित है ॥११०॥ ऊपर कहे हुए स्वभावसे युक्त आत्माको नहीं जानते हुए

---

१ भवेत् । २. पूर्वस्मिन् काले जीवनात् । ३. क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते । ४ बहु । ५. अतति इति कोऽर्थः । सातत्यात् अनि स्यूतवृत्त्यातिगच्छतीत्यर्थः । ६. निर्ज्ञेयोऽन्यैश्च । ७. उत्पत्तिनाशाः । ८. उत्पत्तिव्यययोः स्थितिः । ९. विपरीतं मन्वाना । १० विपरीत जानन्ति ।

नास्त्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्त्यनित्य इति स्थिताः । न कर्तेत्यपरे केचिद् अभोक्तेति च दुर्दृशः ॥११२॥
अस्त्यात्मा किं तु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छन्ति केचन ॥११३॥
इत्यादि दुर्णयानेतानपास्य सुनया[1]न्वयात् । यथोक्तलक्षणं जीवं त्वमायुष्मन् विनिश्चिनु ॥११४॥
संसारश्चैव मोक्षश्च [2]तस्यावस्थाद्वयं मतम् । संसारश्चतु[3]रङ्गेऽस्मिन् भवावर्ते विवर्तनम् ॥११५॥
निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः । सम्यग्विशेषणज्ञानदृष्टिचारित्रसाधनः ॥११६॥
आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं प्रथमं मुक्तिसाधनम् ॥११७॥
ज्ञानं जीवादिभावानां याथात्म्यस्य प्रकाशकम् । अज्ञानध्वान्तसंतानप्रक्षयानन्तरोद्भवम् ॥११८॥
माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः । मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत् ॥११९॥
त्रयं [4]समुदितं मुक्तेः साधनं दर्शनादिकम् । नैकाङ्गविकलत्वेऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥१२०॥
सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदम् । ज्ञानं च [5]दृष्टिसच्चर्यासांनिध्ये मुक्तिकारणम् ॥१२१॥
चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम् । [6]प्रपातायैव [7]तद्धि स्यादन्धस्येव [8]विवल्गितम् ॥१२२॥

मिथ्यादृष्टि पुरुष उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्परमें विवाद करते हैं ॥१११॥ कितने ही मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ ही नहीं है, कोई कहते हैं कि वह अनित्य है, कोई कहते हैं कि वह कर्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि वह भोक्ता नहीं है, कोई कहते हैं कि आत्मा नामका पदार्थ है तो सही परन्तु उसका मोक्ष नहीं है, और कोई कहते हैं कि मोक्ष भी होता है परन्तु मोक्ष प्राप्तिका कुछ उपाय नहीं है, इसलिए हे आयुष्मन् भरत, ऊपर कहे हुए इन अनेक मिथ्या नयोंको छोड़कर समीचीन नयोंके अनुसार जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे जीवतत्त्वका तू निश्चय कर ॥११२-११४॥ उस जीवकी दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं एक संसार और दूसरी मोक्ष। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार भेदोंसे युक्त संसाररूपी भँवरमें परिभ्रमण करना संसार कहलाता है ॥११५॥ और समस्त कर्मोंका बिलकुल ही क्षय हो जाना मोक्ष कहलाता है, वह मोक्ष अनन्तसुख स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप साधनसे प्राप्त होता है ॥११६॥ सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और समीचीन पदार्थोंका बड़ी प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षप्राप्तिका पहला साधन है ॥११७॥ जीव, अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थस्वरूपको प्रकाशित करनेवाला तथा अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराके नष्ट हो जानेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥११८॥ इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव धारण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं, वह सम्यक्चारित्र यथार्थरूपसे तृष्णारहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले, वस्त्ररहित और हिंसाका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराजके ही होता है ॥११९॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर ही मोक्षके कारण कहे गये हैं यदि इनमें-से एक भी अंगकी कमी हुई तो वह-अपना कार्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥१२०॥ सम्यग्दर्शनके होते हुए ही ज्ञान और चारित्र फलके देनेवाले होते हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके रहते हुए ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥१२१॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुषका दौड़ना उसके पतनका कारण होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे शून्य पुरुषका चारित्र भी उसके पतन अर्थात् नरकादि गतियोंमें परिभ्रमणका

---

१. सुनयानुगमात् । २ जीवस्य । ३ चतुरवयवे । ४ समुदायोक्तम् । ५. दर्शनचारित्रसामीप्ये सति । ६ नरकादिगतौ पतनायैव । ७ दर्शनविकलचारित्रम् । ८ वल्गनमुत्पतनम् ।

[1]त्रिष्वेकद्वयविश्लेषाद्[2] उद्भूता मार्गदुर्णयाः । षोढा भवन्ति मूढानां तेऽप्यत्र विनिपातिताः[3] ॥१२३॥
[4]इतो नाधिकमस्त्यन्यत् नाभून्नैव भविष्यति । इत्याप्तादित्रये दाढर्याद् दर्शनस्य विशुद्धता ॥१२४॥
आप्तो गुणैर्युतो धूतकलंको निर्मलाशयः । निष्ठितार्थो भवेत् [5]सार्वस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥१२५॥
आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुशासनम् । नयप्रमाणगम्भीरं तदाभासोऽसतां वचः ॥१२६॥
पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः । यथोक्तलक्षणो जीवस्त्रिकोटि[6]परिणामभाक् ॥१२७॥
भव्याभव्यो तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः । भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसंनिभः ॥१२८॥
अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्धपाषाणसंनिभ । मुक्तिकारणसामग्री न [7]तस्यास्ति कदाचन ॥१२९॥
कर्मबन्धननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः । सिद्धो निरञ्जनः प्रोक्त प्राप्तानन्तसुखोदयः ॥१३०॥

कारण होता है ॥१२२॥ इन तीनोंमें-से कोई तो अलग-अलग एक-एकसे मोक्ष मानते हैं और कोई दो-दोसे मोक्ष मानते हैं इस प्रकार मूर्ख लोगोंने मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्या-नयोंकी कल्पना की है परन्तु इस उपर्युक्त कथनसे उन सभीका खण्डन हो जाता है। भावार्थ- कोई केवल दर्शनसे, कोई ज्ञानमात्रसे, कोई मात्र चारित्रसे, कोई दर्शन और ज्ञान दोसे, कोई दर्शन और चारित्र इन दोसे और कोई ज्ञान तथा चारित्र इन दोसे मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्गके विषयमें छह प्रकारके मिथ्यानयकी कल्पना करते हैं परन्तु उनकी यह कल्पना ठीक नहीं है क्योंकि तीनोंकी एकतासे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ॥१२३॥ जैनधर्म-में आप्त, आगम तथा पदार्थका जो स्वरूप कहा गया है उससे अधिक या कम न तो है न था और न आगे ही होगा। इस प्रकार आप्त आदि तीनोंके विषयमें श्रद्धानकी दृढता होनेसे सम्यग्दर्शनमें विशुद्धता उत्पन्न होती है ॥१२४॥ जो अनन्तज्ञान आदि गुणोंसे सहित हो, घातिया कर्मरूपी कलंकसे रहित हो, निर्मल आशयका धारक हो, कृतकृत्य हो और सबका भला करनेवाला हो वह आप्त कहलाता है। इसके सिवाय अन्य देव आप्ताभास कहलाते हैं ॥१२५॥ जो आप्तका कहा हुआ हो, समस्त पुरुषार्थोंका वर्णन करनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गम्भीर हो उसे आगम कहते हैं, इसके अतिरिक्त असत्पुरुषोंके वचन आगमाभास कहलाते हैं ॥१२६॥ जीव और अजीवके भेदसे पदार्थके दो भेद जानना चाहिए। उनमें-से जिसका चेतनारूप लक्षण ऊपर कहा जा चुका है और जो उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूप तीन प्रकारके परिणमनसे युक्त है वह जीव कहलाता है ॥१२७॥ भव्य-अभव्य और मुक्त इस प्रकार जीवके तीन भेद कहे गये हैं, जिसे आगामी कालमें सिद्धि प्राप्त हो सके उसे भव्य कहते हैं, भव्य जीव सुवर्ण-पाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार निमित्त मिलनेपर सुवर्ण-पाषाण आगे चलकर शुद्ध सुवर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भव्यजीव भी निमित्त मिलनेपर शुद्ध सिद्धस्वरूप हो जाता है ॥१२८॥ जो भव्यजीवसे विपरीत है अर्थात् जिसे कभी भी सिद्धि की प्राप्ति न हो सके उसे अभव्य कहते हैं, अभव्यजीव अन्धपाषाणके समान होता है अर्थात् जिस प्रकार अन्धपाषाण कभी भी सुवर्णरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार अभव्य जीव भी कभी सिद्धस्वरूप नहीं हो सकता। अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी भी प्राप्त नहीं होती है ॥१२९॥ और जो कर्मबन्धनसे छूट चुके हैं, तीनों लोकोंका

---

१. दर्शनज्ञानचारित्रेषु । २ केचिद्दर्शन मुक्त्वाऽन्ये ज्ञान विहाय परे चारित्रं विना द्वाभ्यामेव मोक्षमिति वदन्ति । द्वयविशेषात् । अन्ये ज्ञानादेव, दर्शनादेव, चारित्रादेव मोक्षमिति वदन्ति इति मार्गदुर्नयाः षट्प्रकाराः भवन्ति । ३. निराकृताः । ४. यथोक्ताप्तादित्रयात् । ५ सर्वहित । ६. उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपपरि-णमनभाक् । ७. अभव्यस्य ।

इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः। अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीधन ॥१३१॥
अजीवलक्षणं तत्त्व पञ्चधैव प्रपञ्च्यते। धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ॥१३२॥
जीवपुद्गलयोर्यस्याद् गत्युपग्रहकारणम्[1]। धर्मद्रव्यं तदुद्दिष्टमधर्मं स्थित्युपग्रहः[2] ॥१३३॥
गतिस्थि[3]तिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे। धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ ॥१३४॥
यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवाम्भसा भवेत्। न चाम्भः प्रेरयत्येनं तथा[4]धर्मास्त्यनुग्रहः ॥१३५॥
तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः। न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ[5] च स्थितिकारणम् ॥१३६॥
तथैवाधर्मकायोऽपि जीवपुद्गलयोः स्थितिम्। निवर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥१३७॥
जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम्। यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम् ॥१३८॥
वर्तनालक्षणः कालो वर्तना[6] स्वपराश्रया। यथास्वं गुणपर्यायैः[7]परिणन्तृत्वयोजना ॥१३९॥
यथा कुलालचक्रस्य भ्रमणेऽध शिला स्वयम्। धत्ते निमित्ततामेव कालोऽपि कलितो बुधैः ॥१४०॥

शिखर ही जिनका स्थान है, जो कर्म कालिमासे रहित हैं और जिन्हें अनन्तसुखका अभ्युदय प्राप्त हुआ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी मुक्त जीव कहलाते हैं ॥१३०॥ इस प्रकार हे बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले भरत, मैंने तेरे लिए संक्षेपसे जीवतत्त्वका निरूपण किया है अब इसी तरह अजीवतत्त्वका भी निश्चय कर ॥१३१॥ धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्त्वका पाँच भेदों-द्वारा विस्तार निरूपण किया जाता है ॥१३२॥ जो जीव और पुद्गलोंके गमनमें सहायक कारण हो उसे धर्म कहते हैं और जो उन्हींके स्थित होनेमें सहकारी कारण हो उसे अधर्म कहते हैं ॥१३३॥ धर्म और अधर्म ये दोनों ही पदार्थ अपनी इच्छासे गमन करते और ठहरते हुए जीव तथा पुद्गलोंके गमन करने और ठहरनेमें सहायक होकर प्रवृत्त होते हैं स्वयं किसीको प्रेरित नहीं करते हैं ॥१३४॥ जिस प्रकार जलके विना मछलीका गमन नहीं हो सकता फिर भी जल मछलीको प्रेरित नहीं करता उसी प्रकार जीव और पुद्गल धर्मके विना नहीं चल सकते फिर भी धर्म उन्हें चलनेके लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु जिस प्रकार जल चलते समय मछलीको सहारा दिया करता है उसी प्रकार धर्मपदार्थ भी जीव और पुद्गलोंको चलते समय सहारा दिया करता है ॥१३५॥ जिस प्रकार वृक्षकी छाया स्वयं ठहरनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको ठहरा देती है—उसके ठहरनेमें सहायता करती है परन्तु वह स्वयं उस पुरुषको प्रेरित नहीं करती तथा इतना होनेपर भी वह उस पुरुषके ठहरनेकी कारण कहलाती है उसी प्रकार अधर्मास्तिकाय भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंको स्थित करा देता है—उन्हें ठहरनेमें सहायता पहुँचाता है परन्तु स्वयं ठहरनेकी प्रेरणा नहीं करता ॥१३६-१३७॥ जो जीव आदि पदार्थोंको ठहरनेके लिए स्थान दे उसे आकाश कहते हैं। वह आकाश स्पर्शरहित है, अमूर्तिक है, सब जगह व्याप्त है और क्रियारहित है ॥१३८॥ जिसका वर्तना लक्षण है उसे काल कहते हैं, वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न जीव आदि पदार्थोंके आश्रय रहती है और सब पदार्थोंका जो अपने-अपने गुण तथा पर्याय-रूप परिणमन होता है उसमें सहकारी कारण होती है ॥१३९॥ जिस प्रकार कुम्हारके चक्रके फिरनेमें उसके नीचे लगी हुई शिला कारण होती है उसी प्रकार कालद्रव्य भी सब पदार्थोंके परिवर्तनमें कारण होता है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है। भावार्थ—कुम्हारका चक्र

---

१. गमनस्योपकारे कारणम्। २. स्थितेरुपकारः। ३. जीवपुद्गलानाम्। ४. धर्मास्तिकायस्योपकारः। धर्मोऽस्त्यनुग्रह ल०। ५. -मपि च। ६. स्वस्यकालस्य परस्य वस्तुन आश्रयो यस्या सा। ७. परिणमनतत्त्वस्य योजनं यस्या सा। परिणेतृत्व-ल०।

व्यवहारात्मकात् कालान्मुख्यकालविनिर्णयः । [1]मुख्ये सत्येव गौणस्य बाह्लीकादेः[2] प्रतीतितः ॥१४१॥
स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितैः । ज्ञेयोऽन्योन्यमसंकीर्णै रत्नानामिव राशिभिः ॥१४२॥
प्रदेशप्रचया[3]योगादकायोऽयं प्रकीर्तितः । शेषाः पञ्चास्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥१४३॥
धर्माधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवर्जिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं तस्य भेदानितः[4] शृणु ॥१४४॥

स्वयं घूमता है परन्तु नीचे रखी हुई शिला या कीलके बिना वह घूम नहीं सकता इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें परिणमन स्वयमेव होता है परन्तु वह परिणमन कालद्रव्यकी सहायताके बिना नहीं हो सकता इसलिए कालद्रव्य पदार्थोंके परिणमनमें सहकारी कारण है ॥१४०॥ (वह काल दो प्रकारका है–एक व्यवहार काल और दूसरा निश्चयकाल। घड़ी, घण्टा आदिको व्यवहारकाल कहते हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिके समान एक दूसरेसे असंपृक्त होकर रहनेवाले जो असंख्यात कालाणु हैं उन्हें निश्चयकाल कहते है) व्यवहार-कालसे ही निश्चयकालका निर्णय होता है, क्योंकि मुख्य पदार्थके रहते हुए ही वाह्लीक आदि गौण पदार्थोंकी प्रतीति होती है। भावार्थ–वाह्लीक एक देशका नाम है परन्तु उपचारसे वहाँके मनुष्योंको भी वाह्लीक कहते है। यहाँ वाह्लीक शब्दका मुख्य अर्थ देशविशेष है और गौण अर्थ है वहाँपर रहनेवाला सदाचारसे पराङ्मुख मनुष्य। यदि देशविशेष अर्थको बतलानेवाला वाह्लीक नामका कोई मुख्य पदार्थ नहीं होता तो वहाँ रहनेवाले मनुष्योंमे भी वाह्लीक शब्दका व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यदि मुख्य काल द्रव्य नहीं होता तो व्यवहारकाल भी नही होता। हम लोग सूर्योदय और सूर्यास्त आदिके द्वारा दिन-रात महीना आदिका ज्ञान प्राप्त कर व्यवहारकालको समझ लेते है परन्तु अमूर्तिक निश्चयकालके समझनेमें हमें कठिनाई होती है इसलिए आचार्योंने व्यवहारकालके द्वारा निश्चयकालको समझनेका आदेश दिया है क्योंकि पर्यायके द्वारा ही पर्यायीका बोध हुआ करता है ॥१४१॥ वह निश्चयकाल लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर स्थित लोकप्रमाण (असंख्यात) अपने अणुओंसे जाना जाता है और कालके वे अणु रत्नोंकी राशिके समान परस्परमें एक दूसरेसे नहीं मिलते, सब जुदे-जुदे ही रहते है ॥१४२॥ परस्परमें प्रदेशोंके नही मिलनेसे यह कालद्रव्य अकाय अर्थात् प्रदेशी कहलाता है। कालको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेश एक दूसरेसे मिले हुए रहते हैं इसलिए वे अस्तिकाय कहलाते है। भावार्थ–जिसमें बहुप्रदेश हों उसे अस्तिकाय कहते हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य बहुप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय कहलाते है और कालद्रव्य एकप्रदेशी होनेसे अनस्तिकाय कहलाता है ॥१४३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ मूर्तिसे रहित हैं, पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है। अब आगे उसके भेदोंका वर्णन सुन। भावार्थ-जीव द्रव्य भी अमूर्तिक है परन्तु यहाँ अजीव द्रव्योंका वर्णन चल रहा है इसलिए उसका निरूपण नहीं किया है। पाँच इन्द्रियोंमें-से किसी भी इन्द्रियके द्वारा जिसका स्पष्ट ज्ञान हो उसे मूर्तिक कहते हैं, पुद्गलको छोड़कर और किसी पदार्थका इन्द्रियोंके द्वारा स्पष्ट ज्ञान नहीं होता

१. सिंहो माणवक इत्येव । २. म्लेच्छजनादेः । ३. बहुप्रदेशाभावादित्यर्थः । ४. इत परम् ।

वर्णगन्धरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मता. । पूरणाद् गलनाच्चैव सप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥१४५॥
स्कन्धाणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते ॥१४६॥
द्व्यणुकादिर्महास्कन्धपर्यन्तस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥१४७॥
अणव कार्यलिङ्गा. स्यु[1] द्विस्पर्शा.[2] परिमण्डला[3] । एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययः ॥१४८॥
सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्मा. सूक्ष्मस्थूलात्मका परे। स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः१४९
सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेक. स्याददृश्योऽस्पृश्य एव च । सूक्ष्मास्ते कर्मणा स्कन्धाः[4] प्रदेशानन्त्ययोगत.[5] ॥१५०॥
शब्दः स्पर्शो रसो गंन्धः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते । [6]अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥१५१॥
स्थूलसूक्ष्मा पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्य[7] रूपत्वादविघातका ॥१५२॥
द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदनिदर्शनम् । स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यः स्कन्धः प्रकीर्तितः ॥१५३॥

इसलिए पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और शेष द्रव्य अमूर्तिक है ॥१४४॥ जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाया जाये उसे पुद्गल कहते हैं। पूरण और गलन रूप स्वभाव होनेसे पुद्गल यह नाम सार्थक है। भावार्थ–अन्य परमाणुओंका आकर मिल जाना पूरण कहलाता है और पहलेके परमाणुओंका बिछुड़ जाना गलन कहलाता है, पुद्गल स्कन्धोंमें पूरण और गलन ये दोनों ही अवस्थाएँ होती रहती हैं, इसलिए उनका पुद्गल यह नाम सार्थक है ॥१४५॥ स्कन्ध और परमाणुके भेदसे पुद्गलकी व्यवस्था दो प्रकारकी होती है। स्निग्ध और रूक्ष अणुओंका जो समुदाय है उसे स्कन्ध कहते हैं ॥१४६॥ उस पुद्गल द्रव्यका विस्तार दो परमाणुवाले द्व्यणुक स्कन्धसे लेकर अनन्तानन्त परमाणुवाले महास्कन्ध तक होता है। छाया, आतप, अन्धकार, चाँदनी, मेघ आदि सब उसके भेद-प्रभेद हैं ॥१४७॥ परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, वे इन्द्रियोंसे नहीं जाने जाते। घट-पट आदि परमाणुओंके कार्य हैं उन्हींसे उनका अनुमान किया जाता है। उनमें कोई भी दो अविरुद्ध स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है। वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य भी होते हैं ॥१४८॥ ऊपर कहे हुए पुद्गल द्रव्यके छह भेद हैं–१ सूक्ष्मसूक्ष्म, २ सूक्ष्म, ३ सूक्ष्म स्थूल, ४ स्थूलसूक्ष्म, ५ स्थूल और ६ स्थूलस्थूल ॥१४९॥ इनमें-से एक अर्थात् स्कन्धसे पृथक् रहनेवाला परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न उसका स्पर्श ही किया जा सकता है। कर्मोंके स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि वे अनन्त प्रदेशोंके समुदायरूप होते हैं ॥ १५० ॥ शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं क्योंकि यद्यपि इनका चक्षु इन्द्रियके द्वारा ज्ञान नहीं होता इसलिए ये सूक्ष्म हैं परन्तु अपनी-अपनी कर्ण आदि इन्द्रियोंके द्वारा इनका ग्रहण हो जाता है इसलिए ये स्थूल भी कहलाते हैं ॥१५१॥ छाया, चाँदनी और आतप आदि स्थूलसूक्ष्म कहलाते हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रियके द्वारा दिखायी देनेके कारण ये स्थूल हैं परन्तु इनके रूपका संहरण नहीं हो सकता इसलिए विघातरहित होनेके कारण सूक्ष्म भी हैं ॥१५२॥ पानी आदि तरल पदार्थ जो कि पृथक् करनेपर भी मिल जाते हैं स्थूल भेदके उदाहरण हैं, अर्थात् दूध, पानी आदि पतले पदार्थ स्थूल कहलाते हैं और पृथिवी आदि स्कन्ध जो कि भेद किये जानेपर फिर न मिल सके स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥१५३॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका

---

१ कर्मानुयोगा । २ स्निग्धरूक्षद्वयस्पर्शवन्त । ३ सूक्ष्माः । ४ कर्मण· स्कन्धा·–ल० । ५. अनन्तस्य योगात् । ६ येषां शब्दादीनामचाक्षुषत्वे सत्यपि शेषेन्द्रियग्राह्यतायां ईक्षणात् । सूक्ष्मस्थूलत्वम् । ७ अनपहार्यस्वरूपत्वात् ।

इत्यमीषां पदार्थानां याथात्म्यमविपर्ययात् । यः श्रद्धत्ते स भव्यात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१५४॥
तत्त्वार्थसंग्रहं कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विदां वरः । कानिचित्तत्त्वबीजानि पुनरुद्देशतो[1] जगौ ॥१५५॥
पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बन्धं मोक्षं तयोर्हेतु बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ॥१५६॥
त्रिजगत्समवस्थानं[2] नरकप्रस्तरानपि[3] । द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मा[4] उपादिशत् ॥१५७॥
त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवायुर्भोगविस्तरम् । ब्रह्मस्थानमपि[5] श्रीमान् लोकनाडी च संजगौ ॥१५८॥
तीर्थेशानां पुराणानि चक्रिणामर्धचक्रिणाम् । तत्कल्याणानि तद्धेतूनप्याचख्यौ जगद्गुरुः ॥१५९॥
गतिमागतिमुत्पत्तिं च्यवनं च[6] शरीरिणाम्[7] । भुक्तिमृद्धिं[8] कृतं[9] चापि भगवान् व्याजहार सः ॥१६०॥
भवद्भविष्यद्भूतं च यत्सर्वं द्रव्यगोचरम् । तत्सर्वं सर्वविित्सर्वो भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥१६१॥
श्रुत्वेति तत्त्वसद्भावं गुरोः परमपूरुषात् । प्रह्लादं परमं प्रापे भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१६२॥
ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कलाम्[1] । निष्कलात्[10] भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ॥१६३॥
प्रबुद्धो मानसीं शुद्धिं परमां परमर्षितः । समाप्य भरतो रेजे शरदीवाम्बुजाकरः ॥१६४॥

जो भव्य विपरीतता-रहित श्रद्धान करता है वह परब्रह्म अवस्थाको प्राप्त होता है ॥१५४॥ इस प्रकार ज्ञानवानोंमें अतिशय श्रेष्ठ भगवान् वृषभदेव भरतके लिए समस्त पदार्थोंके संग्रहका निरूपण कर फिर भी संक्षेपसे कुछ तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥१५५॥ उन्होंने आत्मा, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग, स्वर्ग और मोक्षरूप मार्गका फल, बन्ध और बन्धके कारण, मोक्ष और मोक्षके कारण, कर्मरूपी बन्धनसे बँधे हुए संसारी जीव और कर्मबन्धनसे रहित मुक्त जीव आदि विषयोंका निरूपण किया ॥१५६॥ इसी प्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, द्वीप, समुद्र, ह्रद और कुलाचल आदिका भी स्वरूप भरतके लिए कहा ॥१५७॥ अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके धारक भगवान् वृषभदेवने तिरसठ पटलोंसे युक्त स्वर्ग, देवोंके आयु और उनके भोगोंका विस्तार, मोक्षस्थान तथा लोकनाड़ीका भी वर्णन किया ॥१५८॥ जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवने तीर्थंकर चक्रवर्ती और अर्ध चक्रवर्तियोंके पुराण, तीर्थंकरोंके कल्याणक और उनके हेतुस्वरूप सोलह कारण भावनाओंका भी निरूपण किया ॥१५९॥ भगवान्ने, अमुक जीव मरकर कहाँ-कहाँ पैदा होता है ? अमुक जीव कहाँ-कहाँसे आकर पैदा हो सकता है ? जीवोंकी उत्पत्ति, विनाश, भोगसामग्री, विभूतियाँ अथवा मुनियोंकी ऋद्धियाँ, तथा मनुष्योंके करने और न करने योग्य काम आदि सबका निरूपण किया था ॥१६०॥ सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान् वृषभदेवने भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालसम्बन्धी सब द्रव्योंका सब स्वरूप भरतके लिए बतलाया था ॥१६१॥ इस प्रकार जगद्गुरु-परमपुरुष भगवान् वृषभदेवसे तत्त्वोंका स्वरूप सुनकर भक्तिसे भरे हुए महाराज भरत परम आनन्दको प्राप्त हुए ॥१६२॥ तदनन्तर परम आनन्दको धारण करते हुए भरतने निष्फल अर्थात् शरीरानुरागसे रहित भगवान् वृषभदेवसे सम्यग्दर्शनकी शुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धिको प्राप्त किया ॥१६३॥ जिस प्रकार शरद्ऋतुमें प्रबुद्ध अर्थात् खिला हुआ कमलोंका समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत परम भगवान् वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर-तत्त्वोंका ज्ञानप्राप्त कर मनकी परम विशुद्धिको प्राप्त हो

---

१ नामोच्चारणमात्रत. । २. विन्यासम् । ३. पटलान् । ४ तस्मै भर्त्रे उपदेश चकार । ५. मुक्तिस्थानम् । ६ च्युतिम् । ७. क्षेमम् । शतखण्डादिक सुखादिकभुक्ति वा । ८ कार्यम् । ९. सम्पूर्णाम् । १०. शरीरबन्धरहितात् ।

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायकाम् । व्रतशीलावली मुक्तेः कण्ठिकामिव निर्मलाम् ॥१६५॥
दिदीपे लब्धसंस्कारो गुरुतो भरतेश्वरः । यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयोगतः ॥१६६॥
त्रिदशासुरमर्त्यानां सा सभा समुनीश्वरा । पीतसद्धर्मपीयूषा परामाप धृतिं तदा ॥१६७॥
घनध्वनिमिव श्रुत्वा विभोर्दिव्यध्वनिं तदा । चातका इव भव्यौघाः परं प्रमदमाययुः ॥१६८॥
दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलदस्वनितोपमम् । अशोकविटपारूढाः सस्वनुर्दिव्यबर्हिणः ॥१६९॥
सप्तार्चिषमिवासाद्य तं त्रातारं प्रभास्वरम् । विशुद्धिं भव्यरत्नानि भेजुर्दिव्यप्रभा[1]स्वरम् ॥१७०॥
योऽसौ [2]पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती । प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥१७१॥
श्रीमान् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स संबुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद् गणाधिपः ॥१७२॥
स सप्तर्द्धिभिरिद्धर्द्धिस्तपोदीप्त्यावृतोऽभितः । व्यदीपि शरदीवार्को धूतान्धतमसोदयः ॥१७३॥
स श्रीमान् कुरु[3]शार्दूलः श्रेयान् सोमप्रभोऽपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोऽभवन् ॥१७४॥
भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपदमार्याणां[4] सा भेजे पूजितामरैः ॥१७५॥

अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥१६४॥ भरतने, गुरुदेवकी आराधना कर, जिसमें सम्यग्दर्शनरूपी प्रधान मणि लगा हुआ है और जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीके निर्मल कण्ठहारके समान जान पड़ती थी ऐसी व्रत और शीलोंकी निर्मल माला धारण की थी। भावार्थ–सम्यग्दर्शनके साथ पाँच अणुव्रत और सात शक्तिव्रत धारण किये थे तथा उनके अतिचारोंका बचाव किया था ॥१६५॥ जिस प्रकार किसी बड़ी खानसे निकला हुआ मणि संस्कारके योगसे देदीप्यमान होने लगता है उसी प्रकार महाराज भरत भी गुरुदेवसे ज्ञानमय संस्कार पाकर सुशोभित होने लगे थे ॥१६६॥ उस समय मुनियोंसे सहित वह देव-दानव और मनुष्योंकी सभा उत्तम धर्मरूपी अमृतका पान कर परम सन्तोषको प्राप्त हुई थी ॥१६७॥ जिस प्रकार मेघोंकी गर्जना सुनकर चातक पक्षी परम आनन्दको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस समय भगवान्‌की दिव्यध्वनि सुनकर भव्य जीवोंके समूह परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥१६८॥ मेघकी गर्जनाके समान भगवान्‌की दिव्य ध्वनिको सुनकर अशोकवृक्षकी शाखाओंपर बैठे हुए दिव्य मयूर भी आनन्दसे शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥ सबकी रक्षा करनेवाले और अग्निके समान देदीप्यमान भगवान्‌को प्राप्त कर भव्य जीवरूपी रत्न दिव्यकान्तिको धारण करनेवाली परम विशुद्धिको प्राप्त हुए थे ॥१७०॥ उसी समय जो पुरिमताल नगरका स्वामी था, भरतका छोटा भाई था, पुण्यवान्, विद्वान्, शूर-वीर, पवित्र, धीर, स्वाभिमान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, श्रीमान्, बुद्धिके पारको प्राप्त–अतिशय बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय था तथा जिसका नाम वृषभसेन था उसने भी भगवान्‌के समीप सम्बोध पाकर दीक्षा धारण कर ली और उनका पहला गणधर हो गया ॥१७१-१७२॥ सात ऋद्धियोंसे जिनकी विभूति अतिशय देदीप्यमान हो रही है, जो चारों ओरसे तपकी दीप्तिसे घिरे हुए हैं और जिन्होंने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारके उदयको नष्ट कर दिया है ऐसे वे वृषभसेन गणधर शरद् ऋतुके सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१७३॥ उसी समय श्रीमान् और कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ, श्रेयान्स कुमार, तथा अन्य राजा लोग भी दीक्षा लेकर भगवान्‌के गणधर हुए थे ॥१७४॥ भरतकी छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेवकी कृपासे दीक्षित होकर आर्याओंके बीचमें गणिनी (स्वामिनी) के पदको प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सब देवोंके द्वारा पूजित हुई थी ॥१७५॥ उस समय वह

---

१ प्रभासु कान्तिषु भरम् अत्यर्थम् । २ परिमतारीशो–द० । ३. कुरुवंशश्रेष्ठः । ४. आर्यिकाणाम् ।

रराज राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना । दीक्षा शरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥१७६॥
सुन्दरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत । अन्ये चान्याश्च संविग्ना[१] गुरोः प्राव्राजिषुस्तदा ॥१७७॥
श्रुतिकीर्तिर्महाप्राज्ञो[२] गृहीतोपासकव्रतः । देश[३]संयमिनामासीद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥१७८॥
उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा[४] प्रियव्रता[५] । स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूवाग्रेसरो सती ॥१७९॥
विभोः कैवल्यसंप्राप्तिक्षण एव महर्द्धयः । योगिनोऽन्येऽपि भूयांसो बभूवुर्भुवनोत्तमाः ॥१८०॥
सम्बुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः । सुरैरवाप्तपूजर्द्धिरग्रणी[६] मोक्षवतामभूत् ॥१८१॥
मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । भट्टारकान्ते सम्बुद्ध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥१८२॥
ततो भरतराजेन्द्रो गुरुं संपूज्य पुण्यधीः । स्वपुराभिमुखो जज्ञे चक्रपूजाकृतत्वरः ॥१८३॥
युवा बाहुबली धीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानन्दमभिवन्द्य जगद्गुरुम् ॥१८४॥

मालिनीवृत्तम्

भरतपतिमथाविर्भूतदिव्यानुभावप्रसरमुदयरागं[७] प्रत्युपात्ता[८]भिमुख्यम् ।
विजयिनमनुजग्मुर्भ्रातरस्तं दिनादौ[९] दिनपमिव मयूखा दिङ्मुखाक्रान्ते[१०]भाजः ॥१८५॥

राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतुकी नदीके शीलरूपी किनारेपर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥ वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुन्दरीको भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मीके बाद दीक्षा धारण कर ली थी। इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओंने संसारसे भयभीत होकर गुरुदेवके समीप दीक्षा धारण की थी ॥१७७॥ श्रुतकीर्ति नामके किसी अतिशय बुद्धिमान् पुरुषने श्रावकके व्रत ग्रहण किये थे, और वह देश व्रतधारण करनेवाले गृहस्थोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥ इसी प्रकार अतिशय धीर-वीर और पवित्र अन्तःकरणको धारण करनेवाली कोई प्रियव्रता नामकी सती स्त्री श्रावकके व्रत धारण कर, शुद्ध चारित्रको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हुई थी ॥१७९॥ जिस समय भगवान्‌को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उस समय और भी बहुत-से उत्तमोत्तम राजा लोग दीक्षित होकर बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज हुए थे ॥१८०॥ भरतके भाई अनन्तवीर्यने भी सम्बोध पाकर भगवान्‌से दीक्षा प्राप्त की थी, देवोंने भी उसकी पूजा की थी और वह इस अवसर्पिणी युगमें मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सबमें अग्रगामी हुआ था। भावार्थ—इस युगमें अनन्तवीर्यने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था ॥१८१॥ जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे उनमें-से मरीचिको छोड़कर बाकी सब तपस्वी लोग भगवान्‌के समीप सम्बोध पाकर तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप समझकर फिरसे दीक्षित हो तपस्या करने लगे थे ॥१८२॥

तदनन्तर जिन्हें चक्ररत्नकी पूजा करनेके लिए कुछ जल्दी हो रही है और जो पवित्र बुद्धिके धारक हैं ऐसे महाराज भरत जगद्गुरुकी पूजाकर अपने नगरके सम्मुख हुए ॥१८३॥ युवावस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान् बाहुबली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनन्दके साथ जगद्गुरुकी वन्दना करके भरतके पीछे-पीछे वापस लौट रहे थे ॥१८४॥ अथानन्तर उस समय महाराज भरत ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्यके दिव्य प्रभावका प्रसार (फैलाव) प्रकट होता है, उसी प्रकार भरतके भी दिव्य-अलौकिक प्रभाव-का प्रसार प्रकट हो रहा था, सूर्य जिस प्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण

---

१. वैराग्यपरायणाः । २. श्रुतकीर्तिनामा कश्चिच्छ्रावकः । ३. देशव्रतिनाम् । ४. पवित्रस्वरूपा । ५. प्रियव्रतसंज्ञका कापि स्त्री । ६ मोक्तुमिच्छावतामग्रेसरः । आदिनाथादिनामादौ मुक्तोऽभूदित्यर्थः । ७. अभ्युदये रागो यस्य स तम्, पक्षे स्वोदये रागवन्तम् । ८. स्वीकृत । ९. दिनान्ते–ल० । १०. आक्रमणम् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वान्तर्नीतसमस्तवस्तुविसरां[1] प्रास्तीर्णवर्णोज्ज्वलाम्[2]
निर्णिक्तां[3] नयचक्रसन्निधिगुरुं[4] स्फीतप्रमोदाहृतिम्[5]।
विश्वास्यां[6] निखिलाङ्गभृत्परिचितां[7] जैनीमिव व्याहृतिं[8]
प्राविक्षत्परया मुदा निधिपतिः स्वामुत्पताकां[9] पुरीम् ॥१८६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व ॥२४॥

करता है उसी प्रकार भरत भी अपने राज्य-शासनके उदयकालमें प्रजासे राग अर्थात् प्रेम धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार आभिमुख्य अर्थात् प्रधानताको धारण करता है उसी प्रकार भरत भी प्रधानताको धारण कर रहे थे, सूर्य जिस प्रकार विजयी होता है उसी प्रकार भरत भी विजयी थे, और सायंकालके समय जिस प्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली किरणें सूर्यके पीछे-पीछे जाती हैं ठीक उसी प्रकार समस्त दिशाओंमें आक्रमण करनेवाले भरतके छोटे भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥१८५॥ इस प्रकार निधियोंके अधिपति महाराज भरतने बड़े भारी आनन्दके साथ अपनी अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया था। उस समय उसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थोंका विस्तार भरा रहता है उसी प्रकार उस अयोध्यामें अनेक पदार्थोंका विस्तार भरा हुआ था। जिस प्रकार जिनवाणी फैले हुए वर्णों अर्थात् अक्षरोंसे उज्ज्वल रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी फैले हुए-जगह-जगह बसे हुए क्षत्रिय आदि वर्णोंसे उज्ज्वल थी। जिस प्रकार जिनवाणी अत्यन्त शुचिरूप-पवित्र होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी शुचिरूप-कर्दम आदिसे रहित-पवित्र थी। जिस प्रकार जिनवाणी समूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी नीतिसमूहके सन्निधानसे श्रेष्ठ थी। जिस प्रकार जिनवाणी विस्तृत आनन्दको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी सबको विस्तृत आनन्दको देनेवाली थी, जिस प्रकार जिनवाणी विश्वास्य अर्थात् विश्वास करने योग्य होती है अथवा सब ओर मुखवाली अर्थात् समस्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी विश्वास करनेके योग्य अथवा सब ओर हैं आस्य अर्थात् मुख जिसके ऐसी थी-उसके चारों ओर गोपुर बने हुए थे, और जिस प्रकार जिनवाणी सभी अंग अर्थात् द्वादशांगको धारण करनेवाले मुनियोंके द्वारा परिचित-अभ्यस्त रहती है उसी प्रकार वह अयोध्या भी समस्त जीवोंके द्वारा परिचित थी-उसमें प्रत्येक प्रकारके प्राणी रहते थे ॥१८६॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवत्कृत धर्मोपदेशका वर्णन करनेवाला चौबीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२४॥

---

१ निजाभ्यन्तरमानीतसमस्तद्रव्यसमूहम्, पक्षे निजाभ्यन्तरमानीतसमस्तपदार्थस्वरूपसमूहम्। २. विस्तीर्ण क्षत्रियादिवर्ग, पक्षे विस्तीर्णाक्षर। ३ पोषकाम्, पक्षे शुद्धाम्। णिजिरिङ् शौचपोषयोरिति धातो सम्भवात्। ४ नयेन नीत्या उपलक्षितचक्ररत्नसम्बन्धेन गुरुम्, पक्षे नयसमूहसंबन्धेन गुरुम्। ५ बहुल-सन्तोषस्याहरण यस्या सकाशात् जनानाम्। उभयत्र सदृशम्। ६ विश्वतोमुखीम्। परितो गोपुरवतीमित्यर्थ। पक्षे विश्वासयोग्याम्। ७. सकलप्राणिगणै परिचिताम्। सप्ताङ्गवद्भि परिचिताम् वा। पक्षे द्वादशाङ्ग-धारिभि परिचिताम्। ८ भारतीम्। ९. आत्मीयाम्।

पञ्चविंशतितमं पर्व

गते भरतराजर्षौ दिव्यभाषोपसंहृतौ[1]। निवातस्तिमितं[2] वार्धिमिवानाविष्कृतध्वनिम् ॥१॥
धर्माम्बुवर्षसंसिक्तजगज्जनवनद्रुमम्। प्रावृड्घनमिवोद्वान्त[3]वृष्टिमुत्सृष्टनिःस्वनम् ॥२॥
कल्पद्रुममिवाभीष्टफलविश्राण[4]नोद्यतम्। स्वपादाभ्यर्णविश्रान्तत्रिजगज्जनमूर्जितम् ॥३॥
विवस्वन्तमिवोद्धूतमोहान्धतमसोदयम्। नवकेवललब्धीद्धकरोत्करविराजितम् ॥४॥
महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोच्च[5]याचितम्। भगवन्तं जगत्कान्तमचिन्त्यानन्तवैभवम् ॥५॥
वृतं श्रमणसङ्घेन चतुर्धा[6] भेदमीयुषा। चतुर्विध[7]वनाभोगपरिष्कृतमिवाद्रिपम् ॥६॥
प्रातिहार्याष्टकोपेत[8] सिद्धकल्याणपञ्चकम्। चतुस्त्रिंशदतीशेषै[9] रिद्धर्द्धिं त्रिजगत्प्रभुम् ॥७॥
प्रपश्यन् विकसन्नेत्रसहस्रः प्रीतमानसः। सौधर्मेन्द्रः स्तुतिं कर्तुमथारेभे समाहितः ॥८॥
स्तोष्ये त्वां परमं ज्योतिर्गुणरत्नमहाकरम्। मतिप्रकर्षहीनोऽपि केवलं भक्तिचोदितः ॥९॥
त्वामभिष्टुवतां भक्त्या विशिष्टाः फलसंपदः। स्वयमाविर्भवन्तीति निश्चित्य त्वां जिनस्तुवे ॥१०॥
स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः[10] प्रसन्नधीः। निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फलं नैःश्रेयसं सुखम्॥११॥

अथानन्तर–राजर्षि भरतके चले जाने और दिव्य ध्वनिके बन्द हो जानेपर वायु बन्द होनेसे निश्चल हुए समुद्रके समान जिनका शब्द बिलकुल बन्द हो गया है। जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाके द्वारा जगत्के जीवरूपी वनके वृक्ष सींच दिये हैं अतएव जो वर्षा कर चुकनेके बाद शब्दरहित हुए वर्षाऋतुके बादलके समान जान पड़ते हैं, जो कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देनेमें तत्पर रहते हैं, जिनके चरणोंके समीपमें तीनों लोकोंके जीव विश्राम लेते हैं, जो अनन्त बलसे सहित हैं। जिन्होंने सूर्यके समान मोहरूपी गाढ अन्धकारके उदयको नष्ट कर दिया है, और जो नव केवललब्धिरूपी देदीप्यमान किरणोंके समूहसे सुशोभित हैं। जो किसी बड़ी भारी खानके समान उत्पन्न हुए गुणरूपी रत्नोंके समूहसे व्याप्त हैं, भगवान् हैं, जगत्के अधिपति हैं, और अचिन्त्य तथा अनन्त वैभवको धारण करनेवाले हैं। जो चार प्रकारके श्रमण संघसे घिरे हुए हैं और उनसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो भद्रशाल आदि चारों वनोंके विस्तारसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो। जो आठ प्रातिहार्योंसे सहित हैं, जिनके पाँच कल्याणक सिद्ध हुए हैं, चौंतीस अतिशयोंके द्वारा जिनका ऐश्वर्य बढ रहा है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेवको देखते ही जिसके हजार नेत्र विकसित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने स्थिरचित्त होकर भगवान्की स्तुति करना प्रारम्भ की ॥१–८॥ हे प्रभो, यद्यपि मैं बुद्धिकी प्रकर्षतासे रहित हूँ तथापि केवल आपकी भक्तिसे ही प्रेरित होकर परम ज्योतिस्वरूप तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानस्वरूप आपकी स्तुति करता हूँ ॥९॥ हे जिनेन्द्र, भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति करनेवाले पुरुषोंमें उत्तम-उत्तम फलरूपी सम्पदाएँ अपने आप ही प्राप्त होती हैं यही निश्चय कर आपकी स्तुति करता हूँ ॥१०॥ पवित्र गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धिवाला भव्य स्तोता अर्थात् स्तुति करनेवाला है, जिनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके हैं ऐसे आप स्तुत्य अर्थात् स्तुतिके विषय हैं, और मोक्षका सुख

१.–सहृते द० । २. निश्चलम् । ३ उद्वमित । ४ दान । ५. राशि । ६. मुनिऋषियत्यनगारा इति चतुर्विधभेदम् । ७. भद्रशालादि । ८–पेत सिद्ध– ल०, इ० । ९. अतिशयै । १० भव्योऽहम् ।

इत्याकलय्य मनसा [1]तुष्टूषुं मां फलार्थिनम् । विभो प्रसन्नया दृष्ट्या त्वं पुनीहि[2] सनातन ॥१२॥

मामुदाकुरुते[3] भक्तिस्त्वद्गुणैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथे तेऽस्मिन् लग्नः[4] संविग्नमानसः[5] ॥१३॥

त्वयि भक्तिः कृताल्पापि महतीं फलसंपदम् । [6]पश्फलीति विभो कल्पक्ष्माजसेवेव देहिनाम् ॥१४॥

तवारिजयमाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतवम् । दोषावेशविकारा हि रागिणां भूषणादयः ॥१५॥

निर्भूषमपि कान्तं ते वपुर्भुवनभूषणम् । [7]दीप्रं हि भूषणं नैव भूषणान्तरमीक्षते ॥१६॥

न मूर्ध्नि कबरीबन्धो न शेखरपरिग्रहः । न किरीटादिभारस्ते तथापि रुचिरं शिरः ॥१७॥

न मुखे भ्रुकुटीन्यासो न दष्टो दशनच्छदः । नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन्[8] ॥१८॥

त्वया नाताम्रिते नेत्रे नीलोत्पलदलायते[9] । मोहारिविजये देव प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता ॥१९॥

[10]अपापाङ्गावलोकं ते जिनेन्द्र नयनद्वयम् । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितम् ॥२०॥

त्वद्दृशोरमला दीप्तिरास्पृशन्ती शिरस्सु नः । पुनाति पुण्य[11]धारेव जगतामेकपावनी ॥२१॥

प्राप्त होना उसका फल है । हे विभो, हे सनातन, इस प्रकार निश्चय कर हृदयसे स्तुति करनेवाले और फलकी इच्छा करनेवाले मुझको आप अपनी प्रसन्न दृष्टिसे पवित्र कीजिए ॥११-१२॥ हे भगवन्, आपके गुणोंके द्वारा प्रेरित हुई भक्ति ही मुझे आनन्दित कर रही है इसलिए मैं संसारसे उदासीन होकर भी आपकी इस स्तुतिके मार्गमें लग रहा हूँ–प्रवृत्त हो रहा हूँ ॥१३॥ हे विभो, आपके विषयमें की गयी थोड़ी भी भक्ति कल्पवृक्षकी सेवाकी तरह प्राणियोंके लिए बड़ी-बड़ी सम्पदाएँरूपी फल फलती हैं – प्रदान करती है ॥१४॥ हे भगवन्, आभूषण आदि उपाधियोंसे रहित आपका शरीर आपके राग-द्वेष आदि शत्रुओंकी विजयको स्पष्ट रूपसे कह रहा है क्योंकि आभूषण वगैरह रागी मनुष्योंके दोष प्रकट करनेवाले विकार हैं । भावार्थ – रागी द्वेषी मनुष्य ही आभूषण पहनते हैं परन्तु आपने राग-द्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है इसलिए आपको आभूषण आदिके पहननेकी आवश्यकता नहीं है ॥१५॥ हे प्रभो, जगत्को सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर भूषणरहित होनेपर भी अत्यन्त सुन्दर है सो ठीक ही है क्योंकि जो आभूषण स्वयं देदीप्यमान होता है वह दूसरे आभूषणकी प्रतीक्षा नहीं करता ॥१६॥ हे भगवन्, यद्यपि आपके मस्तकपर न तो सुन्दर केशपाश है, न शेखरका परिग्रह है और न मुकुटका भार ही है तथापि वह अत्यन्त सुन्दर है ॥१७॥ हे नाथ, आपके मुखपर न तो भौंह ही टेढ़ी हुई है, न आपने ओंठ ही डसा है और न आपने अपना हाथ ही शस्त्रोंपर व्यापृत किया है–हाथसे शस्त्र उठाया है फिर भी आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया है ॥१८॥ हे देव, आपने मोहरूपी शत्रुके जीतनेमें अपने नील कमलके दलके समान बड़े-बड़े नेत्रोंको कुछ भी लाल नहीं किया था, इससे मालूम होता है कि आपकी प्रभुत्वशक्ति बड़ा आश्चर्य करनेवाली है ॥१९॥ हे जिनेन्द्र, आपके दोनों नेत्र कटाक्षावलोकनसे रहित हैं और सौम्य दृष्टिसे सहित हैं इसलिए वे हम लोगोंको स्पष्ट रीतिसे बतला रहे हैं कि आपने कामदेवरूपी शत्रुको जीत लिया है ॥२०॥ हे नाथ, हम लोगोंके मस्तकका स्पर्श करती हुई और जगत्को एकमात्र पवित्र करती हुई आपके नेत्रोंकी

---

१. स्तोतुमिच्छुम् । २ पवित्रीकुरु । ३ प्रोत्साहयति । ४. प्रवृत्तोऽस्मि । ५ धर्माधर्मफलानुरागमानस । ६. भृश फलति । ७ दीप्त– ल०, अ०, प० । ८ हन्ति स्म । ९. दलायिते– द० । १०. कटाक्षवीक्षणम् । अनपाङ्गाव–ल० । ११ शान्तिधारा ।

तवेदमाननं धत्ते प्रफुल्लकमलश्रियम् । स्वकान्तिज्योत्स्नया विश्वमाक्रामच्छरदिन्दुवत् ॥२२॥
अनट्टहासहुंकारमदष्टोष्ठपुटं मुखम् । जिनाख्याति सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागताम् ॥२३॥
त्वन्मुखादुद्यती दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तमो भाति जितबालातपद्युतिः ॥२४॥
त्वन्मुखाम्बुरुहालग्ना सुराणां नयनावलिः । भातीयमलिमालेव[1] तदामोदानुपातिनी ॥२५॥
मकरन्दमिवापीय[2] त्वद्वक्त्राब्जोद्गतं वचः । अनाशितंभवं[3] भव्यभ्रमरा यान्त्यमी मुदम् ॥२६॥
एकतोऽभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे विश्वतोमुखः । तेजोगुणस्य माहात्म्यमिदं नूनं तवाद्भुतम् ॥२७॥
[4]विश्वदिक्षु विसर्पन्ति तावका वागमीशवः[5] । तिरश्चामपि हृद्ध्वान्तमुद्धुन्वन्तो जिनांशुमान् ॥२८॥
तव वागमृतं पीत्वा वयमद्यामरा.[6] स्फुटम् । पीयूषमिदमिष्टं नो देव सर्वरुजाहरम् ॥२९॥
जिनेन्द्र तव [7]वक्त्राब्जं प्रक्षरद्वचनामृतम् । भव्यानां प्रीणनं[8] भाति धर्मस्येव [9]निधानकम् ॥३०॥
मुखेन्दुमण्डलादेव तव वाक्किरणा इमे । विनिर्यान्तो हतध्वान्ताः सभामाह्लादयन्त्यलम् ॥३१॥
चित्रं वाचां विचित्राणामक्रम प्रभवः प्रभो[10] । अथवा तीर्थकृत्त्वस्य देव वैभवमीदृशम् ॥३२॥

निर्मल दीप्ति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र कर रही है ॥२१॥ हे भगवन्, शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान अपनी कान्तिरूपी चाँदनीसे समस्त जगत्को व्याप्त करता हुआ आपका यह मुख फूले हुए कमलकी शोभा धारण कर रहा है ॥२२॥ हे जिन, आपका मुख न तो अट्टहाससे सहित है, न हुंकारसे युक्त है और न ओठोंको ही दबाये हैं इसलिए वह बुद्धिमान् लोगोंको आपकी वीतरागता प्रकट कर रहा है ॥२३॥ हे देव, जो अन्धकारको नष्ट कर रही है और जिसने प्रातःकालके सूर्यकी प्रभाको जीत लिया है ऐसी आपकी मुखसे निकलती हुई पवित्र कान्ति सरस्वतीके समान सुशोभित हो रही है ॥२४॥ हे भगवन्, आपके मुखरूपी कमलपर लगी हुई यह देवोंके नेत्रोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है मानो उसकी सुगन्धिके कारण चारों ओरसे झपटती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥२५॥ हे नाथ, जिनसे कभी तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुए आपके वचनरूपी मकरन्दका पान कर ये भव्य जीवरूपी भ्रमर आनन्दको प्राप्त हो रहे हैं ॥२६॥ हे भगवन्, यद्यपि आप एक ओर मुख किये हुए विराजमान हैं तथापि ऐसे दिखाई देते हैं जैसे आपके मुख चारों ओर हों । हे देव, निश्चय ही यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका आश्चर्य करनेवाला माहात्म्य है ॥२७॥ हे जिनेन्द्ररूपी सूर्य, तिर्यंचोंके भी हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेवाली आपकी वचनरूपी किरणें सब दिशाओंमें फैल रही हैं ॥२८॥ हे देव, आपके वचनरूपी अमृतको पीकर आज हम लोग वास्तवमें अमर हो गये हैं इसलिए सब रोगोंको हरनेवाला आपका यह वचनरूप अमृत हम लोगोंको बहुत ही इष्ट है—प्रिय है ॥२९॥ हे जिनेन्द्रदेव, जिससे वचनरूपी अमृत झर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा यह आपका मुखरूपी कमल धर्मके खजानेके समान सुशोभित हो रहा है ॥३०॥ हे देव, आपके मुखरूपी चन्द्रमण्डलसे निकलती हुई ये वचनरूपी किरणें अन्धकारको नष्ट करती हुई सभाको अत्यन्त आनन्दित कर रही हैं ॥३१॥ हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि आपसे अनेक प्रकारकी भाषाओंकी एक साथ उत्पत्ति होती है अथवा आपके तीर्थंकर-

---

१. मुखाम्बुजसहानुमोदमनुव्रजन्ती । २. पीत्वा । ३. अतृप्तिकरम् । तपोगुणस्य–ल० । ४. सकलदिक्षु । ५. वचनकिरणाः । ६ न म्रियन्त इत्यमरा । ७. तव वाग्रूपममृतम् । ८ प्राणनं–ल० । ९ निक्षेप । १०. प्रभोः–ल० ।

[1]अस्वेदमलमाभाति सुगन्धि शुभलक्षणम् । सुसंस्थानमरक्तासृग्[2] वपुर्वज्रस्थिरं तव ॥३३॥
सौरूप्यं नयनाह्लादि सौभाग्यं चित्तरञ्जनम् । सुवाक्त्वं जगदानन्दि तवासाधारणा गुणाः ॥३४॥
अमेयमपि ते वीर्यं मितं देहे प्रभान्विते । स्वल्पेऽपि दर्पणे बिम्बं माति[3] स्तम्बेरमं[4] ननु ॥३५॥
त्वदास्थानस्थितोद्देशं[5] परितः शतयोजनम् । सुलभाशनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ॥३६॥
गगनानुगतं[6] यानं तवासीद् भुवमस्पृशत् । [7]देवासुरं भरं सोढुमक्षमा धरणीति नु ॥३७॥
क्रूरैरपि मृगैर्हिंस्रैर्हन्यन्ते जातु नाङ्गिनः । सद्धर्मदेशनोद्युक्ते त्वयि संजीवनौषधे ॥३८॥
न भुक्तिः क्षीणमोहस्य [8]तवानन्तसुखोदयात् । क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥३९॥
[9]असद्वेद्योदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः । [10]मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं[11] जरद्घृतम्[12] ॥४०॥
असद्वेद्यविषं घाति विध्वंसध्वस्तशक्तिकम् । त्वय्यकिंचित्करं मन्त्रशक्त्येवापबलं[13] विषम् ॥४१॥

पनेका माहात्म्य ही ऐसा है ॥३२॥ हे भगवन्, जो पसीना और मलमूत्रसे रहित है, सुगन्धित है, शुभ लक्षणोंसे सहित है, समचतुरस्र संस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं है और जो वज्रके समान स्थिर है ऐसा यह आपका शरीर अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥३३॥ हे देव, नेत्रोंको आनन्दित करनेवाली सुन्दरता, मनको प्रसन्न करनेवाला सौभाग्य और जगत्को हर्षित करनेवाली मीठी वाणी ये आपके असाधारण गुण हैं अर्थात् आपको छोड़कर संसारके अन्य किसी प्राणीमें नहीं रहते ॥३४॥ हे भगवन्, यद्यपि आपका वीर्य अपरिमित है तथापि वह आपके परिमित अल्प परिमाणवाले शरीरमें समाया हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि हाथीका प्रतिबिम्ब छोटेसे दर्पणमें भी समा जाता है ॥३५॥

हे नाथ, जहाँ आपका समवसरण होता है उसके चारों ओर सौ-सौ योजन तक आपके माहात्म्यसे अन्न-पान आदि सब सुलभ हो जाते हैं ॥३६॥ हे देव, यह पृथिवी समस्त सुर और असुरोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है इसलिए ही क्या आपका समवसरणरूपी विमान पृथिवीका स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाशमें ही विद्यमान रहता है ॥३७॥ हे भगवन्, संजीवनी ओषधिके समान आपके समीचीन धर्मका उपदेश देनेमें तत्पर रहते हुए सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर हिंसक जीव भी दूसरे प्राणियोंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥३८॥ हे प्रभो, आपके मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे अत्यन्त सुखकी उत्पत्ति हुई है इसलिए आपके कवलाहार नहीं है सो ठीक ही है, क्योंकि क्षुधाके क्लेशसे दुखी हुए जीव ही कवलाहार भोजन करते हैं ॥३९॥ हे जिनेन्द्र, जो मूर्ख असातावेदनीय कर्मका उदय होनेसे आपके भी कवलाहारकी योजना करते हैं अर्थात् यह कहते हैं कि आप भी कवलाहार करते हैं क्योंकि आपके असातावेदनीय कर्मका उदय है उन्हें मोहरूपी वायुरोगको दूर करनेके लिए पुराने घीकी खोज करनी चाहिए। अर्थात् पुराने घीके लगानेसे जैसे सन्निपात–वातज्वर शान्त हो जाता है उसी तरह अपने मोहको दूर करनेके लिए किसी पुराने अनुभवी पुरुषका स्नेह प्राप्त करना होगा ॥४०॥ हे देव, मन्त्रकी शक्तिसे जिसका बल नष्ट हो गया है ऐसा विष जिस प्रकार कुछ भी नहीं कर सकता है उसी प्रकार घातियाकर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट हो गयी है ऐसा

---

१. स्वेदमलरहितम्। २ गौररुधिरम्। ३ प्रमाति। ४. स्तम्बेरमसवन्धि। ५ तव समवसरणस्थितप्रदेशस्य समन्तात्। ६ गमनम्। ७. देवासुरभर–ल०। ८ तवारयन्त–इ०, ल०। ९ असातावेदनीयोदयात्। १० अज्ञानवातरोगप्रतीकारे। ११ मृग्यम्। १२ चिरन्तनाज्यम्। १३ अपगतबलम्।

असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः । त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः ॥४२॥

नेतयो नोपसर्गाश्च प्रभवन्ति त्वयीशिनि[1] । जगतां पालके[2] हेलाक्षालितांहः कलङ्कके ॥४३॥

त्वय्यनन्तमुखो[3] त्सर्पत्केवलामललोचने । चातुरास्यमिदं[4] युक्तं[5] नष्टघातिचतुष्टये ॥४४॥

सर्वविद्येश्वरो योगी चतुरास्यस्त्वमक्षरः । सर्वतोऽक्षिमयं[6] ज्योतिस्तन्वानो[7] भास्यधीशितः[8] ॥४५॥

अच्छायत्वमनुन्मेषनिमेषत्वं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयं दिव्यं परमौदारिकाह्वयम् ॥४६॥

बिभ्राणोऽप्यध्यधिच्छत्र[9]मच्छाया[10] इस्त्वमीक्ष्यसे । महतां चेष्टितं चित्रमथवौजस्तवेदृशम् ॥४७॥

निमेषापायधीराक्षं तव वक्त्राब्जमीक्षितुम् । [11]त्वय्येव नयनस्पन्दो नूनं देवैश्च संहृत ॥४८॥

नखकेशमितावस्था तवाविष्कुरुते विभो । रसादिविलयं देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥४९॥

इत्युदारैर्गुणैरेभिस्त्वमनन्यत्रभाविभिः । स्वयमेत्य वृतो नूनमदृष्टशरणान्तरैः ॥५०॥

असातावेदनीयरूपी विष आपके विषयमें कुछ भी नहीं कर सकता ॥४१॥ हे नाथ, घातिया-कर्मरूपी सहकारी कारणोंका अभाव हो जानेसे असातावेदनीयका उदय आपके विषयमें अकिंचित्कर है अर्थात् आपका कुछ नहीं कर सकता, सो ठीक ही है क्योंकि फलका उदय सब सामग्री इकट्ठी होनेपर ही होता है ॥४२॥ हे ईश, आप जगत्के पालक हैं और अपने लीला-मात्रसे ही पापरूपी कलंक धो डाले हैं, इसलिए आपपर न तो ईतियाँ अपना प्रभुत्व जमा सकती हैं और न उपसर्ग ही। भावार्थ–आप ईति, भीति तथा उपसर्गसे रहित हैं ॥४३॥ हे भगवन्, यद्यपि आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र अनन्तमुख हो अर्थात् अनन्तज्ञेयोंको जानता हुआ फैल रहा है फिर भी चूँकि आपके चार घातियाकर्म नष्ट हो गये हैं इसलिए आपके यह चातुरास्य अर्थात् चार मुखोंका होना उचित ही है ॥४४॥ हे अधीश्वर, आप सब विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, चतुर्मुख हैं, अविनाशी हैं और आपकी आत्मसय केवल-ज्ञानरूपी ज्योति चारों ओर फैल रही है इसलिए आप अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ॥४५॥ हे भगवन्, तेजोमय और दिव्यस्वरूप आपका यह परमौदारिक शरीर छायाका अभाव तथा नेत्रोंकी अनुन्मेष वृत्तिको धारण कर रहा है अर्थात् आपके शरीरकी न तो छाया ही पड़ती है और न नेत्रोंके पलक ही झपते हैं ॥४६॥ हे नाथ, यद्यपि आप तीन छत्र धारण किये हुए हैं तथापि आप छायारहित ही दिखायी देते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती हैं अथवा आपका प्रताप ही ऐसा है ॥४७॥ हे स्वामिन्, पलक न झपनेसे जिसके नेत्र अत्यन्त निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेके लिए ही देवोंने अपने नेत्रोंका संचलन आपमें ही रोक रखा है। भवार्थ–देवोंके नेत्रोंमें पलक नहीं झपते सो ऐसा जान पड़ता है मानो देवोंने आपके सुन्दर मुखकमलको देखनेके लिए ही अपने पलकोंका झपाना बन्द कर दिया हो ॥ ४८ ॥ हे भगवन्, आपके नख और केशोंकी जो परिमित अवस्था है वह आपके विशुद्ध स्फटिकके समान निर्मल शरीरमें रस आदिके अभावको प्रकट करती है। भावार्थ–आपके नख और केश ज्योंके-त्यों रहते हैं–उनमें वृद्धि नहीं होती है, इससे मालूम होता है कि आपके शरीरमें रस, रक्त आदिका अभाव है ॥ ४९ ॥ इस प्रकार ऊपर कहे हुए तथा जो दूसरी जगह न पाये जायें ऐसे आपके इन उदार गुणोंने दूसरी जगह घर न देखकर स्वयं आपके

---

१ त्वयीशितः ल० । २. पालके सति । ३ सुखोत्सर्पत्–द०, इ०, ल०, प०, स० । ४. चतुरास्यत्वम् । ५. नष्टे घाति–ल०, इ०, द० । ६. आत्मसयम् । ७. तवातोभास्य–ल० । ८ भो अधीश्वर । ९ छत्रस्योपर्यु-परिच्छत्रम् । असाणोप्येऽत्रोध्युपरीति द्विर्भाव. । १० छायारहितशरीरो भूत्वा । ११. त्वय्येव–ल०, इ० ।

अथमी रूपसौन्दर्यकान्तिदीप्त्यादयो[1] गुणाः । स्पृहणीयाः सुरेन्द्राणां तव हेयाः किलाद्भुतम् ॥५१॥

[2]गुणिनं त्वामुपासीना निर्धूतगुण[3]बन्धनाः । त्वया सारूप्य[4]मायान्ति स्वामिच्छन्द[5] नु शिक्षितुः[6] ॥५२॥

अयं मन्दानिलोद्धूतचलच्छाखाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नृत्यतीवात्तसम्मदः ॥५३॥

चलत्क्षीरोदवीथीभिः स्पर्धां कर्तुमिवामितः । चामरौघाः पतन्ति त्वां [7]मरुद्भिर्लीलया धुताः[8] ॥५४॥

मुक्तालम्बनविभ्राजि भ्राजते विधुनिर्मलम् । छत्रत्रयं तवोन्मुक्तप्ररोहमिव खाङ्गणे ॥५५॥

सिंहैरूढं विभातीदं तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शान्मुक्तहर्षाङ्कुरैरिव ॥५६॥

ध्वनन्ति मधुरध्वानाः सुरदुन्दुभिकोटयः । घोषयन्त्य इवापूर्य रोदसी[9] त्वज्जयोत्सवम् ॥५७॥

तव दिव्यध्वनिं धीरमनुकर्तुमिवोद्यताः । ध्वनन्ति सुरतूर्याणां कोट्योऽर्धत्रयोदश[10] ॥५८॥

सुरैरियं नभोरङ्गात् पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव चोदितैः कल्पशाखिभिः ॥५९॥

तव देहप्रभोत्सर्पः समाक्रामन्नभोऽभितः । शश्वत्प्रभातमास्थानी जनानां जनयत्यलम्[11] ॥६०॥

पास आकर आपको स्वीकार किया है ॥५०॥ हे देव, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्तिके लिए इन्द्र भी इच्छा किया करते हैं ऐसे ये रूप-सौन्दर्य, कान्ति और दीप्ति आदि गुण आपके लिए हेय हैं अर्थात् आप इन्हें छोड़ना चाहते हैं ॥५१॥ हे प्रभो, अन्य सब गुणरूपी बन्धनोंको छोड़कर केवल आपकी उपासना करनेवाले गुणी पुरुष आपकी ही सदृशता प्राप्त हो जाते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीके अनुसार चलना ही शिष्योंका कर्त्तव्य है ॥५२॥ हे स्वामिन्, आपका यह शोभायमान अशोकवृक्ष ऐसा जान पड़ता है मानो मन्द-मन्द वायुसे हिलती हुई शाखारूपी हाथोंके समूहोंसे हर्षित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥५३॥ हे नाथ, देवोंके द्वारा लीलापूर्वक धारण किये हुए चमरोंके समूह आपके दोनों ओर इस प्रकार ढोरे जा रहे हैं मानो वे क्षीरसागरकी चंचल लहरोंके साथ स्पर्धा ही करना चाहते हों ॥५४॥ हे भगवन्, चन्द्रमाके समान निर्मल और मोतियोंकी जालीसे सुशोभित आपके तीन छत्र आकाशरूपी आँगनमें ऐसे अच्छे जान पड़ते हैं मानो उनमें अँकुरे ही उत्पन्न हुए हों ॥५५॥ हे देव, सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ आपका यह ऊँचा सिंहासन रत्नोंकी किरणोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो आपके स्पर्शसे उसमें हर्षके रोमांच ही उठ रहे हों ॥५६॥ हे स्वामिन्, मधुर शब्द करते हुए जो देवोंके करोड़ों दुन्दुभि बाजे बज रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो आकाश और पातालको व्याप्त कर आपके जयोत्सवकी घोषणा ही कर रहे हों ॥५७॥ हे प्रभो, जो देवोंके साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि आदि बाजे बज रहे हैं वे आपकी गम्भीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करनेके लिए ही मानो तत्पर हुए हैं ॥५८॥ आकाश-रूपी रंग-भूमिसे जो देव लोग यह पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो सन्तुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा प्रेरित हुए कल्पवृक्ष ही वह पुष्पवर्षा कर रहे हों ॥५९॥ हे भगवन्, आकाशमें चारों ओर फैलता हुआ यह आपके शरीरका प्रभामण्डल समव-सरणमें बैठे हुए मनुष्योंको सदा प्रभातकाल उत्पन्न करता रहता है अर्थात् प्रातःकालकी

---

१. दीप्ति' तेज । २ गुणिनस्त्वा–द०, इ० । गुणिनस्त्वा–ल० । ३ निर्धूत गुणबन्धनं रज्जुरहित-बन्धनं यैस्ते । निरस्तकर्मबन्धना इत्यर्थः । ४ समानरूपताम् । ५ भर्तुः प्रतिनिधि । ६. शिष्यस्य । शिक्ष विद्योपादाने । ७ देवैः । ८ धुता - ल०-। विजिता । ९ द्यावापृथिव्यौ । १०. त्रयोदशमर्धं येषा ते । सार्द्धद्वादशकोटय इत्यर्थः । ११ जनयत्ययम्–द०, इ० । जनयत्यद –ल० ।

नखांशवस्तवाताम्राः प्रसरन्ति दिशास्वमी । त्वदङ्घ्रिकल्पवृक्षाग्रात् प्रारोहा इव निःसृताः ॥६१॥
शिरस्सु नः स्पृशन्त्येते प्रसादस्येव तेंऽशकाः । त्वत्पादनखशीतांशुकराः प्रह्लादिताखिलाः ॥६२॥
त्वत्पादाम्बुरुहच्छायासरसीमवगाहते । दिव्यश्रीकलहंसीयं नखरोचिर्मृणालिकाम् ॥६३॥
मोहारिमर्दनालग्नशोणिताद्रच्छटामिव । तलच्छायामिदं धत्ते त्वत्पदाम्बुरुहद्वयम् ॥६४॥
त्वत्पादनखभासारे[1] सरसि प्रतिबिम्बिताः । सुराङ्गनाननच्छायास्तन्वते पङ्कजश्रियम् ॥६५॥
स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्या[2]त्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥६६॥
नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतां वर ॥६७॥
कर्मशत्रु[3]हणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानम[4]त्सुरेण्मौलिभामालाभ्यर्चितक्रमम् ॥६८॥
ध्यानद्रुघण[5]निर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनन्तभवसन्तानजयादासीदनन्तजित् ॥६९॥
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदु[6]र्दर्पमतिदुर्जयम् । मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युञ्जयो भवान् ॥७०॥
विधुताशेषसंसारबन्धनो भव्यबान्धवः । त्रिपुरारिस्त्वमीशासि[7] जन्ममृत्युजरान्तकृत् ॥७१॥

शोभा दिखलाता रहता है ॥६०॥ हे देव, आपके नखोंकी ये कुछ-कुछ लाल किरणें दिशाओंमें इस प्रकार फैल रही हैं मानो आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अँकूरे ही निकल रहे हों ॥६१॥ सब जीवोंको आह्लादित करनेवाली आपके चरणोंके नखरूपी चन्द्रमाकी ये किरणें हम लोगोंके सिरका इस प्रकार स्पर्श कर रही हैं मानो आपके प्रसादके अंश ही हों ॥६२॥ हे भगवन्, यह दिव्य लक्ष्मीरूपी मनोहर हँसी नखोंकी कान्तिरूपी मृणालसे सुशोभित आपके चरणकमलोंकी छायारूपी सरोवरीमें अवगाहन करती है ॥६३॥ हे विभो, आपके ये दोनों चरणकमलोंकी जिस कान्तिको धारण कर रहे हैं वह ऐसी जान पड़ती है मानो मोहरूपी शत्रुको नष्ट करते समय लगी हुई उसके गीले रक्तकी छटा ही हो ॥६४॥ हे देव, आपके चरणोंके नखकी कान्तिरूप जलके सरोवरमें प्रतिबिम्बित हुई देवांगनाओंके मुखकी छाया कमलोंकी शोभा बढ़ा रही है ॥६५॥ हे नाथ, आप अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको उत्पन्न कर प्रकट हुए हैं, इसलिए आप स्वयंभू अर्थात् अपने-आप उत्पन्न हुए कहलाते हैं। इसके सिवाय आपका माहात्म्य भी अचिन्त्य है अतः आपके लिए नमस्कार हो ॥६६॥ आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप लक्ष्मीके भर्ता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥६७॥ हे देव, बुद्धिमान् लोग आपको कामरूपी शत्रुको नष्ट करनेवाला मानते हैं, और आपके चरणकमल इन्द्रोंके मुकुटोंकी कान्तिके समूहसे पूजित हैं इसलिए हम लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥६८॥ अपने ध्यानरूपी कुठारसे अतिशय मजबूत घातियाकर्मरूपी बड़े भारी वृक्षको काट डाला है तथा अनन्त संसारकी सन्ततिको भी आपने जीत लिया है इसलिए आप अनन्तजित् कहलाते हैं ॥६९॥ हे जिनेन्द्र, तीनों लोकोंको जीत लेनेसे जिसे भारी अहंकार उत्पन्न हुआ है और जो अत्यन्त दुर्जय हैं ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीत लिया है इसीलिए आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥७०॥ आपने संसाररूपी समस्त बन्धन नष्ट कर दिये हैं, आप भव्य जीवोंके बन्धु हैं और आप जन्म, मरण तथा बुढ़ापा इन तीनोंका नाश

---

१. -भासीर- ल० । २. संपाद्य । ३. कामारिघ्नम् । ४ त्वामानुम. सुरेण्मौलिभामाला- ल० । त्वामानुनः- सुरेण्मौलित्रमाला-द० । ५. मुद्गर । ६ दुर्दम्य- ल० । ७. -स्त्वमेवासि- ल० ।

त्रिकालविषयाशेषतत्त्वभेदात् त्रिधोत्थितम् । केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशितः ॥७२॥
त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धासुरमर्दनात् । [1]अर्धं ते नारयो यस्मादर्धनारीश्वरोऽस्यतः ॥७३॥
शिवः शिवपदाध्यासात्[2] दुरितारिहरो हरः । शंकरः कृतशं[3] लोके शंभवस्त्वं भवन्सुखे[4] ॥७४॥
वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः । नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ॥७५॥
त्वमेकः पुरुषस्कन्धः[5] त्वं द्वे लोकस्य लोचने । त्वं त्रिधा[6] बुद्धसन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञानधारकः ॥७६॥
[7]चतुःशरणमाङ्गल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्र[8]धीः । [9]पञ्चब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥
स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः । जन्माभिषेकवामाय[10] वामदेव नमोऽस्तु ते ॥७८॥
[11]सन्निष्क्रान्तावघोराय परं प्रशममीयुषे । केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते ॥७९॥

करनेवाले हैं इसलिए आप ही 'त्रिपुरारि' कहलाते है ॥७१॥ हे ईश्वर, जो तीनों कालविषयक समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ कहलाता है ऐसे केवलज्ञान नामक नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिए आप ही 'त्रिनेत्र' कहे जाते हैं ॥७२॥ आपने मोह-रूपी अन्धासुरको नष्ट कर दिया है इसलिए विद्वान् लोग आपको ही 'अन्धकान्तक' कहते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमे-से आपके आधे अर्थात् चार घातियाकर्मरूपी शत्रुओंके ईश्वर नहीं हैं इसलिए आप 'अर्धनारीश्वर'* कहलाते है ॥७३॥ आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमे निवास करते है इसलिए 'शिव' कहलाते हैं, पापरूपी शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं इसलिए 'हर' कहलाते है, लोकमे शान्ति करनेवाले हैं इसलिए 'शङ्कर' कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'शम्भव' कहलाते हैं ॥७४॥ जगत्में श्रेष्ठ हैं इसलिए 'वृषभ' कहलाते हैं, अनेक उत्तम-उत्तम गुणोंका उदय होनेसे 'पुरु' कहलाते हैं, नाभिराजासे उत्पन्न हुए हैं इसलिए 'नाभेय' कहलाते है और इक्ष्वाकु-कुलमे उत्पन्न हुए हैं इसलिए इक्ष्वाकुकुलनन्दन कहलाते हैं ॥७५॥ समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ आप एक ही है, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करनेवाले हैं तथा आप [illegible]सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका मोक्षमार्ग जानते है अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमान[illegible]सम्बन्धी तीन प्रकारका ज्ञान धारण करते हैं इसलिए आप त्रिज्ञ भी कहलाते हैं ॥७६॥ अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली [illegible]के द्वारा कहा हुआ धर्म ये चार शरण तथा मंगल कहलाते हैं आप इन चारोंकी मूर्तिस्वरूप हैं, आप चतुरस्रधी हैं अर्थात् चारों ओरकी समस्त वस्तुओंको जाननेवाले हैं, पंच परमेष्ठीरूप हैं और अत्यन्त पवित्र हैं । इसलिए हे देव, मुझे भी पवित्र कीजिए ॥७७॥ हे नाथ, आप स्वर्गावतरणके समय सद्योजात अर्थात् शीघ्र ही उत्पन्न होनेवाले कहलाये थे इसलिए आपको नमस्कार हो, आप जन्माभिषेकके समय बहुत सुन्दर जान पड़ते थे इसलिए हे वामदेव, आपके लिए नमस्कार हो ॥७८॥

दीक्षा कल्याणकके समय आप परम शान्तिको प्राप्त हुए और केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर परम पदको प्राप्त हुए तथा ईश्वर कहलाये इसलिए आपको नमस्कार हो ॥७९॥

---

१. यस्मात्ते ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मादिषु घातिरूपार्द्धमरयो न अतः कारणात् अर्धनारीश्वरोऽसि । २ निवसनात् । ३. सुखकारकः । ४. भवत्सुखे –द० । ५. ग्रीवा । श्रेष्ठ इत्यर्थः । ६ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-रूपेण ज्ञातमोक्षमार्गः । ७. अरहन्तशरणमित्यादिचतुःशरणमङ्गलमूर्तिः । ८. सम्पूर्णबुद्धिः । ९ पञ्चपरमेष्ठि-स्वरूप । १० मनोहराय । ११. परिनिष्क्रमणे । सुनिष्क्रान्तावघोराय पदं परममीयुषे–द०, ल० ।

* अर्धा न अरीश्वरा यस्य स अर्धनारीश्वरः [अर्ध + न + अरि + ईश्वरः—अर्धनारीश्वरः]

[1]पुरस्तत्पुरुषत्वेन[2] विमुक्तिपदभागिने । [3]नमस्तत्पुरुषावस्थां भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते ॥८०॥
ज्ञानावरणनिर्ह्रा[4]सान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे[5] । दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते[6] विश्वदृश्वने[7] ॥८१॥
नमो दर्शनमोहघ्ने[8] क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥८२॥
नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमोऽनन्तसुखात्मने । नमस्तेऽनन्तलोकाय लोकालोकावलोकिने ॥८३॥
नमस्तेऽनन्तदानाय नमस्तेऽनन्तलब्धये[9] । नमस्तेऽनन्तभोगाय नमोऽनन्तोपभोग ते ॥८४॥
नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥८५॥
नम. परमविद्याय[10] नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥८६॥
नमः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नमः परममार्गाय[11] नमस्ते परमेष्ठिने[12] ॥८७॥
परमं भेजुषे धाम परमज्योतिषे नम । नमः [13]पारेतमः प्राप्तधाम्ने परतरात्मने[14] ॥८८॥
नमः क्षीणकलङ्काय क्षीणबन्ध नमोऽस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषाय[15] ते नमः ॥८९॥

अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे, इसलिए आगामी कालमें प्राप्त होनेवाली सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपके लिए मेरा आज ही नमस्कार हो ॥८०॥ ज्ञानावरण कर्मका नाश होनेसे जो अनन्तचक्षु अर्थात् अनन्तज्ञानी कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और दर्शनावरण कर्मका विनाश हो जानेसे जो विश्वदृश्वा अर्थात् समस्त संसारको देखनेवाले कहलाते हैं ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥८१॥ हे भगवन्, आप दर्शन-मोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो इसी प्रकार आप चारित्रमोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८२॥ आप अनन्तवीर्यको धारण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तसुखरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्तप्रकाशसे सहित तथा लोक और अलोकको देखनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८३॥ अनन्तदानको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तलाभको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, अनन्तभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो, और अनन्त उपभोगको धारण करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो ॥८४॥ हे भगवन्, आप परम ध्यानी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अयोनि अर्थात् योनि-भ्रमणसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अत्यन्त पवित्र हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और आप परमऋषि हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८५॥ आप परमविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं, अन्य सब मतोंका खण्डन करनेवाले हैं, परमतत्त्व-स्वरूप हैं और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८६॥ आप उत्कृष्ट रूपको धारण करनेवाले हैं, परम तेजस्वी हैं, उत्कृष्ट मार्गस्वरूप हैं और परमेष्ठी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८७॥ आप सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्थानकी सेवा करनेवाले हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आपका ज्ञानरूपी तेज अन्धकारसे परे है और आप सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८८॥ आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका कर्मबन्धन क्षीण हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो, आपका मोहकर्म नष्ट हो गया है इसलिए आपको नमस्कार हो

१. अग्रे । २. शुद्धात्मस्वरूपत्वेन । ३. नमस्तात्—ल० । ४. विनाशात् । ५. अनन्तज्ञानाय । ६. विनाशात् । ७ सकलदर्शिने । ८.दर्शनमोहघ्ने इति समर्थनरूपमेवमुत्तरत्रापि यथायोग्यं योज्यम् । ९ अनन्तलाभाय । १० केवलज्ञानाय । ११. रत्नत्रय । १२. परमपदस्थिताय । १३. तमस पार प्राप्ततेजसे । १४ उत्कृष्टस्वरूपाय । १५. क्षीणदोषास्तु ते नम–ल० ।

नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे[5]। नमस्तेऽतीन्द्रियज्ञानसुखायानिन्द्रियात्मने ॥९०॥
कायबन्धननिर्मोक्षादकायाय नमोऽस्तु ते। नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने[1] ॥९१॥
अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः। नमः परमयोगीन्द्र वन्दिताङ्घ्रिद्वयाय ते ॥९२॥
नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम। नमः परमदृग्दृष्टपरमार्थाय तायिने ॥९३॥
नमस्तुभ्यमलेश्याय[2] शुद्धलेश्यांशकस्पृशे। नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥९४॥
[3]सञ्ज्यसञ्ज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने। नमस्ते वीतसंज्ञाय[4] नमः क्षायिकदृष्टये ॥९५॥
अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे। व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे[5] ॥९६॥
अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मने। अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने[6] ॥९७॥
अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः। त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे[7] ॥९८॥
प्रसिद्धाष्ट[8]सहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम्। [9]नाम्नामष्टसहस्रेण [10]तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥९९॥

और आपके समस्त राग आदि दोष नष्ट हो गये हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥८९॥ आप मोक्षरूपी उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाले हैं इसलिए सुगति हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप अतीन्द्रियज्ञान और सुखसे सहित हैं तथा इन्द्रियोंसे रहित अथवा इन्द्रियोंके अगोचर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९०॥ आप शरीररूपी बन्धनके नष्ट हो जानेसे अकाय कहलाते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप योगरहित हैं और योगियों अर्थात् मुनियोंमें सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९१॥ आप वेदरहित हैं, कषायरहित हैं, और बड़े-बड़े योगिराज भी आपके चरणयुगलकी वन्दना करते हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९२॥ हे परमविज्ञान, अर्थात् उत्कृष्ट-केवलज्ञानको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो, हे परम संयम, अर्थात् उत्कृष्ट-यथाख्यात चारित्रको धारण करनेवाले, आपको नमस्कार हो। हे भगवन्, आपने उत्कृष्ट केवलदर्शनके द्वारा परमार्थको देख लिया है तथा आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९३॥ आप यद्यपि लेश्याओंसे रहित हैं तथापि उपचारसे शुद्ध-शुक्ललेश्याके अंशोंका स्पर्श करनेवाले हैं, भव्य तथा अभव्य दोनों ही अवस्थाओंसे रहित हैं और मोक्षरूप हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९४॥ आप संज्ञी और असंज्ञी दोनों अवस्थाओंसे रहित निर्मल आत्माको धारण करनेवाले हैं, आपकी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ नष्ट हो गयी हैं तथा क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण कर रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९५॥ आप आहाररहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, परम दीप्तिको प्राप्त हैं, आपके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं और आप संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त हुए हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९६॥ आप बुढ़ापारहित हैं, जन्मरहित हैं, मृत्युरहित हैं, अचलरूप हैं और अविनाशी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥९७॥ हे भगवन्, आपके गुणोंका स्तवन दूर रहे, क्योंकि आपके अनन्त गुण हैं उन सबका स्तवन होना कठिन है इसलिए केवल आपके नामोंका स्मरण करके ही हम लोग आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥९८॥ आपके देदीप्यमान एक हजार आठ लक्षण अतिशय प्रसिद्ध हैं और आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं इसलिए हम लोग अपनी अभीष्टसिद्धिके लिए एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥९९॥ आप अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्ट प्रातिहार्यरूप

---

१. पालकाय। २ शुक्ललेश्या मुक्त्वा इतरपञ्चलेश्यारहिताय। ३ सञ्ज्ञा-सञ्ज्ञि– ल०। ४ विशेषेण प्राप्तसज्ज्ञानाय। ५ –मीयुषे –ल०। ६. अविनश्वरस्वरूपाय। ७ उपासनं कर्तुमिच्छामः। ८. अष्टोत्तरसहस्र। ९. अष्टोत्तरसहस्रेण। १० स्तुतिं कुर्मः।

श्रीमान् स्वयंभूर्[1] वृषभः[2] शंभवः[3] शंभुरात्मभूः । स्वयंप्रभः[4] प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥१००॥
विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः । विश्वविद् विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वरः ॥१०१॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधिर्वेधाः शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥१०२॥

बहिरङ्ग लक्ष्मीसे सहित हैं इसलिए श्रीमान् १ कहलाते हैं, आप अपने-आप उत्पन्न हुए हैं- किसी गुरुके उपदेशकी सहायताके बिना अपने-आप ही सम्बुद्ध हुए हैं इसलिए स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे सुशोभित हैं इसलिए वृषभ ३ कहलाते हैं, आपके स्वयं अनन्त सुखकी प्राप्ति हुई है तथा आपके द्वारा संसारके अन्य अनेक प्राणियोंको सुख प्राप्त हुआ है इसलिए शंभव ४ कहलाते हैं, आप परमानन्दरूप सुखके देनेवाले हैं इसलिए शंभु ५ कहलाते हैं, आपने यह उत्कृष्ट अवस्था अपने ही द्वारा प्राप्त की है अथवा योगीश्वर अपनी आत्मामें ही आपका साक्षात्कार कर सकते हैं इसलिए आप आत्मभू ६ कहलाते हैं, आप अपने-आप ही प्रकाशमान होते हैं इसलिए स्वयंप्रभ ७ हैं, आप समर्थ अथवा सबके स्वामी हैं इसलिए प्रभु ८ हैं, अनन्त-आत्मोत्थ सुखका अनुभव करनेवाले हैं इसलिए भोक्ता हैं ९, केवल ज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा ध्यानादिके द्वारा सब जगह प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होते हैं इसलिए विश्वभू १० हैं, अब आप पुनः संसारमें आकर जन्म धारण नहीं करेंगे इसलिए अपुनर्भव ११ हैं ॥१००॥ संसारके समस्त पदार्थ आपकी आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वात्मा १२ कहलाते हैं, आप समस्त लोकके स्वामी हैं इसलिए विश्वलोकेश १३ कहलाते हैं, आपके ज्ञानदर्शनरूपी नेत्र संसारमें सभी ओर अप्रतिहत हैं इसलिए आप विश्वतश्चक्षु १४ कहलाते हैं, अविनाशी हैं इसलिए अक्षर १५ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विश्वविद् १६ कहलाते हैं, समस्त विद्याओंके स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं इसलिए विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, आपके स्वरूपका कभी नाश नहीं होता इसलिए अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥१०१॥ समस्त पदार्थोंको देखनेवाले हैं इसलिए विश्वदृश्वा २० हैं, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त हैं अथवा सब जीवोंको संसारसे पार करनेमें समर्थ हैं अथवा परमोत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं इसलिए विभु २१ हैं, संसारी जीवोंका उद्धार कर उन्हें मोक्षस्थानमें धारण करनेवाले हैं - पहुँचानेवाले हैं अथवा सब जीवोंका पोषण करनेवाले हैं अथवा मोक्षमार्गकी सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगत्के ईश्वर हैं इसलिए विश्वेश २३ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको देखनेवाले हैं अथवा सबके हित सन्मार्गका उपदेश देनेके कारण सब जीवोंके नेत्रोंके समान हैं इसलिए विश्वविलोचन २४ कहे जाते हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेके कारण आपका ज्ञान सब जगह व्याप्त है इसलिए आप विश्वव्यापी २५ कहलाते हैं। आप समीचीन मोक्षमार्गका विधान करनेसे विधि २६ कहलाते हैं। धर्मरूप जगत्की सृष्टि करनेवाले हैं इसलिए वेधा २७ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए शाश्वत २८ कहे जाते हैं, समवसरण-सभामें आपके मुख चारों दिशाओंसे दिखते हैं अथवा आप विश्वतोमुख अर्थात् जलकी तरह पापरूपी पंकको दूर

---

१. स्वयमात्मना भवतीति । २. वृषेण धर्मेण भवतीति । ३. शं सुखे भवतीति । ४. स्वयंप्रकाशः ।

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग्विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥१०३॥
जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्व[1]रीशो जगत्पतिः । [2]अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥१०४॥
युगादिपुरुषो ब्रह्म पञ्च[3]ब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥१०५॥
स्वयं ज्योतिरजोऽजन्मा [4]ब्रह्मयोनिरयोनिजः । [5]मोहारिविजयी जेता[6] धर्मचक्री दयाध्वजः ॥१०६॥

करनेवाले, स्वच्छ तथा तृष्णाको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए विश्वतोमुख २९ कहे जाते हैं ॥१०२॥ आपने कर्मभूमिकी व्यवस्था करते समय लोगोंकी आजीविकाके लिए असि-मषी आदि सभी कर्मों-कार्योंका उपदेश दिया था इसलिए आप विश्वकर्मा ३० कहलाते हैं, आप जगत्में सबसे ज्येष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ हैं इसलिए जगज्ज्येष्ठ ३१ कहे जाते हैं, आप अनन्त गुणमय हैं अथवा समस्त पदार्थोंके आकार आपके ज्ञानमें प्रतिफलित हो रहे हैं इसलिए आप विश्वमूर्ति ३२ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले सम्यग्दृष्टि आदि जीवोंके आप ईश्वर हैं इसलिए जिनेश्वर ३३ कहलाते हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंका सामान्यावलोकन करते हैं इसलिए विश्वदृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं इसलिए विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी ज्योति अखिल संसारमें व्याप्त है इसलिए आप विश्वज्योति ३६ कहलाते हैं, आप सबके स्वामी हैं किन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है इसलिए आप अनीश्वर ३७ कहे जाते हैं ॥१०३॥ आपने घातियाकर्मरूपी शत्रुओंको जीत लिया है इससे आप जिन ३८ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतना ही आपका शील अर्थात् स्वभाव है इसलिए आप जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपकी आत्माको अर्थात् आपके अनन्त गुणोंको कोई नहीं जान सका है इसलिए आप अमेयात्मा ४० हैं, पृथिवीके ईश्वर हैं इसलिए विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए जगत्पति ४२ कहे जाते हैं, अनन्त संसार अथवा मिथ्यादर्शनको जीत लेनेके कारण आप अनन्तजित् ४३ कहलाते हैं, आपकी आत्माका चिन्तवन मनसे भी नहीं किया जा सकता इसलिए आप अचिन्त्यात्मा ४४ हैं, भव्य जीवोंके हितैषी हैं इसलिए भव्यबन्धु ४५ कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण अबन्धन ४६ कहलाते हैं ॥१०४॥ आप इस कर्मभूमिरूपी युगके प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए युगादि-पुरुष ४७ कहलाते हैं, केवलज्ञान आदि गुण आपमें बृंहण अर्थात् वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं इसलिए आप ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, आप पंचपरमेष्ठीस्वरूप हैं, इसलिए पंच ब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, शिव अर्थात् मोक्ष अथवा आनन्दरूप होनेसे शिव ५० कहे जाते हैं, आप सब जीवोंका पालन अथवा समस्तज्ञान आदि गुणोंको पूर्ण करनेवाले हैं इसलिए पर ५१ कहलाते हैं, संसारमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए परतर ५२ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा आपका आकार नहीं जाना जा सकता अथवा नामकर्मका क्षय हो जानेसे आपमें बहुत शीघ्र सूक्ष्मत्व गुण प्रकट होनेवाला है इसलिए आपको सूक्ष्म ५३ कहते हैं, परमपदमें स्थित हैं इसलिए परमेष्ठी ५४ कहलाते हैं और सदा एक-से ही विद्यमान रहते हैं इसलिए सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥१०५॥ आप स्वयं प्रकाशमान हैं इसलिए स्वयंज्योति ५६ कहलाते हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अज ५७ कहे जाते हैं, जन्मरहित हैं इसलिए अजन्मा ५८ कहलाते हैं, आप ब्रह्म अर्थात् वेद (द्वादशांग शास्त्र) की उत्पत्तिके कारण हैं इसलिए ब्रह्मयोनि ५९ कहलाते हैं,

१ विश्वरि मही तस्या ईश । २ संसारजित् । ३ पञ्चपरमेष्ठिस्वरूप । ४ आत्मयोनि । ५ मोहारिविजयी—द० । ६. जयशील ।

प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः। ब्रह्मविद् ब्रह्म[1]तत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्या[2]वित् यतीश्वरः ॥१०७॥

शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः। [3]सिद्धः सिद्धान्तविद्ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०८॥

सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः [4]प्रभविष्णुर्भवोद्भवः[5]। [6]प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो[7] भ्राजिष्णु[8]र्धीश्वरोऽव्ययः ॥१०९॥

चौरासी लाख योनियोंमें उत्पन्न नहीं होते इसलिए अयोनिज ६० कहे जाते हैं, मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले हैं इससे मोहारिविजयी ६१ कहलाते हैं, सर्वदा सर्वोत्कृष्ट रूपसे विद्यमान रहते हैं इसलिए जेता ६२ कहे जाते हैं, आप धर्मचक्रको प्रवर्तित करते हैं इसलिए धर्मचक्री ६३ कहलाते हैं, दया ही आपकी ध्वजा है इसलिए आप दयाध्वज ६४ कहे जाते हैं ॥१०६॥ आपके समस्त कर्मरूप शत्रु शान्त हो गये हैं इसलिए आप प्रशान्तारि ६५ कहलाते हैं, आपकी आत्माका अन्त कोई नहीं पा सका है इसलिए आप अनन्तात्मा ६६ हैं, आप योग अर्थात् केवलज्ञान आदि अपूर्व अर्थोंकी प्राप्तिसे सहित हैं अथवा ध्यानसे युक्त हैं अथवा मोक्षप्राप्तिके उपायभूत सम्यग्दर्शनादि उपायोंसे सुशोभित हैं इसलिए योगी ६७ कहलाते हैं, योगियों अर्थात् मुनियोंके अधीश्वर आपकी पूजा करते हैं इसलिए योगीश्वरार्चित ६८ हैं, ब्रह्म अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपको जानते हैं इसलिए ब्रह्मविद् ६९ कहलाते हैं, ब्रह्मचर्य अथवा आत्मारूपी तत्त्वके रहस्यको जाननेवाले हैं इसलिए ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० कहे जाते हैं, पूर्व ब्रह्माके द्वारा कहे हुए समस्त तत्त्व अथवा केवलज्ञानरूपी आत्मविद्याको जानते हैं इसलिए ब्रह्मोद्यावित् ७१ कहे जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेके लिए यत्न करनेवाले संयमी मुनियोंके स्वामी हैं इसलिए यतीश्वर ७२ कहलाते हैं ॥१०७॥ आप राग-द्वेषादि भाव कर्ममल कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध ७३ हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवाली केवलज्ञानरूपी बुद्धिसे संयुक्त होनेके कारण बुद्ध ७४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सदा शुद्ध ज्ञानसे जगमगाती रहती है इसलिए आप प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, आपके सब प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धार्थ ७६ कहलाते हैं, आपका शासन सिद्ध अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है इसलिए आप सिद्धशासन ७७ हैं, आप अपने अनन्तगुणोंको प्राप्त कर चुके हैं अथवा बहुत शीघ्र मोक्ष अवस्था प्राप्त करनेवाले हैं इसलिए सिद्ध ७८ कहलाते हैं, आप द्वादशाङ्गरूपसिद्धान्तको जाननेवाले हैं इसलिए सिद्धान्तविद् ७९ कहे जाते हैं, सभी लोग आपका ध्यान करते हैं इसलिए आप ध्येय ८० कहलाते हैं, आपके समस्त साध्य अर्थात् करने योग्य कार्य सिद्ध हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाध्य ८१ कहलाते हैं, आप जगत्के समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं इससे जगद्धित ८२ कहे जाते हैं ॥१०८॥ सहनशील हैं अर्थात् क्षमा गुणके भण्डार हैं इसलिए सहिष्णु ८३ कहलाते हैं, ज्ञानादि गुणोंसे कभी च्युत नहीं होते इसलिए अच्युत ८४ कहे जाते हैं, विनाशरहित हैं, इसलिए अनन्त ८५ कहलाते हैं, प्रभावशाली हैं इसलिए प्रभविष्णु ८६ कहे जाते हैं, संसारमें आपका जन्म सबसे उत्कृष्ट माना गया है इसलिए आप भवोद्भव ८७ कहलाते हैं, आप शक्तिशाली हैं इसलिए प्रभूष्णु ८८ कहे जाते हैं, वृद्धावस्थासे रहित होनेके कारण अजर ८९ हैं, आप कभी जीर्ण नहीं होते इसलिए अजर्य ९० हैं, ज्ञानादि गुणोंसे अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए भ्राजिष्णु ९१ हैं, केवलज्ञानरूपी बुद्धिके ईश्वर हैं इसलिए धीश्वर ९२ कहलाते

---

१ मोक्षस्वरूपवित्। २ ब्रह्मणा वेदितव्यमावेत्तीति। अथवा ब्रह्मणो वदनं वचनम्। ३ सिद्धसिद्धान्त- ब०, प०, द०। ४. प्रकर्षेण भवनशीलः। ५ भवात् संसारात् उत् उद्गतो भवः उत्पत्तिर्यस्य सः। अथवा अनन्तज्ञानादिभवनरूपेण भवतीति। ६ प्रभवतीति। ७. न जीर्यत इति। ८. प्रकाशनशीलः।

विभावसु[1]रसंभूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परं ज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥११०॥

इति श्रीमदादिशतम् ।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिः धर्माध्यक्षो दमीश्वरः[2] ॥१११॥

श्रीपतिर्भग[3]वानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत् केवलीशानः पूजार्हः[4] स्नातकोऽमलः ॥११२॥

अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥११३॥

है, कभी आपका व्यय अर्थात् नाश नहीं होता इसलिए आप अव्यय ९३ कहलाते हैं ॥१०९॥ आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेके लिए अग्निके समान हैं अथवा मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान हैं, इसलिए विभावसु ९४ कहलाते हैं, आप संसारमें पुनः उत्पन्न नहीं होंगे इसलिए असम्भूष्णु ९५ कहे जाते हैं, आप अपने-आप ही इस अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए स्वयम्भूष्णु ९६ हैं, प्राचीन हैं—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादिसिद्ध हैं इसलिए पुरातन ९७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय उत्कृष्ट है इसलिए आप परमात्मा ९८ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप हैं इसलिए परंज्योति ९९ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके ईश्वर हैं, इसलिए त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहे जाते हैं ॥११०॥

आप दिव्य-ध्वनिके पति हैं इसलिए आपको दिव्यभाषापति १०१ कहते हैं, अत्यन्त सुन्दर हैं इसलिए आप दिव्य १०२ कहलाते हैं, आपके वचन अतिशय पवित्र हैं इसलिए आप पूतवाक् १०३ कहे जाते हैं, आपका शासन पवित्र होनेसे आप पूतशासन १०४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा पवित्र है इसलिए आप पूतात्मा १०५ कहे जाते हैं, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं इसलिए परमज्योति १०६ कहलाते हैं, धर्मके अध्यक्ष हैं इसलिए धर्माध्यक्ष १०७ कहे जाते हैं, इन्द्रियोंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए दमीश्वर १०८ कहलाते हैं ॥१११॥ मोक्षरूपी लक्ष्मीके अधिपति हैं इसलिए श्रीपति १०९ कहलाते हैं, अष्टप्रातिहार्यरूप उत्तम ऐश्वर्यसे सहित हैं इसलिए भगवान् ११० कहे जाते हैं, सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए अर्हन् १११ कहलाते हैं, कर्मरूपी धूलिसे रहित हैं इसलिए अरजाः ११२ कहे जाते हैं, आपके द्वारा भव्य जीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मसे रहित हैं इसलिए विरजाः ११३ कहलाते हैं, अतिशय पवित्र हैं इसलिए शुचि ११४ कहे जाते हैं, धर्मरूप तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए तीर्थकृत् ११५ कहलाते हैं, केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण केवली ११६ कहे जाते हैं, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त होनेके कारण ईशान ११७ कहलाते हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह ११८ हैं, घातियाकर्मोंके नष्ट होने अथवा पूर्णज्ञान होनेसे आप स्नातक ११९ कहलाते हैं, आपका शरीर मलरहित है अथवा आत्मा राग-द्वेष आदि दोषोंसे वर्जित है इसलिए आप अमल १२० कहे जाते हैं ॥११२॥ आप केवलज्ञानरूपी अनन्त दीप्ति अथवा शरीरकी अपरिमित प्रभाके धारक हैं इसलिए अनन्तदीप्ति १२१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए आप ज्ञानात्मा १२२ हैं, आप स्वयं संसारसे विरक्त होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुए हैं अथवा आपने गुरुओंकी सहायताके बिना ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त किया है इसलिए स्वयम्बुद्ध १२३ कहलाते हैं, समस्त जनसमूहके रक्षक होनेसे आप प्रजापति १२४ हैं, कर्मरूप बन्धनसे रहित हैं इसलिए मुक्त १२५ कहलाते हैं, अनन्त बलसे सम्पन्न होनेके कारण शक्त

---

१. विभा प्रभा अस्मिन् वसतीति । दहन इति वा । २. महेश्वर–इ०, प० । ३ विशिष्टज्ञानी । ४. समाप्तवेद., सम्पूर्णज्ञानीत्यर्थ. ।

निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामयः[1][2] । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः[3] स्थाणुरक्षयः[4] ॥११४॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता[5] प्रणेता न्यायशास्त्रकृत्[6] । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥११५॥
वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो[7] वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥११६॥
हिरण्यनाभिर्भूतात्मा[8] भूतभृद्[9] भूतभावनः[10] । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो[11] भावो[12] भवान्तकः ११७

---

१२६ कहे जाते हैं, बाधा-उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निराबाध १२७ कहलाते है, शरीर अथवा मायासे रहित होनेके कारण निष्कल १२८ कहे जाते हैं और तीनों लोकोंके ईश्वर होनेसे भुवनेश्वर १२९ कहलाते हैं ॥११३॥ आप कर्मरूपी अंजनसे रहित हैं इसलिए निरंजन १३० कहलाते हैं, जगत्‌को प्रकाशित करनेवाले हैं इसलिए जगज्ज्योति १३१ कहे जाते हैं, आपके वचन सार्थक हैं अथवा पूर्वापर विरोधसे रहित हैं इसलिए आप निरुक्तोक्ति १३२ कहलाते है, रोगरहित होनेसे अनामय १३३ है, आपकी स्थिति अचल है इसलिए अचल-स्थिति १३४ कहलाते हैं, आप कभी क्षोभको प्राप्त नहीं होते इसलिए अक्षोभ्य १३५ हैं, नित्य होनेसे कूटस्थ १३६ हैं, गमनागमनसे रहित होनेके कारण स्थाणु १३७ है और क्षयरहित होनेके कारण अक्षय १३८ हैं ॥११४॥ आप तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिए अग्रणी १३९ कहलाते हैं, भव्य जीवोंके समूहको मोक्ष प्राप्त करानेवाले है इसलिए ग्रामणी १४० हैं, सब जीवोंको हितके मार्गमें प्राप्त कराते हैं इसलिए नेता १४१ हैं, द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना करनेवाले है इसलिए प्रणेता १४२ हैं, न्यायशास्त्रका उपदेश देनेवाले हैं इसलिए न्यायशास्त्र-कृत् १४३ कहे जाते हैं, हितका उपदेश देनेके कारण शास्ता १४४ कहलाते हैं, उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी हैं इसलिए धर्मपति १४५ कहे जाते हैं, धर्मसे सहित है इसलिए धर्म्य १४६ कहलाते हैं, आपकी आत्मा धर्मरूप अथवा धर्मसे उपलक्षित है इसलिए आप धर्मात्मा १४७ कहलाते हैं और आप धर्मरूपी तीर्थके करनेवाले हैं इसलिए धर्मतीर्थकृत् १४८ कहे जाते है ॥११५॥ आपकी ध्वजामें वृष अर्थात् बैलका चिह्न है अथवा धर्म ही आपकी ध्वजा है अथवा आप वृषभ चिह्नसे अंकित हैं इसलिए वृषध्वज १४९ कहलाते है, आप वृष अर्थात् धर्मके पति है इसलिए वृषाधीश १५० कहे जाते है, आप धर्मकी पताकास्वरूप हैं इसलिए लोग आपको वृषकेतु १५१ कहते हैं, आपने कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए धर्मरूप शस्त्र धारण किये हैं इसलिए आप वृषायुध १५२ कहे जाते हैं, आप धर्मरूप हैं इसलिए वृष १५३ कहलाते हैं, धर्मके स्वामी हैं इसलिए वृषपति १५४ कहे जाते है, समस्त जीवोंका भरण-पोषण करते हैं इसलिए भर्ता १५५ कहलाते हैं, वृषभ अर्थात् बैलके चिह्नसे सहित हैं इसलिए वृषभांक १५६ कहे जाते हैं और पूर्व पर्यायोंमें उत्तम धर्म करनेसे ही आप तीर्थंकर होकर उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥११६॥ सुन्दर नाभि होनेसे आप हिरण्यनाभि १५८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा सत्यरूप है इसलिए आप भूतात्मा १५९ कहे जाते हैं, आप समस्त जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पण्डितजन आपको भूतभृत् १६० कहते हैं, आपकी भावनाएँ बहुत ही उत्तम हैं, इसलिए आप भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आप मोक्षप्राप्तिके कारण हैं अथवा आपका

---

१. प्रामाणिकवचनः । २.–निरामय'–प०, ब० । ३. नित्य. । ४. स्थानशील । ५. ग्रामं समुदायं नयतीति । ६. युक्त्यागम । ७. धर्मवर्षणात् । ८ विद्यमानस्वरूप । ९ प्राणिगणपोषक । १०. भूत मङ्गलं भावयतीति । ११. भवतीति । १२. भावयतीति भावः ।

हिरण्यगर्भः[1] श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः। स्वयंप्रभुः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पतिः ॥११८॥
सर्वादिः सर्वदिक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः। सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित् सर्वलोकजित् ॥११९॥
सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत्[2] सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः। विश्रुतो विश्वतः पादो[3] विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः[4] ॥१२०॥

जन्म प्रशंसनीय है इसलिए प्रभव १६२ कहे जाते है, संसारसे रहित होनेके कारण आप विभव १६३ कहलाते हैं, देदीप्यमान होनेसे भास्वान् १६४ है, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यरूपसे सदा उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए भव १६५ कहलाते हैं, अपने चैतन्यरूप भावमें लीन रहते है इसलिए भाव १६६ कहे जाते हैं और संसारभ्रमणका अन्त करनेवाले है इसलिए भवान्तक १६७ कहलाते है ॥११७॥ जब आप गर्भमें थे तभी पृथिवी सुवर्णमय हो गयी थी और आकाश-से देवने भी सुवर्णकी वृष्टि की थी इसलिए आप हिरण्यगर्भ १६८ कहे जाते हैं, आपके अन्त-रंगमें अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी देदीप्यमान हो रही हैं इसलिए आप श्रीगर्भ १६९ कहलाते हैं, आपका विभव बड़ा भारी है इसलिए आप प्रभूतविभव १७० कहे जाते हैं, जन्मरहित होनेके कारण अभव १७१ कहलाते हैं, स्वयं समर्थ होनेसे स्वयम्प्रभु १७२ कहे जाते है, केवल-ज्ञानकी अपेक्षा आपकी आत्मा सर्वत्र व्याप्त है इसलिए आप प्रभूतात्मा १७३ है, समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ १७४ हैं, और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्प्रभु १७५ है ॥११८॥ सबसे मुख्य होनेके कारण सर्वादि १७६ है, सब पदार्थोंके देखनेके कारण सर्वदृक् १७७ हैं, सबका हित करनेवाले हैं, इसलिए सार्व १७८ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सर्वज्ञ १७९ कहे जाते है, आपका दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व अथवा केवलदर्शन पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुआ है इसलिए आप सर्वदर्शन १८० कहलाते है, आप सबका भला चाहते हैं—सबको अपने समान समझते हैं अथवा संसारके समस्त पदार्थ आपके आत्मामें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं इसलिए आप सर्वात्मा १८१ कहे जाते है, सब लोगोंके स्वामी हैं, इसलिए सर्वलोकेश १८२ कहलाते हैं, सब पदार्थोंको जानते है, इसलिए सर्ववित् १८३ हैं, और समस्त लोकोंको जीतनेवाले है-सबसे बढकर है, इसलिए सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥ आपकी मोक्षरूपी गति अतिशय सुन्दर है अथवा आपका ज्ञान बहुत ही उत्तम है इसलिए आप सुगति १८५ कहलाते है, अतिशय प्रसिद्ध है अथवा उत्तम शास्त्रोंको धारण करनेवाले है इसलिए सुश्रुत १८६ कहे जाते है, सब जीवोंकी प्रार्थनाएँ सुनते हैं इसलिए सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपके वचन बहुत ही उत्तम निकलते हैं इसलिए आप सुवाक् १८८ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं अथवा समस्त विद्याओंको प्राप्त है इसलिए सूरि १८९ कहे जाते है, बहुत शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत १९० हैं, बहुत प्रसिद्ध हैं अथवा केवलज्ञान होनेके कारण आपका क्षायोपशमिक श्रुतज्ञान नष्ट हो गया है इसलिए आप विश्रुत १९१ कहलाते है, आपका संचार प्रत्येक विषयोंमे होता है अथवा आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें संसारमें सभी ओर फैली हुई हैं इसलिए आप विश्वतःपाद १९२ कहलाते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान हैं इसलिए विश्वशीर्ष १९३ कहे जाते है, और आपकी श्रवणशक्ति अत्यन्त पवित्र है इसलिए शुचिश्रवा १९४ कहलाते हैं ॥१२०॥

१ हिरण्य गर्भे यस्य स। २ सुष्ठु शृणोतीति। ३. किरणः। ४ शुचि श्रवो ज्ञानं श्रवणं च यस्य स।

[1]सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः[2] सहस्राक्षः[3] सहस्रपात्[4]। भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥१२१॥

इति दिव्यादिशतम् ॥

स्थविष्ठः[5] स्थविरो[6] ज्येष्ठः प्रष्ठः[7] प्रेष्ठो[8] वरिष्ठधीः[9]। स्थेष्ठो[10] गरिष्ठो[11] बंहिष्ठः[12] श्रेष्ठोऽणिष्ठो[13] गरिष्ठगीः॥

[14]विश्वमुद्विश्वसृड् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः। विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः।१२३।

विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन्[15]। विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सरः ॥१२४॥

अनन्त सुखी होनेसे सहस्रशीर्ष १९५ कहलाते हैं, क्षेत्र अर्थात् आत्माको जाननेसे क्षेत्रज्ञ १९६ कहलाते हैं, अनन्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए सहस्राक्ष १९७ कहे जाते हैं, अनन्त बलके धारक हैं इसलिए सहस्रपात् १९८ कहलाते हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालके स्वामी हैं इसलिए भूतभव्यभवद्भर्ता १९९ कहे जाते हैं, समस्त विद्याओंके प्रधान स्वामी हैं इसलिए विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहलाते हैं ॥१२१॥ इति दिव्यादि शतम्।

आप समीचीन गुणोंकी अपेक्षा अतिशय स्थूल हैं इसलिए स्थविष्ठ २०१ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंके द्वारा वृद्ध हैं इसलिए स्थविर २०२ कहलाते हैं, तीनों लोकोंमें अतिशय प्रशस्त होनेके कारण ज्येष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रगामी होनेके कारण प्रष्ठ २०४ कहलाते हैं, सबको अतिशय प्रिय हैं इसलिए प्रेष्ठ २०५ कहे जाते हैं, आपकी बुद्धि अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यन्त स्थिर अर्थात् नित्य हैं इसलिए स्थेष्ठ २०७ कहलाते हैं, अत्यन्त गुरु हैं इसलिए गरिष्ठ २०८ कहे जाते हैं, गुणोंकी अपेक्षा अनेक रूप धारण करनेसे बंहिष्ठ २०९ कहलाते हैं, अतिशय प्रशस्त हैं इसलिए श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म होनेके कारण अणिष्ठ २११ कहे जाते हैं और आपकी वाणी अतिशय गौरवसे पूर्ण है इसलिए आप गरिष्ठगीः २१२ कहलाते हैं ॥१२२॥ चतुर्गतिरूप संसारको नष्ट करनेके कारण आप विश्वमुट् २१३ कहे जाते हैं, समस्त संसारकी व्यवस्था करनेवाले हैं इसलिए विश्वसृट् २१४ कहलाते हैं, सब लोकके ईश्वर हैं इसलिए विश्वेट् २१५ कहे जाते हैं, समस्त संसारकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए विश्वभुक् २१६ कहलाते हैं, अखिल लोकके स्वामी हैं इसलिए विश्वनायक २१७ कहे जाते हैं, समस्त संसारमें व्याप्त होकर रहते हैं इसलिए विश्वासी २१८ कहलाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है अथवा आपका आत्मा अनेकरूप है इसलिए आप विश्वरूपात्मा २१९ कहे जाते हैं, सबको जीतनेवाले हैं इसलिए विश्वजित् २२० कहे जाते हैं और अन्तक अर्थात् मृत्युको जीतनेवाले हैं इसलिए विजितान्तक २२१ कहलाते हैं ॥१२३॥ आपका संसार-भ्रमण नष्ट हो गया है इसलिए विभव २२२ कहलाते हैं, भय दूर हो गया है इसलिए विभय २२३ कहे जाते हैं, अनन्त बलशाली हैं इसलिए वीर २२४ कहलाते हैं, शोकरहित हैं इसलिए विशोक २२५ कहे जाते हैं, जरा अर्थात् बुढापासे रहित हैं इसलिए विजर २२६ कहलाते हैं, जगत्के सब जीवोंमें प्राचीन हैं इसलिए जरन् २२७ कहे जाते हैं, रागरहित हैं इसलिए विराग २२८ कहलाते हैं, समस्त

---

१. अनन्तसुखी। २. आत्मज्ञ.। ३. अनन्तदर्शी। ४ अनन्तवीर्य। ५. अतिशयेन स्थूल। ६. वृद्धः। ७. अग्रगामी। ८. अतिशयेन प्रियः। ९. अतिशयेन वरबुद्धिः। १०. अतिशयेन स्थिर। ११. अतिशयेन गुरुः। १२. अतिशयेन बहु। १३. अतिशयेनाणु सूक्ष्म इत्यर्थ.। १४ विश्वशास्त्रकः। विश्वमुट्—ल०। १५. वृद्ध।

विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मष । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधि॰ सुधी॰ ॥१२५॥
[1]क्षान्तिभाक् पृथिवीमूर्ति॰ शान्तिभाक् सलिलात्मक॰ । वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधक् ॥१२६॥
सुयज्वा[2] यजमानात्मा सुत्वा[3] सुत्रामपूजितः । [4]ऋत्विग् यज्ञपतिर्याज्यो यज्ञाङ्गममृतं हविः ॥१२७॥
व्योममूर्तिरमूर्तात्मा[5] निर्लेपो निर्मलोऽचल । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥१२८॥

पापोंसे विरत हो चुके हैं इसलिए विरत २२९ कहे जाते है, परिग्रहरहित हैं इसलिए असंग २३० कहलाते हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त २३१ हैं और मात्सर्यसे रहित होनेके कारण वीतमत्सर २३२ हैं ॥१२४॥ आप अपने शिष्य जनोंके हितैषी हैं इसलिए विनेयजनता-बन्धु २३३ कहलाते हैं, आपके समस्त पापकर्म विलीन–नष्ट हो गये हैं इसलिए विलीनाशेषकल्मष २३४ कहे जाते हैं, आप योग अर्थात् मन, वचन, कायके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेश-परिस्पन्दसे रहित हैं इसलिए वियोग २३५ कहलाते है, योग अर्थात् ध्यानके स्वरूपको जानने-वाले हैं इसलिए योगविद् २३६ कहे जाते है, समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिए विद्वान् २३७ कहलाते है, धर्मरूप सृष्टिके कर्ता होनेसे विधाता २३८ कहे जाते हैं, आपका कार्य बहुत ही उत्तम है इसलिए सुविधि २३९ कहलाते हैं और आपकी बुद्धि उत्तम है इसलिए सुधी २४० कहे जाते हैं ॥१२५॥ उत्तम क्षमाको धारण करनेवाले है इसलिए क्षान्तिभाक् २४१ कहलाते हैं, पृथिवीके समान सहनशील हैं इसलिए पृथ्वीमूर्ति २४२ कहे जाते है, शान्तिके उपासक हैं इसलिए शान्तिभाक् २४३ कहलाते हैं, जलके समान शीतलता उत्पन्न करनेवाले है इसलिए सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायुके समान परपदार्थके संसर्गसे रहित होनेके कारण वायुमूर्ति २४५ कहलाते हैं, परिग्रहरहित होनेके कारण असगात्मा २४६ कहे जाते हैं, अग्निके समान कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं इसलिए वह्निमूर्ति २४७ है, और अधर्मको जलानेवाले हैं इसलिए अधर्मधक् २४८ कहलाते हैं ॥१२६॥ कर्मरूपी सामग्रीका अच्छी तरह होम करनेसे सुयज्वा २४९ हैं, निज स्वभावका आराधन करनेसे यजमानात्मा २५० हैं, आत्मसुखरूप सागरमें अभिषेक करनेसे सुत्वा २५१ हैं, इन्द्रके द्वारा पूजित होनेके कारण सुत्रामपूजित २५२ हैं, ज्ञानरूपी यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते है इसलिए ऋत्विक् २५३ है, यज्ञके प्रधान अधिकारी होनेसे यज्ञपति २५४ कहलाते है। पूजाके योग्य हैं इसलिए याज्य २५५ कहलाते हैं, यज्ञके अंग होनेसे यज्ञांग २५६ कहलाते है, विषयतृष्णाको नष्ट करनेके कारण अमृत २५७ कहे जाते है, और आपने ज्ञानयज्ञमें अपनी ही अशुद्ध परिणतिको होम दिया है इसलिए आप हवि २५८ कहलाते हैं ॥१२७॥ आप आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानकी अपेक्षा लोक-अलोकमें व्याप्त हैं इसलिए व्योममूर्ति २५९ हैं, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्तात्मा २६० हैं, कर्मरूप लेपसे रहित हैं इसलिए निर्लेप २६१ है, मलरहित हैं इसलिए निर्मल २६२ कहलाते हैं, सदा एक रूपसे विद्यमान रहते है इसलिए अचल २६३ कहे जाते हैं, चन्द्रमाके समान शान्त, सुन्दर अथवा प्रकाशमान रहते हैं इसलिए सोममूर्ति २६४ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सौम्य है इसलिए सुसौम्यात्मा २६५ कहे जाते हैं, सूर्यके समान तेजस्वी है इसलिए सूर्यमूर्ति २६६ कहलाते हैं और अतिशय प्रभाके धारक हैं इसलिए

१. क्षमाभाक् ततः हेतुगर्भितमिदम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । २. शोभनहोता । ३ सुनोतीति सुत्वा, षुञ् अभिषवणे । कृताभिषेक इत्यर्थ. । ४. पूजक । ५. अमूर्तात्मत्वात् ।

मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तगः[1] । स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्[2] स्वन्तः[3] कृतान्तान्तः[4] कृतान्तकृत्[5] ॥१२९॥

कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः[6] ॥१३०॥

ब्रह्मनिष्ठः[7] परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसंभवः । महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेड् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥१३१॥

सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः[8] । प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः १३२॥

इति स्थविष्ठादिशतम् ।

महाप्रभ २६७ कहलाते हैं ।।१२८।। मन्त्रके जाननेवाले हैं इसलिए मन्त्रवित् २६८ कहे जाते हैं, अनेक मन्त्रोंके करनेवाले हैं इसलिए मन्त्रकृत् २६९ कहलाते हैं, मन्त्रोंसे युक्त है इसलिए मन्त्री २७० कहलाते है, मन्त्ररूप हैं इसलिए मन्त्रमूर्ति २७१ कहे जाते है, अनन्त पदार्थोंको जानते है इसलिए अनन्तग २७२ कहलाते हैं, कर्मबन्धनसे रहित होनेके कारण स्वतन्त्र २७३ कहलाते हैं, शास्त्रोंके करनेवाले है इसलिए तन्त्रकृत् २७४ कहे जाते है, आपका अन्तःकरण उत्तम है इसलिए स्वन्तः २७५ कहलाते हैं, आपने कृतान्त अर्थात् यमराज मृत्युका अन्त कर दिया है इसलिए लोग आपको कृतान्तान्त २७६ कहते है और आप कृतान्त अर्थात् आगमकी रचना करनेवाले हैं इसलिए कृतान्तकृत् २७७ कहे जाते हैं।।१२९।। आप अत्यन्त कुशल अथवा पुण्यवान् हैं इसलिए कृती २७८ कहलाते है, आपने आत्माके सब पुरुषार्थ सिद्ध कर चुके हैं इसलिए कृतार्थ २७९ हैं, संसारके समस्त जीवोंके द्वारा सत्कार करनेके योग्य हैं इसलिए सत्कृत्य २८० हैं, समस्त कार्य कर चुके है इसलिए कृतकृत्य २८१ है, आप ज्ञान अथवा तपश्चरणरूपी यज्ञ कर चुके है इसलिए कृतक्रतु २८२ कहलाते हैं, सदा विद्यमान रहनेसे नित्य २८३ है, मृत्युको जीतनेसे मृत्युंजय २८४ हैं, मृत्युसे रहित होनेके कारण अमृत्यु २८५ हैं, आपका आत्मा अमृतके समान सदा शान्तिदायक है इसलिए अमृतात्मा २८६ है, और अमृत अर्थात् मोक्षमें आपकी उत्कृष्ट उत्पत्ति होनेवाली है इसलिए आप अमृतोद्भव २८७ कहलाते है ।।१३०।। आप सदा शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन रहते हैं इसलिए ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते हैं, उत्कृष्ट ब्रह्मरूप हैं इसलिए परब्रह्म २८९ कहे जाते हैं, ब्रह्म अर्थात् ज्ञान अथवा ब्रह्मचर्य ही आपका स्वरूप है इसलिए आप ब्रह्मात्मा २९० कहलाते है, आपको स्वयं शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है तथा आपसे दूसरोंको होती है इसलिए आप ब्रह्मसम्भव २९१ कहलाते हैं, गणधर आदि महाब्रह्माओंके भी अधिपति है इसलिए आप महाब्रह्मपति २९२ कहे जाते हैं, आप केवल ज्ञानके स्वामी हैं इसलिए ब्रह्मेट् २९३ कहलाते है, महाब्रह्मपद अर्थात् आर्हन्त्य और सिद्धत्व अवस्थाके ईश्वर है इसलिए महाब्रह्मपदेश्वर २९४ कहे जाते हैं ।।१३१।। आप सदा प्रसन्न रहते हैं इसलिए सुप्रसन्न २९५ कहे जाते है, आपकी आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेके कारण सदा प्रसन्न रहती है इसलिए लोग आपको प्रसन्नात्मा २९६ कहते है, आप केवलज्ञान, उत्तमक्षमा आदि धर्म और इन्द्रियनिग्रहरूप दमके स्वामी हैं इसलिए ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहे जाते हैं, आपकी आत्मा उत्कृष्ट शान्तिसे सहित हैं इसलिए आप प्रशमात्मा २९८ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कषायोंका अभाव हो जानेसे अतिशय शान्त हो चुकी है इसलिए आप प्रशान्तात्मा २९९ कहलाते हैं, और शलाका पुरुषोंमें सबसे उत्कृष्ट हैं इसलिए विद्वान् लोग आपको पुराणपुरुषोत्तम ३००

१. अनन्तज्ञानी । –रनन्तरः इ० । २. आगमकृत् । ३. सुखान्तः । ४. यमान्तक. । ५. सिद्धान्तकर्ता । ६. अविनश्वरोत्पत्ति. । ७. आत्मनिष्ठः । ८. ज्ञानेश्वरः ।

महाशोकध्वजोऽशोक. कः[1] स्रष्टा पद्मविष्टर. । पद्मेशः पद्मसंभूतिः[2] पद्मनाभिरनुत्तरः[3] ॥१३३॥

पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्य.[4] स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो[5] जितजेयः[6] कृतक्रियः[7] ॥१३४॥

गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्य पुण्यो गणाग्रणी । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥१३५॥

गुणादरी गुणोच्छेदी[8] निर्गुण.[9] पुण्यगीर्गुण. । शरण्यः पुण्यवाक्पूतो वरेण्यः पुण्यनायक ॥१३६॥

कहते हैं ॥१३२॥ बड़ा भारी अशोकवृक्ष ही आपका चिह्न है इसलिए आप महाशोकध्वज ३०१ कहलाते है, शोकसे रहित होनेके कारण अशोक ३०२ कहलाते है, सबको सुख देनेवाले है इसलिए 'क' ३०३ कहलाते है, स्वर्ग और मोक्षके मार्गकी सृष्टि करते है इसलिए स्रष्टा ३०४ कहलाते हैं, आप कमलरूप आसनपर विराजमान है इसलिए पद्मविष्टर ३०५ कहलाते है, पद्मा अर्थात् लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिए पद्मेश ३०६ कहलाते हैं, विहारके समय देव लोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना कर देते है इसलिए आप पद्मसम्भूति ३०७ कहे जाते हैं, आपकी नाभि कमलके समान है इसलिए लोग आपको पद्मनाभि ३०८ कहते है तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नही है इसलिए आप अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥१३३॥ हे भगवन्, आपका यह शरीर माताके पद्माकार गर्भाशयमे उत्पन्न हुआ था इसलिए आप पद्मयोनि ३१० कहलाते हैं, धर्मरूप जगत्की उत्पत्तिके कारण होनेसे जगद्योनि ३११ है, भव्य जीव तपश्चरण आदिके द्वारा आपको ही प्राप्त करना चाहते है इसलिए आप इत्य ३१२ कहलाते हैं, इन्द्र आदि देवोंके द्वारा स्तुति करने योग्य हैं इसलिए स्तुत्य ३१३ कहलाते है, स्तुतियोंके स्वामी होनेसे स्तुतीश्वर ३१४ कहे जाते हैं, स्तवन करनेके योग्य है इसलिए स्तवनार्ह ३१५ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके ईश अर्थात् वश करनेवाले स्वामी है, इसलिए हृषीकेश ३१६ कहे जाते है, आपने जीतने योग्य समस्त मोहादि शत्रुओंको जीत लिया है इसलिए आप जितजेय ३१७ कहलाते हैं, और आप करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके है इसलिए कृतक्रिय ३१८ कहे जाते है ॥१३४॥ आप बारह सभारूप गणके स्वामी होनेसे गणाधिप ३१९ कहलाते हैं, समस्त गणोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण गणज्येष्ठ ३२० कहे जाते है, तीनों लोकोंमें आप ही गणना करनेके योग्य हैं इसलिए गण्य ३२१ कहलाते हैं, पवित्र हैं इसलिए पुण्य ३२२ हैं, समस्त सभामें स्थित जीवोंको कल्याणके मार्गमे आगे ले जानेवाले हैं इसलिए गणाग्रणी ३२३ कहलाते हैं, गुणोंकी खान हैं इसलिए गुणाकर ३२४ कहे जाते है, आप गुणोंके समूह है इसलिए गुणाम्भोधि ३२५ कहलाते है, आप गुणोंको जानते है इसलिए गुणज्ञ ३२६ कहे जाते हैं और गुणोंके स्वामी हैं इसलिए गणधर आपको गुणनायक ३२७ कहते है ॥१३५॥ गुणोंका आदर करते हैं इसलिए गुणादरी ३२८ कहलाते हैं, सत्त्व, रज, तम अथवा काम, क्रोध आदि वैभाविक गुणोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए आप गुणोच्छेदी ३२९ कहे जाते हैं, आप वैभाविक गुणोंसे रहित हैं इसलिए निर्गुण ३३० कहलाते है, पवित्र वाणीके धारक है इसलिए पुण्यगी ३३१ कहे जाते हैं, गुणोंसे युक्त हैं इसलिए गुण ३३२ कहलाते हैं, शरणमें आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाले है इसलिए

---

१. ब्रह्मा । २. पद्मानां सभूतिर्यस्मात् स । सप्तपुर पृष्ठतश्चेति प्रसिद्धेः । ३ न विद्यते उत्तर श्रेष्ठो यस्मात् । ४ गम्य. । ५. इन्द्रियस्वामी । स्ववशीकृतेन्द्रिय इत्यर्थ. । ६ जेतु योग्या. जेया, जिता जेया येनासौ । ७ कृतकृत्य । ८. इन्द्रियच्छेदी । मौर्वी (र्व्यं) प्रधानपारदेन्द्रियसूत्रसत्त्वादिमध्यादिहरितादिषु गुण इत्यभिधानात् । ९ अप्रधान. । आत्मन सकाशादन्य अप्रधानं प्रधानं न विद्यत इति यावत् ।

अगण्यः पुण्यधीर्गुण्यः पुण्यकृत् पुण्यशासनः । धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥१३७॥
पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वन्द्वो[1] निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥१३८॥
निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलङ्को निरस्तैना निर्धूतागा[2] निरास्रवः ॥१३९॥
विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभव । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभुत्[3] सुनयतत्त्ववित् ॥१४०॥

शरण्य ३३३ कहे जाते हैं, आपके वचन पवित्र हैं इसलिए पूतवाक् ३३४ कहलाते हैं, स्वयं पवित्र है इसलिए पूत ३३५ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ है इसलिए वरेण्य ३३६ कहलाते हैं और पुण्यके अधिपति हैं इसलिए पुण्यनायक ३३७ कहे जाते है ॥१३६॥ आपकी गणना नहीं हो सकती अर्थात् आप अपरिमित गुणोंके धारक है इसलिए अगण्य ३३८ कहलाते हैं, पवित्र बुद्धिके धारक होनेसे पुण्यधी ३३९ कहे जाते है, गुणोंसे सहित है इसलिए गुण्य ३४० कहलाते हैं, पुण्यको करनेवाले हैं इसलिए पुण्यकृत् ३४१ कहे जाते है, आपका शासन पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है इसलिए आप पुण्यशासन ३४२ माने जाते है, धर्मके उपवनस्वरूप होनेसे धर्माराम ३४३ कहे जाते है, आपमें अनेक गुणोंका ग्राम अर्थात् समूह पाया जाता है इसलिए आप गुणग्राम ३४४ कहलाते है, आपने शुद्धोपयोगमें लीन होकर पुण्य और पाप दोनोंका निरोध कर दिया है इसलिए आप पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥१३७॥ आप हिंसादि पापोंसे रहित है इसलिए पापापेत ३४६ माने गये है, आपकी आत्मासे समस्त पाप विगत हो गये हैं इसलिए आप विपापात्मा ३४७ कहे जाते है, आपने पापकर्म नष्ट कर दिये हैं इसलिए विपाप्मा ३४८ कहलाते हैं, आपके समस्त कल्मष अर्थात् राग-द्वेष आदि भाव कर्मरूपी मल नष्ट हो चुके है इसलिए वीतकल्मष ३४९ माने जाते हैं, परिग्रहरहित होनेसे निर्द्वन्द्व ३५० है, अहंकारसे रहित होनेके कारण निर्मद ३५१ कहलाते है, आपका मोह निकल चुका है, इसलिए आप निर्मोह ३५२ है और उपद्रव उपसर्ग आदिसे रहित हैं इसलिए निरुपद्रव ३५३ कहलाते है ॥१३८॥ आपके नेत्रोंके पलक नहीं झपते इसलिए आप निर्निमेष ३५४ कहलाते हैं, आप कवलाहार नही करते इसलिए निराहार ३५५ है, सांसारिक क्रियाओंसे रहित हैं इसलिए निष्क्रिय ३५६ है, बाधारहित हैं इसलिए निरुपप्लव ३५८ है, कलंकरहित होनेसे निष्कलंक ३५९ हैं, आपने समस्त एनस् अर्थात् पापोंको दूर हटा दिया है इसलिए निरस्तैना ३६० कहलाते है, समस्त अपराधोंको आपने दूर कर दिया है इसलिए निर्धूतागस् ३६१ कहे जाते है, और कर्मोंके आस्रवसे रहित होनेके कारण निरास्रव ३६२ कहलाते हैं ॥१३९॥ आप सबसे महान् है इसलिए विशाल ३६३ कहे जाते है, केवलज्ञानरूपी विशाल ज्योतिको धारण करनेवाले है इसलिए विपुलज्योति ३६४ माने जाते है, उपमारहित होनेसे अतुल ३६५ है, आपका वैभव अचिन्त्य है इसलिए अचिन्त्यवैभव ३६६ कहलाते है, आप नवीन कर्मोंका आस्रव रोककर पूर्ण संवर कर चुके हैं इसलिए सुसंवृत ३६७ कहलाते हैं, आपकी आत्मा अतिशय सुरक्षित है अथवा मनोगुप्ति आदि गुप्तियोंसे युक्त है इसलिए विद्वान् लोग आपको सुगुप्तात्मा ३६८ कहते हैं, आप समस्त पदार्थोंको अच्छी तरह जानते हैं इसलिए सुभुत् ३६९ कहलाते हैं और आप समीचीन नयोंके यथार्थ रहस्यको जानते हैं

१. निष्परिग्रहः । २ निर्धूताङ्गो– द० । ३ सुष्ठु ज्ञाता । सुभृत् इति पाठान्तरम् ।

एकविद्यो महाविद्यो मुनिः[1] परिवृढः पतिः। धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः ॥१४१॥
पिता पितामहः पाता[2] पवित्रः पावनो गतिः। त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥१४२॥
कविः[3] पुराणपुरुषो वर्षीयान्[4] वृषभः[5] पुरुः। प्रतिष्ठा[6]प्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥१४३॥

इति महादिशतम्।

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो[7] लक्षण्यः[8] शुभलक्षणः। निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥१४४॥

इसलिए सुनयतत्त्वविद् ३७० कहलाते हैं ॥१४०॥ आप केवलज्ञानरूपी एक विद्याको धारण करनेसे एकविद्य ३७१ कहलाते हैं, अनेक बड़ी-बड़ी विद्याएँ धारण करनेसे महाविद्य ३७२ कहे जाते हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि ३७३ हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए परिवृढ ३७४ कहलाते हैं, जगत्के जीवोंकी रक्षा करते हैं इसलिए पति ३७५ हैं, बुद्धिके स्वामी हैं इसलिए धीश ३७६ कहलाते हैं, विद्याओंके भण्डार हैं इसलिए विद्यानिधि ३७७ माने जाते हैं, समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं इसलिए साक्षी ३७८ कहलाते हैं, मोक्षमार्गको प्रकट करनेवाले हैं इसलिए विनेता ३७९ कहे जाते हैं और यमराज अर्थात् मृत्युको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए विहतान्तक ३८० कहलाते हैं ॥१४१॥ आप सब जीवोंकी नरकादि गतियोंसे रक्षा करते हैं इसलिए पिता ३८१ कहलाते हैं, सबके गुरु हैं इसलिए पितामह ३८२ कहे जाते हैं, सबका पालन करनेसे पाता ३८३ कहलाते हैं, अतिशय शुद्ध हैं इसलिए पवित्र ३८४ कहे जाते हैं, सबको शुद्ध या पवित्र करते हैं इसलिए पावन ३८५ माने जाते हैं, समस्त भव्य तपस्या करके आपके ही अनुरूप होना चाहते हैं इसलिए आप सबकी गति ३८६ अथवा खण्डाकार छेद निकालनेपर गतिरहित होनेसे अगति कहलाते हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे त्राता ३८७ कहलाते हैं, जन्म-जरा-मरणरूपी रोगको नष्ट करनेके लिए उत्तम वैद्य हैं इसलिए भिषग्वर ३८८ कहे जाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे वर्य ३८९ हैं, इच्छानुकूल पदार्थोंको प्रदान करते हैं इसलिए वरद ३९० कहलाते हैं, आपकी ज्ञानादि-लक्ष्मी अतिशय श्रेष्ठ है इसलिए परम ३९१ कहे जाते हैं, और आत्मा तथा पर पुरुषोंको पवित्र करनेके कारण पुमान् ३९२ कहलाते हैं ॥१४२॥ द्वादशांगका वर्णन करनेवाले हैं इसलिए कवि ३९३ कहलाते हैं, अनादिकाल होनेसे पुराणपुरुष ३९४ कहे जाते हैं, ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा अतिशय वृद्ध हैं इसलिए वर्षीयान् ३९५ कहलाते हैं, श्रेष्ठ होनेसे ऋषभ ३९६ कहलाते हैं, तीर्थंकरोंमें आदिपुरुष होनेसे पुरु ३९७ कहे जाते हैं, आप प्रतिष्ठा अर्थात् सम्मान अथवा स्थिरताके कारण हैं इसलिए प्रतिष्ठाप्रसव ३९८ कहलाते हैं, समस्त उत्तम कार्योंके कारण हैं इसलिए हेतु ३९९ कहे जाते हैं, और संसारके एकमात्र गुरु हैं इसलिए भुवनैकपितामह ४०० कहलाते हैं ॥१४३॥

श्रीवृक्षके चिह्नसे चिह्नित हैं इसलिए श्रीवृक्षलक्षण ४०१ कहे जाते हैं, सूक्ष्मरूप होनेसे श्लक्ष्ण ४०२ कहलाते हैं, लक्षणोंसे अनपेत अर्थात् सहित हैं इसलिए लक्षण्य ४०३ कहे जाते हैं, आपके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण विद्यमान हैं इसलिए शुभलक्षण ४०४ कहलाते हैं, आप समस्त पदार्थोंका निरीक्षण करनेवाले हैं अथवा आप नेत्रेन्द्रियके द्वारा दर्शन-क्रिया नहीं करते इसलिए निरीक्ष ४०५ कहलाते हैं, आपके नेत्र पुण्डरीककमलके समान सुन्दर हैं इसलिए

---

१. प्रत्यक्षज्ञानी। २. पालकः। ३. काव्यकर्ता। ४ वृद्धः। ५. ज्ञानी। ६ प्रतिष्ठायाः स्थैर्यस्य प्रसवो यस्मात्। ७. सूक्ष्मः। ८. लक्षणवान्।

सिद्धिद सिद्धसंकल्प सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो[1] महाबोधिर्वर्धमानो[2] महर्धिक ॥१४५॥
वेदाङ्गो [3]वेदविद् वेद्यो जातरूपो विदांवरः । [4]वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतां वरः ॥१४६॥
अनादिनिधनो व्यक्तो व्यक्तवाग् व्यक्तशासनः । युगादिकृद् युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥१४७॥
[5]अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो[6] धीन्द्रो [7]महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक् । अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥

आप पुण्डरीकाक्ष ४०६ कहलाते है, आत्म-गुणोंसे खूब ही परिपुष्ट हैं इसलिए पुष्कल ४०७ कहे जाते हैं और कमलदलके समान लम्बे नेत्रोंको धारण करनेवाले होनेसे पुष्करेक्षण ४०८ कहे जाते है ॥१४४॥ सिद्धिको देनेवाले हैं इसलिए सिद्धिद ४०९ कहलाते हैं, आपके सब संकल्प सिद्ध हो चुके हैं इसलिए सिद्धसंकल्प ४१० कहे जाते है, आपकी आत्मा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुकी है इसलिए सिद्धात्मा ४११ कहलाते है, आपको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी मोक्ष-साधन प्राप्त हो चुके हैं इसलिए आप सिद्धसाधन ४१२ कहलाते है, आपने जानने योग्य सब पदार्थोंको जान लिया है इसलिय बुद्धबोध्य ४१३ कहे जाते हैं, आपकी रत्नत्रयरूपी विभूति बहुत ही प्रशंसनीय है इसलिए आप महाबोधि ४१४ कहलाते हैं, आपके गुण उत्तरोत्तर बढ़ते रहते है इसलिए आप वर्धमान ४१५ हैं, और बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिए महर्द्धिक ४१६ कहलाते हैं ॥१४५॥ आप अनुयोगरूपी वेदोंके अंग अर्थात् कारण हैं इसलिए वेदांग ४१७ कहे जाते हैं, वेदको जाननेवाले हैं इसलिए वेदवित् ४१८ कहलाते हैं, ऋषियोंके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेद्य ४१९ कहे जाते है, आप दिगम्बररूप हैं इसलिए जातरूप ४२० कहे जाते है, जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए विदांवर ४२१ कहलाते हैं, आगम अथवा केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिए वेदवेद्य ४२२ कहे जाते हैं, अनुभवगम्य होनेसे स्वसंवेद्य ४२३ कहलाते हैं, आप तीन प्रकारके वेदोंसे रहित है इसलिए विवेद ४२४ कहे जाते हैं और वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वदतांवर ४२५ कहलाते है ॥ १४६ ॥ आदि-अन्तरहित होनेसे अनादिनिधन ४२६ कहे जाते है, ज्ञानके द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्त ४२७ कहलाते है, आपके वचन अतिशय स्पष्ट हैं इसलिए व्यक्तवाक् ४२८ कहे जाते हैं, आपका शासन अत्यन्त स्पष्ट या प्रकट है इसलिए आपको व्यक्तशासन ४२९ कहते हैं, कर्मभूमिरूपी युगके आदि व्यवस्थापक होनेसे आप युगादिकृत् ४३० कहलाते है, युगकी समस्त व्यवस्था करनेवाले हैं, इसलिए युगाधार ४३१ कहे जाते हैं, इस कर्मभूमिरूप युगका प्रारम्भ आपसे ही हुआ था इसलिए आप युगादि ४३२ माने जाते है और आप जगत्के प्रारम्भमें उत्पन्न हुए थे इसलिए जगदादिज ४३३ कहलाते हैं ॥१४७॥ आपने अपने प्रभाव या ऐश्वर्यसे इन्द्रोंको भी अतिक्रान्त कर दिया है इसलिए अतीन्द्र ४३४ कहे जाते हैं, इन्द्रियगोचर न होनेसे अतीन्द्रिय ४३५ हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीन्द्र ४३६ हैं, परम ऐश्वर्यका अनुभव करते हैं इसलिए महेन्द्र ४३७ कहलाते हैं, अतीन्द्रिय (सूक्ष्म–अन्तरित–दूरार्थ) पदार्थोंको देखनेवाले होनेसे अतीन्द्रियार्थदृक् ४३८ कहे जाते हैं, इन्द्रियोंसे रहित है इसलिए अनिन्द्रिय ४३९ कहलाते है, अहमिन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे अहमिन्द्रार्च्य ४४० कहे जाते है, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेसे महेन्द्रमहित ४४१

---

१. बोद्धुं योग्यो बोध्यः, बुद्धो बोध्यो येनासौ । २ वा विशेषेण ऋद्धं समृद्धं मानं प्रमाणं यस्य स. । ३. वेदज्ञापकः । ४. आगमेन ज्ञेय । ५. अतिशयेनेन्द्र. । ६. इन्द्रियज्ञानमतिक्रान्तः । ७. पूजाधिप ।

उद्भवः[1] कारणं कर्ता पारगो भवतारकः । अगाह्यो गहनं[2] गुह्यं[3] परार्ध्यः परमेश्वरः ॥१४९॥

अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः । [4]प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्रः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥१५०॥

महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥१५१॥

महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबलः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः[5] ॥१५२॥

कहलाते हैं और स्वयं सबसे बड़े हैं इसलिए महान् ४४२ कहे जाते हैं ॥१४८॥ आप समस्त संसारसे बहुत ऊँचे उठे हुए हैं अथवा आपका जन्म संसारमें सबसे उत्कृष्ट है इसलिए उद्भव ४४३ कहलाते है, मोक्षके कारण होनेसे कारण ४४४ कहे जाते हैं, शुद्ध भावोंको करते हैं इसलिए कर्ता ४४५ कहलाते हैं, संसाररूपी समुद्रके पारको प्राप्त होनेसे पारग ४४६ माने जाते है, आप भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाले है इसलिए भवतारक ४४७ कहलाते हैं, आप किसीके भी द्वारा अवगाहन करने योग्य नहीं हैं अर्थात् आपके गुणोंको कोई नहीं समझ सकता है इसलिए आप अगाह्य ४४८ कहे जाते हैं, आपका स्वरूप अतिशय गम्भीर या कठिन है इसलिए गहन ४४९ कहलाते हैं, गुप्तरूप होनेसे गुह्य ४५० हैं, सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण परार्ध्य ४५१ हैं और सबसे अधिक समर्थ होनेके कारण परमेश्वर ४५२ माने जाते हैं ॥१४९॥ आपकी ऋद्धियाँ अनन्त, अमेय और अचिन्त्य हैं इसलिए आप अनन्तर्द्धि ४५३, अमेयर्द्धि ४५४ और अचिन्त्यर्द्धि ४५५ कहलाते हैं, आपकी बुद्धि पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुई है इसलिए आप समग्रधी ४५६ हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य ४५७ हैं, प्रत्येक मांगलिक कार्योंमें सर्वप्रथम आपका स्मरण किया जाता है इसलिए प्राग्रहर ४५८ हैं, लोकका अग्रभाग प्राप्त करनेके सम्मुख हैं इसलिए अभ्यग्र ४५९ है, आप समस्त लोगोंसे विलक्षण–नूतन हैं इसलिए प्रत्यग्र ४६० कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं इसलिए अग्र्य ४६१ कहे जाते हैं, सबके अग्रेसर होनेसे अग्रिम ४६२ कहलाते है और सबसे ज्येष्ठ होनेके कारण अग्रज ४६३ कहे जाते हैं ॥१५०॥ आपने बड़ा कठिन तपश्चरण किया है इसलिए महातपा ४६४ कहलाते है, आपका बड़ा भारी तेज चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महातेजा ४६५ हैं, आपकी तपश्चर्याका उदर्क अर्थात् फल बड़ा भारी है इसलिए आप महोदर्क ४६६ कहलाते हैं, आपका ऐश्वर्य बड़ा भारी है इसलिए आप महोदय ४६७ माने जाते हैं, आपका बड़ा भारी यश चारों ओर फैल रहा है इसलिए आप महायशा ४६८ माने जाते हैं, आप विशाल तेज–प्रताप अथवा ज्ञानके धारक हैं इसलिए महाधामा ४६९ कहलाते हैं, आपकी शक्ति अपार है इसलिए विद्वान् लोग आपको महासत्त्व ४७० कहते हैं, और आपका धीरज महान् है इसलिए आप महाधृति ४७१ कहलाते हैं ॥१५१॥ आप कभी अधीर नहीं होते इसलिए महाधैर्य ४७२ कहे जाते हैं, अनन्त वीर्यके धारक होनेसे महावीर्य ४७३ कहलाते हैं, समवसरणरूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासम्पत् ४७४ माने जाते हैं, अत्यन्त बलवान् होनेसे महाबल ४७५ कहलाते हैं, बड़ी भारी शक्तिके धारक होनेसे महाशक्ति ४७६ माने जाते हैं, अतिशय कान्ति अथवा केवलज्ञानसे सहित होनेके कारण महाज्योति ४७७ कहलाते हैं, आपका वैभव अपार है इसलिए आपको महाभूति ४७८ कहते हैं और आपके शरीरकी द्युति बड़ी भारी है इसलिए आप महाद्युति ४७९

---

१. उद्गतसंसारः । २. दुष्प्रवेश्यः । ३. रहस्यम् । ४. प्राग्र्याद्यग्रजपर्यन्ताः श्रेष्ठार्थवाचकाः ।
५ महोदय –ल० ।

महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महादयः । महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥१५३॥

महामहा[1] महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥१५४॥

महामहपतिः[2] प्राप्तमहाकल्याणपञ्चकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥१५५॥

इति श्रीवृक्षादिशतम् ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानो[3] महादमः । महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः[4] ॥१५६॥

महाव्रतपतिर्मह्यो[5] महाकान्तिधरोऽधिपः । महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः[6] ॥१५७॥

[7]महाकारुणिको मन्ता[8] महामन्त्रो महायतिः । महानादो महाघोषो महेज्यो महसां पतिः ॥१५८॥

कहे जाते हैं ॥ १५२ ॥ अतिशय बुद्धिमान् हैं इसलिए महामति ४८० कहलाते हैं, अतिशय न्यायवान् हैं इसलिए महानीति ४८१ कहे जाते हैं, अतिशय क्षमावान् हैं इसलिए महाक्षान्ति ४८२ माने जाते हैं, अतिशय दयालु हैं इसलिए महादय ४८३ कहलाते हैं, अत्यन्त विवेकवान् होनेसे महाप्राज्ञ ४८४, अत्यन्त भाग्यशाली होनेसे महाभाग ४८५, अत्यन्त आनन्द होनेसे महानन्द ४८६ और सर्वश्रेष्ठ कवि होनेसे महाकवि ४८७ माने जाते हैं ॥१५३॥ अत्यन्त तेजस्वी होनेसे महामहा ४८८, विशाल कीर्तिके धारक होनेसे महाकीर्ति ४८९, अद्भुत कान्तिसे युक्त होनेके कारण महाकान्ति ४९०, उत्तुंग शरीरके होनेसे महावपु ४९१, बड़े दानी होनेसे महादान ४९२, केवलज्ञानी होनेसे महाज्ञान ४९३, बड़े ध्यानी होनेसे महायोग ४९४ और बड़े-बड़े गुणोंके धारक होनेसे महागुण ४९५ कहलाते हैं ॥१५४॥ आप अनेक बड़े-बड़े उत्सवोंके स्वामी हैं इसलिए महामहपति ४९६ कहलाते हैं, आपने गर्भ आदि पाँच महाकल्याणको प्राप्त किया है इसलिए प्राप्तमहाकल्याणपंचक ४९७ कहे जाते हैं, आप सबसे बड़े स्वामी हैं इसलिए महाप्रभु ४९८ कहलाते हैं, अशोकवृक्ष आदि आठ महाप्रातिहार्योंके स्वामी हैं इसलिए महाप्रातिहार्याधीश ४९९ कहे जाते हैं और आप सब देवोंके अधीश्वर हैं इसलिए महेश्वर ५०० कहलाते हैं ॥१५५॥

सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे महामुनि ५०१, वचनालापरहित होनेसे महामौनी ५०२, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यान ५०३, अतिशय जितेन्द्रिय होनेसे महादम ५०४, अतिशय समर्थ अथवा शान्त होनेसे महाक्षम ५०५, उत्तमशीलसे युक्त होनेके कारण महाशील ५०६ और तपश्चरणरूपी अग्निमें कर्मरूपी हविके होम करनेसे महायज्ञ ५०७ और अतिशय पूज्य होनेके कारण महामख ५०८ कहलाते हैं ॥१५६॥ पाँच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति ५०९, जगत्पूज्य होनेसे मह्य ५१०, विशाल कान्तिके धारक होनेसे महाकान्तिधर ५११, सबके स्वामी होनेसे अधिप ५१२, सब जीवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय ५१३, अपरिमित गुणोंके धारक होनेसे अमेय ५१४, मोक्षके उत्तमोत्तम उपायोंसे सहित होनेके कारण महोपाय ५१५ और तेजःस्वरूप होनेसे महोमय ५१६ कहलाते हैं ॥१५७॥ अत्यन्त दयालु होनेसे महाकारुणिक ५१७, सब पदार्थोंको जाननेसे मन्ता ५१८, अनेक मन्त्रोंके स्वामी होनेसे महामन्त्र ५१९, यतियोंमें श्रेष्ठ होनेसे महायति ५२०, गम्भीर दिव्यध्वनिके धारक होनेसे महानाद ५२१, दिव्यध्वनिका गम्भीर उच्चारण होनेके कारण महाघोष ५२२, बड़ी-बड़ी पूजाओंके अधिकारी होनेसे महेज्य ५२३ और समस्त तेज अथवा प्रतापके स्वामी होनेसे महसांपति ५२४ कहलाते

---

१. महातेजाः । २. महामहाख्यपूजापतिः । ३. –ध्यानी ल० । ४. महापूज. । ५. पूज्यः । ६. उत्कृष्टबोधः । ७. महाकरुणया चरतीति । ८. ज्ञाता ।

महाध्वरधरो[1] धुर्यो[2] महौदार्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसा धाम महर्षिर्महितोदयः ॥१५९॥
महाक्लेशाङ्कुशः शूरो[3] महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥१६०॥
महाभवाब्धिसन्तारी महामोहाद्रिसूदनः[4] । महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरः शमी ॥१६१॥
महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मा महाव्रतः । [5]महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥१६२॥
सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः । असङ्ख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥१६३॥
सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः[6] । दान्तात्मा[7] दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥१६४॥

है ॥१५८॥ ज्ञानरूपी विशाल यज्ञके धारक होनेसे महाध्वरधर ५२५, कर्मभूमिका समस्त भार सँभालने अथवा सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण धुर्य ५२६, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य ५२७, श्रेष्ठ वचनोंसे युक्त होनेके कारण महिष्ठवाक् ५२८, महान् आत्माके धारक होनेसे महात्मा ५२९, समस्त तेजके स्थान होनेसे महसांधाम ५३०, ऋषियोंमें प्रधान होनेसे महर्षि ५३१ और प्रशस्त जन्मके धारक होनेसे महितोदय ५३२ कहलाते हैं ॥१५९॥ बड़े-बड़े क्लेशोंको नष्ट करनेके लिए अंकुशके समान हैं इसलिए महाक्लेशांकुश ५३३ कहलाते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेमें शूर-वीर हैं इसलिए शूर ५३४ कहे जाते हैं, गणधर आदि बड़े-बड़े प्राणियोंके स्वामी हैं इसलिए महाभूतपति ५३५ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिए गुरु ५३६ कहलाते हैं, विशाल पराक्रमके धारक हैं इसलिए महापराक्रम ५३७ कहे जाते हैं, अन्तरहित होनेसे अनन्त ५३८ हैं, क्रोधके बड़े भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु ५३९ कहे जाते हैं और समस्त इन्द्रियोंको वश कर लेनेसे वशी ५४० कहलाते हैं ॥१६०॥ संसाररूपी महासमुद्रसे पार कर देनेके कारण महाभवाब्धिसन्तारी ५४१, मोहरूपी महाचलके भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन ५४२, सम्यग्दर्शन आदि बड़े-बड़े गुणोंकी खान होनेसे महागुणाकर ५४३, क्रोधादि कषायोंको जीत लेनेसे क्षान्त ५४४, बड़े-बड़े योगियों–मुनियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर ५४५ और अतिशय शान्त परिणामी होनेसे शमी ५४६ कहलाते हैं ॥१६१॥ शुक्लध्यानरूपी महाध्यानके स्वामी होनेसे महाध्यानपति ५४७, अहिंसारूपी महाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म ५४८, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत ५४९, कर्मरूपी महाशत्रुओंको नष्ट करनेसे महाकर्मारिहा ५५०, आत्मस्वरूपके जानकार होनेसे आत्मज्ञ ५५१, सब देवोंमें प्रधान होनेसे महादेव ५५२ और महान् सामर्थ्यसे सहित होनेके कारण महेशिता ५५३ कहलाते हैं ॥१६२॥ सब प्रकारके क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह ५५४, आत्मकल्याण सिद्ध करनेसे साधु ५५५, समस्त दोषोंको दूर करनेसे सर्वदोषहर ५५६, समस्त पापोंको नष्ट करनेके कारण हर ५५७, असंख्यात गुणोंको धारण करनेसे असंख्येय ५५८, अपरिमित शक्तिको धारण करनेसे अप्रमेयात्मा ५५९, शान्तस्वरूप होनेसे शमात्मा ५६० और उत्तम शान्तिकी खान होनेसे प्रशमाकर ५६१ कहलाते हैं ॥१६३॥ सब मुनियोंके स्वामी होनेसे सर्वयोगीश्वर ५६२, किसीके चिन्तवनमें न आनेसे अचिन्त्य ५६३, भावश्रुतरूप होनेसे श्रुतात्मा ५६४, तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा ५६५, मनको वश करनेसे दान्तात्मा ५६६, संयमरूप तीर्थके स्वामी होनेके कारण दमतीर्थेश ५६७, योगमय होनेसे योगात्मा ५६८ और

---

१. महायज्ञधारी । २ धुरन्धर । ३. गणधरचक्रधरादीनामीशः । ४ नाशक । ५ शत्रुघ्न । ६ विष्ट प्रवेशं राति ददातीति विष्टरं विष्टरं श्रवो ज्ञानं यस्य स । ७ शिक्षितात्मा ।

प्रधानमात्मा प्रकृतिःपरमः[1] परमोदयः । प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत् क्षेमशासनः ॥१६५॥

[2]प्रणवः प्रणतः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः[3] । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥१६६॥

आनन्दो नन्दनो[7] नन्दो[8] वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः[9] । कामहा[10] कामदः काम्यः कामधेनुररिंजयः ॥१६७॥

इति महामुन्यादिशतम् ।

[11]असंस्कृतसुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत्[12] । [13]अन्तकृत् कान्तगुः कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥१६८॥

अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥१६९॥

ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेके कारण ज्ञानसर्वग ५६९ कहलाते है ॥१६४॥ एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करने अथवा तीनों लोकोंमें प्रमुख होनेसे प्रधान ५७०, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा ५७१, प्रकृष्ट कार्योंके होनेसे प्रकृति ५७२, उत्कृष्ट लक्ष्मीके धारक होनेसे परम ५७३, उत्कृष्ट उदय अर्थात् जन्म या वैभवको धारण करनेसे परमोदय ५७४, कर्मबन्धनके क्षीण हो जानेसे प्रक्षीणबन्ध ५७५, कामदेव अथवा विषयाभिलाषाके शत्रु होनेसे कामारि ५७६, कल्याणकारी होनेसे क्षेमकृत् ५७७ और मंगलमय उपदेशके देनेसे क्षेमशासन ५७८ कहलाते है ॥१६५॥ ओंकाररूप होनेसे प्रणव ५७९, सबके द्वारा नमस्कृत होनेसे प्रणत ५८०, जगत्को जीवित रखनेसे प्राण ५८१, सब जीवोंके प्राणदाता अर्थात् रक्षक होनेसे प्राणद ५८२, नम्रीभूत भव्य जनोंके स्वामी होनेसे प्रणतेश्वर ५८३, प्रमाण अर्थात् ज्ञानमय होनेसे प्रमाण ५८४, अनन्तज्ञान आदि उत्कृष्ट निधियोंके स्वामी होनेसे प्रणिधि ५८५, समर्थ अथवा प्रवीण होनेसे दक्ष ५८६, सरल होनेसे दक्षिण ५८७, ज्ञानरूप यज्ञ करनेसे अध्वर्यु ५८८ और समीचीन मार्गके प्रदर्शक होनेसे अध्वर ५८९ कहलाते है ॥१६६॥ सदा सुखरूप होनेसे आनन्द ५९०, सबको आनन्द देनेसे नन्दन ५९१, सदा समृद्धिमान् होते रहनेसे नन्द ५९२, इन्द्र आदिके द्वारा वन्दना करने योग्य होनेसे वन्द्य ५९३, निन्दारहित होनेसे अनिन्द्य ५९४, प्रशंसनीय होनेसे अभिनन्दन ५९५, कामदेवको नष्ट करनेसे कामहा ५९६, अभिलषित पदार्थोंको देनेसे कामद ५९७, अत्यन्त मनोहर अथवा सबके द्वारा चाहनेके योग्य होनेसे काम्य ५९८, सबके मनोरथ पूर्ण करनेसे कामधेनु ५९९ और कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे अरिंजय ६०० कहलाते हैं ॥१६७॥

किसी अन्यके द्वारा संस्कृत हुए बिना ही उत्तम संस्कारोंको धारण करनेसे असंस्कृतसुसंस्कार ६०१, स्वाभाविक होनेसे प्राकृत ६०२, रागादि विकारोंका नाश करनेसे वैकृतान्तकृत ६०३, अन्त अर्थात् धर्म अथवा जन्ममरणरूप संसारका अवसान करनेवाले होनेसे अन्तकृत् ६०४, सुन्दर कान्ति, वचन अथवा इन्द्रियोंके धारक होनेसे कान्तगु ६०५, अत्यन्त सुन्दर होनेसे कान्त ६०६, इच्छित पदार्थ देनेसे चिन्तामणि ६०७ और भव्य-जीवोंके लिए अभीष्ट—स्वर्ग-मोक्षके देनेसे अभीष्टद ६०८ कहलाते है ॥१६८॥ किसीके द्वारा जीते नहीं जा सकनेके कारण अजित ६०९, कामरूप शत्रुको जीतनेसे जितकामारि ६१०, अवधिरहित होनेके कारण अमित ६११, अनुपम धर्मका उपदेश देनेसे अमितशासन ६१२, क्रोधको जीतनेसे जितक्रोध ६१३, शत्रुओंको जीत लेनेसे जितामित्र ६१४,

---

१ परा उत्कृष्टा मा लक्ष्मीर्यस्य स परम । २. ओंकार । ३. प्रकर्षेणानतानामीश्वर । प्रणतेश्वर - ब०, अ०, प०, स०, द०, ल०, इ० । ४. चार । ५. ऋजु । ६. होता । ७ नन्दयतीति नन्दन. । ८. वर्धमान । ९ अभिनन्दयतीति । १० काम हन्तीति । ११ असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो-ल० । १२. विकारस्य नाशकारी । १३. अन्तं नाशं कृततीति ।

जिनेन्द्र परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः । महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दन ॥१७०॥
नाभेयो नाभिजोऽजात सुव्रतो मनुरुत्तम. । अभेद्योऽनत्य[1]योऽनाश्वा[2]नधिकोऽधिगुरुः सुधीः[3] ॥१७१॥
सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो[4] निरुत्सुकः । विशिष्टः[5] शिष्टभुक्[6] शिष्ट. प्रत्यय. कामनो[7]ऽनघः ।१७२।
क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्य क्षेमधर्मपति· क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो[8] ध्यानगम्यो निरुत्तर ॥१७३॥
सुकृती धातु[9]रिज्यार्हं सुनयश्चतुरानन· । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुख ॥१७४॥

क्लेशोंको जीत लेनेसे जितक्लेश ६१५ और यमराजको जीत लेनेसे जितान्तक ६१६ कहे जाते है ॥१६९॥ कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवालोंमें श्रेष्ठ होनेसे जिनेन्द्र ६१७, उत्कृष्ट आनन्दके धारक होनेसे परमानन्द ६१८, मुनियोंके नाथ होनेसे मुनीन्द्र ६१९, दुन्दुभिके समान गम्भीर ध्वनिसे युक्त होनेके कारण दुन्दुभिस्वन ६२०, बड़े-बड़े इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय होनेसे महेन्द्रवन्द्य ६२१, योगियोंके स्वामी होनेसे योगीन्द्र ६२२, यतियोंके अधिपति होनेसे यतीन्द्र ६२३ और नाभि-महाराजके पुत्र होनेसे नाभिनन्दन ६२४ कहलाते हैं ॥१७०॥ नाभिराजाकी सन्तान होनेसे नाभेय ६२५, नाभिमहाराजसे उत्पन्न होनेके कारण नाभिज ६२६, द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा जन्मरहित होनेसे अजात ६२७, उत्तम व्रतोंके धारक होनेसे सुव्रत ६२८, कर्मभूमिकी समस्त व्यवस्था बताने अथवा मनन-ज्ञानरूप होनेसे मनु ६२९, उत्कृष्ट होनेसे उत्तम ६३०, किसीके द्वारा भेदन करने योग्य न होनेसे अभेद्य ६३१, विनाशरहित होनेसे अनत्यय ६३२, तपश्चरण करनेसे अनाश्वान् ६३३, सबमें श्रेष्ठ होने अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होनेसे अधिक ६३४, श्रेष्ठ गुरु होनेसे अधिगुरु ६३५ और उत्तम वचनोंके धारक होनेसे सुधी ६३६ कहलाते है ॥१७१॥ उत्तम बुद्धि होनेसे सुमेधा ६३७, पराक्रमी होनेसे विक्रमी ६३८, सबके अधिपति होनेसे स्वामी ६३९, किसीके द्वारा अनादर हिसा अथवा निवारण आदि नहीं किये जा सकनेके कारण दुराधर्ष ६४०, सासारिक विषयोंकी उत्कण्ठासे रहित होनेके कारण निरुत्सुक ६४१, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट ६४२, शिष्ट पुरुषोंका पालन करनेसे शिष्टभुक् ६४३, सदाचार-पूर्ण होनेसे शिष्ट ६४४, विश्वास अथवा ज्ञानरूप होनेसे प्रत्यय ६४५, मनोहर होनेसे कामन ६४६ और पापरहित होनेसे अनघ ६४७ कहलाते हैं ॥१७२॥ कल्याणसे युक्त होनेके कारण क्षेमी ६४८, भव्य जीवोंका कल्याण करनेसे क्षेमंकर ६४९, क्षयरहित होनेसे अक्षय ६५०, कल्याणकारी धर्मके स्वामी होनेसे क्षेमधर्मपति ६५१, क्षमासे युक्त होनेके कारण क्षमी ६५२, अल्पज्ञानियोंके ग्रहणमें न आनेसे अग्राह्य ६५३, सम्यग्ज्ञानके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य होनेसे ज्ञाननिग्राह्य ६५४, ध्यानके द्वारा जाने जा सकनेके कारण ज्ञानगम्य ६५५ और सबसे उत्कृष्ट होनेके कारण निरुत्तर ६५६ हैं ॥१७३॥ पुण्यवान् होनेसे सुकृती ६५७, शब्दोंके उत्पादक होनेसे धातु ६५८, पूजाके योग्य होनेसे इज्यार्ह ६५९, समीचीन नयोंसे सहित होनेके कारण सुनय ६६०, लक्ष्मीके निवास होनेसे श्रीनिवास ६६१ और समवसरणमें अतिशय विशेषसे चारों ओर मुख दिखनेके कारण चतुरानन ६६२, चतुर्वक्त्र ६६३, चतुरास्य ६६४ और चतुर्मुख ६६५ कहलाते हैं ॥१७४॥ सत्यस्वरूप होनेसे सत्यात्मा ६६६, यथार्थ विज्ञानसे सहित होनेके कारण

---

१ नाशरहित । 'दिष्टान्त प्रत्ययोऽत्यय' इत्यभिधानात् । २ अनशनव्रती । ३ सुगी ·ल०, इ०, अ०, प०, स० । ४. धृष्टः । ५. विशिष्यत इति । ६. शिष्टपालक । ७ कमनीय । ८ ज्ञानेन निश्चयेन ग्राह्य । ९. शब्दयोनि ।

सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः[1] सत्यः सत्यपरायणः ॥१७५॥
स्थेयान्[2] स्थवीयान्नेदीयान्[3][4] दवीयान्[5] दूरदर्शनः । अणोरणीयानणुर्गुरुराद्यो गरीयसाम् ॥१७६॥
सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥१७७॥
सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता[6] लोकाध्यक्षो दमीश्वरः ॥१७८॥

इति असंस्कृतादिशतम् ।

बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरां पतिः ॥१७९॥
नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः[7] कृतलक्षणः ॥१८०॥

सत्य विज्ञान ६६७, सत्यवचन होनेसे सत्यवाक् ६६८, सत्यधर्मका उपदेश देनेसे सत्यशासन ६६९, सत्य आशीर्वाद होनेसे सत्याशी ६७०, सत्यप्रतिज्ञ होनेसे सत्यसन्धान ६७१, सत्यरूप होनेसे सत्य ६७२ और सत्यमें ही निरन्तर तत्पर रहनेसे सत्यपरायण ६७३ कहलाते हैं ॥१७५॥ अत्यन्त स्थिर होनेसे स्थेयान् ६७४, अतिशय स्थूल होनेसे स्थवीयान् ६७५, भक्तोंके समीपवर्ती होनेसे नेदीयान् ६७६, पापोंसे दूर रहनेके कारण दवीयान् ६७७, दूरसे ही दर्शन होनेके कारण दूरदर्शन ६७८, परमाणुसे भी सूक्ष्म होनेके कारण अणोःअणीयान् ६७९, अणुरूप न होनेसे अनणु ६८० और गुरुओंमें भी श्रेष्ठ गुरु होनेसे गरीयसामाद्य* गुरु ६८१ कहलाते हैं ॥१७६॥ सदा योगरूप होनेसे सदायोग ६८२, सदा आनन्दके भोक्ता होनेसे सदाभोग ६८३, सदा सन्तुष्ट रहनेसे सदातृप्त ६८४, सदा कल्याणरूप रहनेसे सदा शिव ६८५, सदा ज्ञानरूप रहनेसे सदागति ६८६, सदा सुखरूप रहनेसे सदासौख्य ६८७, सदा केवलज्ञानरूपी विद्यासे युक्त होनेके कारण सदाविद्य ६८८ और सदा उदयरूप रहनेसे सदोदय ६८९ माने जाते हैं ॥१७७॥ उत्तमध्वनि होनेसे सुघोष ६९०, सुन्दर मुख होनेसे सुमुख ६९१, शान्तरूप होनेसे सौम्य ६९२, सब जीवोंको सुखदायी होनेसे सुखद ६९३, सबका हित करनेसे सुहित ६९४, उत्तम हृदय होनेसे सुहृत् ६९५, सुरक्षित अथवा मिथ्यादृष्टियोंके लिए गूढ़ होनेसे सुगुप्त ६९६, गुप्तियोंको धारण करनेसे गुप्तिभृत् ६९७, सबके रक्षक होनेसे गोप्ता ६९८, तीनों लोकोंका साक्षात्कार करनेसे लोकाध्यक्ष ६९९ और इन्द्रियविजयरूपी दमके स्वामी होनेसे दमेश्वर ७०० कहलाते हैं ॥१७८॥

इन्द्रोंके गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति ७०१, प्रशस्त वचनोंके धारक होनेसे वाग्मी ७०२, वचनोंके स्वामी होनेसे वाचस्पति ७०३, उत्कृष्ट बुद्धिके धारक होनेसे उदारधी ७०४, मनन शक्तिसे युक्त होनेके कारण मनीषी ७०५, चातुर्यपूर्ण बुद्धिसे सहित होनेके कारण धिषण ७०६, धारणपटु बुद्धिसे सहित होनेके कारण धीमान् ७०७, बुद्धिके स्वामी होनेसे शेमुषीश ७०८ और सब प्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे गिरांपति ७०९ कहलाते हैं ॥ १७९ ॥ अनेकरूप होनेसे नैकरूप ७१०, नयोंके द्वारा उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होनेसे नयोत्तुङ्ग ७११, अनेक गुणोंको धारण करनेसे नैकात्मा ७१२, वस्तुके अनेक धर्मोंका उपदेश देनेसे नैकधर्मकृत् ७१३, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय ७१४,

---

१. सत्यप्रतिज्ञ । २. स्थिरतरः । ३. स्थूलतरः । ४. समीपस्थः । ५. दूरस्थः । ६ रक्षक । ७. सम्पूर्णलक्षण. ।

*यहाँपर 'गरीयसामाद्य' और गरीयसां गुरु' इस प्रकार दो नाम भी निकलते हैं परन्तु इस पक्षमें ६२७ और ६२८ इन दो नामोंके स्थानमें 'जातसुव्रत' ऐसा एक नाम माना जाता है ।

ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः। पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥१८१॥

लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो द्रढीयानिन ईशिता। मनोहरो मनोज्ञाङ्गो[1] धीरो गम्भीरशासनः ॥१८२॥

धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः। धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥१८३॥

अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः। सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥१८४॥

सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः[2]। अलेपो निष्कलङ्कात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥१८५॥

वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः। प्रशान्तोऽनन्त[3]धामर्षिर्मङ्गलं[4] मलहानघः ॥१८६॥

तर्क-वितर्करहित स्वरूपसे युक्त होनेके कारण अप्रतर्क्यात्मा ७१५, समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ ७१६ और समस्त पदार्थोंका लक्षणस्वरूप बतलानेसे कृतलक्षण ७१७ कहलाते हैं ॥१८०॥ अन्तरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ ७१८, दयालुहृदय होनेसे दयागर्भ ७१९, रत्नत्रयसे युक्त होनेके कारण अथवा गर्भ कल्याणके समय रत्नमयी वृष्टि होनेसे रत्नगर्भ ७२०, देदीप्यमान होनेसे प्रभास्वर ७२१, कमलाकार गर्भाशयमें स्थित होनेके कारण पद्मगर्भ ७२२, ज्ञानके भीतर समस्त जगत्के प्रतिबिम्बित होनेसे जगद्गर्भ ७२३, गर्भवासके समय पृथिवीके सुवर्णमय हो जाने अथवा सुवर्णमय वृष्टि होनेसे हेमगर्भ ७२४ और सुन्दर दर्शन होनेसे सुदर्शन ७२५ कहलाते हैं ॥१८१॥ अन्तरंग तथा बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त होनेके कारण लक्ष्मीवान् ७२६, देवोंके स्वामी होनेसे त्रिदशाध्यक्ष ७२७, अत्यन्त दृढ़ होनेसे द्रढीयान् ७२८, सबके स्वामी होनेसे इन ७२९, सामर्थ्यशाली होनेसे ईशिता ७३०, भव्यजीवोंका मनहरण करनेसे मनोहर ७३१, सुन्दर अंगोंके धारक होनेसे मनोज्ञांग ७३२, धैर्यवान् होनेसे धीर ७३३ और शासनकी गम्भीरतासे गम्भीरशासन ७३४ कहलाते हैं ॥१८२॥ धर्मके स्तम्भरूप होनेसे धर्मयूप ७३५, दयारूप यज्ञके करनेवाले होनेसे दयायाग ७३६, धर्मरूपी रथकी चक्रधारा होनेसे धर्मनेमि ७३७, मुनियोंके स्वामी होनेसे मुनीश्वर ७३८, धर्मचक्ररूपी शस्त्रके धारक होनेसे धर्मचक्रायुध ७३९, आत्मगुणोंमें क्रीड़ा करनेसे देव ७४०, कर्मोंका नाश करनेसे कर्महा ७४१, और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण ७४२ कहलाते हैं ॥१८३॥ आपके वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते इसलिए अमोघवाक् ७४३, आपकी आज्ञा कभी निष्फल नहीं होती इसलिए अमोघाज्ञ ७४४, मलरहित हैं इसलिए निर्मल ७४५, आपका शासन सदा सफल रहता है इसलिए अमोघशासन ७४६, सुन्दर रूपके धारक हैं इसलिए सुरूप ७४७, उत्तम ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए सुभग ७४८, आपने पर पदार्थोंका त्याग कर दिया है इसलिए त्यागी ७४९, सिद्धान्त, समय अथवा आचार्यके ज्ञाता हैं इसलिए समयज्ञ ७५० और समाधानरूप हैं इसलिए समाहित ७५१ कहलाते हैं ॥१८४॥

सुखपूर्वक स्थित रहनेसे सुस्थित ७५२, आरोग्य अथवा आत्मस्वरूपकी निश्चलताको प्राप्त होनेसे स्वास्थ्यभाक् ७५३, आत्मस्वरूपमें स्थित होनेसे स्वस्थ ७५४, कर्मरूप रजसे रहित होनेके कारण नीरजस्क ७५५, सांसारिक उत्सवोंसे रहित होनेके कारण निरुद्धव ७५६, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेके कारण अलेप ७५७, कलंकरहित आत्मासे युक्त होनेके कारण निष्कलंकात्मा ७५८, राग आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण वीतराग ७५९ और सांसारिक विषयोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण गतस्पृह ७६० कहलाते हैं ॥१८५॥ आपने इन्द्रियोंको वश कर लिया है इसलिए वश्येन्द्रिय ७६१ कहलाते हैं, आपकी आत्मा कर्मबन्धनसे छूट गयी है

---

१. मनोज्ञार्हो– इ०। २ उत्कृष्टो भवः उद्भवः उद्भव निःक्रान्तो निरुद्भव। ३. अनन्ततेजाः। ४ मलं पापं हन्तीति।

अनीदृगुपमाभूतो दिष्टि[1] र्दैव[2] मगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्व[3]दृक् ॥१८७॥
अध्यात्मगम्यो गम्यात्मा योगविद् योगिवन्दितः । सर्वत्रगः सदाभावी[4] त्रिकालविषयार्थदृक् ॥१८८॥
शंकरः शंवदो दान्तो[6] दमी क्षान्तिपरायणः । अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञ परापरः[7] ॥१८९॥
त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥१९०॥

इति बृहदादिशतम् ।

इसलिए विमुक्तात्मा ७६२ कहे जाते हैं, आपका कोई भी शत्रु या प्रतिद्वन्द्वी नहीं है इसलिए निःसपत्न ७६३ कहलाते हैं, इन्द्रियोंको जीत लेनेसे जितेन्द्रिय ७६४ कहे जाते हैं, अत्यन्त शान्त होनेसे प्रशान्त ७६५ हैं, अनन्त तेजके धारक ऋषि होनेसे अनन्तधामर्षि ७६६ हैं, मंगलरूप होनेसे मंगल ७६७ हैं, मलको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए मलहा ७६८ कहलाते हैं और व्यसन अथवा दुःखसे रहित है इसलिए अनघ ७६९ कहे जाते है* ॥१८६॥ आपके समान अन्य कोई नही है इसलिए आप अनीदृक् ७७० कहलाते हैं, सबके लिए उपमा देने योग्य है इसलिए उपमाभूत ७७१ कहे जाते हैं, सब जीवोंके भाग्यस्वरूप होनेके कारण दिष्टि ७७२ और दैव ७७३ कहलाते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा जाने नहीं जा सकते अथवा केवलज्ञान होनेके बाद ही आप गो अर्थात् पृथिवीपर विहार नहीं करते किन्तु आकाशमें गमन करते हैं इसलिए अगोचर ७७४ कहे जाते है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे रहित होनेके कारण अमूर्त ७७५ हैं, शरीर-सहित हैं इसलिए मूर्तिमान् ७७६ कहलाते है, अद्वितीय हैं इसलिए एक ७७७ कहे जाते हैं, अनेक गुणोंसे सहित हैं इसलिए नैक ७७८ कहलाते है और आत्माको छोड़कर आप अन्य अनेक पदार्थोंको नहीं देखते–उनमें तल्लीन नहीं होते इसलिए नानैकतत्त्वदृक् ७७९ कहे जाते हैं ॥१८७॥ अध्यात्मशास्त्रोंके द्वारा जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य ७८०, मिथ्यादृष्टि जीवोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा ७८१, योगके जानकार होनेसे योगविद् ७८२, योगियोंके द्वारा वन्दना किये जानेसे योगिवन्दित ७८३, केवलज्ञानकी अपेक्षा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग ७८४, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी ७८५ और त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् ७८६ कहलाते हैं ॥१८८॥ सबको सुखके करने-वाले होनेसे शंकर ७८७, सुखके बतलानेवाले होनेसे शंवद ७८८, मनको वश करनेसे दान्त ७८९, इन्द्रियोंका दमन करनेसे दमी ७९०, क्षमा धारण करनेमे तत्पर होनेसे क्षान्तिपरायण ७९१, सबके स्वामी होनेसे अधिप ७९२, उत्कृष्ट आनन्दरूप होनेसे परमानन्द ७९३, उत्कृष्ट अथवा पर और निजकी आत्माको जाननेसे परात्मज्ञ ७९४ और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होनेके कारण परात्पर ७९५ कहलाते हैं ॥१८९॥ तीनों लोकोंके प्रिय अथवा स्वामी होनेसे त्रिजग-द्वल्लभ ७९६, पूजनीय होनेसे अभ्यर्च्य ७९७, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मंगलोदय ७९८, तीनों लोकोंके इन्द्रों-द्वारा पूजनीय चरणोंसे युक्त होनेके कारण त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रि ७९९ और कुछ समयके बाद तीनों लोकोंके अग्रभागपर चूड़ामणिके समान विराजमान होनेके कारण त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहलाते हैं ॥१९०॥ तीनों कालसम्बन्धी समस्त

---

१. प्रमाणानुपातिनी मति । २ स्तुत्यम् । ३ अनेकैकतत्त्वदर्शी । ४. ध्यानगोचरः । ५. नित्याभिप्राय-वान् । ६. दमित । ७ सार्वकालीन । परात्पर –ल० ।

*यद्यपि ६४७वाँ नाम भी अनघ है इसलिए ७६९ वाँ अनघ नाम पुनरुक्त-सा मालूम होता है, परन्तु अघ शब्दके 'अघं तु व्यसने दुःखे दुरिते च नपुंसकम्' अनेक अर्थ होनेसे पुनरुक्तिका दोष दूर हो जाता है ।

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैक[1]सारथिः ॥१९१॥
पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वाङ्गविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥१९२॥
युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः[2] कल्याणलक्षणः ॥१९३॥
कल्याणप्रकृतिर्दीप्र[3]कल्याणात्मा विकल्मषः । विकलङ्कः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥१९४॥
देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो[4] जगदग्रजः ॥१९५॥
चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः । सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ॥१९६॥

पदार्थोंको देखनेवाले हैं इसलिए त्रिकालदर्शी ८०१, लोकोंके स्वामी होनेसे लोकेश ८०२, समस्त लोगोंके पोषक था रक्षक होनेसे लोकधाता ८०३, व्रतोंको स्थिर रखनेसे दृढव्रत ८०४, सब लोकोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सर्वलोकातिग ८०५, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य ८०६ और सब लोगोंको मुख्यरूपसे अभीष्ट स्थान तक पहुँचानेमें समर्थ होनेसे सर्वलोकैकसारथि ८०७ कहलाते हैं ॥१९१॥ सबमें प्राचीन होनेसे पुराण ८०८, आत्माके श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त होनेसे पुरुष ८०९, सर्व प्रथम होनेसे पूर्व ८१०, अंग और पूर्वोंका विस्तार करनेसे कृतपूर्वांगविस्तर ८११, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव ८१२, पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य ८१३, महान् अथवा प्रथम तीर्थंकर होनेसे पुरुदेव ८१४ और देवोंके भी देव होनेसे अधिदेवता ८१५, कहलाते हैं ॥१९२॥ इस अवसर्पिणी युगके मुख्य पुरुष होनेसे युगमुख्य ८१६, इसी युगमें सबसे बड़े होनेसे युगज्येष्ठ ८१७ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमें तत्कालोचित मर्यादाके उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक ८१८, कल्याण अर्थात् सुवर्णके समान कान्तिके धारक होनेसे कल्याणवर्ण ८१९, कल्याणरूप होनेसे कल्याण ८२०, मोक्ष प्राप्त करनेमें सज्ज अर्थात् तत्पर अथवा निरामय-नीरोग होनेसे कल्य ८२१ और कल्याणकारी लक्षणोंसे युक्त होनेके कारण कल्याणलक्षण ८२२ कहलाते हैं ॥१९३॥ आपका स्वभाव कल्याणरूप है इसलिए आप कल्याण प्रकृति ८२३ कहलाते हैं, आपकी आत्मा देदीप्यमान सुवर्णके समान निर्मल है इसलिए आप दीप्रकल्याणात्मा ८२४ कहे जाते हैं, कर्मकालिमासे रहित हैं इसलिए विकल्मष ८२५ कहलाते हैं, कलंकरहित हैं इसलिए विकलङ्क ८२६ कहे जाते हैं, शरीररहित हैं इसलिए कलातीत ८२७ कहलाते हैं, पापोंको नष्ट करनेवाले हैं इसलिए कलिलघ्न ८२८ कहे जाते हैं, और अनेक कलाओंको धारण करनेवाले हैं इसलिए कलाधर ८२९ माने जाते हैं ॥१९४॥ देवोंके देव होनेसे देवदेव ८३०, जगत्के स्वामी होनेसे जगन्नाथ ८३१, जगत्के भाई होनेसे जगद्बन्धु ८३२, जगत्के स्वामी होनेसे जगद्विभु ८३३, जगत्का हित चाहनेवाले होनेसे जगद्धितैषी ८३४, लोकको जाननेसे लोकज्ञ ८३५, सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वग ८३६ और जगत्में सबसे ज्येष्ठ होनेके कारण जगदग्रज ८३७ कहलाते हैं ॥१९५॥ चर, स्थावर सभीके गुरु होनेसे चराचरगुरु ८३८, बड़ी सावधानीके साथ हृदयमें सुरक्षित रखनेसे गोप्य ८३९, गूढ स्वरूपके धारक होनेसे गूढात्मा ८४०, अत्यन्त गूढ विषयोंको जाननेसे गूढगोचर ८४१, तत्कालमें उत्पन्न हुएके समान निर्विकार होनेसे सद्योजात ८४२, प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा ८४३ और जलती हुई अग्निके समान शरीरकी

१ सर्वलोकस्य एक एव नेता । २ प्रशस्त । ३. दीप्तकल्याणात्मा ल० । ४. सर्वेशो- इ० । जगदग्रज द०, ब०, इ० । ५ गूढेन्द्रिय. ।

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥१९७॥

तपनीयनिभस्तुङ्गो बालार्काभोऽनलप्रभः[1] । सन्ध्याभ्रबभ्रुर्[2]हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः ॥१९८॥

निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥१९९॥

द्युम्नाभो जातरूपाभस्तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥२००॥

शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥२०१॥

शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः[3] शिवप्रदः । शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान्कामितप्रदः २०२

[4]श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः[5] । सुस्थिरः स्थावरः स्थास्नु[6] प्रथीयान्[7] प्रथितः पृथुः ॥२०३॥

इति त्रिकालदर्शादिशतम् ।

प्रभाके धारक होनेसे ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ८४४ कहलाते हैं ॥१९६॥ सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण ८४५, सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे भर्माभ ८४६, उत्तमप्रभासे युक्त होनेके कारण सुप्रभ ८४७, सुवर्णके समान आभा होनेसे कनकप्रभ ८४८, सुवर्णवर्ण ८४९ और रुक्माभ ८५० तथा करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान प्रभाके धारक होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ ८५१ कहे जाते हैं ॥१९७॥ सुवर्णके समान भास्वर होनेसे तपनीयनिभ ८५२, ऊँचा शरीर होनेसे तुंग ८५३, प्रातःकालके सूर्यके समान बालप्रभाके धारक होनेसे बालार्काभ ८५४, अग्निके समान कान्तिवाले होनेसे अनलप्रभ ८५५, संध्याकालके बादलोंके समान सुन्दर होनेसे सन्ध्याभ्रबभ्रु ८५६, सुवर्णके समान आभावाले होनेसे हेमाभ ८५७ और तपाये हुए सुवर्णके समान प्रभासे युक्त होनेके कारण तप्तचामीकरप्रभ ८५८ कहलाते हैं ॥१९८॥ अत्यन्त तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाले होनेसे निष्टप्तकनकच्छाय ८५९, देदीप्यमान सुवर्णके समान उज्ज्वल होनेसे कनत्कांचनसन्निभ ८६० तथा सुवर्णके समान वर्ण होनेसे हिरण्यवर्ण ८६१, स्वर्णाभ ८६२, शातकुम्भनिभप्रभ ८६३, द्युम्नाभ ८६४, जातरूपाभ ८६५, तप्तजाम्बूनदद्युति ८६६, सुधौतकलधौतश्री ८६७ और हाटकद्युति ८६८ तथा देदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त ८६९ कहलाते हैं ॥१९९–२००॥ शिष्ट अर्थात् उत्तम पुरुषोंके इष्ट होनेसे शिष्टेष्ट ८७०, पुष्टिको देनेवाले होनेसे पुष्टिद ८७१, बलवान् होनेसे अथवा लाभान्तराय कर्मके क्षयसे प्रत्येक समय प्राप्त होनेवाले अनन्त शुभ पद्गलवर्गणाओंसे परमौदारिक शरीरके पुष्ट होनेसे पुष्ट ८७२, प्रकट दिखाई देनेसे स्पष्ट ८७३, स्पष्ट अक्षर होनेसे स्पष्टाक्षर ८७४, समर्थ होनेसे क्षम ८७५, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न ८७६, शत्रुरहित होनेसे अप्रतिघ ८७७, सफल होनेसे अमोघ ८७८, उत्तम उपदेशक होनेसे प्रशास्ता ८७९, रक्षक होनेसे शासिता ८८० और अपने आप उत्पन्न होनेसे स्वभू ८८१ कहलाते हैं ॥२०१॥ शान्त होनेसे शान्तिनिष्ठ ८८२, मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ ८८३, कल्याण परम्पराके प्राप्त होनेसे शिवताति ८८४, कल्याण अथवा मोक्ष प्रदान करनेसे शिवप्रद ८८५, शान्तिको देनेवाले होनेसे शान्तिद ८८६, शान्तिके कर्ता होनेसे शान्तिकृत् ८८७, शान्तस्वरूप होनेसे शान्ति ८८८, कान्तियुक्त होनेसे कान्तिमान् ८८९ और इच्छित पदार्थ प्रदान करनेसे कामितप्रद ८९० कहलाते हैं ॥२०२॥ कल्याणके भण्डार होनेसे श्रेयोनिधि ८९१, धर्मके आधार होनेसे अधिष्ठान ८९२, अन्यकृत प्रतिष्ठासे रहित होनेके कारण अप्रतिष्ठ ८९३, प्रतिष्ठा अर्थात् कीर्तिसे युक्त होनेके कारण प्रतिष्ठित ८९४, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थिर ८९५, समवसरणमें गमनरहित होनेसे स्थावर ८९६, अचल होनेसे स्थाणु ८९७,

१. सन्ध्याकालमेघवत् पिङ्गलः । २. कनकप्रभः । ३. सुखपरम्परः । ४. श्रेयोनिधि अ०, ल०, स० । ५. स्थैर्यवान् । ६. सुस्थित. द०, ल०, अ०, प०, इ० । स्थाणु. ल०, अ० । ७. अतिशयेन पृथु. ।

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः । निष्किञ्चनो निराशंसो[1] ज्ञानचक्षुरमोमुहः[2] ॥२०४॥
तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः[3] ॥२०५॥
जगच्चूडामणिर्दीप्तः शवान्[4] विघ्नविनायकः[5] । कलिघ्नः[6] कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥२०६॥
अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः[7] प्रमामयः[8] । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥२०७॥
मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशान्तरसशैलूषो[9] भव्यपेटकनायकः[10] ॥२०८॥
मूलकर्ताखिल[11]ज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणम् । आप्तो वागीश्वरः श्रेयान् श्रायसोक्ति[12]र्निरुक्तवाक् ॥२०९॥

अत्यन्त विस्तृत होनेसे प्रथीयान् ८९८, प्रसिद्ध होनेसे प्रथित ८९९ और ज्ञानादि गुणोंकी अपेक्षा महान् होनेसे पृथु ९०० कहलाते हैं ॥२०३॥

दिशारूप वस्त्रोंको धारण करने-दिगम्बर रहनेसे दिग्वासा ९०१, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन ९०२, निर्ग्रन्थ मुनियोंके स्वामी होनेसे निर्ग्रन्थेश ९०३, वस्त्ररहित होनेसे निरम्बर ९०४, परिग्रहरहित होनेसे निष्किञ्चन ९०५, इच्छारहित होनेसे निराशंस ९०६, ज्ञानरूपी नेत्रके धारक होनेसे ज्ञानचक्षु ९०७ और मोहसे रहित होनेके कारण अमोमुह ९०८ कहलाते हे ॥२०४॥ तेजके समूह होनेसे तेजोराशि ९०९, अनन्त प्रतापके धारक होनेसे अनन्तौज ९१०, ज्ञानके समुद्र होनेसे ज्ञानाब्धि ९११, शीलके समुद्र होनेसे शीलसागर ९१२, तेजःस्वरूप होनेसे तेजोमय ९१३, अपरिमित ज्योतिके धारक होनेसे अमितज्योति ९१४, भास्वर शरीर होनेसे ज्योतिर्मूर्ति ९१५ और अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले होनेसे तमोऽपह ९१६ कहलाते है ॥२०५॥ तीनों लोकोंमें मस्तकके रत्नके समान अतिशय श्रेष्ठ होनेसे जगच्चूडामणि ९१७, देदीप्यमान होनेसे दीप्त ९१८, सुखी अथवा शान्त होनेसे शवान् ९१९, विघ्नोंके नाशक होनेसे विघ्नविनायक ९२०, कलह अथवा पापोंको नष्ट करनेसे कलिघ्न ९२१, कर्मरूप शत्रुओंके घातक होनेसे कर्मशत्रुघ्न ९२२ और लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेसे लोकालोकप्रकाशक ९२३ कहलाते है ॥ २०६ ॥ निद्रा रहित होनेसे अनिन्द्रालु ९२४, तन्द्रा—आलस्यरहित होनेसे अतन्द्रालु ९२५, सदा जागृत रहनेसे जागरूक ९२६, ज्ञानमय रहनेसे प्रमामय ९२७, अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति ९२८, जगत्को प्रकाशित करनेसे जगज्ज्योति ९२९, अहिंसा धर्मके राजा होनेसे धर्मराज ९३० और प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित ९३१ कहलाते हैं ॥२०७॥ मोक्षके इच्छुक होनेसे मुमुक्षु ९३२, बन्ध और मोक्षका स्वरूप जाननेसे बन्ध मोक्षज्ञ ९३३, इन्द्रियोंको जीतनेसे जिताक्ष ९३४, कामको जीतनेसे जितमन्मथ ९३५, अत्यन्त शान्तरूपी रसको प्रदर्शित करनेके लिए नटके समान होनेसे प्रशान्तरसशैलूष ९३६ और भव्यसमूहके स्वामी होनेसे भव्यपेटकनायक ९३७ कहलाते है ॥२०८॥ धर्मके आद्यवक्ता होनेसे मूलकर्ता ९३८, समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेसे अखिलज्योति ९३९, कर्ममलको नष्ट करनेसे मलघ्न ९४०, मोक्ष-मार्गके मुख्य कारण होनेसे मूलकारण ९४१, यथार्थवक्ता होनेसे आप्त ९४२, वचनोंके स्वामी होनेसे वागीश्वर ९४३, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान् ९४४, कल्याणरूप वाणीके होनेसे श्रायसोक्ति ९४५ और सार्थकवचन होनेसे निरुक्तवाक् ९४६ कहलाते है ॥२०९॥ श्रेष्ठ वक्ता होनेसे

---

१ निराश । २ मृश निर्मोहः । ३ आदित्य । ४ श सुखमस्त्यस्येति । ५ अन्तरायनाशन । ६ दोषघ्न । ७ जागरणशील । ८ ज्ञानमय । ९ उपशान्तरसनर्तक । १०. समूह । ११ जगज्ज्योति । १२ प्रशस्तवाक् ।

प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥२१०॥
श्रीश श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयङ्करः । उत्सन्न[1]दोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥२११॥
लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥२१२॥
प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः । भदन्तो[2] भद्रकृ[3]द्भद्रः[4] कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥२१३॥
समुन्मीलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशु[5]शुक्षणिः । कर्मण्यः[6] कर्मठः[7] प्रांशु[8]र्हेयादेयविचक्षणः ॥२१४॥
अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारि[9]स्त्रिलोचनः[10] । त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥२१५॥

प्रवक्ता ६४७, वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश ६४८, कामदेवको जीतनेके कारण मारजित् ६४६, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विश्वभाववित् ६५०, उत्तम शरीरसे युक्त होनेके कारण सुतनु ६५१, शीघ्र ही शरीर बन्धनसे रहित हो मोक्षकी प्राप्ति होनेसे तनुनिर्मुक्त ६५२, प्रशस्त विहायोगति नामकर्मके उदयसे आकाशमें उत्तम गमन करने, आत्मस्वरूपमें तल्लीन होने अथवा उत्तमज्ञानमय होनेसे सुगत ६५३ और मिथ्यानयोंको नष्ट करनेसे हतदुर्नय ६५४ कहलाते हैं ॥२१०॥ लक्ष्मीके ईश्वर होनेसे श्रीश ६५५ कहलाते हैं, लक्ष्मी आपके चरण-कमलोंकी सेवा करती है इसलिए श्रीश्रितपादाब्ज ६५६ कहे जाते हैं, भयरहित हैं इसलिए वीतभी ६५७ कहलाते हैं, दूसरोंका भय नष्ट करनेवाले हैं इसलिए अभयंकर ६५८ माने जाते हैं, समस्त दोषोंको नष्ट कर दिया है इसलिए उत्सन्नदोष ६५६ कहलाते हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न ९६०, स्थिर होनेसे निश्चल ९६१ और लोगोंके स्नेहपात्र होनेसे लोक-वत्सल ९६२ कहलाते हैं ॥२११॥ समस्त लोगोंमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर ९६३, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति ९६४, समस्त पुरुषोंके नेत्रस्वरूप होनेसे लोकचक्षु ९६५, अपरिमित बुद्धिके धारक होनेसे अपारधी ९६६, सदा स्थिर बुद्धिके धारक होनेसे धीरधी ९६७, समीचीन मार्गको जान लेनेसे बुद्धसन्मार्ग ९६८, कर्ममलसे रहित होनेके कारण शुद्ध ९६९ और सत्य तथा पवित्र वचन बोलनेसे सत्यसूनृतवाक् ६७० कहलाते हैं ॥२१२॥ बुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होनेसे प्रज्ञापारमित ९७१, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ ६७२, विषय कषायोंसे उपरत होनेके कारण यति ६७३, इन्द्रियोंको वश करनेसे नियमितेन्द्रिय ६७४, पूज्य होनेसे भदन्त ६७५, सब जीवोंका भला करनेसे भद्रकृत् ६७६, कल्याणरूप होनेसे भद्र ६७७, मनचाही वस्तुओंका दाता होनेसे कल्पवृक्ष ६७८ और इच्छित वर प्रदान करनेसे वरप्रद ६७६ कहलाते हैं ॥२१३॥ कर्मरूप शत्रुओंको उखाड़ देनेसे समुन्मूलितकर्मारि ६८०, कर्मरूप ईंधनको जलानेके लिए अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठाशुशुक्षणि ६८१, कार्य करनेमें निपुण होनेसे कर्मण्य ६८२, समर्थ होनेसे कर्मठ ६८३, उत्कृष्ट अथवा उन्नत होनेसे प्रांशु ६८४ और छोड़ने तथा ग्रहण करने योग्य पदार्थोंके जाननेमें विद्वान् होनेसे हेयादेयविचक्षण ६८५ कहलाते हैं ॥२१४॥ अनन्तशक्तियोंके धारक होनेसे अनन्तशक्ति ६८६, किसीके द्वारा छिन्न-भिन्न करने योग्य न होनेसे अच्छेद्य ६८७, जन्म, जरा और मरण इन तीनोंका नाश करनेसे त्रिपुरारि ६८८, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके जाननेसे त्रिलोचन ६८९, त्रिनेत्र ६६०, त्र्यम्बक ६६१ और त्र्यक्ष ६६२ तथा केवलज्ञानरूप नेत्रसे सहित होनेके कारण केवलज्ञानवीक्षण ६६३ कहलाते हैं ॥२१५॥

---

१. निरस्तदोषः । २. पूज्य । ३. सुखकर. । ४ शोभनः । ५. कर्मेन्धनकृशानु । ६ कर्मणि साधु । ७. कर्मशूर. । ८ उन्नत । ९. जन्मजरामरणत्रिपुरहर । १०. त्रिकालविषयावबोधात् त्रिलोचनः ।

समन्तभद्रः[1] शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः । सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥२१६॥
शुभंयुः[2] सुखसाद्भूतः[3] पुण्यराशि[4]रनामयः । धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥२१७॥

इति दिग्वासाद्यष्टोत्तरशतम्

धाम्नां पते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः । समुच्चितान्यनुध्यायन् पुमान् [5]पूतस्मृतिर्भवेत् ॥२१८॥
गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः । स्तोता तथाप्यसन्दिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत् ॥२१९॥
त्वमतोऽसि जगद्बन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् । त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥२२०॥
त्वमेकं जगतां ज्योतिस्त्वं [6]द्विरूपोपयोगभाक् । त्वं [7]त्रिरूपैकमुक्त्यङ्गः स्वोत्थानन्तचतुष्टयः ॥२२१॥
त्वं [8]पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा पञ्चकल्याणनायकः । [9]षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥२२२॥
[10]दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः । दशावतार[11]निर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥२२३॥
युष्मन्नामावलीदृब्ध[12]विलसत्स्तोत्रमालया । भवन्तं परिवस्यामः[13] प्रसीदानुगृहाण नः ॥२२४॥

सब ओरसे मंगलरूप होनेके कारण समन्तभद्र ९९४, कर्मरूप शत्रुओंके शान्त हो जानेसे शान्तारि ९९५, धर्मके व्यवस्थापक होनेसे धर्माचार्य ९९६, दयाके भण्डार होनेसे दयानिधि ९९७, सूक्ष्म पदार्थोंको भी देखनेसे सूक्ष्मदर्शी ९९८, कामदेवको जीत लेनेसे जितानङ्ग ९९९, कृपायुक्त होनेसे कृपालु १००० और धर्मके उपदेशक होनेसे धर्मदेशक १००१ कहलाते हैं ॥२१६॥ शुभयुक्त होनेसे शुभंयु १००२, सुखके अधीन होनेसे सुखसाद्भूत १००३, पुण्यके समूह होनेसे पुण्यराशि १००४, रोगरहित होनेसे अनामय १००५, धर्मकी रक्षा करनेसे धर्मपाल १००६, जगत्की रक्षा करनेसे जगत्पाल १००७ और धर्मरूपी साम्राज्यके स्वामी होनेसे धर्मसाम्राज्यनायक १००८ कहलाते हैं ॥२१७॥

हे तेजके अधिपति जिनेन्द्रदेव, आगमके ज्ञाता विद्वानोंने आपके ये एक हजार आठ नाम संचित किये हैं, जो पुरुष आपके इन नामोंका ध्यान करता है उसकी स्मरणशक्ति अत्यन्त पवित्र हो जाती है ॥ २१८ ॥ हे प्रभो, यद्यपि आप इन नामसूचक वचनोंके गोचर हैं तथापि वचनोंके अगोचर ही माने गये हैं, यह सब कुछ है परन्तु स्तुति करनेवाला आपसे निःसन्देह अभीष्ट फलको पा लेता है ॥२१९॥ इसलिए हे भगवन्, आप ही इस जगत्के बन्धु हैं, आप ही जगत्के वैद्य हैं, आप ही जगत्का पोषण करनेवाले हैं और आप ही जगत्का हित करनेवाले हैं ॥२२०॥ हे नाथ, जगत्को प्रकाशित करनेवाले आप एक ही है। ज्ञान तथा दर्शन इस प्रकार द्विविध उपयोगके धारक होनेसे दो रूप हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस प्रकार त्रिविध मोक्षमार्गमय होनेसे तीन रूप हैं, अपने-आपमें उत्पन्न हुए अनन्तचतुष्टयरूप होनेसे चार रूप है ॥२२१॥ पंचपरमेष्ठी स्वरूप होने अथवा गर्भादि पंच कल्याणकोंके नायक होनेसे पाँच रूप हैं, जीव-पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंके ज्ञाता होनेसे छह रूप हैं, नैगम आदि सात नयोंके संग्रहस्वरूप होनेसे सात रूप हैं, सम्यक्त्व आदि आठ अलौकिक गुणरूप होनेसे आठ रूप हैं, नौ केवललब्धियोंसे सहित होनेके कारण नव रूप हैं और महाबल आदि दस अवतारोंसे आपका निर्धार होना है इसलिए दस रूप हैं इस प्रकार हे परमेश्वर, संसारके दुःखोंसे मेरी रक्षा कीजिए ॥२२२-२२३॥

---

१. समन्तात् मङ्गलः । २. शुभं युनक्तीति । ३. सुखाधीनः । ४. पुण्यराशिर्निरामयः । ५. पवित्रज्ञानी । ६ ज्ञानदर्शनोपयोग । ७ रत्नत्रयस्वरूप । ८. पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपः । ९ षड्द्रव्यस्वरूपज्ञ । १०. सम्यक्त्वाद्यष्टगुणमूर्तिः । अथवा पृथिव्याद्यष्टगुणमूर्ति । ११. महाबलादिपुरुजिनपर्यन्तदशावतार । १२. रचित । १३. आराधयामः ।

इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः । यः संपाठं पठत्येनं स स्यात् कल्याणभाजनम् ॥२२५॥
ततः सदेदं पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधीः । पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं परमामभिलाषुकः ॥२२६॥
स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुम् । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात् प्रस्तावनामिमाम्[1] ॥२२७॥
भगवन् भव्यसस्यानां [2]पापावग्रहशोषिणाम् । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि[3] शरणं विभो ॥२२८॥
भव्यसार्थाधिपप्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधनम् ॥२२९॥
निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥२३०॥
इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयं भर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥२३१॥
अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत् पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहं कर्तुमुत्तस्थे[4] जिनभानुमान् ॥२३२॥
मोक्षाधिरोहनिःश्रेणीभूतच्छत्रत्रयोद्धुरः[5] । यशःक्षीरोदफेनाभसितचामरवीजितः ॥२३३॥
ध्वनन्मधुरगम्भीरधीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकोटिप्रतिस्पर्धिप्रभावलयभास्वरः ॥२३४॥
[6]मरुत्प्रहतगम्भीरध्वनद्दुन्दुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षार्चितक्रमः ॥२३५॥

हे भगवन्, हम लोग आपकी नामावलीसे बने हुए स्तोत्रोंकी मालासे आपकी पूजा करते है, आप प्रसन्न होइए, और हम सबको अनुगृहीत कीजिए ॥२२४॥ भक्त लोग इस स्तोत्रका स्मरण करने मात्रसे ही पवित्र हो जाते है और जो इस पुण्य पाठका पाठ करते हैं वे कल्याणके पात्र होते हैं ॥२२५॥ इसलिए जो बुद्धिमान् पुरुष पुण्यकी इच्छा रखते हैं अथवा इन्द्रकी परम विभूति प्राप्त करना चाहते हे वे सदा ही इस स्तोत्रका पाठ करें ॥२२६॥ इस प्रकार इन्द्रने चर और अचर जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी स्तुति कर फिर तीर्थ विहारके लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थना की ॥२२७॥ हे भगवन्, भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टिसे सूख रहे हैं सो हे विभो, उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनके लिए आप ही शरण होइए ॥२२८॥ हे भव्य जीवोंके समूहके स्वामी, हे फहराती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित, जिनेन्द्रदेव, आपकी विजयके उद्योगको सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ॥२२९॥ हे भगवन्, मोक्षमार्गको रोकनेवाली मोहकी सेनाको नष्ट कर चुकनेके बाद अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्गके उपदेश देनेका समय प्राप्त हुआ है ॥२३०॥ इस प्रकार जिन्होंने समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जान लिया है और जो स्वयं ही विहार करना चाहते हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके सामने इन्द्रके वचन पुनरुक्त हुए-से प्रकट हुए थे। भावार्थ–उस समय भगवान् स्वयं ही विहार करनेके लिए तत्पर थे इसलिए इन्द्र-द्वारा की हुई प्रार्थना व्यर्थ सी मालूम होती थी ॥२३१॥

अथानन्तर–जो तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं और तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति ही जिनका सारथि–सहायक हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवरूपी सूर्य भव्य जीवरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेके लिए तैयार हुए ॥२३२॥ जो मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिए सीढियोंके समान छत्र-त्रयसे सुशोभित हो रहे हैं, जिनपर क्षीरसमुद्रके फेनके समान सुशोभित चमर ढोले जा रहे हैं, मधुर, गम्भीर, धीर तथा दिव्य महाध्वनिसे जिनका शरीर शब्दायमान हो रहा है, जो करोड़ों सूर्योंसे स्पर्धा करनेवाले भामण्डलसे देदीप्यमान हो रहे है, जिनके समीप ही देव-ताओंके द्वारा बजाये हुए दुन्दुभि गम्भीर शब्द कर रहे हैं, जो स्वामी हैं, देवसमूहके हाथोंसे छोड़ी हुई पुष्पवर्षासे जिनके चरण-कमलोंकी पूजा हो रही है, जो मेरु पर्वतके शिखरके समान अतिशय ऊँचे सिंहासनके स्वामी हैं, छाया और फलसहित अशोकवृक्षसे जिनकी

---

१ अवसरम् । २. अनावृष्ट्या इत्यर्थः । 'वृष्टिवर्षं तद्विघातेऽवग्रहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । ३. 'अस भुवि' भव । ४ उदोनूर्ध्वकर्मणीति तङ्, तद्युक्तोऽभूत् । ५. उत्कट. । ६. सुरताड्यमान ।

मेरुश्रृङ्गसमुत्तुङ्गसिंहविष्टरनायकः । सच्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टितः ॥२३६॥
धूलिसालवृतास्थानजगतीपरिमण्डलः । मानस्तम्भनिरुद्धान्यकुदृष्टिमदविभ्रमः ॥२३७॥
स्वच्छाम्भःखातिकाभ्यर्ण[1]व्रततीवनवेष्टिताम् । सभाभूमिमलंकुर्वन्नपूर्वविभवोदयाम् ॥२३८॥
समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारवलयैस्त्रिभिः । परार्ध्यरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥२३९॥
अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायसभावनिः । स्रग्वस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहूतजगज्जनः ॥२४०॥
[2]कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्तामरपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिष्ठकिंनरोद्गीतसद्यशाः ॥२४१॥
ज्वलन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयेद्धर्द्धिसंवर्धितजनोत्सवः ॥२४२॥
धूपामोदितदिग्भागमहागन्धकुटीश्वरः । त्रिविष्टप[3]पतिप्राज्यपूजार्हः परमेश्वरः ॥२४३॥
त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥२४४॥
ततो भगवदुद्योगसमये समुपेयुषि । प्रचेलुः प्रचलन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥२४५॥
तदा संभ्रान्तनाकीन्द्रतिरीटोच्चलिता भुवम् । जगन्नीराजयामासुः मणयो दिग्जये विभोः ॥२४६॥
जयत्युच्चैर्गिरो देवाः प्रोर्णुवाना[4] नभोऽङ्गणम् । दिशां मुखानि तेजोभिर्द्योतयन्तः प्रतस्थिरे ॥२४७॥
जिनोद्योगमहावात्या[5]क्षुभिता देवनायकाः । चतुर्निकायाश्चत्वारो महाब्धय इवाभवन् ॥२४८॥
प्रतस्थे भगवानित्थमनुयातः सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कन्दन् भानुमानिव ॥२४९॥

शान्त चेष्टाएँ प्रकट हो रही हैं, जिनके समवसरणकी पृथिवीका घेरा धूली-साल नामक कोटसे घिरा हुआ है, जिन्होंने मानस्तम्भोंके द्वारा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके अहंकार तथा सन्देहको नष्ट कर दिया है, जो स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखाके समीपवर्ती लतावनोंसे घिरी हुई और अपूर्व वैभवसे सम्पन्न सभाभूमिको अलंकृत कर रहे हैं, समस्त गोपुरद्वारोंसे उन्नत और उत्कृष्ट रचनासे सहित तीन कोटोंसे जिनका बड़ा भारी माहात्म्य प्रकट हो रहा है, जिनकी सभाभूमिमें अशोकादि वनसमूहसे सघन छाया हो रही है, जो माला वस्त्र आदिसे चिह्नित ध्वजाओंकी फड़कनसे जगत्के समस्त जीवोंको बुलाते हुए-से जान पड़ते हैं, कल्पवृक्षोंके वनकी छायामें विश्राम करनेवाले देव लोग सदा जिनकी पूजा किया करते हैं, बड़े-बड़े महलोंसे घिरी हुई भूमिमें स्थित किन्नरदेव जोर-जोरसे जिनका यश गा रहे हैं, प्रकाशमान और बड़ी भारी विभूतिको धारण करनेवाले स्तूपोंसे जिनका वैभव प्रकट हो रहा है, दोनों नाट्यशालाओंकी बढ़ी हुई ऋद्धियोंसे जो मनुष्योंका उत्सव बढ़ा रहे हैं, जो धूपकी सुगन्धिसे दशों दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली बड़ी भारी गन्धकुटीके स्वामी हैं, जो इन्द्रोंके द्वारा की हुई बड़ी भारी पूजाके योग्य हैं, तीनों जगत्के स्वामी हैं और धर्मके अधिपति हैं, ऐसे श्रीमान् आदिपुरुष भगवान् वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग किया–विहार करना प्रारम्भ किया ॥२३३–२४४॥ तदनन्तर भगवान्के विहारका समय आनेपर जिनके मुकुटोंके अग्रभाग हिल रहे हैं ऐसे करोड़ों देव लोग इधर-उधर चलने लगे ॥२४५॥ भगवान्के उस दिग्विजयके समय घबराये हुए इन्द्रोंके मुकुटोंसे विचलित हुए मणि ऐसे जान पड़ते थे मानो जगत्की आरती ही कर रहे हों ॥२४६॥ उस समय जय-जय इस प्रकार जोर-जोरसे शब्द करते हुए, आकाशरूपी आँगनको व्याप्त करते हुए और अपने तेजसे दिशाओंके मुखको प्रकाशित करते हुए देव लोग चल रहे थे ॥२४७॥ उस समय इन्द्रोंसहित चारों निकायके देव जिनेन्द्र भगवान्के विहाररूपी महावायुसे क्षोभको प्राप्त हुए चार महासागरके समान जान पड़ते थे ॥२४८॥ इस प्रकार सुर और असुरोंसे सहित भगवान्ने सूर्यके समान इच्छा

---

१ लतावन । २. वृक्ष–ल० । ३. इन्द्रादिकृताद्भ्र. । ४ आच्छादयन्त । ५. महावायुसमूहः ।

अर्धमागधिकाकारभाषापरिण[1]ताखिलः । त्रिजगज्जनतामैत्रीसंपादितगुणाद्भुतः ॥२५०॥
स्वसंनिधानसंफुल्लफलिताङ्कुरितद्रुमः । आदर्शमण्डलाकारपरि[2]वर्तितभूतलः ॥२५१॥
सुगन्धिशिशिरानुच्चै[3]रनुयायिसमीरणः । [4]अकस्माज्जनतानन्दसंपादिपरमोदयः ॥२५२॥
मरुत्कुमार[5]संमृष्टयोजनान्तररम्यभूः । [6]स्तनितामरसंसिक्तगन्धाम्बुविरजोवनिः ॥२५३॥
मृदुस्पर्शसुखाम्भोजविन्यस्तपदपङ्कजः । शालिव्रीह्यादिसंपन्नवसुधासूचितागमः ॥२५४॥
[7]शरत्सरोवरस्पर्धिव्योमोदाहृत[8]संनिधिः । ककुबन्तरवैमल्यसंदर्शितसमागमः ॥२५५॥
सुर[9]परस्पराह्वानध्वानरुद्धहरिन्मुखः[10] । सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुरःसरः ॥२५६॥
[11]पुरस्कृताष्टमाङ्गल्यध्वजमालाततांम्बरः । सुरासुरानुयातोऽभूद्[12] [13]विजिहीर्षुस्तदा विभुः ॥२५७॥
तदा मधुरगम्भीरो जजृम्भे दुन्दुभिध्वनिः । नभः समन्तादापूर्य क्षुभ्यदब्धिस्वनोपमः ॥२५८॥
ववृषुः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोङ्गणम् । सुरा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्य[14]विधायिनीम् ॥२५९॥
समन्ततः स्फुरन्ति स्म [15]पालिकेतनकोटयः । आह्वातुमिव भव्यौघानेतैतेति[16] मरुद्धताः ॥२६०॥

रहित वृत्तिको धारण कर प्रस्थान किया ॥२४९॥ जिन्होंने अर्धमागधी भाषामें जगत्के समस्त जीवोंको कल्याणका उपदेश दिया था जो तीनों जगत्के लोगोंमें मित्रता कराने रूप गुणोंसे सबको आश्चर्यमें डालते हैं, जिन्होंने अपनी समीपतासे वृक्षोंको फूल फल और अंकुरोंसे व्याप्त कर दिया है, जिन्होंने पृथिवीमण्डलको दर्पणके आकारमें परिवर्तित कर दिया है, जिनके साथ सुगन्धित शीतल तथा मन्द-मन्द वायु चल रही है, जो अपने उत्कृष्ट वैभवसे अकस्मात् ही जन-समुदायको आनन्द पहुँचा रहे हैं, जिनके (विहार कालमें) ठहरनेके स्थानसे एक योजन तककी भूमिको पवनकुमार जातिके देव झाड़-बुहारकर अत्यन्त सुन्दर रखते हैं, जिनके विहारयोग्य भूमिको मेघकुमार जातिके देव सुगन्धित जलकी वर्षा कर धूलि-रहित कर देते हैं, जो कोमल स्पर्शसे सुख देनेके लिए कमलोंपर अपने चरण-कमल रखते हैं, शालि व्रीहि आदिसे सम्पन्न अवस्थाको प्राप्त हुई पृथिवी जिनके आगमनकी सूचना देती है, शरदृतुके सरोवरके साथ स्पर्धा करनेवाला आकाश जिनके समीप आनेकी सूचना दे रहा है, दिशाओंके अन्तरालकी निर्मलतासे जिनके समागमकी सूचना प्राप्त हो रही है, देवोंके परस्पर एक दूसरेको बुलानेके लिए प्रयुक्त हुए शब्दोंसे जिन्होंने दिशाओंके मुख व्याप्त कर दिये हैं, जिनके आगे हजार अरवाला देदीप्यमान धर्मचक्र चल रहा है, जिनके आगे-आगे चलते हुए अष्ट मंगलद्रव्य तथा आगे-आगे फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाश व्याप्त हो रहा है और जिनके पीछे अनेक सुर तथा असुर चल रहे हैं ऐसे विहार करनेके इच्छुक भगवान् उस समय बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥२५०-२५७॥ उस समय क्षुब्ध होते हुए समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशको चारों ओरसे व्याप्त कर दुन्दुभि बाजोंका मधुर तथा गम्भीर शब्द हो रहा था ॥२५८॥ देव लोग भव्य जीवरूपी भ्रमरोंको आनन्द करनेवाली तथा आकाशरूपी आँगनको पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥२५९॥ जिनके वस्त्र वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोड़ों ध्वजाएँ चारों ओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो 'इधर आओ इधर आओ' इस प्रकार भव्य जीवोंके समूहको बुला ही रही हों

---

१. परिणमितसर्वजीव । २. परिणमित । ३. मन्दं मन्दम् । ४. कारणमन्तरेण । ५. वायुकुमार-सम्मार्जित । ६ मेघकुमार । ७. शरत्कालसरोवर । ८ उदाहरणीकृतसंनिधिः । ९ अमर । १० दिङ्मुखः । ११. अष्टमंगल । १२–यातोऽभाद्-ब०, प०, ल०, स०, द०, इ०, ल० । १३ विहर्तुमिच्छुः । १४. प्रसन्न-चित्तवृत्तिम् । १५. ध्वज । १६ आगच्छताऽऽगच्छतेति ।

तर्जयन्निव कर्मारीनूर्जस्वी रुद्धदिङ्मुखः । ढंकार एष ढक्कानामभून्प्रतिपदं विभो ॥२६१॥
नभोरङ्गे नटन्ति स्म प्रोल्लसद्भ्रूपताकिकाः । सुराङ्गना विलिम्पन्त्य स्वदेहप्रभया दिशः ॥२६२॥
विबुधाः पेठुरुत्साहात् किन्नरा मधुरं जगुः । वीणावादनमातेनुर्गन्धर्वाः सहखेचरैः ॥२६३॥
प्रभामयमिवाशेषं जगत्कर्तुं समुद्यताः । प्रतस्थिरे सुराधीशा ज्वलन्मुकुटकोटयः ॥२६४॥
दिशः प्रसेदुरुन्मुक्तधूलिका[1] प्रमदादिव । बभ्राजे धृतवैमल्यमनभ्रं[2] वर्त्म वार्मुचाम् ॥२६५॥
परिनिष्पन्नशाल्यादिसस्यसम्पन्मही तदा । उद्भूतहर्षरोमाञ्चा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥२६६॥
ववुः सुरभयो वाताः स्वर्धुनीशीकरस्पृशः । आकीर्णपङ्कजरजःपटवासपटावृताः[3] ॥२६७॥
मही समतला रेजे सम्मुखीन[4]तलोज्ज्वला । सुरगन्धाम्बुभिः सिक्ता स्नातेव विरजाः सती ॥२६८॥
अकालकुसुमोद्भेदं दर्शयन्ति स्म पादपाः । ऋतुभिः सममागत्य संरुद्धाः[5] साध्वसादिव ॥२६९॥
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं गव्यूतीनां[6] चतुःशती । भेजे भूर्जिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ॥२७०॥
अकस्मात् प्राणिनो भेजुः प्रमदस्य परम्पराम् । तेनुः [7]परस्परां मैत्रीं बन्धु[8]भूयमिवाश्रिताः ॥२७१॥
मकरन्दरजोवर्षि प्रत्यग्रोद्भिन्नकेसरम् । विचित्ररत्ननिर्माणकर्णिकं विलसद्दलम् ॥२७२॥

॥२६०॥ भगवानके विहारकालमें पद-पदपर समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाला और ऊँचा जो भेरियोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो–उन्हें धौंस ही दिखला रहा हो ॥२६१॥ जिनकी भौंहरूपी पताकाएँ उड़ रही हैं ऐसी देवांगनाएँ अपने शरीरकी प्रभासे दिशाओंको लुप्त करती हुई आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रही थीं ॥२६२॥ देव लोग बड़े उत्साहके साथ पुण्य-पाठ पढ़ रहे थे, किन्नरजातिके देव मनोहर आवाजसे गा रहे थे और गन्धर्व विद्याधरोंके साथ मिलकर वीणा बजा रहे थे ॥२६३॥ जिनके मुकुटोंके अग्रभाग देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इन्द्र समस्त जगत्को प्रभामय करनेके लिए तत्पर हुएके समान भगवान्के इधर-उधर चल रहे थे ॥२६४॥ उस समय समस्त दिशाएँ मानो आनन्दसे ही धूमरहित हो निर्मल हो गयी थीं और मेघरहित आकाश अतिशय निर्मलताको धारण कर सुशोभित हो रहा था ॥२६५॥ भगवान्के विहारके समय पके हुए शालि आदि धान्योंसे सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वामीका लाभ होनेसे उसे हर्षके रोमांच ही उठ आये हों ॥२६६॥ जो आकाशगंगाके जलकणोंका स्पर्श कर रही थी और जो कमलोंके पराग-रजसे मिली हुई होनेसे सुगन्धित वस्त्रोंसे ढकी हुई-सी जान पड़ती थी ऐसी सुगन्धित वायु बह रही थी ॥२६७॥ उस समय पृथ्वी भी दर्पणतलके समान उज्ज्वल तथा समतल हो गयी थी, देवोंने उसपर सुगन्धित जलकी वर्षा की थी जिससे वह धूलिरहित होकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो रजोधर्मसे रहित तथा स्नान की हुई पतिव्रता स्त्री ही हो ॥ २६८ ॥ वृक्ष भी असमयमें फूलोंके उद्भेदको दिखला रहे थे अर्थात् वृक्षोंपर बिना समयके ही पुष्प आ गये थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सब ऋतुओंने भयसे एक साथ आकर ही उनका आलिंगन किया हो ॥२६९॥ भगवान्के माहात्म्यसे चार सौ कोश पृथ्वी तक सुभिक्ष था, सब प्रकारका कल्याण था, आरोग्य था और पृथिवी प्राणियोंकी हिंसासे रहित हो गयी थी ॥२७०॥ समस्त प्राणी अचानक आनन्दकी परम्पराको प्राप्त हो रहे थे और भाईपनेको प्राप्त हुएके समान परस्परकी मित्रता बढ़ा रहे थे ॥२७१॥ जो मकरन्द और परागकी वर्षा कर रहा है, जिसमें नवीन केशर उत्पन्न हुई है, जिसकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है,

१ भूमिकाः–ल०, द०, ज० । २. निर्मेघम् । ३ गन्धचूर्ण एव पटवासस्तेनावृता । ४. दर्पणतल । ५ आवृता । ६ क्रोशानाम् । ७. पारम्परीम् । ८. बन्धुत्वम् ।

भगवच्चरणन्यासप्रदेशेऽधिनभःस्थलम् । मृदुस्पर्शमुदारश्रि पङ्कजं हैममुद्बभौ ॥२७३॥
पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्माः सप्त विकासिनः । प्रादुर्बभूवुरुद्गन्धिसान्द्रकिञ्जल्करेणवः ॥२७४॥
तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यन्तेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावसथ[1]सौधानि संचारीणीव खाङ्गणे ॥२७५॥
हेमाम्भोजमयीं श्रेणीमलिश्रेणिभिरन्विताम् । सुरा [2]व्यरचयन्नेनां सुरराजनिदेशतः ॥२७६॥
रेजे राजीवराजी[3] सा [4]जिनपत्पङ्कजोन्मुखी । [5]आदित्सुरिव [6]तत्कान्तिमतिरेकादधःस्रुताम् ॥२७७॥
ततिर्विहारपद्मानां जिनस्योपाङ्घ्रि सा बभौ । नभःसरसि संफुल्ला त्रिपञ्चककृतप्रमा ॥२७८॥
तदा हेमाम्बुजैर्व्योम समन्तादाततं बभौ । सरोवरमिवोत्फुल्लपङ्कजं जिनदिग्जये ॥२७९॥
प्रमोदमयमातन्वन्निति विश्वं जगत्पतिः । विजहार महीं कृत्स्नां प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः ॥२८०॥
मिथ्यान्धकारघटनां विघटय्य वचोंऽशुभिः । जगदुद्योतयामास जिनार्को जनतार्तिहृत् ॥२८१॥
[7]यतो विजह्रे भगवान् हैमाब्जन्यस्तसत्क्रमः । धर्मामृताम्बुसंवर्षैस्ततो[8] भव्या धृतिं दधुः ॥२८२॥
जिने घन[9] इवाभ्यर्णे धर्मवर्षं प्रवर्षति । जगत्सुखप्रवाहेण पुप्लुवे[10] धृतनिर्वृतिः[11] ॥२८३॥
धर्मवारि जिनाम्भोदात्पायं[12] पायं कृतस्पृहाः । चिरं धृततृषो[13] दधुस्तदानीं भव्यचातकाः ॥२८४॥

जिसके दल अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिसका स्पर्श कोमल है और जो उत्कृष्ट शोभासे सहित है ऐसा सुवर्णमय कमलोंका समूह आकाशतलमें भगवान्‌के चरण रखनेकी जगहमें सुशोभित हो रहा था ॥२७२-२७३॥ जिनकी केसरके रेणु उत्कृष्ट सुगन्धिसे सान्द्र हैं ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवान्‌के आगे प्रकट हुए थे और सात पीछे ॥२७४॥ इसी प्रकार और कमल भी उन कमलोंके समीपमें सुशोभित हो रहे थे, और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आकाशरूपी आँगनमें चलते हुए लक्ष्मीके रहनेके भवन ही हों ॥२७५॥ भ्रमरोंकी पङ्क्तियोंसे सहित इन सुवर्णमय कमलोंकी पङ्क्तिको देवलोग इन्द्रकी आज्ञासे बना रहे थे ॥२७६॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणकमलोंके सम्मुख हुई वह कमलोंकी पङ्क्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अधिकताके कारण नीचेकी ओर बहती हुई उनके चरणकमलोंकी कान्ति ही प्राप्त करना चाहते हों ॥२७७॥ आकाशरूपी सरोवरमें जिनेन्द्रभगवान्‌के चरणोंके समीप प्रफुल्लित हुई वह विहार कमलोंकी पङ्क्ति पन्द्रहके वर्ग प्रमाण अर्थात् २२५ कमलोंकी थी ॥२७८॥ उस समय, भगवान्‌के दिग्विजयके कालमें सुवर्णमय कमलोंसे चारों ओरसे व्याप्त हुआ आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसमें कमल फूल रहे हैं ऐसा सरोवर ही हो ॥२७९॥ इस प्रकार समस्त जगत्‌के स्वामी भगवान् वृषभदेवने जगत्‌को आनन्दमय करते हुए तथा अपने वचनरूपी अमृतसे सबको सन्तुष्ट करते हुए समस्त पृथिवीपर विहार किया था ॥२८०॥ जनसमूहकी पीड़ा हरनेवाले जिनेन्द्ररूपी सूर्यने वचनरूपी किरणोंके द्वारा मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट कर समस्त जगत् प्रकाशित किया था ॥२८१॥ सुवर्णमय कमलोंपर पैर रखनेवाले भगवान्‌ने जहाँ-जहाँसे विहार किया वहीं-वहींके भव्योंने धर्मामृतरूप जलकी वर्षासे परम सन्तोष धारण किया था ॥२८२॥ जिस समय वे जिनेन्द्ररूपी मेघ समीपमें धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करते थे उस समय यह सारा संसार सन्तोष धारण कर सुखके प्रवाहसे प्लुत हो जाता था—सुखके प्रवाहमें डूब जाता था ॥२८३॥ उस समय अत्यन्त लालायित हुए भव्य जीवरूपी चातक जिनेन्द्ररूपी मेघसे धर्मरूपी जलको बार-बार पी

---

१. निवासहर्म्याणि । २. रचयन्ति स्म । ३. पङ्क्तिः । ४. जिनपादकमलोन्मुखी । ५. आदातुमिच्छुः । ६. पदकमलकान्तिम् । ७. यस्मिन् । ८. तस्मिन् । ९. मेघ इव । १०. मज्जति स्म । ११. धृतसुखम् । १२. पीत्वा पीत्वा । १३. धृतिमाययुः ।

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं चराचरगुरुर्जगदुज्जिहीर्षन्[1]

संसारखञ्ज[2]ननिमग्नमभग्नवृत्तिः ।

देवासुरैरनुगतो विजहार पृथ्वीं

हेमाब्जगर्भविनिवेशितपादपद्मः ॥२८५॥

तीव्राजवञ्जवदवानलदह्यमान-

माह्लादयन् भुवनकाननमस्ततापः ।

धर्मामृताम्बुपृषतैः[3] परिषिच्य देवो

रेजे घनागम इवोदितदिव्यनादः ॥२८६॥

काशीमवन्तिकुरुकोसलसुह्मपुण्ड्रान्

[4]चेद्यङ्गवङ्गमगधान्ध्रकलिङ्गमद्रान् ।

पाञ्चालमालवदशार्णविदर्भदेशान्

सन्मार्गदेशनपरो विजहार धीरः ॥२८७॥

देवः प्रशान्तचरितः[5] शनकैर्विहृत्य

देशान् बहूनिति विबोधितभव्यसत्त्वः ।

भेजे जगत्त्रयगुरुर्विधुवीध्र[6]मुच्चैः

कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं[7] दधानम् ॥२८८॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तस्याग्रे सुरनिर्मिते सुरुचिरे श्रीमत्सभामण्डले

पूर्वोक्ताखिलवर्णना[8] परिगते स्वर्गश्रियं तन्वति ।

श्रीमान् द्वादशभिर्गणैः परिवृतो भक्त्या नतैः सादरैः

आसामास[9] विभुर्जिनः प्रविलसत्सत्प्रातिहार्याष्टकः ॥२८९॥

कर चिरकालके लिए सन्तुष्ट हो गये थे ॥२८४॥ इस प्रकार जो चर और अचर जीवोंके स्वामी हैं, जो संसाररूपी गर्तमें डूबे हुए जीवोंका उद्धार करना चाहते हैं, जिनकी वृत्ति अखण्डित है, देव और असुर जिनके साथ हैं तथा जो सुवर्णमय कमलोंके मध्यमें चरण-कमल रखते हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने समस्त पृथ्वीमें विहार किया ॥२८५॥ उस समय, संसाररूपी तीव्र दावानलसे जलते हुए संसाररूपी वनको धर्मामृतरूप जलके छींटोंसे सींचकर जिन्होंने सबका सन्ताप दूर कर दिया है और जिनके दिव्यध्वनि प्रकट हो रही है ऐसे वे भगवान् वृषभदेव ठीक वर्षाऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२८६॥ समीचीन मार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीर-वीर भगवान्‌ने काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि देशोंमें विहार किया था ॥२८७॥ इस प्रकार जिनका चरित्र अत्यन्त शान्त है, जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको तत्त्वज्ञान प्राप्त कराया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव अनेक देशोंमें विहार कर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल, ऊँचे और अपना अनुकरण करनेवाले कैलास पर्वतको प्राप्त हुए ॥२८८॥ वहाँ उसके अग्रभागपर देवोंके द्वारा बनाये हुए, सुन्दर, पूर्वोक्त समस्त वर्णनसे सहित और स्वर्गकी शोभा बढानेवाले सभामण्डपमें विराजमान हुए। उस समय वे जिनेन्द्रदेव अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे

---

१. उद्धर्तुमिच्छन् । २. गर्त । ३. बिन्दुभिः । पृषन्ती बिन्दु पृषता स पुमांसो विप्रुषस्त्रियः । ४. चेदि अङ्ग । ५. प्रकर्षेण शान्तवर्तन । ६ विमल । ७ अनुकरणम् । ८. वर्णनायुक्ते । ९ आस्ते स्म ।

तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं-
प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिनं[1] भव्याब्जिनीनामिनम्[2] ।
मानस्तम्भविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं
प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवन्दामहे ॥२९०॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे भगवद्विहारवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमं पर्व ॥२५॥



सहित थे, आदरके साथ भक्तिसे नम्रीभूत हुए बारह सभाके लोगोंसे घिरे हुए थे और उत्तमोत्तम आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हो रहे थे ॥२८९॥ जिनके चरणकमल इन्द्रोंके द्वारा पूजित हैं, घातियाकर्मोंका क्षय होनेके बाद जिन्हें अनन्तचतुष्टयरूपी विभूति प्राप्त हुई है, जो भव्यजीवरूपी कमलिनियोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, जिनके मानस्तम्भोंके देखने मात्रसे जगत्‌के अच्छे-अच्छे पुरुष नम्रीभूत हो जाते हैं, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, जिन्हें अचिन्त्य बहिरंग विभूति प्राप्त हुई है, और जो पापरहित हैं ऐसे श्रीस्वामी जिनेन्द्रदेवको हम लोग भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं ॥२९०॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें भगवान्‌के-विहारका वर्णन करनेवाला पचीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥२५॥



१. प्रभुम् । २. सूर्यम् ।

आचार्य जिनसेनकृत

आदिपुराण

[प्रथम भाग]

शब्दसूची

पारिभाषिक शब्दसूची

सुषमा आदि छह काल हैं
३।१४

अष्टगुण – अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ गुण हैं
१०।१७३

अष्टप्रातिहार्य–समवसरणमें तीर्थंकर केवलीके प्रकट होनेवाले आठ प्रातिहार्य— १ अशोक वृक्ष २ सिंहासन ३ छत्रत्रय ४ भामण्डल ५ दिव्य ध्वनि ६ पुष्पवृष्टि ७ चौंसठ चमर ८ दुन्दुभि बाजोंका बजना
२५।७

अष्टांग–सम्यग्दर्शनके निम्नलिखित आठ अंग हैं– १ निःशंकित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सित ४ अमूढ दृष्टि ५ उपगूहन अथवा उपबृंहण ६ स्थितिकरण ७ वात्सल्य ८ प्रभावना
९।१२२

अस्तिकाय – बहुप्रदेशी द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं
३।६

अहमिन्द्र–सोलह स्वर्गके आगेके देव अहमिन्द्र कहलाते हैं
९।९३

अहःस्त्रीसंगवर्जन – दिवामैथुनत्याग नामक छठीं प्रतिमा। इसका दूसरा नाम रात्रिभोजनत्याग भी है
१०।१५९

आ

आकर–जहाँ सोने-चाँदीकी खानें होती हैं
१६।१७६

आकार–तद्-तद् पदार्थके भेदसे पदार्थको ग्रहण करना
२४।१०२

आकाश–जो जीवादि द्रव्योंको अवगाहन स्थान देवे
२४।१३८

आक्षेपिणी–स्वमतका निरूपण करनेवाली कथा
१।१३५

आगम–वीतराग सर्वज्ञदेवकी वाणी, सच्चा शास्त्र
९।१२१

आचाम्लवर्धन–एक तप
७।७७

आत्मरक्ष–इन्द्रके अंगरक्षकके समान देव
१०।१९०

आद्यशुक्लध्यान – पृथक्त्ववितर्क वीचार शुक्ल ध्यान
२०।२४४

आनुपूर्वी–वर्णनीय विषयका क्रम, इसके ३ भेद हैं–पूर्वानुपूर्वी, अन्तानुपूर्वी, यत्रतत्रानुपूर्वी
२।१०४

आप्त–सच्चा देव–वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहन्त
९।१२१

आभियोग्य–देवोंका एक भेद
२२।२९

आमर्ष–एक ऋद्धि
२।७१

आरम्भपरिच्युति – आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा, इसमें व्यापारमात्रका त्याग हो जाता है
१०।१६०

आराधना–समाधि
५।२३१

आर्त्त–ध्यानका एक भेद। इसके चार भेद हैं— १ इष्टवियोगज २ अनिष्टसंयोगज ३ वेदनाजन्य और ४ निदान
२१।३१-४१

आस्तिक्य–सम्यग्दर्शनका एक गुण, आत्मा तथा परलोक आदिका श्रद्धान होना
९।१२३

इ

इन्द्र–देवोंका स्वामी
३।११७

इन्द्रक–श्रेणीबद्ध विमानोंके बीचका विमान
१०।१८७

उ

उत्कृष्टोपासक स्थान–ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक क्षुल्लक
१०।१५८

उत्सर्पिणी–जिसमें लोगोंके बल विद्या बुद्धि आदिकी वृद्धि होती है, यह १० कोड़ाकोड़ी सागरका होता है इसके दुःषमा-दुःषमा आदि छह भेद हैं
३।१४

उपक्रम–शास्त्रके नाम आदिका वर्णन, उपोद्घात-प्रस्तावना: इसके पाँच भेद हैं– आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, अभिधेय, अर्थाधिकार
२।१०३

उपपादशय्या–देवोंके जन्म लेनेका स्थान
५।२५४

उपयोगके दो भेद–१ ज्ञानोपयोग २ दर्शनोपयोग
२४।१००

उपशम श्रेणी–चारित्रमोहनीय

तत्त्व के ३ भेद–१ मुक्त जीव २ संसारी जीव ३ अजीव
२४।८७

तत्त्वार्थ–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह तत्त्वार्थ है। इन्हीं को छह द्रव्य कहते हैं
२४।८५

तन्तुचारण–चारणऋद्धिका एक भेद
२।७३

तीर्थकृत्–धर्मके प्रवर्तक तीर्थंकर हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें इनकी संख्या २४-२४ होती है, विदेह क्षेत्रमें २० होते हैं
२।११७

तुटिकाब्द–संख्याका एक प्रमाण
३।१०४

तूर्यांग–बाजोंको देनेवाला एक कल्पवृक्ष
३।३९

तृतीय व्रतकी भावना–
१ मिताहार ग्रहण २ उचिताहार ग्रहण ३ अभ्यनुज्ञात ग्रहण ४ विधिके विरुद्ध आहार ग्रहण नहीं करना ५ प्राप्त आहार पानमें सन्तोष रखना
२०।१६३

त्रायस्त्रिंश–देवोंका एक भेद
२२।२५

त्रिबोध–तीन ज्ञान १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान और ३ अवधिज्ञान। ये तीन ज्ञान तीर्थंकरके जन्मसे ही होते हैं
१३।३

त्रिमूढ़ता–देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता
९।१२२

त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ, काम
११-३३

त्रिषष्टिपुरुष–२४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ९ नारायण ९ प्रतिनारायण ९ बलभद्र ये त्रिषष्टि पुरुष ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं
१।२०

त्रैकाल्य–भूत भविष्यत्, वर्तमान काल
२।११९

द

दण्ड–चार हाथका एक दण्ड होता है
१९।५४

दर्शन–पदार्थोंको अनाकार-निर्विकल्प जानना
२४।१०१

दर्शनमोह–मोहनीयकर्मका एक भेद जो सम्यग्दर्शन गुणको घातता है
९।११७

दर्शनोपयोगके ४ भेद–
१ चक्षुदर्शन २ अचक्षुदर्शन ३ अवधिदर्शन ४ केवलदर्शन
२४।१०१

दीपांग–दीपकोंको देनेवाला एक कल्पवृक्ष
३।३९

देशावधि–अवधिज्ञानका एक भेद
२।६६

दुःषमा–अवसर्पिणीका पाचवाँ काल
३।१८

द्वितीयव्रतभावना–१ क्रोधत्याग २ लोभत्याग ३ भयत्याग ४ हास्यत्याग और ५ सूत्रानुगामी — शास्त्रके अनुसार वचन बोलना ये पाँच सत्य व्रतकी भावना है
२०।१६२

द्रव्यलेश्या–शरीरका रूप रंग। इसके ६ भेद हैं—१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल
१०।९६

द्रव्यानुयोग – शास्त्रोंका भेद, जिसमें द्रव्योंके स्वरूपका वर्णन रहता है
२।१०७

द्रोणमुख–जो नदीके किनारे बसा हो ऐसा ग्राम
१६।१७३

ध

धनुष–चार हाथका एक धनुष होता है
१०।९४

धर्म–जो जीव और पुद्गलकी गतिमें सहायक हो
२४।१३३

धर्मचक्र – तीर्थंकरके केवलज्ञान हो चुकनेपर प्रकट होनेवाला देवोपनीत उपकरण इसमें एक हजार अर होते हैं और वह सूर्यके समान देदीप्यमान रहता है, विहारके समय तीर्थंकरके आगे-आगे चलता है
१।१

धर्म्यध्यान–ध्यानका एक भेद। इसके चार भेद हैं १ आज्ञाविचय २ अपायविचय ३ विपाकविचय ४ संस्थानविचय
२१।१३३-१६७

सुषमासुषमा – अवसर्पिणीका पहला काल
३।१७
सूक्ष्म–कार्मणस्कन्ध
२४।१५०
सूक्ष्म–अणु स्कन्धके भेदोंकी अपेक्षा द्वयणुक
२४।१५०
सूक्ष्मराग–दसवाँ गुणस्थान
११।९०
सूक्ष्मसूक्ष्म – अणुस्कन्धके भेदों-अपेक्षा द्वयणुक
२४।१५०
सूक्ष्मस्थूल–जो आँखोंसे न दिखे पर अन्य इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आवे जैसे शब्द स्पर्श, रस, गन्ध
२४।१५१
संकल्प–विषयोंमें तृष्णा बढाने-वाली मनकी वृत्तिको संकल्प कहते हैं। इसीका दूसरा नाम दुष्प्रणिधान भी है
२१।२५
संग्रह–दस गाँवोंके बीचका बड़ा गाँव
१६।१७६
संभिन्नश्रोतृ – सभिन्नश्रोतृ ऋद्धि के धारक
२।६७
संवाह–जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्यके ढेर लगे हों ऐसा ग्राम
१६।१७३
संवेग–सम्यग्दर्शनका एक गुण—धर्म और धर्मके फलमें उत्साह युक्त मनका होना अथवा चतुर्गतिके दु खोंसे भयभीत रहना
९।१२३
संवेदिनी–धर्मका फल वर्णन करनेवाली कथा
१।१३६
संसारी जीवके २ भेद–१ भव्य २ अभव्य
२४।८८
सिंहनिष्क्रीडित–एक व्रतका नाम
७।२३
स्कन्ध–द्वयणुकसे लेकर लोकरूप महास्कन्ध तकका पुद्गल प्रचल स्कन्ध कहलाता है
२४।१४७
स्थविर कल्प–मुनिव्रतका पालन करते हुए साथ-साथ विहार करना स्थविर कल्प है
२०।१७०
स्थूल–जो अलग करनेपर अलग हो जाये और मिलनेपर मिल जाये जैसे तेल पानी आदि
२४।१५३
स्थूल स्थूल–जो अलग करनेपर अलग हो जाये और मिलाने-पर न मिले जैसे पत्थर आदि
२४।१५३
स्थूल सूक्ष्म–जो आँखोंसे दिखे पर पकडनेमें न आवे जैसे चाँदनी आतप आदि
२४।१५२
स्पर्श–सम्यग्दर्शनका पर्यायान्तर नाम
९।१२३
स्वयंबुद्ध–बाह्य कारणोंके विना स्वय विरक्त होनेवाले मुनि
२।६८
स्वोद्दिष्टपरिवर्जन – उद्दिष्टत्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा। इसमें अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारका भी त्याग हो जाता है
१०।१६०
स्रगङ्ग–सब प्रकारकी मालाएँ देनेवाला कल्पवृक्ष
३।३९

भौगोलिक शब्दसूची

इस सूचीके अन्तर्गत दिये गये भौगोलिक शब्दोका परिचय मुख्य रूपसे सक्षेपमें आदिपुराणके आधारसे दिया गया है। आधुनिक भूगोलकी दृष्टिसे इन सबका विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

सुप्रबुद्धा और प्रभकरी ये चार वापिकाएँ उत्तर दिशा-के मानस्तम्भकी पूर्वादि दिशाओंमें हैं
२२।११०

नन्द्यावर्त–ऐशान स्वर्गका एक विमान
९।१९१

नरगीत–वि द श्रे. का एक नगर
१९।३४

नित्यवाहिनी–वि. द. श्रे का एक नगर
१९।५२

नित्योद्योतिनी–वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।५२

निमिष–वि. उ श्रे का एक नगर
१९।८३

निषध–एक कुलाचल जिसपर सूर्योदय और सूर्यास्त होते हैं
१२।१३८

नील–एक कुलाचल
५।१०९

प

पंकप्रभा–चौथी पृथिवी
१०।३१

पद्मार्णव–क्षीरसागर
१३।११२

पञ्चाल–एक देश
१६।१५३

पल्लव–दक्षिणका देश
१६।१५५

पलालपर्वत–धातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक ग्राम
६।१३५

प्रभा–दूसरे स्वर्गका विमान
८।२१४

प्रभाकर–ऐशान स्वर्गका एक विमान
९।१९२

प्रभाकरपुरी–पुष्करवर द्वीपस्थ विदेहकी एक नगरी
७।३४

पाटलीग्राम–धातकी खण्ड विदेह क्षेत्र गन्धिला देशका एक नगर
६।१२७

पाण्डुक–मेरुका एक वन
५।१८३

पाटाद्रि–प्रत्यन्त पर्वत
५।१७९

प्राग्विदेह–पूर्वविदेह
५।१९३

प्राणत–चौदहवाँ स्वर्ग
७।२९

प्रीतिवर्द्धन–एक विमान
७।२६

पुण्ड्र–आधुनिक बंगालका उत्तरी भाग, अपर नाम गौड देश
१६।१५२

पुण्डरीक–वि. द. श्रे. का एक नगर
१९।३६

पुरंजय–वि द श्रे.का एक नगर
१९।४३

पुरिमताल–एक नगर
२४।१७१

पुष्कलावती–विदेहका एक देश
६।२६

पुष्पचूल–वि उ. श्रे. की एक नगरी
१९।७९

पूर्वमन्दर–पूर्वमेरु
७।१३

फ

फेन–वि उ. श्रे. का एक नगर
१९।८५

ब

बंग–बंगाल
१६।१५२

बलाहक–वि.उ श्रे की एक नगरी
१९।७९

बहुकेतुक–वि.द श्रे.का एक नगर
१९।३५

बहुमुखी–वि द श्रे. का एक नगर
१९।४५

भ

भद्रशाल–मेरुका एक वन
५।१८२

भद्राश्व–वि उ श्रे का एक नगर
१९।८४

भरत–भरतक्षेत्र
१५।१५८

भारत – हिमवत्कुलाचल और लवणसमुद्रके बीचका क्षेत्र जो कि ५२६ ६/१९ योजन विस्तारवाला है
१५।१५९

भूमितिलक–वि उ श्रे का एक नगर
१९।८३

म

मगध–बिहारप्रदेश राजगृहीका पार्श्ववर्ती प्रदेश
१६।१५३

मघवी–छठीं पृथिवी
१०।३२

मंगलावती–विदेहक्षेत्रका एक देश
७।१४

मणिवज्र–वि.उ श्रे.का एक नगर
१९।८४

मनोहर–एक उद्यान
६।८६

मन्दर–मेरु पर्वत
५।२९०

व्यक्तिवाचक शब्दसूची

ग

त

द

ध

प

ब

र

ल

व

स

विशिष्ट शब्दसूची

अ

अकल्य–नपुंसक १।६७
अकारु–धोबी आदिसे भिन्न १६।१८५
अकृत्त–अच्छिन्न २।१५
अकृष्टपच्य–विना हल जोते बखरे अपने-आप पैदा होनेवाला धान्य १६।१३१
अक्ष–बहेडा ३।४९
अक्षग्राम–इन्द्रियोंका समूह ८।७३
अक्षणनीय–अछेद्य १३।१४७
अगोष्पद–अत्यन्त निर्जन जहाँ गायोंका पहुँचना भी कठिन है ऐसे दुर्गम वन २०।२१३
अग्रमहिषी–प्रधान देवियाँ १०।१९४
अङ्घ्रिप–वृक्ष ११।८७
अङ्गभृत्–प्राणी, पक्षमें द्वादशाङ्गके धारी गणधर देव २४।१८६
अङ्गलास–शरीरको मोड १०।२०६
अङ्गहार–अङ्गविक्षेप नृत्यकालमें अङ्गोंका विशेष रीतिसे चलाना १३।१७९
अच्छोद्य–दृढतापूर्वक कहकर १८।३९
अच्युतेन्द्र–सोलहवें स्वर्गका इन्द्र १०।१७३
अच्युतेन्द्र–अविनाशी श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे युक्त, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी सोलहवें स्वर्गके इन्द्रकी एक पर्याय १४।४९
अतिरुन्द्र–अत्यन्त विस्तृत १०।१८७
अतिवर्ती–स्वच्छन्द प्रवर्तनेवाला १५।५२
अनृजु–कुटिल १।८९
अत्युक्त–छन्दोंकी एक जाति १६।११३
अदभ्र–विशाल २२।१७
अदेवमातृक–मेघकी वर्षापर निर्भर नहीं रहनेवाले देश १८।१५७
अधर–शरीरके नीचेका भाग १५।२००
अधिश्रित–चूल्हेपर चढाया हुआ ५।७२
अधीती–अध्ययनकुशल १।१२९
अध्वयोग–छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रत्यय
अनक्षितासित–विना काजल लगाये ही काले १४।९
अनन्तचतुष्टय–१ ज्ञान २ दर्शन ३ सुख ४ वीर्य २५।२२१
अनर्जुन–काले १०।४२
अनसूया–ईर्ष्याका अभाव १।९१
अनाराम–बगीचासे रहित ४।११३
अनाशितम्भर–अतृप्तिकर ७।५०
अनाशितम्भव–अस्थिर–विनाशशील ११।१९४
अनाशितम्भवम्–जिसके सेवनसे तृप्ति न हो। ऐसा लगता रहे कि और सेवन करूँ, और सेवन करूँ २५।२६
अनाश्वान्–उपवास करनेवाला १।८
अनाश्वान्–अनशन करनेवाला १८।२१
अनीश्वर–असमर्थ २०,२६
अनुक्षपम्–क्षपा क्षपामनु अनुक्षपम्, प्रत्येक रात्रिमें १५।१८१
अनुजिघृक्षा–अनुग्रह करनेकी इच्छा ४।२८
अनुध्यान–स्मरण १६।१४८
अनूप–जलकी बहुलतासे युक्त देश १६।१५९
अनेकप–हाथी १८।१७९
अनेनस्–निष्पाप ११।६६
अनेहस्–काल ९।१८
अन्तर्वत्नी–गर्भिणी १२।२१२
अन्तर्वत्नी–गर्भिणी १५।१३१
अन्धस्–भोजन ३।४९
अन्वयिनिक–जामाताके लिए देय द्रव्य–दहेज ८।३६
अन्वीपता–अनुकूलता ७।१५२
अपघन–अवयव १५।२२३
अपचिति–पूजा ११।४७
अपवर्ग–अन्त १९।९
अपवर्तिका–यष्टिहारका भेद जिसके बीचमें निश्चित प्रमाणके अनुसार स्वर्ण, मणि, माणिक्य और मोती बीच-बीचमें अन्तर देकर गूँथे जाते हैं १६।५१
अपुनर्भवता–मोक्ष ८।२४४
अप्रतिपत्ति–ज्ञान २३।७०
अब्द–दर्पण ११।४२
अब्द–वर्ष २।१४५
अब्द–मेघ ३।१८०
अब्द–मेघ ५।२१८
अभिगम्य–सेवनीय १४।२१६
अभिजात–योग्य उचित १७।१७०
अभिज्ञान–पहिचान ७।५७

अभिरूप–मनोज्ञ ७।२०८
अभिष्टव–नाम ११।८
अभिसिसीर्षा–अभिसार-सम्भोगके लिए गमनकी इच्छा १०।४८
अमुत्–अज्ञानी ७।७८
अभ्यस्त–गुणित १०।१५५
अभ्युदय–स्वर्गादिका वैभव ५।२०
अमा–साथ २।१६१
अमा–साथ ८।२५५
अमेध्यादन – विष्ठाका भक्षण ११।१८१
अमृतपद–मोक्ष ११।५९
अम्भोजवासिनी–लक्ष्मी १०।१३१
अयुक्छद–सप्तपर्ण ९।२
अयुत–दस हजार १०।१८९
अर्चा–प्रतिमा ११।१३६
अर्चिष्–ज्वाला २।९
अरण्यचरक – म्लेच्छोंकी एक जाति जो अधिकतर जंगलोंमें घूमती है १६।१६१
अर्धमाणव–जिसमें दस लड़ियाँ हो ऐसा हार १६।६१
अर्धगुच्छ–जिसमें चौबीस लड़ियाँ हो ऐसा हार १६।६१
अर्धहार–जिसमें चौसठ लड़ियाँ हो ऐसा हार १६।५९
अराल–कुटिल १८।१९२
अरुष्करद्रव – भिलसाका तेल १०।५४
अलीकविचक्षण–झूठा बोलनेमें चतुर ७।११२
अवघाटकयष्टि–जिसके बीचमें एक बड़ा और उसके आजू-बाजूमें क्रमसे घटते हुए छोटे मोती लगे हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५३
अवघाटक–यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७
अवधीक्षण–अवधिज्ञानी ५।१९१
अवनिप–राजा १७।२५२
अवपात–गर्त ११।१९८
अवभृथ (मज्जन)–कार्यके अन्तमें होनेवाला स्नान १३।२००
अवलग्न–मध्य भाग, कमर १२।३५
अवावा (अवावन्)–दूर करनेवाला, ओणृ अपनयने इत्यस्माद् वातोर्वनिप्प्रत्यय १५।१४९
अवृजिन–निष्पाप ५।२९५
अशनाया–भूख ३।१९१
अशोकमहाङ्घ्रिप–अशोक वृक्ष-नामका प्रातिहार्य जिस वृक्षके नीचे भगवान्को केवल ज्ञान होता है वह वृक्ष समवसरणमें अशोक वृक्ष कहलाता है, २४।४७
अश्वतरी–खच्चरी ८।१२०
असिधेनुका–छुरी ५।११३
अस्पृश्यकारु–प्रजाके बाह्य रहनेवाले चाण्डाल आदि १६।१८६
अस्वन्त–जिनका अन्त अच्छा नहीं ९।३२
अहीन्द्र–धरणेन्द्र १८।१३६

आ

आजुहूषु – बुलानेका इच्छुक १४।५८
आञ्जस–वास्तविक १।२०४
आतोद्य–वादित्र ३।३५
आत्मनीन–आत्मने हितम् आत्मनीनम् १९।१८९
आत्रिक–इस लोकसम्बन्धी १७।२१६
आधि–मानसिक व्यथा ६।५२
आत्मवश–आत्माधीन [illegible] आत्मवशः [illegible] ७।८७
आप्यायन–सन्तोषदायक २०।२४
आभिगामिक–सबके अनुकूल १५।१६९
आमुत्रिक–पारलौकिक १८।२१६
आयुर्वेद–वैद्यविद्या १६।१२३
आयुष्य–आयुवर्धक १।२०५
आराम–उद्यान ४।५१
आराम–गतीनादि पर्याय १४।३९
आशा–दिशा ६।२०८
आशुशुक्षणि–अग्नि २५।२२४
आहार्य–आभूषण २२।६२

इ

इक्षुधन्वा–कामदेव १६।२६
इङ्गितकोविदा–चेष्टाओंके जाननेमें निपुण ६।९८
इज्या–पूजा २४।१०
इन–स्वामी २३।१८०
इन्द्र–देवराज २२।२२
इन्द्रकोश–बुरज १९।६५
इन्द्रगोप–बरसातमें निकलनेवाला लाल रंगका एक कीड़ा वीरबहूटी ९।१४
इन्द्रच्छन्द–हारविशेष १५।१६
इन्द्रच्छन्द–जिसमें १००० लड़ियाँ हो ऐसा हार। यह हार सबसे उत्कृष्ट हार है इसे इन्द्र, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पहिनते हैं १६।५६
इन्द्रच्छन्दमाणव–इन्द्रच्छन्द हारके बीचमें एक मणि लगा देने पर इन्द्रच्छन्दमाणव कहलाता है १६।६२
इन्द्रमह–कार्तिकका महीना ११।१७८
इन्द्रवृषभ–इन्द्रश्रेष्ठ २३।१६३

प

पङ्कजवासिनी–लक्ष्मी १५।१२४
पञ्चकल्याण–१ गर्भ २ जन्म ३ तप ४ ज्ञान ५ निर्वाण २५।२२२
पञ्चब्रह्मन्–१ अरहन्त २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ साधु २५।२२२
पञ्चयन्ती–विस्तार करती हुई १४।१४४
पञ्चाश्चर्य–१ रत्नवृष्टि २ पुष्प-वृष्टि ३ गन्धोदकवृष्टि ४ मन्दसुगन्धित पवन और ५ 'अहोदानं अहोदानं' की ध्वनि ८।१७४
पटवास–कपड़ोंको सुवासित करने-वाला चूर्ण १४।८८
पटविद्या–विषापहरण विद्या २४।१
पणव–वाद्यविशेष २३।६२
पतत्पति–पक्षियोंका स्वामी गरुड़ १।२०८
पतिम्रुव–अपनेको झूठ ही पति बतलानेवाले ६।१७२
पत्र–पत्ते,पक्षमें वाहन २२।२०२
पत्रिन्–पक्षी १९।१४०
पदशास्त्र–व्याकरणशास्त्र १६।११२
पद्मविष्टर–पद्मासन १८।४
पद्मा–लक्ष्मी-शोभा ३।११८
पद्मा–लक्ष्मी १२।१०७
पद्माकर–कमलोंसे सुशोभित तालाब-कमलवन ११।१७
पयस्विनी–दूध देनेवाली गाय १६।२५४
पयोधर–मेघ ३।१७३
परचक्र–परराष्ट्र ५।११
पर्जन्य–मेघ ६।९०
परासुता–मृत्यु ९।२०

परिक्रम–नृत्यकालमें पादविक्षेप अथवा फिरकी लगाना १३।१७९
परिक्रम–पदविन्यास १८।२००
परिगति–प्रदक्षिणा १३।२१०
परिणत–पके हुए १७।२५२
परिणेता–विवाह करनेवाले अथवा परित्यागपूर्वक नील् धातुका लुट्लकारका रूप–विवाह करेंगे १५।७१
परिष्वक्त–आलिंगित १७।२२१
पल्वल–छोटा तालाब १८।१३२
पाकसत्त्व–क्रूर पशु ३।१०५
पाणविक–पणववाद्यको बजाने-वाला २३।६३
पादात–पैदल-सैनिकोंका समूह ८।३६
पाप्मा–पापी ११।१९
पार्थिव–वृक्ष, पक्षमें, राजा पृथिव्यां भवा. पार्थिवा वृक्षाः पृथिव्या अधिपा पार्थिवा राजानः २२।२०२
पार्थिवकुंजर–श्रेष्ठ राजा ७।५१
पारदृश्वरी–पारको देखनेवाली २।५६
पार्वण–पूर्णिमाका ३।१५५
पार्ष्णि–एड़ी १८।३
पिठर–स्थाली–बटलोई ५।७२
पिण्डी–शरीर १४।१३४
पितृकल्प–पिताके तुल्य १६।१३७
पुङ्गव–बड़ा बैल ८।९६
पुत्री–पुत्रयुक्त ४।१४०
पुरोगम–प्रधानपुरुष २४।१०
पुलिन्द–म्लेच्छोंकी एक जाति १६।१५६
पुष्कर–वाद्यविशेष ३।१७४
पुष्कर–हाथीकी सूँडका अग्रभाग २२।७
पुष्करार्घ – कमलरूप पूजाकी सामग्री २२।७

पुष्करिणी–कमलोंसे युक्त वापि-काएँ २२।१७५
पुष्पधन्वा–कामदेव १२।४५
पुष्पवन्तौ–सूर्य-चन्द्रमा ३।५७
पूषन्–सूर्य १३।१६५
पृथ्वी–विशाल २३।७
पौगण्ड–विकलांग १०।९५
पौलोमी–इन्द्राणी १४।८
प्रकाण्डक–यष्टिनामक हारका एक भेद १६।४७
प्रकाण्डकयष्टि–जिसके बीचमें क्रम क्रमसे बढ़ते हुए पांच मोती हों ऐसी एक लड़वाली माला १६।५३
प्रकृति–प्रजा ८।२५३
प्रजा–पुत्र १६।१२५
प्रणाय्या – असमत–अप्रिय स्त्री ६।२००
प्रतायिनी–विस्तारिणी २।६
प्रतायिनी–विस्तृत २३।१४५
प्रतिक्रमण–लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित्त लेना २०।१७१
प्रतिच्छन्द–प्रतिनिधि १२।७१
प्रतिपत्तृ–शिष्य-श्रोता १।१८२
प्रतियातना–प्रतिबिम्ब १४।१४१
प्रतिशिष्टि–प्रतिनिधि-तत्सदृश १।६८
प्रतीक्ष्य–पूज्य १।१८१
प्रतीन्द्र–इन्द्रसे नीचेका पद धारण करनेवाला १०।१७१
प्रत्यय–ज्ञान ७।७४
प्रमित्सु–नापनेके इच्छुक १५।८८
प्रवीचार–मैथुन ५।२८०
प्रवीचार–मैथुन १०।२०२
प्रव्रज्या–दीक्षा १०।१६९
प्रसत्ति–प्रसन्नता ५।१३
प्रसेन–गर्भस्थ बालकके ऊपरका आवरण = जेर ३।१५०।-१५१

प्रस्तार–छन्दशास्त्रका एक प्रकरण-प्रत्यय १६।११४
प्रस्नुवाना–दूध देती हुई १८।८४
प्राज्या–श्रेष्ठा २४।१०
प्राबोधिक–जगानेके कार्यमें नियुक्त १२।१२१
प्रालम्ब–हारविशेष ७।२३४
प्रालेयांशु–चन्द्र १३।१६५
प्रावृषेण्य–वर्षाकालका ११।१६
प्रांशु–ऊँचा ३।७७
प्रीतिंकर–प्रीति उत्पन्न करनेवाला १०।२

फ

फलकहार–अर्धमाणव हारके बीचमें यदि मणि लगा हो तो उसे फलकहार कहते हैं १६।६५

ब

बठर–स्थूल २३।६३
बद्धजीव–अष्टकर्मसे युक्त संसारी जीव २।११८
बन्ध–आत्मा और कर्मोंका नीर-क्षीरके समान एक क्षेत्राव-गाह होना २।११८
बलाहकाकार–मेघके आकार २२।१५
बहुरूपक–अनेक भूमिकाओंसे युक्त १४।१०४
बहुश्रेयान्–अत्यन्त कल्याणसे युक्त २०।११७
ब्रह्मोद्या–ब्रह्म-सर्वज्ञके द्वारा कही हुई २।६३
बीभत्सु–घृणित १०।३३
बुध्न–मूल २२।९८
बुभुत्सा–जाननेकी इच्छा २।३०
बुभुत्सु–जाननेका इच्छुक २।३०
बोधि–रत्नत्रय १०।६
ब्रध्न–सूर्य १।२१०
ब्रध्न–सूर्य १८।१७८
ब्रह्मसूत्र–जनेऊ ३।२७

भ

भगण–नक्षत्रोंका समूह १३।१६५
भटब्रुव–कायर योद्धा १।३४
भरतात्मज–भरत चक्रवर्तीका प्रथम पुत्र अर्ककीर्ति १।१४
भागवत–भगवान्‌सम्बन्धी २०।१६१
भागीरथी–गंगा नदी १८।२०७
भिस–मृणाल १३।१५३
भीमभोगी–भयंकर साँप ५।२१०
भुजिष्या–चेटी ८।१२३
भूतवादी–पृथिव्यादि चार भूतोंके द्वारा जीवकी उत्पत्ति माननेवाला चार्वाक ५।६६
भूतोपसृष्ट–जिसे प्रेतकी बाधा है ५।६६
भोक्ता (भोक्तृ) – भगवान्‌के १००८ नामोंमें एक नाम २५।१००

म

मकराकर–समुद्र २।११६
मङ्गलाष्टक–आठ मंगलद्रव्य-१ छत्र २ ध्वज ३ कलश ४ चामर ५ सुप्रतिष्ठक (ठौना) ६ भृंगार (झारी) ७ दर्पण और ८ तालपत्र (पंखा)
मणिसोपान–जिसमें नीचे सोनेके पाँच दाने लगे हों ऐसा फलकहार १६।६६
मदनोत्कोचकारिन्–कामके उद्रेक-को करनेवाला १०।१४१
मधुकृत्–मधुमक्खियाँ १०।३३
मधुव्रत–भ्रमर, पक्षमें मद्यपायी २२।१२६
मध्येयवनिकम्–परदाके भीतर १७।१९५
मनु–भगवान् आदिनाथ १५।१७०
मनु–भगवान् वृषभदेवका पुत्र १५।१७०
मन्द्र–गम्भीर ८।१७५
मन्मनालपित–अव्यक्त-तोतली बोली १५।१६२
मन्वन्तर–एक कुलकरसे दूसरे कुलकरके होनेका मध्यवर्ती काल ३।७६
मरीमृजा.–बार-बार मार्जन करते हुए १८।८३
मरुद्–देव २५।२३५
मरुमरीचिका–मृगतृष्णा ५।४८
मसृण–स्निग्ध, चिकनी ११।२८
महत्तर–प्रधानपुरुष ५।११
महाङ्घ्रिप–कल्पवृक्ष १६।१३७
महाप्रज्ञप्तिविद्या–विद्याधरोंको सिद्ध होनेवाली विद्याओंमें-से एक प्रमुखविद्या १९।१२
महाप्राव्राज्य–दैगम्बरी दीक्षा २४।१८२
महार्घक–महामूल्य १४।७८
महास्थपति–चक्रवर्तीका रत्न-स्वरूप विश्वकर्मा ७।२१०
माणव–जिसमें २० लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।६१
माणवक–बालक ३।७
मातरिश्वा–वायु ५।९९
मातुलिङ्ग–बिजौरा १७।२५२
मार्गद्वय–१ शब्दालंकार २ अर्थालंकार
मार्तिक–अच्छी मिट्टीसे बने हुए १६।२२७
मित्रमण्डल–सूर्यबिम्ब १२।१३५
मुक्त–अष्टकर्मसे रहित शुद्ध जीव जिन्हें मोक्ष प्राप्त हो चुका होता है २।११८
मुनीनेन–मुनीन्द्र सूर्य, मुनि + इन + इन ११।७६
मुरज–मृदंगाकार शिखर १९।६१
मूर्द्धज–बाल ६।३२

मूषा–साँचा (धातुओंके गलानेका पात्र) १०।४३

मृग–पशु ३।९३

मृगयु–शिकारी ११।२०२

मेधाविनी–अत्यन्त बुद्धिमती १६।१०८

मैत्री–मेरुसम्बन्धी १३।२०९

मोच–कदली १७।२५२

मौख–मुखसम्बन्धी १४।११९

य

यतिचर्या–मुनियोंके आहारकी विधि २०।२

यवीयस्–तरुण १८।११८

यशस्य–यशको बढ़ानेवाला १।२०५

यादस्–जलजन्तु १४।६६

यामिनी–रात्रि १२।१४७

यायजूक–पूजा करनेवाले २४।२८

युग–जुँआरी—(चार हाथ प्रमाण) २०।६६

युग्यक–पालकी १३।१००

युतसिद्ध–पृथक्सिद्ध ५।५५

योग–समाधिमरण ५।१४२

योग – अप्राप्त प्राप्य वस्तुकी प्राप्ति होना १६।१६८

योगबीज–ध्यानके निमित्त २१।२२१

योगीन्द्र–राजा वज्रनाभिके पिता वज्रसेन महाराज मुनि होनेपर योगीन्द्र कहलाये ११।४९

र

रजस्वला–परागसे सहित, पक्षमें रजस्वलाएँ–मासिकधर्मसे युक्त स्त्रियाँ २२।१२६

रत्नसमुद्गक–रत्नोंका पिटारा १७।२०५

रत्नावली–रत्नोंकी वह माला जो सुवर्ण और मणियोंसे चित्रित होती है १६।५०

रथकट्या–रथसमूह २४।१३

रथाङ्ग–गाड़ीका पहिया ५।१२७

रश्मिकलाप–जिसमें ५४ लड़ियाँ हों ऐसा हार १६।५९

रसातल–नरक १०।२७

राजक–राजाओंका समूह ११।५२

राजत–चाँदीके बने २२।२१०

राजन्वती–उत्तम राजासे युक्त २।१६

राजन्वती–योग्य राजासे युक्त ४।८०

राजन्वती–योग्य राजासे युक्त पृथिवी १७।७७

राजा–चन्द्रमा ५।२०४

राम–बलभद्र ११।७०

रिरंसा–रमण – क्रीड़ाकी इच्छा ११।१४२

रूपक–नाटक १४।१०४

रेचक–भ्रमण, नृत्य करते-करते फिरकी लगाना १४।१२१

रैधारा–धनकी धारा १२।८८

रैराट्–कुबेर २३।७

रोदसी–आकाश और पृथिवीका अन्तराल १२।८८

रौक्म–सुवर्णसम्बन्धी २२।९०

ल

ललिताङ्ग–सुन्दर शरीरवाले, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी एक देव-पर्यायका नाम १४।४८

ललिताङ्गक–सुन्दर शरीरका धारक ७।१४९

ललिताङ्गचर–पहलेका ललितांग ७।१०५

लुब्धक–म्लेच्छोंकी एक जाति १६।१६१

लौकान्तिक–ब्रह्मस्वर्गमें रहनेवाले देवोंकी एक जाति १७।५०

लौकायतिकी–चार्वाकमतसम्बन्धी ५।२८

व

वज्रजङ्घ–वज्रके समान सुदृढ़ जांघोंवाले, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वपर्यायका नाम १४।४८

वज्रनाभि–वज्रके समान स्थिर नाभिसे युक्त, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वभवपरम्पराका एक नाम १४।५०

वज्राकर–हीरेकी खान १३।४२

वज्री–इन्द्र ६।२८

वयस्या–तरुण अवस्थासे युक्त १०।२०६

वर्ण–ब्राह्मणादिवर्ण, पक्षमें अक्षर २४।१८६

वर्षधर–वृद्ध कञ्चुकी-अन्तःपुरके कर्मचारी ६।९५

वर्षवृद्धिदिन–जन्मोत्सवका दिन ५।१

वर्षीयस्–वृद्ध १८।११८

वर्ष्मन्–प्रमाण, वर्ष देहप्रमाणयो ' इत्यमर. ३।१४

वराकक–दीनप्राणी–बेचारा १७।३५

वरारोहा–उत्तम स्त्री १५।७८

वरीमृष्टि–अतिपाक १७।२४५

वरीवृष्टि–अतिछेदन १७।२४६

वलिभ–वलि-नाभिके नीचे विद्यमान रेखाओंसे युक्त ६।६७

वल्लभिका–प्रियदेवांगनाएँ १०।१९४

वल्लूर–सूखा मांस १०।५८

वसुन्धरा–पृथिवी ६।२८

वंशोचित–बाँसके योग्य, पक्षमें कुलके योग्य १४।११९

वाग्मिन्–प्रशस्त वचन बोलनेवाला १।४४

वाङ्मय–व्याकरण, छन्द और अलंकारशास्त्रके समुदायको वाङ्मय कहते हैं १७।१११

वाचंयमत्व–मौनव्रत १८।१
वाजिवदन–किन्नर १९।१६७
वातरशन–दिगम्बर २।६४
वातवल्कला–दिगम्बर २।१८
वादिन्–शास्त्रार्थ करनेवाले १।४४
वार्क्ष–वृक्षसम्बन्धी वृक्षस्येदं वार्क्षम् ३।४९
वालधि–पूँछ १।२९
वालधि–पूँछ ५।१०२
वाल्लभ्यलाञ्छन–पतिपनेका चिह्न ७।११३
वास्तुविद्या–मकान बनानेकी विद्या १६।१२२
विकच–विकसित २३।४०
विकृत्य–विक्रिया करके १४।१२२
विचक्षण–विद्वान् १।६२
विचतुरक्रीडा–विशिष्ट चातुर्यपूर्ण क्रीडा १८।१८४
विजयच्छन्द–एक हारविशेष १६।१५
विजयच्छन्द–जिसमें पांच सौ लडियाँ होती हैं ऐसा हार। इसे नारायण तथा बलभद्र पहनते हैं १६।५७
वितनु–शरीररहित ४।१८
वितस्ति–बारह अंगुलके एक वितस्ति होती १८।३
विदेह–शरीररहित मुनि ४।५३
विधुवीध्रः–चन्द्रमाके समान शुक्ल १९।१६१
विद्रुम–मूँगा १३।१३३
विधियः (विधी)–बुद्धिहीन २३।११७
विनेय–शिष्य ११।७७
विप्रलब्ध–ठगा हुआ ११।२०५
विप्रलम्भक–वंचक – ठगनेवाले ११।१९१
विभावरी–रात्रि १२।१२४
विमान – प्रमाणरहित–अत्यन्त विस्तृत, विगतं मानं यस्य सः १०।२०८
विमान–प्रमाण करता हुआ १४।११३
वियुत–दस लाख १०।१९७
वियुतासु–मृत ९।२९
वियोग–नियमसे करने योग्य कार्य १५।६७
विरूपक–निकृष्ट–नीच ६।१३७
विवक्षा–कहनेकी इच्छा, वक्तुमिच्छा विवक्षा २४।८४
विवक्षु–वक्तुमिच्छुर्विवक्षु:, कहनेका इच्छुक १।२७
विवक्षु–वोढुमिच्छुर्विवक्षु:, धारण करनेका इच्छुक १।२७
विविक्ता–पवित्रा २४।८४
विवित्सु–जाननेके इच्छुक २३।१४४
विशङ्कट–विशाल १७।१८८
विशिख–बाण ९।१९५
विश्राणन–दान २५।३
विश्वजनीन–सर्वहितकारी११।७३
विश्वदिक्कम्–सब दिशाओंमें ३।१९६
विश्वभर्तृ–भगवान् वृषभदेव २३।७४
विश्वरेश – विश्वरी-पृथिवीका ईश २५।१०४
विश्वास्या–विश्वतोमुखी, जिसके चारों तरफ गोपुरद्वार थे (पक्षमें जो प्रत्येक विषयका प्रतिपादन करनेवाली थी) २४।१८६
विष्वाण–आहार २०।२
विष्वाण–भोजन १०।२०२
विष्टि–बेगार कराना १६।१६८
विष्टिपुरुष–मजदूर ८।२३५
विसंस्थुलासनस्थ–नाना प्रकारकी ऊटपटे आसनोंसे स्थित २१।७०
वृत्रहन्–इन्द्र १४।१११
वृषभकवि–श्रेष्ठ कवि १।२०८
बृंहित–हाथीकी गर्जना ३।१६७
वेणुध्मा–बाँसुरी बजानेवाले १२।२००
वेधस्–भगवान् वृषभदेव १६।१०९
वैदग्धी–शोभा २२।१३४
वैदग्धी–सौन्दर्य-शोभा २४।१८
वैदग्ध्य–चतुराई ४।५६
वैयात्य–धृष्टता-लज्जा ६।१७२
वैशाखस्थ–पैर फैलाकर खड़े हुए ४।४२
व्यतिकर–कार्य ६।२०७
व्यलीक–असत्य १८।१२२
व्यानुक्षी–फाग १३।१४०
व्याधि–शारीरिक व्यथा ६।५२
व्याहृति–वाणी-दिव्यध्वनि २४।१८६
व्युत्सृष्टकाय–जिसने शरीरसे ममताभाव छोड़ दिया है ऐसा मुनि २१।६६

श

शङ्ख–नौ निधियोंमें एक निधि २२।१४६
शतधीचर–शतधी मन्त्रीका जीव (भूतपूर्व चरद्) १०।११४
शतमख–इन्द्र ८।२५५
शताध्वर–इन्द्र १३।११७
शयु–अजगर (दण्ड विद्याधरका जीव) ५।१२४
शरद्–वर्ष "हायनोऽस्त्री शरत्समा" ३।१४२
शरीरान्वयिगुण–वपुः कान्तिश्च दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता। कला कुशलता चेति शरीरान्वयिनो गुणाः १५।२१५

शल्क–खण्ड २३।४९
शबर–म्लेच्छोंकी एक जाति १६।१६१
शाड्वल–हरी-हरी घाससे युक्त २२।१२३
शातमातुर–सौ माताओंका पुत्र ११।७८
शातित–तोड़े हुए, गिराये हुए १२।९१
शार–विविध वर्णवाली १५।२०३
शार्वर–शर्वरी-रात्रिसम्बन्धी १२।१३४
शिखावल–मयूर ९।१७
शिखावल–मयूर १९।१२०
शिलोच्चय–पर्वत १३।१५४
शिवा–शृगाल १०।७३
शीतक–मन्द-कार्यमें देर करनेवाला ५।१०७
शीतलिका–व्यजन-पखा ५।९८
शीर्षक–यष्टि नामक हारका एक भेद १६।४७
शीर्षकयष्टि–जिसके बीचमें एक बड़ा मोती लगा हो ऐसी एक लडकी माला १६।५२
शुचि–ग्रीष्म ऋतु–आषाढ ६।५१
शुद्धान्त–अन्तःपुर १७।१७७
शुभंयु–कल्याणसे युक्त, शुभमस्ति येषां ते शुभंयवः 'अहशुभमोर्युस्' इति मतुबर्थे युप्रत्यय. ११।१३८
श्रद्धादिगुणसम्पन्न–१ श्रद्धा २ शक्ति ३ भक्ति ४ विज्ञान ५ अलुब्धता ६ क्षमा और ७ त्याग इन सात गुणोंसे युक्त २०।८१, ८२, ८३, ८४
श्राद्ध–श्रद्धासे युक्त २।१५६
श्रायस–ग्यारहवें श्रेयान्सनाथ तीर्थंकरसम्बन्धी पुराण २।१३०
श्रीधर–लक्ष्मीके धारक, पक्षमें भगवान् ऋषभदेवकी पूर्वभवपरम्परामें एक देव-पर्यायका नाम १४।४९
श्रेयान् (श्रेयान्स)–कुरुजांगल-देश हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभका छोटा भाई २०।३१
श्रोताके आठ गुण–१ शुश्रूषा २ श्रवण ३ ग्रहण ४ धारण ५ स्मृति ६ ऊह ७ अपोह ८ निर्णीति
श्लूना–स्थूल १०।४२
श्वभ्र–नरक ११।२०४
श्वाभ्री–नरकगति ५।११४
श्वेतभानु–चन्द्रमा १३।१६३

ष

षट्कर्म–असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या–ये छह कर्म हैं १६।१९०
षड्भेदभाव–१ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल २५।२२२
षाड्गुण्य–सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, आश्रय ये छह गुण हैं ४।१२३

स

संक्रन्दन–इन्द्र १२।९५
सचार–पादविक्षेपसे सहित १४।१३२
सजानि–स्त्रीसहित ३।७५
सजानि–स्त्रीसहित (जायया-सहितः सजानि.) ९।१४८
सत्यङ्कार–बयाना ७।१५६
सत्त्वानुपङ्गीगुण–सत्यं शौचं क्षमा त्याग. प्रज्ञोत्साहो दया दम । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषङ्गिण. । १५।२१४
सदाद्य–सत्को आदि लेकर—सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान–ये अनुयोगद्वार २।१०१
सधर्मा–समान २।१३७
सध्रीची–सहचरी, श्रीमती ८।३
सनाभि–बन्धु १२।१०
सपर्या–पूजा ५।१९१
सप्तकक्षा–हाथी, घोडा, रथ, पैदल, बैल, गन्धर्व, नर्तकी १०।१९९
सप्तनय–१ नैगम २ संग्रह ३ व्यवहार ४ ऋजुसूत्र ५ शब्द ६ समभिरूढ ७ एवंभूत २५।२२२
सप्ताचिष्–अग्नि २।९
सप्ताचिष्–अग्नि २४।१७०
सभवान्–पूज्य १४।१५२
सभावना–अहिंसादि व्रतोंकी पचीस भावनाओंसे सहित १०।६५
सभावना–सभाओंके रक्षकदेव १०।६५
समया–समीप २२।२०७
समवृत्त–जिसके चारों चरण एक समान लक्षणवाले हों ऐसा छन्द ४।१९३
समा–कालविभाग ३।१९
समाहित–एकाग्रचित्त ६।२४
समिद्ध–अत्यन्त तेज ५।१३
समीहा–चेष्टा ५।३४
सर्पण–पृथिवीपर सरकना १५।१६२
सर्वज्ञोपज्ञ–सर्वज्ञके द्वारा प्रथम-उपदिष्ट ५।८५
सर्वार्थसिद्धिनाथ–सब सिद्धियोंके स्वामी, पक्षमें भगवान्